आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ

भूमिका लेखक

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद

सम्पादक मण्डल

१ डा० सतकरि मुकर्जी
२ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
३ डा० हीरालाल जैन
४ प्रो० तान युन शान
५ डा० नथमल टाँटिया
६ मोहनलाल बाँठिया
७ जयचन्दलाल कोठारी
८ शुभकरण दसाणी

प्रबन्ध सम्पादक

कन्हैयालाल दूगड़

तेरापन्थ द्विशताब्दी के उपलक्ष में

प्रकाशक
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१

प्रथमावृत्ति
सन् १९६१
वि सं २०१८

समर्पण

संयम श्रुत अध्यात्म ओजमय,
जीवन था जिनका अवदात।
आत्म-समर में जो जूझे थे
सम्बल साहस का ले हाथ।
तेरापथ के आद्य प्रणेता,
जिन शासन के सत् शृंगार।
उन ऋषिवर्य भिक्षु गणपति की,
सस्मृति में यह श्रुत उपहार।
उनके नवम पदानुग नायक,
तेरापथ के प्राणाधार।
श्री तुलसी के कर-कमलों में,
करते हैं अर्पित साभार।

—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

भूमिका

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली।
दिसम्बर २३, १९६१
पौष २, १८८३ शक

भारत भूमि की यह एक विशेषता रही है, जब जब जैसा आवश्यक हुआ, यहां महापुरुष उत्पन्न हुये हैं। जिन्हों ने अपने समय में फैली हुई बुराइयों और विकारों से लोहा लिया। उनका उन्मूलन करने के लिये जीवन भर लड़े। आचार्य श्री भिक्षु भी एक ऐसे ही महापुरुष थे। आत्म-साधना उनके जीवन का साध्य था। वे एक सन्त थे जो आम जनता की भाषा में बहुत सरल शब्दों में तत्त्व की गहरी बात कहा करते थे। वे कोई काव्य सर्जन करना नहीं चाहते थे पर जो कुछ उन्हों ने कहा, वह साहित्य की एक बहुमूल्य निधि बन गया। अध्यात्म की जो बात उन्हों ने कही, आज दो शताब्दियां बीत रही हैं, महत्त्व जरा भी कम नहीं हुआ। आचार्य श्री तुलसी उनके नौवें उत्तराधिकारी हैं।

आचार्य भिक्षु के अभियान की दो सदियों की पूर्ति पर आयोजित तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अवसर पर उस महापुरुष की स्मृति में आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय स्तुत्य है और मैं इसका स्वागत करता हूं।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ने उस दिवंगत महापुरुष के जीवन-सत्य और जैन दर्शन के नवनीत को जगत के सामने रखने का सुन्दर प्रयास किया है। मैं इस प्रयास की सराहना करता हूं और स्मृति-ग्रन्थ के विद्वान लेखकों तथा सम्पादक मण्डल को बधाई देता हूं।

PREFACE

Acharya Bhikshu Commemoration Volume is now being presented to the public both academic and extra-academic It is a veritable chrestomathy of interesting and informative articles written by students of Jainology in its various branches We must congratulate the sponsors of the publication on the occasion of the Bicentenary Celebrations on their decision to invite scholars of different parts of India for contributions to this volume The articles cover a large range of subjects bearing on Jaina culture and religion. They are in Hindi and English. The majority of the contributions are based on the individual researches of the writers who propound their views and theories which serve to throw light on various aspects of Jainology It is too much to expect that the views expressed by the contributors particularly on problems of controversial nature will be accepted as the last word. The Editorial Board have not thought proper to take liberties and give their reactions The policy adopted by the Board is one of detachment which has permitted free expression of opinions without censorship It may not be far from truth to hope that the articles inspite of their speculative character will stimulate thought and criticism and in this way prepare the way for reappraisal of the value of Jaina culture. The contributions at any event give an idea of the encyclopedic character of Jaina literature and there has been no genre of literary and intellectual interest which does not find expression in the writings of the past Jaina authors. A dispassionate student of Indian thought has to admit that the community of Jaina monks have been indefatigable in their literary pursuits from very ancient times down to the recent period. The Jaina literature in its various branches has, therefore appeal to all classes of intellectuals. The Editorial Board will consider that their labour has borne fruit if the present volume be regarded as a fitting tribute of homage to the Founder and First Pontiff of the Terapanth School In conclusion the Board of Editors express their sincere gratitude to the learned contributors for their co-operation

Nava Nalanda Mahavihar,
Nalanda.
7-11-61

—Satkari Mookerjee

दो शब्द

अठारहवीं सदी के महान् क्रान्तिकारी सन्त तेरापंथ के प्रवर्तक प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री भिक्षु द्वारा की गई अध्यात्म-क्रान्ति को आज दो शताब्दियाँ बीत चुकी हैं। उस महामानव द्वारा लगाया गया अध्यात्म का वह छोटा-सा पौधा आज सहस्रशाखी वट वृक्ष के रूप में पल्लवित पुष्पित और सुफलित है।

इन गौरवशाली दो शताब्दियों की पूर्णता के उपलक्ष में जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता की ओर से तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह की विराट् आयोजना की गई। इस अवसर की शाश्वत स्मृति के लिए आचार्य श्री भिक्षु की समस्त तात्त्विक कृतियों व साहित्यिक शैली में पौराणिक आख्यानों तथा भारतीय संस्कृति व जैन दर्शन सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशन की एक वृहत् योजना बनाई गई। इसके साथ-साथ यह विचार भी उभरा कि इस ऐतिहासिक अवसर पर उन गौरवास्पद महामहिम के कृतित्व के अनुरूप एक स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन भी किया जाना चाहिए। विचार बड़ा उपयोगी एवं सामयिक था। फलतः महासभा ने इस उपलक्ष में 'आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ' के प्रकाशन का निश्चय किया।

एक ओर जहाँ आचार्य भिक्षु के जीवनवृत्त उनकी आध्यात्मिक व साहित्यिक देन उनकी संघ-परम्परा उनके प्रति भाव भीनी-श्रद्धांजलियाँ आदि के विषय प्रस्तुत ग्रन्थ में रखे गए वहाँ दूसरी ओर जैन दर्शन जो सूक्ष्म गवेषणापूर्ण तत्त्व की दृष्टि से जगत् के दार्शनिक वाङ्मय में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, के विविध तात्त्विक पहलुओं एवं विवेचनीय स्थलों पर भी शोधपूर्ण तुलनात्मक सामग्री को इस ग्रंथ द्वारा प्रस्तुत करने का अभिप्रेत बना।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी एवं उनके आज्ञानुवर्ती श्रमण-श्रमणी वृन्द के आशीर्वाद एवं आध्यात्मिक प्रेरणा का परिणाम ही इस ग्रंथ का निर्माण है। सूझ-बूझ के धनी मुनिश्री नगराजजी तो आचार्यवर की ओर से नियुक्त हमारे मार्ग-दर्शक थे ही। ग्रन्थ की रूपरेखा निर्धारण में उनका उर्वर चिन्तन ही क्रियान्वित हुआ है। उनकी अनवरत प्रेरणा से ही मुझे आध्यात्मिक बल और आत्मविश्वास मिला है।

ग्रंथ के सम्पादन का एक गुरुतर दायित्व सामने था जिसे निभाने में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हुई पर उन कठिनाइयों को पार कर आज हम इस ग्रंथ को आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

यह हमारा सौभाग्य रहा है कि इस ग्रंथ की गरिमा के अनुरूप ही देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों का सम्पादक मण्डल के रूप में हमें महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं साहचर्य प्राप्त हो सका। विशेष रूप से नव नालन्दा महाविहार के डाइरेक्टर, जैन बौद्ध व वैदिक दर्शन के मार्मिक विद्वान् डा॰ सत्करि मुकर्जी वैशाली प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीच्यूट के भूतपूर्व डाइरेक्टर जैन दर्शन के उद्भट विद्वान् डा॰ हीरालाल जैन और नव नालन्दा महाविहार के रिसर्च प्रोफेसर वैशाली प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीच्यूट के वर्तमान डाइरेक्टर एवं भारतीय वाङ्मय एवं दर्शन के प्रखर विद्वान् डा॰ नथमल टाँटिया ने इस महान् साहित्यिक कार्य की सम्पन्नता में जो अहर्निश श्रम किया वह सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

इसी प्रकार सम्पादक मंडल के अन्य सम्मान्य विद्वानों ने भी इस कार्य को अपना समझते हुए हमें जो योग दिया वह सर्वथा स्तुत्य है।

सम्पादक मंडल के सदस्य विचारक व तत्त्ववेत्ता श्रद्धेय श्री मोहनलाल बांठिया एवं तेरापंथ दर्शन के अधिकृत विद्वान् व जैन भारती के भूतपूर्व सम्पादक श्री जयचन्दलाल कोठारी तथा साहित्य वेत्ता श्री धूमकरण दसाणी का भी मैं चिर आभारी हूँ जो समय-समय पर ग्रंथ व निर्माण-व्यवस्था में उचित परामर्श व योग्य निर्देशन देकर कार्य को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाते रहे।

देश के उन विद्वानों के भी हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपनी गवेषणापूर्ण रचनाएँ इसमें दी जिनके कारण यह ग्रन्थ तत्त्वज्ञानमूलक व अनुशीलनीय सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हो सका है।

महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष व सुदीर्घ समाज सेवी श्रीमान नेमचन्दजी गधैया की समय-समय पर दी गई प्रेरणास्पद शिक्षाओं ने ग्रन्थ को सांगोपांग सुन्दर बनाने में काफी मदद की है। अतः मैं उनका तो सदा कृतज्ञ हूँ ही।

मदेय श्री मोहनलाल बैद (भूतपूर्व उपमंत्री महासभा) श्री श्रीचन्द दूगड़ तथा श्री केवलचन्द नाहटा (वर्तमान उपमंत्री महासभा) ही इस ग्रंथ के आयोजन एवं उस आयोजन की सफलता के वास्तविक हकदार हैं। इन्हीं के धैर्य साहस और अथक परिश्रम का यह फल है कि हम इस ग्रंथ को आपके सामने इस रूप में रखने में समर्थ हो सके हैं। वैशाली प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीट्यूट के रिसर्च स्कालर भाई विमल प्रकाश जैन श्री जगदीश प्रसाद श्री दामोदर शास्त्री तथा श्री छगनलाल शास्त्री भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने ग्रंथ की सजावट व प्रूफ संशोधन आदि में अथक परिश्रम किया है।

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह व्यवस्था की उपसमिति के तत्कालीन संयोजक श्री प्रभुदयाल डाबड़ीवाला का भी इस कार्य में विशेष सहयोग रहा है। समाज के अन्यान्य साथियों के भी हम कम कृतज्ञ नहीं हैं, जिन्होंने प्रतिदिन इस कार्य में अपना सौहार्दपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

एक बात के लिए हम अपने पाठकों साहित्य के ग्राहकों तथा अन्य महानुभावों से क्षमा चाहेंगे कि ग्रंथ को निश्चित अवधि तक आपलोगों के समक्ष हम प्रस्तुत नहीं कर पाये। मुद्रण आदि को लेकर ऐसी कठिनाइयाँ हमारे सामने रहीं कि चाहते हुए और अथक प्रयत्न करते हुए भी हम वैसा नहीं कर सके। पाठक हमारी विवशता को दृष्टि में रखते हुए हमें इस विलम्ब के लिए क्षमा करेंगे।

अनेक बाधाओं और विघ्नों को पार कर अब इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को तत्त्वानुरागी पाठकों के हाथों में देते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आशा है विद्वत्समाज में यह समुचित स्थान पाएगा एवं इससे वे नव स्फूर्ति एवं आत्म जागरण की प्रेरणा ग्रहण करेंगे।

नेशनल के० एण्ड फ० प्रेस, कंकर बाग रोड पटना-१ | कन्हैयालाल दूगड़
दीपावली वि सं २०१८
दिनांक ७-११-६१।

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

THIRD SECTION

प्रथम खण्ड

अभिनन्दन

एवं

श्रद्धाञ्जलियाँ

प्रभो ! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है सारा

आचार्य श्री तुलसी

प्रभो ! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है सारा ।
बढ़े चलें हम रुकें न क्षण भी यह दृढ़ संकल्प हमारा ॥प्रभु ॥
प्राणों की परवाह नहीं है प्रण को अटल निभायेंगे ।
नहीं अपेक्षा है औरों की स्वयं लक्ष्य को पायेंगे ।
एक तुम्हारे ही चरणों का भगवन् ! प्रतिपल सबल सहारा ॥१॥ प्रभु ॥

ज्यों-ज्यों चरण बढ़ेंगे आगे स्वतः मार्ग बन जायेगा ।
हटना होगा उसे बीच में जो बाधक बन आयेगा ।
रुक न सकेगी मुड़ न सकेगी सत्य क्रान्ति की उज्ज्वल धारा ॥२॥

आत्म-शुद्धि का जहाँ प्रश्न है सम्प्रदाय का मोह न हो ।
चाह न यश की और किसी से भी कोई विद्रोह न हो ।
स्वर्ण विघर्षण से ज्यों सत्य निखरता संघर्षों के द्वारा ॥३॥

आग्रहहीन गहन चिन्तन का द्वार हमेशा खुला रहे ।
कण-कण में आदर्श तुम्हारा पथ भी क्यों भूला रहे ।
जागें स्वयं जगायें जग को हो यह लक्ष्य हमारा न्यारा ॥४॥

नया मोड़ हो उसी दिशा में नई चेतना फिर जागे ।
तोड़ गिरायें जीर्ण-शीर्ण जो जड़ रूढ़ियों के धागे ।
आगे बढ़ने का यह युग है बढ़ना हमको सब से प्यारा ॥५॥

शुद्धाचार विचार भित्ति पर हम अभिनव निर्माण करें ।
सिद्धान्तों को अटल निभाते निज पर का कल्याण करें ।
इसी भावना से भिक्षु का "तुलसी" चमका भाग्य सितारा ॥६॥
प्रभो ! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है सारा ।

———

आचार्य भिक्षु के प्रति

मुनि श्री बुद्धमल जी

हे युगवन्द्य ! आज तुमको युग वन्दन करता सारा।
तुमने यहाँ बहाई जन जीवन में शम रस धारा॥

(१)

किसी कल्पनामय जीवन को तुमने सत्य किया था।
और सत्यता को संयम की तुमने अंक दिया था॥
तभी मनुजता पदानत हो चरणों में आई है।
युग युग के बन्धन टूटे हैं नवजीवन पाई है॥
श्रद्धा के डगमग पैरों को तुमने दिया सहारा।
हे युगवन्द्य ! आज तुमको जगवन्दन करता सारा॥

(२)

अपमानों के गरल घूँट तुमने शिव हो पी डाले।
किन्तु बांटते रहे मनुज के लिए सुधा के प्याले॥
जनहित में निज जीवन को तुमने बलिदान किया था।
टूटे हुए नीति नभ को तुमने ही थाम लिया था॥
काँटों का पथ बना फूल से करते रहे किनारा।
हे युगवन्द्य ! आज तुमको युगवन्दन करता सारा॥

(३)

उठते थे वातूल धरा यह डोल डोल जाती थी।
मन के भीषण ज्वार देख मति भी मूर्छा पाती थी॥
फिरती हुई निराशाएँ यों व्यूह रचा करती थी।
हो न अकुण्ठित कोई आशा भारमयी बनती थी॥
फिर भी तुमने नव्य चेतना का अस्तित्व उभारा।
हे युगवन्द्य ! आज तुमको युग वन्दन करता सारा—

(४)

पड़े तुम्हारे चरण धन्य हो गया स्वयं वह पथ भी।
हुई अधर्म की 'इति' धर्ममय जीवन का अथ भी॥
इन पद-चिन्हों ने जीवन के पथ को सुगम बनाया।
इसीलिए जनवृन्द आज यह अनुगामी बन पाया॥
प्रभो ! तुम्हारे आदर्शों ने सबका जन्म संवारा।
हे युगवन्द्य ! आज तुमको युग वन्दन करता सारा॥
तुमने यहाँ बहाई जन जीवन में शम रस धारा॥

युग पुरुष आचार्य भिक्षु के प्रति

मुनि श्री नगराजजी

हे महाप्राण युगपुरुष तुम्हारे, अथक चरण चलते थे।

गरज रहा था महाकाल-सा मेघ इसी अम्बर में
तीव्र क्षमा का तमो वेग था इस ब्रह्माण्ड विवर में

बरस रहे थे घोर कशोपल जगती के प्रांगण में
क्रूर हृदय इस पथ के भी प्रतिरोध छिपा कण कण में
विद्युत से तब दीप तुम्हारे साहस के जलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष तुम्हारे अथक चरण चलते थे ॥१॥

मंजिल कितनी ऊँची है कितनी है मार्ग विषमता
आरोहण था लक्ष्य बने क्यों अवरोहण से ममता
साथी कितने साथ रहे कब झाँका तुमने मुड़कर
वायु वेग से बढ़ते खग ज्यों अंतरिक्ष में उड़कर
श्वास छोड़ते साथ किन्तु विश्वास सभी पलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ॥२॥

कौन वह दुर्गम कि तुमने रोका वह न रुका हो?
कौन वह दुर्धर्ष कि तुमने झाका वह न झुका हो?
कौन वह था सुमन कि तुमने सींचा वह न खिला हो?
कौन वह था सत्य कि तुमने खोजा वह न मिला हो?
मन की बात कहाँ तेरे तो स्वप्न सदा फलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ॥३॥

स्थितप्रज्ञ-सी सौम्य साधना संयम की अविकलता
कोसों तुमसे दूर रही अस्पृश्य मान कर चपलता
प्रत्युत्पन्न मनीषा तेरी कभी न विलम्बित होती
शास्त्र सिन्धु को छान पिरोए मानवता में मोती
संघर्षों की अनल वृष्टि में स्मित मुख पर ढलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ॥४॥

बना भूत का विषय आज पार्थिव अस्तित्व तुम्हारा
वर्तमान है किन्तु तुम्हारी दिव्य ज्ञान की धारा
तुम चले गए पर यहीं तुम्हारा धर्म-स्तूप खड़ा है
प्यार बने हैं जो कि विषम व्यवहार तुम्हें मिलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ॥५॥

वीर भिक्षु आये भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने

मुनि श्री पुष्पराज जी

वीर-भिक्षु आये भूतल पर, जीवन का संगीत सुनाने—
नई जागृति नवल क्रान्ति औ नई चेतना लेकर आये
नैतिकता की नवल रोशनी का सुन्दर सन्देशा लाये।
जीवन क्या है ? कैसे जीना ? इन तत्त्वों का ज्ञान कराने

वीर भिक्षु आये भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने ॥१॥

नरक द्वेष का उफन रहा था मानव भी दानव था बनकर,
मानवता भी काँप रही थी स्वयं मनुज के सम्मुख थर थर।
सूई से मैत्री धागे में बिखरे जनगण-हृदय पिरोने ॥

वीर भिक्षु आये भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने ॥२॥

शोषण व अत्याचारों का घुमुड़ तिमिर छाया धरती पर,
भूल रहा था मुक्ति लक्ष्य को भटक रहा था मानव घर-घर।
आत्मिकता की विमल-ज्योति से नैतिकता के दीप जलाने

वीर भिक्षु आये भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने ॥३॥

हे ज्योतिपुञ्ज ! हे भिक्षुराज !!

मुनि श्री सुखलालजी

हे ज्योतिर्पुञ्ज ! हे भिक्षु राज !
तेरे सुचरित संकेतों पर जन कोटि-कोटि चल रहे आज
तुमने जो अगणित कष्ट सहे उनकी यह छवी साक्षी है
यहाँ से अथ ही होता है इतिहास अभी तक बाकी है
सचमुच मुनि पुंगव भिक्षु प्रभो तुम एक सत्य अलबेले थे
तुम शीश हथेली पर रखकर, जीवन के रण में खेले थे
उस तप की सिद्ध साधना पर, हैं झुके अनेकों भाल ताज ॥१॥

बाधों के तुमुल महारव में जब तुमने शंख बजाया था
घनघोर आपदाओं में जब तुमने मस्ती से गाया था
गिर पड़ी बहुत सी दीवारें जो मार नहीं सह सकती थीं
ढह पड़ी बहुत सी मीनारें जो कभी नहीं ढह सकती थी !
उसकी ही अमर प्रतिध्वनि यह तेरापथ में है व्यक्त आज ॥२॥

यह क्या साधक जो शुष्क-हृदय जीवन का रस भी ले न सके
अपने जीवन की गति विधि से जो नई प्रेरणा दे न सके
देने लेने वालों को ही यह जगती सदा पूजती है,
उनके झुके संकेतों पर यह हँसती और भजती है
तेरे पावन पद चिन्हों पर चल पड़ा इसलिए जन समाज ॥३॥

रुकने वालो रस्ता छोड़ो बढ़ने वालों को आने दो
तुम अगर नहीं बढ़ सकते तो चलवालों को जाने दो
यदि रोकेंगे भी तो उनको वे कभी नहीं रुक सकते हैं,
जो खड़े स्वय के पैरों पर वे कभी नहीं झुक सकते हैं,
तेरी इस वाणी में सचमुच चैतन्य चलित है रहा आज ॥४॥

आने वालों को आने दो मत धर्म द्वार को बंद करो
पर मत रखो मन मले सड़े जीवों से अपना पंथ भरो
जो सहज भाव से आता है मत रोको उसको आने दो
जो सहज भाव से जाता है मत रोको उसको जाने दो,
तेरे इन विशद विचारों पर किस जन को होगा नहीं नाज ॥५॥

तुमने जब समष्टि के खातिर अपनी मति को अवरुद्ध किया ।
तुमने अपने इन मानस को धो-धो कर जितना शुद्ध किया
बस इसीलिए तेरी वाणी यह अमर बड़ी हो सकती थी,

पर कायरता उसमें अपना मुख छिपा नहीं सो सकती थी
भुलका क्या नहीं देव का भी रह सकता था उसमें सिंहासन ॥६॥

आंखें खोलो सोचो समझो मत बुद्धि द्वार को बंद करो।
मत खींचा-तान में फंस करके आपस में कोई द्वंद्व करो
श्रद्धा का अपना स्थान अचल पर मत उसको बदनाम करो
मत धर्म नाम पर लोगों को ठग-ठग कर अपना धाम भरो
खुद तरे दूसरों को तारे ऐसे ही तुम हो वे जहाज ॥७॥

अथक और गतिशीलचरण इतिवृत्त नया गढ़ जाते !

मुनि श्री सुमेरमलजी 'सुमन'

अथक और गतिशील चरण इतिवृत्त नया गढ़ जाते ॥ध्रुव ॥
चिन्तन का आलोक बढ़ा पर दिव्य रूप पा जाए ॥
तिमिर स्वयं हट जाय सत्य ज्योतिर्मय बनकर आए ॥
नत है मस्तक जिन चले केवल वे ही पद पाते
अथक... ... गढ़ जाते ॥

अपरिमित आवर्तों में मानव दिग् विमूढ़ बनता है।
कैसे पाये पार भव-अर्णव इन ... ठगता है ॥
समाविस्थ ही भव्य सुदृढ़ सम तरणी पर चढ़ पाते ॥
अथक... ... ... गढ़ जाते ॥
वर्तमान में सहज नहीं है ध्येय मूल्य भी कहता।

इसीलिए हर महापुरुष जीवन में संकट सहता ॥
मूल्य भविष्य गर्भ में पर वे जन-जन में मढ़ जाते

अथक ... ... गढ़ जाते ॥
उप्त बीज सब पाते जब वे फल परिपूरित होते।

भीषण तूफानों में जो क्षण भर भी कभी न सोते ॥
स्मृति रहती अवशेष अमर बढ़ने वाले बढ़ जाते ॥
अथक... ... ... गढ़ जाते ॥

सत्य दृष्टि से तुमने उसको जोड़ दिया था!

मुनि श्री मोहनलालजी शार्दूल

युग की वेगवती लहरों में सब बहते हैं
पर तुमने तो लहरों को ही मोड़ दिया था
परम्पराएँ जो जीवन को बाँध रही थीं
तुमने उनकी कड़ियों को ही तोड़ दिया था।

नभ जैसा विशाल मानस तुमने पाया था
इसीलिये ही रुके न पथ में चरण तुम्हारे,
विरोधीजन कदम-कदम पर तीखी शूलें
बिछा बिछा कर अपने आप स्वयं ही हारे,
निर्झर की गति रोके कभी न रुक सकती है
जिसने तोड़ दिया बन्धन पर्वत-कारा का
कौन थमा सकता है यदि रुका करके भी
प्रखरवेग उसकी अविरल बहती धारा का
आँख मींच कर गतानुगति से सब चलते हैं
आँख खोल चलने का तुमने मोड़ लिया था ॥१॥

तुमने उद्घोष किया जब तक रवि विद्यमान
अन्धेर धरा पर कभी न टिकने पायेगा
"पूरा संयम पल न सके पंचम आरक में"
यह वचन स्वयं ही आज कि कल मर जायेगा
समता की पटरी पर तुमने जो कदम बढ़ाया
इसीलिए वह नहीं नहीं पर स्खलित हुआ था
बल-प्रयोग का चक्र चलाना व्यर्थ यहाँ पर,
जीवन का सुख इसी तथ्य में फलित हुआ था
तुमने गहराई के इस पीयूष सिन्धु में
अपने मन का कलश स्वयं खंगाल लिया था ॥२॥

क्या-क्या बाधाएँ यमुना गंगा के पथ में
आईं नहीं किन्तु वे फिर भी नित चलती हैं,
क्या न हुए हिमपात कौन तूफान न मचले ?
किन्तु निरन्तर वैसे ही नदियाँ निकली हैं,
गुण एकाकी और विरोधी लोग अनेकों

किन्तु कभी क्या कोई गणपति घबराता है ?
उसका एक मात्र ही जन को वरदे देता
स्वयं विजय का ऊँचा झंडा फहराता है
जन साधारण तो जन मत से भय खाता है
पर तुमने जन-मत को ही झकझोर दिया था ॥३॥

तुमने कहा अर्थ से मत मानव को आँको
छोटे मोटे ऊँच नीच का भेद न डालो
और विषमता की खाई को मत बढ़ने दो
मन में हीन-भावना को तुम तनिक न पालो
वैर-विरोधों में रहकर तुम उठ न सकोगे
ऊसर में गिर बीज कभी न उभर पाता है,
तुच्छ बिंदु का तिरस्कार करते रहने पर,
सारा का सारा ही सिंधु बिखर जाता है
टूट रहा था मानव अपने ही भावों में
सत्य दृष्टि से तुमने उसको जोड़ दिया था ॥४॥

प्रतिपल-प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मृतिया

मुनि श्री पानमलजी

लिये आत्म विश्वास चले निर्भीक ध्येय के पथ पर,
सही सही शास्त्रों से सार निकाला तुमने मथ कर,
अनजाने लोगों ने रोका और विरोध किया था
पर उन सब को तुमने सही दिशा का बोध दिया था
तभी हमारी ज्यों की त्यों अक्षुण्ण रही संस्कृतियाँ
प्रतिपल प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मृतियाँ ॥१॥

लिखे सहस्रों पद्य समुज्ज्वल लोह-लेखिनी द्वारा
जैन जगत में अविरल गति से बही शांति की धारा
कोटि-कोटि जन आज तुम्हारे चरण चिन्ह पर चलते
ध्येय मानकर सिद्धान्तों को जन हैं उनमें ढलते
एक एक तेरी रचनाएँ बनी हैं अनुपम कृतियाँ
प्रतिपल प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मृतियाँ ॥२॥

तिमिराच्छन्न विश्व में तुमने अद्भुत दीप जलाये
दुर्जनों के संघर्षों में भी सन्मार्ग दिखाए,
धरा हुई कृत कृत्य तुम्हारे जैसा मानव पाकर,
शत शत श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करते शीश झुकाकर,
जो अजेय भिक्षु सब तेरी अमर बनी अनुकृतियाँ
प्रतिपल प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मृतियाँ ॥३॥

आचार्य भिक्षु के प्रति

मुनि श्री नथमलजी

स्वामिन् ! राह बता रे,
मार्ग विद मार्ग विद की ध्वनि
अन्तर की सुन पा रे।
पथ उत्पथ का ममता जिनको
उनको कुछ समझा रे।
तूने ही तो समझाई थी
धर्म मर्म की वाणी
तुमसे ही तो एक आत्मता
समझ सका था प्राणी
प्राणी प्राणी की वह समता
आगे और बढ़ा रे।
ऊँच नीच के भेद भाव को
था तुमने तब तोला
पहन रखा था जब कि श्याम ने
चंद बड़ों का चोला
कौन व्यथा सुनता छोटों की
अन्तर दाह बुझा रे।
तुमसे मूक उपेक्षा पाते
अर्थ कि इसका होगा
नहीं मिलेगी तुम्हें बड़ों से
करतब साफल होगा
बहुत कहा तूने थोड़े में
सफल हुई प्रतिमा रे।
जो कुछ तूने देखा देखा
अन्तर दृष्टि सहारे,
इसीलिए तुमको कहती है
बाहिर दृष्टि दुनियाँ रे,
महावीर के तुमकि विरोधी
जिन पर प्राण उवारे॥

ओ ! भिक्षुराज ! शत-शत प्रणाम !!

मुनि श्री मांगीलालजी 'मधुकर'

ओ ! राजस्थानी रत्न ! दिखाई तूने सुन्दर राह नई,
तम दूर हटाया दिनकर ज्यों तव ज्योति जगत में फैल गई ।
भीषण तूफानों से लड़कर, संदेश सुनाया नगर ग्राम ।
ओ ! भिक्षुराज ! शत-शत प्रणाम !

लेकर विपत्तियों से टक्कर अपना सा मुंह ले स्वयं चली
जीवन भर चलता रहा सत्य के आदर्शों पर आत्मबली
तेरे चरणों का दिव्य-तेज आकर्षित कर लेता प्रकाम ।
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम ।

तुझ सा निस्पृह विरला ही मिल सकता इस भूमण्डल पर,
निर्भयता प्रकटित करती है जीवन घटनावलियां सुन्दर,
प्रिय शिष्य-हेम से भी बोले 'आलोचन से क्या तुझे काम'
ओ ! भिक्षुराज ! शत-शत प्रणाम !

हो मोह विवश बोली बया मर जाऊंगी खाकर कटार,
'हलुआ पूरी तो नहीं' देव का उत्तर कितना वजनदार,
था जादू का सा असर अजब तेरी वाणी में शान्ति धाम ।
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम !

'अवगुण निकालते लोक' 'किसे रखने' सस्मित निकला मुख से
दोषों की झड़ी लगी सम्मुख लिखता खुद बैठ अति सुख से
यह आत्मान्वेषी अवगुण सुन अपने पथ से लेता विराम
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम !

"आदर्श पुस्तकों तक सीमित मत रक्खो जीवन में लाओ
ओ ! महावीर की संतानो ! अब कायरता को छिटकाओ
घर बार विभव तज कर निकले अभ्यास यह कर बचना हराम"
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम !

यह गूंज रहा गंभीर घोष नव जोश सदा दिल में भरता
निद्रित चिर मूर्च्छित मानस में चेतनता संचारित करता
'मधुकर' हृदयाम्बर में सब के स्वर्णांकित तेरा अमर नाम
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम !

युगके महादानी रहेगा अमर तुम्हारा दान

मुनि श्री सम्पतमलजी

युग के महादानी रहेगा अमर तुम्हारा दान
चिर आभारी संसार रहेगा पाकर तेरा ज्ञान
तीर्थंकर के तुल्य तुम्हारा होगा अति सम्मान
जन-जन के प्रतिपालक बनकर तुमने जो उपकार किया है
जन भाषा में आगम अनुदित कर तुमने जो सार दिया है
आभार बनेगा जीवन का यह करने को उत्थान।
कला शिल्प जीवन के हित तुमने क्या क्या निर्माण किया
कला वही है जिसने जग जन मानस को बांध दिया
वैज्ञानिक विश्लेषक बन कर किया बहुत संधान
एक एक है वाक्य तुम्हारा चटक और अनमोल
सहज सरलता झलक रही देखें आँखें जो खोल।
कहना करना तुल्य रहा है नहीं कपट व्यवधान ॥
स्तुति सुन उत्कर्षित नहीं होते नहीं भूलते मर्यादा
महापुरुष जिस जन का था जीवन कितना सीधा सादा
क्या कहकर मैं बतलाऊँ तुमको जो युग के भगवान् !
जीना जीने के हित ही नहीं हुए तुम इस जग में
कर दिया न्यौछावर जीवन तुमने अपना संयम मग में
प्रथम स्वयं आचरण किया, फिर दिया विश्व पर ध्यान ॥
शान्ति का सुन्दर सुपथ तुमने अद्भुत तैयार किया
चलकर चलना बतलाया था चलने वाले से प्यार किया
इसीलिए तुम बने महत् भर दिया विश्व को विशद ज्ञान।
सत्य गवेषक अन्वेषक तेरा अनुप्राणित जीवन था
एकाकार विचार एक थी ऐक्य परम जीवन धन था
श्रद्धांजलि में स्वयं समर्पित हैं 'संपत' के तन मन प्राण ॥

हे प्रभु ! है यह तेरा पंथ

श्री रामकृष्ण भारती एम ए०, बी० एल०,शास्त्री, साहित्य रत्न विद्या वाचस्पति।

यह है मेरा यह है तेरा
यह केवल दिखलावा है।
ये सब तो कहने की बातें
यह सब मन का दावा है॥

मेरे प्रभु का पंथ निराला
नहीं कहीं वैषम्य यहां।
बैर नहीं छल नहीं कहीं भी
तृष्णा मद और राग कहां ?

ऊँच-नीच का भेद नहीं है
बाल वृद्ध नर औ नारी।
सब का है स्वागत इस पथ में
लड़ लड़ कर वसुधा हारी॥

आओ एक संसार बसाएँ,
जहां वास हो प्रियतम का।
ईर्ष्या कलह दूर हो जावें
औदार्य ममत्व जगे हिय का॥

हे प्रभु, तेरा पंथ निराला
प्यार, दया ममता इसमें।
सत्य अहिंसा का पथ है यह,
बकरी-सिंह चलें संग में॥

यह तो पथ है सिद्धजनों का
जाना था घर-बार नहीं।
निजता को यदि भूल सको तो
पैर बढ़ाना तभी यहीं॥

अहंभाव को दूर करोगे
तब ही तुम अधिकारी होगे।
पाहन-स्वजन जिनमें पथ में
पर तुम भूल कभी खोगे॥

गौतम से पूछो हे साथी
महावीर भी स्वामी से।
तुलसी सूरदास से पूछो
पूछो तुम रसखानी[5] से॥

आलम से पूछो अथवा तुम
पूछो शेख पठानी से।
नानक से पूछो दादू से
जाकर पूछो बन्दे[6] से॥

पूछो गुरु गोविन्द सिंह से
अथवा उसके लालों से।
भीखण[7] स्वामी से तुम पूछो
जम्बू भक्ति धनी चद से॥

बाल हकीकत ध्रुव प्रह्लाद से
अभिमन्यु धेवाई से।
दुर्गावती लक्ष्मीबाई से
पूछो तुम नेताजी से॥

पूछो विंडसर[8] से जाकर तुम,
पूछो भक्त कन्हाई[9] से।
तेरा पंथ सभी से ऊँचा
अद्भुत उत्तम है सबसे॥

बात यही है मेरे प्रभु का
त्याग भाव का दर्शन है।
हे प्रभु है यह तेरा ही पथ
तेरे ही बस अर्पण है॥

तेरा पथ कहाता है यह
तू इसका रक्षक स्वामी।
मेरा मन में नहीं कहीं कुछ
तेरे अर्पण सब नामी॥

कृपा करो हे नाथ दयामय
तेरे पथ पर चले चलें।
शूल फूल सम अपनाए हम
तेरी चरण शरण पकड़ें॥

५—हिन्दी के भक्त पठान कवि।
६—बन्दा बैरागी।
७—भीखण स्वामी—तेरापंथ के प्रथम आचार्य॥
८—भूतपूर्व सम्राट एडवर्ड॥
९—बंगला के भक्तकवि

क्षमा-भाव से मित्र भाव से
सबको गले लगाना तुम।
विष के प्याले पीते होंगे
फिर भी बस मुस्काना तुम॥

हँस-हँस कर फाँसी झूलोगे
तब भी तुम मुसकाओगे।
तेरा पथ है कठिन कठिनतम
यहाँ न मन बिलखाओगे॥

ईसा से पूछो कैसे वह
हँस कर फाँसी झूला था।
सुनो अमर सुकरात बड़ा है
पी विष-प्याला झूमा था॥

अमर बड़ा फरहाद दिवाना
शैदाई मजनूँ झूमे।
प्रेम-दिवानी मीराबाई
तेरी प्रतिमा को चूमे॥

पूछ देव चैतन्य राम[1] से
पूछो विद्यापति ही से।
चण्डी दास ताज[2] से पूछो
जेबुन्निसा कुमारी[3] से॥

हनुमान शबरी से पूछो
पूछो राधा प्यारी से॥
मित्र सुदामा से तुम पूछो
पूछो नरसी माई[4] से॥

भक्त पीपा नामदेव से
नामदेव से ही पूछो।
गांधी से पूछो हे साथी
संत विनोबा से पूछो॥

१—स्वामी रामतीर्थ।
२—राजकुमारी ताज।
३—औरंगजेब की पुत्री॥
४—गुजराती के कवि॥

गौतम से पूछो हे साथी
महावीर श्री स्वामी से।
तुलसी सूरदास से पूछो
पूछो तुम रसखानी[5] से॥

आदम से पूछो अथवा तुम
पूछो दोस्त पठानी से।
नानक से पूछो दादू से
जाकर पूछो बन्दे[6] से॥

पूछो गुरु गोविन्द सिंह से
अथवा उसके लालों से।
भीखण[7] स्वामी से तुम पूछो
छब्बू मन्ति अभी चद से॥

बाल हकीकत ध्रुव प्रह्लाद से
अभिमन्यु पीदाई से।
दुर्गावती लक्ष्मीबाई से
पूछो तुम मतानी से॥

पूछो विडसर[8] से जाकर तुम,
पूछो भक्त कन्हाई[9] से।
तेरा पंथ सभी से ऊँचा
अद्भुत उत्तम है सबसे॥

नाम यही है मेरे प्रभु का
त्याग भाव का दर्पण है।
हे प्रभु, है यह तेरा ही पथ
तेरे ही बस अर्पण है॥

तेरा पथ कहाता है यह
तू इसका रक्षक स्वामी।
मेरा मुझ में नहीं कहीं कुछ
तेरे अर्पण सब नामी॥

कृपा करो हे नाथ दयामय
तेरे पथ पर चले चलें।
शूल फूल सम अपनाए हम
तेरी चरण शरण पकड़ें॥

५—हिन्दी के भक्त पठान कवि।
६—बन्दा बैरागी।
७—भीखण स्वामी—तेरापंथ के प्रथम आचार्य॥
८—भूतपूर्व अष्टम एडवर्ड॥
९—बंगाल के भक्तकवि

महान् अभि निष्क्रमण

श्री रामकृष्ण भारती शास्त्री एम० ए०

जब-जब धर्म-ग्लानि होती है
पाप निरन्तर बढ़ जाता ।
तब-तब कोई महापुरुष
धरती पर है भेजा जाता ॥

स्वार्थ भाव से मरे सभी हम
पर सार्थक जीवन उसका ।
चिन्ता अपनी तनिक न जिसको
जग परिवार बना जिसका ॥

चले राम वनवासी बनकर,
मात-पिता आज्ञा मानी ।
पाण्डव घूमे फिरे वनों में
नहीं तनिक विपदा जानी ॥

गौतम ने निज घर को छोड़ा
राज्य तजा निज गृहिणी को ।
सुत की ममता को भी त्यागा
सुखी बनाया धरणी को ॥

महावीर स्वामी की माया
भूल सका क्या मानव दल ।
जिनकी अनोख-गुण-गाथा
अंकित जग के अन्तर पर ॥

राजकुमारी सर्वमित्रे[1] ने
घर छोड़ा वैभव त्यागा ।
भाई को गुरु माना उसने
मठ में जा अलख जगा ॥

शंकर रामानुज वल्लभ ने
घर छोड़ा परिवार तजा ।
कष्टों की परवाह नहीं की
फहराई थी धर्म-ध्वजा ॥

१—राजकुमारी सर्वमित्रा ॥

नानक दादू, तुलसी ने भी
पथ अपनाया धर्मों का।
हार न मानी अडिग रहे वे
मार्ग बनाया फूलों का॥

दयानन्द, गांधी ने भी
अपनाया मार्ग तपस्या का।
सत्य अहिंसा को फैलाया
मार्ग न पकड़ा हिंसा का॥

भीखण स्वामी[2] की यात्रा का
आज अनोखा अभिनंदन।
वे निकले थे ध्येय साधने
तन मन सब करके अर्पण॥

नहीं दबाई अन्तर-वाणी
आत्मा की आवाज अमर।
प्रकट हुई आचार-शिथिलता
छोड़े सब वे आडम्बर॥

धर्म-शिथिलता सह न सके वे
वैचारिक मत-भेद हुआ।
समझौता स्वीकार न उनको
मन में तनिक न खेद हुआ॥

चैत्र-शुक्ल-नवमी के दिन वे
निकल पड़े अपने पथ पर।
नहीं मिला था वास कहीं भी
चल निकले वे छोड़ नगर॥

आंधी भी तूफान भयानक
बढ़ न सके आगे स्वामी।
बगड़ी गांव रुके आकर वे
छत्री ही आश्रय मानी॥

था श्मशान का भीषण स्थल वह
पर न तनिक भी भय माना।
बाधाओं विघ्नों को सहकर,
विकट साधनों को ठाना॥

२—आचार्य श्री भिक्षु स्वामी॥

एकाकी चल पड़े मार्ग पर
कष्टों की परवाह न की।
क्रान्ति-मार्ग के बने पथिक थे
वैभव सुख की चाह न की॥

अस्तु श्रेयस पथ को पकड़ा
शांति-मार्ग-अभियान किया।
सुधरी की नगरी से ही—
भीखण ने अभिनिष्क्रमण किया॥

धन्य आज वह घड़ी जिसमें
स्वामी ने विधान किया।
साधु-सन्त-जीवन की शुचिता
पर पूरा बल ध्यान दिया॥

सत्य अहिंसा प्रेम अमर है
तीर्थंकर-सन्देश अमर।
अमर शांति-सन्देश भिक्षु का
आज भिक्षु का नाम अमर॥

गतानुगतिक रीति-विद्रोही
धन्य भिक्षुवर, तुम्हें प्रणाम।
धन्य तुम्हारे तुलसी-गणि को,
धन्य धन्य है तेरा नाम॥

क्रान्ति-दूत आचार्य भिक्षुवर,
क्रान्ति-यश यह अमर रहे।
सुधरी का गौरवशाली दिन
हमको कभी नहीं बिसरे॥

तुलसी जैसे सन्त-जनों की—
जीवन-वाणी हो प्रेरक।
अणुव्रत महाव्रतों का पालन—
करने में सब हो सचेत॥

धन्य तुम्हारी मात कि जिसने
तेरे जैसा लाल दिया।

धन्य पिता गुरु जिसने तुमको
पाल पोस कर बड़ा किया ॥

पुण्य भूमि भारत है जिसमें
जनमें ऐसे सन्त महान् ।
जिनका जीवन जग-हित अर्पित
धन्य धन्य है ! सन्त महान् ॥

लो वन्दन शत बार !

मुनि श्री रूपचन्दजी

संयम-धन के प्रहरी ! भिक्षो ! स्मृतियों के आधार
दृढ़-प्रतिज्ञ कर्तृत्व तुम्हारा निखर रहा साकार ।

वृक्षों के झुरमुट से झाँका जब इस अवनी-तल पर,
मुरझायी-सी कान्तिहीन सी देख इसे तुम अक्सर !
आँसू बनकर ढुलक पड़े तुम भर मन में अनुकम्पन
अनुप्राणित हो नाच उठा प्यासी धरती का कण-कण
इसके प्रति-अणु में अन्तर्हित तेरा ही आकार ।

तृषित वासना का शमन ही क्या मानव का जीवन ?
लहरों के दो सबल थपेड़ों से झुक जाए नत मन
यह दीपक क्या स्नेह-सिक्त बन जलन का सकुचाए ?
एक झकोरे से अपना जो चिर अस्तित्व लुटाए,
तुम तो थे अभिशाप ! जले बस अपने ही आधार ।

आज बने तुम केवल बस मानस की एक पहेली
जीवन की नश्वर प्याली में अमृत घूँट उँड़ेली ।
अपने श्वासों के रथ पर ही प्राण-देव ! तुम आए,
तभी गगन मण्डल में अगणित ये तारे छितराए ।
इसीलिए युग नत-मस्तक है लो वन्दन शत बार ॥

ज्योतिर्मय के प्रति

मुनि श्री मणीलाल जी

ज्योतिर्मय ! अपनी किरणों से
अंधकार को
दूर भगाकर
जनमानस में
नवजीवन का
स्रोत बहा कर
एक नया
आलोक दिखाया।
घोर विपिन में
तमा-अमा की
चिता प्रेत से काले बादल
विद्युत-लीला
साँय साँय करती भीषण रव
था पग पग पर
व्याकुल बाधाएँ
चलना मुश्किल
क्योंकि
कंटकाकीर्ण
और
ऊबड़ खाबड़
उसका पथ था।
राह नहीं
फिर भी
महामानव !
बढ़े चले तुम
ध्यान लिए
विश्वास लिए
दिल में अभिनव उल्लास लिए
आयाम लिए
आशा का मधु संचार लिए
धाम अजिर
फिर हुआ उजेरा
नई किरण का
नया सवेरा।
फैली लाली
बाल-सूर्य की
आभा—जगमें
उसे देखकर
सबके दिल में
फिर से नई चेतना जागी
सुस्थिर होकर
एक नजर से
मुड़ कर देखा
साथी बिछुड़ गये हैं कितने
प्रगति के शिखरारोहण में
कोई रहा तलहटी पर ही
कोई थककर गिरा पड़ा है सम्मूर्च्छित सा
गिरि-चट्टानों से टकरा कर लुढ़क गया है
शूलों की शय्या पर कोई
गहन झकोर बड़े छालों में
कराहता है कोई कोई।
देख व्यथा दुखित दुनिया की
द्रवित हृदय
निर्भीक सदय
अपनी वाणी से
जन मानस के
हृदय-पटल पर
अमृत सींचा।
मुरझी कलियाँ
एक बार फिर से मुस्काईं
अपने सौरभ से
सुरभित कर
मूर्च्छित जन को।
किया सचेतन

एक नया पथ
फिर से पाया
भूला भटका विस्मृत मानव
फिर से अपने घर पर आया
इसीलिए
संसार आज
नत मस्तक है
हे योगिराज !
लो कोटि कोटिश
अभिनन्दन
जो भक्ति भरा
अनुरक्ति भरा
संयम से सशक्ति भरा ।
यह अभिनन्दन
यह अभिनन्दन
लो ! योगिराज !
लो ! भिक्षु राज !!

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल

मुनि श्री हर्षचन्द्रजी

भिक्षु ! तुम कर्म से ही नहीं नाम से भी भिक्षु थे कहा जा सकता है कि तुम जन्मजात ही भिक्षु थे । भिक्षुत्व तुम्हारे रग-रग में शोणित के कण-कण में व्यवहार की कड़ी-कड़ी में रमा हुआ था फिर भी यह कितना आश्चर्य था कि मरणान्तक परिस्थिति में भी तुमने जीवन की भिक्षा नहीं माँगी । तुम्हें वस्त्र स्थान और आहार जैसी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्ष करना पड़ा विरोधों के उड़ा देने वाले तूफानों को सहना पड़ा अभिशापों को मिटा देने वाले भूचालों से गुजरना पड़ा और वह भी उस समय जब कि सत्य के थोड़े से बलिदान पर तुम्हारे लिए समग्र सुविधाएँ उपलब्ध थीं समाज का यश और सम्मान तुम्हारे मस्तक का मुकुट बनने को तत्पर था लक्ष-लक्ष शुभाशीर्वाद तुम्हारे जीवन पथ के लिए तोरण द्वार बनने को लालायित थे पर तुमने जीवन की भिक्षा नहीं माँगी । इससे भी आगे तुमने भिक्षु होकर भी भिक्षा देना प्रारम्भ किया । तुमने जीवन की भिक्षा दी भटकते हुओं को आलोक दिया बहते हुओं को द्वीप दिया गिरते हुओं को चेतना दी और उसी दान में तुम्हारा भिक्षुत्व सहस्र गुणित होकर निखर उठा । भिक्षुत्व का प्रकाश उसी में तो है जो जीवन की नगण्य सी आवश्यकताओं की पूर्ति संग्रह और परिग्रह से उन्मुक्त रह कर भिक्षा से करता है और देता है जीवन को चेतना आलोक और सजगता । भिक्षु ! तुम्हारे चरणों में अर्पित की जाने वाली श्रद्धांजलि भारतीय तप त्याग और अध्यात्म वाद के लिए है । इन्हीं महान् श्रेयों की अर्चा के लिए, आराधना के लिए, अभिनन्दन के लिए तुम्हारा अर्चन आराधन और अभिनन्दन किया जाता है । तथ्य तो यह है कि तुम अपने जीवन से आचार से और विचार से इस प्रकार के ज्योतिपुञ्ज बने कि तुम स्वयं ही लक्ष-लक्ष जन-समूह के लिए श्रेय आराध्य और उपास्य बन गए ।

भिक्षु ! तुम असाधारण थे । तुम शरीर से असाधारण थे तभी तो तुम्हारी सारी काया शुभ लक्षणों चिन्हों और रेखाओं से अङ्कित थी । तुम जीवन से असाधारण थे तभी तो तुम्हारी चरण धूलि से अपने सिर को पवित्र करने के लिए सहस्रों लोग समुत्सुक रहते थे । तुम विचारों से असाधारण थे तभी तो युगों के पश्चात् भी असंख्य जनगण तुम्हें जानने सुनने और समझने को लालायित हैं । तुम निराले थे अलौकिक थ । तुम जन्मे भी महान् बन कर जीये भी महान् बनकर और आज सशरीर विद्यमान न हो कर भी अमर और महान् हो । लोग कहते हैं कि तुम चले गए परन्तु मुझे तो लगता है कि आज भी तुम उपस्थित हो बन रहे हो बना रहे हो अगणित भव्यजनों के जीवनों को । भिक्षु तुम शब्दों से—ऊपर हो ध्वनि से दूर हो आकृति से विलग हो । तुम्हारे पावन जीवन के प्रति मैं भी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और जैसे कि तुम हो मेरी यह श्रद्धांजलि भी शब्दों से ध्वनि से और आकृति से ऊपर दूर और अलग ही है सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल ।

युग पुरुष आचार्य भिक्षु के प्रति

श्री श्रमण सागर जी

तुमने तो युग को आंक लिया युग आंक नहीं तुमको पाया ।
तुमने तो युग को आंक लिया युग आंक नहीं तुमको पाया ॥ध्रुव॥

(१)

युग स्रष्टा तुम इस नवयुग के नवस्रष्टा बन कर आये थे ।
भावी युग के संकेतों का आलोक अनोखा लाये थे ॥
युग समझ नहीं पाया तुमको तुमने तो युग को समझाया ।
तुमने तो युग को आंक लिया युग आंक नहीं तुम को पाया ॥

(२)

अंकित की नई सूक्ष्म रेखा तुमने युगके प्राचीरों पर ।
रच दिया नये युग का लेखा वाणी के तीखे तीरों पर ॥
युग अपना नहीं सका उसको तुमने तो युग को अपनाया ।
तुमने तो युग को आंक लिया युग आंक नहीं तुमको पाया ॥

(३)

तुमने अतीत के गीतों को था वर्तमान में बांध लिया ।
तुमने भविष्य के सपनों को था वर्तमान से सांध लिया ॥
युग उलझ रहा था उलझन में पर तुमने युग को सुलझाया ।
तुमने तो युग को आंक लिया युग आंक नहीं तुमको पाया ॥

(४)

युग से समझौता कर चलना यह सत् पुरुषों की रीति रही ।
कुछ उसे बदलना कुछ ढलना युग पुरुषों की यह नीति रही ॥
युग सीख नहीं पाया तुमसे तुमने तो युग को सिखलाया ।
तुमने तो युग को आंक लिया युग आंक नहीं तुमको पाया ॥

आचार्य भिक्षु के प्रति

श्री सुपारस पगारिया "अंचल"

(१)

युग से पीड़ित जन मानस था युग की गंगा का जल खारा ।
और बहुत इनसान विवश था बन करके असहाय बेचारा ।।
मंजिल उसकी दूर वहाँ पर, उसका सुन्दर रूप सलौना ।
तब तुम आये इस धरती पर, इस मिट्टी को करने सोना ।।

(२)

संस्कारों की कुछ रेखाएँ, बचपन की मिट्टी में खींचो ।
मुरझा कहीं न जाये किसलय इतना मत पानी से सींचो ।।
उठी तरंगें इस मानस में बदला ढाँचा फिर जीवन का ।
कब भय होता है नाहर को वन में फिर एकाकीपन का ।।।

(३)

शूल बिछाये निर्दय पथ ने बढ़नेवाले चरण रुके कब ।
तूफानों के घेरों में फिर, उठने वाले शीश झुके कब ।।
यही सत्यता इस जीवनके संघर्षों से खेल रही है ।
उठनेवाली लहर कूल की हर कठोरता झेल रही है ।।

(४)

तम की काली जंजीरों में यह आलोक नहीं बँध सकता ।
इतनी गहरी नींवें जमी हैं, यह विश्वास नहीं हिल सकता ।।
मंजिल पर बढ़ने पैरों को रुकना कभी नहीं भाता है ।
कार्यसिद्ध कर लें या फिर, उसमें ही जीवन मिट जाता है ।।

(५)

नया प्रवाह दिया तुमने था संयम की बहती धारा को ।
ढहा दिया तुमने निज बल पर, स्थितिपोषकता की कारा को ।।
योग साधना का आलोकित पथ तुमने ही किया धरा पर ।
सत्य तुम्हारे हर स्पन्दन में निखर उठा हो व्यक्त यहीं पर

ये स्वर अभिनन्दन बन जायें!

साध्वी श्री चन्दनबालाजी

चले गये तुम किन्तु तुम्हारे कार्य अमर वंदन बन जायें
देव तुम्हारी कुसुमांजलि में ये स्वर अभिनन्दन बन जायें।
शुष्क भूमि सरसब्ज बनाने महामेघ बन उमड़ पड़े तुम
श्वेत हिमाचल में चल भू पर महावेग से बढ़े चले तुम।
भीष्म दरारें प्रस्तर काँटों के चुभनों न तुमको रोका
झंझाओं के कड़े थपेड़ों न देना चाहा था धोखा।
साहस-धीर वीर बन रुकता विपदाएँ स्पन्दन बन जायें ॥१॥

जिन प्राणों का टिम-टिम करता स्नेह दीप बुझनेवाला था
स्नेह तुम्हारा आत्म समर्पण का दीवट में तब आया था।
उतर पड़े थे महासमर में अपने को उत्तीर्ण बनाने
विमल साधना से जीवन के कण-कण को आकीर्ण बनाने।
इसी हेतु यह सब सकठन जन-जन का जीवन बन जाए ॥२॥

संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है

साध्वी श्री कानकुमारी (सरदार शहर)

संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है ॥ ध्रुव ॥
तेरे पथ पर इस धरती ने तीखे तीखे शूल बिछाए।
श्रान्त चरण के तीव्र गमन ने उन शूलों को फूल बनाए ॥
कोमल पथ पर चलने वालों का पद पद चिन्हित रहता है।
संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है ॥

जिस पथ में कजरारे बादल ने घनघोर तिमिर फैलाया।
ज्योति किरण! तेरे कण-कण ने उसमें नव आलोक जगाया ॥
तिल तिल कर जलने वालों का नाम सदा जीवित रहता है।
संघर्षों में जीनेवालों का इतिहास अमर रहता है ॥

युग की निर्मित रेखाओं पर जब तक मानव चलता आया।
तब तक तेरे नव चिन्तन बिन जग था सत्पथ से भरमाया ॥
इसीलिए संसार तुझे सदियों से युग स्रष्टा कहता है।
संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है ॥

भिक्षो ! तेरे पावन चरणों में है नत संसार

साध्वी श्री जयश्री

भिक्षो तेरे पावन चरणों में है नत संसार ।।ध्रुव।।

आदि काल में किसने तेरा सत्य रूप पहिचाना ।
ज्योतिपुंज ! पर जग ने तुमको तिमिर रूप कर माना ।।
बूंद लिए आए थे लेकिन सागर बन लहराए ।
एक किरण से सकल विश्व को आलोकित कर जाए ।।
किसने सोचा बन पाओगे आशा के आधार ।

भिक्षो ... है नत संसार ।।

फूलों का सम्मोह त्याग जब शूलों पर थे चलते ।
घोर अमा में दीपक बनकर जग में तुम थे जलते ।।
कष्टों से लोहा लेने को धरती पर तुम आए ।
अथवा जाने स्वर्ग लोक को यहाँ बसाने आए ।।
सदियों से भूले जीवन की तुमने की संभार ।

भिक्षो ... है नत संसार ।।

जो तेरे चरणों के पीछे लाखों चरण बढ़े थे ।
जो तेरे वचनों के पीछे लाखों धर्म मढ़े थे ।।
तेरा पथ बना है तेरे दर्शन का नवनीत ।
तेरा जीवन ही बन पाया इसका नव मनीत ।।
तुमको समझ सके इतना सा मिल पाए उपहार ।

भिक्षो ... है नत संसार ।।

भेंट में चिन्तन का नवनीत

साध्वी श्री कमलश्री

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ भिक्षु तुम्हारे गीत ।
टूटे इन तारों से कैसे निकलेगा संगीत ।।ध्रुव ।।

तेरे चेतनता के पथ से अब तक दूर कहीं हूँ ।
किन्तु पहुँचने को उस तक मैं दृढ़ संकल्प रही हूँ ।।
चरणों का इतिहास तुम्हारा क्यों फिर भी अनचीत ।
टूटे संगीत ।।

ये अरमान सदा इस ओर अरे ! ढलते आए हैं ।
तेरी किरणोंमें मेरे ये प्राण सदा पलते आए हैं ।
भौतिकता यह कभी न मुझ पर पा सकती है जीत ।
टूटे संगीत ।।

ऊषा की नीरवता में उठती हूँ तुमसे पाने ।
विजन कथाओं में जाती हूँ तुमको व्यथा सुनाने ।।
तेरी लौ में जली न लेकिन स्वाश्रित हृदयकी प्रीत ।
टूटे संगीत ।।

नहीं मिटाता मुझे सताने पथ को नाप लिया जो ।
स्वप्नों से बनता जीवन मैंने मान लिया जो ।।
देव ! चढ़ाऊँ चरण भेंट में चिन्तन का नवनीत ।
टूटे संगीत ।।

वही बना श्रद्धेय हमारा।

साध्वी श्री फूल कुमारीजी

वही बना श्रद्धेय हमारा।

सतत् साधना महासमर में बढ़ा सदा जो वीर,
संघर्षों के बीहड़ पथ पर, जो चलता मति धीर,
सूत्रों के मन्थन चिन्तन में उतरा जो बनकर गंभीर,
मरुस्थली को सरस बनाने बहा सदा जो बन कर नीर,
कर्मवीर के कृत कृत्यों पर, चलना ही हो ध्येय हमारा
वही बना श्रद्धेय हमारा।

निहित अहिंसा में ही सारी दान दया पावन मीमांसा
जगत बना तेरा आभारी पाकर यह अभिनव परिभाषा
समाधान समुचित पाते थे आते जो लेकर जिज्ञासा
परोपकृति में जुटे हुए थे कभी नहीं फल की प्रत्याशा
कर सर्वस्व समर्पण तुमने लिया वीर वाणी का सहारा
वही बना श्रद्धेय हमारा।

जो कल तक प्रतिकूल रहा अनुकूल वही बनकर मिलता है
कर्ण कटक था वाक्य शूल जो आज फूल बनकर खिलता है
वही भ्रमा का घोर तिमिर अब सप्त शिखा बन कर जलता है
सम्प्रदाय का अधिनायक जो यदि सेवक बनकर पलता है
अभिनन्दन शतबार उसी को आज बना नयनों का तारा
वही बना श्रद्धेय हमारा।

———

मेरा भी स्वीकार करो अभिनन्दन निश्छल

साध्वी श्री कनकप्रभाजी

प्रभो! तुम्हारे चरण चिह्न की रेखाओं पर,
आज मनुज के चरण स्वयं बढ़ने को तत्पर।
तेरे युग नेत्रों से कलित साम्य सौध पर,
दृष्टि टिकी है आज जगत की फिर से अविचल।
तेरी युग्म भुजाओं में वह अनुपम बल था
जिससे टूट पड़ी बन्धन की कुत्सित बेड़ियाँ।
तेरे चिन्तन मनन और अनुशीलन से ही
जुड़ती जाती चैन जगत की टूटी कड़ियाँ।
इसीलिए तेरे जीवन के पावन क्षण ये
आज मनुज मन में करते हैं अभिनव हलचल ॥१॥
गति में था गांभीर्य किन्तु वह शिथिल नहीं थी
मति में तीव्र विराग निराशा की कब छाई।
शक्ति स्वयं तेरी अर्पित रहती उपकृति में
तृप्ति सदा तुमने संयम में ही थी पाई।
तेरे श्रम हस्तों पर स्थापित है जग सारा
मेरा भी स्वीकार करो अभिनन्दन निश्छल ॥२॥

आचार्य भिक्षु के प्रति

साध्वी श्री चम्पकलाजी

महाप्रलय की दीर्घ निशा में एक दीप टिम-टिम करता था
जिसने चलने का व्रत ले आलोक दिया भूपके जग को।
जिसने चलने का व्रत ले चलना सिखलाया हम सबको
निष्क्रियता की दीर्घ शून्यता से वह मानव टकता था ॥१॥

अनुस्रोत में बहने वालों का इतिहास नहीं रहता है
अमर रहा इतिवृत्त उसी का प्रतिस्रोत में जो बहता है।
फूलों का पथ छोड़ अरे वह अंगारों पर ही चलता था ॥२॥

सपनों को सहते-सहते जीवन में ज्योति भर आती
विपदाओं में बढ़ते-बढ़ते अपने आप शक्ति मिल जाती
सपनों में तेज पुंज बन कर वह एकाकी चलता था ॥३॥

स्नेहमिश्रित ममता को पाकर उभरा भव्य हृदय कब पिघला
भीषण बाधाओं के आगे दृढ़ निश्चय से वह पग धरता
साम्य मनोबल में ही उसका बस अम्बर मानस खिलता था ॥४॥

तेरापथ की उद्‌भवकालीन स्थितियां

आचार्य श्री तुलसी

तेरापथ एक सम्प्रदाय है जो आज से दो सौ वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ। मैं जैन शासन को तेरापथ से और तेरापथ को जैन शासनसे भिन्न नहीं मानता हूँ। जैन शासन में अनेक सम्प्रदाय हैं। अनेक सम्प्रदायों का जो एक संहत रूप है वह जैन शासन है। वृक्ष को शाखाओं से और शाखाओं को वृक्ष से भिन्न कौन कैसे मान सकता है? शाखाएँ अनेक होती हैं पर वृक्ष की शोभा बढ़ाने के लिए उनमें अनेकता नहीं होती। एक महान शासन की भी अनेक शाखाएँ हुई हैं। जब वे शासन की श्री-वृद्धि में एक थी तब तक अनेक होकर भी एक थी। भगवान् महावीर के नौ गणधर थे अनेक आचार्य थे अनेक उपाध्याय थे (अनेक अन्य) और आचार और विचार में अनेकता नहीं थी यह भी नहीं सहस्रावधि श्रमण सर्वथा एक रूप हो यह कोई मानस शास्त्री कैसे माने? किन्तु अनेकता में समन्वय का धागा ऐसा था कि एकता अनेकता को अपनी शोभा बनाए चल रही थी। समय बीता स्थितियाँ परिवर्तित हुई—अनेकता ने अपना आसन आगे बिछा लिया। आचार और विचार का चीवर फटता गया और समन्वय का धागा टूटता गया। इस स्थिति में जो सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हुए वे व्यवस्था की दृष्टि से किये हुए विभाग नहीं हैं किन्तु परिस्थिति की देन हैं। तेरापंथ एक जैन सम्प्रदाय है। उसका उद्भव भी विशेष परिस्थिति में हुआ है।

भारत की अन्तर-आत्मा को जितना धर्म ने स्पर्श किया है उतना राज्य ने नहीं। भारतीय जीवन को धर्म ने जो मोड़ दिये वे राज्य ने नहीं दिये। भारतीय मानस का सर्वोपरि आकर्षण धर्म रहा है इसलिए उसने जितना रस धर्म-चर्चा में लिया है, उतना दूसरी चर्चा में नहीं।

चर्चा उसी की होती है जिसका महत्त्व होता है। धर्म का महत्त्व इसलिये है कि वह आत्मा का आलोक है। वह सम्प्रदाय में प्रतिबिम्बित होता है। धर्म व्यक्ति की साधना है और सम्प्रदाय है सम विचार तथा आचार की समन्विति। सम्प्रदाय में धर्म साकार होता है और धर्म को पाकर सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण बनता है।

आचार्य भिक्षु स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। आठ वर्ष तक उसमें रहे। आगमों का ज्ञान प्राप्त किया गुरु का वात्सल्य और संघ की श्रद्धा प्राप्त की। पर इस प्राप्ति में भी उन्हें एक अप्राप्ति का अनुभव हुआ। उन्हें लगा कि सूत्रों में मुनि का जो आचार बताया गया वह मुनियों के जीवन में नहीं है। भगवान्-महावीर ने जो संयम का विचार दिया उसका भी सम्यक् प्रस्फुटन नहीं है। यह एक तीव्र प्रतिक्रिया थी। इसीने तेरापथ को जन्म दिया।

इतिहास का विद्यार्थी परिवर्तन के क्रम से अपरिचित नहीं होता। वह जानता है कि विश्व में ऐसा तत्त्व कोई नहीं है जो नये सिरे से उत्पन्न हो या सर्वथा विच्छिन्न हो जाए। जो हैं वे हैं और जितने हैं, उतने ही हैं। उनमें न तो राई मात्र घटता है और न तिल मात्र बढ़ता है। तो फिर प्रश्न होता है जो आज है वह कल नहीं रहता और जो कल नहीं है वह आज हो जाता है यह क्या है?

यही परिवर्तन का सिद्धान्त है। इतिहास इसीके आधार पर बनता है। जो जैसे हैं वह वैसे ही रहें तो इतिहास किसका बने? अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनों एक साथ चलते हैं इसीलिए नई-नई घटनाएं होती हैं और नया-नया इतिहास बनता है।

तेरापन्थ के प्रादुर्भाव का इतिहास भी घटनावलियों से रिक्त नहीं है। राजनगर के श्रावकों को समझाने के लिए आचार्य रुघनाथ जी ने सन्त भिक्षु को भेजा। द्वन्द्व दोनों ओर था। श्रावकों के मन में मुनियों की आचार शिथिलता के प्रति रोष था। सन्त भिक्षु को आचार और विचार दोनों में खामी का अनुभव हो रहा था। श्रावकगण साधुओं को वन्दना करना छोड़ चुके थे। सन्त भिक्षु गण में विद्यमान थे। श्रावक आचार्य का विश्वास खो चुके थे। सन्त भिक्षु आचार्य के विश्वासपात्र थे। वे चाहते थे कि साध्य भी सधे और विग्रह भी न बढ़े। श्रावकोंमें सन्त भिक्षु के प्रति

विश्वास था और वे बुद्धि वैभव के धनी थे। उन्होंने श्रावकों को समझाया। वे भिक्षु की बात मान गए और पुनः वन्दना करने लगे। सन्त भिक्षु ने उनका भार अपने पर ओढ़ लिया। उनका अन्तर्द्वन्द्व प्रज्वलित हो गया। वे अपने आचार्य रघुनाथ जी के स्नेह-सूत्र में बँधे हुए थे। एक ओर वे और आचार्य के साथ रहना चाहते थे दूसरी ओर वे आचार का विकास चाहते थे। आचार्य उनकी बात मानें तभी इन दोनों स्थितियों का समाधान हो सकता था। राजनगर में रहते-रहते उन्होंने आगमों का गम्भीर अध्ययन किया। दीर्घ-चिन्तन के बाद भी उन्हें लगा कि जो विचार उन्होंने स्थिर किया है वह भ्रान्त नहीं है। चातुर्मास पूरा हुआ। उन्होंने आचार्य के पास जाने को विहार किया। मार्ग में गाँव छोटे थे। सुविधा की दृष्टि से सन्त भिक्षु ने वीरभाण जी को अलग भेज दिया। 'पहले पहुँच जाओ तो राजनगर की स्थिति की चर्चा मत करना' यह उन्हें समझाया गया। पर समझ तो आखिर अपनी ही काम देती है। वे पहले पहुँचे। आचार्य ने पूछा— क्या श्रावकों की शंकाएँ मिट गईं? वीरभाण जी बोले—उन्हें शंका थी कहाँ? वे सच्चाई पर थे। शंका कोई हो तो मिटे? हम भूल पर हैं। जानबूझकर अनाचार का सेवन जो कर रहे हैं। आचार्य स्तब्ध रह गए। वीरभाण जी अब भी मौन नहीं थे। वे बोले—यह तो नमूना है पूरी जानकारी तो सन्त भिक्षु देंगे। सन्त भिक्षु की योजना को विफल करने का यह पहला प्रयत्न था। वीरभाणजी ने जो किया वह विरोधी भाव से नहीं किया। सारे कार्य विरोधी भाव से ही विफल नहीं होते। बहुधा अविवेकपूर्ण प्रयत्न भी स्थिति को उलझा देते हैं। जो बात को न पचा सके अस-मय में ही प्रकाशित या प्रसारित कर दे वह मित्र भी शत्रु का काम करता है।

वीरभाणजी ने ऐसा ही किया। सन्त भिक्षु की योजना में बाधा उपस्थित हो गई। वे आचार्य की भावना में अपनी भावना को मिठास में घोल देना चाहते थे वह नहीं हो सका। उनकी कला को अपना कर्तृत्व दिखाने का अवसर ही नहीं मिला। उन्होंने प्रथम दर्शन में आचार्य को असन्तुष्ट पाया। उन्होंने आचार्य को प्रसन्न करने का यत्न किया अपनी भावना को नम्रता के साथ रखा। पर जो स्थिति जटिल हो चुकी थी वह सुलझी नहीं। एक दिन अन्तर्द्वन्द्व सिमट गया। सन्त भिक्षु अपने आचार्य से पृथक् हो गए। थोड़े-थोड़े मतभेदों को प्रधानता दे संघ से पृथक हो जाना जैन परम्परा को विभक्त करना कैसा है? यह प्रश्न बहुत ही सहज है। जितना सहज है उतना ही चिन्तनीय। चिन्तनीय इसलिए है कि सब जगह मतभेद मूल तत्त्वों से ही सम्बन्धित नहीं होते। बहुत बार मतभेद होते ही नहीं कोरा आचार पालन का प्रश्न होता है। परन्तु आचार्य भिक्षु के सामने दोनों स्थितियाँ थीं। विचार भेद था ही और आचार पालन का ज्वलन्त प्रश्न भी। आधाकर्मी आहार (मुनि के निमित्त बनाया हुआ आहार) मुनि न ले यह आचार है। इसमें कोई मतभेद नहीं था। आचार्य ने कहा—अभी इसे छोड़ना कठिन है सन्त भिक्षु ने कहा—साधु जीवन सरल नहीं है तब यह कठिन कैसे न हो? कठिनाई का वरण कर हम जो निकले हैं तो फिर कठिन मार्ग पर चलने में हमें भय क्यों हो? और भी ऐसे अनेक आचार थे जिनके पालन में शिथिलता बरती जाती थी। वह आचार्य भिक्षु को सह्य नहीं हुई। उस समय के साधु जो करते उसे सिद्धान्त सम्मत मानकर करते तब स्थिति दूसरी होती। उसमें चिन्तन को बहुत आगे चलाना होता। किन्तु यह स्थिति उसके विपरीत थी बहुत स्पष्ट थी। इसलिए आचार्य भिक्षु को अपना पथ चुनने का निर्णय करना पड़ा। वि स १८१७ चैत्र शुक्ला ९ के दिन धर्म क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। आचार्य भिक्षु के चरण नई दिशा में बढ़े। जिन्होंने एक नए सम्प्रदाय की नींव डाल दी। उस समय उसका भाग्य स्पष्ट नहीं था। उसकी सारी रेखाएँ भविष्य के गर्भ में थी। वर्तमान जैसे-जैसे अतीत होता जाता है वैसे वैसे भविष्यवर्तमान बनता जाता है। एक दिन तेरापन्थ का उदय हुआ। आचार्य भिक्षु ने सुना कि जोधपुर में इस संघ का नामकरण हुआ है। उन्होंने उसे स्वीकार किया और तेरापन्थ का आलोक फैलने लगा।

प्रत्येक घटना पूर्व स्थिति की प्रतिक्रिया होती है। विलास-वैभव की प्रतिक्रिया ने भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध जैसे हमारे राज-पुत्रों को त्याग-प्रतिष्ठापन की ओर प्रेरित किया।

महर्षि दयानन्द ने मूर्ति पूजा का विरोध किया और आर्य-समाज की स्थापना की वह कर्मकाण्डों की बाढ़ की प्रतिक्रिया थी। साधुओं की सुखशीलता और अनुशासनहीनता की प्रतिक्रिया ने तेरापन्थ को जन्म दिया।

१– उपदेश की चौपई ढाल

आचार्य भिक्षु ने अपनी रचनाओं (१८१ बोल की हुण्डी साधां रै आचार री चौपई) में आचार शिथिलता पर प्रहार किया है। उन कृतियों से उस समय के साधुओं की आचार सम्बन्धी स्थिति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। उनकी शेष रचनाएँ मुख्यतया वैचारिक मतभेद से सम्बन्धित हैं। संगठन को एक सूत्र में बांधे रखने और अनुशासन को मूल्यवान बनाने की उनकी सूझ मौलिक है या नहीं यह विवादास्पद हो सकता है किन्तु उसे क्रियान्वित करने और उसमें सफल होने का श्रेय आचार्य भिक्षु को है यह निर्विवाद सत्य है।

आचार्य भिक्षु ने वि सं १८१७ (आषाढ़ पूर्णिमा को) तेरापन्थ की दीक्षा स्वीकार की।[1] इस कार्यक्रम में उनके साथ तेरह साधु थे। चार उनके पास थे और शेष नौ दूसरे गाँवों में थे। इनमें से छः साधु ही (आचार्य भिक्षु सहित) तेरापन्थ में रहे शेष सात उससे पृथक हो गए। संख्या और शुद्धि ये दो विकल्प हैं। आचार्य भिक्षु ने इनमें दूसरा विकल्प चुना। संख्या भले ही कम हो शुद्धि अधिक रहे इसी भित्ति पर उन्होंने तेरापन्थ का भवन खड़ा किया। पदलोलुपता के निवारण के लिए उन्होंने यह सूत्र दिया कि आचार्य एक हो। संगठन व्यवस्थित रहे इसलिए उन्होंने मर्यादावलि का निर्माण किया। समसूत्रता के लिए उन्होंने अनुशासन को प्रोत्साहित किया। आचार और विचार की समरेखाओं के निर्माण में उनकी लेखनी ने अपना पूरा कौशल दिखाया। एक आचार्य समान आचार और समान विचार, तेरापन्थ की ये तीन विशेषताएँ हैं। चिन्तन की पूर्ण स्वतन्त्रता है किन्तु संघ की मान्यता के प्रतिकूल हर सदस्य को विचार संस्थापन की स्वतन्त्रता नहीं है। उसके लिए प्रत्यक्षतः आचार्य की और परोक्षतः गण की स्वीकृति लेनी होती है। विचार भेद होता है यह सहज है किन्तु अपने-अपने विचार का आग्रह हो तो संगठन का आधार सुदृढ़ नहीं रह सकता। अपने चिन्तन पर सत्य का विश्वास होता है पर दूसरे का चिन्तन सत्य नहीं इसका आधार क्या? सत्य का निर्णय व्यवहार दृष्टि से होता है। निश्चय दृष्टिप्राप्त न हो उस स्थिति में एकान्तिक आग्रह का अधिकार भी कैसे प्राप्त हो सकता है। हमारे पास सत्य का माप दण्ड व्यवहार ही है तब हम अपने चिन्तन को मृदु क्यों न रखें। इस चिन्तन के आधार पर आचार्य भिक्षु ने इस मर्यादा का निर्माण किया कि कोई नया तथ्य मिले तो बहुश्रुत मिलकर उसपर चिन्तन कर लें अपना चिन्तन आचार्य तक पहुँचा दें और आचार्य जो अन्तिम निर्णय दें उसे मान्य कर लें।[2] यह व्यवस्था संगठन का सुदृढ़ आधार है। इससे आग्रह की भावना टूटती है और समन्वय बुद्धि से चलने का पथ प्रशस्त होता है।

चिन्तन की स्वतन्त्रता न हो तो श्रद्धा जड़ बन जाती है और श्रद्धा विकसित न हो तो चिन्तन उच्छृंखल बन जाता है। जहाँ चिन्तन की स्वतन्त्रता होती है और श्रद्धा का विकास होता है वहाँ अहिंसा होती है और समन्वित रूप में चलने की क्षमता का उदय होता है।

तेरापन्थ की उदयोन्मुखता में इस व्यवस्था ने बहुत बड़ा योग दिया है। एक समय छः साधु रहे, इसकी चर्चा हो चुकी है। आज लगभग छः सौ पचास (६५०) हैं। तेरह साधु और तेरह श्रावकों की संख्या के आधार पर एक कवि ने 'तेरापन्थ' नाम रखा वही पन्थ आज हजारों का पन्थ है। आचार्य भिक्षु ने इस संज्ञा को हे प्रभो 'यह तेरा पन्थ' इस रूप में स्वीकार किया।[3] यह पन्थ पथिकों का नहीं है भगवान् का है। किसी पथिक ने इसे निर्मित नहीं किया है इसका निर्माण भगवद्वाणी की कंकरीट से हुआ है। यह कोई नया पन्थ नहीं है। इसका आधार बहुत पुराना है। पुराने को नया रूप मिला है इसलिए यह नया भी है।

व्यक्ति की तीन परिधियाँ हैं—समाज राज्य और धर्म। गत दो शताब्दियों में इन सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए हैं क्रान्तियाँ हुई हैं। हिन्दुस्तान शताब्दियों से पराधीन था इसलिए सामाजिक या राज्य क्रान्ति की ओर उसकी गति नहीं

१— संवत् अठारै सतरै समै पचाम लेखै पिछाण। आषाढ़ सुदी पूनम दिने केलवे दीक्षा कल्याण।
(भिक्षु यश रसायण ढाल गा १)

२— लिखत १८५०—५९

३— लोक कहै तेरापन्थी। भिक्खु सबको भावै हो। हे प्रभु! ओ पन्थ है। और दाय न आवै हो। मन भ्रम मिटावै हो। सो ही तेरापन्थ पावै हो। पंच महाव्रतपालवा शुद्ध सुमति सुहावै हो। तीन गुप्त तीखी तरै। मल आवम भावै हो। चित्त सूं तेरा ही चाहवै हो।—भिक्षु यश ढाल ७

हुई। स्वतन्त्रता की लड़ाई में जो प्रवृत्ति चली उसपर निवृत्ति का पूरा पूरा प्रभाव था इसलिए उसे अहिंसक लड़ाई का रूप मिला। बाह्य-सत्ता जो आती है वह केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करती विचारों में भी परिवर्तन लाना चाहती है। मुसलमान और ब्रिटिश जाति ने भारतीय क्षेत्र को शासित किया तो इस्लाम और ईसाइयत ने भारतीय मानस को शासित करने का यत्न किया। राजनीतिक पराधीनता का अनुभव जितना हो रहा था उससे मानसिक पराधीनता का अनुभव कुछ भी कम नहीं था। समय समय पर कुछ व्यक्ति हुए और उन्होंने जनता को मानसिक पराधीनता से उबारने का प्रयत्न किया। २ अगस्त १८२८ ई० को राममोहनराय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। वे विश्व मानवता का विकास चाहते थे। उनकी दृष्टि में पश्चिमी जगत् के द्वारा पूर्वी-जगत् की उपेक्षा हो रही थी सबल मनुष्य के द्वारा निर्बल मनुष्य की उपेक्षा हो रही थी।

उस समय कर्मकाण्ड और सगुणोपासना का आकर्षण मिट रहा था। पौराणिक अवतारवाद बुद्धिवाद को चुनौती दे रहा था। ईसाइयतका सेवाभाव और भ्रातृत्वभाव जनताके अन्तःकरण को छू रहा था। इन परिस्थितियों ने ब्रह्म समाज को जन्म दिया। उसने निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा की अवतारवाद को अस्वीकार किया और मूर्तिपूजा का बहिष्कार किया। परिस्थितियों ने करवट ली। प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। भारत के पूर्वी अंचल में कलकत्ते में ब्रह्म-समाजका उदय हुआ और पश्चिमी अंचल में उसीकी शाखा का प्रार्थना-समाज के नाम से उदय हुआ। इसके संस्थापक थे केशवचन्द्र सेन इस संस्था के चार उद्देश्य थे—

(१) जाति प्रथा का विरोध (२) विधवा विवाह का समर्थन (३) बाल विवाह का अवरोध (४) स्त्री शिक्षा का प्रचार

भारतीय-धर्म दो दार्शनिक धाराओं में विभक्त है—द्वैत और अद्वैत। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म एक है और समूचा चेतना चेतनात्मक जगत् ब्रह्ममय है। द्वैत के अनुसार सब आत्माएँ समान हैं। सब आत्माओं को एक ही ब्रह्म का अंश मानने वाले और सब आत्माओं को समान मानने वाले धार्मिक मनुष्य के प्रति जितनी घृणा करते हैं जितना तुच्छता का भाव रखते हैं उतना एक अधार्मिक भी नहीं रखता।

श्रमण परम्परा के तीर्थंकरों या प्रवर्तकों ने जातिवाद का तिरस्कार किया था। परन्तु आगे चलकर उनके अनुयायी जातिवाद के समर्थक बन गए। इस्लाम और ईसाई धर्म जातिवाद के कीटाणुओं से अस्वस्थ नहीं थे। यह इनका बहुत बड़ा आकर्षण था। जातिवाद का प्रतिरोध किये बिना उसे रोका नहीं जा सकता था। इस परिस्थिति के पार्श्व में 'एकैव मानुषी जाति" का घोष पुनः अभिव्यक्ति में आया और महात्मा गांधी के परिसर में वह गूंज उठा। १ अप्रैल १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना की। उन्होंने पौराणिक हिन्दुत्व की आलोचना की। अपने पूर्वजों की निन्दा और विदेशियों के अनुकरण को उन्होंने घातक बताया। यह स्थिति स्वदेश भक्ति की न्यूनता में ही पनप सकती थी इसलिए उन्होंने उसके कर्म की ओर जनता का ध्यान खींचा। इस प्रकार वैदिक धर्म में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की एक सुदीर्घ परम्परा है।

श्रमण परम्परा की क्रान्ति का इतिहास जटिलता से भरा हुआ है। उसमें निवृत्ति का स्वर सदा प्रधान रहा है। "सन्यास लिये बिना मुक्ति नहीं—संक्षेप में निवृत्ति का सिद्धान्त इतना ही है। जैन बौद्ध तापस और आजीवक आदि सभी श्रमण धाराएं इसका समर्थन करती रही हैं। वेदान्त के प्राण प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर ने सन्यास को श्रमण-परम्परा जितना ही महत्त्व दिया। उनके प्रच्छन्न बौद्ध कहलाने का एक कारण यह भी रहा होगा ?

आजीवकों की परम्परा विच्छिन्न हो गई। सांख्य और तापस वैदिक धारा में विलीन हो गए। कालक्रम से विदेशों में जाकर बौद्ध धर्म का रूप अत्यधिक परिवर्तित हो गया। उसका प्रारम्भ हीनयान के रूप में हुआ था। सम्राट् अशोक तक उसका यही रूप था। उसमें मन्दिर व मूर्ति पूजा का प्राधान्य नहीं था। सम्राट् अशोक के काल में महायान शाखा का उदय हुआ। उनमें आडम्बरों की प्रधानता थी। उसका देश व विदेशों में द्रुतगति से व्यापक प्रसार हुआ। यह न तो श्रमण-परम्परा की श्रममूलक प्रतिष्ठा को स्थिर रख सकी और न वैदिक-परम्परा की प्रवृत्ति जैसा आकर्षण प्राप्त कर सकी। फलतः उसकी सर्वदेशव्यापिनी पराजय हुई और बौद्ध धर्म भारतीय धर्मों में इतिहास का विषय बन गया।

१– सत्यार्थ प्रकाश उल्लास ११ पृ० २८५

जैन श्रमण दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो शाखाओं में विभक्त हुए। दिगम्बरों में भट्टारक और श्वेताम्बरों में चैत्य वासी जो हुए उनमें महायान जैसी प्रवृत्तियां विकसित हुईं। दिगम्बर–तेरापन्थी शाखा ने भट्टारकों की और संविग्न शाखा ने चैत्यवास की प्रवृत्तियों का प्रतिरोध किया[1]।

लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा का सर्वथा बहिष्कार कर दिया। स्थानकवासी और तेरापन्थी शाखाओं ने उसीका समर्थन किया। इस्लाम में मूर्ति-पूजा मान्य नहीं है अतः मुसलमानों के शासनकाल में मूर्ति-पूजा के बहिष्कार का भाव प्रबल हुआ ऐसा माना जाता है। इसमें क्वचित् सत्यांश हो भी सकता है। किन्तु मूर्ति-पूजा के विरोध का मूल हेतु उसीके परिपार्श्व में विकसित आडम्बर है। मूर्ति एकाग्रता के आलम्बन के रूप में स्वीकृत हुई, परन्तु आगे चलकर उसने साध्य के रूप ले लिया। यहीं से उसकी प्रतिक्रिया का बीज-वपन हो गया और मूर्ति के विरोध में स्वतन्त्र शाखाओं का विकास हुआ। तेरापन्थ उन्हींमें से एक है।

मूर्ति-पूजा का प्रश्न स्थानकवासी और तेरापन्थी सम्प्रदाय के सामने समान है। तेरापन्थ का उद्भव भिन्न परिस्थितियों में हुआ। उस समय के मुनि क्रय-विक्रय जैसी प्रवृत्तियों में फसते जा रहे थे। नीमन्त्रण से भिक्षा लेने लगे थे। गृहस्थों को धन देने की प्रेरणा करते थे। शिष्यों को मोल लेते थे "मेरे पास ही दीक्षा लेना और किसीके पास नहीं" इस प्रकार की प्रतिज्ञा दिलाते थे। साधु अकेले रहने लगे थे। आचार्य भिक्षु ने "साधां रै आचार री चौपई और १८१ बोल की हुण्डी" में इन स्थितियों का विशद चित्रण किया है। आचार के इन मूल प्रश्नों ने ही उन्हें स्थानकवासी सम्प्रदाय से सम्बन्ध विच्छेद करने को बाध्य किया।

दान और दया के धार्मिक स्वरूप में भी मतैक्य नहीं था। जैन साधु प्रवृत्ति की ओर झुकते जा रहे थे यह आचार्य भिक्षु को सिद्धान्त-सम्मत नहीं लगा। फलतः जिनाज्ञा सावद्य-निरवद्य क्रिया लब्धि-प्रयोग आदि विषय दया-दान के ही खण्डन-मण्डन में प्रयुक्त हुए हैं।

मुनि आहार करता है नींद लेता है वह धर्म है या नहीं—इन प्रश्नों में भी मतभेद था। मिथ्यात्वी की क्रिया धर्म है या नहीं? एक ही क्रिया में थोड़ा पाप और बहुत निर्जरा (धर्म) होती है या नहीं? ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न भी विवादास्पद थे। इनमें कुछेक विषय ऐसे हैं जो सम्प्रदाय भेद के निमित्त बने और कुछेक ऐसे हैं जिनका समाधान पाने के लिए सम्प्रदाय-भेद आवश्यक नहीं होता।

धर्म साधन है साध्य है मोक्ष। मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है इसलिए वह एक पहेली है। धर्म यद्यपि प्रत्यक्ष है फिर भी उसका स्वरूप एक नहीं है इसलिए वह भी एक जटिल पहेली है। यह सब लोग जानते हैं कि धर्म की आराधना के लिए सम्प्रदाय बनता है सम्प्रदाय के विकास के लिए धर्म नहीं बनता। किन्तु सम्प्रदाय की जड़ें सुस्थिर बन जाती हैं तब धर्म के लिए सम्प्रदाय नहीं रहता सम्प्रदाय के लिए धर्म बन जाता है। आचार्य भिक्षु सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। फिर भी उनकी दृष्टि में धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं थे। धर्म शाश्वत सत्य है। सम्प्रदाय उसकी एक व्याख्या है उसकी एक आराधना है। आराधना करने वाला धर्म को पा सकता है पर उसके लिए वह किसी कारागार का निर्माण नहीं कर सकता। इसी सत्य के आलोक में आचार्य भिक्षु ने कहा—"एक मिथ्या दृष्टि भी मोक्ष-मार्ग का आराधक है और एक सम्यग्-दृष्टि भी मोक्ष मार्ग का विराधक है। भगवान् महावीर की भाषा में पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(१) शील-सम्पन्न श्रुत-सम्पन्न नहीं
(२) श्रुत-सम्पन्न शील-सम्पन्न नहीं
(३) श्रुत-सम्पन्न शील-सम्पन्न
(४) न श्रुत-सम्पन्न न शील-सम्पन्न[2]।

मोक्ष की आराधना के दो तत्त्व हैं—श्रुत और शील। तीसरे पुरुष की आराधना इसलिए पूर्ण होती है कि उसमें श्रुत भी होता है और शील भी। तात्पर्य की भाषा में वह सम्यग्-दृष्टि भी है व्रती भी है। चौथा पुरुष न सम्यग्-दृष्टि होता है और

१– मरुधर जैन साहित्य का इतिहास
२– चत्तारि पुरिसा जाया पण्णत्ता —स्था ४ उ॰ ३

न व्रती इसलिए वह मोक्ष मार्ग का पूर्ण विराधक होता है। दूसरा पुरुष सम्यग्-दृष्टि होता है पर आचार-सम्पन्न नहीं होता इसलिए वह मोक्ष-मार्ग का पूर्णतः आराधक नहीं होता अंशतः विराधक भी होता है। पहला पुरुष सम्यग्-दृष्टि नहीं होता पर आचार-सम्पन्न होता है इसलिए वह मोक्ष मार्ग का पूर्णतः विराधक नहीं आराधक भी होता है। इसी नय दृष्टि के आधार पर आचार्य भिक्षु ने धर्म को सम्प्रदाय-मुक्त प्रमाणित किया। निश्चय में सम्यग्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि की भाषा उलझन से भरी है। व्यवहार की भाषा में अपने सम्प्रदाय का अनुगमन करे, वह सम्यग्-दृष्टि, उसका अनुगमन न करे वह मिथ्या-दृष्टि। "मिथ्या-दृष्टि अर्थात् दूसरे सम्प्रदाय का अनुयायी भी धर्म की आराधना कर सकता है। इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में धर्म के सम्प्रदायातीत स्वरूप की उदात्त घोषणा है'।" तेरापन्थ एक सम्प्रदाय है किन्तु प्रचलित धर्म में जो साम्प्रदायिकता है वह उसमें नहीं है।

—धर्म का व्यापक प्रयोग—

धर्म की आराधना का अधिकार सबको है इस दृष्टि से वह व्यापक है। धर्म की एक निश्चित मर्यादा है जो कुछ आवश्यक है वह सब धर्म नहीं है इस दृष्टि से वह व्यापक नहीं भी है। प्रवृत्ति जीवन की आवश्यकता है। निवृत्ति जीवन की आवश्यकता नहीं है यदि है तो एक सीमित अर्थ में। प्रवृत्तिवाद का क्षेत्र विस्तृत हुआ और आवश्यकता ने धर्म का रूप ले लिया। निवृत्ति के क्षेत्र में धर्म का सम्बन्ध मोक्ष से था। प्रवृत्ति के क्षेत्र में उसका सम्बन्ध जीवन की आवश्यकताओं से जुड़ गया। आचार्य भिक्षु ने उसी विस्मृत सत्य की पुनः याद दिलाई। उन्होंने कहा—"जो आवश्यक है वह सब धर्म नहीं है और जो धर्म है वह जीने या जिलाने के लिए आवश्यक नहीं है। उनकी भाषा में "जीओ और जीने दो। का कोई धार्मिक मूल्य नहीं है।

धर्म है संयम धर्म है व्रत। जो संयमी है व्रती है वह धार्मिक है। जो असंयमी है अव्रती है वह धार्मिक नहीं है। इस संयम की कसौटी पर जब धर्म को कसा तो दया और दान पूर्णतः खरे नहीं उतरे। उन्होंने देखा दया धर्म भी है दान धर्म भी है और नहीं भी है।

दया और अहिंसा एक है। अहिंसा का उद्गम स्थल संयम है। जहां संयम है वहां अहिंसा है और जहां अहिंसा है वहां दया है। यह दया का धार्मिक स्वरूप है। जहां संयम और अहिंसा नहीं है वहां जो करुणा है उसका स्वरूप धार्मिक नहीं है। इसी प्रकार दान का भी संयम और असंयम के आधार पर विभाजन होता है।

आचार्य भिक्षु ने दया-दान का जो विशद विवेचन किया वह अज्ञानपूर्ण कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया का परिणाम है। उस समय के धार्मिक रूढ़िवाद से ग्रस्त होते जा रहे थे। धर्म का आचरण करने से जी चुराते थे। धर्म को खरीदना शुरू कर दिया था। गरीबों को धन देते और उनकी क्रिया का फल हमें मिलेगा—इस आस्था से स्वयं कुछ भी नहीं करते मुक्त भाव से अधर्म का आचरण करते। दान और दया के आवरण में नैतिक व चारित्रिक जीवन कुण्ठित हो रहा था। यह स्थिति चरमबिन्दु तक पहुँच चुकी थी। इस स्थिति के आलोक में हम देख सकते हैं कि आचार्य भिक्षु ने दया-दान की जो सम्यग्-चिकित्सा की वह अहेतुक नहीं है।

धर्म का मूल समभाव है। दया और दान का स्वरूप विषमता की भित्ति पर परिपालित हुआ है। दया करने वाला बड़ा और जिसपर दया की जाए वह छोटा दान देने वाला बड़ा और जिसे दिया जाय वह छोटा यह बड़प्पन और छुटपन की रेखा गहरी हो रही थी। जो समर्थ नहीं जिसके पास शक्ति नहीं वह क्या दया करे और क्या दे ? और जो न दया करे और न दान दे वह क्या धार्मिक ? समूचा धर्म दया और दान की परिधि में ही सिमट रहा था। धर्म का मापदण्ड शक्ति और धन के पैमाने से हो रहा था। आचार्य भिक्षु ने इस चक्रव्यूह को तोड़ डाला। उन्होंने कहा—"धन से धर्म नहीं होता बल प्रयोग से धर्म नहीं होता। ये घोष नवयुग की धर्म क्रान्ति के महान् घोष थे। ये नये नहीं थे। भगवान् महावीर की वाणी में ये अभिव्यक्ति पा चुके थे। एक परिस्थिति में जो तत्त्व कभी अभिव्यक्त होता है, वह दूसरी परिस्थिति

१— भ्रम विध्वंसन मिथ्यात्वी करणी निर्णय—
२— सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध २ अ २
३— वसक रि कम्मुणाहिणारे ——उत्तरा अ १४ गा १७

में अव्यक्त हो जाता है। जो तत्त्व कभी अव्यक्त होता है वह उससे भिन्न परिस्थिति में व्यक्त हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने अव्यक्त तत्त्व को अभिव्यक्त किया और ऊहापोह का सूत्रपात हो गया। साधारण धार्मिक जिस घटना या वस्तु को धर्म की दृष्टि से देखते थे उसीको आचार्य भिक्षु ने शुद्ध सामाजिक दृष्टि से देखा। सामाजिक विषमता या ऊँच-नीच के वर्ग-भेद पर जो दया-दान फल रहे थे और जिन्हें धर्म का रूप मिल रहा था उन्हें आचार्य भिक्षु ने "लौकिक' कहा।

धर्म का स्वरूप समता है। अहिंसा धर्म है। विषमता उसका आधार नहीं हो सकती। सब आत्माएं समान हैं सुख-दुःख की अनुभूति सबको होती है अपना किया कर्म सबको भुगतना होता है अपने संयम से ही व्यक्ति मुक्त होता है—यह समता का विचार है। किसी जीव को मारने का अर्थ है अपनी हिंसा और किसीको न मारने का अर्थ है अपनी दया। जो अपनी दया करता है वह किसी की हिंसा नहीं करता और जो अपनी दया नहीं करता वह किसी की दया नहीं करता। दूसरे प्राणी को दयनीय मानकर दया की जाये वह समता नहीं है। अहिंसा और हिंसा का सम्बन्ध जीने और मरने से नहीं है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जीव जीते हैं यह दया या अहिंसा नहीं है। जीव मरते हैं, यह हिंसा नहीं है। जो मारता है वह हिंसक है मारना हिंसा है। जो नहीं मारता वह अहिंसक है, नहीं मारना अहिंसा है।[1] इस धर्म को उन्होंने लोकोत्तर धर्म या आध्यात्मिक धर्म कहा। धर्म-संस्थाएं धन और शक्ति का संग्रह कर सामाजिक विकास को कुण्ठित कर रही थी। फलतः धर्म का स्वरूप विकृत हो रहा था समाज की चेतना मन्द हो रही थी समाज-हित के चिन्तन की दृष्टि क्षीण हो रही थी। इस द्वन्द्व की स्थिति में आचार्य भिक्षु ने जो दर्शन दिया वह सर्वथा निरुपद्रव था। यदि इसका सम्यग्-रूपेण विकास हुआ होता तो मार्क्स को जो धर्म की मादकता का अनुभव हुआ वह नहीं होता। धर्म का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और समाज का जो सामुदायिक दृष्टिकोण है उनमें सर्वथा विरोध नहीं है तो सर्वथा सामंजस्य भी नहीं है। समाज के लिए जैसे अपेक्षित है कि धर्माराधना समाजहित में बाधक न बने वैसे व्यक्ति के लिए अपेक्षित है कि समाज व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण न करे। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए धर्म और सामाजिकता की मर्यादा के बीच भेद-रेखा खींचनी आवश्यक है आचार्य भिक्षु ने वही कार्य किया। उन्होंने धर्म के मौलिक रूप को विकृत नहीं होने दिया और सामाजिक चेतना पर कोई आवरण भी नहीं डाला। उनका दर्शन बहुत ही सूक्ष्म है गूढ़ है। मैं नहीं कह सकता उनके अनुयायी भी उसे कितनी दूर तक समझते हैं और उनके दृष्टिकोण को कितनी यथार्थता से ग्रहण करते हैं। वैज्ञानिक-मूर्धन्य आईंस्टीन के सापेक्षवाद ने जैसे विज्ञान के जगत् में नया युग ला दिया वैसे ही आचार्य भिक्षु का समत्ववाद धार्मिक-जगत् में युगान्तकारी परिवर्तन ला देता यदि उसे समझने या समझाने का सम्यक् व समर्थ प्रयत्न किया गया होता। यह सही है कि भारतीय जनता चिरकाल से सब स्थितियों को धर्म के मानदण्ड से मापती रही है। विशुद्ध सामाजिक या राजनीतिक दृष्टिकोण बहुत कम रहा है। स्मृतिकारों व धर्मशास्त्र के निर्माताओं ने सामाजिक व राजनीतिक चेतना को जगाने का यत्न किया पर धर्म शब्द से दूर हट कर वे नहीं चले। उन्होंने मोक्ष-धर्म और राज-धर्म, श्रेणी-धर्म पूग-धर्म आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोग किए। पर जनता ने इनका एक ही दृष्टि से अंकन किया। परिणाम यह हुआ कि धर्म शब्द स्वयं उलझन बन गया। आचार्य भिक्षु ने इस उलझन की समाप्ति में अपूर्व मनोबल का परिचय दिया। उन्होंने कहा—गाय एवं भैंस का दूध आक और थूहर का रस दूध कहलाता है पर उनके गुण धर्म समान नहीं होते। इसी प्रकार पदार्थ का जो स्वभाव होता है उसे धर्म कहा जाता है पर सभी पदार्थों के स्वभाव एक रूप नहीं होते। आत्मा का स्वभाव अनात्मा के स्वभाव से भिन्न है। उसके विकास की प्रक्रिया अनात्मा के स्वभाव—विकास की प्रक्रिया से भिन्न है। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। उसके विकास की प्रक्रिया है चैतन्य-रमण। इसके तीन साधन हैं—ज्ञान दर्शन और चारित्र। ज्ञान गुण है जो चैतन्य से प्रस्फुटित होता है और चैतन्य में विलीन हो जाता है। दर्शन चैतन्योन्मुख दृष्टि है। आत्मा और अनात्मा का जो विवेक है वही दर्शन है। चैतन्य के विकास से उसका उदय होता है और चैतन्य के विकास में वह विलीन हो जाता है। पदार्थों से उपरति और आत्मा में रति होती है वही है चारित्र। भगवान् ने कहा—धर्म के दो रूप हैं—(१) श्रुत और चारित्र। मोक्ष-धर्म यही है। आत्म-विकास की प्रक्रिया में यही विवक्षित है। शेष धर्म जो है, वह व्यवहार परिपालन

१– जीव जीवे ते दया नहीं मरे ते हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही नहीं मारे ते दया गुणखाण॥ —अनु० ढाल ५ गा० ११

के लिए है। समाज-विहित कर्तव्य धर्म है—यह व्यवहार सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि अविरति और दुष्प्रवृत्ति का जो प्रत्याख्यान है वही धर्म है[1]।

धर्म की इस व्याख्या के अनुसार कर्तव्य और धर्म सर्वथा एक नहीं हैं। कर्तव्य का निर्णय समाज-शास्त्र के आधार पर होता है और धर्म का निर्णय अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार। कर्तव्य समाज की उपयोगिता है। वह देश काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। धर्म-बन्धन-मुक्ति का तत्त्व है। वह शाश्वत है। वह देश काल और परिस्थिति के अनुरूप नहीं बदलता।

इसका फलित यह होता है कि जीवन का सारा व्यवहार धर्म नहीं है। चैतन्य रमण की परिधि में जो किया जाता है वही धर्म है शेष नहीं। इस भाषा ने विचारकों के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित कर दिया। यह जीवन का विभाजन है। इस व्याख्या के अनुसार जीवन के टुकड़े हो जाते हैं। वह अखण्ड है। उसे इस प्रकार विभक्त क्यों किया जावे ?

प्रश्न का कलेवर जैसा जटिल है वैसा उसका आन्तरिक रूप नहीं है। जीवन का अर्थ ही है देह और आत्मा का योग। जहा आत्मा के साथ दैहिक अपेक्षाएँ जुड़ी हुई हैं वहां विभाजन स्वयं प्राप्त है। यदि ऐसा नहीं होता तो आत्मवादी देह मुक्ति के लिए धर्म की आराधना ही क्यों करता ? अनासक्त भाव या ईश्वरार्पण की भावना से व्यवहार चलाने वह धर्म है। इस व्याख्या में भी जीवन अविभक्त नहीं है। आसक्ति या स्व की भावना से जो व्यवहार का परिचालन होता है वह अधर्म है। जहा धर्म और अधर्म दोनों की मान्यता है वहां जीवन अविभक्त कैसे होगा ? जीवन अविभक्त वहा हो सकता है जहां सब व्यवहारों को धर्म या अधर्म ही माना जाए। कोई भी धर्म सम्भवत ऐसा नहीं मानता। सच यह है कि आचार्य भिक्षु की व्याख्या में विभाजन का दोष नहीं है कसौटी का भेद है। उनके अभिमत में अनासक्ति ईश्वरार्पण या सुख-प्राप्ति ये धर्म की कसौटियां नहीं हैं। उसकी कसौटी है संयम। जहा संयम है—बाह्य भाव की उपरति है, अन्तश्चैतन्य का स्पर्श है—वहा धर्म है। जहा असंयम है—बाह्य-भाव का स्पर्श और अन्तश्चैतन्य की उपरति है वहां धर्म नहीं है। धर्म की इस विशद व्याख्याकी भित्ति पर तेरापन्थ का अभ्युदय हुआ।

जैन शासन में तीर्थ-व्यवस्था है। साधु-साध्वी श्रावक और श्राविका ये चार तीर्थ हैं[2]। तेरापन्थके उद्भवकालमें दो तीर्थ थे—साधु और श्रावक। तीसरा तीर्थ (श्राविकाएँ) शीघ्र ही हो गया। चौथा तीर्थ (साध्वियां) तीन वर्ष तक नहीं हुआ। लोगो ने कहा—भीखण जी के तीन ही तीर्थ हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा—कबूतर बसती है भले वह पूरा न हो। तीन वर्ष बाद चार तीर्थ हो गए।

आचार्य भिक्षु को गुण प्रिय था इसलिए तीर्थ की पूर्णता होने में कुछ समय लगा। जब वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़े तब उन्हें विश्वास नहीं था कि उनके विचारों का अनुगामी कोई संघ होगा साधु-साध्वियां दीक्षित होंगी श्रावक-श्राविकाएं अनुगमन करेंगी। वे अपने साध्य की सिद्धि के लिए चले थे। अपनी साधना में लीन थे। अपने सम्प्रदाय के लोग उन्हें विद्रोही की दृष्टि से देखते थे। नये सम्प्रदाय की उन्हें कोई कल्पना नहीं थी। वे यदा-कदा लोगो को अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करते। परिणाम अनुकूल नहीं हुआ। उन्होंने केवल आत्म-शोधन का निश्चय कर लिया। कठोर तपस्या में लीन हो गए। उसकी प्रतिक्रिया अनुकूल हुई। लोगो ने समझा—ये आत्मार्थी हैं। ये अपने सिद्धान्त के लिए जी रहे हैं। लोक-संग्रह का इन्हें कोई मोह नहीं है। जहा मोह है वहां अशान्ति का व्यूह स्वयं बन जाता है। जहा मोह नहीं है वहा परम शान्ति है। जहा परम शान्ति है वहा सब कुछ है। मुनि युगल (थिरपालजी और फतेहचन्दजी) की विनीत प्रार्थना सुन उन्होने पर-कल्याण का फिर एक प्रयत्न शुरू किया। वह विफल नहीं हुआ। लोक-संग्रह हुआ। तेरापन्थ एक गण बन गया। तेरापन्थ के लिए 'गण' शब्द का सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग है। इसे एक सम्प्रदाय भी कहा जा सकता है। सम्प्रदाय शब्द का इन वर्षों में कुछ अपकर्ष हुआ है। वास्तव में यह गुरु-परम्परा का वाचक है। तेरापन्थ में इस परम्परा को बहुत महत्त्व दिया गया। इसलिए यह एक महान् सम्प्रदाय है।

१– काइया किरिया दुविहा पण्णत्ता-त-अणुवरय काय किरिया चेव दुप्पउत्त काय किरिया चेव।
—स्था २ सू १ च १९।

२– चउविहे संघ पण्णत्ते —स्था स्था ४ उ ४

जैन दर्शन का तत्त्व ज्ञान गूढ़ है। उसे हृदयंगम करना एक समस्या है। तेरापन्थ में प्रतिबिम्बित उसकी व्याख्याओं को पढ़ना और भी जटिल समस्या है। लोक-संग्रह जितना दृश्य आकर्षण से होता है उतना तत्त्व ज्ञान का परिचय पाकर नहीं होता।

तेरापन्थ में न मूर्ति पूजा का आकर्षण था न स्थानकों का न धन के द्वारा धर्म करवाने का तथा न अन्य प्रकार के आकर्षण थे। इसलिए एक साथ लोक संग्रह नहीं हुआ। यह काम बहुत धीमी गति से हुआ। साधु बने गण का विधान १६ वर्ष के बाद बना। आचार्य भिक्षु का अनुशासन कठोर था। उसे सहन करना सामान्य बात नहीं थी। तीन वर्षों तक साध्वियां नहीं बनीं उसका हेतु यही है। उन्होंने प्रारम्भिक साध्वियों के लिए जो नियम-पत्र लिखा वह एक कसौटी है। साध्वियां तीन से कम नहीं रह सकती। आचार्य भिक्षु ने कहा—आज तुम तीनों दीक्षित होना चाहती हो। किसी कारणवश दो रह जाओ तो क्या होगा? क्या अनशन के लिए तैयार हो? उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दी। त्याग की भावना में तेरापन्थ का उद्भव हुआ और त्याग ही उसकी प्रधान विशेषता है। त्याग और संगठन का आकर्षण बढ़ा। जन-मानस तेरापन्थ की ओर आकृष्ट होने लगा। श्रावकगण बढ़े। साधु-साध्वियों का समुदाय भी बढ़ा तेरापन्थ की नीवें सुदृढ़ हो गईं। आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि संगठन साधु-साध्वियों की योग्यता पर टिकता है। उनकी योग्यता का प्रश्न दीक्षा और शिक्षा से जुड़ा हुआ है। शिष्य-शाखा को समाप्त किये बिना अयोग्य दीक्षा का प्रवाह रोका नहीं जा सकता। उन्होंने नियम बनाया—तेरापन्थ में सब शिष्य आचार्य के हों। कोई साधु अपना शिष्य न बनावे।[1] दीक्षा योग्य को दी जावे दीक्षित करने पर कोई अयोग्य निकल जावे तो उसे गण से पृथक् कर दिया जावे। अयोग्य दीक्षा पर उन्होंने बहुत तीखा प्रहार किया। शिष्य-परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। आचार्य भिक्षु ने उसमें जो परिवर्तन किया वह संगठन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। शिक्षा का कार्य उन्होंने स्वयं संभाला। अपने साधु-साध्वी वर्ग को उन्होंने शिक्षित किया। उनके शिष्य शान्ति सहिष्णुता कष्ट सहन की क्षमता और अनुशासन-पालन में अत्यन्त निष्णात हुए। इन विशेषताओं के बिना विरोधी वातावरण को अनुकूल नहीं बनाया जा सकता था। इनकी अपेक्षा थी उनके शिष्यों ने उसे पूर्ण किया और वे अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल हुए।

आचार्य भिक्षु का जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए मर मिटने की ज्वलन्त कहानी है। कठिनाइयां अनगिनत थीं। पर वे आचार्य भिक्षु को उनके शिष्यों को पथ से विचलित नहीं कर सकीं। मुनि भिक्षाजीवी होते हैं। स्थान और वस्त्र भी उन्हें भिक्षा द्वारा उपलब्ध होते हैं। इनकी अत्यन्त दुर्लभता का अनुभव उन्हें हुआ। उन्होंने अप्राप्ति को दुर्भाग्य नहीं माना उसे वरदान समझा। कष्ट आते गये। साधु धर्म उन्हें सहना गया। तेरापन्थ का रूप निखर उठा।

तेरापन्थ क्या है? परिस्थितियों के सामने घुटने न टेकने का जो महान् सत्त्व है वही है तेरापन्थ।

तेरापन्थ क्या है? आचार शिथिलता को जो चुनौती है वही है तेरापन्थ।

तेरापन्थ क्या है? अनुशासनहीनता के प्रति जो विद्रोह है वही है तेरापन्थ।

तेरापन्थ क्या है? संगठन की महान् प्रेरणा जो है वही है तेरापन्थ।

तेरापन्थ क्या है? धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या जो है वही है तेरापन्थ।

तेरापन्थ क्या है? धर्म के स्वरूप को अविकृत रखने का प्रयत्न जो है वही है तेरापन्थ।

तेरापन्थ क्या है? सत्य-शोध की सतत प्रवृत्ति जो है वही है तेरापन्थ।

१– लिखित सं १८५९

२– आचार की चौपाई ढाल २८

आचार्य भिक्षु : जीवन पर एक दृष्टि

(लेखक—श्री छगनलाल शास्त्री—स० 'अणुव्रत पाक्षिक' कलकत्ता)

वह धर्म-सक्रान्ति का युग था। सत्य के चरण लड़खड़ा रहे थे। आचार्य्य के प्राचीर ढहने को उतारू थे। रूढ़ परम्पराओं का परिपोषण व बाह्य-जर्जर स्थितियों का संरक्षण मानव का अभिप्रेत बनता जा रहा था। साधना की ज्योति धूमिल बन टिमटिमा रही थी। अध्यात्म का भविष्य तमिस्रा से भयाक्रान्त था। समय के इस झंझावात के मध्य राजस्थान की वीरप्रसू भूमि में आचार्य भिक्षु का आविर्भाव हुआ। जोधपुर प्रमण्डल के अन्तर्गत छोटे से गाँव कंटालिया को उन्हें जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह विक्रमाब्द १७८३ आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशी का पुण्य दिवस था।

आचार्य श्री भिक्षु का जन-प्रचलित नाम भीखन था। उनके पिता शाह बल्लूजी सकलेचा एक कर्मठ व्यवसायी थे। छोटा सा गाँव उसमें अपना छोटा सा व्यवसाय जिसके आधार पर वे सतोषपूर्वक जीवन-यापन करते थे। उनकी माता श्री दीपाबाई एक धर्मनिष्ठ महिला थी। भीखनजी को पुत्र रूप में प्राप्त कर वे हर्ष से फूली नहीं समाती थी। कहते हैं कि जन-श्रुति है भीखनजी के कुक्षिगत होने के समय उन द्वारा देखा गया सिंह का स्वप्न उन्हें पुनः पुनः बालक के गरिमागर्भित भावी जीवन को स्मरण करा आनन्दविभोर बना देता था।

भीखनजी प्रारम्भ से ही एक ओजस्वी शिशु थे। उनकी वृत्ति में सहज वैराग्य की झलक थी। माता की स्नेह-सपूरित गोद में उनका शैशव बीता। स्वच्छन्द और निर्भय बाल-क्रीड़ाओं का आनन्द लेते शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह वे बढ़ने लगे। स्थानीय स्थिति के अनुरूप साधारण पठन-पाठन हुआ वे क्रमशः युवा हुए। माता-पिता ने उन्हें पहले ही परिणय-संस्कार में आबद्ध कर दिया था। उनके एक पुत्री का जन्म हुआ। दाम्पत्य के साथ वे अपने गार्हस्थ्य का उत्तरदायित्व वहन करते जा रहे थे। उनका गृही-जीवन ऐसे अनेक घटनाक्रमों से जुड़ा है जिससे उनकी सहज बुद्धिमत्ता और प्रखर प्रतिभा का पर्याप्त परिचय मिलता है। वे गार्हस्थ्य में जुटे थे पर उनका अन्तरतम किसी अनिर्वचनीय सत्य का साक्षात्कार करने के लिए तड़पता रहा था। जिसे प्राप्त किये बिना उन्हें जरा भी अन्तःतुष्टि नहीं थी।

भीखनजी की वैराग्य-वृत्ति उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रही। उनके माता-पिता गच्छवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे उस ओर विशेष रस लेने लगे। पर उनका मानस इससे परितुष्ट नहीं हुआ। वे पोतियाबन्ध सम्प्रदाय की ओर उन्मुख हुए। सत्य की जो उज्ज्वल ज्योति पाने के लिए उनकी आत्मा तिलमिला रही थी वह उन्हें मिल नहीं सकी। तब उनका झुकाव स्थानकवासी संघ की एक शाखा विशेष के आचार्य रघुनाथजी के सम्प्रदाय की ओर हुआ। उनकी विरक्ति बढ़ती गई। अन्ततः संसार के माया-जाल का परित्याग कर संयम जीवितव्य अपनाने को उनका मानस स्वतः उत्प्रेरित हो उठा। उनकी अर्द्धांगिनी उनके इन विचारों में बाधिका नहीं प्रत्युत साधिका सिद्ध हुई। उसने भी जिस प्रकार गार्हस्थ्य में वह पति का अनुसरण करती रही थी संयम-साधना में भी उनका सह-वर्तन करेगी यह व्यक्त कर यथार्थतः अपने को उनकी अर्द्धांगिनी सिद्ध कर दिया। पति-पत्नी ब्रह्मचर्य की साधना करने लगे। भरे-पूरे यौवन में बड़ा दुष्कर व्रत यह था जिसे हँसते-हँसते उन्होंने अंगीकार किया। साथ ही साथ अनेक त्यागमूलक कठिन नियमों एवं व्रतों को वे निभाने लगे।

काल बड़ा दुरतिक्रम है। स्थिति ऐसी बनी—भीखनजी की पत्नी का देहावसान हो गया। पारिवारिक जनों ने पड़ोसियों ने ग्रामवासियों ने उनसे बहुत अनुरोध किया वे पुनः विवाह करलें पर उन्हें भला यह कब स्वीकार्य था। पत्नी के असामयिक देहावसान ने उन्हें एक मूक पर उद्बुद्ध संकेत दे दिया था इस देह की नश्वरता का जिससे आज तक कोई बच नहीं पाया है। उन्होंने स्पष्ट रूप में उद्घोषित किया वे दूसरा मार्ग अपनायेंगे जो भोग का नहीं त्याग का है वासना का नहीं विरक्ति का है ऐहिक अर्जन का नहीं विसर्जन का है। उनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था। माता उनके प्रस्ताव से सहमत नहीं थी। भीखनजी उनके इकलौते पुत्र थे। वे उनकी आशाओं के एकमात्र आधार थे। यही कारण था वे उन्हें घर छोड़ प्रव्रजित होने की स्वीकृति देने में अपने को सर्वथा असमर्थ पा रही थी।

आचार्य रघुनाथजी को ज्ञात हुआ भीखनजी उनके पास दीक्षित होना चाहते हैं। उन्होंने प्रयास किया जिससे भीखन जी को स्वीकृति प्राप्त हो सके। माता ने अपने द्वारा देखे सिंह के स्वप्न की चर्चा करते हुए कि उसके फलानुसार यह कोई अत्यन्त वैभवशाली पुरुष होगा दीक्षा के लिए स्वीकृति देने में जब आनाकानी प्रगट की तब आचार्य रघुनाथजी ने कहा कि श्रमण बन कर यह सिंह की तरह गूंजेगा ओजस्वितापूर्वक धर्म का उद्योत करेगा स्वप्न का यथार्थ फलित तो यहीं होगा। अन्ततः भीखनजी की माता ने उन्हें दीक्षा की स्वीकृति दे दी। आचार्य रघुनाथजी के हाथ से बगड़ी में उनकी दीक्षा हुई। उस समय वे पच्चीस वर्ष के तरुण थे।

दीक्षित होकर उन्होंने अपने आपको शास्त्र-अनुशीलन एवं तत्त्व मनन में सर्वतोभावेन झोंक दिया। शास्त्रों के गंभीर अवगाहन से उन्हें कभी-कभी आभासित होता धर्म-संघ में शुद्ध निष्ठा और चर्या के रूप में जो वाञ्छनीय है वह यथावत उपलब्ध है नहीं। ऐसे भाव मन में उद्वेलित होते फिर तिरोहित हो जाते। तत्त्व चर्चा के मध्य यदा कदा वे गुरु के समक्ष ऐसे प्रश्न उपस्थित करते जिनका यथार्थ समाधान उन्हें नहीं मिल पाता।

आचार्य रघुनाथजी के वे प्रीति-पात्र शिष्य थे। उन्हें (आचार्य रघुनाथजी को) उनकी बुद्धि पर बड़ा गर्व था। लगभग सात वर्ष तक उनका यह सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप में चलता रहा। अनेक लोग ऐसी भी सम्भावना करते थे स्यात् आगे संघ का उत्तरदायित्व भीखनजी पर आ जाय।

मेवाड़ का अन्तर्वर्ती राजनगर शहर आचार्य रघुनाथजी के प्रमुख क्षेत्रों में से था। साधुओं की शिथिलचर्या आचार और अनागमीय श्रद्धा व प्ररूपणा के कारण वहाँ के श्रावकों ने साधुओं को वन्दन-नमस्कार करना छोड़ दिया था। आचार्य रघुनाथजी ने उन्हें समझाने के लिए भीखनजी को राजनगर भेजा—वहीं चातुर्मासिक प्रवास करने का निर्देश भी किया।

भीखनजी राजनगर आये। श्रावकों के साथ उनका वार्तालाप हुआ। उन्हें मन ही मन लगा श्रावक जो कह रहे हैं, वह अयथार्थ नहीं है पर उन्हें तो अपने गुरु की बात रखनी थी इसलिए श्रावकों को जिस किसी तरह समझा-बुझा अपने प्रभाव से वन्दन-नमस्कार के लिए सहमत बना लिया।

एक विशेष घटना घटी उसी दिन भीखनजी दाह-ज्वर से पीड़ित हुए। उनका रोम-रोम मानो अग्नि-कणों से बिंधा जा रहा था। अन्तर-मन्थन चला। सोचने लगे—मैंने कितना अनौचित्य एवं अनर्थ किया। श्रावक सत्य पर आरूढ़ थे। मैंने गुरु और सम्प्रदाय के मोह से भगवद् वचनों के विपरीत प्ररूपणा की उन्हें गलत समझाया यदि ऐसी स्थिति में मेरा देह-पात हो जाए तो मैं कितनी निम्न गति में जाऊं! उन्होंने मन ही मन यह निश्चय किया कि यदि मैं इस व्याधि से मुक्त हो गया तो श्रावकों को अविलम्ब याथार्थ्य से अवगत करा दूंगा—वैसा ही हुआ। दूसरे दिन ज्वरमुक्त होते ही उन्होंने श्रावकों के समक्ष सत्य को स्पष्ट रूप में रखा और कहा कि गुरु के सामने सब बातें रखूँगा उनसे अनुरोध करूँगा मान्यता और चर्या में वे सत्य के आग्रही बनें।

चातुर्मास परिसमाप्त हुआ। उस समय आचार्य रघुनाथजी सोजत में थे। भीखन जी वहीं आये। गुरु-शिष्य में वार्तालाप हुआ पर गुरु सहमत नहीं हुए। पंचम आरे में शुद्ध संयम का यथावत् पालन किया जा सकता है पर उन्हें स्वीकार नहीं था। विचार-विमर्श चलता रहा। कोई परिणाम नहीं निकला। अन्ततः कोई चारा न देख भीखनजी अपने चार साथियों सहित बगड़ी में उनसे (आ० रघुनाथजीसे पृथक्) हो गये जिनका संयम की आराधना उनका चरम ध्येय जो था।

यह संघर्ष का आदि काल था। ज्यों ही वे पृथक् होकर बगड़ी की श्मशान-स्थित छत्रियों में ठहरे आचार्य रघुनाथजी अपने साधुओं सहित वहीं आ उपस्थित हुए। पर भीखनजी पंचम आरे का सहारा ले अखण्ड संयम की आराधना से पराङ्मुख हो पुनः संघ में आने को कदापि तत्पर न थे। इससे आ० रघुनाथजी के अभिमान पर ठेस पहुँची। क्षुब्धता लिए वे वापिस लौट आये। यहीं से भीखनजी के लिए अनवरत विरोधों का मानो सूत्रपात हो गया। पर इससे भला वे कब विचलित होने वाले थे। पुनः बरलूमें आ० रघुनाथजी के साथ उनकी चर्चा हुई। भीखनजी अपने विचारों पर अडिग रहे।

जोधपुर की घटना है। कुछ श्रावक जो श्री भीखनजी में निष्ठावान् थे स्थानक के बजाय एक दूकान में सामायिक कर रहे थे। जोधपुर के तत्कालीन दीवान श्री फतेचन्दजी सिंघी ने यह देखा। उन्होंने कौतूहलवश इस सम्बन्ध में पूछा। श्रावकों ने सारी स्थिति से उन्हें अवगत कराया। श्रावकों से यह जान कर कि अभी श्री भीखनजी आदि साधु भी तेरह हैं और श्रावक भी तेरह सिंघीजी कहने लगे—अच्छा संयोग बना है, तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावक। एक सेवक कवि

पास ही में यह सब सुन रहा था। उसने तत्काल एक पद की रचना कर उन्हें 'तेरापंथी' नाम से अभिहित किया। श्री भीखनजी के पास यह बात पहुँची नामकरण में उन्हें कोई विशेष रस नहीं था पर जब देखा कि नामकरण हो ही गया है तो उन्होंने इसे व्यापक अर्थ में स्वीकार किया 'तेरापंथ अर्थात् हे प्रभु! तेरा—तुम्हारा पन्थ यह है।

उन्होंने दूसरी तरह तात्त्विक विश्लेषण करते हुए इसे पाँच महाव्रत पाँच समिति तथा तीन गुप्तिमय संयम-आराधना के पथ के रूप में स्वीकार किया।

प्रातिकूल्य बढ़ता रहा। कार्यार्थी मनस्वी भला इसे कब सोचता है। वे उत्तरोत्तर अपने गन्तव्य पर अग्रसर होते रहे। विक्रमाब्द १८१७ आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को उन्होंने केलवा में अंधेरी ओरी में भगवत् साक्षी से नव दीक्षा स्वीकार की। अपने साथियों सहित संयम की अखण्ड आराधना में लग गये।

वे जहाँ भी जाते प्रवास करते सर्वत्र विरोध ही विरोध दृष्टिगत होता। यहाँ तक कि यथेष्ट भिक्षा मिलना भी दुर्लभ था। पर विघ्नों और बाधाओं के बादल उन्हें विचलित नहीं कर सके वे अपने मार्ग पर अविकल भाव से बढ़ते रहे। वे स्वयं अपने सहवर्तियों सहित संयम साधना में सम्पूर्ण रूपेण स्थिर थे पर उन्होंने जब यह देखा लोग समझ नहीं रहे हैं तो उन्होंने अपने को घोर तपस्या और कठोर साधना में झोंक दिया। वृक्षों की छाया में आहार-पानी रख देते। नदी की बालू में आतापना लेते। सायंकाल गाँव में आ जाते। यह क्रम चलता रहा। उनके सहवर्ती श्रमण श्री थिरपालजी एवं श्री फतेहचन्दजी ने उनसे निवेदन किया कि आप में बहुत बड़ी शक्ति है लोगों को सन्मार्ग पर लाने की असीम क्षमता आप में है। तपस्या हमें सम्भलाइये और आप लोकोद्धार के कार्य में लगिये। मुनिद्वय के प्रेरक निवेदन पर आचार्य श्री भिक्षु ने अपना रुख बदला। वे एक बार पुनः लोक-जागरण के कार्य में जुट पड़े। लोग उनके सम्पर्क में आने लगे समझने लगे सत्य तत्त्व को स्वीकार करने लगे। यह क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और एक समय आया सहस्रों उनके अनुगामी हो गये।

आचार्य भिक्षु एक लोकोद्धारक महापुरुष थे। लोक-भाषा में वे बोलते थे। तत्तत्त्व लोगों को सरलता से आत्मसात् हो सके इसके लिए वे सरल लोक-प्रचलित राजस्थानी में रचनाएँ करते थे। अन्यान्य जीवन-क्रमों के साथ उनका यह एक सहज क्रम था। कवित्व की उनमें सहज व्याप्ति थी। लोक-भोग्य और साथ ही साथ अत्यन्त निगूढ़ और गंभीर विषयों पर उन द्वारा रचे गए लगभग १८ हजार पद्य आज हमें उपलब्ध है, जो राजस्थानी भाषा एवं अध्यात्म-वाङ्मय को उनकी अप्रतिम देन है।

आचार्य भिक्षु एक महान् तत्त्वद्रष्टा थे प्रखर चर्चावादी थे। अनेक लोग उनसे चर्चा करने आते कभी-कभी व्यवहार में उग्रता लिये भी आते पर वे अत्यन्त धैर्य के साथ उनसे तत्त्व-चर्चा करते। तर्क तथा युक्तिपूर्वक किसी विषय को सरल से सरल ढंग से प्रस्तुत करने में उनकी प्रतिभा निराली थी। व्यवहार्य दृष्टान्तों उदाहरणों आदि द्वारा जिस स्पष्टता के साथ वे अपने पक्ष का निरूपण करते वह सुननेवाले पर सदा प्रभावकारी होता।

वे एक कुशल व्यवस्थापक थे। दिन पर दिन विकास और अभिवृद्धि पाते धर्म-संघ के लिए उन्होंने अनेक ऐसी मर्यादाओं का निर्माण किया कि दो शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने के पश्चात् आज भी उनका वही महत्त्व है, जो तब था। तेरापंथ के सर्वतोमुखी विकास और अभ्युदय में इन मर्यादाओं ने जो योगदान किया है वह असाधारण है।

इस प्रकार एक सत्यशोधक साधक क्रान्तिकारी महापुरुष महान् कवि प्रबुद्धचेता दार्शनिक एवं धर्मनायक के रूप में बहुविध व्यक्तित्व के धनी आचार्य श्री भिक्षु ७७ वर्षों का आयुष्य प्राप्त कर विक्रमाब्द १८६० भाद्र शुक्ल त्रयोदशी को सिरियारी में स्वर्गवासी हुए।

उस धार्मिक विशृंखलता के युग में आचार्य भिक्षु ने एक शृंखला का सर्जन किया अहिंसा दया दान आदि अनेक तात्त्विक पहलुओं का तलस्पर्शी परिशीलन विश्लेषण तथा गंभीर मन्थन कर भगवान् महावीर के दृष्टिकोण को यथावत् रूप में जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया सत्य की प्रतिष्ठापना की अध्यात्म के टिमटिमाते प्रदीप को अपनी साधना के स्नेह से ज्योतिर्मय बनाया।

जिस सूक्ष्म परख ओजस्वी प्रवचन निर्भीक विवेचन और उन्मुक्त चिन्तन का सतत साहचर्य लिये उन्होंने सत्य की अभिव्यक्ति किया यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि यदि वे पाश्चात्य देशों में कहीं उत्पन्न होते तो काण्ट और हेगल जैसे महान् दार्शनिकों की कोटि में आते।

तेरापथ और उसके प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु

(श्री जैनेन्द्र कुमार)

प्रश्न – तेरापन्थ संगठन के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर– जो कुछ मैं जानता हूँ उससे उस संगठन के प्रति मुझमें विस्मय का भाव होता है। कारण उसके केन्द्र में सत्ता नहीं है। सत्ता को अधिकार हथियार और सम्पत्ति से सुरक्षित और समर्थ बनाया जाता है।

प्रश्न – क्या हर संगठन अधिकार या सम्पत्ति के द्वारा ही सुरक्षित रहता है ?

उत्तर– आजकल जो संगठन दीखने में आते हैं लगभग सभी सत्ता और सम्पत्ति में केन्द्रित हैं।

प्रश्न – तेरापन्थ के पास में कोई सत्ता का बल नहीं फिर भी जनता पर विशेष प्रभाव जमाए है आपके इस सम्बन्ध में क्या विचार है ?

उत्तर– तभी तो मैंने कहा कि मेरे लिए यह विस्मय का विषय है और शायद अध्ययन का भी ।

प्रश्न – कुछ ऐसे परम तत्त्व होते हैं जो सत्ता और सम्पत्ति के बिना भी संगठन को मौलिकता प्रदान करते हैं ? क्या इसके उदाहरण स्वरूप तेरापन्थ को रखा जा सकता है ?

उत्तर—हाँ मुझे उससे प्रसन्नता होती है। कारण मैं आस्तिक हूँ। आस्तिक का मतलब कि मैं समष्टि को चित् केन्द्रित और चित्-सचालित मानता हूँ। यह चित् अस्तित्व का सार है। वह भार युक्त या ठोस वस्तु नहीं है। मेरी श्रद्धा है कि जहाँ संगठन के केन्द्र में यह चित् तत्त्व है वही संगठन जीवन्त है और शुभ है। अन्यथा संगठन में सविग्रह या मेल होता है और उससे फिर जीवन का अहित होने लगता है। मानव संगठन के सम्बन्ध में यह श्रद्धा आज खत्म हुई सी जा रही है कि बिना सत्ता और सम्पदा के वह उदय में आ सकता है या कायम रह सकता है। दूसरे क्षेत्रों में यह विश्वास उतना अगम नहीं है। सौर मण्डल को लीजिए—अनन्त काल से वह मण्डल अपनी कक्षानुसार वर्तन कर रहा है। आधारभूत उसमें क्या है ? क्या कोई कान्स्टीट्यूशन है ? अधिपतित्व है ? नहीं केवल एक आन्तरिक चिन्मयता है। अपनी इस पृथ्वी को ही लीजिए पृथ्वी के अन्तर-गर्भ में केवल तेजोमय अग्नि ही तो है। उसी के बल से यह ठोस पिण्ड टिका हुआ है। पदार्थ को विज्ञान ने अणु तक विखण्डित करके जाना तो अन्त में क्या मिला ? यही कि मूल में चिन्मयता है जड़-तत्त्व उसी के साथ जुटा रह कर हमको ठोसपन की प्रतीति देता है। जिसको प्रकृति में पदार्थ क्षेत्र में हम सहज स्वीकार कर पाते हैं वही विश्वास मानो मानव-क्षेत्र और समाज-क्षेत्र में हमारे लिए कुसुम बन उगा है। अपने सार्वजनिक नेताओं और कार्यकर्ताओं को लगता है कि बीच में कोई बड़ा फण्ड हो या वैधानिक करारनामा या सत्ता हो तब सब रूप से काम चल सकता है। जैसे आदमियों को मिलानेवाली चीज अधिकार और लोभ भी हो सकती है। इस पद्धति से जो हम मानव समुदायों को जुटान और उठान का प्रयास करते आए हैं उसमें देखते हैं कि स्पर्धा और वैमनस्य भी बढ़ा है। उन्नति भी हुई हो सकती है लेकिन वह मानो मानसिकता के क्षेत्र में नहीं हुई है केवल भौतिक क्षेत्र में दीखती है। इस अनास्था को टूटना चाहिए और मालूम होना चाहिए कि कुछ और ही तत्त्व है चिन्मय तत्त्व आध्यात्मिक तत्त्व नैतिक तत्त्व कि जिसके चारों ओर मानव संघटना हो सकती है और होनी चाहिए। यदि ऐसा हो तो मेरा विश्वास है कि हम देख पाएँगे कि वह संघटना काल को भेदती हुई स्थायी बनती है उसमें उगने और बढ़ने के बीज रहते हैं। दूसरे प्रकार के संगठन मानो सदा बिखरने और फटने को उद्यत दीखते हैं बड़े यत्न से ज्यों-त्यों उसे जुटाए रखना पड़ता है। पर मेरी यह मान्यता है कि चिन्मयता को केन्द्र में लेकर बनने वाली संघटना बिखरेगी नहीं बल्कि स्वाभाविक और सहज रूप से बढ़ती और फैलती जाएगी। यदि कभी अपनी इस छोटी सी दुनिया को एक होना है, और उस एकता को ऐसा होना है कि वह आगे भी विस्तार पाती जावे तो यह काम राजनीतिक या प्रशासनिक संगठन से नहीं होगा बल्कि ऐसे किसी संगठन से होगा जिसके मूल में प्रेम है और इसीलिए भोग की जगह त्याग है।

प्रश्न—तेरापंथ की जो शासन प्रणाली चालू है उसे कुछ लोग डिक्टेटरशाही कहते हैं, इसे आप कैसा समझते हैं ?

उत्तर—यह मेरे अध्ययन का विषय होना चाहिए और सम्मति देने का मेरा अधिकार नहीं है। लेकिन डिक्टेटरशाही के कुछ बाह्य उपकरण भी होते हैं वे तो मैं तेरापंथ में नहीं देखता।

प्रश्न—बाह्य उपकरण से आपका तात्पर्य ?

उत्तर—कुछ देशों में डिक्टेटरशिप है। डिक्टेटर के पास अधिकार है फौज है पार्टी है पुलिस और अदालत है। सम्पत्ति वहाँ से मिल सकती है या छिन सकती है। वे पद दे सकते हैं और चाहें तो जान ले सकते हैं। इस प्रकार के बाह्य उपकरण डिक्टेटर के पास रहते हैं। वैसा कुछ इधर भी है क्या ?

प्रश्न—भिक्षु स्वामी के व्यक्तित्व में आप क्या विशेषता देखते हैं ?

उत्तर—भिक्षु स्वामी के चरित्र का मैंने पूरा अध्ययन नहीं किया है। पर मेरे मन पर छाप है कि सत्य से बढ़कर दूसरा उनके लिए कुछ नहीं था। वे उसके लिए मान प्रतिष्ठा यहाँ तक कि जीवन भी निछावर कर सकते थे। वह सत्यवीर थे अडिग और निर्भीक थे। साथही जिसको मैं बड़ी बात मानता हूँ वह स्व-रत और स्व-लीन नहीं थे। इसीसे वे प्रणेता और प्रवर्तक हो सके।

प्रश्न—आचार्य भिक्षु ने संघ का प्रवर्तन क्यों अनिवार्य समझा ?

उत्तर—वह चाह कर भी अकेले हो नहीं पाए। लोग उनके साथ हुए ही। इसी को संघ कहना चाहिए। पीछे कोई उनका नाम लेवा संघ रहे ऐसी उन्होंने चिन्ता की होगी यह मैं नहीं मान सकता हूँ। हाँ जो उनके संग अनायास उपजा और बढ़ता चला गया उस संघ की चिन्तना तो उनसे कैसे छूट सकती थी ? वह उन्होंने किया और योग्य कार्य किया। इसमें मैं कोई राग भाव नहीं देखता हूँ।

प्रश्न—क्या उनका यह कदम क्रान्तिकारी कहा जा सकता है ?

उत्तर—अनिवार्य रूप में वह कदम क्रान्तिकारी हो जाता है जिसमें संसार का राग विसर्जित होता है और सत्य का प्रेम प्रतिष्ठित होता है।

प्रश्न—आचार्य भिक्षु के पास सत्य को प्रसारित करने के स्वस्थ-उपकरण थे और अनेक लोग विरोधी थे। फिर भी अटल साहस से वे अपने पथ पर डटे रहे और उन्होंने सत्य को आगे बढ़ाया इस में उनकी आन्तरिक शक्ति के अतिरिक्त और क्या नजर आता है ?

उत्तर—मैं अन्तर-बाह्य को सर्वथा दो सत्ताएँ मान कर नहीं चलता। अर्थात् जो अपने अन्तरतम के साथ अभिन्न होता है उसे प्रयोजन की भाषा में अलग से कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं प्रकाशमय होता है। प्रकाश के लिए अपने को प्रकाशित करने जैसा अलग काम नहीं रह जाता। प्रकाश स्वयं प्रकाश्य है। इसलिए कहा जा सकता है कि बाधाएँ अड़चनें विपदाएँ ही उनको फैलाने में साधन और माध्यम बन जाती हैं। यह तो आम अनुभव है कि विरोध में से व्यक्ति विस्तारित होता है। उनकी व्यापकता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि विरोध उद्दीप्त हुआ। धूप हम तक क्यों आ जाती है ? क्यों तारे हमको दीखते हैं ? कारण सिवा इसके क्या कहा जा सकता है कि सूरज सूरज है और तारे प्रकाशरूप हैं। भिक्षु स्वामी आत्मारूढ़ और सत्यमय होते गए, इसके अतिरिक्त उन्हें करने को ही क्या था। यही महद् पुरुषार्थ है और उनकी प्रतिभा का मर्म इससे पृथक किसी और-कल्पना में देखने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—मनुष्य प्रकाश का इच्छुक रहता है जब उसे प्रकाश मिलना शुरू होता है तब विरोध क्यों कर उठता है ? क्या उसे वहीं भ्रान्ति रह जाती है ?

उत्तर—प्रकाश अंधकार को सहन नहीं सकता। अब अंधकार क्या करे ? प्रकाश अपने को अपने में रोक नहीं सकता अर्थात् स्वभाव से ही प्रकाश को बढ़ना और अंधकार को हटना होता है। यह विरोध मौलिक है। उसका आगे और विश्लेषण भी क्या हो सकता है ? इतिहास में कभी नहीं हुआ न होगा कि प्रकाशमान पुरुषों को पराक्रम न मारने पड़े हों। उसके औचित्य के लिए तर्क को कहीं ढूंढने जाना नहीं है, वह वस्तु स्थिति में ही गर्भित है।

प्रश्न—सारे संघ में एक ही आचार्य का अनुशासन चलना चाहिए तेरापंथ के ये विचार क्या व्यक्ति स्वातन्त्र्य के अनुकूल हैं ?

उत्तर—मुझे विशेष प्रतिकूलता नहीं दीखती। मैं स्वतन्त्रता शब्द को बहुत ऊंचा नहीं मानता। मेरे निकट स्वतन्त्रता की सार्थकता सब का देने में है लेने में तनिक भी नहीं। यद्यपि मुझे प्रेम प्रिय है। अपनी स्वतन्त्रता उस नाते मुझे अप्रिय भी हो सकती है। आचार्य तो बजाय एक के बजाय अनेक भी हो सकते हैं लेकिन क्या आदमी में अन्तःकरण और विवेक भी दो हो सकते हैं? क्या विवेक के आधिपत्य को स्वतन्त्रता की बात कहना होगा? यदि आचार्य सत्ता भोगी नहीं है उस संघ या समाज के अन्तःकरण का प्रतीक है तो इसमें मैं पूरा औचित्य देख सकता हूं।

अन्तःकरण की ओर से आया हुआ अनुशासन इन्द्रियों को या दूसरे अंगोपांगों को कुछ अप्रिय भी लग सकता है लेकिन मुझे उसमें कोई अनुपयुक्तता दिखाई नहीं देती। बल्कि यह तो अनिवार्य है।

प्रश्न—विचार भेद होने पर कोई भी सदस्य जब चाहे तभी संघ से अलग होने में स्वतन्त्र है। पर जब तक संघ में रहता है तब तक उसे संघ के नियमानुसार ही रहना आवश्यक है। तेरा पंथ का यह नियम क्या व्यक्ति स्वातन्त्र्य की सीमा को लांघता है या उसे बनाता है?

उत्तर—व्यक्ति यदि स्वतन्त्र है कि वह संघ में चाहे तो रहे न चाहे तो न रहे तो संघ की अन्तरंग मर्यादाएँ उसकी स्वतन्त्रता का हनन करने वाली नहीं कही जा सकती। वे मर्यादाएँ तब उसके आत्मानुशासन का अंग बन जाती हैं।

प्रश्न—वे मर्यादाएं आत्मानुशासन रूप ही हैं तो फिर संघीय क्यों कहलाती हैं?

उत्तर—संघ को जब हम स्वेच्छा से आत्मीय बनाते हैं तो संघानुशासन आत्मानुशासन जैसा आप ही प्रतीत होगा। यह अवश्य है कि संघ का बल बढ़ेगा तभी जब और जितना सदस्यों का समर्पण उसके प्रति हार्दिक होगा। हार्दिकता में त्रुटि रहने पर व्यक्ति संघ के साधक की जगह बाधक हो सकते हैं।

प्रश्न—तेरापंथ की मर्यादा है कि सिर्फ आचार्य ही दीक्षा दे सकते हैं। परन्तु इतर जैन सम्प्रदायों में यह नियम नहीं है। वहां हर कोई अपना शिष्य बना सकता है। आप की दृष्टि में श्रमण संघ की उन्नति के लिए कौन सी पद्धति अधिक उपयुक्त लगती है

उत्तर—मेरा झुकाव पद्धति के प्रति नहीं है, आत्मवत्ता के प्रति है। पद्धति कोई वहीं तक उपादेय और हितकर रहती है जहाँ तक भीतर उसके आत्मा विद्यमान हो। आचार्य पद पर मान लीजिए आगे कभी अपात्र व्यक्ति आ जाता है तो क्या केन्द्र की यह अपात्रता सारे व्रत को शिथिल और क्षीण नहीं कर देगी? गुरु शिष्य सम्बन्ध पवित्र और हार्दिक सम्बन्ध है। वैधानिक रूप में वह उपयोगी बना रहेगा तभी तक जब तक उसकी हार्दिकता और प्रसन्नता कायम रहेगी। आप ऐतिहासिक दृष्टि से चाहें तो मानें कि तेरापन्थ का बल इस एक-केन्द्रिता के नियम के कारण एकत्रित और सुरक्षित रहा। यह हो भी सकता है लेकिन मेरी आस्था है कि केन्द्र की अध्यात्मप्राणता के कारण यह सम्भव रहता आया होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि व्यवस्था के नाते केन्द्र एक रहे तो अच्छा है। अन्तःकरण आदमी के पास एक होता है। विवेक एक होता है हृदय एक होता है। द्विहृद् शब्द सगर्भावस्था के लिए है जब भीतर अन्य जीव की भी स्थिति होती है। व्यवस्था में आचार्य अथवा गुरु पद एक हो तो व्यवस्था सुचारु रहती है। लेकिन गुरु तो माता के समान है। सत्या उसके लिए अपत्य के समान है। उसका चिन्तन और पोषण वह अपने से भी अधिक ममता से करता है। डिमोक्रेटिक होने की माँग भी इस तरह उससे पूरी-पूरी मिल जाती है। आज्ञाधारी एकमात्र होने पर भी डिक्टेटर शिप का भाव नहीं नहीं आ पाता। किन्तु यह अध्यात्म प्राणता में ही सम्भव है। इस प्रकार की सत्ता को समता से शून्य सम्वेदन से एक ही साथ युक्त और मुक्त कोई स्वत्वातीत पुरुष ही साध सकता है। माता के लिए ही दोहृद अवस्था भूषण है क्योंकि अपने से अधिक वह अपने गर्भ में रख सकती है। लेकिन स्वस्थ आदमी जब दुविधा बनता है तो उसका हाल बे-हाल हो जाता है। डेमोक्रेटिक लीडर या डिक्टेटर की दुर्गति इसी से देखने में आती है। समाज वह भाग्यवान् है जिसको ऐसा सम्वेदनशील आत्मिक केन्द्र प्राप्त है। जिस समाज को यह सुविधा नहीं है उसको वैधानिकता के जोर से या समाज्ञा कितना भी आय पर वह सम्पन्न रहता नहीं है। शिष्य अनेक हो और वे भिन्न-भिन्न आचार्यों को मानें तो इन सबको मिलाकर समाज को एक बनाये रखना कठिन होगा। अभिप्राय

होगा यह कि अमुक आचार्य को केन्द्र मान कर जो समुदाय एकत्र होगा उसका कुछ अपना स्थापित हित और स्वार्थ पनपने लग जाएगा। इससे कठिनाई हो सकती है।

प्रश्न—तेरापंथ में हर गतिविधि के केन्द्र आचार्य हैं। आचार्य को लांघकर कोई कुछ भी नहीं कर सकता। कुछ व्यक्ति इस स्थिति को विकास में बाधा मानते हैं। पर साधुजन ऐसा कुछ महसूस नहीं करते। आपकी दृष्टि में क्या यह बाधा है?

उत्तर—जिनके लिए प्रश्न हो वे ही यदि इन्हें बाधक रूप में अब तक महसूस नहीं कर पाये हैं तो यह विचार केवल शाब्दिक रह जाता है सारभूत नहीं होता। मैं आज्ञा या आदेश पालन को विकास में बाधा नहीं मानता हूँ। उल्टे यह विनय वृत्ति सहायक ही होती है।

लेकिन केन्द्र का आशय कुछ अधिक स्पष्ट होना चाहिए। हमारे शरीर में बुद्धि मस्तिष्क में केन्द्रित है। भावना हृदय में केन्द्रित मानी जाती है। लेकिन आत्मा का केन्द्र कहाँ है? आत्मा तो वैसे शरीर भर में व्याप्त है। वही एक जगह नहीं है और हर जगह है। आचार्य के प्रभाव को भी मैं इसी तरह काम करता हुआ मानना चाहता हूँ। सम्भव हो भी सकता है कि शरीर का अमुक अंगोपांग मस्तिष्क के नियन्त्रण के कारण अथवा हृदय की बाधा के कारण अविकसित रह जाए, पर किसी भी अंग-प्रत्यंग की आत्मा से तो वैसी पृथकता मानी नहीं जा सकती। आचार्य संघ में आत्मा के सदृश व्याप्त हों तो उस तरह की बाधकता के लिए स्थान नहीं बचता।

प्रश्न—तेरापंथ की मर्यादा के अनुसार याचित या निर्मित प्रत्येक वस्तु समस्त श्रमण संघ के नेश्राय में होती है। व्यक्ति विशेष का उस पर कोई आधिपत्य नहीं रहता। ऐसी अवस्था में भी संघ में इन सबका निरन्तर विकास होता नजर आता है। इसमें आप क्या रहस्य देखते हैं?

उत्तर—मेरी दृष्टि से यह स्वाभाविक है। सृष्टि प्रेम से होती है। प्रेम में आत्मदान है। साधु लोग आत्मदान का तृप्ति लाभ पाते हैं जब—अपना सर्वश्रेष्ठ वे अपनी रचना में डालते हैं और उसे संघ के स्वत्व में अर्पण करते हैं।

प्रश्न—तेरापंथ के विरुद्ध अनेक निन्दात्मक बातें दूसरे समाजों की ओर से मुद्रित प्रचारित और प्रसारित की जाती रही हैं परन्तु तेरापंथ समाज ने वापिस वैसा नहीं करने की नीति पर ही अमल किया है। आप इसे तेरापंथ के लिए ठीक समझते हैं या खराब?

उत्तर—निन्दा को मैं भला समझता हूँ निन्दित के लिए। नुकसान उसमें केवल निन्दक का है। निन्दा उपकार है क्योंकि वह अमुक व्यक्ति अथवा समाज को अपने दोषों के प्रति जगा रखने में सहायक होती है।

तेरापंथ की ओर से अगर किसी की निन्दा नहीं की गई, और निन्दा का उस भाषा में उत्तर नहीं दिया गया तो यह अच्छा ही है। लेकिन मैं इससे भी आगे जाना चाहूँगा और वह यह कि निन्दा की और निन्दक की अवज्ञा भी न मन में आने दी जाय। तेरापंथ की ओर से यदि आप बतायें कि ऐसा भी किया गया है तो मेरे लिए हर्ष की बात होगी।

ऊपर जो कहा इसमें यह तो आ ही जाता है कि निन्दा न करना और प्रतिनिन्दा द्वारा उत्तर न देना उचित और सराहनीय है। तेरापंथ ने ऐसा करके स्वास्थ्य का ही प्रमाण दिया है। क्योंकि निन्दा में हम दोष-दर्शन के स्तर पर उतर आते हैं। लाभ गुण—दर्शन में से होता है। इस सृष्टि में बल-दोष से हीन तो है क्या? दोष देखने चलो तो हर कहीं मिल जाएंगे। पर दोष दर्शन की इस सुविधा से जीवन-यात्री को लाभ भला क्या होने वाला है? तीर्थ-दर्शन और पुण्य-दर्शन की भावना में से ही उसे उत्कर्ष और आनन्द प्राप्त हो सकता है। इसलिए मेरा विचार तो यहाँ तक जाता है कि निन्दक के भी हम गुण देखें और उसकी भी सराहना करें।

इसका मतलब मैं किसी निर्बलता का समर्थन करता हूँ यह नहीं है। प्रेम में से जितनी दृढ़ता प्राप्त हो सकती है, उसका अनुमान भी कठिन है। उस प्रेम में अनन्त प्रतिकार की शक्ति है। इस तरह अहिंसा को पराक्रम की वृत्ति मानता हूँ और उसमें से शासन की अपूर्व क्षमता आ सकती है। समन-दमन-दण्ड ये सब कुछ आ सकता है। इसलिए मेरी आशा है कि तेरापंथ की ओर से जो निन्दा-प्रतिनिन्दा में न उतरने का प्रण रखा गया उसमें बल ही काम कर रहा है कोई दौर्बल्य नहीं।

प्रश्न—आप तेरापंथ के साधओं में अन्य जैन श्रमणों से अपेक्षाकृत कोई विशेषता पाते हैं?

उत्तर—यह कि उनके पास आश्रम के लिए कहीं कोई अपना स्थान नहीं है, दूसरे का हृदय और दूसरे का आवास ही उनके लिए शरण है। इस कारण उनमें कुछ और भी विशेषताएँ अनायास विकसित होती जा सकती हैं।

प्रश्न—तेरापथ के वर्तमान आचार्य श्री तुलसी तथा उनके विभिन्न साधुओं से आपका यदा-कदा जो सम्पर्क आता रहा है उससे तेरापथ के लिए आपकी सद्भावनाएँ विकास पाई हैं या ह्रास? विकास पाई हैं तो उसके कारणों का विवेचन कीजिए ह्रास पाई हैं तो भी?

उत्तर—ह्रास का मैं कायल नहीं हूँ। सम्बन्धों में स्नेह हो दूसरी किसी प्रकार की अपेक्षा न हो तो वह सम्बन्ध फले फूलेगा ही घटेगा क्यों?

मैं अन्तिम रूप से व्यक्ति को मानता हूँ। अन्य सब आदि व्यक्तियों के प्रकाश से प्रकाशित या उनकी जड़ता से बाधित बनते हैं। आचार्य तुलसीजी को मैंने वायस्क प्रसन्न और व्यक्तित्व सम्पन्न कुशल पुरुष पाया है। स्निग्ध और सुलझ दूसरे मुनियों में भी प्रमाद नहीं देखा बल्कि प्रयास देखा कि विकास और गति की प्रत्येक लहर से अवगत हों और आगे बढ़ें। कहना होगा कि दूसरे (पथ के) साधुओं में अपेक्षाकृत मुझे यह कम देखने को मिला।

आचार्य भिक्षु . एक महान् कवि

(लेखक—श्री छगनलाल शास्त्री)

सन्त साहित्य का स्थान—

सन्त साहित्य भारतीय वाङ्मय का जीवन-तत्त्व है, यों कहना अतिरंजन नहीं होगा। साधना के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते आत्म-बल के धनी सन्तों ने जो सत्य पाया उनकी सहज सरल तथा बोधगम्य वाणी का आश्रय पा वह सर्वजन भोग्य बन गया। आत्म-संगीत के उद्गाता जीवन-काव्य के रचयिता ये सन्त अपनी वाणी के रूप में जो अमूल्य विचार-निधि अपने पीछे छोड़ गये वह युग-युग तक मानव को अन्तः श्रेयस् की ओर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती रहेगी। हृदयस्पर्शी पदों के रूप में सन्तों द्वारा संजोई गई वह अमर ज्योति कभी बुझेगी नहीं सदा जलती ही रहेगी। उसका प्रकाश जीवन की पगडंडी पर आगे बढ़ते पथिकों को शाश्वत काल तक पथ-दर्शन देता रहेगा। सन्तों द्वारा काव्य-सुरसरी के रूप में अवतारित वह जीवन रस कभी सूखेगा नहीं बहता ही रहेगा जिसका सेवन कर युग-युग तक मानव अमरत्व का आस्वाद लेता रहेगा।

आचार्य भिक्षु एक महान् सन्त—

आचार्य भिक्षु एक युग प्रवर्तक क्रान्तद्रष्टा महान् सन्त थे। वे विकारों से जूझे थे रूढ़ियों से लड़े थे जड़ परम्पराओं और स्थितिपालकताओं के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह का शंख फूंका था। विपरीतताएँ उन्हें डिगा नहीं सकीं विरोध उन्हें हिला नहीं सके वे मेरु और हिमाद्रि की तरह अडोल रहे। इन सब स्थितियों ने उनके जीवन में एक अद्भुत सहिष्णुता निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता का विशेष संचार कर दिया। सत्य को कड़े से कड़े रूप में प्रस्तुत करने में वे कभी नहीं हिचकिचाये। यही कारण है उनकी कविता में कबीर की तरह फक्कड़पन है एक स्वाभाविक ओज तथा सवेग है जो सन्त-काव्य की अपनी विशेषता है।

एक जन्मजात कवि—

कवि बनाये नहीं जाते वे उत्पन्न होते हैं। आचार्य भिक्षु का जीवन इसका ज्वलन्त निदर्शन है। उन्होंने विधिवत् रीति ग्रंथ अलंकार-शास्त्र आदि का अध्ययन कर कवित्व का शिक्षण पाया हो ऐसा नहीं था। हृदय में भावों का उद्वेलन हुआ वे बाहर निकलने को तिलमिला उठे अन्तःसारपूर्ण शब्दों का सम्बल पा मूर्त रूप में आविर्भूत हो चले। यही तो उनकी कविता थी।

संस्कृत के अति प्रसिद्ध रीतिकालीन आचार्य साहित्य दर्पण के प्रणेता श्री विश्वनाथ ने कहा था कि शब्द और अर्थ तो कविता का केवल कलेवर है उसकी आत्मा तो रस है। यही वह तत्त्व है जो मानव को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। आत्म-शून्य शरीर की जो दशा होती है वही दशा रस-शून्य कविता की होती है। गहराई से परखने पर हम पायेंगे आचार्य भिक्षु की पद्यावलियाँ काव्य-रस से लबालब भरी हैं। मानो उनमें निर्वेद (शान्त रस) का दिव्य निर्झर बह रहा हो।

भाषा—

आचार्य भिक्षु का जन्म राजस्थान के जोधपुर प्रमण्डल में हुआ था जिसे मारवाड़ कहा जाता है। उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यतः जोधपुर तथा उदयपुर प्रमण्डल दूसरे शब्दों में मारवाड़ एवं मेवाड़ रहा। इसीलिए उन्होंने अपनी कविता में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह मारवाड़ी एवं मेवाड़ी का मिश्रित रूप है। मेवाड़ गुजरात का सीमावर्ती भूखण्ड है अत वहाँ की भाषा पर गुजराती का ठीक उसी तरह प्रभाव है जैसा मेवाड़ी का गुजराती पर*। अतएव आचार्य भिक्षु द्वारा प्रयुक्त राजस्थानी में गुजराती की भी एक हल्की-सी पुट हम पाते हैं।

---

* कुछ शताब्दियों पूर्व एक समय था जब गुजराती और राजस्थानी एक ही भाषा थी। देश काल आदि के भेद से उत्तरोत्तर भिन्नत्व होता गया। इसके बावजूद भी इन दोनों भाषाओं में बहुत अधिक नैकट्य है।

चूंकि आचार्य भिक्षु एक निःस्पृह साधक थे उस शाश्वत सत्य को जन-जन तक पहुँचाना उनका अभिप्रेत था जिसे उन्होंने आत्मसात् किया था न कि कवित्व-प्रख्यापन द्वारा कीर्ति-अर्जन। वास्तविक स्थिति तो यह थी कविता उन्होंने की नहीं बन पड़ी और अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ी। उन्होंने उस दिनों प्रचलित राजस्थानी के लोकजनीन सरस एवं बोधगम्य शब्दों का प्रयोग किया है जो सीधे श्रोता या पाठक के अन्तस्तल तक पहुँच सकें।

रचनाएँ —

आचार्य भिक्षु का जीवन अनेक संघर्षों से संकुल था। वे अध्यात्म क्रान्ति के महान् स्रष्टा थे। पग-पग पर कठिनाइयाँ उनका स्वागत करने खड़ी थी। अनेक बार आधी-आधी रातों तक वे लोगों को समझाने में लग रहते थे। फिर भी आश्चर्य है उन्होंने अपने जीवन में इतना लिखा जिसकी स्यात् हम कल्पना भी नहीं कर सकते। लिखा भी अत्यन्त उत्तम कोटि का। दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल शब्दावली की माला में सरसता एवं सफलतापूर्वक ग्रथित कर देना उनकी अद्भुत प्रतिभा और नैसर्गिक कवित्व का स्पष्ट परिचायक है।

जैन तत्त्व ज्ञान आचार-विश्लेषण जीवन-चर्या धर्म-शासन की मर्यादाएँ आदि मौलिक विषयों पर आचार्य भिक्षु की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं वे श्रमण और गृही वर्ग के लिए निःसंदेह उनकी एक अप्रतिम देन हैं। अध्यात्म-वाङ्मय में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

तेरापंथ के चतुर्थ पट्टधर श्री जयाचार्य ने अपने धर्म-संघ के आद्य प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु के जीवन चरित्र के रूप में अपने द्वारा रचित 'भिक्षु जस रसायण' नामक ग्रन्थ में उनके द्वारा ३८ हजार गाथाओं के रचे जाने का उल्लेख किया है। उनकी अधिकांश रचनाएँ पद्यबद्ध हैं कुछ गद्य बद्ध भी। उनके द्वारा रचित पद्यात्मक रचनाएँ निम्नलिखित हैं —

१—नव पदारथ २—श्रावक ना बारे व्रत ३—कालवादी री चौपई ४—इन्द्रियवादी री चौपई ५—पर्यायवादी री चौपई ६—टीकम डोसी री चौपई ७—निक्षेपां री चौपई ८—निन्हव री चौपई ९—मिथ्याती री करणी री चौपई १०—एकल री चौपई ११—विनाज्ञा री चौपई १२—पोतियाबन्ध री चौपई १३—निन्हव रास १४—विनीत अविनीत री चौपई १५—विनीत अविनीत री ढाल १६—चरचा री ढाल १७—मोहणी कर्म-बंध री ढाल १८—दशवें प्राछित री ढाल १९—जिण आज्ञा बारिह थापे न थापे तिणरी ढाल २०—सूस भंगावण रा फल री ढाल २१—साधर्मी साम्भोगी री ढाल २२—शील की नव बाड़ २३—समकित री ढालां २४—गणधर सिखावणी २५—दान री ढालां २६—वैराग री ढालां २७—गुणां री ढाल २८—च्याकुलो २९—तात्त्विक ढालां ३०—अनुकम्पा री चौपई ३१—विरत इविरत री चौपई ३२—पद्मा री चौपई ३३—आचार री चौपई ३४—अवनीत रास ३५—गोशाला री चौपई ३६—चेड़ा कोणक री सिंध ३७—तामली तापस रो बखाण ३८—उदाइ राजा रो बखाण ३९—शकडाल पुत्र रो बखाण ४०—सुबाहुकुमार रो बखाण ४१—सूमा लोढा रो बखाण ४२—उदरदत्त रो बखाण ४३—धन्ना अणगार री चौपई ४४—मल्लिनाथ रो बखाण ४५—थावचा पुत्र रो बखाण ४६—द्रौपदी रो बखाण ४७—देवकी प्रधान रो बखाण ४८—जिनरिख जिनपाल रो बखाण ४९—नंद मणिहार रो बखाण ५०—पुण्डरीक कुंडरीक रो बखाण ५१—भरत चरित्र ५२—जम्बूकुमार चरित्र ५३—सुदर्शन चरित्र ५४—वेहला रो चोढाल्यो ५५—सास बहु रो चोढालियो

शैली —

आचार्य भिक्षु की अधिकांश रचनाएँ राजस्थान में प्रचलित विभिन्न राग-रागिनियों में हैं। साथ-साथ दोहे सोरठे आदि छन्दों का भी प्रयोग है। तत्त्व-दर्शन जैसे गूढ़ विषय को अत्यन्त सरल एवं सरस गीतों में उन्होंने जिस निपुणता से ग्रथित किया वह वास्तव में एक आश्चर्य की वस्तु है। गीत सर्वसाधारण को प्रिय होते हैं। उनके माध्यम से गंभीर तत्त्व भी सहज ही जन-जन तक पहुँचाये जा सकते हैं। लोग इन्हें सरसता से स्मृति में रख सकते हैं गाकर प्रेरणा और आनन्द ले सकते हैं। उनके द्वारा गीत्यात्मक शैली को अपनाये जाने का सम्भवतः यह भी एक कारण रहा हो।

शब्दों में प्रसाद —

उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि शब्दों के प्रयोग में कहीं प्रयत्न साध्यता नहीं है, सहज गम्यता है। भावों के अनुकूल जो शब्द सहजतया उद्गीर्ण हुए, उन्हें ही अपनी रचनाओं में उन्होंने प्रयुक्त किया। प्रसाद उनकी शैली में स्वभावतः सध पाया है।

विनयमूलक धर्म का निरूपण करते हुए उन्होंने कितने सरल एवं प्रभावमय शब्दों में कहा है—

"विनयमूल धर्म जिन कह्यो ते पाणे विरला जीव ।
ते सतगुरु रो विनय करे त्यां सीधी मुक्ति री नींव ॥
जे कुगुरु तणो विनय करे, ते किम उतरे भव पार ।
ज्यां सुगुरु कुगुरु नहीं ओलख्या ते गया जमारो हार ॥
कोई अज्ञानी इम कहे गुरु ने बाप एक होय ।
भूंडा भला ते गुरु कह्या त्याने न छोड़णा कोय ॥
जिण आगम माहि इम कह्यो गुरु करणा गुण देख ।
खोटा गुरु ने नहीं सेवणा त्यांरी कीमत करणी विशेष ॥

अर्थात् भगवानने धर्म का मूल विनय बताया है। पर बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उसे यथार्थतः समझते हैं। विनय सद्गुरु का किया जाना चाहिए, जो मुक्ति की नींवें डालने वाले हैं। जो कुगुरु का विनय करते हैं वे भव समुद्र को कैसे पार कर सकेंगे? जिन्होंने सद्गुरु और कुगुरु की पहचान नहीं की वे मनुष्य जीवन हार गये—उनका मनुष्य भव निष्फल गया। कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि गुरु और बाप तो एक ही होते हैं। अच्छे बुरे जो भी हैं जिन्हें हम गुरु कहते हैं उन्हें नहीं छोड़ना चाहिए। पर भगवान् द्वारा प्ररूपित आगमों में तो यों कहा है कि गुण देखकर गुरु करने चाहिए। कुत्सित—झूठे गुरु का सेवन नहीं करना चाहिए और न बहुमान ही।

इन पद्यों में सुगुरु-कुगुरु-विवेक पर कवि ने जिस मर्म स्पर्शिनी शैली और सहज बोध्य शब्दों द्वारा प्रकाश डाला है वह सहसा पाठक के हृदय को झकझोरे बिना नहीं रहता। 'गया जमारो हार' 'गुरु ने बाप एक' आदि उक्तियों का प्रयोग कर जिस प्रकार उन्होंने विषय का विशदीकरण किया है यह उनकी लेखनी की अपनी विशेषता है। अर्थ की रमणीयता स्वतः बन पड़ी है। कवि को जरा भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। रस गंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थात्मक शब्दावली को ही तो काव्य कहा है।[1]

अलंकार —

संस्कृत क्षेत्र में अलंकार-शास्त्र के अग्रणी विद्वान् आचार्य मम्मट ने कविता के लिए अलंकारों को आवश्यक माना है पर साथ ही यह भी कह दिया है कि यदि वे कहीं कहीं न भी हों तो कोई बात नहीं।[2] हिन्दी के अति प्रसिद्ध रीतिकालीन आचार्य केशव ने भी कविता और वनिता की शोभा के लिए अलंकारों की आवश्यकता अनुभव की है।[3]

इस पर जरा सूक्ष्मता से सोचें—माना कि अलंकार कविता के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हैं पर कब? जब कि सहज रूप में उनका प्रयोग हो। जहाँ काव्य की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए खोज-खोज कर अलंकार लाये जाते हैं वहां कविता शोभित और विकसित नहीं होती उनके भार से दब (मूर्च्छित हो) जाती है। महाकवि केशव के साथ यही तो हुआ। उन्होंने अपने महाकाव्य 'राम चन्द्रिका' में जहाँ तरह-तरह के जटिल और प्रचिक अलंकारों को ठूसने का प्रयत्न किया वहाँ उस महा काव्य के रस स्रोत को ही शुष्क बना दिया। तभी तो वे 'काव्य के प्रेत' कहे जाते हैं।

आचार्य भिक्षु एक अध्यात्म-साधक थे। लोगों को जीवन-रस से आप्लावित करना उनको अभिप्रेत था सुन्दर शब्दों की खोज में जुटे रहना नहीं अलंकारों को गढ़ने में बुद्धि दौड़ाना नहीं। पर फिर भी शब्दों की सुसज्जा अर्थानुकूल प्रयोग

१—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
(रस गंगाधर)

२—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
(काव्य प्रकाश)

३—भूषण बिना न सोहइ कविता वनिता मित्त।
(कवि-प्रिया,

मर्म-स्पर्शी अध्यात्मकता सहज भाव से ही उनकी कविता में रम गई है। यही बात अलंकारों के सम्बन्ध में है। यहाँ अभिप्रेत निरूपण में तन्मय हो वे लिखने बैठते हैं अलंकारों का एक सहज समा बँध गया है। जैसे—

एक ही क्रिया में पुण्य और पाप दोनों होते हैं एतन्मूलक मिश्र प्ररूपण का परिहार करते हुए उन्होंने बड़े सुन्दर रूप में कहा है—

"सांभर केरा सींग में सींग सींग में सींग ।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में खींच खींच में खींच ॥
बाजर खेत बावे जरे, चूंट चूंट में चूंट ।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में झूठ झूठ में झूठ ॥
चोर मिले उजाड़ में करे झपट झपट में झपट ।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में कपट कपट में कपट ॥

अर्थात् सांभर के एक सींग में से दूसरा उसमें से तीसरा इसी प्रकार एक एक से अनेक सींग निकले रहते हैं। जो पुण्य पाप की मिश्र प्ररूपणा करते हैं उनकी बात में एक ही दुराग्रह नहीं होता उत्तरोत्तर निकलते अनेक दुराग्रह उसके साथ जुड़े रहते हैं।

जब बाजरी का खेत बोया जाता है प्रत्येक पौधे की एक शाखा में से दूसरी उसमें से तीसरी और भी इसी प्रकार अनेक शाखाएँ निकलती जाती हैं। उसी प्रकार मिश्र प्ररूपणा वाले के एक झूठ में से दूसरा झूठ उसमें से तीसरा—इसी तरह अनेक झूठ प्रसूत होते रहते हैं।

बियाबान जंगल में चोर मिल जाते हैं उनका हर झपट्टा उत्तरवर्ती झपट्टों से युक्त रहता है। इसी प्रकार जो मिश्र प्ररूपणा करते हैं उनकी बात में मानो छल की एक शृंखला जुड़ी रहती है।

सीधे-सादे शब्दों में पर सधी हुई आलंकारिक सरणिपूर्वक कवि ने कितना रोचक एवं मनोरम वर्णन यहाँ किया है। मिश्र प्ररूपणा के साथ जुड़े दुराग्रह मिथ्याचार और कापट्य का उद्घाटन जिस सुन्दरता से किया है देखते ही बनता है।

'हिंसा में धर्म की मान्यता' पर अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में अपना अभिप्राय प्रस्तुत करते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं—

"लोही खरड्यो जे पीताम्बर, लोही सूं केम धोवायो ।
तिम हिंसा में धर्म किहां थी जीव उज्ज्वल किम थायो ॥
हिंसा री करणीमें दया नहीं छै दया री करणी में हिंसा नाहीं ।
दया ने हिंसा री करणी छै न्यारी ज्यूं तावड़ो ने छांहीं ॥
और वस्तु में भेल हुवे पिण दया में नहीं हिंसा रो भेलो ।
ज्यूं पूरब ने पश्चिम रो मारग किण विध खावे मेलो ॥

अर्थात् खून से लथपथ पीताम्बर खून से कैसे धोया जा सकता है? उसी प्रकार हिंसा द्वारा धर्म कहाँ से होगा और उससे आत्मा कैसे उज्ज्वल बनेगी?

हिंसा के कार्य में दया नहीं होती और दया के कार्य में हिंसा नहीं होती। उनका वैसा ही पार्थक्य है जैसा धूप और छाया का।

और और वस्तुओं में मिलावट हो सकती है पर दया में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम का मार्ग किस प्रकार मिलेगा?

यहाँ खून से रंगे पीताम्बर का दृष्टान्त कितना मर्मस्पर्शी है सुज्ञ पाठक इसे स्वयं अनुभव करेंगे। धूप और छाया के पार्थक्य की उपमा द्वारा कवि ने दया और हिंसा का अलगाव बड़ी सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया है। पूर्व और पश्चिम का मार्ग कभी तीन काल में भी मिल नहीं सकता क्योंकि दोनों परस्पर विपरीत दिशाओं में जानेवाले हैं। इस दृष्टान्त द्वारा दया और हिंसा के सार्वत्रिक प्रातिकूल्य का अत्यन्त प्रभावक चित्र कवि ने अंकित किया है।

वस्तु-निरूपण —

आचार्य भिक्षु की निरूपण-पद्धति का यह सहज वैशिष्ट्य है वे ऐसे चुभते शब्दों में अपना प्रतिपाद्य कहते हैं जो दुराग्रह

ब्रह्मचारी के बाणों की तरह कभी खाली नहीं जाते। साथ ही साथ उनके रचना क्रम की यह दूसरी विशेषता है कि वे अपने विषय का इतना सुन्दर भाव-चित्र प्रस्तुत करते हैं कि वह दृश्य मानो मूर्तिमान् बन आ उपस्थित होता है।

आचार्य भिक्षु की एक कृति है 'शील की नव बाड़'। जैन शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के सम्यक परिपालन के लिए नौ रक्षा-पंक्ति और उसकी परिखा (कोट) का निरूपण है। आचार्य भिक्षु ने इसी विषय का इस कृति में अत्यन्त सरल एवं उद्बोधक शब्दों में वर्णन किया है।

एक स्थान पर वे (चतुर्थ बाड़ के अन्तर्गत) दृष्टि दोष का विवेचन करते हुए कहते हैं—

"एक क्षत्री आणो भेवावतारे, मारग मांहे मिलीयो चोर।
तिणने क्षत्री बाण मारया बजारे, चोर फरसी सूं न्हांख्या तोड़ ॥
हिवें एक बाण बाकी रह्या रे जब क्षत्री निज रूप दिखाय।
ते चोर तिण रें रूप बिलूंबीयोरे, जबक्षत्रीबाणसूंदीयोगिराय ॥
चोर पड्यों ते देखनें रे क्षत्री करवा लागो मांण।
चोर कहे गरवे किसू रे म्हारे नारी नयणा रा लागा बांण ॥

अर्थात् एक क्षत्रिय गौना कर अपनी पत्नी को लिये जा रहा था। मार्ग में एक चोर मिला। (लूटने पर उतारू होने पर) क्षत्रिय ने उस पर बहुत से बाण छोड़े पर चोर ने फरसे (परशु) से उन्हें तोड़ डाला। अब क्षत्रिय के पास केवल एक बाण बाकी रहा। तब नारी ने अपना रूप दिखलाया (घूंघट खोला)। चोर उसके रूप में आसक्त हो ज्यों ही उसकी ओर एकटक देखने लगा क्षत्रिय ने उसे बाण से गिरा दिया। चोर को गिरा देख क्षत्रिय गर्व करने लगा। चोर उससे बोला—तुम किस बात का गर्व कर रहे हो? मुझे नारी के नयनों का बाण लगा है। मानो मैं तुम्हारे बाण से आहत नहीं हुआ हूँ इस नारी के नयन-बाण से आहत हुआ हूँ।

दृष्टि-विकार की कितनी दुःखद परिणति होती है कवि ने क्षत्रिय और चोर के दृष्टान्त द्वारा उसका प्रत्यक्ष रूप पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है। 'म्हारे नारी नयणा का लाग्या बाण' पद से जो ध्वनि निकलती है निःसन्देह काव्य-पारखियों को वह आकृष्ट किये बिना नहीं रहेगी। यह कवि के भावाभिव्यक्ति के वैदग्ध्य का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

"आचार री चौपई" में आचार्य भिक्षु ने आचार की महत्ता जीवन-व्यवहार में उसका समावेश आचार के नाम पर अनाचार का पोषण आदि पर अन्तरतम को झकझोर देनेवाले जो भावपरिमापूर्ण पद कहे है, तात्त्विक महत्त्व के साथ-साथ उनमें काव्य-सुषमा भी छलाछल भरी है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

'साथे लीया फिरे पुस्तक पोथा आचार पालण बायक बोथा।
ते फंस रह्या माया जालो एहवा भेषधारी पांच में कालो ॥
करणी करतूत मांहे पोला बके बरड बरड मिरचा बोला।
त्यारे झूठ तणो नहीं टालो एहवा भेषधारी पांचमें कालो ॥
नाम धरावे साध सती पिण लखण न दीसे एक रती।
मूंडे झूठ तणो मेंहरालो भाखो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो ॥
केई पदवीधर बाजे मोटा चलगत उ भी लखणा खोटा।
वन रहित एकत पराळो एहवा भेषधारी पांच में कालो ॥
एक एक तणा दोषण ढांके अंतरग करता नहि साके।
त्यां ने कोइ नहि हटकणवाळो एहवा भेषधारी पांच में कालो ॥

अर्थात् पुस्तकें पोथियाँ साथ लिये घूमते हैं पर शुद्ध आचार के परिपालन में वे बिलकुल बोथे हैं, *माया जाल में फंसे हुए* हैं। इस पंचम आरे में —कलिकाल में इस प्रकार साधु-वेष की विडम्बना करने वाले अनेक लोग हैं।

सत् करणी करने में जो सर्वथा निष्क्रिय हैं और झूठी बातें बकते रहते हैं, असत्य वर्जन का जिनके कोई विचार नहीं है इस कलिकाल में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो साधु का वेश स्वीकार किए हुए हैं।

नाम से तो साधु-साध्वी कहलाते हैं पर जिनमें साधुत्व का रंचमात्र भी लक्षण नहीं है मुख से मानो झूठ का नाला बह रहा है इस पंचम काल में ऐसे लोग साधु का पद बनाए हुए हैं।

कोई ऊँचे-ऊँचे पद धारण करने वाले कहलाते हैं पर उनकी गति-विधि उल्टी है उनकी करतूतें खोटी हैं। वे सारहीन निस्तत्त्व भूसे के तुल्य हैं। इस पंचम काल में वे भी साधु नाम से अभिहित होते हैं।

परस्पर एक-दूसरे के दोषों को छिपाते रहते हैं अकार्य करते जरा भी नहीं सकुचाते। उन्हें कोई रोकनेवाला भी तो नहीं है। ऐसे वेषधारी इस कलिकाल में हैं।

ये पद नहीं हैं ज्वाज्वल्यमान स्फुलिंग हैं अन्तरतम को बेध देने वाले तत्त्व-बाण हैं। आचार की विडम्बना करनेवाले तथाकथित साधुओं को जिन ओजपूर्ण शब्दों में कवि ने फटकारा—दुत्कारा है वह शुद्ध आचार-मर्यादा को यथावत् रूप में पाले जाते देखने की उनकी आभ्यन्तरिक टीस का परिचायक है। प्रत्येक शब्द आचार के नाम पर पोषित होते अनाचार पर एक करारी चोट करने वाला है। विचारों की प्रतिमा पुष्टतम शब्दों का परिधान पा मानो निखर उठी है। सधे हुए शब्द लोकजनीन सरणि और शृंखलित भाव क्रम ने एक अद्भुत प्रभावकारिता यहाँ उत्पन्न कर दी है।

विनय के आराधन और अविनय-वमन पर आचार्य भिक्षु की एक अति महत्त्वपूर्ण कृति है 'विनीत अविनीत री चौपई'। इसमें प्रस्तुत विषय का जिस मार्मिकता तथा सूक्ष्मता से उन्होंने विवेचन किया है वह निःसंदेह उनकी लेखनी का चमत्कार है। अविनीत का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"कुह्या काना री कूतरी तिणरे झरे कीडा राध लोही।
सगले ठाम सू काढे हुडहुड करें, घर में आवण न दे कोई॥
कुती बिगाड़े रमणीक आगणो न्हाख कीडा राधने लोही।
वास दुरगंध आवे अति बूरी तिणने धुर-धुर करे सब कोई॥
ज्यूंहीज कुह्या काना री कूतरी तेहवा अविनीत में अभिमानी।
तिणरो पाल्यो शील न मुख करी तिणसू सगलाई दे धाप कानी॥
अविनीत रा मुख मासू नीकले ते तो कुवचन कीडा सम जाणो।
रमणीक आगणा ज्यूं शुध साध में पाप लगावे शोष उठाणो॥
थिर करण माहि राखे तेहने छिद्र पहे हुवे द्रोही।
तिणने कुह्या काना री कूतरी ज्यूं गण बारें काढे सर्व कोई॥

अर्थात् एक सड़े कानों की कुतिया है जिसके कानों से खून और मवाद टपक रहा है। वह जहाँ भी जाती है दुत्कार के साथ बाहर निकाल दी जाती है। अपने घर में उसे कोई नहीं आने देता। वह कुतिया सुन्दर आगन को बिगाड़ देती है। वहाँ कीड़े खून और मवाद गिरा देती है। उससे बड़ी दुर्गन्ध आती रहती है। सभी उसे दुर-दुर कर निकाल देते हैं। अविनीत और अभिमानी साधु सड़े कानों की कुतिया जैसा है। उसे शील का तो पालन करना है पर उसका मन अपना स्वयं का बैरी है। सभी उससे दूर-दूर रहते हैं। अविनीत के मुह से जो कुवचन निकलते हैं उन्हें कीड़ों के समान जानो। सुन्दर आंगन की तरह शुद्ध साधु को वे शोष उत्पन्न करवा कर, पाप लगाते हैं। उसे (अविनीत को) स्थिर करने के लिए यदि धर्म-संघ में रखा जाता है तो वह छिद्र ढूंढता है तथा द्रोह करता है। सड़े कानों की कुतिया की तरह उसे सभी धर्म-संघ से बाहर कर देते हैं।

अविनय की कालिमा से पुते जीवन का कितना मर्मस्पर्शी विवेचन यह है। कुतिया का बीभत्स वर्णन करते हुए कवि ने जीवन के अविनयमूलक असत् पक्ष की जो भर्त्सना की है वह निःसंदेह अपनी सूक्ष्म दृष्टि को हृदयग्राह्य और प्रभावोत्पादक शब्दावली में अनुस्यूत कर डालने की उनकी अद्भुत मेधा का परिचायक है। कुतिया के दृष्टान्त को सांगोपांग रूप में अवि-नीत के जीवन के साथ घटित कर उन्होंने अविनय का एक सजीव भाव-चित्र प्रस्तुत किया है जो संयम मार्ग पर चलने वाले साधकों के लिए प्रेरणा का एक दिव्य पाथेय है।

चरित्र-चित्रण —

जैसा कि उल्लेख किया गया है, आचार्य भिक्षु एक निर्भीक सन्त थे। बिना किसी अवलेप पक्ष और कालुष्य के उनकी

चिन्तन-धारा बही। उसमें सत्य जिस रूप में प्रतिभासित हुआ उन्होंने खरे-खरे शब्दों में उसे ज्यों का त्यों रख दिया पर उसके साथ उनका विवेक सदैव जागृत रहा। यही कारण है जहाँ-जहाँ जैसा औचित्य था उन्होंने चरित्र-चित्रण किया। इसलिए यह आवश्यक होता है कि उनके हार्द को आत्मसात् करने के लिए उनके द्वारा किये गये विवेचन की पृष्ठभूमि को यथावत् रूप में जाना जाए। उदाहरणार्थ उन्होंने एक स्थान पर नारी के लिए 'नारी कूड कपटनी कोथली' 'नारी कायर जाहरी' 'नारी दुरी कलेवणी' 'स्त्री अनरथ मूल' 'विकरी तो वायन स्यूं बुरी' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। यहाँ सहसा यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नारी-जाति के प्रति उनका बड़ा अवहेलनापूर्ण दृष्टिकोण था। इन विशेषणों के पीछे पृष्ठभूमि यह है—ये विशेषण उनके द्वारा वहाँ प्रयुक्त हुए हैं जहाँ उन्होंने कुसती नारी का विवेचन किया है। 'नहि सरीखी सयणी नार' उनके द्वारा कहा गया यह पद स्पष्टतया व्यक्त करता है कि नारी मात्र के लिए उनका उक्त अभिमत नहीं था। उन्होंने सती नारी के लिए तो आदरपूर्ण शब्दों में कहा है कि सती सोलह गुण की खान होती है सती सीता के सदृश होती है, जिसका वर्णन जिनेश्वर देव भी करते हैं।

आचार्य भिक्षु द्वारा विरचित 'भरत चरित' एक अत्यन्त सुन्दर काव्य है। उसकी एक घटना है चक्रवर्ती सम्राट् भरत अपनी छोटी बहन ब्राह्मी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उससे विवाह कर लेना चाहते थे। ब्राह्मी वैराग्यवती थी। वह सन्यस्त होकर *संयम जीवितव्य अंगीकार करना चाहती थी। एक जटिल समस्या सामने आ उपस्थित हुई। भरत को रोके कौन निषेधे* कौन? इस प्रसंग पर आचार्य भिक्षु ने नारी के चरित्र को जिस उच्चता की पराकाष्ठा पर पहुँचाया है वह देखने जैसा है। जिस सौन्दर्य पर सम्राट् मुग्ध है तपस्या और साधना की अग्नि में उसे होम देना चाहिए, ब्राह्मी यह सोच अपने को तपस्या में लगा देती है। आचार्य भिक्षु ने इस प्रसंग पर लिखा है—

> "भरत नहीं जेवण देवे दीक्षा ब्राह्मी शील तणी मांडी रक्षा।
> रूप देखी भरत रे चढ़ता चाई॥
> सती बेले-बेले पारणो कीनो एक लूखा अन्न पाणी में लीनो।
> फूल ज्यूं काया पड़ी कुमलाई॥
> भरत री विषय सूं जाणी ममता तिण सूं ब्राह्मी झाली तपसा।
> साठ हजार बरस री मिणती थाई॥
> भरत छोड़ दीनी मन री ममता सती रो सरीर देखीने आई समता।
> पछे दीपती दीक्षा दराई॥

अर्थात् भरत दीक्षा नहीं लेने देते हैं यह सोच ब्राह्मी शील की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गई। ब्राह्मी का सौन्दर्य देख भरत उस पर आसक्त थे। सती ब्राह्मी ने द्वयाह्निक (दो दो दिनों का) उपवास प्रारंभ किया। पारणे में वह केवल रूखा अन्न और पानी लेती थी। फलतः उसकी फूल-सी कोमल काया कुम्हला गई (सौन्दर्य विलुप्त हो गया)। भरत की वासना जन्य ममता देख ब्राह्मी ने यह तप क्रम स्वीकार किया था। साठ हजार वर्षों की लम्बी अवधि तक यह चलता रहा। परिणाम यह हुआ सती का (तपस्या की अग्नि में झुलसा) शरीर देख भरत की *वैषयिक आसक्ति मिट गई और उसमें समता का* उदय हुआ। भरत ने ब्राह्मी को आनन्दोल्लासपूर्वक दीक्षा दिलवाई।

संयम के माध्यम द्वारा हृदय परिवर्तन का एक अनूठा उदाहरण यह है जो आचार्य भिक्षु की लोकपावनी लेखनी का आश्रय पा और अधिक निखार पा गया है। *संयमोन्मुख आदर्श नारी के उदात्त चरित्र का* यह एक ज्वाज्वल्यमान उदाहरण है।

'भरत चरित' का वह प्रसंग भी कम प्रेरक नहीं है जहाँ ब्राह्मी और सुन्दरी महान् योद्धा और अब महान् साधक अपने भाई बाहुबलि को प्रतिबोध देने उपस्थित होती हैं।

घटना यों है—भरत और बाहुबलि का भयावह द्वन्द्व युद्ध होता है। विजेता बाहुबलि का मानस अध्यात्म-विजय की ओर मुड़ जाता है। अपने ज्येष्ठ बन्धु भरत पर दुर्धर्ष प्रहार करने को उठी हुई उनकी बलिष्ठ मुष्टि अपने बालों पर पहुँच जाती है। वे पंचमुष्टि लोचकर संयम पथ पर अग्रसर हो जाते हैं पर उनके पैर अपने पूज्य पिता धर्म नायक भगवान् ऋषभ अपने श्रमण-परिवार सहित जहाँ थे उस ओर नहीं बढ़ते। मन में एक संकोच था अपने अट्ठानवें छोटे भाई, जो पहले

दीक्षित हो चुके हैं दीक्षा-पर्याय की ज्येष्ठता के कारण जो वन्दनीय हैं, उन्हें (अपने से छोटों को) मैं कैसे वन्दन करूँ। बाहुबलि गिरि-कन्दरा में घोर तप करने लगते हैं। वे ध्यानस्थ ध्यान में निरत हो जाते हैं बाह्य जगत् से दूर, बहुत दूर यहाँ तक कि उनके बालों में पक्षी घोंसले बना लेते हैं और हाथ तथा पैर वन्य लताओं द्वारा वेष्टित हो जाते हैं। इस घोर तप के बावजूद भी उन्हें कैवल्य लाभ नहीं होता क्योंकि अभिमान का दुर्भेद्य शल्य अब भी उनके अन्तरतम में गड़ा था।

भगवान् ऋषभ के निर्देश पर श्रमणी ब्राह्मी एवं सुन्दरी वहाँ आती हैं और अपने भाई बाहुबलि को आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा देती हैं। इस प्रसंग पर आचार्य भिक्षु लिखते हैं —

"वीरा म्हारा गज थकी उतरो ब्राह्मी सुन्दरी इम भाखे।
बाहुबल ने समझायवा आमी सामी लगी माहि बाखे॥
थे राज रमण रिध परहरी वले पुत्र त्रिया सनको।
पिण गज नहिं छूट्यो ताहरो तूं मन माहि आण विवेको॥
वीरा म्हारा गज थकी उतरो गज चढ़िया केवल न होसी।
आपो खोजो आपरो तो तूं केवल जोसी॥"

अर्थात् भैया! अभिमान के हाथी से उतरो ब्राह्मी तथा सुन्दरी यों कहती हैं। आपने रमणीय राज्य छोड़ा ऋद्धियाँ छोड़ीं पुत्र छोड़े पत्नियाँ छोड़ीं पर आपसे अभिमान का हाथी नहीं छूटा मन में विवेक जगाइये।

भैया! अभिमान के हाथी से उतरो। इस पर चढ़े कैवल्य नहीं पाओगे। आप अपने अन्तरतम की गवेषणा कीजिए, कैवल्य का दर्शन मिलेगा।

कवि ने सीधी-सादी और संक्षिप्त सी शब्दावली में मानो अपना हृदय उंडेल दिया है। मन के स्पर्श से भाव-उन्मेष उत्कृष्टता की जिस कोटि तक पहुँच गया है वह कथन का नहीं अनुभव का विषय है। एक-एक शब्द से कोमल पर निस्पृह सरल पर भावभरित प्रेरणा-पुंज निःसृत होने लगते हैं।

उक्ति-वैशिष्ट्य :—

आचार्य भिक्षु महान् तत्त्वद्रष्टा थे और थे जीवन के साक्षात् पारखी। उन्होंने स्वयं देखा परखा जाँचा अनुभव किया फिर लोगों के समक्ष उसे प्रस्तुत किया। इसलिए उनके निरूपण-क्रम में एक वैशिष्ट्य रहा वह सघटन रहा जिससे उनकी कविताएँ तत्क्षण लोक-मानस के अन्तस्तल तक अपना भाव पहुँचा सकें। आचार्य भिक्षु की कविताओं में एक ओर जहाँ सरलता है वहाँ गहनता भी है पर उनके निरूपण-वैशिष्ट्य के कारण गहनता सरलता में परिवर्तित हो गई है। काव्य-सृजन में लोक जनीनता की ओर उनका सतत ध्यान रहा है। उनके कतिपय पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं जिनमें उनके उक्ति वैशिष्ट्य का आभास हो सकेगा —

"आभो फाटे थीगड़ी कुण छ देवणहार।
ज्यूं गुरु सहित गण बिगड़ियो त्यारे चिहुँ दिस पड़िया बघार॥

यदि आकाश फट जाए तो उसके कौन पैबन्द लगा सकता है? यदि गुरु सहित गण-संघ बिगड़ जाए तो उसमें चारों ओर बड़े-बड़े छिद्र हो जाते हैं। (वहाँ पैबन्द लगाने की कोई गुंजाइश नहीं रहती।)

"अविनीत न अविनीत श्रावक मिले ए, ते पामें घणो मन हरख।
ज्यूं डाकण राजी हुवे ए, चढ़वाने मिलियां जरख॥"

यदि अविनीत साधु को अविनीत श्रावक मिल जाए तो वह (साधु) मन में ऐसा हर्ष मानता है मानो डाकिन को चढ़ने के लिए जरख मिल गया हो। (डाकिन स्वयं विकराल होती है और सवारी के लिए जरख के मिल जाने से उसकी विकरालता और बढ़ जाती है।)

"साधने श्रावक रतनारी माला एक मोटी दूजी नान्ही।
गुण गुन्था चारूँ तीरथ ना इधरत रह गई कानी॥"

साधु और श्रावक रत्नों की मालाएँ हैं एक छोटी है दूसरी बड़ी। इनमें (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप) चारों तीर्थों के उज्ज्वल गुण का ग्रथन किया गया है। ... तो एक ओर छूट गया है।

"जिम कोई घृत तमाखू विणजे वासणरी विगत न पावे ।
घृत भेळ तमाखू में घाले ते दोनूं वस्तु बिगाड़े ॥

एक व्यक्ति घृत और तम्बाकू का व्यापार करता है पर वह बर्तनों के उपयोग पर ध्यान नहीं देता । घृत को तम्बाकू के बर्तन में डाल देता है । परिणाम यह होता है—दोनों ही वस्तुएँ बिगड़ जाती हैं । (न घृत काम का रहता है और न तम्बाकू ही)

"जीभ रो औषध आंख्या में घाल्यो आंख्या रो औषध जीभ में घाल्यो ।
तिण री आंख फूटी जीभ ई फाटी दोनूं इन्द्रिय खोय नाख्यो ॥

एक व्यक्ति के पास दो औषधियाँ थी—एक आँखो में डालने की तथा एक जीभ पर लगाने की । उसने जीभ पर लगाने की औषधि आँखो में डाल ली और आँखो में डालने की औषधि जीभ पर लगाली । फल यह हुआ उसकी आँखें फूट गईं और जीभ फट गई । इस प्रकार वह दोनों इन्द्रियों से हाथ धो बैठा ।

"कुगुरु भड़भूंजा सारीखा त्यारी सरधा खोटी भाड़ समान ।
भारी करमा जीव चीणा सारीखा त्याने झोंके खोटी सरधा में आण ॥

कुगुरु भड़भूंजों के समान हैं । उनकी मिथ्या श्रद्धा भाड़ के तुल्य है । भारी कर्मों वाले जीव चनों जैसे हैं । कुगुरु उन्हें मिथ्या श्रद्धा की भाड़ में ला झोंकते हैं ।

"सोना री छुरी चोखी घणी पिण पेट न मारे कोय ।
ए लौकिक दृष्टान्त सांभळी तूं हिरदे विमासी जोय ॥

सोने की छुरी देखने में बड़ी सुन्दर लगती है पर उसे पेट में कोई नहीं मारता । इस लौकिक दृष्टान्त को सुन मन में बिचार कीजिए कि जो देखने में सरस पर परिणाम में विरस है क्या उसे अंगीकार करना चाहिए ?

"खेत खायो कोर्या तणो पहर नाहर री खाल ।
ज्यूं भेख लियो साधां तणो पिण चाले गधारी चाल ॥

सिंह का चमड़ा पहन गधे ने कोरों के खेत चर लिये । वही स्थिति उनकी है जिन्होंने भेष तो साधुओं का ले रखा है पर जो चाल गधे की चलते हैं ।

"रूंख जिम भव जीवड़ा बागवान भगवान ।
वाणी जळधारा जिम जाणज्यो चाले भव जीवा रे कान ॥

संसार के जीव वृक्ष के समान हैं और भगवान् बागवान के समान । भगवान् की वाणी जलधारा के तुल्य है, जिसे वे सांसारिक प्राणियों के कानों में डालते हैं ।

"जळ बिन सूखे रूंखड़ा कुमळावे कूंपळ पान ।
त्याने सींचे जळ त्यागनो डाहवान गुणवान ॥

जल के बिना वृक्ष सूख जाते हैं । उनकी पत्तियाँ और कोंपलें कुम्हला जाती हैं । बुद्धिमान बागबान उन्हें त्याग के जल से सींचता है ।

"मोटे ने खिम्या करणी दोहिली कृपण ने दोहिलो दान ।
भर जोबन शील दोहिलो कायर ने चरित निधान ॥

तथाकथित बड़ों के लिए क्षमा करना कठिन है । वैसेही कृपण के लिए दान देना भरी जवानी में ब्रह्मचर्य स्वीकारना और कायर (आत्म-बल शून्य) के लिए चारित्र्यमय निधि को अपनाना कठिन है ।

"मच्छ गळागळ लोक में सबळ निबळ ने खाय ।
तिण माहि धर्म परूपियो कुगुरु कुबुद्धि चलाय ॥

संसार में मत्स्यगलागल (बड़ी मछली छोटी को खा जाती है उत्तरोत्तर बड़ी को उससे बड़ी) न्याय चलता है । बलवान् दुर्बल को खाता है । कुगुरु अपनी कुबुद्धि लगाते हुए उसमें धर्म की प्ररूपणा करते हैं ।

"जग सगो सीरी करे, ते फल सीतर चुग जाय ।
ज्यूं कृपण रे धन संचियो यूं ही जावे विललाय ॥

चींटी कण-कण संचय करती है तीतर लेकर उड़ जाता है। इसी प्रकार कृपण द्वारा संचित धन यों ही नष्ट हो जाता है।

"बांध्यो काला री पाखती गोरियो वर्ण आवे पिण लखण आवे।
ज्यूं विनीत अविनीत कने रहे, तो कायक कुबद सिखावे॥"

काले के पास सफेद को बांधा। यद्यपि काला वर्ण तो उसमें (सफेद में) नहीं आता है पर उसके संसर्ग से उसके लक्षण उसमें आ जाते हैं। उसी प्रकार विनीत अविनीत के पास रहता है तो वह (अविनीत) उसे (विनीत को) कुछ एक बुरी प्रवृत्तियाँ तो सिखा ही देगा।

कांदा ने सौ बार पाणी सूं धोविया तोही न मिटे तिणरी बास।
ज्यूं अविनीत ने गुरु पिण उपदेश दियो वर्णो पिण मूल न आवे पास॥

प्याज को सौ बार पानी से धो दिया जाए तो भी उसकी गन्ध नहीं मिटती। इसी प्रकार अविनीत को गुरु कितना ही अधिक उपदेश दे वह उसके पास तक नहीं फटकता।

इन पदों से पाठक यह स्पष्टतया जान पायेंगे कि कितनी अधिक तलस्पर्शिनी दृष्टि मार्मिक अभिव्यंजना भावानुरूप प्राजल शब्द-योजना आदि आदि में कवि का अपना वैशिष्ट्य है जिस विषय को लिया अपने प्रतिभा-बल से उसे अतीव प्रभावक तथा उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

लोकोक्तियों का सुन्दर सन्निवेश —

वर्ण्य वस्तु के वैशद्य एवं स्पष्टत्व में लोकोक्तियाँ मानो जीवन डाल देती हैं और सर्वजनोपयुक्त लोकजनीन काव्य में तो इनका और भी अधिक महत्त्व है। जन-जन की जिह्वा पर जो उक्तियाँ सदा से बैठी आ रही हैं वे जन-साधारण के मानस पर असाधारण प्रभाव उत्पन्न करती हैं। उनके द्वारा समर्थित वस्तु-विषय जहाँ लोगों के लिए अधिक आकर्षक और प्रेरणाप्रद हो जाता है दूसरी ओर उसके अर्थ-गौरव में भी एक वैशिष्ट्य आ जाता है।

जैसा कि लिखा जा चुका है आचार्य भिक्षु एक लोक कवि थे। उन्होंने जन-जन में प्रचलित लोकोक्तियों का अपनी कविताओं में अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रयोग किया है। लोकोक्तियों के चयन में उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से काम लिया है। उनके (लोकोक्तियों के) पदानुकूल संघटन (शब्दों के रूप में प्रस्तुत करने) में भी उनका वैदग्ध्य स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

आचार्य भिक्षु द्वारा अपने काव्यों में प्रयुक्त लोकोक्तियों में से नमूने के रूप में कुछ एक उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत की जाती हैं—

"बाप तलाई बाप ने जावे मार लिवार।" —यह मेरे बाप द्वारा बनवाई हुई तलैया है यह जान मूर्ख उसका कीचड़ खाता है।

"छाती फाटे सूमरी देता देखे दान। —कृपण की छाती फटने लगती है जब वह दान देते देखता है।

"चाकर कूकर बिन्दु सरीखा धणी चलावे ज्यूं चाले। —सेवक और कुत्ते बूंद के तुल्य हैं। उनका स्वामी जिधर चलाता है, उधर ही वे चलते हैं।

"कण सहित कूंडो छोड़ने मिस्टो भले मंडसूरो —भंडसूरा अन्न से भरा बर्तन छोड़कर विष्ठा खाता है।

"बिगड़यो बिगाड़े सड़ियो पान।" —सड़ा पान स्वयं बिगड़ता है और पानों को बिगाड़ता है।

"पूत रा पग पालो पेट माही। —सपूत के पैर गर्भ में ही पहचान लिये जाते हैं।

"मिली अनेक मावो देखो आवा बिन कामे लेखो। —अनेक बिन्दियाँ लिख कर देख लो अंकों के बिना उनकी गणना नहीं होती।

"धन पापी रो परले जाय।" —पापी का धन नष्ट हो जाता है।

"रेत री न हुवे खांड। बालू की शक्कर नहीं होती।

"बाप बेटा बाप आपरा कीधा भुगते कर्म॥ —पिता-पुत्र —सब अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

"वेला चली आवे ते आवे नहीं।" —जो वेला चली जाती है वह लौट कर नहीं आती।

आचार्य भिक्षु के काव्यों में इसी प्रकार स्थान-स्थान पर अनेक लोकोक्तियों का उनकी (आचार्य भिक्षु की) अपनी शैली

संघटना और पद-विन्यास पूर्वक प्रयोग हुआ है, जिससे अर्थ गरिमा में वैशिष्ट्य आने के साथ-साथ पद लालित्य में भी कम अभिवर्द्धन नहीं हुआ है।

उपसंहार —

परम विश्रुत काव्य-मर्मज्ञ आचार्य मम्मट के शब्दों में कवि की सृष्टि अनन्य-परतंत्रा[1] होती है। उस पर उसका अपना एक छत्र साम्राज्य होता है। विधाता के नियम भी उसे बाँध नहीं पाते। क्योंकि हृदय के उत्स से प्रवाहित होने वाला भावोच्छ्वास ही तो कविता कहलाता है, जब वह अनुकूल सरस और सशक्त शब्दों का कलेवर पा जाय। वहाँ कैसा बन्धन कैसा पारतन्त्र्य!! आचार्य भिक्षु एक ऐसे ही सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कवि थे। छन्दों में शब्दों में शैली में उन्होंने अपना स्वातन्त्र्य बरता है जिसमें कविता का अन्तःस्वरूप विकृत नहीं हुआ है अधिक उद्दीप्त बना है। साधना की कसौटी पर खरे उतरे साधक की वाणी होने से सहसा कहीं कहीं कार्कश्य का आभास भी स्यात् होने लगता है पर वहाँ काव्य गौरव के नाते कार्कश्य अवाञ्छनीय नहीं है। सत् के नाम पर पोषण पाते असत् को जब वे आड़े हाथों लेते हैं तो प्रतीत होता है वे उसके अंग-अंग को कुरेद डालना चाहते हैं।

भारत के आध्यात्मिक वाङ्मय को वास्तव में आचार्य भिक्षु की बहुत बड़ी देन है जो उन्हें युग-युग तक स्मरणीय रखेगी।

आचार्य भिक्षु एक धर्म-संघ के प्रणेता और संचालक थे। नायक का जीवन उत्तराधिकारियों के लिए आदर्श होता है। आचार्य श्री भिक्षु द्वारा संप्रवर्तित तेरापंथ के परवर्ती आचार्यों ने जहाँ अपने आराध्य अधिनायक से विरासत में अन्य अनेक महत्ताएँ लीं वहाँ इस काव्य-परंपरा को भी उन्होंने ग्रहण किया। फलतः सभी आचार्यों की रचनाएँ आज हमें उपलब्ध हैं। उनके चतुर्थ पट्टाधिकारी श्रीमद् जयाचार्य ने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख गाथाएं लिखीं। भगवती सूत्र जैसे महान् आगम का राजस्थानी गीतिकाओं में उन द्वारा किया गया भावानुवाद राजस्थानी साहित्य को उनकी अनुपम देन है। तेरापंथ संघ के अनेक श्रमण-श्रमणियों ने भी बहुत लिखा है। आज यह परंपरा सर्वतोमुखी विकास के साथ पल्लवित एवं पुष्पित है।

संस्कृत का एक सुभाषित है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

वे रससिद्ध सुकवि सदा विजयशील हैं जिनके यशस्वी शरीर को न बुढ़ापे का भय है और न मौत का।

शताब्दियाँ बीत जाती हैं। सहस्राब्दियाँ गुजर जाती हैं पर कवि अपने शब्दों के रूप में जन-जन के बीच सदा अमरत्व भोगता रहता है।

आचार्य श्री भिक्षु आज भी उन सब को जिन्हें अध्यात्म में रस है, एक दिव्य प्रेरणा दे रहे हैं। उनकी वाणी उनकी कविता ऐसा करती रहेगी शताब्दियों सहस्राब्दियों तक।

१—नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ (काव्य-प्रकाश)

तेरापथ के मौलिक मन्तव्य और उनका आगमिक आधार

(लेखक—मुनि श्री नगराजजी)

किसी भी धर्म और सम्प्रदाय की कुछ अपनी मौलिक मान्यताएँ होती हैं और वे ही उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का आधार बनती हैं। वर्तमान जैन धर्म मस्यतया दो विभागों में बँटा है—श्वेताम्बर और दिगम्बर। स्त्री-मुक्ति और सर्वज्ञ मुक्ति निर्वस्त्र मुनित्व सवस्त्र मुनित्व आदि कुछ ही मन्तव्य उक्त दो सम्प्रदायों के भेद के मूल कारण बन रहे हैं। दिगम्बरों में पुष्प पूजा और अचित्त द्रव्य-पूजा आदि मन्तव्यों पर बीस पथ और तेरह पथ टिके हुए हैं। श्वेताम्बरों में मूर्तिपूजक स्थानक वासी तेरापथ ये तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय जैसा कि नाम से विदित होता है मूर्तिपूजा में विश्वास करता है। शेष दो सम्प्रदाय मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते। दया-दान मिथ्यात्व-क्रिया स्थानक परम्परा आदि बातों को लेकर स्थानकवासी तेरापंथ सम्प्रदाय में मतभेद है। तेरापंथ का यही मतभेद लगभग अन्य जैन सम्प्रदायों से है और यही उसके स्वतन्त्र सम्प्रदाय होने का आधार है।

आगम मान्यता

तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदायों का आधार आगम-ग्रन्थ हैं। न्यूनाधिकता से तीनों सम्प्रदाय आचारांग सूत्रकृतांग आदि आगमों को समान रूप से प्रामाणिक मानते हैं। मूर्तिपूजकों की आगम संख्या ४५ है और स्थानकवासी तथा तेरापथ की आगम संख्या ३२। निष्कर्ष यह रहा ३२ आगम ऐसे हैं जिन्हें तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय समान रूप से अपना आधार ग्रन्थ मानते हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में आगम ग्रन्थों की मान्यता नहीं है। उनका कथन है—आगम-ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। आगम ग्रन्थों के नाम से जो आजकल उपलब्ध होते हैं वे प्रामाणिक नहीं हैं। दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ-समवाय ही उनका आधारभूत साहित्य है। तथापि आगमोक्त तात्त्विक व सैद्धान्तिक विषय लगभग ज्यों के त्यों मान्य हैं। क्योंकि आगमों और दिगम्बर सम्प्रदाय के आधार ग्रन्थों के उक्त विषयों में विशेष मतभेद नहीं है।

तेरापथ की मौलिक मान्यताएं तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु द्वारा प्रवर्तित हुई हैं। आचार्य श्री भिक्षु विशिष्ट आगम अनुयायी थे। उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा उन सब का आधार आगम अवश्य रहे हैं। प्रस्तुत निबन्ध में तेरापथ के मौलिक मन्तव्यों के आगमिक आधार बतलाए जा रहे हैं।

अब तक तेरापथ के सिद्धान्त विभिन्न जैन सम्प्रदायों के बीच ही कसौटी पर कसे जाते रहे हैं। अब वह युग आया है जब कि अनुसंधान प्रधान दृष्टि से तटस्थ विद्वानों के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करने की अपेक्षा हुई है

दान

तेरापथ की दृढ़-मान्यता है—असंयत जीवों की जीवन-कामना राग है मरण-कामना द्वेष और उनको इस भव सिन्धु से तर जाने की जो कामना है वह वीतराग प्ररूपित धर्म है। तेरापथ की दया और दान सम्बन्धी जितनी भी मीमांसाएँ हैं वे सब इसी एक सूत्र पर आधारित हैं। इस सूत्र का क्रम सब में समान रूप से निर्वाह होता है। तात्पर्य हुआ—तेरापथ की मान्यता के अनुसार षष्ठ गुणस्थानवर्ती या षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती सुपात्र संयमी को यथाविधि दिया गया दान ही धर्म तथा धर्मानुगत पुण्य का मार्ग है। भव भ्रमण को अल्प करनेवाला है। अतिरिक्त दान असंयम पोषक होने के कारण लौकिक तथा भव वृद्धि का हेतु है। आचार्य श्री भिक्षु की भाषा में—

× × × ×

"सुपात्र' ने दियाँ संसार घटे छे कुपात्र ने दिया वधे संसार।
ए वीर वचन साचा कर मानों तिण में शंका नहीं छे लिगार ॥"

अर्थात् सुपात्र को देने से संसार घटता है, कुपात्र को देने से संसार बढ़ता है यह यथार्थ वीर वचन है। इसमें शंका

के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। आगम ग्रन्थों में उक्त मन्तव्य के पोषक पर्याप्त आधार मिलते हैं। भगवती सूत्र के अष्टम शतक के ६ उद्देशकों में गौतम स्वामी भगवान् श्री महावीर से पूछते हैं—
भगवन् ? यदि कोई श्रमणोपासक जिसने पाप-कर्म का प्रत्याख्यान नहीं किया है ऐसे असयती अव्रती को प्रासुक अप्रासुक एषणीय अनेषणीय "असन" "पान" आदि चतुर्विध आहार देता है तो वह क्या उपार्जन करता है ? इस पर भगवान् श्री महावीर ने उत्तर दिया—वह एकान्त पाप-कर्म का उपार्जन करता है। उसे जरा भी निर्जरा नहीं होती।[2]

इस प्रश्नोत्तर प्रसग से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ण संयति और पूर्ण व्रती अर्थात् षष्ठ या षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती साधु को जो प्रासुक और एषणीय दान दिया जाता है वही दान मोक्ष मार्ग का हेतु है। अन्य प्रकार का दान आध्यात्मिक दृष्टि से पाप-बन्धन का कारण ही है।

ज्ञाता सूत्र के १३ वें अध्ययन में नन्दन मणिहारे का वर्णन मिलता है। नन्दन मणिहारे ने दानशाला की स्थापना की। नन्दा पुष्करणी बनवाई। वहाँ सहस्रों लोग आते और शान्ति प्राप्त करते और नन्दनमणिहारे की यशोगाथा बोलते थे। अन्त में नन्दन मणिहारे के शरीर में सोलह भयकर रोग उत्पन्न हुए और वहाँ मर कर वह उसी नन्दा पुष्करणी में दर्दुर रूप में पैदा हुआ[3]। इस समग्र आख्यान को पढने से सहज ही भान होने लगता है कि शास्त्रकारो का ध्येय तथा प्रकार के असयति दान की हेयता सिद्ध करने का है।

निशीथ सूत्र के १५ वें उद्देशक में कहा गया है—'जो भिक्षु अन्यतीर्थों को गृहस्थ को चतुर्विध आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ?

जो साधु अन्यतीर्थों को गृहस्थ को वस्त्र पात्र कम्बल पाद प्रमार्जक का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है[4]।

साधु अन्य तीर्थों या गृहस्थ को किसी भी स्थिति में भोजन पानी या वस्त्र पात्र का दान नहीं कर सकता और किए जाने वाले दान का अनुमोदन भी नहीं कर सकता। इस कठोर प्रतिबन्ध का एकमात्र हार्द यही हो सकता है कि असयती दान को भगवान् श्री महावीर ने धर्म और मोक्ष का अंग नहीं माना है। धर्म का अंग यदि उन्होंने माना होता तो साधु के लिए सर्वस्व दान की भी वे निर्विरोध आज्ञा देते। एक साधु दूसरे सतीर्थ्य साधु को अपनी उपलब्ध सामग्री से कुछ भी दान करे इसका विरोध न शास्त्र ही करते हैं और न वर्तमान परम्पराएँ ही जब कि साधु असयति गृहस्थ को अपनी किसी वस्तु विशेष का दान करे उसमें शास्त्रीय निषेध तो मन्यग्नोक्त पाठ के अनुसार होता ही है और लगभग सभी जैन परम्पराओं में भी तथा प्रकार के दान का प्रतिषेध है। गृहस्थ भी सामायिक पौषध आदि में संयति (साधु) को दान दे सकता है और साधु से इतर किसी को वह दान नहीं कर सकता। यह जो एक प्राचीन परम्परा जैन समाज में चली आ रही है वह भी लौकिक दान को धर्मदान न होने का संकेत करती है।

सूत्रकृताग श्रुतस्कन्ध २ अध्ययन २२ में अन्य तीर्थी लोगो ने कहा है—हे आर्द्रकुमार जो दो सहस्र स्नातक ब्राह्मणो को नित्य प्रति भोजन कराते हैं वे पुण्य स्कन्ध का उपार्जन कर देवत्व को प्राप्त करते हैं ऐसा वेद वाक्य है। इस कथन[5] का कठोरता

१—शताब्द षटपद गीति १६ गाथा ५७।

२—समणो वासगस्स णं भंते ? तहारूवं असंजयं अविरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगतसो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

३—तएण तस्स मणियारे सेट्ठि सोलसेहिं रोयायंकेहिं अभिभूते समाणे नदा पोक्खरणीए मुच्छिए ४ तिरिक्ख जोणिएहिं निबद्धाउए बद्धपए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे कालमासे काल किच्चा नदाए पोक्खरणीएदद्दुरीए कुच्छिसि दद्दुरत्ताए उववन्ने ॥२६॥

४—जे भिक्खू अन्नउत्थियस्सवा गारत्थियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइम वा साइम वा देइ, देतं वा साइज्जति ॥७५॥

५—जे भिक्खू अन्नउत्थियस्सवा गारत्थियस्सवा वत्थवा पडिग्गहंवा कंबलवा पाय पुंछणंवा देइ देन्तं वा साइज्जति

६—सिणायगाण तु दुवे सहस्से जे भोयए णितिए कुलालयाणं।
ते गच्छति लोमुच लपयाडे तिव्वाभिताभी णरयाभिसेवी ॥४४॥

से खण्डन करते हुए आर्द्रकुमार ने कहा—तथा प्रकार के कुपात्र दो सहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले उन लोलुप ब्राह्मणों सहित नरकगामी होते हैं।[1] उस समय की सामाजिक स्थितियों में वैदिक संस्कृति का प्राधान्य था और ब्राह्मणों को श्रेष्ठ पात्र माना जाता था। श्रमण संस्कृति के उपासक आर्द्रकुमार ने तथा प्रकार के दान की जो समीक्षा की है वह दान-पुण्य की प्रचलित परंपरा को स्पष्ट चुनौती देने वाली है।

उत्तराध्ययन अध्ययन १४ में भृगु पुत्रों को जब उनके पिता ने वेदाध्ययन और विप्र भोजन का महत्त्व बताया तो प्रति बुद्ध पुत्रों ने उत्तर दिया। अधीत वेद त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराना मनुष्य को नरकप्राप्ति कराने वाला है।

सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध १ अध्ययन ११ में तथा प्रकार के सम्बन्ध में कहा गया है—जो दान की प्रशंसा करता है, वह प्राणियों का वध चाहता है।[3]

उपासकदशांग अध्ययन ७ में बतलाया गया है सकडाल पुत्र आजीवक धर्म का उपासक था। गोशालक को वह महामाहण मानता था। भगवान् श्री महावीर के पास तत्त्वचर्चा कर वह निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक हो गया। यह संवाद जब गोशालक को मिला वह सकडाल पुत्र के पास आया। सकडाल पुत्र ने उसे आदर-सत्कार नहीं दिया और न शय्या संस्तारक ग्रहण करने के लिए आवेदन किया। गोशालक ने उसे अपनी ओर प्रभावित करने के लिए भगवान् महावीर का गुण वर्णन किया तब सकडाल पुत्र ने उसे शय्या संस्तारक ग्रहण करने के लिए आवेदन किया। उस समय सकडाल पुत्र ने यह कहा—हे देवानुप्रिय! तुमने मेरे धर्माचार्य का यथार्थ गुणवर्णन किया। इसलिए मैं तुम्हें शय्या संस्तारक आदि के लिए निवेदन करता हूँ। न कि धर्म और तप के लिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् श्री महावीर का उपासक सकडाल पुत्र भगवान् महावीर और उनके अनुयायी साधुजनों को दान करने में ही धर्म और तप मानता रहा है और वही निर्ग्रन्थ धर्म का मन्तव्य रहा है।

ठाणांग सूत्र के नवम ठाण में ९ प्रकार के पुण्य बतलाए गए हैं। अन्नपुण्य पानीयपुण्य स्थान पुण्य शयनासन पुण्य वस्त्र पुण्य मन पुण्य वचन पुण्य काय पुण्य और नमस्कार पुण्य। पुण्य पदार्थ के इस निरूपण से ही यह स्पष्ट होता है कि जैन आगमों में सुपात्र दान को ही पुण्य बन्धन का कारण माना गया है। यहां एक भी ऐसे हेतु का उल्लेख नहीं किया गया है जो साधु जीवन से सम्बन्धित न हो। इस प्रकार जैन आगमों में अनेकानेक स्थल भरे हैं जो षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधु को ही दान करने में धर्म और पुण्य होने का संकेत करते हैं और इतर दान को प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण पाप-बन्धन का हेतु बतलाते हैं।

दया—

दया के सम्बन्ध में श्रीमज्जयभिक्षु गणी ने कहा है—

"छ काय हणे नहीं हणावे नहीं भलो न जाणें ताय।
मन वचन काया करी आ दया कही जिनराय ॥"[6]

१—सिणायगाणं तु दुवे सहस्से जे भोयए णितिए माहणाणं ।
ते पुण्णखंधं सुमहज्जिणित्ता भवंति देवा इति वेयवाओ ॥४४॥
(?) सिणायगाणं तु दुवे सहस्से जे भोयए णितिए कुलालयाणं ।
से गच्छति लोलुवसंपगाढे तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥
१—दयावरं धम्म दुगंछमाणा वहावहं धम्मपसंसमाणा ।
एगंपि जे भोययति असीलं णिवो णिसं जाति कुओ सुरेहिं ॥४५॥
२—वेया अहीया न भवंति ताणं भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं कोणाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥
३—जे य दाणं पसंसंति वहमिच्छंति पाणिणं ॥२०॥
४—जम्हा णं देवाणुप्पिया। तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि नो चेव णं धम्मोत्तिवा तवोत्तिवा।
५—णवविहे पुण्णे प० तं० अन्नपुण्णे पाणपुण्णे वत्थपुण्णे लेणपुण्णे सयणपुण्णे मणपुण्णे वइपुण्णे कायपुण्णे नमोक्कारपुण्णे।
६—अनुकम्पा चउपई ढा० ८दो० १

अर्थात् पृथ्वी कायिक आदि षट्कायिक जीवों का न तो हनन् करना न करवाना और न करते हुए का अनमोदन करना, यही आप्तोक्त दया है।

अतिरिक्त दया के विषय में उन्होंने कहा[1]—
'वांछे मरणो जीवणो तो धर्म तणो नहिं अंश।
ए अनुकम्पा किया थका बंधे कर्म नो वंश ॥१॥"
'मोह अनुकम्पा जे करे, तिण में राग ने धेष।
मोख धर्म इन्द्रियां तणो अन्तर उंडो देख ॥२॥

अर्थात् असंयत् जीवों का जीना या मरना चाहने में धर्म का जरा भी अंश नहीं है प्रत्युत पाप परम्परा की वृद्धि होती है। मोहात्मक अनुकम्पा राग और द्वेष से परिपूर्ण होती है उससे इन्द्रियों के भोग बढ़ते हैं। तेरापंथ की मान्यता को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं —हृदय परिवर्तन रूप जो आत्मशुद्धि पोषक दया है वह पारमार्थिक है क्योंकि उससे ज्ञानादि चतुष्क की वृद्धि होती है। इतर दया जिसमें साध्य और साधन शुद्ध नहीं है वह मात्र लौकिक है।

दया के विषय में भी आगमों का दृष्टिकोण सर्वथा निवर्तक रहा है। बौद्ध मान्यताओं में जहाँ माता-पिता की सेवा करो दुखियों के दुख दूर करो[2] आदि प्रवृत्ति प्रधान उपदेश मिलते हैं वहाँ जैन आगमों में माता-पिता का अविनय न करो, किसी प्राणी को कष्ट न दो आदि निवृत्ति प्रधान उपदेश ही मिलते हैं। विधायक दया के विषय में जहाँ असंयत जीवन आकांक्षा का सम्बन्ध है वहाँ बहुत ही स्पष्ट निषेध प्रधान आदेश मिलते हैं।

निशीथ सूत्र के १२ वें उद्देशक में कहा गया है—जो साधु त्रस (जंगम) प्राणियों को अनुकम्पा के निमित्त तृण पाश से काष्ठ पाश से चर्म पाश से बेंत पाश से रज्जु पाश से सूत्र पास से बाँधता है बंधवाता है और बाँधनेवाले का अनुमोदन करता है उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है।[4]

इसके अनन्तर ही कहा गया है—जो साधु उक्त प्रकार के पाशों से बंधे हुए प्राणियों को अनुकम्पा के निमित्त से खोलता है, खुलवाता है तथा खोलते हुए का अनुमोदन करता है उसे भी चातुर्मासिकप्रायश्चित्त आता है।[5] इस निवर्तक उक्ति को केवल यह कह कर कि यह तो साधु निमित्त से कही गई बात है टाला नहीं जा सकता। यदि जैन आगमों को वह प्रवृत्ति प्रधान अनुकम्पा मान्य होती तो वे अवश्य साधु को भी तथा प्रकार की अनुकम्पा के लिये स्पष्ट रूप से प्रेरित करते। तथोक्त दया अध्यात्म का अंग हो और मुनि उसे न कर सके यह किसी प्रकार बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। गृहस्थ ऐसी अनुकम्पा करे और साधु उसका अनुमोदक मात्र होने से चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी हो यह इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि गृहस्थो द्वारा तथा प्रकार की अनुकम्पा का किया जाना भी जैनागमों में अध्यात्म सम्मत नहीं माना गया है।

नावास्थित साधु के विषय में आचारांग श्रुतस्कन्ध२ अध्ययन ३ उद्देशक १ में कहा गया है—साधु या साध्वी छिद्र से नाव में आते हुए पानी को देखे और क्रमशः नावा को डूबती देखे तो गृहस्थ के समीप आकर ऐसा न कहे—हे आयुष्मान् गृहस्थ! तुम्हारी नावा में छिद्र से पानी आ रहा है और क्रमशः नावा डूब रही है ऐसा बताने के लिए तथा प्रकार से मन व वचन को भी प्रवर्तन न करे। अविमनस्क व अबहिर्लेश्य रहता हुआ एकान्त में जाकर, वह समाधिस्थ होकर शुभ अनुष्ठान में प्रवृत्त हो।[6]

१—अनुकम्पा चउपई ढा १ दो १ २
२—खण्डगिरि शिलालेख २४ ८
३—सप्तम स्तम्भ शिलालेख।
४—जे भिक्खू कोलुणपडियाए अण्णयरिं तस पाण जाइं तण-पासएणवा मुंजपासएणवा कट्ठपासएणवा चम्मपासएणवा वेत्तपासएणवा रज्जुपासएणवा सुत्तपासएणवा बंधति बंधतवा सातिज्जति ॥१॥
५—जे भिक्खू बंधेल्लयवा मुंचति मुंचतवा सातिज्जति ॥२॥
६—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावाए उत्तिगेण उदय आसवमाणं पेहाए उवरुवरि णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो पर उवसंकमित्तु एवं बूया" "आउसंतो गाहावइ एयंते णावाए उदयं उत्तिगेण आसवति उवरुवरिं णावा वा कज्जलावेति" एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा। अप्पुस्सुए अबहिल्लेस्सेगंतिगं एग अप्पाण विओसेज्ज समाहीए, तओ संजयामेव णावासंतारिमे उदए आहारियं रीएज्जा।

उपासकदशांग अध्ययन ३ में वर्णन है चूलणीपिया श्रावक ने पोषध शाला में पोषध किया। एक मिथ्यादृष्टिदेव ने उसे पोषध व्रत से डिगाना चाहा। देवमाया से उसने चूलणी पिया श्रावक को यह दिखलाया कि उसके पुत्रों में से एक एक को उसकी आँखों के सामने लाकर मार रहा है।[1] चूलणीपिया श्रावक डिगा नहीं। अन्त में उसने देखा कि मेरी माता को भी वह दुष्ट मार रहा है। माता की अनुकम्पा के लिए चूलणीपिया उठा और उस पुरुष को पकड़ने के लिये चला। देव चला गया और उसके हाथ में एक खम्भा आ गया जिसे पकड़-कर वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसका रोदन सुन कर उसकी माता आई और उसे कहने लगी। कोई ऐसा पुरुष नहीं है जिसने तुम्हारे पुत्रों को तुम्हारे सम्मुख मारा हो। यह सब किसी ने तुम्हारे लिये उपसर्ग रूप किया था। इसलिये अब तू भग्न व्रत भग्न नियम भग्नपोषधोपवास हो गया है। इसलिए हे पुत्र। तू अपने इस पाप स्थान की आलोचना कर। तब चूलणीपिया श्रावक ने माता के कथन को स्वीकार कर अपने पाप स्थानक की आलोचना की।[1]

निर्वर्तक दया का उत्कृष्ट उदाहरण नमि राजर्षि का है जो उत्तराध्ययन सूत्र के ९ वें अध्ययन में बतलाया गया है—नमि राजा ने रानियों को महलों को और मिथिला के समग्र राज वैभव को छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। इन्द्र परीक्षा के लिये आया। देव माया से उसने ऐसा दिखलाया कि समग्र मिथिला धायधायं कर जल रही है और उसने नमि राजर्षि से कहा—हे भगवन् ? इस अग्नि और वायु के द्वारा यह मन्दिर जल रहे हैं तथा आपका अन्तःपुर भी दग्ध हो रहा है, फिर आप क्यों इसकी ओर दृष्टि नहीं करते।[2]

नमि राजर्षि ने उस समय कहा—मैं सुख में रहता हूँ सुख में जीता हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है। मिथिला के जलने से मेरा अपना कुछ नहीं जलता। पुत्र कलत्र आदि छोड़ देने वाले निर्व्यापार भिक्षु के लिए कुछ भी प्रिय नहीं है और कुछ भी अप्रिय नहीं है।[3]

इस प्रकार अनेकानेक स्पष्ट असन्दिग्ध आधार आगमों में मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दया दान आदि विषयों पर श्रीमद्भिक्षुने जो निरूपण किया है वह नितान्त शास्त्र-सम्मत है।

कुछ एक विचारकों का अभिमत है कि तेरापन्थ निकेवल निर्वर्तक धर्म है। कुछ भी हो भगवान् श्री महावीर के युग में समग्र निर्ग्रन्थ धर्म (जैन धर्म) ही इससे कोई परे की बात रहा हो ऐसा आगमों से परिलक्षित नहीं होता। प्रज्ञाचक्षु प सुखलालजी का मत है—विधायक रूप में प्रेम तत्त्व पर महात्मा बुद्ध ने जोर दिया। इससे अहिंसा का विधायक मार्ग प्रवर्तक रूप निकला। भारत के बाहर अहिंसा के प्रवर्तक मार्ग का विकास ईसा के द्वारा हुआ। हमारे देश में इसका विकास कुछ और देर से हुआ। अशोक के राज्य-काल का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके व्यवहार में निवर्तक कार्यों के साथ साथ प्रवर्तक कार्यों पर बल दिया गया। हिंसा निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशाला बनवाना पानी पिलाना पेड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए। अशोक ने प्रचार किया हिंसा न करना तो ठीक है पर दया-धर्म करना भी उचित है। इसमें शक नहीं कि हमारे देश में दानशालाएँ पिंजरापोल आदि बड़ी संख्या में चले फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि हमारे

१— नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्त साओ गिहाओ नीणेइ नीणित्ता तव अग्गओ घाएइ, एसणं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एसणं तुमेविदरिसणे दिट्ठे। तंणं तुमं इयाणिं भग्ग-नियमे भग्गपोसहे, विहरसि। तंणं तुमं पुत्ता एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि ॥१४७॥ तएणं से चुलणि पिया समणोवासए अम्मगाए तहत्ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥१४८॥

२— एस अग्गी य वाऊ य एयं डज्झई मन्दिरं।
भयवं अन्तेउरं तेणं कीस णं नावपेक्खह ॥१२॥

३— सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण ॥१४॥
चत्त पुत्त कलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जई ॥१५॥

देश में प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म ही अधिक फैला।[1] निवर्तक धर्म श्रेष्ठ है या प्रवर्तक यह प्रस्तुत लेख का आलोच्य विषय नहीं है। प्रश्न तो यह भी रह जाता है कि तेरापन्थ की व तत्सम अन्य मान्यताओं को जो कि शुभ योग की प्रवृत्ति को निर्जरा का हेतु मानती हैं उन्हें क्यों निवर्तक धर्म के नाम से अभिहित किया जाये। हिंसा और अशुभ योग मूलक पाप कार्यों से बचने के अर्थ में तो सभी धर्म निवर्तकधर्म की कोटि में माने जा सकते हैं। प्रस्तुत निबन्ध का आलोच्य विषय तो यही है तेरापन्थ की मान्यताएँ आगमानुकूल हैं या नहीं ? शास्त्रीय उल्लेखों एतिहासिक दृष्टिकोणों से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की अहिंसा निवृत्ति प्रधान रही है न कि प्रवृत्ति। भगवान् श्री महावीर का यह उद्घोष वस्तु स्थिति की ओर भी स्पष्ट कर देता है—जो अरिहन्त भगवान् अतीत में हुए हैं वर्तमान हैं और भविष्य में होंगे वे सब यही कहते हैं "यावत् प्ररूपणा करते हैं—सर्वप्राण सर्वभूत सर्वजीव और सर्व सत्त्व की हिंसा मत करो उनपर अनुशासन मत करो उन्हें दास-दासी बनाकर अपने अधीन मत करो उन्हें परिताप न दो उन्हें कष्ट न दो उन्हें उपद्रव मत करो। यही धर्म ध्रुव नित्य और शाश्वत है ?"[2]

वर्तमानकाल में भी प्रवृत्ति मूलक उपकारों में कोई भी जैन-सम्प्रदाय संवर निर्जरात्मक धर्म होने की मान्यता नहीं रखता तात्पर्य यह हुआ प्रवृत्ति मूलक लोकोपकारी कार्य मोक्ष मार्ग नहीं है और बन्धन के हेतु रूप हैं यहां तक तेरापन्थ और इतर जैन-सम्प्रदाय एकमत हैं। अन्तर केवल यही है कि तेरापन्थ उन असंयम पोषक और हिंसामूलक प्रवृत्तियों को पाप बन्ध का निमित्त मानता है और इतर-सम्प्रदाय उन्हें लोकोपकारी होने से पुण्य बन्ध के निमित्त मानते हैं। सम्भावित वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रारम्भ में जैन-धर्म की यही मान्यता रही है जो आज तेरापन्थ की है। कालान्तर में बौद्ध हिन्दू आदि धर्मों से प्रभावित होकर या उसके सामने लोक प्रतिकूल मान्यताओं को बनाये रखने में समर्थ न होने के कारण जैन-धर्म ने इस पुण्य निमित्तक मान्यता को स्थान दिया। दूसरे धर्म भले ही उन प्रवृत्तियों को मोक्ष प्राप्ति का हेतु मानते हों पर जैन-सम्प्रदाय आज भी ऐसा मानने को प्रस्तुत नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जैन-सम्प्रदायों ने भव बन्धन का हेतु मानते हुए भी केवल पुण्य रूप में उन लौकिक प्रवृत्तियों को स्वीकार कर लोक-व्यवहार के साथ संगति बिठाने के लिए मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है।

मिथ्या दृष्टि क्रिया

तेरापन्थ की मान्यता है—मिथ्यादृष्टि के दान शील तप आदि अनवद्य अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति के ही हेतु हैं और निर्जरा धर्म के अन्तर्गत हैं। इतर जैन सम्प्रदाय मानते हैं कि मिथ्या दृष्टि के उक्त अनुष्ठान भव भ्रमण अर्थात् संसार वृद्धि के हेतु हैं और संवर निर्जरात्मक धर्म नहीं हैं। तेरापन्थ और इतर जैन-सम्प्रदायों में यह एक मौलिक मतभेद है। एक ओर तो दया दान आदि को लेकर तेरापन्थ को लोक भर्त्सना में लाने के लिए नितान्त असामाजिक और अमनोवैज्ञानिक प्रश्न गढ़ जाते हैं और जिज्ञासा की जाती है कि इन प्रवृत्तियों में पुण्य होता है या पाप ? पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन रूप हैं और भव भ्रमण के हेतु हैं। इसलिए ये प्रश्न अधिक महत्त्व के नहीं रह जाते हैं। स्थिति यह है कि मिथ्या दृष्टि की क्रिया को लेकर तेरापन्थ की मान्यता लोक विश्वास के अनुकूल हो जाती है और इतर जैन सम्प्रदायों की मान्यता लोक धारणा के सर्वथा प्रतिकूल। जितने प्रश्न तेरापन्थ के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं वे ही प्रश्न इस भाषा में अन्य सम्प्रदायों के सम्मुख रखे जा सकते हैं कि इतर धर्मों में विश्वास रखने वाले अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य आदि का आचरण करें और अनुकम्पा व दान में प्रवृत्त हों उनका वह आचरण धर्म है या अधर्म मोक्ष की ओर ले जाने वाला है या संसार की ओर ?

मिथ्या दृष्टि की मोक्ष आराधकता के विषय में निम्न प्रकरण आधारभूत है। भगवती शतक आठ उद्देशक १ में

१– अहिंसा के आचार और विचार का विकास प ७–८

२– से बमि—जेअईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सब्वे एवमाइक्खंति एव भासंति एव पन्नविंति एव परुविंति सब्वे पाणा सब्वे भूया सब्वे जीवा सब्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघितव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा।

भगवान् श्री महावीर गौतमस्वामी को सम्बोधन कर कहते हैं—गौतम ! मैं भी यह कहता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि चार प्रकार के पुरुष होते हैं जैसे एक पुरुष शील सम्पन्न (क्रियायुक्त) होता है और श्रुत-सम्पन्न (ज्ञानयुक्त) नहीं होता। एक पुरुष शील सम्पन्न नहीं होता और श्रुत सम्पन्न होता है। एक पुरुष श्रुत सम्पन्न भी होता है और शील-सम्पन्न भी और एक पुरुष न शील-सम्पन्न होता है और न श्रुत सम्पन्न। उनमें शील करके सहित और ज्ञान करके रहित जो पाप से निवृत्त होनेवाला व धर्म को नहीं जानने वाला प्रथम पुरुष है उसे मैं देश आराधक अर्थात् मोक्ष मार्ग का आंशिक आराधक कहता हूँ। उसमें शील करके रहित और ज्ञान करके सहित जो पाप से निवृत्त नहीं होने वाला व धर्म को जानने वाला दूसरा पुरुष है उसे मैं देश-विराधक कहता हूँ। उसमें शील करके सहित और ज्ञान करके सहित जो पाप से निवृत्त होने वाला व धर्म को जानने वाला तीसरा पुरुष है उसे मैं सर्व आराधक कहता हूँ। उसमें शील करके रहित और ज्ञान करके रहित जो पाप से निवृत्त नहीं होने वाला व धर्म को नहीं जानने वाला चौथा पुरुष है उसे मैं सर्व विराधक कहता हूँ।[१]

सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री अभयदेव सूरी उक्त प्रसंग की टीका करते हुए लिखते हैं —"देसाहएत्ति—स्तोकमंशं मोक्ष मार्गस्याराधयती त्यर्थः। सम्यग्बोधरहितत्वात् क्रिया परत्वात्—श्रुत शब्देन ज्ञान दर्शनयोर्गृहीतत्वात्।"

अर्थात् श्रुत शब्द से ज्ञान दर्शन का ग्रहण होता है। सम्यग् ज्ञान रहित होने के कारण और क्रिया करके सहित होने के कारण वह पुरुष देश आराधक अर्थात् मोक्ष मार्ग के स्वल्प अंश की आराधना करने वाला है।

ज्ञाता अध्ययन १ में बताया गया है—मेघकुमार ने अपने पिछले हाथी के भव में शशक की निर्वद्य अनुकम्पा की। मिथ्यात्व दशा में ही उसने अपना भव भ्रमण को परिमित किया और मनुष्य का आयुष्य बांधा। मिथ्या दृष्टि की सद् क्रिया मोक्ष हेतुक ही है इस विषय में यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। घटना इस प्रकार है—मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। भगवान् श्री महावीर के पास उसने दीक्षा ग्रहण की थी। प्रथम रात्रि में ही वह साधु परिषहों से कतरा कर अपने घर जाने के लिए समुद्यत हो गया। साधुचर्या को छोड़ देने के संकल्प से जब मेघकुमार भगवान् श्री महावीर के सम्मुख आया तो भगवान् ने बहुत सारा प्रेरणाप्रद उपदेश करते हुए कहा—हे मेघकुमार ? जब तू पशु योनि में था सम्यक्त्व का लाभ तुझे नहीं मिला था उस स्थिति में भी तुमने उस शशक की अनुकम्पा के लिए अपना पैर ऊँचा उठाए रखा अब तो तेरा कहना ही क्या ?[२] हे मेघकुमार तब तुमने उस प्राणानुकम्पा से संसार परिमित किया और मनुष्य का आयुष्य बाँधा।[३]

१—अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि जाव परूवेमि एव खलु मए चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता। तंजहा—सील सपण्णे णामएगे णो सुय संपण्णे सुयसपण्णे नामंएगे नो सील सपण्णे एगे सील सपण्णेवि सुय सपण्णे वि एगे नो सील संपण्णे नो सुय संपण्णे ॥

तत्थण जे से पढमें पुरिस जाए सेण पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविण्णाय धम्मे एसण गोयमा ! मए पुरिसेदेसाराहए पण्णत्ते ॥२॥

तत्थणं जे से दोच्चे पुरिस जाए सेणं पुरिसे असीलवं सुयवं अणुवरए विण्णाय धम्मे एसण। मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते ॥३॥

तत्थण जे से तच्चे पुरिस जाए सेण पुरिसे सीलवं सुयवं उवरए विण्णा य धम्मे एसण गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते ॥४॥

तत्थण जे से चउत्थे पुरिस जाए सेण पुरिसे असीलवं असुतवं अणुवरए अविण्णाय धम्मे एसणं गोयमा ! मए पुरिसे सव्व विराहए पण्णत्ते ॥५॥

२—तजइ ताव तुमे मेहा ? तिरिक्ख जोणिय भाव मुवागएणं अपडिलद्ध सम्मत्तरयण लम्भेण से पाणपाणाणुकंपयाए जाव अन्तरा चेव संधारिएणो चेवेव णिक्खित्ते किमंग पुण तुमे मेहा। इयाणि विपुल कुल समुब्भवेणं।

३—तएण तुम मेहा। ताए पाणाणुकंपयाए ४ संसारे परित्तीकए मणुस्साउए निबद्धे।

सुख विपाक अध्ययन प्रथम में बतलाया गया है—सुबाहु कुमार ने अपने पिछले सुमुख गाथापति के भव में सुदत्त नामक अनगार को शुद्ध दान दिया और परिमित संसार किया। शास्त्रकार कहते हैं —उस समय उस सुमुख गाथापति ने सुदत्त अनगार को द्रव्य शुद्ध और त्रिविध और त्रिकरण शुद्ध दान दिया और उसने संसार परिमित करके मनुष्य का आयुष्य बाँधा।

भगवती शतक ९ उद्देशक ३१ में असोच्चा केवली के संबंध में बताया गया है—बाल तपस्वी (मिथ्यादृष्टि तपस्वी) जिसने कि कभी वीतराग धर्म सुना ही नहीं है, वह भी अपनी तपस्या से व अन्य सद्गुणों से सम्यक् दृष्टि प्राप्त करता है यावत् केवली हो जाता है। जो जीव निरन्तर तपस्या करता हुआ सूर्य के सम्मुख अपनी भुजाओं को उठाकर आतापन भूमि में आतापना लेता है अथवा शांति और तीव्र मान माया लोभ की अल्पता मृदुता विनीतत्व इन्द्रिय-निग्रह इन गुणों से किसी समय शुभ अध्यवसाय शुभ परिणाम और शुभ लेश्याओं से विभिन्न ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और विभंग ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से ईहा अपोह मार्गणा और गवेषणा करते हुए साधु को विभंग नामक अज्ञान उत्पन्न होता है। उस विभंग अज्ञान से वह जीव जघन्य अंगुली के असंख्य भाग को और उत्कृष्ट असंख्य हजार योजन तक के पदार्थों को जानता है और देखता है। वह जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी जानता है। पाखंडी को आरंभ परिग्रह सहित जानता है क्लेश मान जानता है विशुद्ध मान जानता है। वह चारित्र प्राप्ति के पहले सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् श्रमण धर्म को पसंद करता है और तत्पश्चात् चारित्र प्राप्ति करके लिंग को ग्रहण करता है। सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध १ अध्ययन १ गाथा १९ तथा २ में बताया गया है—वे दर्शन ही अपने-अपने दर्शन में मुक्ति का कारण बताते हैं वे कहते हैं—चाहे गृह में निवास करते हों चाहे अरण्य में चाहे वे प्रव्रजित हों हमारे मत में आ जाने से उन्हें मोक्ष मिलता है। ऐसे लोग धर्म की संधि को नहीं जानते हुए भी दुःख से मुक्त होने को उद्यत होते हैं। परन्तु वे यति धर्म को नहीं जानने वाले असमंजस भागी संसार सिन्धु से पार नहीं हो सकते।

यहाँ स्पष्ट रूप से अपने ही मत में आ जाने से कल्याण मानने वाले मतों की भर्त्सना की गई है। आगमों में ऐसे अनेक सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध होते हैं जो मिथ्यात्वी की सत् प्रवृत्ति को मोक्ष मार्ग का निमित्तभूतसिद्ध करते हैं। यदि ऐसा न हो तो मिथ्या दृष्टि से सम्यक् दृष्टि के होने का रास्ता ही रुक जाता है। बिना किसी सत् प्रवृत्ति का शुभ परिणाम पाए सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र उपलब्ध ही कैसे हो सकते हैं?

तेरापन्थ के आचार्य श्री भिक्षु गणी ने विचार क्रान्ति के साथ आचार क्रान्ति भी की थी। उस आचार क्रांति का एक ठोस परिणाम तेरापन्थ सम्प्रदाय में उपाश्रयों व स्थानकों का न होना है। श्री भिक्षु गणी ने साधुओं के निमित्त से बनने वाले और साधुओं की प्रेरणा से बनाये जाने वाले उपाश्रयों व स्थानकों का कठोरता से निराकरण किया है। उनकी स्पष्ट धारणा थी—

१—तस्स णं भंते। छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवो कम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहस्स आयावण भूमीए आयावे माणस्स पगति भद्दयाए पगइ उवसंतयाए पगति पयणु कोह माण माया लोभयाए, मिउमद्दव संपन्नयाए अल्लीणयाए, भद्दयाए, विणीययाए, अन्नया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं २ तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोह मग्गणगवेसणं करेमाणस्स विभंगे नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ। सेणं तेणं विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जति भागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयण सहस्साइं जाणइ, पासइ सेणं तेणं विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं जीवेवि जाणइ अजीवेवि जाणइ पासंडत्थेसारम्भे सपरिग्गहे संकिलिस्समाणेवि जाणइ विसुज्झमाणे वि जाणइ सेणं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ सम्मं पडिवज्जित्ता समणधम्मं रोएति समणधम्मं रोएत्ता चरित्तं पडिवज्जति चरित्तपडिवज्जित्ता लिंगं पडिवज्जइ।

२—अगारं मावसंतावि अरण्णा वावि पव्वया
इमं दरिसण मावन्ना सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥१९॥
तेणावि संधि णच्चाणं णते धम्मविओ जणा
जे ते उ वाइणो एवं न ते ओहंतराहिया ॥२ ॥

तथा प्रकार के निर्माणों में आधा कर्म परिग्रह आदि बड़े दोषों का सेवन होता है। तेरापन्थ परम्परा में वे ही स्थान साधु साध्वियों द्वारा उपयोग में लाए जा सकते हैं जिनका निर्माण गृहस्थ अपने प्रयोजनों से करते हैं। भोजन और पानी की तरह साधु स्थान की भी याचना करते हैं और गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर सुपात्र दान की बुद्धि से उन्हें ठहरने के लिए निवेदन करते हैं। शास्त्रकारों ने भी उद्दिष्ट स्थानों के लिए अलग्रथा निषेध किया है।

निशीथ सूत्र के ५ वें उद्देशक में कहा गया है—जो साधु अपने निमित्त से बने हुए स्थान में प्रवेश करता है व प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है उसे मासिक प्रायश्चित्त आता है[1] —

इस प्रकार तेरापन्थ के प्रत्येक मन्तव्य के लिए दृढ़ आगमिक आधार है।

१—जे भिक्खू उद्देसियं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ।

आचार्य भिक्षु के साहित्य में रहस्यवाद

(लेखक—मुनि श्री पुष्पराज जी)

कला जीवन के लिए है न कि कला के लिए जीवन (Art is for life not life for art)। वास्तविक कलाकार वही है जो वस्तुओं की सत्यता का (वास्तविक स्थिति का) सुस्पष्ट वर्णन करता है। कविता भी एक कला है और कवि कलाकार। कवि वह है जो जन-जीवन की गूढ़ समस्याओं को बूझता है और उनका सही समाधान भी ढूंढ निकालता है। जब कवि की आत्म्यन्तरानुभूति कलात्मक रूप लेती हुई वाणी से निकलती है तब वह कविता का रूप धारण कर लेती है।

आधुनिक कविता साहित्य क्षेत्र में प्रमुख रूप से (प्रधानतः) रहस्यवाद छायावाद प्रतीकवाद, प्रगतिवाद आदर्शवाद और यथार्थवाद की प्रचुरता है। प्रस्तुत निबंध में तेरापंथ के आद्य संस्थापक "आ० भिक्षु के साहित्य में रहस्यवाद" पर कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि "छायावाद और रहस्यवाद" आलोचना क्षेत्र में हिन्दी आलोचकों के बीच एक पहेली-सा बना रहा और आज भी है। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री दीनानाथ शरण अपनी "हिन्दी में छाया-वाद" नामक पुस्तक में लिखते हैं— 'छायावाद और रहस्यवाद के संबंध में अगणित भ्रांतियाँ फैली हुई हैं।'[1] किसी ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्यायवाची समझा तो किसी ने छायावाद को रहस्यवाद से बिल्कुल अलग माना। कुछ लोगों ने तो "छायावाद का रहस्यवाद" की स्वतंत्र कल्पना की। हिन्दी के विद्वान आलोचक डा० रामकुमार वर्मा ने छाया-वाद को रहस्यवाद बतलाते हुए 'उसकी छाया में आत्मा का अनन्त से मिलाप देखा है। उनका विचार है कि "कबीर जलालुद्दीन रूमी और सेंटमोंनस्टाईन की कविताओं में यही छायावाद का रंग भूलता है।"[2]

आलोचना क्षितिज के उज्ज्वल नक्षत्र श्री रामचन्द्र शुक्ल भी इसी विचार को पुष्ट करते हैं। वे भी छायावाद को रहस्यवाद मानते हैं। उनके अनुसार रहस्यवाद के अर्थ में कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन मान कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम का अनेक प्रकार से चित्रण करता है।[3]

आधुनिक रहस्यवाद की प्रमुख लेखिका श्री महादेवी वर्मा भी अपनी 'यामा' की भूमिका में छायावाद और रहस्यवाद की एकत्र चर्चा करते हुए लिखती हैं कि — छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था। और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में प्रकृति पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई। अतः अब मनुष्य के अश्रु मेघ के जल कण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघुतृण और महान् वृक्ष निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत रेखा मानव की लघुता विशालता कोमलता कठोरता और मोह ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर है। जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक अस अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।

परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास बुझ न सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्म विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक वे सरस नहीं हो पाते जब तक मधुरिमा सीमाहीन नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसीसे इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व

१—हिन्दी काव्य में छायावाद—ले० श्री दीनानाथ शरण पृ० ५१

२—कविता (साहित्य समालोचना) डा० रामकुमार वर्मा।

३—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ६६६।

का आरोप कर उसके निकट आत्मनिवेदन करना इस काव्य— छायावाद का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय होने के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया।[1]

इस विषय में आज के प्रसिद्ध निष्पक्ष समालोचक डाक्टर नगेन्द्र का अत्यन्त सुस्पष्ट मत है। "पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। यहाँ तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।"[2]

छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में इस प्रकार असमंजित भ्रांतियाँ हैं जिसमें सबसे बड़ा विभ्रम यह है कि कुछ चिन्तकों ने छायावाद को प्रकृति काव्य और रहस्यवाद को एक अलक्ष्य परमात्मासत्ता की संकीर्ण सीमा में आबद्ध कर दिया। यह स्पष्ट है कि आज के प्रगतिशील विचारक इस चिन्तन को किसी प्रकार अगाम्भीर्ययुक्त एवं अनुपयुक्त घोषित किए बिना नहीं रह सकते। उनका चिन्तन अपने आप में स्पष्ट है कि क्या एक अलक्ष्य परमात्मसत्ता किंवा अध्यात्म विषय में विश्वास नहीं रखने वाला केवल रहस्यवादी साहित्य लिख ही नहीं सकता ? इस पर डा० नगेन्द्र का सुस्पष्ट उत्तर है उस पर (छायावादपर) रहस्यसाधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है भ्रांतियों का पोषण करना है। उसका (छायावादका) जन्म साधना से—यहाँ तक कि अखंड आध्यात्मिक विश्वास से भी नहीं हुआ। छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिन्तन का मृगचर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के मोम की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासकगण भी प्रकृति और पुरुष के रूपक में उलझ बिना उसका महत्त्व समझने में असमर्थ हैं।[3] "प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है क्योंकि स्पष्टतः छायावाद "प्रकृतिकाव्य" नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छायाचित्र उठे उनका चित्रण है।" सर्वात्मवाद को छायावाद का उद्गम स्रोत मानना संगत नहीं होगा। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ। पल्लव नीहार, परिमल आँसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है। आज के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सहज है। परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव नहीं है और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत महायुद्ध के बाद जिन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उन पर उस समय किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता।"[4] यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएँ हैं परन्तु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं। उनका आधार कहीं भावना कहीं दर्शन चिन्तन और आरम्भ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है।"[5]

प्रो० विश्वम्भरनाथ एम० ए० साहित्य रत्न ने तो यहां तक कह दिया है कि यह "परिभाषा साम्प्रदायिक है क्योंकि सृष्टि को ब्रह्म की अभिव्यक्ति सभी विचारक नहीं मानते।"[6]

इन आधुनिक हिन्दी जगत के प्रमुख विचारकों एवं आलोचकों का यह नवीन चिन्तन स्पष्ट प्रमाणित करता है कि— "छायावाद और रहस्यवाद को केवल छाया चित्र एवं उलझन भरे किसी एक परमात्मा विषय की संकीर्ण सीमा में आबद्ध करना उनके साथ उचित न्याय नहीं होगा।

१—यामा (भूमिका से) महादेवी वर्मा—हिन्दी काव्य में छाया वाद पृष्ठ —५१
२—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—से डा० नगेन्द्र पृष्ठ ११
३—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—पृ० १४
४— „ „ „ पृ ११
५—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ १२
६—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ १३
७—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद और उनके प्रवर्तक पृ ७७

छायावाद का अर्थ है—मानसिक संवेदना द्वारा प्रकृति के संस्पर्श से मन में जो छायाचित्र उठें उन्हें उनको प्रकृति की रूपकता के माध्यम से अभिव्यक्त करना।[1]

कवि जब जीवन-संघर्ष से विकल हो उठता है तब दुःख मुक्ति की आकांक्षा से प्रकृति के सुनहरे स्वप्नों में वह जो कुछ गुनगुनाता है वही अनुभूत्यात्मक छायाचित्र हमारे सामने छायावादी कविता का रूप लिये आते हैं।

प्रकृति की सहज प्रक्रिया में परम रहस्य को प्रगट करना रहस्यवाद है। सरल शब्दों में इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि —"ससीम का असीम की खोज में व्यग्र हो जाना ही रहस्यवाद है।

आचार्य भिक्षु आगमिक कोटि के विद्वान् थे। उनका कवित्व भी आगमिक मान्यताओं के विश्लेषण में मुख्यतः प्रवाहित हुआ है फिर भी उनके अनेक पद्यों में असाधारण कोटि का रहस्यवाद उभर आया है। उन्होंने अपने जीवन-काल में लगभग अड़तीस हजार पद्यों की रचना से राजस्थानी भाषा के साहित्य को समृद्धिशाली एवं गौरवान्वित किया है। उनकी कविता में सहज सौन्दर्य ओज और माधुर्य का अनुपम त्रिवेणी संगम है। वे केवल "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है"[2]— के सिद्धान्तानुसार भावाभिव्यञ्जना में ही कुशल नहीं थे। वरन् 'सत्याभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है" के अमर उपासक थे।

यही कारण है कि उनकी सहज साधारण रचनाओं में भी स्थान-स्थान पर रहस्यवाद असाधारण रूप से झलक रहा है।

कवि ने एक स्थल पर जगत में होनेवाली सहज प्रक्रिया के माध्यम से मानव मानस का कितना रहस्यमय चित्रण किया है।

"एक मेघ गाजे बरसणो एक गाजे पण बरसे नहीं कोय।
एक गाज नहीं पिण बरसे घणो इक गाजे बरसे जोय॥

यहाँ—ससीम जलधर की नैसर्गिक प्रवृति में असीम मानव मानस की उदार अनुदार भावना का प्रकटन हुआ है।

कल्पना जगत के उपवन में विहार करते करते कवि की दृष्टि सूखे आम्र तरु एवं पुष्पित पल्लवित धतूरे पर केन्द्रित हो जाती है। तत्काल कवि हृदय बोल उठता है—

"केइ रूख आम में होय आक धतूरा जोय। फल नहीं सारिखा ए, कर ज्यों पारिखा ए॥
आंबा सूं किसकाम सींचे धतूरो आम। भावाभव अति घणीए, अंब जेहवा गणी ए॥
पिण आक थयो कुमकाम धतूरो रह्यो अहिठाम। आपणें ओलें बरेंए भेखा नीर भरेंए॥

यहा कवि ने व्यक्तियों की असीम संयम वृत्ति और असंयम वृत्ति (श्रावक के व्रत और अव्रत) की छाया ससीम आम्र और धतूरे की स्वाभाविक प्रकृति में सन्निहित की है। बाह्य ससीम वातावरण का आरोपण असीम अन्तरात्मा में और उसकी अभिलाषाओं को मानसिक कल्पनाओं के साथ एकीभूत कर परिणाम का रहस्य फल रूप में अभिव्यंजित किया है।

इसी प्रकार कवि की कल्पना लहलहाते राजस्थान के बाजरे के खेत में विहार करती है। वहाँ मुक्ताफल जड़ित गजरों के सदृश धान्यकणों से परिपूरित बूटों (पौधों) में से प्रधानता रूप में उभरते हुए बूंटों का अवलोकन कर हृदयगत पूर्वतत्त्व प्रक्षेप करते हुए अत्यन्त सहज शब्दों में कह उठते हैं—

"बाजर खेत बावें तरे, बूट बूट में बूट।
ज्यूं भिक्ष पन्थें त्यारी बात में झूठ झूठ में झूठ॥"[3]

यहा सर्वज्ञ भिक्ष सिद्धान्त के खण्डन तत्त्व का आरोप एक देशीय बूटों के माध्यम से प्रतिपादित हुआ है।

ठीक इसी प्रकार कवि दीपक में पतंग के अपापात की प्रकृतिगत घटना से भी उपर्युक्त सिद्धान्तवादी की अन्ध प्रवृत्तियों को इन शब्दों में एकरस बना देते हैं।

१—"साकेत"—(राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त)
२—कला की परिभाषा—(वेस्टरल)
३—भिक्षु ग्रन्थरत्नाकर, खण्ड—१ रत्न—११ विरत इविरत री चौपई ढाल ५, दो ६,७ ८ पृष्ठ ५८९।
४—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड १ रत्न १२, अव्रती चौपई—ढाल १ गद्य ११ पृ ६५९।

"बकतो दीवो तिहाँ आय नेंरे, मरे पतंगीयो झंप रे।
ज्यूं मिथ्या धर्म में आपदा रे, पापी मारे फांफा में फांफ रे ॥"[1]

इस प्रकार आचार्य भिक्षु के साहित्य में सहज ससीम प्रकृति के छाया चित्रों द्वारा असीम आत्म-परमात्म धर्म-अधर्म आदि विभिन्न गहन तत्त्वों का रहस्यमय चित्रण सहज शब्दों में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

आचार्य भिक्षु की काव्य चेतना का धरातल विशुद्ध अध्यात्मवाद रहा है जिस पर दर्शन की गहरी छाप है। उनकी कविता प्रमुखतः सात्विक और दार्शनिक भाव वहन करती हुई भी रहस्यवादी बन जाती है। उसकी अभिव्यक्ति हमें "व्याहुलो" में अतिशय अध्यात्मवादी भावात्मक दृष्टिकोण से उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में विरलयणीयवाद सहज रूप में समुद्भूत हुआ है यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु कविने अध्यात्म काव्य क्षेत्र में उक्तवाद के प्रति उपेक्षा के भावों का परिष्कार कर उसे उन्नयन करने का प्रभावी शब्दों में सफल प्रयत्न किया है। वह इन स्वरों में स्पष्ट सुनाई देता है।

"बकता में ओपमा छती छते मलती होय।
इम जांणी में गुण ग्रहो झगड़ो म करो कोय ॥"[2]

उपमा अलंकार रूप में असत् में सत की कल्पना है और सत् में असत की। अतः हम चिन्तन की कुण्ठा से उत्पन्न दुराग्रह का परित्याग कर मूलभूत गुण आधार तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये। इसकी और अधिक सम्पुष्टि करते हुए कवि लिखते हैं —

'कब कूंपल बोली हँसी पान दीयो कब जाब।
वीर बखांणी ओपमा समझे लोक सताब ॥"[3]

यहाँ कोंपल के सहज खिलने का उन्मुक्त हास्य के साथ तादात्म्य एवं जीर्ण-पत्र के गिरने की ध्वनि का प्रति प्रश्न में आरोपण वीर वाणी द्वारा समर्पित किया गया है।

एक जगह कवि परमार्थ की खोज में अत्यन्त व्यग्र होकर लिखते हैं —

"साखी शब्द गहे घणा सीखी अकल उठाण।
परमारथ खोज लिके ते नर विरला जाण ॥

अपनी प्रस्फुरणशील मनीषा के बल पर अनेक कवित साखी शब्दों का चयन करते हैं। परन्तु उन प्रकृति के छाया चित्रों में परमार्थ परम रहस्यमय तत्त्वों को कोई विरला ही ढूंढ पाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षतः मूक भूत प्रकृति के संस्पर्श से समुद्भूत अनुभूति के प्रकृति स्पन्दनों में रहस्यमय चित्र उद्दीप्त हुए हैं— उनकी रहस्यमयी कविता पद्यावलि में एक विवाह वेला का परम अर्थमय उत्कृष्ट रहस्य चित्रण निम्न प्रकार है।

जब पाणी-ग्रहण के लिए दूल्हा उद्यत होता है तब बधाईदार को त्याग भेजना वधूपक्ष वालों से बधाईदार को रुपये देना फिर दूल्हे का आना तोरण पर तलवार का प्रहार करना वधू के भ्राता द्वारा वर पर लाल गुलाल का उछालना सास के द्वारा जामाता की नाक खींचकर दही का टीका चढ़ाना आदि सहज प्रचलित परम्पराओं में छिपे हुए गूढ़ अध्यात्म परक रहस्य का उद्घाटन कवि ने इन शब्दों में किया है —

"प्राणी चाल्यो परणवा जब आपूंच दीयो बधाय। तोरण तारा छोहड़ी जिम कर बांध्यो जाय ॥
थो तू बैठो खाड़लो करें बधाई काम। थो तुमन परणावस्या इम जिम मेले दाम ॥
दोड़ी जिपें में जब हुओ तुरत छटी के देत। सासा म्हांरे भूक सिर, चेत अबें ही चेत ॥

१—भिक्षुग्रन्थरत्नाकर—खंड—१ रत्न—३२, मझारी चौपई—ढाल—१ पद—१ १ पृष्ठ ११
२—भि ग्रंथ रत्नाकर—खंड १ रत्न—२८—व्याहुलो—पद—४ पृष्ठ ४११
३—भिक्षु ग्रंथरत्नाकर, खंड—१ रत्न—२८ व्याहुलो—पद—२, पृ ४११
४—   „ १ पृ ४११

नाक तोम यही चोडियो अब तो हुयो अभिराम।
मोय पकी मरके गयो मकटा अब तो काम ॥"[1]

बधाईदार को आगे भेजने के छल से दूल्हा यह सूचित करता है कि मैं इन तारों की छाया में अर्थात् सन्ध्या वेला की पावन वेला में (शादी प्रायः रात्रि को ही हुआ करती है) तोरण मारने का निन्द्य कार्य कैसे कर सकता हूँ। (तोरण पर मोर चिड़िया तोता मैना आदि की आकृतियाँ चित्रित रहती हैं उन पर तलवार द्वारा प्रहार किया जाता है) तब वधू पक्ष वाले यह स्पष्ट कहलवाने के लिये बधाईदार को रुपये (रिश्वत) देते हैं कि तुम शाह के सुपुत्र हो यह ठीक है। फिर भी यदि तुम्हें विवाह करना है तो यह कसाई कार्य (चिड़ियों के मारने का) करना ही पड़ेगा। इतना होने पर भी विषयान्ध दूल्हा तोरण पर छड़ी मार ही देता है। यह देख कर वधू का भाई उसके मस्तक पर धूंकाल डालने के मिस से धूल उछालता है। इधर सास आती है और नाक खींच कर दही लगा देती है मानो नाक काट कर दही के बहाने चूना लगाती हुई शिक्षा प्रदान करती है कि इन्हीं विषय भोगों में लिप्त होकर तुम्हें भीषण नारकीय यातनाएँ झेलनी पड़ी थी। ओ! निर्लज्ज! अब तो कुछ लज्जा का अनुभव करो।

यहाँ स्थूल प्रचलित रीति-रिवाजों में सूक्ष्म आत्म तत्त्व की भावना के आधार पर रहस्य की अभिव्यंजना हुई है।

साथ महाकवि ने सास को मुहदर्शन एवं आरती उतारने का आरोपण सर्वत्र व्याप्त विषाद निवारण व उत्कर्ष उपलब्धि में इस प्रकार किया है —

सासे धूमो म्हालियो सासू काम्यो नाक। साको सुसरो स्यू करे डर काम्यो तिण नाक ॥
रुपियाथेली रावली बस हो जावे तेह। तो स्यू छे आ आपकी नाचे वरसी मेह ॥
इम चिन्तव आपाकीया प्यासा रुपिया रोक। तुरत उतारे आरती इचरज पाम्या लोक ॥"[2]

चंचल मन को वश में करने का अमोघ मन्त्र है यह चिन्तन कर अपमानित दूल्हा चाँदी की मुद्राएँ निकालता है और लोभ देकर अपने लक्ष्य में सफल हो जाता है। उसी क्षण आरती उतरने लग जाती है। अप्रतिम उल्लासमय वातावरण एवं अप्रत्याशित परिवर्तन देखकर एकत्रित जन-समूह आश्चर्यचकित रह जाता है।

'जातापिक देखाव सू दुनिया हरषित थाय।

से प्रीति भोज का रहस्योद्घाटन किया है कि अपनी बेइज्जती पर पर्दा डालने के लिए मिष्टान्न भोजन की रिश्वत देकर जाति बन्धुओं को सुप्रसन्न किया जाता है।

कवि सूक्ष्म कल्पना से और रहस्य को ढूंढने से व्यक्त होता है और चौर चूहर (जुआरा) में गृहस्थ का एवं वृक्ष में दुःखें एवं पावक में वचन का आरोपण करती हुई उसकी कल्पना इस प्रकार अभिव्यक्त होती है —

घर में मठो चाक में नाख्यो माया काल। आगे मेरयो मूसरो अब तो मुरख सभाल ॥
वरल तणी परि नाचसी सबका परलो भार। आलस करसें व समीतो देसी वचन प्रहार ॥
छाडे छहरो बांधियो भाग न सकें जाम। छोडी नाखे ठाव को तो सेंठो हाथ सभाम ॥
बीच गठी वांकी बणी दागल कीयो तीवार। देखो काम विडम्बना जो लाजें नहीं सिणगार ॥
कोरण मेल्या आप स्यू मदी रै पकाण। काला हमारा लोक में पकड़े मेला ताण ॥

माया' के सम्मुख गाड़ी के जुए को रखने का तात्पर्य है बैल रूप से तुम्हें गृहस्थ गाड़ी में जुतकर समस्त गृह के उत्तर दायित्व का बोझ खींचना पड़ेगा। अगर कभी आलस्य वश विश्रान्ति के लिए समुद्यत हुआ तो वचन-चाबुकों का प्रहार होगा। जिम्मेदारियों से उद्विग्न होकर भाग न जाये इस पलायन की अप्रीति के कारण वर की चादर का छोर वधू की साड़ी के छोर से बांध दिया जाता है। इसी को विशेष दृढ़ करने के लिए वधू वर का कर पकड़ लेती है। इस प्रकार पाणिग्रहण (हथलेवे)

१—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खंड—१ रत्न —२८ ब्याहुलो पद—११ १२ १३ १४ पृष्ठ—४९९—५
२—भि ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड —१ रत्न—२८ ब्याहुलो-पद—१७-१८-१९ पृष्ठ ५
३—भि ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड १ रत्न—२८ ब्याहुलो—पद—२८ २ ३ ११ १२

का गूढ़ रहस्य प्रगट हुआ है। फिर भी पलायन का अविश्वास समाप्त नहीं होता अतः हाथों के बीच में मेंहदी लगाकर दागी (चिन्हित) बना दिया जाता है, ताकि यदि दौड़ कर कभी चला भी गया तो इस मेंहदी के दाग के लक्षण से सहस्रों मानव समूह में सुलभता से पकड़ा जा सकेगा।

आगे आचार्य भिक्षु ने ससीम चँवरी के चार कोण धागे के बन्धन तीन वेणु, नवकलश में असीम चार गति कर्मबन्धन कुगुरु कुदेव और कुधर्म तथा पाँच प्रकार के स्थावर एवं चार प्रकार के जंगम जीव सृष्टि का रहस्यमय प्रगटन इन शब्दों में किया है —

"चिहुँगति चँवरी चाग ज्यो बन्धन डोर छे कर्म।
पोपा तीनूं बाँसड़ा कुगुरु कुदेव कुधर्म॥
पाँच थावर च्यार त्रस ए नव चाटी जोय।"[1]

चँवरी के चार कोने चार गति के प्रतीक हैं। विवाह के समय में चतुष्कोण में नव मिट्टी के कलशों को तीन बाँसों के बीच रखकर ऊपर सूत के धागे से बांध दिया जाता है। इस दृश्य पर कवि अपनी कल्पना द्वारा रहस्य का मर्मोल्लेख करता है। धाग का बन्धन—कर्मों का विविध बंधन है। तीनों पोल्वेणु—कुगुरु—कुदेव और कुधर्म हैं। नव कलशे पाँच स्थावर और चार त्रस इन नव जातियों के सूचक हैं जिनमें जीवात्मा अनन्त काल से परिभ्रमण कर रही है।"

यह है आचार्य श्री भिक्षु की निर्मल लेखनी द्वारा प्रवाहित सहज समुद्भूत रहस्यवाद का संक्षिप्त नमूना और परम्परागत (रूढ़िगत) रीति-रिवाजों में परम आत्म तत्त्व का रहस्योद्घाटन। विवाह का प्रसंग जहाँ उत्कृष्ट शृंगार रस का उत्प्रेरक बन सकता है वहाँ उन्होंने चरम वैराग्य रस का साक्षात्कार किया उनका प्रत्येक पद रहस्यमय छाया चित्रों द्वारा उनकी आत्मानुभूत विरक्ति के रहस्य को स्पष्ट कर रहा है और जन-मानस में संयम की विमल धारा प्रवाहित कर शान्ति रस से आप्लावित कर रहा है।

१—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड —१ ढाल—२८, ब्याहुलो पद—११-१८ पृष्ठ ५ १।

तेरापथ की विचारधारा और वर्तमान लोकचिन्तन

(ले० मुनि श्री बुद्धमलजी)

तेरापथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भीखणजी ने तत्त्व चिंतन की गहराई में पैठकर अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन किया था। वे जैन धर्म की मूल मान्यताओं को विशद विवेचन के साथ जनता में रखना चाहते थे। अत निर्भयतापूर्वक अपने मंतव्य को प्रकट कर देने में उन्हें कभी किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं हुई। आत्मानुभूति से उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ उसे उन्होंने भगवान् की पवित्र वाणी समझ कर सबके सम्मुख रक्खा।

साधारण जन प्राय तत्त्व की गहराई को कम पकड़ता है और उसके बाह्य स्वरूप को अधिक। इसीलिए युग के प्राय प्रत्येक महापुरुष को समाज की ओर से पहले पहल निराशा अधिक मिलती है, सहानुभूति कम और सहयोग तो उससे भी कम। परन्तु इस स्थिति से आज तक कोई भी क्रान्त द्रष्टा महर्षि न तो घबराया है और न पराजित ही हुआ है। स्वामी भीखणजी के मार्ग में भी अनेक विरोध और बाधाएं आईं परन्तु उन्होंने उन सब को गौण करके अपने सत् लक्ष्य पर ही ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने अपने तत्त्व चिंतन के फलित को सर्व जन हिताय जनता में प्रसारित किया। यद्यपि उनके सभी विचार अपनी पृथक मौलिकता और गहराई लिये हुये थे फिर भी दान और दया इन दोनों विषयों पर उन्होंने जो कुछ कहा—वह इतना क्रांतिकारी था कि तत्कालीन जनता उसे आत्मसात करने में आशंकित हो उठी। उन विचारों के कारण स्वामीजी को दान और दया का विरोधी तथा धर्मद्रोही तक कहा गया। धीरे-धीरे युग ने करवट ली सामाजिक परिस्थितियां पलटीं लोक चिन्तन में विशेष जागरूकता तथा गम्भीरता आई। आज दो सौ वर्षों के पश्चात् हम पाते हैं कि इस युग के लोकचिन्तन में उन विचारों का समर्थन हो रहा है। स्वामीजी के वे विचार आध्यात्मिकता की भूमिका पर अवस्थित थे जब कि आज का लोक चिन्तन मुख्यत सामाजिक और राजनीतिक आधार पर अवस्थित है। समाज और राजनीति अध्यात्म के विचार-क्षेत्र से सर्वथा बाहर के विषय नहीं हैं अत वे अनेक स्थानों पर अध्यात्म से अविरोधी भी पाये जाते हैं। भूमिका का यह भेद तो साध्य-भेद होने के कारण है किन्तु तथ्यान्वेषण में वे सब प्राय एक ही स्थान पर पहुँचें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यद्यपि किन्हीं भी दो विचारकों में शत प्रतिशत विचार-ऐक्य होना प्राय असम्भव ही होता है फिर भी स्वामी जी के विचारों से वर्तमानयुगीन विचारकों के विचार काफी अंशों तक मेल रखते हैं। आज यह निःसकोच कहा जा सकता है कि वर्तमान चिन्तन की धारा स्वामीजी तथा उनके धर्म सघ तेरापथ की विचारधारा के अनुकूल दिशा की ओर प्रवहमान है। हम यहां स्वामीजी के उन मौलिक मन्तव्यों को वर्तमान विचार-धारा की दृष्टि से क्रमश देखना चाहेंगे।

दान

सभावित प्रारम्भ—मनुष्यों में जब तक सग्रह करने की भावना जागृत नहीं हुई थी तब तक दान करने की भी प्रवृत्ति नहीं थी। वन में निर्द्वन्द्व भाव से रहने वाले मनुष्य को सग्रह की आवश्यकता ही नहीं थी। धीरे-धीरे जब वह ग्राम-सस्कृति में आया परिवार बनाकर दूसरे अनेक परिवारों के साथ रहने लगा, वन के फल-फूलों की अनिश्चित प्राप्ति की परवशता से हट कर अपनी खुराक पर अपना नियन्त्रण रखने के लिए कृषि कर्म पर जीने लगा सम्भवत तभी से उसमें सग्रहवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई। उसने उस अतिरिक्त धान्य को किसी विपत्ति के समय में काम में लेने के लिए सुरक्षित रखना प्रारम्भ किया।

व्यष्टि जीवन से समष्टि जीवन की ओर मनुष्य का यह प्रथम पदन्यास था। उस समय प्रत्येक मनुष्य स्वस्थ और परिश्रमी था। न कोई याचक था और न दानी। कालान्तर में सयोग वशात् उस समाज में कुछ व्यक्ति निबल और अपग हुए। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वय नहीं कर सकते थे। तब पहले पहल सारे समाज के सामने यह स्थिति एक समस्या बन कर आई। तत्कालीन व्यवस्थापकों ने उनके जीवन-यापन की व्यवस्था के लिए जो उपाय या समाधान सोचा वह यह था कि समाज के अन्य व्यक्ति अपने-अपने सग्रह में से यथाक्षमता कुछ उन व्यक्तियों को दान करें।

इस 'दान' के सूत्र ने अपगों और निर्बलों की समस्या को एक बार के लिए तो समाहित कर दिया क्योंकि वे से व्यक्ति विरले ही थे। किन्तु धीरे-धीरे जब मनुष्य की इच्छाएँ बढ़ी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के भाव जागे तब उस व्यवस्था में शक्ति और अवसर का सन्तुलन बना नहीं रह सका। कुछ व्यक्ति अपने चातुर्य से शक्ति और अवसरों पर अधिकार जमा बैठे तथा कुछ उस कार्य में पिछड़ गये। फलस्वरूप कुछ व्यक्ति स्वामी बने और कुछ सेवक। कुछ धनी बने और कुछ निर्धन निर्धनों की स्थिति जब इतनी गिर गई कि वे अपनी उदर पूर्ति में भी असमर्थ हो गए तब उन्हें भी अपंग व्यक्तियों के समान ही धनिकों के सामने याचना के लिये हाथ फैलाना पड़ा। परिस्थितिवश जब ऐसे व्यक्तियों की संख्या भाग से आगे बढ़ती ही गई तब देने वालों के हाथ भी रुकने लगे। तब फिर एक बार समाज के सामने यह स्थिति एक विकट समस्या बनकर उपस्थित हुई। व्यवस्थापकों ने तब उस समस्या को धर्म के साथ जोड़ा और पारलौकिक लाभ का प्रलोभन बताकर धनिकों को इस ओर उन्मुख किया। धनी व्यक्ति अपने धन के बल पर लौकिक सिद्धियाँ तो पाता ही था अब पारलौकिक सिद्धियाँ भी दान के माध्यम से उसी के नियंत्रण में हो गई। गरीब न लौकिक अभिसिद्धियों का अधिकारी बन सका और न पारलौकिक का। उसका कर्तव्य तो केवल धनिकों के द्वारा प्रदत्त दान को ग्रहण कर, उन्हें पुण्यार्जन का अवसर देते रहने का रह गया।

दान या अधिकार

एक ओर जब पुण्यार्जन के लिए दान की होड़ लगी तब यह आवश्यक था कि दूसरी ओर लेने वालों का स्रोत भी निरंतर चालू रहे वह कभी सूखने न पाये क्योंकि उसके अभाव में पुण्यार्जन और पारलौकिक ऐश्वर्य को रिजर्व (सुरक्षित) करने का माध्यम समाप्त हो जाता। इस प्रकार एक ऐसा ही दल तैयार हो गया जो कि दूसरों को पुण्यार्जन का अवसर देकर अपनी जीविका चलाने लगा। एक वर्ग अपने परलोक की समस्या हल होने से संतुष्ट था तो दूसरा अपनी जीविका की समस्या हल होने से। इस परस्परोपग्रह से यह परम्परा बहुत लम्बे समय तक चलती रही।

शताब्दियों बाद मानव जाति में एक नई चेतना जागृत हुई। सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण से पुनर्निरीक्षण किया गया। फलस्वरूप शोषक और शोषित का भेद उत्पन्न करने वाली सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के विरुद्ध आवाज उठने लगी। वे स्थितियाँ एक वर्ग को शोषण का अधिकार प्रदान करती और दूसरे वर्ग को उसी की कृपा पर जीने की स्थिति को मान्यता। इस वैचारिक उथल-पुथल से जो परिष्कृत विचार सामने आये उनका निष्कर्ष यह था कि—समाज के किसी भी व्यक्ति को शोषण करने का तथा शोषण से प्राप्त सम्पत्ति में से अल्पांश का दान कर शोषण के क्रम को सदैव चालू रखने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। दान के चालू रहने का अर्थ है—शोषण चालू रहे अमीरी और गरीबी चालू रहे। अमीरी की इमारत इसी शर्त पर खड़ी रह सकती है कि उसके लिए बहुत से गरीबों के श्रम को खरीदने का अवसर सदैव बना रहे। जहाँ यह अवसर समाप्त कर दिया जाता है वहाँ अमीरी की नींव ढह जाती है फलतः गरीबी स्वयं मिट जाती है। जिन्हें यह अभीष्ट नहीं है वे इस विषय के उपादान को अजर अमर बनाकर रखना चाहते हैं। किन्तु उनके इस प्रयास से शोषण के विरुद्ध उभरने वाली भावनाओं की आग शान्त हो जायेगी ऐसी संभावना कम ही है।

शोषण तभी मिट सकता है जब कि असंग्रह की भावना हो। संग्रह के साथ शोषण का अविनाभाव संबंध है। जो व्यक्ति शोषण करता है और उसमें से कुछ दान देकर यह समझता है कि वह शोषण के पाप से मुक्त हो गया है वह वस्तुतः बहुत बड़े भ्रम में है। जो व्यक्ति उस प्रकार के दान को बढ़ावा देते हैं वे एक प्रकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शोषण को ही बढ़ावा देते हैं। आज की जागृत चेतना शोषण को बनाये रखने के इस अप्रत्यक्ष प्रलोभन के भुलावे में आना नहीं चाहती। दाता के अहंभाव और याचक के हीन भाव को परिपुष्ट करने वाला यह दान उसे नहीं चाहिये। वह तो समविभाग के आधार पर उस पर अपना अधिकार मानती है।

एक व्यापार

आज कल की दान प्रथा अपने आप में एक व्यापार जैसी प्रवृत्ति बन गई है। जिस प्रकार व्यापार में अपने साधारण माल से भी अधिक से अधिक लाभ कमाने की भावना रहती है वैसे ही प्रायः देखा जाता है कि दान के क्षेत्र में भी अल्प से अल्प और निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु देकर उसके बदले में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट फल की आकांक्षा की जाती है। एक विवेक

और तीन मुट्ठी नाज ब्राह्मण को देने वाला व्यक्ति अगले जन्म में कामधेनु के स्वामित्व का पुण्यार्जन चाहता है। रेजगारी में भाये हुए खोटे सिक्के भी वह किसी गरीब की हथेली पर रखकर उससे खरी कृतज्ञता खरीदने की कोशिश करता है या फिर उन सिक्कों को भगवान् के चरणों में चढ़ाकर अक्षय पुण्य की कामना करता है। इसके अतिरिक्त दाता अपनी धन की राशि से यथा सम्भव अधिक नाम और यश भी खरीदना चाहता है। किसी भी संस्था आदि में दान देनेसे पहले वह यह सौदा तय कर लेता है कि उसका नाम शिलालेख में कहाँ दिया जायेगा। यह सब व्यापार नहीं तो और क्या है ?

एक बार आचार्यजी से एक व्यक्ति ने कहा—"आप जानते हैं कि पचास हजार का दान देकर मैंने एक धर्मशाला बनवायी पर वर्तमान दुनिया ने अब मुझे ही उसकी प्रबन्ध समिति से हटा दिया। धर्मशाला नहीं थी तो कोई नहीं था पर अब पचास अधिकार जताने वाले आ गये। आचार्य जी ने गम्भीर होते हुए कहा—"तुम्हें शायद 'दान' का अर्थ न समझनसे हुई। वस्तुतः किसी चीज को देकर कुछ प्राप्त करने की इच्छा दान नहीं व्यापार है। जब तुमने व्यापार किया तो लाभ-हानि की संभावना तो रहेगी ही ? इस घटना तथा इस उत्तर के प्रकाश में यदि आज के दानवीर अपने आप को टटोलेंगे तो शायद यही पायेंगे कि वे दान के नाम पर बड़ल्ले से एक नये प्रकार का व्यापार चला रहे हैं।

केवल दाता ही व्यापारी नहीं हो गया है, किन्तु आदाता (गृहीता) भी उसी वृत्ति से चलने लगा है। संस्था विशेष के लिए चन्दा करने वाले व्यक्ति दाता के सामने चाटुकारिता से काम लेते हैं। नाम और यश की तृप्ति का प्रलोभन देते हैं, सिफारिश और दबाव का भी उपयोग करते हैं। प्रतिद्वन्द्विता की भावना को उत्तेजना देते हैं। धर्म और पुण्यार्जन का अभूतपूर्व अवसर तो वे उसके सामने उपस्थित करते ही हैं। इसके अतिरिक्त जो भीख मांगने वाले हैं वे दाता के मन में करुणा का भाव जगाने का प्रयास करते हैं। अनेक बार तो वे छद्म भाव से कोढ़ी तथा अपंग बन जाते हैं। कई व्यक्ति कोई दुखान्त घटना गढ़कर उसे कारुणिक ढंग से सुना सुनाकर सहायता मांगते हैं। ऐसी घटनायें अनेक व्यक्तियों के साथ घटती ही रहती हैं, पर मैं यहाँ स्वयं मेरा ही एक अनुभव बताऊँगा जो इस प्रकार है—

दिल्ली में एक बार जब कि मैं नया बाजार में ठहरा हुआ था व्याख्यान समाप्ति के बाद एक बहन आई और कहने लगी कि वह अपनी सास के साथ गाँव से आई थी पर यहां अचानक ही सास की मृत्यु हो गई। उसके पास न तो कफन के लिए पैसा है और न वापस अपने ग्राम पहुँचने के लिए ही। आखिर विवशता से उसे फिर किसी के सामने हाथ फैलाना पड़ रहा है। अपनी बात को वह रो रो कर ऐसे कारुणिक ढंग से कह रही थी कि उपस्थित व्यक्तियों में से शायद ही कोई प्रभावित हुए बिना रहा हो। उन्होंने उस बहन को आवश्यकतानुसार कुछ द्रव्य दिया और वह वहाँ से चली गई। संयोग से अगले वर्ष भी मैं वहीं ठहरा हुआ था। वह फिर आई और उसी घटनावलि को उसी कारुणिक ढंग से दुहराती हुई सहायता प्राप्त करके चली गई। मैंने उसे पहचान अवश्य लिया था पर कुछ कहा नहीं। उसके पश्चात् मैं राजस्थान में आ गया और करीब दो वर्ष तक यहां रहकर फिर दिल्ली गया। उस वर्ष भी वह आई और उसी घटना के आधार पर सहायता प्राप्त की। इस बार जब वह जाने लगी तो मैंने उससे पूछ लिया—क्यों बहन ! जो तुम्हारे कितनी सास हैं ? कम से कम तीन बार तो तुम्हें उसके कफन के लिए यहाँ से सहायता मांगते मैंने देख लिया है। वह एक दम सकपका गई और कुछ लड़खड़ाती सी आवाज में अपने प्रथम बार ही आगमन की सूचना देती हुई वह तत्काल वहाँ से चली गई। उसके बाद मैंने उसे दिल्ली में तो कई बार देखा है, पर नया बाजार के उस मकान में आते फिर कभी नहीं देखा। शायद अब भी उसकी सास उसी प्रकार मरती होगी और कफन के लिए उसे नये-नये व्यक्तियों के पास से बन्दोबस्त करना ही पड़ता होगा।

कुछ व्यक्ति इस व्यापार को चलाने में छोटे बालकों से काम लेते हैं। इसलिये यहाँ बालकों को उड़ाने वाले अनेक गिरोह बन गए हैं। उनमें से कई पकड़े भी गये हैं। उनसे पता लगा है कि वे लोग पहले बालकों को उड़ाकर लाते हैं। और फिर उन्हें भीख मांगने की कला सिखाते हैं। वे दिन भर में जो कुछ इकट्ठा करते हैं वह सब लेकर वे उन्हें सामान्य भोजन और कपड़ा देते रहते हैं। बीच-बीच में वे उन्हें मारने तक की धमकी भी देते रहते हैं ताकि वे अधिक पैसा लाते रहें और किसी के सामने उनका भेद खोल कर न दे सकें। दिल्ली में एक बार मुनि श्री नगराज जी के सामने एक भाई १०–१२ वर्ष के एक ऐसे ही बालक को लेकर आया था। उसने अपनी घटना सुनाते हुये बताया था—"पटियाला में बंगलौर के पास रहने वाले मिल मजदूर का बालक हूँ। एक गरीब वस्त्रधारी साधु ने मुझे मिठाई खिलाने सिनेमा दिखाने और फिर वापिस

"सच्चा धर्म प्रधान धर्म दान नहीं किन्तु त्याग है। समाज द्रोह करके धन इकट्ठा करना और उसमें से थोड़ा सा विरद्रपसों को देकर अपने को पुनीत मानना यह अपने को और समाज को धोखा देना है।

भगवानदास केला लिखते हैं—

"कुछ आदमी सोचते हैं कि हमें अपने काम से इतनी आय होनी चाहिये कि हम दान-धर्म तीर्थ यात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय समय पर ब्राह्मण-भोजन व जाति-भोज कराके उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नहीं। अनुचित धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है जैसा कि कीचड़ में पाव रख पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्त्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करने वालों को दान-पुण्य आदि की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिये।"[1]

दादा धर्माधिकारी लिखते हैं—

'कोई यह न समझे कि हम सभी भले बुरे उपायों से धन कमाते जायेंगे और विनोबा के सम्पत्ति दान यज्ञ में अपनी हैसियत के मुताबिक दान देकर इहलोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति भी प्राप्त कर लेंगे। पुराने सम्पत्ति दान में मन्दिर बनवाना, घाट बनवाना, धर्मशालाएं बनवाना, अस्पताल और स्कूल खोल देना इत्यादि कई तरह के लोक कल्याणकारी कामों का समावेश होता था। विनोबा का सम्पत्ति दान यज्ञ केवल लोक-कल्याणकारी आंदोलन नहीं है, वह लोक-जीवन में क्रांति करना चाहता है। इसीलिये जिस दिन वह सफल होगा उस दिन न संग्रह के लिये अवसर होगा और न उस प्रकार के दान के लिए अवकाश ही होगा।'[2]

प्राध्यापक आर. आर. कुमरिया अपनी पुस्तक 'साइकोलोजिकल फाउंडेशन आफ दी स्टेट' में समाज सेवा और दान शीर्षक से लिखते हैं—"दान कष्टों का नाश नहीं करता, वह दुःखी को क्षणिक संतोष देता है। जनतांत्रिक समाज के निर्माण में हमें सामूहिक प्रयत्नों द्वारा कष्टों का समूल नष्ट करना है। क्योंकि यहाँ सबका सुख अभीष्ट है इसीलिये सबका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सब लोगों ने सुख निर्माण में सब लोगों ने भाग लिया अतः कोई किसी का अहसानमन्द नहीं है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है।

एतद् नवीन युग विचारकों के उपर्युक्त मन्तव्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चालू दान प्रथा समाज की सुव्यवस्था के लिए साधक नहीं किन्तु बाधक ही बन रही है। आज का कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र यह नहीं चाहेगा कि देश के लाखों व्यक्तियों की आजीविका कुछ लोगों की दानवीरता के आधार पर चलती रहे। उस समाज व्यवस्था में अवश्य ही कोई न कोई कमी है जिसमें कि कुछ व्यक्तियों को दानजीवी तथा कुछ को दानवीर बनने का अवसर मिलता है। ऐसी स्थिति में दान और दीनता का इतरेतराश्रयी सम्बन्ध तब तक चलता रहता है जब तक कि उस व्यवस्था को ही न बदल दिया जाये। आज के विचारक जगत का स्वर इसमें संकेत ही नहीं किन्तु स्पष्ट घोषणा करता हुआ सुनाई देने लगा है।

तेरापंथ और दान

दान के विषय में तेरापंथ के अपने विशिष्ट विचार हैं। वह एक धार्मिक संगठन है अतः उसके चिन्तन का माध्यम आध्यात्मिकता को लिये हुए होना अनिवार्य है। प्रत्येक क्रिया को वह आध्यात्मिकता की कसौटी पर कसता है, उस पर खरी उतरनेवाली क्रिया ही उसके लिये आदेय की कोटि में आ सकती है। सामाजिकता की कसौटी उससे भिन्न होती है। यह आवश्यक नहीं है कि आध्यात्मिक कसौटी पर ठीक उतरनेवाली क्रिया सामाजिक कसौटी पर तथा सामाजिक कसौटी पर ठीक उतरने वाली क्रिया आध्यात्मिक कसौटी पर एक ही समान उतरे। यदि ऐसा होता तो इन कसौटियों का कोई विभिन्न अस्तित्व नहीं रह जाता। ऐसा तो हो सकता है कि किसी बिन्दु विशेष पर कभी दोनों का मार्ग मिल जावे और कभी बहुत दूर हो जाय। सामाजिक दृष्टिकोण हर दान का मूल्य प्रमुख रूप से समाज की भौतिक उन्नति तथा सुख-सुविधा से आंकता है जब कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण आत्मोन्नति से तथा साध्य-साधन के ऐक्य की भाषा में कहें तो संयम की उन्नति से आंकता है। आध्यात्मिकता के मार्ग का चरम लक्ष्य होता है—पूर्णरूपेण आत्म-विकास। आत्मविकास का साधन होता

१—सर्वोदय दैनिक जीवन पृष्ठ ४

२—सामयिक शान्ति पृष्ठ ५९

है संयम। इसलिए जो दान संयम का सम्मान करता है, वही आध्यात्मिक पक्ष में वस्तु मुक्तादान कहा जाता है। इस के अतिरिक्त दान का महत्त्व लौकिक या सामाजिक पक्ष में हो सकता है किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में नहीं। इसी तत्त्व चिन्तन के आधार पर तेरापंथ की मान्यता है कि दान के लिए उपयुक्त पात्र केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो पूर्णतः अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के व्रतों की साधना करता है। ऐसा व्यक्ति समाज से लेता कम है देता अधिक है। आचार्य विनोबा के शब्दों में यों कहा जा सकता है—"दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासी को जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रंगा हुआ है—ऐसे संन्यासियों को ही यह अधिकार है क्योंकि ऊपर से देखने से यह भले ही मालूम पड़ता है कि यह कुछ नहीं करता पर अनेक दूसरी बातों से वह समाज की सेवा करता है।"[1] साधु के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति चाहे वह अपंग हो या अनाथ दीन हो या दुःखी समाज का एक अंग होने के नाते दान का पात्र न होकर संविभाग का पात्र है। उसमें आध्यात्मिकता की कसौटी नहीं विशुद्ध सामाजिकता की कसौटी ही उपयुक्त हो सकती है।

यद्यपि यहाँ के सामाजिक क्षेत्र में संविभाग का विचार उदित हो चुका है फिर भी अभी तक वह कार्य क्षेत्र में आरूढ़ नहीं हो पाया है। लोग अब भी सामाजिक समस्याओं का हल दान में खोजते हैं। तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक स्वामी भीखणजी ने इन विचारों को ध्यान में रख कर ही दान के दो भेद कर दिये। एक आध्यात्मिक धार्मिक या लोकोत्तर दान जो कि सत्पात्र को दिया जाता है और दूसरा सांसारिक व्यावहारिक या लौकिक दान जो कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिया जाता है। दोनों ही प्रकार के दानों का अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्व हो सकता है पर जहां धर्म की भावना का प्रश्न है वह तो केवल पात्र दान से ही सबद्ध है।

दान के क्षेत्र में यह भेद केवल तेरापंथ ने ही नहीं किये हैं, किन्तु प्रायः प्रत्येक धर्म में शब्दान्तर से ऐसे ही भेद प्रतिपादित किये गये हैं। गीताकार ने दान के तीन भेद किये हैं[2]—सात्त्विक राजस और तामस। इनमें से देश काल और पात्र के विवेक-पूर्वक दिया जाने वाला दान सात्त्विक प्रत्युपकार और फलाकांक्षा से दिया जाने वाला राजस तथा देश और काल का विचार किये बिना अपात्र को दिया जाने वाला दान तामस होता है। तीनों प्रकार के दानों में से विशुद्ध धर्म का हेतु तो केवल सात्त्विक दान ही हो सकता है।

महात्मा बुद्ध ने दान के भेद यों प्रतिपादित किये हैं—

"भिक्षुओ! ये दो दान हैं।

'कौन से दो?

"भौतिक दान तथा धर्म दान'

"भिक्षुओ! ये दो दान हैं। इन दोनों में धर्मदान श्रेष्ठ है।"[3]

१—विनोबा के विचार पृष्ठ १२

२—दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गीता १७।२ २१,२२)

३—अंगुत्तर निकाय प्रथम भाग पृष्ठ ९४ ९५

भगवान् महावीर ने कहा है—

"सत्पात्र को विशुद्ध दान देने वाले तथा सत्पात्रता का जीवन जीने वाले व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। जो ऐसे होते हैं वे सद्गति प्राप्त करते हैं।"[1]

उन्होंने दान के क्षेत्र में पात्र तथा अपात्र के फल का भेद दिखलाते हुए कहा है—

"जो संयम तथा अनासक्ति का जीवन जीता है उसे यदि प्रासुक भोजन पानी आदि का दान दिया जाए तो वह एकान्ततः मुक्ति का ही कारण बनता है बन्धन का नहीं।"[2]

"जो असंयम तथा आसक्ति का जीवन जीता है उसे शुद्ध या अशुद्ध चाहे जिस प्रकार का भी भोजन पानी आदि का दान क्यों न दिया जावे पर वह एकान्ततः पापकर्म के बन्धन का ही हेतु बनता है मुक्ति का नहीं।"[3]

उक्त प्रकार के ये भेद धर्मग्रन्थों में शास्त्रकारों ने तो किये ही हैं किन्तु यहाँ के विभिन्न आचार्यों ने भी दान के विषय में पात्रापात्र का विवेक आवश्यक माना है।

आचार्य अमित गति ने कहा है कि— "जो असंयतात्मा को दान देकर पुण्य फल की कामना करता है वह तो जलती हुई—आग में बीज डालकर धान पैदा करना चाहता है।"[4]

इसी प्रकार आचार्य सोमदेव सूरि के मतानुसार अपात्र को दान देना राख में आहुति देने के समान व्यर्थ है।[5] उन्होंने दान की जो परिभाषा की है वह वस्तुतः उसके दो भेद कर देती है। एक लौकिक फल प्राप्ति के लिये दिया जाने वाला दान तथा दूसरा लोकोत्तर फलप्राप्ति के लिए दिया जाने वाला दान।[6] इसी आधार पर उन्होंने पात्र के भी तीन भेद कर दिये हैं— धर्म पात्र कार्यपात्र और काम पात्र।[7] इनमें से एक धर्म पात्र को तो लोकोत्तर फल के लिये दान दिया जाता है और शेष दो को लौकिक फल के लिये।

उन्होंने अपंग दीन और अनाथ आदि व्यक्तियों को करुणा के आधार पर दिये जाने वाले दान का यहां कोई उल्लेख नहीं किया है। दान के उपयुक्त पात्रों में भी स्थान नहीं नहीं दिया है। लगता है कि वे उनको लौकिक या लोकोत्तर फल के हेतु दिये जाने वाले दान के लिये पात्र नहीं मानते थे।

यहां एक आशंका अवश्य की जा सकती है कि सम्भव है उन्होंने उनको धर्म पात्र माना हो पर ऐसा भी नहीं है क्योंकि यहीं पर पात्र के तीनों भेदों की व्याख्या करते हुए टिप्पणी में धर्म पात्र का वर्णन जो किया है —

"विविध न्याय और हेतुओं से जो सद्धर्म मार्ग का प्रतिपादन करते हैं तथा माता की तरह सद्हित शिक्षा देते हैं, उन्हीं को

१—दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
महादाई मुहाजीवी दो वि गच्छन्ति सुग्गई॥ (दशवैकालिक ५,१)

२—समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासु एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति? गोयमा! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावेकम्मे कज्जति।
(भगवती शतक ८—उद्देशक ६)

३—समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं असंजय-अविरय-पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ? गोयमा! एगंतसो से पावेकम्मे कज्जइ, नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ। (भगवती शतक ८ उद्देशक ६)

४—विकीर्य यो दानमसंयतात्मने जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
विकीर्य बीजं ज्वलिते स पावके समीहते सस्यमपास्त दूषणम्॥
(अमितगति श्रावकाचार, परिच्छेद ११)

५—भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः (नीतिवाक्यामृत धर्मसमुद्देशसूत्र ११)

६—ऐहिकामुष्मिक फलार्थमर्थ व्ययस्त्यागः (" " १)

७—पात्रं च त्रिविधं-धर्म पात्रं कार्यं पात्रं कामपात्रं चेति। (नीतिवाक्यामृत धर्म समुद्देश सूत्र १२)

धर्मपात्र कहा जाता है।"[1] इसी प्रकार से कार्यपात्र तथा कामपात्र में भी उनके समावेश की कोई संभावना नहीं है क्योंकि वहाँ कार्य पात्र में भृत्य वर्ग तथा काम पात्र में स्त्री वर्ग को ग्रहण किया है। उनको दिया जाने वाला दान समवत नहीं है जिसको कि वर्तमान की भाषा में पारितोषिक कहा जाता है।

एक नीतिकार के मतानुसार तो "पात्र और अपात्र में गाय और सर्प जितना अंतर होता है। गाय को सूखे तृण खिलाने पर भी वह दूध देती है और सर्प को दूध पिलाने पर भी वह उससे विष की ही परिणति करता है।"[2]

इस प्रकार दान के विषय में पात्रापात्र का विवेक प्रायः सभी ने किया है। स्वामी भीखणजी ने भी दान के विषय में यही बात कही थी कि दान के सभी प्रकार धर्म के अंग नहीं होते। जो उन सब को एक मानते हैं उन्हें जिन-धर्म की धर्मी का पता नहीं है। आक और गाय के दूध केवल 'दूध' शब्द से अभिहित होने मात्र से क्या कभी एक हो सकते हैं ?[3] उनमें जो अन्तर है वैसा ही अन्तर पात्र और अपात्र दान में भी है।

पात्र और अपात्र के ये भेद लोकोत्तरदृष्टि से किये गये हैं। इनमें से प्रथम दान मोक्ष का तथा दूसरा संसार का कारण बनता है।[4] दान देने वाले व्यक्ति के सामने जहाँ लोकोत्तर साधना रहती है वहाँ सामाजिक आवश्यकताएँ भी रहती हैं। वह दोनों ही प्रकार का दान देता है किन्तु उसके सामने यह स्पष्ट रहना चाहिए कि दोनों ही प्रकार के दानों का उद्देश्य तथा फल पृथक् पृथक् है।

लौकिक दान को संसार का हेतु बताने का तात्पर्य उसका निषेध करना नहीं है किन्तु उसका यथावत् ज्ञान कराना है। देते हुए व्यक्ति को देने से रोकना निषेध करना होता है जब कि यथावत् जानना सम्यक् ज्ञान है।[5] इन दोनों भावों को व्यक्त करने वाले शब्द पृथक् हैं अतः उन्हें एक मानना उचित नहीं कहा जा सकता। तेरापंथ पर कुछ व्यक्ति प्रायः ऐसा आक्षेप करते हैं कि वे दान आदि का निषेध करते हैं। किन्तु स्वामीजी ने इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि आगम में एक बात तो यह आई है कि साधु को अगर कोई गृहस्थ अपने घर में आने का निषेध कर दे तो वह वहाँ न आवे और दूसरी बात यह आई है कि यदि कोई कठोर बातें कहता हुआ भी उसे दान दे तो वह ले ले।[6] जिस प्रकार यहाँ कठोर बात कहना और निषेध करना भिन्न बातें हैं उसी प्रकार निषेध करना तथा यथावत् ज्ञान कराना भी भिन्न है। ऐसी यथावत् स्थापना स्वयं तीर्थंकरों ने की है।

दया

अध्यात्म क्षेत्र और दया—अध्यात्म क्षेत्र में 'दया' अहिंसा का ही एक पर्यायवाची नाम है। जैन आगम 'प्रश्न-व्याकरण'

१—विभिन्न भावैर्नय हेतु दर्शनैः सद्धर्म मार्गं प्रतिपादयन्ति ये।
मातेव विश्वाम्नायमुपकारिणी ताम् धर्म पात्र प्रवदन्ति साधवः ॥ (नीति धर्म समु० पृ० १२ टिप्पण)

२—पात्रापात्र विशेषोऽस्ति धेनुपन्नगयोरिव।
तृणात् संजायते क्षीरं क्षीरात् संजायते विषम् ॥

३—समर्थदान में धर्म कहै तो नाह जिन धर्म सेती।
आक नै गाय रो दूध सम्यानो कर दीयो भेल सम्मनी ॥ (व्रतावत–२–१४)

४—सुपातर नै दीया संसार घटै छै कुपातर नै दीयां वधै संसार। (व्रतावत–१६–५७)
ए वीर वचन साचाकर जाणों तिण में संका नहीं छै लिगार ॥

५—दान देता नै कहे तूं मत दे इण में तिणपास्यो निषेधो दानारे।
पाप हुवो नै पाप बतायो तिणरो छै निरमल ग्यानो रे ॥ (व्रतावत १–३९)

६—साधा नै वरज्यों तिण घर में न पेसे करडा कह्या तिण घर मांहे जावें रे।
निषेधो नै करडो बोल्या ते दोनू एकण भाषा में न समावे रे॥
ज्यूं कोइ दान देतां वरज राखें कोइ दीया में पाप बतावें रे।
ए दोनूं ई भाषा जुदी जुदी छै ते पिण एकण भाषा में न समावें रे ॥ (व्रतावत १–४२,–४३)

में अहिंसा के ६० नाम गिनाये हैं उनमें 'दया' भी एक है। दया के क्षेत्र में किसी भी प्रकार की हिंसा को स्थान नहीं मिल सकता और जहाँ हिंसा का प्रसंग होता है वहाँ दया का निर्वाह नहीं हो सकता। इन दोनों के मार्ग पूर्व और पश्चिम की तरह एकान्त विपरीत हैं जो कभी भी मेल नहीं खा सकते।[1] दया और हिंसा की क्रियाओं में उतनी ही पृथकता है जितनी की आतप और छाया में।[2]

जैनागमों में सब प्राणियों के प्रति संयम भाव को अहिंसा कहा है।[3] उसी प्रकार आगम प्रवचन का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है कि भगवान ने सब प्राणियों की दया के लिए प्रवचन किया है। निष्कर्ष के रूप में यों कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति सब जीवों की हिंसा से बचे—इसीलिए भगवान् ने उपदेश किया है। सब प्राणियों की दया तभी हो सकती है जब कि सब प्राणियों के प्रति समभाव हो। इसीलिए तात्पर्य की भाषा में अहिंसा और दया की एकरूपता ही सिद्ध होती है।

अहिंसा निषेध परक शब्द है और दया विधि परक। 'किसी को मत मारो' और 'सब पर दया करो' दोनों ही वाक्यावलियाँ एक ही भाव को व्यक्त करती हैं। इसीलिये मुनि को 'सर्व जीव-रक्षक' कहा जाता है। सब को अभय देकर ही वह सबका रक्षक बन सकता है अन्यथा नहीं। उसने अपने जीवन में सब प्रकार की पाप वृत्तियों का परित्याग भी असत् से सब प्राणियों की दया के लिए ही किया है।

जन व्यवहार में मरते हुए या मारे जाते हुए प्राणी की प्राणरक्षा को दया कहा जाता है। पर इस व्याख्या से 'सर्वभूत दया' की बात संभव नहीं रह जाती क्योंकि न तो सब मरने वालों को बचाया जा सकता है और न सब मारे जाने वालों को। साथ ही यह भी बात है कि सब मारे जाने वाले होते भी नहीं। उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर 'सर्वभूत दया' का कभी किसी को अवसर प्राप्त हो ही नहीं सकता। वह संभाव्यता की कोटि से बाहर की बात हो जाती है। इस व्याख्या में दया की परिधि तो सीमित तथा छोटी हो ही जाती है पर वह किसी भी व्यक्ति के लिए स्वयं व्यवहार्य भी नहीं रह जाती।

प्राणातिपात विरतिरूप अहिंसा का पालन करते हुए प्राण रक्षा स्वयं ही होती है। यदि इसी आनुषंगिक प्राणरक्षा को दया कहा जाये तब तो इसकी स्वयं व्यवहार्यता भी बनी रहती है और प्राण रक्षा की स्थिति भी। पर यदि केवल प्राण रक्षा पर ही मुख्य बल हो तो अध्यात्मजगत में उसे प्रमुख स्थान नहीं मिल सकता।

प्रति दिन असंख्यातीत प्राणी जन्म लेते हैं और उसी प्रकार मरते भी हैं। जन्म लेने वाला हर एक प्राणी एक अवधि तक जीवित भी रहता है पर यह कोई दया नहीं है। इसी प्रकार जन्म लेने वाला हर एक प्राणी एक अवधि के बाद मरता भी है पर यह कोई हिंसा नहीं है। हिंसा तो तब होती है जब कोई किसी को मारता है और दया तब होती है जब कोई नहीं मारने का संकल्प करके अभय प्रदान करता है। किन्तु हम हिंसा और अहिंसा तथा मारने और न मारने के बीच में एक तीसरी बात और उठती है वह है बचाने की प्राण रक्षा करने की। एक विचार है कि मारना शुद्ध हिंसा है न मारना शुद्ध अहिंसा है और बचाना है—दया। यही अहिंसा और दया का भेद भी है।

उपर्युक्त प्रकार से दया और अहिंसा का भेद अध्यात्म को कोई मान्य नहीं हो सकता। लेकिन उसमें उसकी धर्म बाधा नहीं है। बात यह है उस दया को अध्यात्म की अपनी कसौटी स्वीकार होने की। अध्यात्म हर एक क्रिया को अहिंसा या संयम की कसौटी पर कस कर ही अपने क्षेत्र में प्रविष्ट होने देता है। यदि उपर्युक्त प्रकार की दया को वह स्वीकार हो तो अध्यात्म को भी वैसी दया स्वीकार्य है। तात्पर्य यह कि बचाने में यदि हिंसा या असंयम को किसी प्रकार का प्रश्रय नहीं मिलता हो तो वह बचाना अध्यात्म तत्व के अन्तर्गत ही है। बचाना शब्द यद्यपि उसकी देहाभिमुखता व्यक्त करता

१—"और समार में भेद घणे तिण न्याय में नहीं हिंसा रा भेलो।
   ज्यूं पूर्व ने पश्चिम रो मारग किण विध खायें मेलो॥
२—"हिंसा री करणी में दया नहीं छे दया री करणी में हिंसा नाहीं।
   दया ने हिंसा री करणी छे न्यारी ज्यूं तावड़ो ने छांहीं॥ (अनुकम्पा ९-७१-७)
३—"अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो"। (दशवैकालिक ६-९)
४—"सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं (प्रश्न व्याकरण संवरद्वार सूत्र १)
   —सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा ... । (सूत्र कृतांग २-१-४)

है परन्तु जहाँ हिंसा या असंयम का अभाव हो वहाँ अंतरंग में आत्माभिमुखता के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त यदि दया को अध्यात्म की उपर्युक्त कसौटी स्वीकार नहीं होती और यदि उसे एक की दया के लिये अनेक दूसरे छोटे प्राणियों का वध तथा असत्य आदि का प्रयोग स्वीकार्य होता है तो ऐसी दया को अध्यात्म क्षेत्र में मान्यता नहीं मिल सकती। लोकोपयोगी होने पर सामाजिक क्षेत्र चाहे उसे कितनी भी मान्यता क्यों न प्रदान करता हो।

सामाजिक क्षेत्र और दया—

सामाजिक क्षेत्र में दया प्रायः 'प्राणरक्षा' तथा 'कष्टनिवारण' के रूप में प्रयुक्त होती है। अध्यात्म क्षेत्र में दया के साथ अहिंसा और संयम की मर्यादा अक्षुण्ण रहने की शर्त लगी हुई है। किन्तु सामाजिक क्षेत्र में ऐसी कोई शर्त उसके साथ नहीं है। वहाँ केवल सामाजिक उपयोगिता ही कसौटी के रूप में मान्य है। किसी की प्राण रक्षा तथा कष्ट निवारण के लिये यदि कुछ हिंसा असत्य तथा परिग्रह का प्रयोग किया जाता है तो सामाजिक क्षेत्र वैसा करने की छूट देता है।

समाज केवल मनुष्यों का ही होता है अतः वहाँ सारी उपयोगिता मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही मापी जाती है। जो कार्य मनुष्य जाति के सुख तथा समृद्धि के लिए सहायक होता है वह उचित है और शेष अनुचित। मानव ज्येष्ठता के इस सिद्धान्त में सर्वप्रथम मनुष्यों तथा उसके बाद मनुष्य के उपयोग में आने वाले प्राणियों की चिंता की जाती है। जो मनुष्य के काम नहीं आते और उसे नुकसान पहुँचा सकते हैं ऐसे सर्प आदि प्राणियों को मार देना भी सामाजिक क्षेत्र में निर्दिष्ट होता है। कदाचित् वह भी दया का ही एक अंग मान लिया जाता है। समाज में रहता हुआ व्यक्ति स्वार्थ हिंसा भी करता है और परार्थ भी। उसे अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं तथा सुख-सुविधाओं के साथ ही अपने समाज तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा सुख सुविधाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। उसमें वह सूक्ष्म जीवों की हिंसा को तो टाल ही नहीं सकता किन्तु दूसरे स्थूल प्राणियों का वध करने की स्थिति भी उसके सम्मुख आ सकती है। सामाजिक दृष्टिकोण ऐसे अवसरों पर प्रायः सहमति ही नहीं किन्तु प्रोत्साहन भी देता है। सम्भवतः स्वार्थ के लिये न्याय के लिये और राष्ट्र रक्षा के लिए तो ऐसे प्रोत्साहनों के बिना उसका काम ही नहीं चल सकता।

कृषि में असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है इसमें तो किसी के इन्कार करने की गुंजाइश ही नहीं है। किन्तु उसकी सुरक्षा के लिए टिड्डी आदि छोटे तथा बन्दर हरिण आदि बड़े जीवों का भी वध किया जाता है। यह सब इसलिए किया जाता है कि मानव समाज को अन्न की सुलभता हो। मनुष्य के प्रति दया और सुरक्षा की इस भावना के साथ अन्य प्राणियों का वध भी छिपा हुआ है। पर समाज उसकी चिन्ता न कर केवल मनुष्य की ही चिन्ता करता है। मनुष्य की खाद्य समस्या को हल करने के लिये वह केवल कृषिजन्य साधारण हिंसा को ही नहीं किन्तु पशु और पक्षियों के मांस का व्यापार चलाने तथा बूचड़खाने कायम करने में भी किसी प्रकार की हिचक नहीं करता। आज की नगरपालिकाएँ यह सब आवश्यकता के अनुसार करती ही हैं। इसके पीछे भी वही मनुष्य के हित की भावना सन्निहित होती है।

समाजशास्त्र अपने दण्ड-विधान में अनेक प्रकार की हिंसा को वध करार देता है। वह आततायी तथा आक्रामक को आत्मरक्षार्थ मारने में कोई दोष नहीं मानता। उसमें मृत्युदण्ड को भी मान्य किया गया है। कोई मनुष्य जब समाज के लिए खतरनाक हो जाता है तब उस एक का वध करके अनेक की सुरक्षा करने को समाजशास्त्र न केवल वैध ही मानता है। यह क्रम अभी का नहीं बहुत प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' कहकर भारत के प्राचीन विधान कर्ता महर्षि मनु ने आततायी का वध करने वाले को निर्दोष घोषित किया है। समाज की सुरक्षा के लिये ऐसे दण्ड विधानों की उपयोगिता हो सकती है इससे समाज का हित भी हो सकता है। पर समाज शास्त्र की इन बातों का अध्यात्म शास्त्र कैसे अनुमोदन कर सकता है? उसका तो सारा दण्ड-विधान अहिंसा और हृदय परिवर्तन पर आधारित है।

राष्ट्र रक्षा के नाम पर भी युद्ध के रूप में अपार मानव हिंसा की जाती है। समय-समय पर अनेक उठने वाले इन युद्धों में किये जाने वाले नर संहारों को आज तक के किसी भी राष्ट्र ने अवैध घोषित नहीं किया है। हर राष्ट्र अपने द्वारा किये गये नरसंहार को शान्ति तथा सुरक्षा के लिये किया जाने वाला एक उचित कार्य ही घोषित करता है। उन राष्ट्रों तथा उनके विधि-विधानों के अनुसार वह सब भी मानव-जाति के हित के लिये ही किया जाता है।

उपर्युक्त कार्यों के समान ही और भी अनेक कार्य हैं। जिनमें मानव समाज की सुरक्षा और यहां तक कि प्रशासन के लिये भी हिंसाएँ की जाती हैं और वे सब वैध होती है। इससे यह कहा जा सकता है कि सामाजिक क्षेत्र में दया को उपयोगिता के आधार पर ही स्थान प्राप्त है सिद्धान्त के आधार पर नही।

दया से सहयोग तक—

आम तौर पर समाज में करुणा की भूमिका पर उत्पन्न हुई वृत्ति को दया कहा जाता है। जब किसी व्यक्ति को संकट में देखा जाता है तब तत्काल उसके प्रति करुणा उमड़ती है और आदमी उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ता है। किसी निर्बल को सबल के द्वारा दबाया जाता देखते ही निर्बल का सहयोगी बन कर उसे बचाने की कोशिश सहज रूप से हर कोई करता ही है। किसी की गरीबी अज्ञान या विवशता आदि पर भी दया उत्पन्न होती है और उसका प्रतिकार करने का प्रयास किया जाता है।

दया के ये उपर्युक्त सभी प्रकार समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी है अतः समाज में उनका महत्त्व है। कालान्तर में जब कि एक ऐसा युग आया जिसमें जीवन की हर अनिवार्यता तथा आवश्यकता को धर्म शब्द की परिधि में ले लिया गया उस समय इस सामाजिक आवश्यकता को भी धर्म का रूप मिला। धर्म जो कि केवल अध्यात्म का ही द्योतक था तब से सामाजिक कर्तव्यों का भी द्योतक हो गया। धर्म की आत्मोदयपरक व्याख्या के साथ भौतिक उदय-अभ्युदय को भी शामिल किया जाने लगा।

पहले धर्म का क्षेत्र उन्हीं व्यक्तियों से अनुप्राणित होता था जो अधिक से अधिक त्याग और तपस्यामय जीवन बिताने में तथा आत्मरत रहा करते थे। किन्तु पीछे वह उनसे भी अनुप्राणित होने लगा जो अधिक अभ्युदय कर सकते थे तथा दूसरों के अभ्युदय में सहायक बन सकते थे। अभ्युदय इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति में प्रमुख सहायक था अतः हर एक व्यक्ति का उस ओर झुकाव होना स्वाभाविक था। परन्तु चातुर्य सामर्थ्य तथा अवसरों के भेद ने किसी को अभ्युदय क्षेत्र में आगे कर दिया और किसी को पीछे। जो अभ्युदय में आगे रहे वे अधिक सबलता अर्जित कर सके तथा संकटों पर विजयी बन सके और जो पीछे रह गये थे वे निर्बल तो बने ही पर साथ ही संकटों से भी घिरते रहे। ऐसी स्थिति में उन्हें दूसरों की दया पर अवलम्बित होना पड़ा। इस प्रकार समाज में दयावान् और दयापात्र का क्रम प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे इस क्रम ने दयापात्र या दयनीय में हीनता और दयावान् में अहंता की भावना उत्पन्न करदी।

जब यह भावना यहाँ तक बढ़ गई कि हर दयापात्र व्यक्ति को अपने दयालु व्यक्तियों के अहसान से दब कर ही चलने के लिए बाध्य होना पड़ा और उनकी दया पर जीना उसके लिए अपमानजनक ही नहीं किन्तु मरने से भी अधिक दुखद हो गया तब समाज के उदार विचारकों ने दया शब्द के स्थान पर उपकार शब्द को महत्त्व देना प्रारंभ किया। उस शब्द में भी जब धीरे-धीरे वे ही वृत्तियाँ पनपने लगी तब उसके स्थान पर 'सेवा' शब्द प्रचलित हुआ। सेवा शब्द दूसरे किसी की हीनता अभिव्यक्त न कर सेवा करने वाले को ही उसकी लघुताई की याद दिलाता है। लघुताई और अहंता दोनो साथ साथ नहीं पनप सकती अतः यह शब्द उनकी अहंता पर नियन्त्रण करने के लिये भी उपयोगी समझा गया। पर यह क्रम भी अधिक दिनों तक नहीं चल सका। लोग सेवा के बल पर स्वामी बनने का उपाय सोचने लगे। जनतन्त्र के वातावरण ने शीघ्र ही वैसा अवसर उपस्थित भी कर दिया। अब बहुत से व्यक्ति सेवा के नाम पर जनप्रिय बनते हैं और फिर प्रतिफल-स्वरूप मत बटोर कर स्वामी बन जाते हैं।

जब समाज के विचारक धर्मचारों को इस सेवा शब्द में भी वही अहंता की बू आने लगी जो कि दया में थी तब उन्होंने दोनो में से किसी भी एक की हीनता या उच्चता की अभिव्यक्ति को हटाने के लिए परस्परोपग्रह की भावना को पनपाने के लिए 'सहयोग' शब्द को काम में लेना प्रारंभ किया। सहयोग में किसी भी एक की नहीं किन्तु दोनो की ही शक्ति का सम्मिलन रहता है अतः उसमें न किसी को उपकृत करने तथा न किसी से उपकृत होने की ही आवश्यकता रह जाती है। केवल उसमें यही भावना विद्यमान रह जाती है कि आवश्यकता होने पर सहयोग करो और सहयोग पाओ। योग में एक से काम नहीं चलता। कम से कम दो तो होने ही चाहियें किन्तु वे सहयोग के क्षेत्र में तुल्य बल होकर ही मस्त हो सकते हैं। पिछले सभी शब्दों में एक की प्रबलता और एक की निर्बलता का योग ही निर्दिष्ट होता था पर सहयोग में दोनो का तुल्य बल निर्दिष्ट है।

वस्तुतः सामाजिक क्षेत्र में दया, उपकार और सेवा आदि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण सहयोग की भावना है। यह भावना एक पक्ष की सबलता और दूसरे पक्ष की निर्बलता की अभिव्यक्ति पर स्थापित न होकर, दोनों पक्षों की समकक्षता पर स्थापित होती है। यहीं पर आकर उसकी वह मूल सामाजिकता फिर से निखरती हुई नजर आ रही है और स्थापित धार्मिकता का महत्व समाप्त होता जा रहा है।

तेरापंथ और दया—

तेरापंथ अपने अध्यात्मपरक विचारों के आधार पर ही हर वस्तु को अहिंसा और संयम की कसौटी पर कसता है। अतः उसकी दृष्टि में दया के दो रूप हैं—एक आध्यात्मिक और दूसरा लौकिक। दया के सभी रूपों को वह अध्यात्म नहीं मानता इसीलिये उसका इस क्षेत्र में विचार करने का अनुरोध रहा है। उसका कथन है कि दया एक उत्कृष्ट धर्म है[1] अवश्य पर जो उसकी सीमा का अच्छी तरह से विवेक पूर्वक पालना करते हैं मुक्ति के समीप वे ही होते हैं।[2] अविवेकपूर्वक उसकी पालना नहीं हो सकती।

विशद्ध और परिपूर्ण दया वही है जिसमें किसी प्रकार की जीव हिंसा को स्थान नहीं है उसी को आध्यात्मिक दया कहा जाता है।[3] सभी प्राणी जीवित रहने की कामना करते हैं मरने की कामना कोई नहीं करता इसीलिये प्राणिवध को सर्वथा वर्जनीय माना गया है।[4] जिस दया में प्राणिवध का प्रसंग साथ में आता हो वहाँ उसका विशद्ध रूप टिक नहीं पाता। हिंसा जीवन के लिए अनिवार्य हो सकती है किन्तु क्या जीवन की उस अपूर्णता को ज्ञान के क्षेत्र में भी रहने देना चाहिये? अहिंसा की आराधना पूरी न की जा सके तो कम से कम उसका स्वरूप-ज्ञान तो किया ही जा सकता है। ज्ञान सदैव क्रिया से आगे रहे तभी तो आगे से आगे मनुष्य की प्रगति कायम रह सकती है और एक दिन अन्तिम बिन्दु पर आकर क्रिया भी उसकी समकक्षता प्राप्त कर लेती है। वहीं पर मनुष्य कृत कृत्य होता है। उससे पहले ज्ञेय की सम्पूर्णता होने पर भी कृत्य अवशिष्ट ही रहता है। हिंसा और अहिंसा का विवेक तो सम्यक् ही होना चाहिये चाहे फिर वह उस अहिंसा को जीवन में उतार पाये या नहीं। हिंसा करे और उसे अहिंसा समझे तो यह दुहरी भूल होगी।

प्राणी अपने प्राणों का पालन करने के लिए दूसरों का प्राणापहार करता है। दूसरे शब्दों में इस यों भी कहा जा सकता है कि हर जीवन दूसरों के जीवन हरण पर ही आधारित है परन्तु यह एक तथ्यांकन ही है। इस प्रकार की अपरिहार्य हिंसा कोई अहिंसा तो नहीं बन जाती? यदि यहाँ के जीवन के लिए सर्वत्र 'मात्स्य न्याय' प्रवर्तित है और हर सबल अपने से निबल को अपना आहार बनाता है[6] तो क्यों न उसे शरीर-धारण की एक मजबूरी या आवश्यकता मानकर उसी रूप में स्वीकार कर लिया जावे। यह क्या आवश्यक है कि उसे अहिंसा या धर्म का रूप दिया जावे? यदि ऐसा किया जाता है तो उसे कुमति विलसित ही समझना चाहिए।

१—दया दया सहु को कहै ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी त्यारें मुक्त नजीक ॥ (अनुकम्पा ८–१)

२—छ काय हणावें नहीं हणिया भलो न जाणें ताय।
मनवचन काया करी आ दया कही जिनराय ॥ (अनुकम्पा ८–३)

३—सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणि वहं घोरं निग्गंथा वज्जयंतिणं ॥ (दशवैकालिक–६–११)

४—प्राणी प्राणा जिजीविषति

५—जीवो जीवस्य जीवनम्

६—मच्छ गलागल लोक में सबला ते निबला नें खाय
तिण में धर्म परूपियो कुगुरां कुबुध चलाय। (अनुकम्पा—७–१)

छोटे या बड़े किसी भी प्रकार के प्राणी की हिंसा में जो व्यक्ति धर्म बुद्धि करते हैं वे आगमिक भाषा के अनुसार मंद बुद्धि हैं।[1] तेरापंथ के मतव्याख्यानुसार दया एक आत्म गुण है अतः उसमें जहाँ देहाभिमुखता आती है वहाँ वह आध्यात्मिक न रह कर लौकिक हो जाती है। देहाभिमुखता होने पर उसमें असंयम या मोह आदि की प्रवृत्तियाँ साथ में जुड़ जाती हैं जो कि केवल लौकिक प्रवृत्तियाँ ही हैं। स्वामीजी ने ऐसी दया को मोह दया मोहानुकम्पा या लौकिक उपकार आदि नामों से पुकारा है। दया के इन दोनों प्रकारों को यों समझा जा सकता है—कोई कसाई बकरे को मारता है, तब वहाँ दया करने वाले व्यक्ति की तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। एक तो बकरे का मांस आदि बेचने से जो आर्थिक लाभ कसाई को होता है उतना द्रव्य देकर वह उसे छुड़ा सकता है। दूसरे कसाई को डरा-धमका कर या मार पीट कर छुड़ा सकता है। तीसरे—कसाई को हिंसा का पाप समझाकर हृदय परिवर्तन से वह उसे छुड़ा सकता है। इन तीनों में प्रथम दो प्रकार केवल लौकिक हैं क्योंकि उनमें प्राणरक्षा का ध्यान प्रमुख है साधन शुद्धि और आत्माभिमुखता का नहीं। प्रथम प्रकार में परिग्रह का प्रयोग किया जाता है जो कि कसाई के हिंसात्मक परिणामों में कोई परिवर्तन न करते हुए केवल उसमें बिना किसी प्रकार का परिश्रम किये लाभ मिल जाने का लोभ पैदा करता है और आगे के लिए उसके उस व्यापार को बढ़ावा ही देता है। दूसरे प्रकार में स्वयं दया करने वाला ही हिंसक बन जाता है। डराना धमकाना या मार पीट करना हिंसा की ही प्रवृत्तियाँ हैं। केवल एक तीसरा प्रकार ही ऐसा है जो कि हृदय-परिवर्तनकारी होने के कारण विशुद्ध है। उसमें स्वयं कसाई हिंसा को छोड़ने का संकल्प करता है और फलस्वरूप बकरे के जीवन की भी रक्षा हो जाती है। दया का यही प्रकार मुमुक्षुग्राही होता है। दूसरे प्रकारों में केवल देहाभिमुखता होने से औपचारिक दया ही रहती है। बकरे को बचाने का दृष्टिकोण मुख्य होगा वहाँ केवल अपने सम्मुख मारा जाने वाला बकरा ही बचाया जा सकेगा जब कि कसाई की आत्मा को बचाने के दृष्टिकोण में उसके द्वारा जीवन भर में मारे जाने वाले सब सहस्र बकरों की प्राणरक्षा स्वतः हो जायगी। आत्मरक्षा के स्थान पर देह-रक्षा या प्राणरक्षा की बात स्थूल होने के कारण मन पर अधिक सरलता से बैठती जरूर है परन्तु जिन्होंने इस तत्त्व को गहराई से सोचा है वे अच्छी तरह से जानते हैं कि दोनों में कितना बड़ा अन्तर होता है। आत्मा को जब गौण कर दिया जाता है तब देह के प्रेम में मोह का सम्मिश्रण अवश्यम्भावी है। 'शुद्ध प्रेम देह का नहीं आत्मा का ही धर्म है।'[2] महात्मा गांधी का यह वाक्य भी इसी बात की पुष्टि करता है।

महात्माजी ने अन्यत्र भी एक बार उनकी सुरक्षा के लिये पिस्तौल साथ में रखनेवाले अपने मित्र "लेस्टन बैंक" को समझाते हुए देहरक्षा और आत्मरक्षा का अन्तर बतलाते हुए कहा था—"मेरे मित्र! यदि तुम मेरे सच्चे स्नेही होते तो इस शरीर पर तुम्हारा इतना मोह होना संभव नहीं था। स्नेह केवल शरीर की ही रक्षा नहीं करता आत्मा की भी रक्षा करता है शरीर आज नहीं तो कल अवश्य नष्ट हो जायेगा। स्नेह के लिए क्षणभंगुर वस्तु पर आसक्ति रखना अनुचित है।"[3] महात्मा जी ने अपने अन्तिम अनशन के समय भी ऐसी भावना व्यक्त की थी। अन्तिम अनशन के दौरान में उनके पुत्र देवदास गांधी ने उन्हें अनशन छोड़ देने के विषय में तर्क देते हुए अन्त में प्रार्थना करते हुए लिखा था—'आप जीवित रहकर जो काम कर सकते हैं—उसे आपकी मृत्यु पूरा नहीं कर सकेगी इसीलिए मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप मेरी विनती स्वीकार करें और अपना उपवास छोड़ दें।' महात्माजी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—"तुम्हारा अन्तिम वाक्य तुम्हारे प्रेम का द्योतक है लेकिन तुम्हारे प्रेम का आधार मोह अथवा अज्ञान है। मोह कभी ज्ञान नहीं बन सकता चाहे वह सार्वजनिक कार्यों से ही सम्बन्धित क्यों न हो। जब तक कोई मनुष्य अपने मोह का पूर्णतया त्याग नहीं कर देता और जीवन-मरण में कोई भेद नहीं समझता यह सोचना कि उसके जीवित रहने से ही कोई महान् कार्य सम्पूर्ण होता है केवल अहंकार मात्र है। जब तक जियो तब तक प्रयत्न करते रहो यह एक सुन्दर कहावत है पर इसमें एक कमी है। प्रयत्न को मोह रहित भावना से करना चाहिये। शायद अब तुम समझ गये होगे कि मैं तुम्हारी प्रार्थना क्यों स्वीकार नहीं करता।

१—धम्मेऽहं तमे पाये माचरेय हिंसन्ति मन्दबुद्धी (प्रश्न व्याकरण)
२—गांधीवाणी पृष्ठ ८२
३—हमारे राष्ट्र निर्माता—पृष्ठ २१७
४—दैनिक 'हिन्दुस्तान' ११ अगस्त १९५७

शरीर रक्षा की भावना के साथ मोह का जो छिपा सम्बन्ध होता है उसकी ओर इंगित करते हुए—हरिभाऊ उपाध्याय भी एक जगह लिखते हैं—गांधीजी ने जब-जब उपवास किये हैं तभी लोगों को उनके प्राणों की अधिक चिन्ता हुई है। यह स्वाभाविक भले ही है पर इसमें छिपे हमारे मोह को हमें समझ लेना चाहिए, नहीं तो उपवास आदि का मर्म हम ठीक ठीक न समझ पायेंगे।

केवल शरीर रक्षा में ही नहीं किन्तु अनेक बार प्राण हरण में भी मोह का सम्मिश्रण होता है। वहाँ भी करुणा एवं दया की भावना वैसी ही दिखाई दे सकती है जैसी कि शरीर रक्षा में। अनेक बार ऐसे प्रसंग सामने आ सकते हैं जब कि खाद्याभाव या रोग प्रसार के समय अपने आश्रित पशु को भूख या रोग से तड़प तड़प कर मरने देने की अपेक्षा कष्टरहित मृत्यु के लिए उसे गोली मार कर या विष देकर मार दिया जाता है। इसी प्रकार घुड़दौड़ आदि में भाग लेने वाले बहुमूल्य घोड़े आदि को भी जब घातक चोट लग जाती है तब उसे उस यंत्रणा से मुक्त करने के लिए गोली मार दी जाती है। ऐसा करते समय उनके स्वामियों के मन में उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं किन्तु प्रेम व करुणा के ही भाव हो सकते हैं तो क्या प्रेम और करुणा से उत्प्रेरित इस कार्य को अहिंसा या अध्यात्म में गिना जा सकता है? यदि नहीं तो इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सभी प्रकार की करुणा या दया अहिंसा के शुद्ध रूप में समाविष्ट नहीं हो सकती। वस्तुतः मोहरहित दया या करुणा ही अहिंसा है। शेष सब केवल व्यवहार मात्र है। अध्यात्म की कोटि का स्पर्श व्यवहार से नहीं किन्तु वास्तविकता से ही हो सकता है। संक्षेप में यही तेरापंथ की दया-विषयक मान्यता है।

वर्तमान चिंतक और दया

अहिंसा या दया का सिद्धान्त यों तो बहुत गहन है परन्तु उस सिद्धान्त को यदि हम थोड़े से शब्दों में बाँधना चाहें तो इतना ही है कि किसी को पीड़ा न पहुँचाओ। ज्ञानाचरण का समस्त सार भी इसमें है। अहिंसा शब्द की व्युत्पत्ति यद्यपि निषेध परक है परन्तु हर निषेध के साथ विधि और हर विधि के साथ निषेध सदा ही होता है। केवल विधि या केवल निषेध कुछ हो ही नहीं सकता। इसीलिए अहिंसा में जहाँ हिंसा का निषेध व्याप्त है, वहाँ विश्व मैत्री की भावना भी उसमें समाविष्ट है। किसी को पीड़ा न पहुँचाने का संकल्प करने वाला वस्तुतः उसी समय सबके साथ में मैत्री भाव रखने का भी संकल्पी बन जाता है। इसी दृष्टि से अहिंसा के उपासक को आगमकारों ने सब प्राणियों से मैत्री रखने का संदेश दिया है।[1]

अहिंसा की इस साधना में हृदय का सहज सारल्य और समवृत्ति अपेक्षित है अन्यथा अल्पविकसित या अल्पसत्त्व प्राणियों का वध करके विकसित या सत्त्वशील प्राणियों की सुरक्षा करने में उसे अहिंसा के ही दर्शन होने लगेंगे। विषमवृत्ति के कारण वह अपने सम्यक् दर्शन के अभाव को पकड़ नहीं सकेगा और उसी मान्यता को पुष्ट करने का साहस करने लगेगा। अनेक व्यक्तियों ने ऐसा किया भी है। उनकी मान्यतानुसार बड़े प्राणियों की रक्षा के लिये अल्प सत्त्व प्राणियों का वध क्षम्य ही है। उस कार्य-निष्पत्ति में पानी वनस्पति आदि सूक्ष्म प्राणियों के अस्तित्व को तो वे भूल ही गया जब कि हिंस्र पशु तथा बिच्छू खटमल तक को मार देने में वे हिंसा नहीं मानते। हिंसा और अहिंसा के विषय में जो नाना विचार प्रस्तुत किए जाते हैं उन सब के सूक्ष्म निरीक्षण से यह तो स्पष्ट ही सिद्ध मान लेना चाहिए कि यहाँ सभी प्राणियों को जीवित रहने का समान अधिकार है, तब फिर किसी भी प्राणी के लिए दूसरे के प्राणों की बलि लेने का किसी को कैसे अधिकार हो सकता है? स्वयं अपना बलिदान देने का अधिकार प्रत्येक को हो सकता है पर दूसरे का बलिदान करने का नहीं। इसीलिए जहाँ किसी भी छोटे या बड़े प्राणी की हिंसा होती है या उसको आघात पहुँचता है वहाँ वस्तुतः अहिंसा या दया नहीं हो सकती। दया के लिए भी यदि हिंसा करनी होगी तो फिर उस दया से व्यवहार भले ही सध किन्तु अध्यात्म तो नहीं ही सध सकता। इन्हीं विचारों को पुष्ट करने वाले कुछ एतद् युगीन चिन्तकों के विचार भी मननीय हैं। सर्वप्रथम हम अहिंसा के सजग महात्मागांधी के विचार यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं—

१—एवं खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ किं चण।
अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया (सूत्र कृतांग)

२—"मित्ती भूएसु कप्पए"

"पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीव धारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है इसलिये वह मानवेतर प्राणियों यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।[1]

'प्लेग के चूहे और पीस्सू भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है उतना ही उनका है। हालांकि 'बोरसद' के लोगों के सामने मैंने अपने सहोदर चूहे पीस्सू के विनाश का समर्थन किया तथापि मने जीव-मात्र के प्रति शाश्वत प्रेम-धर्म का शुद्ध रूप भी बतलाया। उसका पूर्णता से पालन मुझसे इस जन्म में न हो सके तथापि इस सम्बन्ध की मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी।"[2]

"मनुष्य एक क्षण हिंसा के बिना जी नहीं सकता खाते पीते उठते-बैठते इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का वह महान प्रयास करता है। उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिये वह अहिंसा का पुजारी है।"[3]

खेती जैसे लोकोपकारी कार्य में भी गांधी जी ने स्पष्ट रूप से हिंसा का होना स्वीकार किया है। उस हिंसा को अनिवार्य तथा क्षम्य हिंसा की कोटि में गिनाते हुए भी वे उसे अहिंसा मानने को तैयार नहीं थे। वे एक समाज या राष्ट्र के मार्गदर्शक थे अतः उन्हें अनेक बार आवश्यकता होने पर अनिवार्य हिंसा का समर्थन करना आवश्यक हो जाया करता था फिर भी वे अपने अहिंसा विषयक ज्ञान की विशुद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ने देना चाहते थे। इस सम्बन्ध में उनकी श्रद्धा अविचल थी। इसी श्रद्धा के बल पर उन्होंने हिंसा को हिंसा कहने का सामर्थ्य पाया था।

खेती के विषय में वे कहते हैं—"यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा है। कार्यमात्र प्रवृत्तिमात्र उद्योग मात्र सदोष है। खेती इत्यादि आवश्यक कर्मोंमें शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है। किसान जो अनिवार्य जीव नाश करता है उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। यह नाश अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।"[4]

महात्मा जी ने अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन में वनस्पति के सूक्ष्म जीवों की भोजन निमित्त की जाने वाली हिंसा को भी हिंसा ही माना है। खेती को खराब करने वाले जीव तथा उत्पात मचाने वाले बन्दर आदि प्राणियों को मारना तो स्पष्ट हिंसा है ही परन्तु उन्हें खदेड़ कर भगाने में भी उन्होंने शुद्ध हिंसा ही देखी। समाज-पीड़क मनुष्य को मारने में नहीं किन्तु अन्त तक हृदय परिवर्तन में ही उन्हें औचित्य लगा। समाज-हितार्थ भी खेती नाशक जीव तथा समाज-द्रोही मनुष्य को मारने में उन्हें समाज का स्वार्थ ही दृष्टिगत हुआ और उन्होंने उस स्वार्थ को हिंसा ही कहा। जहाँ उत्तम और निम्न श्रेणी के दो प्राणियों में से किसी एक को मार कर दूसरे को बचाने का प्रसंग आ पड़ा तो वहाँ उन्होंने निम्न श्रेणी के प्राणी को मार कर उत्तम श्रेणी के प्राणी को बचा लेने की वकालत न करके उस प्रसंग से बचने और दोनों को ही न मारने को दया धर्म कहा है। उनके उपर्युक्त विचारों को व्यक्त करने वाली उनकी वक्तावलि इस प्रकार है—

"निरामिष आहारी वनस्पति खाने में हिंसा है— ऐसा जानते हुए भी निर्दोषता का आरोपण कर, मन को सतोष देते अर्थात् फुसलाते हैं।[5]

"बन्दर को मार कर भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूँ। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो उसमें अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जायेगी। उसमें बन्दर के हित का विचार नहीं है किन्तु आश्रम के ही हित का विचार है।

१—गांधी वाणी पृष्ठ १७
२—व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ९-१
३—युद्ध और अहिंसा पृष्ठ १७५
४—अहिंसा—प्रथम भाग पृष्ठ ३५-३६
५—अहिंसा—पृष्ठ ५७
६—व्यापक धर्म भावना पृष्ठ १ ⁄
७—अहिंसा पृष्ठ १२८

एक बार महात्माजी से किसी ने पत्र द्वारा प्रश्न पूछा—"कोई मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय लोगों के बड़े भाग को कष्ट पहुँचा रहा हो, दूसरी तरह से उसका निवारण न होता हो, तब उस का नाश करें तो यह अनिवार्य समझ कर अहिंसा में खपेगा या नहीं ? फसल का नाश करने वाले जीवों के नाश को आपने हिंसा नहीं गिना है उसी भाँति मानव-समाज का नाश करनेवाले आदमी के नाश को क्या आप अहिंसा न मानेंगे ?[1] इसका उत्तर देते हुए महात्माजी ने फसल का नाश करने व जीवों के नाश को हिंसा न मानने की बात को सर्वथा अस्वीकार किया है और आगे लिखा है—"किसान की (किसान द्वारा की जाने वाली।) हिंसा में या लेखक ने जो दृष्टान्त दिया है उसमें रही हुई हिंसा में समाज का स्वार्थ छिपा हुआ है, अहिंसा में स्वार्थ को स्थान नहीं है। पत्रलेखक के प्रश्न का मिलान बंदरों के प्रश्न से जरूर किया जा सकता है, मगर तो भी दोनों में बहुत भेद है। बन्दर का हृदय परिवर्तन करने का कोई सामाजिक उपाय हमारे पास नहीं है इसलिए उसका प्राणहरण शायद क्षम्य गिना जाए। किन्तु पापी से भी पापी मनुष्य का हृदय-परिवर्तन हमेशा शक्य है।"[2]

"मछली खाने वाले को जबर्दस्ती मछली खाने से रोकने में बहुत ज्यादा हिंसा है। जबरदस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता है। बलात्कार अमानुषी कर्म है।"[3]

"तब क्या गाय को बचाने के लिए मैं मुसलमानों से लड़ूँगा या उनकी हत्या करूँगा। ऐसा करके तो मैं मुसलमान और गाय दोनों का ही दुश्मन बनूँगा।"[4]

"उसका (अहिंसावादी का) रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रता के साथ समझाने बुझाने में है।"[5]

"मानस ने मारी न नांखवु ने उगारवो ए धर्म होय एवो प्रसंगपण आव वो शक्य होय छे हुँ तो एवा जातना प्रसंग माँ थी उगरी जावा नो मार्ग काढूँ छुँ, ते दया धर्म छे।"[6]

सेवा जो कि दया या अहिंसा का ही एक अंग मानी जाती रही है महात्मा जी की दृष्टि से वह सर्वत्र अहिंसा में नहीं खप सकती। कुछ ऐसी सेवाओं को जो कि हिंसा को प्रोत्साहन देती हैं तथा हिंसा से प्रेरणा प्राप्त कर सकती हैं उन्होंने दोष पूर्ण माना है। वे कहते हैं—

"अहिंसा की दृष्टि से शस्त्र धारण कर मारने वालों में और निःशस्त्र रहकर घायलों की सेवा करने वालों में कोई फर्क नहीं देखता हूँ। दोनों ही लड़ाई में शामिल होते हैं और उसी का काम करते हैं। दोनों ही लड़ाई के दोष के दोषी हैं।

"जो मनुष्य बंदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने उसका भार उठाने जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है, जितना कि वह खुद डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।"[7]

"अस्पताल तो पाप की जड़ हैं। उनके कारण मनुष्य अपने शरीर की तरफ से लापरवाह हो जाता है और अनीति

१—अहिंसा पृष्ठ ५७
२—अहिंसा पृष्ठ ५७
३—हिन्दुस्तान
४—हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७७
५—हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७९
६—नवयुग पृष्ठ १५९१ अंक १७ दिनांक २४-११-१९२१
७—हिन्दी नवजीवन २ सितम्बर १९२८
८—आत्मकथा—भाग ४

"पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीव धारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है इसलिये वह मानवेतर प्राणियों यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।[१]

"खेत के चूहे और चीवड़ भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है उतना ही उनका है। हालांकि 'बोरसद' के लोगों के सामने मैंने अपने सहोदर चूहे चीवड़ के विनाश का समर्थन किया तथापि मैंने जीव-मात्र के प्रति शाश्वत प्रेम-धर्म का शुद्ध रूप भी बतलाया। उसका पूर्णता से पालन मुझसे इस जन्म में न हो सके तथापि इस सत्धर्म को मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी।"[२]

"मनुष्य एक हिंसा के बिना जी नहीं सकता खाते पीते उठते-बैठते इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का वह महान प्रयास करता है। उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिये वह अहिंसा का पुजारी है।"[३]

खेती जैसे लोकोपकारी कार्य में भी गांधी जी ने स्पष्ट रूप से हिंसा का होना स्वीकार किया है। उस हिंसा को अनिवार्य तथा क्षम्य हिंसा की कोटि में गिनाते हुए भी वे उसे अहिंसा मानने को तैयार नहीं थे। वे एक समाज या राष्ट्र के मार्गदर्शक थे अत उन्हें अनेक बार आवश्यकता होने पर अनिवार्य हिंसा का समर्थन करना आवश्यक हो जाया करता था फिर भी वे अपने अहिंसा विषयक ज्ञान की विशुद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ने देना चाहते थे। इस सम्बन्ध में उनकी श्रद्धा अविचल थी। इसी श्रद्धा के बल पर उन्होंने हिंसा को हिंसा कहने का सामर्थ्य पाया था।

खेती के विषय में वे कहते हैं—"यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा है। कार्यमात्र प्रवृत्तिमात्र उद्योग मात्र सदोष है। खेती इत्यादि आवश्यक कर्मोंमें शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है। किसान जो अनिवार्य जीव नाश करता है उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। वह क्षम्य अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।"[४]

महात्मा जी ने अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन में वनस्पति के सूक्ष्म जीवों की भोजन निमित्त की जाने वाली हिंसा को भी हिंसा ही माना है। खेती को खराब करने वाले जीव तथा उत्पात मचाने वाले बन्दर आदि प्राणियों को मारना तो स्पष्ट हिंसा है ही परन्तु उन्हें खदेड़ कर भगाने में भी उन्होंने शुद्ध हिंसा ही देखी। समाज-पीड़क मनुष्य को मारने में नहीं किन्तु अन्त तक हृदय परिवर्तन में ही उन्हें औचित्य लगा। समाज-हितार्थ भी खेती नाशक जीव तथा समाज-द्रोही मनुष्य को मारने में उन्हें समाज का स्वार्थ ही दृष्टिगत हुआ और उन्होंने उस स्वार्थ को हिंसा ही कहा। जहाँ उत्तम और निम्न श्रेणी के दो प्राणियों में से किसी एक को मार कर दूसरे को बचाने का प्रसंग आ पड़ा तो वहाँ उन्होंने निम्न श्रेणी के प्राणी को मार कर उत्तम श्रेणी के प्राणी को बचा लेने की वकालत न करके उस प्रसंग से बचने और दोनों को ही न मारने को दया धर्म कहा है। उनके उपर्युक्त विचारों को व्यक्त करने वाली उनकी शब्दावलि इस प्रकार है—

"निरामिष आहारी वनस्पति खाने में हिंसा है— ऐसा जानते हुए भी निर्दोषता का आरोपण कर, मन को संतोष देते अर्थात् फुसलाते हैं।[६]

"बन्दर को मार कर भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूँ। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो उसमें अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जावेगी। उसमें बन्दर के हित का विचार नहीं है किन्तु आश्रम के ही हित का विचार है।

१—गांधी वाणी पृष्ठ ३७
२—व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ९–१
३—बुद्ध और अहिंसा पृष्ठ १७५
४—अहिंसा—प्रथम भाग पृष्ठ ३५–३६
५—अहिंसा—पृष्ठ ५७
६—व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ३ ८
७—अहिंसा पृष्ठ १२८

उत्तर—मैं आवी हिंसा नथी थती जोई शकु। पशी ये वार मरोली ने बाधा मो शिकार करती अने वाघा न बीजा पशुओं नो शिकार करता में जोया छे। पण ए "जीवो जीवस्य जीवनम्" तो प्राणी जगत नो कायदो अटकाववानु मन कदी कर्तव्य नथी बताव्युं।"

तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक स्वामी भीखणजी के सामने भी जीवरक्षा सम्बन्धी ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उठाये गये थे। वे उसका जो उत्तर दिया करते थे उसका संक्षिप्त आशय यह है कि हिंसा का जो परित्याग हृदय-परिवर्तन के द्वारा होता है वही वस्तुतः शुद्ध अहिंसा हो सकती है। इसके अतिरिक्त भय दिखाकर, धन देकर, प्रलोभन देकर या अन्य किसी प्रकार के अशुद्ध साधन के प्रयोग से यदि हिंसा को रोका जाता है तो वह स्वयं अपने आप में एक प्रकार की हिंसा है। एक हिंसा को रोकने के लिये यदि दूसरी हिंसा का प्रयोग किया जाता है तो वह अहिंसा या दया नहीं बन जाती। अहिंसा का निषेधात्मक रूप है—किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना और विधयात्मक रूप है—प्राणी मात्र से मैत्री भाव रखना तथा परिपूर्ण औदार्य के साथ सभी छोटे-बड़े प्राणियों के जीवनाधिकार को अपने ही समान मूल्यवान समझना।

बढ़ती है। अंग्रेज डाक्टर तो सबसे आगे-पीछे हैं, वे शरीर की झूठी सावधानी के लिये हर साल लाखों जीवों की जान लेते हैं। जीवित प्राणियों पर वे विभिन्न प्रयोग करते हैं।[१]

कानजी स्वामी जीवदया के विषय में या कहते हैं—"जीव दया मा जीव न टकावी राखवो छे के विकार ने ? जीवने जीव पणे टकावी राखवो अन विकारपणे थवा देवो—एनु नाम जीव दया छे। अने जीव ने जीव पणे न ओलखता विकारी मानवो अने शरीरवालो मानवो तेनुं नाम जीव हिंसा छे। जीवकोने मरेवाय ते तम खबर छे ? जीवतो पोताना ज्ञान दर्शन आनन्द आदि अनन्त गुणो थी पिन्ड छ। हरेक जीव पोताना गुण थी पूरो छे। पर जीवो पोता पोता ने स्वभाव ने ओलखी न पर्याय माँ शुद्धता प्रकट करे तो तेमनी दया थाय। मारे ते मा कांई चाले नहीं-आम जाणी न ज्ञानी जो पोताना आत्मा ने विकार थी बचावे छ एज जीव दया छे।"[२]

क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी कहते हैं —

"राग द्वेष मोह-ये तीनों आत्मा के विकार है ये जहाँ पर होते हैं वही आत्माकलि (पाप) का संचय करता है। दुखी होता है। नाना प्रकार के पापादि कार्यों में प्रवृत्ति करता है कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि कार्यों म व्यग्र रहता है। तीव्र राग-द्वेष हुआ तब विषयो म प्रवृत्ति करता है या हिंसादि पापो म मग्न हो जाता है—कहीं भी इसे शान्ति नही मिलती। जहाँ आत्मा म राग-द्वेष नहीं होते वहीं पूर्ण अहिंसा का उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष मार्ग है।"[३]

जीव दया के विषय में काका कालेलकर न एक ऐसा प्रश्न उठाया है, जो प्रायः प्रत्येक सूक्ष्म चिन्तक के सामने उठता रहा होगा। वे 'जीव-दया' नामक निबन्ध में लिखते हैं— "बहुत वर्ष पहले की बात है मन में यह मन्थन चल रहा था कि प्राणियो को मरने से बचाना चाहिये या नहीं ? यदि यह निश्चय हो जाए कि बचाना चाहिये और नहीं एक क्षमा बन जाए तब क्या किया जाए ?"[४] इसी बात को वे आगे बढ़ाते हुए कोचरब आश्रम में मेहमान के रूप में आये हुए स्वामी सत्यदेव के विषय म लिखते है कि उनकी खड़ाउओ के नीचे एक छिपकली दब कर मर गई। तब उन्हे उसका दु ख हुआ किन्तु वह दु ख जीव हत्या का नहीं किन्तु कीड़ो का नष्ट कर करने में मदद देने वाली उपयोगी छिपकली के मर जाने का था। किसी ने यह सारी बात बापूजी के सामने रखी और जीवो को बचाने न बचाने की चर्चा छेड़ दी इस पर गाधी जी न जो कुछ कहा उसे लेखक ने अपने निबन्ध म यो उद्धृत किया है—"सभी प्राणियो को बचाने का हमारा धर्म नहीं है। छिपकली कीड़ो को खाती है यह क्या मने देखा नहीं है ? छिपकली अपनी खुराक ढूँढती है। इस प्राकृतिक व्यवस्था में पड़ने का कर्तव्य मैंने नहीं माना। जिन जानवरो को हम अपने स्वार्थ या शौक के लिए पालते हैं उनको बचाने का धर्म हमने अपने ऊपर लिया है। इससे आगे जाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। महात्माजी के इस उत्तर पर भी उन लोगो में परस्पर काफी चर्चा चली। आखिर उस चर्चा का जो निष्कर्ष किशोरीलाल भाई न निकाला उसे यहाँ भी उद्धृत किया गया है—"मन तटस्थ अथवा उदासीन हो तब बचाने का प्रयत्न नहीं किया जाए। जीव को बचाने की वृत्ति जागृत हो दया भाव उमड़े तभी उसे बचाने का प्रयत्न करना अच्छा।"[५]

महात्माजी के सामने ऐसा प्रश्न एक बार ही नहीं किन्तु अनेक बार उपस्थित हुआ लगता है। वे स्वयं एक ऐसे भाई का प्रश्न उद्धृत कर उसका उत्तर देते हुए लिखते हैं—

"एक भाई पूछे छे—नाना जन्तुओ एक बीजानो आहार करता अनेक बार जोइए छीए। मारे त्या एक बरोली ने पतंगो शिकार करता रोज जोउं छूं। अने बिलाडी ने पक्षीओ ने। हु ए मारे जोवा करवो ? अने अटकाववा बीजानी हिंसा करवी ? बाकी हिंसा अनेक थयाज करेछे। आमा अपने शु करवु ?

१—हिन्द स्वराज्य पृष्ठ २
२—आत्मधर्म वर्ष ४ प्रथम श्रावण २४७१
३—आत्मधर्म वर्ष ४ प्रथम श्रावण २४७१
४—अनेकान्त जून १९४८
५—नवनीत जनवरी १९५९ पृष्ठ ४८
६—नवनीत—जनवरी १९५९ पृष्ठ ४९
७—अहिंसा पृष्ठ २७

उत्तर—मैं आवी हिंसा नथी करी जोई शु । कभी ये बार बरोली ने बांदा नो शिकार करती अने बांदा ने बीजा जन्तुओं नो शिकार करतां में जोया छ । पण ए 'जीवो जीवस्य जीवनम्' नो प्राणी जगत नो कायदो अटकाववानु मन क्यी कर्त्तव्य नथी बनायुं ।

तेरापंथ के आद्यप्रवर्त्तक स्वामी भीखणजी के सामने भी जीवरक्षा सम्बन्धी ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उठाये गये थे । वे उसका जो उत्तर दिया करते थे उसका संक्षिप्त आशय यह है कि हिंसा का जो परित्याग हृदय-परिवर्तन के द्वारा होता है वही वस्तुतः शुद्ध अहिंसा हो सकती है । इसके अतिरिक्त भय दिखाकर, धन देकर प्रलोभन देकर या अन्य किसी प्रकार के अशुद्ध साधन के प्रयोग से यदि हिंसा को रोका जाता है तो वह स्वयं अपने आप में एक प्रकार की हिंसा है । एक हिंसा को रोकने के लिये यदि दूसरी हिंसा का प्रयोग किया जाता है तो वह अहिंसा या दया नहीं बन जाती । अहिंसा का निषेधात्मक रूप है—किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना और विधेयात्मक रूप है—प्राणी मात्र से मैत्री भाव रखना तथा परिपूर्ण औदार्य के साथ सभी छोटे-बड़े प्राणियों के जीवनाधिकार को अपने ही समान मूल्यवान समझना ।

आचार्य भीखणजी और उनके प्रत्युत्पन्न दृष्टान्त

(ले० मुनि श्री दुलीचन्दजी)

आचार्य सन्त भीखणजी का समय एक तात्त्विक प्रश्नों की जटिलता का समय था। उस समय जैन-धर्म अनेक सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। सम्प्रदायों में परस्पर छोटे-बड़े अनेक मतभेद चलते थे। स्वामीजी ने इन मतभेदों में से एक मूल मार्ग दिखलाया। वे तत्त्व व आचरण सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न का उत्तर आगमानुसार देते थे। उनके सामने प्रति दिन नए-नए प्रश्न आते। उनका उत्तर वे सुगम और आशुबोध भाषा में देते थे। उनके शीघ्र-से-शीघ्र दिये हुए उत्तर में भी एक प्रकार का विशेष चमत्कार रहता था। उनके उत्तर अधिकतर हृदयग्राही उदाहरणों को लिये हुए होते थे। इसीलिये वे अनपढ़ लोगों के लिए भी सहज बोधगम्य होते थे। उनकी वाणी सूर्य के समान प्रकाशमयी थी। उससे गूढ़-से-गूढ़ प्रश्न का छद्मपट भी इस प्रकार हट जाता था जिस प्रकार सूर्य के किरण जाल से तम-पट। उदाहरणों के द्वारा प्रश्नों का समाधान कर देने की उनमें एक विचित्र क्षमता थी। स्वामीजी को उन स्फूर्तिदायक उदाहरणों के लिए सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं होती थी। जिस प्रकार चित्र-पट पर कथासूत्र के अनुसार चित्र आते रहते हैं उसी प्रकार स्वामीजी के मस्तिष्क में प्रश्नोत्तरों के अनुरूप उदाहरण उभर आते थे। दूसरों को ऐसा अनुभव होता मानो यह कोई पहले ही काम में लिये हुए उदाहरण हो। उनके उदाहरण अकाट्य और युक्तिपुरस्सर, हृदय को स्पर्श करने वाले और एक वैज्ञानिक ढंग से विषय का विश्लेषण करने वाले तथा प्रश्नकर्त्ता के हृदय को दिव्य आलोक से आलोकित करनेवाले होते थे।

स्वामीजी प्रत्युत्पन्न प्रज्ञा के धनी थे। उनके विभिन्न स्थलों में दिये गये उदाहरणों को पढ़ने से पता लगता है कि वे किस प्रकार की अलौकिक शक्ति अपने आप में समेटे हुए थे। उनके ये उदाहरण भी उनकी आशु-प्रज्ञा के ही द्योतक हैं। निबन्ध के विषय के अनुरूप यहाँ उनके कुछ प्रत्युत्पन्न—तत्काल रचकर दिये हुए उदाहरणों का संकलन किया गया है, वह इस प्रकार है—

मेरा ज्ञान-चारा

पुरी शहर में एक व्यक्ति चर्चा करने के लिए आया। एक प्रश्न का उत्तर पूरा न हो उससे पहले दूसरा और दूसरे से पहले तीसरा—इस प्रकार स्वामीजी के उत्तरों के प्रति उपेक्षा कर वह प्रश्न करता चला जा रहा था। स्वामीजी ने कहा—गाय महिषादि के सामने अधिक चारा डालने से वे चारे को कचरे में परिणत कर देती हैं। यह सुनकर वह उत्तेजित हो उठा कहने लगा——आप तो मुझे पशु बता रहे हैं। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—इस हिसाब से मेरा ज्ञान भी तो चारा बना जा रहा है।

बच्चेके मुँह पर चपत

द्वेष-भावना को मनुष्य पहचान जाता है किन्तु राग-भावना को पहचानने में कुछ कठिनाई होती है। एक बार इस प्रकार का एक प्रसंग आया तो स्वामीजी ने इस विषय को इस प्रकार समझाया कि किसी ने बच्चे के मुँह पर चपत लगाई, देखने वाले कहते हैं भले मनुष्य! बच्चे को चपत क्यों लगाते हो? किन्तु बच्चे के हाथ में अगर कोई लड्डू देता है तो उसे कोई नहीं रोकता। जिस प्रकार चपत लगाने का दुःख होता है उसी प्रकार लड्डू देकर बच्चे में पराई वस्तु लेने की बुरी प्रवृत्ति डालने का दुःख भी होना चाहिए था। किन्तु राग की प्रवृत्ति इतनी शीघ्र मनुष्य के पकड़ में नहीं आती। स्वामीजी ने इस उदाहरण से बताया कि मनुष्य जितना द्वेष के प्रति जागरूक रहता है, उतना ही राग के प्रति भी रहे। राग और द्वेष दोनों ही कर्मों के बीज हैं।[1]

भले अवगुण रखने भी रहो हैं

स्वामीजी अपना विरोध सुनकर सहज वृत्ति में रहते थे। एक बार किसी व्यक्ति ने आकर कहा—दूसरे सम्प्रदाय वाले

१—भिक्षु दृष्टान्त १
२—भिक्षु दृष्टान्त १

आप में अवगुण निकालते हैं। स्वामीजी ने कहा—अवगुण डालते तो नहीं? यह तो अच्छा ही है मुझे अवगुण रखने भी नहीं हैं? तुम में निकालूंगा तुम वे और मेरा काम सरलता से बन जाएगा। इस प्रकार स्वामीजी विरोध की बातों को भी विनोद में परिणत कर लेते थे।[1]

तुम्हारा मुँह देखने वाला नरक जाता है

एक बार आचार्य भीखणजी मारवाड़ जिले के देसूरी गाँव की ओर विहार करते हुए जा रहे थे। घाणेराव की ओर जाने वाले कुछ महाजन उन्हें मार्ग में मिले। उन्होंने पूछा— आप का नाम। स्वामीजी ने कहा—मेरा नाम भीखण। उन्होंने फिर पूछा क्या भीखण तेरापंथी? स्वामीजी ने कहा—हाँ वही हूँ। आवेश में आकर एक ने कहा—तुम्हारा मुँह देखने वाला तो नरक में जाता है। स्वामीजी ने भी छूटते ही पूछा—क्यों भाई! फिर तुम्हारा मुँह देखने वाला कहाँ जाता है? उसने कहा—मेरा मुँह देखने वाले को तो स्वर्ग मिलता है। स्वामीजी ने कहा—यद्यपि मेरी यह मान्यता नहीं है कि किसी का मुँह देखनसे स्वर्ग व नरक मिलता है। किन्तु तुम्हारा मुँह मैंने देखा है और मेरा तुमने अब अपने कथनानुसार स्वयं ही सोच लो कि मैं कहाँ जाऊँगा और तुम कहाँ। इस प्रकार के कटु शब्द सुनकर कोई विरले ही व्यक्ति होंगे जो तमक न जाएँ। किन्तु आचार्य भीखणजी ने ऐसे अवसरों पर भी अपना संतुलन बनाए रखा। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आचार्य भीखणजी ने पूर्ण कठोरता से सामने आने वाले व्यक्ति को भी किस प्रकार मृदुता से निरुत्तर किया।[2]

झालर बजती है तो कुत्ते रोते हैं

स्वामीजी ने विक्रम सम्वत् १८५५ का चातुर्मास जोधपुर जिले के पीपाड़ गाँव में किया था। चातुर्मास में अनेक नये लोग श्रद्धालु बने। उपकार के दृष्टिकोण से यह विशेष अच्छा कहा जा सकता था। दैनिक व्याख्यानों का क्रम चालू था। अनेक नागरिक व्याख्यानों में भाग लेते रहे। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो व्याख्यान न सुनकर कहीं एकान्त में बैठ कर निन्दा किया करते थे। किसी ने आकर स्वामीजी को यह सारी स्थिति निवेदन की। स्वामीजी ने उसी क्षण एक उदाहरण देते हुए कहा— कि उन लोगों को वस्तु-स्थिति का पता नहीं है अतः ऐसा करते हैं। मन्दिरों में झालर बजती है तो कुत्ते रोते हैं। वे इस बात का भेद नहीं कर पाते कि यह झालर किसी वृद्ध की मौत पर बजाई जा रही है या भगवान् की पूजा में। इसी प्रकार ये लोग भी व्याख्यान की हितप्रद बातों के महत्त्व को नहीं आँक पाते इसलिए निन्दा करते हैं।[3]

दुःख भरी रात बड़ी लगती है

एक इसी प्रकार की दूसरी घटना और भी है। रात्रिकालीन व्याख्यान स्वामीजी लम्बा दिया करते थे। अनेक लोग व्याख्यान में रस लेते थे। परन्तु कुछ विरोधी लोग इससे नाराज भी हुआ करते थे। वे प्रहर रात आने से पहले ही कहने लगते कि देखो डेढ़ प्रहर रात बीत गई है फिर, भी ये व्याख्यान दे रहे हैं। साधु को इतनी रात तक व्याख्यान देना नहीं कल्पता है आदि आदि। आचार्य भीखणजी को जब इसका पता चला तो उन्होंने कहा—दुःख भरी रात बड़ी ही लगती है। सूर्यास्त होने के पहले अगर किसी के घर में मृत्यु हो जाती है तो वह रात उसे और भी बड़ी लगती है। मेरे व्याख्यान और प्रचार से जिन्हें दुःख होता है उन्हें यह समय अधिक लगे तो कोई आश्चर्य नहीं।

वस्त्र रखना व्रत भंग नहीं

आचार्य भीखणजी में चर्चा करने की भी एक अद्भुत कला थी। वे किसी भी चर्चावादी से भय नहीं खाते थे। प्रत्येक विषय की चर्चा के लिये हर समय प्रस्तुत रहते थे। सामने के व्यक्ति को इस प्रकार निरुत्तर करते कि उसके लिए समझना कठिन हो जाता। एक बार कुछ सरावगी लोग जो कि दिगम्बर थे चर्चा के लिए आए। उन्होंने प्रश्न किया कि साधुओं को तार मात्र भी वस्त्र नहीं रखना चाहिए। अगर कोई साधु वस्त्र रखते हैं तो वे परिषह- सहन करने के व्रत का भंग करते हैं। यह एक प्रकार की कायरता भी है।

स्वामीजी ने पूछा—परिषह कितने हैं? उत्तर मिला—बाईस। स्वामीजी ने फिर पूछा—पहला परिषह कौन सा है? उन्होंने कहा—भूख का। स्वामीजी ने सस्मित कहा—आपके मुनि महाराज भोजन करते हैं या नहीं?

१—भिक्षु दृष्टान्त १३
२—भिक्षु दृष्टान्त १५
३—भिक्षु दृष्टान्त १९
४—भिक्षु दृष्टान्त १८

उत्तर मिला—हाँ एक समय करते हैं। स्वामीजी ने कहा—इस अपेक्षा से आपके मुनियों ने पहले परिग्रह को ग्रहण करने का व्रत भंग किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—भूख लगने पर आहार तो करते हैं। स्वामीजी ने फिर पूछा—पानी पीते हैं या नहीं? उन्होंने कहा—पानी भी पीते हैं। स्वामीजी ने कहा—तो यह भी परिग्रह का व्रत भंग हुआ। उन्होंने कहा—प्यास लगने पर पानी तो पीना पड़ता है। स्वामीजी ने कहा—यदि भूख लगने पर "आहार" और प्यास लगने पर "पानी" आदि के द्वारा परिग्रह का व्रत भंग नहीं होता तो फिर शीत आदि के निमित्त वस्त्र पहनने से व्रत भंग कैसे हो सकता है? वे निरुत्तर होकर लौट गए।[1]

धर्मी होने से तत्त्वज्ञानी नहीं हो जाता

मारवाड़ में एक आउवा गांव है स्वामीजी एक बार वहाँ पधारे। एक भाई स्वामीजी के निकट आकर कहने लगा कि भगवन्! आप तो मूर्ति पूजा का निषेध कर रहे हैं, और उधर हम देखते हैं कि प्राचीन काल में बड़े-बड़े लखपतियों तथा करोड़पतियों ने मन्दिर बनवाए हैं। वे कोई मूर्ख आदमी तो थे ही नहीं? स्वामीजी ने कहा—तुम्हारे पास यदि पचास हजार रुपये हो जाएँ तो तुम मन्दिर बनवाओगे या नहीं? उसने कहा—हाँ क्यों नहीं अवश्य बनवाऊँगा। स्वामीजी ने लगे हाथ एक तात्त्विक प्रश्न भी पूछ लिया कि तुम्हारे में जीव के भेद गुण-स्थान उपयोग योग लेश्या आदि कितने-कितने हैं? वह बेचारा हक्का-बक्का-सा हो गया और स्वामीजी से निवेदन करने लगा कि भगवन्! इस विषय में तो मैं कुछ भी नहीं जानता। स्वामीजी ने कहा कि तुम्हारे प्राचीन काल के लखपति और करोड़पति भी ऐसे ही तत्त्वज्ञानी रहे होंगे। धन मन्दिर आदि बनवाने में कोई तत्त्व ज्ञानी थोड़े ही बन जाता है। इस प्रकार स्वामीजी में चर्चा करने के विषय में अनेक विशेषताएँ थीं। वे चर्चा करते समय घबराते नहीं थे धैर्यपूर्वक जिसकी बात होती उसी की बात से उसे समझा दिया करते थे।[2]

नदी और फूल

एक मन्दिर मार्गी भाई ने स्वामीजी से कहा—आप के लिए नदी पार करने में धर्म है तो हमारे लिए भी फूल चढ़ाने में धर्म है। स्वामीजी ने कहा—एक नदी में कमर तक पानी है एक में जानु तक और एक बिल्कुल सूखी है। ऐसी स्थिति में हम सूखी नदी वाले रास्ते से जायेंगे किन्तु पानी वाली नदी से अनेक कष्ट लेकर भी बचने का प्रयत्न करेंगे। आपके सामने कुछ सूखे फूल हैं कुछ कुम्हलाए फूल और कुछ ताजी कलियाँ हैं इनमें से आप कौन-से चढ़ायेंगे। उसने कहा—हम तो कच्ची कलियाँ चुन-चुन कर चढ़ायेंगे। स्वामीजी ने कहा—अतएव आप के हिंसा के परिणाम ठहरे, और हमारे अहिंसा के। इसलिये यह फूलों का दृष्टान्त नदी के साथ संगत नहीं बैठता।[3]

गाय चारा खाती है और दूध देती है

स्वामीजी ने जिस प्रकार विद्वानों को समझा देने की कला थी उसी प्रकार साधारण व्यक्तियों को भी। सामने का व्यक्ति चाहे कैसा भी क्यों न हो पर वह उनसे प्रभावित हो जाता था। घटना खाखरला गाँव की है। एक बहन के घर धोवन पानी था। साधु उसके घर गए और याचना की। पर वह बहन किसी भी प्रकार उस धोवन पानी को देने के लिए तैयार नहीं हुई। उसका तर्क था कि तुम्हें धोवन पानी दूँगी तो मुझे अगले जन्म में पीने को ऐसा ही पानी मिलेगा। मेरे से ऐसा पानी नहीं पीया जा सकता। अतः कुएँ से लाया हुआ ताजा पानी आप चाहें जितना ले पर यह पानी मैं नहीं दे सकती। इधर साधुओं के लिए भी कठिनाई थी कि वे कुएँ आदि का सचित्त पानी ले नहीं सकते थे। गर्मी के दिन थे। पानी की अत्यन्त आवश्यकता थी। अतः साधुओं ने निवास-स्थान पर आकर स्वामीजी से सारा हाल कह सुनाया।

स्वामीजी उसके घर गए। धोवन मांगने पर वही उत्तर था कि महाराज! मेरे से धोवन नहीं पीया जा सकता। अतः मैं यह पानी नहीं दूँगी। स्वामीजी ने कहा—बहन! तुम गाय को क्या खिलाती हो? उसने कहा—चारा। गाय तुम्हें बदले में क्या देती है? उसने कहा दूध। स्वामीजी ने कहा—इसी प्रकार यदि तुम साधुओं को धोवन दोगी

१—भिक्षु दृष्टान्त ३
२—भिक्षु दृष्टान्त ३९
३—भिक्षु दृष्टान्त ९७

तो भी तुम्हें उसका सुफल ही मिलेगा । यह बात उस बहन की समझ में बिल्कुल ठीक उतर गई और उसने प्रसन्नता पूर्वक पानी देना स्वीकार कर लिया । स्वामीजी के दो शब्दों ने उस पर जादू का सा काम किया ।[1]

नंगे कितने और ढके हुए कितने

स्वामीजी से किसी ने पूछा—विभिन्न सम्प्रदाय हैं अनेक मतमतान्तर हैं । उनमें साधु कौन है एवं असाधु कौन ? स्वामीजी ने कहा—किसी अंधे ने एक वैद्य से पूछा—इस शहर में नंगे कितने हैं और ढके कितने हैं ? वैद्य ने कहा—तुम्हारी आँखों में औषध डाल कर ठीक बना दूं फिर तुम ही देख लेना कि कितने नंगे हैं और कितने ढके हुए ।

स्वामीजी ने तत्त्व बतलाते हुए कहा कि किसी को व्यक्तिगत रूप से साधु या असाधु ठहराने का मेरा काम नहीं है । मैं तो साधु तथा असाधु की पहचान बतला देता हूँ फिर साधु कौन है, असाधु कौन है यह तुम स्वयं ही देखो ।

ढंढण के अन्तरायोदय

विक्रम सम्वत् १८५९ में स्वामीजी ने देवगढ चातुर्मास किया । साथ में चौदह साधु थे और चौदह ही आर्या । दूसरे सम्प्रदाय वाले साधुओं ने कहा—भीखणजी ! हमें यहाँ तीन साधुओं का भी आहार पानी पूर्णतया उपलब्ध नहीं होता आपको इतने साधुओं के लिए आहार कैसे प्राप्त होता होगा ? स्वामीजी ने कहा—द्वारका में सहस्रों साधुओं को आहार पानी मिलता था किन्तु ढंढण मुनि गोचरी से खाली हाथ ही लौटते रहे थे । वह उनके ही अन्तराय कर्म का उदय था ।[2]

कपास और भेड़ को नमस्कार

साधुत्व व्यक्ति की वृत्तियों व आचार से सम्बन्धित है । एक बार किसी अनभिज्ञ व्यक्ति से स्वामीजी का पाला पड़ा । साधुओं का आचार सम्बन्धी प्रश्न आया तो कहने लगा—हम तो ओघा (रजोहरण) मुखपत्ति को नमस्कार करते हैं । चाहे आचार कैसा भी हो हमें क्या पड़ी । स्वामीजी ने कहा—ओघा ऊन से बनता है और ऊन भेड़ों की होती है । अतः यदि ओघे को नमस्कार करने से निस्तार होता तो पहले भेड़ों को नमस्कार करना चाहिए । क्योंकि ओघे को जन्म देने वाली वे ही तो हैं और यदि मुखवस्त्रिका को नमस्कार करने से कल्याण होता है, तो पहले कपास के पौधे को नमस्कार करना चाहिए क्योंकि मुखवस्त्रिका का कपड़ा कपास से बनता है और कपास पौधों पर लगता है । इस प्रकार स्वामीजी केवल वेष पर भरोसा रखने वाले लोगों को विभिन्न युक्तियों से समझाते थे ।

ताँबे पर चाँदी का झोल

आचार के बिना केवल वेष में रहने वालों को स्वामीजी ने ताँबे पर चाँदी के झोल के समान कहा है । एक साहूकार की दुकान में एक ग्राहक आया । उसने एक पैसे का गुड़ लेना चाहा । सेठ ने पैसा लेकर उसे गुड़ दे दिया । उसने सोचा बोहनी अच्छी हुई है पहले पहल ताँबे का पैसा मिला है ।

दूसरे दिन फिर वह किसी वस्तु की खरीद के लिए एक रुपया लेकर आया । साहूकार ने रुपया लेकर उसे आवश्यक वस्तु दे दी । साहूकार ने आज भी शुभ माना क्योंकि पहले पहल उसे चाँदी के दर्शन हुए थे । तीसरे दिन फिर वही ग्राहक किसी वस्तु के लिये एक खोटा रुपया लेकर आया । साहूकार ने उसे हाथ में लेकर देखा रुपया खोटा था भीतर ताँबा और ऊपर चाँदी का झोल लगा हुआ था । साहूकार ने रुपये को नीचे गिराते हुए कहा—आज तो बहुत बुरा हुआ । बोहनी के समय खोटे रुपये के दर्शन हुए हैं ।

ग्राहक ने कहा—सेठजी ! नाराज क्यों होते हैं ? परसों मैंने जब ताँबे का एक पैसा देकर गुड़ खरीदा तो आप बहुत प्रसन्न हुए । कल मैंने एक चाँदी का रुपया देकर आप से सौदा लिया तब भी आप अत्यन्त प्रसन्न मुख में दिखाई पड़े । आज मैं जो रुपया लाया हूँ उसमें ताँबा और चाँदी दोनों हैं । अतः आज तो आप को अधिक प्रसन्न होना चाहिए था ।

सेठ ने समझाते हुए कहा—मूर्ख ! परसों तू जो पैसा लाया था वह केवल शुद्ध ताँबे का था । ताँबे का पहले पहल मिलना शकुन माना गया है इस लिए प्रसन्न हुआ था । कल केवल शुद्ध चाँदी का खरा रुपया था अतः उसे भी बोहनी के समय अच्छा माना गया है इसलिये प्रसन्न हुआ था । आज तू जो रुपया लाया है वह न ताँबा है और न चाँदी । इसके

१—भिक्षु दृष्टान्त ३४
२—भिक्षु दृष्टान्त ९९
३—भिक्षु दृष्टान्त ११
४—भिक्षु दृष्टान्त २९४

नीचे तांबा है और ऊपर चांदी का झोल चढ़ा हुआ है इसलिए यह खोटा है। खोटे सिक्के से तो अपशकुन ही हो सकते हैं।

स्वामीजी ने इसका हार्द समझाते हुए कहा—गृहस्थ पैसे के समान है। साधु रुपये के समान है। साधु का केवल वेष धारण करने वाला झोल चढ़े हुए रुपये के समान है जो न खालिस तांबा है और न चांदी। वह तो केवल धोखा ही है।[1]

उछाला पत्थर तो गिरेगा ही

एक बार किसी भाई ने स्वामीजी से पूछा—भगवन्! साधुओं को असुख क्यों होता है? जब कि वे किसी को भी दुःख नहीं देते।

आचार्य भिक्षु ने कहा—जिसने पत्थर उछाल कर सिर नीचे किया है, वह तो उस पर गिरेगा ही। आगे नहीं उछालेगा तो नहीं गिरेगा। अर्थात् पहले जो दुःख दिया है, वह तो भुगतना ही होगा। अब दुःख नहीं देते हैं, तो आगे दुःख नहीं पाएँगे।[2]

जीव की उन्नति अवनति के कारण

विहार करते-करते आचार्य भिक्षु एक बार सिरयारी गाँव में पधारे। वहाँ निवास करने वाले एक श्रावक ने प्रश्न किया भगवन्! जीव को नरक कौन ले जाता है? स्वामीजी ने कहा—जिस प्रकार कोई भारी पत्थर अपने ही बोझ से अपने आप पेंदे में बैठ जाता है उसी प्रकार कर्म रूपी भार से जीव नरक (अधोगति) की ओर अग्रसर होता है।[3]

उसने दूसरी बार फिर पूछा—भगवन्! जीव ऊँचा स्वर्ग की ओर कैसे उठता है? स्वामी जी ने कहा—जिस प्रकार काठ के टुकड़े को कोई सरोवर के पेंदे में जाकर छोड़े तो वह हल्का होने के कारण अपने आप ही ऊपर उठ जाता है और किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार जो आत्मा कर्मों से जितनी हल्की होती है, वह उतनी ही ऊँची स्वर्ग की ओर उठती रहती है।

तीसरी बार फिर उसी व्यक्ति ने एक प्रश्न किया—भगवन्! आत्मा संसार समुद्र से पार कैसे पहुँचती है? स्वामीजी ने कहा—पैसे को पानी में डालने से वह डूब जाता है किन्तु उसी पैसे को तपाकर एक कटोरी बना ली जाए, वह पानी पर छोड़ने से तैरने लगती है उसके अन्दर यदि एक पैसा रखा जाए तो उसे भी वह तैरा लेती है। इसी प्रकार संयम और तप के द्वारा आत्मा हल्की तथा सत्पात्र होने पर ही संसार समुद्र से पार होती है और अपने सम्पर्क में आने वाले को भी पार करने में सफल होती है। स्वामीजी की बुद्धि कितनी प्रखर थी उनका ज्ञान कितना निर्मल और स्पष्ट था इसका आभास उपर्युक्त प्रसंगों से मिलता है। दुर्गम आध्यात्मिक तत्त्वों को उन्होंने कितनी सरलता से समझाने का प्रयत्न किया है।[4]

रोग कैसे हटे

एक रोगी को एक वैद्य ने कहा—यह औषधि पीओ तुम्हारा रोग दूर हो जाएगा।

रोगी ने कहा—इस औषधि को मैं पेट में नहीं पीकर शरीर पर डाल दूँ तो कैसा? यदि औषधि में गुण होगा तो वह शरीर पर डालने से भी काम ही करेगी।

स्वामीजी इसको ऐसे कहते—जिस प्रकार पेट में डालने की औषधि को शरीर पर डालने से कोई काम नहीं होता उसी प्रकार सन्तों की वाणी सुनकर उस पर श्रद्धा लाए बिना अज्ञान का रोग दूर नहीं होता।[5]

बाड़ीलौर बछड़ा

एक बार किसी भाई ने स्वामीजी से प्रश्न किया—साधु विहार करते-करते रास्ते में थक गया हो और उधर से कोई बैलगाड़ी सहजतया ही आ रही हो तो उस गाड़ी में साधु को बैठा कर लाया जाए तो कैसा?

१—भिक्षु दृष्टान्त २९५
२—भिक्षु दृष्टान्त १२२
३—भिक्षु दृष्टान्त १४१
४—भिक्षु दृष्टान्त १४२
५—भिक्षु दृष्टान्त १४१
६—भिक्षु दृष्टान्त २९९

स्वामीजी ने कहा—गाड़ी के बदले यदि सहजतया गदहा मिल जाए और उसके ऊपर बैठाकर लाया जाए तो कैसा ? प्रश्नकर्त्ता मुंसकाकर बोला—आप गदहे की बात बीच में क्यों लाते हैं ? स्वामीजी ने कहा—साधु के लिये गदहे पर चढ़ना जितना हास्यास्पद है उतना ही गाड़ी पर चढ़ना।[1]

ब्रह्मचर्य और खेत

ब्रह्मचर्य पालने वाले को बहुत बचकर चलना पड़ता है। ब्रह्मचर्य का पालन कोई सहज कार्य नहीं है। स्वामीजी ने कहा है—ब्रह्मचारी पूर्णतः मर्यादित जीवन बिताता हुआ ही अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रख सकता है अन्यथा नहीं। गाँव से सटा हुआ यदि किसी का खेत है तो उसके चारों ओर बाड़ कर देने पर ही वह सुरक्षित रह सकता है अन्यथा पशु उसे नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिए अपने मन वचन और क्रिया को तो पवित्र रखना ही चाहिए, पर साथ-ही साथ कुछ व्यवहारों की बाड़ भी लगानी चाहिए जिससे कि विपरीत लिंगी व्यक्ति का आकर्षण उसे अपने पथ से विचलित न कर सके। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए खेत से भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है।[2]

नींबू की बात चर्चा

ब्रह्मचारी को उपदेश देते समय स्वामीजी समझाया करते कि अपने से विपरीत लिंगी व्यक्ति के साथ क्रिया-कलाप विषयक चर्चा करने से भी बचना चाहिए। वह कार्य नींबू की बात जैसा ही होता है। जिस प्रकार नींबू की बात करते रहने से उसके स्वाद की ओर रुचि पैदा होती है और स्वभावतः ही मुंह में पानी भर आता है। इसलिए ऐसी चर्चा भी व्यक्ति की रुचि को बदलने वाली तथा विचलित कर देने वाली हो सकती है।[3]

आटा और कांकर

ब्रह्मचारी के लिए अपने से विपरीत लिंगी के साथ एक आसन पर बैठना वर्जित है। स्वामीजी उसे समझाने के लिए कहते हैं कि गूंधे हुए आटे के साथ कांकर या कोल्हू की फांक रख देने से उसका सब नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार शरीर की चमड़ी कट जाती है, उसी प्रकार रोटी बनाते समय वह कटने लगता है। उसके किनारे बराबर नहीं रह पाते। ठीक इसी तरह ब्रह्मचारी यदि विपरीत लिंगी के साथ एक आसन पर बैठता है तो ब्रह्मचर्य के प्रति उसके मन की एकाग्रता का खण्डित हो जाना संभव हो जाता है।

सन्निपात में दूध-मिश्री

ब्रह्मचारी के लिए अति गरिष्ठ भोजन वर्जनीय है। फिर वही यदि निरन्तर होने लगे तो फिर उसके दुष्परिणामों का कहना ही क्या ? स्वामीजी ऐसे भोजन को सन्निपात रोग में दूध-मिश्री के तुल्य बतलाया करते थे। सन्निपात में दूध और मिश्री के पीने से वायु का प्रकोप बढ़ जाता है और रोगी उसके द्वारा अधिक पागल हो उठता है। इसी प्रकार निरन्तर गरिष्ठ आहार काम को उद्दीप्त कर देता है।

पेट और हांडी

ब्रह्मचारी मात्रा से अधिक आहार न करें। मात्रा से अधिक आहार करना ब्रह्मचारी के लिए खतरे से खाली नहीं है। स्वामीजी ने इस विषय पर एक उदाहरण देते हुए कहा है—सेर भर अन्न पकाने वाली हांडी में कोई सवा सेर अन्न पकाने का प्रयत्न करता है तो वह हांडी और अनाज दोनों से ही हाथ धो बैठता है। जब अधिक अन्न भरने से हांडी फूट जाती है तो अधिक भोजन से पेट पर बुरा असर कैसे नहीं पड़ता ? अतिभोजी का पेट फटने लगता है नाना प्रकार के रोग उसे अपना अड्डा बना लेते हैं। जीभ की लोलुपता उसे अन्य इन्द्रियों के विषय में भी लोलुप बना देती है। यदि वह उस अधिक आहार को हजम भी कर लेता है तो उसके शरीर में तेजस् की वृद्धि होने से ब्रह्मचर्य खण्डित होने की स्थिति पैदा हो सकती है। इस प्रकार हर दृष्टि से अति आहार वर्जनीय है।

१—भिक्षु दृष्टान्त १५१
२—शील की नववाड़
३—शील की नववाड़ ढा० ३ गा० २
४—शील की नववाड़ ढा० ४ गा० १२
५—शील की नववाड़ ढा० ८ गाथा १४
६—शील की नववाड़ ढाल नवमी गाथा १७

दरिद्र का रत्न

ब्रह्मचारी को अपने शरीर की शोभा विभूषा में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। बना-ठना रहने वाला व्यक्ति साधना के मार्ग में चल नहीं सकता। स्वामीजी कहा करते थे कि अपने आपको सुन्दर दिखाने का प्रयास करना एक मानसिक दुर्बलता है। उसके अंतर्गत में कहीं-न-कहीं अवश्य ही अपने से विपरीत लिंगी के प्रति एक अज्ञात आकर्षण छिपा होता है। वह अपने बनाव से उसको अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है। वह मानसिक कमजोरी उसके ब्रह्मचर्य को नष्ट करने देने वाली हो सकती है। जिस प्रकार किसी दरिद्र के पास रत्न हो तो दूसरा सबल व्यक्ति सहज ही उसे छीन सकता है। क्योंकि कमजोर व्यक्ति के पास प्रतिरोध करने की कोई शक्ति नहीं होती। उसी प्रकार मानसिक कमजोरी वाले व्यक्ति के पास रहा हुआ शील रूपी रत्न भी सुरक्षित नहीं रह सकता। उसकी शारीरिक विभूषा आदि से आकृष्ट होकर कोई भी विपरीत लिंगी उसे विचलित कर सकता है और उसके ब्रह्मचर्य को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए ब्रह्मचारी को विभूषाप्रिय न होकर सादगी से ही रहना चाहिए।[1]

स्वामीजी के साहित्य में इस प्रकार अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े हैं। विविध प्रसंगों पर दिये गए ये उदाहरण शिक्षाप्रद तो हैं ही साथ-ही-साथ इनके पढ़ने से मस्तिष्क भी उर्वर हो उठता है। स्वामीजी अपने उस युग के आगम द्रष्टा के रूप में एक महान् पुरुष थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट सहन करके भी साहित्य साधना की। उनका साहित्य अत्यन्त सरल है। लोक भाषा में संदर्भित होने के साथ-साथ गहन तत्त्व को सिखाने वाला भी है। उनका अधिकांश साहित्य राजस्थानी गीतों की ढालों में रचित है। गायन करते समय उनका यह साहित्य ऐसे ही प्रिय लगता है फिर उसमें यह विभिन्न प्रकार के दृष्टान्त तो सोने में सुगन्ध का-सा काम करते हैं। अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि के द्वारा तत्काल दृष्टान्तों का निर्माण करने में तथा समय पर हृदय में पूरी तौर से बैठ जाने वाली खरी बात कहने में स्वामीजी के समकक्ष आने वाले विरले ही व्यक्ति मिलेंगे। यहाँ पर स्वामीजी के तत्काल दिये हुए उदाहरणों तथा उत्तरों का थोड़ा-सा संकलन किया गया है। पूरा रसास्वाद चाहने वालों को तो स्वामीजी के मूल ग्रन्थों से ही लाभ उठाना चाहिए। जो ऐसा नहीं कर सकते उनको थोड़ा सा आस्वाद तो इस लेख के द्वारा अवश्य प्राप्त होगा।

१—शील की नववाड़ ढा १ गा ८

आ० भिक्षु के चर्चा प्रसंग

(ले० साध्वी श्री मंजुलाजी)

जिज्ञासा अविकसित चेतना का सहज धर्म है। इसलिए मनुष्य सदा अस्पष्ट को स्पष्ट करता आया है। इसीलिए वाद की उत्पत्ति हुई है। आचार्य शंकर ने 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' कह कर मनुष्य की जिज्ञासा के अनवरत जागरण को ज्ञानवृद्धि का सकेत कहा है, तो आचार्य हरिभद्र ने 'आचार्य शिष्ययो पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहात् या कथाभ्यास हेतु स्यादसौवाद उदाहृत' कह कर वाद को एक अविकृत जिज्ञासा का परिणाम दिया है। पर मनुष्य ने उसे अविकृत ही रहने दिया है यह कहना बड़ा कठिन है। क्योंकि जिज्ञासा के साथ-साथ मनुष्य में मोह भी होता है। मोह बन्धन पैदा करता है और उससे पैदा होता है आग्रह। जहाँ आग्रह होता है वहाँ सत्यशोध की भावना नहीं रहती। अपने आपको प्रकट करने की भावना रहती है। इसीलिये वाद के साथ-साथ वितण्डावाद तथा छल-निग्रह स्थानों के विकास ने भी तर्कशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। यद्यपि जैन मनीषियों ने उन्हें ज्ञान-बोध के लिए अनिवार्य नहीं माना पर फिर भी वह अपवाद इतना महाप्राण था कि उसस दर्शन की सारी पद्धतियाँ प्रभावित हो सकती थीं। फलत छल निग्रह-स्थान आदि ने भी मनुष्यों को अपराजेय बनाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है।

वर्तमान की विचार पद्धति इससे भिन्न है। जय और पराजय के सीमातीत विकास ने अंत में तटस्थता को जन्म दिया जो वर्तमान की अपनी एक विशिष्ट उपलब्धि है। आज कोई भी व्यक्ति उलझना नहीं चाहता सुनना और सुनाना चाहता है। यद्यपि सबको अपने साथ ले चलने की मानव की मनोभावना अब भी बूढ़ी नहीं हुई है पर विचारों की बढ़ती हुई गरिमा को सहने के लिए उसका तरुण तन भी अब सक्षम नहीं रहा है। आचार्य भिक्षु में भी अपने विचारों के प्रति असीम आस्था थी पर वे उसे दूसरों पर थोपना पसन्द नहीं करते थे। क्योंकि विचारों का उच्चतम विकास जितना अपने आप में दृढ़ होता है उतना ही वह दूसरों की दृढ़ता का समर्थक होता है। पर आचार्य भिक्षु के सामने एक दूसरी परिस्थिति थी। दूसरे लोग जो उनके विचारों को सहन नहीं कर सकते थे वे उनसे बार-बार चर्चा करते तो आचार्य भिक्षु को भी अनिच्छित रूप से उसमें भाग लेना पड़ता था। यद्यपि जहाँ तक होता वे चर्चा को टालने का यत्न करते पर एक समुदाय के संरक्षक होने के नाते वे उससे सर्वथा बच भी नहीं सकते थे। इस प्रकार उनके जीवन की विविधताओं पर से कोई एक निष्कर्ष निकालना कठिन अवश्य हो सकता है पर वह विचित्र नहीं हो सकता यह निःसंदेह है।

मनुष्य जन्म से ही विद्वान् नहीं होता अत पहले उसे अभ्यास करना आवश्यक होता है। आचार्य भिक्षु ने भी आचार्य रुघनाथजी के चरणों में बैठ कर शास्त्रों के अनन्त आकाश में उड़ने का एक सुनियोजित अभ्यास किया था। इस बीच में स्वयं आचार्य तथा उनके विपुल परिकर से उनका शुद्ध वाद होता रहता होगा यह निःसंदेह है। पर शास्त्रार्थ में भाग लेने का उनका पहला अवसर राजनगर में ही था ऐसा प्रतीत होता है। संवत् १८१५ की बात है। राजनगर के श्रावकों के मन में साधुचर्या को लेकर अनेक प्रश्न पैदा होने लगे थे। इसीलिए उन्होंने साधुओं को वन्दन-नमस्कार करना छोड़ दिया। आचार्य रुघनाथजी को जब यह पता चला तो एक आचार्य होने के नाते उनके लिए श्रावकों को शान्त करना आवश्यक हो गया। इसीलिये उन्होंने अपने शिष्य समुदाय पर दृष्टि दौड़ाई और संत भीखणजी को असंतोष निवारण के लिए उपयुक्त समझा। आचार्य का आदेश पाकर संत भीखणजी अपने सहयोगी साधुओं को लेकर राजनगर की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने श्रावकों के प्रश्नों को ध्यानपूर्वक सुना। उनमें से ये प्रमुख प्रश्न थे—

(१) साधुलोग आधाकर्मी—अपने लिये बनाये हुए आहार तथा स्थानक का उपयोग करते हैं।

(२) अपने लिये खरीदे हुए वस्त्र लेते हैं।

(३) वस्त्र पात्र आदि उपधि मर्यादा से अधिक रखते हैं।

(४) अभिभावकों की आज्ञा लिये बिना ही दीक्षार्थी को दीक्षा देते हैं। इन प्रश्नों के साथ-साथ दान-दया को लेकर भी उन लोगों में काफी विचार-भेद था।

आचार्य भिक्षु ने उनके प्रश्नों को सुना तो मन में एक स्पन्दन हुआ। अपनी चर्चा के दूसरे पक्ष पर विचार करने पर उन्हें लगा कि सिद्धान्त और आचार में स्पष्टतः ही एक भेद रेखा है। पर वे एक विचार पद्धति से जुड़े हुए थे अतः सहसा उसके विरुद्ध कुछ कहने का भी उनका साहस नहीं हुआ। पर वे सत्य को अस्वीकार भी कैसे कर सकते थे। अतः आचार्य भिक्षु को भी श्रावकों के प्रश्नों के सामने झुकना पड़ा। इस नम्रता ने श्रावकों को भी द्रवित कर दिया और उन्होंने सब भिक्षुपर श्रद्धा कर पुनः वन्दना करनी प्रारम्भ कर दी।

लोग व्यवहार से अधिक झुकते हैं सिद्धान्तों से कम। आचार्य भिक्षु के व्यवहार ने लोगों के मन में श्रद्धा के भाव जागृत कर दिये अतः उन्होंने उन पर विश्वास कर लिया। आचार्य भिक्षु पर एक गुरुतर उत्तरदायित्व आ पड़ा कि वे सत्य को प्रकट करने के लिये किस मार्ग का अनुगमन करें। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने निर्णय किया—"मुझ आचार्य तक इन प्रश्नों को पहुँचा देना चाहिए तथा उनसे विनय कर यथासाध्य इनका हल निकालने का प्रयास करना चाहिये।

सत्य क्या है ? इसका निर्विकल्प निर्णय तो सर्वज्ञ ही कर सकते हैं पर हमारी अपनी बुद्धि भी नयनहीन नहीं है यह स्पष्ट है क्योंकि सर्वज्ञ के हाथों में निर्णायकता की डोर सौंपना मनुष्य की अपनी निर्णायकता की ओर ही एक संकेत है। पर उस निर्णायकता में भी इतने स्तर हैं कि उसे किसी एक केन्द्र पर लाकर नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिये परस्पर विवाद होते हैं। सत्य एक है, पर दृष्टियाँ अनेक हैं। इसलिये वह भी अनेक हो जाता है। आचार्य रूघनाथजी ने सत्य को जिस केन्द्र स्थान पर से देखा था आचार्य भिक्षु उसे उस स्थान पर से नहीं देख पा रहे थे अतः दोनों में दृष्टि भेद हो गया। आचार्य भिक्षु ने लगातार दो वर्षों तक उस भेद को मिटाने का प्रयत्न किया पर वे उसमें सफल नहीं हुए। उनका यह आग्रह नहीं था कि मैं जो देखता हूँ वही सही है। पर दूसरा जो कुछ देखता है वही सही है इसका क्या प्रमाण है ? कोई उन्हें अपनी बात समझाता तो शायद वे उसे भी स्वीकार कर लेते पर असत्य के साथ सन्धि करना उन्हें अच्छा नहीं लगा। इसलिये शास्त्रों पर निर्णायकता का बोझ आ पड़ा। जैन आगम गुरु और शिष्य दोनों को समान रूप से मान्य थे। अतः उनके माध्यम से विचार-चिंतन चलता रहा। जब तक कोई हल सामने नहीं आया तो सत्य ने उन्हें अपना भिन्न मार्ग अपनाने की स्वतन्त्रता दे दी।

आचार्य भिक्षु सर्वज्ञ थे यह कहा नहीं जा सकता पर उनकी दृष्टि निर्विकार थी ऐसा कहने के बहुत से प्रमाण हैं। भिन्नता तो उसमें भी हो सकती है क्योंकि यह बुद्धि का धर्म है। पर दो-तीन वर्षों तक लगातार किसी एक विचार पर आ जाने का उनका प्रयास एमा नहीं लगता कि वह भेदमूलक ही था। आचार्य रूघनाथजी से अलग हो जाने के बाद भी उन्हें यह विश्वास नहीं था कि वे किसी नेम सघ के प्रणेता बनेंगे तब फिर उस समय तो उनमें गुरु भाव उत्पन्न ही कैसे हो सकता था ? उन्होंने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर कहा है—मुझ तो अमुक विषय में ऐसा भासित होता है पर किसी दूसरे को इसमें कुछ अन्तर जान पड़े तो वह उसे सुधारने के लिये स्वतन्त्र है। यह सब प्रमाण उनकी अनाग्रह बुद्धि के लिये प्रयुक्त किये जाएँ, तो शायद अनुपयुक्त नहीं होगा। आ रूघनाथ जी का आ भिक्षु पर अत्यन्त स्नेह था इसीलिये जब वे उनसे अलग हुए, तो आ रूघनाथजी को बहुत अखरा। आचार्य भिक्षु भी यदि सत्य के प्रबल समर्थक नहीं होते तो उस स्थिति के प्रवाह में बह जाते। किन्तु एक दिन ऐसा आया कि आ भिक्षु आ रूघनाथजी के समुदाय से अलग हो गये।

क्रान्ति सदा अल्पमत से होती है। उसे सदैव भारी बहुमत का विरोध सहना पड़ता है। आ रूघनाथजी के साथ सारा समाज था और आ भिक्षु के साथ कुछ इने-गिने लोग। इसीलिए बहुमत ने घोर लगाया और उन्हें सर्वप्रथम 'बगड़ी' में आ रूघनाथजी से चर्चा करनी पड़ी। चर्चा का विषय था—"साधु लोग आगमोक्त विधि से आचार का पालन नहीं कर रहे हैं। आ भिक्षु ने शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करते हुए बताया कि साधु लोग कैसे आचार का पालन नहीं कर रहे हैं। तथ्य इतना अनावृत था कि उसे टालना संभव नहीं था। अतः आ रूघनाथजी ने कहा—यह तो ठीक है पर क्या पाँचवें दुषम आरे में शुद्ध साधुत्व पाला जा सकता है ?

आ भिक्षु ने कहा—पाला क्यों नहीं जा सकता। भगवान् महावीर ने स्वयं आचारांग में कहा है—शिथिल और वेशधारी साधु ही ऐसा कहेंगे कि पाँचवें आरे में संयम नहीं पाला जा सकता है। भगवती सूत्र तो यहाँ तक साक्षी देता है कि पाँचवें आरे के अन्त तक शुद्ध साधुत्व का पालन हो सकता है।

आ॰ भिक्षु को शुष्कतर्क में विश्वास नहीं था। उन्हें जहाँ शुद्ध जिज्ञासा के दर्शन होते वहाँ वे सारी रात ही चर्चा में

किया करते थे। जिज्ञासु लोग अधिकतर रात में ही उनके पास आते थे। समाज का इतना कड़ा आतंक था कि दिन में तो लोग उनके पास आने में ही डरते थे। दिन में अगर उनके पास कोई चला जाता तो उसके लिये सामाजिक का दण्ड-विधान तत्कालीन संघ ने कर दिया था। इसलिये लोग छुप-छिप कर ही उनके पास आते थे। एक बार रात के समय एक व्यक्ति उनके पास आया और उनसे तत्त्व चर्चा करने लगा। चर्चा करते-करते काफी रात चली गई पर स्वामीजी तत्त्व चर्चा में निमग्न रहे। साधुओं ने थोड़ी देर प्रतीक्षा भी की पर आखिर जब देखा कि यह चर्चा तो काफी लम्बी चलेगी तो सोने की तैयारी करने लगे। स्वामीजी ने भी उन्हें सो जाने के लिये कहा। इसलिए साधु सो गए। स्वामीजी और आगन्तुक व्यक्ति निश्चिन्त रूप से चर्चा करते रहे। इस प्रकार चर्चा करते-करते रात को दो-तीन बज गये। ज्ञान चर्चा पूरी हुई या नहीं पर आगन्तुक व्यक्ति को इस भय से कि प्रकाश में उसे कोई देख लेगा चला जाना पड़ा। वह चला गया तो स्वामी जी ने देखा अब तो रात थोड़ी ही शेष रही है, अतः अब सोकर क्या करेंगे बैठे-बैठे स्वाध्याय करने लगे। थोड़ी देर में साधु लोग उठे तो देखा कि स्वामीजी तो स्वाध्याय रत हैं। उन्होंने पूछा—आप तो बहुत जल्दी उठ गये ? स्वामीजी ने मुसकराकर कहा—सोया ही कब था ? सब साधु विस्मय विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखते ही रह गये।

अब हम उनके कुछ ऐसे चर्चा प्रसंग उद्धृत कर रहे हैं जिनसे पाठकों को स्वयं ही उनके विचार अवगत हो जायेंगे। कोई व्यक्ति विवाद के लिये उनके पास आता तो वे टालने का ही प्रयत्न करते। एक बार उदयपुर में एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला —भीखणजी ! मुझसे चर्चा करो। स्वामीजी ने गंभीर स्वर में कहा—तुम हमारे स्थान पर आये हो अतः तुम से क्या चर्चा करें। तब वह कहने लगा—नहीं कुछ तो चर्चा करनी ही पड़ेगी। स्वामीजी कुछ मुसकराये और कहने लगे—अच्छा तुम सन्नी[1] हो या असन्नी[2] ?

व्यक्ति—सन्नी हूँ।

स्वामी जी—कैसे ?

व्यक्ति—नहीं नहीं मिच्छामिदुक्कडं मैं तो असन्नी हूँ।

स्वामीजी—कैसे ?

व्यक्ति—नहीं नहीं मिच्छामिदुक्कडं मैं तो सन्नी-असन्नी दोनों ही नहीं हूँ ?

स्वामीजी—कैसे ?

अब तो उससे रहा न गया। गुस्से में आ गया और स्वामीजी की छाती में एक मुक्का मारकर चलता बना।

आमेट में पुरके कुछ भाई-बहन स्वामीजी के दर्शनार्थ आये। उनमें एक प्रश्न को लेकर परस्पर विवाद छिड़ गया। विवाद प्रश्न यह था कि छः पर्याप्ति तथा दस प्राण जीव हैं या अजीव ? कुछ लोग कहते—जीव हैं और दूसरे कुछ लोग कहते अजीव हैं-दोनों पक्षों के अपने-अपने प्रमाण थे। खूब प्रमाण सामने आये पर कोई निर्णय नहीं हो सका। बढ़ते बढ़ते विवाद इतना बढ़ गया कि अंत में उन्हें निर्णय के लिये स्वामीजी के पास आना पड़ा। स्वामीजी ने दोनों पक्षों की बात सुनी और कहने लगे—ऐसे विषय जो विवादग्रस्त हों हम अगर बिना समझे ही छोड़ दें तो हमारी कोई हानि नहीं होती। स्वाध्याय के लिये हमारे पास ऐसे अनेक विषय हैं कि अगर हम उनका विचार-विश्लेषण करें तो वर्षों तक कर सकते हैं। तब इन्हें छोड़कर विवाद में क्यों पड़ा जाय ?

उस समय जब कि स्वामीजी के साथियों की संख्या बहुत ही थोड़ी थी कुछ साथी फिर अलग हो गए तथा उन्होंने अपना स्वतंत्र प्रचार करना आरम्भ कर दिया। स्वामीजी के एक प्रिय शिष्य मुनि श्री वेणीरामजी ने उनसे निवेदन किया—आपकी आज्ञा हो तो मैं उनसे चर्चा करने के लिये जाऊँ। स्वामीजी ने उन्हें रोकते हुए कहा—नहीं। अभी समय नहीं है। चर्चा तभी करनी चाहिये जब कि करने वालों में जिज्ञासा हो। बिना जिज्ञासा के चर्चा करना अच्छा नहीं होता।

उन्हें अपने आचरणों और सिद्धान्तों पर पूरा विश्वास था अतः हार और जीत को वे विशेष महत्त्व नहीं देते थे। बहुधा कुछ लोग उनके पास केवल इसलिये आते थे कि वे बाहर जाकर यह घोषित कर सकें कि उन्होंने भीखणजी से चर्चा

१—समनस्क

२—अमनस्क

की है। पर स्वामीजी किसी से लड़ाई करना नहीं चाहते थे। पंथा के देखते उससे उसी प्रकार से निर्वाह कर लेते। टीकमडोसी नाम का एक अच्छा जानकार श्रावक उनके पास चर्चा के लिये आया। स्वामीजी ने उससे बातचीत प्रारम्भ कर दी। पर टीकमडोसी में यह एक विशेषता थी कि वह अपनी बात अधिक कहता और दूसरों की कम सुनता। पर स्वामी जी भी एक ही माहिर थे। उन्होंने एक रास्ता निकाल लिया। टीकमडोसी उनसे जो प्रश्न पूछता वे उसका लिखकर उत्तर दे देते। इस प्रकार चर्चा वाग्जाल से जटिल होने से बच जाती और टीकमडोसी के जिज्ञासु मानस को भी शान्ति मिल जाती।

वे शुद्ध ज्ञान के हामी थे वितण्डा के नहीं। पर उन्हें ऐसे व्यक्तियों से भी पाला पड़ जाता था कि जो केवल विरोध के लिये ही चर्चा करना चाहते थे। उस समय स्वामीजी उन्हें जिस प्रकार उत्तर देते उसके कुछ उदाहरण ये हैं—एक बार हीरजी नाम के एक व्यक्ति ने उनसे प्रश्न पूछा। स्वामीजी ने उसका प्रश्न सुना और कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। हीरजी कहने लगे—मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। स्वामीजी ने कहा—कोई अपवित्र (विष्टायुक्त) फूटी हांडी (ठीकरा) लेकर आये और कहे मुझे इसमें घी तौल दो तो कौन समझदार व्यक्ति उसमें घी तौल देगा? इसी प्रकार जो अशुद्ध भावना से प्रश्न करता है, उसे मैं उत्तर नहीं देना चाहता।

एक व्यक्ति पूछने लगा—भीखणजी! संसार में साधु कितने हैं और असाधु कितने हैं? स्वामीजी के सामने कठिन समस्या आई। किसको साधु कहूँ और किसको असाधु। वह व्यक्ति भी इसलिये आया था कि यदि भीखणजी किसी को असाधु कह दें तो मैं लोगों को उनके विरुद्ध भड़काऊँ। पर स्वामीजी भी बड़े चतुर थे। उन्होंने उसे एक उदाहरण दिया—एक वैद्य के पास एक अंधा आदमी आया और पूछने लगा—वैद्यराजजी! संसार में नंगे लोग कितने हैं तथा कपड़े पहने हुए कितने? वैद्य ने उसका अन्धापन मिटा दिया जिससे वह स्वयं देख सके। इसी प्रकार मैं तुमको साधु और असाधु के लक्षण बता देता हूँ। तुम स्वयं देख लेना संसार में साधु कितने और असाधु कितने हैं।

एक व्यक्ति स्वामीजी के पास आया और बोला—भीखणजी अमुक विषय में आप तो ऐसा कहते हैं तथा दूसरे साधु ऐसा कहते हैं, यह परस्पर विरोध क्यों? आपको इसका सार (निर्णय) निकालना चाहिये। स्वामीजी कुछ हँसे और बोले—भाई जिन्हें हाथी ही नहीं दीखता उन्हें चींटी कैसे दिखाई देगी। धर्म का तत्त्व बड़ा गहन है, उसे समझनेवाले विरले ही आत्मार्थी होते हैं। जो स्पष्ट रूप से हिंसा करते हैं, उन्हें हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मता तक ले जाने से क्या लाभ हो सकता है? आगन्तुक यह उत्तर पाकर इतना सन्तुष्ट हुआ कि वह सदा के लिये उनका ही हो गया।

पीपाड़ का एक व्यक्ति 'मालजी' एक बार स्वामीजी के पास चर्चा करने के लिये आया। कहने लगा आप किसी प्यासे को पानी पिलाने में पाप कैसे कहते हैं? स्वामीजी ने उसी से पूछ लिया—कोई व्यक्ति किसी जीव को मार कर खावे तो उसे पाप हुआ या धर्म?

मालजी—पाप! स्वामीजी—यदि कोई दूसरे को खिलावे तो! मालजी—पाप। यह सुनते ही उन्होंने भारमलजी से कहा—भारमलजी! स्याही और पत्र लाओ और लिखो कि दूसरे को खिलाने में मालजी पाप कहते हैं। मालजी तो बिचारा आश्चर्यचकित रह गया। कहने लगा मैंने तो खिलाने में पाप कहा है। पानी पिलाने में पाप कहाँ कहा है। स्वामी जी—पानी में क्या जीव नहीं होते? जब स्वयं के पानी पीने में पाप है तो दूसरों को पानी पिलाने में धर्म कहाँ से होगा? अब तो मालजी को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी। पर मताग्रह मनुष्य को यों सीधे से सत्य का दर्शन कहाँ होने देता है। कहने लगा—पाप है तो मेरा नाम मत लिखियेगा।

दान और दया का प्रसंग स्वामीजी के विचारों की एक नई अभिव्यञ्जना थी। इसलिये लोग उसको सहसा समझ नहीं पाते थे। छोटी समझ वाले लोग उसमें उलझ जाते और स्वामीजी को बुरा-भला कहने में कुछ कमी नहीं रखते। भला किसी जीव को बचाना भी धर्म नहीं होगा तो फिर धर्म होगा ही क्या? इन्हीं विचारों को लेकर एक व्यक्ति स्वामीजी के पास चर्चा करने के लिये आया और पूछने लगा—कीड़ी को बचाना क्या है या नहीं?

स्वामीजी ने अपने गहन सिद्धान्त को उसे कितनी सरलता से समझा दिया यह उनके इस प्रसंग से कितना स्पष्ट है—जो सचमुच ही मनन योग्य है।

स्वामीजी—कीड़ी को कीड़ी जाने वह ज्ञान है या स्वयं कीड़ी ज्ञान है?

जिज्ञासु—चींटी को चींटी जानना ज्ञान है।

स्वामीजी—चींटी को चींटी सरधना यह सम्यक्त्व है या चींटी स्वयं सम्यक्त्व है?

जिज्ञासु—चींटी को चींटी सरधना ही सम्यक्त्व है।

स्वामीजी—चींटी को मारने का त्याग किया वह दया है या चींटी बच गई वह दया ?

जिज्ञासु—चींटी बच गई वह दया।

स्वामीजी—मान लो चींटी बच गई। थोड़ी देर बाद जोर से हवा आई और चींटी हवा में उड़ गई, तो क्या उसे बचाने वाले की दया भी उड़ गई?

जिज्ञासु कुछ सोचकर बोला—चींटी बच गई यह दया नहीं है। उसे मारने का त्याग किया यही दया है।

स्वामीजी—तो चींटी को बचाने का उपाय करना चाहिये। या उसे मारने का?

अब तो जिज्ञासु स्वयं ही समझ गया और बोला—बचा हम किस-किस को सकते हैं हम नहीं मारें यही दया है। इसलिये किसी को नहीं मारना ही दया है।

इस प्रकार आचार्य भिक्षु के जीवन के ऐसे अनेक चर्चा प्रसंग हैं जो उनके व्यक्तित्व को अनायास ही प्रकट कर देते हैं। पर उन सब का यहाँ उल्लेख संभव नहीं है। फिर भी इनके आधार पर हम यह तो जान ही सकते हैं कि वे एक अत्यन्त अनाग्रही तथा सम्यक् धर्म नेता थे। यद्यपि उनके जीवन में अनेक शास्त्रीय चर्चाओं का भी अवसर आया है जिनमें टीकमडोसी की चर्चा बखू चर्चा आदि प्रमुख हैं पर वह उनके जीवन का सैद्धान्तिक पक्ष था। अतः यहाँ पर हम उन्हें छेड़ना नहीं चाहेंगे।

महामहिम आ० भिक्षु का विहार क्षेत्र और उनके अनुयायी

(ले०—साध्वी श्री छगनांजी)

साधक सीमा के बंधन में नहीं रहते। वे विस्तृत होकर विस्तार करते हैं। उनका बहिरंग विस्तरण ही श्रमण संस्कृति में विहार शब्द से अभिहित होता है। विहार साधना का एक वह रम्य पहलू है जो उसे निखार देता है परिष्कृत कर देता है, गति देता है चेतना देता है। किसी कवि ने साधक के लिये कितना सुन्दर चित्रण किया है—

पानी तो बहता भला पड़ा गन्दीला होय।
साधु तो रमता भला दाग न लागे कोय॥

महामहिम आ० भिक्षु भी श्रमण परम्परा के महान साधक थे। पद विहार उनकी साधना की दृढ़तम संकल्प था। उनका व्यक्तित्व विचित्र था जो परिश्रम की बूंदो से स्थापित हुआ और संघर्षों की चोटो से चमका था। वे चिन्तन के धनी थे। उनका बौद्धिक और शारीरिक श्रम अतुलनीय था। उनकी सूक्ष्म मनीषा ने शास्त्रो का अपूर्व चिन्तन मन्थन करके इनको दिव्यालोक दिया। दूसरे पक्ष में उनके चरणारविन्दो न विशाल भू भाग का स्पर्श कर, सहस्रों मनुष्यो के मानस में क्षीर-नीर का विवेक जागृत कर अविरल मानवीय संस्कृति को उपकृत किया है।

पच्चीस वर्ष की वय में दीक्षित हुए। ७ वर्ष की आयु पूर्ण करके दिवंगत हुए। ५ वर्ष तक साधु पर्याय में रहे। ८ वर्ष तक रूघनाथजी के संघ में रहे। १८१७ में तेरा पथ की भावपती-दीक्षा स्वीकार की।

यद्यपि पद विहार आपका यावज्जीवन का व्रत था फिर भी आपने जब इस नूतन महा पथ को ग्रहण किया तब जन-सम्पर्क का मार्ग अप्रशस्त दिखाई दे रहा था। आपके शब्द स्वयं इस बात के प्रतीक हैं।

'मरण धार मम मझो
लोक समझता दीसै नहीं करस्या खेवो पार।

स्वामीजी स्वसाधना में लगे तपस्या करते और सरिता के संतप्त बालुकणो में आतापना लेते पर महापुरुष के जीवन से यह विश्व कुछ पाना चाहता है। थिरपालजी और फतेहचन्दजी दो बड़े संत जिनको स्वामीजी के जीवन में आशा की किरण दिखाई दी लोकान्तिक देवो की तरह उनकी सेवा में उपस्थित हुए और करबद्ध होकर प्रार्थना की—भगवन्! तपस्या का कार्य तो हम भी कर सकते हैं पर आपसे इस विश्व के उपकृत होने की संभावना है। आपकी मनीषा में अद्भुत क्षमता है—सत्पथ अभिव्यक्ति करने की जनमानस का मंथन करने की और उन्हें समझाने की अतः आप जनोद्धार के लिए कुछ करें।

दोनों सन्तो की अनन्य प्रेरणा से निराशा के बादल फट गये। उनकी दिव्य वाणी ने उनके हृदय को हिला दिया। स्वामीजी की गति ने एक नया मोड़ लिया। भगवान् महावीर व गौतम बुद्ध और राजकुमार महेन्द्र की तरह जनकल्याण की पवित्र भावना को लेकर उन्होंने भ्रमण किया। राजस्थान के विशाल वक्षस्थल पर घूमे। 'चरैवेति चरैवेति' ही उनकी साधना का लक्ष्य बना। वे अन्तिम चातुर्मास तक वृद्धावस्था में भी चंक्रमण करते रहे। एक-एक ग्राम में कई बार पधारे। अतः आपका पद विहार राजस्थान में ससीम रहते हुये भी सुविस्तृत रहा है। आपके समग्र विहार को उस समय की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के आधार पर ५ विभागो में विभक्त कर सकते हैं —

(क) मेवाड़ (ख) मारवाड़ (ग) ढूंढाड़ (घ) हाड़ोती (ङ) थली।

मेवाड़ मारवाड़ दोनो ही क्षेत्र स्वामीजी के विहरण के मुख्य स्थल रहे हैं। दोनो ही वीर पुरुषो की भूमियाँ हैं। श्यामल अनेक शैलमालाओ से परिवृत हैं। जहाँ छोटी-छोटी पहाड़ियो में कल-कल करता हुआ मुक्त निनाद मनुष्यो के मुक्त चिन्तन का स्पष्ट प्रतीक है। जिनके कणो में योगिनी मीरा और महाराणा प्रताप जैसे वीर पैदा हुये जहाँ भामाशाह जैसे दानवीर व उदारचेता उत्पन्न हुए, जहाँ सहस्रो वीराङ्गनाओ का सतीत्व जौहर की ज्वाला में चमक उठा। आचार्य भिक्षु ने प्रचार व विहार के लिए उसी भूमि को सर्वोत्तम समझा। वे लौह पुरुष की तरह पहाड़ियो पत्थरो शैलमालाओ और

विषमोन्नत घाटियों में निर्भीक होकर विचरे। अरावली की सुदीर्घ विषमोन्नत घाटियों में उनके चरण बढ़ते ही गये। कहीं रुके नहीं अपितु चलते ही गये। उनकी गति में अपूर्व उत्साह था। भावना में अन्तश्चेतना का ओजस्वी स्फुरण था। जहाँ उपकार देखा आपके कदम उसी ओर चल पड़े। छोटे-छोटे ग्रामों में शहरों में और नगरों में धर्म की सद् स्रोतस्विनी प्रवाहित की। मेवाड़ मारवाड़ के कण-कण में नई चेतना भर दी। आज भी वहाँ की शैल-श्रेणियों में निर्झरों के प्रमुक्त गीतों में मानो स्वामीजी के पद चापों की प्रतिध्वनियाँ गूँज रही हैं।

नई दीक्षा के बाद आप के कुल ४४ चातुर्मास हुए जिनमें ४२ चातुर्मासों का सौभाग्य मारवाड़ व मेवाड़ की पुण्य स्थली को मिला जिनका विवरण इस प्रकार है —

स्थान	संख्या	संवत्	देश
केलवा[1]	६	१८१७ २१ २५, ३८ ४९ ५८	मेवाड़
बरल[2]	१	१८१८	मारवाड़
राजनगर	१	१८२	मेवाड़
कंटालिया	२	१८२४ २८	मारवाड़
बगड़ी	३	१८२७ ३ ३६	मारवाड़
माधोपुर	२	१८३१ ४८	ढूंढाड़
पीपाड़	२	१८३४ ४५	मारवाड़
आमेट	१	१८३५	मेवाड़
पादु	१	१८३७	मारवाड़
सोजत	१	१८५३	मारवाड़
नाथद्वार	३	१८४५, ५ ५६	मेवाड़
पुर	२	१८४० ५०	मेवाड़
खेरवा	५	१८२६ ३२ ४१ ४६ ५४	मारवाड़
पाली	७	१८२३ ३३ ४ ४४ ५२ ५५ ५९	मारवाड़
सिरियारी	७	१८१९ २२ २९, ३९ ४२ ५१ ६	मारवाड़

मेवाड़-मारवाड़ में स्वामीजी के विहार स्थल निम्नांकित हैं —

कांकरोली केलवा आमेट लावासरदारगढ़ देवगढ़ गोगुन्दा गंगापुर राजनगर भीलवाड़ा पुर, पीपली कुवाथल देवरियो कम्मोड़ी कुरज कुवारिया रेलमगरा पोठल्या आरज भाणो नन्दवाणो चामारो कोशीवरिया चारभुजा मायरा चौरिया पुर, केलवाड़ा नीमला रीछेड़ जोधपुर, पाली बगाणा बोराबड़ चाणोद भरत अनारण सुमरी मोखम राम सिंह का गुड़ा माण्डा सामर, सारसी खेरवा सीवाड़ा भगाणा पाणराव पीसांगण सहारी कूपोड़ वगैरह।

मेवाड़ और मारवाड़ के बाद आप ढूंढाड़ में पधारे। किशनगढ़ जयपुर, आपके पद-चिह्नों से पवित्र हो गए। ढूंढाड़ के छोटे-छोटे प्रदेशों को भी आपने खूब निखारा। वहाँ आपके स्वल्पकालीन प्रवास में भी गंगापुर पूर्व। एक से एक बढ़कर धर्म श्रावक तैयार हुए, जिनकी क्रियाशीलता अनुपमेय थी। जयपुर के भाया हरचन्द का नाम उल्लेखनीय है जो स्वामीजी की अनुपस्थिति में भी सत्य का आराधन व प्रचार करते रहे। हाड़ोती में भी आपका पावन पदार्पण हुआ। कोटा बून्दी के सुषुप्त मानव समूह में चेतना की लहर दौड़ गई। आपके दिव्य आलोक से वह भू-भाग आलोकित हो उठा। जन जन को एक नई राह मिली पर एक चातुर्मास का सुदीर्घ समय भी हाड़ोती के भाग्य में नहीं बदा था। यदि ऐसा होता तो वहाँ भी बहुत कुछ प्रचार की संभावना थी।

१—यहाँ स्वामी जी का प्रथम चातुर्मास अन्धेरी ओरी (काल कोठरी) में हुआ और भारमलजी स्वामी के चरणों में भार लिपट गया था।

२—यहाँ गुरु रूपचन्दजी के साथ जोरदार चर्चा हुई थी।

थली प्रवेश

किसी विशेष स्थिति में स्वामीजी सं० १८३६ में थली भी पधारे। चन्देरी (लाडनूं) में श्री रामदेवजी के मन्दिर में ठहरे। फिर आसपास ऊपर होते हुए चूरू पधारे। पांच दिन ठहरे। स्वामीजी की यह यात्रा ५०–६० मील की थी। यद्यपि आज की दृष्टि से इतनी बड़ी यात्रा कुछ अधिक नहीं है तथापि उस युग की परिस्थिति के अनुपात में वह बहुत लम्बी यात्रा थी। स्वामीजी को एक ग्राम से दूसरे ग्राम में पहुँचने में भी भयंकर तूफानी संघर्षों से बाजी लेनी पड़ती थी। न स्थान मिलता और न पेट भर आहार ही मिला करता प्रत्युत् जन-जन से पद-पद पर तिरस्कार भरे वचनों के तीखे प्रहार ही मिलते।

स्वामीजी की इस सुदीर्घ यात्रा में संघर्षों के पर्वत तो खड़े ही थे चेचक की बीमारी ने भी आपके अदम्य उत्साह व आपकी वीरता को परखना चाहा। भारीमालजी स्वामी पर आक्रमण हुआ पर आपकी अविराम गति को कौन रोक सकता था? भारीमाल जी स्वामी और अन्य शिष्यों को वहीं छोड़ आपने केवल दो सतों के साथ इतनी लम्बी धूलों से परिपूर्ण सकरी पगडंडी पार की। इस दृष्टि से यह यात्रा आज की १५० मील की यात्रा से भी भारी पड़ जाती है।

स्वामीजी वृद्धावस्था में भी विचरते रहे। एक बार यति कान्तिविजयजी मिले। परस्पर मधुर संलाप चल पड़ा

यतिजी—आप दुमिया नगरी पधारे या नहीं?

स्वामीजी—यतिजी! दुमिया नगरी कौन-सी?

यतिजी (साहंकार)—मोटे गाँव।

यतिजी को यह गर्व था कि वहाँ हमारे श्रावकों का बाहुल्य है। भीखणजी की दाल वहाँ पर गलेगी नहीं पर यतिजी के भावों को ताड़ते हुए स्वामीजी ने कहा—दुमिया नगरी में भी जाने का विचार है। आखिर वहाँ दो बार पधारे। भारी उपकार हुआ। वहाँ के पोरवाल परिवारों ने स्वामीजी की श्रद्धा ग्रहण की। बहुत से लोग सुलभ बोधि बने।

शासन के अन्यतम स्तम्भ मंत्री मुनि और तपस्वी मुनि श्री सुखलालजी जैसे अनर्घ्य रत्न उसी दुमिया नगरी की खान से निकले जहाँ स्वामीजी के अपमान की बूँदें गिरी थी। दूसरी बार जब स्वामीजी मोटे गाँव पधारे उस समय अवस्था वृद्ध हो गई थी। चलने में अत्यन्त थकान का अनुभव होता था। स्वामीजी ने स्वयं इस स्थिति का वर्णन अपने मुक्तक पद्य में किया है

"घाटी री घाटी चढ़णी दोहिली दोहरो है मूढ़ाले रो घाट
मोड़ी तो पग मोड़े घणा आगे है च्यार तीर्थ रा घाट
जिनेश्वर देवाँ दुःषमा आरो हो चढ़णो दोहिलो।

स्वामीजी के पावन चरणारविन्दों से पवित्र होनेवाले समग्र राजस्थान के भू-भाग को आजकी भौगोलिक स्थिति के आधार पर निम्नानुसार पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) उदयपुर (२) जयपुर (३) जोधपुर (४) बीकानेर और (५) कोटा।

आप बीकानेर डिवीजन में चूरू जयपुर डिवीजन में सवाई माधोपुर तथा कोटा डिवीजन में कोटा-बूंदी तक पधारे। आप उदयपुर और जोधपुर के अधिकांश भू भागों में भी पहुँचे।

स्वामीजी के विहार के समय कितनी कठिन परिस्थितियाँ थीं उनका चित्र इन पद्यों में आँका गया है

"जोधाण्यो जद इण मार्ग पर, संसार हुयो सारे सारो
रहण ने स्थान दियो कोनी संकट सूं वीर नहीं हार्यो।
खाणे को मिलती कोनी ही सोने को सोच नहीं जाण्यो
बो दुनियां ने समझावण न सारी सारी रातां जाग्यो।
छाती में सही बन्दूकारी माथा पर ठोकां री सेली
भाग्यां रा ताप सहन ने भी, भाभर की गहराई ले ली।

जो मिमल गयो अंगारां ने जब जमता सोलां पर चाल्यो
कष्टां के भारी मेरु में जो कोमल कन्धा पर झाल्यो ।"

इन पद्यों तथा आचार्य जयगणी के 'पाँच वर्ष पहिचाण रे, अन्न पण पूरो ना मिल्यो
बहुलपणे जब जाण रे, घी चोपड़्यो नांहि रह्यो' से स्पष्ट पता चलता है कि उनको किस तरह से बाधाओं को चीर कर आगे बढ़ना पड़ता था पर सौभाग्य की बात है कि स्वामीजी के कदमों पर चलनेवाले जो अनुयायी थे वे अतुलनीय सिद्ध हुए ।

बेणीरामजी स्वामी

अद्वितीय कर्मठ स्वामी बेणीरामजी जो इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में समुल्लस्य हैं व स्वामीजी की वाणी को राजस्थान तक ही सीमित न रहने देकर उनके दिव्य सन्देश को लेकर मध्य भारत में पहुँचे ।

ये स्वामीजी के प्रचार कार्य में अनन्य सहयोगी रहे । आपको श्री भिक्षु रचित सर्व ग्रन्थ कंठस्थ थे । सैद्धान्तिक क्षेत्र में भी आप प्रवीण थे । चर्चा के विषय में भी आप से बाजी लेनेवाला कोई विरला ही मिल पाता । व्याख्यान देने की आपकी शैली अत्यन्त सुन्दर और मौलिक दृष्टान्तों से पूर्ण रहती थी । आपका एक-एक शब्द इतना मधुर होता कि वह चुम्बक की तरह श्रोता को खींच लेता । आपका साहस सराहनीय था । आप जब मालवा में पहुँचे तब आपको एक दिन में तीन तीन स्थानों में ठहरना पड़ा पर आप तिल मात्र भी विचलित न हुए, प्रत्युत अन्तर में उत्साह की लौ जलती ही रही । आप वहाँ सिंह की तरह गरजे । आपकी धाक कायरों को कम्पित कर देती तथा वीरों में साहस भर देती थी । आपकी सच्चाई के समक्ष कपोल तक हवा हो जाते । आपने मध्य भारत में खूब प्रचार किया ।

आप निर्भीक थे । एक बार चोर सन्तों की पुस्तकें ले गये । तब आप चोरों के पद-चिह्न देखकर चोर पल्ली में पहुँचे तथा रात भर वहीं ठहरे एवं उन्हें समझाकर एक पात्र और कुछ चित्रों के पन्नों के अतिरिक्त और सब कुछ ले आये । तुंगिया नगरी में भी स्वामीजी ने सब दृष्टियों से सुयोग्य समझकर अपने से पहले बेणीरामजी स्वामी को भेजा था । स्वामीजी के प्रचारकों में सर्वप्रथम नाम आपका रहेगा ।

मुनि थिरपाल और फतेहचन्द

ये दोनों ही स्वामीजी के शासन के चमकते सितारे एवं श्रद्धा के साकार रूप थे । इनमें स्वामीजी के प्रति अगाध भक्ति थी । दोनों ही विनयवान घोर तपस्वी व निरभिमानी थे । जयाचार्य ने मुनि श्री थिरपाल को 'क्षम-मूर्ति' विशेषण से विभूषित किया । दोनों ने अपनी सुदीर्घ तपस्याओं से शासन की नींव को मजबूत किया है । धर्मवृद्धि के लिये आपने स्वामीजी को जो अपूर्व प्रेरणा दी थी उसके लिये तेरापंथ शासन ही नहीं अपितु समग्र मानव समाज युग-युगतक ऋणी रहेगा ।

मुनि टोकरजी और हरनाथजी

मुनिश्री टोकरजी व हरनाथजी भी बड़े सुयोग्य संत थे । यद्यपि इन्होंने स्वयं विशेष प्रचार नहीं किया फिर भी इन्होंने स्वामी जी के मनोनुकूल अपना जीवन बिताकर प्रचार-कार्य में सहायता दी है । स्वामीजी के मुखारविन्द से निकले शब्द—

"गण संयम-पालन में इनका कितना सहयोग रहा" स्पष्ट ही उनकी कुशल सहयोगिता के प्रतीक हैं ।

मुनि खेतसीजी

मुनि खेतसीजी का भी नाम युग-युग तक अमर रहेगा जिन्होंने कठोर अनुशासन प्रिय स्वामीजी की आन्तरिक कृपा अपने गुरुतम व्यवहार से प्राप्त की । वे वृद्धावस्था में उनकी सेवा के लिए खड़े-खड़े रात भर काम कर भविष्य के लिए एक सुन्दर उदाहरण छोड़ गए । आपके आचार-विचार सहज पवित्र बालक की तरह व धवल स्फटिक की तरह निर्मल थे । इसी लिए स्वामीजी ने आपको 'सतयुगी' विशेषण से सम्बोधित किया । जयाचार्य ने यथाधार कह कर आपको बहुमान दिया और आपका जीवन चरित्र अलग लिखा । द्वितीयाचार्य भारमलजी की लेखनी द्वारा आपका नाम युवाचार्य के समकक्ष अंकित हुआ । ये स्वामीजी के अनन्य सफल सुयोग्य सहायक शिष्य थे । इन्होंने २२ वर्ष तक स्वामीजी की तन्मय होकर सेवा की ।

मुनि हेमराजजी

स्वामीजी के सुयोग्य शिष्यों में ऋषि हेमराजजी का नाम भी कभी भुलाया नहीं जा सकता जिनका जीवन एक नहीं अनेक रूपों में निखरा है। गृहस्थीपन में ही इनकी योग्यता को देखकर स्वामीजी की इनपर दृष्टि पड़ी थी। आपकी मनीषा बहुत ही सूक्ष्म और कण्ठ सुरीला था। बचपन में गृहस्थावास में भी आप व्याख्यान देते। चर्चा करने में आप विचक्षण व निर्भीक थे। विरोधी संतों के स्थान पर जाते और उन्हें परास्त करते। आप व्यापार के लिए पाली आदि शहरों में जाते तथा वहाँ अपने सम्पर्क में आने वाले मनुष्यों को समझाते और धर्म की तरफ आकृष्ट करते। आपने जब साधु-प्रतिक्रमण सीखना प्रारम्भ किया तभी स्वामीजी ने भारीमालजी स्वामी को संकेत कर दिया—*भारीमाल! तुम अब निश्चिन्त रह सकोगे। इतने दिन मैं था। अब कभी चर्चा का काम पड़े तो हेमराज को तैयार समझना।* जयाचार्य के विद्यागुरु आप ही थे। जयाचार्य के अनेक पद्यों में सहज ही आपकी असाधारण योग्यता मुखरित हो रही है

"उपशम समदम शील में हो हेम सरीखा संत
भीखु भार निज शिरमा दीधो हो धाम महा गुणवंत।

आप एक सच्चे आत्मार्थी और परोपकारी संत थे। आपने बहुतों को दीक्षा दी बहुतों को श्रावक बनाया और बहुत से संतों को शिक्षा द्वारा सुयोग्य साँचे में ढाला है। आप जिन शासन के स्तम्भ कुशल धर्माधार और स्वामीजी के सफल सन्देशवाहक थे।

भारमलजी स्वामी

उपर्युक्त सप्त मुनि स्वामीजी के कार्यक्षेत्र के सप्तर्षि नक्षत्र थे। इस सप्तर्षि मण्डल में भारमलजी स्वामी ध्रुव सितारे के समान थे जिन्होंने धर्म-निष्ठा के कारण पिता के अमित स्नेह-बंधन को तोड़ा। नागपाश के बंधन से भी जिनका हृदय भयभीत नहीं हुआ। वे १८ वर्ष तक युवाचार्य रहे और स्वामीजी के अन्तर को परखने वाले थे। इन सुयोग्य शिष्यों से स्वामीजी को अपने प्रचार-प्रसार के कार्य में बड़ी सुविधा प्रेरणा और सहायता मिली। पर कहना होगा कि स्वामीजी के शिष्य समुदाय की तरह श्रावक सम्पदा भी बेजोड़ थी। श्रावकों का नाम आते ही स्वामीजी के सन्देशवाहक टीकमजी डोसी और गेरूलालजी व्यास का नाम स्वत स्मृति में उभर आता है जिन्होंने स्वामीजी के सन्देशों को कच्छ देश में पहुँचाया।

श्रावक गेरूलाल और टीकम डोसी

गेरूलालजी व्यास जयपुर के पुष्कर ब्राह्मण थे। स्वामीजी के शुद्ध आचार और परिष्कृत विचारों से प्रभावित होकर आपने श्रद्धा ग्रहण की। व्यासजी दृढ़ श्रावक बने पर उनके इस कार्य से ब्राह्मण उनके विरुद्ध हो गये। व्यासजी के पुत्र से कोई सम्बन्ध नहीं करता था फिर भी व्यासजी की श्रद्धा अडिग थी। वे विरोधों से घबराने वाले नहीं थे। उन्होंने अपने पुत्र की शादी कहीं दूसरे गाँव में की। पुत्री के पिता ने विनोदवश दहेज में मुखवस्त्रिका पूंजनी और आसन दिए। सब लोग ये चीजें देखकर व्यासजी की हँसी करने लगे। स्थिति को समझते हुए व्यासजी ने कहा—मेरे सम्बन्धी चतुर हैं। उन्होंने सोचा कि मेरी लड़की यहाँ जायगी तो वहाँ सामायिक पौषध आदि के लिये इन वस्तुओं की अपेक्षा रहेगी। उत्तर सुनकर सब अवाक रह गये। यह थी उनकी विरोध को भी विनोद रूप में परिणत करने की और उत्तर देने की सुन्दर शैली।

व्यासजी एक बार किसी कार्य से कच्छ गये। माण्डवी बन्दर नामक स्थान पर ठहरे। वहाँ पर टीकम डोसी नाम के स्थानकवासी जैन रहते थे। वे ब्राह्मणों को आटा-चावल घी आदि देकर सदाव्रत किया करते थे। व्यासजी भी टीकम डोसी के घर सदाव्रत लेने गये। उन्होंने उनको सदाव्रत दे दिया। पर व्यासजी लेने ही न गये कुछ देने भी गये थे। वे उनको सहज व सरल रीति से प्रत्यक्ष व्यवहारों के द्वारा धर्म तत्त्व समझाना चाहते थे। व्यासजी की अन्तर भावनाएँ शब्दों के माध्यम से बाहर आईं। परस्पर कुछ मधुर संलाप चल पड़ा।

व्यासजी—आप कौन से धर्म के अनुयायी हैं?

टीकम डोसी—मैं जैन स्थानकवासी हूँ।

व्यासजी—मुझे सदाव्रत देने से आपको क्या फल हुआ?

टीकम डोसी—एकान्त धर्म पुण्य।

व्यासजी—कैसे ?

टीकम डोसी—दान देने से एकान्त धर्म पुण्य निर्जरा होती है।

व्यास जी (साश्चर्य नयनों से)—आप जैन होते हुए भी कैसी बात करते हैं ? आपके पास क्या सूत्र है ?

टीकम डोसी—क्या आपको भगवतीसूत्र चाहिए ?

व्यासजी—यदि भगवती सूत्र है तो लाइये—मैं जैन हूँ।

टीकम डोसी भगवती सूत्र लेकर आये। व्यासजी ने श ९ उद्देश ६ १ को सामने करते हुए संकेत किया—पढ़िये इसमें क्या लिखा है। उन्होंने पढ़ा

असंजयस्स पडिलाभेमाणस्स पडिलाभेमाणस्स एगतसो से पावेकम्मे कज्जइ नत्थिसे काइ निज्जरा कज्जइ। और भी बहुत सद्धान्तिक चर्चा हुई। आखिर टीकम डोसी समझ गये तथा उन्होंने व्यासजी से श्रद्धा स्वीकार कर ली। व्यासजी टीकम डोसी के हृदय में गहरी छाप छोड़ कर चले गये।

टीकम डोसी जहाँ बैठते मनुष्यों की भीड़ जुट जाती। उन्हें धर्म का गहरा और सही तत्त्व समझाते पर मल्लूजी का नाम आगे रखते। अपने आपको 'सेवग्गमी' कहते। कच्छ में स्वामीजी का जितना भी प्रचार हुआ वह टीकम डोसी के द्वारा हुआ। साधु समुदाय के वहीं पहुँचने पर भी आपने वहाँ तेरापंथ के नाम को प्रख्यात कर दिया। सं १८५३ में स्वामीजी के मारवाड़ भूमि में दर्शन किये। विविध प्रश्नोत्तरों द्वारा धर्म के असली तत्त्व को समझा। २१ दिन तक सेवा की। वहाँ से आकर नगर सेठ मोहनजी आदि २५ ३ घरों को समझाया। सं १८५९ में योगों के विषय में आपको शंका हो गई। आपने स्वामीजी के दर्शन किये। इससे आपको समाधान मिला। कुछ वर्षों बाद फिर आपको शंका उत्पन्न हुई, पर स्वामीजी की सेवा का इस बार योग न मिल सका। एक बार वमन (उल्टी) होने पर शरीर के क्षणभंगुर धर्म को पहचान आपने चौविहार अनशन कर दिया। तृषा परीषह ने आपकी कड़ी परीक्षा ली। किन्तु आप अविग रहे पर आखिर एक सिद्धा दे गये। योगों की चर्चा और चौविहार अनशन इन दोनों में देखकर पढ़ना चाहिए। टीकम डोसी और मेरूलालजी दोनों ही बड़े नामी श्रावक हुए। दोनों ने खूब ही धर्म का प्रचार किया।

श्रावक शोभजी

श्रावक शोभजी केलवा ग्राम मेवाड़ प्रदेश के थे। वे ख्यातिप्राप्त श्रावक धर्म प्रचारक और कुशल कवि थे। स्वामीजी के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा थी। इनकी कविताओं में इनकी आन्तरिक श्रद्धा का प्रतिबिम्ब झाँक रहा है। इनके द्वारा रचित श्लोक छन्द, गीतिकाओं को पढ़कर पाठक आत्मविभोर हो जाता है। इनके मुक्तक पद्य वातावरण को तन्मय बना देते हैं। सुषुप्त मानस को झकझोर देते हैं —

> भेंट भवि चरण स शरण भिक्खु तणो
> मरण रो डरण सहु दूर भाग।
> करण जोमाँ तणी खबर पड़ियाँ थका
> स्वाम भिक्खु तणी छाप लागे।
> काम करवो क्यों स्वाम श्रद्धा तणो
> हिय बेससी दोहिली बात भाई।
> हिम्मत राखज्यो बात विचारज्यो
> मरणमी राखज्यो मन माँहि ॥

इनकी समग्र रचना तीन हजार पद्यों में गुम्फित है—ऐसा अनुमान है। इनके जीवन की घटनाएँ विविध हैं।

आप रजवाड़े में काम किया करते थे। किसी के कहने से ठाकुरों ने आपके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं। कवि का मन संवेदनशील होता है। वह किसी संवेदना में गुनगुनाता ही रहता है।

शोभजी के मन में स्वामीजी के दर्शन की उत्कट लालसा थी। वे अपने भावों को रोक न सके। भक्ति का निर्झर कविता के माध्यम से फूट पड़ा —

मोटो फन्दो इण संसार रो कनक कामिनी दोय
फंदे में फस्यो निकल सकू नहीं दर्शण किम विध होय।

कहते हैं भक्त की भक्ति भगवान को खींच लाती है। ठीक यही बात शोभजी के विषय में चरितार्थ हुई। स्वामीजी उसी ग्राम से विहार कर रहे थे। उन्होंने अपने कानों में ये शब्द सुने कि शोभजी के पैरों में बेड़ियाँ पड़ गई हैं। यह सुनते ही स्वामीजी के कदम उसी ओर चल पड़े। लम्बे मार्ग को स्वल्प समय में पारकर शोभजी के पास पहुँचे। शोभजी उस समय उपर्युक्त पद्यों को गुनगुना रहे थे कि स्वामीजी इन पद्यों को सुन कर बोल पड़े—'दर्शन इण विध होय'। शोभजी के मन में प्रसन्नता का सागर उमड़ पड़ा क्योंकि श्रद्धा की मूर्ति सामने खड़ी थी। दृढ़ श्रद्धा के सामने लोहे की जंजीर टूट पड़ी। शोभजी की आन्तरिक निष्ठा ने आपके अनन्य विश्वास को प्राप्त किया। सहस्रों मनुष्यों को सुलभ बोधि बनाया। उदयपुर के केसरी चन्दजी भण्डारी जो मेवाड़ के दस हजार गाँवों के न्यायाधीश थे शासन के कामों में अच्छी सहानुभूति रखते थे। वे श्रावक शोभजी के द्वारा समझाए हुए प्रमुख श्रावक थे। शोभजी बड़े ही कर्मठ और श्रद्धावान श्रावक थे।

माधो सिंहजी

स्वामीजी के अनुयायियों में माधो सिंहजी का भी नाम युग-युग तक अमर रहेगा। आप स्वामीजी के पूर्ण विश्वासी श्रावक थे। इनकी प्रचार करने की शैली अनूठी थी। आप घी का व्यापार करते थे। छोटे-छोटे ग्रामों में घी बेचने जाते। लोग आप के घृत की परीक्षा करते। उस समय भी आप जन मानस में एक भावना भर देते। कहते—तुम जैसे घृत की परीक्षा करते हो वैसे ही धर्म की भी परीक्षा करो। सुनने वालों के हृदय में धर्म की जिज्ञासा देख धर्म का मर्म समझाते। लोग इनकी खरी बात से बड़े प्रभावित होते। इस तरह माधो सिंहजी ने खूब प्रचार किया और स्वामीजी को इनका सफल सहयोग रहा।

श्रावक विजय सिंहजी पटवा

विजय सिंहजी पटवा भी अग्रमान्य श्रावकों में से एक थे। इनको बनाने में स्वामीजी को रातोरात जागना पड़ा पर समझाने के बाद ये बड़े निष्ठावान हुए।

एक बार स्वामीजी पाली (मारवाड़) पधारे। विजय सिंहजी पटवा और वर्धमान श्रीमाल ये दोनों ही स्थानकवासी श्रावक थे। इन्होंने मन-ही-मन एक संकल्प किया कि भीखणजी यदि हमारे प्रश्नों का समाधान दे दें तो हम उनके हो जायेंगे। अन्यथा उनको हम अपना बना लेंगे। रात्रि का सुन्दर समय था। दोनों स्वामीजी के पास गये। प्रहर रात्रि जाने के बाद प्रश्नोत्तर प्रारम्भ हुए। एक या दो घड़ी रात अवशेष रही तब चर्चा पूर्ण हुई। विजय सिंहजी समझ गये। स्वामीजी ने सन्तों को जगाया। बोले—उठो! जागो!! प्रतिक्रमण का समय आ रहा है। तब करबद्ध होकर बोले—भगवन्! आप कब जागे?

स्वामीजी ने मुस्कुराते हुए कहा—पहले यह तो पूछो—कब सोये? सत यह सुनकर विस्मित से रह गये। इस तरह स्वामीजी को श्रावकों को बनाने में अपने रक्त को सुखाना पड़ा पर बाद में वे कितने दृढ़ श्रद्धालु हुए, जिनके विषय में स्वामीजी को कहना पड़ा कि विजय सिंहजी की श्रद्धा में क्षायक सम्यक्त्व के लक्षण मिलते हैं। विजय सिंहजी स्वयं इतना प्रचार-प्रसार नहीं कर सके जितना दूसरे श्रावकों ने किया। पर उनके हृदय की प्रबल श्रद्धा व दृढ़ निष्ठा चिर भविष्य तक शासन से विचलित होनेवाले अनुयायियों के पैरों को दृढ़ करती रहेगी बल देती रहेगी और श्रद्धावान व्यक्तियों में भी प्राण भरती रहेगी।

इस तरह स्वामीजी के अनुगामी श्रावक समुदाय और साधु समुदाय स्वामीजी की तरह ही तपने वाले और पचने वाले थे। उन्होंने जिन क्षेत्रों में अपने धर्म के जो बीज बोये वे आज वट-वृक्ष की शाखा और प्रशाखाओं की तरह फैलते हुए शीतल छाया प्रदान कर रहे हैं।

तेरापंथ संघ के द्वितीयाचार्य श्री भारमलजी स्वामी

(ले०—साध्वी श्री कमलश्रीजी)

"भारमल ! तेरा मुझ से अति निकट सम्बन्ध रहा है। ४४ वर्ष हम साथ रहे हैं। तूने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति का एक निदर्शन उपस्थित किया है। तेरे सहयोग से मैंने समाधिपूर्वक संयम की आराधना की। तुम्हारे जैसे होनहार, सुविनीत आचार-निष्ठ शिष्य को पाकर मैं सदा प्रसन्नचित्त रहा। मेरा भी तेरे प्रति वात्सल्य रहा। ऐसा लगता था मानो तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध पूर्व भव के संस्कारों से जुड़ा हुआ हो।"

ये शब्द आचार्य भिक्षु ने भारमलजी स्वामी के प्रति उस समय कहे जब वे इस संसार को छोड़ कर स्वर्ग की ओर प्रयाण कर रहे थे।

भगवान् महावीर और गौतम स्वामी का जो सम्बन्ध था उसी का प्रतिबिम्ब आचार्य भिक्षु और भारमलजी स्वामी के जीवन में मिलता है। जयाचार्य ने भी इस सम्बन्ध को "वीर गोयम री जोड़ी ए" की उपमा दी है। उनकी प्रीति प्रगाढ़ प्रेम के लिए एक उपमा बन गई। 'एहवी कीजे प्रीत री जेहवी भीखू भारीमालो ए।

आचार्य भिक्षु और भारमलजी स्वामी साध्य के एक सूत्र से बंधे हुए थे। यह स्पष्ट है पर इससे भी आगे उनका सम्बन्ध संस्कार जनित था। एक दूसरे से अलग होना नहीं चाहते थे। यही कारण था कि भारमलजी स्वामी आचार्य भिक्षु के जीवन भर साथ रहे। विशेष परिस्थिति वश एक चातुर्मास में वे पृथक रहे। उस वर्ष आचार्य भिक्षु का वर्षावास सिरीयारी और आपका बगड़ी में था। दोनों स्थानों में तीन कोसों की दूरी थी। इनके बीच बहती हुई नदी दोनों के मिलन में व्यवधान उपस्थित कर रही थी। दो-तीन दिनों के अन्तर से दोनों नदी के तट पर चले आते। एक तट पर आचार्य भिक्षु खड़े रहते दूसरे पर भारमलजी स्वामी। शिष्य वंदन करता और गुरु आशीर्वाद देते। हाथों के संकेत से एक के पास दूसरे की भावना पहुँच जाती। नदी के सूखने पर वे एक दूसरे के पास आते तथा घंटों बातें करते।

जीवन-परिचय

भारमलजी स्वामी का जन्म मेवाड़ के मुहाँ गाँव में ओसवंश के लोढ़ा परिवार में वि स १८ १ में हुआ। आपके पिता का नाम किसनोजी और माता का नाम धारणी था।

दसवें वर्ष आपके वैराग्य के संस्कार जग उठे। आपने पिता से निवेदन किया। पुत्र की विरक्ति देख पिता का मन भी साधना की ओर मुड़ गया। वे दोनों दीक्षा के लिए तैयार हो गये। विचारों के अनुरूप संत भीखणजी का संयोग भी मिल गया। बागोर के वट वृक्ष के नीचे पिता-पुत्र दोनों ने उनके पास दीक्षा के व्रत स्वीकार किए। चार वर्ष बीत गए। संत भीखणजी ने जिस समय आचार्य रुघनाथजी से सम्बन्ध विच्छेद किया उस समय इन पिता-पुत्र ने भी उनका साथ दिया था। आगे चलकर १३ साधुओं में भी ६ ही साधु रह गये थे। भारमलजी स्वामी उन ६ में से एक थे। वे जीवन भर आचार्य भीखणजी के साथ रहे।

पिता का त्याग

भारमलजी स्वामी सहज और सरल विनीत शिष्य थे। आचार्य भिक्षु के आदेश को वे जीवन से भी अधिक मूल्यवान मानते थे। वे सत्य के पक्षपाती एवं गुणग्राही थे। स्वामीजी को उनके उज्ज्वल भविष्य के बारे में विश्वास था। दूसरी ओर उनके पिता की प्रकृति कठोर थी। इसलिए स्वामीजी उनको अपने पास नहीं रखना चाहते थे। इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक दिन बिलाड़ा में आचार्य भिक्षु ने कहा—भारमल ! अब हम पुनः शुद्ध चरित्र लेने जा रहे हैं। विरोध बहुत आएगा भूख और प्यास सहनी होगी। गालियों को भी हजम करना होगा। दूसरी ओर तुम्हारे पिता की प्रकृति कठोर है। वे क्रोधी भी हैं। कम संभव है कि वे विरोधियों के कठोर वचनों को सह सकें। संयम के पूर्ण योग्य नहीं हैं इसलिए किसनाजी को मैं साथ नहीं रखना चाहता। तुम्हारी क्या इच्छा है ? अपने पिता के पास जाना चाहते हो या मेरे पास रहना ? भारमलजी स्वामी ने श्रद्धा भरे शब्दों में उत्तर दिया—गुरुदेव ! मुझे पिता से क्या लेना ? मैंने श्रामण्य की

आराधना के लिये घर छोड़ा है न कि पिता के लिये। यदि पिता से ही मोह होता तो म गृहस्थी में ही रह सकता था। साधु बनने की क्या आवश्यकता थी ? मुझे संयम से प्रेम है आप पर मेरी श्रद्धा है। मुझे विश्वास है कि आप संयम पथ पर मुझे अग्रसर करेंगे। इस दृष्टि से आप ही मेरे पिता हैं।

१४ वर्षीय भारमलजी स्वामी की संयम-साधना की ऐसी भावना को देख कर आचार्य भिक्षु बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने किसनोजी को टटोला। आचार्य भिक्षु ने किसनोजी से कहा—तुम्हारी वृत्ति से मैं अपरिचित नहीं हूँ। मुझे लगता है तुम मेरे साथ रह कर संयम में सफल नहीं हो सकोगे। हमारा भयंकर विरोध होनेवाला है तुम उसे पचा नहीं सकोगे। इसलिये मैं तुम्हें साथ रखना उचित नहीं समझता हूँ। यह बात सुनते ही किसनोजी का पारा चढ़ गया। क्रोध से उनकी आँखें जलने लगी। उन्होंने आवेश भरे शब्दों में कहा—यदि मुझे साथ नहीं रखन दोगे तो मैं अपने पुत्र भारमल को भी ले जाऊँगा। आचार्य भिक्षु शान्त स्वर म बोले—भारमल पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। वह तो तुम्हारा पुत्र है, जैसा तुम चाहो वैसा कर सकते हो।

किसनोजी आचार्य भिक्षु की ओर से निर्बाध मार्ग समझ शीघ्र भारमलजी स्वामी के पास गए। आवेश की भाषा में उन्होंने कहा—भारमल ! चलो उठो यहाँ से। क्या ? कहाँ जाना है भारमलजी स्वामी ने जिज्ञासा की। उनका उत्तर था—हम भीखणजी के साथ नहीं रहेंगे। यहाँ पर हमारा कोई मूल्य नहीं है। साधुत्व के लिए और अनेक सम्प्रदाय हैं।

भारमलजी स्वामी—नहीं मैं तो इनके साथ ही रहूँगा। आप स्वतन्त्र हैं। यदि जाना चाहें तो आप जायें।

किसनोजी—नहीं तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। ऐसा कहते हुए पितृत्व अधिकार से वे उन्हें बलात् ले गए।

भारमलजी स्वामी ने अपना मार्ग पहले ही चुन रखा था। वे अपने निर्णय पर दृढ़ थे। भावना व्यक्त करते हुए नम्र शब्दों में पिता से बोले—मैं भिक्षु स्वामी के पास जाना चाहता हूँ। यदि आप मुझे अपने पास रखेंगे तो मैं रह जाऊँगा। जीवन भर आहार जल ग्रहण नहीं करूँगा।

दृढ़ भावना को बालक का आवेश समझ कर किसनोजी ने सोचा—बालक है आज नहीं तो कल भूख लगने पर स्वयं भोजन कर लेगा। समय बढ़ता गया सूर्यास्त हो गया रात बीत गई। दूसरा दिन आया और वह भी चला गया। पिता ने समझाने की चेष्टा की पर वे सफल नहीं हो सके।

पिता कभी स्निग्ध वाणी में कहता—देखो मैं बूढ़ा होने जा रहा हूँ। आशा के सहारे मैंने तुम्हें पाला-पोसा एवं बड़ा किया। सोचा था बुढ़ापे में सेवा करेगा। आज तू मुझे छोड़ रहा है। क्या तुम्हें दया नहीं आती ? क्या तू इतने कठोर दिल का है ? बुढ़ापे में मेरी क्या दशा होगी ? कभी तूने सोचा है ? छोड़ इस बालक हठ को छोड़ और भोजन कर ले।

पिता के दयार्द्र शब्दों से पुत्र का दिल नहीं पिघला। वह अपने संकल्प में दृढ़ रहा।

जब नम्रता से कार्य की सिद्धि नहीं हुई तब पिता ने दूसरा रूप धारण किया। वे आँखों को तरेरते हुए बोले—आहार करते हो या नहीं ? मर जाएगा तो भी मैं तुझे उनके पास जाने की अनुमति नहीं दूँगा। आज नहीं तो कल-परसों खाना ही पड़ेगा ? भूख किसकी सगी है। देखता हूँ कि कितने दिनों तक आहार नहीं करता है।

कभी कहता—अविनीत ! तू जब पिता की सेवा नहीं करता है तो दूसरों की कैसे करेगा ? इस प्रकार डराया धमकाया पर भारमलजी स्वामी अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए। संकल्प का तीसरा दिन भी बीत गया। अंत में पितृ हृदय पुत्र के दारुण दुःख को देख न सका। वे पास आकर कहने लगे—तू भोजन करले। जैसा कहेगा वैसा कर दूँगा। यदि तू भीखणजी के पास ही रहना चाहता है तो उनके पास रह पर तू भूखा मत रह।

भारमलजी स्वामी को क्या इसमें भी रहस्य है। उन्होंने कहा—मैं आचार्य भिक्षु के ही हाथ से भोजन करूँगा आपके हाथ से नहीं। हार कर किसनोजी आचार्य भिक्षु के पास आए और भारमलजी स्वामी को सौंपते हुए बोले—स्वामीनाथ ! यह तो यह आपके पास रह कर ही साधु जीवन व्यतीत करना चाहता है। आप इसे संयम में आगे बढ़ाएँ। यह तीन दिनों का भूखा है आपके हाथ से ही पारणा करना चाहता है। इसे भोजन कराइए और अपने पास रखिए।

भारमलजी स्वामी आचार्य भिक्षु के पास रहे और किसनोजी के अनुरोध पर आचार्य भिक्षु ने उन्हें पूज्य जयमलजी को सौंप दिया। यह थी १४ वर्षीय भारमलजी स्वामी की दृढ़ता जिन्होंने संयम-साधना के लिए धन सम्पत्ति और परिवार की तरह पिता का भी मोह ठुकरा दिया।

साधना का पहला अध्याय

आचार्य भिक्षु ने वि स १८१७ की आषाढ़ी पूर्णिमा को विशुद्ध चरित्र ग्रहण किया। उस समय भारमलजी स्वामी ने भी जीवन के एक नए अध्याय में प्रवेश किया। उनका पहला चातुर्मास आचार्य भिक्षु के साथ ही केलवा में था। आचार्य भिक्षु के निरन्तर सहवास से उनके गुणों का विकास धीरे-धीरे भारमलजी स्वामी में भी होने लगा। साधना के पथ में भी वे कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे।

उसी वर्षावास की घटना है। अर्धरात्रि का समय था। देह चिन्ता के लिए भारमलजी स्वामी 'अंधेरी ओरी' से बाहर आए। जब वे वापस आने लगे तो एक सर्प ने उनको चरण पाश में जकड़ लिया। वे घबराए नहीं निश्चल मन वहीं खड़े रहे। उस समय उनकी उम्र १४ वर्ष की थी। उन्हें बाहर खड़ा देख आचार्य भिक्षु ने पुकारा—भारमल! बाहर क्यों खड़े हो भीतर आ जाओ।

उन्होंने निर्भय मन से उत्तर दिया—"गुरुदेव! मेरा मार्ग निर्बाध नहीं है। सर्प ने मुझ रोक रखा है। आचार्य भिक्षु तत्काल समझ गए, यह कोई देव उपसर्ग है। अन्यथा यह सांप काटकर अपना मार्ग बना लेता। वे स्वयं उठे और दरवाजे के पास आए। सर्प का देव का सम्बोधन करते हुए बोले—'यदि तुम्हारी अनुमति न हो तो हम तुम्हारे स्थान को छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं। स्पष्ट कह दो पर इस प्रकार उपद्रव करना कैसे उचित होगा? उसको नमस्कार महामंत्र सुनाया। सर्प बन्धन छोड़ कर चला गया। यह थी साधना की प्रथम परीक्षा जिसमें १४ वर्षीय बालक मरणान्तक कष्ट को सहकर हँसता-हँसता उत्तीर्ण हो गया।

जीवन पर एक दृष्टि

भारमलजी स्वामी की शिक्षा और दीक्षा आचार्य भिक्षु के सान्निध्य में ही हुई। वे बचपन से ही स्थिर योगी प्रज्ञावान और सरल प्रकृति के थे। आपने थोड़े ही समय में सहस्रों श्लोकों को (गाथाओं को) कण्ठस्थ कर लिया। स्वाध्याय में विशेष रुचि थी। सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद एक प्रहर रात्रि तक खड़े-खड़े उत्तराध्ययन सूत्र की २० गाथाओं का पुनरावर्तन कर लेते थे। वे लिपिकला में भी दक्ष थे। अक्षर इतने सुडौल होते थे कि देखने के लिए मन ललचा जाता। आचार्य भिक्षु ने एक बार कहा था 'भारमल! प्रत्येक ग्रन्थ की दो प्रतियाँ लिखा कर—एक मेरे लिए और एक अपने लिए। उन्होंने वैसा ही किया। यही कारण है कि आज प्रत्येक ग्रन्थ की उनके हाथ की दो प्रतियाँ मिलती हैं। उनकी लेखनी सतत गतिमान रही। आचार्य भिक्षु जो रचना करते लिखा देते वे मर्यादा बनाते वे उनको अक्षरों में लिखकर चिर-स्थायी बना देते। उन्होंने अपने जीवन में (लगभग १ पुस्तकें) पाँच लाख गाथाओं का लेखन किया। तेरापंथ संघ में आज तक किसी साधु ने इतने परिमाण में लेखन नहीं किया। उनका विश्वास था कि लेखन से मन की स्थिरता बढ़ती है और समय का सदुपयोग होता है। उनका जीवन एकांगी नहीं था। वे लेखन के साथ व्याख्यान कला में भी सिद्धहस्त थे। कण्ठ सरस था और ध्वनि प्रखर थी। रात को राजनगर में दिया गया व्याख्यान पीपरडा में जो डेढ़ कोस की दूरी पर स्थित है सुनाई देता था।

प्रयोगशाला

भारमलजी स्वामी का जीवन आचार्य भिक्षु की प्रयोगशाला थी। कठोर से कठोर मर्यादाओं का प्रारम्भ इसी प्रयोगशाला में होता था जिससे अन्य साधुओं को 'ननु न च' करने का अवकाश ही नहीं रहता था। आचार्य भिक्षु उनको साधना में सबसे आगे देखना चाहते थे। एक बार आचार्य भिक्षु ने भारमलजी से कहा—भारमल! यदि कोई भी व्यक्ति तेरे में ईर्या-समिति की स्खलना बताए, तो तुझे प्रायश्चित्त स्वरूप एकतेला (तीन दिन उपवास) करना होगा। छोटी सी भूल का इतना कठोर दण्ड क्यों? उन्होंने यह तर्क उपस्थित नहीं किया। उनकी साधनाशील भावना ने 'तथेति' कह उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया।

बात को स्पष्ट करते हुए भारमल जी स्वामी ने पूछा—गुरुदेव! तेला गलती की सत्यता पर करना होगा या मिथ्या अभियोग में भी। समाधान की भाषा में आचार्य भिक्षु बोले—तेला तो करना ही होगा। गलती हो तो उसका प्रायश्चित्त और गलती न हो तो कर्मों का उदय समझना। जिज्ञासा का समाधान हुआ। वे उस साधना के कठोर मार्ग पर चल पड़े। गुरु

की मर्यादा ने उनको और सजग कर दिया। वे बच्चे ही गये। इसी का परिणाम था कि उनको जीवन भर में कसी के रूप में केवल एक बेला करना पड़ा। उसका निमित्त भी झूठा आरोप बना वास्तविक नहीं।

आचार्य पद

आपकी योग्यता देख आचार्य भिक्षु ने वि सं १८३२ के मृगसर मास में आपको युवाचार्य के पद का भार सौंप दिया। अहंकार के पोषक पद और अधिकार आपके साधनाशील मन को कभी विचलित नहीं कर पाए। गुरु-सेवा म ही उनका तन और मन अर्पित था। यही उनकी साधना का एक लक्ष्य था जिसमें वे पूर्ण सफल हुए। संवत् १८६ की भादवा सुदी ११ को आचार्य भिक्षु के दिवगत होने पर आपने आचार्य का उत्तरदायित्व सभाला।

विहार क्षेत्र और चातुर्मास

आचार्य भारमलजी स्वामी का विहार-क्षेत्र मारवाड़-मेवाड़ और जयपुर था। उस समय तेरापंथ का उदय काल था। साधुओ की संख्या भी अधिक नही थी। नए प्रतिबोध प्राप्त लोगो को सभालना भी आवश्यक था। इस दृष्टि से विहार क्षेत्र अधिक व्यापक न हो सका। अपने शासनकाल में उन्होने निम्न स्थानो पर चातुर्मास किए —

वि॰संवत् १८६१	पिसागण	वि सवत् १८७१	बोरावड
„ १८६२	पाली	„ १८७२	सिरीयारी
१८६३	खेरवा	„ „ १८७३	पाली
१८६४	केलवा	१८७४	नाथद्वारा
„ १८६५	नाथद्वारा	१८७५	कांकरोली
„ १८६६	आमेट	१८७६	पुर
„ १८६७	बालोतरा	१८७७	नाथद्वारा
„ १८६८	पाली	१८७८	केलवा
१८६९	जयपुर		
„ १८७०	सवाई माधोपुर		

दूरदर्शिता

आपने अपने १८ वर्षीय शासनकाल में हजारो भाई-बहिनो को तत्त्व समझाया तथा ६२ व्यक्तियो को जिनमें १८ भाई और ४४ बहिनें थी दीक्षा देकर सयम के कठोर पथ का पथिक बनाया। हेमराज जी स्वामी के शब्दो में—

आको उपकार मेवाड देस में होणी हुवे हद भीकार,
हजारा नरनारी समझिया केइक थया अणगार।

उनका विश्वास था कि श्राविकाओ को सत्य का मर्म समझाने से धर्म की वृद्धि अधिक होती है। अविवाहित अवस्था तक पीहर और बाद में ससुराल दोनो स्थानो में उनके सम्पर्क से लोग धर्म के मर्म को समझते हैं। माता बनने पर उनकी सही समझ सन्तान को भी प्राप्त होती है।

अनुशासन प्रेमी

आचार्य भारमल जी स्वामी आचार्य होने के नाते कम अपितु वे स्वभाव से ही अधिक अनुशासक थे। उन्होने अपना अधिकांश जीवन आचार्य भिक्षु के कठोर शासन में बिताया था। वे किसी भी आदेश को छोटा नही समझते थे। उनकी मान्यता में आदेश कोई छोटा या बडा नही होता था। आदेश आदेश है, उसका पालन अनिवार्य है। अनुशासनहीन सगठन आखिर कब तक चल सकता है ?

एक बार की घटना है—सत मोतीरामजी विहार कर रहे थे। आचार्य भारमलजी राजनगर में थे। वे आचार्य के दर्शनार्थ आ रहे थे। मार्ग में लावासरदारगढ आया। वे वहाँ की स्थिति से अपरिचित थे। इसलिए वहाँ कुछ अधिक दिन ठहर गए। आचार्य भारमलजी ने इस कार्य को अपनी दृष्टि के प्रतिकूल समझा और अनुशासन का भग माना। जब वे राजनगर म पहुँचे दर्शन किए, उस समय आचार्य भारमलजी ने उपस्थित सतो को आदेश दिया कि वे मोतीरामजी को वंदन न करें। साधु आचार्य श्री की सेवा में बैठे रहे। वे न तो खड़े हुए और न उन्होने आगन्तुक सत मोतीराम आदि के बोझ

तेरापंथ के तृतीय आ० श्री रायचन्दजी स्वामी

(ले० साध्वी श्री जयश्री)

जन्म और मृत्यु—प्रत्येक देहधारी का साधारण क्रम है। किन्तु इस साधारणता में जो कुछ भी असाधारणता उत्पन्न कर दे वही संसार की दृष्टि में महान् होता है। आचार्य श्रीमद् रायचन्दजी को भी यदि उन महापुरुषों की कोटि में रखें तो कोई अनुचित नहीं होगी। इन्होंने तेरापंथ की श्री-वृद्धि में अपना सर्वस्व समर्पित कर अपने आपको कृतपुण्य माना और तेरापंथ के इतिहास में कार्यनिष्ठा और नीतिज्ञता के सुनहरे पृष्ठ जोड़े। ऐसे महापुरुष के जीवनदर्शन पर मुझे कुछ लिखने का अवसर मिला यह मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ।

आपका जन्म वि० सं० १८४७ में रावलिया ग्राम (राजस्थान) के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। पिता का नाम चतुरोजी और माता का नाम कुशलाजी था। दोनों ही सरल एवं शान्त प्रकृति के थे। धार्मिक संस्कार दोनों में मानो कूट-कूट कर भरे थे। ऐसे धर्मनिष्ठ परिवार में होनेवाली सन्तान भी तदनुरूप हो यह स्वाभाविक ही है। आपका शारीरिक गठन भी असाधारण था। अवयवों की कोमलता आँखों में प्रतिपल छलकने वाला निश्छल प्रेम वाणी का माधुर्य और अधरों पर मुस्कान की स्फुट रेखाएँ सहज ही प्रत्येक हृदय के लिए आकर्षक थी। इसके साथ-ही-साथ मानसिक स्थिरता तथा संस्कारों की पवित्रता से ओत-प्रोत अन्तर मानस ने मानो उनके सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया था।

बीज रूप में प्राप्त धर्मानुगत संस्कार समय पाकर शतशाखी के रूप में उभरने लगे। यह सच है कि शैशव काल विचारों की दृष्टि से या यों कहिये निर्णय की दृष्टि से अपरिपक्वता व अस्थिरता का होता है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि उस समय पड़े हुए संस्कार ही भविष्य के लिए नींव के पत्थरों का काम करते हैं। उनके उस समय बने हुए संस्कार साधारण कार्यों में भी परिलक्षित होने लगे। बाल्य काल की सहज रम्य चपलता और क्रीड़ाओं की उपेक्षा कर आपने अपने प्रारंभिक क्षणों में प्रौढ़त्व को प्रश्रय दिया। बचपन में भी उस शान्त व गंभीर मुद्रा को देखकर सहज ही रघुवंश का यह श्लोक स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता था—'तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना'। इसीलिए अवस्था की अपेक्षा आप अधिक विवेकशील थे यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

११ वर्ष के अल्प वय में ही आपने तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु से दीक्षा ली। दीक्षा का मूल प्रेरणा-स्रोत साध्वी श्री वरजूजी से उद्भव हुआ। वे एक कुशल व हृदय-स्पर्शी प्रवचन करनेवाली साध्वी थी। रायचन्दजी प्रायः उनका व्याख्यान सुनते। फलस्वरूप संयम की भावना तीव्र हो उठी। वे विरक्त बने और आगे बढ़ने के लिए दृढ़-संकल्पी हुए। किन्तु माता की अमित ममता और पिता के वात्सल्य को ठुकराना भी तो सहज नहीं था। काष्ठ को भी छेदनवाले भ्रमर के लिए कमल का कोमल बन्धन कितना अछेद्य होता है यह किसी से छिपा नहीं। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी वे माता-पिता के समक्ष अपनी भावना व्यक्त करने में असफल रहे। किन्तु अन्त में एक दिन साहस करके आपने माँ के समक्ष अपने हृदय की बात रख ही दी क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं था। माँ ने सुना। उदासीनता की अव्यक्त रेखाएँ सहज ही उनके मुख पर उभर आईं। वह गंभीर मुद्रा में बोली—तू अभी बच्चा है। साधना के उस कण्टाकीर्ण पथ पर कैसे चल सकेगा? फिर मेरे बिना तू अकेला रहेगा भी कैसे? बाल मन ने साहस बटोरते हुए कहा—माँ! तुम भी कैसी भोली बात कर रही हो। मैं इतना अनजान थोड़े ही हूँ कि यह भी न जानूँ कि साधुत्व क्या है? तुम से दूर तो अब मुझे ऐसे भी रहना पड़ेगा। जब मैं स्कूल जाऊँगा या व्यापार के लिए कहीं अन्यत्र जाऊँगा तो तुम मेरे साथ तो नहीं रह सकोगी। जब मेरा मन विरक्त ही हो गया तब ऐसा कोई कार्य नहीं जो मैं नहीं कर सकता। बालक के विवेकपूर्ण उत्तर को सुनकर माँ चुप हो गई। बालक की विरक्ति ने उसके मन को झकझोर दिया। उसने अपनी और बालक की अवस्था की तुलना की तो उसे अपने आप पर ग्लानि हुई। जिसको अपनी सन्तान से अधिक धर्मनिष्ठ होना चाहिए था वह आज अपने आपको हीन अनुभव कर रही थी। इसी आत्मग्लानि ने उसके मन में भी विराग का अंकुर उत्पन्न कर दिया। उसने तब बालक को स्वीकृति देते हुए साथ में स्वयं भी दीक्षित होने की बात रख दी। पुत्र ने जब माँ के भी ये विचार सुने तो हर्ष से उसका दिल

वैसी उलझन लगा। किन्तु दोनो के सम्मुख यह प्रश्न भी था कि चतुरोजी (रायचन्दजी के पिता) के पास यह बात कैसे रखी जाय।

किन्तु रायचन्दजी की प्रथम सफलता ने उनके उत्साह को द्विगुणित कर दिया था। वे अपनी माँ के साथ पिता के पास पहुँचे और उन्होंने सारी स्थिति स्पष्टतया उनके समक्ष रख दी। पिता सुनकर अवाक रह गये। वात्सल्य का चक्रव्यूह जहाँ उनके सामने मुह बाये खड़ा था वहाँ उन्हें यह भी विश्वास था कि उस व्यूह से लोहा लेनेवाला कोई-न-कोई अभिमन्यु भी है। किन्तु पुत्र की इस अकल्पित भावना ने उनके धैर्य के बाँध को तोड दिया और वे अपने आप को न संभाल सके। उनके लिए यह मर्मान्तिक पीड़ा बिल्कुल असह्य थी। किन्तु वे केवल स्वार्थ-लिप्सु ही नहीं थे मानव-हृदय के सच्चे पारखी भी थे। अत श्रामण्य की विभीषिकाएँ दिखाते हुए उन्होंने रायचन्दजी के हृदय की गहराई को मापना चाहा। यह प्रसिद्ध ही है कि स्वर्ण को जितनी बार तपाया जाएगा वह उतना ही अधिक निखरेगा। उनके प्रत्येक परीक्षण में वे खरे उतरे। अन्तत चतुरोजी ने भी उनके उज्ज्वल और पवित्रतम भविष्य को देखते हुए उन्हें संयम पथ पर बढ़ने की अनुमति दे दी। फिर सं १८५७ की चैत्र पूर्णिमा को आचार्य भिक्षु के कर-कमलो द्वारा आपका और आपकी माता का दीक्षा संस्कार सपन्न हुआ।

दीक्षा के पश्चात् वे केवल ३ वर्ष ही आचार्य भिक्षु के निकट रहे। किन्तु उस अल्प आयु में और उस अल्पतम अवधि में भी उन्होंने जिस विनयशीलता का परिचय दिया उसे देखकर आचार्य भिक्षु के मुख से स्वयं निकल पड़ा कि यह तो आचार्य पद के योग्य लगता है। अत आ भिक्षु का अनुमान तेरापंथ के तृतीय भाग्य विधाता के रूप में साकार हुआ। विनयशीलता रायचन्दजी का सहज गुण था। वे गुरुदेव के प्रत्येक आशय को समझने और तदनुकूल कार्य करने का प्रयास करते। स्वामीजी भी उनकी प्रखर प्रतिभा और विवेक सम्पन्नता पर मुग्ध थे। स्वामीजी उन्हें ब्रह्मचारी कह कर पुकारा करते थे। स्वामीजी की अन्तिम अवस्था में शरीर की स्थिति देखकर बालक साधु रायचन्दजी स्वामी ने ही यह कहा था कि अब तो शरीर के पुद्गल ढीले पड़ते नजर आ रहे हैं। उनकी इसी बात पर स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी आदि को बुलाया और यावज्जीवन अनशन करने के विचार को कार्य रूप दिया। अपने अन्तिम समय को नजदीक देखते हुए स्वामीजी ने बालक रायचन्द स्वामी को साहस दिलाते हुए कहा था—ब्रह्मचारी ! मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना। इस पर रायचन्दजी स्वामी ने अतिशय नम्र होते हुए कहा था 'प्रभो ! आप अपना कार्य सिद्ध कर रहे हैं फिर मै मोह क्यो करने लगा ?" इस उत्तर से पता लगता है कि बाल्यावस्था में भी उनमें जिस धैर्य आत्म-विश्वास और निर्लिप्तता की विशेषता थी वह अन्यत्र विरले ही मिलती है। स्वामीजी के पश्चात् वे भारमलजी स्वामी के पास भी वैसी ही नम्रता के साथ रहे थे। उन्होने गुरु-शिष्य परम्परा को बहुत ही सुन्दर रूप से वहन किया था। सं १८७७ में राजनगर में वे युवाचार्य बनाये गये थे और सं १८७८ में द्वितीय आचार्य श्री भारमलजी के स्वर्गवास होने के पश्चात् अपने निखरते व्यक्तित्व को लिए आचार्य पद पर आसीन हुए।

सफल नेता वही होता है जिसे नेतृत्व की भूख नही होती अपितु जिसे समाज स्वयं ही उसके स्वभावगत गुणो से आकृष्ट होकर नेतृत्व संभालने को बाध्य करता है। जो अपनी बहुता के बल पर समाज को अपना नेतृत्व स्वीकार करने को विवश करे, वह अपने अहंकार (जिसको मै पाशविक बल ही कहूँगी) से सत्ता प्राप्त कर सकता है किन्तु हृदय नहीं। वह समाज के सुखों और दुखो के साथ एकात्म स्थापित नहीं कर सकता। इसलिए वह एक सफल व कुशल शासक नहीं बन सकता। स्वामी रायचन्दजी एक सफल अनुशासक थे क्योकि उनमें वे सभी गुण सहज ही आत्मगत थे जिनका एक सफल नेता में होना अनिवार्य है। वे एक निर्भीक प्रकृति के आचार्य थे। लोग जिन्हें भयंकर मानते ऐसे व्यक्ति भी उनकी ओजस्वी और चोट करती हुई बातों से दब कर नम्र हो जाते थे। यात्रा के दिनो की बात है। जैन मुनि की यात्रा वर्षा-वास के अतिरिक्त निरन्तर चालू रहती है। आप एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहे थे। कुछ साधु आप से आगे निकल गये थे। थोडी ही दूर पर उन्हें कुछ डाकू मिले। उन्होने संतों से सामान रख देने को कहा। इस पर एक साधु अपना कम्बल बिछाकर उसपर बैठ गया। डाकू ने उसे खींच कर निकाल लेना चाहा। पीछे से आते हुए रायचन्दजी स्वामी दूर से ही यह सब देखकर डाकुओं की करामात समझ गये। उन्होने वहीं से दहाड़ते हुए कहा "हे रे कोई राजपूतणी रो जायो या सारा मोला ही भेला हुआ है ? (कोई सच्चा राजपूत का पुत्र भी है या सभी भोले ही भोले

प्रश्न—कोई कहै प्रथम गुण ठाणा रा धणीरी निरवद्य करणी आज्ञा माहे के बारे ?

उत्तर—(१) श्री भगवती शतक ८ उ १० ज्ञान बिना करणी करे तिण ने देश आराधक कह्यो (२) तथा ज्ञाता अध्ययन १ मेघ कुमार नो जीव हाथी ने भवे दया करी परित्त संसार करी मनुष्यनो आउखो बांध्यो कह्यो (३) तथा विपाक प्रथम सुख विपाक में सुमुख गाथा पति सुदत्त अणगार ने दान देइ परित्त ससार करी मनुष्य नो आउखो बांध्यो कह्यो (४) तथा उत्तराध्ययन अ ७ गा २० मिथ्यात्वी ने निर्जरा लेखे सुव्रती कह्यो (५) तथा भगवती श ३ उ १ तामली नी अनित्य चितवना कही (६) तथा पुष्फीया उपांगे अ ३ सोमल ऋषिनी अनित्य चितवना कही (७) कोई अनित्य चितवना ने अशुद्ध कहे तो भगवती श १५ भगवन्त महावीर नी अनित्य चितवणा कही (८) वलि उववाइ में अनित्य चितवना धर्म ध्यान रो भेद कह्यो (९) तथा भगवती श ९ उ ३१ असोच्चा केवली ने अधिकारे प्रथम गुणठाणा रा धणी रा शुभ अध्यवसाय शुभ परिणाम विशुद्ध लेश्या अर्थ में धर्म ध्यान अने धर्म री चितवणा कही (१०) तथा जम्बू द्वीप-पन्नती में कह्यो भला पराक्रम थी व्यंतर सुख पाम्या ते व्यंतर में मिथ्यात्वीज उपजै (११) तथा ठाणांग ठाण ४ उ २ गोशाला रा स्थविरा रे ४ प्रकारे तप कह्या उग्र तप १ घोर तप २ रस परित्याग ३ रस-इन्द्री प्रति सलीनता ४ (१२) तथा उववाई में रस-इन्द्री प्रति सलीनता निर्जरा ना बारह भेदा में कह्यो (१३) तथा भगवती श २ उ १ भगवान ने वदणा करणरी खंधक सन्यासी ने गौतम थी आज्ञा दी थी (१४) तथा दशवैकालिक अ १ संयम अने तप ए निर्जु धर्म कह्या (१५) तथा रायप्रसेणी सूर्याभना अभियोगिया ने भगवान वंदणा करवारी आज्ञा दी थी (१६) तथा उपासग दशांग में अ ७ सकडालपुत्र गोशाला रे श्रावक भगवान ने वन्द्या की थी (१७) तथा भगवती श ८ उ ९ कह्यो प्रकृति भद्रिक १ विनीत २ दयापरिणाम ३ अमच्छरभाव ४ ए च्यार प्रकारे मनुष्या नो आउखो बांधे (१८) तथा सराग संयम १ संयमासंयम २ बालतप ३ अकाम-निर्जरा ४ ए च्यार प्रकारे देवायु बांधे ए सर्वकरणी शुद्ध छै इत्यादिक प्रथम गुण ठाणारा धणी निर्वद्य करणी आज्ञा माहे कही ।

इस प्रकार एक प्रसंग पर उन्होंने अठारह प्रमाण इकट्ठे कर दिये हैं । प्रश्नोत्तर सार्धशतक में डेढ़ सौ प्रश्नों का उत्तर दिया गया है । धर्म विध्वंसन संदेह विषौषधि प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार प्रमाणों के ढेर पड़े हुए हैं । उनका सूत्र-स्वाध्याय कितना प्रगाढ़ था यह इससे स्पष्ट हो जाता है । यद्यपि उनकी भाषा राजस्थानी थी (उसमें कहीं कहीं गुजराती भी मिश्रित हो जाती है) उसका प्रवाह इस प्रकार समरस बहता जाता है कि पाठक उसमें बहता हुआ एक बार तो नितांत विचारक ही बन जाता है । बहुधा एक बोली कहकर राजस्थानी की लोग उपेक्षा कर देते हैं । पर राजस्थानी में कितना साहित्य रचा पड़ा है यह अभी तक स्वयं राजस्थानियों को भी पता नहीं है । सचमुच अध्यात्मोच्छ्वास के लिए राजस्थानी भाषा एक बहुत ही समृद्ध भाषा है जिसको प्रयुक्त कर जयाचार्य ने उसके गौरव में चार चाँद लगा दिए हैं ।

जयाचार्य के गद्यांश में वाक्य बिलकुल छोटे-छोटे होते हैं । पद्यांशों में अधिकतर उन्होंने गीतिका छन्दों को चुना है, जो अपनी सरस स्वर-लहरी में दर्शन के गूढ़तम सिद्धान्तों को भी एक बार सरस बना देते हैं । प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध में प्रतिमा को देखकर मन में वैराग्य-भावना उमड़ पड़ती है इसलिए वह वन्दनीय है । इस तर्क को लेकर जयाचार्य कहते हैं—

> कोइ कहै वैराग्य नो हेतु प्रतिमा एह ।
> जिन प्रतिमा देखी करी नर वैराग्य लहे ह ॥१॥
>
> ते माटै वन्दनीक है जिन प्रतिमा जग मांह ।
> तिण रो तहनों उत्तर कहूं सांभलज्यो चित्त ल्याय ॥२॥
>
> वृषभ देखि प्रतिबूझियो करकण्डू नरराय
> कुमुद इन्द्रध्वज स्तम्भ प्रति देख नमम भूपाय ॥३॥
>
> चूड़ी सू प्रतिबूझियो नामे नृपति तिहकाल ।
> जब देख प्रतिबूझियो नमइ नाम भूपाल ॥४॥
>
> उत्तराध्ययन इकवीस में समुद्रपाल संवेग ।
> पाम्यो तस्कर देखनें देनी तज उद्वेग ॥५॥
>
> संवेग पाठ तणो अर्थ अवचूरी में ख्यात ।
> संवेगना हेतु भणी संवेग चोर कहात ॥६॥

एक कुशल भाष्यकार

जयाचार्य जैन आगमों के एक कुशल भाष्यकार थे। यह इससे बहुत अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्होंने अकेले ही सात आगमों पर टीकाएँ लिखी हैं। भगवती सूत्र जैसे अर्णव आगम पर टीका लिखकर राजस्थानी साहित्य को तो गौरवान्वित किया ही है, साथ ही जिज्ञासुओं के लिए भी उन्होंने इतनी सामग्री एकत्र कर दी है कि उसे पढ़ लेनेवाले के लिए आगे का पथ स्वयं ही स्पष्ट होता चला जाता है।

जयाचार्य से पहले तेरापंथ संघ में संस्कृत भाषा का प्रसार नहीं जैसा था। उन्होंने ही सं० १८८१ में सर्वप्रथम संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया था। इसीलिए उन्होंने आगमों पर जो टीकाएँ लिखी हैं, उनसे ऐसा लगता है कि उनकी तत्त्वग्रहण शक्ति बड़ी ही प्रबल थी। शब्द में से अभिप्रेत अर्थ को वे इस खूबी से टटोलते थे जो उदग्र मेधा के बिना सर्वथा असंभव ही थी। अकेले भगवती (सूत्र) के अनुवाद में ८ हजार श्लोक प्रमाण पद्य हैं जो अपनी गौरवाहता का स्वयं प्रमाण है। कविता-शक्ति इतनी सधी हुई थी कि एक दिन में वे तीन सौ पद्य तक बना लिया करते थे। यही कारण है कि भगवती जैसे आकर ग्रंथ की टीका भी उन्होंने पाँच वर्षों में कर ली।

आ० भिक्षु के तो वे अनन्य भाष्यकार थे। उन्होंने जो कुछ लिखा उसे आधार मानकर ही जयाचार्य ने अपने साहित्य को पल्लवित किया है। वह वीथि जिसमें से होकर आ० भिक्षु निकले हैं जयाचार्य ने अछूती नहीं छोड़ी। यदि कहीं आचार्य भिक्षु ने गद्य में लिखा है तो जयाचार्य ने उसे पद्यभूषा से अलंकृत कर दिया है। यहाँ तक कि जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु के व्यक्तिपरक आदेश-निर्देश को भी बिना पद्याकृति दिये नहीं छोड़ा है। आ० भिक्षु ने संघ व्यवस्था के लिए कुछ मर्यादाएँ बनाई तो जयाचार्य ने 'हाजरी' का रूप देकर उन्हें पद्यों में ग्रथित कर दिया। यदि कहीं आ० भिक्षु ने पद्य में लिखा तो जयाचार्य ने उसे आगम-समन्वित कर 'सिद्धान्तसार' के नाम से उन्हें शास्त्राधार कृति बना दिया है। सचमुच ही उस युग में जब कि तुलनात्मक अध्ययन की कोई कल्पना ही नहीं होती थी जयाचार्य ने स्वामीजी के पद्यों को आगम ध्वनि बनाकर एक नई धारा को जन्म दिया था। अब तो तुलनात्मक अध्ययन की एक धारा ही चल पड़ी है। अनेक भाषा में ऐसे प्रयत्न किए हैं। पर उस युग में जयाचार्य ने जो संकेत प्रस्तुत किये थे वे निःसंदेह अपने आपमें एक अनूठे संकेत थे।

आ० भिक्षु ने संघ-व्यवस्था के लिए अनेक मर्यादाएँ बनाईं थीं पर वह सारा गद्य-भाग था। जयाचार्य ने समय-समय पर बनाई हुई मर्यादा को संकलित कर उन्हें पद्य का रूप दे दिया है। उनका पद्यानुवाद मूल से कितना समन्वित है इसका एक उदाहरण इस प्रकार है :

ऋषि भिखन सर्व साधां ने पूछने सर्वसाध-साधवीयां री मरजादा बांधी ।१। ते साधां ने पूछन साधावना नी कहवाय ते लिखिय छै ।२। सर्व साधु साधवी भारमलजी री आज्ञा माहे चालणो विहार चौमासे करणो ते भारमलजी री आज्ञा सू करणो ।३। दिख्या देणी ते भारमलजी रा नाम दिख्या देणी ।४। चेलारी कपड़ा री साताकारी या खेतर री आदि देइने ममता करने ।५। अनंता जीव चारित्र गमाय ने नरक निगोद माहे गया छै ।६। तिण सू शिष्यादिक री ममता मिटावण रो चैन चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै ।७। विनय मूल धर्म ने न्याय मारग चालण रो उपाय कीधो छ ।८। भेषधारी विकलाने मूड भला कर ते शिष्यारा भूखा एक-एक रा अवर्ण बोले ।९। फारा तोड़ो करे, कजीया राड करे एहवा चरित देखने साधां रे मर्यादा बांधी ।१०। शिष्य सापारो संतोष कराय ने सुखे संजम पालणरो उपाय कीधो साधां पिण इमहिज ज कह्यो भारमलजी री आज्ञा में चालणो ।११। शिष्य करणा ते भारमलजी रे करणा ।१२। भारमलजी पछे रयाजंत होय ते बीर साधन चेलो सूपे तो करणो बीजु करण रो अटकाव कीधो छै ।१३। भारमलजी पिण आपरे चेलो करे ते पिण तिलोकचन्दजी चन्दरभाणजी आदि बुधवान साधु नई को साधपण लायक छै ।१४।

जयाचार्य का पद्यानुवाद

—ढाल—

(लय—सोहन भूप चढ़ई चंद में)

ऋष भीखण सर्व साधां भणी प्रभु। पूछी कर अहंमाद हो

सब साधु साधवीयां तणी प्रभु। बांधी वर मरजाद हो।

गणपति गुणाकर सोभता मु । जिन-जिन भीखु स्वाम हो ॥१॥
ते साधां नें पूछन मु । साधांकमा की कहियाय हो ।
नायक ते मिलिने अछे । मर्यादा सुखदाय हो ॥२॥
सर्व साधुने साधवी मु । भारमलजी री आण हो ।
विहार चौमासो करणो तिको मु । करणो आण प्रमाण हो ॥३॥
दिख्या देणी ते इण बिधे मु०। भारमलजी रै नाम हो ।
सर्व साधु साधवीया तणी मरयादा अभिराम हो ॥४॥
भेखधारी ने कपड़ा तणी साताकारीया चेलानी ताहि हो ।
आदि देह बहु वस्तुनी ममताकरी मन माहि हो ॥५॥
जीव अनंत मूर्छा थकी चरित्र खाण गमाय हो ।
नरक निगोद माहि गया इम भाख्यो जिनराय हो ॥६॥
तिण सूं ममत शिष्यादिक तणी मिटावण तणो उपाय हो ।
चरित्र चोखो पालण तणो उपाय कीयो सुखदाय हो ॥७॥
विनय मूल ए धर्म मे न्याय मार्ग चालणरो उपाय हो ।
की यो छै समय देखी करी इम कह्यो लिखत रै माहि हो ॥८॥
भेषधारी विकलागमनी मूंडी नें भेला करंत हो ।
ते शिष्या रा भूखा एक एकरा अवर्णवाद बोलंत हो ॥९॥
ते माहो माहि फगड़ा तोधे करै करै कजीया राड़ असमाध हो ।
एह चरित्र त्यारां देखने बांधी छै मर्याद हो ॥१० ॥
शिष्य शाखारी सतोष करायनें सुखे सयम पालण रो उपाय हो ।
शाखा पिण इमहिज कह्यो रहिणो भारमलजी आज्ञा माय हो ॥११॥
शिष्य करणा ते सर्वही भारमलजीरे नाम हो ।
अवल आण तसु पालणी ए मर्याद अमाम हो ॥१२॥
भारमलजी रजावध होय ने और साधु नें सुम्याव हो ।
चेलोमूंपै तो करणी अछै चीजू करण रो चीयो अटकाव हो ॥१३॥
भारमलजी पोतारै थको करी,ते पिण लिखतबद्धप्रमाण हो ।
आदि गुणवान साधु कहै जो संजम लायक जाण हो ॥१४॥

साधनारत साहित्यकार

जयाचार्य एक अध्यात्म प्राण महापुरुष थे । अतः उनकी कृतियों में आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतिबिम्ब रहे यह स्वाभाविक ही है । अध्यात्म को कुछ लोग पलायनवाद कह सकते हैं पर यह एक सिद्धान्त का प्रश्न है । उसके पीछे आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के सिवाय अनुभूतियों की परस्पर अनुपलब्धि का भी बहुत बड़ा हाथ है जिसे हम यहाँ नहीं छूना चाहते । हम यही मान कर चलते हैं कि जयाचार्य एक अध्यात्म-रत महापुरुष थे । तत्त्ववाद के गहन रत्नाकर में उनके अवगाहन का प्रमाण तो उनकी टीकाएँ देती ही हैं, पर उनकी आत्मोन्मुखी वृत्ति की प्रतिध्वनि भी हमें स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती है । अध्यात्म भावना का पहला सूत्र है आत्मा और पुद्गल का पार्थक्य समझकर अपने आप में स्थिर होना । इसी भावना को उन्होंने अपनी एक कृति चौबीसी (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति) में अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

उ; थे कर जोड़ने युग आदि जिनन्दा
कर्म रिपु गज अपरे, मृगराज मुणिन्दा
प्रणमूं प्रथम जिनद ने जय जय जिन-चन्दा ॥१॥

अनुकूल प्रतिकूल सम सही तप विविध तपया।
चेतन तन भिन लेखनी ध्यान शुक्ल ध्यायेया ॥२॥
पुद्गल सुख अरि पेखीया दुख हेतु मयाका।
विरक्त चित्त विचर्‌यो इसो आर्यं प्रत्यक्ष आखा ॥३॥
संवेग सरवर झूलता उपशम रसलीना।
निंदा स्तुति सुख दुख में समभाव सुचीना ॥४॥
वासी चंदन समपणे विराधिस जिन ध्याया।
इम तन सार तजी मी करी प्रभु केवल पाया ॥५॥
हूं बलिहारी ताहरी वाह वाह जिनरामा।
तवा दिसा किम दिन आवसी मुझ मध्य उमाया ॥६॥

सुमधुर संगीत की स्वर-लहरी में जब एक मुमुक्षु इस गीत को गाता है तो एक बार वह इतना भाव-विभोर हो जाता है कि अपने आपको किसी अनिर्वचनीय आनन्द में डूबा हुआ-सा पाता है।

इस स्थिति में जब कि एक साधक प्राणापहारी वेदना से अपने आपको परिवृत पाता है, जयाचार्य ने उसे संबोध देते हुए आराधना नामक कृति में कहा है—

अनंत मेरु जिम्मी जाणी पिण तृप्त न हुआ लिगार,
इम जाणी मुनि आदरे, अनशन अधिक उदार।

यही वेदना जब अत्यन्त असाध्य हो जाती है तो जयाचार्य उसे कहते हैं—

पुण्य-पाप पूर्वकृत सुख दुखना कारण रे,
पिण अन्य जन नहीं इम करे विचारण रे।
मावे भावना पूर्वकृत जब ये भोमविर्या मुकाई रे,
पिण वधा विनो नहीं छूट को थाई रे।
थें नरक विर्षे महैं दुख सह्या अनतोरे,
तो मनुष्याना किंचित दुख हुवोरे।

जीवन की अन्तिम घड़ियों में जब मनुष्य अनेक विकल्पनाओं से अपने आपको घिरा हुआ पाता है, उन क्षणों के लिए आराधना सचमुच एक जीवित प्रेरणा जीवन बूटी है। हमने अनेक अवसरों पर इसका प्रभाव देखा है, जब कि मरणासन्न साधक भी इस भावधारा और संगीत सुधा से तृप्त समाधिस्थ होकर मस्ती में झूमने लगता है। इसीलिए चौबीसी और आराधना का तेरापंथ संघ में इतना प्रसार है कि हजारों लोगों को ये कंठस्थ रहती हैं।

साधक को समाधिमार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए जयाचार्य ने और भी अनेक कृतियाँ लिखी हैं जिनमें 'ध्यान' प्रमुख है। जैन योग की दृष्टि से साधना की चौदह सीढ़ियाँ होती हैं। अन्तिम सीढ़ी में साधक शैलेषी पर्वत के समान निस्पन्द-अकम्प अवस्था को प्राप्त करता है। उस अवस्था प्राप्ति के लिए जयाचार्य ने अपने काव्य में जो संकेत किया है वह उनके जीवन की प्रतिध्वनि ही है। वैसे एक संघ के आचार्य होने के कारण उन पर संघ का बड़ा उत्तरदायित्व था किन्तु वह उनके लिये एक वरदान ही सिद्ध हुआ। यही कारण था कि जीवन के अत्यन्त व्यस्त क्षणों में भी उन्होंने इतना विपुल साहित्य लिख डाला। उससे उनकी एकाग्रता स्वयं ही प्रतिभासित होती है। वे जब लिखते थे तो एकान्त स्थान में बैठ जाते और अपने कानों में रुई भर लेते थे जिससे बाहर का कोलाहल उनके कार्य में बाधक नहीं बन सके। जीवन के अन्तिम वर्षों में तो उन्होंने एक प्रकार से शासन कार्य से निवृत्ति लेकर साहित्य-साधना तथा योग-साधना को ही अपना लक्ष्य बना लिया था। जब कोई भा[illegible] दर्शन करने आता तो जयाचार्य उसे अपने उत्तराधिकारी मुनि श्री मघराजजी की ओर संकेत कर देते और स्वयं अपनी साहित्य साधना तथा योग-साधना में व्यस्त रहते थे। उनके पीछे की व्यवस्था भी बड़ी वैज्ञानिक थी जिसकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं होगी।

जयाचार्य की कविता का मूल भक्ति है। भक्ति का अर्थ है अपने अद्धेय के प्रति अचल आस्थावान् होना। इस दृष्टि से देखें तो जयाचार्य को हम एक उत्कृष्ट भक्त कवि कह सकते हैं। भगवान् महावीर के प्रति तो उनकी आस्था अत्यन्त प्रगाढ़ है ही। इसीलिए वे पग-पग पर उन्हें नहीं भूलते। पर आचार्य भिक्षु के प्रति उन्होंने जो उद्गार प्रकट किये हैं, वे सहज ही उनके (आ भिक्षु के) साथ उनकी अभिन्नता को प्रकट करते हैं। आचार्य भिक्षु को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए वे एक जगह लिखते हैं —

हो जी म्हारे भिक्षु ऋषि सूं लागी प्रीत जी
जीवड़ो रे ललचाणो स्वामी जी सूं मो मन रे रैलो।
हो जी म्हारे स्वामी सरीखो पुन्य पुनिया माहिं जी,
देखण री मुझ मनड़ो अधिक उमंगे रैलो।
हो जी मोने विविध प्रश्नरा उत्तर अनोप जी
दे हर्ष भरी अति भली रैलो।
हो जी म्हें तो पंचम आरे साम्प्रत पारस सारिसो,
पायो रे बड़भाग प्रमाणे पोरसी रैलो।
हो जी हूं तो सुपनें सुरत पेख्यो परमानन्द जी
जी जावे रे अति हर्ष चैन सुपियां थको रैलो।
हो जी मन उलसे प्रत्यक्ष कद पेखूं दीदार जो
मगरा रे मनोरथ सफला कद हुवै रैलो।

इन पंक्तियों में जयाचार्य ने स्वामीजी से मिलने की आतुरता प्रकट की है। यह सचमुच ही उनकी एकात्मकता को प्रकट करती है। इससे बढ़कर एक भक्त और क्या कह सकता है? स्वामीजी के नाम को ही वे एक मन्त्राक्षर समझते थे। उसकी ही एक ध्वनि उनकी गीतिका में है—भिक्षु म्हारे प्रगट्या जी भरत खेतर में ध्यावो ध्यान धरें अन्तर में मंत्राक्षर सम नाम तुम्हारो। इस तरह यह गीतिका भावों से सराबोर तथा अनन्य प्रेम को प्रकट करनेवाली है।

'भिक्षु जस रसायन' नाम से उन्होंने आचार्य भिक्षु का एक जीवन-वृत्त भी लिखा है। सचमुच यह जीवन वृत्त भी अपने ढंग की एक विशेष कृति है। उसकी आलोचना भी अपने आप में एक विशेष स्थान की अपेक्षा रखती है। यहाँ हम उसका स्पर्श नहीं करना चाहते।

भक्त का हृदय अपने प्रिय में तो लीन रहता ही है, साथ ही साथ जहां भी उसे महत्ता के दर्शन होते हैं, वह वहीं झुक जाता है। यही कारण है कि एक आचार्य होते हुए भी उन्होंने अपने शिक्षा गुरु तथा गुरु भाइयों की मुक्त कंठ से इतनी प्रशंसा की है जो दूसरों के लिए एक प्रेरणा दीप का काम करती है। अपने शिक्षा गुरु मुनि श्री हेमराजजी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए वे एक जगह कहते हैं —

हेमाचल सारखा हेम ऋषीश्वर, दुरधर ब्रह्मचारी
जगत् उद्धारक तारक स्वामी आप जगा अवतारी।
गावत म्हें तो हेमतणागुण भारी थ्यारी सूरत री बलिहारी
थ्यारी करणी री बलिहारी
अन्तर्यामी आप उजागर, सागर क्षेम सवारी।
गुण ना गागर नागर निर्मल धर्म जागर धुनधारी
सी समुद्रा सुखदाई दीठा हियडो हर्ष अपारी
नाम सुण्या तन मन हुलसावै उत्कृष्टा उपकारी।
सुपना में तुम सूरत देख्या आनन्द हेम अपारी
प्रत्यक्ष देखण नी स्यूं कहणो थे जाणो जिनधारी।

मात आया यूं चरणु हुवे आर्द्रक बाप एसा उपकारी
पुण्य प्रमाण मिल्यो मुज बरूकम सतीदास सुखकारी ।

इसी प्रकार सतीदासजी स्वामी के प्रति (जिनका उपनाम सतयुगी था) अपनी सहज गुणज्ञता को शब्द रूप देते हुए जयाचार्य लिखते हैं—

सतयुगी स्वामी थे गणपालक अन्तर्यामी
सतयुग सारीखा सतयुगी नाम चेतसी थी गुण रत्नांरी खाण ।
थारे रे क्षमा गुण आपरो पेख याद आयाँ हियो हर्ष विशेष ।
थारी रे सतयुगी थारी मुद्रा एक पेखत पामे चितमां चैन ।
तू मिरखो गुणवंत सुधंम तू थो जिनमतनो थंभ ।

इतना ही नहीं साध्वियों के प्रति भी उनकी गीतिका ने वही अजस्र प्रवाह किया है—

कस्तूरां मोटी सती भारयो है सती चरण निधान
क धन्य-धन्य कस्तू जी सती ।
ऊणोदरी अधिकीकरी अट्ठम आसरे पच्चास कै
एक फल्का रे आसरे, पारणें बहुत पचै सुगिमास क ।
चौथे आरें सामल्यो एहवो तपने ऊणोदरी जाणक
पचम और पेखियो कस्तूरी भी तपस्या सुविहाण कै ।
मोसूं उपगार कियो घणो संजम साज दियो तहतीक कै
तिण कारण गुण समरूं हर्षभरी ने कहूं इम चीत कै ।

अरिहंत भगवान के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हुए एक स्थान पर उनसे वे विनती करते हैं—

युगमंदरजी ने समरीये बस रहनाजी म्हारा हियडो रे माहि,
अब करे थी म्हारी अखियाँ दर्शण दीज्योजी प्रभु देखण चाहि ।
मोहि लियोजी मन माहिलो देखणने जी तरस म्हाराजी नैण
बाल्हो नाही तुम सारीखो प्रभुजी सारिखा म्हारे नही कोई सण ।
दूरां देशां थी तुम सू अंतरंगो लागी जाचीजी म्हे तो तुम सू प्रीत
साहिब करे सेवक चणा चाहिजें थी म्हासू राखी थें रीत ।
शीतल चन्दन सारिखी वाहली लागेंजी थारा मुखडा री बात
मीठी लागे थी सूरत आपरी उत्कंठ थी थारे औलखा भी बात ।

भक्ति के इस अथाह समुद्र में आकण्ठ निमग्न होकर न जाने कितने महापुरुषों का उन्होंने स्मरण किया। यह तो उनका सारा साहित्य पढ़कर ही जाना जा सकता है।

अलंकार साहित्य का परिधान है। उसके बिना साहित्य आकर्षक नहीं लगता। इसलिए जयाचार्य ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर अलंकारों का भी उपयोग किया है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों को ही उन्होंने अपनाया है जो कि सरस साहित्यकार में होना ही चाहिए। अपनी एक कृति "यशोभद्र री व्याख्यान" में कामान्ध की वृत्तियों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है—

"घूघू नवि देखें दिने निशि नवि सूझें काम
कामान्ध सूझे नहीं दिन निशि बिहुं मुजाम।"

अर्थात् उल्लू दिन में नहीं देख सकता कौआ रात में नहीं देख सकता पर कामान्ध मनुष्य तो रात और दिन में कभी भी अच्छे मार्ग नहीं देखता। इसी प्रकार अपने छोटे भाई की पत्नी पर यशोभद्र के मुग्ध हो जाने पर और उससे अनुचित प्रार्थना करने पर वह कहती है—

तू मुझ जेठ रक्षाकारी नृप भय तेहथी किम भारी ।
अमृत विषे जहर किम उपजै रवि थी किम अंधकारी ॥
चन्द्र थी किम अंगारा वृष्टि जल थी अग्नि सरोष ।
उत्तम नर उन्मार्ग आचरे, किसका तणो स्यूं दोष ॥

अपने पात्रो के मुख से जयाचार्य ने जो कहलाया है वह नैतिक मानदण्डों को तो समुन्नत करता ही है साथ ही काव्य की दृष्टि से भी वह कम मूल्यवान नहीं है।

'भरत बाहुबलि' काव्य में दूत सुवेग बाहुबल से भरत के शौर्य की प्रशंसा करते हुए कहता है—वे बहुत ही बलवान् सम्राट् हैं उनके सामने आपकी सेना आपकी कुछ भी रक्षा नहीं कर सकेगी। हाथी जब वृक्ष को गिराता है तो सुन्दर पत्ते उसकी किसी प्रकार रक्षा नहीं कर सकते[1]।

उसी प्रकार युद्ध छिड़ जाने पर सैनिकों की मनोदशा की ओर संकेत करते हुए वे उनके मुंह से कहलाते हैं—

कृपण तणा द्रव्यनी परे, अम्ह अफल बल एह।
हम चितवता आवियो रण उत्सव अधिकेह ॥
शस्त्रनी अग्रधारी करी युद्ध विषे तनु जास।
व्रण ते घाव सहित थयो तेहिज वीर विमास ॥
जिम अग्नि विषे महाघी करी ताड़ित घन मुद्गरेह।
थयू विशुद्ध-मल रहित जे सुवर्ण कहिये तेह ॥
आज ताईं भार तुम तणो मुज वपु करिने वहेह।
तसु भाड़ो भुगतै देवो तुम्हे हम शस्त्र मे तेम चहेह ॥

अर्थात् कृपण मनुष्य के धन की तरह हमारे बल का भी अब तक कोई उपयोग नहीं हो सका है। ऐसा सोचते बड़ी कठिनता से यह रणोत्सव समुपस्थित हुआ है। जिस प्रकार आग में तपा कर भारी मुद्गरों से पीटने पर मलरहित होकर ही सोना स्वर्ण बनता है उसी प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों की अग्रधार से संग्राम में जिसका शरीर क्षत हो चुका है वास्तव में वही वीर है। शस्त्रो! आज तक हमलोगों ने अपने शरीरों पर तुम्हारा भार ढोया है। उसका प्रतिदान आज तुम्हें चुकाना है। यह कहते हुए सैनिक लोग अपने शस्त्रों पर वार कर रहे हैं। इस प्रकार सैनिकों की युद्ध के प्रति उत्कण्ठा का बड़ा ही सुन्दर चित्र उन्होंने यहां खींचा है।

कवि का मनोविज्ञान में प्रवीण होना भी आवश्यक है। जब तक वह अपने पात्रों की मनोदशाओं का सम्यक् चित्रण न कर सके तब तक उसके कवित्व में वेग नहीं आ सकता। इस दृष्टि से यदि हम जयाचार्य के काव्य को परखें तो ऐसा लगता है कि वे इस परिप्रेक्ष्य में बहुत सफल हुए हैं। एक स्थान पर दुष्ट प्रकृति के साधु का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—

करे आलस्या बात कहै कोई ते भणी ठीक न कहै बोले मीर लोकी सी प्रकृति नो धर्म
आहार करता पूरी जयणा नाय करै को जतावणी तो पाछो बोले दे जाब।
चूके पडिले हुन करत दीने धीज तेमथी फेरे मूकानो मूर
एक दिन में चूका बहुवार, करै को जतावणी कहै लागो म्हारी लार।
पाणी ना ठबका पड़ता देख कह्या लागी भणी कहै पोतारा क्यूं न पेखत।

इसी प्रकार अच्छी प्रकृति के साधु का वर्णन करते हुए वे आगे कहते हैं—

करै आलस्या बात कहै कोई ते भणी
कर जोड़ तणा कहै ठीक नीकी प्रकृति को धणी।
आहार करता अजयणा देख करै को जतावणी
बोले न दे कहै ठीक।

---

१ जिम गज तरु नै उपाड़ता तास पत्र अभिरामो रक्षा करिवा तेहनी आडा नावै तामो।

चूके पडिलेहण्या करत दीर्घ सीख ते भणी ।
हरस सहीत करै खमीकार,
एक दिन में चूका बहुवार कर को अवगमी ।
कहूं तौ सम कुण मुझ सम ।
पाणीरा तड़का पड़ता देख कह्यां रीस ने छहूणी ।
ठीक कह तमु अभिप्राय ।

यद्यपि यह प्रकरण बहुत लम्बा है पर इसमें जयाचार्य ने सुविनीत और अविनीत मानस का जो चित्रण किया है वह सचमुच ही बड़ा मर्मस्पर्शी है। एक राग-बिद्ध (परिचय युक्त) साधु की मनोभावनाओं का चित्रण करते हुए जयाचार्य लिखते हैं—

परचो (राग) रावै तो मर मोला तिगरो चौव करै डावाडोला ।
परचा सू बोलम्यो पावै तिण री बसां ही मोला नहीं थावै ।
परचा वालो चेत्र मलावै तो मन रलिया मन थावै ।
परचा वाला खेत्र नहीं मेलै तो थाव कपट बहु खल ।
पछै आमण दुमण थको थावै पिण मन में बहु दुख पाव ।
रात्रि दिवस चावै हो अरता परचावाला रो ध्यान न धरता ।
परचा वाला री भावना भावै जाणें दर्शन करला कद भावै ।
आया देख हीयो अति हरखै जाणें बंबरी नगले परखै ।

इससे सहज ही यह पता चल जाता है कि जयाचार्य मानव मन के कितने पारखी थे। वे उसकी भावनाओं को कितनी उण्डी (गहरी) तह तक जाकर छूते थे।

महिपाल चरित्र में एक स्थान पर मुग्ध कुमारिका चन्द्ररेखा की स्थिति का चित्रण जयाचार्य कितने सशक्त शब्दों में करते हैं—

कुमारी बेठी शय्या उपरै याद करै महिपाला ।
चेष्टा विविध प्रकार नी करवा लागी बाला ।
कबहु राग पंचम करै रे, कब धरै जोगी ज्यूं ध्यान ।
खिण माहि फिकर करै खिण माहि हर्ष असमान ।
हार नैं कहै आज मो भणी दगकारी हुवो सोय ।
चन्दा नें कहै कर चांदणी रै बालम आण्यो मोय ।
इम बहु विरतत देखने चितवै मा मन माहि ।
आज किणहि पुरुष उपरे रे, रक्त थर दीसै ताहि ।
भीतर आय पुत्री भणी माय पूछै धर नेह ।
कहो परमार्थ मो भणी काम चेष्टा करे एह ।
चन्द्र कह्या मन चिंतव्यो किम कह्यां किम हुवै काम ।
इम जाणी सहु मा तणै बात नहीं अभिराम ।

हालांकि वे एक संत पुरुष थे पर मनुष्य की भावनाओं को वे कितनी दूर रहकर भी पकड़ सकते थे यह इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

उनकी शब्द-शक्ति सहज थी। जिस किसी चीज को वे देखते और जो कोई नया अनुभव उन्हें होता वे झट उस पर कविता कर देते। यहां तक कि संस्कृत व्याकरण को भी उन्होंने पद्यों में बांध दिया। पंचसन्धि तथा हृदन्त का उन्होंने जमा पद्यमय किया है उसका थोड़ा-सा अंश हम यहां देना चाहते हैं। परिभाषा प्रकरण में ह्रस्व-दीर्घ और व्यंजन की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं—

एक मात्र तै ह्रस्व है द्विमात्र ते दीर्घ ।
रेखात्रिमात्र प्लुत कहीजिए, मात्रा काल अपेक्ष ।१।
ए ऐ ओ औ ए चिह्न संध्यक्षर सुखदाय ।
हिवै अवर्ण स्वरादि कहूँ नि सुणो निर्मल न्याय ।२।
अ इ उ ऋ लृ ए पचना ह्रस्व दीर्घ वदा होय ।
चिहुँ संध्यक्षर वळ चतुर प्लुत सहित ए जोय ।३।
'अ वा' स्वर वर्ण द्वादश स्वर, समानामी सिद्धान्त ।
प्रत्याहार कहूँ हिवै व्यंजन स्वर सुविशाल ।४।

इसी प्रकार प्रकृति भाव सन्धि प्रकरण के क्लिष्ट अंश को उन्होंने कविता का रूप दिया है—

कहूँ व्यंजन कार्य जपा जबे जपा पदलीन ।
पदांत वर्णो वळ हुवै अब परछतै सुचीन ।१।
पद् अब केरो वचन है अच् अत अजत स्त् ।
वाक समासो वाच्यता तत् पृथक् तवेतव ।२।

इसी प्रकार से कृदन्त प्रकरण का भी उन्होंने पद्यानुवाद कर डाला है। उन्होंने यह टीका जिस प्रकार लिखी है, वह आज भी प्रत्येक अध्येता और विद्वान् के लिए एक अविस्मरणीय व अनुकरणीय दृष्टान्त है। वे रात में जो कुछ सीखते उसी को दिन में पद्यबद्ध कर डालते। यह वृत्ति किसी भी जिज्ञासु विद्यार्थी अथवा विद्वान को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचाये बिना न रहेगी। उनकी इसी वृत्ति का यह सुफल हुआ कि "उपदेश रत्नकोष" नाम का एक वृहद् कथासंग्रह वे सरलता से तैयार कर सके। 'उपदेश रत्नकोष' औपदेशिक कथाओं दोहों, श्लोकों गीतिकाओं तथा विविध सामग्रियों से सुसज्जित एक महान् संग्रह है। यह ग्रन्थ लगभग चार-पाँच सौ पृष्ठों का है। व्याख्याताओं के लिए यह एक अमूल्य रत्नकोष है। जैन-परम्परा में कथाओं का बड़ा ही महत्व रहा है। 'समराइच्च कहा' आदि कथाओं की तरह 'उपदेश रत्नकोष' भी उसी परम्परा का एक बहुमूल्य उपहार है। प्राकृत अपभ्रंश और संस्कृत में लिखे हुए प्राचीन कथा-ग्रन्थों के समान राजस्थानी में रचित यह कथासंग्रह बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। इस संग्रह में केवल कथाएँ ही नहीं हैं अपितु दोहों गीतिकाओं आदि का भी इसमें सुन्दर संकलन हुआ है। कथाओं में सरसता के साथ कोई-न-कोई विशेष शिक्षा देने का उद्देश्य भी रहा है। इसलिये यह छोटे-बड़े सभी के लिये बल्कि बालकों के लिये विशेष रूप से रुचिकर और हितावह है। यहाँ कथाओं का उदाहरण देकर निबन्ध का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं।

जयाचार्य के व्यक्तित्व में साहित्यकार और संघ-संचालन का एक मणि-कांचन संयोग था। उनके नेतृत्व के विषय में यहाँ कुछ कहना प्रासंगिक नहीं होगा पर इतना अवश्य कथनीय है कि उनके कवित्व ने उनके नेतृत्व को बहुत बड़ा बल दिया था। उन्हें जिस किसी बात को संघ में महत्त्व देना होता वे उसकी कविता बना देते थे। ऐसा किये बिना संघ-संचालन में बड़ी कठिनाई हो सकती थी। उदाहरण के लिए—पहले तेरापंथ संघ में यह आवश्यक नहीं था कि सारे साधु-साध्वी वर्ष में एक बार एक स्थान पर मिलें ही जैसा कि आजकल अनिवार्य है। सब साधु-साध्वी आचार्य के आदेशानुसार विहार करते थे पर उनका आपस का सम्मिलन नहीं हुआ करता था। जयाचार्य को यह अनुभव हुआ कि वर्ष भर में एक बार साधु-साध्वियों का मिलना अत्यन्त आवश्यक है। पर वे अपनी बात को किसी पर बलात् थोपना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने एक मार्ग निकाला और वह यह था कि जो भी साधु-साध्वी (विशेषतः साध्वियाँ) वर्ष भर में आचार्य की सेवा में उपस्थित होतीं उनका अपनी कविताओं में वे गुणगान करना प्रारम्भ कर दिया करते। फलतः 'आर्या रा दर्शन' नाम की एक कृति तैयार हो गई। सभी साधु-साध्वी इस ओर आकृष्ट होने लगे। फिर तो विधिवत् मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर सबका आचार्य की सेवा में उपस्थित होना अनिवार्य हो गया।

इसी प्रकार तपस्या के विषय में भी उन्होंने यही मार्ग अपनाया। जो साधु-साध्वी तपस्या करते जयाचार्य उनकी बड़ी प्रशंसा करते। स्वभावतः सभी इस ओर आकृष्ट होने लगे। यही कारण था कि उनके युग में उनके घोर तपस्वियों ने अपनी

तपस्या द्वारा संघ की आन्तरिक स्थिति को सुदृढ़ किया। उनके 'साधु-साध्वी गुण वर्णन' 'शिक्षा की ढाल' आदि कविता संग्रह इसी के प्रमाण हैं।

उनके काव्य की सबसे बड़ी उत्कृष्टता उसकी चमत्कारिता है। अनेक अवसरों पर जब कोई विषम परिस्थिति उनके सामने आ जाती तो उनकी कविता अजस्र प्रवाह में फूट पड़ती और उस प्रवाह में संकट अपने आप बह जाते। ऐसा ही एक विकट प्रसंग उनके जीवन में आया था जिसे सुनते ही रोमांच हो जाता है। कहते हैं एक बार बीदासर में रात के समय जहाँ जयाचार्य ठहरे हुए थे वहाँ अचानक अंगार वृष्टि होने लगी। रात का समय था। कोई भी श्रावक वहाँ था नहीं और होता भी तो क्या करता? सब साधु घबरा गये। कुछ साधु तो बेहोश भी हो गये। जयाचार्य के सामने एक भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गई। ऐसी परिस्थिति में किया भी जावे तो क्या? सहसा जयाचार्य का कवित्व फूट पड़ा —

'मुनिन्द मोरा भिक्षु ने भारीमाल वीर गोयमरी जोडी रे, स्वामी मोरा अति भला रे मोरा स्वाम' । यह गीतिका काफी लम्बी है तथा इसमें संघ के सभी प्रभावक तथा तपस्वी साधु-साध्वियों का स्मरण किया गया है। कहते हैं धीरे धीरे उपद्रव शान्त होने लगा और अन्तत: वह बिलकुल शान्त हो गया। कुछ लोगों को यह घटना अस्वाभाविक लग सकती है, पर मन्त्र शक्ति में विश्वास करनेवालों के लिये यह कोई नई बात नहीं है। पहले भी जैनाचार्यों ने ऐसे प्रयोग किये हैं जो इतिहास में आज भी सुरक्षित हैं। इसी प्रकार अनेक उपद्रवों को उन्होंने अपने कवित्व-बल से जीता यह उनके साहित्य से स्वतः प्रमाणित होता है। यही कारण है कि तेरापंथ संघ में उनकी ये गीतिकाएँ संकट के समय बच्चे-बच्चे के मुंह पर नाचने लगती हैं और बहुत से मुमुक्षु लोग तो प्रातःकाल अनिवार्य रूप से इसका पाठ भी करते हैं। आज भी जनता को ऐसा अनुभव होता है कि न जाने इन गीतिकाओं में कौन-सी ऐसी अदृश्य-शक्ति है जिससे अनेक संकट अपने आप टल जाते हैं। इसमें मनुष्य की श्रद्धा तो विशेष फलवती होती ही है गुणीजनों का गुणोत्कीर्तन तथा काव्य शक्ति भी कम फलप्रद नहीं होती।

इतिहास के विद्यार्थी और निर्माता

इतिहास को इतिहास के ढंग से सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति धर्म संघों में बहुत कम देखी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व तक तो यहाँ इतिहास को महत्त्व ही नहीं दिया जाता था। लोग इस व्यय का धंधा समझते थे। जयाचार्य ने प्रारम्भ से ही इतिहास को बड़ी आवश्यकता से पकड़ा है। उन्होंने जैन-इतिहास को स्पष्ट करने के प्रयत्नों के साथ-साथ तेरापंथ के इतिहास को भी सुरक्षित रखने का विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध' आदि ग्रन्थों में उन्होंने जैन-इतिहास के अनेक अनुपलब्ध पृष्ठों के संकेत दिये हैं। अपनी एक कृति में उन्होंने जैन-इतिहास पर विस्तार से प्रकाश डाला है। दुर्भाग्य से उनकी यह महत्त्वपूर्ण रचना अधूरी ही रह गई।

आ० भिक्षु के बारे में जो कि उनसे लगभग सौ वर्ष पहले हुए थे उन्हें जो कुछ भी मिला उसे उन्होंने संगृहीत कर लिया। स्वामीजी के बारे में उनकी श्रद्धा अत्यन्त प्रगाढ़ थी। अतः उनके जीवन की छोटी-से-छोटी घटना को भी जयाचार्य ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उपस्थित किया है। वही आज 'भिक्खु दृष्टान्त' नाम से एक महत्त्व की सामग्री बन गई है। मनोविनोद के साथ स्वामीजी गहन तत्त्व को कितना सुगम बना देते थे यह उससे सहज ही जाना जा सकता है। स्वामीजी का जीवन-चरित्र 'भिक्षु जस रसायन' भी अपने ढंग का एक उत्तम जीवनवृत्त है। पुराने जमाने में राजा लोगों के जो जीवनवृत्त लिखे जाते थे उनमें केवल गुणानुवाद को ही अधिक स्थान मिलता था पर जयाचार्य ने उसे घटनात्मक तथा सिद्धान्तात्मक बनाने का अधिक प्रयत्न किया है। इसीलिये उसे पढ़ते समय पाठक अनुभूतियों और चिन्तन के सागर में गोते लगाने लगता है। इसी प्रकार जयाचार्य ने और भी अनेक आचार्यों साधु तथा साध्वियों के जीवन-चरित्र लिखे हैं। यहाँ तक कि श्रावक-श्राविकाओं के बारे में भी उन्हें जो कुछ मिला उसे भी उन्होंने लिपिबद्ध कर लिया। यही कारण है कि तेरापंथ संघ का इतिहास आज भी बहुत सुव्यवस्थित है। वे जो न लिख सके वह फिर लिखा ही नहीं जा सका। सदा के लिए छूट ही गया। फिर भी जो कुछ लिखा जा चुका है, वह भी कम नहीं है। आगे के लिए लिखने का एक क्रम ही बन गया और संघ का इतिहास बहुत ही सुव्यवस्थित हो गया। एक-एक साधु-साध्वी ने अपने जीवन में जो भी विशेष कार्य किये हैं उन सबका विवरण सुरक्षित रखा जाता है। यह सब जयाचार्य की इतिहासप्रियता का ही परिणाम है।

जयाचार्य ने जीवन का अधिकांश आगम साहित्य के अध्ययन में ही बीता। यह तक कि आठ वर्ष में उन्होंने ८६,६३४० गाथाओं का स्वाध्याय किया था। इसीलिए उनके साहित्य का बहुत बड़ा भाग आगमों की चर्चा से पूर्ण है।

इसके साथ-साथ इसका एक और भी कारण यह था कि तात्कालिक जैन-सम्प्रदायों में प्रमुख रूप से शास्त्र-चर्चा ही एक विषय रहा करती थी। अतः आचार्य को भी उनके खण्डन-मण्डन के लिये वैसे ही साहित्य का सृजन करना पड़ा। उनमें से 'भ्रम विध्वंसन' 'संदेह विषौषधि' 'कुमति विहंडन' 'प्रश्नोत्तर सार्धशतक' 'प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध' आदि प्रमुख हैं।

टीकाओं के अतिरिक्त द्रव्यानुयोग पर स्वतंत्र रूप से भी उन्होंने बहुत कुछ लिखा है जिनमें 'भीखी चर्चा' 'तीनो बात' 'जिनाज्ञा की चौढालियों' आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। सामयिक प्रश्नों का भी वे कविता की भाषा में ही उत्तर दिया करते थे। अतः अनेक सामयिक प्रकरणों को भी उन्होंने कविताबद्ध कर दिया है। उनका एक-एक प्रकरण वास्तव में एक-एक स्वतंत्र विषय की सामग्री प्रस्तुत कर देता है। साधु का आहार करना आगम विहित है या नहीं? इस विषय पर उन्होंने एक लम्बी गीतिका लिखी थी। इसी प्रकार साधु को नीर लेनी चाहिए या नहीं? नदी उतरना चाहिए या नहीं? आदि अनेक विषयों पर उन्होंने बड़ी विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ लिखी हैं जिन पर स्वतन्त्र आलोचना की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य ने फुटकर रूप से इतना कुछ लिखा है कि उसकी गणना एक व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। चार चार, पाँच-पाँच अंगुल के कागज के टुकड़ों पर भी उन्होंने इतने महत्त्व की बातें लिख डाली हैं कि दूसरों के लिये उनको समझना भी एक समस्या बन जाती है। ऐसा लगता है, उनकी लेखनी ने कभी विराम नहीं लिया। उनके सम्पूर्ण विराट् व्यक्तित्व का एक पहलू भी पूर्णरूप से लोकमानस के सामने आ नहीं सका है। जैसे-जैसे उनके जीवन के भिन्न-भिन्न पक्ष प्रकट होते जायेंगे वैसे-वैसे हमें उनका सर्वांग सम्पूर्ण परिचय आनन्द और आश्चर्य के साथ प्राप्त होता जायगा।

तेरापथ के पंचम आ० श्री मघवागणी के जीवन-पृष्ठ

(ले०—साध्वी श्री यशोधराजी)

सामान्य व्यक्ति कहाँ और कब जन्म लेता है, उसका लालन-पालन कैसे होता है, वह कैसे जीता है—इसकी किसी को कोई जिज्ञासा नहीं होती। किन्तु जब वही व्यक्ति व्यष्टि की सीमा को लाँघकर समष्टिमय बनता है अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तीर्ण करता है अपनी विचार-धारा को 'सर्व जन हिताय' बहा देता है तो उसके जीवन के एक-एक क्षण की जानकारी अभिप्रेत हो जाती है। लोगों का मन उसे जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। उसका प्रत्येक चरण अनन्त आशाकाँक्षाओं को प्रेरित करता हुआ जन-मानस में जिज्ञासाओं को उत्पन्न करता हुआ आगे बढ़ा चला जाता है। उसकी शारीरिक चेष्टाएँ, मानसिक व्यापार तथा बौद्धिक चिन्तन के आलोक सहस्रावधि व्यक्तियों में बिखरते हैं और उनमें नव-जीवन फूँकते हुए सुषुप्त भावनाओं को जाग्रत करते हैं। दूसरे शब्दों में वह सबके लिए आदर्श बन जाता है और उस आदर्श तक पहुँचने के लिए सहस्रों मन उत्कृष्ट भावनाओं से निरन्तर चलते रहते हैं।

तेरापथ शासन के 'पंचम अधिनायक मघराजजी' स्वामी का जीवन एक आदर्श जीवन' था। वे जानते थे कि साध्य तपने से मिलता है अतः उन्होंने शरीर, मन और वाणी को सब हित के लिए तपाया। वे जानते थे साध्य सहन से मिलता है अतः उन्होंने शरीर मन और वाणी के अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों को सहा। वे जानते थे कि साध्य अर्पण से मिलता है अतः उन्होंने शरीर, मन और वाणी को संघपति के श्री चरणों में समर्पित कर दिया। उनका जीवन समुद्र की तरह अथाह, आकाश की तरह अनन्त और पृथ्वी की तरह विस्तृत था। वे स्वयं के लिए नहीं दूसरों के लिए जीये। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति सूक्ष्म हो या स्थूल सर्वहित से अनुस्यूत रहती थी। संघ ने उन्हें शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित किया तो उन्होंने भी अपने अनवरत कार्यकलापों से संघ को विकासोन्मुख किया।

'मघवा' का जन्म सं० १८९७ की चैत्र शु० ११ को 'बीदासर' में हुआ था। 'मघा' नक्षत्र में जन्म होने के कारण उनका नाम 'मघराज' रखा गया। उनके पिता का नाम 'पूरणमलजी' बेगवाणी और माता का नाम 'बन्ना देवी' था। उनकी छोटी बहन का नाम "गुलाब कंवर" था जिसने आगे चलकर साध्वी प्रमुखा के पद पर प्रतिष्ठित होकर तेरापथ शासन की अपूर्व सेवाएँ कीं। लोग इनके बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक मृदुता कोमलता तथा विज्ञता से प्रभावित होकर इन्हें 'सरस्वती का अवतार' कहते थे। मघराजजी जब छोटी अवस्था में थे तभी उनके पिता की मृत्यु हो गई। माता का मन दुःखों से उद्वेलित हो उठा किन्तु परम्परागत धार्मिक संस्कारों से उनके मन में सहज सहिष्णुता के भाव पनपे। वैधव्य का दुःख भारी नहीं हुआ। वर्षों से की जानेवाली धार्मिक क्रियाओं का विचार प्रस्फुटित होने लगा। आर्त्त-रौद्र ध्यान के कटु विपाक ने उन्हें धर्म ध्यान की ओर प्रेरित किया। वैराग्य के अंकुर फूट पड़े। व्यवहार में वैराग्य की अभिव्यक्ति हुई। बच्चों पर भी इस अभिव्यक्ति का परिणाम हुआ। घर का वातावरण वैराग्य के रंग में रंजित हो उठा। वैराग्य को स्थायित्व देनेवाले अनेक प्रसंग आते रहे। एक बार सरदार सती बीदासर में इन्हीं के निवास स्थान पर ठहरीं। निकट सम्पर्क से बालकों में तत्त्व ज्ञान की वृद्धि हुई तथा साधु-साध्वियों के कठोर जीवन के प्रति उनमें एक अव्यक्त अनुराग उत्पन्न हुआ।

वि० सं० १९०८ का चातुर्मास श्रीमज्जयाचार्य ने बीदासर में किया। उस समय आप युवाचार्य पद पर थे। साथ में १२ संत थे। युवाचार्य को अपने बीच पा बीदासर की जनता हर्ष-विह्वल हो रही थी। धार्मिक प्रवृत्तियों में दिन-दिन वृद्धि होती रही। सभी छोटे-बड़े नर-नारी युवाचार्य की ओजस्वी वाणी से अमृतानन्द का अनुभव कर रहे थे। इसी चातुर्मास में बन्नाजी तथा दोनों बालकों (मघ तथा गुलाब) के मन में दीक्षा लेने की भावना प्रबल हुई। तीनों एक साथ दीक्षित होना चाहते थे परन्तु एक बाधा उन्हें रह-रहकर अखर रही थी। उस समय कुमारी गुलाब की अवस्था छोटी थी। उसे दीक्षा का 'कल्प' नहीं आया था। अतः माता बन्नाजी ने यह निश्चय कर लिया कि जब तक गुलाब का दीक्षा का कल्प न आ जाय तब तक दीक्षा नहीं लूँगी। परन्तु बालक मघराजजी का मन वैराग्य से भर गया था। उन्हें घर में रहना प्रतिकूल सा लगने लगा। बहन को कल्प आने तक की प्रतीक्षा उन्हें असह्य जान पड़ी। उन्होंने अपनी माता को समझा-बुझाकर उनसे

पहले दीक्षित होने की सहमति ले ली। आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने युवाचार्य से विनय की। अपनी माँ तथा बहिन की भावनाओं को उनके सामने रखा। श्रीमज्जयाचार्य को बालक 'मघराज' में अपूर्व तेज दीख पड़ा। बालक की 'होनहारता' पर वे मुग्ध हो गए। उसे दीक्षित करने की बात मन में जँच गई। बालक मघराज का प्रौढ़ विवेक तथा एक सहज घटना श्रीमज्जयाचार्य के मन को उसे दीक्षित करने के लिए प्रेरित कर रही थी। वह घटना यह थी कि एक बार बालक मघराज अपने साथियों के साथ खेल रहे थे। साथी बालकों को यह पता लग गया था कि मघराज साधु बनेगा। उनके परस्पर बोलते समय मघराज को सम्बोधित कर एक बालक कहता "मत्थेण वंदामि मघजी स्वामी। मघराज की मौन रहने पर कोई दूसरा बालक उनका प्रतिनिधित्व करता हुआ कहता जी'। तब सारे लड़के एक साथ कहते—

'थारे पातरे में भी बैठ्यो ठण्डो पाणी पी'

युवाचार्य ने यह खेल आते-जाते कई बार देखा था। बालकों के मुख से निकलने वाले ये वाक्य उन्हें घूम जान पड़े। 'मघराज' के उज्ज्वल भविष्य का उन्हें निश्चय हो गया। चातुर्मास समाप्ति के बाद मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को दीक्षा देने की घोषणा हुई। दीक्षा की तैयारियाँ होने लगी। करणीय सभी विधियाँ की गईं। पंचमी का सूर्य उदित हुआ। बालक मघराज घोड़े पर सवार हो दीक्षा-स्थल पर पहुँचने के लिए घर से निकला। मार्ग में अप्रत्याशित घटना घटी। कुछ निम्न व्यक्तियों ने 'मघराज' के चाचा के कान भरे। निरर्थक आक्षेपों से उनका मन क्षुब्ध हो उठा। वे संतुलन खो बैठे। हठात् बालक मघराज को घोड़े से खींचकर गोदी में उठाए वे पास ही के एक मठ में चले गए। नगर के सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने कारण पूछा पर उन्होंने इतना ही कह कर सबको टाल दिया कि 'मुझे दीक्षा नहीं दिलानी है। अनेक लोगों ने उन्हें समझाया पर सब व्यर्थ। श्रीमज्जयाचार्य को यह बात मालूम हुई। उन्होंने तत्काल वहाँ से लाडनूं की ओर विहार कर दिया; क्योंकि दीक्षा न होने के कारण चातुर्मास के बाद वहाँ रहना नहीं कल्पता था।

इस घटना से बालक मघराज को अत्यन्त दुःख हुआ। परन्तु वे हताश नहीं हुए। निराशा में भी आशा को बनाए रखना उनका अपना गुण था। उन्होंने अपने चाचा को समझाया और उन्हें लाडनूं चलने के लिए तैयार कर लिया। वे सभी जयाचार्य की सेवा में लाडनूं आए। पुनः दीक्षा की प्रार्थना की गई। सं १९ ८ मृ कृ १२ को हजारों व्यक्तियों की उपस्थिति में लाडनूं के बाहर 'पीरजी के स्थान' पर बालक मघराज की दीक्षा सम्पन्न हुई। गृहस्थ जीवन से नाता टूट गया। वे मुनि संघ में आ मिले। वह संघ के भाग्योदय का दिन था। संघ में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। श्रीमज्जयाचार्य को विशेष प्रसन्नता हुई क्योंकि उस बालक में उन्हें अपने उत्तराधिकारी बनने की योग्यता दीख रही थी। तेरापंथ के आचार्य अपने मनोनीत उत्तराधिकारी को पाये बिना निश्चिन्त नहीं होते। आज उन्हें संतोष का अनुभव हो रहा था।

तेरापंथ के तृतीय आचार्य ऋषिराय उन दिनों मेवाड़ में थे। जब बालक मघराज की दीक्षा के समाचार उन तक पहुँचे तो अचानक ही ऋषिराय को तीन छींकें आईं। उन्होंने प्रथम छींक पर तो कुछ नहीं कहा पर दूसरी छींक आते ही कहा—लगता है यह बालक साधु दीपनेवाला होगा। इतने में ही तीसरी छींक आते ही आपने कहा—यह तो शीघ्रगम का भार सम्भाल ले तो आश्चर्य नहीं। सहज भाव से निकले हुए आचार्य के ये वचन बाल मुनि के लिए वरदान सिद्ध हुए।

पूज्य श्री ऋषिराय का स्वर्गवास सं १९ ८ माघ कृ १४ को हो चुका था। श्रीमज्जयाचार्य ने शासन का कार्य भार सम्भाला।

मघराजजी स्वामी की संसार पक्षी माता बन्नाजी तथा बहिन गुलाब कँवरजी की दीक्षा उसी वर्ष फाल्गुन कृ ९ को श्रीमज्जयाचार्य के हाथों सम्पन्न हुई।

मघराजजी स्वामी का व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं को लिए हुए पनप रहा था। बचपन से ही वे गंभीर थे। उनका हृदय अत्यन्त पवित्र और निश्छल था। मार्गस्थ के प्रति उनकी निष्ठा अत्यन्त दृढ़ और बलवती थी। उनके चरित्र के पर्यव निर्मल और विशुद्ध थे। अष्टमाचार्य श्रीमद् कालूगणी उनके बाह्य व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए कहते "मघवागणीजी जैसी सुन्दर आकृतिवाला व्यक्ति मैंने अपने जीवन-काल में नहीं देखा। गंभीरता पाप-भीरुता अनुरोध तथा सहनशीलता के मान बनी थे। प्रत्येक परिस्थिति में संतुलन बनाये रखने में आप निपुण थे।

स्वभाव की कोमलता और हृदय की निर्मलता से आपने सबको मुग्ध कर लिया था। विशेषतः श्रीमज्जयाचार्य आपसे बहुत प्रसन्न थे। दोनों का सम्बन्ध अगम्य था। जहाँ सम्बन्ध का अनुबन्ध गुणाश्रित होता है वहाँ उसमें स्थिरता और

पवित्रता रह सकती है अन्यथा वह सदा स्वस्थ नहीं रहता। श्रद्धा प्रेम और वात्सल्य के संस्कार जब जगते हैं और अपने श्रद्धेय में एकरस हो जाते हैं तब अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है और श्रद्धालु अपने श्रद्धेय के साथ इतना तन्मय हो जाता है कि उसे श्रद्धेय का क्षणिक विरह या विरह की बुद्धिगत कल्पना भी असह्य हो उठती है। मघराजजी स्वामी की अपने श्रद्धेय श्रीमज्जयाचार्य के प्रति अगाढ़ भक्ति और अनन्य प्रेम था। श्री मज्जयाचार्य का भी अपने शिष्य के प्रति अप्रतिम वात्सल्य था।

मुनि मघराजजी सदा श्रीमज्जयाचार्य के पास ही रहे। गुरु-विरह से होनेवाली कटु अनुभूति से वे अपरिचित थे। परन्तु एक बार उन्हें आचार्य श्री से विलग रहना पड़ा। वियोग की कटु अनुभूति से वे विह्वल हो उठे। श्री मज्जयाचार्य का भी मन शिष्य की विह्वलता से उद्विग्न उठा। घटना इस प्रकार है—

वि स० १९११ का चातुर्मास रतलाम में सम्पन्न कर श्रीमज्जयाचार्य इन्दौर पधारे। मुनि मघराजजी को 'मोतीझरा' (छोटी चेचक) निकल आया। उपचार किए गए। एक महीना बीत गया पर रोग से मुक्ति नहीं मिली। तब मज्जयाचार्य ने वहाँ कुछ सन्तों को मुनि श्री मघराजजी की सेवा में रख कर उज्जैन की ओर विहार कर दिया। मुनि श्रीमघराजजी के लिए आचार्य प्रवर से अलग रहने का यह पहला अवसर था। वे कुछ अनमने से हो उठे। अलग रहना असह्य जान पड़ा। उन्होंने आचार्य वर से यह प्रार्थना करवाई कि उन्हें भी ज्यों-त्यों साथ ले लिया जाए। श्रीमज्जयाचार्य इन्दौर से २ कोस दूर पर अवस्थित थे। उन्हें ये समाचार मिले। साथ में ले चलने की बात ठीक लगी परन्तु सन्तों ने आचार्य वर से यह प्रार्थना की कि मुनि श्री को इस अवस्था में उठाकर ले जाने में खतरा है। श्रीमज्जयाचार्य का यह बात जँच गई। उन्होंने उज्जैन जाने का अपना कार्यक्रम बदल दिया और वे पुन इन्दौर पधार गए। मुनि श्री का हृदय हर्ष से गद्‌गद् हो उठा। उपचार पूर्ववत् चलता रहा। व्याधि से मुक्ति मिली परन्तु व्याधि-जन्य शारीरिक दुर्बलता से अभी छुटकारा नहीं मिल पाया था। समय बहुत निकल गया। अत श्रीमज्जयाचार्य ने वहाँ से विहार कर दिया और इन्दौर से उज्जैन तक मुनि मघराजजी को साथ उठाकर ले गए। उज्जैन में उपचार चला और कुछ ही दिनों में मुनि श्री स्वस्थ हो गए। इसी प्रकार वि स १९११ का चातुर्मास पाली में सम्पन्न कर श्रीमज्जयाचार्य काल पधारे। मुनि मघराजजी को पुन चेचक हो गई। मर्यादा महोत्सव सन्निकट था। साधु-साध्वी दर्शनार्थ आ रहे थे। गाँव छोटा था। फिर भी वहाँ २७ दिन रुकना पड़ा। इतने साधु-साध्वियों को वहाँ भिक्षा प्राप्त होना सुलभ नहीं था। अत आस-पास के १२ गाँवों से गोचरी की जाती। इतना होने पर भी जयाचार्य वहाँ २७ दिनों तक रुके और मुनि मघराजजी के स्वस्थ हो जाने पर उन्हें साथ ले वहाँ से चले। मुनिश्री के प्रति जयाचार्य के वात्सल्य का यह स्फुट निदर्शन है।

आचार से विचार पवित्र बनते हैं और विचारों से आचार में स्थिरता आती है। दोनों की प्रौढ़ता शिक्षा से सम्पन्न होती है। ग्रहण और आसेवना शिक्षा के धनी मुनि श्री मघराजजी जयाचार्य के शिक्षण की प्रयोगशाला थे। जयाचार्य की यह चिर अभिलाषा थी कि संघ में संस्कृत भाषा का प्रसार हो। साधन अल्प थे। यदि संस्कृत भाषा सिखानेवाले नहीं थे तो सीखनेवाले भी नहीं थे। जयाचार्य की उत्कट अभिलाषा मुनि मघराजजी में संक्रान्त हुई। वे संस्कृत भाषा के अध्ययन में जुट पड़े। साधनों की अल्पता ने परिश्रम को चतुर्गुणित कर दिया। वे तेरापंथ संघ में संस्कृत के प्रथम विद्वान् बने। उन्होंने संस्कृत भाषा में रचनाएँ कीं। उन्होंने सारस्वत व्याकरण का पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका का उत्तरार्ध कण्ठस्थ किया। चान्द्र तथा जैनेन्द्र व्याकरणों का भी अध्ययन किया। अनेक काव्य पढ़े। उन्होंने किरातार्जुनीय भट्टी दुर्घट काव्य विदग्धमुखमंडन न्याय दीपिका परीक्षा मुखमंडन समाधितन्त्र योगशास्त्र आदि ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन किया। व्याख्यान में आप संस्कृत काव्यों को पढ़ते और जनता को मन्त्रमुग्ध कर देते थे। राजस्थानी भाषा के उन्होंने रामचरित्र शालीभद्र जम्बूकुमार, अमर कुमार, सुरसुन्दरी नमचरित्र आदि काव्य कंठस्थ किए। आपकी बुद्धि अत्यन्त पटु और तीव्र थी। आपने आवश्यक उत्तराध्ययन दशवैकालिक प्रथम आचारांग और बृहत्कल्प—ये पाँच आगम कण्ठस्थ किए और सदा उनका स्वाध्याय करते रहते। बत्तीस आगमों का आपने कई बार पारायण किया तथा कुछ टीकाएँ भी पढ़ीं।

आपकी स्मृति अविकल और ग्रहणशक्ति सुस्थिर थी। जो कुछ एकबार कंठस्थ कर लेते वह आपके स्मृति-पटल पर अमिट रह जाता। आपकी स्मृति इतनी तीव्र और स्थायी थी कि कण्ठस्थ किए हुए ग्रंथों को वर्षों तक बिना पुनरावर्तन भी याद रख लेते थे। वि स १९४८ के अपने जयपुर चातुर्मास में आपने पंडित दुर्गादत्त जी को सारस्वत व्याकरण का

कुछ अंश सुनाया। पंडित जी ने पूछा—क्या आप अभी भी व्याकरण दुहराते हैं? मघवागणी ने कहा "वि. सं. १९२२ के पाली चातुर्मास में एक बार मैंने जयाचार्य को सारस्वत व्याकरण का सारा पूर्वार्द्ध सुनाया था। उसके बाद उसे कभी नहीं दुहराया। पंडितजी इस कथन से आश्चर्यान्वित रह गए। २९ वर्ष तक बिना दुहराए भी व्याकरण जैसे कठिन विषय को अविकल स्मरण रख लेना वस्तुतः स्मृति का चमत्कार है।

संघ के साधु-साध्वी आपको 'पंडित' कह कर बुलाते थे। यह उपाधि निष्कारण नहीं थी। एक बार जयाचार्य विहार कर 'जैतारण' पधार रहे थे। दो साधु कुछ आगे चल रहे थे। वे जैतारण के गाँव के पास एक वृक्ष के नीचे जयाचार्य की प्रतीक्षा में विश्राम कर रहे थे। एक साधु ने उपस्थित साधुओं से निम्नोक्त पहेली का अर्थ पूछा—

'आगे जैतारण लारे जैतारण बीच में चालाँ आपाँ।
इण पहेली को अर्थ बतावै तिण ने पंडित थापाँ॥

मुनि मघराजजी ने यह सुना और तत्काल इसका अर्थ बतलाते हुए कहा 'यहाँ से आगे जैतारण नामक गाँव है हमारे पीछे जनता को तारने वाले थे अर्थात् जयाचार्य हैं और साधु हम सब दोनों के बीच में चल रहे हैं। इस प्रत्युत्पन्न मति से साधु अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसी दिन से साधु उन्हें 'पंडित' के नाम से संबोधित करने लगे। श्रीमज्जयाचार्य के पास जब कोई संस्कृत का पंडित आता तो आप यही कहते कि हमारे यहाँ तो संस्कृत के पंडित एक 'मघजी' ही हैं।

कुछ संस्कृत रचनाओं को छोड़कर आपकी सारी रचनाएँ राजस्थानी भाषा में हैं। किसी भाषा विशेष से आप प्रतिबद्ध नहीं थे। जन भाषा के प्रति आपका अनुराग था और वे उसको सदा सम्मान की दृष्टि से देखते थे। कुचामन की बात है। स्थानीय लोग एक पंडितजी को लेकर आए। उन्होंने संस्कृत में प्रश्न पूछे। मघवागणी ने राजस्थानी में उन प्रश्नों के उत्तर दिए। पंडितजी ने कहा "संस्कृते वाच्यम्"। मघवागणी ने कहा 'संस्कृत भाषा में यहाँ के लोग समझ नहीं सकते। मुझे आपको ही नहीं यहाँ के लोगों को भी समझाना है। अतः यहाँ की जन भाषा—राजस्थानी भाषा में बोलना ही उचित होगा। अच्छा हो कि आप भी अपने प्रश्न राजस्थानी भाषा में ही करें।" पंडितजी ने इस बात को मानने से इन्कार कर दिया। वे संस्कृत में प्रश्न पूछते और मघवागणी राजस्थानी भाषा में उत्तर देते। संस्कृत बोलते समय एकबार पंडितजी कहीं स्खलित होने लगे तो मघवागणी ने उन्हें सावधान करते हुए कहा—पंडितजी! पंडितजी इस संकेत से तत्काल समझ गए और सावधानी से बोलने लगे। कुछ देर बाद पुनः स्खलना हुई और मघवागणी ने पुनः उन्हें सचेत किया। पंडितजी कुंठित हुए और राजस्थानी में बोलने लगे। प्रश्नोत्तर चले। जनता ने पूर्ण रस लिया। पंडितजी ने मघवागणी की विद्वत्ता का लोहा माना और अपनी अकड़ को भूलकर उन्होंने जाते समय मघवागणी के चरणों में झुककर तथा हाथ जोड़कर निवेदन किया—"आप बड़े उदार हैं। आपने मेरी लाज रख ली। यदि आप चाहते तो परिषद् में मुझे अपमानित कर सकते थे। पर आपने वैसा नहीं किया यह आपकी महानता है।

बड़ा कौन? यह चार अक्षरों का प्रश्न बड़ा जटिल और रहस्यमय है। वैज्ञानिक दार्शनिक कवि प्रवक्ता नेता आचार्य आदि सभी अपने-अपने क्षेत्रों में बड़े माने जाते हैं परन्तु युक्तियुक्त यह है कि सबसे बड़ा है विवेक। जिसका विवेक अधिकतम होता है वह सदा जागृत रहता है और वही बड़ा है फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो।

मुनि मघराज जी विवेक के धनी थे। विवेक का सम्बन्ध अवस्था से नहीं संस्कारगत विशेषताओं से है। उस समय उनकी अवस्था १४ वर्ष की थी। विवेकपूर्ण जागृत था। उन्हें समस्त साधु-समाज का विश्वास प्राप्त था। दूसरों की बात मानने में आनाकानी करनेवाले साधु भी उनकी बात मानने के लिए तैयार हो जाते थे। वि. सं. १९११ की बात है। श्रीमज्जयाचार्य 'बाबरीद' में विराज रहे थे। वहाँ की घटना है। एक साधु के किसी अपराध पर दण्ड निर्धारण करने के लिए श्रीमज्जयाचार्य ने पाँच सन्तों को नियुक्त किया। परस्पर विचार-विमर्श हुआ। दण्ड निर्धारित हुआ। घोषणा की तिथि निकट थी। परन्तु उस साधु ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि मुझे यह पूर्ण विश्वास नहीं हो पा रहा है कि वे पाँचों पंच मुझे उचित दण्ड दे सकेंगे? अतः आप कोई दूसरी व्यवस्था करें। श्रीमज्जयाचार्य ने उसे मानसिक तोष दिलाते हुए पूछा "तुझे किस पर विश्वास है? क्या तू 'मघजी' के निर्णय को मान लेगा? उस साधु ने तत्काल स्वीकृति देकर 'मघजी' के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया। जयाचार्य ने मुनि मघजी को बुला भेजा और पाँचों पंचों पर उन्हें 'सरपंच' स्थापित किया।

क्षमा आत्मा का गुण है। वह प्रत्येक व्यक्ति में होता है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति विरलों में ही उपलब्ध होती है। जिसमें यह गुण अभिव्यक्त होता है वह मनुष्य इतर मनुष्यों से बहुत ऊँचा उठ जाता है और उसमें अनेक गुण समाविष्ट हो जाते हैं। मुनि मघवा में यह गुण सहज था। जयाचार्य को इसका अनुभव अनेक बार हो चुका था फिर भी उसकी जानकारी दूसरों को देने के लिए आपने एक प्रयोग किया। एक बार आपने एक साधु को बुला कर कहा—जाओ मुट्ठी भर रेत मुनि मघराजजी के शरीर पर डाल आओ। उस समय मुनि मघराजजी युवाचार्य के पद पर थे और एक ओर (भीत की तरफ मुंह किए हुए) बैठ कर लिख रहे थे। जयाचार्य का यह आदेश पा मुनि स्तब्ध रह गया। वह किंकर्त्तव्यविमूढ बना हुआ बगलें झांकने लगा। जयाचार्य ने कहा—जाओ आज्ञा का पालन करो। साधु सकपका गया। धीरे-धीरे जाकर उसने मुट्ठी भर रेत लेकर मुनि मघराज जी के शरीर पर डाल दी। मुनि मघराजजी को यह पता नहीं चला कि यह जान-बूझ कर किया गया है। वे उठे और रेत को शरीर से पोंछ कर पुनः लिखने में लीन हो गए। श्रीमज्जयाचार्य यह सारी घटना देख रहे थे। उन्होंने पूछा—मघजी! क्या कर रहे हो? तत्काल उठते हुए हाथ जोड़ कर आपने कहा—भंते! पीठ पर थोड़ी-सी धूल गिर गई थी उसे झटक रहा हूँ।

आचार्य—धूल कहाँ से आई? इसकी गवेषणा की या नहीं?

मघजी—भगवन्! ठीक-ठीक तो पता नहीं है, किन्तु अभी-अभी इधर से एक मुनि गुजरे थे संभव है कि उन्हीं से यह धूल गिर गई हो।

जयाचार्य—मघजी! ठीक पता तो लगाते कि धूल कहाँ से आई अथवा किसने गिराई?

मघजी—भंते! मैं इसकी जाँच-पड़ताल करने में क्यों समय गँवाता? किसी ने जान-बूझ कर तो गिराई नहीं है। असावधानी से गिर गई है। यों तो आँधी आदि में सारा शरीर धूल से भर जाता है। उसका दोष किसे दें? बस उसे झाड़ कर साफ कर देते हैं उसी प्रकार इसे भी झाड़ कर साफ किए देता हूँ।

जयाचार्य—ठीक है।

यह घटना भले ही छोटी हो किन्तु इससे उनकी क्षमावृत्ति का स्पष्ट पता चलता है।

जयाचार्य क्रान्तदर्शी थे। उनका समूचा शासनकाल सफलों में बीता। क्रान्ति के बीज लेकर वे आए और अपने शासन काल में उन बीजों को अंकुरित करने में उन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त की। इस सफलता का श्रेय मुनि मघराजजी को था क्योंकि जयाचार्य जो भी नए नियम या विधान बनाते उनका प्रथम प्रयोग मुनि मघजी से होता था। उस समय के साधु-साध्वी नए-नए प्रयोगों को समझने में अपने आपको असमर्थ पाते थे और इस असमर्थता से वे परोक्ष रूप में जयाचार्य के विचारों में गतिरोध पैदा कर देते थे। जयाचार्य विचारों में लौह पुरुष थे। जो विचार उन्हें सम्यक् लगता जिस नए विधान में उन्हें संघ-हित दीख पड़ता उन विचारों को तथा नए विधानों को चालू करने में वे कभी हिचकिचाहट नहीं करते। वे उसे प्रारम्भ कर देते। मुनि मघराजजी उन नए विचारों को समझने-समझाने में पूर्णतः दक्ष हो जाते। सर्वप्रथम उन्हीं पर वे विचार लागू होते। मुनि मघजी उन विचारों का अक्षरशः पालन करते और अन्यान्य साधुओं को उन विचारों का रहस्य समझाते। समस्त साधु-समाज के वे विश्वासपात्र थे। मुनि मघजी के कथनानुसार अन्यान्य साधु उस नई व्यवस्था के अनुरूप अपने आपको शासन में प्रस्तुत करते और इस प्रकार जयाचार्य के नए प्रयोग सफल होते। इस विधि से जयाचार्य ने अनेक नई बातें क्रियान्वित की और तेरापंथ शासन को विकास की ओर अग्रसर किया।

मुनि मघराजजी में 'सेवा वृत्ति' का अपूर्व गुण था। यह उनकी स्वभावगत विशेषता थी। अनेक साधुओं को वे यथोचित सेवाएँ देते और सहज ही उनके हृदय को जीत लेते। सेवावृत्ति का उपादान है नम्रता। नम्रता आपकी नहीं आत्मा की सहज किया है। जो इसमें रच-पच जाता है वह स्वयं झुकते हुए सहस्रों को अनायास ही झुका लेता है। मुनि मघराज जी विनयशील थे इसीलिए सेवाभावी थे। वे वृद्ध ग्लान आदि की तन-मन से सेवा करते और उन्हें अधिकाधिक समाधि उत्पन्न करने का प्रयास करते। जो साधु नई व्यवस्था के प्रथम दर्शन से घबराते उनके लिए वे सहायक बनते और उनके कार्यों में हाथ बँटाते। इस सहायता से साधुओं का कार्यभार हल्का हो जाता और उन्हें नई व्यवस्था सरल प्रतीत होने लगती। जयाचार्य ने साधु समाज में श्रम तथा आहार के सम-विभाग की प्रवृत्ति का प्रवर्तन किया। उस समय मुनि मघराजजी की

सेवावृत्ति साधुओं के लिए परम सहायक बनी। वे अपने विभाग का आहार दूसरों को दे देते और उनके विभाग में आए हुए रोटी के टुकड़े स्वयं ले लेते। प्रतिदिन के इस व्यवहार से देनेवाले साधु स्वयं हिचकिचाते और वे स्वयं अपने विभाग में आए हुए टुकड़ों को खाने में आनन्द मानते। सम-विभाग की व्यवस्था चलने लगी। मुनि मघराजजी कहते—जो साधु आहार की 'सीठें' (रोटी के टुकड़े जो भोजन करते समय यदा-कदा नीचे गिर जाते हैं) खाता है उसे विद्या आती है। यह वचन धीरे-धीरे प्रसृत हुआ और साधुओं ने देखा कि स्वयं मघजी अन्यान्य साधुओं के मुंह के आगे पड़ी हुई सीठें खाते हैं। ऐसा करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। साधुओं ने यह भी अनुभव किया कि इस लघुता से मुनि मघजी दिनोंदिन विकास की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। तब यह कहावत सी बन गई कि 'सीठें खाने से विद्या आती है।' आजतक साधु-साध्वी समाज में यह परम्परा चली आ रही है और आचार्य श्री तुलसी इस कहावत को अनेक बार दुहराते हैं।

अपनी इन प्रकृतिगत विशेषताओं के लिए मुनि मघजी तेरापंथ तीर्थ चतुष्टय के अपूर्व आकर्षण-केन्द्र बन गए थे। अब उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति अन्यान्य साधुओं में आदर्श बन कर प्रतिबिम्बित होती थी। दूसरे सदा यह कामना करते कि उनमें भी मुनि मघजी जैसी विनय सेवावृत्ति प्रामाणिकता और विवेक का समावेश हो। प्रत्येक व्यक्ति उनके पद-चिह्नों पर चलने के लिये लालायित रहता था। वास्तव में उनका जीवन व्यवहार और परमार्थ का समवाय था। उनके विचार अध्यात्म-संकेतों से परिपूर्ण थे। उनकी प्रवृत्तियों में सहज सारल्य और आत्म-भाव प्रतिबिम्बित होता था। जो कुछ वे करते वह किसी नीति-विशेष से प्रेरित होकर नहीं अपितु स्वभावगत आत्म-भाव की परिपूर्णता से करते। अतः उसमें कृत्रिमता का लेश भी नहीं दीखता। नैसर्गिक गुणों से प्रेरित होकर प्रत्येक प्रवृत्ति जन-मानस को आकृष्ट कर लेती है—इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण मुनि मघजी में सहज ही हो जाता था।

कई व्यक्तियों को जीवन-विकास का अवसर ही नहीं मिलता। वे 'मन्द भाग्य' हैं। कई व्यक्तियों को अवसर मिलता है पर वे उस अवसर का उचित लाभ नहीं उठाते। अतः वे 'हत भाग्य' हैं। कई व्यक्ति अवसर का समुचित लाभ उठाते हैं और उसे अपने पुरुषार्थ से फलवान् बनाते हैं वे 'भव्य-भाग्य' हैं। मुनि मघराज जी 'भव्य-भाग्य' थे। जयाचार्य ने उन्हें विकास करने के अनन्य अवसर दिए। मुनि मघजी ने उन अवसरों को सदा फलवान् बनाया अपना विकास किया और अपने आपको उन अवसरों द्वारा प्रदत्त गुरुतर उत्तरदायित्वों को निभाने योग्य बनाया। उनकी गति सदा प्रगति के चरण चूमती हुई आगे बढ़ती रही। प्रतिगति के स्वप्न भी उन्हें नहीं आए। वे बढ़ते चले। उन्होंने रुकने का कभी नाम भी नहीं लिया। गतिशील व्यक्ति में अनायास ही सहस्रों गुण आ मिलते हैं। वे गुणों के पिण्ड बन गए। मुनि मघजी की स्वाभाविक लघुता ने जयाचार्य की कृपा को शतगुणित कर दिया। वे इन्हें आगे बढ़ने का सदा अवसर देते रहे। चौदह वर्ष की लघु अवस्था में 'सरदार' बनना सचमुच एक विलक्षण व्यक्तित्व का परिचायक था।

वि॰ सं॰ १९१२ में जयाचार्य की आँखों में कुछ खराबी हुई। बोरवें (मारवाड़) की बात है। वहाँ साधुओं की हाजरी सुनाने का अवसर आया। जयाचार्य ने यह कार्य मुनि मघजी को सौंपा। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में यह गुरुतर उत्तरदायित्व अति विलक्षण व्यक्तित्व की ओर संकेत करता था। वि॰ सं॰ १९१९ में जयाचार्य ने मुनि मघजी को उनकी शासन-सेवा से प्रभावित होकर उन्हें समुच्चय के भार तथा कार्य-विभाजन की प्रणाली से प्राप्त सभी कार्यों से मुक्त कर दिया। उत्तरोत्तर आगे बढ़नेवाले वे गतिशील चरण मुनि मघजी के व्यक्तित्व में सफलता की कड़ियाँ जोड़ते चले जा रहे थे।

वि॰ सं॰ १९२ की बात है। उस समय मुनि मघराज जी २४ वर्ष के थे। जयाचार्य चातुर्मासिक स्थिति में चूरू में विराज रहे थे। भगवती जोड़ का कार्य चालू था। परन्तु जयाचार्य को निर्विघ्न समय नहीं मिल पा रहा था। उनका चिन्तन चला और उन्हें शासन-भार से मुक्त होने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। यह गुरुतर कार्य अवश्य था पर इसका विचार कई वर्षों से चलते-चलते अब परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुका था। जयाचार्य ने वर्षों पूर्व मन ही मन अपने उत्तराधिकारी को चुन लिया था। उसे वैधानिक रूप देने की भावना उनमें जगी और उन्होंने उसे मूर्त रूप देने का निश्चय कर लिया। तेरापंथ की शासन-प्रणाली एकतन्त्र की परिक्रमा करती हुई चलती है। कुछ कार्य एकतन्त्र के आधार पर होते हैं और कई कार्य समाजवाद के आधार पर। एकतन्त्र और समाजवाद का यह सह अवस्थान तेरापंथ संघ के विकास का मूल मंत्र है। तेरापंथ में कुछ कार्य आचार्य ही कर सकते हैं। दूसरा व्यक्ति उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जयाचार्य

अपने कार्यों से मुक्त हो साहित्य साधना में अधिक समय देना चाहते थे। पर यह तब तक संभव नहीं था जब तक कि वे 'युवाचार्य' की घोषणा नहीं कर देते। जयाचार्य ने 'युवाचार्य' का नाम घोषित करने के लिए आश्विन कृष्णा १३ का दिन निश्चित किया और इससे पूर्व कुछ वैधानिक कार्य सम्पन्न किए। सर्वप्रथम स्वामीजी के प्रथम लेख पत्र की प्रतिलिपि करवाई और उसमें उन्होंने भावी आचार्य के स्थान पर 'मघवागणी' का नाम अंकित किया। तदनन्तर चातुर्मास में उपस्थित समस्त साधु-साध्वियों के हस्ताक्षर लिए गए। सभी ने अत्यन्त विश्वस्त-भाव से उस पत्र पर हस्ताक्षर किए। भावी आचार्य निर्वाचन की वैधानिक विधि सम्पन्न हो चुकी थी। त्रयोदशी के दिन तो केवल औपचारिक क्रियाएँ अवशिष्ट थीं।

आश्विन कृष्णा १३ का दिन उगा। संघ-चतुष्टय में हर्ष की लहर व्याप्त थी। सहस्रों नर-नारी अपने मन के भावी अधिनेता को देखने के लिए उत्कंठित नयनों से उपस्थित हुए। युवाचार्य पद देने के उपलक्ष्य में किए जाने वाले क्रिया-कलापों की प्रत्यक्ष झाँकी पाने के लिए लोग लालायित थे। श्रीमज्जयाचार्य परिषद् में पधारे। सभी साधु-साध्वी उपस्थित हुए। सर्वप्रथम जयाचार्य ने शिक्षा देते हुए संघ-चतुष्टय को अपने-अपने कर्तव्यों से अवगत कराया और मर्यादित की प्रत्येक प्रवृत्ति में सदा जागरूक रहने के लिए शिक्षा दी। जयाचार्य का प्रत्येक वचन जन-मानस में उत्सुकता भरता चला जा रहा था। वातावरण के कण-कण में सजीवता और उन्मेष था। इस प्रसंग बेला में जयाचार्य ने अपने शरीर पर धारण की हुई नई 'पछेवड़ी' उतारी और उसे मघवा को धारण करने के लिए दे दी। 'युवाचार्य पद समर्पण की विधि सानन्द सम्पन्न हुई। संघ-चतुष्टय के जयनाद से सारा आकाश गूंज उठा। मुनि मघवा ने इस गुरुतर दायित्व के चीवर को मूक सहमति और व्यक्त विनय के साथ धारण किया और आचार्य के अप्रतिम प्रसाद को पा मन ही मन उनकी कृपा-परता की सराहना की।

अब जयाचार्य कई कार्यों से निवृत्त हो गए। प्रायः सभी कार्य युवाचार्य मघवा को करने होते। अवस्था अल्प थी। उत्तरदायित्व गुरुतर था। फिर भी उन्हें कभी इस गुरुता का भार महसूस नहीं हुआ क्योंकि जयाचार्य का साहस और बुद्धि-कौशल उनके साथ था। अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी की कार्य-संचालन विधि को देख वे संतुष्ट थे। इसी अप्रतिम मनोयोग का सबोत्तर वे साहित्य साधना में जुट गये और आगम मन्थन से जो रत्न प्रसूत हुए वे आज भी जन जगत् में प्रकाशमान हो रहे हैं। शासन-भार मुक्ति के पश्चात् उस एकान्त चिन्तन से जो निष्कर्ष आचार्य ने दिए वे आज भी जन-जिज्ञासा के पथ प्रदर्शक हैं। उनकी कृतियों में जिन वाणी का यथार्थ रूप स्पष्ट प्रतीत होता है। उनकी सेवा तेरापंथ के लिए ही नहीं समूचे जैन समाज के लिए वरदान स्वरूप है। एक सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध होते हुए भी व्यक्ति किस प्रकार समन्वय की भावनाओं को पल्लवित कर सकता है यह जयाचार्य के साहित्य से जाना जा सकता है।

पद की गुरुता से दायित्व भी बढ़ चुका था। साथ ही साथ गुणों में भी अति वृद्धि हुई। नम्रता और सरलता के स्पष्ट दर्शन होने लगे। अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए आपको अनेक कार्य करने पड़ते। गलती करनेवाले साधु को उपालम्भ भी देना पड़ता। परन्तु आप हृदय से यह कभी नहीं चाहते कि किसी को कठोर वचन कहा जाए या कोई भी उपालम्भ का भागी बने। प्रारम्भ से ही आपकी प्रकृति शान्त और भद्र थी और यह प्रवृत्ति सभी अवस्थाओं में (युवाचार्य या आचार्य अवस्था में) बराबर बनी रही। शासक अवस्था में जब किसी को उपालम्भ देना पड़ता तो आप गलती करनेवाले साधु-साध्वियों को अत्यन्त कोमलता से कहते "मुझे उपालम्भ देते स्वयं कष्ट होता है। यदि तुम ऐसा काम नहीं करते तो मुझे तुम्हें क्यों कुछ कहना पड़ता?" इन शब्दों में छिपी [illegible] वात्सल्य से गलती करनेवाला व्यक्ति मौन हो जाता और उस सहज सरल आत्मा को अकारण ही कष्ट देने पर अपने आपको धिक्कारता। इस मार्दव [illegible] से ही वे सबके प्रिय बन गए और कोई भी व्यक्ति उनका प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा? वे जो कुछ कहते वह सबको बिना ननु-नच के स्वीकार्य हो जाता था। स्वयं जयाचार्य ने उनके सौभाग्य की प्रशंसा करते हुए कहा "मघवा बड़ा भाग्यशाली है। जितने समर्थ हुए वे सब मेरे शासनकाल में होकर निपट गए। मघजी के लिए अब कोई संकट शेष नहीं रहा है।"

[illegible] पद के इस युवाचार्य काल में उनकी योग्यता के अनेक रूप सामने आए। [illegible] क्षमावृत्ति और विनय पूर्ण व्यवहार से व्यक्ति रह जाते और असमंजस में पड़ जाते कि आप इस गुरुतर पद पर आसीन हो कर भी इतने नम्र और शान्त क्यों हैं? पर ये तो आपके स्वभावगत गुण थे।

आदि गण-बहिष्कृत साधुओं का प्रचार-क्षेत्र बना हुआ था। अनेक क्षेत्र में उनका प्रभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। परन्तु वर्तमान में उनका संगठन छिन्न-भिन्न हो गया था। मघवागणी वहाँ भी पधारे। लोगों ने हृदय से आपका स्वागत किया और हजारों नर-नारियों ने गुरु धारणा की। सरदारशहर जो बहिर्गों का क्षेत्र माना जाता था वहाँ भी सबका भाइयों ने गुरु धारणा की और तेरापंथ संगठन के प्रति उत्तरदायी रहने की प्रतिज्ञा की। इसी प्रकार अनेक क्षेत्रों में अनेक परिवारवालों ने गण बहिष्कृत की धारणाओं को तिलांजलि दे मघवागणी की अनुशासना स्वीकार की। तीन वर्ष तक आप थली प्रदेश को अध्यात्म वाणी से आप्लावित करते रहे। वहाँ का कण-कण आपको पा हर्ष-विभोर था। वहाँ से आप मारवाड़ पधारे। वि. सं. १९४१ का चातुर्मास जोधपुर में सम्पन्न हुआ। शान्त-दान्त आचार्य को पा मरुधर के वासी अपने भाग्य को सराह रहे थे। महासती श्री गुलाबाँजी साथ थीं। पौष में उनका स्वर्गवास हो गया। मघवागणी पाली पधारे और साध्वियों का भार महासती नवलाँजी को सौंपा गया। वहाँ से अनेक नगरों का स्पर्श करते हुए वे मरुधर की ऊँची-नीची पथरीली भूमि को पार कर देवगढ़ पधारे। कुछ दिन पूर्व ही यहाँ के रावजी के कुँवर दिवंगत हो गए थे। सारे शहर में शोक छाया हुआ था। सभी आमोद प्रमोद बन्द थे। परन्तु जब रावजी ने मघवागणी के पदार्पण के समाचार सुने तो उन्होंने नगर के लोगों को यह कहलाया कि मघवागणी के पुण्य पदार्पण पर लोग खुशियाँ मनाएँ, बाजे गाजे के साथ उनका स्वागत करें और पूज्य आचार्य जी के साथ रहनेवाले साधुओं को ठाठ से जिमाएँ। जीमनवार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस कथन से देवगढ़वासी लोग बहुत प्रसन्न हुए। पूर्ण ठाठ-बाट के साथ नगरवासियों ने आचार्य श्री का हृदय से स्वागत किया। रावजी की प्रार्थना पर आप गढ़ में पधारे। दूर तक रावजी सामने आए और अत्यन्त आदर व श्रद्धापूर्वक मघवागणी को अन्दर ले गए। आचार्य श्री की शान्त और सुधारसमय वाणी से शोक संतप्त परिवार को सान्त्वना मिली। सहानुभूति के दो शब्द सुन सारा परिवार दुस्सह दर्द को भूल सा गया। यह सत्य है कि दुःखी अवस्था में संवेदना के दो शब्द भी दुःख व दर्द को हल्का कर देते हैं।

वि. सं. १९४२ का चातुर्मास उदयपुर में हुआ। शहर के लोग धार्मिक प्रवृत्तियों में तन्मय होते जा रहे थे। यहाँ के प्रमुख नागरिकों तथा राज्याधिकारियों का सम्पर्क बढ़ा और जन-जन में मघवागणी के शान्त-दान्त व्यक्तित्व की चर्चा होने लगी। चातुर्मास के बाद एक दिन महाराणा फतेहसिंहजी आचार्य श्री के दर्शन करने कविराजा श्यामलदासजी की वाड़ी में आए। कविराजजी की प्रेरणा से ही वे आज यहाँ दर्शनार्थ आए थे परन्तु पूर्व निर्धारित समय से कुछ विलम्ब हो जाने के कारण उन्हें कुछ संकोच सा हो रहा था। उन्होंने मघवागणी के पास जाकर विलम्ब के लिए क्षमा-याचना की। मघवागणी ने उन्हें प्रेम भरे शब्दों में उपदेश दिया। वे उत्कर्ण हो अत्यन्त तन्मयता पूर्वक अध्यात्म-वाणी का रसास्वादन कर रहे थे। लगभग २२ मिनट का समय बीत गया। प्रतिक्रमण की बेला आई। मघवागणी ने उपदेश बन्द किया। सभी साधु प्रतिक्रमण में लग गए। महाराणा फतेहसिंहजी महलों की ओर चल पड़े। लोगों को लगा कि महाराणा शायद अप्रसन्न होकर लौट गए हैं। पर मघवागणी को इसकी कोई चिन्ता ही नहीं थी। किसी की बातचीत की अपेक्षा उन्हें अपनी क्रिया की अनुल्लंघ्यता का विशेष महत्त्व जान पड़ता था। लोग घबराए। पर महाराणा फतेहसिंहजी ने अपने स्थान पर पहुँच कर कहा "संत बड़े पक्के हैं। अपने नियमों के पालन में इतने पक्के हैं कि क्रिया-कलाप का समय आ जाने पर वे हर किसी को इन्कार कर सकते हैं।"

जिस संगठन में व्यक्ति का स्वार्थ सब के हित के नीचे रहता है, वही संघ विकास कर सकता है। जिस संघ का अधि नेता सब-हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों की आहुति दे देता है वह संघपति संघ को उन्नति के शिखर पर पहुँचा देता है। मघवागणी व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सब हित को विशेष महत्त्व देते थे। मेवाड़ से थली की ओर पधारते समय आप अजमेर पधारे। अजमेर में कई स्थानकवासी आर्याओं ने प्रार्थना की कि उन्हें तेरापंथ गण में दीक्षित कर लिया जाए। कई दिनों तक यह प्रयास चला। परन्तु मघवागणी ने इस प्रसंग को टालते हुए उन्हें कहा "तेरापंथ की दीक्षा अत्यन्त कठोर है। एक गुरु के अनुशासन में जीवन अर्पित किए चलना उनके लिए कठिन हो जाता है जो वर्षों से स्वच्छन्दता पूर्वक रह रहे हों।" आर्याओं ने बात मान ली और फिर कभी आग्रह नहीं किया।

वि. सं. १९४९ का चातुर्मास रतनगढ़ में था। प्रारम्भ में साधारण अस्वास्थ्य हुआ। धीरे-धीरे उसका प्रकोप बढ़ा। शरीर रोगाक्रान्त हुआ। ज्वर रहने लगा। लगभग सारा चातुर्मास अस्वास्थ्य में बीता। अशक्त होते हुए

लाडनूं की घटना है। जयाचार्य ऊपर बैठे साहित्य साधना में लीन थे। साध्वी श्री गुलाबांजी सेवा में उपस्थित थी। जयाचार्य के पद्यों को वे लिपिबद्ध कर रही थी। युवाचार्य 'मघजी' व्याख्यान देने नीचे पधारे। प्रवचन प्रारम्भ हुआ। प्रवचन करते-करते कहीं स्खलित हुए। जयाचार्य का ध्यान स्खलना की ओर गया। आपने गुलाब सती से कहा "तुम्हारे भाई को व्याख्यान देना भी नहीं आता। जाओ तुम व्याख्यान दो।" साध्वी श्री गुलाबांजी असमंजस में पड़ गई। एक ओर आचार्य के आदेश पालन का प्रश्न था दूसरी ओर युवाचार्य को व्याख्यान के बीच से उठाकर स्वयं व्याख्यान देना था। वे सकपका गईं। कभी एक पैर आगे रखती कभी पीछे। न जाने को दिल चाहता था और न आचार्य के आदेश को टालने की भावना थी। जयाचार्य ने पुनः प्रश्न करते हुए कहा—क्यों व्याख्यान में नहीं गई? साध्वी श्री गुलाबांजी ने प्रार्थना की—प्रभो! क्या ही अच्छा हो कि आप स्वयं व्याख्यान में पधारें। लोग आपको अपने बीच पा कृतकृत्य हो जायेंगे। जयाचार्य को बात जँच गई। वे स्वयं व्याख्यान में पधारे। लोगों ने जय-जयकार से आपका स्वागत किया। जयाचार्य उच्चासन पर विराजे और युवाचार्य श्री मघजी को प्रवचन में स्खलित हो जाने के कारण आपने कड़ा उपालम्भ दिया। सुननेवाले सारे लोग स्तम्भित रह गये। सभी असमंजस में थे कि एक साधारण स्खलना पर किस प्रकार युवाचार्य को उपालम्भ दिया जा रहा है। इतनी कठोर अनुशासना पर भी युवाचार्य केवल 'तहत्' ही कहकर सारी बातें स्वीकार करते जा रहे थे। उन्हें हर्ष मिश्रित खेद हो रहा था। हर्ष इसलिए कि पूज्य गुरुदेव ने उन्हें अपनी भूल के परिमार्जन का सुन्दर अवसर दिया था और खेद इसलिए कि अपनी असावधानी के कारण पूज्य गुरुदेव को इतना कष्ट उठाना पड़ा था। वे बद्धांजलि हो गुरुदेव के मुखारविन्द को अनिमेष निहारते हुए उन की वाणी को सावधानी से सुन रहे थे।

दूसरे दिन श्रीमज्जयाचार्य व्याख्यान में पधारे। सभी साधु-साध्वी उपस्थित थे। आप गत दिवस की बातों को दुहराते हुए युवाचार्य श्री मघजी की सहनशीलता तितिक्षा तथा आचार्य के प्रति समादरता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपने योग्य उत्तराधिकारी के गुणों पर मुग्ध हो गए। परिषद् ने देखा कि उपालम्भ में विषाद न पानेवाले तथा प्रशंसा के हर्षातिरेक से मुग्ध न होनेवाले युवाचार्य श्री मघजी के चेहरे पर आज भी कल की ही भाँति गम्भीरता और नम्रता है। उनके अन्तस्तल में रहा हुआ महान् भाव लोगों के हृदय में गूंज उठा।

आचार्य के रूप में

वि. सं. १९३८ की भाद्रपद शुक्ला २ को जयपुर में मघवागणी ने तेरापंथ के शासन भार को पाँचवें आचार्य के रूप में विधिवत् सम्भाला। तीर्थ चतुष्टय आपके उदार विचार तथा पवित्र आचार से प्रभावित ही था। अब आपका अनुशासन था वह हृदयंगम भी हो गया। श्रीमज्जयाचार्य के निधन से एक क्रान्तिकारी चरण की परिसमाप्ति हुई। कभी रुक न सकनेवाले जयाचार्य ने तेरापंथ में अनेक परिवर्तन लाकर उसकी नींव को सुदृढ़ता प्रदान की। उनके द्वारा प्रवर्तित नूतन विधानों तथा अकल्पित परिवर्तनों को साधु-समाज पचाने लग गया था। संघर्ष मिट चुके थे और जो एक-आध चिनगारी अवशिष्ट थी वह भी मघवागणी के शीतल स्वभाव से उपशम ही हो चुकी थी। जयाचार्य प्रगति के चरणों का निर्माण करते हुए जीवन भर आगे चलते रहे। उन्होंने पीछे मुड़कर यह कभी नहीं देखा कि उनके चरण चिह्नों का अनुगमन करनेवाले व्यक्ति किस प्रकार वहाँ कष्ट का अनुभव करते हैं और उन चरणों की भाषा को न समझ सकने के कारण प्रति चरण पर उद्भव होनेवाले संघर्ष क्या-क्या नहीं कर लेंगे। वे क्रान्ति के बीज बोते और उन्हें अंकुरित कर के ही साँस लेते थे। वे जानते थे कि जो संगठन देश कालोचित परिवर्तनों को करने में सक्षम नहीं होता वह जड़ बन जाता है। उसके चैतन्य का स्रोत सूख जाता है और वह केवल एक रूढ़िवाद का पोषक निर्बल तन्त्र मात्र रह जाता है। ऐसे संगठनों से विकास की आशा नहीं की जा सकती। परन्तु वे यह भी जानते थे कि परिवर्तन यदि औचित्य की परिक्रमा किए चलता रहा तो वह संगठन या संस्था का हित साध सकता है। अन्यथा वह अनर्थकर बन जाता है। उन्होंने मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए अनेक परिवर्तन किए। मघवागणी इन परिवर्तनों के समर्थक ही नहीं प्रसारक भी थे। धीरे-धीरे परिवर्तन हृदयंगम होने लगे। मघवागणी को इन परिवर्तनों के अनुसार कार्य-संचालन में कभी कोई बाधा नहीं आई। समूचे संघ का विश्वास उन्हें मिल चुका था।

जयपुर का चातुर्मास समाप्त कर मघवागणी थली प्रदेश की ओर पधारे। इससे पूर्व थली प्रदेश छोगजी चतुर्भुजजी

आदि गण-बहिष्कृत साधुओं का प्रचार-क्षेत्र बना हुआ था। अनेक क्षेत्र में उनका प्रभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। परन्तु वर्तमान में उनका संगठन छिन्न-भिन्न हो गया था। मघवागणी वहाँ भी पधारे। लोगों ने हृदय से आपका स्वागत किया और हजारों नर-नारियों ने गुरु धारणा की। सरदारशहर जो बहिनों का क्षेत्र माना जाता था वहाँ भी सबका भाइयों ने गुरु धारणा की और तेरापंथ संगठन के प्रति उत्तरदायी रहने की प्रतिज्ञा की। इसी प्रकार अनेक ग्रामों में अनेक परिवारवालों ने गण बहिष्कृत की धारणाओं को तिलांजलि दे मघवागणी की अनुशासना स्वीकार की। तीन वर्ष तक आप थली प्रदेश को अध्यात्म वाणी से आप्लावित करते रहे। वहाँ का कण-कण आपको पा हर्ष-विभोर था। वहाँ से आप मारवाड़ पधारे। वि० सं० १९४१ का चातुर्मास जोधपुर में सम्पन्न हुआ। शान्त-दान्त आचार्य को पा मरुधर के वासी अपने भाग्य को सराह रहे थे। महासती श्री गुलाबां जी साथ थी। पौष में उनका स्वर्गवास हो गया। मघवागणी पाली पधारे और साध्वियों का भार महासती नवलां जी को सौंपा गया। वहाँ से अनेक नगरों का स्पर्श करते हुए वे मेवाड़ की ऊँची-नीची पथरीली भूमि को पार कर देवगढ़ पधारे। कुछ दिन पूर्व ही वहाँ के रावजी के कुँवर दिवंगत हो गए थे। सारे शहर में शोक छाया हुआ था। सभी आमोद-प्रमोद बन्द थे। परन्तु जब रावजी ने मघवागणी के पदार्पण के समाचार सुने तो उन्होंने नगर के लोगों को यह कहलाया कि मघवागणी के पुण्य पदार्पण पर लोग खुशियाँ मनाएँ, बाजे गाजे के साथ उनका स्वागत करें और पूज्य आचार्य श्री के साथ रहनेवाले यात्रियों को ठाठ से जिमाएँ। जीमनवार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस कथन से देवगढ़वासी लोग बहुत प्रसन्न हुए। पूर्ण ठाठ-बाट के साथ नगरवासियों ने आचार्य श्री का हृदय से स्वागत किया। रावजी की प्रार्थना पर आप गढ़ में पधारे। दूर तक रावजी सामने आए और अत्यन्त आदर व श्रद्धापूर्वक मघवागणी को अन्दर ले गए। आचार्य श्री की शान्त और सुधारसमय वाणी से शोक संतप्त परिवार को सान्त्वना मिली। सहानुभूति के दो शब्द सुन सारा परिवार दुःख दर्द को भूल सा गया। यह सत्य है कि दुःखी अवस्था में संवेदना के दो शब्द भी दुःख व दर्द को हल्का कर देते हैं।

वि० सं० १९४१ का चातुर्मास उदयपुर में हुआ। शहर के लोग धार्मिक प्रवृत्तियों में तन्मय होते जा रहे थे। यहाँ के प्रमुख नागरिकों तथा राज्याधिकारियों का सम्पर्क बढ़ा और जन-जन में मघवागणी के शान्त-दान्त व्यक्तित्व की चर्चा होने लगी। चातुर्मास के बाद एक दिन महाराणा फतेहसिंहजी आचार्य श्री के दर्शन करने कविराज श्यामलदासजी की वाड़ी में आए। कविराजजी की प्रेरणा से ही वे आज यहाँ दर्शनार्थ आए थे परन्तु पूर्व निर्धारित समय से कुछ विलम्ब हो जाने के कारण उन्हें कुछ संकोच सा हो रहा था। उन्होंने मघवागणी के पास जाकर विलम्ब के लिए क्षमा-याचना की। मघवागणी ने उन्हें प्रेम भरे शब्दों में उपदेश दिया। वे उत्कर्ण हो अत्यन्त अवधानता पूर्वक अध्यात्म-वाणी का रसास्वादन कर रहे थे। लगभग २२ मिनट का समय बीत गया। प्रतिक्रमण की वेला आई। मघवागणी ने उपदेश बन्द किया। सभी साधु प्रतिक्रमण में लग गए। महाराणा फतेहसिंहजी महलों की ओर चल पड़े। लोगों को लगा कि महाराणा साहब अप्रसन्न होकर लौट गए हैं। पर मघवागणी को इसकी कोई चिन्ता ही नहीं थी। किसी की बातचीत की अपेक्षा उन्हें अपनी क्रिया की अक्षुण्णता का विशेष महत्त्व जान पड़ता था। लोग घबराए। पर महाराणा फतेहसिंहजी ने अपने स्थान पर पहुँच कर कहा "संत बड़े पक्के हैं। अपने नियमों के पालन में इतने पक्के हैं कि क्रिया-कलाप का समय आ जाने पर वे हर किसी को इन्कार कर सकते हैं।"

जिस संगठन में व्यक्ति का स्वार्थ संघ के हित के नीचे रहता है, वही संघ विकास कर सकता है। जिस संघ का अधिपति संघ-हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों की आहुति दे देता है वह संघपति संघ को उन्नति के शिखर पर पहुँचा देता है। मघवागणी व्यक्तिगत हित की अपेक्षा संघ हित का विशेष महत्त्व देते थे। मेवाड़ से थली की ओर पधारते समय आप अजमेर पधारे। अजमेर में कई स्थानकवासी आर्याओं ने प्रार्थना की कि उन्हें तेरापंथ गण में दीक्षित कर लिया जाए। कई दिनों तक यह प्रयास चला। परन्तु मघवागणी ने इस प्रसंग को टालते हुए उन्हें कहा "तेरापंथ की दीक्षा अत्यन्त कठोर है। एक गुरु के अनुशासन में जीवन अर्पित किए चलना उनके लिए कठिन हो जाता है जो वर्षों से स्वच्छन्दता पूर्वक रहते रहे हों।" आर्याओं ने बात मान ली और फिर कभी आग्रह नहीं किया।

वि० सं० १९४९ का चातुर्मास रतनगढ़ में था। प्रारंभ में साधारण प्रतिश्याय हुआ। धीरे-धीरे उसका प्रकोप बढ़ा। शरीर रोगाक्रान्त हुआ। ज्वर रहने लगा। लगभग सारा चातुर्मास अस्वास्थ्य में बीता। अशक्त होते हुए

भी चातुर्मास समाप्ति के बाद आप चूरू होते हुए सरदारशहर पधारे। व्याधि बढ़ रही थी। मघवागणी को यह विश्वास हो गया कि अब पुनः स्वास्थ्य लाभ होना कठिन है। व्याधि की वृद्धि के साथ-साथ यह विश्वास भी दिनोदिन दृढ़ होता गया। मर्यादा महोत्सव का कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ। साधु-साध्वियों ने अपने-अपने निर्धारित क्षेत्रों की ओर विहार किया। व्याधि बढ़ने लगी। शासन-भार की चिन्ता प्रबल हुई। मुनि माणकलालजी को आपने युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। कुछ निश्चिन्तता का अनुभव हुआ। तीन दिन बीते। चौथे दिन खाँसी का प्रकोप बढ़ा। साधु चिन्तित हो उठे। मघवागणी ने कहा "चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं है। अब यह कष्ट अधिक समय का नहीं है।" कुछ ही देर बाद खाँसी का प्रकोप घटा। मघवागणी ने मुनि माणकचन्दजी को बुलाया। सभी सन्तों को बुलाया गया। जब सभी एकत्र हो गए, तब मघवागणी ने अत्यन्त अशक्त होते हुए भी अन्तिम शिक्षा फरमाते हुए युवाचार्य को गण की धारणा करने के लिए अनेक बहुमूल्य बातें कहीं। उपस्थित साधुओं को भी शिक्षा दी और आचार्य के प्रति एकनिष्ठ रहने की बात कही। बोलते-बोलते आप थक गये थे। अतः आपने कुछ देर तक विश्राम किया। कुछ देर बाद उनकी आँखों की पुतलियाँ बदल गईं। बड़े कालूजी स्वामी ने 'संथारा' (आजीवन अनशन) पचखाया। कुछ देर बाद बैठे-बैठे 'देवलोक' हो गए। इस प्रकार वि. सं. १९४९ की चैत्र कृष्णा ५ की रात्रि को आपका समाधि-मरण हुआ।

कुछ ज्ञातव्य विवरण

जन्म—वि. सं. १८९७ की चैत्र शु. ११ को बीदासर में।

दीक्षा—वि. सं. १९ ८ की मृगसिर कृ. १२ को लाडनूं में।

युवाचार्यपद—वि. सं. १९२ की आसोज कृ. १३ को चूरू में।

आचार्य पद—वि. सं. १९३८ की भाद्रपद शु. २ को जयपुर में।

स्वर्गवास—वि. सं. १९४९ की चैत्र कृ. ५ को सरदारशहर में।

चातुर्मास

आपने साधारण साधु तथा युवाचार्य की अवस्था में १ चातुर्मास जयाचार्य के साथ ही किए। आचार्य पद प्राप्ति के बाद ११ चातुर्मास ८ शहरों में किए जिनका विवरण यों है—

बीदासर	३ चातुर्मास	वि. सं. १९३९, ४४ एवं ४७
चूरू	१ ,,	वि. सं. १९४
सरदारशहर	२	वि. सं. १९४१ एवं ४५
जोधपुर	१	वि. सं. १९४२
उदयपुर	१	वि. सं. १९४३
लाडनूं	१	वि. सं. १९४६
जयपुर	१	वि. सं. १९४८
रतनगढ़	१ ,,	वि. सं. १९४९

दीक्षाएँ

मघवागणी के शासन काल में ११९ दीक्षाएँ हुईं (३६ साधु तथा ८३ साध्वियाँ)। २२ साधु तथा ४५ साध्वियों को आपने स्वयं दीक्षित किया और अन्य दीक्षाएँ दूसरे-दूसरे साधु-साध्वियों द्वारा हुईं। उनके शासन काल में ९ साधु तथा ६ साध्वियाँ गण से अलग हो गईं। उनके दिवंगत होने के समय भिक्षु शासन में ७१ साधु तथा १९१ साध्वियाँ विद्यमान थीं।

तेरापथ के षष्ठ आचार्य श्री माणकगणीजी

(लै०—मुनि श्री मांगीलालजी 'मधुकर')

वैराग्य किसी अवस्था विशेष से बँधा हुआ नहीं होता। एक जराजीर्ण वृद्ध जिसका जीवन बरसाती नदी के पूर की तरह उतर चुका होता है अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर पाता और एक युवक जिसके सामने अगणित प्रलोभन और जीवन के नाना सुनहरे स्वप्न होते हैं उनकी तरफ आकर्षित होना तो दूर आँख उठाकर भी देखना पसन्द नहीं करता और संयम के कष्टकाकीर्ण पथ पर अपने कदम बढ़ा देता है। इस भावना के पीछे पूर्व संस्कारों का ही हाथ हो सकता है। आचार्य माणकगणी ऐसे ही एक पूर्व संस्कारी पुरुष थे।

राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर जयपुर में सं० १९१२ की भाद्रपद कृष्णा ४ के दिन जौहरी परिवार में आचार्य माणकगणी का जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम हुकुमचन्दजी खारड़ और माता का नाम छोटाँजी था। बचपन में ही माता-पिता दोनों का देहावसान हो जाने के कारण आपका लालन-पालन आपके चाचा लछमनदासजी की देखरेख में शुरू हुआ। लाला लछमनदास जी स्नेही धर्मनिष्ठ और विशाल हृदयवाले व्यक्ति थे। वे अपने बालक की तरह ही उन्हें समझते थे और हर तरह से इनका ध्यान रखते थे। इस तरह सब प्रकार की सुविधाओं के बीच माणकगणी का अध्ययन प्रारंभ हो गया।

माणकगणी बचपन से ही विनीत एवं सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। वे लाला लछमणदासजी का बहुत सम्मान किया करते थे। वे उनके विचारों के अनुकूल ही अपने आपको ढालते थे। यही कारण था कि धार्मिकता अनुशासन-प्रियता आदि अनेक सद्गुण उनके जीवन में स्वतः ही समाविष्ट हो गये जो अन्य बालकों में मुश्किल से ही मिलते हैं।

सं० १९२८ में जब कि माणकगणी केवल सोलह वर्ष के ही थे श्रीमज्जयाचार्य का जयपुर में चातुर्मास के लिये पावन पदार्पण हुआ। यह चातुर्मास उनके लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ। लाला लछमणदासजी द्वारा वपित धर्म भावना के बीजों को अंकुरित होने का पूर्ण सुअवसर मिला। वे अध्ययन के अतिरिक्त अपना सारा समय प्रायः साधुओं की सेवा में ही बिताया करते थे। जयाचार्य के प्रति उनका सहज अमित आकर्षण था। अतः उनके प्रत्येक कार्य-कलाप का उन पर एक अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ रहा था। जब वे जयाचार्य के वैराग्य भाव से सराबोर व रस-भीने प्रवचन सुनते तो बहुधा उनके मन में एक प्रकार की उथल-पुथल मच जाती और वे गहरे चिन्तन समुद्र में गोते लगाने लग जाते। इसी चिन्तन ने उन्हें विरक्ति की ओर बढ़ने के लिये अत्यधिक प्रेरित किया।

कुछ दिन तक उनकी यह भावना अन्दर ही अन्दर पनपती रही और एक दिन जब जयाचार्य एकान्त में विराजमान थे माणकगणी ने अपने विचार व्यक्त किये और दीक्षा की भावभरी विनम्र प्रार्थना की। जयाचार्य ने जब यह सुना तो उन्हें तत्त्व ज्ञान बढ़ाने के लिये विशेष प्रेरणा दी। फलस्वरूप माणकगणी एकनिष्ठ होकर उसी कार्य में जुट गये और थोड़े ही समय में उन्होंने काफी शास्त्र कण्ठस्थ कर लिया।

जयाचार्य एक महान परीक्षक थे। माणकगणी पर जबसे उनकी दृष्टि पड़ी तभी से वे उनके प्रत्येक कार्य-कलाप का बारीकी से अध्ययन कर रहे थे और संभव है, उन्हीं दिनों जयाचार्य ने यह निश्चय कर लिया था कि तेरापंथ के लिए यह एक होनहार साधु होगा। वस्तुतः उनकी चाल-ढाल रहन-सहन और आचार-व्यवहार जयाचार्य की कसौटी पर खरे उतरे थे।

जयाचार्य जानते थे कि लाला लछमणदासजी का माणकगणी पर अत्यन्त मोह है। अतः अचानक यह चर्चा चलने से इनके हृदय पर गहरी चोट भी लगेगी। संभव है उसे सहन करना उनके लिये कठिन हो। अतः उन्होंने माणकगणी को समझाया कि पहले भूमिका तैयार किये बिना यह कदम उठाना ठीक नहीं रहेगा। इसके लिये तुम्हें उचित अवसर की ही प्रतीक्षा करनी चाहिए। माणकगणी इस इंगित को समझ गये और वे उपयुक्त अवसर की खोज में रहने लगे। इस प्रकार ज्ञानार्जन और आत्मिक साधना में ही यह सारा चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हो गया तथा जयाचार्य का वहाँ से विहार हो गया।

करते थे। एक दिन वार्तालाप के दौरान में उन्होंने मघवागणी से पूछा—महाराज अपने उत्तराधिकारी के बारे में आपने क्या निर्णय किया है ? इस प्रश्न को उस समय तो मघवागणी ने यह कहकर टाल दिया कि इस पर हम फिर कभी बात करेंगे। परन्तु जब दुबारा उदयपुर पधारना हुआ तब भी कविराज ने वही प्रश्न सामने रखा। उसके उत्तर में जिस व्यक्ति का नाम आया वे ख्यातनामा माणकगणी ही थे।

माणकगणी का प्रभाव ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा था त्यों-त्यों वे अधिकाधिक विनयी और गुरु सेवा-परायण होते चले जाते थे। निम्न घटना से प्रत्यक्ष जाना जा सकता है कि वे गुरु-सेवा के लिये कितने लालायित रहा करते थे।

वि स १९४६ में उनका चातुर्मास जोधपुर में था। वहाँ उनके पैर में कीड़ी नगरा नामक एक भयंकर रोग हो गया। रुग्णावस्था के कारण चातुर्मास के बाद भी उनकी स्थिति विहार करने की न थी। फिर भी गुरुदर्शन की इतनी उत्कंठा थी कि वे अपने मन को वहाँ रहने के लिये मना नहीं सके और उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। यद्यपि वह मार्ग काफी कठिनाई से कटा था तथापि बीदासर में गुरुदर्शन करके ही उन्होंने विश्राम ग्रहण किया था। वहाँ आने पर वह रोग भी शीघ्र ही शान्त हो गया था। इसके बाद तो वे प्रायः मघवागणी की सेवा में ही रहने लगे थे।

वि सं १९४९ में सरदारशहर मर्यादा महोत्सव के बाद मघवागणी की शारीरिक स्थिति काफी कमजोर होने लगी थी। विविध औषधोपचार के बाद भी जब स्वस्थ नहीं हुए तब शासन के भावी प्रबन्ध में कठिनाई न आवे इसके लिए फाल्गुन शुक्ल ४ के दिन युवराज पद पत्र लिखकर उन्होंने तत्कालीन साध्वी प्रमुखा महासती नवलाजी को सौंप दिया। चैत्र कृष्णा द्वितीया के दिन सहस्रों नर-नारियों के समक्ष जम्मड़ जी के प्रांगण में उन्हें युवराज पद प्रदान किया गया।

चैत्र कृष्णा पञ्चमी की रात्रि में मघवागणी के गात्र में वेदना ने उग्र रूप धारण कर लिया पर आत्मबली मघवागणी अन्तिम समय में भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग थे। वे शासन-प्रबन्ध की प्रत्येक घटना से माणकगणी को अवगत करा देना चाहते थे। अतः रात्रि के ग्यारह बजे जो-जो शिक्षाएँ फरमायी थी वे आज भी तेरापंथ शासन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे उनकी अन्तिम शिक्षाएँ थी। शिक्षा के अनन्तर ही जब वे विश्राम के लिये सोने लगे तो अचानक तीन हिचकियाँ आईं और जैन शासन का एक अद्वितीय सूर्य इस धराधाम से सदा के लिए अदृश्य हो गया। माणकगणी को युवराज बने पाँच भी दिन नहीं हुए थे कि संघ का सारा भार उनके कन्धों पर आ गया।

वि स० १९४९ की चैत्र कृष्णा ८ के दिन आचार्य पद महोत्सव मनाया गया। साधु-साध्वियों के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओं ने भी अपनी भक्ति कुसुमांजली अर्पित की। श्रद्धा के उद्गार समर्पित किये। उस समय माणकगणी अपने जीवन के ३८ वें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। गौर वर्ण लम्बा कद सौम्य मुखमुद्रा मधुर कंठ आदि उनकी बाह्य विशेषताएँ भी ऐसी थी जो आगन्तुक व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी।

वे यात्रा प्रेमी थे। दस-पन्द्रह मील चलना तो उनके लिये साधारण-सी बात थी। धर्म प्रचार के साथ-साथ यात्रा से भी अनेक व्यक्ति तेरापंथ की प्रगति से सहज ही परिचित हो सकते हैं इसी भावना से प्रेरित होकर जहाँ अन्य आचार्यों का पदार्पण भी नहीं हुआ था वहाँ पर उन्होंने काफी समय लगाया और यह श्रेय हरियाणा प्रान्त को विशेष रूप से प्राप्त हुआ था।

लोग उनके प्रति इतने आकर्षित थे कि जिस नगर में उनका पदार्पण होता उधर एक मेला सा लग जाता था। रेल आदि साधनों की बहुलता न होने पर भी दूर-दूर के सैकड़ों यात्री उनके दर्शनार्थ आया करते थे। वि स १९५२ के जयपुर चातुर्मास में बीस हजार यात्रियों का आगमन इसका स्पष्ट प्रमाण है।

माणकगणी एक उदार प्रकृति के आचार्य थ। शासन को उनसे बहुत कुछ प्राप्त होने की आशा थी किन्तु दुर्भाग्य से उन्हें बहुत ही थोड़ा आयुष्य प्राप्त हुआ था। आचार्य अवस्था में वे केवल पाँच ही चातुर्मास कर सके थे। क्रमशः सरदार शहर, चूरू, जयपुर और बीदासर में चातुर्मास करने के बाद वि स १९५४ में उनका अन्तिम चातुर्मास सुजानगढ़ में हुआ था। वहाँ आश्विन मास में ज्वर और पेचिस की साधारण-सी बीमारी हुई और धीरे-धीरे वह बढ़ती गयी। भावी विषम स्थिति की गम्भीरता को समझकर मुनि मगनलाल जी स्वामी आदि प्रमुख सत शासन प्रबन्ध के लिए चिन्तातुर हो उठे और उन्होंने सुव्यवस्थित ढंग से आचार्य देव के सामने आगामी व्यवस्था करने की प्रार्थना की।

10

परन्तु मूलचन्द की प्रायः सभी बातें यथातथ्य मिलने के कारण माणकगणी अपनी जन्मकुण्डली पर अधिक विश्वास करते थे। अतः साधुओं की इस विनीत विज्ञप्ति पर विशेष गौर नहीं किया गया।

इस शारीरिक क्षीणता के दौरान में कार्तिक तृतीया के दिन वे बेहोश हो गये और रात्रि के करीब ११ बजे तीन हिचकियों के साथ केवल ४२ वर्ष की अवस्था में ही वे स्वर्ग प्रयाण कर गये।

यह एक ऐसी अनहोनी घटना थी जिसका प्रभाव संघ के सभी सदस्यों पर पड़ा और यह स्वाभाविक भी था। जिस संघ ने एक-एक आचार्य के नेतृत्व में करीब डेढ़ सौ वर्षों से निरन्तर प्रगति की थी उसी के सामने इस असामयिक निधन ने एक ज्वलन्त प्रश्न खड़ा कर दिया था। पर तत्कालीन व्यवस्थापक सन्तों की सूझ-बूझ के कारण सारे संघ ने जिस प्रकार की अनुशासन-प्रियता का परिचय देकर एक आचार्य का चुनाव किया वह विश्व के समस्त धर्मों के इतिहास में शायद अपने ढंग का पहला ही था।

यद्यपि माणकगणी ने साढ़े चार वर्ष तक ही शासन प्रबन्ध किया था फिर भी उनकी दयालुता और स्नेहशीलता ने संघ के सदस्यों को मन-मुग्ध सा कर लिया था। जहाँ वे साधु-साध्वियों की माँगों पर ध्यान देते थे वहाँ वे अपनी ओर से भी उन्हें यथोचित सुविधा देने में नहीं चूकते थे। संघ की उन्नति के लिये न जाने कितनी नवीन योजनाएँ थी पर आयुष्य की स्वल्पता के कारण संघ उन सब से लाभान्वित नहीं हो सका। फिर भी थोड़े समय में उन्होंने जो कुछ दिया वह तेरापंथ के इतिहास में सदा अजर अमर रहेगा।

तेरापथ के सप्तम आचार्य श्री डालगणी

(मुनि श्री ताराचन्दजी)

जीवन काल में जीने और मरने के साथ ही मर जाने के इस क्रम का अपवाद बनना किसने सीखा ? विरला व्यक्ति ही मर कर जीना जानता है। जो मर कर जीते हैं वे भौतिक शरीर से नहीं अपितु अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण ही जीते हैं। उनकी सहज भाव से की जानेवाली साधना के सुवास से असंख्य लोग सुवासित होते हैं। इतिहास के पृष्ठ ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रहते हैं। तेरापथ के सप्तम आचार्य श्री डालगणी का जीवन अनेक विशेषताओं का संगम स्थल था। उनका आकर्षक व्यक्तित्व असाधारण था। उनके कर्तृत्व ने उनके व्यक्तित्व को निखारा। साधना के प्रथम चरण से ही उनकी प्रगति का अध्याय प्रारंभ हुआ। वे अपने विचारों के दृढ़ साहसी एवं निर्भीक पुरुष थे। प्रतिकूल परिस्थितियों ने उनकी प्रगति में रोड़ा अटकना चाहा किन्तु वे निर्बाध गति से आगे ही बढ़ते गए। उनका व्यक्तित्व वट वृक्ष की भाँति सदा विस्तार ही पाता गया। उनकी वरिष्ठ योग्यता का ज्वलंत प्रमाण है—तेरापथ संघ द्वारा आचार्य पद के लिए उनका निर्विरोध निर्वाचित होना।

किशोरावस्था और प्रव्रजन

आपका जन्म विक्रम सं० १९ ९ की आषाढ़ शुक्ला ४ को भारत की ऐतिहासिक नगरी उज्जयिनी में हुआ था। पिता का नाम कनीरामजी (पीपाड़ा) और माता का नाम जड़ावाजी था। बाल्यावस्था में ही पिता का देहान्त हो गया था। लालन पालन का सारा दायित्व माता पर आ गया। माता ने बालक को स्नेह-दान से ही पुष्ट नहीं किया अपितु उन्होंने अपने धार्मिक संस्कारों से भी उन्हें संस्कारित किया।

बालक जब ११ वर्ष का हुआ तब माता का मन संसार से उद्विग्न हो उठा। प्रव्रजित होने की अभिलाषा ने साकार रूप लेना चाहा। माता ने बालक का भार अपने परिजनों के कन्धों पर रख कर वि स १९२ की आषाढ़ शुक्ला ११ को पेटलावद में साध्वी श्री योगोजी के पास भागवती दीक्षा स्वीकार की।

संस्कारी माता का पुत्र भी संस्कारी हो यह स्वाभाविक ही है। माता के दीक्षा-ग्रहण के तीन वर्ष बाद ही (डालगणी जब चौदह वर्ष के हुए) आपका मन माता द्वारा गृहीत मार्ग का अनुसरण करने को आतुर हो उठा। आपने अपनी विरक्त भावना परिवारवालों के समक्ष रखी और दीक्षा ग्रहण करने की स्वीकृति चाही। परिवार वालों ने पहले तो हिचकिचाहट की। पर अन्त में बालक के दृढ़ संकल्प के आगे उन्हें झुकना पड़ा।

मुनि श्री हीरालाल जी (प्रथम) उन दिनों (इन्दौर) में चातुर्मास कर रहे थे। विरक्त बालक ने उनसे तात्त्विक ज्ञान सीखा और दीक्षित होने की अपनी उत्कट अभिलाषा निवेदित की। उन्होंने बालक के तीव्र वैराग्य को परखा और घरवालों की अनुमति से इन्हें वि स १९२१ की भाद्रपद कृष्णा १२ को दीक्षा प्रदान की।

जयाचार्य के चरणों में

डालगणी की बुद्धि अति तीव्र थी। साथ में ज्ञान की उत्कट पिपासा भी थी। दोनों ने मिलकर ज्ञान-साधना का पथ प्रशस्त किया। चार वर्ष (विक्रमाब्द १९२५ से २८) तक उन्हें जयाचार्य का सान्निध्य उपलब्ध होता रहा। प्रतिभा ने काम किया। चार वर्षों में ही वे शास्त्रों के मर्मज्ञ बन गए। ज्ञान को कंठस्थ रखने में आपकी अप्रतिम आस्था थी। फलस्वरूप आपने दशवैकालिक उत्तराध्ययन नन्दी एवं बृहत्कल्प सूत्रों को कंठाग्र किया। इसके अतिरिक्त वक्तृत्व कला में निष्णात बनने के लिए आपने अनेकों पद्य प्रबन्ध व सहस्रों संस्कृत व राजस्थानी श्लोकों को कंठस्थ किया। वे कंठस्थ ज्ञान का स्वाध्याय मधुर सम्मोहित रूप व स्पष्ट उच्चारण के साथ करते थे। वे कुछ ही वर्षों में एक सफल प्रवक्ता के रूप में जन-साधारण के सामने उदित हुए। जयाचार्य ने आपकी इन बहुमुखी योग्यताओं से प्रभावित होकर आपको वि स १९ १ में २१ वर्ष की उम्र में ही अग्रणी बना दिया।

आत्मविश्वास और निर्भीकता

वह चर्चा का युग था। एक दूसरे को चर्चा के लिए ललकारता था। चर्चाएँ होती किन्तु जय-पराजय की भावनाओं का उनमें प्राधान्य न होता था। अतः इनका कोई अभीष्ट परिणाम नहीं होता था। फिर भी चुनौती को अस्वीकार करना हीनता का द्योतक समझा जाता था। डालगणी में सैद्धान्तिक ज्ञान का प्राचुर्य था। वक्तृत्व कला और तार्किक प्रतिभा के बल पर वे चर्चावाद में निष्णात थे। चर्चा-प्रसंग में आप किसी का अधिकार हस्तक्षेप सहन नहीं करते थे। चाहे वह कैसा भी प्रभावशाली क्यों न हो वे उसे करारी फटकार देते थे। देवरिया (उदयपुर डिवीजन) का एक प्रसंग है। एक जैन मुनि प्रतापजी के व्याख्यान पर आपने उनसे चर्चा करना स्वीकार किया। चर्चा का विषय था 'दया'। दोनों ओर से तर्क सहित अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत किया गया। वहाँ पर ठाकुर गाँव के नायब हाकिम पन्नालाल जी हिरन भी उपस्थित थे। वे मुनि प्रतापजी के अनुयायी थे। उन्होंने मुनि जी के पक्ष को बलवान बनाने के लिए अपने व्यक्तित्व का उपयोग प्रारम्भ किया। डालगणी को यह कब सह्य होता? एक दो बार कहने पर भी जब उन्होंने अपना हस्तक्षेप बन्द नहीं किया तब आपने उनसे कड़े शब्दों में कहा—आपकी हुकूमत यहाँ पर चलनेवाली नहीं है। आपको नहीं अपितु जैनागमों को प्रमाण मान कर चर्चा हो रही है। सत्यासत्य का निर्णय आगमों के आधार पर होगा आपके अनुमोदन से नहीं। हाकिम साहब ने फिर बीच में बोलने का साहस नहीं किया। डालगणी ने आगमों के ऐसे अनेक सबल प्रमाण प्रस्तुत किये कि मुनिजी के पास उनका कोई उत्तर न होने के कारण चर्चा वहीं समाप्त हो गई।

विक्रमाब्द १९३३ में मघवागणी का उदयपुर में चातुर्मास था। उस वर्ष आप भी आचार्य देव के साथ ही थे। वहाँ विरोध का वातावरण उग्र था। अतः मघवागणी ने साधुओं से कहा—यहाँ के विरोध को देखते हुए लगता है कि कुछ लोग हमसे द्वेष रखते हैं। सम्भव है वे छल-छिद्र देखेंगे। ऐसी स्थिति में वाद-विवाद के द्वारा हमें द्वेष को बढ़ावा नहीं देना है। कोई हममें कमी बतलाए तो उसे स्वीकार कर बात वहीं समाप्त कर देनी चाहिए। सभी ने मघवागणी की सीख को विनम्रभावेन स्वीकार किया।

एक दिन की घटना है। डालगणी पानी लेने के लिए बाजार जा रहे थे। पीछे से एक भाई जोर से बोला "देखो-देखो मुनिजी के पात्र से पानी गिर रहा है। यह साधु के लिए अकल्प्य है।" उसने लोगों का ध्यान अपनी बात की ओर आकृष्ट करने के लिए उसी बात को जोर-जोर से दो-तीन बार दुहराया। उसके हल्ले ने पथिकों के पग थाम लिए। कुछ भीड़ एकत्र हो गई। उस समय डालगणी ने एक दुकान की चौकी पर खड़े होकर लोगों से कहा "यह भाई मेरे विषय में जो कुछ कह रहा है वह कहाँ तक सही है इस पर आप भी थोड़ा ध्यान दीजिए। पात्र में पानी हो तो उसके गिरने की बात सच भी हो सकती है, किन्तु उसके अभाव में गिरने की बात कहना कहाँ तक संगत हो सकता है। झूठ की तो कोई सीमा नहीं होती है।" आपने झोली में से पात्र निकाला और उसे औंधा कर के लोगों को दिखाया। "अभी तो यह पात्र पानी से भीगा भी नहीं है। ऐसी स्थिति में पानी के गिरने के आक्षेप में कितनी यथार्थता है यह लोग स्वयं सोच सकते हैं।" डालगणी के उक्त स्पष्टीकरण से लोगों को यह समझने में देर नहीं लगी कि वह भाई द्वेष के आवेश में ही बकवास कर रहा था। भीड़ ने अपनी राह पकड़ी और डालगणी भी गोचरी से पानी लेकर स्थान पर लौट आए। मघवागणी के समक्ष सारी घटना प्रस्तुत कर आपने निवेदन किया कि आपके आदेश का स्मरण था किन्तु परिस्थिति-वश मुझे बोलना पड़ा। मघवागणी ने कहा—ऐसी स्थिति में स्पष्टीकरण अपेक्षित ही था। मेरे आदेश का यह अभिप्राय नहीं था कि कहीं बोला ही न जाय। इस प्रकार डालगणी विरोधियों के आक्षेपों का निर्भीकता से खंडन करते थे।

कच्छ की ओर

आपने अपने अग्रणी काल में कच्छ की तीन बार यात्राएँ कीं। इन यात्राओं में आपने वहाँ पाँच वर्षावास व्यतीत किए। इस बीच आपने सौराष्ट्र का भी अल्पकालीन किन्तु प्रभावशाली प्रवास किया। कच्छ की जनता पर आपके व्यक्तित्व का अत्यधिक प्रभाव था। वहाँ की जनता में आप कच्छ के भी पूज्य कहलाने लगे। लोगों में आपके प्रति इतना आकर्षण था कि उन्होंने कई बार मघवागणी के चरणों में आपको कच्छ भेजने का विनम्र अनुरोध किया।

विक्रमाब्द १९४१ में आपने कच्छ की प्रथम यात्रा की। इस यात्रा में गाँव-गाँव के लोग आपको अपने यहाँ ले जाने का प्रयत्न करते रहे। प्रत्येक स्थान पर आपका भारी स्वागत होता रहा। प्रवचन सुनने को जनता उमड़ पड़ती थी। आपने

अपना पहला चातुर्मास (बेलामें) अत्यधिक धर्म प्रभावना के साथ संपन्न किया। तदनन्तर आप फतहगढ़ अंजार होते हुए भुज पधारे। वहां मान्डी पक्ष (स्थानकवासी सम्प्रदाय का एक उप सम्प्रदाय) के सुप्रतिष्ठित श्रावक वीरचन्द भाई शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। वे एक दिन डालगणी के पास आए और उन्होंने अनेक प्रश्न पूछे। आपने उनका समुचित समाधान किया और उन्हें तेरापंथ के विधि-विधानों से अवगत कराया। वे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें तेरापंथ के मंतव्य तर्कसंगत लगे। डालगणी ने उनसे कहा—तुम शास्त्रसम्मत मन्तव्यों को महत्त्व दोगे या चिरपोषित अपनी धारणाओं को?

वीरचन्द भाई बोले—मुझे शास्त्रानुमोदित मन्तव्य ही मान्य होगा। मेरी इच्छा है कि मैं अपने साधुओं से भी इन विषयों में विस्तृत बातचीत कर लूं और उसके बाद सत्यासत्य का निर्णय करूँ। आप इसमें सहमत ही थे। वीरचन्द भाई ने मान्डी पक्ष के मुनि बीजपालजी से बातचीत की और फिर डालगणी के पास आकर कहा—मुझे उनकी अमुक-अमुक बातें ठीक जँचती हैं। आपने कहा—अच्छा हो यदि मेरी और बीजपालजी की बातचीत हो जाए, जिससे सत्यासत्य के निर्णय में तुम्हें सुविधा हो। फिर वीरचन्द भाई के प्रयत्न से यह व्यवस्था भी हो गई। मुनिजी के साथ काफी लम्बी चर्चा चली। वीरचन्द भाई मूक श्रोता बन कर दोनों ओर के तर्क-वितर्कों पर मनन करते रहे। आखिर एक प्रसंग ऐसा आया जिसमें मुनि जी मौन रह गए? उत्तर देने में उनके समक्ष कठिनाई यह थी कि उससे उनकी मान्यता का खंडन होता था। वीरचन्द भाई के लिए उनका मौन सत्यासत्य का निर्णय करने में सक्षम बन गया। उसी समय उन्होंने परिषद् में खड़े होकर डालगणी को अपना गुरु स्वीकार किया। यह चर्चा जनता के लिए भी बड़ी आकर्षक रही। आप वहाँ कई दिन और ठहरे। प्रवचन में लोगों की उपस्थिति बहुत होती थी। वहाँ से विहार कर आप मांडवी पधारे। वहाँ भी जनता में बहुत आकर्षण रहा। अनेक लोग तेरापंथ के अनुयायी बने।

इस वर्ष का चातुर्मास आपने फतहगढ़ में किया। चातुर्मास समाप्ति के बाद दो मास कच्छ में और विचर कर लोगों को आध्यात्मिक संदेश दिया। फिर वहां से विहार कर आपने मारवाड़ में मघवागणी के दर्शन किए। वि० सं० १९५ में आपने कच्छ की दूसरी यात्रा की। इस यात्रा में आप को मार्ग में काफी कष्ट सहने पड़े। आप मारवाड़ से आबू पर्वत होते हुए अहमदाबाद पधारे। जिस दिन आबू पधारे उस दिन आपने २४ मील का विहार किया और सम्भव [illegible] में आपको भूखा भी रहना पड़ा। यह कसौटी थी। शरीर को कष्ट हुआ किन्तु मन कष्ट की अनुभूति से परे रहा। मन जीतने का यही तो आदर्श है। अहमदाबाद में भी तीन घण्टे की खोज के बाद आपको धर्मशाला में स्थान मिला। वहाँ से बढ़वाण धर और मोरबी होते हुए आप कच्छ में पधारे। पूर्व परिचित जनता ने आपका हृदय से स्वागत किया। चातुर्मास के पूर्व यहाँ आपने दो व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान की। वर्षा ऋतु का प्रवास आपने 'बेला' में किया। दो दीक्षाएँ हो जाने से इस बार आप पाँच साधु एक साथ थे। कच्छ में आपका प्रभाव इतना व्यापक हो गया था कि कोई विरोधी विरोध के लिए सिर भी ऊँचा नहीं करता था। चातुर्मास में धर्म जागृति अभूतपूर्व रही। इस प्रकार आपने कच्छ की दूसरी यात्रा सम्पन्न की। इस यात्रा में वहाँ आपने एक ही चातुर्मास किया क्योंकि चातुर्मास के पूर्व मघवागणी (पंचम आचार्य) के स्वर्गवास हो जाने के कारण आप चातुर्मास समाप्ति के बाद थली (चूरू) में लौट आए। वहाँ आपने मघवागणी के उत्तराधिकारी माणकगणी के दर्शन किए।

तीन वर्ष के पश्चात् विक्रमाब्द १९५३ में आपने कच्छ की शस्य-श्यामला भूमि को तीसरी बार पावन किया। इस यात्रा का प्रारम्भ पचपदरा से हुआ। पचपदरा से आप आसोर पधारे। वहाँ तेरापंथ का कोई अनुयायी नहीं था। फिर भी स्थानीय जनता पर आपके प्रवचनों का भारी प्रभाव पड़ा। एक महीने तक वहाँ प्रवास हुआ। महत्त्वपूर्ण लोग प्रवचन में उपस्थित होते थे।

आसोर से बाव होते हुए राधनपुर पधारे। वहाँ एक घर में आप गोचरी के लिए गए। घरवाले भाई ने कहा—यदि आप हमको उत्तर में 'धर्मलाभ' दें तो मैं आपको भिक्षा दूंगा अन्यथा नहीं।

डालगणी ने कहा—हम धर्म का लाभ बता सकते हैं किन्तु भोजन के लिए नहीं। आपकी ऐसी किसी भिखारी की ईप्सा हो सकती है जैन मुनि की नहीं। यह कह आप भिक्षा के लिए अन्यत्र चले गए। इस प्रकार मार्ग के कष्टों के अनुभव के साथ आप कच्छ पहुँचे। इस बार का पहला चातुर्मास फतहगढ़ में हुआ। एक दीक्षा चातुर्मास के पूर्व और एक बाद में हुई।

सौराष्ट्र का प्रवास

वहाँ से डालगणी ने सौराष्ट्र की तरफ प्रस्थान किया। सर्व प्रथम वे मोरबी बंदर पधारे। ठहरने की व्यवस्था दुकान में हुई और प्रवचन विनशाला में हुआ करता। प्रवचन का आकर्षण लोगों में दिन प्रति दिन बढ़ता गया और उपस्थिति अधिकाधिक बढ़ने लगी। उन दिनों वहाँ विभिन्न सिंघाड़ों की तेरह साध्वियाँ थीं। उन्होंने आपके पास आकर प्रवचन सुनने की उत्कण्ठा व्यक्त की और साथ ही यह भी निवेदन किया—हममें से कुछ साध्वियाँ बूढ़ी होने के कारण विनशाला की ऊँची सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकती हैं अतः आप यदि स्थानक में प्रवचन करने का कष्ट करें तो हम लाभान्वित हो सकती हैं। डालगणी ने उनकी प्रार्थना पर स्थानक में प्रवचन देना शुरू किया। साध्वियाँ प्रति दिन व्याख्यान सुना करतीं। सरस विवेचन के साथ आपने वहाँ अनाथी मुनि का प्रवचन किया और साधु के आचार-विचार पर सुन्दर प्रकाश डाला। १५ दिन ठहरने पर भी जनता अतृप्त थी। आप वहाँ से विदा हुए। विदाई का दृश्य बड़ा ही अपूर्व था। जनमेदिनी उमड़ पड़ी। साध्वियाँ भी नगर से बाहर तक पहुँचाने आईं और आपको भव्य विदाई दी गई। वहाँ से टंकारा राजकोट और जूनागढ़ होते हुए आप गिरनार पधारे। वहाँ दिगम्बर मन्दिर में ठहरे। रात्रि में कई श्वेताम्बरी लोग आए। उन्होंने कहा—आप श्वेताम्बर हैं। अतः श्वेताम्बर मन्दिर में चलिये। आपका दिगम्बर मन्दिर में ठहरना हमें शोभा नहीं देता। आपने कहा—हमारे लिए दिगम्बर और श्वेताम्बर में कोई भेद नहीं है। किसी भी उपयुक्त स्थान में ठहरने में हमें आपत्ति नहीं हो सकती। निष्कारण और वह भी रात्रि में स्थान परिवर्तन करना उपयुक्त नहीं होगा। आपके सही दृष्टिकोण ने लोगों को प्रभावित किया।

वहाँ से आप भावनगर होते हुए सिहोर पधारे। अन्यत्र स्थान न मिलने से आप धर्मशाला में ठहरे। वहाँ तेरापंथी साधुओं के प्रति सद्भावना का वातावरण नहीं था। भिक्षा के लिए साधु गए। एक व्यक्ति ने उनसे कहा—यह घर ओसवालों का है। इसमें भिक्षा के लिए पधारिये। ज्योंही साधु भीतर गए त्योंही वह भाई मकान को बाहर से बन्द कर चलता बना। साधु समझ गए कि इसने मुझसे मजाक किया है। साधु ने जोर-जोर से आवाजें दीं तब एक दूसरे भाई ने आकर द्वार खोला और साधु बाहर चले आए। बहुत गवेषणा करने पर भी उस दिन पर्याप्त भोजन का योग नहीं हुआ। उसी दिन १२ कोस का विहार कर पाली ताणा पधारे। वहाँ भी शहर में स्थान न मिलने से धर्मशाला में ठहरे। वहाँ से 'शत्रुंजय पर्वत' पर चढ़ते हुए आप को मार्ग में संवेगी मुनि 'शान्तिसागर' मिले। उन्होंने हँसते हुए अन्योक्ति में डालगणी से कहा—आज सिद्ध क्षेत्र में आ गए हो तीर्थयात्रा अच्छी तरह कर लेना। यही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ एक बार आने से जीव सिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है। डालगणी ने मुस्कुराकर कहा—आपका जीव यहाँ कितनी बार उत्पन्न हुआ? मुनिजी ने कहा—अनन्त बार। डालगणी ने कहा—अनन्त बार उत्पन्न होने पर भी आप सिद्ध न बन सके तो फिर एक बार आने मात्र से किसी को सिद्धत्व कैसे प्राप्त हो सकता है? हम तो इसे पर्वत मान कर यहाँ आए हैं सिद्ध क्षेत्र मानकर नहीं। इस प्रकार उनसे विनोदपूर्ण बातचीत कर पहाड़ पर चढ़े।

वहाँ से लीमड़ी पधारे। लीमड़ी में उस समय उत्तमचन्दजी आदि १ स्थानक मुनि आये हुए थे। उनके विशेष अनुरोध पर आप स्थानक में पधारे। वहाँ पहले से काफी लोग एकत्र हो गए थे। संतों एवं श्रावकों ने आपका हार्दिक स्वागत किया। वहाँ आपका प्रवचन हुआ। उनकी विशेष जिज्ञासा पर आपने तेरापंथ का परिचय दिया। कार्यक्रम बहुत रुचिकर रहा। जनता और मुनियों ने आभार माना। गोण्डी पक्ष के साधुओं को पता चलने पर उन्होंने भी अपने यहाँ प्रवचन करने का भाव भरा अनुरोध किया। आपने उनकी इच्छा को भी पूरा किया।

अमरसी ऋषि से मधुर मिलन

वहाँ से वढवाण कैंप होते हुए आपने मामभा पधारने का निश्चय किया। कुछ लोगों का सुझाव रहा—वहाँ जाना उपयुक्त नहीं है। वहाँ 'अमरसी ऋषि' निवास करते हैं, जो मन्त्र-तन्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं। अतः उनकी इच्छा के प्रतिकूल जो साधु वहाँ चला जाता है उसे कष्ट उठाना पड़ता है। आप निर्भीक थे। अतः लोगों का सुझाव आपको न जँचा। आखिर 'मामभा' पधारे। प्रवचन और भोजनान्तर आपने अमरसी ऋषि से मिलने के लिए एक संत को भेजा। संत ने ऋषिजी को डालगणी के आगमन से सूचित किया। ऋषिजी ने अपनी इच्छा व्यक्त की कि वे यहाँ आएँ तो मुझे उनसे मिलकर प्रस-

भला ही होगी। ऋषि जी का रजा ज्ञान लेने के पश्चात् डालगणी उनके आश्रम में पधारे। ऋषिजी ने आपका स्वागत किया और अपने उपाश्रय में ठहरने का अनुरोध किया। आपने कहा—यहाँ ठहरने में हमें क्या आपत्ति हो सकती है? किन्तु श्रावकों ने पहले ही कहीं स्थान बताया। अतः हम वहीं ठहर गए। प्रारंभिक परिचय के बाद आपने उनको तेरापंथ का विशद परिचय दिया। इसके साथ ही अन्यान्य सौहार्दपूर्ण बातें हुई।

ऋषिजी ने मिलन की इस पुण्य स्मृति में आपको अपना एक विशिष्ट 'रजोहरण' देना चाहा। डालगणी ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—यह आपका बढ़िया रजोहरण हमारे पास कितने दिन तक सुरक्षित रह सकेगा? निरन्तर काम में लेने से जल्दी टूट जाएगा। आपके यहाँ तो यह झोली में ढँका हुआ सुरक्षित रहता है। अतः वर्षों तक भी नहीं बिगड़ेगा। ऋषिजी ने कहा—आप ठीक कहते हैं। मैं दिन में एक बार जब दरबार को मंगल पाठ सुनाने जाता हूँ तभी इसे हाथ में लेता हूँ और वापस आकर खूंटी पर रख देता हूँ। उन्होंने अपने लोह पात्र दिखाए और उनमें से एक जो सुन्दर चित्रा से चित्रित था लेने को कहा। डालगणी ने कहा—हम तीन पात्र से अधिक नहीं रखते और तीन पात्र में यदि आपका पात्र रख लेते हैं तो इसे प्रति दिन काम में लाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अल्प काल में ही इसकी सुन्दरता नष्ट हो सकती है। ऋषि जी ने अपने पास से कुछ वस्त्र देना चाहा। उन्होंने बताया कि वे वर्ष में एक बार कपड़ा बाँधते हैं। उन्हें जितने कपड़ों की आवश्यकता होती है, वे उतने के लिए दरबार से कह देते हैं। उन्हें बढ़िया से बढ़िया वस्त्र मँगा दिया जाता है। डालगणी ने कहा—अभी हमें वस्त्र की आवश्यकता नहीं है और हम मर्यादा से अधिक रख भी नहीं सकते। इसके बाद ऋषिजी ने अपने शास्त्र भंडार में से ११ पत्रों की एक बहुत सुन्दर प्रति लेने का विशेष अनुरोध किया। वह प्रति उनके गुरु के हाथ की लिखी हुई थी और उसमें आवश्यक दशवैकालिक उत्तराध्ययन नन्दी तथा एक अन्य सूत्र लिखा हुआ था। डालगणी ने जब इसे भी ग्रहण नहीं किया तब ऋषि जी को बहुत आश्चर्य हुआ और वे कहने लगे—आपको किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है। ऐसे निर्लोभी साधु मेरे देखने में कभी नहीं आए।

इस प्रकार ऋषि के साथ बहुत देर तक बातें हुई। डालगणी ने जब स्थान पर आकर सारी बातें श्रावकों को सुनाई तब वे बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—महाराज! आप बड़े पुण्यवान हैं! अमरसी ऋषि जैसे व्यक्ति ने आपका इस प्रकार समादर किया। इनके भय से तो यहाँ कोई साधु आने का साहस भी नहीं करता है।

मांडवी से विहार कर डालगणी कच्छ आए। चातुर्मास की पूर्व वेला में कस्तूरचन्दजी को दीक्षा प्रदान की। वि. सं. १९५४ का चातुर्मास ९ संतों के साथ आपने 'बेला' में किया। इसी चातुर्मास में माणकगणी का सुजानगढ़ में स्वर्गवास हो गया। अतः चातुर्मासान्तर आपने भी थली की तरफ विहार कर दिया।

आचार्य का निर्वाचन

तेरापंथ संघ की व्यवस्था के अनुसार भावी आचार्य का निर्वाचन वर्तमान आचार्य करते हैं किन्तु आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने के कारण माणकगणी ऐसा नहीं कर सके। अतः संघ के साधु-साध्वियों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। साधु-साध्वियाँ के सिवाड़े विभिन्न गाँवों में रुके हुए थे। अतः इस विषय में सामूहिक चिन्तन करना तथा कोई निश्चित कदम उठाना संभव न था। पूर्व योजनानुसार साधु सब लाडनूं में एकत्र होने लगे। जब तक आचार्य का निर्वाचन न हो जाए तब तक अन्तरिम काल के लिए आज्ञा-धारणा का अधिकार दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि को दिया गया। संघ का सारा कार्य व्यवस्थित रूप से चलने लगा। बड़े कालूजी स्वामी वय-स्थविर होने के साथ-साथ दूरदर्शी और निपुण शासन सेवी थे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने शासन को अपनी अमूल्य सेवाएँ अर्पित की थीं। वे भी उदयपुर से विहार करते हुए वहाँ पहुँच गए थे। उन्होंने शासन के प्रभावशाली श्रमण सन्तों से आवश्यक परामर्श किया। सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् साधुओं की एक सभा आयोजित की गई। सभा का उद्देश्य था—सर्वसम्मति से आचार्य का निर्वाचन करना।

सभा में कालूजी स्वामी ने खड़े होकर कहा—साधुओ! हमें एक आचार्य की आवश्यकता है। अब यह भार किसे सौंपना चाहिए सभी इस विषय में सोचें। आपके इस कथन से कुछ देर तक वातावरण में काफी हलचल हुई। तदनन्तर कुछ सन्तों ने अपना सुझाव रखा कि हम सब में कालूजी स्वामी काफी पुराने और अनुभवी हैं। अतः अच्छा हो एतद्विषयक निर्णय का भार उनको ही सौंपा जाए और आपके द्वारा जो निर्णय हो वह सभी को मान्य हो। उस समय उपस्थित सभी मुनियों ने उक्त सुझाव को समवेत स्वर में समर्थन मिलने पर कालूजी स्वामी ने खड़े होकर सभा से फिर पूछा—क्या आप सब मुझ

"कुंड कुंड री न्यारो पाणी   कुंड कुंड री न्यारी वाणी।
या सगलां री सरीखी होई या तो बात अचब म जोर्य ?"

ओजस्वी आचार्य

आप एक महान् आचार्य थे। कुशल वक्तृता तथा निर्भीकता आदि विशेषताओं के कारण पहले से ही सारे समाज पर आपका विशेष प्रभाव था। आपने नव निर्वाचित आचार्य की भांति नहीं अपितु एक चिर अनुभूत आचार्य की भांति शासन का कार्य-भार संभाला। साधु-साध्वियों ने भी वैसा ही अनुभव किया। वे सब पहले जब एकत्र हुए थे तब उनके मानस पर आचार्य के अभाव में काफी खिन्नता का भाव था किन्तु अब वह पूर्णतः तिरोहित हो गया था। महोत्सव के बाद वापस जाते समय सबके हृदयों में नवउल्लास और नव पौरुष का उद्रेक था। आत्मसतोष लिए हुए वे अपने-अपने अभीष्ट स्थानों की ओर विदा हुए थे।

डालगणी एक ओजस्वी आचार्य थे। उनकी शरीर सपदा भी ओज लिए हुए थी। साधारण व्यक्ति उनके सामने का साहस भी नहीं कर सकता था। रात-दिन सम्पर्क में आनेवाले भी उनका चरण-स्पर्श करने के लिए एक क्षण के लिए ठिठक कर जाते थे। उनका सिंह जैसा व्यक्तित्व स्वतः ही दूसरों पर छाया रहता था। वे स्वयं कष्ट सहिष्णु थे। वे शरीर की विशेष परवाह नहीं किया करते थे। वे एक प्रकार से उस ओर से लापरवाह ही रहा करते थे। इस संबंध में उनकी लापरवाही कितनी थी यह इस घटना से स्पष्ट हो जाती है। विक्रमाब्द १९५९ का चातुर्मास आपने जोधपुर में किया था। चातुर्मास के अनन्तर आसोतरा पचपदरा प्रभृति गांवों को पवित्र करते हुए जब आप मेवाड़ पधार रहे थे तब बीच में ही "नारासरा" निकट आने से पाली में आपको १७ रात ठहरना पड़ा। कुछ स्वस्थ होते ही उन्होंने तत्काल वहां से विहार कर दिया और राणकपुर के मार्ग से उदयपुर पधार गये।

उस वर्ष का मर्यादा महोत्सव उदयपुर में मनाया गया। वहीं राजमुसद्दी बख्तावरजी सिंघी ने आपके दर्शन किए। तेरापंथ के आचार-विचार और मर्यादाओं से प्रभावित होकर कुछ ही दिनों में वे डालगणी के प्रति श्रद्धालु बन गए। उदयपुर से विहार कर आप भुवाना पधारे। सिंघीजी वहां भी दर्शन के लिए आए। वे मजाक करने के कुछ आदी थे। उन्होंने डालगणी से निवेदन किया—अभी पिछले ज्वर की कमजोरी से आप निवृत्त ही नहीं हुए हैं फिर भी विहार कर दिया। इस प्रकार शरीर की उपेक्षा कर आप कष्ट सहन कर रहे हैं। कभी-कभी आपके नियमों और कष्टों को देख कर सोचने लगता हूं कि खाने-पीने और मौज करने की मेरी मान्यता सच निकली तो आपका यह सारा आयास निरर्थक हो जाएगा। डालगणी ने मुस्कुरा कर कहा—सिंघीजी आप ठीक कह रहे हैं। आपकी मान्यता यदि सही निकली तो हमारा सारा प्रयत्न निरर्थक हो सकता है। इससे अधिक तो कुछ हानि होनेवाली नहीं है ? किन्तु हमारा मन्तव्य यदि सत्य ठहरा तब आपका क्या होगा ? सिंघीजी हँस कर बोले—तब तो हमारे इतने जूते पड़ेंगे कि धरती भी नहीं झल सकेगी।

वस्तुतः डालगणी का शरीर अभी पिछली कमजोरी से मुक्त नहीं हो पाया था। अतः वह सब के लिए चिन्ता का विषय था किन्तु डालगणी की दृष्टि में उसका कोई अधिक महत्त्व नहीं था। महान व्यक्ति स्वभावतः ही शरीर परक साधना से उदासीन और कर्तव्य परक साधना में दत्तचित्त होते हैं। यह कहना अधिक संगत होगा कि इसीसे उनकी महत्ता और व्यक्तित्व निखरता है।

कठोरता और कोमलता का समन्वय

जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए कठोरता और कोमलता दोनों तत्त्व अपेक्षित होते हैं। निरी कठोरता विकास के मार्ग में बाधक बनती है तो निरी कोमलता भी उसका सम्बल नहीं बन सकती। मात्रा के औचित्य में दोनों की उपयोगिता है। डालगणी को पद मिलने के पश्चात् उन्हें कठोरता का उपासक कहना भूल नहीं तो यथार्थ भी नहीं है। उनका मानस अनुशासन के क्षेत्र में जब कठोर था तो श्रद्धान्वित चेता के लिए कुसुम सुकुमार भी था। वस्तुतः डालगणी का जीवन कठोरता और कोमलता के समन्वय का प्रतीक था।

देवगढ़ की घटना है। डालगणी वहां से विहार कर मगरा पथ से कहीं जाना चाहते थे। उस समय भीलवाड़ा गंगापुर, प्रभृति गांवों में ५ व्यक्तियों का एक शिष्टमंडल आया था। उसने अपने क्षेत्रों में पधारने के लिए भक्तिपूर्ण भावभरी प्रार्थना की। भक्तिभरा आग्रह भला डालगणी को कैसे प्रभावित न करे ? आपने कहा—इन दिनों मेरे शरीर में अस्वस्थ

हूँ यह तुम्हें भली भाँति विदित है। पहले आगामी में घोषित कर चुका हूँ। तुम्हारे उधर होकर आने से काफी लम्बा प्रवास करना पड़ेगा। अब तुम्हीं सोच लो कि मुझे क्या करना चाहिए। क्षण भर के लिए सभी लोग अवाक बन कर सोचने लगे गुरुदेव के इस अशक्त शरीर को कष्ट देना कैसे उचित होगा? इतने में एक व्यक्ति के इन शब्दों ने लोगों को मुखर बना डाला कि भगवान रीझ गए फिर भी वरदान माँगने में झिझक रहे हो? जो चाहो वर माँग लो। एक साथ सैकड़ों कंठ बोल उठे प्रभुवर! आपको कष्ट अवश्य होगा फिर भी हमें अनुगृहीत कर कृतार्थ करें। कालूगणी ने लोगों की सुकुमार भावना को मूर्त रूप दिया और वही हुआ जो भक्तों को इष्ट था। यह उनकी कोमलता ही थी कि शरीर के अशक्त होते हुए भी लोगों की भक्ति पर इतना बड़ा चक्कर लेकर उधर पधारे।

एक नया प्रयोग

पग-पग पर जो नवीन बनता जाए वही रमणीयता है। महाकवि कालिदास की इस उक्ति के अनुसार कालूगणी सदा रमणीय थे। वे नवीनता का सर्जन करने में बहुत दिलचस्पी रखा करते थे। अपने अनुशासन में भी वे कभी-कभी ऐसे नये प्रयोग करते कि सबको चकित रह जाना पड़ता था।

घटना विक्रमाब्द १९९१ की है। मर्यादा महोत्सव सरदारशहर में सम्पन्न हुआ। महोत्सव की सम्पन्नता के साथ सन्तों के विहार व चातुर्मास का निर्णय प्रसारित न हो यह अतीत का स्वीकार नहीं रहा था। किन्तु इस वर्ष विवशता या स्वतन्त्रता से यह स्वीकार करना ही पड़ा। कालूगणी ने विहार किया। वे राजलदेसर पधारे। सन्त समुदाय वहीं था। फाल्गुन न बिता सी। फिर भी सन्तों को विहार का न निर्देश मिला न संकेत। किधर और कब विहार करना है यह सबके लिए अज्ञात था। एक दिन अचानक आदेश हुआ 'अन्यत्र विहार करनेवाले सब सिंघाड़े (दल) तैयार होकर आ जाएँ। अभी उन्हें विहार करना है"। आदेश ने सबको आश्चर्य में डाल दिया पर आदेशानुसार तैयार होकर तो आना ही था। थोड़ी ही देर में चम्पा पर भार लिए सब सिंघाड़े तैयार होकर कालूगणी के चरणों में उपस्थित हो गए। एक के बाद एक अग्रणी को वंदना कर चातुर्मास की घोषणा के साथ उन्हें चोलकापत्र (चातुर्मास के अतिरिक्त काल में विहार करने के लिए ग्रामों की लिखित सूची) देकर विदा किया गया। सब ने इस पद्धति का पहली बार दर्शन किया। इसलिए उनका आश्चर्यान्वित होना सहज ही था।

महान् आत्मविश्वास के धनी

आत्मविश्वास अचिन्त्य शक्ति का अक्षय कोष है। वह अपने में अमंगल को मंगल के रूप में परिणत कर देने की क्षमता रखता है। उसके अभाव में शुभ मुहूर्त भी इष्ट सिद्ध करने में असमर्थ ही रहते हैं। महान वह है जो आत्मविश्वास का धनी है। सिद्धियाँ और सफलता उसका अनुगमन करने के लिए स्वतः लालायित रहती हैं। कालूगणी मुहूर्तों के प्रति कितने विरक्त थे यह कहना कठिन है। यह सच है कि उनका आत्मविश्वास में अटूट विश्वास था।

एक बार वे सुजानगढ़ पधारे। आषाढ़ का महीना था। आपका विचार वहाँ से विहार कर बीदासर चातुर्मास करने का था। किन्तु स्थानीय लोगों का विशेष अनुरोध था। अतः चातुर्मास करने की घोषणा कर दी। सुजानगढ़ में प्रवेश के समय 'ज्वालामुखी' योग था। अतः श्रीचन्दजी गधैया ने निवेदन किया "गुरुदेव! आप एक दिन गाँव के बाहर विराज जाएँ और शुभ मुहूर्त में पुनः नगर-प्रवेश कर तो ठीक रहे"। आपने मुस्कुराकर कहा—शुभ मुहूर्त के लिए हम साताकारी स्थान का छोड़ने का कष्ट तो पहले ही हो जाएगा फिर भविष्य में उसका शुभ फल ही होगा यह कैसे कहा जा सकता है? हमने जिस योग में नगर प्रवेश किया उस समय हमारा आत्मविश्वास सुदृढ़तम था। अतः जो हुआ वह अच्छा हुआ और उसका परिणाम भी अच्छा ही होनेवाला है। कालूगणी की धारणा के अनुसार वह चातुर्मास धार्मिक और शारीरिक दृष्टि से भी बहुत अच्छा रहा जब कि चातुर्मास से पूर्व आपका शरीर कुछ अस्वस्थ था।

कालूगणी का तेजस्

जिस प्रकार कालूगणी का शरीर तेजोमय था उसी प्रकार उनका अन्तःकरण भी आत्मशक्ति से उद्दीप्त था। वे जन-मानस में जितने अधिक गहरे उतरते गए वैसे वैसे उनका नाम भी परम चमत्कारी बन गया था। कई बार लोगों द्वारा उनके नाम का मंत्र की तरह प्रयोग किया गया। उन प्रयोगों में उन्हें विचित्र चमत्कार के दर्शन हुए। उनमें से एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है —

सीकर (जयपुर डिवीजन) की घटना है। वहाँ एक मुसलमान परिवार के मुखिया 'गुलाब खाँ' को साँप ने काट लिया। विभिन्न उपचारों के बावजूद भी ज़हर नहीं उतरा। परिवार के सारे लोग बहुत घबराए। उस समय एक तेरापंथी श्रावक ने उन्हें सान्त्वना दी और कहा—मैं एक मंत्र जानता हूँ वह किए देता हूँ। मुझे विश्वास है कि ज़हर उतर जाएगा। उसने एक कागज पर डालगणी का नाम लिखा और उसे पानी में घोल कर गुलाब खाँ को पिलाया। डालगणी का पुनः नामोच्चार करते हुए उसने झाड़ा भी दिया। ज़हर उतरा और वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। घरवालों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। उन्होंने इस अकल्पित चमत्कार के कारण को जानना चाहा। वह भाई बोला—यह मेरी शक्ति नहीं, मेरे गुरु डालगणी के नाम की प्रभाव शक्ति है। अतः बीदासर में जाकर तुम लोगों को उनके एक बार दर्शन कर आना चाहिए। उस भाई के परामर्श से गुलाब खाँ अपने परिवार को साथ लेकर बीदासर दर्शन करने गया। उसने समझा था कि वहाँ डालगणी का कोई देहरा होगा। उसने अपनी धारणा के अनुसार ही स्थानीय लोगों से पूछा—डालगणी का देहरा (मन्दिर) कहाँ है? लोग उसकी बात को समझ ही नहीं पा रहे थे। अतः बताते भी तो क्या बताते? गुलाब खाँ को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ के लोग इतने बड़े गुरु का देहरा भी नहीं जानते। आखिर एक व्यक्ति ने इन लोगों के आने का पूरा कारण जानकर कहा—भाई! डालगणी का कोई देहरा नहीं है। डालगणी स्वयं ही विद्यमान हैं। उसने उन्हें स्थान बतलाया। उसी के अनुसार उन्होंने वहाँ जाकर डालगणी के दर्शन किए। गुलाब खाँ कुछ भेंट भी चढ़ाना चाहता था किन्तु उसे यह जान कर बहुत आश्चर्य हुआ कि यहाँ श्रद्धा की भेंट ही स्वीकृत होती है। वह वहाँ कुछ दिन ठहरा। उसने साधुओं के आचार विचार को समझा। डालगणी की पावन प्रेरणा से उसने सपरिवार मद्य-मांस का आजीवन परित्याग किया और वह जैन श्रावक बन गया।

जीवन की संध्या

डालगणी का आचार्य-काल द्वादश वर्षीय रहा। अन्तिम वर्षों में काफी अस्वस्थता हो जाने से उन्हें लाडनूं में ही रहना पड़ा। आपने वहाँ से विहार करने का कई बार प्रयास किया किन्तु शरीर ने साथ नहीं दिया। इसलिए आपके अन्तिम दो चातुर्मास (१९६५-६६) लाडनूं में ही हुए। लगभग दो वर्षों तक आप विभिन्न रोगों के साथ जूझते रहे।

आपकी सहिष्णुता बेजोड़ थी। दीन मनोभाव को आपने कभी आदर नहीं दिया। इसीलिए शारीरिक कष्ट में भी आपकी मानसिक समाधि अक्षुण्ण बनी रही। उस रुग्णावस्था में भी यहाँ तक कि स्वर्गवास से दो मास पूर्व तक आप नियमित रूप से प्रवचन किया करते थे। यह आपके तीव्र मनोबल का ही परिचायक था कि जब आप चलने-फिरने में भी असमर्थ हो गए तब भी अपने में प्रवचन करने की पूर्ण सामर्थ्य अनुभव करते थे। आप कहते—मैं चलने-फिरने में असमर्थ हो गया हूँ फिर भी यदि प्रवचन के स्थान में मुझे बिठा दिया जाए तो मैं दो घंटे तक प्रवचन कर सकता हूँ।

क्रमशः शारीरिक अस्वस्थता बढ़ती गई। कोई भी उपचार अनुकूल फल नहीं लाया। ऐसी स्थिति में अपने जीवन के अवसान को लक्षित करते हुए उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का चुनाव किया और सबको बतला दिया कि मैंने जिस व्यक्ति को चुना है उसका नाम लिख कर रख दिया है। समय आने पर उसको देख लिया जाएगा। इस प्रकार शासन के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण कर वे विक्रमाब्द १९६६ की भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को दिवंगत हो गये। आपने हर प्रकार से संघ की अभिवृद्धि में अपने जीवन का पूरा योगदान दिया था। संघ आप जैसे विशिष्ट आचार्य को पाकर धन्य बना।

विराट् व्यक्तित्व के धनी—
तेरापथ के अष्टम आचार्य श्री कालूगणी

(ले०—मुनि श्री छत्रमलजी)

विक्रम संवत् १९८४ की बसन्त पंचमी के समय की बात है। उस समय चूरू हजारों नर-नारियों का आकर्षण केन्द्र बना हुआ था। देश-विदेश से हजारों श्रद्धालु श्रावक मर्यादा महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए चूरू की ओर बढे आ रहे थे। उन्हीं आगन्तुकों में एक मैं भी था। मैं अपने बडे भाई श्री जीवनमलजी सुराणा के साथ कलकत्ते से चूरू आया था। जब दोपहर को दर्शन करने के लिए गया तो सैकडो साधु-साध्वियो और हजारो श्रावकों के बीच धवल-धवल वस्त्र पहिने उच्च पट पर आसीन परमाराध्य आचार्य प्रवर श्री कालूगणी को देखा। गौर वर्ण लम्बा कद, गठा हुआ शरीर, प्रशस्त ललाट और गोल-मोल चमकती वात्सल्यभरी आँखें—यह था उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व जिसे मैं एक अज्ञात प्रेरणा एवं भक्ति के वश हुआ टकटकी लगाए कुछ क्षणों तक देखता रहा। फिर बार-बार चरण स्पर्श करके स्वयं को धन्य मानने लगा। दूसरे ही क्षण एक भावना बिजली-सी कौंध गई, 'मैं तो इनका शिष्य बनूंगा। इन्हीं के चरणो में बैठ कर जीवन बिताऊँगा। मेरी तरह ही न जाने किन-किन हृदयों में आकर्षण की ये तरंगें उठी होगी उस चुम्बकीय व्यक्तित्व के प्रति।

जीवन परिचय

आज से तिरासी वर्ष पूर्व वि स १९३३ की फाल्गुन शुक्ला २ को बीकानेर राज्य में छापरपुर के कोठारी परिवार में आपका जन्म हुआ था। पिता का नाम था मूलचन्दजी और माता का नाम छोगाजी। इकलौता पुत्र माता-पिता के लाड-प्यार में जीवन की पगडंडियो पर पहला चरण रख कर चलने का अभ्यास कर ही रहा था कि पिताजी चल बसे। कहा जाता है कि—आपके दादा बुधसिंहजी कोठारी जब जन्म समय लिख कर एक वृद्ध अनुभवी ज्योतिषी को दिखलाने को ले गए तो उसने बतलाया कि इस जातक (संतान) के ११ वें वर्ष में द्वार पर हाथी बंधेगा। प्रतापी नरेशो के बीच में इसकी कुर्सी लगेगी। माता इसी सुनहली आशा पर अपने नौनिहाल को लिए कभी पीहर तो कभी ससुराल की छाया में बैठ कर आशा के दीप संजोती रहती। पूर्व जन्म के संस्कार जीवनानुकूल वातावरण पाकर अंकुर रूप में फूटने लगे। खेल-कूद खान-पान आदि के प्रति उतनी आसक्ति जगी ही नही कि उसे मिटाने की चेष्टा करनी पड़े। माता की धार्मिक वृत्तियाँ पडोस का धर्मानुप्राणित वायुमंडल और फिर संत जनो का संपर्क उन्हें उत्कट विरक्ति की ओर मोड़ने में सहायक हुआ। तेरापंथ के पंचमाचार्य श्री मघराजजी के निकट ११ वर्ष की उम्र में आप अपनी माँ व बहन (मौसी की पुत्री) के साथ वि स १९४४ की आश्विन शुक्ला ३ के दिन आर्हती दीक्षा स्वीकृत कर 'सर्वारंभ परित्यागी' मुमुक्षु बने।

यह प्राय निश्चित है कि बाल्यकाल के सूक्ष्म संस्कार ही भविष्य में विकसित होते है। कालूगणी के बीदासर में दीक्षा लेने के शुभ अवसर पर उसकी बनौली (जुलूस) निकाली गई थी। नगर के प्रतिष्ठित सेठ शोभाचन्दजी बैंगानी ने आपके गले में एक कण्ठ (गले का आभूषण) पहनाने का आग्रह किया। आपने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा मैं दूसरो के गहनो से अपनी झूठी शान शौकत बढ़ाना नही चाहता। उस ११ वर्षीय बालक की यह निरपेक्षता समय पाकर प्रखर सिद्धांतवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुई।

दीक्षा के बाद जीवन में नया संस्कार आता तथा नया दर्शन मिलता है। कालूगणी प्रारम्भ से ही मघवागणी के प्रिय शिष्य रहे। वे स्वर्गीय मंत्री मुनि श्री मगनलालजी के अनन्य साथी भी थे। आपकी प्रज्ञा बडी प्रखर एवं तत्त्व-मनीषा बडी ही सूक्ष्म थी। आप दिन-रात एक तीव्र अध्यवसाय के साथ ज्ञानार्जन में जुटे रहे।

माणकगणी के स्वर्गवास के बाद एक साधु ने आपके अन्तर मन की भावना जाननी चाही। उसने प्रश्न किया "आचार्य कौन बनेगा ? कालूगणी निस्पृह भाव से बोले "तेरी और मेरी तो संभावना नही है फिर इस चर्चा से क्या ? इससे आपकी निस्पृहता स्पष्ट प्रकट होती है।

डालगणी जैसे कठोर अनुशासक की देख-रेख में वे बारह वर्ष तक रहे, पर मिलने को उलाहना भरा एक शब्द भी नहीं मिला—यही उनकी आचार शुद्धि का जीवंत प्रमाण है। मंत्री मुनि मगनलालजी के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा ही गहरा था। डालगणी ने जब उनकी योग्यता को आंका एवं भविष्य की सम्भावनाएँ उनमें देखी तब से स्वर्गवास होने तक संघ की जिम्मेदारी के लिए उन्हें स्वयं कुछ नहीं कहा करते। जो कुछ कहना होता वह मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी के द्वारा ही कहा जाता।

आचार्य काल

वि० सं० १९६६ की भाद्रपद शुक्ला १२ को डालगणी का निधन हुआ। और्ध्वदैहिक संस्कारों के बाद समूचे संघ ने मिलकर आपसे प्रार्थना की आप आचार्य के पट पर विराजें।" आपने बिलकुल रूखा सा उत्तर दिया—पहले पूर्वाचार्य द्वारा लिखा पत्र देखो किसका नाम है? संघ की भक्ति भरी मनुहारें, और विनय भरा आग्रह भी आपको नहीं पिघला सका। आखिर जब पत्र पढ़नेवालों ने यह दृढ़ विश्वास दिलाया कि आप ही का नाम है, आप पट्ट पर बठिए हम पत्र सुनाते हैं तभी आपने पद ग्रहण किया। यह भी उनकी पद की अपेक्षा कर्तव्य को ऊँचा मानने की प्रवृत्ति।

कालूगणी का शासन-काल तेरापंथ का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस काल में ज्ञान-साधना प्रचार-क्षेत्र साधु-साध्वियाँ श्रावक समाज आदि प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि व उन्नति हुई। यह हमने अपनी आँखों से देखा।

संस्कृत का अध्ययन व प्रचार

तेरापंथ संघ में संस्कृत विद्या का प्रचार व प्रसार अभी तक नहीं के बराबर था। पूज्यपाद जयाचार्य ने यद्यपि संघ में संस्कृत का अंकुर रोपा जरूर था पर वह अनुकूल सुयोग न मिलने से न पल्लवित हुआ और न पुष्पित ही। कालूगणी के मन में शुरू से ही संस्कृत के अध्ययन की एक तीव्र उत्कण्ठा थी पर समस्या यह थी कि कौन पढ़ाए। और इस समस्या का मूल यह था कि उस समय ब्राह्मण विद्वान् जैन साधुओं को संस्कृत पढ़ाने में सकुचाते थे। किन्तु कालूगणी का तीव्र अध्यवसाय था। इसलिए उन्हें एक निस्पृह पण्डित का योग मिल गया। उनका नाम था पण्डित घनश्यामदासजी। वे लाडनूं के रहनेवाले थे और शुरू से आया-जाया करते थे। उन्होंने जातीय विरोध को सहकर भी कालूगणी को सारस्वत चन्द्रिका पढ़ानी शुरू की।

एकबार बीकानेर के ठाकुर हुकुमचन्दजी ने आपके पास एक संस्कृत श्लोक अर्थ करने के लिए भेजा। उसके १२ अक्षरों में १५२ से कम अशुद्धियाँ नहीं थी। उसका अर्थ न हो सका। उसी असफलता ने सफलता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उन्हीं दिनों प० रघुनन्दन जी का संयोग मिला और आपके संस्कृत के अध्ययन का कार्य द्रुतगति से आगे बढ़ा। कालूगणी की विद्यमानता में ही 'भिक्षु शब्दानुशासन' (महाव्याकरण) और 'कालूकौमुदी' (लघुव्याकरण) का उन्हीं के शिष्य मुनि चौथमलजी द्वारा निर्माण हुआ। कालूगणी ने अपने अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न विषयों के—षड्दर्शन प्रमाणनय तत्त्वलोकालंकार, स्याद्वादमञ्जरी हैमकोष (अभिधान चिन्तामणि) सारस्वत चन्द्रिका व्याकरण श्रुतरत्नाकर, श्रुतबोध (छन्द विषयक ग्रन्थ) और पाण्डव चरित्र पद्मानन्द महाकाव्य शान्तिनाथ चरित्र आदि काव्य ग्रन्थ चुने थे।

सम्पर्क

संस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"सुरभिं कमलानि तत्परिमल वाता वितन्वन्ति यत्"—कमल तो सिर्फ कमल पैदा करता है, उसके परिमल का तो पवन ही फैलाता है। कालूगणी के उज्ज्वल चारित्र्य और विद्वत्ता की महिमा विदेशों तक पहुँच गई थी। इटालियन विद्वान् टसीटोरी पिशल के डा० लिस्टी १८ भाषाओं के पण्डित सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान डा० हर्मन जैकोबी आदि अनेक विदेशी विद्वानों ने श्रद्धा और जिज्ञासा भरे हृदय से उनके दर्शन किए तथा उनसे तत्त्व चर्चाएँ की। डा० जैकोबी तो इतने प्रभावित हुए कि जाते-जाते उन्होंने इच्छाभिव्यक्ति करते हुए कहा "इस बार की यात्रा में मुझे भगवान महावीर की शुद्ध परंपरा के श्रमण के दर्शन हुए।"

राजस्थान की विभिन्न रियासतों के नरेश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आपके वर्चस्वी व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित थे। वहाँ उदयपुर के महाराणा भोपाल सिंहजी ने उदयपुर चातुर्मास में होनेवाली दीक्षा के समय मेवाड़ की चिर प्रचलित रूढ़ि (मेवाड़ में यह रिवाज था कि वहाँ दीक्षा लेनेवाला व्यक्ति वापस गाँव में नहीं आ सकता था उसे [illegible] से दूसरे गाँव जाना पड़ता था) को तोड़कर आपके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। वहाँ जोधपुर व बीकानेर नरेशों ने अपनी रियासत में अनन्य के कानून में तेरापंथी साधुओं को गवाही के लिए कचहरी में न बुलाया जाय और न उन पर सम्मन जारी किया जाय' यह आदेश

रखकर बहुत गहरी आस्था दिखलाई। इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए कि जब कालूगणी के स्वर्गवास का दुःखद समाचार बीकानेर नरेश गंगासिंह जी ने सुना तो उन्होंने समूचे बीकानेर राज्य में सरकारी छुट्टी व अपन महलों में भोजन के समय गाए जाने वाले गीत तीन दिनों तक बंद रख कर राजकीय शोक मनाया।

राज्यों पर आपका इतना अधिक प्रभाव होते हुए भी आप राज्याश्रय के कट्टर विरोधी थे। धर्म-नीति के लिए राज्याश्रय को मधु लिप्त छुरी से कम भयावह नहीं मानते थे। एक बार जब बीकानेर राज्य के आई० जी० पी० किसी विशेष काम के लिए आपकी सेवा में आए और कुछ गलत व्यवहार करने लगे तो आपने उनको सावधान करते हुए कहा—

'सुण हाकम संग्राम नहीं जाणो मत होवे थार।
मौरा रै थो जोर है थारे चाइजै प्यार।

शासक को प्रलोभन में नहीं आना चाहिए, बल्कि विवेक से काम लेना चाहिए।

आपकी स्पष्टोक्तियाँ सच्चाई का पुट लिए और अनुभव पर टिकी हुई होती। एक बार आप से बातचीत करते हुए एक नाजिम ने कहा "महाराज आपके श्रावक गवाही देने में बहुत झूठ बोलते हैं। आपने कहा "आप लोग बुलवाते हैं तभी तो बोलते हैं।

'सो कैसे ?

'आप लोगों का ढंग ही ऐसा है। गवाह से पूछते हैं, चोर का मुंह किधर था ? 'वह कितने पग की दूरी पर था ? उसकी कमीज का रंग कौन-सा था ? जिसका माल चोरी जाता है वह बेचारा चोर को पकड़वाने की सोचता है या आपके इन अदालती पेचों को ?

आपकी स्पष्टवादिता में चरित्र का तेज झलकता और तभी तो उनके सामने जन-जन का सिर झुक जाता था। कालूगणी जन-साधारण के बीच बहुत सादगी और सरलता से आत्मीय भाव का स्रोत बहाते थे। निकट संपर्क में आनेवाले सभी व्यक्ति उनके स्नेहिल व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते। एक बार वे मारवाड़ के एक ग्राम (पचपदरा) में विहार करके पधारे। एक किसान मैले-फटे पुराने कपड़े पहने कंधे पर कृषि का उपकरण लिए आपके निकट आकर खड़ा हो गया। जब आपने उससे आने का कारण पूछा तो उसने कहा 'महाराज ऊंना पानी देखाणो।

कालूगणी ने अपना पुट्ठा मँगवाया और महीन अक्षरों का वह पत्र जिसमें एक पत्र में करीब पच्चीस सौ श्लोक लिखे हुए थे निकाल कर किसान के सामने किया। देखनेवाला आश्चर्यचकित हो उठता है पर किसान की भाव भंगिमा ऐसी थी कि जैसे उसको कुछ भी समझ नहीं पड़ा। आपने पूछा—क्यों देख लिया ?

किसान न कहा—महाराज यह नहीं। वह कुम्हार के गधेवाला जिसमें गधा खो गया है और कुम्हार खोजता है। आस-पास खड़े लोग इसकी ऋजु जड़ता पर हँस पड़े पर कालूगणी ने तत्काल वह चित्र मँगवाकर उसे दिखाया। देखकर वह प्रसन्न हो उठा और महान् व्यक्तित्व के प्रति मूक श्रद्धा से गद्‌गद् हो गया। आपके जीवन में इस प्रकार के एक नहीं अनेक प्रसंग आए, जब आनेवाले व्यक्ति संकोच लिए आते और आपके हृदय की सहज आत्मीयता को पाकर धन्य कहकर जाते।

आपको बातचीत का बड़ा शौक था। आप वाद-विवाद नहीं सवाद पसंद करते थे। किन्तु फिर भी यदि कोई भूला-भटका पंडित मानी या सम्प्रदायाभिनिवेशी आ जाता तो उससे बातें करनी ही होती। वह 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' की मान्यता का जमाना था। स्याद्वाद समन्वय और सर्वधर्म सद्‌भाव जैसे सिद्धान्तों का व्यवहार के साथ मेल ही नहीं हुआ था। शास्त्रार्थ में पराजित करने की महत्त्वाकांक्षा यहाँ तक पहुँच गई थी कि बातचीत के मध्य किसी को 'मिच्छामिदुक्कड़' दिलाने वाला इतना हर्षोन्मत्त हो जाता कि जैसे उसने कोई दिग्विजय की हो।

'वाद' को पसन्द नहीं करते हुए भी आप वाद कुशल थे। आपकी मान्यता थी 'शास्त्रार्थ से बात लो हुआ न निर्णय लभ्य।' शांति से सुनना शीघ्र ग्रहण करना और थोड़े शब्दों में उचित समाधान देना आपकी वाद-नीति के तीन सूत्र थे। छल-कपट करना बुरा है किन्तु छल-कपट को नहीं समझ कर बुद्धू बनना और भी बुरा है। मीनासर चर्चा चूरू चर्चा आदि अब भी समाज के कानों में गूंज रही हैं जहाँ प्रतिपक्ष से प्रभावित मध्यस्थों से भी इनके निर्भीक सत्य की प्रशस्ति गाई है।

पाण्डित्य के अभिमान में चूर एक विद्वान आपके निकट आए। बात चल रही थी कि प्रसंग पर मुनि श्री सोहनलालजी ने एक जिज्ञासा की 'रघुवंश के इस श्लोक में 'जय ह्येवामपिमेदिनी भुवा' में 'ह्येवा' का प्रयोग क्यों और कैसे हुआ ? "पण्डितजी

का वातावरण्य चोट खाए हुए साँप की तरह फुफकार उठा । धारा-प्रवाह संस्कृत में बोलते-बोलते रुके ही नहीं—आखिर कालू-गणी ने टोका—पण्डितजी ! बहुत बोलनेवाले को मैं पण्डित नहीं मानता और कम बोलनेवाले को मूर्ख नहीं मानता । पण्डित जी चुप हो गए । दूसरे दिन व्याख्यान मंडप में आकर वे बोले—

सायतने गतदिने भवदीय धिष्ण्ये
सार्धं विवाद विपयेऽत्र यते प्रवृत्ते ।
यत्किंचिदल्पमपि जल्पितमस्तु कोष्ण
मन्तव्यमेव भवता कृपया परेण ।

वास्तव में यह 'विद्या ददाति विनय' का आदर्श उनके अनुकूल ही था ।

एक नौसिखिया व्याकरणाचार्य आपके पास आकर अपनी शेखी बघारने लगा "मैंने पाणिनी व्याकरण का अध्ययन किया है। यह सर्वोत्कृष्ट व्याकरण है' आदि ।

आपने सौम्य ढंग से कहा "वास्तव में व्याकरण सुन्दर है तथा उसका क्रम भी अच्छा है।" पण्डितजी ने फिर कहा "ऐसा एक भी शब्द नहीं जो पाणिनीय से सिद्ध नहीं होता हो।" "'तुच्छ' शब्द कौन से सूत्र से सिद्ध होता है," आपने धीमे से पूछा । उसने सूत्रों को खूब उलट-पलट कर याद किया पर याद नहीं आया । इस प्रकार आप ज्यादा तर्क वितर्क में उलझना पसन्द नहीं करते थे पर यदि कोई आकर अड़ना चाहता तो उसे उत्तर देने में भी जानते थे ।

संघर्ष और सफलता

कालूगणी अत्यन्त शीतल व मधुर स्वभाव के थे । कैसा भी क्रोधादि का प्रसंग उपस्थित होता पर वे अपने सौम्य स्वभाव से थोड़ा भी विचलित नहीं होते । विक्रम संवत् १९७९ का चातुर्मास बीकानेर में था । वहाँ का विरोध तब तक के इतिहास में पहला था । वहाँ मनुष्य मनुष्य का ही नहीं आप जैसे महापुरुष के भी खून का प्यासा बन गया था ? एक दिन आप शौच के लिए बाहर गए थे । सहसा एक विशालकाय आदमी हाथ में पिस्तौल लिए सामने आ खड़ा हुआ । पिस्तौल का घोड़ा दबने को ही था कि आपके तपोमय ललाट और मनमोहक चेहरे को देखकर पिस्तौल हाथ से गिर पड़ी । शरीर पसीना-पसीना हो गया । वह काँपता हुआ आकर आपके चरणों में झुक गया ।

"मेरा घोर अपराध क्षमा करो ?" उसकी आँखें डबडबा आईं । "क्या बात है ? किसलिए आए हो ?" कालूगणी ने सब कुछ समझते हुए भी उससे पूछा । उसने सारी की सारी रामकहानी कह सुनाई और इस षड्यन्त्र के पीछे किन-किन का हाथ है यह भी बता दिया । उसने आवेश भरे शब्दों में कहा "प्रभो ! मैं चाँदी के टुकड़ों के लिए यह अत्याचार करने पर उतारू हुआ पर आपका चमकता हुआ ललाट देखकर मेरे हृदय में अपूर्व श्रद्धा जग उठी । भगवान की इस जीवित मूर्ति पर मैं पापी हत्यारा पिस्तौल चलाऊँ ? इतना कमीना मैं नहीं ।"

वह चला गया । कालूगणी ने अपने श्रावकों से तो दूर बहुत दिनों तक तो साधुओं से भी इस घटना की चर्चा नहीं की । यह है उनकी महानता का एक छोटा सा दृष्टान्त ।

इस घटना से हमें सहसा भगवान बुद्ध की वह कहानी याद आ जाती है जब देवदत्त विद्रोही बन कर अजातशत्रु के सहयोग से बुद्ध की हत्या करने के लिए शस्त्रधारी पुरुष को भेजता है । वह शस्त्रधारी ज्योंही बुद्ध के निकट जाता है वह भयभीत उद्विग्न एवं स्तम्भवत् खड़ा हो जाता है । फिर चरणों में झुककर अपने घोर कर्म पर पश्चाताप करता हुआ क्षमा माँगता है (विनय पिटक पृ ४८४) ।

शान्ति के फल मीठे होते हैं, पर वे देर से लगते हैं । संघर्ष में शान्ति का उपदेश मन का सन्तुलन आचार व्यवहार की स्वच्छता कालूगणी के जीवन में पग-पग पर छाई हुई है । तभी तो बीकानेर के तत्कालीन प्रधान रिडमल साहब ने कुछ व्यक्तियों पर कानूनी कार्यवाई करते हुए कहा था "आप (तेरापंथी) लोगों ने शान्ति रखी एक पॅम्फलेट भी किसी के प्रतिपक्ष में नहीं निकाला । उसी का यह फल है । एक नहीं अनेकों ऐसे प्रसंग आए जब आपके जीवन में "अनुण पनिना बहिम स्वयमव प्रनाम्यति" की सूक्ति पूरी-पूरी चरितार्थ हुई है ।

कालूगणी के मुँह पर बहुत बार ये शब्द आ जाते थे—अगर हमारा घर सच्चा है तो हमें क्या चिन्ता है ? यही उनके निर्भीक जीवन का मंत्र था । वास्तव में वे खुली पुस्तक की तरह बिल्कुल स्पष्ट रहते थे । आपकी प्रत्येक गति विधि में

रखकर बहुत गहरी आस्था दिखलाई। इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए कि जब कालूगणी के स्वर्गवास का दुःखद समाचार बीकानेर नरेश गंगासिंह जी ने सुना तो उन्होंने समूचे बीकानेर राज्य में सरकारी छुट्टी व अपने महलों में भोजन के समय गाए जाने वाले गीत तीन दिनों तक बंद रख कर राजकीय शोक मनाया।

राज्यों पर आपका इतना अधिक प्रभाव होते हुए भी आप राज्याश्रय के कट्टर विरोधी थे। धर्म-नीति के लिए राज्याश्रय को मधु संपृक्त छुरी से कम भयावह नहीं मानते थे। एक बार जब बीकानेर राज्य के भाई जी पी किसी विशेष काम के लिए आपकी सेवा में आए और कुछ गलत व्यवहार करने लगे तो आपने उनको सावधान करते हुए कहा—

"मुख हाकम संग्राम कहै आवो मत होवै मार।
औरां र पो औंक है थारे चाइजे प्यार।"

शासक को प्रलोभन में नहीं आना चाहिए, बल्कि विवेक से काम लेना चाहिए।

आपकी स्पष्टोक्तियाँ सच्चाई का पुट लिए और अनुभव पर टिकी हुई होती। एक बार आप से बातचीत करते हुए एक हाकिम ने कहा "महाराज आपके श्रावक गवाही देने में बहुत झूठ बोलते हैं।" आपने कहा "आप लोग बुलवाते हैं, तभी तो बोलते हैं।"

"सो कैसे ?

"आप लोगों का ढंग ही ऐसा है। गवाह से पूछते हैं, 'चोर का मुँह किधर था ?' 'वह कितने कदम की दूरी पर था ? उसकी कमीज का रंग कौन-सा था ? जिसका माल चोरी जाता है वह बेचारा चोर को पकड़वाने की सोचता है या आपके इन अदालती पेंचों को ?

आपकी स्पष्टवादिता में चरित्र का तेज झलकता और तभी तो उनके सामने जन-जन का सिर झुक जाता था। कालूगणी जन-साधारण के बीच बहुत सादगी और सरलता से आत्मीय भाव का स्रोत बहाते थे। निकट संपर्क में आनेवाले व्यक्ति उनके साहित्य व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते। एक बार वे मारवाड़ के एक ग्राम (पचपदरा) में विहार करके पधारे। एक किसान मैले-फटे पुराने कपड़े पहने कंधे पर कृषि का उपकरण लिए आपके निकट आकर खड़ा हो गया। जब आपने उससे आने का कारण पूछा तो उसने कहा "महाराज थांनो पानो देखावो।"

कालूगणी ने अपना पुट्ठा मंगवाया और महीन अक्षरों का वह पत्र जिसमें एक पन्ने में करीब पच्चीस सौ श्लोक लिखे हुए थे निकाल कर किसान के सामने किया। देखनेवाला आश्चर्यचकित हो उठता है पर किसान की भाव भंगिमा ऐसी थी कि जैसे उसको कुछ भी समझ नहीं पड़ा। आपने पूछा—क्या देख लिया ?

किसान ने कहा—महाराज यह नहीं। वह कुम्हार के चित्रवाला जिसमें गधा जोता गया है और कुम्हार चौंकता है। आस-पास खड़े लोग इसकी ऋजु जड़ता पर हँस पड़े पर कालूगणी ने तत्क्षण वह चित्र मँगवाकर उसे दिखाया। देखकर वह प्रसन्न हो उठा और महान् व्यक्तित्व के प्रति मूक श्रद्धा से गद्गद् हो गया। आपके जीवन में इस प्रकार के एक नहीं अनेक प्रसंग आए, जब आनेवाले व्यक्ति संकोच लिए आते और आपके हृदय की सहज आत्मीयता को पाकर धन्य होकर जाते।

आपको बातचीत का बड़ा शौक था। आप वाद-विवाद नहीं सवाद पसंद करते थे। किन्तु फिर भी यदि कोई भूला भटका पंडित ज्ञानी या सम्प्रदायाभिनिवेशी आ जाता तो उससे बातें करनी ही होती। वह 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' की मान्यता का जमाना था। स्याद्वाद समन्वय और सर्वधर्म सद्भाव जैसे सिद्धांतों का व्यवहार के साथ मेल ही नहीं हुआ था। शास्त्रार्थ में पराजित करने की महत्त्वाकांक्षा यहाँ तक पहुँच गई थी कि बातचीत के मध्य किसी को 'मिच्छामिदुक्कडं' दिलाने वाला इतना हर्षोन्मत्त हो जाता कि जैसे उसने कोई दिग्विजय की हो।

'वाद' को पसन्द नहीं करते हुए भी आप वाद कुशल थे। आपकी मान्यता थी 'शास्त्रार्थ से आज का हुआ न निर्णय सम्य। शान्ति से सुनना धीरज वहन करना और थोड़े शब्दों में उचित समाधान देना आपकी वाद-नीति के तीन सूत्र थे। छल-कपट करना बुरा है किन्तु छल-कपट को नहीं समझ कर मूढ़ बनना और भी बुरा है। मीनाक्षर चर्चा चूक चर्चा आदि अब भी समाज के कानों में गूंज रही हैं जो प्रतिपक्ष से प्रभावित व्यक्तियों ने भी इनके निर्भीक सत्य की प्रशस्ति गाई है।

पाण्डित्य के अभिमान में चूर एक विद्वान आपके निकट आए। बात चल रही थी कि प्रसंग पर मुनि श्री सोहनलालजी ने एक जिज्ञासा की 'रघुवंश के इस श्लोक में 'वच इवेषामनिमित्तिनी मुग्धा' में 'इव' का प्रयोग क्यों और कैसे हुआ ? पंडितजी

का स्वाभिमान चोट खाए हुए साँप की तरह फुंकार उठा। धारा-प्रवाह संस्कृत में बोलते-बोलते रुके ही नहीं—आखिर कालूगणी ने टोका—पण्डितजी! बहुत बोलनेवाले को मैं पण्डित नहीं मानता और कम बोलनेवाले को मूर्ख नहीं मानता। पण्डितजी चुप हो गए। दूसरे दिन व्याख्यान मंडप में आकर वे बोले—

सायंतने गतदिने भवदीय शिष्यैः,
सार्धं विवाद विषयेऽत्र मते प्रवृत्ते।
यत्किंचिदल्पमपि जल्पितमस्तु कार्ण्यं
क्षन्तव्यमेव भवता कृपया परेण।

वास्तव में यह 'विद्या ददाति विनयं' का आदर्श उनके अनुकूल ही था।

एक सौसिद्धिया व्याकरणाचार्य आपके पास आकर अपनी शेखी बघारने लगा 'मैंने पाणिनी व्याकरण का अध्ययन किया है। यह सर्वोत्कृष्ट व्याकरण है' आदि।

आपने सौम्य ढंग से कहा 'वास्तव में व्याकरण सुन्दर है तथा उसका क्रम भी अच्छा है।" पण्डितजी ने फिर कहा "ऐसा एक भी शब्द नहीं जो पाणिनीय से सिद्ध नहीं होता हो।" "'तुच्छ' शब्द कौन से सूत्र से सिद्ध होता है" आपने धीमे से पूछा। उसने सूत्रों को खूब उलट-पलट कर याद किया पर याद नहीं आया। इस प्रकार आप ज्यादा तर्क-वितर्क में उलझना पसन्द नहीं करते थे पर यदि कोई आकर अड़ना चाहता तो उसे उत्तर देना भी जानते थे।

संयम और सफलता

कालूगणी अत्यन्त शीतल व मधुर स्वभाव के थे। कैसा भी क्रोधादि का प्रसंग उपस्थित होता पर वे अपने सौम्य स्वभाव से थोड़ा भी विचलित नहीं होते। विक्रम संवत् १९७९ का चातुर्मास बीकानेर में था। वहाँ का विरोध तब तक के इतिहास में पहला था। वहाँ मनुष्य मनुष्य का ही नहीं आप जैसे महापुरुष के भी खून का प्यासा बन गया था? एक दिन आप शौच के लिए बाहर गए थे। सहसा एक विशालकाय आदमी हाथ में पिस्तौल लिए सामने आ खड़ा हुआ। पिस्तौल का घोड़ा दबाने को ही था कि आपके तेजोमय ललाट और मनमोहक चेहरे को देखकर पिस्तौल हाथ से गिर पड़ी। शरीर पसीना-पसीना हो गया। वह काँपता हुआ आकर आपके चरणों में झुक गया।

"मेरा घोर अपराध क्षमा करो?" उसकी आँखें डबडबा आईं। "क्या बात है? किसलिए आए हो?" कालूगणी ने सब कुछ समझते हुए भी उससे पूछा। उसने सारी की सारी रामकहानी कह सुनाई और इस षड्यन्त्र के पीछे किन-किन का हाथ है यह भी बता दिया। उसने आवेश भरे शब्दों में कहा 'प्रभो! मैं चाँदी के टुकड़ों के लिए यह अत्याचार करने पर उतारू हुआ पर आपका चमकता हुआ ललाट देखकर मेरे हृदय में अपूर्व श्रद्धा जम उठी। भगवान की इस जीवित मूर्ति पर मैं पापी हत्यारा पिस्तौल चलाऊँ? इतना कमीना मैं नहीं।

वह चला गया। कालूगणी ने अपने श्रावकों से तो दूर बहुत दिनों तक तो साधुओं से भी इस घटना की चर्चा नहीं की। यह है उनकी महानता का एक छोटा सा दृष्टान्त।

इस घटना से हमें सहसा भगवान बुद्ध की वह कहानी याद आ जाती है जब देवदत्त विद्रोही बन कर अजातशत्रु के सहयोग से बुद्ध की हत्या करने के लिए शस्त्रधारी पुरुष को भेजता है। वह शस्त्रधारी ज्योंही बुद्ध के निकट जाता है वह भयभीत उद्विग्न एवं शून्यवत् खड़ा हो जाता है। फिर चरणों में झुककर अपने घोर कर्म पर पश्चात्ताप करता हुआ क्षमा माँगता है (विनय पिटक पृ ४८४)।

शांति के फल मीठे होते हैं पर वे देर से लगते हैं। संघर्ष में शान्ति का उपदेश मन का सन्तुलन आचार व्यवहार की स्पष्टता कालूगणी के जीवन में पग-पग पर चरितार्थ हुई है। तभी तो बीकानेर के तत्कालीन प्रधान रिजवन साहब ने कुछ व्यक्तियों पर कानूनी कार्रवाई करते हुए कहा था "आप (तेरापंथी) लोगों ने शांति रखी एक पैम्फलेट भी किसी के प्रतिपक्ष में नहीं निकाला। उसी का यह फल है। एक नहीं अनेकों ऐसे प्रसंग आए जब आपके जीवन में "अनृप पतिता वह्नि स्वयमेव प्रशाम्यति" की सूक्ति पूरी-पूरी चरितार्थ हुई है।

कालूगणी के मुँह पर बहुत बार ये शब्द आ जाते थे—अगर हमारा पथ सच्चा है, तो हमें क्या चिन्ता है? यही उनके निर्भीक जीवन का मंत्र था। वास्तव में वे खुली पुस्तक की तरह बिल्कुल स्पष्ट रहते थे। आपकी प्रत्येक गति विधि में

विचार और व्यवहार का सामंजस्य रहता। दीक्षा-प्रणाली को ही ले लीजिए। दीक्षार्थी की इतनी कठोर परीक्षा ली जाती और उसमें इतनी कठोर साधना करवाई जाती कि कच्चे-कच्चे तो यों ही झड़ जाते पर आपको इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। इसीसे प्रभावित होकर बड़ोदा राज्य जब बाल दीक्षा-विरोधी कानून पास करने जा रहा था तो उसके तत्कालीन मुख्य मंत्री ने उद्गार प्रकट किए "जिस तरीके से तेरापंथियों में परीक्षा पूर्वक दीक्षा होती है वैसे ही यदि सब जगह होती तो हमें कानून बनाने की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती।

अनुशासनकर्ता का कठोर हृदय आप में था तो गुरु का वात्सल्य भरा मक्खन सा कोमल मन भी। जहाँ कुछ पक्षों को लेकर पाँच-पाँच साधर्मी को संघ से निकालते प्रसन्न मुद्रा में देखे गये वहाँ एक वृद्ध मुनि के चोट लगने पर उनके मन में चिन्ता और चेहरे पर खिन्नता आते भी। रोगी अस्वस्थ मुनि सतियों की कुशल परिचर्या के लिए उन्हें उतावले होते भी देखा और दोषी को कठोर से कठोर दंड देकर गंभीर बने भी देखा। उनका यह रूप हमें बतलाता है कि उनका जीवन बीकानेरी मिश्री की तरह काठिन्य और माधुर्य का अद्भुत संगम था। अब भी जब उनकी वत्सलता व कृपा की चर्चाएँ चलती हैं तो हजारों का मन खिल उठता है वाणी मुखर हो उठती है और आँखें गीली हो जाती हैं। उनके संपर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति स्वतः यह अनुभव करने लग जाता है कि आचार्य प्रवर की सर्वाधिक कृपा मेरे ऊपर ही है। अपने ६ वर्षीय तपस्वी जीवन से पुञ्जीभूत यश श्रद्धा और गौरव को एक बाईस वर्ष के तरुण साधक में सन्निहित करके आप संवत् १ १ की भाद्रपद शुक्ला ६ को भूलोक से सुलोक की ओर महाप्रयाण कर गए। हजारों आँखों में और लाखों हृदयों में अब भी उनकी स्मृति सहज श्रद्धा और भक्ति का स्रोत बहा देती है।

तेरापथ के वर्तमान नवमाचार्य—
श्री तुलसी और उनका साहित्य

(मुनि श्री श्रीचन्दजी)

कवि पर काव्य नही काव्य पर कवि छाया रहता है। यही आचार्य श्री तुलसी के कवि-कर्म का मूल है। उनके कवित्व में व्यक्तित्व व व्यक्तित्व में कवित्व इस तरह समाहित हो गया है कि जल-तरग की तरह उनका पृथक्-पृथक् अकन नही किया जा सकता। प्राचीन व नवीन दृष्टि एव शैली के स्वरो में उनका अपना नया कथन है, लय है और है सगीत भी।

व्यक्तित्व

आचार्य श्री तुलसी धर्म व सस्कृति के एक प्रतीक दार्शनिक सत और कवि हैं। उनका व्यक्तित्व विविध रगो में रचित एक रगीन कला चित्र की तरह रमणीय है। उपदेष्टा धर्म सघ के शासक और नीति के पुन अनुष्ठान कर्ता के रूप में उनका तेजस्वी व्यक्तित्व सामाजिक धार्मिक और राष्ट्रीय सीमाओं को लाघकर अन्तरराष्ट्रीय क्षितिज पर एक जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति चमक रहा है। उनका चिंतन जहाँ सहस्राक्ष बन कर जीवन व जगत् की गहराइयों का सहज उद्घाटन करता है, वहाँ उनकी कल्पना सहस्र पख धर कर भावलोक के कोमल-कात चित्रों को शब्दों की रगीनी में सँवार कर उपस्थित करती है।

वे पेशेवर साहित्य स्रष्टा नही हैं। आज के बाजार में साहित्य के नाम से चलनेवाली पुस्तकें और साहित्यकार के नाम से पलनेवाले जीव उनके आलोच्य हैं। इसलिये वे कहते हैं, 'साहित्य लिखना मेरा कर्म नही धर्म (स्वभाव) है। जब कभी बुद्धि की ठोकर खाकर अनुभूत सवेदनाओ की फुहार छलक पड़ती है तभी वह कागज पर अकित होकर साहित्य बन जाती है।

साहित्य

आचार्यश्री के साहित्य की समीक्षा करने से पहले हमें उनके साहित्य के अतरग मर्म को समझ लेना होगा। विषय की दृष्टि से उनके साहित्य को दार्शनिक व काव्य—इन दो भागो में बाँटा जा सकता है। यदि दर्शन की अपनी शैली है, अपना तोल है तो कविता का भी अपना स्वतत्र परिवार है। जहाँ दर्शन का महत्त्व मौलिकता के साथ-साथ परपरा से जुड़ा रहने में है, वहाँ काव्य का चमत्कार नई ध्वनि नए सकेत व नई शैली में व्यक्त होने में है। दर्शन ग्रथो में दो नाम मुख्य रूप से लिये जा सकते हैं—'जैन-सिद्धान्त दीपिका' और 'श्री भिक्षु न्याय कर्णिका'। दोनो ही सस्कृत की प्राजल भाषा और प्राचीन सूत्र शैली में लिखे गए हैं। जैन दर्शन और जैन न्याय के गभीर ज्ञान को छोटे-छोटे सूत्रो में परिभाषा स्वरूप विषय भेद-प्रभेद आदि के द्वारा स्पष्ट रूपेण समझाया गया है।

कविता और कल्पना के मधुवन में रमनेवाले रसज्ञो के लिए दर्शन और न्याय का मार्ग ऊबड़-खाबड़ बीहड़ जगल की भाँति नीरस एव दुर्गम होता है, परन्तु आचार्य श्री के कवि मानस ने भाषा व सभी सबधी काँटे व ककड़ो को झाड़-बुहार कर इसे सरल व सुगम बना दिया है।

'दीपिका' में जैन सिद्धान्तो का तलस्पर्शी विवेचन हुआ है। इसके नौ प्रकाश हैं। पहले के आठ प्रकाशो में आत्मा धर्म जीव सवर, निर्जरा मोक्ष गुण-स्थान आदि का विस्तार से वर्णन करने के बाद नौवें प्रकाश में जैन न्याय की सामान्य परिभाषा स्याद्वाद नय आदि का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। कहीं-कहीं तो परिभाषाएँ इतनी सरल व सारगर्भित हो उठी हैं कि ऐसा लगता है जैसे गागर में सागर भर दिया गया हो। धर्म की परिभाषा को ही लीजिये। आज तक अनेक

परिभाषाएं हुई हैं, पर उन सब में धर्म के समग्र रूप को व्यक्त करने वाली—"आत्म शुद्धिसाधनं धर्मः (७।२१) यही परिभाषा मुझे अधिक सारपूर्ण और परिष्कृत लगी है। इसी प्रकार प्रमाण का लक्षण भी जहाँ आचार्यों ने अनेक रूपों में विवक्षित किया है, वहाँ भिक्षु न्यायकर्णिका में—'यथार्थ ज्ञानं प्रमाणं (१।१२)" के द्वारा यह बहुत ही स्पष्ट, सरल और निर्विवाद रूप में बतलाया गया है। इस प्रकार उन्होंने अनेक सुगम परिभाषाओं एवं नवीन चिन्तन के द्वारा दर्शन साहित्य की भी वृद्धि की है। अब हम उनके कवि रूप को देखने का प्रयास करेंगे। इसमें कहीं कल्पना की ऊँची-ऊँची उड़ानें हैं, कहीं प्रकृति का सरस सजीव चित्रण है कहीं शब्दों की सुकुमार लड़ियाँ बिखरी हुई हैं तो कहीं जीवन और जगत के चिन्तन पर नए-नए उन्मेष भी खुले हैं।

कालूयशोविलास—आचार्य श्री तुलसी की सबसे पहली काव्यकृति है 'कालूयशोविलास'। इसकी रचना २९ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ की गई थी तथा इसकी भाषा संस्कृत बहुल राजस्थानी है। किन्तु गुजराती की पड़ोसिन होने से कहीं-कहीं उसका भी असर आ गया है। यों तो तेरापंथ के राजस्थानी साहित्य में विशेषकर जयाचार्य और उनके उत्तरवर्ती साहित्य में गुजरात की चित्र शैली एवं भाषा का काफी प्रभाव दीख पड़ता है। केटले के माटे छै एम कटका आदि विशेषण एवं अव्यय के साथ-साथ अनेक क्रियाएँ भी मूल रूप में प्रयुक्त हुई हैं। यद्यपि राजस्थान की वर्तमान बोल-चाल की भाषा में इनका कोई प्रयोग नहीं रह गया है, तथापि साहित्य में तो वे सुरक्षित स्थान पा ही चुकी हैं। काव्य की भाषा संस्कृत एवं अपभ्रंश बहुल होने से ओज प्रवाह और पद-पद पर अनुप्रासों की झड़ी सी लग गई है। राजस्थानी गीतों के मधुर संगीत रूप में जब ये पद गाये जाते हैं तो श्रोता झूम उठते हैं। इसकी कथावस्तु एक अत्यन्त अर्वाचीन महापुरुष की जीवन-गाथा है। और वे हैं—तेरापंथ के स्वर्गीय अष्टमाचार्य श्री कालूगणी। वे एक धर्माचार्य थे तथा उनका जीवन अपने आप में दर्शन धर्म और नीति का महाकोष था। अपने जीवन में किस प्रकार एक सामान्य मुनि की भूमिका से उठकर संघ के आचार्य बने और सैकड़ों मुनि गणों व लाखों श्रद्धालु श्रावकों का सफल धार्मिक नेतृत्व करते हुए संयम व [illegible] की साधना में रत रह कर समस्त साम्प्रदायिक विरोधों को अत्यन्त धैर्य व शान्ति के साथ सहते हुए वे सदैव आगे बढ़ते रहे—इन समस्त विषयों का सरस एवं रोमांचक वर्णन 'कालूयशोविलास' में हुआ है। इसी के साथ प्रसंगानुसार राजस्थान की भीषण गर्मी मेवाड़ और मारवाड़ की पथरीली कटीली और रेतीली भूमि का सजीव चित्रण भी यहाँ मिलता है। जीवन कथा धारा प्रवाह रूप में चलती है। कथानक संवाद आदि परस्पर समन्वित संबद्ध और सुरुचिपूर्ण हैं। कहीं-कहीं घटनाओं व तिथियों आदि का पूरा का पूरा विवरण संकलित करने की चेष्टा करने से काव्य का प्रवाह बहता-बहता कुछ शिथिल हो गया है। अलंकार की दृष्टि से अनुप्रास उपमा रूपक आदि तो पद-पद पर भरे पड़े हैं। वक्रोक्ति श्लेष यमक अपह्नुति अतिशयोक्ति आदि अलंकार शास्त्र के प्रायः सभी उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। भक्ति व शान्त रस के साथ-साथ कहीं-कहीं वीर एवं करुण रस भी प्रवाहित हुआ है। आलम्बन व उद्दीपन अधिकतर शान्त रस के ही मिलते हैं। काव्य की पंक्तियों में एक विशिष्ट भारतीय सभ्यता व परंपरा का ऊर्मिलित स्वर बहता है जो उसके भारतीय गुणों को उद्दीप्त करने में अधिक सफल हुआ है। इस तरह 'कालूयशोविलास' राजस्थानी भाषा का एक सुन्दर और सरस काव्य है। कवि की सूक्ष्म कल्पना प्रकृति-चित्रण करने की अपेक्षा मानवीय भावों का आलेखन करने में अधिक कुशल रही है।

कहीं-कहीं कवि की कल्पना इतनी तीव्र अनुभूतियाँ लिये चलती है कि अनायास ही दिल सिहर उठता है। जब मेवाड़ के

१—धारणात् धर्म उच्यते (महाभारत—कर्ण पर्व)
यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः (कणाद—वैशेषिक दर्शन)
वत्थु सहावो धम्मो (कुन्दकुन्दाचार्य)
चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोह क्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ (प्र सार, १।७)
प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाध विवर्जितम् (सिद्धसेन न्यायावतार)
स्व पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् (वादिदेव)
सम्यगर्थ निर्णयः प्रमाणम् (हेमचन्द्र—प्रमाणमीमांसा)

मदिर मूबी हो डोलै पवा ।
घर घर तूटी हो सोत निसंका ।
विधुत मोमे हो जल सीतल्यो ।
बरफ प्रमोमे हो था सो मल्यो ॥११॥

(कालूयशोविलास उल्लास १ ढाल १७ गाथा २५-३१)

जेठ के महीने को ग्रीष्म ऋतु के शरीर का सीना बताना गर्म लू को अग्नि की उछलती हुई ज्वालाओं के रूप में देखना सूर्य के घोर आतप से धरती का भड़भूजे की भट्ठी व रसोई के तवे जैसा धधकने लगना गर्म धूल का पसीना झरते हुए शरीर पर चिपक कर ऐसे फोड़-फुन्सी पैदा करना है जैसे जमीन पर जगह-जगह भूँफोड़े निकल आए हो तथा ऐसे समय में धनी-मानी व्यक्तियों का मोहरो में छिप-छिप कर खसखस की टट्टियाँ लगाना पंखे चलाना और गुदगुदे गद्दो पर लेटकर तोंद पर हाथ फेरना दिखाकर कवि ने विषम जन-जीवन का जीता-जागता चित्र उपस्थित किया है।

कालूयशोविलास में कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण भी बड़ा ही सजीव बन पड़ा है। जिन प्रदेशो के वर्णन अब तक कवियो की कलम से अछूते रह हैं उन्हें कल्पना के धनी कवि ने बड़े ही सौष्ठव के साथ चित्रित किया है। बालू के टिब्बे-धुब्बे पर्वतोंवाले थली प्रदेश का रम्य चित्र देखिये—

निकट निकट बहु सहर सुरंगा इक रंगा जिहूँ देसे ।
बेलू पर्वत पर्वत सवया प्रवया परिणत वैसे ॥२॥
रजनिये रेणु कणां शशि किरणा चक्कै चामक चांदी ।
मन हरणी धरणी भविजन हुवै अति आतप घर आंधी ॥३॥

(कालूयशोविलास उल्लास १ ढाल १ गाथा २-३)

थली में एक ओर जहाँ गर्म लूए व आँधियाँ चलती हैं वहाँ रात्रि के समय मखमल से कोमल रेतीले टीलो पर शीतल शुभ्र चाँदनी बिखर कर वातावरण को चाँदी की पहाड़ियो का रूप दे देती है।

इसी प्रकार मारवाड व मेवाड के बीच की घाटी जहाँ नीचे तलहटी पर फौलाद की चौकी है और ऊपर अरावली की पर्वतमालाएँ सिर उठाए खड़ी हैं वहाँ आचार्य श्री कालूगणी पद-यात्रा के सिलसिले में रात्रि-विश्राम करते हैं। रात को शेर, चीते सियार आदि वन्य जन्तुओ की डरावनी ध्वनियो से जगल आक्रान्त हो उठता है। इसका वर्णन कवि ने यों किया है—

चहुँ ओर वन खुबी झगि भारी ।
जहूँ वनि अनि अटारी पटारी ।
कहिं निम्ब कादम्ब अम्बाम्ब झारी ।
करी घूक मम्बूक बीहाँ बमारी ॥१॥
कहिं खक्खराटी हुवै खक्खरारी ।
कहिं घग्घराटी हुवै घग्घरारी ।
महूवा लहूवा महूवा मरारी ।
कहिं वड धूप व कूप बरारी ॥२॥
किते फेत कारा फरक्कत फेक ।
किते फुल्कता र भरक्कत एक ।
किते घूक सचाट घुग्घाट घेक ।
किते घुक्क घुक्काट केक बनेक ॥३॥
किते मझुरां मोड गुवां मचक्के ।
किते केहर केंगो मिलदुवा चडक्के ।
किते टोल बमोल बड्डा लड़क्के ।
किते पायठ्ठवा बू रेणू रड़क्के ॥४॥

कठी एक तो भेद पट्टी निकट्टा ।
कठी विखड्डी हैत है ही विकट्टा ।
कहीं धाड़ धाड़ कहीं ताड़ माड़ ।
कहीं पाहाड़ पाड़ पड़े ठाड़ ठाड़ ॥५॥
चिंघाड़ा सुणाणा छकी छाक छाका ।
कराला विशाला कड़ी खाग खाका ।
झणक्के झणणाट सूं भट्ट भेड़ा ।
झणक्के झणंणाट सू तीर तेड़ा ॥६॥
सणंके सणणाट भारी भगड़ा ।
रणके रण रैणगाड़ी रगड़ा ॥
कही बोझ बोझां कही रोझ मोझा ।
कही पांच फोजां कहूं लोथ पोथां ॥७॥
झणं झकझका भटक्की भटारी ।
सब बकरावां सके कोन ठारी ।
कहूं कातरां री कटारी कटारी ।
घणा धाक थारी पटारी मठारी ॥८॥

(कालूयशोविलास उल्लास ४ ढाल १२, गा १–८)

इसे पढ़ते-पढ़ते लगता है कि चरवरदाई कहीं पृथ्वीराज के साथ विचार लसने गया हो और वहाँ के भीषण कोलाहल का आँखों देखा वर्णन लिखने बैठ गया हो। यही तो है कवि का चमत्कार जो परोक्ष अनुभूतियों को भी प्रत्यक्ष रूप देता है, निर्जीव को सजीव एवं मूक को वाचाल बनाकर सामने लाकर खड़ा कर देता है।

इस प्रकार कालूयशोविलास इस युग की राजस्थानी भाषा का एक अद्वितीय काव्य कहा जा सकता है। धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर जहाँ मानवीय गुणों का पूर्ण विकास हुआ है वहाँ परंपरा इतिहास आदि के सर्वांगीण चित्रण में तत्कालीन समाज व सभ्यता आदि पर भी पूरा-पूरा प्रकाश डाला गया है।

माणक महिमा—यह कवि की राजस्थानी भाषा की दूसरी काव्यकृति है। इसमें तेरापंथ के छठे आचार्य श्री माणकगणी की जीवन-गाथा ग्रथित हुई है। काव्य की दृष्टि से 'माणक महिमा' के अनेक स्थल बड़े चमत्कारी और कला पूर्ण हैं। कहीं-कहीं तो अनुभूतियाँ बड़ी तीव्रता के साथ हृदय को संस्पर्श करके झंकृत कर देती हैं। एक प्रसंग लीजिये—जब माणकगणी अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त किए बिना स्वर्गवासी हो जाते हैं तब मुनिजन मिल कर सब से मांग करते हैं अपनी आदर्श रीति-नीति के अनुरूप किसी महान् आचार्य की। उनकी एक अज्ञात मनोव्यथा तथा भाव-भंगिमा को बड़ी चतुरता के साथ कवि ने छन्दोबद्ध किया है—

विचारो सन्तां ! सब मिल बात क आप कदम् ल्यावाला ।
आपारो गण गोकुल सतां सीधा खरी विशाल ।
बड़ी दीवाल और दुवाल विच महिं रह्यो गोवाल ।
सतां ! बिना गोवाल गउवां री गति काइ आपां पावांला ।
यह गगन चमकता तारा तारा री झमकोल ।
पिण अंधारियो सूनो लागे बिना चांद चमकोल ।
सन्तां ! बिना चांद री रजनी स्यूं आपां दुख पावांगा ।
आणियाल द्रुम पेड़ह पौधा विटपी लता विशाल ।
फलफूलां सू लहलहाय है माली बिना बेहाल ।
सन्तां ! बिन माली के उपवन री दशा बन जावांला । (माणक महिमा ढाल १८)

काल उपदेश वाटिका—यह आचार्य श्री के भाव प्रवण राजस्थानी गीतों का एक संग्रह है। इसमें सरल सुबोध भाषा तथा सरस लोक गीतों के लय में आज के भ्रान्त जन-जीवन को मार्ग-दर्शन देने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। यह भी कालूयशोविलास की तरह अभी तक अप्रकाशित ही है।

अणुव्रत गीत—यह आचार्य श्री के नैतिक मूल्यों से समन्वित एवं जीवनोत्थान के लिए आवश्यक शिक्षाओं से पूर्ण गीतों का एक संग्रह है। आज हम उस संक्रांति युग में चल रहे हैं जिसमें जीवन की पुरानी मान्यताएं व पुराने मूल्य बदल कर उनकी जगह नये विश्वास व नये मूल्य प्रतिष्ठित हो रहे हैं। मानव भूला-भूला जीवन क्षेत्र में भटक रहा है। वह नीति के मानदण्ड तोड़कर विशृंखल हुआ सा चल रहा है जिसके परिणामस्वरूप समाज में अनीति भ्रष्टाचार,पक्षपात आदि दुर्गुणों की बाढ़ आ गई है।

आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से मानवता से च्युत होते हुए मानव को रोका और बांह पकड़ कर उन्हें समझाने का प्रयास किया है। जब वे विभिन्न धर्मों के बीच बैठ कर एक-एक धर्म की बुराइयों का विश्लेषण कर उनके जीवन को झकझोरते हैं तब सचमुच ही उनके मुख से निःसृत ये गीत जीवन के अन्तर में पैठकर उसे स्पंदित कर देते हैं। तथाकथित धार्मिकों की जीवन व्यवहार-गत उपासना और कर्म के द्वैध पर करारी चोट करते हुए वे कहते हैं—

अरे! धार्मिको किस प्रवाह में अब भी बहते जाते हो?
मन्दिर में जा भक्त बने प्रह्लाद भक्त से भी बढ़कर।
हिरण्यकश्यप से क्रूर कर्मकारी बन जाते घर आकर।
तो होगा यह प्रभु से धोखा केवल मन बहलाते हो।
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥१॥
कीर्तन सत्संगत में 'मीरा' 'सूर' तुल्य रस लेते हो।
पर आचरणों में तो 'शूर्पणखा' का परिचय देते हो।
सत्संगत में जो पाते क्या वहीं छोड़कर आते हो?
सत्य-धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥२॥
गुरुद्वारे में ग्रंथ साहब का पाठ प्रेम से खूब किया।
बाहर आकर पी शराब यदि भाई का भी खून किया।
तो सोचो गुरु-वाणी को कितना जीवन में लाते हो।
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥३॥
मस्जिद में जाते नमाज की रखते पूरी पाबन्दी।
लेकिन यदि नापाक रहा दिल और वृत्तियां भी गन्दी।
तो बोलो तुम हुक्म खुदा की अदा कहां कर पाते हो?
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥४॥
सदा धर्म में जा हमुआइस्ट-प्रार्थना हो करते।
पर एकांगी अस्पृश्या संकीर्ण भावना हो भरते।
बने मिशनरी बाइबिल की शिक्षाएँ कहाँ अपनाते हो।
सत्य-धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥५॥
सामायिक स्वाध्याय सत-दर्शन तो धर्मस्थानों में।
चालबाजियाँ धोखेबाजी करते बैठ दुकानों में।
दर्शन-सेवा शासन-प्रभावना का क्या यह काम उठाते हो?
सत्य-धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥६॥

(अणुव्रत गीत पृ ६)

इसी प्रकार विद्यार्थी वर्ग जो देश के सामने एक विकट समस्या बन कर खड़ा है, को संबोधन करते हुए कवि स्पष्ट रूप से पूछता है—

भरा जोश विद्यार्थियो रे ! किधर तुम जा रहे हो।
लक्ष्य अपना विद्यार्थियो रे क्या सफल बना रहे हो ?॥१॥
विद्यार्थी जीवन ही सारे जीवन की है नींव
सिखलाना है तुम्हें देश को जो आदर्श सजीव।
क्या वह सिखला रहे हो ? ॥२॥
आज देश में बड़ी समस्या छात्रों का आतंक
यह उच्छृंखलता विद्या का सबसे बड़ा कलंक।
क्या इसे मिटा रहे हो ? ॥३॥
(अणुव्रत गीत पृ २)

आगे वे आज की परीक्षा में होनेवाले आतंक उत्पात और परीक्षा फल सुनने के बाद असफल विद्यार्थियो की आत्मघाती प्रवृत्ति पर वात्सल्य भरा उलाहना देते हैं–

छोटी-छोटी बातों पर कितना होता उत्पात
विद्यालय में करनी पड़ती आज पुलिस तैनात।
क्या दृश्य दिखा रहे हो ? ॥४॥
जो अध्ययन कसौटी थी वह बन गई आज कृपाण
हाय ! परीक्षा ले लेती है कितनों ही के प्राण।
क्यों प्राण गँवा रहे हो ? ॥५॥
(अणुव्रत गीत पृ ३)

अणुव्रत गीत म उन्होंने हर वर्ग को आड़े हाथा लिया है, झकझोरा है और दो खरी-खरी बातें कहकर कर्तव्य का संदेश दिया है। आज के श्रमिक वग की समस्याओ का वास्तविक कारण और उनका सही समाधान परक दृष्टिकोण देते हुए वे कहते हैं–

अरे ओ भारत के मजदूर !
है तेरा कर्तव्य सदा रहना व्यसनों से दूर॥
तो भी पूरा पेट न भरता।
तन पर चिथड़ा फटा पुराना
घर का भी है नहीं ठिकाना।
(पर) तुझे चाहिए रोज सिनेमा
हो शराब में चूर। ॥१॥
(अणुव्रत गीत पृ १६ गाथा १)

आत्मोत्थान का प्रयत्नशील कवि अणुव्रत गीत में आकर बिल्कुल यथार्थवादी और भाव द्रष्टा बन कर युगचेतना को जाग्रत करता है तथा जन-जन को कर्तव्य बोध का पाठ देकर उसे नैतिक आदर्शों की ओर गतिशील करता है। जनपथ के साथ-साथ नृपवर्ग को भी उद्बोधित करके इतिहास में हुई उसकी भयंकर भूलों का चित्र सामने रखता हुआ कवि कहता है–

देख रहा मीरो की अपना कुछ तो करो विचार।
अरे शासको ! अब भी जागो जगा रहा इतिहास॥
दलबन्दी की दल-दल में फँस करो न खींचातान
छिद्रान्वेषण एक दूसरे का करता नुकसान।
इसी फूट न हिन्दुशाही का कर दिया विनाश॥१॥

हो आराम-तलब प्रमादी न इन्द्रिय मदचूर
क्या अपना कर्तव्य ? इसे तुम कभी न जाना भूल।
मुगल राज्य के दुःखद अन्त का कारण बना विलास ॥२॥
बात-बात में झगड़ना चलना सदा दुरंगी चाल
जनता को गुमराह करो मत घूस-घूस कर माल।
इन सबसे अंग्रेजी शासन ने खोया विश्वास ॥३॥
अहंभाव में चूर, स्वयं को ईश्वर का अवतार
मान मनोगत दुराचार से कभी न करना प्यार।
बड़े-बड़े राज्यों की सत्ता का इससे सत्यानाश ॥४॥
(अणुव्रत गीत पृ २१ गाथा १-४)

कवि के जीवन में अध्यात्म का तेज निखरा हुआ है और उसकी वाणी में तपस्या का ओज उभर रहा है। उसी साधना और तपश्चर्या के पावन जल से जन-जीवन को आप्लावित करने के लिए कवि कोमल संगीत में ये भाव भरे स्वर सुनाता है।

नई शैली और नई चिंतन-धारा में अभी-अभी आचार्य श्री ने तीन खण्ड काव्य लिखे हैं। एक है 'भरत मुक्ति' दूसरा 'आषाढ़ भूति' और तीसरा है 'अग्नि परीक्षा'। पहले में भगवान् आदिनाथ के पुत्र रत्न भरत चक्रवर्ती की गौरवमय जीवन कथा है। धर्म-युग के प्रारम्भ की रीति-नीति व साधना का सुन्दर भावपूर्ण वर्णन इसमें हुआ है।

आषाढ़ भूति एक धर्माचार्य थे पर धीरे-धीरे [illegible] प्रति कामनाओं के बहाव में वे इस तरह बहे कि घोर नास्तिकता की दलदल में जा गिरे। जीवन के नैतिक आदर्शों से आँखें मूंद कर वे बड़े से बड़े क्रूर एवं जघन्य कृत्य कर बैठे। अन्त में अपने देव-शिष्य से प्रतिबुद्ध होकर पुनः स्वस्थ व आत्मस्थ होकर अध्यात्म साधना में जुट गए। इस काव्य में ऐसे कई स्थल हैं, जिन्हें पढ़कर व्यक्ति कवि की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर कवि के तात्पर्य को सही-सही पकड़ लेता है। साधु के वेष की ओट में भोली जनता को ठगनेवाले श्रद्धा के नाम पर सिद्धि करनेवाले नामधारी साधुओं के कुकृत्यों का उद्घाटन करते हुए कवि कहता है—

पग-पग पर संकट आते हैं जब से पहना यह बाना।
अब इससे ही मुझे चाहिये काम उठाना मनमाना ॥१३॥
यही वेष ऐसा है जिस पर श्रद्धानत सारा संसार।
इसी वेष के द्वारा सारी हो सकती आशा साकार ॥१४॥
लाखों के हृदय-स्थल में मेरे प्रति पूरी निष्ठा है।
उन्हीं साथ करके परस्पर रखते पूर्ण प्रतिष्ठा है ॥१५॥
अज्ञानी हरिणों का जीवन हरने का यह साधन संगीत।
फुसलाने जग की जड़ता को है यह मुनि का वेष पुनीत ॥१६॥
इसी वेष में अब सारे एकत्रित करने साधन हैं।
त्याग-काण्ड दिखलाकर मुनि का पाना मन वांछित धन है ॥१७॥
भूल लोक सबकी आँखों में धाम बना लूं मैं अपना।
स्वर्ग-मोक्ष केवल सपना फिर क्यों इसके पीछे खपना? ॥१८॥
जन अगण्य पाप करते अनर्थ ऐसे संयम से पतित सत।
वे लोभ जमा लें एक बार होता है उनका युग अन्त ॥१९॥
इससे साधु-सन्तों के प्रति जन-आस्था आज फिसलती है।
इन आदर्शों की छाया में पापी की दुनिया पलती है ॥४१॥
(आषाढ़ भूति विश्राम २)

मनुष्य का अपराध अभिव्यक्त होने पर उसकी स्थिति का यथार्थ चित्रण कितना प्रस्फुटित हुआ है—

घुटनों में डाल रखी गरदन थर-थर काँप रहा है तन
गुरुजी के दोनों बन्द नयन करते हैं मन ही मन चिन्तन।
देखे कुछ ऊँची दृष्टि उठा यह साहस तक कैसे होगा?
अपने अकृत्य पर रह-रह कर उनका अन्तस्तल है रोता ॥१॥
फट जाए यदि धरा समा मैं जाऊँ
नभ टूट पड़े तो मैं उसमें छिप जाऊँ।
रस्सी भी पास न यदि झट फाँसी खाऊँ
(बतलाओ हे भगवान कहाँ अब जाऊँ?)
क्या करूँ स्वयं की कैसे लाज बचाऊँ ॥२॥
(आषाढ़भूति विश्राम ४)

एक कमजोरी के घुसने पर चारों ओर से उस पर आक्रमण होने लगता है। वे सब मिल कर जीवन को क्षत-विक्षत कर देते हैं। बुढ़ापा स्वयं अभिशाप है। कवि कहता है—

व्यथा कोई एक है क्या? व्यथा न जीवन सना
हो रहा शत-खण्ड मानस जर्जरित यह तन बना।
सब भाँति बुढ़ापा सताने लगा ॥९५॥
(आषाढ़भूति विश्राम १)

'अग्नि परीक्षा' कवि की भव्य कृति है। उसमें राम की लंका विजय के बाद सीता की अग्नि परीक्षा का वर्णन है। प्राचीन विश्वासों में नारी और दास ये दोनों सदा पद-दलित रहे हैं। उनमें भी दास की विवशता के बन्धन में होनेवाली मनोदशा का विश्लेषण कवि ने कितने हृदयस्पर्शी शब्दों में किया है—यह यहाँ दिखाया गया है

नहीं कृत्याकृत्य कुछ भी सोच सकता भृत्य है
जो कहे स्वामी वही बस कृत्य उसका नित्य है।
दृष्टि के विपरीत उसका बोलना भी पाप है
दासता मनुजत्व का सबसे बड़ा अभिशाप है ॥७८॥
दीन से भी दीन होना श्रेष्ठ अपर-अधीन से।
हीन से भी हीन होना श्रेष्ठ अपर-अधीन से।
सभी सूखी रोटियाँ परतन्त्र के पकवान से।
भला है बलिदान इस परतन्त्र के वरदान से ॥७९॥
(अग्नि परीक्षा खण्ड १।७८ ७९)

नारी के प्रति किये गये व्यवहारों का स्पष्ट उद्घाटन करते हुए आपने लिखा है—

अपमानों से भरा हुआ है नारी जीवन
अरमानों से भरा हुआ है नारी जीवन।
अभिशापों से भरा हुआ है नारी जीवन
बलिदानों से घिरा हुआ है नारी जीवन ॥९॥
पुरुषों में नारी का कोई स्थान नहीं है
पुरुषों में नारी का कोई मान नहीं है।
पुरुषों का नारी पर कुछ भी ध्यान नहीं है
इसीलिए कर पाती वह उत्थान नहीं है ॥११॥

जिसने दुख में भी पुरुषों का साथ निभाया
रही सदा अर्द्धांगिनी तन के पीछे छाया।
पर पुरुषों ने यह उसका आभार चुकाया
सुख में झूठी पत्तल ज्यों उसको ठुकराया ॥१२॥
अबला उसे बनाकर रक्खा अधिकारों में
जकड़ दिया हा कृत्रिम लज्जा के तारों में।
पनपने नहीं दिया निसर्गज संस्कारों में
फलने नहीं दिया सदिच्छा-व्यवहारों में ॥१३॥
(अग्नि परीक्षा खण्ड ४।६, ११ १२, १३)

पुरुष का हृदय पत्थर हो सकता है पर स्त्री अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होती —

पुरुष हृदय पाषाण भले ही हो सकता है।
नारी हृदय न कोमलता को खो सकता है॥
पिघल-पिघल उनके अन्तर को धो सकता है।
रो सकता है किन्तु नहीं वह सो सकता है ॥१६॥
(अग्नि परीक्षा खण्ड ४।१६)

आचार्य श्री की कई छोटी-छोटी संस्कृत हिन्दी राजस्थानी रचनाएँ, स्तुति उपदेश कर्तव्य आदि विषयों पर प्राञ्जल भाषा और भावपूर्ण शैली में समय-समय पर पाठकों के समक्ष आती रही है।

पद्य साहित्य की तरह उनका गद्य साहित्य भी बहुत सुन्दर और चिंतन पूर्ण है। यद्यपि कहानी उपन्यास नाटक गद्य गीत आदि के विषय म उनकी कोई स्वतंत्र कृति अभी तक प्रकाश में नहीं आई है, फिर भी उनका प्रवचन-साहित्य इतनी विशाल मात्रा म हमारे समक्ष है कि उसकी एक स्वतंत्र समीक्षा हो सकती है।

उनके चिंतन की शत-शत धाराएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूती हुई बहती हैं। उनकी ओजस्विनी वाणी हजारों लाखों के लिये जंगम तीर्थ बन रही है। जन मानस को स्पंदित करता हुआ जब भी उनके स्वरों का स्वर निकलता है तो अनुभवों की परतों के नीचे छिपी हुई संस्कारों की ऊष्मा जाग्रत हो उठती है।

'नैतिकता की ओर' 'शान्ति के पथ पर' (दो भाग) 'धर्म सन्देश' 'प्रवचन डायरी' (कई भाग) आदि विविध रूपों में उनकी 'प्रवचन साहित्य-माला' के मनोरम पुष्प प्रस्फुटित हो रहे हैं। भावी वाणी की तरह तुलसी वाणी का एक सरस और सार पूर्ण संकलन अभी-अभी मन तैयार किया है। उसमें आचार्य श्री के करीब ५ १ वचन हैं, जो देश काल की सीमाओं से परे जीवन के हर पग पर गति देते हैं मोड़ देते हैं और देते हैं चिंतन का तत्त्व भी। सांस्कृतिक दार्शनिक सामाजिक राजनयिक आदि प्रत्येक विषय पर उनका चिंतन चमका है। उसके कुछ स्थल देखिए—

"ज्ञान का गुण जानना है पर जो ज्ञान व्यक्ति को दुराग्रही और अहंवादी बनाता है वह किस काम का? ज्ञान के साथ नम्रता रहे सत् की ओर उसकी गति हो—यही उसकी (ज्ञान की) सार्थकता है।

"देश का किसान जो चिलचिलाती धूप और कड़कड़ाती सर्दी में कड़ी मेहनत करता है वह भूखा क्यों? पैदा करने वाला दरिद्र क्यों? वह इधर कमाता है और उधर गँवाता है। शराब की बोतल में उसकी पसीने की कमाई बह जाती है। मृत्यु भोज दहेज और ठहराव जैसी घातक प्रथाएँ उसको अन्दर ही अन्दर घुन की तरह खा रही हैं।

'आलोचना और निन्दा में बहुत कम अन्तर है। आलोचना सत्य स्पष्ट और सभ्य होती है। निन्दा में य तीनों ही नहीं हो सकते।

"संसार के समूचे धन को जल में बहा देने से भी कुछ नहीं होगा जब तक ममत्व न मिटे 'मेरापन' न जाए।

"हिंसा भय कायरता और अशान्ति—इनका कार्यकारण-भाव है। हिंसा से भय भय से कायरता कायरता से अशान्ति—यह दुःख की परम्परा है।

तेरापथ की अग्रणी साध्वियाँ

(साध्वी श्री राजमती जी)

विक्रम की १९ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध चल रहा था। विचार क्रान्ति के बीज लिये आचार्य भिक्षु स्थिति पालन की चार दीवारी को तोड़कर बाहर आए। आचार्य भिक्षु का अन्तर्द्वन्द्व सिमट चुका था। अपनी साधना के प्रत्येक चरण में उन्हें आलोक दीख रहा था। फिर भी उन्हें बाह्य विरोध का सामना करना पड़ा। पृष्ठभूमि दृढ़ होती गई। आत्मालोचन और सत्य चिन्तन के आलोक में प्राचीन तथ्यों को नये रूप में रखा गया। तरह-तरह के प्रश्न पूछे जाते। आचार्य भिक्षु अपनी प्रत्युत्पन्न मति से जवाब देते। एक व्यक्ति ने कहा "भीखण जी ! तुम्हारा तीर्थ अधूरा है।

भीखणजी ने पूछा—कैसे ?

उसने कहा—तुम्हारे तीर्थ में साधु-श्रावक और श्राविकायें ही हैं। साध्वियाँ नहीं हैं।

तब तक तेरापथ में बहिन दीक्षित नहीं हुई थी। तीर्थ वास्तव में अधूरा था। वि सं १८२१ में तीन बहिनें एक साथ प्रव्रज्या लेने के लिए आचार्य भिक्षु के सम्मुख उपस्थित हुईं। बहिनों की विरक्ति में तनिक भी सन्देह नहीं होते हुए भी उनके सामने एक समस्या थी। इसलिये उन्होंने पूछा—यदि संयोगवश तुममें से किसी एक की मृत्यु हो जाय तो शेष दो को आजीवन सलेखना करना पड़ेगा क्योंकि आगमानुसार संघ में तीन साध्वियों से कम को रहना कल्पता नहीं है। क्या यह मंजूर है ? यह प्रश्न आत्म-शक्ति को कसौटी पर कसने वाला था। तत्क्षण तीनों ने एक स्वर में कहा "महाराज हमें आपकी शर्त मंजूर है। आचार्य भिक्षु ने तीनों बहिनों को प्रव्रजित कर दिया। साध्वी समाज संख्या वृद्धि के साथ-साथ गुणात्मक विकास भी करता गया।

आज तेरापथ के दो गौरवशाली शतक पूरे हो रहे हैं। इस अवधि में लगभग ११ बहिनों ने दीक्षा ली और आत्म-साधना के साथ-साथ उन्होंने जन-हित में भी पूर्ण योग दिया। तेरापथ का इतिहास उनके कर्तृत्व की घटनाओं से भरा पड़ा है। उनके विकास का एकमात्र सूत्र था विवेक पूर्ण श्रद्धा की अभिव्यक्ति तथा गुरु चरणों में सर्वार्पण की भावना।

आचार्य भिक्षु ने साध्वी समाज की व्यवस्था में भी आशातीत सफलता प्राप्त की। परवर्ती आचार्यों ने समय-समय पर उसको सर्वाधित किया और आज भी उसके सर्वांगीण विकास के लिए आचार्य श्री तुलसी प्रयत्नशील हैं।

साध्वी जीवन स्वयं एक आदर्श है, परन्तु उसमें भी कर्म-विलय के आधार पर तारतम्य होता है। मैं इस लेख में केवल उन साध्वियों का जीवन प्रस्तुत कर रही हूँ जिन्होंने साध्वी समाज का नेतृत्व करके अपनी बुद्धि और विवेक के बल पर नारी-जाति के जागरण में योग दिया है।

तेरापथ धर्म-शासन एक आचार्य एक सामाचारी एक विचार और एक संगठन के लिये प्रसिद्ध है। शासन का समस्त कार्यभार आचार्य के कंधों पर रहता है। वे संघ के सर्वांगीण संवाहक होते हैं। साधुओं का उनसे अत्यन्त निकट सम्पर्क रहता है, परन्तु साध्वियों से इतना निकट सम्पर्क नहीं रहता। अतः आचार्य अपने इच्छानुकूल साध्वी समाज में से एक योग्य साध्वी का चुनाव करते हैं और उसको साध्वी समाज की 'प्रमुखा' के रूप में स्थापित करते हैं। 'प्रमुखा' साध्वी में कोई विशेष अधिकार सन्निहित नहीं रहता। वह तो केवल अन्यान्य साध्वियों की प्रार्थनाओं को आचार्य तक और आचार्य के आदेश को साध्वियों तक पहुँचाया करती है। 'प्रमुखा' होने के नाते कुछ व्यावहारिक अधिकार होते हैं, जिनका वह स्वतन्त्रता से उपयोग कर सकती है।

अब तक तेरापंथ शासन में १० साध्वी प्रमुखायें हुई हैं –

१–महासती बरजूजी ६–महासती नवलांजी
२–महासती हीराजी ७–महासती जेठांजी
३–महासती दीपांजी ८–महासती कानकुमारी जी
४–महासती सरदारांजी ९–महासती झमकूजी
५–महासती गुलाबांजी १०–महासती लाडांजी

इनमें प्रथम तीन साध्वियाँ प्रमुख पद प्राप्ता नहीं थीं अपितु उन्होंने साध्वी प्रमुखा की तरह ही सारा कार्य किया था। अन्य ७ साध्वियों को आचार्यों ने 'साध्वी प्रमुखा' पद पर स्थापित कर समस्त साध्वी समाज की देखरेख करने का काम सौंपा था। अब मैं इनमें से उन साध्वियों का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करती हूँ जिनका विवरण उपलब्ध है।

१–महासती दीपां जी (साधनाकाल वि. सं. १८७२–१९१८)

साध्वी श्री दीपांजी का जीवन महत्ताओं से परिपूर्ण था। वह इसलिये नहीं कि वे 'प्रमुखा' थीं अपितु इसलिये कि उनमें सहज श्रद्धा का उद्रेक था। चरित्र के प्रति निष्ठा थी, संयम के प्रति अनुराग था और सहधर्मियों के प्रति सहज स्नेह और वात्सल्य था।

आप अत्यन्त निडर थीं इसलिये अहिंसक थीं और अहिंसक थीं इसलिये निडर थीं। एक बार आप विहार कर जा रही थीं। साथ में १–१५ साध्वियाँ थीं। रास्ते में एक डाकू मिला। वह जैन-साध्वियों से अपरिचित था। उसने तलवार निकालते हुए कहा–यदि तुम जीवित रहना चाहती हो तो सारा सामान मुझे दे दो। साध्वियों के पैर रुक गए। सभी ने सारा सामान नीचे रख दिया। डाकू तलवार रख सामान बाँधने लगा। साध्वी श्री दीपांजी ने उपाय ढूंढ निकाला। उन्होंने नंगी तलवार अपने हाथ में ले ली। डाकू सकपका गया। अपनी भूल पर उसे पश्चात्ताप हुआ। उसने जीवन की भीख माँगी। साध्वी श्री दीपांजी ने उसे इस प्रकार के कुकृत्य न करने का उपदेश दिया। डाकू का हृदय बदला। उसने अपने कुकृत्यों के लिये क्षमा-याचना की और तलवार लेकर वह चला गया।

एक बार एक और डाकू से साक्षात्कार हुआ। उसने साध्वियों को लूटना चाहा। आपने ओजपूर्ण शब्दों में कहा हम जैन साध्वियाँ हैं। हम पुरुष का स्पर्श नहीं करतीं। छूना मत। हम अपना सामान स्वयं रख देती हैं। लुटेरा मान गया। सभी साध्वियों ने अपना-अपना सामान नीचे रख दिया। एक वृत्त बनाकर सभी साध्वियाँ बैठ गयीं। साध्वी श्री दीपांजी उनके बीच में जा बैठीं और उच्च स्वर से 'नमस्कार महामंत्र' का जाप करने लगीं। लुटेरा ने आपके भावपूर्ण जाप से यह समझा 'यह तो किसी देवी की आराधना कर रही है मनचाही है। न मालूम मेरी क्या दशा होगी।' वह डर कर सामान छोड़कर भाग गया।

उनका वचन कौशल अपूर्व था। उनके प्रत्येक शब्द में निर्भयता और स्पष्टता रहती। चिकनी-चुपड़ी बातें बना कर दूसरों को प्रसन्न रखने की भावना से आप नहीं बोलतीं। जो कुछ कहना होता वह स्पष्ट कह देतीं। एक बार तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य जब वे बाल्यकाल में सामान्य साधु की भूमिका में थे तब ग्रन्थ रचकर लाये। साधु-साध्वियों ने उस कला की बहुत प्रशंसा की। साध्वी श्री दीपांजी ने भी वह ग्रन्थ देखा। बड़ा होने के प्रति लगाव होते हुए भी आपने कहा "मुनिवर! हमें तो प्रसन्नता तब होगी जब आप सूत्रों की टीकाएँ बनाते। ग्रन्थ तो हम साध्वियाँ भी रच लेती हैं।" इन वचनों ने साहित्य का सृजन करते। यह आपने कौन सा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है? उनके लिए वरदान बन गया। कुछ ही महीनों बाद महा मेधावी पूर्व तीन वचनों ने जयाचार्य को मोड़ा। साध्वी श्री दीपांजी ने श्रीमज्जयाचार्य के हृदय में ज्ञान के प्रति लगन पैदा की। श्रीमज्जयाचार्य ने 'पन्नवणा सूत्र' की जोड़ प्रस्तुत की। उसी का आज यह सुफल है कि तेरापंथ शासन आचार के साथ-साथ ज्ञान के क्षेत्र में भी परिपूर्ण और आत्म-निर्भर है।

एक बार मरुस्थल में एक बार अन्य सम्प्रदाय के साधु के साथ चर्चा का प्रसंग आ गया। वहाँ के ठाकुर ने मध्यस्थता का दायित्व लिया। मध्याह्न का समय था। चिलचिलाती धूप में साथी वहीं 'दरे' में आ गईं। साथ ही आए और मध्याह्न का समय था। साध्वी श्री दीपांजी अपनी साध्वियों के साथ व ...र में आईं। आसन आप बिछाकर भूमि पर बैठ गए। साध्वी श्री दीपांजी अपनी साध्वियों के साथ उनके ऊपर बैठ गईं। ठाकुर हार और विजय को रंग के वातावरण को देखा और मन में ही पड़े एक पट्ट को बिछाकर उनके ऊपर बैठ गईं।

कल्पनाओं को सजोये बैठे थे। साध्वी श्री की कार्य-कुशलता और प्रत्युत्पन्न मति पर ठाकुर प्रसन्न हो रहे थे। चर्चा प्रारम्भ हुई। साध्वी श्री परम प्रसन्नता से मधुर वचनों में उत्तर दे रही थी। मुनि श्री उत्तेजित हो गए। आवेश बढ़ता गया। साध्वी श्री मधुर वचनों से उन्हें उनके कथन का भान करा रही थी। लोग व्यग्र हो रहे थे। ठाकुर साहब ने स्थिति का विश्लेषण करते हुए लोगों को धैर्य रखने के लिये कहा। आखिर निरुत्तरता की अवस्था आने पर मुनि श्री ने मौन ग्रहण कर लिया। सभी स्थिति को समझ गए। चर्चा समाप्त हुई। ठाकुर साहब ने साध्वी श्री का बहुत सम्मान किया और उनके प्रत्युत्पन्नमतित्व पर उन्हें बधाई दी तथा उन्हें दूर तक पहुँचाने के लिये उनके साथ गए।

वही सफल वक्ता है जिसका वाक्य प्रयोग हृदय के मर्मस्थल को छू सके। साध्वी श्री दीपांजी में वचन-कौशल अभिव्यक्त था। उनके एक वचन ने एक उन्मेष में तपस्या का द्वार खोल डाला। आमेट की घटना है। १३ साध्वियों के साथ साध्वी श्री दीपांजी वहाँ चातुर्मास कर रही थी। आपके संकेत पर कई साध्वियाँ तप के लिए प्रस्तुत हुई और उपवास बेला तेला आदि में 'मासखमण' (एक मास की तपस्या) तक की तपस्या करने की अपनी भावना व्यक्त की। साध्वी श्री ने कहा "नहीं मै कुछ और चाहती हूँ। साध्वी श्री की उत्कट भावना को समझ तीन साध्वियां छ मास तक की तपस्या के लिए तैयार हुई। इससे प्रेरित होकर दो अन्य साध्वियों ने भी छ माही तपस्या के लिए निवेदन किया। साध्वी श्री ने उन पाचो साध्वियो को तपस्या 'पचखा' दी और आप उन तपस्विनी सतियों की सेवा में रत हो गई। तेरापथ शासन में इससे पूर्व छ मास की तपस्या नही हुई थी। साध्वी प्रमुखा श्री दीपांजी की गति मति और स्थिति गुरु-दृष्टि के अनुसार होती थी। पठन-पाठन में आपकी विशेष रुचि थी। खोजावर आपकी जन्मभूमि थी। ११ वर्ष की छोटी अवस्था में वि स १८७२ में भारमलजी स्वामी के पास आपने दीक्षा ग्रहण की। पचास वर्ष तक साधना कर आप वि स १९१८ की भाद्रपद कृष्णा ११ को आमेट में २ प्रहर के अनशन में स्वर्ग सिधारी।

२—महासती सरदारांजी (साधना काल वि सं १८ ७–१९२७)

संकल्प में बल होता है और भावना में जीवन। उसी का संकल्प फलवान होता है जिसके संकल्प में आत्मनाद हो आत्म विश्वास का बोध हो। सरदारसती का जीवन संकल्प और भावना की रेखाओं का स्पष्ट चित्र है। आपका जन्म वि सं १८६५ में चूरू में हुआ। दस वर्ष की बाल्यावस्था में ही आपका विवाह कर दिया गया। विवाह के चार मास बाद ही उल्कापात हुआ। सरदारसती के पति चल बसे। सुकुमार हृदय पर वज्राघात सा हुआ। विवाह के प्रसंग पर पहने गये मांगलिक चीवर तथा आभूषण उतार दिये गये। यह सब नाटक की भांति घटित हो गया। दोनो परिवारो के नयनों में तमिस्रा सी छा गई।

आपका प्रथम साधु सम्पर्क जयाचार्य जी के शिष्य शिवरामजी से हुआ। आपने उन्हें धर्म गुरु स्वीकार किया। संयोग वश तेरापथ के तृतीय आचार्य श्री रायचन्द जी महाराज उसी समय चूरू पधारे। आप उनके सम्पर्क में भी आई। प्रतिदिन व्याख्यान सुनती और तत्त्व-चर्चा पोषध भी करती। उसी वर्ष मुनि जीतमलजी ने अपना चातुर्मास चूरू में किया। सरदारसती ने उस चातुर्मास में अपनी जिज्ञासाओं का समुचित समाधान पा एवं तत्त्वो की वास्तविकता को समझ तेरापथ की श्रद्धा स्वीकार की।

आपने ११ १४ वर्ष की आयु में यावज्जीवन चौविहार (रात्रि में पानी भी न पीना और प्रत्येक चतुर्दशी को उपवास करना) का व्रत ले लिया था। सचित्त पानी न पीना खुले मुंह न बोलना सचित्त वस्तु न खाना आदि-आदि प्रतिज्ञाएँ आपके उत्कट वैराग्य की सूचक हैं। दीक्षा का संकल्प दृढ होता जा रहा था। आपने साधना-पथ को परखना चाहा। तपस्याएँ प्रारम्भ की। ८ बेले (दो दिन का उपवास) किये पारणे के दिन आचाम्ल की तपस्या की। कई महीनों तक 'एकान्तर-तप (एक दिन के अन्तर से भोजन लेना) किया। एक वर्ष तक बेले-बेले का चौविहार तप तपा। प्रतिमास एक चौला तथा एक पंचोला चौविहार करने का संकल्प किया। एक बार १ दिन का चौविहार उपवास किया। जीवन का अधिक समय तपस्या में बीतने लगा। विचारो की प्रौढता से आचार के प्रति निष्ठा बढ़ी। दीक्षा ग्रहण की भावना उत्कट हुई। उन्होने यह बात अपने परिवारवालो से कही।

तेरापंथ की दीक्षा परिवारवालो की स्वीकृति के बिना नही होती। ससुर का स्वर्गवास हो गया था। घर में प्रथम 'ज्येष्ठ' बहादुर सिंहजी थे। दीक्षा की आज्ञा उन पर निर्भर थी। सरदारसती ने उनसे प्रव्रज्या की बात कही। उन्होंने

उसे त्याग दिया। सरदारसती की भावना को ठेस लगी। कुछ दिन बीते। फिर उनसे दीक्षा की बात कही। नम्रता से उन्हें समझाया पर वे अपने विचारों पर अटल थे। आपने सोचा—जैसे आज्ञा देने में मेरे 'जेठ' स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार साधना करने में मैं भी स्वतन्त्र हूँ।

विधिवत् साध्वी बनना आज्ञा के बिना असम्भव था परन्तु आपने गृहस्थ वेष में ही साधु-जीवन के नियमों की साधना आरम्भ कर दी। एक दिन आपने अपने 'जेठ' से कहा "आज से मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि जब तक आप मुझे दीक्षा ग्रहण करने की स्वीकृति नहीं देंगे तब तक मैं आपके घर का अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। मैं दूसरे घरों से भिक्षा प्राप्त कर अपना निर्वाह करूँगी। समस्या उलझती गई। जेठ ने घर से बाहर जाने की रोक लगा दी ताकि वे अपना निश्चय अपने आप बदल देंगी।

सरदारसती ने ६ दिन तक अन्न-जल कुछ भी नहीं लिया। 'जेठ' का कठोर हृदय पिघला। उन्होंने कहा—दासी से भिक्षा मँगवाकर काम चलाओ। तुम्हारी प्रतिज्ञा भी भंग नहीं होगी और हमें भी दुःख नहीं होगा। कई दिनों तक यह क्रम चला परन्तु सरदारसती को यह नहीं जँचा। एक दिन आप स्वयं भिक्षा के लिये बाहर गई। बहादुरसिंहजी को मालूम होने पर उन्होंने द्वारपाल से कहा—देखो ध्यान रखना कल सरदारसती बाहर जाए तो उसे रोक देना।

दूसरे दिन सरदारसती भिक्षा के लिये बाहर जाने लगी। द्वारपाल ने रोका। सती ने बाहर जाने के अनेक प्रयत्न किये जिससे बहादुरसिंह जी का रोष बढ़ा। उन्होंने नौकरानी से कहा—इसे कमरे में बन्द कर ताला लगा दो। वैसा ही हुआ। सरदारसती एक बन्द कमरे में थी। भावनाओं का वेग बढ़ा। आपने सन्दूक से सफेद वस्त्र निकाले और साध्वी का वेश बना लिया। हाथों से केश लुंचन करने लगी। बच्चों ने छिद्रों से यह देख अपने पिता बहादुरसिंहजी को कहा—"पिताजी! कमरे में चाची नहीं है एक साध्वी बैठी है। वह लुंचन कर रही है। बहादुरसिंहजी ने कमरा खोला और अपनी पत्नी से कहा "इसका यह वेश उतार लो। लुंचन मत करने दो हाथ पकड़ लो। ज्योंही वह आगे बढ़ी सरदारसती ने कहा 'खबरदार! अगर हाथ लगाया तो परिणाम अच्छा नहीं होगा। सब सकपका गये। बहादुर सिंह ने धीमे शब्दों में कहा "बहुत अच्छा तुम साध्वी बनकर हमारे घर में बैठी रहो। अब हम घर बैठे ही दर्शन करते रहेंगे। साधना पूर्ववत् चलती रही। एक दिन जेठानी ने कहा "मैं तुम्हारी साधना देखकर विस्मित हूँ। मैंने तो आज भी तुम्हारे जेठ को इस विषय में समझाया पर वे कहते हैं कि तपस्या करते-करते मृत्यु हो जायगी तो घर बैठे आँसू बहा लूँगा पर दीक्षा की स्वीकृति नहीं दूँगा। यह सुनते ही उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आज्ञा-पत्र नहीं मिलेगा तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी।

दस दिन बीत गये। कठोर साधना से शरीर शुष्क लकड़ी-सा हो गया। गर्मी बढ़ने से मुँह से खून निकलने लगा पर जेठ का मन नहीं पिघला। जेठानी तथा अस्सी वर्षीया सासू भी सरदारसती के पक्ष में हो गई। दोनों ने संकल्प किया कि जब तक सरदारसती अन्न-जल ग्रहण नहीं करेगी तब तक हम भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगी। जेठ का कठोर हृदय मातृ-स्नेह से द्रवित हो गया और उन्होंने स्वीकृति पत्र लिख कर उन्हें पीहर भेज दिया। पिता ने आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। अन्न-जल परित्याग की प्रतिज्ञा पुनः दुहराई गई। अन्त में भाइयों के सहयोग से पिता की भी स्वीकृति मिल गई। वि० संवत् १८८७ की मृगशिर कृष्णा चतुर्दशी को उदयपुर में सरदारसती की दीक्षा श्रीमज्जयाचार्य (मुनि अवस्था में) के द्वारा हुई और उन्होंने अपने हाथों ही लुंचन किया।

जब प्रथम बार आपने तेरापंथ के तृतीय आचार्य श्री रायचन्द जी स्वामी के दर्शन किये तब आचार्य श्री ने आपको औपचारिक रूप से 'अग्रगण्या' बना दिया। तीन वर्ष बाद निशीथ आदि सूत्रों का वाचन कर लेने पर आपने अग्रगण्या के भार को विधिवत् सम्भाला। दीक्षा के १२ वर्ष बाद आपको 'साध्वी प्रमुखा' का पद मिला। जयाचार्य को आपकी योग्यता व विवेक पर विश्वास था। प्रखर बुद्धि के कारण एक दिन में आप २ पद्यों को कण्ठस्थ कर लेती। आपको सहस्रों पद कण्ठस्थ थे। उन दिनों तेरापंथ में हस्तलिखित ग्रन्थों पर साधु-साध्वियों का स्वतन्त्र स्वामित्व था। जो जितना लिखता वह उसका होता। श्रीमज्जयाचार्य ने सोचा कि पृथक्-पृथक् स्वामित्व की भावना से संघ की एकता सुरक्षित नहीं रह सकती। आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उपयोग नहीं हो सकता। मन शासन विकास में दुःख आ जाती है। आप इस विचार पर पहुँचे कि हस्तलिखित पुस्तकों का समीकरण होना चाहिये। बात मामूली थी

पर इसकी कार्यान्विति में अनेक अड़चनें थी। एक शताब्दी के प्राचीन संस्कारों को सहसा मिटा देना सहज नही था। आपने एक उपाय ढूढ निकाला। इससे सारी पुस्तकें सरदारसती को अर्पित हो गई। सरदारसती ने वे सभी पुस्तकें श्रीमज्जयाचार्य के चरणों में भेंट कर दी। श्रीमज्जयाचार्य ने उन सबका आवश्यकतानुसार सघ में वितरण कर दिया।

साध्वी-समाज की एक और समस्या थी। साध्वियो के गण सम सख्यात्मक नही थे। किसी गण में ९ साध्वियां रहती तो किसी में केवल तीन ही। सरदारसती ने इस विषमता को मिटाना चाहा। विवेक और बुद्धि द्वारा साध्वियों का हृदय-परिवर्तन कर समस्या सुलझाई गई। साध्वियों का समीकरण हुआ।

कुशल व्यवस्थापिका

हृदय का अनुशासन स्थायी होता है। सरदारसती का अनुशासन अपनी विशेषताओं को लिये हुए था। सम्पूर्ण साधु-साध्वी समाज का विश्वास आपको प्राप्त था। आचार्यों का आपके कार्यों के प्रति असंदिग्ध भाव था। एक दिन श्रीमज्जयाचार्य ने सरदारसती से कहा—साध्वियो की योग्यता के अनुसार कई 'संघाटक' (सिंघाड़े) तैयार करो। आदेश पा आपने एक रात में ५१ साध्वियों के १ सघाटक तैयार कर श्रीमज्जयाचार्य से निवेदन किया। आचार्य श्री आप की कार्य तत्परता व कुशलता पर बहुत प्रसन्न हुए। यह व्यवस्था इतनी सहज नही थी जितनी प्रतीत होती है परन्तु यह सरदारसती के व्यक्तित्व का ही परिणाम था कि सब कुछ आसानी से हो गया।

आहार के सम विभाग की परम्परा का श्रेय भी सरदारसती को ही है। साधु-साध्वियों की समस्त भिक्षा आचार्य के समक्ष एकत्र की जाती और उसम से साधु जितना चाहते उतना रख लेते शेष साध्वियों को दे देते। सरदारसती को यह बात अखरी। उन्होने श्रीमज्जयाचार्य से उचित परिवर्तन की प्रार्थना की। तदनुसार सम विभाग की व्यवस्था चालू हो गई।

साध्वी-जीवन में आपने विविध तपस्याएँ की। अनेक साध्वियो को तपस्या करने के लिये प्रोत्साहित किया। अन्त में वि स १९२७ की पौष कृष्णा ८ को यावज्जीवन अनशन (पाँच प्रहर के अनशन) में आपका स्वर्गवास हो गया।

विवेक और बुद्धि की धनी गुरु के इंगित आकार को समझने में अत्यन्त निपुण महासती सरदारसती का तेरापंथ चिर ऋणी रहेगा।

२—महासती गुलाबां जी (साधनाकाल वि स १९ –१९४२)

हृदय की कोमलता भाषा की मधुरता और आँखों की आर्द्रता—ये नारी के सहज गुण है। साध्वी श्री गुलाबांजी में नारी के ये सहज गुण तो थे ही साथ-साथ उनमें व्यक्तित्व का अपूर्व सुयोग भी था।

श्रीमज्जयाचार्य के पास आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की। महासती सरदारांजी की देख-रेख में आपने सामाचारी ज्ञान प्राप्त किया और आपका पठन-पाठन भी वही हुआ। आपकी ग्रहण शक्ति तेज थी। कुछ ही समय में आप ने शिक्षा में अच्छी प्रगति की और अपनी सहपाठिनी साध्वियो से आगे निकल गई।

लाडनू में साध्वी श्री गुलाबांजी बाल्यवय में अन्यान्य साध्वियो के साथ श्रीमज्जयाचार्य की सेवा में बैठी थी। बाल-स्वभाव के कारण वे इधर-उधर चक्कर काटने लगी। श्रीमज्जयाचार्य ने वात्सल्य भरे उपालम्भ में कहा "गुलाब! इधर उधर क्यो फिरती है? जा 'आले' में बैठ जा और स्वाध्याय कर। तत्काल गुलाबांजी वहां जा बैठी। कई घटे बीत गए। व्याख्यान हुआ। गोचरी आई। आहार का समय हुआ। श्रीमज्जयाचार्य ने पूछा—गुलाब कहाँ है? ढूढने पर पता नही चला। आचार्यवर ने कहा—मैंने उसे आले में बैठने को कहा था सम्भव है वह वही हो। आले में ही वे स्वाध्याय कर रही थी। उन्हें कहा गया—गुरुदेव याद कर रहे है? तत्क्षण वे गुरुदेव के पास आई। आचार्य श्री ने पूछा—गुलाब! तू वहां इतनी देर कैसे टिक सकी? गुलाब ने कहा—आपके आदेश से। आचार्य श्री ने कहा—वहां से उठी क्यों नही?

गुलाब—आपने बैठने का ही तो आदेश दिया था।

आचार्य श्री की मद मुस्कान में गुलाब सती का विवेक झलक रहा था।

सहज सौन्दर्य

जिसका जीवन विवेक रूपी सौन्दर्य से विभूषित है वही वास्तव में सुन्दर है। शारीरिक सौन्दर्य केवल बाह्य है। आत्मिक सौन्दर्य अनभिव्यक्त रह कर भी अध्यात्मपूर्ण जीवन के कार्य कलापों में अभिव्यक्त होता रहता है। साध्वी

कारण था कि आपका जीवन उत्तरोत्तर आदर्श बनता गया और उसने आपकी तपस्या को अपने में मूर्त कर शरीर के प्रति अममत्व की भावना का पाठ पढ़ाया। मझोला कद सुडौल शरीर गौरवर्ण प्रसन्न वदन और सहज कान्ति—यह था आपका बाह्य व्यक्तित्व और मिलनसारता बड़ो के प्रति विनय छोटों के प्रति स्नेह स्वयं के प्रति विश्वास साधना के प्रति निष्ठा और सर्वार्पण की भावना—यह था आपका आन्तरिक व्यक्तित्व।

आपके दो दशक गृहस्थावास में बीते। इस अल्प अवधि में भी संसार की अनेक सुख-दुखात्मक अनुभूतियां आपको हुई। आपका कुटुम्ब बहुत ही समृद्धिशाली था। आपका विवाह हुआ परन्तु उन्नीसवें वर्ष में प्रवेश पाते ही आपको पति का वियोग हो गया और आपका सर्वस्व लुट गया। सब कुछ खोकर भी आप ने वह पाया जो अमर आनन्द देनेवाला था। आपमें विरक्ति के भाव जगे और बढ़े। दुःख वैराग्य की सुखमय अनुभूति में बदल गया।

वि स १९१९ में श्रीमज्जयाचार्य के कर-कमलों द्वारा आपका दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ। श्री सरदारसती की देख-रेख में आपका शिक्षण चला। आपकी रुचि एकनिष्ठ थी। आपने महासती सरदारांजी के वैयावृत्य और शासन के कतिपय कार्यों का दायित्व स्वयं ले लिया।

वैयावृत्य—सेवा की भावना व्यक्ति की यथार्थता का प्रतिबिम्ब है। इसका उपादान है विनय। विनय विवेक से फलवान बनती है। मनीषियों ने गाया है—सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्य। सेवा धर्म अत्यन्त दुष्कर है। यह आज भी रहस्य ही है। साध्वी श्री जेठांजी ने सेवा-व्रत को अपने जीवन का अंग बना लिया। ग्लान साधु-साध्वियों के लिये औषधि का सुयोग मिलाने का कार्य आपने पूर्ण तत्परता से निभाया।

नवदीक्षित साधु-साध्वी का जीवन बच्चों का-सा जीवन होता है। उन्हे चलना बैठना खाना पीना बोलना आदि शारीरिक क्रियाओं का समुचित शिक्षण देना होता है। नव दीक्षिता साध्वियों को आपकी देख-रेख में रखा जाता। आप उन्हें सामाचारी का समुचित ज्ञान कराती गुरु भक्ति का महत्त्व समझाती साधना की विधि बतलाती और उन्हें जीवन की महत्ता और पवित्रता का ज्ञान कराती। आप उन्हें कष्ट-सहिष्णुता का मर्म समझाती।

गुरु के इंगित और आकार को समझनेवाला शिष्य ही गुरु की आराधना कर सकता है। साध्वी श्री जेठांजी गुरु के इंगित और आकार को समझने में दक्ष थी। आचार्य की दृष्टि के अनुसार आपकी गति मति और स्थिति होती। आपको आचार्यों का बहुमान प्राप्त था। तत्कालीन साधु-समाज पर भी आपके व्यक्तित्व की छाप थी। आप जब साधुओं के स्थान पर पधारती तब साधु अधिक सावधान हो जाते। वे जेठांजी से सकुचाते। तेरापंथ के सप्तमाचार्य श्रीमद् डालगणी ने आपको साध्वी प्रमुखा पद पर स्थापित किया। इस पद-प्राप्ति से पूर्व आप को न विषाद था और न पद प्राप्ति के बाद आप को कोई उल्लास ही हुआ। सारा कार्य पूर्ववत् ही चलता रहा। आपकी सेवाओं के विषय में श्रीमद् डालगणी कहते, "जेठांजी की सेवाएँ अनुकरणीय हैं। इन्होंने आचार्यों तथा साधु-साध्वियों की बहुत सेवाएँ की हैं। इनसे सेवा करना सीखो।"

तपस्या से जीवन निखरता है, परन्तु यह पथ कण्टकाकीर्ण है। परन्तु जो वीर होता है वह कांटों के पथ पर चलकर अपनी बलि देकर भी लोगों के लिये पथ प्रशस्त कर देता है। साध्वी श्री जेठांजी ने १७ और २ की तपस्या को छोड़कर उपवास से बाईस दिनों तक चौविहार तपस्या की। तेरापंथ शासन में चौविहार तपस्या का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

आपका सहज सौजन्य कर्तव्य-निष्ठा और गुरुभक्ति सब को सहज ही आकृष्ट कर लेती थी। कालूगणी कहते "जेठांजी की देख-रेख में जितनी भी साध्वियों को रखा जाय उनकी व्यवस्था के विषय में मुझे चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। इन वचनों में उत्तरदायित्व के प्रति उनकी निष्ठा एवं अपने आश्रितों के प्रति वात्सल्य की पूर्ण झलक है।

५—महासती कानकुंवरजी (साधना काल वि सं १९४४–१९९३)

जन्म—वि स १९३१ श्री डूंगरगढ़
दीक्षा—वि स १९४४ बीदासर
प्रमुखा पद प्राप्ति—वि स १९८१ चूरू
स्वर्गवास वि सं०—१९९३ राजलदेसर।

अहिंसा और अभय एकार्थक हैं। जहाँ अहिंसा है वहाँ अभय है और जहाँ अभय है वहीं अहिंसा के भाव फलते-फूलते हैं। महासती कानकुंवरजी का जीवन अहिंसा और अभय का संगम था। उनमें यदि नारी की सुकुमारता थी तो साथ-साथ पौरुष का कठोर अनुबन्ध भी था।

एक बार ग्रामानुग्राम विहार करती हुई आप मन्दसौर गयी। शहर में रहने के लिए स्थान नहीं मिला। अतः आप गाँव के बहिरिका में रहीं। कुछ दिन बीते। एक दिन मध्य रात्रि में दो चोर वहाँ आये। 'कासीद' बाहर सोए हुए थे। उन्हें रस्सी से बाँध दिया। दरवाजे बन्द थे। कपाटों की खड़खड़ाहट से अन्दर सोई हुई साध्वियों ने चोरों का अनुमान लगा लिया। साध्वी श्री कानकुंवर जी ने अन्य साध्वियों को 'नमस्कार' मंत्र का जाप करने के लिए कहा और स्वयं उठकर किवाड़ खोल दिया। साध्वी श्री ने पूछा-कौन हो भाई! चोरों ने कहा—हम चोर हैं। सारी सम्पत्ति हमें दे दो अन्यथा अनर्थ हो जायगा। साध्वी श्री ने अपने पास के कुछ पन्ने उनके सामने रखते हुए कहा—यह है हमारी सम्पत्ति। चोरों ने पूछा—इसमें क्या है? साध्वी श्री ने अवसर का समुचित लाभ उठाते हुए कहा—इसमें अमूल्य रत्न हैं। तुम ले लो। उन्होंने एक स्वर में कहा—सारे रत्न निकाल कर यहाँ रख दो। जल्दी करो। साध्वी श्री ने एक पन्ना हाथ में लिया और मन्द स्वर से एक गीतिका उन्हें सुनाई। संगीत की थिरकती हुई स्वर लहरी चोरों के कानों में गूंजने लगी। वे चित्रवत् बैठे रहे। एक गीतिका पूरी हुई फिर दूसरी आई। इस प्रकार कई गीतिकायें जिनमें मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेचन था उन्हें सुनाई। चोर साध्वी श्री के संगीत से मुग्ध हो गए। चोर हो या साहूकार हृदय की आर्द्रता सब में होती है। चोरों का मन पिघल गया। उन्हें अपनी भूल का भान हो आया? वे साध्वी श्री को प्रणाम कर धृष्टता व अपने मनौचित्य के लिए क्षमा-याचना कर चले गये।

कला जीवन का उदात्त पक्ष है। कला कला के लिए न हो जीवन के लिये हो—यह जिसने कहा वही सही अर्थ में कलाविद् है। जो व्यक्ति जीने की कला में निपुण है वह सभी कलाओं में निपुण है।

साध्वी श्री का जीवन स्वयं एक कला की स्फुट अभिव्यक्ति था। जीवन की कला के साथ ही अन्यान्य कलात्मक वस्तुओं के निर्माण का शिक्षण देना भी आप अपना कर्तव्य समझती थी। अपने पास रहनेवाली साध्वियों को आप सभी प्रकार की कलाएँ सिखाती। अपने एक बार के चातुर्मास काल में आपने ११ रजोहरण बनाये। वे अपनी कला में बेजोड़ थी।

आप कुशल अनुशासिका भी थी। जो व्यक्ति के हृदय को जीतता है वही सफल अनुशासक है। योगवाशिष्ठ में अनुशासक की नीति के लिये कहा है—बहिःकृत्रिमसंरम्भोऽन्तःसंरम्भवर्जितः। साध्वी श्री कानकुंवरजी का जीवन ऐसा ही था। जब कोई साध्वी दोष करती तो उसपर वे अनुशासन करती और कठोर उपालम्भ देती। परन्तु उपालम्भ में हृदय होता था अपनत्व होता था। यह अपनत्व पूर्ण उपालम्भ व्यक्ति को खींच लेता उसे अपना बना लेता। आप में 'भीत परिषद' का अपूर्व गुण था। सारी साध्वी परिषद् आपके व्यक्तित्व का आदर करती और भय मानती थी।

आप साध्वी प्रमुखा के पद पर थी। आप पर कार्यों का प्रतिकार करने का गुरुतर दायित्व था। प्रतिकार में कठोरता भी बरती जाती है। परन्तु आपका हृदय इतना कोमल था कि किसी को अपराध के लिए दण्ड अथवा उपालम्भ देने पर जब तक आप उससे क्षमा-याचना नहीं कर लेती तब तक आपको चैन नहीं पड़ती। आप आहार करने बैठती और यदि याद आ जाती कि आज मैंने अमुक को कुछ कहा है और अभी तक 'खमत-खामणा' नहीं किया है तो आपका कौर हाथ में ही रह जाता। भोजन पड़ा ही रहता। आप पहले उस साध्वी से जाकर क्षमा-याचना करती।

स्वाध्याय-प्रेम

ज्ञान की विस्मृति न हो जाय यह स्वाध्याय का मुख्य पक्ष नहीं गौण पक्ष है। स्वाध्याय का प्रधान पक्ष है तत्सम आनन्द की अनुभूति। साध्वी श्री सदा स्वाध्याय में लीन रहती। आपको छः आगम कण्ठस्थ थे। अनेक थोकड़े भजन स्तवन तथा व्याख्यान भी याद थे। रात में घंटों तक इनका स्वाध्याय करती। दिन में आगमों का पठन-पाठन चलता। वाचन के रूप में वर्ष में एक बार ३२ आगमों का वाचन हो जाता। भाई-बहिन तात्त्विक जिज्ञासा के लिए आपसे सदा बातचीत करते परन्तु सांसारिक झंझटों की बातों से तथा अनावश्यक वृत्तान्तों को सुनने-सुनाने से आप सदा दूर रहती। कभी कुछ बात करनी पड़ती तो आप कहती—इतना समय व्यर्थ ही बीता। यदि स्वाध्याय होता तो कितनी आनन्दानुभूति होती।

समस्त साध्वी समाज का विश्वास आपको प्राप्त था। इसका मूल हेतु था आपका अप्रतिम और निश्छल वात्सल्य। रोग्ण, ग्लान तथा वृद्ध साध्वियों की 'चित्त समाधि' के लिये आप सतत प्रयत्नशील रहती तथा उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करती। दूसरों की 'चित्त समाधि' के लिये अपने स्वार्थ का त्याग करने में भी आप आगे रहती थी। जोधपुर में एक बार ऐसा ही प्रसंग आ गया। आपने श्रीमद् कालूगणी से अत्यन्त नम्रतम विनय कर वृद्धा साध्वी श्री कस्तूरांजी के लिए एक आज्ञा ली जिससे कि वृद्धा साध्वी को असमाधि न हो।

आपकी व्याख्यान-कला प्रभावोत्पादक थी। जब आप साधुओं के स्थान पर मध्याह्न में व्याख्यान देती तब साधु आप का व्याख्यान सुनते। श्रीमद् कालूगणी कहते—साध्वी कानकुंवरजी का व्याख्यान कितना सरस और हृदयग्राही होता है। कई साधुओं से भी इनकी व्याख्यान शैली सुन्दर है। जब कोई साध्वी व्याख्यान ठीक नहीं देती तो बीच में ही आप कम्बल लेकर परिषद् में चली जाती और व्याख्यान प्रारम्भ कर देती। साधु आपके सामने व्याख्यान देने में सकुचाते थे। साधुओं के हृदय में आपके प्रति बहुमान था। सभी साधु आपका यथोचित सम्मान करते थे।

आचार्य श्री तुलसी ने अपने 'कालूयशोविलास' महाकाव्य में लिखा है—

सचाळस सैंती सुखद श्राम ध्यान गळगाल।
कानकवर गण में लह्यो गुरु कृपा सम्मान॥
निमळ नीतियुत पाळियो चरण-रमण सुविलास।
बाल्यकाल ब्रह्मचारिणी वर्ष गुण पचास॥
श्रुति स्वाध्याय विलासिनी ह्रासिनि कर्म कठोर।
विकथावाद विनाशिनी भाववासिनी मन मोर॥
अति सुख पूर्व समाधियों निज संयम बीतव्य।
वाह वाह सती महासती अवसर लह्यो अलभ्य॥

आपके पेट में एक बड़ी गांठ थी। साध्वोचित मर्यादा के अनुसार आपरेशन असंभव था। आपको ३ वर्ष तक 'स्थिर वास' रहना पड़ा। वि. सं. १९९३ की भाद्रपद कृष्णा ५ को अत्यन्त समाधिस्थ अवस्था में आपका स्वर्गवास हुआ।

९-महासती झमकूजी (साधना काल वि. सं. १९६५ २ ? २)

झमकूजी का जन्म राजस्थान के रतन नगर—थेलासर में हुआ। जब आप गर्भ में आईं तब आपकी माता ने स्वप्न में लक्ष्मी को देखा। स्वप्न में ही माँ ने पूछा—यह क्या? उत्तर मिला—तेरे गर्भ से एक कन्या का जन्म होगा जो समूचे कुल का शृंगार बनेगी। आपका जन्म हुआ। परिवार में धन-धान्य की वृद्धि हुई। आपत्तियाँ मिट गईं। माता-पिता के अतुल स्नेह और वात्सल्य से पालन-पोषण हुआ। बचपन बीता। अल्पवय में ही पाणि-ग्रहण हो गया। ससुराल में धन-धान्य की वृद्धि हुई। सभी ने इन्हें लक्ष्मी के रूप में ग्रहण किया। योग्यता के कारण कुछ दायित्व भी सामने आये। कुछ ही वर्ष बीते थे कि अचानक ही पति का वियोग हो गया। आशाएँ नष्ट हो गई। पुत्री के वैधव्य की बात सुन पिता तीन दिन तक मूर्छित रहे। स्वप्न में एक आवाज सुनाई दी "चिन्ता मत करो। यह अप्रत्याशित दुःख इसके जीवन को अमर बना अमरत्व देगा।"

एक बार साध्वी श्री धनांजी ने आपका हाथ देखकर कहा—तुम्हारा जीवन अध्यात्म शासन की सेवा में बीतेगा। तुम संघ की आराधना करोगी ऐसा लगता है। झमकूजी ने कहा—महाराज! ऐसा भाग्य कहाँ? एक बार आपने स्वप्न में फलों से लदे आम्रवृक्ष को देखा। आपने मन ही मन दीक्षा का संकल्प कर लिया। माता-पिता का स्नेह या सास श्वसुर का अनुराग उन्हें बाँध नहीं सका। वि. सं. १९६५ में श्रीमद् डालगणी के पास आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा से पूर्व पति-गृह की रखवाली का भार आप पर था। अवस्था छोटी थी परन्तु विवेक वृद्ध थे। दीक्षा के समय आपके 'जेठ' ने कहा—अपने कनिष्ठ भ्राता की मृत्यु पर मुझे इतना दुःख-दर्द नहीं हुआ था जितना आज तुम्हारी दीक्षा पर हो रहा है। अब मेरे घर की रखवाली कौन करेगी? धन-धान्य को कौन संभाल कर रखेगी? ये उद्गार दायित्व के प्रति आपकी निष्ठा तथा कुशलता के परिचायक हैं।

प्रारम्भ से ही आपको कला के प्रति आकर्षण था। प्रत्येक कार्य को आप कलात्मक ढंग से करती। कला के साथ-साथ स्फूर्ति और विवेक भी था। यही कारण था कि आप सबसे छोटी बहू होने पर भी समूचे घर की जिम्मेवारी आप पर थी। दीक्षा के बाद कला में और अधिक विकास हुआ। १५ मिनट में चोल पट्टे को सीना एक दिन में रजोहरण की २५ फलियों को गूंथना आपकी स्फूर्ति के परिचायक हैं। आपने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी अनेक साध्वियों को सूक्ष्म सिलाई सिखाई।

आप स्वाध्याय में रस लेती। ६-७ हजार गाथाएँ कण्ठस्थ थी। उनका आवर्तन-प्रत्यावर्तन चिन्तन-मनन होता रहता। ग्लान वृद्ध की परिचर्या में आपको विशेष आनन्द आता। जब कभी साध्वियों में पीर-फोड़ आदि का प्रसंग आता तो आप उसे अपने हाथों से सम्पन्न करती। हाथ हल्का था साथ-साथ कार्य करने की कुशलता भी थी।

गुरु-भक्ति आपके जीवन का व्रत था। आप सदा शासन-हित को प्रधानता देती। शासन हित के लिये अपने बड़े से बड़े स्वार्थ का भी बलिदान करने में आप पीछे नहीं रहती। यही भावना तेरापंथ संगठन की रीढ़ है। एक बार विहार करते हुए मार्ग में ही वर्षा आ गई। सारे कपड़े भीग गए। स्थान पर आकर सभी साध्वियाँ अपने-अपने कपड़ों को सुखाने में लग गईं। आपने अपने आर्द्र शरीर या कपड़ों की ओर ध्यान नहीं दिया। सर्व प्रथम शासन की पुस्तकें खोलीं। एक-एक पन्ना देखा। उसे ठीक किया तब निश्चिन्त हुईं।

आपके प्रत्येक कार्य में स्फूर्ति तथा चाल में तेजी थी। एक बार श्रीमद् कालूगणी चातुर्मास के लिए चूरू पधार रहे थे। नगर प्रवेश का मुहूर्त ७॥ बजे का था और दूरी ६ मील की थी। आचार्य श्री किसी भी तरह वहाँ उस समय नहीं पहुँच सकते थे। अतः प्रस्थाना रूप आपको भेजा गया। आप एक घंटे में ६ मील पहुँच गईं।

आपकी स्मृति और पहचान अविकल थी। एक बार जिस आकृति को देख लिया जिसके स्वर सुन लिए, उसे वर्षों बाद भी आप सरलता से पहचान लेती थी। अन्धकार में भी स्वरों से उस व्यक्ति को जानकर नामोच्चारण पूर्वक वन्दना की स्वीकृति देती। दर्शनार्थी हर्ष से गद्गद् हो जाते और अपना आना सार्थक मानते।

आप उदार अवश्य थी परन्तु देते समय विवेक आगे रहता था। उसका देना भी क्या देना जिसके देने में कृपणता झलके या लेनेवाले को हीनता का अनुभव हो। उसका देना भी क्या देना जिसको मूर्ख बना कर लिया जाय? आप साधु-साध्वियों की माँग पूरी करती। जिस वस्तु का अभाव होता या यदि आप देने में असमर्थ होती तो माँगनेवाले को इस प्रकार से सन्तुष्ट करती मानो उसे अपनी इष्ट वस्तु प्राप्त हो गई हो। आप सबके लिये मातृ स्थानीया थी। सब के लिये आपकी आँखों से माता की ममता टपकती थी।

सहिष्णुता अहिंसा का परिणाम है। सहना अहिंसा है। सहते सब हैं परन्तु जो सहने में आनन्द मानता है वही सहिष्णु है। उस समय आप 'साध्वी प्रमुखा' के पद पर नियुक्त थी। रात्रि का समय था। आप पट्ट पर सो रही थी। नींद आ गई थी। एक काला सर्प आपके पेट पर चढ़ा और धीरे-धीरे नीचे खिसक गया। आपने देखा परन्तु आप निश्चल रही। अपने प्रति जिसको पूर्ण विश्वास होता है वही ऐसा कर सकता है। आपको सर्प के आरोह-अवरोह से तनिक भी भय नहीं लगा। आपने पास में सोनेवाली साध्वी को जगाया और कहा—अभी-अभी यहाँ से एक सर्प गुजरा है सावधान रहना।

हर्ष से विह्वल और शोक से उद्विग्न होनेवाले अनेक हैं परन्तु दोनों अवस्थाओं में समरस व सन्तुलित रहनेवाले विरले ही मिलेंगे। तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्रीमद् कालूगणी का स्वर्गवास हुआ। सारा तीर्थ शोक से विह्वल हो उठा। साधु-साध्वियों में भी गुरु के प्रति स्नेह उमड़ उठा। सबका मन भीतर भीतर रोने लगा। ऐसी विकट स्थिति में आपने धैर्य का परिचय दिया। सब में साहस का मन्त्र फूंका और वह शोक अभिनव आचार्य पद प्राप्त श्री तुलसीगणी के अभिनन्दन में हर्ष बन कर उपस्थित हुआ।

तेरापंथ शासन की आपने ३७ वर्षों तक सेवा की। आचार्यों का विश्वास साधु-साध्वियों का अनुपम अनुराग व स्नेह श्रावक-श्राविकाओं की अविकल भक्ति और श्रद्धा को स्वीकार करती हुई साधना की आनन्द भावनाओं को समेटती

विजेरडी आप वि स २ २ में पूर्ण समाधि में इस संसार से चल बसी। आज उनकी केवल स्मृति रह गई है, जो अनेक कार्यों में प्रतिबिम्बित होकर विस्मृत को स्मृत बना रही है।

७—महासती लाडांजी (शासना काल वि सं० १९८२-)

जन्म—वि स १९९ लाडनूं

दीक्षा—वि सं १९८२ लाडनूं

प्रमुखापद प्राप्ति—वि सं० २ २

आपका गृहस्थ जीवन में सरलता आती रही। आपकी आयु जब विवाह के अनुरूप हुई तो आपका विवाह हुआ परन्तु विवाहित जीवन आप अधिक समय तक नहीं बिता सकी और आपको पति का वियोग हो गया। इस घटना से ही आपके जीवन में परिवर्तन आया। वैराग्य भाव बढे और आप दीक्षा के लिये प्रस्तुत हुई। आपकी दीक्षा श्रीमद् कालूगणी के कर-कमलो द्वारा लाडनूं में आचार्य श्री तुलसी के साथ ही हुई। उस शुभ घड़ी म शुभ मुहूर्त को किसने देखा था? किसने ऐसा अनुमान किया था कि उस समय के ये दो दीक्षित कालान्तर में शासन के संचालक बनेगे! श्रीमद् कालूगणी राज का स्वर्गवास हुआ। श्रीमद् तुलसी आचार्य पद पर आसीन हुए। महासती लाडांजी को साथ में रखा गया। थोड़े ही वर्षो के बाद साध्वी प्रमुखा श्री झमकू जी का स्वर्गवास हो गया और उनका काम आचार्य श्री ने महासती लाडांजी को सौंपा। परन्तु स्थान की उच्चता के साथ-साथ दायित्व की गुरुता भी बढ़ी। अनेक कठिनाइयाँ सामने आई। ये सतियों के दायित्व का पूरी तरह से निभाने में पूर्ण सक्षम रही।

महासती लाडांजी का जीवन आचार्य श्री तुलसी के कार्य-कलापों से सम्पृक्त रहा है। अत उसके परिणामों से वह अनुप्राणित होता आया है। आचार्य श्री तुलसी का जीवन क्रांति का जीवन है। उसमें एक ओर संघर्ष है तो दूसरी ओर उसके सुपरिणामों की अभितृप्ति भी। आचार्य श्री के कुशल नेतृत्व में साधुओं ने अनेक क्षेत्रो म विकास किया। साध्वियों को भी उनके नेतृत्व का लाभ मिला। साथ-साथ महासती लाडांजी के अनुपम सहयोग ने उस लाभ को शतगुणित कर दिया। पहले पूर्व कुल में साध्वियों को प्रधानत विविध कार्यों के लिये ही रखा जाता था। परन्तु आज गुरु कुल में अधिकांश साध्वियाँ को शिक्षा के लिये रखा जाता है। आचार्य श्री की इस सूझ-बूझ से साध्वियो ने शिक्षा के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है। इस प्रगति का श्रेय महासती लाडांजी को है जिन्होने समय-समय पर शिक्षा पाने के लिये उत्कण्ठित साध्वियो को सत्प्रेरणाओं तथा उत्साह वर्धक शब्दों में प्रेरित किया है। आपकी शिक्षा कम है परन्तु शिक्षा के लिये दूसरो को प्रेरित करने तथा शिक्षा का मूल्य आँकने म आप निपुण है।

आचार्य श्री पुरुष और स्त्री दोनो को उपदेश देते है परन्तु उनका जितना सीधा सम्बन्ध पुरुषो से है उतना स्त्रियो से नहीं। इसकी पूर्ति साध्वियाँ कर लेती है। महासती लाडांजी स्वय स्त्रियो को रूढियो से दूर रहने के लिये समझाती है। स्थान-स्थान पर साध्वियो को भेजती है और नारी जाति में व्याप्त बुराइयो को मिटाने में पूर्ण प्रयत्नशील रहती है। अभी अभी मेवाड में आपने सैकडा स्त्रियो को बुराइयो के कुपरिणामों से बचाया है, और उनके जीवन को सयममय बनाने में सहयोग दिया है।

जो कष्ट की सवेदना को बाँट सके जो दुख की दाहकता को सान्त्वना के शीतल जल से सींच सके वह आत्मीय बन जाता है। एक व्यक्ति रोगी है। उसे औषध से जितनी शान्ति मिलती है उससे कई गुनी अधिक शान्ति उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने से मिलती है।

रोगी के प्रति जागरूक रहना उसकी चित्त समाधि को विचलित न होने देना तथा उसे उचित औषधोपचार की सुविधाएँ देना आदि सगठन के कतिपय गुण है। महासती लाडांजी ने इसका विकास किया। अभी-अभी एक साध्वी को एक भाव ने नीचे गिरा दिया। अनेक स्थानो पर चोटें आई। एक साध्वी ने उनका प्राथमिक उपचार किया। चारो ओर से खून बह रहा था। महासती लाडांजी आदि से अन्त तक पास में खड़ी रही। उनके कपड़ो पर भी खून के छींटे पड़े। साध्वियो ने कहा—आप अन्दर पधार जाएँ और खून के छींटे धो लें। महासती लाडांजी ने कहा जल्दी ही क्या है? पहले रोगी की परिचर्या ठीक से हो जाय मेरे कपड़े के ये दाग तो पीछे भी धुल जायेंगे। यह सुन कर सभी साध्वियाँ गद्गद् हो गई।

अपने दोष को स्वीकार कर लेना बड़प्पन है पर आश्रितों के दोषों को स्वयं ओढ़ कर उसका प्रायश्चित्त करने में भी तत्पर रहना महानता है। गंगाशहर की घटना है। कई साध्वियाँ 'कालूयशोविलास' के पन्ने पढ़ रही थीं। कुछ पन्ने नीचे पड़े थे। पास में ही पानी पड़ा था। अकस्मात् पानी का पात्र लुढ़क गया और सारे पन्ने गीले हो गए। सभी साध्वियाँ व्याकुल हो गईं। कठोर उपालम्भ की सम्भावना मात्र से जी दहल उठा। महासती के पास बात गई। उन्हें भी भय लगा। आचार्य प्रवर तक बात पहुँची। उपालम्भ मिला परन्तु महासती ने साध्वियों से कुछ नहीं कहा और सब स्वयं सहन कर लिया।

एक बार आपने एक साध्वी को एक गीतिका देते हुए कहा—इसकी राग बताओ। पर वह साध्वी राग बताने में असमर्थ थी। उसकी भावना को ताड़ते हुए आपने कहा—यह मेरी कमी है कि मैंने साध्वियों को इस विषय में कभी प्रशिक्षित ही नहीं किया। इन प्यार भरे शब्दों से सब का जी भर गया।

स्वास्थ्य की ओर विशेष जागरूक आचार्य के इंगित को समझने में निपुण साध्वी समाज को ज्ञानाराधना की ओर प्रेरित करनेवाली महासती लाडांजी आज नारी जागृति के लिए प्रयत्नशील और नारी-जीवन में व्याप्त बुराइयों को नामशेष करने में दत्तचित्त हैं।

तेरापथ की आंतरिक व्यवस्था

(मुनि श्री श्रीचन्दजी 'कमल')

व्यवस्था सभ्य समाज की प्रतीक है। समाज जितना सुसंस्कृत होगा व्यवस्था भी उतनी ही विकसित होगी। कार्य शीघ्र सुन्दर और सुविधापूर्वक सम्पन्न करने के लिये व्यवस्था का जन्म हुआ। उसके अभाव में उचित समय में कार्य सम्पन्न नहीं होता सदस्यों में परस्पर प्रेम नहीं बढ़ता और कामचोरी की वृत्ति पनपने लग जाती है। अन्ततोगत्वा संगठन का ढाँचा बिखर जाता है। इसलिये व्यवस्था का प्रत्येक क्षेत्र में स्वागत होता है।

तत्कालीन धर्म सम्प्रदायों की अव्यवस्था की अनुभूति ने आचार्य भिक्षु को व्यवस्था के लिये सजग कर दिया। उन्होंने उनके अनुभवों से लाभ उठाया और इस विषय में लिखा।

आदि काल में सात साधु थे। उस समय भी उन्होंने व्यवस्था की अवहेलना नहीं की। इसीलिये आज वह सदस्यों के जीवन में घुल-मिल कर सहज बन गई है। संघ व्यवस्था के बाद उनकी दृष्टि दैनिक व्यवस्था की ओर मुड़ी। वहाँ उन्होंने ज्ञान चक्षु से देखा कि संगठन में छोटी-छोटी बातों से परस्पर मतभेद बढ़ता है। मन की दूरी पैदा ही न हो इसलिये आचार्य भिक्षु ने उनका सूक्ष्मता से अध्ययन किया। फिर उस पर लेखनी भी चलाई।

खाना पीना रहना सोना और बैठना—इन बातों से परस्पर मनमुटाव बढ़ता है। देखने में यह छोटी बात है कि भिक्षा में प्राप्त रोटी के लिये क्या लड़ाई ? पर यह भी विग्रह का कारण बन जाती है। अतः उन्होंने चर्या के छोटे से छोटे अंग को भी व्यवस्था के बन्धन में बांध दिया।

सिंघाड़ा

खान-पीने बैठने और सोने की व्यवस्था साझ के माध्यम से की जाती है व्यक्तिशः नहीं। व्यवस्था की सुविधा के लिए साझ का निर्माण हुआ। आचार्य श्री के साथ जो साधु रहते हैं उनको कई भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक भाग को 'साझ' कहते हैं। भाग में एक मुखिया होता है जिसे 'साझपति' कहते हैं। 'साझ' का सारा कार्य 'साझपति' के निर्देश में चलता है। प्रत्येक सदस्य की सामान्य व्यवस्था का दायित्व 'साझपति' पर होता है। रुग्ण अवस्था में सेवा करना सभी साधुओं का कर्तव्य होता है किन्तु उसका दायित्व मुख्यतया अपने साझ के साधुओं पर होता है। अपने 'साझ' के रुग्ण साधु की सेवा करना उसका अनिवार्य कर्तव्य होता है क्योंकि वे सारे चित्त समाधि के एक सूत्र में बंधे होते हैं। वैसे तो 'साझ' के सदस्यों का परिवर्तित करने के लिये आचार्य श्री को निवेदित करना पड़ता है पर रुग्ण अवस्था में वैसा नहीं होता है। साझ के सदस्य एक स्थान पर उठते बैठते और भोजन करते हैं। अतः उनका कार्य परस्पर सम्बन्धित होता है। 'साझपति' 'साझ' सम्बन्धी दैनिक कार्य सदस्यों में विभक्त कर देता है। प्रत्येक कार्य के लिये सदा कहने की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयं अपना दायित्व समझते हैं। स्थान और वस्त्र की सफाई तथा पानी उठाने का कार्य सामूहिक रूप में होता है। 'साझ' का प्रत्येक सदस्य कामशील होता है और साझ में किसी कार्य को तुच्छ नहीं माना जाता। इसलिए परस्पर ईर्ष्या और हीनता के भाव नहीं पनपते। 'साझ' के सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं होती। वह आचार्य की इच्छा पर आधारित होती है। दो साधुओं का भी 'साझ' हो सकता है और एक 'साझ' में १ से २ साधु तक भी रह सकते हैं। आचार्य आवश्यकतानुसार सदस्यों का साझ' परिवर्तन भी कर देते हैं। 'साझ' संज्ञा आचार्य श्री के साथ रहनेवाले साधुओं के भाग की ही है। अन्यत्र विहार करनेवाले भाग (दल) की 'सिंघाड़ा' संज्ञा है। चातुर्मास की समाप्ति के बाद जब साधुओं की संख्या बढ़ती है तब 'साझ' भी बढ़ जाता है।

कार्य विधि

'साझ' के अतिरिक्त कई कार्य सामूहिक समुच्चय के होते हैं जो प्रत्येक साधु के लिए करणीय होते हैं। यदि कोई परस्पर बाधा देकर कार्य विनिमय करना चाहे तो पहले आचार्य से निवेदन करना होता है। स्वीकृति के बाद ही वैसा कर सकता है अन्यथा नहीं। शारीरिक अस्वस्थता के कारण यदि कोई उस समय कार्य नहीं करे तो पूर्ण स्वस्थ होने के

बाद उसे दुगुना कार्य करना होता है। समुच्चय के कार्यों का विभाजन नहीं होता। उनका क्रम चलता है। क्रम का माध्यम दीक्षा होती है। जो दीक्षा में बड़ा होता है वह प्रथम करता है फिर उससे छोटा। कार्य की अवधि एक दिन की होती है। दूसरे दिन वह अपने से छोटे साधु को कार्य का संकेत दे देता है। जिस साधु का काम काज हो वह यदि विहार कर जावे तो उप कार्य गाथा लेकर यदि दूसरा साधु करना चाहे तो वह कर सकता है अन्यथा उससे छोटा साधु करता है। यदि कोई 'सिंघाड़ा' आचार्य श्री के पास से अल्प समय के लिए विहार करके स्वयं दूसरे स्थान पर जाय ५ दिनों में उन साधुओं में काम का क्रम आता हो और वे १५ दिनों के भीतर आचार्य श्री के पुनः दर्शन कर लें तो उन साधुओं को उस 'समुच्चय' का काम करना होता है। यदि आचार्य श्री स्वयं किसी 'सिंघाड़े' को कार्यवश भेजें तो उनको ५ दिनों के भीतर आनेवाला कार्य नहीं करना पड़ता है।

सिंघाड़ा

आचार्य श्री की सेवा से अन्यत्र विहार करनेवाले वर्ग (दल) को 'सिंघाड़ा' कहते हैं। साधारणतः 'सिंघाड़े' में ३ साधु या साध्वियाँ होती हैं। 'सिंघाड़े' में एक प्रमुख होता है जिसे 'अग्रगण्य' कहते हैं। शेष उसके अनुगामी होते हैं। 'अग्रगण्य' के निर्देशन में सारा कार्य चलता है। क्षेत्र का दायित्व प्रमुखतया उसी पर होता है। वह आचार्य का प्रतिनिधि होता है। अग्रगण्य की नियुक्ति आचार्य करते हैं। अनुगामी 'अग्रगण्य' से दीक्षा में छोटे ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब आचार्य की इच्छा पर निर्भर होता है। वे एक दिन के दीक्षित को भी 'अग्रगण्य' बना सकते हैं।

जब साधु-साध्वियों के 'सिंघाड़े' विहार करते हैं तब आचार्य श्री 'अग्रगण्य' को उनके भावी कार्यक्रम की रूप रेखा दे देते हैं। वह उसी के अनुसार प्रचार आदि काम करता है। अग्रगण्य चातुर्मास और शेष काल का प्रवास आचार्य श्री के आदेशानुसार करता है। प्रत्येक 'सिंघाड़े' के लिए चातुर्मास की समाप्ति के बाद विशेष परिस्थिति के बिना आचार्य श्री की ओर विहार करना अनिवार्य है। विशेष आज्ञा प्राप्ति के बिना वह मार्ग में एक रात से अधिक नहीं ठहर सकता है।

आचार्य के दर्शन के बाद 'अग्रगण्य' अपना अधिकार आचार्य को इन शब्दों में समर्पित करता है—ये पुस्तकें और अनुगामी साधु जो आपने मुझे उपयोग के लिए दिया था उनको आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। मैं भी आपके चरणों में समर्पित हूँ। आप मुझे जहाँ रहने का आदेश दें वहीं रहने को तैयार हूँ। यह विज्ञप्ति करने के पश्चात् ही वह आहार और पानी का उपभोग कर सकता है अन्यथा नहीं।

यदि आहार के विभाग से पहले आवे तो उसी दिन पीछे आवे तो दूसरे दिन 'अग्रगण्य' 'साझ' के लिए आचार्य से निवेदन करता है, "किस साझ के साथ आहारादि का विभाग करूँ?" आचार्य इच्छानुसार किसी 'साझ' के साथ या स्वतंत्र 'साझ' के रूप में जैसा आदेश देते हैं वह वैसा ही करता है। ५ दिन के भीतर एक विवरण पत्र निवेदन करना होता है जिसे 'तेरह बोलों की हाजरी' कहते हैं। उसमें लिखा जाता है—किस गाँव में कितने दिन ठहरे, किस गृहस्थ के यहाँ से क्या वस्त्र पात्रादि लिये किस भाई-बहन को क्या धर्म-तत्त्व सिखाया किस साधु ने क्या तपस्या की आदि-आदि। इस पत्र से आचार्य को सारी स्थिति की जानकारी मिल जाती है। समय-समय पर 'अग्रगण्य' अपने अनुभव और संस्मरण आचार्य को निवेदन करता है जिससे आचार्य को भावी चातुर्मासादि के निर्णय में सहयोग मिलता रहता है। कोई भी श्रावक साधु-साध्वी का नामोल्लेख पूर्वक चातुर्मास की प्रार्थना नहीं कर सकता।

गाथा प्रणाली

जयाचार्य ने मन में सोचा—संघ में पुस्तकों की और अधिक आवश्यकता है उनकी वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न होना चाहिये। इस दृष्टि से उन्होंने हस्तलिपि के लिये सन्तों को प्रोत्साहित किया। जो 'अग्रगण्य' साधु थे उनपर कर लगाया कि जितने दिन वे 'अग्रगण्य' के रूप में विहार करें प्रति दिन २५ 'गाथाएँ' लिखकर संघपति को समर्पित करें। ३२ अक्षरों की एक 'गाथा' मानी गई। जितना कम लिखें उतने के बदले उन्हें चाकरी करनी होगी। साधु साध्वियों के द्वारा वस्त्रों की सिलाई और पात्रों की रंगाई कराते। उस पर भी गाथाओं का कर लगा दिया गया। जैसे—

चोलपट्टा की सिलाई के लिए २५ गाथाएँ

पछेवड़ी की सिलाई के लिए ५१ गाथाएँ

छोटी पाती के प्रतिलेप की रंगाई के लिए ११ गाथाएँ

बड़ी पाती के प्रतिलेप की रंगाई के लिए १५ गाथाएँ

आवश्यकतानुसार समय-समय पर इन करों में वृद्धि भी होती रही—चोलपट्टों के लिए १५ गाथाएँ और पछेवड़ी के लिए ७५ गाथाएँ आदि।

अग्रगण्या साध्वियों के लिए २५ गाथाएँ प्रतिदिन लिखने का प्रतिबन्ध नहीं था। उन पर दूसरा ही कर था। वे प्रतिवर्ष एक रजोहरण २ प्रमार्जनी १ टोकसी डोरी आदि संघपति के लिए उपहार लाती। रजोहरण आदि सभा में वितरण कर दिए जाते और पुस्तक साध्वियों को दे दी जाती। जो अनुयायी साधु थे वे यदि लिख कर संघपति को समर्पित करते तो उनके नाम से गाथाएँ जमा हो जाती। जो 'अग्रगण्य' कर से अधिक लिखते उनकी भी गाथाएँ जमा हो जाती।

जयाचार्य की दूरदर्शिता से लिखने का प्रवाह चल पड़ा। तब दूसरा कदम उठाया गया कि जिनके अक्षर सुडौल और शुद्ध होंगे उन्हीं को स्वीकृत किया जायगा और उन्हीं की पूर्ण गाथाएँ जमा होंगी। मध्यम कोटि के अक्षरों की पूर्ण गाथाएँ जमा नहीं होंगी तथा अशुद्ध और रद्दी अक्षर तो स्वीकार ही नहीं किये जायेंगे। सतों का ध्यान अक्षरों की सुडौलता की ओर खिंच गया। धीरे-धीरे अक्षर जमाने का संस्कार गाढ़ा होता गया। संघपति को समर्पित करनेवाली प्रति पर आदि से लेकर वर्तमान आचार्य तक के नामों की मुद्रा रहती है। उस पर लिखनेवाले व्यक्ति का अधिकार नहीं रहता। वह संघपति के नेश्राय में होती है। जिसको आवश्यकता होती है आचार्य उसे दे देते हैं। धीरे-धीरे लिखने का विकास होने लगा। कई सतों ने अपने जीवन में एक लाख से भी अधिक गाथाएँ लिखीं।

प्रत्येक साधु की गाथाओं के आय-व्यय का हिसाब रखने के लिये एक साधु को नियुक्त किया जाता है। जो साधु सिलाई और रंगाई कराना चाहे वह पहले उक्त साधु को कहे—अमुक कार्य मैं साध्वियों से करवा रहा हूँ। वह साधु निश्चित गाथाओं के अनुसार उनके नाम लिख देता है। फिर सिलाई करानेवाला आचार्य श्री से अनुमति लेकर वह वस्तु साध्वियों को देता है। साध्वियाँ सिलाई या रंगाई करके उसको आचार्य श्री के पास लाती हैं। आचार्य श्री उस साधु को बुलवा कर उसे दे देते हैं। साधु भी परस्पर गाथाएँ देकर कार्य कराने लगे। यदि कोई साधु अपने गाथा-कोष को बढ़ाना चाहे तो वह अपने विभाग के अतिरिक्त समुच्चय का कार्य करता है, या दूसरे साधुओं के विभाग का काम करता है और उसके बदले गाथाएँ लेता है। कार्य की स्वीकृति पहले आचार्य श्री से लेनी होती है। समुच्चय के प्रत्येक कार्य की गाथाएँ निर्धारित होती हैं पर साधुओं के विभाग की नहीं। यदि कोई साधु अपने विभाग का कार्य न करे तो उसे गाथाएँ देनी होती हैं। जो गोचरी नहीं जाता है उसे प्रतिदिन गाथाएँ देनी होती हैं। प्रत्येक सदस्य को संघ का निश्चित भार वहन करना होता है। बोझ न उठाए तो उसे गाथाएँ देनी होती हैं। यदि कोई काम को उष्ण आहार साध्वियों से मँगावे तो गाथाएँ देनी होती हैं।

जो साधु आचार्य द्वारा नियुक्त होते हैं। वे प्रतिवर्ष गाथाओं के आय-व्यय का हिसाब करते हैं। यह कार्य संघ के अनुक्रम से होता है। संघ का प्रत्येक सदस्य पहले आचार्य के पास जाकर स्वीकृति लेता है फिर वह उन साधुओं के पास जाकर लेखा-जोखा कराता है। वे प्रत्येक व्यक्ति का नामोल्लेख पूर्वक आय-व्यय का हिसाब करके अन्तिम रूप एक पत्र में लिख देते हैं। पत्र लेकर वह साधु पुनः आचार्य के पास जाता है और उनको दिखाता है। आचार्य देखकर उसे वापस दे देते हैं। उस पत्र को वह अपने पास रखता है। हिसाब रखनेवाले साधु भी एक पत्र में प्रत्येक साधु का हिसाब लिखकर संघपति को निवेदन कर देते हैं। व्यक्ति के पास जो पत्र रहता है, वह यदि भूल से इधर-उधर हो जाय तो उसका हिसाब उस पत्र से मिल जाता है।

आहार

जयाचार्य तक आहार की प्रणाली यह थी कि साधु-साध्वियों को भिक्षा में जो प्राप्त होता उसमें से इच्छानुकूल साधु रखते शेष साध्वियों के लिए रह जाता। कम या अधिक का परिणाम साध्वियाँ भोगती। सरदार सती की प्रार्थना पर जयाचार्य ने ध्यान दिया और इस प्रणाली में कुछ परिवर्तन किया गया। अब आहार का विभाजन होने लगा। साधुओं को विभाग कुछ अधिक मिलता और साध्वियों को कुछ कम। कुछ समय बाद फिर इस प्रणाली में एक मोड़ आया। साध्वियों को सम-विभाग मिलने लगा। जो कुछ भी आता साधु और साध्वियों की संख्या मिलाकर उसका उतना विभाजन हो जाता। विभाजन का कार्य आचार्य के सामने होता। पहले क्रमशः साधु अपना विभाग लेते फिर क्रमशः साध्वियां।

विभाजन करने का कार्य पहले साधु वर्ग करता फिर क्रमशः साध्वियाँ करतीं। माघ के महीने में पाँच सौ से अधिक साधु साध्वियों के आहार का विभाजन एक स्थान पर होता। आचार्य श्री तुलसी ने इसमें परिवर्तन किया—साध्वियाँ भिक्षा में जो लावें आचार्य को दिखाकर अपने स्थान पर ले जावें। साधु अपने स्थान पर रखें। कतिपय द्रव्यों का सम विभाग हो जाता। कुछ दिनों बाद उसमें भी परिवर्तन आया। इस व्यवस्था के अनुसार साधु व साध्वियों के विभाग पूर्ण स्वतन्त्र हो गये।

व्यवस्था

विशेष परिस्थिति के बिना साधु और साध्वी एक गाँव में नहीं रहते। यदि किसी कारणवश रहना हो तो वे वहाँ गाँव की सीमा बाँट लेते हैं। एक ओर साधु जाते हैं और दूसरी ओर साध्वियाँ। आचार्य श्री की सभा में साधु और साध्वी दोनों रहते हैं। वहाँ भी यही व्यवस्था है। जिस गाँव में वे जाते हैं वहाँ पहले दिन ही ग्राम की दो सीमाएँ निर्धारित कर ली जाती हैं। एक सीमा में साधु जाते हैं और दूसरी में साध्वियाँ। यदि विशेष कारण से दूसरे की सीमा में जाना आवश्यक हो तो उसके लिए पहले आचार्य श्री से अनुमति लेनी होती है। उनकी स्वीकृति के बाद ही वह उस सीमा में जा सकता है। अन्यथा नहीं।

साधु अपनी सीमा को भी विभाजित करते हैं। जितने साधु गोचरी आहार लानेवाले होते हैं, उस सीमा को उतने भागों में बाँट दिया जाता है। इस विभाजन प्रणाली से कोई भी गृहस्थ घर छूट नहीं रहता और किसी भी घर में दूसरा साधु नहीं जाता। आचार्य श्री की विशेष अनुमति के बिना साधु भी परस्पर एक दूसरे की सीमा में नहीं जाते।

विभाजन के लिये भी एक व्यवस्था है। गोचरी करनेवाले जितने साधु होते हैं उनमें जो दीक्षा में ज्येष्ठ होता है, वह पहले दिन विभाजन करता है दूसरे दिन उससे जो दीक्षा में छोटा है वह। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। विभाजक साधु सीमा का विभाजन करके साधुओं के सामने प्रस्तुत करता है। विभाजक के अतिरिक्त जो गोचरी वाले साधु होते हैं वे क्रमशः इष्ट विभाजन को ले लेते हैं। शेष विभाग विभाजन करनेवाले साधु के लिये रह जाता है। इस क्रम में गोचरी करने वाला प्रत्येक साधु विभाजक बन जाता है।

व्याख्यान समाप्ति के बाद आचार्य श्री विभाग पत्र को देख कर एक साधु का आहारादि का परिमाण कह देते हैं। वह साधु उसका विभाजन करके गोचरीवाले साधुओं को कह देता है। गोचरीवाले भिक्षा लाकर पहले आचार्य को दिखाते हैं। अमुक घर से अमुक द्रव्य लाया हूँ और अमुक नहीं आदि सारी आवश्यक बात आचार्य श्री को निवेदित कर देते हैं। फिर वह साधु विभाग स्थान पर जाता है। वहाँ विभागपत्र वाला एक 'मंडलिया' एक बस्त्र बिछाकर तैयार रखता है। गोचरी वाला कहता है—इस भिक्षा में से अमुक द्रव्य इतना लाने के लिये कहा था वह तुम इसमें से ले लो। वह उसके वचनानुसार वह द्रव्य उसमें से ले लेता है। शेष भिक्षा लेकर गोचरीवाला पुनः आचार्य श्री के पास जाता है और दिखाता है। आचार्य श्री की स्वीकृति लेकर वह अवशिष्ट भिक्षा अपने 'साथ' में ले जाकर अपनी व्यवस्थानुसार खा लेता है। सारी गोचरी वाला के अपनी बात सुनाने के बाद आचार्य श्री स्वयं निर्णय करते हैं कि किस घर से क्या और कितना द्रव्य मँगवाना है। वे उसी के अनुसार गोचरीवाले को आदेश देते हैं। कब किसका क्या लाये व यह सब आचार्य की दृष्टि में रहता है।

समुच्चय

जो साधु 'समुच्चय' से आहार लेते हैं वे विभाग पत्र में अपनी पंक्ति नहीं लिखते। वे आवश्यकतानुसार विभाग होने से पहले आहारादि ले लेते हैं। ऐसा करने का अधिकार उन्हें ही होता है जो वय—स्थविर या बीमार साधु हो और आहार की पंक्ति से जिन्हें मुक्त कर दिया गया हो। स्वस्थ अवस्था में जो 'समुच्चय' से लेता है उसे प्रतिदिन पाँच विगयों का वर्जन करना होता है। विभाग की व्यवस्था में कोई गड़बड़ी न हो सहज ही समुच्चय में से लेने की भावना उत्पन्न न हो इस दृष्टि से ऐसा किया गया है।

'समुच्चय' में भी विभाग होता है। कल्पना कीजिये—समुच्चय में एक सेर मूंग की दाल आई। चार बीमार साधु समुच्चय से वह लेना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में सम विभाग करके वह चारों को दे दी जाती है। यह एक सामान्य व्यवस्था है। जहाँ व्यवस्था सम्बन्धी जटिलता उत्पन्न हो जाती है वहाँ आचार्य श्री जो व्यवस्था देते हैं वह सर्वमान्य होती है।

समुच्चय से जो आहार लेते हैं उनके भेल के बाद अवशिष्ट आहार को विभाग पत्रवाला विभाजन स्थान पर ले जाता है और विभागपत्र के अनुसार उसका विभाजन कर देता है। वह फिर दीक्षा में बड़े साझवालों को बुलाकर क्रमशः विभागपत्र के अनुसार उनको विभाग लेने के लिए कहता है। साझवाला उसी द्रव्य को लेने का अधिकारी है जिसकी अपनी साझ की ओर से विभागपत्र में पंक्ति लिखी है।

चौकों का विभाजन

शीतकाल में साधुओं की संख्या सौ से ऊपर हो जाती है। उस समय आहार के विभाजन का कार्य साझ के चार चार, पाँच-पाँच साधुओं की संख्या के अनुपात से सम्पन्न होता है। विभाग के अधिक होने के कारण ४ ४ के विभाग के द्वारा द्रव्यों का विभाजन होने से उसका नाम 'चौका' विभाजन पड़ गया। साझा में जो दीक्षा पर्याय में बड़ा होता है वह पहले दिन विभाजन करता है। कल्पना कीजिये कि एक दिन में ४ साधुओं का कार्य चलता है। यदि उस साझ में ९ साधु हों तो वह साझ २ दिनों तक पूरा कार्य करेगा। तीसरे दिन संयुक्त साझ कार्य करेगा—एक भाग पहले साझवाला और तीन भाग दूसरे साझवाला। इस प्रकार सत संख्या के आधार पर क्रम से सभी साझों में काम चलेगा। विभाजन 'विभाग पत्र' के द्वारा होता है। विभाग लेने में साझा के क्रम का उल्लंघन नहीं होता। यदि अपनी सुविधा के लिए कोई क्रम का उल्लंघन करे तो वह विभाग देनेवाले की गल्ती मानी जाती है। यदि साझ में बड़ा साधु उपवासादि करता है तो दाय आहार करनेवाले के क्रम से पंक्ति आती है। विभाजन देने के बाद यदि किसी द्रव्य का विभाग घट या बढ़ गया हो तो उसे आचार्य श्री को निवेदन करना होता है। आचार्य श्री की स्वीकृति से उन सब द्रव्यों का पुनः विभाजन किया जाता है। विभाजन के बाद स्थान की सफाई की जाती है। आचार्य श्री द्वारा नियुक्त साधु से स्थान का निरीक्षण कराया जाता है। यदि वह स्निग्धता बताये उसको पुनः साफ किया जाता है। सफाई की अवधि दूसरे दिन भिक्षा आने से पूर्व तक की है।

विभाजन लेकर साधु अपने-अपने साझ में चले जाते हैं। साझ में उपलब्ध सामग्री का सम विभाग किया जाता है। यदि साझ का कोई सदस्य अमुक द्रव्य के लिए साझपति को निवेदन कर देता है कि मुझे नहीं चाहिये तो उसे उसका विभाग नहीं मिलता है। साझपति भी विभागपत्र में उसका विभाग कम कर देते हैं। साझ में सारा कार्य साझपति के निर्देश में चलता है।

हाजरी

साझ के किसी सदस्य को अधिक मात्रा में आने से या रुचि विशेष न होने से यदि कोई द्रव्य बढ़ता है तो वह पहले साझ के सदस्यों को कहता है—यह द्रव्य किसी को चाहिये तो वह ले ले। कोई न ले तो वह फिर साझपति की आज्ञा ले दूसरे साझ में जाता है। दूसरे साझ में सदस्य भी अपने साझपति की आज्ञा से उसको लेते हैं। आवश्यकता न होने पर यदि कोई साझवाला न ले तो वह अपने साझ में वापस चला आता है। थोड़ा-बहुत बढ़ने पर साझपति उसे साझ के सदस्यों में बाँट देता है। यदि सभी सदस्यों को वही द्रव्य बढ़ता हो तब एक दूसरा मार्ग है। साझपति या उसका एक प्रतिनिधि आचार्य श्री के पास जाता है। अमुक द्रव्य इतनी मात्रा में बढ़ता है—वह ऐसा निवेदन करता है। इस निवेदन को हाजरी कहते हैं।

तृतीय प्रहर की समाप्ति—प्रतिलेखन-काल से पूर्व तक हाजरी दी जा सकती है। कालावधि के बाद देने पर ५ 'परठावा' का दण्ड मिलता है। चतुर्थ प्रहर में हाजरी के द्रव्य को प्रत्येक साझवाला आचार्य श्री के पास ले जाता है। आचार्य श्री उसे साधु या साध्वी को आवश्यकतानुसार दे देते हैं। किसी की आवश्यकता न हो तो वे प्रत्येक साधु को आमंत्रित कर अपने हाथ से उसका वितरण कर देते हैं। इस तरह सुगमता से वह द्रव्य उठ जाता है।

विहार आदि विशेष अपवाद के बिना साधारणतया दूसरे प्रहर में भिक्षा होती है। कारणिक बीमार और समुच्चय वालों के लिए सायंकालीन भिक्षा होती है। यदि कारणिक साधु शाम को उष्ण आहार लेना चाहे तो वह आचार्य श्री से निवेदन करे—अमुक कारण से मैं उष्ण आहार लेना चाहता हूँ। आचार्य श्री की स्वीकृति से वह शाम को गोचरी जानेवाले से कहे कि मुझे शाम को अमुक द्रव्य चाहिये। वह उसका ध्यान रखता है। शाम की गोचरी में समुच्चय लेनेवालों के बाद यदि कुछ शेष रहे तो उसका विभाजन हो जाता है। शाम का अपना उष्ण आहार स्वयं जाकर ला तो उसको गाथाएँ नहीं लगती। जिस दिन उष्ण आहार छोड़े उस दिन वह पुनः आचार्य श्री को निवेदन करके छोड़े। इन दिनों के बीच

एक पत्र लिख कर निवेदन करना पड़ता है—अमुक कारण से अमुक दिन तक समुच्चय का आहार लिया अमुक दिन तक विगय का वर्जन किया या अमुक दिन तक करना है। आचार्य श्री उसको देखकर उसकी स्वीकृति दे देते हैं।

विभाग पत्र

कौन साधु किस दिन कितना क्या खाना चाहता है यह प्रति दिन प्रत्येक साधु से पूछकर याद रखना कठिन ही नहीं दुष्कर काम है। इस समस्या को सरल बनाने के लिये विभाग पत्र का सहारा लिया गया। द्रव्यों की सूची बनाई गई। एक ओर ऊपर से नीचे तक द्रव्य लिखे गए दूसरी ओर प्रथम पंक्ति में सीधी लाइन में साझ के नाम लिख गये। जिसमें विभाग पत्र का कार्य होता वह साधु प्रत्येक (साझपति) के पास जाता है। प्रत्येक साझपति उसमें अपने साझ की आवश्यकतानुसार विभाग लिख देता है। वह उन सब का योग कर के आचार्य श्री के पास वह पत्र ले जाता है। आचार्य श्री उस पत्र के अनुसार आहारादि द्रव्य भिक्षा में मँगवाते हैं। विभागपत्र का चित्र यह है —

साझों के नाम	द्रव्यों के नाम	अमुक	अमुक	अमुक	कुल्योग
		२	१	५	८
	आहार	½	१	½	२
	रस	½		½	१
	सप्पी	½	५	१	८½
	दूध	½	१	२	५½
	दही	५	१	११	१९
	वि विर्ये	—	—	—	—
	व्यंजन	१	½	२	१½
	मिष्टान्न			½	½
	माखन	•			
	राइतो खीर		१		१

एक समय में द्रव्यों के [illegible] नाम थे—

१—आहार
२—व्यंजन
३—रस
४—सप्पी
५—दूध
६—दही
७—पापड़
८—विर्ये
९—बिनाविर्ये
१०—माखन
११—मिष्टान्न
१२—अ० खिनी
१३—अ० मीठी
१४—अ० फीको
१५—राइतो मीठो
१६—राइता फीको
१७—राम
१८—चावल
१९—बड़ा-घृत
२[illegible]—बड़ा-तैल
२१—भुजिया-घृत
२२—भुजिया-तैल
२३—खीर
२४—खोपरा
२५—चबिणो
२६—सुपारी
२७—सीरो उष्ण
२८—सीरो सेंका हुआ
२९—नम री वस्तु
३०—गुड़ री वस्तु

उस समय प्रत्येक वस्तु का विभाग होता था। कालान्तर में परिवर्तन होता गया। आज यह निर्धारित १०-१२ द्रव्यों में टिका हुआ है। शेष द्रव्यों का विभाग नहीं होता। यदि किसी को आवश्यकता हो तो वह लाये अन्यथा नहीं। विभाग पत्र में लिखित द्रव्यों के कुल योग से आवश्यकता की जानकारी मिल जाती है। उसी के आधार पर आचार्य श्री एक साधु को आहारादि का परिमाण कह देते हैं। विभागपत्र के अनुसार काम वाला प्रत्येक साझ को आमंत्रित करके विभाग दे देता है।

जल का विभाग

साधु जैसे आहार भिक्षा द्वारा प्राप्त करते हैं, वैसे जल भी। प्रत्येक आहार की गोचरी के साथ पानी लानेवाले होते हैं। जो मूर्छ-सीमा आहार लानेवाला की है वही पानी लानेवालों की भी है।

पानी लाने का काम भी दीक्षा ज्येष्ठ के क्रम से चलता है। पानी का कामवाला पहले विभाग स्थान को चुनता है। फिर आचार्य श्री से स्वीकृति ले पानी लाने वाला को विभाग स्थान की सूचना दे देता है। साथ में अमुक सीमा तक अमुक-अमुक कलसिया (पानी मापक पात्र) लाने का संकेत भी कर देता है। काम वाला विभाग स्थान की सफाई करता है और कलसिया वहाँ रख देता है। गोचरीवाले आते हैं और वे वहाँ पानी रखकर अपने स्थान को चले जाते हैं।

जल के विभाग से पूर्व प्रत्येक साधु एक-एक कलसिया स्वच्छ गर्म या ठण्डा जैसा वह चाहे ले सकता है। काम वाला प्रत्येक साझ में जाकर पूछता है—विभाजन से पूर्व कितना कलसिया लाए हो? भिक्षा में निर्धारित कलसिया आया या नहीं? वह दोनों प्रकार की जानकारी प्राप्त करता है। यदि विभाग स्थान पर पात्र खाली देखे तो वह और पानी मँगा सकता है। प्रत्येक साझ को अपना जलपात्र वहाँ रखना होता है। पानी का कामवाला एक पात्र खाली रखता है। उससे वह सब पानी को एक बार फिर छानता है। समुच्चयवाले विभाजन से पूर्व जल लेते हैं। शेष का विभाजन किया जाता है। चौविहार तपस्यावालों का विभाग नहीं होता। कभी-कभी चूना मिट्टी धोवन प्रासुक गर्म और गोबर के पानी का भी विभाजन किया जाता है। विभाजक विभाग करके दीक्षा में बड़े साझवालों को क्रमशः विभाग लेने के लिये आमंत्रित करता है। प्रत्येक साझ का एक सदस्य आकर विभाग ले जाता है। विभाग का जल यदि दूसरे साझ के पात्र में हो तो विभाग लेने वाले को पात्र खाली करना होता है। वह अपने साझ के पात्र कामवाले से खाली करवा लेता है। आवश्यकतानुसार दो साझ के सदस्य पात्र का परस्पर विनिमय भी कर लेते हैं। किसी के पात्र कम हों तो दूसरा पात्र देकर सहयोग भी कर देता है। कभी-कभी इस उलट-पलट में बहुत समय लग जाता है क्योंकि खाली पात्र का अभाव रहता है। सभी सदस्यों के पानी ले जाने के बाद कामवाला स्थान की सफाई करता है। फिर आचार्य के पास आकर निवेदन करता है—प्रत्येक साधु के इतना इतना पानी विभाग में आया है। काम से मुक्त होकर वह अपने साझ में चला जाता है। चौथे प्रहर में प्रतिलेखन के बाद पुनः कामवाला आचार्य श्री से स्वीकृति ले प्रत्येक साझ में जाता है। प्रत्येक साझ में जल का काम करनेवाला एक साधु होता है। वह उससे पूछता है—तुम्हारे साझ में कितना पानी चाहिये? निर्धारित पानी आया या नहीं? कितना लाना बाकी है? सभी साझों से जानकारी ले वह पुनः आचार्य श्री के पास जाता है। इतने कलसिया जल सबों को चाहिये और इतना लाना अवशेष है। आचार्य श्री समय और आवश्यकता को देख कर उसे स्वीकृति देते हैं। काम वाला पहले उन साधुओं से पानी मँगाता है जिनके कम आया है। यदि लानेवाले कलसिया की संख्या अधिक हो और आवश्यकता कम तो लाने वालों को उसी हिसाब से कम कह दिया जाता है और आवश्यकता अधिक हो तो लानेवाले से पूरा मँगाकर तब निकट के गोचरीवालों से मँगाया जाता है। निकट में जितनी गोचरी होती है, उनको विभाग करके कह दिया जाता है। जैसे ३ गोचरी से १० कलसिया जल लाना है। प्रत्येक को ३ ३ कलसिया लाना है। दो गोचरी से तीन कलसिया आया और एक से नहीं। उस समय शेष ३ कलसिया भी उन दोनों से १.५ करके मँगाया जायगा। ३ कलसिया और न आ सके तो दूसरी सीमावाले गोचरियों से उसी क्रम से मँगाया जायगा। जितना आता है उसे छान कर प्रातःकाल की तरह उसका विभाग कर दिया जाता है। यह है जल के विभाग की परम्परा।

अभी इस वर्ष में आचार्य श्री तुलसी ने इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया है। प्रत्येक साझवाले आवश्यकतानुसार अपना जल ले आते हैं और यदि वह सबको सुलभ न हो तो वही प्राचीन व्यवस्था लागू हो जाती है।

पाट-बाजोट

सभी साधु जमीन पर ही बैठते और सोते हैं। उनके लिए पाट बाजोट की आवश्यकता नहीं होती। आचार्य जमीन पर बठें यह शिष्यों को मान्य नहीं। इसलिये वे आचार्य के लिए 'पाट-बाजोट' की गवेषणा करते हैं। जो वस्तु काम के लिये लाई जाती है उन पर साधु स्मृति के लिये गृहस्थ का नाम लिख देते हैं ताकि वापस देने में भूल न हो। प्रतिदिन एक साधु का यह कार्य होता है। सूर्योदय के बाद कामवाला सारे बाजोटो का प्रतिलेखन करता है।

सूर्योदय से लेकर सांझ तक जहाँ भी आचार्य विराजें या प्रवचन सभा आदि में जावें वहाँ भी व्यवस्था करना उसी का काम है। साथ-साथ आचार्य के उठने-बैठने के उपकरणों को ले जाना और लाना भी उसी काम का अंग है। यदि आचार्य प्रवचन के लिए या किसी भाई की प्रार्थना पर दूसरे स्थान पर सोवें और सूर्योदय के बाद अपने स्थान पर वापस आ जावें तो ऐसी स्थिति में सूर्योदय होने पर भी पाट बाजोट को वापस देना पूर्व दिन वाले का काम है। बाजोट आदि मूल स्थान पर वापस लाने हों तो उन्हें आज के दिन के कार्य वाला लाता है। विहार के समय पहले दिन जिसका कार्य हो वही उन्हें गृहस्थो को वापस करता है। वे जिनके हों उनके घर जा कर दे आता है। स्मृति के लिए जो नाम दिया हुआ होता है उसे माफ कर देता है। जिस दिन आचार्य विहार करें उस दिन का कार्यवाला दूसरे दिन के सूर्योदय के बाद भी एक प्रहर तक और कार्य करता है। आचार्य एक दिन में जितने गाँवों में जावें या जितने स्थानों में जावें उन स्थानों पर पाट बाजोट लाने और वापस देने का दायित्व कामवाले पर है।

चौकी

साधु अपने उपकरणों की सावधानी रखते हैं। फिर भी जहाँ अनेक साधु एक साथ रहते हों वहाँ किसी का कोई वस्त्र का टुकड़ा इधर-उधर गिर ही पड़ता है। अगर उसको न उठाया जावे तो वह इधर-उधर पड़ा रहता है और उसका प्रतिलेखन भी नहीं होता है। संभव है कोई वस्त्र का टुकड़ा बाहर के खुले स्थान में ही रह जाय इस दृष्टि से एक व्यवस्था की गई है कि प्रति दिन एक साधु चौकी दे। वह निवास स्थान पर और आसपास में पड़े हुए साधुओं के छोटे-मोटे वस्त्रों को उठा ले। ६ साधुओं तक चौकी देने वाला एक साधु होता है। उससे ऊपर की संख्या के अनुपात से दो-तीन साधु चौकी देते हैं। एक से अधिक साधु चौकी देने वाले होने पर वे स्थान का विभाजन कर लेते हैं। काम वाले साधुओं में जो छोटा होता है वह विभाजन करता है। दीक्षा क्रम से विभाग लेने के बाद शेष भाग विभाग करने वाले के लिए रह जाता है। जितने मकानों में साधु रहते हैं, उन स्थानों में ऊपर नीचे तथा आसपास की गली में सभी स्थानों पर चौकी दी जाती है। चौकी का कार्य सूर्योदय से लेकर छाया न पड़े—प्रकाश रहे तब तक है। सुबह और शाम दो समय तो सारे स्थानों पर घूमकर चौकी देनी ही होती है। दूसरे दिन वह अपने से छोटे साधु को कार्य समझा देता है। दूसरे दिन वाला साधु प्रातः प्रकाश होने पर चौकी देता है। यदि चूक से कोई उपकरण रह जाये तो उसकी 'आलोयणा' करनी होती है। जो दण्ड प्राप्त होता है उसकी सूचना पहले दिन वाले साधु को दे दी जाती है। चौकी में जो भी वस्त्रादि आय वह भी उसे दे देता है। इस क्रम से चौकी का कार्य चलता है।

साधारणतः साधु अपने उपकरण न मिलने पर चौकी वाले के पास खोजता है। वह न भी खोजे तो भी चौकी वाला चौकी में आए हुए वस्त्रादि को लेकर प्रत्येक साधु के पास जाता है और उनको दिखाता है। साधु अपना-अपना पहचान कर ले लेते हैं। कई उपकरण एक सरीखे होते हैं। वे परस्पर मिल न जावें इसलिये प्रत्येक साधु अपने प्रत्येक उपकरण पर अपना नाम लिख देता है। चौकी वाला यदि प्रत्येक साधु के पास जाकर दिखाना न चाहे तो वह दूसरा मार्ग अपनाता है। चौकी में आए हुए उपकरणों के नाम देखता है। नामांकित किसी एक साधु को वह सारे उपकरण दे देता है। यदि बिना नाम का कोई उपकरण अपना स्वीकार करे तो वे सारे उपकरण उसे मिलते हैं क्योंकि उसने नामांकन परम्परा की उपेक्षा की है। रात में जो उपकरण गिर जाता है सुबह यदि वह चौकी में आवे तो उसके पीछे चौकी के सारे उपकरण नहीं मिलते। जिसे सारे उपकरण मिलते हैं यदि वह प्रत्येक साधु के पास जाकर दिखाना न चाहे तो वह उपकरणों में नामों को खोजता है। जितने नाम मिलते हैं, उनका उतना विभाग कर लिया जाता है। विभाग लेकर वह प्रत्येक साधु को दिखाता है। फिर भी यदि शेष रह जाय तो उसको आचार्य श्री से स्वीकृति लेकर विभिन्न लगा दिया जाता है। चौकी के उपकरण यदि बिना प्रतिलेखन के रहें तो उसकी आलोयणा चौकीवाला लेता है।

चौकी में बिना नाम के उपकरण अधिक आने से चौकीवाला आचार्य श्री को निवेदन करता है। आचार्य श्री साधुओं के उपकरणों पर नाम देखने के लिए किसी साधु को आदेश देते हैं। प्रत्येक उपकरण के नाम न मिलने पर दण्ड भी मिलता है। विहार काल में जहाँ अनेकों स्थानों पर ठहरे हुए हों वहाँ सब स्थानों पर चौकी नहीं देनी होती। जहाँ आचार्य श्री विराजते हैं और आहार का विभाग होता है उन स्थानों पर चौकीवाला चौकी देता है। शेष स्थानों पर ठहरे हुए सत स्वयं चौकी देते हैं। विहार के समय चौकी वाला सबसे पीछे चौकी देकर विहार करता है। चौकी देने के बाद यदि उस स्थान पर कुछ रहता है तो उसका दण्ड चौकीवाले को मिलता है। एक दिन में जितने स्थान परिवर्तन हों उस दिन उन स्थानों पर चौकी देना चौकीवाले का ही काम है।

शयन-व्यवस्था

एक गाँव से दूसरे गाँव या एक मकान से दूसरे मकान का स्थान परिवर्तन होने पर पहले दिन सोने और बैठने की व्यवस्था की जाती है। बैठने के लिए जितना स्थान मिलता है उसमें से आचार्य के लिये सुरक्षित रखकर शेष स्थान को आचार्य श्री सात्र के अनुक्रम से विभक्त कर देते हैं। प्रत्येक सात्र के सदस्य अपने सात्र के विभाग में प्राप्त स्थान में रहते हैं। सोने की व्यवस्था भी कभी-कभी इसी क्रम से होती है। बहुधा दूसरे प्रकार से होती है। वह इस प्रकार है—आचार्य श्री के आदेश से एक साधु शब्द करता है। सारे साधु उपस्थित हो जाते हैं। स्थान की परिधि निश्चित होने पर कार्य आगे चलता है।

दीक्षा के अनुक्रम से एक साधु नामों का उच्चारण करता है। नाम वाला व्यक्ति खड़ा होकर अपना स्थान निश्चित कर देता है। समुच्चयवाले सबसे पहले अपना स्थान निश्चित करते हैं। फिर शेष साधु अपना-अपना स्थान निश्चित कर लेते हैं। स्थान अल्प होने पर दूसरे स्थान की खोज की जाती है। दूसरा स्थान मिलने पर यदि कोई बड़ा साधु पूर्व निश्चित स्थान को छोड़ कर वहाँ जाना चाहे तो वह जा सकता है। स्थान निश्चित होने के बाद यदि कोई स्थान परिवर्तन करना चाहे तो उसे पुनः आचार्य श्री को निवेदन करना पड़ता है। वह स्वीकृति के बाद ही वहाँ जा सकता है, पर उसका नम्बर सबसे पीछे आता है, चाहे वह दीक्षा में उनसे बड़ा ही क्यों न हो।

सेवा

दव्वेण भावेण वा ज अप्पणो परस्स वा
उवकार करेइ त सव्व वेयावच्च

निशीथ चूर्णि ४ १७५

द्रव्य और भाव से अपना स्वयं का तथा पर का जो उपकार किया जाता है वह सबका सब सेवा ही है। सघीय जीवन में सेवा आवश्यक होती है। अपेक्षित सहयोग से आत्मतुष्टि की अनुभूति होती है और वह सघीय व्यवस्था का सुपरिणाम होता है। सघ में कोई रुग्ण होता है तो कोई तपस्वी। कोई वृद्ध होता है तो कोई शैक्ष[1]। उन्हें अपना सारा कार्य करने में असामर्थ्य का अनुभव होता है। उन्हें सहयोगी की अपेक्षा होती है। उसे आचार्य पूरा करते हैं। जो साधु वृद्ध होते हैं विहार नहीं कर सकते हैं उन्हें एक स्थान पर रखा जाता है। उनकी सेवा के लिये आचार्य यथावश्यक सिंघाडों को भेजते हैं। जिस अग्रगण्य के सिर चाकरी हो उसे सेवा में नियुक्त करता है या दूसरों को यह आचार्य की इच्छा पर है। रोगी साधु रुग्ण अवस्था में जो कार्य स्वयं नहीं कर सकता है वह प्रत्येक कार्य चाकरी वाला करता है। विहार में यदि कोई साधु कारणवश स्वयं चलने में असमर्थ हो जाये तो दूसरे साधु उसे उठाकर ले जाते हैं।

भिक्षा में जो प्राप्त होता है उसमें से आवश्यक वस्तु रोगी को पहले दी जाती है। आवश्यक वस्तु न आये तो यथा साध्य उसकी गवेषणा की जाती है। उसके विभाग के कार्य भी दूसरे साधु कर देते हैं। उनकी मानसिक समाधि का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है।

शब्द-संकेत

सामूहिक कार्य की सूचना 'शब्द' द्वारा दी जाती है। आचार्य के आदेश से एक साधु 'शब्द' करता है। वह इस बात का ध्यान रखता है कि कार्य की सूचना प्रत्येक साधु तक पहुँच जाय। शब्द न सुनने के कारण यदि कोई साधु सामूहिक कार्य

१—नवदीक्षित साधु

में भाग न ले सके तो शब्द करने वाले की त्रुटि मानी जाती है। यदि एक कमरे में एक साधु शब्द को सुन लेता है और दूसरा नहीं सुन पाता है तो ऐसी स्थिति में शब्दकर्ता की त्रुटि नहीं मानी जाती।

सूर्योदय से एक मुहूर्त पहले और सूर्यास्त के समय वंदना का शब्द होता है। प्रातःकालीन वंदना से पूर्व उपस्थित साधु खड़े होकर 'क्षेम पद' को दोहराते हैं।

प्रातः प्रतिक्रमण के पश्चात् और तृतीय प्रहर के बाद प्रतिलेखन का शब्द होता है।

आचार्य श्री के मध्याह्नकालीन भोजन के पश्चात् "गत दिवस वार्ता" का शब्द होता है। उस समय प्रत्येक साधु अपने गत दिन की चर्या निवेदन करता है।

सूर्यास्त के लगभग बीस मिनट पूर्व 'जल पीना हो तो पी लो' की सूचना दी जाती है। फिर लगभग १ मिनट के बाद त्याग का शब्द होता है। इसके पश्चात् कोई साधु जल भी नहीं पी सकता।

एक प्रहर रात्रि बीतने पर शब्द होता है जो सोने के समय की सूचना देता है।

आचार्य किसी भी कार्य के लिए स्थान से बाहर जाएं तो उसके लिये शब्द होता है। साधु यथासंभव आचार्य के साथ जाते हैं। कार्य हो तो द्वार तक जाकर उनका सम्मान करते हैं।

आचार्य किसी कार्यवश सभी साधुओं को बुलाना चाहें या विशेष बात की सूचना देना चाहें तो उस समय शब्द होता है। व्यक्तिगत काम के लिए शब्द नहीं होता। साधु स्वयं आचार्य के पास जाकर उनकी आज्ञा प्राप्त करते हैं।

यह हमारे गण की दिनचर्या का स्थूल दिग्दर्शन है। इसमें व्यवस्था है और उसके पीछे चिन्तन भी है। जिस संघ में छोटी-छोटी बातों पर चिंतन नहीं होता, छोटी बातों के लिये व्यवस्था नहीं होती, वहाँ विग्रह होता है, कलह अधिक होता है और काम कम। आचार्य भिक्षु तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने इन परिस्थितियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उनका समाधान किया। यह उसी का सुपरिणाम है कि कार्य सहज भाव से होता है तथा प्रेम बना रहता है। आचार्य या [illegible] को इसके लिए बहुत समय व्यय नहीं करना होता। इस सुव्यवस्थित पद्धति को पाकर समूचा संघ संतुष्ट और प्रगतिशील है।

तेरापथ की परंपरा में सेवा-भावना

(मुनि श्री चम्पालालजी)

व्यक्ति व्यक्ति है और संघ संघ। दोनों की अलग-अलग मर्यादाएँ हैं। परस्परोपग्रह की भावना का आधार समुदाय है व्यक्ति नहीं। अकेला व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। उसे न दूसरे की अपेक्षा होती है और न उसकी उपेक्षा दूसरों को प्रभावित ही करती है। इसका कारण है उसकी व्यक्तिवादी स्थिति। समुदाय में ऐसा नहीं होता। इसमें समस्त व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। एक के दुःख-सुख में सब और सबके दुःख-सुख में एक का सिद्धान्त वहीं फूलता-फलता है। अपेक्षा और उपेक्षा भी वहीं पनपती हैं। संगठन में व्यक्ति निरपेक्ष नहीं रह सकता। उसका रहन-सहन चिन्तन-मनन सभी अपेक्षा की परिक्रमा किए चलता है और यही तत्त्व उसे जीवित रखता है। दूसरे शब्दों में जिस संगठन में परस्परोपग्रह की भावना का विकास होता है, और जहां इस भावना को आदर की दृष्टि से देखा जाता है वहाँ संगठन की नींव दृढ़ हो जाती है और वह चिर काल तक अपना अस्तित्व बनाये रखती है। यह भावना सदस्यों में निश्चिन्तता ला देती है, जो साधु-जीवन का एक प्रमुख तत्त्व है। जिस संघ के सदस्य अपनी जीवन वृत्तियों के प्रति निश्चिन्त हैं जिन्हें जीवन का संरक्षण प्राप्त है उनकी साधना निखरती है और वे समाधि का अनुभव कर सकते हैं। समाधि की अनुभूति साधना का परिणाम है। यह तभी संभव है जब कि संघ का प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे से संबंधित रहता है। इस संबंध का आधार भौतिक नहीं आध्यात्मिक होता है। आध्यात्मिकता में एकत्व होता है, भौतिकता में विभेद।

तेरापंथ संगठन अध्यात्म क्रांति का एक चेतनावान संगठन है। इसके प्रगतिशील दो सौ वर्षों में लगभग दो हजार मुमुक्षु व्यक्तियों ने आत्म-साधना की। अपनी अनवरत साधना से जैन तत्त्ववाद तथा साधना पद्धति का विकास और चित्त समाधि का अनुभव करते हुए वे साम्याभिमुख हुए। दो सौ वर्षों की इस अवधि में भी यह संगठन अपनी एकता को लिए चल रहा है। इसका रहस्य है सदस्यों की परस्परोपग्रह की भावना का विकास। तेरापंथ के आचार्यों ने इस भावना की पुष्टि के लिए समय-समय पर नए-नए उपक्रम प्रस्तुत किए और संघ के प्रत्येक सदस्य को 'सेवाभावी' बनने की प्रेरणा दी।

सेवा—दो अक्षरों का यह छोटा सा शब्द भी कितना गूढ़ है यह अविदित नहीं है। इसके अनेक रूप हैं। प्रत्येक रूप अपने मूल से संबंधित है। मात्र सहयोग के अर्थ में 'सेवा' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह कुछ भ्रांति उत्पन्न कर देता है। सहयोग और 'सेवा' दो शब्द हैं, जिनका स्वरूप अत्यन्त भिन्न रहा है। सहयोग विनिमय की भावना को पनपाता है और इसमें सहयोग लेनेवाला तथा सहयोग देनेवाला—दोनों एक दूसरे के स्वार्थों के सूक्ष्म तारों से बंध रहते हैं। कहीं-कहीं यह सूक्ष्मता दृष्टिगोचर नहीं होती परन्तु सहयोग का अनुबंध स्वार्थ पर ही टिकता है। 'सेवा' में विनिमय का भाव नहीं रहता। उसमें आत्मा का विवेक होता है और वह सेवा चाहनेवाले के साथ जुड़कर तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तादात्म्य से अहंभाव टूट जाता है। सहयोग अहम्मन्यता का पोषक है। अहंकार से दूसरों को हीन समझने के भाव पनपते हैं और इससे आत्मा की पवित्रता नष्ट हो जाती है।

सेवा का अधिष्ठान है—विनीत आत्मा। विनीत वह होगा जो सरल होगा। सरलता मृदुता पर अवलंबित है। मृदु व्यक्ति सहज ही हल्का होता है। उसका हृदय स्वच्छ होता है। उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और निष्कपट होता है। वह दूसरों में अपनी सरलता को जोड़कर आत्मदर्शन करता है।

श्रद्धा विनय का आधार है। उसके अभाव में कोई झुकना नहीं जानता। अश्रद्धा में यह होता है। वह नम्रता को हड़प जाता है। उच्छृंखलता और जड़ता आती है। जड़ता व्यक्ति को 'सेवा' की परिधि में नहीं आने देती।

शिष्य का एक नाम विनय भी है। विनय अध्यात्म का मूल है। विनय को चापलूसी माननेवाले अज्ञान का पोषण करते हैं। विनय को हीनता से जोड़नेवाले भी जड़ हैं। विनय आत्मा का गुण है। जिस शासन में विनय है, वह शासन प्राणवान है। सेवा और विनय दो नहीं एक हैं।

जहां ससीम व्यवस्था है वहां व्यक्ति के स्वार्थ गौण हो जाते हैं। संघ का हित पहले है और व्यक्ति का बाद में। व्यक्ति

और सब दो होते हुए भी एक है। व्यक्ति-व्यक्ति से संघ बनता है और संघ का अणु-अणु व्यक्ति का आभारी है। संघ का उत्तरदायित्व किसी एक पर ही नहीं होता। प्रत्येक सदस्य उसके उत्तरदायित्व को वहन करता है। संघ में बौद्धिक भेद भले ही हों व्यवस्था सम्बन्धी भेद नहीं रहते। विद्वान हो या अल्पशिक्षित बड़ा हो या छोटा शासक हो या शासित अधिकारी हो या अधिकारी बुद्धिजीवी हो या श्रमिक—सभी व्यवस्था की दृष्टि से एक हैं। यही तेरापन्थ व्यवस्था की विशेषता है। आज तेरापन्थ साधु-साध्वियों के मानस इसी तथ्य से अनुप्राणित हैं। अतः वहाँ परस्परोपग्रह की भावना भी सहज है। सेवा करने वालों में न अहं के भाव पनपते हैं और न सेवा लेने वाला ही अपने में हीनता का अनुभव करता है।

तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु ने कहा "सगला रै सगला साधु ने साध्वी राखजो हेत विशेष"। संघ समृद्धि का यह मूल मन्त्र बन गया। प्रेम सेवा को सहज बना देता है। आज तेरापन्थ की तप पूत परम्परा में किसी भी सदस्य का यह चिन्ता नहीं रहती कि आगे क्या होगा ? बुढ़ापा कैसे बीतेगा ? आदि-आदि। तेरापन्थ के विधान की भाषा है—जब तक तुम में शक्ति है तुम संघ की सेवा करते रहो। जब तुम्हारा बल क्षीण हो जाएगा शासन तुम्हारी सेवा करेगा। यही सूत्र तेरापन्थ को सुसंगठित तथा विकासशील रखने में उपयोगी सिद्ध हुआ है।

शरीर भौतिक है। उसमें उपचय और अपचय होते ही रहते हैं। जब विजातीय द्रव्यों का आधिक्य होता है, वह रोग से ग्रस्त हो जाता है। अस्वास्थ्य व्यक्ति में नाना कल्पनाओं को उभार देता है। उस समय उसमें समाधि की चाह प्रबल बन जाती है। समाधि आत्मा का गुण अवश्य है, पर उसकी अभिव्यक्ति बाह्य निमित्त सापेक्ष होती है। रुग्णावस्था की दाहकता सहानुभूति की एक बूंद पाकर मिट जाती है। सहानुभूति जब हृदय से निकलती है तभी वह दूसरे को शान्त कर सकती है। बाह्याचार निभाने के लिए दिखाई जानेवाली सहानुभूति वंचना है धोखा है। तेरापन्थ के आचार्यों ने तथा उत्तरवर्ती साधु-साध्वियों ने अपने शिष्यों तथा सहयोगियों में यह भावना भरी कि प्रत्येक व्यक्ति का यह चिन्तन होना चाहिए और उसे इसी रूप में सोचना-समझना चाहिए कि मैं कम से कम सेवा लूं और ज्यादा से ज्यादा दूं। यह विनिमय व्यापार की दृष्टि से भले ही घाटे का सौदा लगता हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से यही लाभदायी है। जहाँ लेने में कम और देने में अधिक का ध्यान रहता है वहाँ लेनेवाला स्वयं ही अल्पतम लेने का प्रयास करता है। और जहाँ लेनेवाला अधिक लेना चाहे और देने वाला कम देना चाहे वहाँ संघर्ष होता है।

सेवा देने वाला आवश्यकता वश सेवा लेता भी है। देने लेने की दोनों स्थितियों में उसे सन्तुलन रखना चाहिए। सेवा लेते समय हर्ष और देते समय विषाद को प्राप्त हो जाना साधना की दुर्बलता है।

तेरापन्थ संघ में आज भी लगभग ६५ साधु-साध्वियाँ आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में आत्मजागरण के साथ-साथ जन जागरण का महान कार्य ले भारत के कोने-कोने में घूम रहे हैं। उनमें कई वर्षों के रोगी हैं, कई अपंग हैं कई अचक्षु हैं। इन्हें यथासम्भव स्थिरवास में रखा जाता है और व्यवस्था के अनुसार (सेवा—चाकरी के लिए) संघ के स्वस्थ साधु व साध्वियाँ वहाँ पहुँचकर उनकी सेवा करती हैं। यदि कोई सदस्य सेवा (चाकरी) से मुंह मोड़ने का प्रयत्न करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी बनता है। यथावसर आचार्य उसे संघ से अलग भी कर देते हैं। सेवा से इन्कार करने मात्र से संघ से अलग कर देने की बात कुछ अटपटी-सी लगती है परन्तु हमारा शासन सेवा को अत्यधिक महत्त्व इसलिए देता है कि संघ का समूचा आचार-विचार सेवा में ही फूलता-फलता है।

अर्ध शताब्दी पहले की घटना है—हरियाणा प्रान्त के अन्तर्गत 'थमरा' ग्राम में मुनि श्री चिरञ्जीलालजी का चातुर्मास था। उनके सहयोगी थे मुनि तिरखारामजी। चातुर्मास काल प्रारम्भ हुआ। मुनि चिरञ्जीलाल जी रोगाक्रान्त हुए। वमन और दस्तों का प्रकोप बढ़ा। साधु गृहस्थ से शारीरिक सेवा नहीं ले सकता। साधु ही उसकी सेवा कर सकता है। रोग बढ़ा। मुनि तिरखारामजी ने 'सेवा' करने से इन्कार कर दिया। मुनि चिरञ्जीलालजी में जब तक शक्ति रही वे स्वयं सफाई वगैरह करते रहे। दिन प्रति दिन शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगा। लोगों ने मुनि तिरखारामजी को समझाया पर उन्हें वमन तथा टट्टी साफ करते घृणा होती थी। उन्होंने यह कार्य करने से स्वयं को बचाये रखा। आयुष्य की अवधि पूर्ण होते ही उसी चातुर्मास में मुनि चिरञ्जीलालजी स्वर्ग सिधार गये। मुनि तिरखारामजी आचार्य कालूगणी (तेरापन्थ के सातवें आचार्य) के पास आये। आचार्य को पूरा वृत्तान्त पहले से ही ज्ञात था। आचार्य ने उन्हें सेवा न देने के लिये उपालम्भ देते हुए कहा—तुमने रुग्ण मुनि की सेवा न कर शासन का महान् अपराध किया है। उनकी सेवा शासन की सेवा थी आचार्य

की सेवा की मानवता को सजा दी। यह अपराध अक्षम्य है। तुम्हें इसका दुष्फल भोगना होगा। सेवा न करने के अभियोग में तुम्हें संघ से बहिष्कृत करता हूँ। तिरस्कारपूर्वक संघ से अलग कर दिये गए। उसके ज्ञातिजनों व उनाने स्वयं उन्होंने भी शासनपति से पुनः संघ में सम्मिलित करने के लिए बहुत अनुनय विनय की। पर शासनपति ने कहा—जो सेवा से जी चुराता है वह तेरापंथ के संघ का सदस्य नहीं रह सकता। ज्ञान-ध्यान की अपेक्षा सेवा का अवष्टम्भ ही शासन के लिये अधिक महत्त्व का है।

व्यक्ति समष्टि का पूरक है। वह उसी का एक अंग है। व्यक्ति की स्वस्थता समष्टि की स्वस्थता है। आचार्य श्री भिक्षु ने कहा—वह रोगी सेवा मांगता है पर वह संघ को परितापित नहीं करता। वह सेवा का उपकार मानता है सेवा करने वाले का आभारी रहता है और संयमी जीवन का उपष्टम्भ देनेवाले आचार्य का जन्म-जन्म तक ऋणी रहता है। आचार्य का यह परम कर्तव्य होता है कि वे उसे यथासंभव यथायोग्य सुविधाएँ देने का प्रयास करें। यह सत्य है कि सुविधाएँ कल्प्य और अकल्प्य की परिधि में ही होंगी फिर भी उनसे साधना में सहयोग मिलता है। शरीर के रोगी के लिये यह पथ्य है। मन का रोगी बुरा होता है अचिकित्स्य होता है। वह संघ में अहितकर होता है उस संघ से अलग कर दो।

रोगी की सेवा धर्म इसलिये है कि सेवा करने वाला स्वयं लाभान्वित होता है। सेवा का मुख्य फल है आत्मगुणों का विकास और गौण फल है रोगी का स्वास्थ्य लाभ। सेवा मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। कर्म निर्जरा का अर्थ है—पवित्रता। पवित्र आत्मा में ही धर्म ठहरता है। सेवा धर्म का उपष्टम्भ है। धर्म तीर्थ चतुष्टय में अभिव्यक्ति पाता है।

आचार्यों ने कहा "जो संघ सेवा-शुश्रूषा की भावना को नहीं जानता उसे प्रश्रय नहीं देता जिस संघ के आचार्य अपने संघ के सदस्यों के सुख-दुःख निवारण की विधि नहीं जानते रोगी की चिकित्सा विधि से अजान हैं, वह संघ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है"[1]।

रोगाक्रान्त व्यक्ति संकल्प-विकल्प की उधेड़बुन में संलग्न रहता है। यदि उसकी वैयावृत्य न हो तो उसे समाधि कैसे मिले? समाधि के बिना विकल्पों से छुटकारा नहीं मिलता। रोगोपचार के बिना उसका धर्म-ध्यान नहीं बढ़ता। अतः सहधर्मिकों को चाहिए कि वे ग्लान या रुग्ण व्यक्ति की अग्लान भाव से सेवा करें उसे सान्त्वना दें।

सेवा के तीन प्रकार हैं—स्वसेवा पर सेवा और स्वपर की सेवा। सेवा का अर्थ है आज्ञा की आराधना। जब व्यक्ति आज्ञा में संलग्न रहता है वह अपनी सेवा करता है। इस प्रकार स्वयं का कार्य भी सेवा है यदि वह आज्ञानुरूप किया जाय। दूसरों का कार्य भी सेवा नहीं है यदि वह केवल करने के लिए किया जाय या वह यशोलिप्सा से उत्प्रेरित हो। व्यवहार भाष्य में सेवा के दस प्रकार बताए गए हैं। वहाँ कहा गया है कि आचार्य उपाध्याय स्थविर, तपस्वी शैक्ष ग्लान सहधर्मिक कुल गण और संघ की वैयावृत्य करता हुआ मुनि महानिर्जरा तथा महापर्यवसान का लाभ उपार्जित करता है। आचार्य उपाध्याय स्थविर आदि के प्रति आदर बहुमान रखना तथा उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना सेवा का उत्कृष्ट रूप है। तपस्वी को तपस्या में सहयोग देना भी सेवा है। नवदीक्षित को सामाचारी के विधि-विधानों से अवगत कराना भी सेवा है। रोगी को औषधोपचार से प्रतिकारित करना भी सेवा है। कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति के प्रति सहानुभूति दिखाना भी सेवा है। सहधर्मिक को धर्म पथ पर अग्रसर करना या उनकी जीवन विधि के प्रत्येक चरण में सहयोगी बनना भी सेवा है। कुल गण और संघ की प्रभावना के लिए सतत प्रयत्नशील रहना भी सेवा है। केवल कष्टाभिभूत व्यक्ति को कष्टों से छुटकारा दिलाना ही सेवा नहीं दुःखी व्यक्ति को धर्म की ओर अग्रसर करना भी सेवा है। केवल रोगी को रोगमुक्त करना ही सेवा नहीं उसको रोग के उपादानों से परिचित कराना भी सेवा है।

गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—भगवन्! वैयावृत्य करने से जीव क्या लाभ पाता है? भगवान ने कहा—गौतम! वैयावृत्य करता हुआ जीव तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन कर लेता है[2]। यही है सेवा का परिणाम।

तपस्वी अपनी स्वाद-अभिलाषा का संवरण करता है। दमितात्मा अपने मन तथा इन्द्रियों का दमन करता है परन्तु

१—उप्पन्ने गेलन्ने जो गणधारी न जाणई तं तिगिच्छं।
रोग तओ विणासो सुह दुक्खा तेण उप्पन्ना॥ —व्यवहार भाष्य ५।१२८

२—उत्तराध्ययन, २९।४३

सेवाभावी व्यक्ति अपने समस्त कार्यों का रोगी-ग्लान के लिए उत्सर्ग करता है। यह उत्तम तपस्या है। अपनी इच्छाओं का दमन कर दूसरों के मनोनुकूल निःस्वार्थ भाव से बर्ताव करना समर्पण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इच्छाओं का त्याग ही सबसे बड़ा त्याग है, तपस्या है। इसीलिए भगवान महावीर ने सेवा को कर्म-निर्जरण का एक महान् हेतु बतलाया है।

वैयावृत्य अनेक प्रकार से की जा सकती है। भाष्यकार ने उसके तेरह प्रकार कहे हैं—भक्त, पान, शय्या, संस्तारक आसनादि देना, क्षेत्र का प्रतिलेखन करना, पात्र का प्रमार्जन करना, ग्लान रोगी को औषधि का लाभ देना, पथिकों के अनुग्रह के लिए व्यवस्था करना, राजा आदि के कोपभाजन हुए व्यक्तियों का निस्तार करना, शरीर उपाधि आदि का संरक्षण करना, अतिचार विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना, ग्लान को समाधि उत्पन्न करना तथा अपने सहधर्मिकों का उच्चार प्रस्रवण आदि के पात्रों की व्यवस्था करना—ये सभी सेवा के विभिन्न प्रकार हैं[1]।

ग्लान की उपेक्षा भयंकर अपराध है। आचार्य भिक्षु ने अपने वि० सं० १८४५ के विधान पत्र में लिखा—यदि कोई साधु बीमार हो, आँखों से असहाय हो, अवस्था से परापेक्षी हो तो दूसरे मुनि उसकी अग्लान वृत्ति से वैयावृत्य करें। उसे अनशन या तपस्या के लिए बाध्य न करें। उसकी वैराग्य भावना विकसित हो ऐसा उपक्रम करें। आँखों से असहाय मुनि को विहार में अकेला न छोड़ें, दूसरों के भरोसे न रहें, उसे सावधानी से चलाएँ, रोगी हो तो उसका भार स्वयं उठावें। ऐसा करें कि उसके परिणाम अच्छे रहें। जब तक वह मुनि धर्म पालन की इच्छा रखे, उसे येन-केन प्रकारेण निभाए। उसका तिरस्कार न करें। यदि वह स्वेच्छा से आमरण अनशन करे तो उसे सहयोग दें। अनशन अवस्था में उसे विषय विशेष समाधि उत्पन्न करने का प्रयास करें। यदि कोई साधु किसी ग्लान मुनि की वैयावृत्य करते-करते ऊब जावे तो संघ के अन्य मुनिगण उस ग्लान की वैयावृत्य तन-मन से करें। जो सेवा करने से जी चुराये उसे कड़ा उपालम्भ दें। जो सेवा देता ही नहीं उसे सेवा लेने का अधिकार ही क्या?

यह विधान विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में बना। इसमें सेवा के उपकरण रूप में जो नियम निर्दिष्ट किये गये हैं वे कितने मार्मिक हैं यह पाठक स्वयं जान लें। रोगी को अनशन के लिए बाध्य नहीं करना यह सेवा करने की भावना की उत्कृष्ट सीमा है।

रोगी के लिये औषधि जितनी उपयोगी है उतना ही उपयोगी है उसका पथ्य-विवेक। पथ्य के प्रति जागरूकता रखना भी सेवाभावी का परम कर्तव्य है। जो इसमें अजागरूक रहता है वह रोगी की उपेक्षा करता है। आचार्य भिक्षु इस विषय में कितने जागरूक रहते थे इसका स्फुट निदर्शन आचार्य भिक्षु के जीवन प्रसंग से अवसेय है। नाथद्वारा की बात है। मुनि भारमलजी ज्वर से पीड़ित हुए। मुनि हेमराजजी भिक्षाचरी के लिये गए और कुछ असावधानी या पात्रों की कमी के कारण दो प्रकार की दाल एक ही पात्र में ले आए। चने की और मूंग की दाल को मिली हुई देख आचार्य भिक्षु ने उपालम्भ दिया। मुनि हेमराजजी ने अपनी भूल स्वीकार की। स्वामीजी ने कहा—देखो! रोगी के पथ्य का ध्यान पहले होना चाहिये। हमें उसके पथ्य की प्राप्ति के लिये एक बार दो बार दस बार जाना पड़े तो भी कोई बात नहीं। हमें उसकी सुविधा को महत्त्व देना है। अपने आलस्य से उसको तनिक भी असमाधि हो यह प्रमाद अक्षम्य है। कभी कभी रोगाक्रान्त मुमुक्षु इतना क्षीण हो जाता है कि उसे मीलों तक उठाकर ले जाना पड़ता है। जैन मुनि वाहनों का उपयोग नहीं करते हैं। अतः साधु साधु को उठा के जाते हैं और साध्वी को साध्वियाँ। दो सौ वर्षों के इस इतिहास में अनेक प्रसंग ऐसे आये जिनमें १०-१५ मील तक साधु-साध्वियों को उपचारार्थ ले जाना पड़ा।

मैंने यह पहले ही उल्लेख किया है कि जो साधु-साध्वी चल-फिर नहीं सकते उन्हें एक ही स्थान पर रख दिया जाता है। साधुओं की परिचर्या के लिए साधु और साध्वियों की परिचर्या के लिए साध्वियाँ भेजी जाती हैं। वर्तमान में सबसे बड़ा स्थिरवास लाडनूं (राजस्थान) में है। वहाँ ३०-४० साध्वियाँ उपचारार्थ रहती हैं और प्रति वर्ष ८-९ साध्वियों का एक सिंघाटक वहाँ जाता है। जब-जब आचार्य प्रवर वहाँ पधारते हैं तब-तब समस्त साध्वियों को एकत्र कर उनकी परिचर्या के विषय में पूछा जाता है। यदि उनकी परिचर्या में तनिक भी कमी जान पड़ती है तो परिचर्या में रहनेवाली

1—भत्ते पाणे सयणासणे य पडिलेह पाय मच्छिमद्धाणे।
राया तेणे दण्डग्गहे य गेलण्ण मत्ते य ॥ —व्यवहारभाष्य

साध्वियों को उपालम्भ मिलता है कभी-कभी दण्ड भी भोगना पड़ता है। यह जागरूकता सर्वत्र बरती जाती है। आज एक शताब्दि से इस स्थिरवास में रुग्ण व ग्लान साध्वियों की सेवा हो रही है। तेरापंथ विधान का एक नियम है कि साध्वियों के प्रत्येक संघाटक को एक वर्ष तक वहाँ सेवा देनी होगी। इस अनिवार्यता ने साध्वियों के हृदय में एक ऐसी भावना उत्पन्न कर दी है कि दसों संघाटक प्रतिवर्ष अपना आवेदन आचार्य श्री के चरणों में उपस्थित करते हैं और आचार्य श्री उनमें से किसी एक संघाटक को सेवा में भेज देते हैं। जिस उत्साह और तन्मयता से सेवा की जाती है वह अन्यत्र सुलभ नहीं होती। हमने अनेकानेक उपचारगृह देखे हैं परन्तु जिस निःस्वार्थ बुद्धि से यहाँ सेवा की जाती है, तथा रुग्ण या ग्लान मुमुक्षु को समाधि पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है वह अदृष्टपूर्व है। यह सारी सेवा श्रामण्य की परिक्रमा किये चलती है। अत करनेवाली तथा कराने वाली दोनों को आनन्द की अनुभूति होती है। जहाँ तादात्म्य होता है, वहाँ स्व व पर का भाव नहीं टिकता। सब सबके हैं—यह भावना सेवा में तादात्म्य ला देती है।

लाडनूं का स्थिरवास सबसे बड़ा है। छोटे-छोटे स्थिरवास भी हैं जहाँ साधु-साध्वियों को उपचारार्थ रखा जाता है। रोगी को उपयुक्त औषधि कहाँ मिलेगी पथ्य के लिए कौन सा क्षेत्र अनुकूल है, आदि का ध्यान आचार्य को रखना होता है और तदनुकूल व्यवस्था करनी पड़ती है।

२५ वर्ष पूर्व की घटना है। मुनि श्री पन्नालालजी को लकवा मार गया। मुँह पर लकवे का असर अधिक था। उनकी परिचर्या करनेवालों ने अपूर्व आदर्श उपस्थित किया। मुनि श्री मगनजी उनकी टट्टी उठाते शुचि करवाते तथा अन्यान्य कार्य भी करते। उन्हें न ग्लानि होती थी और न घृणा ही। उन्हें वे खाना खिलाते। लकवे के कारण वे खा नहीं सकते थे आधा जाते आधा मुँह से निकल जाता। मुँह से निकला हुआ भोजन वे सेवाभावी मुनि स्वयं खा जाते और उन्हें दूसरा भोजन देते। इस घटना को पढ़नेवालों में कुछ घृणा का भाव उभर सकता है, परन्तु ग्लान व्यक्ति के प्रति अग्लान भाव का क्या यह बेजोड़ उदाहरण नहीं है? क्या यह तादात्म्य का उत्कृष्ट आदर्श नहीं है?

मुनि कोदरजी घोर तपस्वी थे। अस्वाद वृत्ति के वे अनन्य उपासक थे। वे निरन्तर तपस्या करते और पारणे में बाजरे की रोटी और साग-सब्जी के स्थान पर गरम पानी का उपयोग करते। यह क्रम एक-दो मास का नहीं जीवनभर का बन गया था। उपवास से भी आचाम्ल की तपस्या कठिन होती है। पर तपस्वी कोदर जी के लिए यह कुछ साधारण बन गया था। बीकानेर की बात है। मुनि कोदरजी जयाचार्य (मुनि अवस्था में) के साथ चातुर्मास में स्थित थे। चातुर्मास के प्रारम्भ में इस तपस्वी ने एक प्रतिज्ञा की कि चार महीनों तक कोई भी मुनि भिक्षा के लिए न जाए। मैं अकेला सबके भोजन तथा पानी की व्यवस्था करूँगा। सब की सेवा का भार मैं लेता हूँ। सभी मुनि अवाक रह गए। इतने मुनियों के लिए घर-घर से भिक्षा तथा पानी लाना कोई साधारण कार्य नहीं था परन्तु तपस्वी मुनि ने इसे पूर्णत निभाया। स्वयं तपस्या भी करते और साथ-साथ सहधार्मिक मुनियों की सेवा भी।

घोर तपस्वी मुनि श्री सुखलालजी उत्कृष्ट सेवाभावी थे। उन्हें स्वयं जितना खाने में आनन्द नहीं आता उतना आनन्द दूसरों को खिलाने में आता। कार्य करने में उन्हें आमोद होता। ५ ६ दिन के उपवास में भी भिक्षा के लिये जाते और सभी प्रकार से मुनियों की वैयावृत्य करते। उन्हें जब यह पता लग जाता कि कोई मुनि रुग्ण है, तो वे शीघ्रता से उसके पास पहुँच जाते और बिना कहे-सुने सेवा में संलग्न हो जाते।

बाल मुनियों की सेवा में मुनि श्री ईसरजी का नाम सदा स्मरणीय रहेगा। बाल मुनि को तैयार करना रीति-नीति से उसे अवगत कराना उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना श्रामण्य में वह रच-पच जाए ऐसा उपक्रम करना आदि उनकी साधना का ध्येय बन गया था। अपने पास जो होता उसको दूसरे के लिए समर्पित कर ही वे आनन्द मानते थे। इसी प्रकार मुनि श्री केसरीचन्दजी खेतसीजी टीकमजी आचार्य भारमलजी सतीदासजी आदि-आदि की सेवाएँ भी अनुकरणीय हैं।

आज्ञा की आराधना ही सेवा है। आज्ञा के संवाहक आचार्य होते हैं। अतः उनकी आराधना भी सेवा ही है। मंत्री मुनि श्री मगनलालजी ने इस दिशा में एक आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने पाँच आचार्यों की आराधना की। आचार्य मघवागणी से उन्हें संस्कार मिले। आचार्य माणकगणी की उन्हें मृदुता मिली। आचार्य डालगणी के उपालम्भों ने उन्हें अनुशासन में रहने और शासन करने की कला सिखाई। आचार्य श्री कालूगणी के साहचर्य में उन्होंने जीवन-तत्त्व पाया

और आचार्य श्री तुलसी के सहयोग से उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य साध लिया। आचार्य की दृष्टि के पीछे उनकी दृष्टि रहती। कार्य के पीछे कार्य और विचार के पीछे विचार रखते हुए, 'इंगीयागार सम्पन्ने' की आप्तवाणी को जीवन के अणु-अणु में प्रतिबिम्बित कर उन्होंने हमें एक अनूठा मार्ग दिखाया है।

तेरापथ के आचार्य संघ के सर्वेसर्वा होते हैं। उनमें संघ-संचालन की सर्वसत्ता निहित होती है। संघ के सदस्य उनके वचनों को 'पत्थर की लकीर' मानते हैं और उनके वचनों के अनुसार अपने जीवन को बनाने में अपना सौभाग्य मानते हैं। उनके एक-एक शब्द पर मर मिटने की भावना सेवा का साकार रूप है। हमारे कितने ही साधु-साध्वियों ने प्राणों का उत्सर्ग करके भी आचार्य के आदेश का पालन किया है। "आज्ञा परम धर्म है" जो ऐसा मानकर चलता है उसमें श्रद्धामूल बन जाती है और वह लक्ष्य को सरलता से साध लेता है।

वि॰ सं॰ की बात है। मर्यादा महोत्सव सुजानगढ़ में था। अष्टमाचार्य श्री कालूगणी ने साध्वी श्री छगना जी को देवगढ़ (मेवाड़) में चातुर्मास करने के लिये फरमाया। सुजानगढ़ से देवगढ़ १५ मील है। साध्वी श्री अत्यन्त अस्वस्थ थी। आचार्य को यह ज्ञात नहीं था। गुरुदेव का आदेश पा साध्वी श्री ने विहार किया। दो दिन में ६ मील पहुँची। जब आचार्य श्री को यह पता लगा कि साध्वी अत्यन्त अस्वस्थ हैं तब चातुर्मास का क्षेत्र परिवर्तित कर देने की बात रही। परन्तु साध्वी श्री ने कहा—एक बार जो गुरु मुख से निकल गया मैं तो उसी का पालन करूँगी। अटूट श्रद्धा और अप्रतिम आत्म-बल के साथ साध्वी श्री छगनाजी लगभग ५ महीने में देवगढ़ पहुँची। वहाँ पहुँचते ही आपने कहा—आज मैं हल्की हो गई हूँ। गुरुवर का आदेश पालन कर मैं अपूर्व आनन्द का अनुभव करती हूँ। मैं यथादिष्ट स्थान पर पहुँच गई। यह मेरे लिए परम प्रमोद का विषय है। साधक के लिए गुरु आज्ञा से बढ़ कर और क्या हो सकता है आदि आदि। उसी रात में आपने गुरु की साक्षी से समस्त साध्वियों के समक्ष आमरण अनशन कर लिया और समाधिपूर्ण मृत्यु को पाकर आज्ञापालन का एक अनूठा निदर्शन प्रस्तुत किया।

सघीय हित के लिए अपने बड़े से बड़े लाभ का भी बलिदान कर देना बहुत बड़ी सेवा है। तेरापथ का विधान है कि आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करते हैं। तेरापथ के छठे आचार्य माणकगणी का अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। आचार्य किसे चुना जाय—यह प्रश्न संघ को झकझोरने लगा। उस समय मुनि श्री कालूगणी का सभी क्षेत्रों में प्रभाव था। सब का विश्वास था कि वे आचार्य बनेंगे। आचार्य निर्वाचन का कार्य उन्हें दिया गया। उन्होंने शासन हित की दृष्टि से दूसरे मुनि का नाम आचार्य पद के लिये घोषित कर दिया। किसी ने पूछा—कालूगणी क्या तुम आचार्य बनोगे? उन्होंने कहा—मुझ में इतनी योग्यता ही कहाँ है? हमारे शासन में अनेकों अच्छे-अच्छे विद्वान श्रुतधीक व ज्ञानसम्पन्न मुनि विद्यमान हैं। मुझ में ऐसा है ही क्या कि मैं आचार्य बनूँ? मेरा मुँह तो उन के पैरों जैसा है। मुनि कालू जी चाहते तो आचार्य बन सकते थे क्योंकि समूचे संघ का उन्हें विश्वास प्राप्त था। परन्तु शासन हित की दृष्टि से उन्होंने यह त्याग किया जो तेरापथ के दो सौ वर्षों में एक नवीन इतिवृत्त है।

कई मुनि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि उन्हें कहीं भी कभी भी किसी की भी सेवा में नियुक्त कर देने पर वे उसकी मनाही नहीं करेंगे व ग्लान व्यक्ति की सेवा करते-करते अपना जीवन सहर्ष पूरा कर देंगे। उनमें से कुछ एक के नाम हैं—मुनि श्री अनेचन्दजी मुनि श्री शिवराजजी मुनि श्री अमृतमलजी मुनि श्री हीरालालजी मुनि श्री भवानजी मुनि श्री चौथमलजी आदि-आदि।

साधु-समाज की तरह साध्वी समाज भी सेवा भावना में बेजोड़ है। विगत दो सौ वर्षों में रुग्ण साध्वियों की परिचर्या में जो कुछ उसने बलिदान किया है वह समय-समय पर मूर्त बनता जा रहा है। साधुओं की अपेक्षा साध्वी समाज बड़ा है। अतः रुग्ण आदि की संख्या उसमें अधिक है। परन्तु जिस तन्मयता और आत्मीयता से सेवा हुई है और आज भी हो रही है वह अन्यान्य सेवाभावी संस्थाओं में अनन्यपूर्ण है। एक रुग्ण साध्वी की परिचर्या के लिए १-२-५ साध्वियाँ भी तत्पर रहती हैं। यह कोई कम बात नहीं है।

सेवा भावी साध्वियों में साध्वी श्री सोहना जी साध्वी श्री संतोका जी साध्वी श्री मनूजी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

दूसरे की रक्षा के लिए स्वयं को मृत्यु के मुख में डाल देना अपार आत्मबल का सूचक है। स्वयं के उत्सर्ग की भावना

तब पनपती है जब व्यक्ति उसी उत्सर्ग में अपने लक्ष्य के दर्शन करता है। तेरापंथ समाज के मुनियों के आत्म उत्सर्ग की भावना के वृत्तान्त से भरा गया है और आज भी यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

वि० सं० १८८४ की घटना है। तेरापंथ के तृतीय आचार्य श्री ऋषि रायचन्द जी मालवा पधार रहे थे। मुनि जीतमलजी (श्रीमज्जयाचार्य) साथ थे। वे झाबुआ की सघन झाड़ियों से होकर गुजर रहे थे। मुनि जीतमलजी ने एक रीछ को ऋषि रायचन्दजी की ओर आते देखा। वे लपक कर ऋषि राय के आगे हो गए और गुरुदेव को अपनी ओट में रखते हुए निडरता से आगे चलते रहे। संयोगवश रीछ ने अपना मार्ग बदल दिया और वह धीरे-धीरे झाड़ियों में अदृश्य हो गया।

मेरे जीवन में भी ऐसे कई प्रसंग आए हैं, जिनमें मैंने अपने आपको खतरे में डालकर आचार्य श्री को चोट आने से बचा लिया है। अभी-अभी कानपुर में भी ऐसी ही एक घटना हुई थी जिसमें गाय ने मुझे काफी चोट भी पहुँचाई। फिर भी मुझे प्रसन्नता थी कि मैंने अपना कर्तव्य सतर्कता से निभाया है। इसी प्रकार जोधपुर, चूरू आदि में भी ऐसा मौका मिला था और मैं स्वयं कर्तव्यपालन से प्रसन्न था।

उपर्युक्त विवरण में मैंने 'सेवा' के विभिन्न रूपों की चर्चा की है। वह इसलिये कि केवल शारीरिक सुख पहुँचाना ही सेवा नहीं उसके अतिरिक्त कार्य भी सेवा में आ जाते हैं। अनेक प्रवाहों में बहती हुई सेवा-भावना अन्ततः आत्मतुष्टि के महासमुद्र में जा मिलती है, जहाँ साधक को आनन्द ही आनन्द दीखता है।

तेरापंथ की तपस्वी परम्परा में सेवाभावी साधु-साध्वियों ने शासन के वृक्ष को जितना सींचा है उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब आज के तेरापंथ के प्रगतिशील चरणों में प्रतिभासित होता है। आज भी अनेक साधु-साध्वी अपनी सेवा-भावना से शासन की प्रभावना कर रहे हैं। उनके इस सत्कार्य के लिए शासन उनका शतशः अभिवादन करता है।

तेरापंथ में संस्कृत विद्या का विकास

(मुनि श्री चन्दनमलजी)

किसी भी नव्य वस्तु को समाज में लाना, सुस्थिर बनाना और उसे फैलाना आसान नहीं है क्योंकि वहाँ न तो उसके अनुकूल वातावरण ही होता है और न समुचित साधन ही। प्रारम्भिक प्रयास प्राय विफल सा दिखाई देने लगता है। वहाँ यदि मनुष्य हताश हो जाए तो वह प्रयास प्रयास मात्र ही रह जाता है। महापुरुष उन्हीं को कहा जाता है जो विघ्नों के थपेड़ों से कभी नहीं घबराते और अपने संकल्प में आगे बढ़ते जाते हैं। भिक्षु शासन में संस्कृत विद्या का विकास इसी ओर संकेत करता है। महामहिम श्री भिक्षु स्वामी जिस समाज से पृथक हुए थे उस समाज में उस समय संस्कृत विद्या का नाम भी नहीं था। अत स्वामीजी को इस विद्या की आनुषंगिक प्राप्ति नहीं हुई और न तो आगम ज्ञान का अगाध पाण्डित्य रखते हुए वे भविष्य में इस विद्या को अपना ही सके क्योंकि उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग संघर्ष में ही बीता था। द्वितीय पदाधिकारी भारमलजी स्वामी को भी इस विद्या की प्राप्ति का सुअवसर नहीं मिला।

संस्कृत विद्या का बीजारोपण

तृतीय आचार्य श्री रायचन्दजी स्वामी के शासन काल में भावी आचार्य श्री जीतमलजी स्वामी ने संस्कृत विद्या का बीजारोपण किया। उन दिनों आप श्री हेमराजजी स्वामी के साथ रहते हुए शास्त्रों का गंभीर अध्ययन कर रहे थे। आप की कुशाग्र मेधा आगमामृत का पान करती हुई तृप्ति का अनुभव करती थी। फिर भी शब्दों की व्युत्पत्ति अथवा उसका अर्थ समझने की अभिलाषा लगी ही रहती थी। आपने यह निःसन्देह जान लिया था कि आगमगत सूक्ष्म विचारों का पौर्वा-पर्य संबंध जोड़ने तथा तत्कालीन आचार्यों की मान्यताओं को जानने के लिए टीका वृत्ति दीपिका चूर्णि भाष्य आदि का सम्यक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यह संस्कृत और प्राकृत बोध के बिना होना असम्भव है। अत इसकी प्राप्ति का यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिए।

प्रयत्न करने पर भी उस समय उचित योग का मिलना आसान नहीं था। वैतनिक पंडितों से पढ़ना अनागम निषिद्ध है। अत भक्तिपूर्वक विद्या-दान देनेवाले सुसंस्कृतज्ञ का योग मिलने से ही काम बन सकता था।

वि सं १८८१ में श्री हेमराजजी स्वामी का चातुर्मास जयपुर में था। उस समय जयाचार्य २१ वर्ष के एक युवक साधु थे। चाह को राह मिलती है। इस उक्ति के अनुसार उन्हें वहाँ एक जैन श्रावक के लड़के का सुयोग मिला। वह उन दिनों संस्कृत पढ़ रहा था। वह कभी-कभी आपकी सेवा में भी आया करता था। एक दिन किसी बात के प्रसंग में उसने अपने संस्कृत पढ़ने का जिक्र किया। अवसरज्ञ जयाचार्य ने उससे कहा—प्रतिदिन तुम जितना पाठ पढ़ते हो उतना रात को मुझे सुना दिया करो। इससे तुम्हारा अध्ययन परिपक्व हो जायगा और मुझ भी देववाणी का परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल जायगा। उसने स्वीकार करते हुए कहा—भगवन्! यह तो मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। एक तो मुझे आपकी सेवा का लाभ मिलेगा, दूसरे जिस सारणिका को दोहराने में आलस्य किया करता हूँ वह आपके संयोग से सुचारु रूप में दोहराई जायगी। बस यह क्रम चलने लगा। रात को वह आपकी सेवा में आता और दिन में की हुई साधना यथा स्मृति सुनाने का प्रयत्न करता। आप दिन में व्याकरण पाठ कण्ठस्थ कर लेते और रात को उसकी सारणिका को बड़ी तत्परता से सुनते।

व्याकरण का पढ़ाना कोई साधारण बात नहीं है। बड़े-बड़े पंडित भी इसमें चक्कर खा जाते हैं। उसमें भी संस्कृत की प्रथम कक्षा का छात्र! भला वह क्या व्याकरण की साधनिका करवाये। उससे आपकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती थी। आप उसे जहाँ कहीं गवेषणा में पूछते—वहाँ वह पंडितजी ने तो ऐसा ही कहा था कहकर चुप हो जाता। कभी-कभी तो वह स्वयं भी इतना उलझ जाता कि अगले दिन पूछ कर बतलाने के लिए कहता। फिर भी आप 'कुछ नहीं' से तो 'कुछ' अच्छा ही होता है, ऐसा मान कर ही अपना अध्ययन चालू रखते। कभी-कभी सही भावार्थ समझ में नहीं आने से आप स्वयं अपनी

बुद्धि से कुछ दूसरा अर्थ बतलाते। वह छात्र आपकी मेधा पर आश्चर्यचकित होकर तत्काल कहता—हाँ मुनिजी मैं भूल गया। आप जो कहते हैं वही सही अर्थ है। गुरुजी ने ऐसा ही समझाया था। अब मुझे स्मरण आ रहा है।

इस भाँति आपने संस्कृत भाषा ज्ञानोदधि में चञ्चु प्रवेश किया। पंच सन्धि षटलिङ्ग आदि के अध्ययन के साथ ही आपने साधना सहित राजस्थानी भाषा में उसके दोहे भी बना दिये। यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि आप अपने सतत प्रयास और प्रतिभा के द्वारा निर्युक्ति टीका चूर्णि भाष्यादि का तात्पर्यार्थ समझने में अच्छे समर्थ हो गए।

आपने अपने अनेक ग्रन्थों में सूक्ष्म विषयों का विवेचन करते हुए तद्विषयक अन्यान्य संस्कृत ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। उनका पारायण करने वाला व्यक्ति स्थान-स्थान पर ऐसा वाक्य पायगा कि इस विषय में टीकाकार का यह मत है, चूर्णि व भाष्यकार ऐसे प्रतिपादित करते हैं, सम्यपट्टक में जिन वल्लभ सूरि यों फरमाते हैं आदि। इस तरह आपकी सूक्ष्म ग्रहण शक्ति का स्वतः परिचय मिल जाता है। इतना होने पर भी हमें मानना पड़ेगा कि वह भिक्षु शासन में संस्कृत विद्या के बीज-वपन का ही समय था।

सस्कृत भाषा के प्रथम विद्वान्

पंचम आचार्य श्री मघवागणी को गुरु-परम्परा से संस्कृत विद्या का लाभ मिला। आप बाल्यकाल से ही जयाचार्य के द्वारा आगम ज्ञान के साथ संस्कृत अध्ययन में अग्रसर किये गये थे। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। सीखने के बाद भूलना तो मानो आप जानते ही नहीं थे। सारस्वत का पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका का उत्तरार्ध आपने कण्ठस्थ किया था। इसके अतिरिक्त पाणिनीय और जैनेन्द्र व्याकरणों का भी आपने सांगोपांग अध्ययन किया था। शिशुपाल वध किरातार्जुनीय भट्टी काव्य पुर्घट, यशस्तिलक (चम्पू) अभिज्ञान शाकुन्तलम् आदि काव्य ग्रन्थों तथा समाधितन्त्र विदग्ध मुखमण्डन न्याय दीपिका योगशास्त्र आदि शास्त्रों की अनेक टीकाओं का आपने गहन अनुशीलन अध्ययन व मनन किया था।

प्रातःकालीन शास्त्र व्याख्यान के साथ आप भरत बाहुबलि आदि महाकाव्य भी फरमाया करते थे। आपकी व्याख्या के साथ वे काव्य इतने रुचिकर प्रतीत होते थे कि सुननेवाले श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाया करते थे। बड़े-बड़े पण्डित भी आपकी असाधारण विद्वत्ता के समक्ष नत मस्तक हो जाते थे। इस तरह आचार्य मघवागणी को तेरापंथ शासन में संस्कृत का प्रथम विद्वान माना जाता है।

संस्कृत विद्या शास्त्रीय ज्ञान की कुञ्जी है

परमाराध्य अष्टमाचार्य श्री कालू गुरुदेवजी की दीक्षा भी मघवागणी के द्वारा सम्पन्न हुई थी। उस समय आपकी अवस्था लगभग साढ़े दस वर्ष की थी। होनहार लघु शिष्य पर मघवागणी की असाधारण कृपा थी। आपने दशवैकालिक आदि शास्त्रों को कण्ठस्थ कराने के साथ-साथ उन्हें व्याकरण पढ़ाना भी प्रारम्भ कर दिया था। आप समय-समय पर अपनी शिष्य मण्डली को शिक्षामृत पिलाते हुए फरमाते—शिष्यो! संस्कृत विद्या शास्त्रीय बोध के लिए एक चाबी है। जिस प्रकार हथौड़े से भी कठिनता से खुलनेवाले ताले चाबी से क्षण भर में खुल जाते हैं, उसी प्रकार ऋषि-महर्षियों के विचार रत्न इस विद्या के द्वारा अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

बीज बीज रूप में रहे पर नष्ट नहीं हुए

यद्यपि कालूगणी की संस्कृत विद्या का प्रारम्भ बाल्यकाल में ही हो चुका था फिर भी मघवागणी के शीघ्र ही दिवंगत हो जाने के कारण उन्हें गुरुचरण की सेवा का लाभ स्वल्प ही मिल पाया। इसलिए बोये हुए संस्कृत विद्या के बीज फलित नहीं हो सके क्योंकि जल आतप व हवा आदि सहकारी कारणों के बिना बीज श्रेष्ठ होते हुए भी फलित नहीं हो सकते—यह निर्विवाद सिद्ध है। फिर भी क्षेत्र अत्यधिक उर्वर होने के कारण वे बीज बीज रूप में सुरक्षित रहे नष्ट नहीं हुए।

षष्ठाचार्य श्री माणकगणी भी सारस्वत चन्द्रिका के पाठी थे। किन्तु उन्होंने आचार्य पद साढ़े चार वर्ष ही सम्भाला। उसमें भी अधिकांश देश-विदेशों में पर्यटन बहुत हुआ। अतः उस समय का लाभ भी कालूगणी को नहीं मिल सका। इस भाँति चिर काल तक अध्ययन का संयोग न मिलने से बाल्यकालिक अभ्यास विस्मृतप्राय हो गया।

सुषुप्त वृत्तियाँ जाग उठीं

सप्तमाचार्य श्री डालगणी वि. सं. १९६ में बीदासर विराजते थे। वहाँ के ठाकुर हुकुमसिंहजी संस्कृत के विद्वान तो नहीं थे पर वे संस्कृत भाषा से अच्छा प्रेम रखते थे। उन्होंने एक संस्कृत श्लोक जो पूरा शुद्ध नहीं था लिखकर डालगणी

के पास भेजा और उसका अर्थ जानना चाहा। डालगणी ने उसे संस्कृत अध्येता सन्तों को दिया। सभी ने उसका अर्थ जानने का प्रयत्न किया। वह समझ में न आ सका। कालूगणी को संस्कृत विद्याभ्यास की यह कमजोरी बहुत अखरी। उनकी दीर्घकाल से मूर्च्छित व सुषुप्त वृत्तियाँ जाग उठीं और उन्होंने निश्चय किया कि अब मुझे इसका अधिकार पूर्ण अध्ययन करना चाहिए। छिटपुट विद्या किसी भी काम की नहीं है। तभी आपने इस पावन अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर सारस्वत का पूर्वार्ध कण्ठस्थ करना शुरू कर दिया।

पंडित घनश्याम दास का सुयोग

उसी वर्ष डालगणी वहाँ से विहार करते हुए चूरू पधारे। वहाँ बगड़ निवासी पं० घनश्याम दासजी व रिद्धकरणजी व रामचन्द्रजी सुराणा की प्रेरणा से डालगणी के दर्शन किए। वे कालूगणी से भी परिचित हुए और बहुधा उनके पास उठ बैठ करने लगे। संस्कृत विद्याभ्यास की आपकी अभिलाषा का जब उन्हें पता चला तो उन्होंने अपनी अवैतनिक सेवा देने का वचन दिया और वे बड़ी भक्ति के साथ उन्हें व्याकरण पढ़ाने लगे।

इस बात का जब कुछ ईर्ष्यालु पंडितों को पता चला तो उन्होंने बहुत विरोध किया। उन्होंने कहा 'यह तुम क्या करते हो साँपों को दूध क्या पिलाते हो'। पर वे इस प्रकार के बहकावे में नहीं आये।

मैं मुख-पट्टी भी बाँध लूँगा

स्वपक्ष वाले भी कुछ लोग जब "ये तो खुले मुँह बोलते हुए पढ़ाते हैं। इनसे पढ़ना नहीं चाहिए"—ऐसी शंकाएं करने लगे तब पंडितजी ने कहा "मैं मुँह पट्टी भी बाँध लूँगा पर पढ़ाना नहीं छोड़ूँगा"। इतनी तत्परता के साथ उन्होंने चतुर्मास में सेवा की और यह अध्यापन क्रम अविच्छिन्न चलता रहा। चातुर्मास के बाद भी यथासमय चूरू वालों के साथ अविच्छिन्न सेवा में आते रहते। इधर आप अपना पाठ कण्ठस्थ करके रखते। ऐसे आपने सारस्वत और चन्द्रिका का अध्ययन किया।

वि० सं० १९६४ के बीदासर चातुर्मास में आपने कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा विरचित अभिधान चिंतामणि (हेमकोष) को कण्ठस्थ किया। इसमें करीब डेढ़ हजार पद्य हैं और यह जैन परम्परा का एक विशिष्ट कोष है। इसका सर्व प्रथम तेरापंथ में आपने ही श्रीगणेश किया। इससे पहले प्रायः अमरकोष का ही प्रचलन था।

वि० सं० १९६६ में आप आचार्य पद पर आसीन हुए। समूचे तेरापंथ शासन का उत्तरदायित्व आपके कन्धों पर आया। फिर भी आपने विद्याध्ययन को गौण नहीं किया। अनेक जिम्मेदारियों को निभाते हुए भी आप एक विद्यार्थी बालक की तरह एकान्त में बैठकर घंटों पाठ याद करते रहते। आचार्य होने के बाद भी आपने अनेक संस्कृत ग्रन्थों को मुखाग्र किया था।

सूखा वृक्ष हरा-भरा बना

एक बार आपने एक स्वप्न में देखा कि एक सूखे वृक्ष में टहनियाँ फूटने लगीं और देखते-देखते ही पत्र पुष्प और फलों से वह सुशोभित हो उठा। जब आप जागृत हुए तो उस स्वप्न का यह अर्थ लगाया कि जिस विद्या वृक्ष का जयाचार्य ने बीज बोया था वह मघवागणी के समय में एक छोटे वृक्ष के रूप में पनप गया किन्तु सहकारी कारणों के अभाव से इस मध्यकाल में वह सूख गया था। वह फिर हरा भरा होगा। आपने अनुमान लगाया कि अब संस्कृत भाषा का विशेष रूप से प्रचार होना चाहिये। तभी से आपने अपने शिष्य समुदाय में विशेष रूप से संस्कृत अध्यापन का प्रसार करना शुरू किया। आप स्वयं शिष्यों को सारणिका करवाते। संयोग मिलने पर कभी-कभी पं० घनश्याम दासजी भी साधुओं को पढ़ाते।

बढ़ते हुए चरण

ज्यों ज्यों आपका व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान बढ़ने लगा त्यों-त्यों सारस्वत चन्द्रिका के कतिपय स्थल अपूर्ण प्रतीत होने लगे। किसी बड़े व्याकरण के लिए आपका मन लालायित रहने लगा। अनायास किसी प्राचीन यति-भण्डार से एक व्याकरण की प्रति हाथ लगी। इसका नाम सारकौमुदी था जिसे किसी प्राचीन जैनाचार्य ने प्रक्रिया रूप में बनाई थी। उसे देखकर आपको काफी सन्तोष मिला। उसकी प्रतिलिपि करवाकर आप उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने लगे। कभी-कभी उसके कुछ सूत्र आप हाथ से अलग लिखकर सिद्धान्त चन्द्रिका से समास आदि कुछ अपूर्ण स्थलों की पूर्ति भी करते रहते।

एक रोज आपने इसी अध्ययन प्रसंग में फरमाया कि यदि सारकौमुदी की अष्टाध्यायी मिल जाए तो कितना अच्छा हो क्योंकि पाणिनीय की तरह अष्टाध्यायी क्रम से यदि इसका अध्ययन किया जाए तो बहुत सुन्दर विकास हो सकता है।

श्री कालूगणी ऐसे भाग्यशाली व सिद्ध हुए सन्त थे कि उनका संकल्प संकल्प रूप में न रह कर तत्काल मूर्त रूप धारण कर लेता था। ऐसे अनेक अनुभव हैं।

विशाल शब्दानुशासन की प्राप्ति

मावरा के रावतमल जी पारख के पास यतियों की कुछ प्राचीन पुस्तकें थी। चम्पालालजी स्वामी (राजनगरवाले) वहाँ देखने गये तो विशाल कीर्तिगणी विरचित विशाल शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) उनकी नजर में आया। आपने सोचा कि यह कहीं वही ग्रन्थ तो नहीं है जिसके लिए आचार्य श्री ने फरमाया था। आपने उस प्रति को लाकर गुरुदेव को भेंट की। गुरुदेव उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने फरमाया कि जिस चीज की आवश्यकता थी वह मिल गई। वे उसका बड़ी तल्लीनता से अध्ययन करने लगे। पर कहीं-कहीं तात्पर्यार्थ की गहराई तक पहुँचने में कुछ कठिनता प्रतीत होने लगी।

पंडित रघुनन्दनजी का आगमन

वि. सं. १९७४ में सरदारशहर चातुर्मास करने के पश्चात् कालूगणी चूरू पधारे। एक रोज वहाँ के संस्कृत प्रेमी यति रावतमलजी जो तेरापंथ शासन से बड़ा सम्पर्क रखते थे आपकी सेवा में आये और विनती करने लगे—आचार्य प्रवर आजकल यहाँ अलीगढ़ के पास के सुरासई गाँव में रहनेवाले एक पं. रघुनन्दनजी आये हुए हैं। वे आयुर्वेद के आचार्य हैं और व्याकरण के शास्त्री भी हैं। उनकी कवित्व शक्ति तो इतनी अद्भुत है कि वे एक दिन में ५०० श्लोकों की रचना विविध छन्दों में कर सकते हैं। उनकी अप्रतिम काव्य प्रतिभा से प्रसन्न होकर विद्वद् धुरन्धरों ने उन्हें आशुकवि रत्न की उपाधि से विभूषित किया है। वैसे तो वे युवक ही हैं पर विद्या से प्रौढ़ हैं।

इन सब विशेषताओं को सुनकर कालूगणी ने फरमाया—यतिजी आप जो इतनी प्रशंसा करते हैं वह ठीक है क्योंकि आपने वैसा ही अनुभव किया होगा। पर आप कहीं केवल बाह्य उपाधियों को सुनकर ही तो प्रसन्न नहीं हुए हैं; क्योंकि आजकल संसार में उपाधियाँ व डिग्रियाँ बहुत हैं पर वास्तविकता कम है। एक दिन में पाँच सौ श्लोकों को बनाना साधारण बात नहीं है। मुस्कराते हुए यति जी ने कहा—भगवन्! मैंने तो कहीं गुरुदेव मेरी बात को अतिशयोक्ति नहीं मान लें इस संकोचवश पाँच सौ श्लोकों की ही बात कही है। वे तो एक दिन में १००० श्लोक बना सकते हैं। विशेष क्या कहूँ वे श्लोक बोलते जायेंगे जिनके बाक की कलम नहीं रुक सकेगी। यह निर्णीत सत्य है। यदि अवसर मिला तो श्री चरणों में उन्हें लाऊँगा और आपको इस तथ्य का प्रत्यक्षतः विश्वास दिलाऊँगा।

यतिजी पं. रघुनन्दनजी के पास आये और कहने लगे—पंडितजी यहाँ जैन धर्मान्तर्गत तेरापंथ शाखा के अष्टमाधिनायक श्री कालूरामजी महाराज पधारे हुए हैं। वे स्वयं संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् हैं और संस्कृतज्ञों की बड़ी कद्र करनेवाले हैं। यदि आपकी इच्छा हो तो उनके दर्शन के लिए चलिए तथा अपनी विशिष्ट प्रतिभा से उन्हें अवगत कराइये। ऐसा सुनकर पंडितजी ने कहा—आप मुझे कहाँ ले जा रहे हैं उनके विषय में तो मैंने बहुत कुछ सुना है। लेकिन वे दान-दया को नहीं मानते। किसी गरीब की सेवा के लिए वे निषेध करते हैं। कूप-तड़ाग आदि बनाने में अवरोध करते हैं, ब्राह्मणों को जिमाने में पाप मानते हैं और गये हुए विद्वान का अपमान करते हैं आदि-आदि। भ्रान्तियों का निवारण करते हुए पुनः यतिजी ने कहा—पण्डितजी! ये सब विरोधियों की फैलाई हुई भ्रान्तियाँ हैं जो वास्तविकता से कोसों दूर हैं। सत्य क्या है उसका निर्णय आप स्वयं वहाँ जाकर करिए। मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि परस्पर वार्तालाप से आपकी ये भ्रान्त धारणाएँ तत्काल नष्ट हो जायगी। श्री कालूगणी महाराज बड़े प्रभावशाली आचार्य हैं। उनका निखरा हुआ व्यक्तित्व है उनकी आँखों में अमृत है और उनकी वाणी हृदयग्राहिणी है। मेरे कहने से आप एक बार उनके दर्शन अवश्य करिये।

ऐसे बहुत सम्मान से पं. रघुनन्दनजी यतिजी के साथ आचार्य श्री के दर्शनार्थ गये। वे गुरुदेव की प्रशान्त मुद्रा आँखों में सात्त्विक स्नेह तथा ललाट पर ब्रह्मचर्य का ओज देख कर बहुत प्रभावित हुए। उनका मस्तक तत्काल झुक गया और वे बद्धांजलि हो गुरुवर्य के सम्मुख बैठ गये।

प्रसन्न मुद्रा में देववाणी में आचार्य श्री ने पूछा—किमाभिधान ? कुतस्त्या भवन्त ? कथमत्र समागमनं जातं ? कस्मिन् विषये भवतां प्रभुत्वपूर्णमध्ययनम् ? वार्तालाप इतना सौहार्दपूर्ण और तात्त्विक हुआ कि वे एक दूसरे का अन्तरंग परखने में पूर्णतः समर्थ हुए। आचार्य श्री ने पण्डितजी में असाधारण विद्वत्ता पाई। विद्वत्ता के साथ साथ में मिलनसारी निरभिमानता और सरलता भी देखी। बहुरत्ना वसुन्धरा की उक्ति यथार्थ प्रतीत हुई।

पण्डितजी तो आचार्य चरण में वार्तालाप करके मंत्रमुग्ध से हो गये। भ्रान्त धारणाओं का यथार्थ समाधान पाकर विरोधियों की बुद्धि पर वे तरस खाने लगे। घण्टों लम्बे इस प्रसंग में उन्हें सन्तों के आहार विहार, रहन-सहन, पठन-मनन आदि क्रिया कलापों का सही ज्ञान प्राप्त हुआ। वहाँ से जाकर उन्होंने तत्काल एक साधुशतक नाम का काव्य तीन घंटा में तैयार किया (आरम्भोऽस्य तथा पूर्ति जाता घण्टा त्रयेण हि)।

दूसरे दिन उस काव्य को लेकर यतिजी के साथ फिर पण्डितजी आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने वह नव निर्मित साधुशतक काव्य आचार्य श्री के सम्मुख सभी को सुनाया। इसमें साधुओं की जीवनचर्या का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया था। इस प्रकार पं० रघुनन्दनजी आचार्य श्री के सम्पर्क में आए। सम्पर्क इतना गाढ़ा हुआ कि गुरुवर को वे अपनी सेवा देने को भी तत्पर हुए। अपना आयुर्वेदिक कार्य करते हुए वे एक अध्यापक की भाँति यथासमय सन्तों को विद्या पढ़ाने लगे। आचार्य श्री की सेवा से पण्डितजी का श्रावक समाज में भी अनायास परिचय बढ़ गया। उनके हाथों से ऐसे-ऐसे असाध्य इलाज भी साध्य बने कि उनका सुयश सारे समाज में फैल गया और वे माने हुए वैद्यों की गणना में आ गये।

भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण

मुनि श्री भीमराजजी, मोहनलालजी स्वामी (चूरू), कानमलजी स्वामी और नथमलजी (बागोर) ने पंडितजी के पास हेमशब्दानुशासन व बृहद्वृत्ति का अध्ययन शुरू किया। इधर मुनि श्री चौथमलजी, मगनमलजी और श्री मांगीलालजी आदि कई सन्तों ने सिद्धान्त शब्दानुशासन का अध्ययन प्रारम्भ किया। हेमशब्दानुशासन के अपने आप में परिपूर्ण व सांगोपांग होने के कारण उसका अध्ययन सुव्यवस्थित रूप में होने लगा। परन्तु सिद्धान्त शब्दानुशासन अष्टाध्यायी के रूप में ही था। उसकी लघुवृत्ति व बृहद्वृत्ति आदि कुछ भी नहीं थी। केवल सार कौमुदी नाम की एक प्रक्रिया थी। अतः पढ़ने व पढ़ाने में काफी कठिनाई प्रतीत होने लगी। एक दिन इसी प्रसंग में वार्तालाप करते हुए आचार्य श्री ने फरमाया—कितना अच्छा हो अगर इसकी बृहद्वृत्ति बन जाये। फिर क्या था प० रघुनन्दनजी इस महान् कार्य को करने के लिए दृढ़ संकल्प हो गए। मुनि श्री चौथमल जी गणपति की तरह उनका लेखन करने को तत्पर हो गये। वि० सं० १९८१ के चूरू चातुर्मास में इस महान् कार्य का श्रीगणेश हुआ। पण्डितजी सिद्धान्त कौमुदी, पाणिनीय अष्टाध्यायी, सार कौमुदी, सारस्वत, सिद्धान्त चन्द्रिका और हेमशब्दानुशासन आदि अनेक वृत्तियों पर ध्यान देते हुए वृत्ति तैयार कर बोलते और श्री चौथमलजी स्वामी उसे स्पष्ट अक्षरों में लिखते जाते। यह कार्य रोजाना आठ-आठ घण्टे तक चलता।

आचार्य श्री की इच्छा ऐसी थी कि सूत्रों का क्रम सारस्वत व चन्द्रिका की तरह सरल रखा जाय। पर व्याकरण में न्यूनता नहीं न रह पाये अतः सर्वांगीण सूत्र तैयार होने लगे। श्री चौथमलजी स्वामी के लिखे हुए कच्चे मसौदे को श्री मगनमलजी स्वामी ही लिखते रहते। और उससे फिर पढ़ानेवालों का पाठ चलता लेकिन पढ़ाते समय कई शंकाएँ उत्पन्न होतीं। उनसे सूत्र और वृत्ति में फिर कुछ परिवर्तन अपेक्षित हो जाता। इसी प्रकार वर्षों तक यह कार्य चलता रहा। वे तो चौथमलजी स्वामी ही ऐसे स्थिरासनवाले कर्मठ साधु थे जो इस महान् कार्य को अविच्छिन्न गति से करते रहे। अन्यथा उस भारत कार्य में रुक जाना तो एक साधारण सी बात थी। पण्डितजी तो केवल लिखानेवाले ही थे। बाकी सब भार श्री चौथमलजी स्वामी पर ही था। जैसा सूत्र यहाँ पर आया है, इस सूत्र में परिवर्तन होने से कितने सूत्रों में कहाँ-कहाँ परिवर्तन करना होगा आदि कार्य बिना आलस्य के आप अनवरत करते रहे। कहना जितना सहज होता है उतना करना नहीं। कहने में केवल जीभ हिलती है किन्तु करने में अथक परिश्रम करना पड़ता है। कार्य कैसे किया जाता है यह करनेवाला ही जानता है। हैमी और सिद्धान्त का जो पाठ दिन में पढ़ाया जाता रात्रि के समय आचार्य श्री स्वयं उसका श्रवण करते। विविध प्रकार की व्याकरण सम्बन्धी गंभीर शंकाएँ उठाई जातीं क्योंकि व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान गुरुवर्य का बहुत विशद था। कारण आप भिन्न-भिन्न कर महादेव बने थे। साथ-साथ संस्कृत भाषा बोलने का भी प्रयास चलता। एक ही विषय पर वादी और प्रतिवादी के रूप में वार्तालाप चलाया जाता और उससे बड़ा ही हृदयग्राही वातावरण बन जाता। ऐसे संस्कृत भाषा शास्त्र का अभ्यास बढ़ने लगा। कुछ संत संस्कृत में कविताएँ भी करने लगे। सर्वप्रथम मुनि श्री मोहनलालजी (चूरूवाले) ने श्री मानतुंगाचार्य रचित आदिनाथ स्तोत्र भक्तामर की समस्या पूर्ति रूप उसका चौथा चरण लेकर कालूगणी की स्तुतिमय कालूभक्तामर की रचना की जो संस्कृत भाषा की समृद्धता में विशेष महत्त्व रखती थी। फिर बाद में मुनि श्री कानमलजी ने उसी का द्वितीय चरण लेकर समस्यापूर्ति करते हुए कालूभक्तामर की रचना की। ऐसे संस्कृत के साहित्य में काव्य का भी विकास होने लगा।

इधर बृहद्वृत्ति का कार्य करते हुए मुनि श्री चौथमलजी स्वयं व्याकरण के विषय में प्रकाण्ड पण्डित हो गये थे क्योंकि कार्य ही कार्य को सिखलाता है। प रघुनन्दनजी की महीनों लम्बी अनुपस्थिति में भी आपका कार्य चलता रहता। वर्तमान आचार्य श्री तुलसीगणी मुनिश्री धनराजजी और मैं (चन्दन मुनि) मुनिश्री चौथमलजी के पास बृहद्वृत्ति पढने लगे। तब फिर नई-नई अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती रहती। फिर सूत्रों और वृत्तियों में परिवर्तन करना पड़ता। परिणाम यह हुआ कि विशाल शब्दानुशासन के मूल सूत्र प्राय परिवर्तित से हो गये। तब नाम भी परिवर्तित करना उचित समझा गया। विशाल शब्दानुशासन की जगह उसका नाम परमाराध्य श्री भिक्षु स्वामी के नाम पर भिक्षु शब्दानुशासन' रखा गया। उसके कर्ता श्री चौथमलजी स्वामी के अमूल्य परिश्रम का ही यह परिणाम था। सच कहा जाये तो वे इसी कार्य में युवा से वृद्ध हो गये थ। उनकी आँखें और घुटने इसी कार्य में कमजोर पड गये थे। बृहद्वृत्ति के कर्ता तो पण्डितजी थे ही पर उसमें भी मुनि श्री चौथमलजी स्वामी का पूरा हाथ था।

इधर पढनेवाला शिष्य समुदाय बहुत बढ चुका था। उसके प्राथमिक ज्ञान के लिए भिक्षु शब्दानुशासन की प्रक्रिया की कमी बहुत अखरने लगी। अत इसकी पूर्ति के लिये श्री चौथमलजी स्वामी ने अपने परमोपकारी श्री कालूगणा-चार्य के नाम स कालू कौमुदी नाम की प्रक्रिया बनाई। यद्यपि व्याकरण का विषय बहुत जटिल होता है फिर भी प्राचीन व्याकरणों की अपेक्षा यह प्रक्रिया बहुत सरल और सुबोध बनी है यह नि संकोच कहा जा सकता है।

इसे (कालूकौमुदी) सर्वप्रथम मुनि श्री नथमलजी श्री बुद्धमलजी श्री पूनमचन्दजी (गंगाशहरवाले) आदि छोटे सन्त कण्ठस्थ करने लगे। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी बहुत बढने लगी। कालूगणी की देख रेख में कालूकौमुदी के अध्ययन कराने का कार्य श्रीतुलसीरामजी (वर्तमानाचार्य) सम्भालने लग गय थ।

पाँच कालू कल्याण मंदिर बने

वि स १९८ में मुनि श्री मगनलालजी स्वामी (वागोरवाले) न श्री सिद्धसेन दिवाकर रचित पार्श्वनाथ स्तोत्र कल्याण म दिर की समस्या पूर्ति रूप द्वितीय और चतुर्थ चरण लेकर दो कालूकल्याण मन्दिर बनाये। एसे ही पृथक-पृथक चरण लेकर एक श्री धनराजजी स्वामी ने एक मैंने (चन्दन मुनि) और एक श्री तुलसीरामजी (वतमान आचाय) न बनाये। शीतकाल में जब हम सब धीवासर में आचार्य श्री की सेवा में अपना-अपना काव्य क्रमश सुनाने लगे तब वयोवृद्ध मंत्री मुनि श्री मगनलालजी स्वामी ने एक साथ पाँच समस्या पूर्ति के श्लोकों को सुनकर फरमाया—गुरुदेव ! एक वह समय था जब एक सामान्य सस्कृत श्लोक का सही अर्थ समझनेवाला भी इस समाज में कोई साधु नहीं था और एक आपके अमोघ परिश्रम का आज यह सुपरिणाम है कि एक साथ पाँच-पाँच समस्या पूर्ति रूप सुन्दर काव्य बन रहे हैं।

अभी न्याय का अध्ययन बाकी है

तब श्री गुरुदेव ने फरमाया—अभी एक व्याकरण की दिशा में अपने को सफलता मिली है। तर्कशास्त्र (न्याय) की दिशा में अभी बहुत कुछ करना है। उसके बिना शास्त्रों की टीका को समझने में काफी कठिनता होती है। अत उसका अध्ययन भी परमावश्यक है।

किस अध्ययन के लिए कौन-कौन सा ग्रंथ परमावश्यक है इसके सुझाव में आप (कालूगणी) बडे कुशल थे। अत आपने अपने अध्ययनशील शिष्यों को न्याय का अध्ययन कराने के लिए आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित षड्दर्शन समुच्चय श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा विरचित अन्य योग व्यवच्छेदिका और वादि देव सूरि विरचित प्रमाणनय तत्त्वालोकालकार आदि ग्रंथ रत्न तथा प्राकृतिक भाषा के अध्ययन के लिए हेमचन्द्र का अष्टमाध्याय कण्ठस्थ करवा दिया था। ऐसे इतर अनेक सहकारी विद्याओं का बीज वपन कर के वि सं १९९३ में वे स्वर्गवासी बन गये।

संस्कृत विद्या का विस्तार

नवमाचार्य श्री तुलसी ने पट्टासीन होकर विशेष रूपसे इस विद्या वृक्ष को सींचा। न्यायशास्त्र का बडे श्रम से आपने अध्य-यन किया और शिष्यों को करवाया। सबसे बड़ा कार्य आपने सती समाज को संस्कृत शिक्षा में अग्रसर करने का किया। यद्यपि कालूगणी के समय कुछ साध्वियाँ सारस्वत व सिद्धान्त चन्द्रिका का आशिक अध्ययन करती थीं फिर भी उस समय उसमें विशेष विकास नहीं हुआ था। इस कमी की आपने पूर्ति की। समय की अति अल्पता होते हुए भी आपने साध्वियों को पढाने में समय लगाया और कालूकौमुदी की तीनों वृत्तियाँ साध्वियों न कण्ठस्थ की। उसकी साधनिका आपने

करवाई। इसका परिणाम सुन्दर निकला। श्री भिक्षु शब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति तो बन चुकी थी परन्तु अभी तक लघुवृत्ति नहीं थी। अब सतियों को पढ़ाने के लिए उसकी बहुत आवश्यकता प्रतीत होने लगी। वैसे तो लघुवृत्ति बनाने का काम कालूगणी के समय श्री तुलसी गणी ने ही प्रारंभ कर दिया था। लेकिन अचानक ही शासन का भार आपके कंधों पर आ जाने से वह प्रारंभ प्रारंभ ही रह गया था। आखिर उस काम को शीघ्र ही सम्पन्न करने के लिए चन्दन मुनि और मुझे सौंपा गया था कि उसी वर्ष में पूर्ण कर दिया गया। लघुवृत्ति का अध्ययन भी सतियों में विशेष रूप से चलने लगा। बाद में कतिपय सतियाँ बृहद्वृत्ति का भी अध्ययन आचार्य श्री तथा पं० रघुनन्दन जी के पास करती रहीं। परिणाम स्वरूप अनेक साध्वियाँ विदुषी बन गईं। धारा प्रवाह रूप संस्कृत में बोलने तथा कविता करने में भी उन्होंने काफी प्रगति कर ली। दर्शनशास्त्र के अध्ययन में भी आज अनेक साध्वियाँ गतिशील हैं।

संस्कृत में सर्वतोमुखी विकास

किसी संस्कृत कवि ने कहा है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

प्रथम तो नर तन दुर्लभ है, उसमें विद्या दुर्लभ है। उसमें भी कवित्व दुर्लभ है। कवित्व में भी (कवित्व) शक्ति अति दुर्लभ है। आज तेरापंथ समाज में संस्कृत में कविता बनानेवाले अनेक संत व सतियाँ हैं। एकाह्निक शतक भी अनेकों विज्ञ साधु और साध्वियों ने बनाये हैं। कइयों ने तो एक ही दिन में दो सौ पाँच सौ तथा हजार श्लोक तक भी बनाये हैं। इसके अतिरिक्त विशिष्ट प्रज्ञा के धनी आशुकवि भी हैं जो दिये गये विषय पर नाना छन्दों में तत्काल कविता बना सकते हैं। वि० सं० २०११ में आचार्य श्री तुलसी पूना पधारे। वहाँ के विशिष्ट विद्वानों द्वारा वहाँ की प्रख्यात वाग्वर्धिनी सभा में संस्कृत गोष्ठी का आयोजन रखा गया। संस्कृत में भाषणों का कार्यक्रम चलने के बाद आशुकविता का कार्यक्रम रहा। डाक्टर एन० बी० भाट एम० ए० पीएच० डी० ने विषय प्रदान करते हुए कहा—

समयज्ञापकं नित्यं सभ्यानां हस्तभूषणम्।
स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य घटीयन्त्रं विवर्ण्यताम्॥

अर्थात् आधुनिकों का हस्तभूषण जो नित्य समय ज्ञापन करने वाला घटीयन्त्र है उसका स्रग्धरावृत्त में वर्णन करिये।

संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ ही जानते हैं कि घड़ी के ऊपर आशुकविता करना कितना कठिन है। लेकिन विशिष्ट मेधावी मुनि श्री नथमलजी ने आचार्य श्री की आज्ञा पाकर दिये गये विषय पर स्रग्धरा छन्द में चार श्लोक तत्काल रच सुनाये। विद्वानों के आश्चर्य का पार न रहा। इसी प्रकार तिलक विद्यापीठ में भी समस्यापूर्ति का प्रभावोत्पादक वातावरण रहा।

काशी के संस्कृत महाविद्यालय में भी स्याद्वाद के विषय में धारा प्रवाह एक लम्बे संस्कृत भाषण के उपरान्त तत्काल दिए गए विषय पर इन्हीं मुनि ने आशुकविता रचकर विद्वानों को मन्त्रमुग्ध बनाया।

इसी प्रकार वि० सं० २००८ में अम्बाला छावनी के कालेज में आचार्य श्री के भाषण के पश्चात् आशुकविता का कार्यक्रम रखा गया। मुनि श्री बुद्धमलजी खड़े हुए और वहाँ के प्रिन्सिपल महोदय ने आधुनिक शिक्षा के विषय पर कविता करने को कहा। मेधावी मुनि ने प्रदत्त विषय पर अस्खलित श्लोक बोलना शुरू किया। श्रोता मन्त्रमुग्ध हो सुनने लगे। कई श्लोक बोलने पर प्रिन्सिपल ने कहा—ठहरिये! मैं दूसरा विषय देता हूँ। शायद उन्हें यह भ्रम हो गया था कि कहीं ये पूर्व निर्मित श्लोक तो नहीं बोल रहे हैं। अतः उन्होंने कहा—मैकाले ने गवर्नर जनरल की कौंसिल में प्रस्ताव रखा था कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार किया जाय। उनके रंग रूप तो भारतीय ही हों किन्तु दिल व दिमाग पाश्चात्य बना दिये जायें। इस प्रस्तावित शिक्षा का उद्देश्य नौकरी पेशी के अफसर तथा क्लर्क तैयार करना था इत्यादि बातों को कहते हुए उन्होंने एक लम्बा भाषण दे डाला और भाषण में कही गई बातों को ही पद्यबद्ध करने को कहा। इस तरह एक अपरिचित विषय पर तत्काल संस्कृत में कविता बोलना कोई मजाक की बात नहीं थी। लेकिन विशिष्ट अभ्यासी मुनि श्री बुद्धमल जी ने तुरन्त अपने पूर्वक्रम को बदलते हुए उनके भाषण को पद्यबद्ध कर डाला। उपस्थित विद्वद् समूह बहुत ही प्रभावित हुआ और प्रिन्सिपल तो गद्गद् हो गया।

ऐसे ही आचार्य श्री के साथ राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद द्वारा प्रदत्त विषय "आत्मप्रकाश" पर इन्हीं कवि

श्रेष्ठ मुनि ने आशु कविता की। राजघाट पर विनोबा द्वारा दिये गये विषय पर भी इन्होंने सुन्दर कविता सुनाई थी। इसी तरह एक विद्वत् समाज में उन्हें शिखरिणी छन्द में फाउन्टेन पेन पर श्लोक को कहा गया। उन्होंने तत्काल उसी विषय पर आशुकविता बोल कर अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया।

संस्कृत साहित्य की सेवा

तेरापंथ ने संस्कृत साहित्य से बहुत कुछ पाया है तो साथ-साथ उसने इसे दिया भी है। विद्वान् साधु-साध्वियाँ साहित्य निर्माण द्वारा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती तथा पंजाबी आदि भाषाओं के साहित्य भंडार को भरने में अपनी ओर से यत्किंचित् सहयोग प्रदान कर रहे हैं। यहाँ केवल उनके संस्कृत साहित्य का दिग्दर्शन कराया जाता है। यद्यपि अनेक लेखकों की रचनाओं की सूची इसमें सम्मिलित नहीं की जा सकी है फिर भी प्रयासपूर्वक यथासम्भव जिन लेखकों की रचनाओं के नाम मैं प्राप्त कर सका हूँ उनकी सूची इस प्रकार है

(१) आचार्य श्री तुलसी
- १—जैन सिद्धान्त दीपिका
- २—भिक्षु न्याय कर्णिका
- ३—कर्तव्य षट्त्रिंशिका
- ४—श्री कालुकल्याण मन्दिरम्
- ५—शिक्षा षण्णवति
- ६—धर्म रहस्यम्
- ७—सौराज्य
- ८ कवि माहात्म्यम्
- ९—किं तत्त्वम्
- १०—सर्वमस्ति नास्ति किंचित्
- ११—दिशा संकेत
- १२—कथा-कोष

(२) मुनि श्री चौथमलजी
- १—श्री भिक्षु शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी)
- २—कालूकौमुदी प्रक्रिया (पूर्वार्ध व उत्तरार्ध)

(३) मुनि श्री कानमलजी
- १—कालू कल्याण मन्दिरम् (द्वयम्)
- २—कालू भक्तामर
- ३—पंच तीर्थी
- ४—नेम काव्य
- ५—तुलसी न्याय प्रवेशिका

(४) मुनि श्री नथमलजी (बागोर)
- १—श्री भिक्षु महाकाव्यम्
- २—युक्तिवाद (न्याय विषय)
- ३—भव्योपदेश
- ४—तेरापंथ स्तोत्रम्
- ५—सत्संग महिमा
- ६—जिन चतुर्विंशिका
- ७—वैराग्य तरंगिणी

मुनि श्री नथमलजी (बागोर) (जारी)

८—अर्हदष्टकम्

९—तुलसीवचनामृतस्तोत्रम्

(५) मुनि श्री धनराजजी

१—प्रास्ताविक श्लोक शतकम्

२—जैनधर्म द्वात्रिंशिका (गेय काव्यम्)

३—कालू कल्याण मन्दिरम्

४—भिक्षु शब्दानुशासन (लघुवृत्ति)

५—एकाह्निक शतकम्

६—यशोमुख नवकम् (गेय काव्यम्)

७—कालमुदाष्टकम्

(६) मुनि श्री चन्दनमलजी

१—श्री वैराग्यकसप्तति (पद्य)

२—प्रबोध पञ्चपञ्चाशिका „

३—आत्मभाव द्वात्रिंशिका

४—अनुभूतिशतकम् „

५—उपदेशामृतम्

६—कालू कल्याण मन्दिरम्

७—कैवल्यपञ्चविंशति

८—आत्म षोडशकम्

९—पुण्य पञ्चदशकम् „

१०—पथिक पञ्चदशकम् „

११—आत्मवह्न्यष्टकम्

१२—वास्तविक विचार नवकम्

१३—पिपीलिकाष्टकम् „

१४—अर्हदष्टक

१५—सत्संगति माहात्म्याष्टकम्

१६—प्रास्ताविका श्लोका „

१७—पञ्चतीर्थी (गेयकाव्यम्)

१८—नीतिकाव्यषोडशी „

१९—अर्जुनमालाकारम् (गद्य)

२०—प्रभवप्रबोध „

२१—धर्म रत्नक विवेक „

२२—निबन्धावलि „

२३—भिक्षुशब्दानुशासनवृत्ति „

२४—वीतरागस्तुति (पद्य)

२५—समस्यापूर्ति श्लोका

(७) मुनि श्री डूंगरमलजी

१—पाण्डव विजय (पद्य)

मुनि श्री डूंगरमलजी (नारी)

२–अन्योक्ति सन्दोह (पद्य)

३–गुणगौरवम् (पद्य)

(८) मुनि श्री सोहनलालजी

१–शान्तनाथस्तोत्रम्

२–शान्तकल्याणमन्दिर स्तोत्रम्

३–देवगुरु स्तोत्रम्

४–मातृकीर्तनम्

५–समवसरस्तुति

६–सुधर्मोपमा प्रतिमा

(९) मुनि श्री नथमलजी (टमकोर)

१–अश्रुवीणा

२–मुकुलम्

३–सम्बुद्ध भारतीया संस्कृतिश्च

४–तेरापन्थ धर्मविधानि

५–रत्नपाल चरितम्

६–भिक्षुशतकम्

७–सुधर्मास्तोत्रम्

८–महावीर भावना रचना भावनयम्

९–निगमावलि

१०–नयाष्टक

११–न्याय पञ्चाशति

१२–गौतम द्वयम्

१३–जयपुरयात्रा

१४–श्लोकमाला

१५–अष्टाष्टकम्

१६–बोधि

(१०) मुनि श्री छत्रमलजी

१–शान्तशतकम्

२–महावीर शतकम्

३–भिक्षुशतकम्

४–जयाचार्यशतकम्

५–कालू शतकम्

६–तुलसीशतकम्

७–तेरापन्थ शतकम्

८–देवगुरु द्वात्रिंशिका

९–भिक्षु द्वात्रिंशिका

१०–तुलसी द्वात्रिंशिका

११–कालकुल द्वात्रिंशिका

मुनि श्री छत्रमलजी (जारी)

१२—तप स्तुति द्वात्रिंशिका
१३—मुक्तपथ द्वात्रिंशिका
१४—मणिहार द्वात्रिंशिका
१५—सूक्ति द्वात्रिंशिका
१६—समवाय द्वात्रिंशिका
१७—प्रतिभा द्वात्रिंशिका

(११) मुनि श्री दुलीचन्दजी 'शार्दूल'

१—तुलसी स्तोत्रम्
२—तुलसी शतकम्
३—मर्यादापञ्चकम्
४—एकाह्निकशतकम्
५—भैक्षाष्टकम्
६—समुद्राष्टकम
७—गीतिसन्दोहम्

(१२) मुनि श्री बुद्धमलजी

१—निबन्ध सन्दोहः (गद्य)
२—कथापेटकम् ,,
३—आत्ममीमांसा प्रवेशिका
४—स्मितम्
५—उत्तिष्ठ जाग्रत
६—भारतीय संस्कृति ,,
७—चतुर्विंशति जिनस्तव (पद्य)
८—श्री तुलसी स्तोत्रम् ,,
९—सत्संग विंशिका
१०—मधुकर चतुर्दशकम्
११—गुरुभक्ति चतुर्दशकम् ,,
१२—अन्योक्तिपञ्चाशिका ,,
१३—ऐकाह्निक शतकम् ,,
१४—रौहिणेय ,,
१५—वैराग्यदेवंवंसीय ,,
१६—मुक्तामाला ,,

(१३) मुनि श्री पूनमचन्दजी

१—श्री तुलसी स्तोत्रम्
२—ऐकाह्निक सम्यक्त्व स्तोत्रम्
३—प्रकीर्णक श्लोका
४—श्री वैराग्यसम्पत्ति (टीका)

(१४) मुनि श्री नगराजजी 'बड़ा' (सरदारशहर)

१—भिक्षुशतकम्

मुनि श्री नगराजजी (सरदारशहर) (जारी)

२–मायपाम सुषमा

३–रावरम्

(१५) मुनि श्री मीठालालजी (लाडनूं)

१–गान्धर्वटिकमालाहमुनिनाटकम्

२–अध्यात्म पर्वविंशिका

३–चित्रबन्धकाव्यम

४–समासमह्

(१६) मुनि श्री चम्पालालजी (सरदारशहर)

१–अनुभव शतकम्

२–सम शतकम्

(१७) मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी

१–एकाह्निक पचासी

२–भारतीभावनाशतकम्

३–पञ्चमासा एकाह्निक काव्यम्

(१८) मुनि श्री मोहनलालजी 'शार्दूल'

१–नमिनाथ स्तुति

२–कर्पूर काव्यम्

३–कल्पना

४–एकाह्निक शतकम्

५–समस्या निराकरण

६–प्रयाण प्रशस्ति (गद्य)

७–भारतीय संस्कृति "

(१९) मुनि श्री पुष्पराजजी

१–अर्हत्त्वस्य चन्द्रिका (कल्पना काव्यम्)

२–ध्यान पुण्यम् (अनुभवात्मक काव्यम्)

३–तुलसी गीता श्लोक चतुर्दशीपरिमिता

४–कथा निकुञ्ज (गद्य)

५–चित्रमय काव्यम् (पद्य)

(२) मुनि श्री मणीलालजी 'मधुकर'

१–समस्या शतकम्

२–नैतिक पञ्चकम्

३–तुलसी अष्टकम्

४–सूर्याष्टकम्

(२१) मुनि श्री सुखलालजी

१–एकाह्निक शतकम्

२–उचितम् (श्लोक संग्रह)

(२२) मुनि श्री बच्छराजजी

१–ऐकाह्निक शतकम्

२–श्लोक संग्रह

(२३) मुनि श्री राकेशकुमारजी

१—एकाह्निक श्लोक सहस्री

२—गद्य द्विशतकम्

३—ऐकाह्निक द्विशतकम्

४—श्लोक संग्रह

५—परिमलम्

६—उर्मिपिटम्

(२४) मुनि श्री श्रीचन्दजी (कमलोर)

१—मर्यादाषोडशकम्   (पद्य)

२—मेवाष्टकम्   „

३—गद्याष्टकमाला

४—समुद्राष्टकम्

५—अव्यय निबन्ध   (गद्य)

६—एकाक्षर निबन्ध

७—कथामाला

(२५) पण्डित रघुनन्दनजी

१—भिक्षुशब्दानुशासन बृहद्वृत्ति

(२६) साध्वी श्री फूलकंवरजी

१—प्रतिज्ञा द्वात्रिंशिका (मन्दाक्रान्ता निबद्धा)

२—हरिश्चन्द्रकालिकम् द्विशतकम्

३—मर्यादाष्टकम्

४—चरित्रनिर्माण पञ्चकम्

(२७) साध्वी श्री मोहनकुमारीजी

१—निबन्धमाला   (पद्य)

२—शिक्षा षट्त्रिंशिका (पद्य)

(२८) साध्वी श्री मालूजी (डूगरगढ़)

१—ऐकाह्निक शतकम्

(२९) साध्वी श्री कस्तूरकंवरजी (जयपुर)

१—एकाह्निक सम्बोधिशतकम्

(३) साध्वी श्री जतनकंवरजी (लाडनूं)

१—एकाह्निक शतकम्

(३१) साध्वी श्री सोहनाजी (राजलदेसर)

१—एकाह्निक शतकम्

(३२) साध्वी श्री मंजुलाजी

१—गीतिसंदोह

(३३) साध्वी श्री कानकंवरजी

१—गीतिका

२—अहिंसा षोडशकम्

३—मेवाष्टकम्

साध्वी श्री कानकंवरजी (जारी)

४—सत्याष्टकम्
५—अध्यात्म दशकम्
६—मनस्विसप्तकम्
७—समता सप्तकम
८—मर्यादा पंचकम्

(१४) साध्वी श्री कनकश्रीजी

१—आत्मालोचन पंचाशिका
२—गुरुपरिमाष्टकम्
३—स्तुतिअष्टकम्
४—तुलसी अष्टकम्
५—शरीराष्टकम्
६—पृथ्वी शतकम्
७—त्याग पंचकम्
८—हृदयशुद्धि पंचकम्

(१५) साध्वी श्री यशोधराजी

१—अणुव्रताष्टकम्
२—स्तवनाष्टकम्
३—समस्यापूर्तिपंचकम्
४—मैत्राष्टकम्
५—समुद्राष्टकम्

(१६) साध्वी श्री कमलश्रीजी

१—मर्यादापंचकम्
२—नीति गुम्फ

(१७) साध्वी श्री राजकुमारीजी

१—सत्य षोडशकम्
२—मैत्राष्टकम्
३—संस्कृत गीतिमाला
४—मर्यादाष्टकम्

इस प्रकार साहित्य साधना का यह स्रोत अनवरत धारा के रूप में चालू है। यद्यपि यह धारा अभी तक एक पतली सी ही धारा है तथापि निरन्तर प्रगति करती और नवनवोन्मेषों को अपने में गर्भित करती हुई यह शीघ्र ही एक विशाल धारा का रूप लेकर नदी रूप में प्रवाहित होगी और संस्कृत साहित्य के समुद्र को भरने में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बनायेगी ऐसी आशा की जा सकती है।

तेरापथ का वर्तमानकालीन काव्य साहित्य

(मुनि श्री रूपचन्दजी)

तेरापथ की साहित्य परम्परा ने अपने युग का सफलतापूर्वक प्रतिनिधित्व किया है यह निस्सदेह कहा जा सकता है। तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु से लेकर उनके वर्तमान उत्तराधिकारी आचार्य प्रवर श्री तुलसी तक का रचित साहित्य इसका जीवित प्रमाण है। भले ही कुछ कारणों से वह साहित्य जनता के समक्ष न आया हो फिर भी इस साहित्य प्रधानयुग में हम उसे नजर अदाज नही कर सकते। जीवन के शाश्वत मौलिक तथ्यों का अस्खलित रूप प्रकटीकरण आचार्य भिक्षु का सहज गुण था। अनेक गहन विषयों को सरल भाषा में गूथ कर उन्हें व्यावहारिक रूपकों द्वारा हृदयगम करा देना आपकी विमल प्रतिभा का परिचायक है।[1] जन्म और मृत्यु, बधन और मुक्ति—मानव मन की स्पष्ट किन्तु उलझी रेखाएँ हैं जिनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति की अभिव्यक्ति में मनुष्य प्राय असफल रहता है। उन्ही रेखाओ का सहज समीकरण आपके साहित्य में मिलता है। आपने कहा "जीवन और मृत्यु अपने आप में न काम्य हैं और न अकाम्य। ये परिवर्तन के अवश्यभावी चरण हैं। पहले चरण में प्राणी नये जीवन के लिए आता है और दूसरे में नये जीवन के लिए चला जाता है। पुद्गल की भूमिका में जीवन काम्य है और मृत्यु अकाम्य। आत्मा की भूमिका में जीवन और मृत्यु न काम्य हैं और न अकाम्य। असयममय जीवन और मृत्यु अकाम्य हैं तथा संयममय जीवन और मृत्यु काम्य।"[2] आपके साहित्य की सर्वाधिक विशेषता यह है कि आपने जीवन के सनातन सत्यों को परिभाषा के कृत्रिम बधनों में बांधने का कभी प्रयत्न नही किया। यही कारण है कि आपकी रचनाओं में साहित्य स्वय सत्य का मूर्त रूप लेकर प्रकट हुआ है। तेरापथ की प्रगति का एकमात्र यही कारण है कि उसने साम्प्रदायिक कदाग्रह और हठधर्मिता को कभी प्रश्रय नही दिया। आचार्य भिक्षु ने अनेक सैद्धान्तिक विवादास्पद तथ्यों पर अपना स्पष्ट चिंतन सहमति और मतभेद प्रकट किया किन्तु उसमें भी उनकी विनम्रता और आग्रह-हीनता साकार होकर निखरी है।[3]

वर्षों की तपस्या और साधना के अनन्तर आपने लगभग ३८ हजार पद्य रचे। उनमें समाज की कुत्सित रीति-रिवाज धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्ध विश्वास और रूढ़ियों पर हमें तीखे व्यंग मिलते हैं। वर्तमान युग जिन-जिन कारणों से धर्म को अभिशाप साबित करने का साहस करता है आचार्य भिक्षु ने आज से दो सदी पहले ही उन्हें अपनी लेखनी का विषय बनाया था। इस तरह आचार्य भिक्षु को हम एक क्रांतिकारी संगठन-प्रणेता के रूप में ही नही अपितु एक सफल साहित्यकार के रूप में भी पाते हैं।

इनके पश्चात् तेरापथ के प्राण श्रीमज्जयाचार्य अपने आप में वैशिष्ट्य लिए आते हैं। आपने १८ वर्ष की अल्प आयु में ही प्रज्ञापनासूत्र (भगवती विशेष) के महत्व व क्लिष्टतम स्थलों का सफलतापूर्वक भाषानुवाद किया। आपने अपने जीवन काल में करीब तीन लाख पद्य रचे जिनमें मौलिक तत्त्वों के निरूपण के साथ-साथ सुन्दर आख्यान भी मिलते हैं। गुरु का महत्त्व सघ और सघपति के प्रति एकनिष्ठ हो सघ का वह दायित्व कैसे निभाये सघ के लिए सर्वस्व समर्पण की भावना एकाकार हो आदि के सम्बन्ध में उन्होंने प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा जो काव्य की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। आपने मुख्यत जैनदर्शन सिद्धान्त व्याख्यान वैराग्यात्मक और भक्तिरस पूर्ण गीतिकाएँ लिखी जो आज भी लोक-प्रचलित हैं।

इनके बाद अष्टमाचार्य श्री कालूगणी अपनी काव्यप्रियता के लिए अति प्रसिद्ध हैं। अपने जीवन-काल में साहित्य उत्कर्ष

१—भगवती ढाल ४ गाथा १
२—भिक्षु विचार दर्शन पृष्ठ ४८
३—भिक्षु विचार दर्शन पृष्ठ ११

को आपने जो स्थायित्व प्रदान किया वह इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा । वर्तमान समस्त साहित्य-सम्पदा का श्रेय आप को ही है जिनके कारण तेरापंथ आज संसार के समक्ष उन्नत मस्तक है। यद्यपि आपने बहुत कम रचनाएँ कीं तथापि उपलब्ध रचनाओं के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि आपकी रचना-शैली बहुत ही सरस शिक्षाप्रद और मजी हुई थी। अपने शिष्य साधुओं का आपने व्याकरण न्याय सिद्धान्त और दर्शन के विषय में सफलतापूर्वक प्रवेश कराया ।

अब आचार्य प्रवर श्री तुलसी गणी एक यशस्वी साहित्यकार के रूप में हमारे समक्ष अवतरित होते हैं । आप जन्म जात प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं । जीवन की अमर साधना में भीगा हुआ आपका साहित्य मरणशील व्यक्ति में निहित अमरत्व को साक्षात् देखना चाहता है । श्रद्धा और श्रद्धेय के माध्यम से वह स्रष्टा और उपभोक्ता के साथ जो एक तादात्म्य स्थापित करता है वही उसकी महत्ता है । जहाँ श्रद्धा और श्रद्धेय एक रूप होकर काव्य क्षेत्र में उतरते हैं वहाँ काव्य केवल कलेवर तक ही सीमित न रहकर जीवन के साथ एकात्मता स्थापित कर लेता है और यही काव्य की सबसे बड़ी सफलता है । जहाँ श्रद्धा और श्रद्धेय अभिन्न हो जाते हैं वहाँ श्रद्धा का प्रत्येक कण श्रद्धेय बनकर ही मुखरित होता है । यह अभिन्नता ही काव्य का प्राण होती है जो उसे अन्त तक सजीव बनाए रखती है । भौतिक शब्दों के माध्यम से उस 'विराट' को व्यक्त कर देना ही कलाकार की दक्षता का मापदण्ड होता है । काव्य का मापदण्ड कभी कवि नहीं किन्तु कवि का मापदण्ड काव्य होता है । उसकी संवेदनशीलता स्थूल जगत के सूक्ष्मतम अणुओं को किस निपुणता से प्रभावित करने में सक्षम है—इसका साक्षी काव्य ही होता है । अन्तश्चेतना से उद्भूत कुछ बिखरे स्वर ही समस्त जगती की चेतना को किस खूबी से अपने में समेट लेते हैं यह उसकी ही अलौकिकता है । कवि का अहं जब विस्तृत होकर काव्य में बसता है तब वह अहं तक ही सीमित न रहकर सार्वजनिक बन जाता है । और वही काव्य लोकप्रिय बनता है । आचार्य प्रवर की यही विशेषता रही है कि उन्होंने काव्य के माध्यम से जो भी गाया वह काल्पनिक उड़ान मात्र नहीं अपितु उसमें वास्तविकता मूर्त रूप लेकर उतरी है । उनके जीवन का प्रत्येक अणु संगीतमय है । उनका संगीत-स्वर अपने पीछे एक लम्बी गूंज छोड़ जाता है जो जन मानस की कितनी ही कोमल लहरियों को उद्वेलित करती हुई आगे बढ़ जाती है । आपकी भाषा सदैव भावानुगामिनी रही है ।

कालूयशोविलास आपका राजस्थानी महाकाव्य है । उसके चरितनायक हैं आचार्य श्री कालूगणी जो आपके आराध्य हैं । उसमें शिष्य परम्परा का वहन तो हुआ ही है, साथ ही साथ वर्तमान को अतीत और अनागत के साथ जिस विलक्षणता से बाँधा गया है उसमें सचमुच काव्य चमत्कार निखर उठा है । जरा देखें तो—

एक दिवस शीत ऋतु चमकाणी
तब कालू-काया कम्पाणी
थरहर थरहर जिम तरु पाणी ।
जब ममता-नृप शौकत जाणी
निज गाती शिशु-तन पर ठाणी
माणी मनु सुख-भर निस्साणी ॥

जीवन के अगणित छिद्रों से झाँकनेवाला हृदय जब श्रद्धा व संवेदना से भर जाता है तब कवि वेदना-विह्वल गा उठता है—

एक पक्षी प्रीत नहीं पड़ै कदी पार,
पिऊ पिऊ करत पपैयो पुकार,
पिय नहीं सुणिर ने फिकर लिगार ।

राष्ट्र के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार—केवल विचारों के छन्दोबद्ध होने मात्र से कविता में कवित्व नहीं उभरता । काव्य की सार्थकता तो तभी मानी जायगी जब विचार चित्रों में परिवर्तित कर दिये जायँ उपमाओं और उपमानों के सहारे उनमें एन्द्रियता उत्पन्न कर दी जाय । यही एन्द्रियता आपके काव्य ने प्रत्येक जड़ पदार्थ में भी उत्पन्न कर दी है । उदाहरण के लिए—

पवित उदार पधारिए, लगे सघन ही ठाठ ।
मेरु पाल्मी मैरनी रे, जोवै खड़ी-खड़ी बाट ॥

सघन मिलोच्चय में मिले रे, ऊँचा करि करि हाथ ।
चपल दन्त-पिसरी मिले रे, दे ताला जगनाथ ॥
नयना विरह तुषार ढ रे, झरे निझरणा वास ।
भ्रमरा राव भ्रमै करी र, सहै कम्पा निश्वास ॥
कोकिल कूकत व्याज पी रैं प्रतिराव उड़ावै काग ।
करवट सट सटका करि रे दिल सटक दिखावै बाग ॥
मैं अबला अबला रही रे, किम पहुँचे मम संदेश ।
इम झुर झुर मन झूरणा रे, स कोच्यो तनु विशेष ॥

रूपकों और उपमाओं के सहारे जिस दक्षता से धरती के कण-कण को आपने अपने भावों से परिव्याप्त कर दिया है वह निःसन्देह आश्चर्यजनक है। ओज माधुर्य और प्रसाद युक्त शब्दों के गुम्फन में जब रस घात-प्रत धारा में उमड़ता है तब पाठक भी तृषित चातक की तरह उसके लिए झूम उठता है–

हीसे झपटी घुसटी दीप चपल प्रकाश ।
पुष्प वदन रमणी बनी प्रकटी ज्योत्स्ना जास ॥
स्वामी सत्तमयी सुखद जिन-मत धर्मी हेत ।
कर्मी बहुभागी मनी सगी सो दुख देत ॥
सयम रंगे रंगिनी चपिनी सत्र मतंगिनी चाल ।
शील सुरंगिनी उज्ज्वल रंगिनी नमिनी जग जंजाल ॥

काव्य के माध्यम से कवि अपनी मानसिक अवगुण्ठना और अनुभूतियों का चित्रण मात्र ही नहीं चाहता अपितु उन्हें विश्वजनीन स्तर पर समाहित करने का प्रयत्न भी करता है। जीवन के आरोहण अवरोहण का भी दिग्दर्शन मात्र ही काव्य का उद्देश्य नहीं होता बल्कि उससे उद्भूत चिरंतन सत्यों को वह उसके माध्यम से प्रकट करना चाहता है। काव्य का उपभोक्ता भी मानवीय दुर्बलताओं के उपशमन के लिये ही उसका उपयोग करता है उसके उभार के लिये नहीं।

'भरत-मुक्ति' जन वाङ्मय पर आधारित आपका एक खण्ड काव्य है। इसमें सम्राट् भरत और उनके अनुज बाहुबलि के बीच होनेवाले महान संग्राम का चित्रण है। आचार्य प्रवर ने इस प्राग्ऐतिहासिक कथानक के आधार पर युद्ध और उसकी चिनगारियों के कारण उससे होनेवाली मानवीय दुरवस्था और अनिष्टकर परिणाम अनागत संस्कृति पर पड़नेवाले उसके प्रभाव आदि विषयों को एतद्युगीन समस्याओं मुख्यतः शीतयुद्ध और तृतीय विश्व महायुद्ध के स्तर पर सुलझाने का प्रयास किया है। युद्ध से होनेवाले भयंकर परिणामों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं–

महरादि विचलित हुआ अविचल धृति को छोड़
मानो अम्बुधि अवनि पर, झपटा सीमा तोड़ ।
महा भयंकर रूप में प्रकुपित हुआ कृतान्त
लगता ऐसा सन्निकट है अब तो कल्पान्त ।
थर्‌र्‌र थर्राती धरा कम्पित है शशि अर्क
फीकी छाई व्योम पर दैन्य अनिष्ट उदर्क ।
विश्व स्थिति का निकट अब लगता है अवसान
करने को है आज इस मानवता का मान । (भरत-मुक्ति)

मुष्टि-प्रहार प्रकरण में बाहुबलि को अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत पर मुष्टि से प्रहार करते देखकर समस्त मानव मन महान् अनिष्ट की आशंका से चीत्कार कर उठता है –

जिनमें बड़ी-बड़ी आशाएं
वे भी यदि अंगार बन जाएं
जीवन हो जीवन महारे, अमृत भी यदि मारे ।

सीमा तोड़ बहे जो सागर
कहो कहें फिर किसको आकर
शीतल जल प्रज्वलित करे यदि चन्द्र झरे अँगारे ॥

(भरत-मुक्ति)

कवि अपनी कल्पना शक्ति से काव्य को कितना अधिक निखार देता है इसके लिये इसका प्रथम पद्य ही देखें जो सम-समर्पण के लिए रचा गया है–

अग्नि से ले अम्बु रवि घन रूप कर आकाश में
तान भव्य वितान लाता पुन सलिल प्रकाश में।
लीन होकर स्वयं उसमें देखता है झाँक कर,
तृषित आतुर और उत्कण्ठित जगत को आँककर ॥१॥
समझ आवश्यक समय की माँग सारी सृष्टि से
स्वच्छ शीतल मधुर मधुमय वारि की वर वृष्टि से।
सिक्त कर भू सौंपता वह नीर सिन्धु-तरंग को
सब की यह वस्तु सादर, है समर्पित सब को ॥२॥

इसके अतिरिक्त आपने आषाढ़ भूति अग्निपरीक्षा गीत रो ग्यारो (राजस्थानी काव्य) आदि हिन्दी और राजस्थानी में सैकड़ों गीत रचे हैं, जिससे जन साधारण लाभान्वित हो सके।

तेरापंथ की आचार्य परम्परा ने साहित्य के क्षेत्र में जहाँ अपना पूर्ण योगदान दिया है वहाँ उसने अपने शिष्य साधुओं को भी उस ओर अग्रसर करने का सतत प्रयास किया है। आचार्य प्रवर अनेकों बार कहा करते हैं "ग्रन्थ निर्माण की अपेक्षा *व्यक्ति निर्माण को मैं अधिक महत्व देता हूँ। साहित्यकार अपने जीवन-काल में ५ ग्रन्थों की रचना की अपेक्षा यदि पाँच* व्यक्तियों को साहित्यकार बनायें तो यह अधिक महत्वपूर्ण है। इस तरह प्रारम्भ से ही व्यक्ति-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया गया जिससे साहित्य स्रोत अविरल बहता रहे।

संत साहित्य मुख्यतः संस्कृत हिन्दी और राजस्थानी इन तीन भाषाओं के माध्यम से प्रवहमान है। संस्कृत भाषा में गद्य और पद्य साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया किन्तु इस भाषा के एतद्युगीन न होने के कारण यह साहित्य प्रकाश व प्रसिद्धि में न आ सका। राजस्थानी भाषा में हमें काफी समृद्ध साहित्य मिलता है। मातृभाषा होने से अनेकों संतों ने अधिकार पूर्वक अपनी लेखनी उठाई और इस भाषा में सफलतापूर्वक अनेकों गीति-काव्य रचे। इनमें मुनि श्री मगनमलजी (बागोर) मुनि श्री धनराजजी मुनि श्री चन्दनमलजी मुनि श्री सोहनलालजी (चूरू) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुनि श्री चन्दनमलजी का साहित्य एक अपूर्वता लिए है जिसमें वे विषय की साधारणता में भी एक वैशिष्ट्य खोजते हैं। वे अपनी आनुप्रासिक भाषा में पाठक को उस गहनता में पैठने को विवश करते हैं जहाँ पर व्यक्ति की सामान्य गति होते हुए भी वह उससे अनजान रहता है। मन की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं–

छाप कर मारा मात तात से मया जो न्यारा
बाक घिर मारा है वास वन म गुजारा है।
मीठा रूखा रा पाया भोजन हुए मारा मुनि
मौन एक धारा भार वाक्य ना उचारा है॥
वस्त्र सब डारा परा ताप में उघारा फिर,
तीर्थों बीच पारा र लोट्या तन मारा है।
चन्दना पुकारा महा कष्ट जो हुमारा पर
मन को न मारा तो जमारा ही बिगारा है॥

× × × ×

एक मदन में पाँच का पृथक पृथक आदेश
चन्दन सम्भव क्यों नहीं होता क्लेश विशेष ?

मुनि श्री सोहनलालजी अपने काव्य में पदलालित्य उपमाएँ और स्वभाव चित्रण की दृष्टि से अति सफल रहे हैं। डिंगल भाषा में जिस रूप में आपका काव्य-सौष्ठव निखरा है वह सहज ही हृदयस्पर्शी है। 'सोहन बावनी' में गुरु का माहात्म्य गाते हुए वे कहते हैं—

गमन करत सब विघन टरत मन
उदधि तरत दुख परत अभग है।
भरम मिटत जिन धरम पटत अब
मुग सब बगत कटत भव नग है।
वचन तहत करि गहत महत वह
'कनक' कहत सुखहत शिव मग है।
सतपत व्रत मत जथा मूत इह विधि
गुरु गुन जलनिधि अगम अपग है।

इसी प्रकार मुनि श्री नथमलजी धनराजजी आदि ने भी राजस्थानी भाषा में सहस्रों पद्य व गेय-काव्य रचे हैं जो काफी लोक प्रसिद्ध हैं।

इसके बाद हिन्दी युग प्रारम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तेरापंथ में हिन्दी का विकास १५ वर्षों से अधिक का नहीं है। किन्तु इस अल्प अवधि में भी जिसने गति से उसने विकास किया है कि उसमें अनेक लेखक और कवि साहित्यक्षेत्र में उतरे। उन्हों अपनी स्वतन्त्र शैली से साहित्य क्षेत्र को प्रभावित ही नहीं किया उसमें एक नया मोड़ भी दिया है। काव्य-जगत को अधिक प्रभावित करनेवालों में मुनि श्री नथमलजी और मुनि श्री बुद्धमलजी विशेष रूप से सफल रहे हैं। यद्यपि प्रारंभिक रचनाओं में जीवन का सामान्य अनुभूत्यात्मक चित्रण मात्र ही मिलता है फिर भी आगे चलकर वे अधिक मौलिक और परिपक्व बन कर निखरी हैं। एक संत परम्परा का वहन करने के कारण उनकी रचनाएँ तदनुरूप हों यह स्वाभाविक ही है। फिर भी उनमें एक संगीत है जो धरती के प्रत्येक रजकण को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेता है। उसमें जीवन की एक शक्ति है, और उसके प्रति है एक उत्साह जिसमें उपभोक्ता स्वत आनन्द विभोर हो उठता है और वह एक नई स्फूर्ति व चेतना का अनुभव करने लगता है। स्वयं राष्ट्र कवि मैथिलीशरण शरण गुप्त के शब्दों में—वे अहिंसा धर्म के अनुयायी हैं। इस कारण उनकी रचना तदनुरूप हो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु उसमें जीवन का उत्साह और परहित की भावना .. ..है।

मुनि श्री बुद्धमलजी की काव्य रचना में सहज गति है। उनके काव्य में आत्मविश्वास अपनी चरम सीमा तक झलकता है जो अनुत्साह और निराशा की अनन्त धूमिल रेखाओं को चीरता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँच कर ही विराम लेता है। आत्म विश्वास के अभाव और हीनत्व वृत्ति को वे अभिशाप मानते हैं जिससे समाज जीवित होते हुए भी मृतक रूप में रहता है। उनके ही शब्दों में देखिये—

जो स्वयं काल से चरण मिला कर चलते हैं
पथपत बाधाओं का अस्तित्व कुचलते हैं।
वे ही अपने निर्णीत लक्ष्य को हैं पाते
मिट जाते हैं वे जो कि बीच में रुक जाते।
है यहाँ प्रतीक्षा को कोई अवकाश नहीं
है गति ही मान्य यहाँ स्थिति पर विश्वास नहीं।
ठिठका जिसका पग पिछड़ गया वह जीवन में
मिल सकता उसको कहीं विजय-उल्लास नहीं।
जो हार चुका जीवन के इस समरांगण में
उस जीवित मृत का अपत मरसिया पढ़ता है।
युग का रथ आगे बढ़ता है॥

शब्द संकलन उपयुक्त और मार्मिक होने के कारण वह प्रत्येक पाठक के साथ स्वयं तादात्म्य स्थापित कर लेता है। मानव की कुत्सित व घृणित प्रवृत्तियों के प्रति उनके मन में एक विद्रोह है जिनको मानव आदर्शों के आवरण में आच्छन्न रखना चाहता है—

दीप न जलता लौ जलती है
आदर्शों की छाया में ही पापों की दुनिया पलती है।

'मथन' (काव्य-संग्रह) की भूमिका में प्रसिद्ध कवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं—कविता को सुनकर मैंने यह अनुमान लगाया कि बुद्धमल जी सस्ती भावुकता के प्रवाह में बहकर काव्य क्षेत्र में नहीं आ रहे हैं वरन् उनके भीतर विचारों का तेज है जो कविता की पंक्तियों में बाहर आ रहा है। वैसे तो भावुक हुए बिना कोई व्यक्ति कवि नहीं हो सकता किन्तु कविता ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है भावुकता विचारों के धरातल के अधिक निकट आती जाती है। इस प्रकार बुद्धमलजी बहुत कुछ उसी क्षितिज से उतर कर आ रहे हैं जो काव्याकाश का नवीनतम क्षितिज है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनि श्री के काव्य ने किस निपुणता से साहित्य क्षेत्र में अपना वैशिष्ट्य स्थापित कर लिया है। सुमित्रानन्दन पन्त ने तो 'मथन' देख कर यहाँ तक लिख दिया—रत्नों का मन्थन है। रचनाएँ भावपूर्ण होने के साथ-साथ विचारोत्तेजक भी हैं। वे वर्तमान युग की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं और बुद्धि को बल भी देती हैं। भाषा में संयम सुघरापन तथा मधुर सारल्य है। भाव भाषा का लंगड़ाता सा अनुवाद नहीं है।

आगे चलकर आपका काव्य दर्शन से ओत-प्रोत हो जाता है। दर्शन और काव्य में क्या समन्वय सम्भव है यह एक बहु चर्चित विषय है। हरिवंश राय 'बच्चन' लिखते हैं—दर्शन और काव्य में एक प्रकार का विरोधाभास माना जाता है, पर सत्य तो यह है कि ऊँची कविता बिना दर्शन का आधार लिये नहीं लिखी जा सकती। साथ ही यह भी सत्य है कि दर्शन का भार कविता के कोमल पक्षों के लिए प्राय असह्य हुआ करता है। मुनि बुद्धमलजी एक विशेष दर्शन से प्रभावित हैं। साथ ही उनमें कवित्व गुण भी यथेष्ट मात्रा में है। 'मथन' की कविताओं में मुझे ऐसा लगा कि दर्शन कविता के ऊपर हावी है। मेरा मन मन प्राय यह स्वीकार करना नहीं चाहता पर कवित्व जहाँ-जहाँ उभर उठा है वहाँ कविता मुझे मनोहर लगती है।

जीवन के प्रति आस्थावान होने के कारण उनके लिए प्रत्येक अणु गति-प्रेरक है। तृप्ति और अभावपूर्ति के लिए वह उसके समक्ष अवतरित होता है। और यह सच भी है कि प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व रूप में सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। वह उपभोक्ता पर ही निर्भर होता है कि वह उसका उपयोग कैसे करे। कवि के शब्दों में—

मैं तृषित हूँ किन्तु मृग-तृष्णा मुझे क्या छल सकेगी ?
जब कि मुझको प्रिय यहाँ का सलिल ही क्यों ? धूल भी है।

इस तरह साध्य के प्रति एक अदम्य उत्साह लिये पथगत बाधाओं को उपेक्षित किये चलते रहना ही आपके काव्य के पदस्वर से झलकता है। उसमें साधक को फल आकांक्षा साध्य की दूरी और समय का व्यवधान आदि नहीं खटकने चाहिये—

साध्य कितना दूर है यह सोचना क्या ?
समय कितना लग चुका ? आलोचना क्या ?
जब कि मैं उस ओर प्रतिपल बढ़ रहा हूँ।

किन्तु क्या भाषा मानवीय उदात्त भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है ? क्या ये भौतिक शब्द उस अभौतिक चेतना को व्यक्त और उन आध्यात्मिक अमर अनुभूतियों का प्रकटीकरण कर सकते हैं ? भाषा की इसी असामर्थ्य पर लिखी गई मुनि श्री की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

भौतिक हैं ये शब्द कि जिनसे बनती है यह भाषा
भावों के फिर प्रतिनिधित्व की क्या कर सकते आशा ?
चेतन की जड़ के हाथों में है गर्हित अवसाद।
भाषा क्या है ? भावों का लँगड़ाता-सा अनुवाद॥

इस तरह मुनि श्री ने अनेकों महत्त्वपूर्ण विचार काव्य-जगत को दिया है। साथ ही साहित्य जगत में उन्होंने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि अध्यात्म जैसा नीरस विषय भी काव्य क्षेत्र में कितना सरस बन कर उभर सकता है।

मुनि श्री नथमलजी एक सफल दार्शनिक हैं। प्रत्येक वस्तु का प्रकटीकरण वे दर्शन के माध्यम से चाहते हैं। उनका काव्य भी दर्शनमय हो यह अधिक स्वाभाविक है। अपने काव्य संग्रह 'फूल और अंगारे' की भूमिका में वे स्वयं लिखते हैं—कविता मेरा प्रधान विषय नहीं है। मैंने इसे सहचरी का गौरव नहीं दिया। मुझे इसमें अनुचरी का सा समर्पण मिला है। मैंने कविता का आलम्बन तब लिया जब चिन्तन का विषय बदलना चाहा मैंने कविता का आलम्बन तब लिया जब थकान का अनुभव किया। संभव है मेरे मन का प्रमोद दूसरों को भी प्रमोद दे सके इसीलिए मुनि श्री दुलहराजजी ने इसका संकलन किया है। किन्तु दर्शन को काव्य के आकार में जिस रूप से बाँधने का प्रयत्न किया गया है उसमें आप सफल रहे हैं। भाव के प्रत्येक कण को उन्होंने दर्शन से ओत-प्रोत कर जिस रूप में काव्य में ढाला है वह वास्तव में अप्रतिम प्रतिभा का परिचायक है—

> बीज में विस्तार होता बीज क्या ? विस्तार क्या है ?
> चित्त में संसार होता चित्त क्या संसार क्या है ?
> मृदु सलिल का योग पाकर बीज ही विस्तार बनता।
> वासना का योग पाकर चित्त ही संसार बनता॥

मैं तो उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह मानता हूँ कि अनादि काल से उलझे सत्य को आपने जिस विलक्षणता से काव्य में सुलझाया है वही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। एक ही पंक्ति में—

> कौन लोभ ? द्रौपदी का चीर बनने जा रहा हूँ
> × × × ×
> अनुभव और अनन्त का मैं तीर बनने जा रहा हूँ

आपका प्रत्येक कण श्रद्धा से परिव्याप्त है। जिस अखण्ड और अविचल श्रद्धा का भाव आपमें सन्निहित है वह विरल ही मिलता है। विद्वत्ता के साथ-साथ विनम्रता और अटूट श्रद्धा का अद्भुत संगम जो आप में है वह प्रत्येक के हृदय के लिये विस्मयकारक और प्रेरणादायी है—

> हृदय है आधार इसके स्वत्व को तोला न जाए,
> बुद्धि है प्राकार इसके द्वार को खोला न जाए।
> मूक बन मिलते रहो तुम फूल बन खिलता रहूँगा
> स्नेह बन मिलते रहो तुम दीप बन जलता रहूँगा॥

जीवन की क्षणभंगुरता और सामान्य गति का चित्रण करते हुए वे कहते हैं—

> फूल धीवर के हाथों से फँसा जाल में आकर,
> उससे निकला चाहा अब न आशादीप बुझाकर।
> एक बार फँस जाता वह फिर फँसता ही जाता है।
> × × × ×
> जग अमिट रहता है जीवन मिटता ही जाता है॥

आज के इस विकासवादी युग में भी जब कि मानव विज्ञान के सहारे न जाने भिन्न-भिन्न रहस्यों को उद्घाटित करने में मग्न हो रहा है मानवीय जीवन और विश्वास कितना जटिल और विशृंखल बन गया इसकी क्या कल्पना भी की जा सकती है? इसी ओर संकेत करते हुए मुनि श्री ने अपनी सहज सरल भाषा में एक मार्मिक रेखा-चित्र करके काव्य में उपस्थित कर दिया है—

> सहज सरल जीवन की पोथी
> बड़ा जटिल अनुवाद हो गया।

पथ पथ के लघु विरामों पर,
कसा घोर विवाद हो गया।
× × × ×
घटना है अत्यल्प किन्तु यह
बहुत बड़ा सवाद हो गया।

इस प्रकार सूक्ष्म विचारों से अनुप्राणित आपका काव्य सौष्ठव काफी हृदयस्पर्शी बनकर निखरा है। दर्शन जैसे दुरूह विषय का समावेश होने के कारण कहीं-कहीं पाठक काव्य की अनुभूति से विलगता का भी अनुभव करता है किन्तु एक दार्शनिक की कृति दर्शन से भला अस्पृष्ट भी कैसे रह सकती है? दर्शन को भी काव्य के माध्यम से प्रकट करना उनकी अपनी विशेषता है।

इस प्रकार अन्य अनेकों संत भी इस ओर गतिशील हैं। काव्य वस्तु की दृष्टि से भी कई संत महत्वपूर्ण काव्य लिखते हैं किन्तु एक लघु निबन्ध में इन सबका वर्णन-विवेचन संभव नहीं।

साध्वी समाज में भी इस ओर जागृति का एक वातावरण बन रहा है। यद्यपि साध्वी समाज का ज्ञानाराधन में योग अल्प ही रहा है तथापि वे भी अब आचार्य प्रवर के नेतृत्व में तीव्र गति से इस ओर बढ़ रही हैं। केवल शब्द संकलन ही नहीं भावप्रधान काव्य-सृजन में भी वे सफल रही हैं। जरा देखें तो—

झरने वाला नहीं तो टपकना भी व्यर्थ होगा
और उड़ने को नहीं नभ पंख का क्या अर्थ होगा?
बढ़ रहे जो चरण अविरल कौन जो पथ से हटाये?
आँख के आँसू उमड़ कर आँख में ही हैं समाये।
बुझ गई ज्वाला मगर ये कौन अंगारे बुझाये?

(साध्वी मंजुलाजी)

सागर की उत्ताल तरंगें जब तट से टकरा कर आईं
माँझी की अपलक नजरें तब उन लोगों पर आ थम पाईं।
बड़वानल का महाताप जब मुझे निगलने को ललचाया
उफनाने के लिए तरी को भँवर भँवर पर आ मचलाया।
मुझे नहीं था भान अरे, माँझी के पीछे कौन खड़ा था
क्या तुम ही थे तब से अब तक नौका को खेते आये हो?

(साध्वी जयश्रीजी)

इस तरह आध्यात्मिक चेतना से अलंकृत काव्य की ओर तेरापंथ का श्रमण संघ प्रतिदिन अग्रसर हो रहा है। यह साहित्य जगत को स्वस्थ और मौलिक साहित्य प्रदान करता रहेगा ऐसी सम्भावना है।

तेरापंथ का लिपि-कौशल व अन्य कलाएँ

(श्रमण सागर)

जीवन कला नहीं पर कला ही जीवन है यह सत्य है। जीते और मरते सब हैं पर कलापूर्ण जीना और मरना अपना महत्त्व रखता है। विशेषता जीवन से नहीं आती वह तो सहज है। सहजता में जो आनन्द है वह अनूठा है। कला बाह्य नहीं वह तो अन्तश्ची स्पर्श है। अंतर्भावनाओं का साकार रूप कला है। व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसकी कृति ही उसका प्रतिनिधित्व करती है। सही अर्थ में तो जो भूत को वर्तमान में अनुदित करे वही कला है। कला के अनन्त रूप हैं और वह अनन्त तथा अगम्य है।

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी कलाविज्ञ है। छोटे से छोटे जीव-जन्तु में भी कुछ ऐसे कलात्मक रूप पाये जाते हैं कि उन्हें देखकर मानव चकित रह जाता है। उनके रहन और काम करने के प्रकार विचित्र बनावट और अपने आप में पूर्ण होते हैं। बया ने घोंसला बनाना कब सीखा चींटी ने बिल खोदना कब से आरंभ किया मधु-मक्खी ने मधु-संचय व गृह निर्माण की आदि कला क्या है कोई नहीं बता सकता। उनका आरम्भ सृष्टि के साथ हुआ है। सृष्टि अनादि और अनन्त है। विकास काल में वस्तु का विकसित रूप और विनाश काल में उसका अभाव दीख पड़ता है। उत्थान पतन एक सामयिक बात है पर वस्तु का मूल सदा सुरक्षित रहता है। पदार्थ के विशेष अंशों की क्षति—व्यय कुछ विशेषता का आविर्भाव—उत्पाद और इन दोनों के बीच जो शाश्वत सत्य है वह ध्रौव्य है। इसे जैन दर्शन 'पर्यायवाद' कहता है। वस्तु का पर्याय परिणमन प्रतिक्षण होता है। यही विश्व स्वरूप है। न तो सर्वथा किसी वस्तु का विनाश होता है और न सर्वथा किसी वस्तु का उत्पादन ही। कुछ एक बाह्य अवस्थाओं का रूपान्तर ही वस्तु में नवीनता और प्राचीनता दिखाता है और यही कला है।

लेखन कला सब कलाओं में प्रमुख है। लेखन ही मानवता का सजीव इतिहास है। लिपि के आधार पर ही भाव आचार और विचारों का अनुमान लगाया जा सकता है। व्यक्ति के अनुभव और चिन्तन का माप-तौल ही लेख है। लिपिकला कब से चली इसका इतिहास अपूर्ण है। आधुनिक इतिहासकार लिपिकला का प्रारम्भ वेदकाल या उसके आसपास से मानते हैं किन्तु जब पुरातत्त्व इससे और आगे पहुँचता है। इसके आधार और प्राचीन मिलते हैं।

मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भ से ही लिपिकला की आदि कथा प्रारम्भ होती है। आदि मानव भगवान ऋषभ ने मानवोचित कर्तव्यों आचार-व्यवहारों और रहन-सहन की रीतियों का आदेश-उपदेश दिया था ऐसा कहा जाता है। महामानव आदिनाथ ने अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को अपनी गोद में बिठाया। ब्राह्मी भगवान की बायीं ओर बैठी और सुन्दरी दायीं ओर। भगवान ने ब्राह्मी का बायाँ हाथ अपने बायें हाथ में पकड़ा और अपने दायें हाथ से पूरी वर्णमाला लिखकर उसे सिखायी। तभी से वह सर्वोपयुक्त लिपि ब्राह्मी (नागरी) लिपि के नाम से प्रचारित हुई। सुन्दरी का दायाँ हाथ भगवान ने अपने बायें हाथ से पकड़ा और अपने दायें हाथ से उसे अंक विद्या सिखाई। वही अंक विद्या गणित के नाम से पुकारी जाने लगी। धीरे-धीरे लिपि और गणित का विकास मानवीय गुणों के साथ बढ़ता गया।

विक्रम की छठी शताब्दि से पूर्व प्रायः समस्त जैन और बौद्ध वाङ्मय गुरु-शिष्य परम्परा से कण्ठस्थ चला आ रहा था। तत्पश्चात् जैनाचार्य श्री देवर्द्धि गणी क्षमा श्रमण ने भविष्य को ध्यान में रखकर भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित गणधरों आचार्यों एवं स्थविरों द्वारा अनुप्रथित समस्त जैन वाङ्मय को पुस्तकारूढ़ करवाया। उस समय कागज बनने की विधि क्या थी यह कहना कठिन है। ऐसा लगता है कि कागज के अभाव में ही उन्होंने ताड़पत्र काम में लाए हों। ताड़पत्र पर लिखे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ की लिपि-कला इस बात का प्रमाण देती है कि उस युग में लिपि-कौशल उत्कर्ष पर था। लिपि सौन्दर्य के साथ-साथ उसकी सुरक्षा और टिकाऊ रखने के जो प्रकार उन्होंने निकाले वस्तुतः ही वे तत्कालीन कलाकारों के दीर्घ चिन्तन व अभ्यास के अनुरूप थे। इन विदग्ध हमारे बड़ों की लिपिकृतियों से अनुमान होता है कि लिपिकला किसी युग की प्रमुख कला थी। आज भी लिपि कला के कुछ उत्कृष्ट नमूने तेरापंथ संघ हमारे के सामने प्रस्तुत करता है।

आज मशीन युग है। सब काम मशीनों से चलते हैं। खान-पान से लेकर लेना-देना तक पूरा दैनिक व्यवहार यंत्र से

से चलता है। यहाँ व्यक्ति अपने हाथों से लिखे और एक-एक अक्षर लिखे कुछ अटपटा सा लगता है। आधुनिक विद्यार्थियों का ध्यान तो लिपि सुधार के लिए है ही नहीं। आज जितना बड़ा व जितना ऊँचा आदमी है उसकी लिखावट उतनी ही खराब पायेंगे मानो महापुरुषों की कोटि में गिने जाने की सरल कसौटी है लिपि का भद्दापन।

आज लिखने के साधन भी इतने अनुपयुक्त हैं कि उससे लिपि सौष्ठव बनता ही नहीं। भले ही वे साधन सर्व सुलभ सुविधाजनक और टिकाऊ ही क्यों न हो पर हैं वे लिपि कला के उत्कर्ष के सर्वथा प्रतिकूल। अब से कुछ वर्ष पहले तक शिक्षक और विद्यार्थी दोनों हस्तलिपि के सुधार व सौन्दर्य पर ध्यान देते थे परन्तु यह खेद का विषय है कि इधर कुछ वर्षों से टाइप यंत्र के अधिक प्रचार हो जाने से इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। विज्ञान प्रदत्त सुविधा का यथावश्यक उपयोग ठीक और उचित है, परन्तु उसकी पराधीनता अच्छी नहीं। उससे हम जीवन की एक बड़ी कला से हाथ धो बैठेंगे। अतः यह आत्म गौरव का विषय है कि हमारे पूर्वाचार्यों ने अपनी दूरदर्शिता से संघीय स्वातन्त्र्य की दृष्टि से हमें लिपि-कौशल दिया।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षुगणी एक उच्च कोटि के महापुरुष थे। वे दार्शनिक कवि और लेखक तो थे ही साथ-साथ एक कुशल कलाकार भी थे। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी आचार्य भारमलजी की बचपन से ही लिपि कला की ओर अभिरुचि बढ़ाई। उनका अपना अनुभव था—बिना लिखे कला आती ही नहीं। वे स्वयं हाथ पकड़-पकड़ कर लिखना सिखाया करते थे। लिखते लिखते अक्षर स्वतः जम जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने अपने हाथ से अनेकों ग्रंथ लिखे। उन्होंने अपने जीवन-काल में लगभग २८ पद्यों की रचना की। आचार्य भारमल जी ने उनको लिपिबद्ध किया। वे मूल प्रतियाँ आज भी तेरापंथ संघ का प्राण बनी हुई हैं। उनका लिपि-सौन्दर्य देखते ही बनता है। उनकी लिपि शैली वही प्राचीन शैली है।

प्राचीन शैलियों में राजस्थान अपना ऊँचा स्थान रखता है। लाडनू, सूजानगढ़ सर, पुगल सूरतगढ़ उदयपुर, नाहटा (जो बीकानेर के समीप है) और जीवसर (मारवाड़) की हस्तलिपियाँ अत्यन्त सुन्दर, स्पष्ट और दर्शनीय मानी जाती हैं। प्राचीन भण्डारों को देखने से पता चलता है कि उन लोगों के मनोयोग कितने सुस्थिर, हाथ कितने सधे हुए और विचार कितने मंजे हुए थे।

उन दिनों जैन शिल्प विज्ञान का स्थान बहुत उन्नत था। जैन कलाकार स्थापत्य शिल्प लिपि और जीवन की सभी कलाओं में निपुण थे। वे भारतीय कला के शृंगार रूप थे। समुपलब्ध जैन साहित्य को अगर साहित्य भण्डार से अलग कर दिया जाय तो शेष भारतीय साहित्य कला में क्या रहेगा? जैन कला ने भारतीय कला में भोजन में नमक का काम किया है।

अबतक प्राप्त जैन प्रतियों में कागज पर लिखी प्रति वि॰सं॰ १२ वी शताब्दी की देखने में आती है। प्राचीन लिपि क्रम कुछ विचित्र सा है। मात्राएँ अक्षरों के पीछे हैं। अक्षरों में भी लिपि-भेद है।

तेरापंथ के तृतीयाचार्य श्रीमान् रायचन्द स्वामी तक वही प्राचीन शैली प्रचलित रही। तेरापंथ की एक शताब्दि के बाद जयाचार्य ने अनेकों परिवर्तन किये। उनमें लिपि कला भी एक है। वे करीब-करीब सब दृष्टियों से परिवर्तन प्रेमी थे। उनमें रूढ़िगत विश्वास नहीं थे। वे बड़े आत्मश्रद्धालु और अपनी धुन के पक्के थे।

आचार्य भिक्षु स्वामी एक बार बोगुन्दा पधारे। वहाँ के पोरवाल उपाश्रय में उन्हें भगवती सूत्र की एक प्रति मिली। प्रति अत्यन्त मनोहर और कलापूर्ण थी। उसकी पत्र संख्या १८ और वजन लगभग ९ सेर था। भगवती की वह विशाल-काय प्रति आज भी तेरापंथ के ज्ञान-भंडार में सुरक्षित व सुशोभित है। उसी प्रति से जयाचार्य को एक नवीन सूझ मिली। उन्होंने उसी लिपि के आधार पर अपने युवराज मघवागणी को लिपिकला सिखाई। यहीं से तेरापंथ के नवीन लिपि-क्रम का प्रारम्भ होता है। मघवागणी की लिपि बहुत साफ, सुन्दर और शुद्ध थी। उन्होंने लिपि कला में एक और अभ्यास जोड़ा कि अक्षर सूक्ष्म लिखे जावें। अक्षर जितने सूक्ष्म होंगे कागज उतने ही कम होंगे तथा वजन उतना ही हल्का रहेगा।

जैन मुनि आजीवन पैदल यात्री होते हैं। उनका बोझ उनके कंधों पर होता है। अपने हाथ पैर ही स्वयं मजदूर हैं। उनका कोई स्थान मकान नहीं होता। अतः साधु की वस्तु साधु के साथ चलती है। सर्वप्रथम आचार्य मघवागणी ने सूक्ष्माक्षरों का एक पत्र वि॰ सं॰ १९११ की श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को लाडनू (मारवाड़) में लिखा। इसमें एक ओर १८५ लिखी

और दूसरी तरफ ४९ पंक्तियां हैं। प्रत्येक पंक्ति में ११२ के अनुपात से अक्षर हैं। श्लोक संख्या ३१ है। पत्र का माप लम्बाई में १ ३/४ और चौड़ाई में ४ १/२ इंच है। अक्षर ११५ के करीब हैं। इससे पहले इतने बारीक अक्षर तो देखने में नहीं आए। इससे पूर्व मुनि श्री जीवराजजी अपनी जोड़ी के एक ही संत थे। वे अच्छे लिपिकार थे। उन्होंने भगवती सूत्र (सोलह हजार श्लोक प्रमाण ग्रंथ) को केवल चालीस पत्रों में लिखा था।

तेरापंथ के पंचमाचार्य श्री मघवागणी के प्रिय शिष्य श्रीकालूगणी (जो आगे चलकर अष्टमाचार्य हुए) के भी वे ही संस्कार थे। बचपन में जमे संस्कार परिपक्व होते हैं। सुसंस्कारी के संस्कार क्रमशः बढ़ते जाते हैं। दीपक से दीपक जलता है। एक के संस्कार अनेकों में आए। अष्टमाचार्य श्री कालूगणी एक बड़े दिमाग आचार्य थे। उनका प्रताप अजब था। आपने अपने युग में तेरापंथ का अत्यधिक विकास किया। आपने क्षेत्र से सम्पदा से साधु-साध्वियों से कला से और विद्या से तेरापंथ संघ को आगे बढ़ाया। आप के शासन काल में सैंकड़ों साधु-साध्वियों ने इस दिशा में पर्याप्त प्रगति की। जहां राजस्थान की महिलाएँ निरक्षर होती हैं वहां अनेकों विदुषी साध्वियां लेखिकाएं बनी और सैंकड़ों ग्रन्थों की शुद्ध प्रतिलिपियां करने में सफल रहीं। लिपि-कला में साध्वी-समाज बहुत आगे बढ़ा। महासती गुलाबांजी (जो मघवागणी की संसारपक्षीय बहिन थी) को भी यहीं से परिमार्जन मिला। उनकी लिपि अत्यन्त दर्शनीय और कलापूर्ण थी। जयाचार्य की प्रायः सभी रचनाओं की आदि प्रतियां उन्होंने ही लिखी थी। सुन्दरता उनके लेखन की विशेषता थी। वे बिना काट-छांट के साफ और निर्दोष विशुद्ध लिखा करती थीं। उनका मनोयोग बहुत ही सुस्थिर था। उनका लेखन यांत्रिक युग को चुनौती कहा जा सकता है।

वि० सं० १९७७ की कार्तिक कृष्णा १५ (दीपावली) को भिवानी (पंजाब) में फिर एक पत्र तेरापंथ के प्रसिद्ध लेखक मुनि श्री कुन्दनमलजी जावदवालों ने लिखा। पत्र का माप ९ ३/४ × ४ १/२ इंच है। उसमें ११४ पंक्तियां लिखी गई हैं। प्रत्येक पंक्ति में २८ अक्षर के लगभग हैं। कुल श्लोक संख्या २ है। इस अनुपात से चौसठ हजार अक्षर एक पत्र में लिखने का सफल प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व अभ्यास काल में भी मुनिश्री ने अनेक छोटे-मोटे पत्र लिखे थे। मुनि श्री कुन्दनमलजी तेरापंथ के एक ख्यातनामा कलाकार थे। उन्होंने अपनी साठ वर्ष की वृद्धावस्था में भी लिखने का क्रम चालू रखा। वे सुबह से लेकर शाम तक लेखन में सतत प्रयत्नशील रहते। उन्हें लिखने का नशा सा था। उत्तराध्ययन जैसे विशाल सूत्र को एक पत्र में लिख देना इनकी निरन्तर लिपि-कला आराधना का ही सुफल मानना चाहिए।

शासन का भार आचार्य श्री तुलसी द्वारा सम्भालने पर लिपि-कला में एक बार और उफान आया। नये प्रतिष्ठित साधु व साध्वियां लेखक बनी। प्रति वर्ष सैंकड़ों प्रतियों की प्रतिलिपियां होकर आती और माघ महोत्सव के अवसर पर आदान-प्रदान का एक स्मरणीय चित्र बन कर रह जाती। वि० सं० २० २ में भिवानी (पंजाब) में श्रावण शुक्ला ५ को पचास दिनों के अनवरत प्रयत्न से मुनिश्री नेमीचन्दजी ने एक पत्र प्रस्तुत किया। इसकी एक ओर १ ९ पंक्तियां हैं। प्रति पंक्ति में १४४ अक्षर अंकित हैं। कुल श्लोक संख्या २१ है। ९ ३/४ × ४ १/२ इंच के एक पत्र में इस तरह ७२० अक्षरों का लिखना सचमुच ही आश्चर्यजनक है। तत्पश्चात् एक और प्रयत्न किया गया जिसे संयोगवश बीच में ही छोड़ देना पड़ा। उसका अनुपात एक लाख अक्षरों का होना है। उन्होंने भी छोटे-मोटे कागज लिखे। मुनि श्री चम्पकरणजी मुनि श्री आसकरणजी मुनि श्री मानमलजी आदि अनेकों मुनियों ने एक-एक पत्र में सात-सात सौ श्लोक लिखे। मुनि श्री सोहनलालजी (सुजानगढ़) ने भी सूक्ष्म लिपि में अच्छा कौशल पाया। अभी-अभी एक पत्र मुनि श्री हरखलाल की जावुआ ने भी लिखा है जो ९८ पंक्तियों में है। प्रति पंक्ति में १८४ अक्षरों के हिसाब से अनुमानतः कुल २५ २४ अक्षर होते हैं।

उपर्युक्त सभी पत्र दोनों ओर से लिखे गए हैं। लेखकों की विशेषता तो इस बात में है कि नित्य नवीन स्याही से लिखने पर भी अक्षरों में असमान अथवा गहरापन प्रतीत नहीं होता। उन साधकों के मनोयोग की स्थिरता का परिचय कागज की सफाई देती है। इतने सूक्ष्म अक्षर लिखने पर भी कहीं एक भी अक्षर कटा हुआ अथवा छूटा हुआ या छोटा-मोटा-सा नहीं लगता। इससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है, जब उस पत्र को आँखों से पढ़ा जाता है। किसी यन्त्र या ऐनक की सहायता के बिना इतना बारीक अक्षर लिखना सचमुच ही संसार का आठवां आश्चर्य है। लेखकों की कलम वही पुरानी घर की कलम है। इतने पर भी पत्र का आद्योपान्त सौन्दर्य कम नहीं हुआ है। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र के सहयोग से देखने पर पता चलता है कि पूरा कागज साफ-सुथरा बिना काट-छांट के सांगोपांग तथा पदच्छेद, अंक अध्यायपूर्ति व प्रशस्ति से युक्त है।

अभी कुछ और साधु-साध्वियाँ इस दिशा में बढ़ने के प्रयत्न में हैं। देखें वे कहाँ तक बढ़ पाती हैं। कुछ वर्ष पूर्व साध्वी-समाज में भी सूक्ष्म लिपि का आकर्षण बढ़ा। अनेकों ऐसे छोटे-मोटे पत्र लिखे गये। बेल-बूटे मोनोग्राम और अनेकों चित्रों को सूक्ष्म लिपिमय किया गया। देखने में वे सीधी-सादी काली पंक्तियाँ सी लगती हैं पर प्रयत्न से पता लगता है कि प्रत्येक पंक्ति सैकड़ों अक्षरों का समूह है। लगता है इस होड़ में साध्वियाँ साधुओं से कहीं आगे बढ़ जायेंगी। उन सूक्ष्माक्षर लेखिकाओं के नाम यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दे पा रहा हूँ अतः उन लेखिकाओं से क्षमाप्रार्थी हूँ।

तेरापंथ संघ का लिपि विकास अपना निर्जीव महत्त्व रखता है। इसमें अपूर्व सौन्दर्य है। उनके लिखने की उपकरण-सामग्री प्राचीन है। वे साठी की पुरानी कलमों से लिखते हैं। कलम काटना भी एक अद्वितीय कला है। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में—जिसे कलम काटना नहीं आता वह अधूरा लेखक है। तेरापंथ की अक्षर जमाने की पद्धति भी अनोखी है। प्रारम्भ में सीधी जमीन पर रेत बिछाकर लेखक को अभ्यास कराया जाता है। जब उस रेत में लिखने का अभ्यास हो जाता है तब उसे लकड़ी की पाटी दी जाती है। एक लकड़ी की काली तख्ती पर पीली हरताल से मोटे-मोटे अक्षर लिख दिये जाते हैं। उन पर वार्निश कर दिया जाता है। उसी लिखी तख्ती पर अभ्यासी खड़िया मिट्टी से लिखता है। उसके बाद पतला गत्ता जो काली स्याही से लिखा होता है अभ्यासी को दिया जाता है। उस गत्ते पर बारीक कागज लगाकर अभ्यासी अक्षरों पर अक्षर लिखता है। यों धीरे-धीरे वह स्याही से हाथ साध लेता है। अब उसे लिखने को कागज दिए जाते हैं। एक कागज पर मोटे-मोटे अक्षर लिखते लिखते वही सुन्दर लेखक बन जाता है।

एक गत्ते पर कपड़ा लगाकर उस पर क्रमशः धागे बाँध दिए जाते हैं ताकि प्रतिलिपि करते समय पंक्तियाँ सीधी रहें। धागों की दूरी समान रहती है। उस पर वार्निश कर दिया जाता है ताकि धागे हिल न सकें। यही साँचा 'फाटियो की पटड़ी' कहलाता है। लेखक कोरा कागज लेता है और फाटियों की पटड़ी पर उसे ठीक विधिपूर्वक जमा देता है—एक हाथ से उसे मजबूती से पकड़कर दूसरे हाथ से धीरे-धीरे उन धागों पर दबाव दिया जाता है। उभरे हुए धागे कागज पर बन जाते हैं। वे पंक्तियाँ लीक के चिह्न बन जाती हैं। उन्हीं चिह्नों के आधार पर लेखक लिखता रहता है। इस रीति से पंक्तियाँ सीधी सुन्दर और एकसार रहती हैं। पेंसिल से अगर लकीर करें तो कागज पर दाग पड़ जाते हैं। उन्हें उठाने में अक्षरों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इन सब कठिनाइयों का हल यह सुगम तरीका कर देता है। फाटियों की पटड़ी भी एक कला है। हस्तलिपि का साधन भी कलापूर्ण हो यह एक और विशेषता है।

लिखते समय कागज पर पसीना न लगे अतः एक छोटा सा गत्ते जैसा टुकड़ा रखते हैं। वह भी हाथ से बनता है। उसे हम 'चिपणियो' कहते हैं। हमारे लेखक आधुनिक लेखक की तरह मेज कुर्सी का उपयोग नहीं करते। उनका लेखन दफ्तर उनके साथ ग्राम व नगर में सर्वत्र रहता है।

वे एड़ियों के बल बैठते हैं। दोनों घुटने कुछ खड़े सीधे रहते हैं। घुटनों पर एक लकड़ी की तख्ती रहती है। उस पर दो तह के कपड़े की पतली पटड़ी रहती है। उपर्युक्त फाटियोंदार कागज उस पर रखते हैं। पसीने से बचाव के लिए, चिपणियाँ उसके ऊपर रहता है। तेज हवा से कागज उड़ न जाए, अतः दो कब्जर (clip) उस पर लगा देते हैं। हाथ द्वारा सरलता से बनने पर भी कब्जर में उपयोगिता और कला का सहज दर्शन होता है। बाँस के एक टुकड़े के ऊपर और नीचे से दो चीर लगाए जाते हैं। इन दो चीरों में छोटे-छोटे दो तृणखंड फँसा दिये जाते हैं। जब दोनों चीरवाले भागों को हाथ से दबाया जाता है तो एक चीरवाला भाग खुल जाता है और वही हमारा प्राचीन कब्जर बन जाता है।

लेखक अपने पास एक कलमदान भी रखता है जो कपड़े की तहाई से सटाकर हाथ से बनाया जाता है। कलमदान खूबसूरत और टिकाऊ होता है। कलमदान में पाँच-सात कलमें दो-तीन पीछियाँ बाँस सलाका लकड़ी की एक छोटी-सी टोपसी में सफेदा एक में हरताल और एक बड़ी टोपसी में हिंगलू घुला रहता है। लिखते-लिखते जब प्रमाद वश गलती लिख जाती है तब लेखक तुरन्त सफेदा या हरताल थोड़ा सा पानी में घोल कर लिखे अक्षर पर लगा देता है। वह अक्षर उस रंग से दब जाता है। सूख जाने पर उसे घोटकर उसी स्थान में दूसरे अक्षर लिख दिये जाते हैं इससे पंक्तिभेद नहीं रहता और रिक्त स्थान भद्दा भी नहीं लगता है। देखने में पत्र का सौन्दर्य ज्यों का त्यों बना रहता है। सफेद कागज पर प्रायः सफेदा और पीले रंग के कागज पर प्रायः हरताल लगाने की प्रथा है।

तेरापंथ का लेखन प्रायः काली स्याही से होता है। साधु रात को स्याही गीली नहीं रखते। सूर्यास्त से पूर्व ही वे स्याही

को एक टोपसी में डाल कर उसमें कपड़ा छोड़ देते हैं। कपड़ा स्याही पी जाता है। दूसरे दिन नया कपड़ा डालकर उस स्याही को निचोड़ लेते हैं। वह निचोड़ी हुई स्याही एक दवात में छान कर ले ली जाती है। दवात भी कलात्मक होता है। छोटा सा लकड़ी का बना हुआ दवात होता है जिसे हम 'कूपका' कहते हैं। कला तो यही है निरन्तर नई स्याही से लिखन पर भी यह प्रतीत नहीं होता है कि स्याही दो प्रकार की है। प्रति के पदच्छेद, अंक अध्यायपूर्ति आदि खास हिंगलू से दिये जाते हैं। इससे काली स्याही से लिखे पत्र का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। कुछ भुवपद स्याई आदि हिरमच (सोनापरू) से रंग दिये जाते हैं। इधर-उधर की छोड़ी हुई लाईन पर लाल लाईन रहती है जिसे 'फाँटिया' कहते हैं। फाँटिया देन की रेखा भी हाथ से बनी होती है। यह एक लकड़ी का लम्बा फुट होता है जो एक ओर से घिसा तथा दूसरी ओर से सही रहता है। सही सिरा ऊपर रखते हैं। नीचे की धार घिसी रहने के कारण कागज से ऊपर रहती है और उसी के आधार पर फाँटिया दिया जाता है। कागज के ऊपर के खाली स्थान को 'जिह्वा' कहते हैं। दोनों बाजुओं के खुले स्थान में एक ओर प्रति का नाम व दूसरी ओर पत्र संख्या लिखी रहती है।

लिखे पत्रों की सुरक्षा के लिये लेखक 'पूठा' रखते हैं। पुट्ठा कपड़े का होता है। कागज को मुड़ने और बरसात आदि से बचाने के लिए पूठा एक उपयुक्त साधन है। पढ़ते समय विद्यार्थियों के हाथ का पसीना न लग जाए हरी और सफेद दो तरह की पटड़ियाँ बनाई जाती हैं। हरी पटड़ियाँ कागज की और सफेद प्राय कपड़े की होती हैं। वे भी कलापूर्ण ढंग से बनती हैं। एक लकड़ी का 'दामी' उन पत्रों के ऊपर होती है जो अंगूठे से कागज की रक्षा किया करती है।

स्याही हिंगलू हरताल सफेदा हिरमच दवात प्याला हिंगलू व हरताल तथा सफेदे की टोपसी पीछी पाटी पटड़ियाँ पूठा पिपनियाँ कामी फाटियो की पटड़ी कलमदान कलम स्याही में पानी डालने के लिये एक नोजे के छिलके से बना हुआ छोटा चम्मच बन्दर आदि कुछ मिला कर जितनी भी सामग्री लेखक के लिए अपेक्षित है, वह सब प्राय हाथों से ही बनती है। संघ की व्यवस्था के अनुसार प्राय पूरा का पूरा कार्य साध्वी समाज करता है।

लेखक-लेखिकाओं का परिचय असम्भव है। उनमें से कुछ विचित्र भी हो गए हैं जो ६ मास की कठोर तपस्या में भी ५ पत्रों का लेखन कर चुके हैं। एक-एक दिन में पाँच-पाँच पत्रों को लिख देना उनकी आत्मसाधना का ही परिचय है। कई ने तो पूरी की पूरी "बत्तीसी" लिख डाली है। कई ने लाखों पत्रों को अनूदित कर दिया है और कुछ लेखकों ने पुस्तक की पुस्तक लिख दी। लिखे पत्रों को देखकर द्रष्टा मन्त्रमुग्ध हो जाता है। पत्र मुँह बोलते हों—ऐसा लगता है। क्या ही सुन्दर लिपि है! यन्त्र से छपे हुए अक्षरों में शायद फीका अथवा गहरापन छोटा अथवा बड़ापन नजदीकी और दूरी मिल सकती है पर इन पत्रों में नहीं। छपे पत्रों से भी वे हस्तलिखित पत्र कहीं बेहतर हैं। पत्रों के लिखने में एक और विशेषता यह है कि लेखक उनमें बीच-बीच में कुछ स्थान रिक्त छोड़ देता है। इसे हमलोग बावड़ी कहते हैं। बावड़ी भी कला का नमूना है।

आगम लेखन में मूल पाठ मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा जाता है और पाठ के ऊपर नन्हे-नन्हे अक्षरों में उसका 'टब्बा' (भाषान्तर)। सटीक आगम लेखन की पद्धति कुछ और ढंग की है। व्याख्यान और तरीके से लिखे जाते हैं। भजन-भावन लिखने की शैली कुछ और भिन्न है। पत्रिका चूर्णि आदि लिखने की दिखावट कुछ और भिन्न है। कुछ पत्रों के मूल मोटे अक्षरों में संस्कृत छाया बाल और टीका बारीक अक्षरों में लिखी जाती है।

संघ के प्रत्येक साधु-साध्वी किसी न किसी रचनात्मक काम में व्यस्त रहते हैं। वे साधारणतया दिन में खा-पीकर आराम से लेट नहीं सकते। उनकी चर्या व्यस्त चर्या रहे और वे निठल्ले होकर इधर-उधर घूमें नहीं ऐसा विचारकर हमारे पूर्वाचार्यों ने मनोवैज्ञानिक ढंग से काम लिया। स्त्रियों की प्राय सीने और बुनने में अधिक रुचि पाई जाती है। संघ की आवश्यकताएँ स्वावलम्बन से ही पूरी हो सकें और अपनी अभिरुचि के अनुरूप उन्हें कामकाज मिलता रहे और कला में अभिरुचि बढ़े ऐसी प्रेरणाएँ समय-समय पर मिलती रही हैं।

जैन साधुओं के हाथ में एक रजोहरण (ओघा) रहता है। वह ऊन का बना होता है। ऊन की बनी कम्बलों से तार निकाल कर वह बनाया जाता है। उसकी पूर्ति सुविधा से हो अतः श्रीमज्जयाचार्य ने एक संविधान बनाया। बाहर घूमनेवाले प्रत्येक साध्वी-संघ को एक रजोहरण हर साल लाकर आचार्य श्री को समर्पित करना पड़ेगा। रजोहरण इससे पूर्व दीक्षा लिया करते थे। जयाचार्य ने इस प्रथा को यों मोड़ा। तब से तेरापंथ संघ अपना काम स्वावलम्बन पूर्वक

करन लगा। रजोहरण का उपयोग अहिंसा पालन में होता है। रात में चलते समय किसी प्राणी की हिंसा न हो जाय, अतः साधु रजोहरण से पूज-पूज (पोंछ-पोंछ) कर चलते हैं।

रजोहरण एक दर्शनीय कला का निदर्शन है। कलाकारों का कौशल उसकी मनोहारिता में है। लगभग डेढ़ इंच की अंगुली भरी नाली पर ४०-५ तार का एक पोटा बाँधा जाता है। पोटा बिना सिलाई और गाँठ के केवल आंट देकर बाँधते हैं। नाली पर पोटा और पोटे के नीचे लटकते तार एक गुच्छक की भाँति प्रतीत होते हैं। नीचे तार तीन-तीन तारों को बट देकर बनाया जाता है जिसे हम 'फली' कहते हैं। दो सौ फलियों को एक डोरी म पिरोकर ओघा बनता है। नाली और पोटे के बीच एक सूत की सांकली (मुखला) डालते हैं। इसे देखकर सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि यह हाथ से बुना हुआ है। इन तारों को हाथ से बाँटा व गूथा जाता है। फिर भी इसम भद्दापन नहीं पाया जाता। पोटे और नालियों का उतार-चढ़ाव एक सुन्दर मुक्ताहार की भाँति सुशोभित होता है। रात को सोते समय या इधर-उधर करवट बदलते समय एक छोटी परिमार्जिनी भी (पूजणी) रहती है। यह भी ओघे की भाँति ही बुनी जाती है। उसमें ५ ६ फलियाँ होती हैं। प्रतिवर्ष इस तरह क रजोहरण और पूजणियाँ ६०-७ के लगभग आती हैं। माघ महोत्सव पर आचार्य श्री इन्हें यथावश्यक वितरित कर देते हैं। रजोहरण में पिरोई जानेवाली डोरियाँ साधु स्वयं बुनता है। ओघे की डंडी पर बंधे 'नीसिथिये' (रस्सी) की गुंथाई भी दर्शनीय है।

इसके साथ-साथ कुछ 'मुक्ता-मालाएँ' धागे में गूंथकर बनाई जाती हैं। माला के दाने या मनके अत्यन्त मनोहर और सुन्दराकृतियुक्त होते हैं। कुछ डोरियों को जो शास्त्र बाँधने के काम आती हैं देखकर दर्शक यह नहीं कह सकता कि यह हाथ की है। कुछ मोटी रस्सियाँ जिन्हें हम 'नामका' कहते हैं, बुनकरों की कला का प्रदर्शन करती हैं। सिलाई का काम भी साधु स्वयं परस्पर करता है। साध्वियाँ आतिरिक्त ही इस कला म निपुण हो जाती हैं। सिलाई की विशेषताएँ देखने योग्य होती हैं। कितना सूक्ष्म कितना सीधा कितना सुन्दर और कितना कलात्मक कार्य कलाकार करते हैं यह देखते ही बनता है। दो कपड़ों का जोड़ ऐसा होता है कि लगता है कि जोड़ है ही नहीं। बेचारी मशीन भी भला ऐसा क्या जोड़ सकेगी। केवल किनारे की धारी-सी दिख पड़ती है। 'बखिया' व 'ओटण' के उत्कृष्ट नमूने सब की साधु साध्वियाँ समाज के सामने प्रस्तुत करती हैं। यह सब कलाकृति जीवनोपयोगी कला है।

जैन साधु कोई भी धातुमय पदार्थ अपने पास नहीं रखते। उनके भोजन व पानी के पात्र भी लकड़ी काठ, तुम्बा या मिट्टी के ही होते हैं। लकड़ी के पात्र पर वार्निश कर दिया जाता है जिससे लकड़ी सर्दी या धूप स घूम या तड़ककर फट न जाये। पात्र पर रोगन व रंग हाथ से लगाते हैं। पात्र-निर्माण कला भी तेरापंथ संघ की दर्शनीय कला है। प्रत्येक पात्र पर व्यक्तिगत अपना-अपना नाम लिखा होता है। इससे सैकड़ों पात्रों के सम्मिलित हो जाने पर भी वे एक दूसरे से मिलते नहीं खोते भी नहीं या बिना पते के इधर-उधर पड़े भी नहीं रहते। खराद पर के उतरे लकड़ी के पात्रों में स कुछ एक सीधे वार्निश स रंग दिये जाते हैं तो कुछ काले और सफेद रंगों में। इन रंगों म भी आध्यात्मिक उद्देश्य रहता है।

रंग-रोगन बिना ब्रुश (तूली) के अंगुली से ही लगाया जाता है। रोगन लगाकर उन्हें सुखाने का प्रयोग भी कलापूर्ण है। इन्हें ऐसा सुखाया जाता है कि जिससे यह रजकणों से बचा रहे। रंगे पात्र की पालिश म मुंह देखा जा सकता है। इतनी सुन्दर रँगाई कारीगरों से भी शायद ही हो पाये। यह अंगुली से रंगा गया है देखने वाला सहसा यह मानने को तैयार नहीं होता। एक और विचित्र पात्र निर्माण कला पाठक तेरापंथ संघ म पाएँगे जिसे देख कर यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह वस्तु क्या है। नारियल के ऊपर के छिलके से उन्हें बनाया जाता है। जिस नारेली को लोग फेंक देते हैं साधु उसे उपयोग म लाते हैं। कलाकार की कला तभी प्रस्फुटित होती है जब कि निकम्मे से निकम्मे पदार्थ को भी सदुपयोगी बनाया जावे। नारेली को एक कटोरी या प्याली की आकृति म बनाया जाता है। इसे सब लोग पानी पीने के काम में लाते हैं। नारेली को काँच के टुकड़े से घिसकर बढ़ा कर देते हैं। उस पर भीतर सफेद और बाहर लाल रंग लगाया जाता है। नीचे यह अच्छी तरह टिकी रहे अत एक वलयाकार नारेली का टुकड़ा या दूसरा राख आदि का बना हुआ बिन्दिया अत्यन्त कुशलता पूर्वक जोड़ दिया जाता है। उसे 'पिंडली' कहते हैं। पिंडली का जोड़ दर्शनीय होता है। प्याले को देखनेवाला "खराद स उतारा गया है" ऐसा कहेगा। प्याला के बाहर बेल-बूटों के रूप में शिक्षात्मक पद्य भी लिखे जाते हैं। यह देखने योग्य होता है। इस कला म साध्वी समाज प्रगति पर है। प्याले पर लिखना कठिन तो अवश्य है पर ये लिपिकाएँ इसी शक्ति को कलाकार हाथ [illegible] रूप म प्रकट करती हैं।

नारियल की छोटी-छोटी टोपसियाँ भी बनती हैं। कुछ उनके सेट के सेट बनाते हैं। उन्हीं टोपसियों में चित्रकारी की 'कमर मंजूषा' भी बनाई जाती है। खाद्यादि पदार्थ लेने या रखने के लिये कुछ काठ के चम्मच के रूप भी बनते हैं जिन्हें हम 'काष्ठ की टोपसी' कहते हैं।

हम कल्पना कर सकते हैं कि लकड़ी के इतने हल्के और पतले बरतन कितने जल्दी टूट जाते होंगे। पर संत समाज उन्हें सावधानी एवं चातुर्य से व्यवहृत करते हैं। जब कभी संयोगवश पात्र टूट जाता है तो उसका जोड़ कला-दर्शन का उत्कृष्टतम नमूना होता है। बरमे से छेद कर टूटे टुकड़ों को सुई के धागे से सी देते हैं और उसपर राख को वार्निश में मिला कर लगा दिया जाता है। यही हमारा जोड़ है। हम उसे 'मर्शी' कहते हैं। पदार्थ उपयोगिता का भाण्डार है। उसे उपयोग में लेना आना चाहिए। साध्वियाँ रंग-रोगन और जोड़ देने की कला में प्रवीण हैं। काष्ठ-तुम्बा भी बड़े विचित्र ढंग से पानी रखने के लिए रखा जाता है। पीला और लाल रंग का बना तुम्बा जिसे हम 'लोट' कहते हैं देखते ही बनता है। दर्शक कल्पना नहीं कर सकता कि यह तुम्बा है। लोट इधर-उधर लुढ़क न जाए अतः उसके नीचे तीन पाये (गोटियाँ) लगा दिये जाते हैं। हम उसकी उपयोगिता को परख जाएँ। पिछले साल एक साध्वी ने तुम्बे के दो टुकड़ों को बीचो-बीच सीं कर एक तुम्बा बनाया था। इसे देखकर आश्चर्य हुआ। उसका जोड़ जब तक बताया न जाय मालूम नहीं होता था।

कभी-कभी जब टूटे हुए पात्रों के सफाई से जोड़ने की परस्पर प्रतियोगिता हो जाती है तब साध्वियाँ उन जोड़ के निशानों को इस तरह छुपा देती हैं कि दर्शक पर शायद ही उसका पता लगे। जोड़ देने की कला में साध्वी श्री रतनाजी (राजलदेसर) एक विलक्षण कलाकार हैं।

जब तक प्लास्टिक की थैलियों का आविष्कार नहीं हुआ था हमारी साध्वियाँ बारिश से पुस्तक के पन्नों की रक्षा के लिये मोमवस्त्र का प्रयोग करती थी। मोम की थैलियाँ बनाने का ढंग भी अनोखा था। सहसा पानी और सीली हवा से शास्त्र की सुरक्षा का काम यों हुआ करता था।

बिना जूता पहने चलनेवाले पैदल यात्री इस बात का अनुभव करेंगे कि जब कभी काँटा लग जाय तो एक कदम भी चलना कितना दूभर हो जाता है। साधु कोई धातु की सुइयाँ अथवा चिमटी अपने पास नहीं रखते। वहाँ जंगल में काँटा निकालने का साधन जुटाना कठिन है। तेरापंथ के कलाकारों ने 'कण्टकात् कंटकोद्धरेत्' का साकार बनाया। मारवाड़ में एक कांटेदार वृक्ष होता है जिसे 'हिंगोटा' कहते हैं। सूखे हुए हिंगोटे के काँटों को एक कपड़े में लपेट कर उसे ऊपर से धागे से बाँध देते हैं। यह हमारा शूलों का घर है। शूल से काँटा खोद लेते हैं और साथ ही एक चिमटी जो कि हाथ से लकड़ी या प्लास्टिक की बनी होती है से खींच लेने का काम लेते हैं।

हस्तलेखनी और कलमलेखनी भी देखने योग्य होती हैं। जैन चित्र कला कौशल प्रमाण है। (तेरापंथ के) प्राचीन कलाकार उस शैली से काम लेते थे। आधुनिक चित्रकार प्राचीन शैली में कुछ नवीन शैली का मिश्रण कर शिक्षात्मक चित्र बनाते हैं।

कमफल संयुक्त स्वर्ग-नरक के चित्रों से साधारण जनता में अच्छा प्रभाव पड़ता है। जहाँ वक्ताओं की लच्छेदार भाषा काम नहीं करती वहाँ हमारे चित्र लोगों में मूक हृदयस्पर्शी ज्ञान जाग्रत करते हैं। पारलौकिक चित्रों के अतिरिक्त बौद्धिक व्यायाम के लिये कुछ प्रच्छन्न चित्र भी बनाए जाते हैं। इनमें से ढूंढ कर अभीष्ट आकृति निकाली जाती है। एक चित्रा कृति में अनेक चित्राकृति भी एकाग्रता का एक उदाहरण है। उलट-पलट कर एक आकार को किसी दूसरे आकार में परिवर्तित करना भी एक हस्तकौशल है।

द्विशताब्दि समारोह के उपलक्ष में युगप्रधान श्री तुलसी की विशेष आज्ञा तथा वयोवृद्ध मिष्टभाषी महामना श्री भाई जी महाराज (आचार्य श्री तुलसी के ज्येष्ठ बन्धु मुनि श्री चम्पालालजी स्वामी) के प्रेरणात्मक सहयोग और सतत परामर्श से आचार्य श्री भिक्षु की "जीवन-झाँकी" चित्रावली पिछले वर्ष चित्रित की गई। इससे ऐसा लगता है मानो आचार्य भिक्षु के कुछ अतीत जीवन-प्रसंग मूर्तमान हो उठे हैं। महापुरुषों के जीवन का अंकन बहुत बड़े प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। अतः उसमें अनको भी अभी अधूरी हैं। फिर भी तेरापंथ के कलाकारों का अपना एक परिचय तो अवश्य है। इस चित्रावली के प्रमुख चितेरे श्री दुलीचन्दजी (सरदारशहर) हैं। मुझे भी अपनी कलम चलाने का सौभाग्य मिला है। हम दोनों कृतज्ञ हैं। इस महान ग्रंथ में प्राचीन चित्रकारों के चित्र तो आधुनिक

प्रगतिशाली चित्रों की अनुकृति सी लगती है। इन आधुनिक भावचित्रों को देख कर वे प्राचीन चित्र याद आए बिना नहीं रह सकते। कथाचित्र अनेक रूप चित्र और अन्यान्य श्लोक यन्त्र आदि चित्र संघ में काफी प्रचलित रहे हैं। प्राचीन चित्रकारों में मुनि श्रीचौथमलजी मुनि श्री कुन्दनमलजी एवं मुनि श्री सागरमलजी (भिवानी) तथा साध्वी श्री चिमनाजी प्रमुख रही हैं। चित्रकारों के ब्रुश (तूलिका) मोर पाँख के बाँध हुए बालों के होते हैं।

तेरापंथ के आधुनिक चित्रकार मुनि श्री दुलीचन्दजी (सन्त दुलह) एक कुशल हस्त कलाविद् हैं। इन्होंने अनेक नवीन कलाओं को जन्म देने का श्रेय पाया है। मुनि श्री सोहनलालजी (चाड़वास) भी अपनी कोटि के एक कुशल कलाकार हैं। इन कलाओं को सभी राजस्थानी और रंग परम्परा नाथद्वारा की है। नाथद्वारा (मेवाड़) के एक कलाकार श्री खेमराज रूपनाथ ने उदारतापूर्वक निस्वार्थ सेवाएँ देकर अपनी कला भिक्षा के रूप में संघ को समर्पित की हैं।

वि सं २ में बीकानेर में सन्त दुलह ने एक पेटी बनाई जिसमें ८ खन (घर) हैं। एक खन को ऊपर उठाने से सारे घर अपने आप ऊपर उठ जाते हैं। उसमें लोहे की कोई कील (मेख) नहीं है तथा वह बांस की बनी हुई है।

कलाकार श्री सन्त दुलह ने उसी वर्ष मसाज (मालिश) चिकित्सा करने का भी कार्य सीखा। वह भी एक हस्तकला है। अभी-एक साध्वी ने धागा स्पेटन वाले भूगिय (चकरी) को खोद कर आँख धोने का एक प्याला बनाया है। आँख म दवा डालने के लिये मोर की पांख को पिचकारी का रूप दिया गया है। हस्तकला के कितने प्रकार हैं कहा नहीं जा सकता। कपड़े के कुछ उपयोगी डिब्बे और छोटे बक्स भी रंग वार्निश लगाकर बनाये जाते हैं। कागज रखने की पेटियाँ कई तरह की नवीन कलाओं से ओत-प्रोत होती हैं। अभी-अभी दो-तीन एसी मंजूषाएं सन्त दुलह ने बनाई जिन्हें दर्शक पुस्तक मानकर खोलने का प्रयत्न करने लगा। एक साहित्य-मंजूषा जिसमें आचार्य श्री अपनी व्यक्तिगत पुस्तकें प्रतियाँ और कागजात रखते हैं बड़ी ही कुशलता से बनाई गई है।

तेरापंथ की साधु-साध्वियाँ मुख पर मुख वस्त्रिका बाँधती हैं। मुखवस्त्रिका बनाने की कला भी वर्णनातीत है। यह इस ढंग से मोड़ देकर जोड़ी जाती है कि देखनेवाला प्लास्टिक या कागज का भ्रम करेगा। उस पर की हुई पालिश काँच सी होती है। यह भी कला की एक कड़ी है।

तेरापंथ साधु संघ का कोई भी सदस्य डाक्टरसे शारीरिक सेवा नहीं ले सकता। वह अस्पताल आदि में भर्ती नहीं हो सकता। रोगी की सेवा संघ का प्रत्येक सदस्य अपनी सेवा मानकर करता है। चीर-फाड़ की अपेक्षा आँख का कार्य बहुत हल्का और बारीक होता है। जयाचार्य के युग म स्वयं जयाचार्य की आँख का जाला उस प्राचीन सूची भेद चिकित्सा के आधार पर या ढंग से श्री कालू जी स्वामी ने निकाला था। श्री हेमराजजी स्वामी की आंख की चिकित्सा भी उसी पद्धति से हुई। श्रीमद् कालूगणी जी के युग म महासती कानकँवरजी की आँख भी उसी सोजती (मारवाड़) शैली से साध्वी श्री सन्तोकाजी (लाडनू) ने बनायी थी।

सर्व प्रथम हमारे सुप्रसिद्ध कलाकार सन्त दुलह न यही प्राचीन चक्षु-चिकित्सा सीखी। वि०स १९९९ म आचार्य श्री तुलसी ने उन्हें आँख की आधुनिक चिकित्सा पद्धति सीखने को भिवानी भेजा। डा पुरुषोत्तमदास (भिवानी) ने प्रभावित होकर ६ महीने में उन्हें अपनी कला सिखाई और वहीं मुनि श्री ने ससारपक्षीय पिता मुनि श्री जोगजी स्वामी के मोतियाबिंद का आपरेशन किया। इसी तरह मुनि श्री भीमराज जी स्वामी का मोतिया भी आपने ही उतारा। आपने अपने हाथों से जीवनमलजी स्वामी की आँख का काला–मोतिया निकाला और अन्य अनेको छोटे-मोटे आपरेशन सफलतापूर्वक किये। कई मौकों पर आपने आँख में बढ़ते हुए मांस को काटने में भी अपनी कला का परिचय दिया।

दो एक साध्वियों ने भी आँख का कार्य सीखा और किया। साध्वी प्रमुखा लाडाजी की आँख का मोतिया साध्वी श्री रतनकुंवरजी ने निकाला। साध्वी श्री कंचनकुमारीजी ने भी नेत्र चिकित्सा का अध्ययन किया।

कलाकार श्री महेन्द्र मुनि ने भी नेत्र चिकित्सा का कार्य सीखा और मुनि श्री सोमचन्दजी की आँख का मोतिया निकाला। हमारे संघ म ऐसे अनेको कुशल कलाकार हैं जिनके लिए चीरफाड टांके इन्जेक्शन बैंडेज (मल्हम पट्टी) और नाड़ी इन्जेक्शन तो साधारण सी बात है।

आँख की चिकित्सा के बाद नम्बर टिकाने के लिए चश्मा आवश्यक है। कांच या पत्थर के चश्मे संघ में निषिद्ध हैं। अतः हमारे कलाकारों ने अनेक खोजों के बाद प्लास्टिक सीट पर नम्बर देना सीखा। सर्व प्रथम इसका श्रेय सत दुलहजी को मिला।

बालकों को नजर के चश्मे मिले। धीरे-धीरे संघ के कई साधु-साध्वी चश्मे बनाने लगे और प्रति वर्ष इसकी पूर्ति इस तरह हाथ से बनी एनकों से होने लगी।

प्लास्टिक पर जब नम्बर बैठ गये तो उसका उपयोग और भी बढा। सत दुलह ने एक कमरा तैयार किया जो ठीक बिकाऊ कमरों जैसा है। उससे फोटो निकाले जा सकते हैं। इसके पूर्व प्रयत्न में मुनि श्री महेन्द्रजी और मुनि श्री पुण्यराजजी ने काफी प्रयत्न किये थे। एक कार्ड बोर्ड का ढाँचा बनाया। उसमें प्लास्टिक का एक लेंस सेट किया गया और पचासों पत्र फोटो निकाले गए। कमरे के इस नवीन प्रयोग ने रूढिगत धारणाओं को मिटाने में बहुत योग दिया। हमारे कुछ प्राचीन विचारकों का मत था कि फोटो लेने में अग्नि का प्रारम्भ होता है। उसमें धूआं सा निकलता है। ये सब रूढिगत धारणाएँ हाथ से बने कमरे ने दूर कर दी।

सूर्य की किरणों को एकत्र कर उससे ताप (सेंक) देने की योजना से एक बहुत बड़ा प्लास्टिक का लेंस बनाया गया जो १ इंच के व्यास का है। उसमें पानी में भी गरमी आ सके ऐसा अनुमान है।

प्लास्टिक के कुछ सूक्ष्म दर्शक ग्लास भी बनाये गये। कुछ फुट (स्केल) भी गए बनाये जो ग्लास की तरह नम्बरयुक्त हैं। चश्मा नाक पर चढता है और कान को पकड़ता है किन्तु यह फुट कागज पर पड़ा-पड़ा अक्षरों को बड़ा बना देता है।

श्री सत दुलह ने एक दूरवीक्षण यन्त्र भी बनाया जो आगे-पीछे खिसक कर ठीक फोकस देता है और लगभग चार मील दूरी की वस्तु दिखा सकता है। एक मीटर भी बनाया है जो बिना धातु का है। उससे चश्मो के नम्बर नापे जा सकते हैं। श्री सोहनलालजी स्वामी ने भी वैसा ही एक यंत्र कुछ दूसरे प्रकार से बनाया है जो ग्लासों के नम्बर देता है। ये मीटर मशीनरी से बने मीटरो की तरह सुन्दर और कान्तियुक्त हैं।

एक और आश्चर्य में डाल देनेवाली कला सामने आन को है। श्री सत दुलह ने एक टाईमपीस (घड़ी) का निर्माण किया है जिस के पूरे पुरजे लकड़ी के हैं और यह दोनों वक्त समय बतायगी। यह घड़ी पानी के निकास के आधार पर चलेगी। उसके ऊपर लगी सुइयाँ समय का निर्देश करेंगी। पानी का दबाव समान रहे, अत इसके लिए एक कन्ट्रोलर लगाया गया है। पानी के परिमित निकलने पर एक गिरारी चलेगी। उस गिरारी से दूसरी गिरारी चलेगी और उनके आधार पर सुइयाँ अपना काम करेंगी।

एक प्रति की अनेक प्रतियाँ बनाने के लिये कलाकार सत दुलह ने ब्लूप्रिन्ट प्रारम्भ किया। ब्लूप्रिंट के वे फ्री कागज भी वे हाथ से ही रँगते हैं।

एक बार एक लीथो भी बनाया गया जो पेंसिल या स्याही के अनेक प्रतिपत्र निकालता था।

प्लास्टिक का चाकू कघी प्लास्टिक और लकड़ी के गोलाकार बनाने का परकाल पुस्तकें रखने की तिपाइयाँ चश्मो के फ्रेम चश्मों के घर, प्लास्टिक की 'सीमाली' आदि बिना धातु के कुछ ऐसे छोटे-मोटे यन्त्र आदि भी साधु-साध्वी अपने हाथों से बना लेते हैं।

संघ का जल ठंडा करने का भी प्रकार अद्भुत है। दो ईंटो पर पानी से भरा पातरा (पात्र) उलटा बांध कर रख दिया जाता है। ज्यों-ज्यों लू लगती है पानी ठण्डा होता जाता है। गंदले पानी को साफ करने के लिये ऊपर के बरतन से एक कपड़ा लटका देते हैं। कपड़े से बूद-बूद टपक कर आनवाला जल स्वच्छ और ठण्डा होता है।

भोजन के पात्रों को साफ करनेवाले 'लूणे' व 'जोडी पल्ले' व झोलियाँ आदि धोने की विधि भी कलात्मक है। थोड़ पानी से और बिना सोडा-साबुन डाले कपड़ो को साफ धोना भी हाथ की चतुराई है।

साधुओं के रहने का प्रकार भी कलात्मक होता है। जहाँ पाँच-पाँच सौ व्यक्तियों का आहार पानी होता है वहाँ इतनी सफाई से काम किया जाता है कि थोडी देर बाद यह पता तक नहीं लगता कि यहाँ बैठकर पाँच सौ व्यक्ति भोजन कर चुके हैं। वहीं एक तीनलका या चिकनाहट का दाग भी नहीं पाया जाता है। भोजन-व्यवस्था भी तेरापथ की निराली है। उसके जोड़े में दूसरी जगह ऐसी व्यवस्था नहीं मिल सकती।

महामना भाई जी महाराज श्री चम्पालालजी की अनन्य प्रेरणा से अभी हमारे कलाकार आचार्य श्री की चिर अभिलषित मनसा को साकार बनाने के लिए ध्वनिवर्धक यन्त्र तैयार करने की योजना में सतत प्रयत्नशील हैं। उसका परिणाम शीघ्र ही जनता के सामने आनेवाला है। एक लाउडस्पीकर की भाँति भूंगला तैयार हो गया है। इसमें ५ रीलें व १ तारें हैं जो सितार की तरह ध्वनित होती हैं। रीलों के बीच में चार मोलक बाँधे गये हैं जो ध्वनि को विस्तृत करते।

अब यहाँ पर आत्मगौरव के साथ कहा जा सकता है कि इतने बन्धनों में जकड़े होते हुए भी हमारे तेरापंथ समाज ने जो २ कलाओं में प्रगति की है वह किसी भी दृष्टि से कम नहीं कहा जा सकता है। आचार्य श्री तुलसी जैसे युवक सेनानी के नेतृत्व में सब पनुमती विकास कर रहा है।

जिस समाज में कला है तथा कला को प्रोत्साहन मिलता है वह समाज स्वतन्त्र है। बिना कला के दूसरों का मुंह ताकना समाज पर केवल बोझ बनना है। कला विकास में जितना अधिक शासकों का ध्यान आग बढ़ेगा उतना ही समाज की मान बढ़ेगा। कलाकार के मस्तिष्क होता है हाथ होता है पर पैर नहीं होते। समाज में जितनी कला बढ़ी है वे पूर्वजों के प्रोत्साहन से ही बढ़ी है। समय-समय पर ऐसे प्रोत्साहन समाज ने कलाकारों को दिया है जिससे उत्साहित होकर वे कार्य में जुट और उत्साह अपना हस्तकौशल दिखाया।

अणुव्रत आंदोलन

(आचार्य श्री तुलसी)
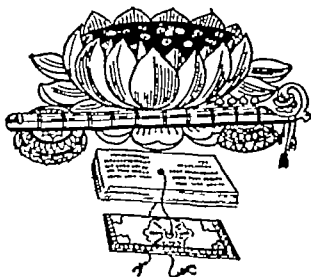
व्यक्ति का अस्तित्व अपना है, समाज का अस्तित्व व्यक्ति है। व्यक्ति वस्तुवाद है और समाज सुविधावाद। जब व्यक्ति की आवश्यकता अपने आप पूरी नहीं हुई तब सापेक्ष स्थिति का उद्गम हुआ। सापेक्षता ने समाज को जन्म दिया। समाज का आधार है 'परस्परोपग्रह'। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के प्रति उपकार का सिद्धान्त जितना वास्तविक है उतना ही व्यावहारिक भी है। जैन-दर्शन ने विश्व स्थिति की मौलिक समस्या—जड़-चेतन के सम्बन्ध की समस्या का समाधान के लिए "परस्पर उपयोग क्रियाएं'।[1] पदार्थवाद के अनुसार जैसे विश्व संगठन का हेतु जीव और पुद्गल का परस्पर उपग्रह है वैसे ही समाज शास्त्र के अनुसार समाज संगठन का हेतु पारस्परिक सहयोग है। समाज की सहयोगी व्यवस्था और सापेक्ष स्थिति में बंधकर व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता, वह आदान-प्रदान का केन्द्र बिन्दु बन जाता है।

जब तक व्यक्ति व्यक्ति रहता है तब तक उसके सामने महत्त्वाकांक्षा, महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए परिग्रह या संग्रह, संग्रह के लिए शोषण या अपहरण, शोषण के लिए बौद्धिक या शारीरिक शक्ति का विकास, बौद्धिक और दैहिक शक्ति-संग्रह के लिए विग्रह की दुरभिसंधि, स्पर्धा आदि आदि समस्याएँ नहीं होतीं। समाज में प्रवेश पाकर व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपनी दुर्बलता का प्रतिकार पाता है, त्यों-त्यों महत्त्वाकांक्षा और स्पर्धा उसे शक्ति-संग्रह के लिए प्रेरित करने लग जाती हैं। महत्त्वाकांक्षा शोषण को जन्म देती है और शोषण अव्यवस्था को। अव्यवस्था में समाज का ढांचा डांवाडोल हो जाता है और तब उसकी पुनर्व्यवस्था के लिए दण्डनीति, अनुशासन और न्याय जन्म लेते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीनता का प्रश्न नहीं उठता। सामाजिक जीवन में मर्यादाहीनता आती है, किन्तु समाज उसे सहन नहीं कर सकता। इसलिये समाज धर्म-संहिता और दण्ड विधान बनाता है। समाज का प्रत्येक सदस्य उसके अनुसार चलने के लिए बाध्य होता है। समाज की व्यवस्था के लिए समाज-व्रत या समाज-मर्यादा सफल होती है। सफलता की कुंजी है समाज-मर्यादा के पीछे रहने वाली राज्य शक्ति। शक्ति से नियन्त्रित व्यक्ति उच्छृंखल नहीं हो सकता।

मनुष्य जाति का उन्मुखी विराट् चिन्तन आगे बढ़ा। दार्शनिक चिन्तन का विकास हुआ। पूर्व जन्म और पुनर्जन्म का तत्त्व उसने समझा। इहलोक की सीमा से परे परलोक को उसने जाना। इस दशा में पहुँचकर फिर वह व्यक्तिवादी बना और इस भूमिका में निरपेक्ष जीवन-पद्धति का विकास हुआ। समाज की मर्यादा इस भूमिका में अमर्यादा बन गई। समाज जिस हिंसा को क्षम्य मानता है वह यहाँ अक्षम्य बन जाती है। समाज जिस संग्रह को न्याय मानता है, वह यहाँ अन्याय बन जाता है। समाज जिस भोग विलास को वैध मानता है, वह यहाँ अवैध बन जाता है। इस भूमिका में मर्यादा का नया स्रोत चला। उसीके नाम हैं व्रत, नियम, यम, शील, शिक्षा या संयम।

कई विचारक ऐसा मानते हैं कि धर्म समाज-नियमन के लिए चला। किन्तु यह सत्य से परे है। धर्म का उद्गम आत्मा के अस्तित्व से हुआ। आत्म-शोधन की प्रक्रिया के रूप में उसका विकास हुआ। मोक्ष प्राप्ति, आत्म-शुद्धि या आत्म-नियमन के लिए उसका व्यवहार हुआ। मुनि चारित्र-ग्रहण के समय प्रतिज्ञा करता है कि मैं आत्म हित के लिए पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विहार करूँगा।[2] व्रत का साध्य है आत्म-मुक्ति। प्रासंगिक फल के रूप में समाज का नियमन भी होता है, किन्तु वह व्रत का अनन्तर फल नहीं। ऐहिक और पारलौकिक आत्मसिद्धि के लिये धर्म करना विहित नहीं है।[3]

१—तत्त्वार्थाधिगम ५।२१

२—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमण छट्ठाइं।
अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि॥ —दशवै ४।११

३—नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥—दशवै ९।४

धर्म परलोक के लिये है यह धारणा भी सदोष है। आत्म हित की दृष्टि से वह इहलोक और परलोक दोनों में श्रेयस्कर है[1]।

भारतीय चिन्तन की मुख्य धारा चतुर्थ पुरुषार्थ—मोक्ष की ओर रही। शब्दशास्त्र[2] व प्रमाणशास्त्र[3] का चरम लक्ष्य मोक्ष रहा इसमें कोई आश्चर्य नहीं किन्तु कामशास्त्र में भी जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष बतलाया गया है[4]। उपनिषदों ने प्रेयस को बन्धन और श्रेयस् को मुक्ति माना है। प्रेयस् जीवन की अनिवार्यता है फिर भी उसमें अनासक्ति होनी चाहिए। कारण यह कि श्रेयस की जो गति है, उसमें प्रेयस बाधक न बने। जैन दृष्टि के अनुसार आत्म-मुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं—संवर और निर्जरा। संवर निवृत्ति है और निर्जरा निवृत्ति-सवलित प्रवृत्ति। संवर निरोध है और निर्जरा शोधन। यह व्यक्ति की सहज मर्यादा है। इससे यह फलित होता है कि धर्म व्यक्ति के आत्म-नियमन का साधन है। इसे समाज के आपसी सम्बन्धों के नियमन का भी साधन बताया जाता है वह आरम्भवादी मानस की कल्पना है।

महाव्रत और अणुव्रत

भारतीय जीवन में व्रती जीवन का सर्वोच्च और गौरवपूर्ण स्थान है। यहाँ धन ऐश्वर्य भोग विलास और दान से कोई बड़ा नहीं बना। नमिराजर्षि राज्य-वैभव और भोग विलास को ठुकरा कर निर्ग्रन्थ बने। इन्द्र ने उनसे कहा—आप दान दें भोग करें और फिर दीक्षा लें। राजर्षि बोले—जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायों का दान करता है उसकी अपेक्षा कुछ दान न करता हुआ भी संयमी श्रेष्ठ है[5]।

भारतीय परम्परा में महान् वह है जो त्यागी है। यहाँ का साहित्य त्याग के आदर्शों का साहित्य है। जीवन के चरम भाग में निर्ग्रन्थ या सन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही किन्तु जीवन के आदि भाग में भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है[6]। त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है यह निरपवाद संयम मार्ग है। इसके लिए अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के बीच की स्थिति में होता है वह अणुव्रती बनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है—भगवन्! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूं। इसलिए मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत—द्वादश व्रतात्मक गृहीधर्म स्वीकार करूँगा[7]। यहाँ शक्ति का अर्थ है—विरक्ति। जिसमें संसार के प्रति पदार्थों के प्रति भोग-उपभोग के प्रति विरक्ति का प्राबल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रह का महान् व्रत उसका जीवन धन बन जाता है। यह वस्तु सबके लिए सम्भव नहीं। व्रत का अणु रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती जीवन शोषण और हिंसा का प्रतीक होता है और महाव्रती जीवन दुःशक्य। इस दशा में अणुव्रती जीवन का विकल्प ही शेष रहता है। अणुव्रत का विधान व्रतों का सीमाकरण या संयम और असंयम सत्य और असत्य अहिंसा और हिंसा अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नहीं अपितु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

अणुव्रत विभाग

अणुव्रत पाँच हैं—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य या स्वदार संतोष और अपरिग्रह या इच्छा परिमाण।

अहिंसा—अहिंसा रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का निरोध या राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति है। पहला निषेधात्मक पक्ष है और

१—सेहिं आराहिया दुवे लोए। —उत्त० ८।२

२—वैशेषिक दर्शन १।४ न्याय दर्शन १।१

३—हैमशब्दानुशासन १।१।२ लघुन्यास।

४—स्थविरे धर्मं मोक्षं च—कामशास्त्र अध्याय २

५—जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदिन्तस्स वि किंचण॥—उत्तरा० ९।४

६—यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्। —जाबालोपनिषद्

७—नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए। अहण्णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि—उपासकदशांग—१

दूसरा विधेयात्मक। निषेधात्मक भावी शुद्धि के लिए है और भूत शुद्धि के लिए विधयात्मक। वर्तमान शुद्धि दोनों में है।

अनिवार्य हिंसा या अर्थ हिंसा जीवन की अक्षमता का पक्ष है। अनर्थ हिंसा प्रमादवश होती है। मनुष्य जितनी कायिक हिंसा नहीं करता उतनी मानसिक करता है। स्व-पर, बड़ा-छोटा अस्पृश्य-स्पृश्य शत्रु-मित्र आदि अनर्थ कल्पना के बन्धनों में फँस कर मनुष्य इतना उलझा रहता है कि वह मानसिक हिंसा से सहज ही मुक्ति नहीं पा सकता। अहिंसा अणुव्रत का तात्पर्य है अनर्थ हिंसा से अथवा अनावश्यक केवल प्रमादजन्य या अज्ञान जनित हिंसा से बचना।

सत्य—सत्य अहिंसा का वचनात्मक या भाव प्रकाशनात्मक पहलू है। हास्य अथवा कुतूहलवश अयथार्थ बोलना भी असत्य है। यह उसका सूक्ष्म रूप है। यदि कोई इससे न बच सके तो कम से कम स्थूल असत्य से तो उसे अवश्य बचना चाहिये। जिस वाणी या भावाभिव्यंजना के पीछे बुरे विचारों का जाल बिछा रहता है, वह स्थूल असत्य है। सत्य अणुव्रत में ऐसे असत्य का त्याग आवश्यक होता है।

अचौर्य—अचौर्य अहिंसात्मक अधिकारों की व्याख्या है। पर-वस्तु हरण चौर्य है। वह हिंसा का अधिकार है। मनुष्य समाज के आपसी सम्बन्ध अधिकतर स्तेय वृत्ति के उपजीवी हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है वह उसे अपने अधिकार में लेता है, उसे दास बनाता है उससे आदेश मनवाता है तथा उसका स्वत्व छीनता है। यह सब स्तेय वृत्ति है। सूक्ष्म दृष्टि से दूसरे का एक तिनका भी उसकी अनुमति के बिना लेना स्तेय है। अचौर्य अणुव्रत की मर्यादा है—जीवन के आवश्यक मूल्यों का अपहरण न करना।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकने की स्थिति में विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अब्रह्मचर्य का परित्याग करना और पत्नी के साथ भोग की सीमा करना चतुर्थ अणुव्रत है।

अपरिग्रह—यह अहिंसा का परपदार्थ निरपेक्ष रूप है। गृहस्थ का जीवन अपरिग्रही बन नहीं सकता। इसलिए अपरिग्रह अणुव्रत का अर्थ है—इच्छा का परिमाण। परिग्रह का नियमन सामाजिक नियमों से हो सकता है किन्तु उसमें इच्छा का नियमन नहीं होता। व्रत वह है, जिसमें इच्छा के नियमन के द्वारा परिग्रह का नियमन हो।

अणुव्रत के अनुकूल वातावरण

व्रतों की उपादेयता में कोई दो मत नहीं। मतभेद है व्रतों की उपयोगिता में। आत्म विरक्ति से स्वनियमन करने वाले विरले ही होते हैं। अधिकांश व्यक्ति तब तक हिंसा और परिग्रह को नहीं छोड़ते जब तक वे वैसा करने के लिए बाध्य नहीं किये जाते। व्रत हृदय-परिवर्तन का क्रम है। जन-साधारण का हृदय उपदेशात्मक पद्धति से परिवर्तित नहीं होता। इसलिए समाज की दुर्व्यवस्था को बदलने के लिए व्रतों की कोई उपयोगिता नहीं। प्रथम स्थिति ऐसी ही है। ऐसी क्या है, यह चिन्तनीय विषय है। इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप दो-तीन बातें हमारे सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि व्रतों की रचना समाज की आर्थिक दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए नहीं हुई है। उनकी रचना हुई है उसकी आत्मिक दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिये। आत्मिक दुर्व्यवस्था के मिटने ही आर्थिक दुर्व्यवस्था भी मिटती है किन्तु व्रताचरण का वह गौण फल है। आत्मिक दुर्व्यवस्था की परिसमाप्ति का एक मात्र साधन हृदय-परिवर्तन है। जब व्यक्ति का हृदय बदलता है तो उससे आत्मिक दुर्व्यवस्था का अंत होता है। उससे समाज की दुर्व्यवस्था भी मिटती है।

कानून के पीछे ऐसी शक्ति है कि मनुष्य उसका उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि वह करता भी है तो उसे उसका फल भुगतना पड़ता है। व्रतों के पीछे ऐसा वातावरण नहीं है। उनका आचरण इच्छा-प्रेरित होता है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य की आंतरिक वृत्तियाँ राग-द्वेषात्मक होती हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्ति में अप्रिय वस्तु स्थिति के प्रति असहिष्णु वृत्ति अपने को सर्वोच्च मानने की वृत्ति दूसरों को दमन की वृत्ति और संग्रह की वृत्ति ये चार मुख्य वृत्तियाँ होती हैं। यदि समाज का वातावरण और आसपास की स्थितियाँ इनके अनुकूल होती हैं तो इन्हें उत्तेजना मिलती है और इनका कार्य तीव्र हो सकता है। बाहरी साधन की प्रतिकूल दशा में ये वृत्तियाँ दबी रहती हैं। समाज की अपेक्षा इतनी ही है कि ये दबी ही रहें। अध्यात्म की भूमिका और उसकी अपेक्षा है कि इनका मूलोच्छेद हो। जिनकी आत्मा उद्बुद्ध हो जाती है वे प[ति]कूल परिस्थितियों पर विजय पाकर उनका मूलोच्छेद कर डालते हैं। किन्तु सर्व साधारण की स्थिति

१—कोह च माणं च तहेव मायं लोभं चउत्थं अज्झत्थ दोसा।—सूत्रकृतांग २।६।२६

ऐसी नहीं होती। समाज की भोगवादी मनोवृत्ति उन्हें उकसाती है। यही कारण है कि सर्व साधारण को इन व्रतों की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। तीसरी बात यह है कि व्रत लेनेवाले व्रतों के कलेवर की सुरक्षा करते हैं पर उनकी आत्मा को नहीं छूते। वे व्रतों को अपने जीवन में लाते हैं किन्तु जीवन को उनके आदर्शों पर नहीं ढालते। हमारे पुनर्विचार करना होगा कि अणुव्रती जीवन का आदर्श क्या और कैसा होना चाहिए ?

अणुव्रती जीवन का आदर्श

अणुव्रती जीवन का मतलब है परिग्रह और आरम्भ का अल्पीकरण। भोगवाद से महारंभ और महापरिग्रह का जन्म होता है। अणुव्रती को महेच्छ और महारम्भ नहीं होना चाहिए। महारम्भ का हेतु महान् इच्छा है। इच्छा जब स्वल्प होती है तब हिंसा अपने आप स्वल्प हो जाती है। यदि आरम्भ आवश्यकता के सहारे चलता है तो वह असीम नहीं बनता। जब उसकी गति इच्छा के अधीन हो जाती है तभी वह सीमित बनता है। पूंजी और उद्योग का केन्द्रीकरण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं अपितु इच्छा की पूर्ति के लिए होता है। अणुव्रती आदर्श के अनुसार इसका अपने आप विकेन्द्रीकरण हो जाता है। अणुव्रती दूसरे के श्रम और श्रमफल को न छीने तभी वह अहिंसा और अशोषण के आदर्श पर चल सकता है। जब दूसरे के श्रम को छीनने की वृत्ति टूटती है तब अपने आप उसका जीवन आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और श्रमपूर्ण बन जाता है। जो व्यक्ति अपने श्रम पर निर्भर रहता है वह कभी महारम्भी और महापरिग्रही नहीं बनता। महारंभ व महापरिग्रह की परिभाषा समझने में भूल हो रही है। उस पर फिर विचार करने की आवश्यकता है। सामान्यतया थोड़ी बहुत प्रत्यक्ष हिंसा के कार्य को लोग महारम्भ मान लेते हैं। वे परोक्ष हिंसा की ओर ध्यान नहीं देते। खेती में जीव मरते हैं इसलिए वह आरम्भ का धंधा लगता है किन्तु सूद खाने वालों में प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दिखती इसलिए वह महारम्भ नहीं लगता। महारम्भ और महापरिग्रह नरक के कारण हैं[1]। कारण साफ है उनसे आर्त-रौद्र ध्यान बढ़ता है, उनसे आत्मगुणों का घात होता है तथा आत्मा का अधःपतन होता है। आचार्य जिनसेन ने ब्याज लेकर आजीविका करने को आर्तरौद्र ध्यान का चिह्न माना है[2]। विषय संरक्षण रौद्र ध्यान है। इसका अर्थ है विषय और धन की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिए चिन्ता करना[3]। धार्मिक समाज में भी मानसिक हिंसा का भाव न इसलिए हो गया कि उसमें प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दिखती। यदि प्रत्यक्ष हिंसा की भांति परोक्ष हिंसा से भी घृणा होती तो जीवन इतना असत्य निष्ठ और अप्रामाणिक नहीं बनता।

वृत्तियों की अप्रामाणिकता का हेतु महापरिग्रह है। महापरिग्रह के लिए महासावद्य उपाय प्रयोजनीय होते हैं। अणुव्रती अल्प परिग्रही होता है। इसलिए उसके जीवन उपाय अल्प सावद्य होते हैं[4]। इसीलिये उसे अल्प सावद्य कर्मार्य कहा जाता है। अल्प सावद्य कर्मार्य के सामने अप्रामाणिक बनने की स्थिति ही नहीं आती। अणुव्रती की जीवन वृत्ति [illegible] नहीं होती। वह कला या कर्म का आलम्बन इसलिए लेता है कि उसकी जीवन वृत्ति सुखपूर्वक चले। जब श्रम के द्वारा भी जीवन का सुख पूर्वक निर्वाह नहीं होता है, तभी चोरी आदि कुवृत्तियाँ बढ़ती हैं[5]। कठिन परिस्थितियाँ मनुष्य को बुरा बनने की प्रेरणा देती हैं। इसलिये समाज उन्हें सरल बनाने की बात सोचता है। अन्य स्थितियों की अपेक्षा इच्छा की असंयमित दशा अधिक कठिन स्थिति है। अणुव्रती को उस पर अधिक ध्यान देने की अपेक्षा होती है।

संक्षेप में अणुव्रती का जीवन आदर्श है—इच्छा परिमाण आरम्भ परिमाण। इस आदर्श को निभाने के लिए अणुव्रती को बचपन व कल्पनाजन्य झूठे आदर्शों पर प्रहार करना होगा। श्रम को नीच मानने की भावना, वृत्ति के आधार पर ऊँच-नीच की कल्पना, धन के आधार पर बड़े-छोटे की कल्पना आदि को तोड़ना तथा जीवन के मापदण्डों को बदलना

१—महारंभयाए महापरिग्गहियाए, पंचिंदिय वहेणं कुणिमाहारेणं।—भगवती शतक ८।१।९
२—मूर्च्छा कौसीद्य कैनाश्य कौसीदाम्यति गृध्नुता।
भयोद्वेगानुशोकाश्च लिंगान्यार्ते स्मृतानि वै ॥४॥—महापुराण २१।४
३—भवेत् संरक्षणानन्द स्मृतिरचिन्ताविदु।—महापुराण २१।५१
४—अल्पसावद्यकर्मार्याः श्रावकाः विरत्यविरति परिणतत्वात्।—तत्त्वार्थराज वार्तिक ३।३६
५—कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सू० २ वक्षस्कार।

होगा। जब तक जीवन के मूल्य न बदलें राजसी धारा में अन्तर न आवे तब तक अणुव्रत जीवन प्रेरक नहीं बनते। अणुव्रती को सादगी के आडम्बरों का और नम्रता के लिए मिथ्याभिमान का बलिदान करना होगा।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

भारतीय जीवन में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का प्राबल्य है। अध्यात्मवादी धारा में व्यक्ति का विशेष महत्व बढ़ता है। संयम के क्षेत्र में यह आवश्यक है। 'जब समाज संयमी नहीं बनता तब मैं क्यों बनूं' यह मन स्थिति संयम के स्वीकरण में बाधक बनती है। समाज संयमी न बने तो भी व्यक्ति को संयमी बनना चाहिए। संयम समाज का कानून नहीं वह तो व्यक्ति की स्व-मर्यादा है।

जहाँ सामाजिक रीतिनियम समाज नहीं करता वहाँ यदि अकेला व्यक्ति अपना विशेषत्व दिखाता है तो वह स्थिति समाज के लिए घातक बनती है। व्यक्ति की उच्छृंखलता समाज की मनोवृत्ति को उभाड़ने का निमित्त बनती है।

अध्यात्म की धारा यह नहीं है कि व्यक्ति असंयम में व्यक्तिवादी रहे। उसकी अपेक्षा है, व्यक्ति संयम साधना के लिए व्यक्तिवादी रहे। यह व्यक्तिवाद जो संयम से निखरता है समाज या राष्ट्र के लिए घातक नहीं बनता।

धर्म समाज को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण देता है यह कहनेवाले उसकी सीमा को दृष्टि से ओझल किये देते हैं। सही अर्थ में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बनने का प्रधान कारण सामन्तशाही है। भोगवादी मनोवृत्ति संग्रहवादी मनोवृत्ति व्यक्तिवादी मनोवृत्ति और परिवारवादी मनोवृत्ति सामन्तशाही के निश्चित परिणाम हैं। भारत धर्म का मुख्य उद्गम स्थल रहा है। इस दृष्टि से भले ही वह धर्मप्रधान कहलाये। धर्माचरण की दृष्टि से धर्म प्रधान कहलाने की क्षमता कम से कम आज तो उसमें नहीं है। सौभाग्य से व्रतों की दृष्टि अब भी सुरक्षित है। यदि उनका जीवन में प्रयोग बढ़ा व्यक्तिवादी मनोवृत्ति भोग असंयम और अहम् पोषण से हटकर संयम की ओर मुड़ी तो अवश्य ही धार्मिकता की बाढ़ आयेगी।

अणुव्रत का दर्शन

अणुव्रत स्वतःसिद्ध शक्ति है। भोगवाद की एकछत्र शक्ति के प्रतिरोध के लिए वही सफल साधन है। अपेक्षा यह है कि वह शक्ति संगठित बने। असंयुक्त दशा में दो नौ के अंकों का जोड़ अठारह होता है। संयुक्त दशा में वही निन्यानवे का हो जाता है। संयुक्त स्थिति का लाभ उठाने के लिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रसार कर व्रतशक्ति को संगठित करने का प्रयत्न किया गया।

स्थापना

अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन विक्रम सं २ ५ की फाल्गुन शुक्ला २ को सरदारशहर (राजस्थान) में हुआ। पहले दिन लगभग ८ अणुव्रती बने। आज की भाषा में प्रगति व विकास का मापदण्ड पदार्थ विस्तार है। जड़वादी युग के पदार्थ परक विकास के सामने चैतन्य विकास का जो प्रतिरोध अपेक्षित था उस दिशा में यह सफल कदम प्रमाणित हुआ है।

ह्रास या विकास

मनुष्य की बाहरी स्थितियाँ विकसित हुई यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह भी है कि उसकी आन्तरिक वृत्तियाँ मंद पड़ गई हैं। तंदुल वैचारिक में अवसर्पिणी युग के मनुष्य की अन्तर्वृत्ति और व्यवहार के अवसर्पण का चित्र खींचते हुए लिखा है—मनुष्य की क्रोध मान माया और लोभ की वृत्तियाँ क्रमशः बढ़ेंगी। माप-तौल के अप्रामाणिक उपकरण बढ़ेंगे तुलाका वैषम्य मान का वैषम्य राजकुल का वैषम्य तथा वर्षा आदि के वैषम्य इस प्रकार बढ़ेंगे कि धान्य बलहीन हो जायगा उससे मनुष्यों की आयु कम होगी।

ज्यों-ज्यों आन्तरिक वृत्तियों का विकार बढ़ता है, त्यों-त्यों स्थितियाँ जटिल बनती जाती हैं। रोग का मूल अन्तर का दोष है। मनुष्य बाहरी विकार से चुंधिया गया है। वह अभी इस प्रश्नवाचक चिह्न का उत्तर नहीं पा सका है कि वर्तमान युग विकास का युग है या ह्रास का।

उद्देश्य

अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तन का उद्देश्य है जीवन के मूल्यों को बदलना। यह काम सरल नहीं है। यह एक प्रकार की रेखा बदलना है। युद्ध और शीत युद्ध के थपेड़ों और अस्त्र-शस्त्रों की स्पर्धा से मनुष्य जर्जर बन गया है। उनके सामने आन्तरिक वृत्तियों को पवित्र बनाने के सिवाय दूसरा विकल्प नहीं रहा है। अब दीख रहा है कि आन्तरिक वृत्तियाँ यदि यों ही

चली तो प्रश्न दूर नहीं है। इस आंदोलन की ये अपेक्षाएँ हैं—मनुष्य सत्यनिष्ठ न बन कर अहिंसा निष्ठ बने। वह भौतिक विकास को मुख्य न मान कर आध्यात्मिक चेतना को जगावे। भोगी न बन कर वह व्रती बने। स्टैण्डर्ड आफ लिविंग (standard of living) को गौण मानकर स्टण्डर्ड आफ लाइफ (standard of life) को ऊँचा उठावे। एक शब्द में आन्तरिक साम्य को शक्तिशाली बना कर वह वैषम्य का अन्त करे।

प्रगति की ओर

अणुव्रत आंदोलन क्रमश प्रगति की ओर बढ़ रहा है। अणुव्रतियों की संख्या अधिक नहीं हुई है। यद्यपि संख्या की दृष्टि से यह कोई ज्यादा प्रगति नहीं है फिर भी भोगवाद के विरुद्ध संयम की ध्वनि का बल बढ़ रहा है। जनता का दृष्टिकोण बदल रहा है और नैतिक क्रान्ति की भूमिका बन रही है। ये ही सफलता के शुभ चिह्न हैं। इसम कोई संदेह नहीं कि इस आंदोलन न वातावरण को प्रभावित किया है।

समन्वय की दशा

अणुव्रत आंदोलन जाति वर्ण तथा देश के भेदों को गौण मानता है। यही नहीं धर्म-भद के प्रति भी इसका दृष्टि बिन्दु सद्भावी और सहिष्णु है। किसी भी धर्म को माननेवाला इसका सदस्य बन सकता है। इतना ही नहीं इसकी रचना के आधारभूत तत्त्व भी सर्वसाधारण हैं। अहिंसा सत्य अचौर्य और अपरिग्रह य सर्वधम सामान्य तत्त्व हैं। इन्हें कोई अस्वीकार नहीं करता। सांख्ययोग में इन्हें 'यम' कहा जाता है। पतञ्जलि ने यम' को उसी अर्थ म रखा है जिस अर्थ म जैन सूत्र अणुव्रत का प्रयोग करते हैं। महाव्रत शब्द दोनो की भाषा म एक है। पतञ्जलि न जाति देश काल समया-नवच्छिन्न नियमों को महाव्रत कहा है। जैन भाषा में आगार रहित पूर्ण त्याग महाव्रत कहलाता है। दोनो का तात्पर्य सर्वथा एक है। महात्मा बुद्ध ने किंचित् परिवर्तन के साथ इन्हें पंचशील कहा है। श्रमण अणु और स्थूल दोनो प्रकार के पापों को वर्जता है। जब गृहस्थ स्थूल पापो' को वर्जता है तब उसका व्रत अपने आप अणुव्रत हो जाता है। इस्लाम और ईसाई धर्म म अहिंसा सत्य और अपरिग्रह की मर्यादा और शिक्षा है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक धर्म मुमुक्षु के लिए जैसे सन्यास का विधान करता है वैसे ही गृहस्थ के लिये अणुव्रत धर्म का।

अणुव्रत आंदोलन में अणुव्रत शब्द जैन-सूत्रों से लिया गया है किन्तु भावना में कुछ अन्तर है। जैन परम्परा की मान्यता के अनुसार अणुव्रती वह बन सकता है जो सम्यक दृष्टिवाला हो। इसीलिये अणुव्रतो को सम्यक्त्वमूलक' कहा गया है। इस आन्दोलन में यह भावना नहीं है। जैन दृष्टि को स्वीकार करनेवाला ही अणुव्रती बन ऐसा नहीं है। इसके सम्यक दर्शन की परिभाषा है—अहिंसानिष्ठ दृष्टि। अणुव्रती वह बन सकता है जिसकी अहिंसा में निष्ठा हो। यह आंदोलन सब धर्मों को अहिंसा में केन्द्रित करता है। वास्तविक धर्म अहिंसा ही है। सत्य आदि शेष व्रत उसी के पोषक या सहायक

१—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा ।२ ।
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौममहाव्रतम् ।३१।

व्याख्या—उक्त अहिंसा आदि का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ सब जगह और सब समय समान भाव से किया जाता है तब ये महाव्रत हो जाते हैं। जैसे किसी न नियम किया कि मछली के सिवाय अन्य जीवो की हिंसा नहीं करूँगा तो यह जाति अवच्छिन्न अहिंसा है। इसी तरह कोई नियम ले कि मै तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा तो यह देश अवच्छिन्न अहिंसा है। यदि कोई यह नियम करे कि मै एकादशी पूर्णिमा और अमावस्या को हिंसा नहीं करूंगा तो यह कालावच्छिन्न अहिंसा है। यदि कोई नियम करे कि मै विवाह के अवसर के सिवाय अन्य किसी निमित्त से हिंसा नहीं करूँगा तो यह समयावच्छिन्न (निमित्त से सम्बन्धित) अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी भेद समझ लेने चाहिये। ऐसे ये यम व्रत तो हैं परन्तु सार्वभौम न होने के कारण ये महाव्रत नहीं है। उपर्युक्त प्रकार का प्रतिबन्ध न रखा कर जब सभी प्राणियो के साथ सब देशो में सदा सर्वथा इसका पालन किया जाय किसी भी निमित्त से इनम शिथिलता आने का अवकाश न दिया जाय तब ये सार्वभौम होने पर 'महाव्रत' कहलाते हैं। (पातञ्जल य ग दर्शन साधनापाद २)

२—धम्मपद १८।१

३—उपासक दशांग १

है[1]। अहिंसानिष्ठ व्यक्ति आत्मशुद्धि के लिए व्रतों को स्वीकार करेगा भौतिक अभिसिद्धि के लिए नहीं। व्रतों का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। भौतिक सिद्धि के लिए उनका प्रयोग उनकी उच्चता का अपमान है। अर्थ व्यवस्था अर्थसंयम से सुधर सकती है तब भला कौन उसके सुधार के लिए व्रत का कठोर मार्ग अपनायेगा? अर्थ के लिए व्रत को अपनानेवाला अर्थनिष्ठ हो सकता है व्रतनिष्ठ या अहिंसानिष्ठ नहीं। इसीलिए व्रती बनने का उद्देश्य मात्र आत्मशुद्धि होनी चाहिए। अन्तर की शुद्धि बाहरी वातावरण को शुद्ध बनायेगी। उससे आर्थिक और भौतिक व्यवस्था अपने आप शुद्ध होगी इसमें कोई सन्देह नहीं। अणुव्रत आन्दोलन केवल जीवन-शुद्धि की सामान्य भूमिका का समन्वय ही नहीं करता वह धार्मिक मतभेदों के प्रति सहिष्णु भी बनाता है। यह अहिंसावादियों का सार्वजनिक मंच है। इसके सहारे अहिंसा का उच्च बोध किया जा सकता है। सब धर्मों का विचार-भेद मिटे यह कठिन है किन्तु उनका विरोध घटे यह अपेक्षित है और यह संभव भी है। अणुव्रत आन्दोलन इस का माध्यम है। धर्म और व्यवहार की खाई को पाटकर उनका समन्वय करना इसका दूसरा उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त तीसरी दृष्टि यह है कि धर्म जो रूढ़ि विचार और भाषा का धर्म बन रहा है वह जीवन का धर्म बने।

व्यावहारिक लाभ

वर्तमान की मुख्य समस्या आर्थिक है ऐसा माना जाता है। अर्थशास्त्री इसका समाधान प्रचुर उत्पादन बताते हैं। बाहरी रूप में कुछ हल सा हुआ लगता है। किन्तु जब तक महालोभ है तब तक यह समस्या सुलझ जायेगी ऐसा नहीं लगता। इसका निरपवाद समाधान संयम है। व्रती जीवन जहाँ आत्मशान्ति पैदा करता है वहाँ वह आर्थिक समस्या का भी समाधान देता है। व्रती जीवन वर्तमान युग की सर्वोच्च आवश्यकता है। इसके अनुकूल वातावरण बनाना सब का कर्तव्य है। जब व्रती की प्रतिष्ठा बढ़ेगी तब सहज रूप में शुद्धि बढ़ेगी और व्यवहार में श्रम और स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा भी जायगी। श्रम निष्ठा के साथ भी व्रत निष्ठा शेष रहती है किन्तु व्रत निष्ठा में श्रम निष्ठा अपने आप पालित हो जाती है।

अणुव्रत आन्दोलन संयम की न्यूनतम साधना का आन्दोलन है। देश काल और परिस्थिति जनित बुराइयाँ अपने अपने ढंग की अलग-अलग होती हैं। किन्तु मनुष्य की जो शाश्वत दुर्बलता है वह सभी देश काल और परिस्थितियों में एक सी रही है। जब तक मूल हरा रहता है तब तक शाखा-प्रशाखा पत्र पुष्प और फल बनते बिगड़ते रहते हैं। असंयम सब बुराइयों का मूल है। हिंसा असत्य चोरी भोग विलास और संग्रह ये सभी दोष उसी के नाना रूप हैं। इन पर एक साथ नियंत्रण पा लेना बहुत ही कठिन है। पर इन पर कोई अंकुश ही न हो यह तो और भी भयंकर है।

मैं बहुधा शान्ति और मैत्री के प्रश्नों पर सोचा करता हूँ। इनकी चर्चाएँ भी मुझे करनी होती हैं। मैं एक धर्माचार्य हूँ और अणुव्रत आन्दोलन के उद्देश्यों का जनता को परिचय देता हूँ। इसलिए बार-बार मेरे सामने ये प्रश्न आते रहते हैं। भारतीय और अभारतीय सभी प्रकार के लोग मुझ से मिले हैं और उन्होंने शान्ति एवं मैत्री के विषय में जिज्ञासाएँ की हैं। मेरे अनुभव में ये व्यापक जिज्ञासाएँ हैं। कोई पूछता है कोई नहीं पूछता है। पर शान्ति कैसे मिले—यह प्रश्न लगभग सभी के मन में है। और यह होना भी चाहिए। प्रत्यक्ष में जीवन का सर्वोपरि साध्य शान्ति ही तो है। वह नहीं मिली तो बहुत-कुछ पाकर भी मनुष्य ने कुछ नहीं पाया। वह मिली तो कुछ भी न पाकर वह सब कुछ पा सका है। बहुत-कुछ प्राप्त हो जाता है। उसका सम्बन्ध आवश्यकता पूर्ति से है। शान्ति इससे आगे की चीज है। उसके लिए भय-मुक्त होने की आवश्यकता है।

शान्ति यदि जीवन का सर्वोपरि साध्य है तो उसका सर्वोपरि साधन है भय-मुक्ति। इसके बिना न मैत्री होती है और न शान्ति। वैज्ञानिक आविष्कार भय-मुक्ति की दिशा में असफल हुए हैं बल्कि भय उनसे बढ़ा ही है। शान्ति और सत्ता में सदा प्रतिस्पर्धा रही है। इसी के फलस्वरूप सत्ता की महान् शक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है।

अब मनुष्य समाज के सामने दो ही विकल्प शेष हैं—या तो वह भयमुक्त बने या विध्वंसक शस्त्रों के विस्फोट में स्वयं ही नष्ट हो जाय।

१—आचारांग—सत्य महाव्रत योगशास्त्र दूसरा प्रकरण।

यदि यह विश्व जाति वर्ण और भौगोलिक सीमाओं में बँटा हुआ नहीं होता यहाँ संग्रह और अधिकार करने का मनोभाव नहीं होता तो न सन्देह होता न भय और न अशान्ति ही। यदि मनुष्य को शान्ति से रहना है तो उसे एक दिन ऐसा करना ही होगा। किन्तु अभी इस मनःस्थिति को विकसित होने में बहुत समय लग सकता है। वर्तमान की अपेक्षा यह है कि व्यक्ति संयम का अभ्यास करे। वह दूसरों के स्वत्व पर अधिकार न करे। जो उद्योगपति हैं उनसे यह अपेक्षा है कि वे श्रमिकों के श्रम पर अधिकार न करें। जो राष्ट्र नेता हैं, उनसे यह अपेक्षा है कि वे दूसरे राष्ट्रों पर अधिकार करने या बनाये रखने की बात न सोचें शक्तिहीन राष्ट्रों को धमकियाँ न दें तथा अपने ढंग की शासनप्रणाली को मान्य करने के लिए विवशता उत्पन्न न करें। अपने स्वार्थ को ही प्रमुखता देनेवाला न केवल दूसरों के स्वार्थ को हानि पहुँचाता है अपितु वह अपना स्वार्थ भी विघटित करता है। राजनयिक लोग बहुत गहराई से सोचते हैं किन्तु स्वार्थ की भूमिका न वह गंभीर चिंतन भी समाधान नहीं देता प्रत्युत् वह उलझन उपस्थित करता है। इस वैज्ञानिक और शिक्षा बहुल युग में अब कूटनीति न आज को घूंघट में छिपाये रखने की क्षमता नहीं रही है। आज प्रत्येक व्यक्ति व समाज ही नहीं बल्कि प्रत्येक राष्ट्र सरलता से एक-दूसरे के साथ बर्ताव करने की नीति अपनाये। इसीमें सबका हित है।

भय-मुक्ति के लिए अणुव्रत आन्दोलन इन आचरणों को आवश्यक मानता है

(१) जाति वर्ण और भौगोलिक भिन्नता के कारण मनुष्य मनुष्य से घृणा न करे।

(२) सत्ता या बल-प्रयोग से दूसरों के विचारों को कुचलने का प्रयत्न न करे।

(३) कम देकर अधिक श्रम लेने का प्रयत्न न करे।

(४) मनुष्य जाति की एकता अविभक्तता और समान अनुभूतिशीलता में विश्वास करे।

(५) आक्रमण न करे।

(६) दूसरों के अधिकारों को हड़पने का यत्न न करे।

(७) दूसरों की प्रभु-सत्ता में हस्तक्षेप न करे।

(८) भूल से भी जो अन्यायपूर्ण कदम उठ जाए, उसके लिये क्षमा-याचना कर ले।

(९) विरोधी प्रचार न करे, व्यक्तिगत रूप से किसी को लाञ्छित या अपमानित न करे।

भय मुक्ति का अर्थ है—विश्वास।
विश्वास का अर्थ है—मैत्री।
मैत्री का अर्थ है—शान्ति।
शान्ति का अर्थ है—जीवन के महान् साध्य की सिद्धि।

तेरापंथ-संविधान : एक तुलनात्मक अध्ययन

(मुनि नथमल)

सामुदायिक साधना के क्षेत्र में भगवान महावीर और गौतम के श्रमण संघों का व्यवस्थित इतिहास मिलता है। इनसे भी पूर्व धर्म संघों की परम्परा भारतवर्ष में रही है पर उसके व्यवस्थित विधि विधान आज इतिहास में सुलभ नहीं हैं। भगवान श्री महावीर के तीर्थ (संघ) में १४ सहस्र साधु और ३६ हजार साध्वियों का अनुशासित समुदाय था। संगठन की दृष्टि से संघ की व्यवस्था निम्न प्रकार थी —

९ गण ११ गणधर और ७ पद। पद निम्नानुसार थे—

(१) आचार्य—संघ के सर्वोपरि अधिशास्ता (२) उपाध्याय—अंग और उपांगों के पाठ्यक्रम के संचालक या प्रवचन संरक्षक (३) गणी—गणनियम के व्यवस्थापक (४) गणावच्छेदक—विहरणशील साधु समुदाय के अग्रगण्य (५) स्थविर—वयस्क और ज्ञान ज्येष्ठ मुनि (६) प्रवर्तक—संयम वृद्धि के प्रेरक और (७) प्रवर्तनी—साध्वी संघ की व्यवस्थापिका।

भगवान श्री महावीर के संघ में गौतम अग्निभूति आदि गणधर थे। सती चन्दनबाला प्रवर्तनी थी।

भगवान बुद्ध का श्रमण संघ भी बहुत बड़ा था। ललित विस्तर के अनुसार श्रावस्ती में भगवान बुद्ध के साथ १२ हजार भिक्षु थे। 'सामञ्ञफल सुत्त' के अनुसार राजगृह में भगवान बुद्ध के साथ १२५ भिक्षु थे। दीर्घनिकाय के अन्य आठ सूत्रों में भिक्षु संघ की संख्या केवल ५ दी गई है। सारांश यह कि भगवान बुद्ध के धर्म संघ में एक बहुत बड़ा भिक्षु समवाय था।

बुद्ध जब तक वर्तमान रहे उन्होंने संघ का संचालन किया। मर्म सूझ-बूझ वाले सारिपुत्त तपस्वी और ऋद्धिमान मौग्गलायन अकिंचनिष्ठ और विनयदर्शी आनन्द, वैयाकरण और व्याख्याकार कात्यायन प्रभृति उनके अग्रगण्य और सहयोगी शिष्य थे। भगवान बुद्ध का संघ समसामयिक अन्य संघों की अपेक्षा अधिक प्रचारक था। भगवान बुद्ध स्वयं उन्हें प्रचार करने की प्रेरणा देते रहते थे। बोधि प्राप्ति के पश्चात् सारनाथ में उन्होंने ६ भिक्षुओं को सम्बोधन करते हुए कहा "भिक्षुओ चारिका करो! एक रास्ते में दो मत जाओ! बहुजन के हित और सुख के लिए आदि कल्याण रूप मध्य कल्याण रूप और अन्त कल्याण रूप धर्म का उपदेश करो[1]।"

धर्म प्रचार की यह लगन यहाँ तक बढ़ी कि भिक्षु प्राणार्पण को भी अपनी ध्येय-सिद्धि में गौण समझने लगे। एक दिन गौतम बुद्ध ने अपने पूर्ण नामक शिष्य को बुलाकर कहा "तुम्हें मैं पश्चिम दिशा की ओर सुनापरान्त नामक जनपद में अहिंसा का संदेश पहुँचाने के लिए भेजना चाहता हूँ।

पूर्ण—मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा।

बुद्ध—उस प्रान्त में मनुष्य तुम्हारे प्रति अत्यन्त कठोर वचनों का प्रयोग करेंगे तब तुम क्या समझोगे?

पूर्ण—मैं समझूँगा कि वे भले हैं। मुझपर हाथ नहीं छोड़ते।

बुद्ध—यदि हाथ छोड़ बैठें तो?

पूर्ण—मैं समझूँगा मुष्टि प्रहार तो नहीं किया।

बुद्ध—यदि ऐसा भी उन्होंने कर दिया तो?

पूर्ण—मैं समझूँगा प्राणाघात तो नहीं किया।

बुद्ध—वे वैसा भी कर सकते हैं।

पूर्ण—उस शुभ कार्य को करते यदि ऐसा हुआ तो मैं इसे प्राण विसर्जन का अनुपम अवसर मानूँगा।

---

[1]—इस लेख में आये हुए भगवान बुद्ध सम्बन्धी समस्त सन्दर्भों के लिए देखिए साहित्य अकादमी से प्रकाशित 'भगवान बुद्ध' नामक पुस्तक।

साध्वियाँ भी प्रचार कार्य में दक्ष थी। इनमें महासती कुन्दनजी, मौतमी, पटासाचा, धोंका, सोमा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

तेरापंथ की संघ संगठना आचार्य श्री भिक्षुगणी की अपनी निराली सूझ है। यह ज्यों की त्यों किसी परम्परा से नहीं ली गई है। वैसे तो तेरापंथ धर्म भगवान श्री महावीर के उपदेशों एवं निरूपणों पर आधारित है ही परन्तु पद व्यवस्था के विषय में आचार्य श्री भिक्षु ने देश व काल के अनुसार अपना स्वतंत्र प्रवर्तन ही किया। प्राचीन काल के सात पदों में से केवल आचार्य पद को ही उन्होंने प्रमुखता दी है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने शास्त्रीय परम्परा की अवगणना की है। वास्तव में उन्होंने तो अतीत की परम्परा और वर्तमान के देश व काल का सामञ्जस्य किया है। जब किसी व्यक्ति ने उनसे पूछा—आपके संघ में आचार्य तो आप हैं तो उपाध्याय कौन होते हैं? आचार्य श्री भिक्षु ने संक्षिप्त भाव से उत्तर दिया—सातों ही पदों का कार्यभार मैं अकेला ही उठा रहा हूँ। लगता है, आचार्य श्री भिक्षु की यह धारणा थी कि उपाधियों और अधिक पदों का होना उच्छृंखलता के भाव पैदा करता है। इसलिए यह कम से कम रह सके वही सुन्दर है। इसी धारणा का परिणाम हो सकता है जो आगे चलकर संघ में व्यवस्थाएँ विकसित हुईं पद और उपाधियाँ नहीं। समग्र साध्वी संघ में एक साध्वी कार्य संचालन के लिए प्रमुखा के रूप में स्थापित की जाती है। पर उसे प्रवर्तनी नहीं कहा जाता। योग्य साधुओं को अध्यापन का कार्य सौंपा जाता है, पर उन्हें उपाध्याय नहीं कहा जाता। अग्रगण्य साधु-साध्वी अपनी टोलियों के साथ सुदूर प्रदेशों में विहार और धर्म संघ का विस्तार करते हैं पर उन्हें गणावच्छेदक नहीं कहा जाता। परम्परा निर्वाह की दृष्टि से पूर्वोक्त सातों पद एक आचार्य में समाहित हैं। आचार्य श्री भिक्षु गणी ने इस परम्परा को वैधानिक रूप देकर इतना रूढ़ भी नहीं बना दिया कि भविष्य में बढ़ते हुए संघ की अपेक्षाओं को समझ कर पद विस्तार की बात सोची ही न जा सके। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा था—मेरे द्वारा बताये गए विनय धर्म के साधारण नियमों को तुम देश-काल के अनुसार बदल सकते हो। आचार्य श्री भिक्षु ने अपने संविधान में लिखा—आचार्य की बाँधी मर्यादा आचार्य के हाथ है। अर्थात् शास्त्रीय नियमों के अतिरिक्त जो मर्यादाएँ मेरे द्वारा या किसी आचार्य के द्वारा रची गई हैं वे सदा के लिए भावी आचार्यों के हाथ में हैं। वे देश-काल के अनुसार उनमें न्यूनाधिक्य कर सकते हैं। अष्टमाचार्य श्री कालूगणी ने मंत्री पद का सूत्रपात संघ में किया है। दिवंगत मंत्री मुनि श्री मगनलालजी प्रथमतः इस पद पर सुशोभित थे।

भगवान महावीर ने जहाँ श्रमण संघ के लिए सातों पदों की व्यवस्था की वहाँ गौतम बुद्ध ने अपने पीछे किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाहा। उन्होंने कहा—सारा भिक्षु संघ ही मेरा उत्तराधिकारी होगा। कहा जा सकता है कि आचार्य श्री भिक्षु ने इस विषय में मध्यम मार्ग अपनाया है। उन्होंने अपने संघ की व्यक्ति परक सात पदों की व्यवस्था नहीं की और न संघ को नेतृत्वहीन स्थिति में ही छोड़ना श्रेयस्कर समझा। नेतृत्वहीन स्थिति का परिणाम माना जा सकता है कि बौद्ध धर्म भगवान बुद्ध से लेकर सम्राट अशोक तक लगभग सौ वर्षों की अवधि में १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। समय-समय पर होनेवाले विभागों का मुख्य हेतु संगीतियों—भिक्षु-सभाओं में उठनेवाले विषयों पर एकमत न हो सकना था। संघ विभक्त न हो इस विषय में आचार्य श्री भिक्षु ने अपने दूरदर्शितापूर्ण दृष्टिकोण से बहुत ही सुन्दर विधान रचा। उन्होंने लिखा श्रद्धा आचार तथा कल्प के विषय में यदि कोई चीज हृदयंगम नहीं हो रही हो तो आचार्य तथा बिद्वान साधु जैसा कहें वैसा मान लेना चाहिए। यह भी शक्य न हो तो उस बात को केवलीगम्य कर देना चाहिए परन्तु अपनी धारणाओं का विस्तार कर दलबन्दी नहीं करनी चाहिए। सारांश यह हुआ कि तेरापंथ साधु-संघ में आचार्य का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होगा तथा कोई व्यक्ति या समुदाय संघ में रह कर उस नियम से असहमत रहने का अधिकारी नहीं होगा। आचार्य श्री भिक्षु ने इस विधान के पोषक और भी कुछ नियम उपनियम रचे जिनका सार है कोई-कोई व्यक्ति या समुदाय आचार्य पद को नहीं मान कर यदि संघ से पृथक् होता है तो साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाएँ उसे मान्यता न दें। इन्हीं विधि विधानों का सुन्दर परिणाम है कि तेरापंथ अपनी पूर्ण अखंडता से अपने २०० वर्ष पूरे कर रहा है। इस बीच बहुत सारे साधु संघ से पृथक् हुए, पर वे संगठन को विभक्त न कर सके।

सामुदायिक व्यवस्था

प्राचीन जैन संघ में निग्रन्थ-श्रमण वैयक्तिक ही थी ऐसा अनेकानेक आगमिक स्थलों से विदित होता है। तेरापंथ में भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि अपेक्षाओं से सम्बन्धित सारी व्यवस्थाएँ सामुदायिक बन गई हैं। इन अपेक्षाओं के लिए व्यक्तिगत

क्रम से किसी साधु को चिन्तित नहीं होना पड़ता है। न ही यहां इसके लिए ही अवकाश है कि जीवन-व्यवहार की अनिवार्य अपेक्षा का किसी जगह ढेर लग जाए और कुछ लोगों को उससे कोरा रह जाना पड़े। संघ में हर साधु के लिए श्रम अपेक्षित है और जीवन सम्बन्धी अनिवार्य अपेक्षाएँ सुलभ हैं। व्यवस्थागत यह सामुदायिक विकास अनेक दृष्टियों से उपयोगी है और वर्तमान समाजवाद का एक सुन्दर रूपक है। रुग्ण साधु के लिए परिचर्या और औपचारिक का दायित्व सब पर है और हर एक साधु मुनादि परिष्ठान परिचर्या के लिए तत्पर रहता है। शरीर सेवा किसी गृहस्थ के द्वारा ग्राह्य नहीं है। सिलाई, धुलाई, सफाई आदि समस्त कार्य साधुओं के पारस्परिक सहयोग विनिमय पर आधारित हैं। इन व्यवस्थाओं को सामुदायिक रूप देने का श्रेय संघ के चतुर्थ अधिशास्ता श्रीमज्जयाचार्य को है। एक-एक व्यवस्था का सामुदायिक विकास उन्होंने किस कौशल से किया इसका एक सुन्दर इतिहास है। आज से लगभग १ वर्ष पहले जब कि समाजवाद की पद्धतियों का भारतवर्ष में नामोल्लेख भी नहीं था उस युग में भी सामाजिक संरक्षण और आचार-व्यवहार को इतना विकसित कर देना अवश्य ही एक अनोखी सूझ का द्योतक है।

मर्यादा महोत्सव

श्रीमज्जयाचार्य ने मर्यादा महोत्सव का प्रवर्तन किया। इसके अनुसार प्रतिवर्ष लगभग सभी साधु-साध्वियाँ आचार्य के सान्निध्य में सैकड़ों और सहस्रों मीलों से आ-आकर एकत्र होती हैं। मर्यादाओं का वाचन होता है तथा सामाचारी व एकत्व की शृंखला सुदृढ़ की जाती है। विगत वर्ष का कार्य विवरण आचार्य के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है और आगामी वर्ष का विहार निर्देश और कार्यक्रम उनसे लिया जाता है। वर्तमान में ५ और इससे भी अधिक साधु-साध्वियों का यह सम्मेलन प्राचीन काल की बौद्ध संगीतियों और जैन वाचनाओं की याद दिलानेवाला होता है। भगवान् बुद्ध ने संघ की अभिवृद्धि के लिए सात बातें बतायी थीं—

१—जब तक भिक्षु अनेक बार एकत्र होते रहेंगे।

२—जब तक भिक्षु एकमत से एकत्र होंगे और कर्मों का विचार करके एकमत उठेंगे।

३—जब तक भिक्षु संघीय मर्यादाओं का मान करेंगे और उनके अनुसार चलेंगे।

४—जब तक भिक्षु वृद्ध और शीलवान नामक भिक्षुओं का मान रखेंगे।

५—जब तक भिक्षु तृष्णा से अभिभूत नहीं होंगे।

६—जब तक भिक्षुओं को एकान्तवास प्रिय लगता रहेगा।

७—जब तक भिक्षु नवागन्तुक ब्रह्मचारियों की धर्म-समाधि के लिए जागृत व सचेष्ट रहेंगे।

मर्यादा महोत्सव के पुनीत प्रसंग पर ये सभी संकेत सजीव और चरितार्थ हो उठते हैं। प्रति वर्ष का एकत्र होना एक सहज प्रसंग है ही। आचार्य द्वारा किये गए नियमों पर सहज समस्त एकमत होकर उठना विधान है ही। मर्यादाओं का मनन वृद्धों एवं गुरुजनों का मान ऐहिक अपेक्षाओं के प्रति निस्पृहता एवं शिक्षाओं का परिपालन आदि सभी बातें तेरापंथ संघ के मर्यादा महोत्सव में चरम उत्कर्ष पर मिलती हैं।

आचार्य श्री भिक्षु से भी किसी एक व्यक्ति ने पूछा—आपका संघ सुव्यवस्थित और सुगठित है, पर यह इसी प्रकार कब तक चलता रहेगा? आचार्य श्री भिक्षु ने उत्तर दिया—

१—संघ के साधु जब तक मा-मर्या और आचार में दृढ़ रहेंगे।

२—संघ के साधु जबतक संग्रही नहीं होंगे अर्थात् वस्त्र पात्र व अन्य उपकरण अमर्यादित रूप से संगृहीत नहीं करेंगे और स्थानक उपाश्रय आदि बड़े कर उनमें नहीं बैठेंगे।

३—संघ के साधु जब तक संघीय मर्यादाओं को बहुमान देते रहेंगे।

संघ को निरन्तर और सुदृढ़ रखने के लिए आचार्य भिक्षु का यह त्रिपदी दृष्टिकोण बहुत ही यथार्थ और वास्तविक है।

शान्तिप्रियता और एकता

बौद्ध श्रमण संघ की निःशब्द प्रियता इतिहास प्रसिद्ध है। गौतम बुद्ध स्वयं से निःप्रिय थे। कोलाहल उनके लिए असमोद्य था। एक बार बहुत सारे भिक्षु किसी दूर ग्राम से विहार करके आए और अपनी रहन-सहन की व्यवस्था में संलग्न

होकर कुछ कोलाहल करने लगे। भगवान बुद्ध ने उन सब साधुओं को पुनः एकत्र कर तत्काल विहार कर जाने का आदेश दे दिया। बौद्ध मठों में सहस्रों भिक्षुओं के एक साथ निःशब्द भोजन करने के भी उल्लेख मिलते हैं। तेरापंथ साधु-संघ की शांतिप्रियता और परिपाटी को सराहा जा सकता है। सैकड़ों साधुओं का एकत्र भोजन होता है, एक ही मकान में उनका रहना होता है, फिर भी उनके आसपास के वातावरण में कहीं भी कोलाहल अथवा अस्वच्छता खोजने को नहीं मिलती। कुछ एक निरीक्षक साधु नियुक्त होते हैं जिनका कार्य ही स्वच्छता सम्बन्धी जाँच करते रहना होता है। सौ आदमियों की एक बारात किसी एक मकान में दो दिन के लिए ठहरे, और सौ साधु किसी मकान में दो दिन के लिए ठहरें तो दोनों में अन्तर होगा। पहले स्थान को साफ सुथरा करने में दिन और सप्ताह लग जाय और दूसरा दो दिन के पश्चात् मूल से भी अधिक स्वच्छ स्थिति में मिल जाय।

दीक्षा

दीक्षा के विषय में बौद्ध संघ प्रवर्तन के आदि दिनों में यह व्यवस्था थी कि दीक्षार्थियों को कोई साधु अपने आप दीक्षित न करे। प्रचारार्थ गए हुए भिक्षु दीक्षार्थी को लेकर पुनः-पुनः गौतम बुद्ध के पास आते और दीक्षित करवाते। इससे प्रचारक साधुओं को बहुत कष्ट होने लगा। अन्त में भगवान बुद्ध को यह आदेश देना पड़ा कि भिक्षु स्वयं जहाँ जिसे चाहे दीक्षा दे सकते हैं। इस नियम से लाभ तो यह हुआ कि संघ बहुत शीघ्र विस्तार पा गया। बौद्ध धर्म के विश्वव्यापी होने में यह भी एक प्रमुख कारण हो सकता है। जहाँ-जहाँ भिक्षु पहुँचे उस देश व उस प्रान्त के लोगों को वे भिक्षु बनाते गये। इससे सर्वत्र बौद्ध धर्म की जड़ें जम गईं। इस विधान से हानि यह हुई कि बौद्ध धर्म में शैथिल्य आने के सब रास्ते खुल गये। यह सच था कि दीक्षा प्रदान करने की इतनी मुक्तता में पात्रापात्र का विवेक कम ही रह सकता था। उसके अधिक व्यापक होने से स्वराचार बढ़ गया और बौद्ध धर्म के प्रान्त प्रान्त और देश-देश में पृथक्-पृथक् स्वरूप बन गए। आचार गौण और पंथ विस्तार प्रमुख हो गया।

प्राचीन काल से एक ही संघ में रहते हुए पृथक्-पृथक् शिष्य बनाने की जो परम्पराएँ चल रही थीं आचार्य भिक्षु ने उन्हें तेरापंथ के आविर्भाव के साथ-साथ समाप्त कर दिया। उन्होंने अपने शब्दों में व्यवस्था दी शिष्य करना तो भारिमालजी के नाम करना है अर्थात् भारीमाल जी उनके उत्तराधिकारी थे। इसलिए उन्होंने उनके नाम से शिष्य करने का विधान किया। उस सब विधान का शाश्वत स्वरूप बना—वर्तमान आचार्य के नाम पर ही किसी को दीक्षित करना। दीक्षा देने के सम्बन्ध में धीरे-धीरे विधान का रूप कठोर होता गया और आज तो उसका सर्वसम्मत रूप यह है कि आचार्य के नाम पर भी बिना आचार्य की अनुमति पाये कोई किसी को दीक्षित नहीं कर सकता।

देश के किसी भाग से भी लगभग सभी दीक्षार्थियों को दीक्षा ग्रहण के लिए आचार्य के पास ही पहुँचना पड़ता है। गौतम बुद्ध के युग में यदि दीक्षार्थियों को उनके पास पहुँचने की मार्ग-सुविधायें होतीं तो सम्भवतः वे दीक्षा-संस्कार को सभी भिक्षुओं के लिए मुक्त नहीं कर देते। आचार्य भिक्षु की निष्ठा में आचार धर्म की प्रमुखता थी। आचार को खोकर विस्तार को पाना वे घाटे का सौदा समझते थे। इस दीक्षा नियम का ही सुपरिणाम है कि देश के कोने-कोने में फैले जानेवाले लगभग ६५ साधु-साध्वियों के इस श्रमण संघ में आचार की दृढ़ता और एकरूपता ज्यों की त्यों चल रही है।

तेरापंथ संघ में एकाएक किसी को दीक्षित नहीं कर लिया जाता है। पहले उसे वैराग्य में महीने और वर्ष बिताने पड़ते हैं। देश और काल के ज्ञाता नवमाचार्य श्री तुलसी ने व्यावहारिक दृष्टि से इस साधना-काल को और भी लम्बा कर दिया है। इस मध्य स्थिति में दीक्षार्थी भाई व बहिन क्रमशः वैरागी और वैरागिन कहलाते हैं। बौद्ध धर्म संघ में ऐसे लोगों की एक व्यवस्थित परम्परा रही है। उन लोगों को श्रामणेर और श्रामणेरियाँ कहा जाता था। भगवान बुद्ध के सामने अल्प वयस्क दीक्षा का कोलाहल उठा। उन्होंने नियम बना दिया कि १५ वर्ष से पूर्व किसी को भिक्षु संघ में न लिया जावे। तब से उक्त परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। श्रामणेर भिक्षुओं के आश्रम में व उन्हीं के मार्ग-दर्शन में साधना करते और श्रामणेरियाँ भिक्षुणियों के आश्रम में अपनी साधनाएँ करतीं।

आचार और प्रचार का समान विकास

बौद्ध भिक्षु संघ की तरह तेरापंथ साधु संघ भी प्रचार कुशल रहा है। आज के इस द्रुत यान प्रधान युग में पाद-विहार का जैसा लोकतांत्रिक विकास वर्तमान तेरापंथ में चल रहा है वैसा अन्य किसी धर्म संघ में नहीं मिलेगा। वर्तमान आचार्य श्री

तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन कर और अपने साधु-साध्वियों को उसके विस्तार में दत्तचित्त कर मानो भगवान बुद्ध के 'चरथ भिक्खवे चारिकाम्' चरथ भिक्खवे चारिकाम्–पाद विहार करो, पाद विहार करो' के ढ़ाई हजार वर्ष प्राचीन इतिहास को दुहरा दिया है। इन वर्षों में वे स्वयं इतने उग्र विहारी रहे हैं कि इतिहास के पृष्ठों में भी ऐसा उदाहरण शायद ही मिले। उनकी प्रेरणा से साधु-साध्वियों ने भारतवर्ष के दुर्गम स्थानों में पाद विहार कर गौतम बुद्ध के शिष्य भिक्षु 'पुत्र' की आत्मोत्सर्ग भावना को परिताप कर दिया है। तेरापंथ के साधु संघ की यह उल्लेखनीय विशेषता है। प्रचार के साथ आचार धर्म का उत्तरोत्तर विकास ही हुआ है, ह्रास नहीं। अपनी मौलिक आचार-संहिता को ज्यों की त्यों अक्षुण्ण रखते हुए तेरापंथ साधु संघ ने जो पाया है वह इतिहास के पृष्ठों में एक अपूर्व घटना है।

गौतम बुद्ध ने अपने संघ में स्त्रियों को बहुत बाद में दीक्षित किया। अनेकों आग्रहों के बाद उन्होंने अपनी मौसी महा प्रजापति गौतमी जिसने कि माता के अभाव में गौतम बुद्ध का लालन-पालन किया था को दीक्षा दी। वह दीक्षा भी कुछ विशेष संविधानों को मान्य करने की शर्त पर थी। उनमें से कुछ संविधान ये हैं–

१–भिक्षुणी छोटे-बड़े सभी भिक्षुओं को प्रणाम करे।

२–जिस गाँव में भिक्षु न हो वहाँ भिक्षुणी न रहे।

३–हर पक्ष में उपोसथ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिए कब आना है, ये दो बातें भिक्षु संघ से पूछ ले।

४–चातुर्मास के पश्चात् भिक्षुणी को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ से प्रवारणा स्वदोषज्ञापन की याचना करनी ही थी।

५–किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को गाली-गलौज न दे और भिक्षु भिक्षुणियों को उपदेश दे।

आचार्य भिक्षु ने भी तेरापंथ के आविर्भाव के लगभग पाँच वर्षों बाद तीन स्त्रियों को साध्वी दीक्षा दी। उन्होंने उन तीनों के सामने यह शर्त रक्खी थी कि यदि संघ में अन्य साध्वी-दीक्षाएँ निकट भविष्य में न हों और तुम तीनों में से कोई एक काल-धर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष दो को आमरण अनशन करना अनिवार्य होगा। तीन से कम का साध्वी-संघ न रह सकेगा। लगता है कि स्त्रियों को संघ में दीक्षित करना हर एक प्रवर्तक ने आशंकापूर्ण माना है और उन आशंकाओं के निराकरणार्थ कुछ विशेष नियम रखे हैं। आचार्य श्री भिक्षु ने भी इस विषय में व्यवहार शुद्धि की दृष्टि से एक सुदृढ़ व्यवस्था दी है, जिसके मुख्य अंग हैं–

१–जिस गाँव में साधु हो वहाँ साध्वियाँ और जहाँ साध्वियाँ हो वहाँ साधु न रहे।

२–विशेष स्थिति में यदि साधु-साध्वियों को एक ही गाँव में रहना पड़े तो वे एक दूसरे के स्थानों पर आवागमन न रखें। प्रवचन-श्रवण तथा पठन-पाठन भी एक-दूसरे के यहाँ न करें।

३–पाक्षिक पर्व के अगले दिन साध्वियाँ साधुओं के स्थान पर जाकर 'खमत-खामणा' करें।

४–तिथि विवरण पत्र तथा लौटा नियाकम के सामने के अतिरिक्त वे किसी वस्तु का आदान-प्रदान न करें।

५–जो साधु-साध्वियाँ गाँव में पूर्व से हो वे नवागन्तुक साधु-साध्वियों के लिए एक दिन के आहार पानी की व्यवस्था करें, अर्थात् उन्हें भिक्षा के लिए जाने का कष्ट न दें।

इन व्यवस्थाओं में कुछ तो बौद्ध श्रमण संघ की व्यवस्था के समान ही हैं, और कुछ सर्वथा उनसे विपरीत हैं। बौद्ध संघ का नियम था कि जिस गाँव में भिक्षु न हो वहाँ भिक्षुणियाँ न रहें। तेरापंथ का नियम है जहाँ साधु हैं वहाँ साधारणतया साध्वियाँ न रहें। हो सकता है कि गौतम बुद्ध की दृष्टि साध्वियों के संरक्षण की ओर रही हो और आचार्य श्री भिक्षु की पारस्परिक सम्पर्क स्वस्थ रखने की रही हो। आचार्य श्री भिक्षु ने संघ हित के लिए सापेक्ष स्वपक्षताको ही पर्याप्त माना। यह उनके प्रत्येक नियमन से स्पष्ट होता है। फिर भी उन्होंने तत्सम्बन्धी नियमों को रद्द नहीं होने दिया। आचार्य और आचार्य के आदेश उक्त सारी व्यवस्था के अपवाद हैं। साध्वियाँ छोटे-बड़े साधुओं को वन्दन करें यह तो बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म की भी प्राचीन परम्परा रही है।

सामान्यतः प्रधान वर्तमान युग में ऐसी सभी परिस्थितियाँ चिन्तनीय हैं, जो पुरुष और नारी की उच्चावचता की द्योतक हैं। तेरापंथ साधु संघ में इतर जन संघों की अपेक्षा साध्वियों के लिए विकास के बहुत अधिक अवसर हैं। शिक्षा, प्रवचन, विहार आदि विषयों में साधु और साध्वियों के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं माना गया है। बहुत सारी साध्वियों ने तो उक्त विषयों में अपनी श्रेष्ठता का परिचय भी दिया है।

आधुनिक शासन प्रणालियों के साथ

आधुनिक शासन प्रणालियों के साथ ही तेरापंथ संविधान को परख लेना अप्रासंगिक और असंगत नहीं होगा। भले ही पंथ संविधान और प्रणालियाँ एक-दूसरे से दूर की बातें रही हों पर धर्म संघों में भी प्रशासन तो एक प्रकार का प्रशासन ही है। आचार्य की सर्वाधिकार सम्पन्नता को देखकर सहसा यह लगेगा कि तेरापंथ का संविधान सर्वथा एकतंत्र प्रथा पर आधारित है। दूसरी ओर साधु-साध्वियों के सामुदायिक जीवन क्रम तथा संविभाग पर आधारित अधिकार क्रम को देखकर सामाजिकता प्रधान समाजवाद की याद आयगी। संघ में व्यक्ति का अपना कुछ नहीं है। व्यक्ति स्वयं संघरूपी समाज का है और उसकी समग्र अपेक्षाएँ समाज-सम्बद्ध हैं। एक के लिए सब और सब के लिए एक का उदार आदर्श यहाँ चरितार्थ देखने को मिलता है। आचार्य की सर्वाधिकार सम्पन्नता किसी भी डिक्टेटर या औटोक्रेट जैसी नहीं है। उसमें स्वच्छन्दता और नियमितता का मौलिक भेद है। एक आचार्य शास्त्रीय विधि विधानों का उल्लंघन कर शासन चलाने के लिए स्वतंत्र नहीं है। वह शास्त्रीय संविधान के अनुसार ही किसी को प्रायश्चित्त दे सकता है। अधिक प्रायश्चित्त देकर स्वयं भी प्रायश्चित्त का भागी बनता है। आचार्य स्वयं पदारूढ़ नहीं हो जाता; वह अपने पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा नियुक्त किया जाता है। नियुक्ति पत्र पर संघ के सभी साधुओं के हस्ताक्षर माँगे जाते हैं। संघ के प्रमुख कार्य योग्य साधुओं की सहमति लेकर करने का विधान है। निर्वाचन पद्धति अवश्य जनतांत्रिक पद्धति से बहुत कुछ दूर रहती है। किसी भी धर्म संघ के लिए ऐसा होना उचित भी है। जनतांत्रिक देशों में भी वर्तमान चुनाव प्रणाली अवैज्ञानिक सिद्ध हो रही है। विरोधी प्रचार, दलबन्दियाँ आदि विभिन्न दलों में होनेवाले मनोमालिन्य देश की अखण्डता को विभक्त और आशंकित करते हैं। जन जीवन चुनाव के दिनों में अत्यन्त अशान्त हो जाता है। अस्तु, धर्मसंघों में तथा प्रकार की निर्वाचन पद्धति का न आना ही श्रेयस्कर लगता है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि विभिन्न शासन प्रणालियों के सहज समन्वय से आविर्भूत यह एक स्वतंत्र शासन प्रणाली है। इसे हम 'राज्य सावयव सिद्धान्त' सहज रूप में कह सकते हैं। उस सिद्धान्त के विषय में राजनीति के आचार्य प्लेटो अपने रिपब्लिक (Republic) नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि सर्वोपरि शासन व्यवस्था वही है जिसकी बनावट उसके मनुष्यों की बनावट से समानता रखती है। जिस प्रकार शरीर के सावयव रूप किसी अवयव को चोट लग जाने से सारे शरीर को वेदना होती है और वह उस दुःखित अवयव के साथ सहानुभूति दिखलाता है ठीक उसी प्रकार समाज जिन व्यक्तियों से बना है, उन में से किसी एक को चोट पहुँचने पर समूचे समाज को धक्का लगता है।

आचार्य श्री भिक्षु ने रुग्ण और वृद्ध साधुओं की परिचर्या के लिए ऐसे नियमोपनियम रचे जिनके अनुसार यथावसर हर एक साधु को रुग्ण और वृद्ध की परिचर्या में लगना पड़ता है। नियमोपनियम के साथ जो संस्कार संघ के साधु साध्वियों को दिये गए हैं, उनके आधार पर तेरापंथ की परिचर्या अत्यन्त स्पृहणीय हो रही है। थोड़े में कहा जा सकता है कि तेरापंथ शरीर की आत्मा आचार्य हैं, और साधु साध्वी गण उसके अवयव हैं। किसी एक अवयव की पीड़ा में दूसरा तत्क्षण सचेष्ट होता है। इस अवयवी शरीर में अनुभूति और संवेदन सबके लिए समान और एक है।

अन्य विशेषताएँ

तेरापंथ संविधान की कुछ अन्य विशेषताएँ भी असाधारण और उल्लेखनीय हैं। यदि कोई साधु किसी अन्य साधु में त्रुटि देखे तो वह सौजन्यपूर्वक उस साधु से अपनी त्रुटि सुधारने के लिए कहे। वह इस बात के लिए प्रस्तुत न हो तो आचार्य से कहे पर अन्यत्र उसका प्रचार न करे। इस व्यविनियम से पारस्परिक व्यवहार बहुत शालीन रहता है। दोषी दोषमुक्त होने के लिए प्रेरित होता है। दोषी को यथाविधि सावधान न किया जाए और अन्यत्र उसका प्रचार किया जाए, तो इससे वमनस्य बढ़ता है और एक दूसरे को बुरा बताने में सारा संघ कलह ग्रस्त हो सकता है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी उक्त नियमों को चरितार्थ किया जाए तो अनायास उठनेवाले बहुत सारे कष्टों से बचा जा सकता है।

अनुशासन सारे संविधान का प्राण रहा है। अनेकानेक मर्यादाएँ इस पर बल देती हैं। व्यवहार में इसका स्वरूप और भी कठोर है। थोड़ा भी अनुशासन भंग क्षम्य नहीं माना जा सकता। अनुशासन का विषय है शास्त्रीय नियमों का

पालन : संघीय नियमों का पालन, आचार्य व अग्रगण्य के निर्देशों का पालन। कोई साधु इच्छानुसार संघ से पृथक् हो सकता है पर वह यह नहीं कह सकता—अमुक निर्देश का पालन तो नहीं करूँगा पर संघ में रहूँगा।

जानबूझ कर किए गए तनिक से आज्ञा भंग पर भी संघ से अलग कर देने की अनेक घटनाएँ तेरापंथ के इतिहास में मिलती हैं। किसी असंतोष के कारण की जानेवाली दलबंदियों के प्रति भी विधान का रुख अत्यन्त कठोर है। विधान का मूल स्वरूप आचार्य के लेखपत्रों एवं मर्यादाओं में है। वर्तमान आचार्य द्वारा की गई मर्यादाएँ भी उसका अंग बनती हैं। विशेषता यह है कि जितने भी नियमोपनियम बनाए जाते हैं वे संघ के साधु-साध्वियों को अन्तिम रूप देने से पूर्व हृदयंगम कराए जाते हैं। अन्तिम रूप देने के बाद वे नाना अहिंसात्मक और मनोवैज्ञानिक उपायों द्वारा संस्कारगत किए जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि संघीय नियमन साधु व साध्वियों द्वारा भारभूत न माना जाकर आधारभूत माना जाता है।

तेरापंथ और अणुव्रत आंदोलन

(साध्वी श्री कानकुमारीजी)

पथ शून्य होकर स्पष्ट होता है। पर साथ ही साथ अनुभव बढ़ता उसमें नये-नये सरल मार्ग भी निकालती रही है। जीवनपथ की विभिन्नता का यही एकमात्र कारण है। कौन-सा मार्ग सरल है, यह कहना बड़ा कठिन है। पर व लक्ष्य प्राप्ति की एक आतुर आकांक्षा लेकर चलते हैं इसमें सन्देह को स्थान नहीं हो सकता। लक्ष्य सदा मानव जाति के सामने रहा है, पर उस तक पहुंचने में उसने विविध मार्गों का अनुसरण किया है यह सर्वथा अनावृत है। कुछ युग द्रष्टाओं ने पूर्व पदाक्रान्त पथ में जहाँ भी घुमाव देखा उसे टालने का प्रयत्न किया है। अनेक लोगों ने उनका अनुसरण भी किया है। पर नहीं कहा जा सकता कि कौन मार्ग योग्य निर्देशक को पाकर अपनी लक्ष्यगामिता को साध सकता है। योग्य निर्देशक के अभाव में अनेक लोगों ने विपथ में भटक भटककर अपनी जीवन यात्रा को वहीं समाप्त कर दिया है ऐसे भी बहुत सारे प्रमाण हैं। पर अन्ततः कौन-सा मार्ग सही है और कौन-सा गलत है यह निर्णय करना अब भी मनुष्य के लिये अवश्य है। तेरापंथ भी लक्ष्य तक पहुँचने के लिये एक मार्ग है। उसका अपना नम्र मत है कि वह भगवान महावीर के चरण चिह्नों का अनुसरण कर रहा है पर उसमें आग्रह नहीं है। वह इसलिये कि दूसरे भी ऐसा कहने के लिये स्वतन्त्र हैं। पर तेरापंथ का अनुगमन करनेवालों का अपना विश्वास उनके सुखद और सक्रिय वर्तमान में वाक्मुख होकर ध्वनित हो रहा है। इसमें शायद किसी के दो मतव्य नहीं हो सकते। तेरापंथ को जैन धर्म से अलग देखना सही नहीं होगा। पर चूंकि जैन धर्म अनेकमुख हो चुका है अतः उसकी अनेकमुखता के नाम रूप की व्यवच्छिन्नता के लिए तेरापंथ को हम एक संकेत मान लेते हैं। आचार्य भिक्षु ने आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व इस शब्द का संकेत (निरुक्त) करते हुए कहा था—हे प्रभो! यह तेरा ही पथ है। आगे इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—पाँच समिति तीन गुप्ति और पाँच महाव्रतों का सम्यक् अनुशीलन ही तेरापंथ है। अतः उसमें ऐसी कोई अभिव्यक्ति नहीं है जो उसे जैन धर्म से पृथक करे। पर परम्परा के प्रबल प्रवाह ने उसे ऐसा रूप जरूर दे दिया है जो जैन धर्म की अनेक शाखा-उपशाखाओं में अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। अतः अणुव्रत के साथ उसके सम्बन्धों की पर्यालोचना करते समय हमें उसके मुख्य सिद्धान्तों और प्रणेताओं से भी परिचय पा लेना आवश्यक है।

आज से दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु को ऐसा अनुभव हुआ कि जैन धर्म में अनेक विकृतियाँ स्थान पा रही हैं। उनके विरुद्ध उन्होंने जो क्रान्ति चरण उठाया वही तेरापंथ की अभिधा से अभिहित हो गया। तब से लेकर आजतक वह एक सम्प्रदाय का रूप लेकर अविराम चलता रहा है। आचार्य भिक्षु के बाद वर्तमान अधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी तक आठ आचार्यों ने सदा अपने नेतृत्व के अमृत से इस संघ के मूल को सींचा है जिसका प्रमाण तेरापंथ का अपना सुदृढ़ संगठन स्वतः ही दे रहा है। किसी भी संघ का तेज उसके नेतृत्व पर आधारित है। तेरापंथ के लिये यह गौरव की बात रही है कि उसे प्रायः योग्य नेतृत्व सुलभ रहा है। अणुव्रत का इतिहास दस वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। पर तेरापंथ दो सौ वर्षों से जो करता आया है वह अणुव्रत के विपरीत बात नहीं है, बल्कि ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने जो शुरू किया था वह भी अणुव्रत का ही एक प्रमुख अंग था। शब्द संज्ञा की दृष्टि से भी भगवान् महावीर ने अणुव्रत ध्वनि में जो अर्थ संकेत दिया था आज भी प्रायः वही ध्वनि अणुव्रत आंदोलन में है। आज तो तेरापंथ और अणुव्रत आंदोलन एक व्यक्तित्व के नेतृत्व की दो धाराएँ हैं। कुछ लोग अणुव्रत आंदोलन को तेरापंथ का ही एक रूपान्तर मानते हैं, तो कुछ लोग इसे तेरापंथ से सर्वथा असंयुक्त कह देते हैं। पर उसके प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी का मत इन दोनों से भिन्न है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने एक जगह कहा था—अणुव्रत तो एक जीवन निर्माण का आन्दोलन है। तेरापंथ भी जीवन निर्माण में विश्वास करता है। अतः वह अणुव्रत आन्दोलन से सर्वथा असंयुक्त रह ही कैसे सकता है? बल्कि जीवन निर्माण में विश्वास रखने वाला कोई भी संघ या समाज अणुव्रत से भिन्न नहीं है। नाम और परिस्थिति ने इसे अणुव्रत की संज्ञा में बाँध दिया है पर भावना की दृष्टि से वह किसी भी चरित्रोत्थान के प्रयास से भिन्न नहीं है। व्यवस्था की दृष्टि से अणुव्रत भी तेरापंथ से उतना ही भिन्न है जितना कि दूसरे संघ या सम्प्रदाय। किसी भी प्रवृत्ति के एकाकी

दर्शन से हम उस के सम्यक्-मिथ्यात्व का सही आकलन नहीं कर सकते। अणुव्रत तथा तेरापथ के सम्बन्ध के बारे में भी हमें इन दोनों दृष्टिकोणों से विचार करना चाहिए।

दूसरे लोग अनैतिकता करें या न करें पर अध्यात्म में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति अनैतिकता करें, यह भौतिकवादियों के लिए अध्यात्म में अविश्वास का एक प्रमुख तर्क था। हालांकि भूख तो सभी को लगती है, वातावरण में जब सभी लोग अनैतिकता के शिकारी हों तो अध्यात्मवादी लोग भी उससे कैसे बच सकते थे। पर सब जगह तर्क से काम नहीं चलता। अध्यात्मवादियों के आचरण में उनके विचारों का प्रतिबिम्ब आवे यह सर्वथा अपेक्षणीय था। इसीलिए आज से दस वर्ष पूर्व आचार्य श्री तुलसी ने जीवन-निर्माण के कुछ सूत्र जनता के सामने रखे थे जो अणुव्रत के रूप में सामने आये। चूंकि आचार्य श्री के सामने सारा देश था अनीति का प्रसार किसी व्यक्ति या समाज में ही रहा हो ऐसा तो था नहीं इसीलिए देश की सर्वदेशीय परिस्थिति को देखकर आचार्य श्री ने अणुव्रत का विस्तार किया।

प्रारम्भ में इसे लोगों ने तेरापंथ का ही रूपान्तर बताया। इसलिये दिल्ली के एक पत्रकार सम्मेलन में एक पत्रकार ने प्रश्न पूछा—क्या एक अणुव्रती को आप (तेरापथ के आचार्य) को नमस्कार करना आवश्यक है? आचार्य श्री ने उसका उत्तर देते हुए कहा—यह कोई आवश्यक नहीं कि एक अणुव्रती को तेरापथ के आचार्य को नमस्कार करना ही पड़े। यह तो अपने अपने धार्मिक विश्वासों पर निर्भर है। जिसे तेरापथ में या किसी भी धर्म सम्प्रदाय में विश्वास हो वह उसके आचार्य को वन्दन नमस्कार कर सकता है। पर यह कोई आवश्यक शर्त नहीं है। दूसरे धर्म पर विश्वास करने वाले उस धर्म के आचार्यों को नमस्कार करें तो अणुव्रत उन्हें मना नहीं करेगा। इसीलिये अणुव्रत आन्दोलन केवल तेरापथ का ही आन्दोलन नहीं है अपितु वह सब धर्म समाजों के लिये एक प्रेरक प्रयत्न है।

धर्म आत्मशुद्धि का साधन है। व्यवहार शुद्धि तो उससे अपने आप हो ही जाती है। पर लोग धर्म को उसके वास्तविक रूप में नहीं पकड़ते। वे उसे केवल रूढ़ि के रूप में ही ग्रहण करते हैं। इससे जीवन तो शुद्ध होता ही नहीं व्यवहार भी बिगड़ जाता है। धर्म का नारा है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' प्राणी-मात्र को आत्मबुद्धि से देखो। पर क्या आज धार्मिक समाज ने प्राणीमात्र को तो छोड़ ही दें मनुष्य को भी आत्मदृष्टि से देखा है? जाति-पांति तथा भेद भावों ने मानव जाति को आज अनेकानेक टुकड़ों में बांट दिया है। यह निश्चय ही धर्म के उज्ज्वल भाल पर कलंक का एक टीका है। आत्मशुद्धि के साधक यहां पर आकर व्यवहार को भी अशुद्ध बना डालते हैं। इसीलिये आचार्य श्री ने अणुव्रत में एक नियम रखा—मैं किसी को भी अस्पृश्य नहीं मानूंगा। इस प्रकार अणुव्रत आन्दोलन न केवल मनुष्य को नैतिक ही बनाता है, अपितु वह धर्म के वास्तविक अर्थ को भी प्रकट करता है। अतः उसे हम न केवल नैतिक शुद्धि का ही आंदोलन कहें बल्कि उसे धर्म शुद्धि का भी आंदोलन कह सकते हैं। आचार्य श्री स्वयं एक ऐसी मध्य रेखा पर बैठे हैं जहां से वे धर्म और नीति दोनों को परिमार्जित कर सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से देश में अनेक आंदोलन चलते हैं, पर सभी लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि वे अपेक्षित परिणाम नहीं ला पा रहे हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि मनुष्य को आत्मस्थ बनाये बिना कोई भी ऊपरी प्रयास उसे सही सुखी और शान्त नहीं बना सकता। सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न और शिक्षित व्यक्ति भी समय पर अनैतिक आचरण करते नहीं सकुचाते। यह क्या सामाजिक प्रगति की एकांगिता की सूचना नहीं है? सामाजिक व्यक्ति के लिए समाज की सम्पन्नता होना आवश्यक है, पर वह साध्य नहीं है। साध्य तो शान्ति और संतोष ही है, जो धर्म का एक अविनाभावी अंग है। इसीलिये आज एक ऐसे आंदोलन की आवश्यकता है जो मनुष्य को आत्मस्थ होने की बात बताए। इहलोक और परलोक की चर्चा आत्मस्थता के लिए बाधक नहीं है। भले ही कोई व्यक्ति परलोक पर विश्वास न करे, पर उसे अपने आप में संतुष्ट होना तो सीखना ही पड़ेगा। यही प्रयत्न अणुव्रत के माध्यम से हो रहा है। तेरापथ को इससे कोई विरोध नहीं हो सकता है और न इसे ही तेरापंथ से कोई विरोध हो सकता है बल्कि तेरापंथ के संगठन ने अणुव्रत प्रसार में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। ६५ साधु-साध्वियों तथा लाखों श्रावक-श्राविकाओं के सामूहिक प्रयत्न ने स्थान-स्थान पर अणुव्रत भावना के प्रसार में अनेकविध सहयोग दिया है।

अणुव्रत के इस दस वर्षों के इतिहास में अनेक मोड़ आये हैं। प्रारम्भ में आचार्य श्री ने अपने श्रावकों में से केवल २५ व्यक्ति ऐसे मांगे जो किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन को अनैतिक आचरणों से बचाये रखने के लिये दृढ़संकल्प हों। यहां

सम्यक्त्वी होने की अनिवार्य शर्त नहीं है। कोई भी व्यक्ति जो आत्म शुद्धि में विश्वास करता है, अणुव्रत आंदोलन का सदस्य बन सकता है। इसमें गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत का प्रसंग भी कोई विभाग नहीं है।

चवालीस व्रतों को पाँच अणुव्रतों में विभक्त कर दिया गया है। पाँच अणुव्रत हैं—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[1]। यह सब भेद शब्द विन्यास की दृष्टि से है। भावना की दृष्टि से तो सभी धर्म और संस्कृतियों में कोई भेद है ही नहीं। उस दृष्टि से अणुव्रत भी कोई नया प्रयत्न नहीं है। बहुत लम्बे काल से चली आती हुई भारतीय संस्कृति का यह एक वर्तमान संस्करण है। तेरापंथ संघ ने उसके प्रचार व प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

१—अणुव्रतों की व्याख्या के लिए—'अणुव्रत आन्दोलन' नामक लेख (प्रथम खंड पृ २११) देखिये।

तेरापथ का विकास

(आचार्य श्री तुलसी)

प्रारम्भ का मूल्य भविष्य से आंका जाता है। यदि भविष्य उज्ज्वल हुआ तो प्रारम्भ भी उज्ज्वल हो जाता है। उसी का भविष्य उज्ज्वल होता है जिसका प्रारम्भ विशुद्ध वातावरण में होता है। तेरापथ का उद्भव विशुद्धि की भित्ति पर हुआ। विकास स्वयं लभ्य था। आचार्यों ने प्रयत्न किया। साधु-साध्वीगण ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। श्रावक श्राविका संघ ने श्रद्धा और संघभाव की लौ जलाई। तेरापन्थ का तेज चमक उठा।

विकास अथवा विस्तार संख्या और गुण की दृष्टि से मापा जाता है। आदि में तेरह साधु थे। साध्वियां नहीं थी। अभी उनकी संख्या ६५ है। श्रावक सैकड़ों की संख्या में थे अब वे लाखों में हैं। वहाँ विहार-क्षेत्र मेवाड़ और मारवाड़ का कुछ ही भाग था वहाँ अब मालवकोर और आसाम को छोड़कर प्रायः सभी प्रान्तों में साधु और साध्वियाँ विहार कर रही हैं।

गुणात्म विकास की माप-जोख करना शक्ति से परे है। ज्ञानदर्शन और चरित्र की जो आत्मगत अनुभूति है, उस तक दृष्टि झाँक नहीं सकती। इसलिए उन्हें तारतम्य की परिधि में प्रवेश नहीं दिया जा सकता।

ज्ञान का गम्य रूप है—श्रुत। दर्शन का गम्य रूप है—व्यवस्था। चरित्र का गम्य रूप है—अनुशासन। इनमें नए-नए उन्मेष आए हैं। इसलिए व्यवहार की भाषा में कहा जा सकता है कि ज्ञान-दर्शन और चरित्र का विकास हुआ है।

विकास हमें दीखता है किन्तु उसके कारण छिपे रहते हैं। उसकी अपनी एक विशेष स्थिति होती है। आचार्य भिक्षु ने गण का विधान बनाया तो उसका लक्ष्य कोरा संगठन नहीं था। वैसा चरित्र-शुद्धि के लक्ष्य से किया गया था। उस विशुद्धि के आधार पर जो व्यवस्था बनी जो अनुशासन विकसित हुआ उसके गर्भ में विकास छिपा हुआ था।

लक्ष्य के प्रति जो आस्था होती है, वह व्यक्ति या समाज को आगे ले जाती है। जो दृष्टिकोण हम मिला है—वह सम्यक् है। उसे जन-जन तक पहुँचाने का लक्ष्य बना। उसके प्रति आस्था आई। अनुगामियों की संख्या बढ़ी। विहार क्षेत्र विस्तृत हो चला। ऐसा सहज ही नहीं हो गया इसके लिए साधुओं ने अनेक कठिनाइयाँ सहीं। सभी कष्ट अभिशाप ही नहीं बनते। उनमें से कुछ वरदान भी सिद्ध होते हैं। सुविधाओं में चैतन्य उतना विकसित नहीं होता जितना कठिनाइयों में होता है। यदि कष्टों को सहन की मन स्थिति मन्द पड़ने लगी है तो इसका अर्थ नहीं है कि लौ बुझने के क्षणों में है। आचार्य भिक्षु को कठिनाइयों ने घेरा उसमें अचरज जैसा कुछ नहीं है। वेणीरामजी स्वामी को एक दिन में अनेक स्थानों से निकाला गया यह भी आश्चर्यपूर्ण नहीं है। आश्चर्य इस बात का है कि मेरे शासन-काल में ही मेरे शिष्यों के जीवन में उन कठिनाइयों की पुनरावृत्तियाँ हुई हैं जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है। यह हमारे विकास का सर्वोपरि हेतु है।

ग्राम-विहार

आचार्य भिक्षु ने विधान की एक धारा लिखी—साधु-साध्वियाँ गाँवों में रहें। जहाँ सरस आहार मिलता है, वहाँ उपकार न होने की दशा में भी साधु-साध्वियाँ अड्डा जमाके रहती हैं और जहाँ नीरस आहार मिलता है वहाँ उपकार होने की स्थिति में भी जाना पसन्द नहीं आता। अभी तक यह स्थिति रही है किन्तु मेरे गण में ऐसा न हो। चातुर्मास के दीर्घकाल में छोटे-छोटे गाँवों में रहने की स्थिति न हो तो शेषकाल में अवश्य रहें।

इस धारा ने तेरापथ को गाँव का धर्म बना दिया। उसका विकास गाँवों में हुआ है। हमारे अनुयायी नगरों में बहुत कम रहे हैं। आज जो नगरवासी हैं, वे इन्हीं वर्षों में विभिन्न परिस्थितियों में गाँवों को छोड़ कर नगरों में बसे हैं। ग्राम विहार के युग का जीवन दो सौ वर्ष का हो गया है; फिर भी वह उतना ही सार्थक और उतना ही महत्त्वपूर्ण है। मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न होने पर जब साधु-साध्वियाँ विहार करती हैं तब उन्हें आचार्य चातुर्मास के क्षेत्र का निर्देश देते हैं। समीपवर्ती गाँवों के नाम लिखकर दिए जाते हैं। शेष काल में उन्हें वहीं रहना होता है। चातुर्मास के क्षणों में वे विशेष बाधा से वहाँ रह सकते हैं। चातुर्मास की समाप्ति के बाद जब वे वापस आते हैं, तब वे किन किन गाँवों में कितनी रात रहे यह लिखकर आचार्य को निवेदन करते हैं।

दलबन्दी पर प्रहार

आचार्य भिक्षु ने आश्चर्य के साथ देखा कि साधुओं में भी दलबन्दियाँ हैं। उन्होंने विधान की एक धारा लिखी—गण का कोई साधु-साध्वी दलबन्दी न करे। विधान बना देना ही बस नहीं होता। उन्होंने विधान का प्रयोग होने से पूर्व साधु साध्वियों के सहर्ष हस्ताक्षर भी प्राप्त किए। भावी सन्तति के लिए उन्होंने ऐसा साहित्य रचा कि उनके आदेश सबके संस्कारों में घुलते गए। इसका सर्वोपरि श्रेय उनके महान भाष्यकार और व्यवस्थापक उत्तराधिकारी जयाचार्य को है। उनकी मनोवैज्ञानिक कृतियों में साधु-साध्वियों के मानस को शासन के रंग में रंगने की अपूर्व क्षमता है। जब व्यक्ति अपने या अपने से सम्बन्धित व्यक्तियों को अधिक महत्त्व देता है तब दलबन्दी का प्रसंग उपस्थित होता है। जब साम्प्रदायिक भावना विकसित होती है तब गुटबन्दी को अवसर नहीं मिलता। आचार्य ने व्यक्ति को कोरा व्यक्ति नहीं रहने दिया। उन्होंने उसे साम्प्रदायिक बनाने का यत्न किया। फलतः "धिक्को संयम न टिक्को" (दलबन्दी संयम का विनाश है) यह हमारा घोष हो गया। तेरापंथ जो अभी तक संगठित रहा तथा उसने शाखाओं को जन्म नहीं दिया इसका मुख्य हेतु दलबन्दी की मनोवृत्ति को बदल देने का सही प्रयत्न है।

एक आचार्य

आचार्य भिक्षु ने चाहा कि साधु और साध्वियाँ एक आचार्य के अनुशासन में रहें। साधुओं ने भी यही चाहा। विधान बन गया कि आचार्य एक ही हों शेष सब उनके आदेशवर्ती। अनुशासन का क्रम आगे बढ़ा। धीरे-धीरे आदेश व्यापक बन गया। अपना शिष्य कोई न बनाए यह सर्वमान्य हो चुका था। परन्तु उस समय किसी को दीक्षित करने का अधिकार आचार्य तक ही सीमित नहीं था। कोई साधु अथवा साध्वी किसी को दीक्षित करती तो उसे उन्हीं के पास रख दिया जाता। पुस्तक व पन्नों पर भी व्यक्तिगत अधिकार था। साधु-साध्वियों को एक सिंघाड़े से दूसरे सिंघाड़े में परिवर्तन करने की सुविधा भी नहीं थी। जयाचार्य की सूक्ष्म दृष्टि से ये कमियाँ बच नहीं पायीं। उन्होंने इन सारी परिस्थितियों में परिष्कार कर दिया। जयाचार्य के समय में अनुशासन और व्यवस्था का पथ प्रशस्त हो गया।

नई दिशाएँ

व्यवस्था व्यवहार की सुविधा के लिए है और अनुशासन जीवन की व्यवस्था के लिए। ये न कभी बद्ध होते हैं और न सीमित। आचार्यों ने जब-जब यह आवश्यक समझा तब-तब उन्होंने व्यवस्थाएँ दी और अनुशासन को व्यापक बनाया।

आचार्य भिक्षु हृदय परिवर्तन में विश्वास करते थे। अहिंसा और बल प्रयोग को वे उतना ही भिन्न मानते थे जितना भिन्न कोई दो अत्यन्त विरोधी पदार्थ होते हैं। अहिंसा की परिधि में अनुशासन आत्मा का ही होता है। आत्मानुशासन का सम्बन्ध है अपनी समझ से। समझ का विकास श्रुत से होता है। श्रुतोपासना के दो अंग हैं—अध्ययन और ग्रन्थनिर्माण। हमें इन दोनों को विकसित करने का उत्तराधिकार मिलता रहा है। प्रारम्भ में हमारा अध्ययन आगम-सूत्र व पुराणों तक ही सीमित था। जिस परम्परा से आदि सम्बन्ध था उसमें सम्भवतः संस्कृत का अध्ययन प्रचलित नहीं था। बहुत सम्भव है कि व्याकरण की गणना पापश्रुत में की इसलिए उसे पढ़ना निषिद्ध भी माना जाता हो। जयाचार्य से पहले संघ में संस्कृत पढ़ने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य भिक्षु ने गद्य और पद्य दोनों में कुल मिलाकर लगभग १८ हजार श्लोक परिमाण का साहित्य लिखा। उसकी भाषा शुद्ध मारवाड़ी है। उनके साहित्य का एक बड़ा भाग आगमों पर आधारित है इसलिए उसमें प्राकृत के प्रयोग हैं, पर संस्कृत के प्रयोग उसमें नहीं हैं। जयाचार्य ने संस्कृत में कोई रचना नहीं की। कई रचनाओं के मंगल श्लोक हैं, जो उन्होंने संस्कृत में रचे हैं। उन्होंने संस्कृत व्याकरण के कतिपय अंशों को मारवाड़ी दोहों में लिखा है। वे अपने उत्तराधिकारी मघराजजी को संस्कृत का विद्वान मानते थे। आचार्य मघराजजी ने संस्कृत का गम्भीर अनुशीलन किया। उनका एक लघु-स्तुति ग्रन्थ भी मिलता है।

जयाचार्य ने अपनी रचनाओं में अनेक संस्कृत ग्रन्थों को पद्यबद्ध किया तथा उनका अनुवाद किया है। लगता है, उस कार्य में दोनों—आचार्य और शिष्य का सम्मिलित प्रयत्न हो।

श्रुतोपासना के दो प्रयोजन होते हैं—१—जनहित संपादन और २—तत्त्व की उपलब्धि। जनहित संपादन की स्थिति में भाषा का प्रश्न गौण होता है। भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि उपयोगिता से सम्बन्धित रही। भाषावाद उन्हें प्रिय नहीं था।

उन्होंने जो कहा वह जनता की भाषा में कहा प्रचलित भाषा में कहा। आचार्य भिक्षु मारवाड़ (आधुनिक राजस्थान) के थे। उन्होंने मारवाड़ी में लिखा। वह जनता के लिये बहुत प्रेरक बना। उस समय तक हमारा विहार-क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं बना था और जनहित-सम्पादन में कोई कठिनाई नहीं थी। इसलिए संस्कृत के अध्ययन की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। संघर्षमय जीवन भी इस उपेक्षा का हेतु था।

जयाचार्य के समय संघ अपनी कुछ सीमाओं को पार कर चुका था। वे आचार्य भिक्षु के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व की विस्तृत व्याख्या करना चाहते थे। इस साध्य की सिद्धि के लिए तत्त्वों की उपलब्धि हो यह उन्हें अपेक्षा थी। इस परिस्थिति के सन्दर्भ में उन्होंने संस्कृत का मूल्य आँका और उसकी सुदीर्घ परम्परा में जो तत्त्वोपलब्धियाँ हुईं उन्हें हस्तगत करने का प्रयत्न किया। वे अपने प्रयत्न में सफल हुए, पर उस परम्परा को प्रवरणशील बनाने में उन्हें सफलता नहीं मिली।

पूज्य कालूगणी तेरापंथ के आठवें आचार्य थे और दीक्षा के क्रम में वे आचार्य मघराजजी के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने जयाचार्य की दृष्टि से देखा और आचार्य मघराजजी की मनोभावना को पकड़ा। उन्होंने स्वयं तप तपा और दूसरों को उस तपस्या का मूल्य समझाया। इससे संस्कृत का मूल दृढ़ हो गया।

जैन आगमों की भाषा प्राकृत (अर्धमागधी) है। उसे संस्कृत के माध्यम से पढ़ा जाता है। पर सच तो यह है कि संस्कृत से वह बहुत भिन्न है। यदि कोई आगम सूत्रों व प्राचीनतम व्याख्याओं को पढ़ना चाहे तो उसके लिए प्राकृत का अध्ययन अपेक्षित है। कालूगणी ने प्राकृत पढ़ने का पहला अवसर मुझे दिया। आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण मैंने कण्ठस्थ किया और अपने विद्यार्थी मुनि नथमल को भी मैंने वह कण्ठस्थ करवाया।

अतीत जितना मूल्यवान होता है उतना ही मूल्यवान वर्तमान और भविष्य भी है। सचाई केवल वर्तमान है। अतीत और भविष्य वर्तमान बनकर ही सचाई प्राप्त करते हैं। अतीत को ही समझ कर मनुष्य वर्तमान को सम्पन्न बना सकता है। जो भविष्य के सुनहरे स्वप्नों को आकार न दे, उसका वर्तमान सम्पन्न नहीं हो सकता। जो सामने है उसे न समझे तो उसका वर्तमान सम्पन्न कैसे होगा? अतीत की भाषाओं के माध्यम से हमने वर्तमान को समझने का यत्न किया। वर्तमान को पकड़ने में विलम्ब हुआ परन्तु बहुत नहीं। हिन्दी भाषा में मुझे भाषा की गति और प्रगति को देखने का अवसर या मिला। हमारे साधु-संघ के हिन्दी-साहित्य का इतिहास १६ वर्षों का है। इस अल्प अवधि में हम जो सफलता मिली है वह हमारे अतीत की परम्पराओं का ही परिणाम है। भारतीय वाङ्मय में जैन-साहित्य का अपना स्थान है। प्राकृत अपभ्रंश संस्कृत और तत्तद्देशीय भाषाओं में जैनाचार्यों व विद्वानों की लेखनी चिरकाल से प्रवहमान रही। सामग्री प्रचुर है। यदि उसे नया रूप मिले तो लेखक का कौशल सहज ही रूप पा ले। मैंने अतीत के आलोक से भी वर्तमान को आलोकित रखने के लिए अपने शिष्यों को प्रेरणा दी है।

अंग्रेजी अपनी समृद्धि से अन्तरराष्ट्रीय भाषा है। वर्तमान के ज्ञानार्जन का वह सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है। उसकी ओर पर्याप्त गति नहीं हुई है पर वह हमारी दृष्टि से ओझल भी नहीं है। जब कभी मैं प्रगति काल की भाषाओं को पढ़ता हूँ तो सचमुच अपने को विस्मय में पाता हूँ। पचास से कुछ ही वर्ष अधिक हुए होंगे—जब बीदासर (राजस्थान) के ठाकुर हुकुमसिंह ने एक संस्कृत श्लोक लिख भेजा था। उसका अर्थ समझने की स्थिति में एक भी साधु नहीं था। उस समय हमारे संघ की प्राथमिकता कसौटी पर थी। अभिजात अश्व भला चाबुक को कैसे सह सकता था? पूज्य कालूगणी के दिल में एक चुभन हो गई और उन्होंने अपने जीवन में अनेक साधुओं को संस्कृत में काव्य निर्माण करते हुए देखा और देखा कि उनकी इच्छा के अनुरूप तेरापंथ का सर्वांगीण संस्कृत व्याकरण सम्पन्न है। संस्कृत के आशुकवि साधुओं को देखने का अवसर उन्होंने मुझे दिया। वि॰ सं॰ २०२२ की बात है। एक रात को मैं सपने में अपने विद्यार्थी शिष्यों को सुना रहा था। मैंने कहा—आज हमारे संघ का संस्कृत अध्ययन पच्चीस वर्ष का प्रौढ़ हो गया है फिर भी संस्कृत में व्याख्यान देने की जितनी व्यापक क्षमता होनी चाहिए उतनी नहीं है। ठीक चार महीने के बाद मैंने सपने को साकार पाया और मुझे एक तुष्टि का अनुभव हुआ। मेरी अनुभूति और साधुसंघ की सफलता—इन दोनों के मध्य में विकास के बीज छिपे हुए हैं।

विकास का स्रोत-परिवर्तन

विकास की सबसे बड़ी बाधा है—रूढ़िवाद। जब तक विचार प्रवहमान रहते हैं तब तक उनमें स्वच्छता रहती है। जहाँ उनका प्रवाह रुका कि वे रूढ़ बन जाते हैं। रूढ़ियाँ अनावश्यक ही नहीं होतीं। व्यक्ति या समाज को जीवित

रहने के लिए देश-काल के अनुरूप रूढ़ि का भी आलम्बन लेना होता है। यह रूढ़िवाद नहीं है। रूढ़िवाद यह है जिसमें देश और काल के बदल जाने पर भी उस काल जनित स्थिति को न बदलने का आग्रह किया जाय। मैं नहीं जानता कि कोई भी व्यक्ति अथवा समाज रूढ़िवाद से सर्वथा मुक्त होता है। किन्तु मैं यह मानता हूँ कि जिन्हें अनेकान्त दृष्टि प्राप्त होती है वे रूढ़िवादी नहीं हो सकते। यह निष्कर्ष निकालने में मुझे कोई कठिनाई नहीं कि जो रूढ़िवादी हैं उन्हें अनेकान्त दृष्टि प्राप्त नहीं है। वे अपने में सत्य को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं यह समझने में कठिनाई होती है। सत्य का विकास हो सकता है, सम्प्रदाय का विकास न भी हो। सम्प्रदाय का विकास हो सकता है और सत्य का विकास न भी हो पर एक सच्चा व्यक्ति सत्य के विकास को ही विकास मान सकता है। सत्य विहीन सम्प्रदाय के विकास को वह कोई मूल्य नहीं देता।

आचार्य भिक्षु से पूछा गया—आपका गण कब तक चलेगा ?

आचार्य प्रवर ने उत्तर दिया—जब तक आचार और व्यवहार विशुद्ध रहेगा तब तक मेरा गण चलेगा। उनका गण क्या है—आचार और विचार की जो विशुद्धि है वही उनका गण है। उनका गण कोरी संख्या और कोरा आकार नहीं है।

तेरापन्थ के विकास का मूल आधार आचार और विचार दोनों की विशुद्धि है। विचार की विशुद्धि का पथ है—अनेकान्त दृष्टि। इसके बिना आचार अनाचार बन जाता है। भगवान् महावीर ने आग्रह या एकान्त दृष्टि को अनाचार कहा है। अनाचार से आचार प्रकट नहीं हो सकता। आचार आचार में से ही उद्भूत हो सकता है। विकास अविकास की अनुभूति में से उपजता है। सत्य का विकास तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक कषाय का अंश शेष रहता है। हमारा गण वीतराग व्यक्तियों का संघ नहीं है। साधु समुदाय जो है वह साधना के पथ पर है। साधना की तरतमता है। हमें इसका मद नहीं है कि हमारा विकास हुआ है। हम इसका उल्लास है कि हमें जो पथ मिला है वह साम्य की ओर ले जानेवाला है। मैं इसमें सन्तुष्ट हूँ कि मेरे गण के साधु-साध्वियों में शुद्ध दर्शन और चरित्र की आराधना की अभिलाषा है। वे विकास चाहते हैं तथा देश व काल को समक्ष रखते हुए भी अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं।

देश व काल को समझना एक समस्या है। सब व्यक्तियों का बौद्धिक विकास इतना नहीं होता कि वे सारी स्थितियों का यथार्थ अंकन कर सकें। उन्हें गीतार्थ ही समझ सकते हैं। अनुभूत वाणी है—गीतार्थ कहे तो तुम हलाहल विष भी पी लो। मत सोचो कि क्या होगा ? वह विष जैसा लगता है पर वास्तव में विष नहीं होता। उससे कोई मरता नहीं और यदि मरता भी है तो अमृत बन जाता है। अगीतार्थ के कहने से तुम अमृत भी मत पीओ। वह अमृत जैसा लगता है, पर वास्तव में वह अमृत नहीं होता। उसे पीनेवाला पीकर भी मृत जैसा हो जाता है।

मत ग्रहण के युग में स्थिति का निर्णय संख्या से होता है, पर साधना के क्षेत्र में बहुमत व अल्पमत का प्रश्न नहीं। सचाई का सम्बन्ध बहु या अल्प से नहीं होता। जो गीतार्थ हो मध्यस्थ हो वह अकेला भी सत्य के निकट होता है। अगीतार्थ अनेक होकर भी गण का हित सम्पादन नहीं कर सकते। विकास का पथ यह है कि गण गीतार्थ का अनुगमन करे। गण के साधु-साध्वियों ने ऐसा किया। उनकी प्रवृत्तियाँ सदा विकासोन्मुख रही हैं।

नव उन्मेष

हमने जो किया है अथवा जो पाया है वह पर्याप्त नहीं है हम यह मानकर चलते हैं। इसीलिए हम विकास के अवसर को अपने हाथों में सुरक्षित रखे हुए हैं। अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन इस अपर्याप्त चिन्तन की भावना से हुआ है। मैं अनेक बार यह सोचा करता था कि हमारे सम्पर्क में आनेवालों के जीवन में कोई परिवर्तन आता है या नहीं। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि लोगों में जितना भाव उपासना का है, उतना आचरण शुद्धि का नहीं है। आचरण शुद्धि के बिना उपासना का महत्त्व कितना होगा ? इस मानसिक द्वन्द्व ने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात कर डाला।

आचरण शुद्धि की आवश्यकता हमारे अनुयायियों को ही है, ऐसा मैं नहीं मानता। आचरण शुद्धि की प्रेरणा भी उन्हें ही देनी चाहिए, ऐसा भी मैं नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि पवित्र जीवन सबके लिए आवश्यक है तथा उसकी प्रेरणा सबको मिलनी चाहिए। इस विचार की भूमिका में आन्दोलन का स्वरूप ऐसा बना कि वह सर्वजन-प्रिय हो गया। मैं इस प्रवृत्ति को कोई सर्वथा नवीन नहीं मानता। इतना ही मानता हूँ कि इससे जनता और हम प्रभावित हुए हैं। जनता को एक

मार्गदर्शन मिला है। उसमें तेरापन्थ या जैन दर्शन को निकट से समझने का भाव बना है। और हम धर्म को सम्प्रदायातीत रखने व सम्प्रदायों को एक-दूसरे के निकट लाने का अवसर मिला है। आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो असाम्प्रदायिक स्वरूप समझाया उसी का व्यवस्थित व विकसित रूप है अणुव्रत आन्दोलन—ऐसा मैं मानता हूँ।

समता का विकास

जहाँ प्रशंसा है वहाँ आलोचना भी है; और जहाँ समर्थन है वहाँ विरोध भी। यह पक्ष कैसे हो सकता है जिसका प्रतिपक्ष न हो। आलोचना से हमारा विकास हुआ यह मैं नहीं कह सकता और यह भी नहीं कह सकता कि विरोध से हमारा कोई बहुत बड़ा हित सधा है। यदि ये नहीं होते तो सम्भव है हमारा गण और अधिक आकर्षण का केन्द्र बनता। विरोधी वातावरण ने अवश्य ही गतिरोध उत्पन्न किया है—यह एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि आलोचना और विरोध से हमने सीखा है तथा हमारी क्षमता का विकास हुआ है। हमें इस पर गर्व है कि हम विरोध का प्रतिकार विरोध से करना नहीं जानते। दो सौ वर्षों में हमने अभी तक किसी के विरोध में कुछ भी नहीं लिखा है। यह हमारे आत्म-विश्वास सम्यक्-निष्ठा और तितिक्षा का निदर्शन है। उसी प्रकार साम्प्रदायिक कट्टरता में हमारा विश्वास नहीं है उसका भी उदाहरण है। यह शान्ति और सहिष्णुता की परम्परा आचार्य भिक्षु से जन्मी और अपनी गति से निरन्तर विकासशील बनती गई।

हमारा भविष्य

विकास की धाराएँ अनेक होती हैं। उनका अपना-अपना क्षेत्र होता है। कुछ क्षेत्रों में हमने विकास किया है, कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनका किंचित् स्पर्श कर पाए हैं। और कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिनका स्पर्श भी अभी तक न हुआ हो।

विकास के लिये व्यक्ति अनन्त चक्षु बने इस विचार को मैं महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। हमें हमारी विशेषताओं का अनुभव हो यह अच्छी बात है। अपनी कमियों को हम न जान पाएँ, यह अच्छी बात नहीं। लोग मुझे जितना परिवर्तनवादी समझते हैं सम्भवतः मैं उतना नहीं हूँ। मैं स्थिति में भी विश्वास करता हूँ। एकान्त दृष्टि को मैं उचित नहीं मानता जिसे पकड़ कर कोई अपनी विशेषता ही देखे या कमियाँ ही देखे। गर्व जैसे विकास की बाधा है वैसे ही हीन भावना भी उसकी बाधा है। इन दोनों से बचा जाए—निर्बाध मार्ग यही है।

साधना के क्षेत्र में आज भी हमें पर्याप्त विकास करना है। जैन आगमों में अनशन की अपेक्षा ध्यान का अधिक महत्त्व है। अनशन बाह्य तप है ध्यान आन्तरिक तप। बाह्य तप की उपादेयता कम नहीं है और उसकी साधना भी कम नहीं है। इन दो सौ वर्षों में हमारे तपस्वी साधु-साध्वियों ने घोर तपस्याएँ की हैं। देहासक्ति में लीन व्यक्तियों के लिए उनकी कल्पना भी कठिन है।

ध्यान का अभ्यास जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण प्रयत्न मन्द कई शताब्दियों से लुप्त सा रहा है। उसीका प्रभाव हमारे गण पर भी पड़ा। सर्वतोमुखी विकास के लिए अनशन और ध्यान का सन्तुलन अपेक्षित है।

अनशन अस्वाद आसन लीनता विनय वैयावृत्य सेवा स्वाध्याय ध्यान आदि तपोयोग के सभी अंगों का समुचित विकास करना हमारा ध्येय है। मुझे विश्वास है कि हमारी विनय-प्रधान परंपरा में इसकी पूर्ति सहज संभव होगी। उमास्वाति के शब्दों में—विनय का फल है शुश्रूषा शुश्रूषा का फल है श्रुतज्ञान श्रुतज्ञान का फल है विरति विरति का फल है आस्रव-निरोध—संवर, संवर का फल है तप तप का फल है निर्जरा निर्जरा का फल है क्रिया-निवृत्ति क्रिया-निवृत्ति का फल है अयोग-दशा अयोग-दशा का फल है भव-सन्तति का क्षय और भव-सन्तति के क्षय का फल है मोक्ष।[1] सब कल्याण-हेतुओं का उद्गमस्थल विनय है। तेरापंथ के विकास का यही रहस्य है।

१—प्रशमरति—७२-७४

द्वितीय खंड

भ० ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता

(ले० कामताप्रसाद जैन)

"नाभिस्स णं कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छिंसि एत्थ णं उसहे णाम अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढम केवली पढमतित्थंकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थेज्जा।   अभिधानराजेन्द्र २।११२१

प्रथम राजा और प्रथम धर्मचक्रवर्ती

तीर्थंकर ऋषभ अथवा वृषभ श्रमणपरम्परा के मान्य पुरुष होने के साथ-साथ ब्राह्मण-परम्परा के भी आराध्यदेव थे। जैन ग्रंथो में उनको आदिपुरुष आदिराजा और आदिधर्मचक्रवर्ती कहा गया है। वह कौशलदेश के नरपुंगव थे। जब चतुर्थकाल का अन्त हो रहा था जिसमें मानव पाषाणकाय के विशेष प्रकार के वृक्षों से अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था अर्थात् वह वृक्षो के फल खाता और पाषाण की गुफाओं में रहता था तब उस आदिकाल में ऋषभ अयोध्या में जन्मे थे। उस काल को आज के एतिहासिको ने 'पाषाण-युग' (स्टोन-एज) के नाम से ठीक ही पुकारा है। उससे भी पहले से मनुष्य एक एसा निर्द्वन्द्व जीवन बिता रहा था जिसमें प्रेम था और आनन्द था। शेर और हिरन भी साथ-साथ विचरते थे। परिग्रह नाम को न था—इसीलिये घर-गृहस्थी की परम्परा भी नही थी। न कोई मालिक था और न कोई दास। अहिंसा का एकछत्र राज्य था। किन्तु समय न जनसंख्या बढाई और काल के प्रभाव से कल्पवृक्षो की संख्या घटी। लोग हैरान हुए, उनमें असन्तोष फैला जिसने संघर्ष को जन्म दिया। उनमें जो विशेष बुद्धिमान और विवेकशील था उसने उनका समझौता किया। वह 'मनु" कहलाया। चूकि उसने लोगो को कुलों (कबीलो-clans) में बाँटा इसीलिए वह "कुलकर" भी कहा गया। कालक्रम से ऐसे १४ कुलकर हुए। अयोध्या के नाभिराय उनमें सर्वअन्तिम कुलकर थे। मरुदेवी उनकी रानी थी। ऋषभ अथवा वृषभदेव उनके ही बेटे थे। माँ मरुदेवी न जो शुभ स्वप्न देख उनमें सबसे पहले एक सुन्दर सफेद बैल (वृषभ) था और शिशु ऋषभ जो जन्मे तो उनके उर भाग पर भी बैल का आकार शोभ रहा था (उरसु उसम लंछन उसमं)। इसीलिये माता और पिता न उनका नाम वृषभ अथवा ऋषभ रक्खा। ऋषभ उस सन्धिकाल में जन्मे जब पाषाणयुग-भोगभूमि की रचना मिट गई थी[1] और मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ हुआ एक मार्गदर्शक की प्रतीक्षा में था। ऋषभ ने मार्गदर्शन किया। तत्कालीन जनता के सामने भी खाद्य समस्या थी—आज से भी विकट। तब के लोग यह भी नही जानते थे कि वे खाद्यपदार्थ की पूर्ति कैसे करें? न वर्षा के लाभ वे जानते थे और न अग्नि का प्रयोग। बाँसो की रगड से जब वन में आग लगी तो वे भयभीत होकर भागे। सभ्य जीवन का निर्माण वे कैसे करें? ऋषभ को उन लोगों ने अपने में मेधावी पाया। वे उनकी शरण आये। सबसे पहले ऋषभ ने धरती और आकाश की देन धूप और वर्षा का उपयोग करने का पाठ पढाया और मनुष्य से कहा—"तू" भीख मत्थे उठाना छोड और श्रम करना सीख। जो श्रम करेगा उसी को धरती माँ निहाल कर देगी।' उन्होंने पूछा—"क्या श्रम करें? तो ऋषभ ने उनको खेती करना सिखाया—कृषि विज्ञान और अस्त्रों का आविष्कार किया। फिर इसके बाद मिट्टी के बर्तन बनाना कपडा बुनना आदि शिल्प कलाएँ भी उन्होंने बनाईं। इसी लिये आधुनिक विद्वान ऋषभ को कृषि काल (एग्रीकल्चरएज) का प्रवर्तक मानते हैं। वह ठीक अर्थ में मानवो के प्रथम राजा थे। उन्होंने ही तो मनुष्य मात्र को ठीक से अनाज उगा और रोटी बनाकर पेट भरना सिखाया था और तन ढकने का उपाय भी बताया था। साथ ही कुलपरम्परा द्वारा सामूहिक श्रम और सहयोग का महत्व भी उन्होंने बताया था। यही कारण है कि पुरातन जन समाज में ऋषभ "कृषि के देवता" और "कृषिराज" के रूप में मान्य हुये थे। और धरती माता के वेष में कृषि देवता के रूप में जो उनकी मूर्तियाँ बनी उनमें सींग भी बनाये गये क्योंकि उनका लाञ्छन

---

[1] महामस्स मौर्य अहिंसा के भ० ऋषभ विशेषांक में डा० धर्मक्रिया का लेख देखिये।

गैर था। किन्तु ऋषभ लोगों को भौतिक उत्कर्ष के उपाय बताकर ही संतुष्ट नहीं हुये क्योंकि वे जानते थे कि मानवीय मनोवृत्ति में जो असंतोष का विकार है और जिससे विषमता एवं संघर्ष पनपता है उसका इलाज भौतिक उत्कर्ष नहीं है। असीम इच्छाओं के असंतोष को सीमाबद्ध सामग्री संतुष्ट नहीं कर सकती। इसीलिये ऋषभ ने व्यक्ति को उसका यथार्थ रूप समझाया—मनुष्य हाड़-मांस का पुतला नहीं है, जो शरीर के साथ जन्मता और मरता रहे। इसकी आत्मा तो अजर और अमर है और है आनन्द का भंडार। इच्छाओं के विकार ने उसके आनन्द को मिटा दिया है। वह इस विकार को दूर करे। इसीलिये ऋषभ ने उसे वस्तुस्वभाव रूप धर्मविश्राम का पाठ पढ़ाया। अपनी देशना (धर्मोपदेश) रूपी जल से उन्होंने जगत की तृष्णाग्नि को शमन किया। (वर्षति सिञ्चति देशना जलेन दुखाग्निना दग्ध जगदिति) इसीलिये सामान्य लोगों ने उनको वर्षा का देवता माना। निस्संदेह यह पहले धर्मचक्रवर्ती थे यही कारण है कि उनकी मान्यता सारे लोक में फैली हुई मिलती है।

जैन विवरण से स्पष्ट है कि ऋषभ अथवा वृषभ जन समाज के आदि उपकारक राजा और धर्मप्रवर्तक थे। उस समय व्यक्ति-व्यक्ति में न तो कोई भेदभाव था और न कोई सम्प्रदाय ही। अतः साधारण जनता के वे राजा और कृषि देवता रहे और ज्ञानियों के लिये महान् धर्म प्रवर्तक महादेव। उनका ज्ञान अंग और पूर्वों में प्रवाहित होकर आज तक चला आ रहा है। ऋग्वेद (५२-१८) में जैन मान्यता के अनुरूप ही ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुखों का नाश करने वाला कहा गया है। उसमें लिखा है —

"असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो न पाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।"

"जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् है उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के शत्रुओं क्रोधादि का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और मुक्त) आत्माएं अपने ही आत्मगुणों से चमकती हैं, अतः वे ही राजा हैं—वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्मपतन नहीं होने देते। वर्षा के देवता की उपमा देकर वैदिक ऋषि ने ऋषभ की देशनारूपी जल को ही महत्ता दे रहे हैं। जैन मान्यता में ही पूर्वगत ज्ञान और ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। अतः ऋग्वेद के पूर्वज्ञाता ऋषभ तीर्थंकर-ऋषभ ही मानते हैं। ऐसा लगता है कि ऋग्वेदादि में उनको आदि-आराध्य मानकर उनका विशद वर्णन किया गया है, यद्यपि साम्प्रदायिक युग में भाष्यकारों ने अपना निराला ही अर्थ इन मंत्रों का किया। जब श्रमणों के ही परमाराध्य प्रथम तीर्थंकर बने तो भला परवर्ती वैदिक टीकाकार उनको कैसे मान्यता देते? किन्तु इससे असलियत मिट नहीं सकती। यही कारण है कि डा. राधाकृष्णन्, प्रो. विरूपाक्ष वाडियर प्रभृति विद्वान् वेदों में जैन तीर्थंकरों का उल्लेख हुआ मानते हैं। हिन्दू पुराण ग्रंथों जैसे विष्णु पुराण भागवत पद्मपुराण आदि में स्पष्ट ऋषभ एवं अन्य तीर्थंकर नाम के महापुरुषों को आर्हत (जैन) धर्म का प्रवर्तक लिखा है। अतः वेदों में जो निम्न प्रकार से ऋषभ का उल्लेख होता माना जावे तो अनुचित नहीं है।

"ऋग्वेद" में ऋषभ को सर्वप्रथम पूर्वज्ञान प्रचारक और मर्त्यों में पहले अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष ठीक जैनमान्यता के अनुरूप कहा है। देखिये —

"मखस्य ते तविषस्य प्रजूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीनामास मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा ॥२।३४।२

"हे आत्मदृष्टा प्रभु! परम सुख पाने के लिये मैं तेरी शरण में आता हूँ क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली है—उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभु! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।"

तीर्थंकर भगवान् पूर्व-ज्ञान का प्रसार समवशरण-सभा में सभी जीवों के हित के लिये गणधरों आदि के मध्य बैठकर करते हैं। "ऋग्वेद" (म १। अ १। सू १) में इसका भी उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है —

"प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥५।७॥

पुत्र भरत को दिया है। उसमें लिखा है कि ऋषभ भगवान ने हिमालय से सिद्धि प्राप्त की थी। वह व्रतों को पालने में दृढ थे। वही निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ जैनों के आप्तदेव थे —

'प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रत ॥१९॥
तस्यापि मणिचरो यक्ष सिद्धोहैमवत गिरौ।
ऋषभस्य भरत पुत्र सोऽपि मंजताल तदा जपेत ॥ १९१ ॥

— — — —

"निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्थ रूपि।"

इसप्रकार प्राचीन भारत के जैनेतर लोगों में भी ऋषभ की मान्यता थी। सम्भवतः ऋषभ के इस विशाल और विराट् रूप को देखकर ही कलिंग की प्रजा न उनको अपने राष्ट्र का आराध्यदेव माना था और उनकी मूर्ति "कलिंग जिन" के नाम से प्रसिद्ध हुई थी। जब नन्दराजा उस मूर्ति को मगध ले गये तो कलिंग उसके विछोह में तड़पता रहा। अंत में कलिंगचक्रवर्ती ऐल खारवेल ने मगध विजय करके इस राष्ट्रीय निधि को वापस कलिंग में लाकर विराजा था यह बात उनके हाथीगुफा वाले शिलालेख से स्पष्ट है।

उधर मात्र भारत में ही नहीं हम तो देखते हैं कि ऋषभदेव की मान्यता विदेशों में भी रही। सभी देशों के लोगों ने उनको किसी न किसी रूप में अपना आराध्यदेव माना। भारत के लिये यह कुछ कम गौरव की बात नहीं। आज ऋषभ को राष्ट्रीय सम्मान दिये जाने की आवश्यकता है। भारतीय पुरातत्त्व और मोहनजोदड़ो की मुद्राओं से भी ऋषभ का अस्तित्व प्रमाणित होता है।[1] निस्सन्देह वे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे।

मानवता के आदि पुरुष होने के नाते ऋषभ का लोकमान्य होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि भारतबाह्य देशों में भी वह किसी न किसी रूप में पूजे गये। कहीं वह 'कृषि के देवता' हुए, कहीं "वर्षा के देवता" और कहीं "सूर्यदेव" मानकर पूजे गये। "सूर्यदेव" उनके केवलज्ञान का द्योतक है। पूर्व में चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित हैं। चीनी त्रिपिटक में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको "रोकशब" (Rokshab) कह कर पुकारते हैं। मध्य एशिया मिश्र और यूनान में वे सूर्यदेव ज्ञान की अपेक्षा और फोनेशिया में "रेशफ" नाम से बैलचिह्न की अपेक्षा कहलाये। मध्य एशिया में वृषभ (बैल) देव (Bull God) अर्थात् "बाल आल" नाम से उल्लिखित किये गये। फणिक लोगों की भाषा में "रेशेफ" शब्द का अर्थ "सींगोंवाला देवता" होता है जो ऋषभ के बैल चिह्न का द्योतक है—साथ ही "रेशफ" शब्द का साम्य भी "ऋषभ" शब्द से है। प्रो आर जी० हर्षे ने "बुलेटिन आव दी डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट" (भा १४ अंक १ पृ २२९-२३६) में एक गवेषणात्मक लेख लिखकर इस साम्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि अलासिफ (साइप्रस) से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की ई पूर्व १२वीं शती की मूर्ति का अपर नाम "रेशफ" (Reshef) उसके लेख से स्पष्ट होता है। यह रेशेफ ऋषभ का ही अपभ्रंश रूप है और यह ऋषभ भारतीय नरेश नाभिपुत्र होना चाहिये। यूनान में सूर्यदेव अपोलो की ऐसी नग्न मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनका साम्य ऋषभ भगवान की मूर्तियों से है। डा कालीदास नाग ने मध्य एशिया में डेल्फी से प्राप्त एक आर्गिव मूर्ति का चित्र अपनी पुस्तक "डिस्कवरी आव एशिया" में दिया है जो लगभग दस हजार वर्ष पुराना है और बिल्कुल भ ऋषभ की दिगम्बर जैन मूर्तियों के समान है। ऋषभ मूर्ति की विशेषता कन्धों तक लहराती जटायें इसमें भी हैं। "आर्गिव" शब्द का अर्थ कदाचित् अग्रमानव या अग्रदेव के रूप में लिया जाता रहा प्रतीत होता है।

फणिक लोग जैनधर्मभक्त भी थे यह बात जैनशास्त्रों से प्रमाणित है। अतः फणिकों के "बाल" (Bull God) ऋषभ प्रतीत होते हैं। यह नाम प्रतीकवाद शैली का (Symbollo) है। फणिकों में प्रचलित एक प्राचीन

---

१ विशद जानकारी के लिये देखिये आदि तीर्थंकर ऋषभदेव पृ १३८-१४१ तथा "अहिंसा वाणी" का तीर्थंकर अंक (ऋ मल्लि मुनिसुव्रत नमि) विशेषांक।

कविता रसश्मरा नामक स्थान से मिली है, जो संभवतः प्रतीकवर्णों की असाहृत भाषा में है। उसके एक अंश का अनुवाद निम्न प्रकार होता है —

'बाऊक नगर-नगर घूमा वह ग्राम-ग्राम डोला
छयासठ नगर उसके हुए, सत्तरग्राम उसके हुए।
हाँ अस्सी थे बादल——————
बल्कि नब्बे थे बादल——————

– – – –

बाऊक ने बादलों को चीरा
उसकी पवित्र वाणी चहुँ ओर फैली–
बाऊक ने कहा——————
उसकी गरज से पृथ्वी की सभी उपत्यकायें काँपी। इत्यादि'

निस्संदेह ऋषभदेव ने अपने साधनाकाल में यत्रतत्र विहार किया था और कर्मप्रकृतियों का क्रमशः नाश करके वे पूर्ण ज्ञानी हुवे थ। तब उन्होंने सर्वत्र उपदेश दिया था। लगता है, भ ऋषभ की इस जीवन घटना का उल्लेख उक्त कविता में है। ११ ७७ ८ और ९ पर अधिकृत होने का अर्थ कर्म प्रकृतियों को जीतना हो सकता है। अतएव ऋषभ ने कर्मरूपी बादलों को चीर डाला था और सर्वज्ञता पाई थी। तब उनकी दिव्य ध्वनि—पवित्र वाणी—बादलों की गर्जना के समान होती थी जो चारो ओर फैली थी। उसे सुनकर पाप भार से लदी हुई पृथ्वी काँप गई थी इस प्रकार का भाव उपरोक्त कविता का हो सकता है। इन सादृश्यों से यह अनुमान तथ्यपूर्ण दीखता है कि इन विदेशों में भी तीर्थंकर ऋषभ मान्य हुए थे।
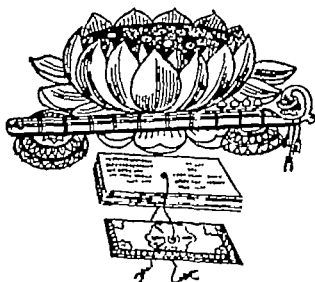
पालि वाङ्मय में भगवान श्री महावीर

(ले० मुनि श्री नगराज जी)

इतिहास के पृष्ठों पर यह एक निर्विवाद विषय है कि भगवान् श्री महावीर और भगवान् बुद्ध समकालीन थे। दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे। महावीर ज्ञातृवंश में उत्पन्न हुए थे इसलिये उन्हें ज्ञातृपुत्र प्राकृत भाषा में नातपुत्त कहा जाता है भगवान् बुद्ध शाक्यवंश में उत्पन्न हुए थे। इसलिए उन्हें शाक्यपुत्र कहा जाता था। दोनों ने ही युवावस्था में गृह त्याग कर भिक्षुचर्या का कठोर मार्ग अपनाया। दोनों के ही धर्मोपदेश विहार प्रदेश में विशेषकर राजगृही नालन्दा श्रावस्ती के अंचल में होते रहे हैं। दोनों के ही वृहद् भिक्षु समुदाय था। आज ढाईहजार वर्षों की दीर्घ अवधि के पश्चात् भी दोनों महापुरुष कोटि कोटि जनो के श्रद्धा भाजन बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो जाते हैं कि कार्यक्षेत्र और जीवन-व्यापार से निकटतम होने वाले दोनों युगपुरुष क्या कभी परस्पर मिले नहीं होंगे? यदि मिले हैं तो उनकी पारस्परिक चर्चाऐं क्या होंगी? दोनों के अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे रहे होंगे? प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं प्रश्नों पर कुछ विवेचन किया गया है।

भगवान् श्री महावीर और गौतम बुद्ध ने एक दूसरे का साक्षात्कार किया हो तथा एक-दूसरे से धर्मचर्चाऐं की हो ऐसा जैन आगमों में तथा बौद्ध त्रिपिटकों में कोई प्रमाण नहीं मिलता। जैन आगमों में मंखलिपुत्त गोशालक के विषय में विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु गौतम बुद्ध के विषय में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध त्रिपिटकों व अन्य आधार ग्रंथों में भगवान् महावीर का वर्णन यत्र तत्र अवश्य मिलता है। उस उपलब्ध वर्णन से भगवान् महावीर के व्यक्तित्व का पूरा मूल्यांकन करना सम्भव नहीं। उन वर्णनों से केवल यह जाना जा सकता है कि गौतम बुद्ध और उनके अनुगामी महावीर को किस दृष्टि से देखा करते थे तथा उनके प्रति उनके हृदय में कैसा भाव था। उन वर्णनों से दूसरा लाभ यह होता है कि हमें उस युग के इतिहास तत्व चिन्तन संस्कृति या सभ्यता का थोड़ा सा आभास मिल जाता है, और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि महावीर और गौतम बुद्ध परस्पर नहीं मिले हैं, तथापि वे एक ही दिन या तिथि में एक ही ग्राम या नगर में बहुत बार रहते रहे हैं। उनकी प्रेरणा से या स्वतः उनके अनुयायी एक दूसरे से चर्चा वार्ता भी करते रहे हैं।

भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध दोनों ने ही तत्कालीन जन-भाषा में अपने उपदेश दिये थे। वह जन-भाषा मागधी थी। भगवान् महावीर ने जिस भाषा में उपदेश दिये वह अर्द्धमागधी कही जाती है। समग्र जैन आगम अर्धमागधी भाषा में ही संकलित हुए हैं। भगवान्बुद्ध के उपदेशों को मागधी भाषा में पलियाय कहा जाता था। समयान्तर से वही शब्द बुद्धवचनों की भाषा का द्योतक बन गया। रूपान्तर पाकर आज वह पालि भाषा के रूप में जन-जन के मुख पर आ गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है—भगवान् बुद्ध के उपदेशों का प्रतिनिधित्व करने वाली पालि भाषा है। भगवान् बुद्ध के देह त्याग के पश्चात् राजगृह में महाकाश्यप प्रमृति बौद्ध भिक्षुओं की विराट संगीति हुई और बौद्ध धर्मके आधार ग्रंथ त्रिपिटकों व निकायों का संकलन हुआ। उस पालि वाङ्मय में भगवान् श्री महावीर के विषय में निम्नोक्त प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। पालि साहित्य में भगवान् महावीर को निगण्ठनातपुत्त (निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र) नाम से भी विशेषतः अभिहित किया गया है।

संयुक्त निकाय दहर सुत्त में बताया गया है—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में विहार करते थे। तब कौशलराज—प्रसेनजित जहाँ भगवान् थे वहाँ आया और भगवान् के साथ सम्मोदन कर आवभगत के शब्द समाप्त कर एक ओर बैठ गया।

एक ओर बैठ कौशलराज प्रसेनजित ने भगवान् को यह कहा—आप गौतम क्या अनुत्तरपूर्ण बुद्धत्व को पा लेने का दावा नहीं करते?

महाराज! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक कहे तो वह मुझ ही को कह सकता है। महाराज! मैंने ही उस अनुत्तर पूर्णबुद्धत्व का साक्षात्कार किया है।

होने का दावा करता है—। चलते खड़े होते सोते जागते व सदा सर्वदा ज्ञानदर्शन मौजूद (प्रत्युपस्थित) रहता है।" (तो भी) वह सूने घर में जाता है। (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता कुक्कुर भी काट खाता है, चंड हाथी से सामना पड़ जाता है, चंड घोड़े से भी सामना पड़ जाता है व चंड बैल से भी सामना पड़ जाता है। (सर्वज्ञ होने पर भी) स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र को पूछता है। ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)। पूछने पर कहता है—"सूने घर में हमारा जाना बदा था इसलिये गये। भिक्षा न मिलनी बदी थी इसलिये न मिली। कुक्कुर का काटना बदा था इसलिये काटा हाथी से मिलना बदा था इसलिए हाथी मिला। घोड़े का मिलना बदा था इसलिए मिला बैल का मिलना बदा था इसलिए मिला। वहाँ सन्दक! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता सर्वज्ञ सर्वदर्शी अपार ज्ञानदर्शन होने का दावा करते हैं। (तब) वह यह ब्रह्मचर्य (पथ) अनाश्वासिक (मन को सन्तोष न देने वाला) है यह जान उस ब्रह्मचर्य से उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उन भगवान् ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है।

मज्झिम निकाय सामगाम सुत्त में बताया गया है—'एक समय भगवान् शाक्य में सामगाम में विहार करते थे। तब चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ चुन्द समणोद्देस ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—हे भन्ते! निर्ग्रन्थ नातपुत्र अभी अभी पावा में मरे हैं। उनके मरने पर निर्ग्रन्थ लोग दो भाग हो भंडन कलह-विवाद करते एक दूसरे को मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे हैं। नातपुत्रीय निगण्ठों में मानों युद्ध हो रहा है।

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द समणोद्देस से कहा—"आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् है वहाँ चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

विनयपिटक में सिंह सेनापति की दीक्षा प्रकरण में बताया गया है—उस समय बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवी सस्थागार (प्रजातन्त्र सभागृह) में बैठे थे। एकत्रित हो बुद्ध का गुण बखानते थे धर्म का संघ का गुण बखानते थे। उस समय निगण्ठों (जैनों) का श्रावक सिंह सेनापति उस सभा में बैठा था। तब सिंह सेनापति के चित्त में हुआ— निःसंशय वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध होंगे तब तो बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवि बखान रहे हैं। क्यों न मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध के दर्शन के लिये चलूँ।"

तब सिंह सेनापति जहाँ निर्ग्रन्थनातपुत्र थे वहाँ गया। जाकर निर्ग्रन्थनातपुत्र से बोला—भन्ते! मैं श्रमण गौतम को देखने के लिये जाना चाहता हूँ।

"सिंह! क्रियावादी होते हुए तू क्या अक्रिया (अकर्म) वादी श्रमण गौतम के दर्शन को जाएगा। सिंह! श्रमण गौतम अक्रियावादी है श्रावकों को अक्रियावाद का उपदेश करता है।"

यह सुन सिंह सेनापति की भगवान् के दर्शन के लिए जाने की जो इच्छा थी वह शान्त हो गई।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

तीसरी बार उसके चित्त में हुआ पूछूं या न पूछूं निर्ग्रन्थनातपुत्र मेरा क्या करेगा? क्यों न निर्ग्रन्थनातपुत्र को बिना पूछे ही मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्ध के दर्शन के लिए जाऊँ?

तब सिंह सेनापति पाँच सौ रथों के साथ दिन ही दिन (दोपहर) को भगवान् के दर्शन के लिए वैशाली से निकला। जितना मार्ग (रथ) का रास्ता था उतना मार्ग से जाकर, यान से उतर कर, पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। सिंह सेनापति जहाँ भगवान् थे वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति ने भगवान् से यह कहा—"भन्ते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है अक्रिया के लिए धर्म-उपदेश करता है उसी की ओर शिष्यों को ले जाता है जो ऐसा कहता है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है क्या—वह भगवान् के बारे में—ठीक कहता है? झूठ से भगवान् की निन्दा तो नहीं करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? कोई सह-धार्मिक वादानुवाद तो निन्दित नहीं होता? भन्ते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते।"

सिंह! ऐसा कारण है जिस कारण से ठीक-ठीक कहते हुए ऐसा कहा जा सकता है श्रमण गौतम अक्रियावादी है। मैं कायदुश्चरित वचन दुश्चरित मन दुश्चरित को तथा अनेक प्रकार के पाप बुराइयों को अक्रिया कहता हूँ, उसी के लिए धर्म उपदेश करता हूँ। उसी की ओर शिष्यों को ले जाता हूँ। इसीलिए अक्रियावादी हूँ, सिंह।

होने का दावा करता है—। चलते खड़े होते सोते जागते व सदा सर्वदा ज्ञानदर्शन मौजूद (प्रत्युपस्थित) रहता है।" (तो भी) वह सूने घर में जाता है। (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता कुक्कुर भी काट खाता है, चंड हाथी से सामना पड़ जाता है चंड घोड़े से भी सामना पड़ जाता है व चंड बैल से भी सामना पड़ जाता है। (सर्वज्ञ होने पर भी) स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र को पूछता है। ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)। पूछने पर कहता है—"सूने घर में हमारा जाना बदा था इसलिये गये। भिक्षा न मिलनी बदी थी इसलिये न मिली। कुक्कुर का काटना बदा था इसलिये काटा हाथी से मिलना बदा था इसलिए हाथी मिला। घोड़े का मिलना बदा था इसलिए मिला बैल का मिलना बदा था इसलिए मिला। वहाँ सन्दक! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता सर्वज्ञ सर्वदर्शी अशेष ज्ञानदर्शन होने का दावा करते हैं। (तब) वह यह ब्रह्मचर्य (पथ) अनाश्वासिक (मन को सतोष न देने वाला) है यह जान उस ब्रह्मचर्य से उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उस भगवान् ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है।

मज्झिम निकाय सामगाम सुत्त में बताया गया है—'एक समय भगवान् शाक्य में सामगाम में विहार करते थे। तब चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे चुन्द समणोद्देस ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—हे भन्ते! निर्ग्रन्थ नातपुत्र अभी अभी पावा में मरे हैं। उनके मरने पर निर्ग्रन्थ लोग दो भाग हो भंडन कलह-विवाद करते एक दूसरे को मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे हैं। नातपुत्रीय निगण्ठो में मानो युद्ध हो रहा है।

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द समणोद्देस से कहा—"आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् हैं वहाँ चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

विनयपिटक में सिंह सेनापति की दीक्षा प्रकरण में बताया गया है—उस समय बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवी संस्थागार (प्रजातन्त्र सभागृह) में बैठे थ। एकत्रित हो बुद्ध का गुण बखानते थे धर्म का संघ का गुण बखानते थे। उस समय निगण्ठो (जैनो) का श्रावक सिंह सेनापति उस सभा में बैठा था। तब सिंह सेनापति के चित्त में हुआ— 'नि संशय वह भगवान् अर्हत सम्यग्-सबुद्ध होंगे तब तो बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवि बखान रहे हैं। क्यों न मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यग्-संबुद्ध के दर्शन के लिए चलूं।"

तब सिंह सेनापति जहाँ निर्ग्रन्थनातपुत्र थे वहाँ गया। जाकर निर्ग्रन्थनातपुत्र से बोला—भन्ते! मैं श्रमण गौतम को देखने के लिए जाना चाहता हूँ।

"सिंह! क्रियावादी होते हुए तू क्या अक्रिया (अकर्म) वादी श्रमण गौतम के दर्शन को जाएगा। सिंह! श्रमण गौतम अक्रियावादी है, श्रावकों को अक्रियावाद का उपदेश करता है।"

यह सुन सिंह सेनापति की भगवान् के दर्शन के लिए जाने की जो इच्छा थी वह शान्त हो गई।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

तीसरी बार उसके चित्त में हुआ पूछूं या न पूछूं, निर्ग्रन्थनातपुत्र मेरा क्या करेगा? क्यों न निर्ग्रन्थनातपुत्र को बिना पूछे ही मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यग् संबुद्ध के दर्शन के लिए जाऊं?

तब सिंह सेनापति पाँच सौ रथो के साथ दिन ही दिन (दोपहर) को भगवान् के दर्शन के लिए वैशाली से निकला। जितना यान (रथ) का रास्ता था उतना यान से जाकर, यान से उतर कर, पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। सिंह सेनापति जहाँ भगवान् थ वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ हुए सिंह सेनापति ने भगवान् से यह कहा— 'भंते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है अक्रिया के लिए धर्म-उपदेश करता है, उसी की ओर शिष्यों को ले जाता है जो ऐसा कहता है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है क्या—वह भगवान् के बारे में—ठीक कहता है? झूठ स भगवान् की निन्दा तो नही करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? कोई सह-धार्मिक वादानुवाद तो निन्दित नहीं होता? भन्ते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते।"

"सिंह! ऐसा कारण है जिस कारण से ठीक-ठीक कहते हुए ऐसा कहा जा सकता है श्रमण गौतम अक्रियावादी है। मैं कायदुश्चरित्र वचन दुश्चरित मन दुश्चरित की तथा अनेक प्रकार के पाप बुराइयो को अक्रिया कहता हूँ उसी के लिए धर्म उपदेश करता हूँ। उसी की ओर शिष्यों को ले जाता हूँ। इसीलिए अक्रियावादी हूँ सिंह!

होने का दावा करता है—। चलते, खड़े होते सोते जागते व सदा सर्वदा ज्ञानदर्शन मौजूद (प्रत्युपस्थित) रहता है।" (तो भी) वह सूने घर में जाता है। (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता कुक्कुर भी काट खाता है, चण्ड हाथी से सामना पड़ जाता है, चण्ड घोड़े से भी सामना पड़ जाता है व चण्ड बैल से भी सामना पड़ जाता है। (सर्वज्ञ होने पर भी) स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र को पूछता है। ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)। पूछने पर कहता है—'सूने घर में हमारा जाना बदा था इसलिये गये। भिक्षा न मिलनी बदी थी इसलिये न मिली। कुक्कुर का काटना बदा था इसलिये काटा हाथी से मिलना बदा था इसलिए हाथी मिला। घोड़े का मिलना बदा था इसलिए मिला, बैल का मिलना बदा था इसलिए मिला।' वहाँ सन्दक! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता सर्वज्ञ सर्वदर्शी अशेष ज्ञानदर्शन होने का दावा करते हैं। (तब) वह यह ब्रह्मचर्य (पथ) अनाश्वासिक (मन को सन्तोष न देने वाला) है यह जान उस ब्रह्मचर्य से उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उन भगवान् ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है।

मज्झिम निकाय सामगाम सुत्त में बताया गया है—"एक समय भगवान् शाक्य में सामगाम में विहार करते थे। तब चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे चुन्द समणोद्देस ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—हे भन्ते! निर्ग्रन्थ नातपुत्र अभी अभी पावा में मरे हैं। उसके मरने पर निर्ग्रन्थ लोग दो भाग हो भण्डन कलह-विवाद करते एक दूसरे को मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे हैं। नातपुत्रीय निगण्ठो में मानो युद्ध हो रहा है।

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द समणोद्देस से कहा—'आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् है वहाँ चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

विनयपिटक में सिंह सेनापति की दीक्षा प्रकरण में बताया गया है—उस समय बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवी सन्थागार (प्रजातन्त्र सभागृह) में बैठे थे। एकत्रित हो बुद्ध का गुण बखानते थे धर्म का संघ का गुण बखानते थे। उस समय निगण्ठो (जैनों) का श्रावक सिंह सेनापति उस सभा में बैठा था। तब सिंह सेनापति के चित्त में हुआ—"नि सशय वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध होंगे तब तो बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवि बखान रहे हैं। क्यों न मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध के दर्शन के लिए चलूं।"

तब सिंह सेनापति जहाँ निर्ग्रन्थनातपुत्र थे वहाँ गया। जाकर निर्ग्रन्थनातपुत्र से बोला—भन्ते! मैं श्रमण गौतम को देखने के लिये जाना चाहता हूँ।

"सिंह! क्रियावादी होते हुए तू क्या अक्रिया (अकर्म) वादी श्रमण गौतम के दर्शन को जाएगा। सिंह! श्रमण गौतम अक्रियावादी है, श्रावको को अक्रियावाद का उपदेश करता है।"

यह सुन सिंह सेनापति की भगवान् के दर्शन के लिए जाने की जो इच्छा थी वह शान्त हो गई।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

तीसरी बार उसके चित्त में हुआ पूछू या न पूछू, निर्ग्रन्थनातपुत्र मेरा क्या करेगा? क्यों न निर्ग्रन्थनातपुत्र को बिना पूछे ही मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शन के लिए जाऊं?

तब सिंह सेनापति पाँच सौ रथो के साथ दिन ही दिन (दोपहर) को भगवान् के दर्शन के लिए वैशाली से निकला। जितना यान (रथ) का रास्ता था उतना यान से जाकर, यान से उतर कर, पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। सिंह सेनापति जहाँ भगवान् थे वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति ने भगवान् से यह कहा—"भन्ते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है अक्रिया के लिए धर्म-उपदेश करता है उसी की ओर शिष्यों को ले जाता है जो ऐसा कहता है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है क्या—वह भगवान् के बारे में—ठीक कहता है? झूठ से भगवान् की निन्दा तो नहीं करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? कोई सह-धार्मिक वादानुवाद तो निन्दित नहीं होता? भन्ते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते।"

"सिंह! ऐसा कारण है जिस कारण से ठीक-ठीक कहते हुए ऐसा कहा जा सकता है श्रमण गौतम अक्रियावादी है। मैं कायदुश्चरित्र वचन दुश्चरित्र मन दुश्चरित्र को तथा अनेक प्रकार के पाप बुराइयो को अक्रिया कहता हूँ, उसी के लिए धर्म उपदेश करता हूँ। उसी की ओर शिष्यों को ले जाता हूँ। इसीलिए अक्रियावादी हूँ सिंह!

होने का दावा करता है—। चलते खड़े होते सोते जागते व सदा सर्वदा ज्ञानदर्शन मौजूद (प्रत्युपस्थित) रहता है।" (तो भी) वह सून घर में जाता है। (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता कुक्कर भी काट खाता है, चंड हाथी से सामना पड़ जाता है, चंड घोड़े से भी सामना पड़ जाता है व चंड बैल से भी सामना पड़ जाता है। (सर्वज्ञ होने पर भी) स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र को पूछता है। ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)। पूछने पर कहता है—"सून घर में हमारा जाना बदा था इसलिये गए। भिक्षा न मिलनी बदी थी इसलिए न मिली। कुक्कुर का काटना बदा था इसलिये काटा हाथी से मिलना बदा था इसलिए हाथी मिला। घोड़े का मिलना बदा था इसलिए मिला, बैल का मिलना बदा था इसलिए मिला।" वहाँ सन्दक! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता सर्वज्ञ सर्वदर्शी अशेष ज्ञानदर्शन होने का दावा करते हैं। (तब) वह यह ब्रह्मचर्य (पंथ) अनाश्वासिक (मन को संतोष न देने वाला) है यह जान उस ब्रह्मचर्य से उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उन भगवान् ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है।

मज्झिम निकाय सामगाम सुत्त में बताया गया है—"एक समय भगवान् शाक्य में सामगाम में विहार करते थे। तब चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे चुन्द श्रमणोद्देस ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—हे भन्ते! निर्ग्रन्थ नातपुत्र अभी अभी पावा में मरे हैं। उनके मरने पर निर्ग्रन्थ लोग दो भाग हो भंडन कलह-विवाद करते एक दूसरे को मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे हैं। नातपुत्रीय निगण्ठों में मानो युद्ध हो रहा है।

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द श्रमणोद्देस से कहा—"आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् हैं वहाँ चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

विनयपिटक में सिंह सेनापति की दीक्षा प्रकरण में बताया गया है—उस समय बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवी सन्थागार (प्रजातन्त्र सभागृह) में बैठे थे। एकत्रित हो बुद्ध का गुण बखानते थे धर्म का संघ का गुण बखानते थे। उस समय निगण्ठों (जैनों) का श्रावक सिंह सेनापति उस सभा में बैठा था। तब सिंह सेनापति के चित्त में हुआ—"निःसंशय वह भगवान् अर्हत् सम्यग्-सबुद्ध होंगे तब तो बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवि बखान रहे हैं। क्यों न मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यग्-सबुद्ध के दर्शन के लिए चलूं।"

तब सिंह सेनापति जहाँ निर्ग्रन्थनातपुत्र थे वहाँ गया। जाकर निर्ग्रन्थनातपुत्र से बोला—भन्ते! मैं श्रमण गौतम को देखने के लिए जाना चाहता हूँ।

"सिंह! क्रियावादी होते हुए तू क्या अक्रिया (अकर्म) वादी श्रमण गौतम के दर्शन को जाएगा। सिंह! श्रमण गौतम अक्रियावादी है श्रावकों को अक्रियावाद का उपदेश करता है।"

यह सुन सिंह सेनापति की भगवान् के दर्शन के लिए जाने की जो इच्छा थी वह शान्त हो गई।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

तीसरी बार उसके चित्त में हुआ पूछूं या न पूछूं, निर्ग्रन्थनातपुत्र मेरा क्या करेगा? क्यों न निर्ग्रन्थनातपुत्र को बिना पूछे ही मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यग् संबुद्ध के दर्शन के लिए जाऊँ?

तब सिंह सेनापति पाँच सौ रथों के साथ दिन ही दिन (दोपहर) को भगवान् के दर्शन के लिए वैशाली से निकला। जितना यान (रथ) का रास्ता था उतना यान से जाकर, यान से उतर कर, पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। सिंह सेनापति जहाँ भगवान् थे वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति ने भगवान् से यह कहा—"भन्ते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है अक्रिया के लिए धर्म-उपदेश करता है, उसी की ओर शिष्यों को ले जाता है जो ऐसा कहता है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है क्या—वह भगवान् के बारे में—ठीक कहता है? झूठ से भगवान् की निन्दा तो नहीं करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? कोई सह-धार्मिक वादानुवाद तो निन्दित नहीं होता? भन्ते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते।"

"सिंह! ऐसा कारण है जिस कारण से ठीक-ठीक कहते हुए ऐसा कहा जा सकता है, श्रमण गौतम अक्रियावादी है। मैं कायदुश्चरित वचन दुश्चरित मन दुश्चरित को तथा अनेक प्रकार के पाप बुराइयों को अक्रिया कहता हूँ उसी के लिए धर्म उपदेश करता हूँ। उसी की ओर शिष्यों को ले जाता हूँ। इसीलिए अक्रियावादी हूँ सिंह!"

होने का दावा करता है—। चलते खड़े होते सोते जागते व सदा सर्वदा ज्ञानदर्शन मौजूद (प्रत्युपस्थित) रहता है।"
(तो भी) वह सूने घर में जाता है। (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता कुक्कुर भी काट खाता है, चंड हाथी से सामना पड़ जाता है, चंड घोड़े से भी सामना पड़ जाता है व चंड बैल से भी सामना पड़ जाता है। (सर्वज्ञ होने पर भी) स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र को पूछता है। ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)। पूछने पर कहता है—"सूने घर में हमारा जाना बदा था इसलिये गये। भिक्षा न मिलनी बदी थी इसलिये न मिली। कुक्कुर का काटना बदा था इसलिये काटा हाथी से मिलना बदा था इसलिए हाथी मिला। घोड़े का मिलना बदा था इसलिए मिला बैल का मिलना बदा था इसलिए मिला। वहाँ सन्दक! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता सर्वज्ञ सर्वदर्शी अशेष ज्ञानदर्शन होने का दावा करते हैं। (तब) वह यह ब्रह्मचर्य (पथ) अनाश्वासिक (मन को संतोष न देने वाला) है यह जान उस ब्रह्मचर्य से उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उन भगवान् ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है।

मज्झिम निकाय सामगाम सुत्त में बताया गया है—"एक समय भगवान् शाक्य में सामगाम में विहार करते थे। तब चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ चुन्द समणोद्देश ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—हे भन्ते! निर्ग्रन्थ नातपुत्र अभी अभी पावा में मरे हैं। उनके मरने पर निर्ग्रन्थ लोग दो भाग हो, भंडन कलह-विवाद करते एक दूसरे को मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे हैं। नातपुत्तीय निगण्ठों में मानो युद्ध हो रहा है।

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द समणोद्देश से कहा— आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् हैं वहाँ चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

विनयपिटक में सिंह सेनापति की दीक्षा प्रकरण में बताया गया है—उस समय बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवी संस्थागार (प्रजातन्त्र सभागृह) में बैठे थे। एकत्रित हो बुद्ध का गुण बखानते थे धर्म का संघ का गुण बखानते थे। उस समय निगण्ठों (जैनों) का श्रावक सिंह सेनापति उस सभा में बैठा था। तब सिंह सेनापति के चित्त में हुआ—"निःसंशय वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध होंगे तब तो बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवि बखान रहे हैं। क्यों न मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध के दर्शन के लिए चलूँ।"

तब सिंह सेनापति जहाँ निर्ग्रन्थ नातपुत्र थे वहाँ गया। जाकर निर्ग्रन्थ नातपुत्र से बोला—भन्ते! मैं श्रमण गौतम को देखने के लिए जाना चाहता हूँ।

सिंह! क्रियावादी होते हुए तू क्या अक्रिया (अकर्म) वादी श्रमण गौतम के दर्शन को जाएगा। सिंह! श्रमण गौतम अक्रियावादी है, श्रावकों को अक्रियावाद का उपदेश करता है।"

यह सुन सिंह सेनापति की भगवान् के दर्शन के लिए जाने की जो इच्छा थी वह शान्त हो गई।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

तीसरी बार उसके चित्त में हुआ पूछूँ या न पूछूँ, निर्ग्रन्थ नातपुत्र मेरा क्या करेगा? क्यों न निर्ग्रन्थ नातपुत्र को बिना पूछे ही मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शन के लिए जाऊँ?

तब सिंह सेनापति पाँच सौ रथों के साथ दिन ही दिन (दोपहर) को भगवान् के दर्शन के लिए वैशाली से निकला। जितना यान (रथ) का रास्ता था उतना यान से जाकर, यान से उतर कर, पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। सिंह सेनापति जहाँ भगवान् थे वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति ने भगवान् से यह कहा—"भन्ते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है अक्रिया के लिए धर्म-उपदेश करता है, उसी की ओर शिष्यों को ले जाता है जो ऐसा कहता है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है, क्या—वह भगवान् के बारे में—ठीक कहता है? झूठ से भगवान् की निन्दा तो नहीं करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? कोई सह-धार्मिक वादानुवाद तो निन्दित नहीं होता? भन्ते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते।"

सिंह! ऐसा कारण है जिस कारण से ठीक-ठीक कहते हुए ऐसा कहा जा सकता है श्रमण गौतम अक्रियावादी है। मैं काय-दुश्चरित वचन-दुश्चरित मन-दुश्चरित को तथा अनेक प्रकार के पाप बुराइयों को अक्रिया कहता हूँ, उसी के लिए धर्म उपदेश करता हूँ। उसी की ओर शिष्यों को ले जाता हूँ। इसीलिए अक्रियावादी हूँ, सिंह!

होने का दावा करता है—। चलते खड़े होते सोते जागते न सदा सर्वदा ज्ञानदर्शन मौजूद (प्रत्युपस्थित) रहता है।" (तो भी) वह सून घर में जाता है। (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता कुक्कुर भी काट खाता है चंड हाथी से सामना पड़ जाता है, चंड घोड़े से भी सामना पड़ जाता है व चंड बैल से भी सामना पड़ जाता है। (सर्वज्ञ होने पर भी) स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र को पूछता है। ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)। पूछने पर कहता है—"सूने घर में हमारा जाना बदा था इसलिये गये। भिक्षा न मिलनी बदी थी इसलिये न मिली। कुक्कुर का काटना बदा था इसलिये काटा हाथी से मिलना बदा था इसलिए हाथी मिला। घोड़े का मिलना बदा था इसलिए मिला, बैल का मिलना बदा था इसलिए मिला।" यहाँ सन्दक! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता सर्वज्ञ सर्वदर्शी अशेष ज्ञानदर्शन होने का दावा करते हैं। (तब) वह यह ब्रह्मचर्य (धर्म) अनाश्वासिक (मन को सन्तोष न देने वाला) है यह जान उस ब्रह्मचर्य से उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उन भगवान् ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है।

मज्झिम निकाय सामगाम सुत्त में बताया गया है—"एक समय भगवान् शाक्य में सामगाम में विहार करते थे। तब चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे चुन्द समणोद्देस ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—हे भन्ते! निर्ग्रन्थ नातपुत्र अभी अभी पावा में मरे हैं। उनके मरने पर निर्ग्रन्थ लोग दो भाग हो भंडन कलह-विवाद करते एक दूसरे को मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे हैं। नातपुत्तीय निगण्ठों में मानो युद्ध हो रहा है।

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द समणोद्देस से कहा—"आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् हैं वहाँ चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

विनयपिटक में सिंह सेनापति की दीक्षा प्रकरण में बताया गया है—उस समय बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवी संस्थागार (प्रजातन्त्र सभागृह) में बैठे थे। एकत्रित हो बुद्ध का गुण बखानते थे धर्म का संघ का गुण बखानते थे। उस समय निगण्ठों (जैनों) का श्रावक सिंह सेनापति उस सभा में बैठा था। तब सिंह सेनापति के चित्त में हुआ—"निःसंशय वह भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध होंगे तब तो बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवि बखान रहे हैं। क्यों न मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध के दर्शन के लिए चलूं।

तब सिंह सेनापति जहाँ निर्ग्रन्थनातपुत्र थे वहाँ गया। जाकर निर्ग्रन्थनातपुत्र से बोला—भन्ते! मैं श्रमण गौतम को देखने के लिये जाना चाहता हूँ।

"सिंह! क्रियावादी होते हुए तू क्या अक्रिया (अकर्म) वादी श्रमण गौतम के दर्शन को जाएगा। सिंह! श्रमण गौतम अक्रियावादी है श्रावकों को अक्रियावाद का उपदेश करता है।"

यह सुन सिंह सेनापति की भगवान् के दर्शन के लिए जाने की जो इच्छा थी वह शान्त हो गई।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

तीसरी बार उसके चित्त में हुआ पूछूं या न पूछूं निर्ग्रन्थनातपुत्र मेरा क्या करेगा? क्यों न निर्ग्रन्थनातपुत्र को बिना पूछे ही मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शन के लिए जाऊं?

तब सिंह सेनापति पांच सौ रथों के साथ दिन ही दिन (दोपहर) को भगवान् के दर्शन के लिए वैशाली से निकला। जितना मार्ग (रथ) का रास्ता था उतना यान से जाकर, यान से उतर कर, पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। सिंह सेनापति जहाँ भगवान् थे वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति ने भगवान् से यह कहा—"भन्ते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है अक्रिया के लिए धर्म-उपदेश करता है, उसी की ओर शिष्यों को ले जाता है जो ऐसा कहता है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है क्या—वह भगवान् के बारे में—ठीक कहता है? झूठ से भगवान् की निन्दा तो नहीं करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? कोई सह-धार्मिक वादानुवाद तो निन्दित नहीं होता? भन्ते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते।"

सिंह! ऐसा कारण है जिस कारण से ठीक-ठीक कहते हुए ऐसा कहा जा सकता है, श्रमण गौतम अक्रियावादी है। मैं कायदुश्चरित वचन दुश्चरित मन दुश्चरित को तथा अनेक प्रकार के पाप बुराइयों को अक्रिया कहता हूँ उसी के लिए धर्म उपदेश करता हूँ। उसी की ओर शिष्यों को ले जाता हूँ। इसीलिए अक्रियावादी हूँ, सिंह!

भगवान् के भोजन पात्र से हाथ खींच लेने पर, सिंह सेनापति—एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति को भगवान् धार्मिक कथा से संदर्शन करा—आसन से उठकर चल दिये।

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक-कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया—"भिक्षुओं! जान बूझ कर (अपने) उद्देश से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे दुष्कृत का दोष हो। भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ (अपने लिये मारे को) देखे सुने सन्देह युक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की।"

इस प्रकार के और भी कुछ प्रसंग मज्झिम निकाय संयुक्तनिकाय दीघनिकाय विनयपिटक और अंगुत्तरनिकाय आदि ग्रंथों में भगवान् श्री महावीर तथा जैनधर्म के सम्बन्ध में मिलते हैं। कुछ रोचक हैं, कुछ तात्त्विक हैं। पर सभी प्रकरणों की भाव भाषा और शैली भगवान् बुद्ध को उच्चतम बनाने की रही है। एक-एक प्रकरण को यथार्थता की कसौटी पर कसना व उसकी गहरी मीमांसा में उतरना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। यहाँ तो मुख्य रूप से हमें यही देखना है कि पालि वाङ्मय में भगवान् श्री महावीर का क्या स्थान रहा है? प्रसंगोपात्त इस प्रश्न पर थोड़ा-बहुत अवश्य सोचा जा सकता है कि जैन आगमों में भगवान् बुद्ध का क्या स्थान रहा है? आश्चर्य यह है कि बौद्ध शास्त्र भगवान् श्री महावीर के विषय में जितने मुखर हैं, उतने ही भगवान् बुद्ध के विषय में जैन शास्त्र मौनाश्रयी हैं। भगवान् बुद्ध के नाम से वहाँ एक आध प्रसंग भी देखने को नहीं मिल रहा है। अवश्य सूत्रकृतांग आदि आगमों में जहाँ इतर मतों की मीमांसाएँ की गई हैं वहाँ स्वल्पतम रूप से बौद्ध मान्यताओं की भी कुछ चर्चाएँ मिलती हैं। इस तथ्य की वास्तविकता पर यदि हम पहुँचना चाहते हैं कि दोनों ही प्रकार के शास्त्रों में मुखरता और मौनाश्रयिता की नितान्त प्रतिकूल स्थिति क्यों? तो कुछ एक बुद्धिगम्य तथ्य हमारे सामने आते हैं—

(१) हो सकता है—शास्त्र संग्राहकों के चिन्तन में शास्त्र संकलन की अपनी-अपनी भिन्न मर्यादाएँ निश्चित की हुई हों। बौद्धों ने जिस शैली व स्तर को अभिमत किया हो उस प्रकार की शैली व स्तर जैन शास्त्र रचयिताओं को मान्य न हुई हो।

(२) हो सकता है जैनशास्त्रों की संकलना बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व हो चुकी हो।

(३) हो सकता है—बौद्ध-धर्म-संघ का जब उदय हुआ हो उस समय जैन-धर्म-संघ अपनी परिपूर्णता पर हो।

उक्त तीनों विकल्पों में भी तीसरा विकल्प वास्तविकता के अधिक निकट हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो परिपूर्ण और समर्थ होता है, वह बहुधा प्रतिपक्षी को साधारण समझकर उसकी उपेक्षा करता है। जो उदीयमान होता है, वह परिपूर्ण समकक्ष होने के लिये बहुधा आक्रामक भाव से प्रस्तुत होता है। जैन आगमों में जहाँ भगवान् बुद्ध के विषय में मौन स्थिति है वहाँ मक्खलीपुत्त गोशालक के विषय में वर्णन बाहुल्य भी है। जैन परम्परा में यह तो प्रचलित तथ्य है ही कि गोशालक का धर्म संघ भगवान् महावीर के धर्म संघ से बहुत बड़ा था। अस्तु इस सम्बन्ध में और भी अनेकों विकल्प खड़े जा सकते हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध त्रिपिटकों के रचनाकाल पर विचार करते हैं तो यह भी आभास होने लगता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर ही राजगृह में बौद्धभिक्षुसंघ की प्रथम संगीति हुई और वहीं वर्तमान त्रिपिटक साहित्य का संकलन हुआ। यह पूर्णतः यथार्थ नहीं है। हो सकता है, संगीति हुई हो बुद्ध के वचनों का संकलन हुआ हो। किन्तु यह मान लेने के लिये पर्याप्त आधार है कि पालि वाङ्मय का वर्तमान त्रिपिटकों के रूप में उस समय संग्रह नहीं हुआ था। सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में भिक्षु भिक्षुणियों उपासकों व उपासिकाओं को बुद्धवाणी में जिन संग्रहों को पढ़ने सुनने और कण्ठस्थ करने की प्रेरणाएँ दी हैं, उनमें वर्तमान त्रिपिटक संग्रहों का उल्लेख नहीं है। बहुत सम्भव है, प्रारम्भ में मगधराज अजातशत्रु के संरक्षण में भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य आर्यकश्यप उपालि आनन्द, प्रभृति पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं की संगीति में बुद्धवाणी का जो संकलन हुआ कालान्तर से होने वाली विभिन्न संगीतियों में रूपान्तर पाता हुआ भगवान् बुद्ध की समुद्दिष्ट वाणी का आज यह त्रिपिटकात्मक रूप है। इन आधारों पर हम यह भी कल्पना कर सकते हैं, पालि वाङ्मय में उपलब्ध भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग कालान्तर से होने वाली संगीतियों में बढ़ते हुए साम्प्रदायिक मनोभावों के कारण कल्पना और परम्परागत धाराओं से जोड़ दिये गये हों।

इन वृत्तान्तों को पढ़ने में एकमात्र यही लक्ष्य होना चाहिये कि हमें इतिहास और अनुसंधान की दृष्टि से क्या कुछ उनसे प्राप्त हो सकता है।

भगवान् के भोजन पात्र से हाथ खींच लेने पर, सिंह सेनापति—एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति को भगवान् धार्मिक कथा से संदर्शन करा—आसन से उठकर चल दिये।

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक-कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया—"भिक्षुओं! जान बूझ कर (अपने) उद्देश से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे दुष्कट का दोष हो। भिक्षुओ! अनुमति देता हूं (अपने लिये मारे को) देखे सुने सन्देह युक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की।

इस प्रकार के और भी कुछ प्रसंग मज्झिम निकाय संयुक्तनिकाय दीर्घनिकाय विनयपिटक और अंगुत्तरनिकाय आदि ग्रंथों में भगवान् श्री महावीर तथा जैनधर्म के सम्बन्ध में मिलते हैं। कुछ रोचक हैं, कुछ तात्त्विक हैं। पर सभी प्रकरणों की भाव भाषा और शैली भगवान् बुद्ध को उच्चतम बताने की रही है। एक-एक प्रकरण को यथार्थता की कसौटी पर कसना व उसकी गहरी मीमांसा में उतरना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। यहां तो मुख्य रूप से हमें यही देखना है कि पालि वाङ्मय में भगवान् श्री महावीर का क्या स्थान रहा है? प्रसंगोपात्त इस प्रसंग पर थोड़ा-बहुत अवश्य सोचा जा सकता है कि जैन आगमों में भगवान् बुद्ध का क्या स्थान रहा है? आश्चर्य यह है कि बौद्ध शास्त्र भगवान् श्री महावीर के विषय में जितने मुखर हैं, उतने ही भगवान् बुद्ध के विषय में जैन शास्त्र मौनाश्रयी हैं। भगवान् बुद्ध के नाम से वहां एक आध प्रसंग भी देखने को नहीं मिल रहा है। अवश्य सूत्रकृतांग आदि आगमों में जहां इतर मतों की मीमांसाएँ की गई हैं, वहां स्वल्पतम रूप से बौद्ध मान्यताओं की भी कुछ चर्चाएँ मिलती हैं। इस तथ्य की वास्तविकता पर यदि हम पहुँचना चाहते हैं कि दोनों ही प्रकार के शास्त्रों में मुखरता और मौनाश्रयिता की नितान्त प्रतिकूल स्थिति क्यों? तो कुछ एक बुद्धिगम्य तथ्य हमारे सामने आते हैं—

(१) हो सकता है—शास्त्र संग्राहकों ने चिन्तन में शास्त्र संकलन की अपनी-अपनी भिन्न मर्यादाएँ निश्चित की हुई हों। बौद्धों ने जिस शैली व स्तर को अभिमत किया हो इस प्रकार की शैली व स्तर जैन शास्त्र रचयिताओं को मान्य न हुई हो।

(२) हो सकता है जैनशास्त्रों की संकलना बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व हो चुकी हो।

(३) हो सकता है—बौद्ध-धर्म-संघ का जब उदय हुआ हो उस समय जैन-धर्म-संघ अपनी परिपूर्णता पर हो।

उक्त तीनों विकल्पों में भी तीसरा विकल्प वास्तविकताके अधिक निकट हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो परिपूर्ण और समर्थ होता है, वह बहुधा प्रतिपक्षी को साधारण समझकर उसकी उपेक्षा करता है। जो वर्धमान होता है, वह परिपूर्ण समकक्ष होने के लिये बहुधा आक्रामक भाव से प्रस्तुत होता है। जैन आगमों में जहां भगवान् बुद्ध के विषय में मौन स्थिति है वहां मक्खलीपुत्र गोशालक के विषयमें वर्णन बाहुल्य भी है। जैन परंपरामें यह तो प्रचलित तथ्य है ही कि गोशालक का धर्म संघ भगवान् महावीर के धर्म संघ से बहुत बड़ा था। अस्तु इस सम्बन्ध में और भी अनेकों विकल्प खड़े हो सकते हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध त्रिपिटकों के रचनाकाल पर विचार करते हैं तो यह भी आभास होने लगता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर ही राजगृह में बौद्धभिक्षुसंघ की प्रथम संगीति हुई और वहीं वर्तमान त्रिपिटक साहित्य का संकलन हुआ। यह पूर्णतः यथार्थ नहीं है। हो सकता है संगीति हुई हो बुद्ध के वचनों का संकलन हुआ हो। किन्तु यह मान लेने के लिये पर्याप्त आधार है कि पालि वाङ्मय का वर्तमान त्रिपिटकों के रूप में उस समय संग्रह नहीं हुआ था। सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में भिक्षु भिक्षुणियों उपासकों व उपासिकाओं को बुद्धवाणी में जिन संग्रहों को पढ़ने सुनने और कण्ठस्थ करने की प्रेरणाएँ दी हैं उनमें वर्तमान त्रिपिटक संग्रहों का उल्लेख नहीं है। बहुत सम्भव है प्रारंभ में मगधराज अजातशत्रु के संरक्षण में भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य आर्यकश्यप उपालि आनन्द, प्रभृति पांच सौ अर्हत् भिक्षुओं की संगीति में बुद्धवाणी का जो संकलन हुआ कालान्तर से होने वाली विभिन्न संगीतियों में रूपान्तर पाता हुआ भगवान् बुद्ध की संगृहीत वाणी का आज यह त्रिपिटकात्मक रूप है। इन आधारों पर हम यह भी कल्पना कर सकते हैं पालि वाङ्मय में उपलब्ध भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग कालान्तर से होने वाली संगीतियों में बढ़ते हुए साम्प्रदायिक मनोभावों के कारण कल्पना और परम्परागत आधारों से जोड़ दिये गये हों।

इन वृत्तान्तों को पढ़ने में एकमात्र यही उद्देश्य होना चाहिये कि हमें इतिहास और अनुसंधानकी दृष्टि से क्या कुछ उनसे प्राप्त हो सकता है।

भगवान् के भोजन पात्र से हाथ खींच लेने पर, सिंह सेनापति—एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति को भगवान् धार्मिक कथा से सदर्शन करा—आसन से उठकर चल दिये।

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक-कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया—"भिक्षुओं! जान बूझ कर (अपने) उद्देश से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे दुष्कृत का दोष हो। भिक्षुओं! अनुमति देता हूँ (अपने लिये मारे को) देखे सुने सन्देह युक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की।

इस प्रकार के और भी कुछ प्रसंग मज्झिम निकाय संयुत्तनिकाय दीर्घनिकाय विनयपिटक और अंगुत्तरनिकाय आदि ग्रंथों में भगवान् श्री महावीर तथा जैनधर्म के सम्बन्ध में मिलते हैं। कुछ रोचक हैं, कुछ तात्विक हैं। पर सभी प्रकरणों की भाव भाषा और शैली भगवान् बुद्ध को उच्चतम बताने की रही है। एक-एक प्रकरण को यथार्थता की कसौटी पर कसना व उसकी गहरी मीमांसा में उतरना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। यहाँ तो मुख्य रूप से हमें यही देखना है कि पालि वाङ्मय में भगवान् श्री महावीर का क्या स्थान रहा है? प्रसंगोपात्त इस प्रसंग पर थोड़ा-बहुत अवश्य सोचा जा सकता है कि जैन आगमों में भगवान् बुद्ध का क्या स्थान रहा है? आश्चर्य यह है कि बौद्ध शास्त्र भगवान् श्री महावीर के विषय में जितने मुखर हैं, उतने ही भगवान् बुद्ध के विषय में जैन शास्त्र मौनाश्रयी हैं। भगवान् बुद्ध के नाम से वहाँ एक भी प्रसंग भी देखने को नहीं मिल रहा है। अवश्य सूत्रकृताग आदि आगमों में जहाँ इतर मतों की मीमांसाएँ की गई हैं वहाँ स्वल्पतम रूप से बौद्ध मान्यताओं की भी कुछ चर्चाएँ मिलती हैं। इस तथ्य की वास्तविकता पर यदि हम पहुँचना चाहते हैं कि दोनों ही प्रकार के शास्त्रों में मुखरता और मौनाश्रयिता की नितान्त प्रतिकूल स्थिति क्यों? तो कुछ एक बुद्धिगम्य तथ्य हमारे सामने आते हैं—

(१) हो सकता है—शास्त्र संग्राहकों के चिन्तन में शास्त्र संकलन की अपनी-अपनी भिन्न मर्यादाएँ निश्चित की हुई हों। बौद्धों ने जिस शैली व स्तर को अभिमत किया हो इस प्रकार की शैली व स्तर जैन शास्त्र रचयिताओं को मान्य न हुई हो।

(२) हो सकता है जैनशास्त्रों की संकलना बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व हो चुकी हो।

(३) हो सकता है—बौद्ध-धर्म-संघ का जब उदय हुआ हो उस समय जैन-धर्म-संघ अपनी परिपूर्णता पर हो।

उक्त तीनों विकल्पों में भी तीसरा विकल्प वास्तविकता के अधिक निकट हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो परिपूर्ण और समर्थ होता है, वह बहुधा प्रतिपक्षी को साधारण समझकर उसकी उपेक्षा करता है। जो उदीयमान होता है, वह परिपूर्ण समकक्ष होने के लिये बहुधा आक्रामक भाव से प्रस्तुत होता है। जैन आगमों में जहाँ भगवान् बुद्ध के विषय में मौन स्थिति है वहाँ मंखलीपुत्त गोशालक के विषय में वर्णन बाहुल्य भी है। जैन परंपरा में यह तो प्रचलित तथ्य है ही कि गोशालक का धर्म संघ भगवान् महावीर के धर्म संघ से बहुत बड़ा था। अस्तु इस सम्बन्ध में और भी अनेकों विकल्प गढ़े जा सकते हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध त्रिपिटकों के रचनाकाल पर विचार करते हैं तो यह भी आभास होने लगता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर ही राजगृह में बौद्धभिक्षुगण की प्रथम संगीति हुई और वहीं वर्तमान त्रिपिटक साहित्य का संकलन हुआ। यह पूर्णतः यथार्थ नहीं है। हो सकता है, संगीति हुई हो बुद्ध के वचनों का संकलन हुआ हो। किन्तु यह मान लेने के लिये पर्याप्त आधार है कि पालि वाङ्मय का वर्तमान त्रिपिटकों के रूप में उस समय संग्रह नहीं हुआ था। सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में भिक्षु भिक्षुणियों उपासकों व उपासिकाओं को बुद्धवाणी में जिन संग्रहों को पढ़ने सुनने और कण्ठस्थ करने की प्रेरणाएँ दी हैं उनमें वर्तमान त्रिपिटक संग्रहों का उल्लेख नहीं है। बहुत सम्भव है, प्रारम्भ में मगधराज अजातशत्रु के संरक्षण में भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य आर्यकस्सप उपालि आनन्द, प्रभृति पाँच सौ अर्हद् भिक्षुओं की संगीति में बुद्धवाणी का जो संकलन हुआ कालान्तर से होने वाली विभिन्न संगीतियों में रूपान्तर पाता हुआ भगवान् बुद्ध की संगृहीत वाणी का आज यह त्रिपिटकात्मक रूप है। इन आधारों पर हम यह भी कल्पना कर सकते हैं, पालि वाङ्मय में उपलब्ध भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग कालान्तर से होने वाली संगीतियों में बढ़ते हुए साम्प्रदायिक मनोभावों के कारण कल्पना और परम्परागत आधारों से जोड़ दिये गये हों।

इन वृत्तान्तों को पढ़ने में एकमात्र यही उद्देश्य होना चाहिये कि हमें इतिहास और अनुसंधान की दृष्टि से क्या कुछ उनसे प्राप्त हो सकता है।

भगवान् के भोजन पात्र से हाथ खींच लेने पर, सिंह सेनापति—एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति को भगवान् धार्मिक कथा से संदर्शन करा—आसन से उठकर चल दिये।

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक-कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया—"भिक्षुओं! जान बूझ कर (अपने) उद्देश से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे दुष्कृत का दोष हो। भिक्षुओं! अनुमति देता हूँ (अपने लिए मारे को) देख सुने सन्देह युक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की।"

इस प्रकार के और भी कुछ प्रसंग मज्झिम निकाय संयुत्तनिकाय दीर्घनिकाय विनयपिटक और अंगुत्तरनिकाय आदि ग्रंथो में भगवान् श्री महावीर तथा जैनधर्म के सम्बन्ध में मिलते हैं। कुछ रोचक हैं, कुछ तात्विक हैं। पर सभी प्रकरणों की भाव भाषा और शैली भगवान् बुद्ध को उच्चतम बताने की रही है। एक-एक प्रकरण को यथार्थता की कसौटी पर कसना व उसकी गहरी मीमांसा में उतरना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। यहाँ तो मुख्य रूप से हमें यही देखना है कि पालि वाङ्मय में भगवान् श्री महावीर का क्या स्थान रहा है? प्रसंगोपात्त इस प्रसग पर थोड़ा-बहुत अवश्य सोचा जा सकता है कि जैन आगमो में भगवान् बुद्ध का क्या स्थान रहा है? आश्चर्य यह है कि बौद्ध शास्त्र भगवान् श्री महावीर के विषय में जितने मुखर हैं, उतने ही भगवान् बुद्ध के विषय में जैन शास्त्र मौनाश्रमी हैं। भगवान् बुद्ध के नाम से वहाँ एक भाव प्रसंग भी देखने को नही मिल रहा है। अवश्य सूत्रकृताग आदि आगमो में जहाँ इतर मतो की मीमांसाएँ की गई हैं वहाँ स्वल्पतम रूप से बौद्ध मान्यताओ की भी कुछ चर्चाएँ मिलती हैं। इस तथ्य की वास्तविकता पर यदि हम पहुँचना चाहते हैं कि दोनो ही प्रकार के शास्त्रो में मुखरता और मौनाश्रयिता की नितान्त प्रतिकूल स्थिति क्यो? तो कुछ एक बुद्धिगम्य तथ्य हमारे सामने आते हैं—

(१) हो सकता है—शास्त्र संग्राहकों के चिन्तन में शास्त्र संकलन की अपनी-अपनी भिन्न मर्यादाएँ निश्चित की हुई हों। बौद्धों ने जिस शैली व स्तर को अभिमत किया हो इस प्रकार की शैली व स्तर जैन शास्त्र रचयिताओ को मान्य न हुई हो।

(२) हो सकता है जैनशास्त्रो की सकलना बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व हो चुकी हो।

(३) हो सकता है—बौद्ध-धर्म-संघ का जब उदय हुआ हो उस समय जैन-धर्म-संघ अपनी परिपूर्णता पर हो।

उक्त तीनो विकल्पो में भी तीसरा विकल्प वास्तविकताके अधिक निकट हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो परिपूर्ण और समर्थ होता है, वह बहुधा प्रतिपक्षी को साधारण समझकर उसकी उपेक्षा करता है। जो उदीयमान होता है, वह परिपूर्ण समकक्ष होने के लिये बहुधा आक्रामक भाव से प्रस्तुत होता है। जैन आगमों में जहाँ भगवान् बुद्ध के विषय में मौन स्थिति है वहाँ मक्खलीपुत्त गोशालक के विषय में वर्णन बाहुल्य भी है। जैन परंपरा में यह तो प्रचलित तथ्य है ही कि गोशालक का धर्म संघ भगवान् महावीर के धर्म संघ से बहुत बड़ा था। अस्तु इस सम्बन्ध में और भी अनेको विकल्प गढ़े जा सकते हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध त्रिपिटको के रचनाकाल पर विचार करते हैं तो यह भी आभास होने लगता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर ही राजगृह में बौद्धभिक्षुसंघ की प्रथम संगीति हुई और वही वर्तमान त्रिपिटक साहित्य का सकलन हुआ। यह पूर्णत यथार्थ नहीं है। हो सकता है, संगीति हुई हो बुद्ध के वचनों का संकलन हुआ हो। किन्तु यह मान लेने के लिये पर्याप्त आधार है कि पालि वाङ्मय का वर्तमान त्रिपिटको के रूप में उस समय संग्रह नहीं हुआ था। सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखो में भिक्षु भिक्षुणियो, उपासको व उपासिकाओ को बुद्धवाणी में जिन संग्रहो को पढ़ने सुनने और कंठस्थ करने की प्रेरणाएँ दी हैं उनमें वर्तमान त्रिपिटक संग्रहो का उल्लेख नहीं है। बहुत सम्भव है, प्रारंभ में मगधराज अजातशत्रु के संरक्षण में भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य आर्यकस्सप उपालि आनन्द, प्रभृति पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओ की संगीति में बुद्धवाणी का जो संकलन हुआ कालान्तर से होने वाली विभिन्न संगीतियो में रूपान्तर पाता हुआ भगवान् बुद्ध की संगृहीत वाणी का आज यह त्रिपिटकात्मक रूप है। इन आधारो पर हम यह भी कल्पना कर सकते हैं, पालि वाङ्मय में उपलब्ध भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग कालान्तर से होने वाली संगीतियो में बढ़ते हुए साम्प्रदायिक मनोभावो के कारण कल्पना और परम्परागत आधारों से जोड़ दिये गये हो।

इन वृत्तान्तो को पढ़ने में एकमात्र यही उद्देश्य होना चाहिये कि हमें इतिहास और अनुसंधानकी दृष्टि से क्या कुछ उनसे प्राप्त हो सकता है।

इन्द्र-भूति

(ले० मुनि श्री दुलीचन्द जी)

संक्षिप्त परिचय—

'गौतम' भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य थ । उनका मुख्य नाम इन्द्रभूति था । गोतम उनका गोत्र था किन्तु बोलने म सरल तथा संक्षिप्त होने के कारण गौतम उनके नाम के रूप में ही व्यवहृत होने लगा[1] । व्यक्ति को गोत्र के नाम से पुकारने पुकारने की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चालू रही है आज भी अनेक व्यक्ति व्यासजी मुहणोत्री पाण्डयजी आदि नामों से पुकारे जाते हैं[2] । इन्द्रभूति पूर्वाश्रम में ब्राह्मण थे । राजगृह नगर के निकट गोबर नाम के एक छोटे से कस्बे में ईस्वीपूर्व ६ ७ में उनका जन्म हुआ था । उनके पिता का नाम वसुभूति एवं माता का नाम पृथिवी देवी था । वे वेद-शास्त्रों के पूर्णत विज्ञ ही नहीं किन्तु एक सुप्रसिद्ध अध्यापक भी थे । एक बड़ी सख्या में शिष्य उनके पास विद्याभ्यास करते थ ।

एक-याज्ञिक—

उन्ही दिनों में एक बार मध्य अपापा नगरी में सोमिल नाम के धनाढ्य ब्राह्मण न यज्ञ प्रारम्भ किया[3] । उस यज्ञ में अनेक ब्राह्मण पण्डितों को दूर-दूर स आमन्त्रित किया गया था । उनमें इन्द्रभूति (गौतम) आदि ग्यारह विद्वान् प्रमुख थे । गौतम के आगमन से यज्ञ जनता के आकर्षण का केन्द्र बन गया था । इन्द्रभूति अपने सैकड़ों शिष्यों के साथ इस यज्ञ में पहुँचे थे और पूर्ण दक्षता के साथ कार्य में जुटे हुए थे । इधर संयोगवश भगवान् महावीर को भी इसी अर्से में सर्वज्ञत्व प्राप्त हुआ वे अपनी विहारचर्या के अनुसार चलते हुये अपापानगरी में आये वहाँ शहर से बाहर महसेन उद्यान में समवसरण[4] रचा गया । अपार जनसमूह एव देवगणों के बीच भगवान् महावीर ने धर्मोपदेश प्रारम्भ किया । विमानों में बैठकर जब अन्तरिक्ष देव समवसरण भूमि की ओर जा रहे थे तब उन्हें देखकर इन्द्रभूति समझे कि ये सब यज्ञ भूमि में आ रहे हैं । वे गर्वित होकर उपस्थित लोगो से कहने लग कि देखा मेरे मन्त्रो का प्रभाव ! यज्ञ की आहुति लेने के लिये देवताओं के झुण्ड के झुण्ड आ रहे हैं । किन्तु उन्होंने जब देवताओ को यज्ञभूमि पारकर, आगे निकलते देखा तो विस्मय का ठिकाना न रहा । अनेक मनुष्य भी यज्ञभूमि को छोड़कर भगवान् महावीर के देशनास्थल में पहुँच रहे थे । गौतम न जब ये सुना कि ये सब देवता व मनुष्य सर्वज्ञ भगवान् महावीर के दर्शनार्थ समवसरण में जा रहे हैं, तो उनके गर्व को बड़ी ठेस पहुँची । वे मन ही मन सोचने लग अरे ! मेरे अतिरिक्त क्या और भी कोई सर्वज्ञ है ? नहीं नहीं ऐसा नही हो सकता ! अवश्य ही कोई धूर्त मनुष्य इन सब मूर्खों को ठग रहा है लगता है कि यह कोई धूर्त शिरोमणि है । इसने तो देवताओं को भी ठग लिया है । यही कारण है कि ये सब मेरी यज्ञाहुति को छोड़कर वहाँ जा रहे हैं । म इसे सहन नहीं कर सकता । भला एक म्यान में दो तलवार, एक आकाश में दो सूर्य और एक गुहा में दो सिंह कैसे रह सकते है ?

ज्ञान का उन्माद—

भगवान्[5] महावीर को वन्दन कर के आते हुए लोगो के मुँह से जब उनकी प्रशंसा सुनी तो इन्द्रभूति और भी भड़क उठे । उन्हें लगा कि महावीर कोई मायावी है, धूर्त है और इन्द्रजालिक है । उसने समस्त लोगो को भ्रम-जाल में फँसाया है ।

१—गणधरवाद पृ ५९-६६

२—महावीरनो संयमधर्म

३—गणधरवाद

४—देवताओं द्वारा रचित व्याख्यान भूमि

५—गणधरवाद

उसका प्रतिकार शीघ्र ही करना होगा। जिस प्रकार सूर्य तमजाल का अग्नि स्पर्श करने वाले का सिंह उसकी जटा को नोचनेवाले का एवं क्षत्रिय अपने वैरी का उन्मूलन कर देता है उसी प्रकार मैं भी अब भगवान् महावीर के प्रभाव का उन्मूलन करके ही विश्राम लूंगा। मेरे सामने अब कोई भी विद्वान् नहीं टिक सका तो महावीर की क्या बिसात है? गौड़ देश के विद्वान् मेरे भय से प्रकम्पित हैं इसी प्रकार गुर्जर वाले भी सन्त्रस्त हैं। मालव और तिर्लक देश के लोग मेरे भय से जमीन में गड़ जाते हैं। उनके सामने यह बेचारा किस खेत की मूली है? मैंने इस संसार में वादियों का दुर्भिक्ष कर दिया था परन्तु मुद्गशैली में कोरडू[1] की तरह न जाने यह कहाँ से बच गया है। इसको पराजित किये बिना मेरी समस्त विजय निष्फल है क्योंकि अवशिष्ट रहा हुआ थोड़ा सा भी शल्य प्राण ले लेता है। छोटा सा छिद्र भी पोत को जलमग्न कर सकता है। नींव में थोड़ी सी भी पोल दुर्ग का अहित कर सकती है।

इस प्रकार भगवान् महावीर को चर्चा में पराजित करने का निश्चय कर लेने के बाद गौतम वहाँ जाने की तैयारी करने लगे[2]। उन्होंने तदनुकूल वस्त्रादि धारण किये और अनेक शिष्यों से परिवृत होकर समवसरण भूमि की ओर चल पड़े। उनके शिष्य वादि-कन्दकुद्दाल वादि-मृगमृगारि, वादि-गणजीवक वादि-अन्धकारप्रदीपक वादि चक्रचूडामणि पण्डित शिरोमणि आदि अनेक विशेषणों से उनकी प्रशस्ति करते हुए चल रहे थे।

इन्द्रभूति मार्ग में चलते हुए मन ही मन में सोच रहे थे कि इसने यह सर्वज्ञता क्या आडम्बर रच रखा है। क्या इस कलमुंहे को और कुछ करने को नहीं सूझा। खैर, खद्योत का प्रकाश जब तक सूर्य न आये तब तक ही रहता है। हरिण आदि पशु वन में तब तक ही कुलाचे भरते हैं जब तक मृगराज वहाँ न आ जाये। मेरे पहुँच जाने से महावीर का यह समस्त पाखण्ड अब नामशेष होनेवाला ही है।

मैं तर्क व्याकरण साहित्य कोष सिद्धान्त अलंकार आदि अनेक शास्त्रों का पारगामी हूँ तीन लोक में विश्रुत हूँ। म सबके लिये अजेय हूँ। मेरे सामने विवाद में रह यह एक क्षण भी नहीं टिक सकेगा। अतः अनायास ही जनता का समस्त भ्रम दूर हो जायेगा और मेरे यज्ञानुष्ठान की अवज्ञा करके यहाँ आनेवालों को पश्चात्ताप ही नहीं, किन्तु लज्जित भी होना पड़ेगा।

समवशरण में—

इस प्रकार विचार करते हुए इन्द्रभूति ने भगवान् महावीर के समवशरण के प्रथम सोपान पर पैर रखा। वहाँ की अनुपम शोभा को देखकर वे चकित रह गये। स्फटिक सिंहासन पर आरूढ भगवान महावीर की विशालकाय दिव्यमूर्ति ऊपर महान् छाया हुआ अशोक वृक्ष चारों ओर प्रकाश पुञ्ज बिखेरता हुआ भामण्डल[3] तथा परितः उपदेशामृत पान करने को लालायित कोटि-कोटि मनुष्य देव और तिर्यंचों का समुदाय—यह सब देख कर इन्द्रभूति सहसा असमंजस में पड़ गये। उन्हें अपनी विजय के मनसूबे कच्ची भीत की तरह ढहते हुये दिखाई देने लगे। अपने शिष्य वर्ग के साथ इस प्रकार वहाँ आ जाना उन्हें अविचारित कार्य मालूम होने लगा। वे मन ही मन सोचने लगे मैंने यह कार्य ठीक नहीं किया। अपर मैं इस एकाकी को छोड़ भी देता तो क्या हानि थी? यह तो मैंने एक कील के लिये सम्पूर्ण प्रासाद को तोड़ गिराने जैसा कार्य कर डाला। अब पूर्वार्जित यश की रक्षा कैसे हो? आजन्मजैत्र नाम की रक्षा कैसे हो? कैसे अब इसके पास जाऊँ, किस प्रकार बोलने का साहस करूँ? हाय! मैं तो एक विचित्र प्रकार के संकट में पड़ गया हूँ। "इतो व्याघ्र इतस्तटी" की परिस्थिति से निकलना मेरे लिये कठिन हो गया है। अगर वापिस जाता हूँ तो लोगों में अपयश होने का भय है और आगे जाता हूँ तो प्रत्यक्ष ही पराभव दिखाई दे रहा है।

संशय-निवृत्ति—

इस प्रकार इन्द्रभूति सोच ही रहे थे कि भगवान् महावीर ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—इन्द्रभूते! गौतम!

१—उबालने पर भी जो कभी नहीं उबलता ऐसी किसी भी जाति के धान का दाना

२—गणधरवाद।

३—मुखाकृति के पीछे का ज्योतिर्वलय।

तुम आये हो ? इन्द्रभूति ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया और सोचने लगे कि यह तो मेरा नाम भी जानता है। मन के अहंकार ने जोर मारा तो सोचने लगे कि—मुझे कौन नहीं जानता ? मैं तो जगत्प्रसिद्ध हूँ। इन्द्रभूति इस प्रकार अपने विचारों में डूबते-उतराते ही थे कि भगवान् महावीर ने पुकारा उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा गौतम ! क्या तुम्हें आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय है ? इन्द्रभूति भगवान् के इस कथन से बड़े चकित हुए, क्योंकि उन्होंने अपने संशय की बात आज तक किसी के सामने नहीं रखी थी। बिना कुछ बतलाये ही जब भगवान् ने उनके संशय को जान लिया तब उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। वे बोले—हाँ ! भगवन् ! मुझे इस विषय में संशय बना ही रहता है, क्योंकि हमारे धर्मग्रन्थों में जहाँ "सर्व अयमात्मा ज्ञानमय" कहकर उसके अस्तित्व की बात कही है वहाँ अन्यत्र "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति" भी कह दिया है। इसलिये एक वाक्य से जहाँ ज्ञानमय आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, वहाँ दूसरे वाक्य से सिद्ध होता है कि[1] यह विज्ञानमय आत्मा भूत समुदाय से ही उत्पन्न होता है और उसी में विलीन भी होता है। उसके बाद उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता जो कि परलोक की संज्ञा धारण कर सके। इस प्रकार विरोधी वाक्य ही मुझे आत्मा के सम्बन्ध में संशयशील बना देते हैं। भगवान ने उनके संशय को दूर करते हुए कहा—गौतम तुमने इसका जो अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है। उसका अर्थ तो वस्तुतः दूसरा ही होना चाहिये। तुम विज्ञानघन का अर्थ "पृथ्वी आदि भूत-समुदाय से उत्पन्न चेतना-पिण्ड" करते हो परन्तु उसका वास्तविक तात्पर्य विविध ज्ञान पर्यायों से है। आत्मा में प्रतिक्षण नवीन ज्ञान पर्यायों का आविर्भाव और पूर्वकालीन ज्ञान पर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जब एक मनुष्य घट पदार्थ को देखता है या उसका चिन्तन करता है तब उसकी आत्मा में घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। उसे हम उस आत्मा की घट विषयक "ज्ञान पर्याय" कहते हैं। वही मनुष्य जब घट के पश्चात् पट आदि अन्यान्य पदार्थों का ज्ञान करता है, तब उसके पट विषयक ज्ञान का आविर्भाव तथा घट विषयक ज्ञान पर्याय का तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विभिन्न पदार्थ विषयक ज्ञान पर्यायों को ही "विज्ञान घन" के नाम से पुकारा गया है। उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त "भूत" शब्द में पृथ्वी आदि पाँच भूत ही न होकर ज्ञान के विषयभूत सभी जड़ और चेतन पदार्थ अन्तर्गर्भित होने चाहिये।

ज्ञान और ज्ञानी कथंचित् अभिन्न होते हैं, अतः यहाँ उसी दृष्टिकोण को सामने रखकर ज्ञान पर्यायों के आविर्भाव और तिरोभाव को विज्ञान घन आत्मा का आविर्भाव और तिरोभाव कहा गया है। "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इसका भी तात्पर्य "परलोक नहीं है" न होकर, "पूर्व ज्ञान पर्याय का उपयोग नहीं है" ऐसा है क्योंकि उपयोग वर्तमान पर्याय का ही रहता है पूर्व ज्ञान पर्याय का नहीं इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य से आत्मा की असत्ता सिद्ध न होकर उसकी सत्ता ही सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त धर्माचरण के क्षेत्र में दम दया और दान का सर्वत्र महत्व रहा है। यदि आत्मा का अस्तित्व न होता तो फिर दम अर्थात् इन्द्रियादि पर नियंत्रण रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसी प्रकार दया भी किस की की जाती है ? जब आत्मा ही भूतजन्य हो तो किसी को मार देने या कष्ट पहुँचाने से क्या अनिष्ट होने वाला है ? दान देने में भी पात्रापात्र के विवेक की कोई कसौटी अवशिष्ट न रह जायगी क्योंकि आत्मा के अभाव में संयमी और असंयमी का ही अभाव हो जायेगा और फिर दान का साध्य स्वपरका कल्याण ही नहीं रहेगा तब उस साधन की महत्ता ही क्या रह जायेगी ? अतः हे गौतम आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार दूध और घृत तिल और तैल फूल और सुरभि ऊपर से एक मालूम होते हैं, फिर भी पृथक पृथक हैं, उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी अलग अलग हैं।

प्रथम-गणधर—

भगवान् महावीर के इस उपदेश से गौतम संशयमुक्त हुए और पाँच सौ शिष्यों सहित उनके पास दीक्षित हो गये। वे प्रथम गणधर के रूप में सामने आये। उनके[2] गण में अनेक आचार्य उपाध्याय गणावच्छेदक आदि थे और प्रत्येक आचार्य आदि के पास सैकड़ों शिष्य रहा करते थे।

१—गणधरवाद
२—गणधरवाद

उसका प्रतिकार शीघ्र ही करना होगा। जिस प्रकार सूर्य तमजाल का अग्नि स्पर्श करने वाले का सिंह उसकी जटा को नोचनेवाले का एवं क्षत्रिय अपने वैरी का उन्मूलन कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अब भगवान् महावीर के प्रभाव का उन्मूलन करके ही विश्राम लूंगा। मेरे सामने अब कोई भी विद्वान् नहीं टिक सका तो महावीर की क्या बिसात है? गौड़ देश के विद्वान् मेरे भय से प्रकम्पित हैं इसी प्रकार गुर्जर वाले भी सन्त्रस्त हैं। मालव और तिलंग देश के लोग मेरे भय से जमीन में गड़ जाते हैं। उनके सामने यह बेचारा किस खेत की मूली है? मैंने इस संसार में वादियों का दुर्भिक्ष कर दिखलाया था परन्तु मूंग-रस्सी में कोरडू[1] की तरह न जाने यह कहाँ से बच गया है। इसको पराजित किये बिना मेरी समस्त विजय निष्फल है क्योंकि अवशिष्ट रहा हुआ थोड़ा सा भी शल्य प्राण ले लेता है। छोटा सा छिद्र भी पोत को जलमग्न कर सकता है। नींव में थोड़ी सी भी पोल दुर्ग का अहित कर सकती है।

इस प्रकार भगवान् महावीर को चर्चा में पराजित करने का निश्चय कर लेने के बाद गौतम वहाँ जाने की तैयारी करने लगे। उन्होंने तदनुकूल वस्त्रादि धारण किये और अनेक शिष्यों से परिवृत्त होकर समवशरण भूमि की ओर चल पड़े। उनके शिष्य वादि-कंसकृष्ण वादि-मृगमृगारि, वादि-गणगौतक वादि-तमतमप्रदीपक वादि चक्रचूड़ामणि पण्डित शिरोमणि आदि अनेक विशेषणों से उनकी प्रशस्ति करते हुए चल रहे थे।

इन्द्रभूति मार्ग में चलते हुए मन ही मन में सोच रहे थे कि इसने यह सर्वज्ञता क्या आडम्बर रच रखा है। क्या इस कलमुंहे को और कुछ करने को नहीं सूझा। खैर, खद्योत का प्रकाश जब तक सूर्य न आये तब तक ही रहता है। हरिण आदि पशु वन में तब तक ही कुलांचे भरते हैं, जब तक मृगराज वहाँ न आ जाये। मेरे पहुँच जाने से महावीर का यह समस्त पाखण्ड अब नामशेष होनेवाला ही है।

मैं तर्क व्याकरण साहित्य कोष सिद्धांत अलंकार आदि अनेक शास्त्रों का पारगामी हूँ तीन लोक में विजयी हूँ। मैं सबके लिये अजेय हूँ। मेरे सामने विवाद में वह यह एक क्षण भी नहीं टिक सकेगा। अतः अनायास ही जनता का समस्त भ्रम दूर हो जायेगा और मेरे यज्ञानुष्ठान की अवज्ञा करके यहाँ आनेवालों को पश्चात्ताप ही नहीं किन्तु लज्जित भी होना पड़ेगा।

समवशरण में—

इस प्रकार विचार करते हुए इन्द्रभूति ने भगवान् महावीर के समवशरण के प्रथम सोपान पर पैर रखा। वहाँ की अलौकिक शोभा को देखकर वे चकित रह गये। स्फटिक सिंहासन पर आरूढ़ भगवान महावीर की शिवाभिराम दिव्यमूर्ति ऊपर लहराता हुआ अशोक वृक्ष चारों ओर प्रकाश पुंज बिखेरता हुआ भामण्डल[3] तथा परिषद्[2] उपदेशामृत पान करने को लालायित कोटि-कोटि मनुष्य देव और तिर्यंचों का समुदाय—यह सब देख कर इन्द्रभूति सहसा असमंजस में पड़ गये। उन्हें अपनी विजय के मनसूबे कच्ची भीत की तरह ढहते हुये दिखाई देने लगे। अपने शिष्य वर्ग के साथ इस प्रकार वहाँ आ जाना उन्हें अविचारित कार्य मालूम होने लगा। वे मन ही मन सोचने लगे मैंने यह कार्य ठीक नहीं किया। अगर मैं इस एकवादी को छोड़ भी देता तो क्या हानि थी? यह तो मैंने एक कील के लिये सम्पूर्ण प्रासाद को तोड़ गिराने जैसा कार्य कर डाला। अब पूर्वार्जित यश की रक्षा कैसे हो? जयश्रीक नाम की रक्षा कैसे हो? कैसे अब इसके पास जाऊँ, किस प्रकार बोलने का साहस करूँ? हाय! मैं तो एक विचित्र प्रकार के संकट में पड़ गया हूँ। "इतो व्याघ्र इतस्तटी" की परिस्थिति से निकलना मेरे लिये कठिन हो गया है। अगर वापिस जाता हूँ तो लोगों में अपयश होने का भय है और आगे जाता हूँ तो प्रत्यक्ष ही पराजय दिखाई दे रही है।

संशय-निवृत्ति—

इस प्रकार इन्द्रभूति सोच ही रहे थे कि भगवान् महावीर ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—इन्द्रभूते! गौतम!

१—उबालने पर भी जो कभी नहीं उबलता ऐसी किसी भी जाति के धान का दाना

२—गणधरवाद।

३—मुखाकृति के पीछे का ज्योतिर्मंडल।

तुम आये हो ? इन्द्रभूति ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया और सोचने लगे कि यह तो मेरा नाम भी जानता है। मन के अहंकार ने जोर मारा तो सोचने लगा कि—मुझे कौन नहीं जानता ? मैं तो जगत्प्रसिद्ध हूँ। इन्द्रभूति इस प्रकार अपने विचारों में उथल-पुथल कर ही रहे थे कि भगवान् महावीर ने पुकारा उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा गौतम ! क्या तुम्हें आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय है ? इन्द्रभूति भगवान् के इस कथन से बड़े चकित हुए, क्योंकि उन्होंने अपने संशय का बात आज तक किसी के सामने नहीं रखी थी। बिना कुछ बतलाए ही जब भगवान् ने उनके संशय को जान लिया तब उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। वे बोले—हाँ ! भगवन् ! मुझे इस विषय में संशय बना ही रहता है क्योंकि हमारे धर्मग्रन्थों में जहाँ 'सर्व अयमात्मा ज्ञानमय" कहकर उसके अस्तित्व की बात कही है वहाँ अन्यत्र 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति" भी कह दिया है। इसलिये एक वाक्य से जहाँ ज्ञानमय आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, वहाँ दूसरे वाक्य से सिद्ध होता है कि यह विज्ञानमय आत्मा भूत समुदाय से ही उत्पन्न होता है और उसी में विलीन भी होता है। उसके बाद उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता जो कि परलोक की सत्ता धारण कर सके। इस प्रकार विरोधी वाक्य ही मुझे आत्मा के सम्बन्ध में संशयशील बना देते हैं। भगवान ने उनके संशय को दूर करते हुए कहा—गौतम तुमने इसका जो अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है। उसका अर्थ तो वस्तुतः दूसरा ही होना चाहिये। तुम विज्ञानघन का अर्थ "पृथ्वी आदि भूत-समुदाय से उत्पन्न चेतना-पिण्ड' कहते हो परन्तु उसका वास्तविक तात्पर्य विविध ज्ञान पर्यायों से है। आत्मा में प्रतिक्षण नवीन ज्ञान पर्यायों का आविर्भाव और पूर्वकालीन ज्ञान पर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जब एक मनुष्य घट पदार्थ को देखता है या उसका चिन्तन करता है तब उसकी आत्मा में घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। उसे हम उस आत्मा की घट विषयक ज्ञान पर्याय" कहते हैं। वही मनुष्य जब घट के पश्चात् पट आदि अन्यान्य पदार्थों का ज्ञान करता है, तब उसके पट विषयक ज्ञान का आविर्भाव तथा घट विषयक ज्ञान पर्याय का तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विभिन्न पदार्थ विषयक ज्ञान पर्यायों को ही 'विज्ञान घन" के नाम से पुकारा गया है। उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त 'भूत" शब्द में पृथ्वी आदि पाँच भूत ही न होकर ज्ञान के विषयभूत सभी जड़ और चेतन पदार्थ अन्तर्गर्भित होने चाहिये ।

ज्ञान और ज्ञानी कथंचित् अभिन्न होते हैं अतः यहाँ उसी दृष्टिकोण को सामने रखकर ज्ञान पर्यायों के आविर्भाव और तिरोभाव को विज्ञान घन आत्मा का आविर्भाव और तिरोभाव कहा गया है। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति" इसका भी तात्पर्य "परलोक नहीं है" न होकर, "पूर्व ज्ञान पर्याय का उपयोग नहीं है" ऐसा है क्योंकि उपयोग वर्तमान पर्याय का ही रहता है, पूर्व ज्ञान पर्याय का नहीं इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य से आत्मा की असत्ता सिद्ध न होकर उसकी सत्ता ही सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त धर्माचरण के क्षेत्र में दम दया और दान का सर्वत्र महत्त्व रहा है। यदि आत्मा का अस्तित्व न होता तो फिर दम अर्थात् इन्द्रियादि पर नियन्त्रण रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसी प्रकार दया भी किस की की जाती है ? जब आत्मा ही भूतजन्य हो तो किसी को मार देने या कष्ट पहुँचाने से क्या अनिष्ट होने वाला है ? दान देने में भी पात्रापात्र के विवेक की कोई कसौटी अवशिष्ट न रह जायेगी क्योंकि आत्मा के अभाव में संयमी और असंयमी का ही अभाव हो जायेगा और फिर दान का साध्य स्वपरका कल्याण ही नहीं रहेगा तब उस साधन की महत्ता ही क्या रह जायेगी ? अतः हे गौतम आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार दूध और घृत तिल और तैल फूल और सुरभि ऊपर से एक मालूम होते हैं, फिर भी पृथक् पृथक् हैं, उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी अलग अलग हैं।

प्रथम-गणधर—

भगवान् महावीर के इस उपदेश से गौतम संशयमुक्त हुए और पाँच सौ शिष्यों सहित उनके पास दीक्षित हो गये। वे प्रथम गणधर के रूप में सामने आये। उनके[1] गण में अनेक आचार्य उपाध्याय गणावच्छेदक आदि थे और प्रत्येक आचार्य आदि के पास सैकड़ों शिष्य रहा करते थे।

१—गणधरवाद

२—गणधरवाद

गौतम यद्यपि भगवान् महावीर के सब से बड़े शिष्य थे फिर भी वे भगवान् के निकट एक छोटे से अबोध बालक की तरह रहते थे। बड़ों के साथ किस प्रकार रहना चाहिये व किस प्रकार आचरण करना चाहिये यह उनके जीवन से बहुत सुगमता से सीखा जा सकता है। वे बारह अंगो के रचयिता व वेद शास्त्रो के विशेष ज्ञाता थे। इतना होते हुए भी भगवान् महावीर के समीप साधारण से साधारण बात पूछते रहते थे। उनके प्रश्नो का ध्येय स्वयं विशेष जानकारी प्राप्त करने तथा साधारण लोगो में ज्ञान की अभिवृद्धि करने का रहता था। प्रश्न हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता किन्तु कोई समर्थ व्यक्ति यदि प्रश्न करता है तो उसका लाभ अनेक व्यक्ति उठा सकते हैं। गौतम जिस प्रकार सर्वजन उपयोगी एवं सरल शैली से प्रश्न रखते थे उसी प्रकार भगवान महावीर उनके उत्तर भी अत्यन्त सुगम एवं आशुबोध भाषा में देते थे। गणधर गौतम एवं भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर मुख्यतया प्रज्ञापना तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में देखने को मिलते हैं।

केशीकुमार श्रमण और गौतम—

गौतम स्वामी भगवान महावीर के सिद्धान्तो के अनुपम प्रसारक थे। उन सिद्धान्तों के विषय में की जाने वाली आशंकाओ का वे स्वयं इतना सरल और सरस उत्तर दिया करते थे कि जिज्ञासु व्यक्ति तत्काल ही उसके रहस्य को पा लेता था।[1]

एक[2] बार भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के आचार्य केशीकुमार श्रमण विहार करते हुवे श्रावस्ती नगरी के तिंदुक नामक उद्यान में ठहरे। उसीसमय गौतम स्वामी भी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उसी नगरी में आ पहुँचे एवं नगर के बाहर कोष्ठक नामक उद्यान में ठहरे। दोनो एक ही नगरी में थे अतः परस्पर दोनों के शिष्यो का भिक्षा आदि के समय मिलना स्वाभाविक ही था। जब उन्होंने परस्पर एक दूसरे के रहन सहन व क्रिया कलाप में भेद देखा तो एक प्रकार का ऊहापोह खड़ा हो गया। वे परस्पर एक दूसरे से कहने लगे कि भगवान् महावीर का उपदिष्ट यह पाँच महाव्रत (शिक्षायें) वाला धर्म कैसा ? इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का यह चार महाव्रत (चातुर्याम) वाला धर्म कैसा ? इसी प्रकार अचेलता और सचेलता को लेकर भी यही ऊहापोह था। सभी सोचने लगे थे कि एक ही कार्य के लिये पराक्रम करने वालो में यह भेद क्यो है ?

शिष्यो के मन में इस प्रकार की ऊहापोह देखकर केशीकुमार श्रमण तथा गौतम दोनो ने ही परस्पर मिलने का निश्चय किया। पार्श्वनाथ की परम्परा भगवान् महावीर से पहले की थी। इस कारण अपने से पर्याय में बड़े समझ कर गौतम स्वामी तिंदुक वन में आये।

केशीकुमार श्रमण ने उनका अच्छा सत्कार व सम्मान किया बैठने के लिये उचित दर्भ आदि के आसन दिये। उससमय अनेक सम्प्रदायो के गृहस्थ लोग व साधु इस अपूर्व चर्चा को सुनने के लिये एकत्रित हुए। केशीकुमार ने गौतम से प्रश्न करते हुए कहा—भगवान् पार्श्वनाथ तथा महावीर एक ही पथ के पथिक हैं, फिर भी उनकी इस महाव्रतो की मान्यता में विभेद क्यो है ? भगवान् पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतो की प्ररूपणा की इसका क्या कारण हो सकता है ?

गौतम स्वामी ने कहा—"भन्ते ! अपनी-अपनी प्रज्ञा के अनुसार ही मनुष्य धर्मतत्व का निर्णय और आचरण कर सकता है। आदिकाल के मनुष्य ऋजु-जड़ होते थे। उनके लिये धर्म-तत्व समझना कठिन था किन्तु उसका पालन करना सरल था। वर्तमान काल के मनुष्य वक्रजड़ होते हैं। उनके लिये धर्म समझना भी कठिन है और उसका पालन करना भी। अतः उन दोनो के लिये पाँच महाव्रत स्पष्ट बतलाने पड़े। परन्तु बीच के बाईस तीर्थंकरो के समय के साधु ऋजुप्राज्ञ होते थे। उनके लिए चार महाव्रतो का प्रतिपादन ही पर्याप्त था। ब्रह्मचर्य व्रत का पृथक उल्लेख न करने पर भी वे उसे उन्हीं महाव्रतो में अन्तर्गभित समझकर पालते थे।

गौतम के द्वारा अपने प्रथम प्रश्न का समाधान पाकर केशीकुमार श्रमण अत्यन्त संतुष्ट हुए। उन्होंने अपना दूसरा

१—महावीर की अन्तिम उपदेश।

२—उत्तराध्ययन-अध्ययन २३

प्रश्न सामने रखते हुए कहा कि भगवान् पार्श्वनाथ ने[1] सचेल धर्म का उपदेश दिया था जबकि भगवान् महावीर[2] अचेल धर्म का उपदेश दे रहे हैं। दोनों के उपदेश में यह भेद क्यों है ?

प्रश्न का समाधान करते हुए गौतम ने कहा—दोनों तीर्थंकरों ने अपने-अपने विशिष्ट ज्ञान के द्वारा धर्म के पृथक साधन बतलाये हैं। निश्चय (परमार्थ) से तो सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र यह तीन[3] ही मोक्षमार्ग के साधन हैं और इस सम्बन्ध में दोनों तीर्थंकरों का एक मत है। बाह्य वेशभूषा का प्रयोजन केवल इतना ही है कि यह साधु कौन से गच्छ व कौन से सम्प्रदाय का है, यह पहचान होती रहे एवं अपने आपको भी याद रहे कि मैं एक संयमी जीवन बिताने का संकल्प करने वाला साधु हूँ। इसके अतिरिक्त बाह्य वेशभूषा संयम निर्वाह में भी उपयोगी हो सकती है।

इस प्रकार केशीकुमार श्रमण ने और भी अनेक प्रश्न किये और गौतम स्वामी ने उन सब का यथार्थ समाधान किया। उत्तराध्ययन सूत्र में उन सब का अच्छा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् केशीकुमार, श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा बताये हुए पाँच महाव्रत रूप धर्म में प्रविष्ट हो गये।

उदक और गौतम—

इसी प्रकार नालन्दा नगरी का भी एक प्रसंग है। वहाँ लेप नाम के एक धनाढ्य गृहपति की शेष द्रव्या नामकी उदक शाला के ईशान कोण में स्थित हस्तियाम नामक उद्यान में भगवान गौतम ठहरे हुए थे। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य उदक पेढालपुत्र भी एक भाग में टिके हुये थे। एक बार वे भगवान् गौतम के सन्निकट आये और इस प्रकार कहने लगे—आयुष्मन् तुम्हारी मान्यताओं को स्वीकार कर चलने वाले कुमारपुत्र आदि श्रमण मनुष्यों को हठाग्रह से इस प्रकार नियम दिलवाते हैं कि—"मैं सम्पूर्ण प्राणियों की अहिंसा पालन नहीं कर सकता किन्तु चलने फिरने वाले त्रस प्राणियों की हिंसा नहीं करूँगा। परन्तु विश्व के सभी प्राणी स्थावर व त्रस योनियों में चक्र लगाते रहते हैं। त्रस योनि से स्थावर में और स्थावर योनि से त्रस में अबाध गति से घूमते रहते हैं, अतः संसार का कोई भी प्राणी न तो मात्र[5] त्रस है और न मात्र[6] स्थावर ही। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त प्रतिज्ञा करने वाला गृहस्थ स्थावर प्राणियों की हिंसा की छूट समझकर उनकी हिंसा करता है, तो वह अपनी प्रतिज्ञा से च्युत होता है क्योंकि इस समय जो प्राणी स्थावर हैं, वे अपने पूर्व जन्म में कभी त्रस हो चुके होते हैं। इस प्रकार की प्रतिज्ञा दिलाने वालों को क्या दोष नहीं लगता ? मेरा अभिमत है कि नियम की भाषा यों होनी चाहिये—"इस समय जो प्राणी जगम के रूप में हैं मैं उनकी हिंसा नहीं करूँगा।

गौतम ने समाधान करते हुए कहा—महाभाग ! आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह बिल्कुल अयथार्थ है एवं दूसरे को भुलावे में गिराने जैसा है। संसार के समस्त प्राणी एक कोटि से दूसरी कोटि में घूमते रहते हैं यह बिल्कुल ठीक है, जो प्राणी इस वक्त जंगम के रूप में उत्पन्न दिखाई देता है उसी के सम्बन्ध में यह नियम लागू पड़ता है। आप जिसे इस समय जंगम रूप उत्पन्न मानते हैं उसे ही हम जंगम कहते हैं। जिसके जगम बनने योग्य कर्म उदय प्राप्त हो उसे ही जंगम प्राणी कहा जाता है।" इसी प्रकार स्थावर प्राणियों के विषय में भी समझना चाहिए। अतएव प्रतिज्ञा भंग होने तथा प्रतिज्ञा दिलाने वाले को दोष लगने की बात न्यायसंगत नहीं लगती।

गौतम ने इस स्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए उदाहरण पूर्वक बतलाते हुए कहा कि—जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने यह नियम किया कि—मैं दीक्षित होकर जो साधु बन चुका होगा ऐसे व्यक्ति की हिंसा नहीं करूँगा परन्तु गृहस्थ जीवन में

१—टीकाकारों ने सचेल का अर्थ मूल्य या प्रमाण की मर्यादा से रहित वस्त्र तथा रंगीन वस्त्र किया है।

२—टीकाकारों के मतानुसार अचेलक नञ् समास अल्पार्थक है, अतः इसका अर्थ मूल्य और प्रमाण में अल्प होने के कारण अल्पवस्त्र तथा केवल श्वेत वस्त्र है।

३—उत्तराध्ययन सूत्र अध्य २१

४—महावीरनो संयमधर्म सूत्र २, ७ ७ आदि

५—हिताहित प्रवृत्ति निवृत्त्यर्थं गमनशीला त्रसा (जैन सिद्धान्त दीपिका)

६—पृथिव्यप् तेजो वायु वनस्पति कायिका एकेन्द्रिया स्थावरा (जैनसिद्धान्त दीपिका)

रहते हुए व्यक्ति की हिंसा न करने का नियम मुझे नहीं है। ऐसी स्थिति में अगर कोई व्यक्ति साधु बना और कुछ ही समय के पश्चात् अपने आपको साधुता के अनुपयुक्त पाकर गृहस्थ बन गया अब अगर उपर्युक्त नियम लेने वाला व्यक्ति इस गृहस्थ बने हुए व्यक्ति की हिंसा करता है, तो उसकी प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने केवल जंगम प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया हो उसे इस जन्म में जो प्राणी स्थावर हैं, उनकी हिंसा करने पर भी प्रतिज्ञा भंग का दोष नहीं लगता।

एक अन्य प्रश्न करते हुये उदक पेढालपुत्र ने कहा—आयुष्मन्! क्या ऐसा भी कोई समय हो सकता है जिसमें संसार के सब जंगम प्राणी स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जावें और फिर जो जंगम प्राणियों की हिंसा न करना चाहते हों उन्हें इस व्रत की आवश्यकता ही न रहे अथवा उनके द्वारा जंगम प्राणियों की हिंसा होने की संभावना ही न रहे?

गौतम ने प्रश्न का समाधान करते देते हुए कहा—आयुष्मन्! ऐसा होना संभव नहीं क्योंकि सभी प्राणियों की विचार धारा व क्रिया पद्धति एक साथ ही इतनी हीन नहीं हो सकती जिसके कारण सभी स्थावर के रूप में जन्म लें। प्रत्येक समय में पृथक्-पृथक् शक्ति व पुरुषार्थ वाले प्राणी अपने लिये भिन्न-भिन्न गति स्थिति तैयार करते रहते हैं। जैसे कि कुछ लोग अपने आपको दीक्षित होने में असमर्थ पाकर पौषध व अणुव्रतों के द्वारा देवता व मनुष्य आदि की शुभगति योग्य कर्म उपार्जन करते हैं। दूसरे कुछ अधिक लालसा वाले परिग्रही लोग नरक व तिर्यञ्च आदि की दुर्गति के योग्य कर्म उपार्जन करते हैं। कुछ दीक्षित साधु सत लोग उच्च कोटि के देवत्व के योग्य कर्मोपार्जन करते हैं। कुछ तथाकथित नामधारी कामासक्त साधु असुर व घोर पाप कर्म करने वाले स्थानों की तैयारी करते हैं। वहाँ से छूट कर भी वे अन्ध मूक बधिर अंगहीन रूप दुर्गति के कर्म उपार्जन करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न गतियाँ प्राप्त करता रहता है। तब यह कैसे हो सकता है कि सभी प्राणियों को एक समान ही स्थान व गति मिले। दूसरे जहाँ विविध प्रकार के प्राणी हैं वहाँ उनके आयुष्य में भी विविधता है। आयुष्य की विविधता का तात्पर्य है कि उनकी मृत्यु भी भिन्न समय में होती है। भिन्न-भिन्न समय में मृत्यु होने का अर्थ है कि ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सभी प्राणी एक ही साथ मृत्यु प्राप्त होकर एक समान गति प्राप्त करें, जिसके फलस्वरूप किसी को व्रत लेने व हिंसा करने का प्रसंग ही न आवे।

इस प्रकार भगवान् गौतम उदकपेढालपुत्र के प्रश्नों का उत्तर देकर उन्हें परामर्श के रूप में कहने लगे—आयुष्मन्! उदक! जो व्यक्ति पाप कर्मों से मुक्त होने के लिये सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र प्राप्त कर चुका हो फिर भी यदि दूसरे किसी श्रमण-ब्राह्मणों की निन्दा करता है, तो चाहे वह अपने आपको उसका मित्र ही क्यों न समझे फिर भी ऐसे व्यक्ति का परलोक नहीं सुधरता।

इन प्रश्नोत्तरों के पश्चात् पेढालपुत्र उदक किसी प्रकार का सत्कार व सम्मान किये बिना ही जब वापिस लौटने लगे तब भगवान् गौतम ने उनसे कहा—आयुष्मन्! किसी श्रमण निर्ग्रन्थ के पास से यदि एक भी शिक्षात्मक सुवाक्य सुनने को मिला हो तथा किसी ने उत्तम योगक्षेम व कल्याण का मार्ग दिखलाया हो, तो क्या उसके प्रति कुछ सत्कार सम्मान व आभार प्रदर्शित किये बिना ही चले जाना चाहिये।

आयुष्मन्! मेरी दृष्टि से ऐसे पूज्य व्यक्ति को पूज्य बुद्धि से नमस्कार करना चाहिये एवं उसका सत्कार व सम्मान कर, कल्याणकारी मंगलमय देवता व चैत्य स्वरूप मानकर उसकी पर्युपासना करनी चाहिये।

पेढालपुत्र उदक नम्रतर होते हुए गौतम से कहने लगे—भगवान्! मुझे कभी भी इस प्रकार की शिक्षा सुनने का अवसर नहीं मिला अत मैं ऐसा करने में असमर्थ रहा परन्तु अब मुझे आपके शब्दों से इस बात पर पूर्ण विश्वास व रुचि प्राप्त हुई। मैं इसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता हूँ। अब मैं इस चार महाव्रत वाले धर्म से पाँच महाव्रत वाले तथा निरन्तर प्रतिक्रमण किये जाने वाले धर्म में प्रविष्ट होना चाहता हूँ। गौतम के अनुमोदन पर उन्होंने वैसा ही किया और श्रमण भगवान् महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये।]

श्रमणोपासक आनन्द और गौतम

एक[1] बार भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम के दूतिपलाश नामक चैत्य में ठहरे हुए थे। उस समय गौतम स्वामी के

---

१ उपासकदशांग अध्ययन १

दो-दो दिन के उपवास चल रहे थे। वे अपने आराध्य भगवान् महावीर के निकट आये—समक्ति प्रणाम किया एवं विधिवत् उनकी अनुज्ञा से भिक्षाचरी के लिये नगर में गये। उच्च मध्यम व निम्न श्रेणी के घरों से भिक्षाचरी करने के पश्चात् वे वापिस लौट रहे थे। जब वे कोल्लाग सन्निवेश के पास से गुजरे तो उन्होंने लोगों को परस्पर यह बात करते हुए सुना 'देवानुप्रियो ! भगवान महावीर के अन्तेवासी श्रमणोपासक आनन्द ने जीवन के अन्तिम क्षणों में की जाने वाली तप क्रिया स्वीकार की है। इस समय कोल्लाग सन्निवेश के ज्ञातृकुल के क्षत्रिय मुहल्ले में स्थित पौषधशाला में जीवन और मृत्यु की आकांक्षा से रहित केवल आध्यात्मिक भाव से आजीवन अनशन का अनुशीलन कर रहे हैं। यह बात सुनकर गौतम आनन्द से मिलने के लिए उत्कण्ठित हुए और तत्काल पौषधशाला की ओर चल पड़े। गौतम को आते देखकर आनन्द श्रमणोपासक हर्ष और उल्लास से गद्गद् हो उठा। करबद्ध होकर उसने गौतम को नमस्कार किया और कहने लगा—भगवन् ! मैं इस अपूर्व तप के कारण बहुत अशक्त हो चुका हूँ। अतः आपके चरण कमलों में मस्तक रख कर विधिवत् वन्दन करने में समर्थ नहीं हूँ। यदि आप कृपया आगे आवें तो मैं ऐसा करने में सफल हो सकूँगा।

आनन्द की अपूर्व-भक्ति देखकर गौतम आगे आये तब उसने चरणों में शिर टेककर विधिवत् प्रणाम किया। कुछ औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् आनन्द ने पूछा—भगवन् ! क्या किसी गृहस्थ को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है ?

गौतम ने उत्तर देते हुए कहा—हो सकता है। आनन्द ने कहा—भगवन् ! मुझे भी घर में रहते हुए अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं पूर्व पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवणसमुद्र के पांच सौ योजन तक के क्षेत्र को देखता हूँ एवं जानता हूँ। उत्तर दिशा में चुल्ल हिमवान् वर्षधर पर्वत तक देखता एवं जानता हूँ। ऊँची दिशा में सौधर्म देवलोक तक एवं नीची दिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलच्च नामक नरकवास तक देखता एवं जानता हूँ।

गौतम ने कहा— 'आनन्द। गृहस्थ को अवधि ज्ञान हो तो सकता है किन्तु इतनी बड़ी सीमावाला नहीं हो सकता। अतः तुम्हारा यह कथन सत्य नहीं है। तुम्हें अपनी इस भूल के लिये प्रायश्चित करना चाहिये।"

विनयपूर्वक आनन्द ने फिर कहा— 'भगवन् ! क्या कभी जैन शासन में सत्य कथन के लिए भी प्रायश्चित करना पड़ता है ? यदि नहीं तो फिर मुझे प्रायश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, कृपया इस संबंध में आप ही प्रायश्चित करें।"

आनन्द की बात से गौतम शंकाशील हुये और तत्काल वहाँ से चल कर भगवान् महावीर के पास आये। उन्होंने आते-जाते व भिक्षार्थ पर्यटन करते समय असावधानी से होने वाले संभावित दोषों की आलोचना की। उसके पश्चात् अपना लाया हुआ आहार भगवान् को दिखलाया। यह सब कार्य विधिवत् हो जाने के अनन्तर भगवान् को वंदना करके इस प्रकार पूछने लगे—"भगवान् ! पूर्व पश्चिम की ओर दक्षिण में पांच सौ योजन तक उत्तर में चुल्ल हिमवान् पर्वत तक ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे रत्नप्रभा के लोलच्च नरकवास तक देख सकें—क्या इतना बड़ा अवधिज्ञान किसी गृहस्थ को हो सकता है ? इस सम्बन्ध में मेरे और श्रमणोपासक आनन्द के बीच मतभेद है। वह कहता है कि मुझे उपर्युक्त प्रकार का अवधि ज्ञान प्राप्त हुआ है। मेरा कहना है कि गृहस्थ को इतना बड़ा ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उसे इस असत्य वचन का प्रायश्चित लेना चाहिए। किन्तु वह इसके विपरीत मुझे ही प्रायश्चित लेने को कहता है। कृपया आप ही फरमावें कि प्रायश्चित किसे करना चाहिये !

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! आनन्द का कहना ठीक है। अतः प्रायश्चित तुम्हें ही करना चाहिये। इस विषय में आनन्द के घर जाकर उससे क्षमा मांगनी चाहिये। गौतम ने अपनी भूल के लिये तनिक भी आनाकानी नहीं की और वे उसी क्षण क्षमायाचना के लिए आनन्द के घर पहुँचे और अपने कहे हुए के लिए आनन्द से क्षमा मांगी। यह था उनका निरहंकार और निश्छल जीवन।

महाशतक और गौतम

गौतम भगवान् महावीर के गणधर होने के साथ-साथ उनके संदेशवाहक भी थे। अनेक बार उन्होंने अपना विशेष संदेश देकर उन्हें स्थान विशेष पर भेजा था। श्रमणोपासक महाशतक के पास भी एक बार भगवान् महावीर ने उक्त्त विषय से उनको भेजा था। वह घटना इस प्रकार है—

श्रमणोपासक[1] महाशतक राजगृह निवासी था। वह एक बहुत बड़ा धनाढ्य व्यक्ति था। उसके तेरह स्त्रियाँ थी। उनमें रेवती सबसे प्रमुख थी। विशेष कामासक्त होने के कारण उसने अपनी सब सौतों को मरवा डाला था। सारे सुखों की वह अकेली ही मालकिन हो गई थी। महाशतक भगवान् महावीर के पास श्रमणोपासक बनकर धार्मिक जीवन की ओर झुका। वह क्रमशः अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का अनुशीलन करने लगा। कालांतर में उसने अपने बड़े लड़के को घर का भार सौंपा और स्वयं विशेष रूप से धार्मिक क्रियाओं में रहने लगा। अब वह भोगों से विरक्त होकर रहने लगा तो रेवती का दिल तिलमिला उठा। उसके लिये यह स्थिति दिन पर दिन असह्य होने लगी।

एक दिन वह कामातुर होकर लड़खड़ाती हुई महाशतक के पास पहुँची और सभी मुक्त हावभाव दिखलाती हुई कहने लगी—"महाशतक! मैं जानती हूँ कि तुम्हारे मन में आजकल धर्मानुराग जाग उठा है। तुम मुक्ति के इच्छुक हो उठे हो। परन्तु मैं समझती हूँ कि यदि तुम मेरे से आसक्त हो मेरी कामनाओं को तृप्त करते रहो तो उससे अधिक मुक्ति फिर क्या वस्तु हो सकती है? इस प्रकार दो तीन बार आग्रह पूर्वक कहने पर भी महाशतक अपनी साधना पर अडिग रहा। उसकी इस प्रार्थना पर किंचित भी ध्यान नहीं दिया और मौन रहकर उस अनुकूल परिषह का सामना करता रहा। क्रमशः अपनी ढलती हुई अवस्था के साथ-साथ उसने तपस्या भी प्रारम्भ की। उससे उसका शरीर केवल अस्थिपंजर रह गया। अन्त में आजीवन अनशन का अनुशीलन करते हुए उसको अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई। उस स्थिति म एक दिन फिर रेवती काम से पीड़ित होकर वहाँ आ पहुँची एवं पहले की तरह ही महाशतक से प्रार्थना करने लगी। पहली बार जब रेवती ने इस प्रकार की भावना प्रकट की तब महाशतक कुछ नहीं बोला। दूसरी बार भी महाशतक उसी प्रकार अडिग रहा। परन्तु तीसरी बार जब रेवती कामान्ध होकर उसे धिक्कारने लगी और विभिन्न प्रकार से आचरण करने लगी तब महाशतक क्रुद्ध हो उठा। उसने रेवती को उसके अभद्र व्यवहार के लिये फटकारा और अपने अवधिज्ञान के बल पर उसको कहा कि—"तू सात दिन के अन्दर अन्दर रोग से पीड़ित होकर मरेगी एवं रत्नप्रभा के लोलच्च नामक नरकवास में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति प्राप्त करेगी।

महाशतक की इस आक्रोशपूर्ण भविष्यवाणी को सुनकर रेवती अत्यन्त भयाकुल और संत्रस्त होकर वापिस घर लौट आई। वह समझ गई कि अब महाशतक का उसके प्रति कोई अनुराग नहीं है। उसे इससे अत्यन्त दुःख हुआ। वह इस असमाधि के कारण रोगाक्रान्त हुई और सातवें दिन चल बसी।

भगवान् महावीर उस समय राजगृह में आये और गुणशील चैत्य में ठहरे। उन्होंने महाशतक को इस पापाचार से मुक्त करने के लिये गौतम को महाशतक और रेवती के विषय का सारा विवरण सुनाया और कहा कि—गौतम! तुम वहाँ जाओ और इस प्रसंग में जो महाशतक की आत्मा कलुषित हुई है, उसे प्रायश्चित देकर शुद्ध करो। भगवान् महावीर का आदेश प्राप्त कर गौतम वहाँ गये और महाशतक को समझा कर विशुद्ध किया।

गौतम और स्कन्धक[2]

श्रमणसंघ से थोड़ी दूर पर स्थित श्रावस्ती नगरी में गर्धमालीपरिव्राजक के शिष्य स्कंधक रहते थे। वे कात्यायन गोत्र के थे। वे चारों वेदों के तथा अन्य अनेक शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् थे। ब्राह्मणों और परिव्राजकों के दर्शन पर उन्होंने गहरा चिन्तन किया।

उस समय श्रावस्ती नगरी में निर्ग्रन्थ प्रवचन को भली भांति समझने वाला पिंगल नाम का निर्ग्रन्थ रहता था। एक दिन वह कात्यायन गोत्री स्कन्धक के पास आया साधारण वार्तालापके पश्चात् उसने स्कन्धक को सम्बोधन करते हुए उनके सम्मुख कुछ प्रश्न रखे। आयम! लोक सान्त है या अनन्त? जीव सान्त है या अनन्त? सिद्धि सान्त है या अनन्त? सिद्ध सान्त हैं या अनन्त? किस प्रकार के मरण से भवभ्रमण घटता है? इन उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर मुझे ठीक दो ताकि बाद मैं और भी तुमसे कुछ प्रश्न कर सकूं।

---

१ उपासकदशांग अध्ययन ८

२—भग० २, १ ९०—९१।

पिंगल के इस प्रकार पूछ जाने पर स्कन्दक शंकित हो उठे। वे पिंगल के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहे। स्कन्दक को मौन देखकर वैशालिक पिंगल निर्ग्रन्थ ने फिर उसी प्रकार दो-तीन बार वही प्रश्न किये। किन्तु स्कन्दक के लिये उनका उत्तर तो क्या मुंह खोलना भी मुश्किल हो गया। वह किंकर्तव्यविमूढ़ की तरह खड़ा देख रहा था कि कुछ मनुष्यों की पारस्परिक बातें उसके कानों में पड़ी। वे लोग परस्पर इस प्रकार कह रहे थे—देवानुप्रियो! भगवान् महावीर सर्वज्ञ व सर्वदर्शी आज ग्रामानुग्राम विहार करते हुए कयंगला के छत्रपलाश नाम के उद्यान में आकर ठहरे हैं। देवानुप्रियो! इस प्रकार की पवित्रात्मा के दर्शन अभिवादन अभिगमन आदि तो दूर रहे, केवल उसके नाम गोत्र सुनने मात्र से ही मनुष्य का कल्याण हो जाता है। अतः आज हम लोग सभी वहाँ चलें और उस पवित्रात्मा की पर्युपासना कर अपने आपको कृतार्थ करें। इस प्रकार राजा युवराज कोट्टपाल कौटुम्बिक माण्डबिक सार्थवाह आदि अनेक प्रकार के लोग भी परस्पर बातें करते हुए श्रावस्ती के बीचों बीच होकर जा रहे थे।

यह सुनकर स्कन्दक के विचारों में भी एक कम्पन आया और सोचा कि मुझे भी वहाँ जाना चाहिये और उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर भगवान् महावीर से प्राप्त करना चाहिये। वह अपने रहने के स्थान पर आकर कुछ परिव्राजक सम्बन्धी उपकरण-त्रिदण्ड रुद्राक्षमाला कुण्डिका आसन कमण्डलु, आदि ग्रहण कर भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चल पड़ा।

इधर श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—गौतम! क्या अपने चिर परिचित पूर्व जन्म के मित्र को देखना चाहते हो? गौतम आश्चर्यान्वित होकर पूछने लगा—भगवान्! मेरा चिर परिचित पूर्व जन्म का मित्र कौन है और मुझे कब मिलेगा? भगवान् ने गौतम को सारा ब्योरा बतलाते हुये कहा—गौतम! अब वह तुम से अधिक दूर नहीं है। थोड़े ही समय में तुम से साक्षात् करने वाला है। गौतम ने फिर उत्कण्ठा भरे शब्दों में पूछा—भन्ते! क्या वो मेरा पूर्व जन्म का साथी आपके पास दीक्षित होगा? भगवान् इसका उत्तर दे ही रहे थे कि स्कन्दक जी वहाँ आ पहुँचे। गौतम उन्हें निकट आये जानकर शीघ्रता से खड़े होकर दस बीस कदम आगे चलकर उनके सम्मुख और उनसे मिलते हुए बोले—स्कन्दक! आप आ गये आपके इस धर्माध्यवसाय का मैं स्वागत करता हूँ। इस प्रकार स्वागत करते हुए स्कन्दक जी के आने के कारण से अवगत हो गौतम उन्हें साथ में लेकर भगवान् महावीर के पास पहुँचे। स्कन्दक ने विधिवत् भगवान् महावीर को वन्दन किया और अपने मन के संदेहों का निराकरण करने के लिये अनेक प्रश्न पूछे। भगवान् महावीर ने अपनी अमृतमयी वाणी से उनके सब प्रश्नों का समाधान कर दिया। अन्त में स्कन्दक ने अपने आपको भगवान् महावीर के चरण-कमलों में समर्पित कर दिया।

दीक्षित होकर उन्होंने बारह अंगों का अध्ययन किया। जैन सिद्धान्तानुसार उन्होंने विविध प्रकार की तपस्याएं की। विविध प्रकार से आतापनायें की। उनकी तपस्या व आतापना का वर्णन वियाहपण्णत्ती सूत्र के दूसरे शतक में विशेष रूप से दिया गया है। इस प्रकार अति कठोर तपस्या व आतापना के द्वारा उनका शरीर केवल अस्थिपंजर मात्र रह गया तब अन्त में उन्होंने अनशन किया और समाधिमरण प्राप्त कर बारहवें स्वर्ग में बाईस सागर की आयु वाले देवता हुए।

गौतम अपने चिर परिचित पूर्व जन्म के साथी को दिवंगत होने पर भी भूले नहीं थे। उन्होंने भगवान् महावीर से पूछा—स्कन्दक वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके कहाँ जायेंगे? भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! स्कन्दक वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में सिद्धत्व को प्राप्त करेगा। यह बात सुनकर गौतम अत्यन्त प्रसन्न हुए। वस्तुतः उन्हें किसी भी व्यक्ति के कल्याण में बहुत ही अभिरुचि रहा करती थी।

चिरन्तन सम्बन्ध

गौतम स्वामी के अनेक शिष्य केवल ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। पर उनको केवल ज्ञानप्राप्त नहीं हुआ था। अतः वे कई बार इस विषय को लेकर चिन्तातुर हो जाया करते थे ऐसा कुछ टीकाकारों का मत है। छद्मस्थ के लिए ऐसा होना असम्भव भी नहीं है। कहा जाता है कि एक बार[1] गौतम को भगवान् महावीर ने कुछ अन्यमनस्कता में डूबे हुए देखा। उनकी इस अकारण उदासीनता को मिटाने के लिए उन्होंने तत्काल ही सम्बोधित करते हुए कहा—गौतम! क्या तुम्हें मालूम है कि अपना यह सम्बन्ध कितना चिरंतन है? तुम बहुत लम्बे समय से मेरे स्नेह से आसक्त होते आ रहे हो। अनेक

1—समवसार प्रश्न पृ ५९

जन्मों से तुम्हारा और मेरा सुमधुर सम्बन्ध है। गौतम ! अधिक क्या कहूँ यहाँ से भी हम दोनों समान अधिकार, समान ऋद्धि और समान भावों को प्राप्त करेंगे। भगवान् के इस कथन से गौतम की उदासीनता मिट गई और वे आत्मतुष्टि पूर्वक अपनी साधना में लग गये।

कैवल्य प्राप्ति

भगवान् महावीर अच्छीतरह जानते थे कि गौतम का मेरे प्रति अगाध स्नेह भाव है और वह मन कदाचित् मोहयुक्त भी हो जाता है। वे उनके उस मोह भाव को बुझाना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने जब अपने मोक्षगमन का समय समीप देखा तब गौतम को धर्मचर्चा के लिए अन्यत्र भेज दिया। उस अन्तिम रात्रि को वे भगवान् के पास नहीं रह सके। यही उनके मोहात का कारण बन गया। भगवान् निर्वाण पद को प्राप्त हो चुके थे। गौतम स्वामी को यह संवाद पश्चिम रात्रि के समय में मिला तो उनके मृदुल मन को बहुत बड़ा आघात पहुँचा। उस रात्रि में वहाँ जाकर धर्म चर्चा करने का भी पश्चात्ताप हुआ। सबसे अधिक झुंझलाहट उन्हें इस बात से हुई कि भगवान ने स्वयं जान-बूझकर उन्हें अन्तिम समय में अपने से अलग कर दिया। उन्होंने मन ही मन भगवान् को अनेक उपालम्भ दे डाले। अपने आपको धिक्कारते हुए उन्होंने सोचा कि यदि मुझे इस बात का थोड़ा सा भी पता चल गया होता तो मैं एक क्षण के लिये भी उनसे विलग नहीं होता। परन्तु अब क्या किया जाय जब कि भगवान् स्वयं ही धोखा देकर चले गये।

इस प्रकार बहुत देर तक गौतम मोहवश नाना संकल्प विकल्प करते रहे, किन्तु अन्त में उनकी मोह निद्रा भग हुई। वे गहराई से सोचने लग कि भगवान् तो वस्तुतः वीतराग थे। उनके लिये सारी दुनिया एक समान थी—वे भला मोहग्रस्त कैसे हो सकते थे ? किसी के शरीर के साथ प्रेम होना समझदारी की बात नहीं है। यह मोहकर्म की प्रबलता है। भगवान् निर्मोही थे। उनके लिये मुझ ऐसा चिन्तन करना उचित नहीं। फिर क्या था मोह का परदा फट गया। भगवान् गौतम को उसी समय केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व

गौतम स्वामी एक महान् संत थे। उनका व्यक्तित्व सारे संसार के लिये एक आदर्श था। यद्यपि वे भगवान् महावीर से अवस्था में आठ वर्ष बड़े थे फिर भी एक बालक की तरह सरल और विनम्र होकर रहा करते थे। भगवान के प्रथम गणधर शिष्य होने पर भी उनकी आत्मा को कहीं अहंकार छू तक नहीं पाया था। मति श्रुत अवधि और मन पर्यव—ये चार ज्ञान उन्हें भगवान् की विद्यमानता में ही प्राप्त हो चुके थे। कैवल्य की प्राप्ति भी उन्हें भगवान के निर्वाण पद प्राप्त होने के तत्काल पश्चात् ही हो गई। जैन शासन मे वे महान् लब्धिधारी साधु माने जाते हैं। आगमों में उनके लिये उग्र तपस्वी घोर तपस्वी दीर्घ तपस्वी घोर गुणी घोर ब्रह्मचारी संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्य सर्वाक्षर-सन्निपाती आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, जो कि उनके आंतरिक व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाले हैं।

इसी प्रकार उनका बाह्य व्यक्तित्व भी बड़ा आश्चर्यक था। उनकी शरीर संपदा का वर्णन शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है प्रलम्ब शरीर, सुडौल आकृति कसौटी पर अंकित स्वर्णरेखा के समान गौरवर्ण समचतुरस्र संस्थान (पद्मासन लगाकर बैठने से घुटने और शीर्ष तक की लम्बाई और चौड़ाई की समानता) वज्र संहनन युक्त उनका शरीर था।

निर्वाण प्राप्ति

भगवान् महावीर के पश्चात् करीब बारह वर्ष तक कैवल्य अवस्था में विहार करते हुए वे इस धरा को पवित्र करते रहे। उनका अन्तिम प्रवास राजगृह नगर में हुआ जो कि उस समय भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। वहीं उन्हें निर्वाण पद प्राप्त हुआ। उन्होंने अपनी आयुष्य में से पचास वर्ष गृहस्थावस्था में तीस वर्ष छद्मस्थ अवस्था में और बारह वर्ष कैवल्य-अवस्था में व्यतीत किये। इस प्रकार उनको समग्र आयुष्य ९२ वर्ष का प्राप्त हुआ था। उनके निर्वाण प्राप्त होने से संसार का एक महान् संत उठ गया किन्तु उनका आदर्श और उनका व्यक्तित्व आज भी उसी तरह से विद्यमान है तथा संसार के लिये एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह मार्ग दिखा रहा है।

१—समवसरण

प्राचीन जैन तीर्थ

(ले० पण्डित कल्याणविजय गणी)

उपक्रम

पूर्वकाल में "तीर्थ" शब्द मौलिक रूप से जैन प्रवचन अथवा चतुर्विध संघ के अर्थ में प्रयुक्त होता था ऐसा जैन आगमों से ज्ञात होता है। जैन प्रवचनकर्ता और जैनसंघ के संस्थापक होने से ही जिनदेव तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थ का शब्दार्थ यहाँ नदी समुद्र में उतरने अथवा उनसे बाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग होता है। आज की भाषा में इसे घाट और बन्दर कह सकते हैं।

संसार समुद्र को पार कराने वाले जिनागम को और जैन-श्रमण संघ को भावतीर्थ बताया गया है, और इसकी व्युत्पत्ति 'तीर्यते संसार सागरो येन तद् तीर्थम्' इस प्रकार की गई है, एवं नदी समुद्रों को पार कराने वाले तीर्थों को द्रव्य तीर्थ माना गया है।

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैन-आगमों में कुछ और भी तीर्थ माने गये हैं, जिन्हें पिछले ग्रन्थकारों ने स्थावर तीर्थों के नाम से निर्दिष्ट किया है, और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गये हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचारांग आवश्यक आदि सूत्रों की निर्युक्तियों में मिलता है, जो मौर्यकालीन ग्रन्थ हैं।

(क) जैन स्थावर तीर्थों में (१) अष्टापद (२) उज्जयन्त (३) गजाग्रपद (४) धर्मचक्र (५) अहिच्छत्र पार्श्वनाथ (६) रथावर्त पर्वत (७) चमरोत्पात (८) शत्रुंजय (९) सम्मेतशिखर और (१) मथुरा का देव निर्मित स्तूप इत्यादि तीर्थों का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन जैनसूत्रों तथा सूत्रों की निर्युक्ति व भाष्यों में मिलता है।

(ख) (१) हस्तिनापुर (२) शौरीपुर (३) मथुरा (४) अयोध्या (५) काम्पिल्यपुर (६) वाराणसी (काशी) (७) श्रावस्ती (८) क्षत्रियकुण्ड (९) मिथिला (१) राजगृह (११) अपापा (पावापुरी) (१२) भद्दिलपुर (१३) चम्पापुरी (१४) कौशाम्बी (१५) रत्नपुर (१६) चन्द्रपुरी आदि स्थान भी तीर्थंकरों की जन्म दीक्षा ज्ञान निर्वाण की भूमियां होने के कारण जैनों के प्राचीन तीर्थ थे परन्तु वर्तमान समय में इनमें से अधिकांश विलुप्त हो चुके हैं। कुछ कल्याणक भूमियों में आज भी छोटे-बड़े जिन-मन्दिर बने हुए हैं और यात्रिक लोग दर्शनार्थ जाते भी हैं। परन्तु इनका पुरातन महत्त्व आज नहीं रहा। इन तीर्थों को 'कल्याणक भूमि' कहते हैं।

(ग) उक्त तीर्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान जैन तीर्थों के रूप में प्रसिद्ध हुए थे जिनमें से कुछ तो आज नाम शेष हो चुके हैं, और कुछ विद्यमान भी हैं। इनकी संक्षिप्त नाम सूची यह है—(१) प्रभास पाटन—चन्द्रप्रभ (२) स्तम्भ तीर्थ स्तम्भनक पार्श्वनाथ (३) भृगुकच्छ अश्वावबोध शकुनिका विहार—मुनिसुव्रत (४) मूर्पारक (नालासोपारा) (५) शंखपुर शंखेश्वर पार्श्वनाथ (६) चारूप—पार्श्वनाथ (७) तारंगहिल—अजितनाथ (८) अर्बुदगिरि (आबू माउण्ट) (९) सत्यपुरीय महावीर (१) स्वर्णगिरि-महावीर (११) कलिकुण्ड-पार्श्वनाथ (१२) विदिशा (भिलसा) (१३) नासिक्य-चन्द्रप्रभ (१४) अन्तरिक्ष—पार्श्वनाथ (१५) कुल्पाक-आदिनाथ (१६) खण्डगिरि (भुवनेश्वर) (१७) श्रवण बेलगोला इत्यादि अनेक जैन प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें जो विद्यमान हैं, उनमें कुछ तो मौलिक हैं, तथा कतिपय प्राचीन तीर्थों के स्थानापन्न नवनिर्मित जिनचैत्यों के रूप में अवस्थित हैं। तीसरी श्रेणी के जैनतीर्थों को हम पौराणिक तीर्थ कहते हैं। इनका प्राचीन जैन साहित्य में वर्णन न होने पर भी अर्वाचीन जैन चरित्रग्रंथों तथा प्राचीन स्तुति स्तोत्रों में इनकी महिमा पायी गई है।

उक्त तीन वर्गों में से इस लेख में हम प्रथम वर्ग के सूत्रोक्त तीर्थों का ही संक्षेप में निरूपण करेंगे।

सूत्रोक्त तीर्थ

आचारांग निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन जैनतीर्थों का नाम निर्देश मिलता है।

दंसण नाण चरित्ते तववेरग्गे य होई उ पसत्था।
जा य तहा ता य तहा लक्खणं वुच्छं सलक्खणओ ॥३२९॥

तित्थगराण भगवओ पवयण पावयणि अइसइड्ढीणं।
अभिगमण नमण दरिसण कित्तण संपूअणा थुणणा ॥११ ॥
जम्माभिसेय निक्खमण चरण नाणुप्पया य निव्वाणे।
दिय लोअभवण मंदर नंदीसर भोम नगरेसुं ॥१११॥
अट्ठावयमुज्जिंत गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पास रहावत्तं चमरुप्पायं च वंदामि ॥११२॥

अर्थात् दर्शन सम्यक्त्व-ज्ञान चारित्र तप वैराग्य विनय-विषयक भावनाएं जिन कारणों से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूँगा ॥१२९॥

तीर्थंकर भगवन्तों के उनके प्रवचन के प्रवचन-प्रचारक प्रभावक आचार्यों के, केवल मन पर्यव अवधिज्ञान वैक्रियादि अतिशय लब्धिधारी मुनियों के सम्मुख जाने नमस्कार करने उनका दर्शन करने उनके गुणों का कीर्तन करने उनकी वस्त्रादि से पूजा करने से दर्शन ज्ञान चारित्र तप वैराग्य सम्बन्धी गुणों की शुद्धि होती है ॥११ ॥

जन्मकल्याणक स्थान जन्माभिषेक स्थान दीक्षा स्थान श्रमणावस्था की विहार भूमि केवल ज्ञानोत्पत्ति का स्थान, और निर्वाण कल्याणक भूमि को तथा देवलोक असुरादि के भवन मेरु पर्वत नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तरदेवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिनप्रतिमाओं को तथा (१) अष्टापद (२) उज्जयंत (३) गजाग्रपद (४) धर्मचक्र (५) अहिच्छत्रास्थित पार्श्वनाथ (६) रथावर्त-पर्वततीर्थ (७) चमरोत्पात इन नामों से प्रसिद्ध जैनतीर्थों में स्थित जिनप्रतिमाओं को मैं वन्दन करता हूँ।

निर्युक्तिकार भगवान् भद्रबाहु स्वामी ने तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म दीक्षा विहार, ज्ञानोत्पत्ति निर्वाण आदि के स्थानों को तीर्थ स्वरूप मानकर वहाँ रहे हुए जिनचैत्यों को वंदन किया है। यही नहीं परन्तु राजप्रश्नीय जीवाभिगम स्थानांग भगवती आदि सूत्रों में वर्णित देव स्थित असुर-भवन स्थित मेरुपर्वत स्थित नन्दीश्वर द्वीप स्थित और व्यन्तर देवों के भूमि-गर्भ स्थित नगरों में रहे हुए चैत्यों की शाश्वत जिनप्रतिमाओं को भी वन्दन किया है।

निर्युक्ति की गाथा ११२ वीं में निर्युक्तिकार ने तत्कालीन भारतवर्ष में प्रसिद्धि पाये हुए सात अशाश्वत जैन-तीर्थों को वन्दन किया है, जिनमें एक छोड़कर शेष सभी प्राचीन तीर्थ विच्छिन्न हो चुके हैं। फिर भी शास्त्रों तथा भ्रमण वृत्तान्तों में इनका जो वर्णन मिलता है उनके आधार पर इनका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जायेगा।

(१) अष्टापद

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म-सभा में दर्शन वन्दनार्थ तथा धर्म श्रवणार्थ जाते थे। परन्तु वर्तमानकालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे अष्टापद माना जा सके। इसके कारण अनेक ज्ञात होते हैं। पहला तो यह है कि उत्तरदिग् विभाग में भारत से लगी हुई पर्वत श्रेणियां उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थीं जितनी आज हैं। दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव और उनके गणधर तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओंने तीन स्तूप और भरत चक्रवर्ती ने सिंहनिषद्या नामक जिनचैत्य बनवाकर उसमें चौबीस तीर्थङ्करों की वर्ण-मानोपेत प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करवाके चैत्य के द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नहीं परन्तु पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यों के लिये शिखर पर पहुँचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग कर क्रमशः आठ मेखलाएँ बनवाई थीं इसी कारण से पर्वत का अष्टापद यह नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद देव विद्याधर, विद्याचारण लब्धिधारी मुनि और जंघाचारण मुनियों के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थी अष्टापद पर नहीं जा सकता था और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मसभा में यह सूचन किया था कि जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुँचता है वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य स्तूप आदि को अपने पूर्वज वंश्य भरत चक्रवर्ती के स्मारक के चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गंगा के जलप्रवाह से भरवा दिया था ऐसा प्राचीन जैन कथासाहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त अनेक कारणों से हमारा अष्टापद तीर्थ जिसका निर्देश श्रुत केवली भगवान् भद्रबाहु स्वामी ने अपनी आचारांग निर्युक्ति में सर्वप्रथम किया है, हमारे लिये आज अदर्शनीय और अलभ्य बन चुका है।

आचारांग निर्युक्ति के अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है —

अह भगवं भवमहणो पुव्वाणमणूणयं सयसहस्सं।
अणुपुव्वि विहरिऊणं पत्तो अट्ठावयं सेलं ॥४३३॥
अट्ठावयम्मि सेले चउदसभत्तेण सो महरिसीणं।
दसहिं सहस्सेहिं समं निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४३४॥
निव्वाणं १ चिइगाणिई जिणस्स इक्खाग-सेसगाणं च।
सकहा ३ थूभ जिणहरे ४ जायग ५ तेणाहिअग्गिमिति ॥४३५॥

तब संसार दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख पूर्ववर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुँचे और छः उपवास के तप के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोत्तम निर्वाण को प्राप्त हुए ॥४३३।४३४॥

भगवान् और उनके शिष्यों के निर्वाणान्तर चतुर्निकायों के देवों ने आकर उनके शवों के अग्नि संस्कारार्थ तीन चिताएँ बनाईं। पूर्व में गोलाकार चिता तीर्थंकर के शरीर के दाहार्थ, दक्षिण में त्रिकोणाकार चिता इक्ष्वाकुवंश्य गणधरों के तथा महामुनियों के शवदाहार्थ बनाई, और पश्चिम दिशा की तरफ चौकोर चिता शेष श्रमणगण के शरीर संस्कारार्थ बनाई, और तीर्थंकर आदि के शरीर यथास्थान चिताओं पर रखकर अग्निकुमार देवों ने उन्हें अग्नि द्वारा सुलगाया, वायुकुमार देवों ने वायु द्वारा अग्नि को जोश दिया और चर्म-मांस के जल जाने पर मेघकुमारों ने जलवृष्टि द्वारा चिताओं को ठंडा किया। तब भगवान् के ऊपरी दायें जबड़े की शक्रेन्द्र ने, दाहिनी तरफ की ईशानेन्द्र ने तथा निचले जबड़े की बाईं तरफ की चमरेन्द्र ने और दाहिनी तरफ की दाढ़ें बलीन्द्र ने ग्रहण कीं। इनके अतिरिक्त शेष देवों ने भगवान् के शरीर की अन्य अस्थियाँ ग्रहण कर लीं। तब वहाँ उपस्थित राजादि मनुष्यगण ने तीर्थंकर तथा मुनियों के शरीर दहन स्थानों की भस्मी को भी पवित्र जानकर ग्रहण कर लिया। चिताओं के स्थान पर देवों ने तीन स्तूप बनवाये और भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थंकरों की वर्णमानोपेत सपरिकर मूर्तियाँ स्थापित करने योग्य जिनगृह बनवाये। उस समय जिन मनुष्यों को चिताओं से अस्थि भस्मादि नहीं मिला था उन्होंने उसकी प्राप्ति के लिये देवों से बड़ी नम्रता के साथ याचना की जिससे इस अवसर्पिणी काल में याचक शब्द प्रचलित हुआ। चिता कुण्डों में अग्नि चयन करने के कारण तीन कुण्डों में अग्नि स्थापन करने का प्रचार चला और वैसा करने वाले आहिताग्नि कहलाये।

उपर्युक्त सूत्रोक्त वर्णन के अतिरिक्त भी अष्टापद तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वृत्तान्त सूत्रों चरित्रों तथा (पौराणिक) प्रकीर्णक जैनग्रन्थों में मिलते हैं। परन्तु हम सबके वर्णनों द्वारा विषय को बढ़ाना नहीं चाहते।

(२) उज्जयन्त (उर्जयन्त)

उज्जयन्त यह गिरनार पर्वत का प्राचीन नाम है इसका दूसरा प्राचीन नाम रैवतक पर्वत भी है, 'गिरनार' यह इसका तीसरा पौराणिक नाम है जो कल्पों कथाओं आदि में मिलता है।

उज्जयन्त तीर्थ का नाम निर्देश आचारांग-निर्युक्ति में किया गया है जो ऊपर बता आये हैं। इसके अतिरिक्त कल्पसूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध-अष्टमाध्ययन) आवश्यकसूत्र आदि में भी इसके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्र में इस पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा केवल-ज्ञान तथा निर्वाण नामक तीन कल्याणक होने का उल्लेख किया गया है। आवश्यक सूत्रान्तर्गत सिद्धस्तव की निम्नोद्धृत गाथा में भी भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होने की सूचना मिलती है जैसे—

उज्जिंत सेल सिहरे दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्मचक्कवट्टिं अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥

इसी कल्प में इस तीर्थ सम्बन्धी अन्य भी ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, जो नीचे दिये जाते हैं —

पुव्वि गुज्जरधराए जयसिंहदेवेणं खंगाररायं हणित्ता सज्जणो दण्डाहिवो ठाविओ। तेण अ अहिणवं नेमिजिणिंदभवणं एगारससयपंचासीए (११८५) विक्कमरायवच्छरे काराविअं। मालवदेसमुहमंडणेणं साहुभावडेण सोवण्णं आमलसारं कारिअं। चोलुक्कचक्कवट्टिसिरिकुमारपालनरिंदसंठविअसोरट्ठदण्डाहिवेण सिरिसिरिमालकुलुब्भवेण बारससयवीसे (१२२०) विक्कम-संवच्छरे पज्जा काराविआ — — —। पज्जाए चडंतेहिं जणेहिं दाहिणदिसाए लक्खारामो दीसइ (वि ती क पृ १)।

अर्थात् पूर्वकाल में गुर्जर भूमिपति चौलुक्य राजा जयसिंहदेव ने जूनागढ के राजा राखेंगार को मारकर दण्डाधिपति सज्जन को वहाँ का शासक नियुक्त किया। सज्जन ने विक्रम संवत् ११८५ में भगवान् नेमिनाथ का नया भवन बनवाया बाद में मालव भूमिभूषण साधु भावड ने उस पर सुवर्णमय आमलसारक बनवाया।

चौलुक्य चक्रवर्ती श्री कुमारपाल देव नियुक्त श्री श्रीपाल कुलोत्पन्न सौराष्ट्र दण्डाधिपति ने विक्रम संवत् १२२ में उज्जयंत पर्वत पर चढने के लिए सोपानमय मार्ग करवाया और उसके पुत्र धवल ने सोपान मार्ग में प्याऊ बनवाई। इस पद्या मार्ग से ऊपर चढने वाले यात्रिक जनों को दक्षिण दिशा में लक्षाराम नामक उद्यान दीखता है।

इन कल्पों के अतिरिक्त उज्जयंत तीर्थ के साथ संबंध रखने वाले अनेक स्तुति स्तोत्र भी भिन्न-भिन्न कवियों के बनाये हुए जैन ज्ञान भाण्डागारों में उपलब्ध होते हैं जिनमें से थोड़े से श्लोक नीचे उद्धृत करके इस तीर्थ का वर्णन समाप्त करेंगे—

योजनद्वयतुंगेऽस्य शृंगे जिनगृहावलिः ।
पुण्यराशिरिवाभाति शरच्चन्द्रांशुनिर्मला ॥४॥
सौवर्णदंडकलशामलसारकशोभितम् ।
चारुचैत्यं चकास्त्यस्योपरि श्रीनेमिनः प्रभोः ॥५॥
श्री शिवासूनुदेवस्य पादुकात्र निरीक्षिता ।
स्पृष्टार्चिता च शिष्टानां पापव्यूहं व्यपोहति ॥६॥
प्राज्यराज्यं परित्यज्य जरत्तृणमिव प्रभुः ।
बन्धून् विधूय च स्निग्धान् प्रपेदेऽत्र महाव्रतम् ॥७॥
अत्रैव केवलं देव स एव प्रतिलब्धवान् ।
जगज्जनहितैषी स पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥८॥

अर्थात् इस उज्जयंत गिरि के दो योजन ऊँचे शिखर पर बनवाने वालों की निर्मल पुण्य राशि की सी चन्द्रकिरण जैसी उज्ज्वल जिनमन्दिरों की पंक्ति सुशोभित है। इसी शिखर पर सुवर्णमय दण्ड कलश तथा आमलसारक से सुशोभित भगवान् नेमिनाथ का सुन्दर चैत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। यहीं पर प्रतिष्ठित शैवेयजिन की चरण पादुका दर्शन स्पर्शन और पूजन से भावुक मानिजन के पाप को दूर करती है। यहीं पर जीर्णतिनके की तरह समृद्ध राज्य तथा विशाल कुटुम्ब का त्याग कर भगवान् नेमिनाथ ने महाव्रत धारण किये थे। यहीं पर भगवान् केवलज्ञानी हुए तथा जगतहित चिन्तक भगवान् नेमिनाथ ने यहीं से निर्वाण पद पाया।

छंद —अतएवात्र कल्याणत्रय मन्दिरमादधे।
श्री वस्तुपालो मन्त्रीशश्चमत्कारितभव्यहृत ॥९॥
जिनेन्द्रबिम्बपूर्णेन्द्रमण्डपस्था जना इह ।
श्रीनेमेर्मज्जनं कर्तुमिन्द्रा इव चकासति ॥१०॥
गजेन्द्रपदनामास्य कुण्डं मण्डयते शिरः
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं स्नानाऽर्हत्स्नपनक्षमैः ॥११॥
शत्रुञ्जयावतारेऽत्र वस्तुपालेन कारिते
ऋषभः पुण्डरीकोऽष्टापदो नन्दीश्वरस्तथा ॥१२॥

सिंहयाना हेमवर्णा सिद्ध बुद्ध सुतान्विता ।
कम्राम्रलुम्बिभृत् पाणीऽत्राम्बा संघविघ्नहृत् ॥११॥

(वि ती क पृ ७)

यहाँ पर भगवान् के तीन कल्याणक होने के कारण से ही मंत्रीश्वर वस्तुपाल ने सज्जनों के हृदय को चमत्कृत करने वाला तीन कल्याणक मन्दिर बनवाया। जिन प्रतिमाओं से भरे इस इन्द्र मण्डप में रहे हुए, भगवान् नेमिनाथका स्नपन कराने वाले पुरुष इन्द्र की शोभा पाते हैं। इस पर्वत की चोटी को गजेन्द्रपद नामक कुण्ड जो अमृत जैसे जल से भरा और स्नपनीय जिन प्रतिमाओं का स्नपन कराने में समर्थ है, भूषित कर रहा है। यहाँ वस्तुपाल द्वारा कारित शत्रुञ्जयावतार विहार में भगवान् ऋषभदेव गणधर पुण्डरीक स्वामी अष्टापद चैत्य तथा नन्दीश्वर चैत्य यात्रियो के लिये दर्शनीय स्थल हैं। इस पर्वत पर सुवर्ण की सी कान्तिवाली सिंहवाहन पर आरूढ़ सिद्ध-बुद्ध नामक अपने पूर्वभविक दो पुत्रों को साथ लिये कमनीय आम की लुम्ब जिसके हाथ में है, ऐसी अम्बादेवी यहाँ रहती हुई संघ के विघ्नो का विनाश करती है।

उज्जयंत तीर्थ सम्बन्धी उक्त प्रकार के पौराणिक तथा ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुतेरे मिलते हैं, परन्तु उनके विवेचन का यह योग्य स्थल नहीं हम इसका विवेचन यहीं समाप्त करते हैं।

(३) गजाग्रपद तीर्थ

गजाग्रपद भी आचाराङ्ग निर्युक्ति निर्दिष्ट तीर्थों में से एक है, परन्तु वर्तमान काल में व्यवच्छिन्न हो चुका है। इसकी अवस्थिति भूमि में दशार्णपुर नगर के समीपवर्ती दशार्णकूट पर बताई गई है। आवश्यकचूर्णि में भी इस तीर्थ को दशार्णदेश के दशार्णपुर के समीपवर्ती पहाड़ी तीर्थ लिखा है, और इसकी उत्पत्ति का वर्णन भी दिया है, जिसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है।

"एक समय श्रमण भगवान् महावीर दशार्ण देश में विचरते हुए अपने श्रमणसंघ के साथ दशार्णपुरके समीपवर्ती एक उपवन में पधारे। राजा दशार्णभद्र को उद्यानपालक ने भगवान् के पधारने की बधाई दी।

श्रीभगवन्त का आगमन सुनकर राजा बहुत ही हर्षित हुआ। उसने सोचा कल ऐसी तैयारी के साथ भगवन्त को वन्दन करने जाऊँगा और ऐसे ठाट से वन्दन करूँगा जैसे ठाट से न पहले किसी ने किया होगा न भविष्य में कोई करेगा। उसने सारे नगरमें घोषणा करवा दी कि कल अमुक समय में राजा अपने सर्व परिवार के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने जावेगा और नागरिकगण को भी उसका अनुगमन करना होगा।

राजकीय कर्मचारीगण उसी समय से नगर की सजावट, चतुरंगिणी सेना के सज्ज करने तथा अन्यान्य समयोचित तैयारियाँ करने के कामों में जुट गये। नागरिकगण भी अपने-अपने घर, हाट सजाकर रथ यान पालकियां को सजाने लगे।

दूसरे दिन प्रयाण का समय आने के पहले ही सारा नगर ध्वजाओं तोरणों पुष्प मालाओं से सुशोभित था। मुख्य मार्गों में जल छिड़काकर फूल बिखरे गये थे राजा दशार्णभद्र उसका सम्पूर्ण अन्तःपुर और दास दासीगण अपने योग्य यानों (वाहनों) से भगवान् के वन्दनार्थ रवाना हुए, उनके पीछे नागरिक भी रथ पालकियो आदि में बैठकर राजकुटुम्ब के पीछे उमड़ पड़े।

महावीर की धर्म सभा की तरफ जाते हुए राजाके मन में अपूर्व हर्ष था। वह अपने को भगवान् महावीर का सबसे धनिक शाली भक्त मानता था। ठीक इसी समय स्वर्ग के इन्द्र ने भगवान् महावीर के विहार-क्षेत्र को लक्ष्य करके अवधि-ज्ञान का उपयोग किया और देखा कि भगवान् दशार्णकूट पहाड़ी के निकटस्थ उद्यान में विराजमान हैं, और राजा दशार्णभद्र अद्वितीय सज-धज के साथ उन्हें वन्दना करने जा रहा है। इन्द्र ने भी इस प्रसंग से लाभ उठाना चाहा वह अपने ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होकर दिव्य परिवार के साथ क्षण भर में महावीरके पास आ पहुँचा। उसने तीन प्रदक्षिणा देकर दशार्णकूट पर्वत की एक लम्बी चौड़ी चट्टान पर अपना वाहन ऐरावण हाथी उतारा। दिव्य शक्ति से इन्द्र ने हाथी के मस्तक दांतों पर अनेक-अनेक बावड़ियों में अनेक-अनेक कमल और कमलो की कर्णिकाओं पर देवप्रासाद और उनमें होने वाले बत्तीस पात्रबद्ध नाटको के अद्भुत दृश्य दिखलाकर राजा की शक्ति और सजावट को निस्तेज बनाकर उसके अभिमान को नष्ट कर दिया। राजा न

देवा इन्द्र की शक्ति के सामने मेरी शक्ति नगण्य है। भला सूर्यप्रकाश के सामने छोटा सा सितारा कैसे चमक सकता है? उसने अपने पूर्व भव के धर्म कृत्यों की न्यूनता जानी और भगवान् महावीर का वैराग्यमय उपदेशामृत पाकर संसार का मोह छोड़ कर श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।

दशार्णकूट की जिस विशाल शिला पर इन्द्र का ऐरावत खड़ा था उस शिला में उसके अगले पगों के चिन्ह सदा के लिये बन गये। बाद में भक्तजनों ने उन चिन्हों पर एक बड़ा जिन चैत्य बनवाकर उसमें भगवान् महावीरकी मूर्ति प्रतिष्ठित करवाई, तब से इस स्थान का नाम 'गजाग्रपद' तीर्थ सदा के लिये अमर हो गया। आज यह 'गजाग्रपद' तीर्थ भूला जा चुका है। यह स्थान भारत भूमि के किस प्रदेश में था यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है, फिर भी हमारे अनुमान के अनुसार मालवा के पूर्व में और आधुनिक बुन्देलखण्ड के प्रदेश में कहीं होना सम्भवित है।

(४) धर्मचक्र तीर्थ

आचारांग निर्युक्ति सूचित चौथा "धर्मचक्रतीर्थ" है। इस तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण आवश्यक निर्युक्ति तथा उसकी प्राचीन प्राकृत टीका में नीचे लिखे अनुसार मिलता है —

कल्लं सव्विड्ढीए पूए महुऽदट्ठु धम्मचक्कं तु ।
विहरइ सहस्समेगं छउमत्थो भारहे वासे ॥११५॥

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव हस्तिनापुर से विहार करते हुए पश्चिम में बहली प्रदेश की राजधानी तक्षशिला[1] के उद्यान में पधारे। वनपालक ने राजा बाहुबल को भगवान् के आगमन की बधाई दी। राजा ने सोचा कल सर्वऋद्धि विस्तार के साथ भगवान् की पूजा करूँगा। राजा बाहुबल दूसरे दिन बड़े ठाट बाट से भगवान् की तरफ गया परन्तु उसके जाने के पूर्व ही भगवान् वहाँ से विहार कर चुके थे। अपने पूज्य पिता ऋषभ का निवसित स्थान तथा उसके आस पास न देखकर बाहुबलि बहुत ही खिन्न हुआ और वापिस लौटकर भगवान् रात भर जहाँ ठहरे थे उस स्थान पर एक बड़ा गोल चक्राकार स्तूप बनवाया और उसका नाम धर्मचक्र दिया भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थावस्था में एक हजार वर्ष तक विचरे।

आवश्यकनिर्युक्ति गाथा के विवरण में चूर्णिकार ने धर्मचक्र के सबंध में जो विशेषता बताई है वह निम्नलिखित है —

'जहाँ भगवान् ठहरे थे उस स्थान पर सर्व रत्नमय एक योजन परिधिवाला जिस पर पाँच योजन ऊँचा ध्वजदण्ड खड़ा है धर्मचक्र का चिन्ह बनवाया"।

बहली अडंबइल्ला जोणग विसओ सुवण्ण भूमि य ।
आहिंडिया भगवया उसभेण तवं चरंतेण ॥११६॥
बहली य जोणग पल्हगा य जे भगवया समणुसिट्ठा ।
अन्ने य मिच्छजाई ते तइया भद्दया जाया ॥११७॥
तित्थयराण पढमो उसभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो ।
अट्ठावओ णगवरो अग्ग (य) भूमि जिणवरस्स ॥११८॥
छउमत्थप्परियाओ वाससहस्सं तओ पुरिमताले ।
णग्गोहस्स य हेट्ठा उप्पण्णं केवलं णाणं ॥११९॥
फग्गुण बहुले एक्कारसीइ अह अट्ठमेण भत्तेणं ।
उप्पण्णम्मि अणंते महव्वयापंच पण्णवए ॥१४ ॥

अर्थात् बहली (बल्ख-बाक्ट्रिया) अडंब-इल्ला (अटक प्रदेश) यवन (यूनान) देश और सुवर्ण भूमि (ब्रह्म-प्रदेश) इन देशों में भगवान् ऋषभ ने तपस्वी जीवन में भ्रमण किया। बहल यवन पल्हग देशवासी भगवान् के अनुशासन से क्रौर्य का त्यागकर भद्रपरिणामी बने। तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर ऋषभ मुनि सर्वत्र निरुपसर्गता से विचरे आदि। जिनकी अब

१—आधुनिक पश्चिम पंजाब के रावलपिण्डी जिले में "शाह की ढेरी" नाम से जो स्थल प्रसिद्ध है वही प्राचीन तक्षशिला थी, ऐसा चौधरी ने निर्णय किया है।

विहार भूमि अष्टापद पर्वत बना रहा अर्थात् पूर्व पश्चिम भारत के देशों में घूमकर, मध्य भारत में आते तब बहुधा अष्टापद पर्वत पर ही ठहरते। भगवान् ऋषभजिन का छद्मस्थ पर्याय (तपस्वी जीवन) हजार वर्ष तक बना रहा बाद में आपको पुरिमताल नगर के वट वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए केवलज्ञान प्रकट हुआ। उस समय आपने तीन निर्जल उपवास किए थे। फाल्गुण वदी एकादशी का दिन था इन संजोगो में अनन्त केवलज्ञान प्रकट हुआ और आपने श्रमण धर्म के पंच महाव्रतों का उपदेश दिया।

धर्मचक्र को बाहुबलि ने ऋषभदेव के स्मारक के रूप में बनवाया था परन्तु कालान्तर में उस स्थान पर जिनचैत्य बनकर जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई और इस स्मारक ने एक महान् तीर्थ का रूप धारण किया। प्रतिष्ठित जिनचैत्यों में चन्द्रप्रभ नामक आठवें तीर्थंकर का चैत्य प्रधान था इस कारण से इस तीर्थ ने चन्द्रप्रभ के साथ अपना नाम जोड़ दिया और लम्बे काल तक वह इसी नाम से प्रसिद्ध रहा। महानिशीथ नामक जैन सूत्र में इसका वृत्तान्त मिलता है जिसमें से थोड़ा सा अवतरण यहाँ देना योग्य समझते हैं—

अहन्नया गोयमा ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा ण जई भयवं तुमं आणवेही ताण अम्हेहिं तित्थयत्तं करि (१) य चंदप्पहसामियं वंदिया धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो ताहे गोयमा अदीण मनसा अणत्तास गम्भीर महुराए भारतीए भणियं तेणायरिएणं जहा इच्छायारेणं न कप्पई तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं ता जावणं वोलेइ जत्तं तावणं अहं तुम्हें चंदप्पहं वंदावेहामी। अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ एएणं कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ।

अर्थात् (भगवान् महावीर कहते हैं) हे गौतम! अन्य समय वे साधु उस आचार्य को कहते हैं भगवन्! यदि आप आज्ञा दें तो हम तीर्थयात्रा करने तथा चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन करने धर्मचक्र जाकर आजावें। तब हे! गौतम! उस आचार्य ने दृढ़ मन से सोच कर गम्भीर वाणी से कहा—जैसे इच्छाकार से सुविहित साधुओं को तीर्थ यात्रा को जाना नहीं कल्पता इस वास्ते जब यात्रा बीत जावेगी तब मैं तुम्हें चन्द्रप्रभ का वन्दन करा दूंगा। दूसरा कारण यह भी है तीर्थ यात्राओं के प्रसंगों पर साधुओं को तीर्थ पर जाने से असंयम मार्ग में पड़ना पड़ता है इसी कारण से साधुओं के लिए यात्रा निषिद्ध की जाती है।

तक्षशिला का धर्मचक्र बहुत काल पहले से ही जैनों के हाथ से चला गया है। इसके कारण दो हैं। विक्रम की दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था यहीं नहीं तक्षशिला विश्वविद्यालय में हजारों बौद्ध भिक्षुक तथा उनके अनुयायी छात्रगण विद्याध्ययन करते थे। इसी कारण से तक्षशिला तथा पुरुषपुर (पेशावर) के प्रदेशों में हजारों की संख्या में बौद्ध उपदेशक घूम रहे थे। इसके अतिरिक्त यवन सिथियन लोगों के भारत पर होने वाले आक्रमण की जैन संघ को पहले ही सूचना मिल चुकी थी आज से तीसरी वर्ष में तक्षशिला का भंग होने वाला है इससे जैन संघ धीरे-धीरे तक्षशिला से पंजाब की तरफ आ गया था। कुछ लोग दक्षिण की तरफ पहुँच कर जल मार्ग से कच्छ तथा सौराष्ट्र तक चले गये। जाने वाले लोग अपनी धन-सम्पत्ति को ही नहीं अपनी पूज्य देव मूर्तियां तक को वहाँ से हटा ले गये थे। इस दिशा में अरक्षित जैन स्मारकों तथा मन्दिरों पर बौद्ध धर्मियों ने अपना अधिकार कर लिया। तक्षशिला का धर्मचक्र जो चन्द्रप्रभ का तीर्थ माना जाता था उसको भी बौद्धों ने अपना लिया था और उसे बोधिसत्व चन्द्रप्रभ का प्राचीन स्मारक होना उद्घोषित किया।

१—यहाँ यात्रा शब्द तीर्थ पर होने वाले मेले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महानिशीथ में ही नहीं अन्य सूत्रों में भी जैन श्रमणों को तीर्थयात्रा के लिये भ्रमण करना वर्जित किया है। निशीथ सूत्र की चूर्णि में लिखा है —उत्तरावह धम्मचक्कं महुराए देव णिम्मिओ थूहो। कोसलाए वा जियंत पडिमा तित्थकराण वा जम्मभूमिओ एवमादि कारणेहिं गच्छन्तो णिक्कारणिओ (२४१–२) अर्थात् उत्तरापथ में धर्मचक्र मथुरा में देव निर्मित स्तूप अयोध्या में जीवन्त स्वामी प्रतिमा अथवा तीर्थंकरों की जन्मभूमियों इत्यादि कारणों से देश भ्रमण करने वाला साधु निष्कारणिक कहलाता है। उक्त महानिशीथ के प्रमाण से मेले के प्रसंग पर तीर्थ पर जाना साधुओं के लिए वर्जित है। परन्तु निशीथ आदि आगमों के प्रमाणों से केवल तीर्थ दर्शनार्थ भ्रमण करना ही जैन श्रमण के लिये निषिद्ध बताया है। जैन श्रमण के लिए सकारण देश भ्रमण करना विहित है और उस प्रसंग में आने वाली तीर्थ मूर्तियों का दर्शन वन्दन करना आगम विहित है।

बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग जो कि विक्रम की सातवीं शती में भारत में आया था अपने भारत-यात्रा विवरण में लिखता है—"यहाँ पर पूर्वकाल में बोधिसत्व चंद्रप्रभ ने अपना मांस प्रदान किया था जिसके उपलक्ष्य में मौर्य सम्राट् ने उसका यह स्मारक बनवाया है।

उक्त चीनी यात्री के उल्लेख से यह तो निश्चित हो जाता है कि धर्मचक्र विक्रम की सातवीं सदी के पहले ही जैनों के हाथ से चला गया था। निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि यवन सेनापति जो ईसा की तीसरी सदी में आक्रमक बनकर तक्षशिला के मार्ग से भारत में आये उस समय के लगभग ही धर्मचक्र में बौद्धों का स्मारक बन चुका होगा।

५—अहिच्छत्रापार्श्वनाथ

आचारांग निर्युक्ति सूचित पार्श्व-अहिच्छत्रा नगरी स्थित पार्श्वनाथ है। भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रजित होकर तपस्या करते हुए एक समय कुरु जांगल देश में पधारे। वहाँ शंखावती नगरी के समीपवर्ती एक निर्जन स्थान में आप ध्यान निमग्न खड़े थे तब उनके पूर्वभव के विरोधी कमठ नामक असुर ने आकाश से घनघोर जल बरसाना प्रारम्भ किया। बड़े जोरों की वृष्टि हो रही थी। कमठ की इच्छा यह थी कि पार्श्वनाथ को जलमग्न करके उनका ध्यान भंग किया जाय। ठीक इसी समय धरणेन्द्र नागराज भगवान् को वन्दन करने आया और भगवान् पर मूसलाधार वृष्टि होती देखी। धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर अपने फन को छत्र रूप से तान दिया और इस प्रकार वृष्टि करने वाले कमठ का पता लगाया। यही नहीं उसे ऐसे जोरों से धमकाया कि तुरन्त उसने अपने कुकृत्यको बन्द किया और भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में सिर नमाकर उसने धरणेन्द्र से माफी मांगी। उपसर्गके शान्त होने पर, नागराज धरणेन्द्रने अपनी दिव्य शक्तिके प्रदर्शन द्वारा भगवान् की बहुत महिमा की। उस स्थान पर कालान्तर में भक्त लोगों ने एक बड़ा जिन प्रासाद बनवाकर उसमें पार्श्वनाथ की नागफन—छत्रालंकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की। जिस नगरी के समीप उपर्युक्त घटना घटी थी वह अहिच्छत्रानगरी के नाम से प्रसिद्ध हो गई।

'अहिच्छत्रा विषयक विशद वर्णन सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता परन्तु जिनप्रभसूरि ने "अहिच्छत्रा नगरी" कल्प में इस तीर्थ के संबंध में कुछ विशेष बातें कही हैं जिनमें से कुछ एक नीचे दी जाती हैं—

(अहिच्छत्रा) पार्श्व जिन चैत्य की पूर्व दिशा भाग में स्वच्छ मधुर जल के कुण्ड अब भी विद्यमान हैं। इन कुण्डों के जल में स्नान करने वाली मृतवत्सा स्त्रियों (निन्दुओं) की प्रजा स्थिर (जीवित) रहती है। उन कुण्डों की मिट्टी से धातु-वादी लोग सुवर्ण सिद्धि होना बताते हैं।'

"पार्श्वनाथ की यात्रा करने आये हुए धार्मिक गण भी जब भगवान् का स्नात्र महोत्सव करते हैं उस समय कमठ दैत्य यहाँ पर प्रचण्ड पवन वृष्टि बादलों की गड़गड़ाहट और विद्युत् की चमक द्वारा दुर्दिन कर देता है"।

'मूल चैत्य से थोड़ी दूर पर सिद्धक्षेत्र में धरणेन्द्र पद्मावती सेवित पार्श्वनाथ का मन्दिर बना हुआ है।

"नगर के दुर्ग के समीप नमिनाथ की मूर्ति से सुशोभित सिद्ध-बुद्ध नामक दो बालक रूपकों से समन्वित हाथ में आम्रफलों की डाली लिए सिंह पर आरूढ अम्बिका देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

'यहाँ उत्तरा नामक एक निर्मल जल से भरी बावड़ी है जिसके जल में नहाने तथा उसकी मिट्टी का लेप करने से कोढ़ियों का कोढ़ रोग शान्त हो जाता है।

'यहाँ के धन्वन्तरि नामक कुएँ की पीली मिट्टी से आम्नाय वेदियों के उपदेशानुसार प्रयोग करने से सोना बनता है।

"यहाँ ब्रह्म कुण्ड के किनारे मण्डूक पर्णी ब्राह्मी पत्तों का चूर्ण एकवर्णी गाय के दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य की बुद्धि और निरोगता बढ़ती है, और उसका स्वर गन्धर्व का-सा मधुर बन जाता है।"

"बहुधा अहिच्छत्रा के उपवनों में सभी वृक्षों पर वन्देक (बरगा) उगे हुए मिलते हैं, जो अमुक-अमुक कार्य साधक होते हैं। यही नहीं यहाँ के उपवनों में जयन्ती नागदमनी सहदेवी अपराजिता लक्ष्मणा त्रिपर्णी नकुली सकुली सर्पाक्षी सुवर्णशिला, मोहनी श्यामा रविभक्ता (सूर्यमुखी) निर्विषी मयूरशिखा शल्या विशल्यादि अनेक महौषधियाँ मिलती हैं।"

"अहिच्छत्रा में विष्णु शिव ब्रह्मा चण्डिकादि के मन्दिर तथा ब्रह्मकुण्ड आदि अनेक लौकिक तीर्थस्थान भी बने हुए हैं। यह नगरी सुगृहीत नामधेय कण्वऋषि की जन्मभूमि मानी जाती है।

उपर्युक्त अहिच्छत्रा तीर्थस्थान वर्तमान में कुरु देश के किसी भूमिभाग में खण्डहरों के रूप में भी विद्यमान है या नहीं इसका विद्वानों को पता लगाना चाहिए।

६—रथावर्त पर्वत तीर्थ

प्राचीन जैन तीर्थों में रथावर्त पर्वत को निर्युक्तिकार ने छठे नम्बर पर रखा है। यह पर्वत आचाराङ्ग टीकाकार शीलाङ्क सूरि के कथनानुसार अन्तिम दश-पूर्वधर आर्य वज्र स्वामी के स्वर्गवास का स्थान था। पिछले कतिपय लेखकों का मन्तव्य है कि वज्रस्वामी के अनशनकाल में इन्द्र ने आकर रथ में बैठकर इस पर्वत की प्रदक्षिणा की थी जिससे इसका नाम 'रथावर्त' पड़ा था। परन्तु यह मन्तव्य हमारी राय में प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि आर्य वज्रस्वामी के अनशन का समय विक्रमीय प्रथम शताब्दी का अन्तिम भाग है, जबकि आचाराङ्ग निर्युक्तिकार श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी आर्य वज्रस्वामी से सैकड़ों वर्ष पहले हो गए हैं। इससे पर्वत का 'रथावर्त' यह नाम भद्रबाहु स्वामी के पूर्व काल का है इसमें शंका का स्थान नहीं।

रथावर्त पर्वत किस भूप्रदेश में था इस बात का विचार करते समय हमें आर्य वज्रस्वामी के अन्तिम समय के विहारक्षेत्र पर विचार करना होगा। आर्यवज्र स्वामी अपनी स्थविर अवस्था में सपरिवार मालव देश में विचरते थे ऐसा जैन-ग्रंथों के उल्लेखों से जाना जाता है। उस समय भारत में बड़ा भारी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष प्रारम्भ हो चुका था। साधुओं को भिक्षा मिलना तक कठिन हो गया था। एक दिन तो स्थविर वज्रस्वामी ने अपने विद्याबल से आहार मँगवाकर साधुओं को दिया और कहा बारह वर्ष तक इसी प्रकार विद्यापिण्ड से शरीर निर्वाह करना होगा इसप्रकार जीवन-निर्वाह करने में लाभ मानते हों तो वैसा करें अन्यथा अनशन द्वारा जीवन का अन्त कर दें। श्रमणों ने एक मत से अपनी राय दी कि इस प्रकार दूषित आहार द्वारा जीवन निर्वाह करने से तो अनशन से देह त्याग करना ही अच्छा है। इस पर विचार करके आर्य वज्रस्वामी ने अपने एक शिष्य वज्रसेन मुनि को थोड़े से साधुओं के साथ कोंकण प्रदेश में विहार करने की आज्ञा दी और कहा जिस दिन तुमको एक लक्ष सुवर्ण से निष्पन्न भोजन मिले तब जानना कि दुर्भिक्ष का अंतिम दिन है। उसके दूसरे ही दिन से सब सुकाल होने लगेगा। अपने गुरुदेव की आज्ञा सिर चढ़ाकर वज्रसेन मुनि ने कोंकण देश की तरफ विहार किया और वज्रस्वामी ने पाँच सौ मुनियों के साथ रथावर्त पर जाकर अनशन धारण किया।

वज्रस्वामी के उपर्युक्त वर्णन से जाना जा सकता है कि वज्रसेन के विहार करने पर स्वामीजी स्वयं भी तुरंत वहाँ से अनशन के लिये रवाना हो गये हैं और निकट प्रदेश में ही रहते हुए रथावर्त पर्वत पर अनशन किया। प्राचीन विदिशा नगरी (आज का भिलसा) के समीप पूर्व काल में 'कुंजरावर्त' तथा 'रथावर्त' नामक दो पहाड़ियां थीं। वज्रस्वामी ने इसी रथावर्त नामक पर्वत पर अनशन किया होगा और यही रथावर्त पर्वत जैनों का प्राचीन तीर्थ रहा होगा ऐसा हमारा मत है।

७—चमरोत्पात

भगवान् महावीर छद्मावस्था के बारहवें वर्ष में वैशाली की तरफ से विहार करते हुए सुंसुमारपुर नामक स्थान के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ थे तब चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र वहाँ आया और महावीर की शरण लेकर स्वर्ग के इन्द्र शक्र पर चढ़ाई करने गया और सुधर्मा सभा के द्वार तक पहुँचकर शक्र को धमकाने-धमकाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी चमरेन्द्र को मार भगाने के लिए अपना वज्रायुध उसकी तरफ फेंका। आग की चिनगारियों को उगलते हुए वज्र को देख कर चमर जिस रास्ते से आया था उसी रास्ते से भागा। शक्र ने सोचा चमरेन्द्र यहाँ तक किसी भी महर्षि तपस्वी की शरण लिए बिना नहीं आ सकता। देखें यह किसकी शरण लेकर आया है। इन्द्र ने अवधि ज्ञान से जाना कि चमर महावीर का शरणा लेकर आया है, और वहीं जा रहा है। वह तुरन्त वज्र को पकड़ने दौड़ा। चमरेन्द्र अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर भगवान् महावीर के चरणों के बीच घुसा वज्र प्रहार होने के पहले ही इन्द्र ने वज्र को पकड़ लिया। इस घटना से सुंसुमारपुर और उसके आसपास के लोगों में सनसनी फैल गई लोगों के झुण्ड के झुण्ड घटनास्थल पर आए और घटना की वस्तु स्थिति को जानकर भगवान् महावीर के चरणों में झुक पड़े। भगवान् महावीर तो वहाँ से विहार कर गये परन्तु लोगों के हृदय में उनके शरणागत रक्षकत्व की छाप सदा के लिए रह गई, और घटनास्थल पर एक स्मारक बनवाकर चमरोत्पात-आश्रम

भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित की । उस प्रदेश के भद्राल लोग उसे बड़ी श्रद्धा से पूजते तथा कार्यार्थी वणिक तथा सार्थवाह आदि अपनी यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिये भगवान् की शरण लेकर आगे बढ़ते थे । यही भगवान् महावीर का स्मारक मन्दिर आगे जाकर जैनों का चमरोत्पात[1] नामक तीर्थ बन गया जिसका श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग निर्युक्ति में स्मरण-वन्दन किया है ।

चमरोत्पात तीर्थ आज हमारे विच्छिन्न (भूले हुए) तीर्थों में से एक है । यह स्थान आधुनिक मिर्जापुर जिले के एक पहाड़ी प्रदेश में था ऐसा हमारा अनुमान है ।

८—शत्रुंजय तीर्थ

शत्रुंजय आज हमारा सर्वोत्तम तीर्थ माना जाता है, इसका महात्म्य गाने में शत्रुंजय महात्म्यकार ने कुछ कसर बाकी नहीं रखी । यह पर्वत भगवान् ऋषभ देव का मुख्य विहार-क्षेत्र और भरत चक्रवर्ती का सुवर्णमय चैत्य निर्माण का स्थान माना गया है । परन्तु हमारे प्राचीन साहित्य सूत्रादि में इसका विशद विवरण नहीं मिलता । ज्ञाताधर्मकथांग के सोलहवें अध्ययन में पाँच पाण्डवों के शत्रुंजय पर अनशन कर निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है । इसके अतिरिक्त अन्तकृद्दशांग सूत्र में भगवान् नेमिनाथजी के अनेकों साधुओं के शत्रुंजय पर्वत पर तपस्या द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन मिलता है । इससे इतना तो सिद्ध है कि शत्रुंजय पर्वत हजारों वर्षों से जैनों का सिद्ध क्षेत्र बना हुआ है और यह स्थान भगवान् ऋषभदेव का विहार स्थल न मानकर नेमिनाथ का तथा उनके श्रमणों का विहार क्षेत्र मानना विशेष उपयुक्त होगा ।

आवश्यक निर्युक्ति भाष्य चूर्णि आदि से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् ऋषभदेव उत्तर, पूर्व और पश्चिम भारत के देशों में ही विचरे थे । दक्षिण भारत में अथवा सौराष्ट्र भूमि में वे कभी नहीं पधारे । जैन शास्त्रोक्त भारतवर्ष के नक्शे के अनुसार आज का सौराष्ट्र ऋषभदेव के समय में जलमग्न होगा अथवा तो एक अन्तरीप होगा । इसके विपरीत नेमिनाथके समय में यह सौराष्ट्र भूमि समुद्र के बीच होते हुए भी मनुष्यों के बसने योग्य हो चुकी थी । इसी कारण से जरासंध के त्रास से बचने के लिए यादवों ने इस प्रदेश का आश्रय लिया था तथा इन्द्र के आदेश से उनके लिये कुबेर ने यहाँ द्वारिका नगरी का निवेश किया था । भगवान् नेमिनाथ ने उसी द्वारिका के बाहर रैवतक पर्वत के समीप प्रव्रज्या ली थी और बहुधा इसी प्रदेश में विचरे । इस वास्तविक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए सौराष्ट्र प्रदेश तथा उज्जयंत (गिरनार) और शत्रुंजय पर्वत भगवान् नेमिनाथ के विहार-क्षेत्र मानेंगे तो हम वास्तविकता के अधिक समीप रहेंगे ।

९—मथुरा का देव निर्मित स्तूप

मथुरा के देव निर्मित स्तूप का यद्यपि मूल आगमों में उल्लेख नहीं मिलता तथापि छेद-सूत्रों तथा अन्य सूत्रों के भाष्य चूर्णि आदि में इसके उल्लेख मिलते हैं । इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि मथुरा नगरी के बाहर वन में एक क्षपक (तपस्वी जैन साधु) तपस्या कर रहा था उसकी तपस्या और संतोष वृत्ति से वहाँ की वन देवता उसकी विनम्र भक्त बन गई । प्रतिदिन वह साधु को वन्दना करती और कहती मेरे योग्य सेवा कार्य कहना । क्षपक कहता मुझे तुम जैसी अविरत देवी से कुछ कार्य नहीं । देवी जब भी क्षपक को सेवा कार्य के लिए पूछती तो क्षपक भी अपनी तरफसे यही उत्तर देता था । एक समय देवी के मन में आया तपस्वी बार-बार मुझे कोई कार्य न होने को कहा करते हैं तो अब ऐसा कोई उपाय करूँ ताकि यह मेरी सहायता पाने के इच्छुक बनें । उसने मथुरा के निकट एक बड़े विशाल चौक में रात भर में एक बड़ा स्तूप खड़ा कर दिया दूसरे दिन उस स्तूप को जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी अपना-अपना मानकर उस पर कब्जा करने के लिए तत्पर हुए । जैन लोग स्तूप को अपना बताते थे तथा बौद्ध अपना । स्तूपमें लेख अथवा किसी सम्प्रदाय की देवमूर्ति न होने के कारण उसने जैन बौद्धों के बीच झगड़ा खड़ा कर दिया । परिणामस्वरूप दोनों सम्प्रदायों के नेता न्याय के लिए राजा के पास पहुँचे और स्तूप का कब्जा दिलाने की प्रार्थना की । राजा तथा जनता न्याय-विभाग स्तूप जैनों का है अथवा बौद्धों का इसका निर्णय नहीं दे सके ।

---

[1] —चमरेन्द्र के सौधर्मेन्द्र पर चढ़ाई करने के विषय पर भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन मिलता है । परन्तु उसमें चमरोत्पात के स्थल पर स्मारक बनने और तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध होने की सूचना नहीं है । मालूम होता है भगवान् महावीर के प्रवचन का संकलन होने के समय तक यह स्थान जैन-तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध नहीं हुआ था ।

आकर कहने लगी "मैं आपके गुणों से बहुत ही संतुष्ट हूँ मुझसे वरदान मांगिये ।" मुनियों ने कहा हम निस्पृह श्रमण हैं हमें किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं । यह कहकर उन्होंने 'कुबेरा' को धर्म का उपदेश देकर जैनधर्म की श्रद्धा कराई ।

चातुर्मासकी समाप्ति के लगभग कार्तिक सुदी अष्टमी को तपस्वियों ने अपने निवास स्थान की स्वामिनी जानकर 'कुबेरा' को कहा—हे श्राविका ! चातुर्मास पूरा होने आया है, हम यहाँ से चातुर्मासकी समाप्ति होते ही विहार करेंगे । तुम जिन-देव की पूजा भक्ति तथा जैनधर्म की उन्नति में सहयोग देती रहना । देवी ने तपस्वियों को वहीं ठहरने की प्रार्थना की, परन्तु साधु का एक स्थान पर रहना आचार विरुद्ध बताकर उन्होंने उसकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया । कुबेरा ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है तो मेरे योग्य धर्मकार्य का आदेश दीजिये क्योंकि देव दर्शन अमोघ होता है । साधुओं ने कहा—यदि तेरा आग्रह है तो हमें संघ के साथ मेरु पर्वत पर ले जाकर जिन चैत्यों का वन्दन करावे । देवी ने कहा—आप दो को मैं वहाँ ले जा सकती हूँ मथुरा का संघ साथ में होगा तो मुझे भय है कि मिथ्या दृष्टि देव मेरे गमन में विघ्न करेंगे । साधु बोले—यदि संघ को वहाँ ले जाने की तेरी शक्ति नहीं है तो हम दो को वहाँ जाना उचित नहीं है । हम शास्त्र बल से ही मेरु पर्वत स्थित जिन चैत्यों को दर्शन वन्दन करेंगे । तपस्वियों के कथन को सुनकर लज्जित सी होकर कुबेरा बोली—भगवान् ! यदि ऐसा है तो मैं स्वयं जिन प्रतिमाओं से शोभित मेरु पर्वत का आकार यहाँ बना देती हूँ वहाँ पर संघ के साथ आप देव वन्दन करलें । साधुओं ने देवी की बात को स्वीकार किया । तब देवी ने सुवर्णमय नानारत्नशोभित, अनक देवपरिवारित तोरण ध्वज मालाओं से अलंकृत जिसका शिखर छत्र त्रय से सुशोभित है रात-भर में ऐसा स्तूप निर्माण किया जो मेरु पर्वत की तरह तीन मेखलाओं से सुशोभित था । प्रत्येक मेखला में प्रत्येक दिशा में पञ्चवर्ण रत्नमय प्रतिमायें सुशोभित थीं मूलनायक के स्थान पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का बिम्ब प्रतिष्ठित था ।

प्रभात होते ही लोग स्तूप के पास एकत्र हुए, और आपस में विवाद करने लगे । कोई कहते थे यह वासुकी नाग के लाञ्छन वाले स्वयंभूदेव हैं, तब दूसरे कहते थे ये शेषशायी भगवान् नारायण हैं । इसी प्रकार कोई ब्रह्मा कोई धरणेन्द्र (नागराज) कोई सूर्य तो कोई चन्द्रमा कहकर अपनी जानकारी बता रहे थे । बौद्ध कहते थे यह स्तूप नहीं किन्तु 'बुद्धाण्डक' है । इस विवाद को सुनकर मध्यस्थ पुरुष कहते थे यह बिम्ब शक्ति से बना है और दिव्य शक्ति से ही इसका निर्णय होगा तुम आपस में क्यों लड़ते हो ? अपने-अपने इष्टदेव को वस्त्रपट पर चित्रित करवाकर भिन्न-भिन्न मण्डल के साथ ठहरो जिसका स्तूप स्थित देव होगा उसी का चित्रपट रहेगा शेष व्यक्तियों के पट्ट स्थित देव भाग जायेंगे । जैन संघ ने भी सुपार्श्वनाथ का चित्रपट बनवाया । बाद में अपनी-अपनी मंडलियों के साथ चित्रित चित्रपटों की पूजा करके सब धार्मिक सम्प्रदाय वाले उनकी भक्ति करते । नवम दिन की रात्रि का समय था सभी सम्प्रदायों के भक्तजन अपने अपने पट्ट सामने रखकर अपने अपने ध्यान देव का गुणगान कर रहे थे । बराबर अर्द्धरात्रि व्यतीत हुई, तब प्रचण्ड पवन प्रारम्भ हुआ । पवन से तृण-रेती उड़े इसमें तो बड़ी बात नहीं थी परन्तु उसकी प्रचण्डता यहाँ तक बढ़ चली कि उसमें पत्थर तक उड़ने लगे । तब लोगों का धैर्य टूटा वे प्राण बचाव की चिन्ता से वहाँ से भागे । लोगों ने अपने अपने सामने जो देवपूजा पट्ट रखे थे वे लगभग सबके सब प्रचण्ड पवन में विलीन हो गये केवल सुपार्श्वनाथ का एक पट्ट वहाँ रह गया । हवा का बवंडर शान्त हुआ लोग फिर एकत्रित हुए और सुपार्श्वनाथ का पट्ट देखकर बोले यह 'अरिहन्त' देव हैं और यह स्तूप भी इसी देव की मूर्तियों से अलंकृत है । लोग उस पट्ट को लेकर सारे मथुरा नगर में घूमे और तब से 'पट्ट यात्रा' प्रवृत्त हुई ।

इस प्रकार धर्मघोष तथा धर्मरुचि मुनि मेरु पर्वताकार देव निर्मित स्तूप में देव वन्दन कर, नया तीर्थ प्रकाश में लाकर, जैन संघ को आमन्त्रित कर मथुरा से विहार कर गये और क्रमशः कर्मक्षय कर संसार से मुक्त हुए ।

'कुबेरा' देव स्तूप की तब तक रक्षा करती रही जब तक कि पार्श्वनाथ का शासन प्रवर्तित हुआ ।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ विहार क्रम से मथुरा पधारे और धर्मोपदेश करते हुए भावी दुःषमा काल के भावों का निरूपण किया । पार्श्वनाथ के वहाँ से विहार करने के बाद 'कुबेरा' ने संघ को बुलाकर कहा—भविष्य में कनिष्ठ का समय आने वाला है । कालानुभाव से राजादि शासक लोग लोभग्रस्त बनेंगे और इस स्वर्णमय स्तूप को नुकसान पहुँचायेंगे । अतः स्तूप को ईंटों के पर्दे से ढाँक दिया जाय भीतर की मूर्तियों की पूजा मैं अथवा मेरे बाद जो नयी 'कुबेरा' उत्पन्न होगी वह करेगी तब इष्टकामय स्तूप में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रस्तरमय मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा किया करे । देवी की बात भविष्य में लाभ दायक जानकर संघ ने मान्य की और देवी ने निर्धारित योजनानुसार मूल स्तूप को ईंटों के स्तूप से ढाँप दिया ।

इष्टकामय स्तूप पुराना हो जाने से उसमें से ईंटें निकलने लगी थीं इसलिये संघ ने पुराने स्तूप को हटाकर नया पाषाणमय स्तूप बनवाने का निर्णय किया परन्तु 'कुबेरा' ने स्वप्न में कहा इष्टकामय स्तूप को अपने स्थान से न हटाइये उसको मजबूत करना हो तो ऊपर पत्थर का खोल चढ़वा दो। संघ ने वैसा ही किया। आज भी देवनिर्मित स्तूप को अदृश्य रूप से देव पूजते हैं, तथा इसकी रक्षा करते हैं। हजारों प्रतिमाओं से युक्त देवकों, रहने के स्थानों सुन्दर मण्डप कुटी तथा शैलशिखा-स्तम्भ अनेक सत्रगार आदि के निकरों से यह स्तूप सुशोभित है।

पूर्वोक्त भट्टिसूरि ने जो कि ग्वालियर के राजा आम के धर्मगुरु थे मथुरा में वि. सं. ८२६ में भगवान् महावीर का बिम्ब प्रतिष्ठित किया।

मथुरा के देव निर्मित स्तूप की उत्पत्ति का विवरण शास्त्रीय प्रतीकों तथा 'मथुरा कल्प' के आधार से ऊपर दिया गया है। कल्पोक्त वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण हो सकता है, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि यह स्तूप है अति प्राचीन और भारत में विदेशियों के आने के समय यह स्तूप जैनों का एक महिमास्पद तीर्थ बना हुआ था। वर्ष के अमुक समय में वहाँ स्नान महोत्सव होता था और उस प्रसंग पर भारतवर्ष के कोने कोने से तीर्थ यात्रिक यहाँ एकत्र होते थे ऐसा प्राचीन साहित्य के उल्लेखों से सिद्ध होता है। इस बात के समर्थन में 'निशीथ भाष्य' की एक गाथा तथा उसकी चूर्णि का उद्धरण नीचे देते हैं —

थूभ मह सड्ढि समणी बोहिय हरणं च निवसुयायावे।
मज्झेण य अक्कंदे कयम्मि युद्धेण मोएति ॥

अर्थात् मथुरा के स्तूप महोत्सव पर जैन श्राविकायें तथा जैन साध्वियां जा रही थी मार्ग में बोधिक लोग उन्हें घेरकर अपने साथ ले चले। मार्ग जाते-जाते मार्ग के निकट आतापना करते हुए एक राजपुत्र जैन मुनि को देखा। उन्हें देखते ही साध्वियों ने आक्रन्दन (शोर) किया जिसे सुनकर मुनि उनकी तरफ आये और बोधिकों से युद्ध कर आर्यिकाओं को उनके पंजे से छुड़ाया।

उक्त गाथा की विशेष चूर्णि नीचे लिखे अनुसार है —

महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मिओ तस्स महिमा निमित्तं सड्ढीओ समणीहिं समं निग्गयाओ रायपुत्तो तत्थ अदूरे आयावन्तो चिट्ठइ। ता सड्ढी समणीओ बोहियहिं गहियाओ तेण तेणं आगिया तो ता ताहिं तं साहु दट्ठूणं अक्कंदो कओ तो रायपुत्तेण साहुणा युद्धं काऊण मोइयाओ बोधिका अनार्य म्लेच्छाः। (नि वि चू २६८-२)

चूर्णि का भावार्थ गाथा के नीचे दिये हुए अर्थ में आ चुका है इसलिये चूर्णिकार के अन्तिम शब्द 'बोधिक' पर ही थोड़ा सा ऊहापोह करेंगे।

जैन सूत्रों के भाष्यादि में 'बोहिया' शब्द बार-बार आया है। प्राचीन संस्कृत टीकाकार 'बोहिय' शब्द का संस्कृत "बोधिक" शब्द बना कर कहते हैं। बोधिक पश्चिम दिशा के म्लेच्छों को कहते हैं। प्राकृत टीकाकार कहते हैं, मनुष्यों का अपहरण करने वाले म्लेच्छ 'बोहिया' कहलाते हैं। हमारा अनुमान है कि बोधिक अथवा 'बोहिय' कहलाने वाले लोग बोहीमिया के रहने वाले विदेशी थे। वे यूनानियों के भारत पर आक्रमण के समय भारत की पश्चिम सीमा पर इधर-उधर पहाड़ी प्रदेशों में फैल गये थे। मौर्य चन्द्रगुप्त के शासन काल में भारत के पश्चिम तथा उत्तर प्रदेशों में घूमकर यह मनुष्यों को पकड़ पकड़ कर ले जाते और विदेशों में पहुँचा कर गुलाम खरीददारों के हाथ बेच दिया करते थे। हमारा यह अनुमान ठीक हो तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि मथुरा का स्तूप मौर्यकाल का होना चाहिये।

मथुरा का देव निर्मित स्तूप आज भी मथुरा के कंकाली टीले के रूप में भग्न अवस्था में पड़ा है। इसमें से मिली हुई कुषाणकालीन जैन मूर्तियाँ आयागपट जैन-साधुओं की मूर्तियां आदि ऐतिहासिक वस्तुएँ आज भी मथुरा तथा लखनऊ के सरकारी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इन पर राजा कनिष्क हुविष्क और वासुदेव के राज्य काल के लेख भी उत्कीर्ण हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह तीर्थ विक्रम की दूसरी शताब्दि तक उन्नत दशा में था। उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमण से जब पर उत्तेजित हुआ के समय में जैन श्रमण तथा जैन गृहस्थ सामूहिक रूप से दक्षिण भारत की तरफ राजस्थान मेवाड़ मालवा, आदि में चले गये। अतः उत्तर भारत के अन्य जैन तीर्थ रक्षण के अभाव से धीरे-धीरे नष्ट भ्रष्ट हो गए हैं जिनमें मथुरा का देव निर्मित स्तूप भी एक है।

१०—सम्मेद शिखर तीर्थ

सूत्रोक्त जैन तीर्थों में सम्मेद शिखर (पारसनाथ हिल) का नाम भी परिगणित है। आवश्यक निर्युक्तिकार कहते हैं—ऋषभदेव वासुपूज्य नेमिनाथ और वर्धमान (महावीर) इन चार तीर्थंकरों को छोड़ कर इस अवसर्पिणी समा के बीस तीर्थंकर सम्मेद शिखर पर मुक्त हुए थे। इसलिये तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि होने के कारण इसे सम्मेद शिखर तीर्थ कहते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में नियम गच्छ के प्रस्थापक आचार्य इन्द्रनन्दि के बनाये हुए नियमों में एक नियम सम्मेद शिखर के वर्णन में लिखा गया है जिसमें इस तीर्थ का बहुत ही अद्भुत वर्णन किया है। आज से ४ वर्ष पहले ये नियम पोशाम (कच्छ) के भण्डार में से मँगवाकर हमने पढ़े थे।

ऊपर लिखे सूत्रोक्त तथा प्राचीन तीर्थों के अतिरिक्त वैभारगिरि, विपुलाचल कोशल की जीवन्त स्वामी की प्रतिमा अवन्ती की जीवन्त स्वामी प्रतिमा आदि अनेक प्राचीन पवित्र तीर्थों के उल्लेख सूत्रों के भाष्य आदि में मिलते हैं, परन्तु उन सब का एक निबंध में निरूपण करना अशक्य जानकर उन्हें छोड़ देते हैं।

भट्टारक-सम्प्रदाय

(ले० विद्याधर जोहरापुरकर, एम० ए पीएच डी)

१–भट्टारक संज्ञा

प्राचीन संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में भट्टारक शब्द का प्रयोग आदरणीय अथवा पूज्य इस सामान्य अर्थ में किया जाता था। तीर्थंकरो के लिए 'वीर भट्टारक' आदि और प्राचीन आचार्यों के लिए 'भूतबलिभट्टारय' आदि शब्द प्रयोग इसी के उदाहरण हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यादि सम्राटों के लिए भी परमभट्टारक शब्द का विशिष्ट रूप में प्रयोग होता था।

मध्ययुगीन जैन साधुओ के लिए जिस समय भट्टारक संज्ञा रूढ हुई तब उसे एक विशिष्ट अर्थ प्राप्त हुआ। जो आचार्य किसी मठ या मन्दिर से सम्बद्ध स्थावरजंगम सम्पत्ति की व्यवस्था देखते थे उनके लिए यह संज्ञा रूढ हुई। प्राचीन जैन साधुओं के लिए किसी भी प्रकार की सम्पत्ति से सम्बन्ध रखना वर्जित था। इस नियम के अपवाद रूप में धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था देखने की प्रवृत्ति चौथी-पाँचवी सदी से रूढ होने लगी। परम्परानिष्ठ साधुओं ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया तब धीरे धीरे वनवासी और चैत्यवासी इन दो भागों में साधु संघ का विभाजन हुआ। यह प्रक्रिया दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संघों में हुई। किन्तु वनवासी और चैत्यवासी ये शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय में रूढ हुए। दिगम्बर-सम्प्रदाय में चैत्यवासियों के समान साधु द्राविड संघ के रूप में संगठित हुए और वनवासियो के समान साधुओ को बाद में मूलसंघ यह नाम प्राप्त हुआ। देवसेन कृत "दर्शनसार" (संवत् ९९) के कथनानुसार द्राविड संघ की स्थापना आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी के शिष्य वज्रनन्दी ने सन् ५२६ में की थी। समय की गति से बाद की पाँच सदियों में वनवासी और मूलसंघी साधु भी मठ मंदिरों की ओर आकृष्ट होने गए। ग्यारहवी सदी तक ऐसी स्थिति हो गई कि साधुओ के सभी प्रमुख आचार्य मठाधीश होने लगे। इन्ही प्रमुख आचार्यों के लिए भट्टारक शब्द का प्रयोग रूढ हुआ।

२–भट्टारकों का आचार

मठ मन्दिरो की व्यवस्था के साथ-साथ उनकी सम्पत्ति के उपभोग की प्रवृत्ति भी साधुओं मे आ गई। विभिन्न राजाओं के गुरु होने से वे राजगुरु कहलाने लगे और राजा के समान वैभव भी उन्हें प्राप्त होने लगा। 'पालकि-छत्र-सुखासन-चामित' यह उनका सामान्य स्वरूप बना। श्वेताम्बर साधुओ में पहले से ही आवश्यक वस्त्रपात्रो के उपयोग की छूट थी। किन्तु दिगम्बर साधु भगवान् महावीर के आदर्शानुसार वस्त्रपात्र से भी दूर रहते थे। भट्टारकयुग में उनकी यह नि:संगता कम हुई और अपवाद वेष के रूप में दिगम्बर भट्टारक भी वस्त्र धारण करने लगे। इस अपवाद वेष का स्वीकार पहले भ वसन्तकीर्ति द्वारा मण्डपदुर्ग (माण्डलगढ़ राजस्थान) में किया गया। इसका समय तेरहवीं सदी का मध्य है। अब श्वेताम्बर और दिगम्बर भट्टारको में यही फरक रहा कि दिगम्बर सिद्धान्त रूप में नग्नता को श्रेष्ठ मानते रहे और प्रतीक रूप में यथावसर नग्न अवस्था का स्वीकार करने लगे। दीक्षा के समय भोजन के समय और मारणान्तिक सल्लेखना के समय नग्न अवस्था धारण करना दिगम्बर भट्टारकों के लिये योग्य माना जाता था। प्राचीन जैन साधुओं के लिए स्नान वर्जित था। किन्तु यह निषेध भट्टारकों ने स्वीकार नहीं किया। चातुर्मासिक योगधारणा के समय और दीक्षा के समय उनका अभिषेक बड़े समारोह से होता था। कारंजा के भ शान्तिषेण ने (१ वीं सदी) तो सागर स्नान भी किया था। इस सामान्य प्रवृत्ति के अपवादस्वरूप कई भट्टारक तपस्या में भी प्रयत्नशील रहते थे। एकान्तर उपवास करने का अभ्यास भ शुभकीर्ति (११वीं सदी) ने किया था। भ धर्मकीर्ति (१६ वी सदी) सर्वदा नीरस आहार ग्रहण करते थे। भ जिनसेन (१४ वीं सदी) अप्रापन योग धारणा के लिये प्रसिद्ध थे। भट्टारकों की विभिन्न परम्पराओं में विभिन्न रजोहरणों का उपयोग रूढ था। काष्ठा संघ में चमरी गाय के पूँछ की बनी पिच्छी स्वीकार की जाती थी। माथुरगच्छ में पिच्छी का उपयोग नहीं होता था। अन्य दिगम्बर भट्टारक मोरपंख की पिच्छी धारण करते थे। श्वेताम्बरों में ऊन के बने रजोहरण का प्रयोग होता था।

३–भट्टारकों की परम्पराएँ–मूलसंघ

दिगम्बर साधु संघ के इतिहास के विषय में जो अनुश्रुतियाँ प्राप्त हैं उनमें कहा गया है कि आचार्य अर्हद् बलि द्वारा (दूसरी सदी के अन्तिम चरण में) दिगम्बर साधुओं का चार संघों में विभाजन किया गया था। सेन नन्दि, सिंह और देव इन चार संघों के नाम थे। भट्टारक युग में सिंह और देवसंघों का विशेष परिचय नहीं मिलता। सेन और नन्दिसंघ मे इस समय मूलसंघ के उपभेद माने गए। सेनसंघ के लिये सेनान्वय अथवा सेन गण इन संज्ञाओं का प्रयोग रूढ हुआ और नन्दि संघ के लिए नन्दिगण अथवा नन्द्याम्नाय ये संज्ञाएँ रूढ हुईं। इन संघों में कोई सैद्धान्तिक अथवा आचारविषयक मतभेद नहीं था। मैं इन संघों के लिये भट्टारकयुग में कुछ और पर्यायनामसभी रूढ हुए। सेनगण के लिए पुष्करगच्छ और वृषभसेन अन्वयादि नामान्तर प्रयुक्त हुए। नन्दिगण का विशिष्ट रूप बलात्कार गण था। इसके लिये सरस्वतीगच्छ और कुंदकुंदाचार्यान्वय ये नामान्तर रूढ हुए। इस तरह किसी मूर्तिलेख में भट्टारकों का उल्लेख 'श्री मूलसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे वृषभसेनगणधरान्वये अथवा श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये इस प्रकार होने लगा।

सेनगण और बलात्कारगण इन दोनों परम्पराओं के कई भट्टारकपीठ मध्ययुग में स्थापित हुए थे। सेनगण के पीठ कोल्हापुर, (महाराष्ट्र) जिनकांची (मद्रास) पेनुगोण्ड (आन्ध्र) और कारंजा (विदर्भ) इन चार स्थानों में थे। बलात्कारगण के पीठों में दक्षिण में मलयखेड (महाराष्ट्र) प्रधान था जो बाद में कारंजा को स्थानान्तरित हुआ। कारंजापीठ की शाखाएँ लातूर और औरंगाबाद में (दोनों महाराष्ट्र में) स्थापित हुई थी। बलात्कारगण की उत्तरीय शाखा के प्रारम्भ काल के भट्टारकों का निवासस्थान अजमेर था। भ. पद्मनन्दी (१४ वी सदी) इस शाखा के प्रमुख भट्टारक थे। इनके तीन शिष्यों से पृथक्-पृथक् परम्पराओं का आरम्भ हुआ। भ. शुभचन्द्र से दिल्ली में भ. सकलकीर्ति से ईडर में और भ. देवेन्द्रकीर्ति से सूरत में ये परम्पराएँ आरम्भ हुईं। इन्हीं की उप-शाखाएँ बाद में जयपुर, नागौर, अटेर, सोनागिरि, मानपुर, चेरहट आदि स्थानों मे स्थापित हुई। इस तरह इस गण का कार्यक्षेत्र गुजरात राजस्थान और मध्यप्रदेश इन तीन राज्यों में था।

मूल संघ के इन दो गणों के अतिरिक्त दक्षिण में देशीयगण के पीठ मूडबिद्रे, कारकल, श्रवणबेलगोल तथा हुम्बच इन स्थानों में स्थापित हुए थे। पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्दान्वय ये इस गण के नामान्तर थे। इस तरह यह गण प्रधानतः कर्नाटक में कार्यशील रहा। इसी क्षेत्र में क्राणूरगण आदि कुछ और परम्पराएँ भी रही थी।

समय की दृष्टि से देखा जाय तो सेनान्वय का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य गुणभद्र के उत्तर पुराण की प्रशस्ति में (सन् ८९८ में) मिलता है। गुणभद्र के गुरु आचार्य जिनसेन पंचस्तूपान्वय के प्रमुख आचार्य वीरसेन के शिष्य थे। अतः पंचस्तूप यदि सेनान्वयका पूर्वरूप माना जाय तो इस परम्परा की प्राचीनता पाँचवी सदी तक पहुँचती है। पाँचवी सदी में पंचस्तूपान्वय के गुहनन्दी आचार्य का उल्लेख मिला है। किन्तु सेनगण के मध्ययुगीन भट्टारक परम्पराओं का व्यवस्थित वृत्तान्त १५वी सदी से मिल सका है। उनका इन प्राचीन आचार्य परम्पराओं से क्या सम्बन्ध रहा यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। इसी तरह बलात्कारगण के प्राचीन उल्लेख आचार्य श्रीचन्द्र के ग्रन्थों में (११वी सदी में) मिलते हैं और मध्ययुगीन भट्टारक पीठों का वृत्तान्त १३ वी सदी से प्राप्त होता है।

४–भट्टारकों की परम्पराएँ–काष्ठासंघ

दिगम्बर भट्टारकों की परम्परा में काष्ठासंघ का स्थान वैशिष्ट्यपूर्ण है। मध्ययुग में इस संघ के अन्तर्गत माथुरगच्छ, पुन्नाट, या लाडबागडगच्छ बागडगच्छ और नन्दीतटगच्छ ये चार शाखाएँ थी। किन्तु इनमें पहली तीन शाखाएँ १२ वी सदी तक स्वतन्त्र संघों के रूप में विद्यमान थी। माथुर संघ के आचार्य अमितगति (११ वी सदी) पुन्नाटसंघ के आचार्य जिनसेन (८वीं सदी) तथा हरिषेण (१० वी सदी) और बागड संघ के आचार्य सुरसेन (१० वी सदी) इन सभी ने काष्ठासंघ का उल्लेख नहीं किया है। इसलिए अनुमान होता है कि १२ वी सदी के आरम्भ में उपर्युक्त चार शाखाओं का एकीकरण होकर यह संघ स्थापित हुआ होगा। इसलिए आचार्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने संवत् ७५३ में नन्दीतट ग्राम में इस संघ की स्थापना की यह कथा (देवसेनकृत दर्शनसार) पूरी तरह ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होती। काष्ठासंघ के चारों गच्छों के नाम स्थानवाची हैं। मथुरा नगर से माथुरगच्छ, पुन्नाट (कर्नाटक) प्रदेश से पुन्नाटगच्छ बागड (पूर्व गुजरात) प्रदेश

से बागडगच्छ और नन्दीतट (नान्देड-महाराष्ट्र) ग्राम से नन्दीतटगच्छ ये नाम लिये गए हैं। पुन्नाटगच्छ के आचार्य अपना मूलप्रदेश छोड़कर लाट (दक्षिण गुजरात) प्रदेश में विहार करने लगे इसलिये उस गच्छको लाडबागड यह नवीन नाम प्राप्त हुआ था। काष्ठासंघ यह नाम है सम्भवतः काष्ठा नगर से लिया गया था। १२ वी सदी में दिल्ली के उत्तर में टक्क प्रदेश की यह राजधानी थी।

माथुरगच्छ की भट्टारक परम्परा के पीठ ग्वालियर तथा बिहार में थे। १४ वी सदी से इस परम्परा का व्यवस्थित वृत्तान्त प्राप्त होता है। पुष्करगण तथा लोहाचार्याम्नाय इस गच्छ के नामान्तर थे। लाडबागड गच्छ के पीठ गुजरात तथा वागड में थे। इसका वृत्तान्त भी १४ वी सदी से प्राप्त होता है। इस गच्छ के नामान्तर प्राप्त नहीं होते विद्यागण तथा रामसेनान्वय ये नन्दीतट गच्छ के नामान्तर थे। इसका पीठ सूरत में था। इसका वृत्तान्त १५वी सदी से प्राप्त होता है। बागडगच्छ का विशेष परिचय नहीं मिलता।

५-भट्टारकों का कार्य—मूर्तिप्रतिष्ठा

भट्टारक पीठों की स्थापना मठ और मन्दिरों की व्यवस्था के लिये हुई थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा यह भट्टारकों के जीवन का प्रमुख कार्य रहा। भट्टारकों के इतिहास के साधनों में आज से अधिक संख्या मूर्ति लेखों की है। मूर्ति प्रतिष्ठा के प्रति इतना अनुराग होने के दो कारण थे। एक तो मुस्लिम शासकों द्वारा सर्वत्र मूर्तियाँ नष्ट की गई थी और उनके स्थान में नई मूर्तियों की स्थापना इष्ट थी। दूसरा कारण यह है कि मूर्तिप्रतिष्ठा के उत्सव का सामाजिक महत्त्व भी था। साधारण से प्रतिष्ठा समारोह के लिये भी हजारों श्रद्धालु उपासक एकत्र आते थे और धार्मिक प्रवृत्ति तथा सामाजिक एकता की भावना उनमें दृढ होती थी। मूर्ति प्रतिष्ठा के समय गजरथ चलाकर संघपति सिंघई आदि पद प्राप्त करना सामाजिक श्रेष्ठत्व प्राप्त करने का निश्चित मार्ग था।

इस युग की मूर्तियों में पाषाण की अपेक्षा धातु की मूर्तियों का प्रमाण बढ़ता गया। मूर्तियों में विविधता भी बढ़ी। तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठि, नन्दीश्वर, पंचमेरु, सहस्रकूट सरस्वती चक्रेश्वरी पद्मावती और अन्य यक्षिणी क्षेत्रपाल गुरु आदि प्रकारों की मूर्तियाँ इस युग में स्थापित की गई। जैन मूर्तिकला के आरम्भ काल से १२ वी सदी तक मुख्य तीर्थंकर मूर्ति के साथ यक्ष यक्षिणी छत्र चामर, भामण्डल आदि अलंकरण भी उत्कीर्ण होते थे। भट्टारक युग में अलंकरण उत्कीर्ण करने की पद्धति लुप्तप्राय हुई और तीर्थंकर मूर्तियों का स्वरूप बहुत सादा हो गया। इन मूर्तियों का निर्माण मुख्यतः राजस्थान में होता था। मूर्तियों का विस्तार दो इंच से बीस फुट तक विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। विविध यन्त्रों की स्थापना यह इस युग की विशेष निर्मिति थी। दशलक्षणधर्म षोडशकारण भावना द्वादशांग आगम नवग्रह, ऋषिमण्डल और वशीकरण ये यन्त्रों के विविध प्रकार हैं। मूर्ति और यन्त्रों पर प्रतिष्ठा समारोह का विवरण लिखने की पद्धति सर्वत्र रूढ थी। इस विवरण में प्रतिष्ठा का समय प्रतिष्ठाकर्ता सेठ की वंशपरम्परा प्रतिष्ठासंचालक भट्टारक की गुरुपरम्परा स्थान स्थानीय तथा प्रादेशिक शासक का नाम और मंगल सूचक वाक्य इतनी बातों का समावेश होता था। मूर्ति छोटी हो तो इनमें से कुछ बातों का विवरण छोड़ भी दिया जाता था।

संवत् १५४८ में मुडासा शहर के सेठ जीवराज पापड़ीवाल द्वारा किया गया प्रतिष्ठा समारोह उल्लेखनीय है। इस समारोह में दिल्ली के भ. जिनचन्द्र भ. भानुचन्द्र भ. गुणचन्द्र आदि ने भाग लिया था। इस समय एक हजार से अधिक मूर्तियाँ स्थापित की गई और बाद में स्थान-स्थान के मन्दिरों में भेजी गई। भारतवर्ष के प्रायः सभी दिगम्बर जैन मन्दिरों में इस समय की मूर्तियाँ पाई जाती हैं।

६-शिष्यपरम्परा

जैन परम्परा में शास्त्राध्ययन की प्रवृत्ति कुल पर आधारित नहीं थी। इसलिये शिष्य परम्परा का विस्तार करने की आवश्यकता जैन संघ में सदैव रही। भट्टारकों ने भी इस आवश्यकता को पूर्ण करने का प्रयास किया। अपने विविध शिष्यों द्वारा विविध शास्त्रों के अध्ययन को उन्होंने प्रोत्साहन दिया और उनके द्वारा नये ग्रन्थों की रचना भी करवाई। इस दृष्टि से पण्डित राजमल्ल, ब्रह्मश्रुतसागर सूरि, ब्रह्मजिनदास आदि शिष्यों के नाम उनके गुरुओं से भी अधिक स्मरणीय हुए हैं। भट्टारकों के शिष्यों में सबसे प्रमुख शिष्य को बाद में भट्टारक पद प्राप्त होता था। अन्य शिष्य यदि महत्त्वाकांक्षी हों तो

स्वतन्त्र भट्टारक पीठ स्थापित करते थे अथवा मण्डलाचार्य के रूप में अपनी पृथक शिष्य परम्परा चलाते थे। इन अनभिषिक्त भट्टारकों की परम्परा कभी-कभी छह सात पीढ़ियों तक चलती रहती थी।

भट्टारकों के शिष्य वर्ग में जैनेतरो का समावेश भी यदा कदा होता था। द्विजविश्वनाथ भ० इन्द्रभूषण (१७ वी सदी) के शिष्य थे। पण्डित हाथी भ राजकीर्ति (१७ वी सदी) के शिष्य थे। भूपति प्राज्ञ मिश्र ने भ० इन्द्रभूषण के आदेश से गोमटेश्वर बाहुबली का स्तोत्र लिखा था। व्याकरण कोषादि ग्रन्थ पढ़ाने के लिये ये विद्वान् सम्भवत भट्टारकों के साथ रहे थे।

जैनेन्द्र व्याकरण गणितसारसंग्रह, कल्याणकारक आदि शास्त्रीय ग्रन्थ जैनेतर समाज द्वारा उपेक्षित ही रहे थे। इनके पठन-पाठन की परम्परा भट्टारको के शिष्यों में ही कुछ हद तक चलती रही अन्यथा इन ग्रन्थों का लोप अवश्यम्भावी था।

७—साहित्य रचना

भट्टारको और उनके शिष्यो द्वारा लिखे गये उपलब्ध ग्रन्थो की संख्या करीब ४ ० है। इस साहित्य में पुराण कथा और पूजापाठ ये विषय प्रधान थे। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी गुजराती राजस्थानी मराठी तथा कन्नड इन भाषाओं में यह साहित्य मिलता है। पुराणग्रन्थ मुख्यत रविषेणकृत पद्मचरित जिनसेनकृत हरिवंशपुराण तथा जिनसेन एवं गुणभद्र के महापुराण पर आधारित हैं। पुराणलेखकों में भ सकलकीर्ति (१५ वी सदी) प्रमुख थे। आदिपुराण चन्द्रप्रभपुराण, शान्तिनाथपुराण नमिनाथपुराण पार्श्वपुराण वर्धमान पुराण सुकुमार चरित्र यशोधरचरित्र आदि ग्रन्थ सकलकीर्तिकृत हैं। जनसाधारण के लिये सुबोध संस्कृत में इनकी रचना हुई है। सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्मजिनदास ने गुजराती में विपुल लेखन किया। रामायण रास (स १५ ८) हरिवंशरास (सं १५२) यशोधररास जीवन्धररास जंबूस्वामीरास श्रीपालरास आदि ग्रन्थ जिनदासकृत हैं। संस्कृतपुराणो में सोमसेनकृत रामपुराण (सं १६५६) धर्मचन्द्रकृत गौतमचरित (स १७२६) शुभचन्द्रकृत करकण्डचरित (सं १६११) तथा पाण्डवपुराण (सं १६ ८) विद्यानन्दिकृत सुदर्शनचरित (१६वी सदी) अजितकृत हनुमच्चरित (१६वी सदी) वादिचन्द्रकृत पार्श्वपुराण (सं १६४) तथा यशोधर चरित (सं १६५७) धर्मकीर्तिकृत हरिवंशपुराण (स १७७१) राजमल्लकृत जंबू स्वामी चरित (१६वी सदी) सोमकीर्तिकृत यशोधरचरित (स १६३६) कृष्णदासकृत विमलपुराण (सं १६७४) श्री भूषणकृत शान्तिनाथ पुराण (सं १६५९) तथा हरिवंशपुराण एवं चन्द्रकीर्तिकृत पार्श्वपुराण (सं १६५४) उल्लेखनीय हैं। गुजराती के पुराण ग्रन्थों में वादिचन्द्र कृत श्री पाल आख्यान (स १६५१) तथा पार्श्वनाथ छन्द, जयसागरकृत सीताहरण (स १७१२) अनिरुद्धहरण तथा छत्र चरित्र चन्द्रकीर्तिकृत पाण्डवपुराण पामोकविकृत भरत भुजबलि चरित (शक १६१४) जयसागर कृत पार्श्वपुराण (स (१७५६) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में शालिवाहन कृत हरिवंशपुराण (सं १६९५) खुशालचन्दकृत हरिवंशपुराण (सं १७८) आदि की रचना हुई। अपभ्रंश पुराणो में माणिक्यराजकृत अमरसेनचरित (सं १६७६) महिन्द विरचित शान्तिपुराण (सं १५८६) रइधूकृत सम्मतिजिनचरित सिंहसेनकृत आदिपुराण (१५ वी सदी) श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण (स १५५२) तथा धनपालकृत बाहुबलिचरित ये प्रमुख है। मराठी में गुणदासकृत श्रेणिकचरित (१५ वी सदी) मेघराजकृत यशोधररास (१६वी सदी) नागोआयाकृत यशोधरचरित (१६ वी सदी) जीवदासकृत सुदर्शनचरित (१७ वी सदी) गुणकीर्तिकृत पद्मपुराण (१५ वी सदी) जिनदासकृत हरिवंशपुराण (१५ वी सदी) महीचन्द्रकृत आदिपुराण (शक १६१८) तथा जिनसागरकृत जीवन्धरपुराण (शक १६५६) प्रमुख पुराण ग्रन्थ हैं।

भट्टारक युग के साहित्य का दूसरा प्रमुख विषय व्रतकथा है। आकाशपंचमी नागपंचमी श्रुतपंचमी कोकिलपंचमी चंदनषष्ठी मोक्षसप्तमी निर्दुःखसप्तमी रत्नसप्तमी सुगन्धदशमी कलशदशमी मौन एकादशी श्रुतस्कन्ध द्वादशी अनन्त चतुर्दशी पल्यविधान लब्धिविधान दशलक्षण षोडशकारण मेरुपंक्ति विमान पंक्ति आदि अगणित व्रतो का प्रादुर्भाव इस युग में हुआ और उनका माहात्म्य बतलानेवाली कथाएँ भी लिखी गईं। संस्कृत में श्रुतसागरसूरि, गुजराती में ब्रह्मजिनदास तथा मराठी में जिनसागरद्वारा लिखी गई व्रतकथाएँ संख्या में अधिक हैं।

इस युग में स्थापित की गई विविध मूर्तियो की पूजा के लिये लिखे गये पाठ यह भट्टारक साहित्य का तीसरा प्रमुख विषय है। अष्टक स्तोत्र जयमाला आरती तथा सहस्रनाम ये पूजापाठो के विविध प्रकार हैं। इनकी भाषा संस्कृत

तथा अपभ्रंश है जिसमें हिन्दी और गुजराती का भी बहुत मिश्रण हुआ है। पद्मनन्दीकृत सिद्धपूजा श्रुतसागरकृत श्रुतस्कन्ध पूजा तथा कलिकुण्ड पूजा शुभचन्द्रकृत ऋषिमण्डल पूजा जिनदासकृत सरस्वती पूजा सुरेन्द्रकीर्तिकृत पद्मावती पूजा मल्लिसागरकृत ज्वाला-मालिनी पूजा आदि पूजा पाठ लोकप्रिय रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से जयसागरकृत तीर्थजयमाल ज्ञानसागरकृत तीर्थावली तथा विभिन्न भट्टारकों की उनके शिष्यों द्वारा लिखी गई पूजाएँ उपयुक्त सिद्ध हुई हैं।

इस युग में विचारप्रधान साहित्य का परिमाण कम रहा। फिर भी धर्मभूषणकृत न्यायदीपिका (१४ वीं सदी) शुभचन्द्रकृत षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेश तथा संशयिवदनविदारण (१६ वीं सदी) एवं राजमल्लकृत पंचाध्यायी (१६ वीं सदी) ये न्यायशास्त्र के ग्रन्थ उल्लेखयोग्य हैं। प्राकृतभाषा के दो व्याकरण शुभचन्द्र तथा श्रुतसागरसूरि ने लिखे हैं। पण्डित भगवतीदास (भ. महेन्द्र सेन के शिष्य) की रचनाओं में ज्योतिषसार, वैद्य-विनोद तथा अनेकार्थनाममाला (१७ वीं सदी) उल्लेखनीय हैं। आध्यात्मिक प्रतिपादन का प्रयत्न ज्ञानभूषण के तत्त्वज्ञानतरंगिणी में (१६ वीं सदी) तथा राजमल्लकृत अध्यात्मकमल मार्तण्ड में यशस्वी हुआ है। आचार धर्म के बारे में सकलकीर्ति कृत मूलाचार प्रदीप तथा प्रश्नोत्तरोपासकाचार, मेधावी कृत धर्मसंग्रह, नेमिदत्तकृत लाटी संहिता (१६ वीं सदी) आदि ग्रन्थ लिखे गये थे।

८–जाति संघटना

साधुपद धारण करने से भट्टारक जाति के बन्धनों से मुक्त थे। किन्तु मध्ययुगीन समाज में जाति-संस्था का प्रभाव व्यापक था। उससे वे अलिप्त भी नहीं रह सके। इसलिए भट्टारकों की बिरुदावलियों में 'अग्रोतकान्वयगगनदिनमणि' 'बघेरवालज्ञातिशृंगारहार' 'खण्डेलवालज्ञातीयमुकुटमणि' आदि विशेषण भी पाये जाते हैं। विभिन्न भट्टारकपीठों से विशिष्ट जातियों का सम्बन्ध रहा था। बलात्कारगण के सूरतपीठ से हूमड, अटेरपीठ से लमेचू, जेरहटपीठ से परवार, दिल्ली जयपुरपीठ से खण्डेलवाल तथा लातूरपीठ से सैतवाल जाति का विशिष्ट सम्बन्ध था। काष्ठासंघ—माथुरगच्छ के अनुयायी प्रायः अग्रवाल थे।

जातियों की स्थापना के बारे में भी कुछ कथाओं में भट्टारकों का सम्बन्ध बतलाया है। नरसिंहपुराजाति रामसेन द्वारा तथा भट्टपुराजाति नेमिषेणद्वारा स्थापित मानी जाती थी। ऐतिहासिक काल में भी भ. देवेन्द्रकीर्ति (१५ वीं सदी) को रत्नाकर जाति का स्थापक कहा गया है। अग्रवाल जाति में मूलसंघीय आचार्य रामसेन और काष्ठासंघीय आचार्य लोहाचार्य द्वारा धर्मस्थापना की कहानी मिलती है।

मध्ययुग में खान-पान विवाहसम्बन्ध व्यवसाय और ऊँच-नीच की कल्पना इन चारों बातों पर जाति का नियंत्रण था। इस नियंत्रण को भंग करने वाले व्यक्ति को बहिष्कार द्वारा दण्डित किया जाता था। जाति के इस स्वरूप को बनाये रखने में भट्टारकों का योग भी सदैव रहा। इसीलिये उन्हें धर्मगुरु के साथ-साथ सामाजिक शासक का रूप भी प्राप्त हुआ था।

९–मन्त्रसाधना

विशिष्ट मन्त्रों की साधना करके किसी देवी या देव को प्रसन्न कर लेना यह भट्टारकों का विशेष कार्य माना जाता था। इन देवी-देवों की सहायता से विभिन्न चमत्कारजनक दृश्य उत्पन्न करके धर्मप्रभावना की जाती थी। भ. मल्लिभूषण ने पद्मावतीदेवी को प्रसन्न किया था तथा भ. महेन्द्रसेन ने क्षेत्रपाल को सम्बोधित किया था ऐसा वर्णन पट्टावलियों में मिलता है। पालकी में बैठकर आकाश मार्ग द्वारा जाने का चमत्कार भ. सोमकीर्ति ने पावागढ में तथा अभयकीर्ति ने मालवी में बतलाया था। भ. पद्मनन्दी ने गिरनार की यात्रा के समय सरस्वती की पाषाणमूर्ति के मुख से दिगम्बरों की प्राचीनता सिद्ध की थी। कारंजा के भ. जिनसेन को भोजन में वत्सनाग का मिश्रण होने से विषबाधा हुई यह उन्होंने विषापहारस्तोत्र के पाठ से ही दूर की थी।

१०–कला कौशल

मध्य युग में धर्म ही समाज जीवन का केन्द्र था। अतः मूर्तिनादि कलाएँ धर्म के आश्रय से ही इस युग में जीवित रहीं। भट्टारकों और उनके शिष्यों द्वारा इस युग में जो पूजा पाठ लिखे गये वे विशेष रूप से गेय हैं। ग्रीष्म माघ की

अपेक्षा मधुर शब्दरचना को इन पूजा पाठों में अधिक महत्त्व मिला। भट्टारक मठों में प्रायः सर्वत्र भजन मण्डलियाँ नियमित रूप से कार्य करती थीं। भजनों के साथ कभी-कभी—विशेषतः प्रतिष्ठा समारोह में नृत्यों का भी आयोजन होता था। मन्दिरों को चित्रों द्वारा सुशोभित करने का प्रयास कुछ भट्टारकों ने किया था। विभिन्न कथाओं की हस्तलिखित प्रतियों में भी कई बार सुन्दर चित्र बनाये जाते थे।

११–परस्पर सम्बन्ध

भट्टारकों के विभिन्न पीठों में प्रायः अच्छे सम्बन्ध रहे थे। यद्यपि व्यक्तिगत द्वेष को साम्प्रदायिक रूप देने का प्रयत्न क्वचित् हुआ था। नन्दीतट गच्छ के भ. सोमकीर्ति के साथ सेनगण के भ. वीरसेन ने एक ही प्रतिष्ठा समारोह में (१५ वीं सदी) भाग लिया। सेनगण के भ. जिनसेन (१७ वीं सदी) पूर्वाश्रय में बलात्कारगण के भ. पद्मनन्दी के शिष्य थे। परस्पर सहकार्य के ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। साम्प्रदायिक विरोध का उत्तम उदाहरण नन्दीतटगच्छ के भ. श्रीभूषण (१७ वीं सदी) और उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति की कविताओं में मिलता है। इनमें मूल संघ की तरह-तरह से निन्दा की है।

१२–अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

धार्मिक प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप कई बार विभिन्न ब्राह्मण पण्डितों से भट्टारकों के वाद-विवाद हुए थे। भ. वादि सागर ने नीलकण्ठ भट्ट का (१६ वीं सदी) प्रतापकीर्ति ने केदारभट्ट का (१६ वीं सदी) चन्द्रकीर्ति ने कृष्णभट्ट का (१७ वीं सदी) तथा धारसेन ने मलयचर भट्ट का (१५वीं सदी) वादविवाद में पराजय किया था। इसी प्रकार श्वेताम्बर पण्डितों से भी उनके सम्बन्ध विरोधपूर्ण रहते थे। भ. श्री भूषण और हीरविजयसूरि का एक बार विवाद हुआ था। लोकागच्छ के प्रति गुणसागरसूरि के विचार बहुत ही अनुदार थे। तीर्थ क्षेत्रों के अधिकार के विषय में ये संघर्ष बहुत तीव्र हुए थे। तीर्थंकर मूर्तियों को मूल्यवान वस्त्रों और अलंकारों से सजाने की श्वेताम्बर पद्धति इस विरोध का प्रमुख कारण थी।

१३–शासकों से सम्बन्ध

भट्टारक युग में जैनधर्म राजधर्म नहीं था तथापि कई राज्यों में मन्त्री सेनापति आदि जैन होते थे और भट्टारकों के शिष्यों में उनका समावेश होता था। विजयनगर के राजा हरिहर के मन्त्री इरुग दण्डनायक ने भ. धर्मभूषण के उपदेश से राजधानी में विशाल कुन्थुनाथ मन्दिर बनवाया (१४ वीं सदी)। ईडर के राव भाणजी के मन्त्री भोजराज जैन थे। इनके कुटुम्बियों ने भुवनकीर्ति सूरि के साथ गजपन्थक्षेत्र की यात्रा की थी (१६ वीं सदी)। जयपुर राज्य के विभिन्न दीवान जैन थे। जयपुर के भट्टारकों को उनसे अच्छी सहायता मिली थी।

मुस्लिम शासकों के दरबारों में भी कई बार भट्टारक सम्मानित हुए थे। कलबुर्गी के सुलतान फिरोजशाह ने भ. नरेन्द्रकीर्ति का सम्मान किया (१५ वीं सदी)। मालवा के सुलतान गियासुद्दीन भ. मल्लिभूषण के प्रशंसक थे (१६ वीं सदी)। दिल्ली में मुहम्मदशाह नासिरुद्दीन के दरबार में भट्टारक प्रभाचन्द्र सम्मानित हुए थे (१३ वीं सदी)। भ. विशालकीर्ति ने दिल्ली के सुलतान सिकन्दर (१५ वीं सदी) द्वारा सम्मान पाया था।

१४ भट्टारक सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया

इस तरह धार्मिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील रहने पर साधारण भट्टारक जैन साधुत्व के आदर्श से कुछ दूर ही थे। मठ मन्दिरों के सम्बन्ध के कारण वे विपुल परिग्रह से युक्त हुए। गृहस्थों से मेल-जोल बढ़ने के कारण मन्त्रवाद ज्योतिष वैद्यक आदि में उनका बहुत सा समय बीतने लगा। इसलिये प्राचीन धर्मग्रन्थों के अभ्यासक विद्वान् भट्टारकों को कुछ अनादर की दृष्टि से देखने लगे। ऐसे विद्वानों ने कुन्द-कुन्द, अमृतचन्द्र सोमप्रभ आदि आचार्यों के अध्यात्मग्रन्थों का अध्ययन विशेष रूप से शुरू किया था इसलिये वे अध्यात्मी कहलाये। १७ वीं सदी में पण्डित बनारसीदास द्वारा इस परम्परा को अच्छा बल मिला। यही अध्यात्मी विद्वानों की परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय में तेरापन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुई। भट्टारकों द्वारा मूर्ति-पूजा का जो अतिरेक हुआ उसकी प्रतिक्रिया के रूप में दिगम्बरों में तारण पन्थ की स्थापना हुई, जिसमें मूर्ति-पूजा का सर्वथा निषेध किया गया।

१५ ऐतिहासिक मूल्य

इस तरह स्पष्ट होगा कि मध्ययुगीन जैन समाज के नेताओं के रूप में भट्टारकों का स्थान महत्त्वपूर्ण था। व्यवस्थित शिष्य परम्परा ग्रन्थलेखन और पठन-पाठन मूर्ति व मन्दिर निर्माण और धार्मिकचर्या द्वारा जैनधर्म के संरक्षण का प्रयास

भट्टारकों ने किया। गत एक हजार वर्षों का जैन समाज का इतिहास लिखना हो तो भट्टारकों के कार्य को भुला देना सम्भव नहीं है। यह सत्य है कि उनके द्वारा समाज में कोई युगान्तर जैसा परिवर्तन नहीं हुआ और समाज के विकास की दिशा में भी उनने कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया। किन्तु यह दोष मुस्लिम राज्यकाल के प्राय: सभी समाजों में पाया जाता है। भारतीय समाज में इस तरह आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति इतनी प्रधान थी कि उसके सम्मुख विकासशीलता की प्रवृत्ति कहीं भी पनप नहीं सकी। अत: इस व्यापक तथ्य को देखकर ही भट्टारकों के कार्य का मूल्यमापन करना चाहिये।

गत सौ वर्षों में भट्टारकों का प्रभाव बराबर कम होता जा रहा है। इसके दो कारण हैं। एक तो आधुनिकशिक्षा के परिचय से सुशिक्षित जैन युवक धर्म की ओर से ही विमुख होने लगे। दूसरे आचार्य शान्तिसागर के प्रयासों द्वारा मुनि संघ के पुनरुज्जीवन से भट्टारकों के प्रति अनादर की भावना श्रद्धालु समाज में बढ़ी। फिर भी वर्तमान में करीब दस पीठों के पट्टाधीश विद्यमान हैं—यशःकीर्ति (जयपुर) देवेन्द्रकीर्ति (नागौर) देवेन्द्रकीर्ति (मलखेड़) लक्ष्मीसेन (कोल्हापुर) विशालकीर्ति (लातूर) देवेन्द्रकीर्ति (हुमच) चारुकीर्ति (श्रवणबेलगुल)। अपने-अपने प्रदेश में इनका प्रभाव अभी काफी है। ये सब मूल संघ के भट्टारक हैं। काष्ठासंघ के कोई भट्टारक विद्यमान नहीं हैं। भट्टारक अपने शिष्यों में से किसी एक को अपने जीवनकाल में ही अपने पद पर स्थापित कर देते हैं। यदि मृत्यु के पूर्व वे ऐसा नहीं कर सके तो उस पीठ के अनुयायी पण्डित किसी योग्य व्यक्ति को भट्टारक पद के लिये चुनते हैं। फिर किसी दूसरे पीठ के भट्टारक द्वारा इस नये व्यक्ति की भट्टारक पद पर स्थापना की जाती है। भट्टारकों द्वारा शिष्य बनाने के कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किये जाते। स्वय प्रेरणा से कोई भी दिगम्बर जैन विद्यार्थी उनका शिष्य बन सकता है। प्राचीन काल से ही भट्टारकों का स्वरूप शंकराचार्य-मठों से मिलता-जुलता रहा है। अन्य मठाधीशों से उनमें कोई खास विशेषता नहीं पाई जाती। यह तथ्य वर्तमान समय के लिये भी सही है।

नोट—इस विषय पर लेखक द्वारा लिखा गया प्रबन्ध 'भट्टारक सम्प्रदाय' जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर द्वारा प्रकाशित हुआ है, और नागपुर विश्वविद्यालय की पीएच डी की उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ है। लेख में जो विधान किय हैं उनका विस्तृत विवरण इस प्रबन्ध में मिल सकता है। अत यहाँ उनके मूल उद्धरण नहीं दिय गए हैं।

षट्खंडागम

(डॉ० हीरालाल जैन डायरेक्टर, प्राकृत जैन इंस्टीट्यूट, मुजफ्फरपुर)

षट्खंडागम की प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों का परिचय :—

षट्खंडागम की परमागम व धवल सिद्धान्त के नाम से बड़ी प्राचीन महिमा और प्रतिष्ठा जैन साहित्य में व विशेषतः दिगम्बर परम्परा में पाई जाती है। किन्तु इस ग्रन्थ की प्रतियाँ एकमात्र कर्नाटक प्रदेशान्तर्गत मूडबिद्री के गुरुबसदि नामक जैन मंदिर में विद्यमान थी। वहाँ से पूर्व अनुमानतः ये प्रतियाँ जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेलगोला के उस जैन मंदिर में विराजमान थी जो उसी कारण अभी तक सिद्धान्तबसदि के नाम से प्रसिद्ध है। मूडबिद्री में इस ग्रंथ की तीन प्राचीन प्रतियाँ ताड़पत्रमय उपलब्ध है। सबसे जीर्ण प्रति बहुत कुछ त्रुटित है, दूसरी प्रति में भी यत्र-तत्र ताड़पत्र त्रुटित पाए जाते है, किन्तु तीसरी प्रति सम्पूर्ण है। इस प्रति की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसे देमीयक्का नामक श्राविका ने देसीगण के आचार्य शुभचन्द्र देव को समर्पित किया था। इस श्राविका तथा आचार्य शुभचन्द्र के उल्लेख दक्षिण प्रान्त के कुछ शिलालेखों में भी पाये जाते है जिनसे सिद्ध होता है कि देमीयक्का ने शक सं १ ४२ में तथा शुभचन्द्राचार्य ने शक सं १ ४५ में स्वर्गवास प्राप्त किया था। अतः स्पष्ट है कि उस प्रति का समर्पण शक सं १ ४२ से पूर्व ही हो चुका था। अतएव प्रति का लेखनकाल इससे भी पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। किन्तु कितने पूर्व? इसी प्रति के प्रथम खंड सत्प्ररूपणा के अन्त में भी एक प्रशस्ति है, जिसमें सिद्धान्त मुनीन्द्र पद्मनंदी कुलभूषण और कुलचन्द्र का गुणानुवाद किया गया है। इन मुनियों का उल्लेख श्रवणबेलगोला के शिलालेख संख्या ४ (६४) में भी पाया जाता है जिससे उक्त तीनो मुनियों में गुरु-शिष्य संबंध सिद्ध हो जाता है, एवं अन्य प्रमाणों पर से यह भी सिद्ध होता है कि ये आचार्य शक स ९५ के लगभग हुए है। अतएव उक्त ताड़पत्रीय प्रति का लेखन काल शक ९५ व १ ४२ के बीच सिद्ध होता है।

षट्खंडागम के प्रकाश मे आने का इतिहास —

षट्खंडागम की ये प्रतियां शताब्दियों से अध्ययन की नहीं किन्तु पूजा की वस्तु बनी हुई थी व इन्हीं के दर्शन के लिये श्रद्धालु जैन उक्त जैन मंदिर की तीर्थयात्रा किया करते थे। इसी प्रकार की तीर्थयात्रा को वि स १९४ में बम्बई के सुप्रसिद्ध सेठ माणिकचन्द्र जी संघ सहित वहाँ पहुंचे तब उन्हें इन जीर्ण प्रतियों के उद्धार की चिन्ता हुई। उन्होंने शोलापुर निवासी सेठ हीराचन्द्र नेमिचन्द्र से इस संबंध में परामर्श किया जिसके फलस्वरूप लगभग १ वर्ष के प्रयास के पश्चात् इस रचना की प्रतिलिपि कराने की एक सुदृढ़ योजना तैयार की जा सकी। प्रतिलिपि का कार्य आगामी २६ वर्ष तक चलता रहा परिणामतः उसकी कनड़ प्रतिलिपि पण्डित देवराज सेठप्पा ब्रह्मय्या तथा नेमिराज द्वारा एवं नागरी प्रतिलिपि प गजपति शास्त्री गजपति उपाध्याय व लोकनाथ शास्त्री द्वारा वि स १९७८ में सम्पूर्ण की गई। जिस समय यह प्रतिलिपि कार्य चल रहा था उस समय पं गजपति उपाध्याय के प्रयास से उसकी एक कनड़ प्रतिलिपि बाहर आ गई और वह सहारनपुर के लाला जम्बूप्रसाद जी के जैन मंदिर में प्रतिष्ठित हो गई। वि स १९८ में उस प्रति की नागरी प्रतिलिपि पण्डित विजय चन्द्रय्या और प सीताराम शास्त्री द्वारा होकर प लोकनाथ जी द्वारा संशोधित हो गई। इसी अन्तराल में पं सीतारामशास्त्री ने एक प्रति अपने पास भी रखली और उसके आधार से की गई प्रतिलिपियाँ अमरावती आरा कारंजा दिल्ली बम्बई, शोलापुर, सागर, झालरापाटन इंदौर, सिवनी ब्यावर और अजमेर के शास्त्र भंडारों में प्रतिष्ठित हो गई। इनमें से प्रथम तीन स्थानों की प्रतियों के आधार से प्रस्तुत लेखक ने इसका संपादन प्रारम्भ किया। बीच में मूडबिद्री तथा सहारनपुर की प्रतियों के मिलान की भी सुविधा प्राप्त हो गई, और यह ग्रंथ सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद तुलनात्मक टिप्पण व प्रस्तावनादि सहित ई सन् १९३९ से १९५९ तक २ वर्ष में क्रमशः १६ भागों में भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्रजी द्वारा जैन साहित्य उद्धारक कार्यालय से १६ भागों में प्रकाशित हो गया। इन १६ भागों में षट्खंडागम के प्रथम ५ खंड पूर्ण हुए। छठा खंड महाबन्ध भी सात भागों में भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाश में आ गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण षट्खंडागम मुद्रण रूप से सपादित होकर अनुवादादि सहित तेईस जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है।

षट्खंडागम सूत्रों के रचयिता :—

षट्खंडागम सूत्रों की रचना किस प्रकार हुई, इसका कुछ विवरण इसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला नामक टीका में दिया है। प्रथम सूत्र की टीका करते हुए उन्होने ग्रन्थ के छह अनुयोगों अर्थात् मंगल निमित्त हेतु, परिमाण नाम और कर्ता का व्याख्यान किया है। उन्होंने इस सूत्र के अवतार का निमित्त दो प्रकार से बतलाया है। अर्थ की अपेक्षा इसका अवतार तीर्थंकर के द्वारा हुआ व ग्रन्थ की अपेक्षा उनके गणधर द्वारा। इस सिद्धान्त के अध्ययन का हेतु भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दो प्रकार का बतलाया है तथा प्रत्यक्ष हेतु के भी दो भेद किये हैं—साक्षात प्रत्यक्ष और परम्परा प्रत्यक्ष। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन का साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है सद्ज्ञान की उत्पत्ति देवो और मनुष्यों से प्राप्त होने वाला पूजा सत्कार तथा प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्म निर्जरा। परम्परा प्रत्यक्ष हेतु है शिष्य प्रशिष्यो द्वारा निरन्तर अभ्यर्चन। परोक्ष हेतु भी दो प्रकार से बतलाया गया है—अभ्युदय अर्थात् दिव्य और मनुष्य सुखो की प्राप्ति और नःश्रेयस अर्थात् सिद्धों और अर्हन्तो का अतीन्द्रियसुख। इसका परिमाण अर्थ की अपेक्षा अनन्त तथा अक्षर, पद, संघात प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारो की अपेक्षा संख्येय कहकर इसके प्रथम खंड जीवस्थान का परिमाण १८ सहस्र पद कहा गया है। टीकाकार का कथन है कि यह परिमाण शिष्यों को हर्ष उत्पन्न करने व मतिव्याकुलता को दूर करने के लिये बतलाया गया है। चूंकि इन अनुयोगो का वर्णन प्रथम खंड जीवस्थान की उत्थानिका में किया जा रहा है, अतएव ग्रथ का नाम यहाँ जीवट्ठाण निर्दिष्ट किया गया है। आगे चल कर इसे ही टीकाकार ने खंड सिद्धांत तथा संतकम्मपाहुड (सत्कर्म प्राभृत) व महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) भी कहा है। किन्तु नमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने अपने जिस गोम्मटसार ग्रन्थ में इस आगम सूत्र का सार संग्रह किया है वहाँ उन्होंने इसे षट्खंड रूप से ही निर्दिष्ट किया है। उन्होने गो सा की गाथा ३ ७ में कहा है।

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।

तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥

—अर्थात् जिस प्रकार चक्रवर्ती द्वारा अपने चक्र से षट्खंड (पृथिवी) निर्विघ्न रूप से साधी जाती है उसी प्रकार मति रूपी चक्र से मैंने भले प्रकार षट्खंड (आगम) को सिद्ध किया है। इसी आधार से पीछे के अनेक सैद्धान्तिक आचार्यों के साथ सिद्धान्तचक्रवर्ती पद जुड़ा हुआ पाया जाता है।

कर्ता का प्ररूपण भी टीकाकार ने दो प्रकार से किया है—अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता। अर्थकर्ता को भी द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार से समझाया गया है। समस्त शारीरिक व मानसिक दोषो से रहित अतिशयों से युक्त तथा देवो और मनुष्यो द्वारा पूजित महावीर तीर्थंकर इसके द्रव्य की अपेक्षा अर्थकर्ता है। क्षेत्र की अपेक्षा महावीर भगवान् ने इसका उपदेश पंचशैलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर्वत पर भव्य लोगो को दिया था। काल की अपेक्षा यह उपदेश वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे अर्थात् दुखमा-सुखमा आरे के ३४ वर्ष से कुछ कम शेष रहने पर वर्ष के प्रथम मास श्रावण के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र व रुद्र मुहूर्त में सूर्योदय के समय हुआ और तभी से युग का आदि मानने योग्य है।

इम्मिस्से वसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिम भाए।
चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए संते ॥५५॥
वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥५६॥
सावण-बहुल-पडिवदे रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम-जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥५७॥

भाव की अपेक्षा छद्मस्थ ज्ञान नष्ट होने पर भी केवल अतिशयो से संयुक्त व केवलज्ञान में उपयुक्त भगवान् महावीर इसके अर्थकर्ता है।

केवलज्ञानी महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्वज्ञान को उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने धारण करके बारह अंगों और चौदह पूर्वों की ग्रन्थ रूप रचना की। इस प्रकार भावश्रुत के अर्थपदो के कर्ता तीर्थंकर और द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हुए और यह ग्रन्थ रचना उत्पन्न हुई। गौतम गणधर ने इसी दो प्रकार के श्रुतज्ञान को लोहार्य (सुधर्म) का संचारित किया और उन्होंने जंबू स्वामी को। इस प्रकार परिपाटी से ये तीनों समस्त श्रुत के धारी (केवली) हुए। किन्तु अपरिपाटी

से सकलश्रुत के पारगामी अनेक सहस्त्र आचार्य हुए। इनके पश्चात् विष्णु, नंदिमित्र अपराजित गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच पुरुषोंकी क्रम से चतुर्दशपूर्वधारी हुए। तत्पश्चात् विशाखाचार्य प्रोष्ठिल क्षत्रिय जय नाग सिद्धार्थ धृतिसेन विजय, बुद्धिल गंगदेव और धर्मसेन ये पुरुषोंकी क्रम से ग्यारह आचार्य एकादश अंगों तथा उत्पादादि दशपूर्वों के पारगामी तथा शेष चारपूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुए। इनके पश्चात् नक्षत्र जयपाल पांडु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य पुरुषोंकी क्रम से ग्यारह अंगो के धारी तथा चौदह पूर्वों के एकदेशज्ञाता हुए। तत्पश्चात् सुभद्र यशोभद्र यशोबाहु और लौहार्य ये चार आचार्य आचारांग के तथा शेष अंगो व पूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुए। इसके पश्चात् समस्त अंगो और पूर्वों का एक-एक देश मात्र ज्ञान आचार्य परम्परा से आकर धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।

धरसेनाचार्य सौराष्ट्र विषय के गिरिनगर पट्टन की चन्द्रगुफा में निवास कर रहे थे। वे अष्टांग महानिमित्त शास्त्र के पारगामी थे। उन्हें भय हुआ कि अब आगे श्रुत ग्रन्थो का विच्छेद होने वाला है अतएव प्रवचन वत्सल उन आचार्य ने महिमा में (नगरी में अथवा महोत्सव के लिये) एकत्रित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों को लेख प्रेषित किया जिसे समझकर उन आचार्यों ने आन्ध्र विषय में वेणाक नदी के तट से अत्यन्त विनयशील सकल कला पारगत तथा शास्त्रार्थ ग्रहण और धारण करने में समर्थ दो साधुओं को भेजा। उनके पहुँचने पर धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा की और जब उन्हें उनकी योग्यता में पूर्ण विश्वास हो गया तब उन्हें अपना श्रुतोपदेश देना प्रारम्भ किया जो आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के पूर्वाह्न में समाप्त हुआ। गुरु ने उन दोनो के नाम पुष्पदन्त और भूतबलि रखकर उन्हें उसी दिन अपने पास से प्रेषित कर दिया। वे गिरिनगर से चलकर अंकुलेश्वर आये और वहीं उन्होंने वर्षाकाल व्यतीत किया। तत्पश्चात् पुष्पदन्त आचार्य वनवास विषय को गये और भूतबलि द्रामिल देश को। पुष्पदन्त आचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर तथा सत्प्ररूपणा तक के सूत्रो की रचनाकर और जिनपालित को पढ़ाकर भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के पास उन सूत्रो को देखकर और उन्हें अल्पायु जानकर, तथा महाकर्म प्रकृति पाहुड का व्युच्छेद न हो जावे इस बुद्धि से आगे द्रव्यप्रमाणादि अनुयोगो की ग्रंथ रचना की। इस प्रकार इस खंड सिद्धान्त की अपेक्षा जिनपालित भी इसके निमित्त हुए, एवं भूतबलि और पुष्पदन्त इसके कर्ता। अतः इस रचना के मूलतन्त्रकर्ता वर्धमानभट्टारक अनुतन्त्रकर्ता गौतम स्वामी तथा उपतन्त्रकर्ता भूतबलि पुष्पदन्त आदि वीतराग मुनिवर हुए। इस वृत्तान्त के द्वारा धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने यह स्पष्ट प्रकट कर दिया है कि जैनदर्शन का जो विषय आगम परम्परानुसार धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ था उसे उनके पुष्पदन्त और भूतबलि इन दो शिष्यो ने उपलभ्य षट्खण्डागम सूत्रो का रूप दिया। इसके आदि के सत्प्ररूपणा पर्यन्त सूत्रो की रचना पुष्पदन्त ने की, और शेष द्रव्यप्रमाणादि समस्त रचना उनके सहधर्मी भूतबलि आचार्य ने।

सूत्र रचना काल —

स्वय ग्रन्थ में अथवा उसकी टीका में षट्खण्डागम सूत्रो के रचनाकाल का निर्देश नहीं पाया जाता। किन्तु टीकाकार ने महावीर स्वामी से लौहार्य तक की जो परम्परा दी है उससे उक्त ग्रन्थ रचना के काल की पूर्वावधि निश्चित हो जाती है। महावीर निर्वाण से लेकर गौतमादि आचार्यों की जो परम्परा ऊपर दी जा चुकी है वहाँ उनके काल का निर्देश नहीं पाया जाता। किन्तु टीकाकार ने इसी प्रास्ताविक ऐतिहासिक विषय का जो विवेचन वेदना खंड के आदि में पुन किया है, उसमें काल के सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार किया गया पाया जाता है। वहाँ बतलाया गया है कि शक नरेन्द्र काल अर्थात् शक सम्वत् से ठीक ६ ५ वर्ष और ५ माह पूर्व महावीर भगवान् का निर्वाण हुआ। इसके समर्थन में उन्होंने एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है —

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥ (धवला भाग ९, पृ ११२)

वीर निर्वाण के पश्चात् ६२ वर्ष में पूर्वोक्त तीन केवली हुए, १ वर्ष में पाँच श्रुतकेवली १८३ वर्ष में ग्यारह दशपूर्वी २२ वर्ष में पाँच एकादश अंगधारी व ११८ वर्ष में चार एकांगधारी हुए। इस प्रकार श्रुतज्ञान की परम्परा महावीर निर्वाण के पश्चात् गौतम स्वामी से लेकर ६८३ वर्ष अर्थात् शक स ७७—७८ तक चली। इसके कितने पश्चात् धरसेनाचार्य हुए इसका निश्चित उल्लेख धवला में व अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता। किन्तु इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार में लौहार्य के पश्चात

विनयदत्त श्रीदत्त शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आरातीय आचार्यों का उल्लेख किया है और तत्पश्चात् अर्हद्बलि का और उनके पश्चात् धरसेनाचार्य का। किन्तु इन उल्लेखों पर से यह स्पष्ट नहीं होता कि उक्त आरातीय आचार्य एक ही समय में हुए या अनुक्रम से और न उनकी गुरुशिष्य परम्परा का कोई संकेत मिलता। यहाँ तक कि गुणधर और धरसेनाचार्य के सम्बन्ध में तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि —

गुणधर धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।

न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

अर्थात् गुणधर और धरसेनाचार्य की गुरुपरम्परा का पूर्वापर क्रम हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस परम्परा का कथन करने वाला न हमें कोई आगम मिला और न मुनिजन। इन्द्रनन्दी के इस प्रमाणाभाव के स्वीकार से जहाँ हमें इन आचार्यों का ठीक काल निर्णय नहीं मिलता वहाँ इतनी बात का भरोसा हुए बिना भी नहीं रहता कि इन्द्रनन्दी ने जो बातें कही हैं वे किसी न किसी लिखित या मौखिक परम्परा के आधार से ही की हैं। उन्होंने षट्खंडागम के अनेक टीकाकारों का उल्लेख किया है, जिनमें कुंदकुंद और समन्तभद्र भी हैं। इससे इन्द्रनन्दी का यह अभिमत स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों आचार्य षट्खंडागम के सूत्रकारों से पश्चात्कालीन थे। यह बात इस दिगम्बर मान्यता से भी परिपुष्ट होती है कि षट्खंडागम सूत्र ही उपलब्ध समस्त शास्त्रों में सर्वप्रथम ग्रन्थरूप से अवतरित हुए। यद्यपि कुंदकुंदादि आचार्यों का भी ठीक-ठीक समय ज्ञात नहीं है, तथापि वे विक्रम की तीसरी सदी या उससे पश्चात् हुए माने जाते हैं। इस प्रकार षट्खंडागम सूत्रों का रचनाकाल शक संवत् की पहली-दूसरी सदी के बीच सिद्ध होता है। कुछ प्रमाण ऐसे भी हैं जो इस रचना को शक सं. की प्रथम सदी की ओर ही खींचते हैं। नंदी आम्नाय की एक प्राकृत पट्टावली पाई जाती है (जै. सि. भा. १, ४, १९४१) जिसमें महावीर निर्वाण से लोहार्य तक के आचार्यों की नामावली व क्रम तो पूर्वोक्त प्रकार ही है, किन्तु काल निर्देश में भेद है। उसके अनुसार ६८३ वर्ष लोहार्य तक पूरे नहीं हुए, किन्तु उनके पश्चात् अर्हद्बली माघनंदि, धरसेन पुष्पदंत और भूतबलि इन पाँच आचार्यों के ११८ वर्ष सम्मिलित करके पूर्ण होते हैं। इसके अनुसार धरसेन पुष्पदन्त और भूतबलि का काल शक सं. ९ से ७८ तक सिद्ध होता है। धवलाटीका की पूर्वोक्त उत्थानिका में यह भी कहा गया है कि जब पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य श्रुत का उपदेश पाने के लिये धरसेनाचार्य के पास पहुँचे तब उनकी योग्यता की परीक्षा करने के लिये उन्हें पृथक्-पृथक् एक-एक मंत्र सिद्ध करने के लिये दिया। वे मंत्र उन्होंने बुद्धिपूर्वक हीनाक्षर व अधिकाक्षर कर दिये थे जिसके प्रभाव से फलित देवियाँ भी हीनांग व अधिकांग प्रकट हुईं। इस पर विचार कर उन आचार्यों ने अपने-अपने मंत्र का संशोधन कर पुनः साधना की और सुंदराङ्गी देवियों का दर्शन किया। इससे धरसेनाचार्य ने उनकी योग्यता समझकर उन्हें धर्मोपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इस पर से धरसेनाचार्य का मंत्र शास्त्र के ज्ञाता होना सिद्ध होता है। श्वे. परम्परा में प्राप्य बृहट्टिप्पणिका नामक ग्रन्थ सूची में उल्लेख है कि योनिप्राभृत ग्रन्थ वीर-निर्वाण से ६   वर्ष पश्चात् धरसेन द्वारा लिखा गया है—"योनिप्राभृतं वीरात् ६   धारसेनं" (बृहत् जैन सा. सं. १ २ परिशिष्ट)। जोणि पाहुड नामक मंत्रशास्त्र का उल्लेख धवलाटीका में भी पाया जाता है। यथा "जोणि पाहुडे भणिद मंत तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो" (प. ब. प्रति पत्र ११९८)। इससे योनि प्राभृत नामक मंत्र शास्त्र की प्राचीन सत्ता सिद्ध होती है। एक योनिप्राभृत ग्रन्थ उपलब्ध भी हुआ है जो ८   श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओं में मंत्र-तंत्र विषयक है और जो भंडारकर इंस्टीट्यूट के ग्रंथालय में विद्यमान है। इस ग्रन्थ की यह प्रति सं. १५८२ की लिखित है और यह ग्रन्थ सम्भवतः हरिषेणकृत है। किन्तु स्वयं हरिषेण के समक्ष एक प्राचीन योनि प्राभृत ग्रन्थ विद्यमान था (अने. २ १२)। इस प्रमाण से भी आचार्य धरसेन का काल शक सं. की प्रथम शती ही प्रमाणित होता है। कुछ शिलालेखों में पुष्पदन्त और भूतबलि को अर्हद्बलि के शिष्य माना गया है (म. बे. शि. ले. नं. १ शक सं. ११२) यह परम्परा भी नंदीसंघ पट्टावलि के कथन की ओर झुकती है।

इनके रचना काल पर प्रकाश डालने वाला एक और प्रमाण है। ऊपर कहा जा चुका है कि पुष्पदन्त भूतबलि को उपदेश देने वाले आचार्य धरसेन गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करते थे। गिरिनगर के समीप जूनागढ़ के पूर्वी भाग में आधुनिक बावाप्यारा मठ के निकट अनेक प्राचीन गुफाएँ हैं जिनमें से कुछ में जैन चिन्ह भी पाये जाते हैं। एक गुफा में स्वस्तिक भद्रासन, नंदिपद, मीनयुगल और कलश के चिन्ह खुदे हुए हैं जैसे कि मथुरा के जैन स्तूप की खुदाई से प्राप्त आयाग पटों पर भी पाये गये हैं। इस गुफा में एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जिसमें क्षत्रप नरेश चष्टन और जयदामन के उल्लेख

के अतिरिक्त 'गिरिनगर में देवासुर, नाग, यक्ष, राक्षस, केवलिज्ञान, जरामरण, ज्ञान, शुक्ल पंचमी ये शब्द भी पढ़े जाते हैं। बीच बीच में लेख खण्डित होने के कारण लेख का पूर्ण वृत्तान्त तो ज्ञात नहीं होता किन्तु उक्त शब्दोल्लेखों पर से अनुमान किया जा सकता है कि उसमें उक्त क्षत्रप राजवंश के काल में किसी बड़े ज्ञानी जैन मुनि के देहोत्सर्ग का वृत्तान्त रहा होगा। लेख की लिपि भी क्षत्रप कालीन शक की प्रथम द्वितीय शती की ही है। जयदामन के पुत्र रुद्रदामन का सुप्रसिद्ध संस्कृत लेख गिरिनार की ऐतिहासिक शिला पर खुदा हुआ शक ७२ का है। आश्चर्य नहीं जो यही गुफा धरसेनाचार्य की रही हो और उक्त शिलालेख उन्हीं के समाधिमरण की स्मृति में उत्कीर्ण किया गया हो (महाबन्ध भाग २ भूमिका)। टीकाकार ने सूत्र रचना सबंधी जो अन्य भौगोलिक व ऐतिहासिक उल्लेख किये हैं उनसे भी ग्रन्थ के रचना काल पर कुछ प्रकाश पड़ता है। धरसेनाचार्य ने आंध्र देश के अन्तर्गत वेणाक नदी के तीर पर स्थित महिमा में सम्मिलित मुनि संघ को पत्र भेजा था। बम्बई राज्य के सातारा जिले में वेण्या नाम की नदी तथा महिमानगढ़ नामक ग्राम विद्यमान हैं, जो उल्लिखित नदी व नगर से अभिन्न प्रतीत होते हैं। प्राचीन काल में ई० पू० २१२ से ई० सन् २२५ तक सातारा जिले का यह प्रदेश आन्ध्रसाम्राज्य के अन्तर्गत पाया जाता है। इसके पश्चात् इस प्रदेश पर आन्ध्रों का अधिकार नहीं रहा। अतएव धरसेन सम्बन्धी उक्त उल्लेख इसी कालावधि के भीतर घटित होना है। इन सब प्रमाणों पर से उक्त सूत्रों का रचना काल वीर निर्वाण से ६८१ वर्ष व्यतीत होने पर शक सं० ७७-७८ के लगभग ही मानना उचित प्रतीत होता है।

षट्खण्डागम के टीकाकार

वर्तमान में षट्खण्डागम पर केवल एकमात्र वीरसेनाचार्य कृत धवला ना टीका मिलती जाती है। किन्तु इन्द्रनंदी ने अपने श्रुतावतार में इससे पूर्व की अनेक टीकाओं का उल्लेख किया है। उनके उल्लेखानुसार इस सिद्धान्त ग्रन्थ का ज्ञान गुरु परिपाटी से कुन्दकुन्दपुर निवासी पद्मनन्दी मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने आदि के तीन खण्डों पर परिकर्म नामकी १२ हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी (इ० श्रुता० १६०-६१)। धवला टीका में 'परियम्मादो' 'परियम्मे वुत्तं' 'परियम्म वयणादो पच्चक्ख' समयाणामविरुद्ध परियम्म सिद्धत्तादो' इत्यादि रूप से परिकर्मका अनेक बार उल्लेख आया है। एक स्थान पर तो उन्होंने यहां तक कहा है कि 'एदम्स सुत्तस्स बलेण परियम्म पवुत्तीदो' अर्थात उक्त विरोध की बात ठीक नहीं है, क्योंकि परिकर्म की प्रवृत्ति इसी सूत्र के बल से चलती है। इससे परिकर्म नाम का कोई ग्रन्थ धवलाकार के सम्मुख था और उसका षट्खण्डागम सूत्रों से घनिष्ट संबंध था यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है। किन्तु एक तो परिकर्मके समस्त उल्लेख गणित विषयक हैं और दूसरे धवलाकारने कहीं उस इस ग्रन्थ की टीका या पद्मनन्दी व कुन्दकुन्द कृत कहकर उल्लेख नहीं किया। अतः यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उक्त उल्लेख पद्मनन्दी मुनि कृत उसी परिकर्म नामक टीका ग्रन्थ के हैं जिसका इन्द्रनंदी ने उल्लेख किया है।

इन्द्रनन्दी ने दूसरी टीका श्यामकुण्डाचार्य कृत कही है जो छठवें खंड को छोड़कर प्रथम पाँच खंडों पर पद्धति रूप से १२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत-संस्कृत और कर्नाटक भाषा मिश्रित लिखी थी। तत्पश्चात् तुम्बुलूर (ग्राम के निवासी) आचार्य ने प्रथम पाँच खंडों पर चूड़ामणि नामकी चौरासी हजार श्लोक प्रमाण व्याख्या कन्नड़ी में लिखी तथा छठवें खंड पर भी ७ हजार श्लोक प्रमाण पंजिका लिखी। भट्टाकलंक देव ने अपने कर्नाटक शब्दानुशासन में चूड़ामणि नाम की तत्वार्थ महाशास्त्र व्याख्या का उल्लेख किया है और उसको ९६ हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है। उसका तात्पर्य इसी तुम्बुलूर आचार्य कृत चूड़ामणि व्याख्या से हो तो आश्चर्य नहीं।

श्रुतावतार के अनुसार चौथे टीकाकार तार्किक समन्तभद्र स्वामी हुए। उन्होंने षट्खंडागम के प्रथम पाँच खंडों पर ४८ हजार श्लोक प्रमाण अत्यन्त सुन्दर और मृदुल संस्कृत टीका लिखी। धवला टीका में यद्यपि 'समन्तभद्दसामिणा उत्तं' आदि रूप से अनेक बार उनका उल्लेख किया है, तथापि वे सब उल्लेख उनके आप्तमीमांसा व बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र आदि ग्रन्थों के हैं। ऐसा कोई उल्लेख दिखाई नहीं देता जो उक्त टीका सम्बन्धी कहा जा सके। तथापि समन्तभद्र विरचित अन्य कुछ ग्रन्थों के ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनका उक्त टीका से अभिप्राय हो तो आश्चर्य नहीं। जिनसेनाचार्य कृत हरिवंश पुराण में समन्तभद्रकृत जीवसिद्धि का उल्लेख आया है। किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक मिला नहीं। जीवसिद्धि से प्रथम खंड जीवट्ठाण की टीका से अभिप्राय हो तो आश्चर्य नहीं। कुछ उल्लेख ऐसे भी मिलते हैं जिनमें समन्तभद्र को गंधहस्ति नामक तत्त्वार्थ सूत्र व्याख्यान के कर्त्ता कहा गया है और यह भाष्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र का अनुमान किया जाता है। किन्तु उसका अभिप्राय यदि इन्हीं सिद्धान्त ग्रन्थों से हो तो भी आश्चर्य नहीं क्योंकि इन ग्रन्थों को भी तत्त्वार्थ महासूत्र नाम से

प्रसिद्ध रही है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि भट्टाकलंक देव ने षट्खण्डागम को तत्त्वार्थ महाशास्त्र का व्याख्यान कहा है। पाँचवें टीकाकार, इन्द्रनन्दी के वर्णनानुसार बप्पदेव गुरु हुए। उन्होंने शुभनन्दी और रविनन्दी नामके दो मुनियों से भीमरथी और कृष्णमेख नामक नदियों के बीच उत्कलिका ग्राम के समीप मगनवल्ली में उपदेश पाकर प्रथम पाँच खंडों पर व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम की टीका लिखी तथा छठे खंड महाबन्ध का संक्षेप लगभग ८ श्लोक प्रमाण लिखा। उनकी यह सब रचना प्राकृत भाषा में हुई। धवला टीका में 'वियाहपण्णत्ति' के कुछ उल्लेख पाये जाते हैं। एक में 'वियाहपण्णत्ति वयणादो' कहकर टीकाकार ने अपनी बात की पुष्टि की है। एक दूसरे स्थान में अपनी बात का 'वियाहपण्णत्ति' सूत्र से विरोध दिखलाया है और यह भी कहा है कि यह इस शास्त्र से पृथक्भूत है, एवं आचार्य भेद होने के कारण उसका इस शास्त्र के साथ एकत्व का अभाव है —'एदेण वियाहपण्णत्ति सुत्तेण सह कधं ण विरोहो ? ण एदम्हादो तस्स पुधभूदस्स आयरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो' (ध ८ ८)। इस उल्लेख से 'वियाहपण्णत्ति' का अभिप्राय बप्पदेवकृत टीका से कदापि नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ उसे सुत्त कहा है और उसे पृथक्भूत माना है व आचार्य भेद से सिद्धान्त एक्य का अभाव स्वीकार किया है। आश्चर्य नहीं जो इस उल्लेख का अभिप्राय पाँचवें श्रुताग व्याख्याप्रज्ञप्ति से हो। किन्तु कषायपाहुड की जयधवला टीका में बप्पदेवाचार्य द्वारा लिखित 'उच्चारणा' का उल्लेख आया है, और टीकाकार ने उस उच्चारणा से स्वलिखित उच्चारणा का भद बतलाया है। यथा 'चुण्णि सुत्तम्मि बप्पदेवाइरिय लिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहिं लिहिदुच्चारणाए पुण जहण्णएगसमओ उक्क संखेज्जा समया त्ति परुविदो' (१८५ जयध)। इससे स्पष्ट है कि जयधवलाकार के सम्मुख बप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारणा विद्यमान थी। इन्द्रनन्दी के मतानुसार तो व्याख्या-प्रज्ञप्ति (बप्पदेवकृत) को पाकर ही वीरसेन ने धवलाटीका लिखना प्रारम्भ किया था।

इस प्रकार वीरसेन कृत धवलाटीका से पूर्व षट्खंडागम पर क्रमशः पाँच आचार्यों द्वारा टीकाएँ लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु ये टीकाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं। अनुमानतः धवलाटीका की रचना के पश्चात् उनका प्रचार रुक गया और जब स्वयं धवलाटीका की प्रतियाँ केवल एकमात्र स्थान पर सुरक्षित रही अन्यत्र कहीं नहीं तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पूर्व की टीकाएँ कहीं भी सुरक्षित नहीं रही।

धवलाटीका की रचना का इतिहास —

श्रुतावतार के अनुसार बप्पदेवकृत व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका लिखे जाने के कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्त के तत्त्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूट में निवास करते थे। वीरसेन गुरु ने उनके समीप समस्त सिद्धान्त का अध्ययन किया और वहीं पर निबन्धनादि आठ उपरितन अधिकार लिखे। तत्पश्चात् गुरु की अनुज्ञा से वे चित्रकूट छोड़कर वाटग्राम में आये और वहाँ उन्होंने व्याख्या-प्रज्ञप्ति को प्राप्त करके षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खंडों पर टीका लिखी तथा निबन्धनादि उपरितन अठारह अधिकार पूरे किये। इन्हीं अठारह अधिकारों का सत्कर्म नामक छठा खंड बना। उनकी यह समस्त रचना प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषामय ७२ हजार श्लोक प्रमाण हुई, जिसका नाम धवलाटीका रखा गया। यही वर्णन संक्षेप में विबुधश्रीधर कृत श्रुतावतार में भी पाया जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है —

बारहवें अंग दृष्टिवाद के चतुर्थभेद पूर्वगत का दूसरा पूर्व आग्रायणीय नामक था जिसके पूर्वान्तादि चौदह अधिकारों में पाँचवें चयन लब्धि नामक अधिकार के अन्तर्गत २ पाहुड थे। इनमें चतुर्थ पाहुड का नाम कर्म प्रकृति था जिसके कृतिवेदना आदि २४ अनुयोगद्वार थे। इन अनुयोग द्वारों पर भूतबलि ने सूत्र रचना की। कृति और वेदना के सूत्रों का वेदना खंड बना। स्पर्श कर्म और प्रकृति एवं बंधन के बंध और बंधनीय नामक दो अधिकारों का वर्गणा खंड बना। बंधन के तीसरे अधिकार बन्धन का खुद्दाबंध एवं चौथे अधिकार बंधविधान का महाबंध बना। महाविधान के प्रकृति नामक प्रकरण की एकोत्तर प्रकृति के समुत्कीर्तनादि २४ अधिकारों में से १२ वें अधिकार का बंधस्वामित्वविचय खंड बना तथा अन्य विविध अधिकारों के संयोग से जीवट्ठाण खंड व इसकी चूलिकाएँ बनी। पुष्पदन्त और भूतबलि की इस षट्खंडरूप सूत्र रचना में उक्त कर्म प्रकृति पाहुड के केवल कृति आदि प्रथम छह अनुयोग द्वारों का ही प्ररूपण हो सका। उनके निबन्धनादि १८ अधिकार अछूते ही रह गये। इनपर सूत्र रचना नहीं हुई। वीरसेन ने इन्हीं निबन्धनादि उपरितन १८ अधिकारों का संक्षेप से वर्णन किया और यही उनका अपना छठा खंड था। उन्होंने भूतबलिकृत महाबन्ध नामक छठे खंड को अपनी टीका का विषय नहीं बनाया। जहाँ वर्गणा खंड की टीका समाप्त हुई है, वहाँ

उन्होंने इसकी स्पष्ट सूचना कर दी है। वे कहते हैं—"जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलि भडारएण महाबंधे सुप्पबंचेण लिहिदं त्ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि। (ध क १२५९-१२६)।

अर्थात् बन्ध विधान चार प्रकार का है—प्रकृति बन्ध स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों प्रकार के बन्धों का विधान भूतबलि भट्टारक ने महाबन्ध में सविस्तार रूप से लिखा है। इस कारण हमने उसे यहाँ नहीं लिखा। इस प्रकार से समस्त महाबन्ध के यहाँ प्ररूपण हो जाने पर बंध विधान समाप्त होता है। इस प्रकार भूतबलिकृत महाबन्ध भी षट्खंडागम का छठवां खंड है, तथा वीरसेन कृत निबन्धनादि अठारह अधिकारों का प्ररूपण भी सत्कर्म नामक छठा खंड है। परन्तु स्वयं वीरसेन ने इसे चूलिका नाम दिया है। यथा—"एत्तो उवरिम गंथो चूलिया णाम।

धवला टीका के अन्त की प्रशस्ति में वीरसेन ने स्वयं अपना अपने समकालीन राजाओं का तथा ग्रंथ समाप्ति के काल का कुछ परिचय दिया है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम उन्होंने एलाचार्य का स्मरण किया है और कहा है कि उन्हीं के प्रसाद से उन्होंने यह सिद्धान्त रचना की। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पंचस्तूपान्वय एवं अपने आर्यनंदी गुरु व चन्द्रसेन दादा-गुरु का उल्लेख किया है तथा कहा है कि यह टीका सिद्धान्त छन्द, ज्योतिष व्याकरण और प्रमाणशास्त्र में निपुण भट्टारक वीरसेन ने लिखी। *फिर उन्होंने धवलाटीका की समाप्ति का काल सूचित किया है।* दुर्भाग्य से इस अंश के अनेक अक्षर अस्पष्ट होने से संवत् व वर्ष निर्देश तथा नक्षत्रों आदि के उल्लेखों में कुछ अनिश्चय पाया जाता है। तथापि मैंने परिश्रमपूर्वक व अपने ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता एक मित्र की सहायता से जो इस पाठ का संशोधन किया है उसके अनुसार वह काल निर्देश शक सं ७३८ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी आता है जो तदनुसार दि ८ अक्टूबर सन् ८१६ सिद्ध होता है। उस समय जगत्तुंग देव के राज्य का भी उल्लेख है, जो राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनके ताम्रपत्र शक संवत् ७१६ से ७३५ तक के मिले हैं।

वीरसेन ने अपनी धवला टीका द्वारा जैसा षट्खंडागम सूत्रों के मर्म को खोलकर बतलाया है, स्पष्ट किया है और धर्म सिद्धान्त का जिस विस्तार से प्रतिपादन किया है, वह जैन साहित्य में अद्वितीय है। उनकी प्रतिभा के विषय में जो कुछ उनके पट्टशिष्य जिनसेन ने जयधवला टीका की प्रशस्ति व आदिपुराण की उत्थानिका में कहा है उसके भाव का ही यहाँ उल्लेख कर देना काफी होगा। जयधवला प्रशस्ति में इनका गुणानुवाद दस श्लोकों (१७-२६) में पाया जाता है, जिनमें कहा गया है कि वीरसेन गिराधीश होते हुए आसन्न भव्यों का उत्साहवर्द्धन करने में उसी प्रकार समर्थ हुए जैसे पूर्णिमा का चन्द्र कुमुदों को प्रसन्न करता है। वे साक्षात् केवली के समान इन्द्रिय अगोचर विश्व के पारदृष्टा थे। उनकी अशेष विषयों को आक्रान्त करने वाली भारती सरस्वती के सदृश षट्खंडागम के अर्थ प्ररूपण में कहीं स्खलित नहीं हुई। इसीलिये विद्वान् उन्हें ज्ञान की रश्मियों का प्रसार करने वाले सूर्य श्रुतकेवली और श्रेष्ठ प्रज्ञाश्रमण कहते थे। प्रसिद्धि और सिद्ध-सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल से धुलकर उनकी बुद्धि ऐसी निर्मल हुई थी कि वे बुद्धिसम्पन्न प्रत्येकबुद्धों के साथ स्पर्द्धा करते थे। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर मनस्वी सर्वज्ञ के सद्भाव में निःशंक हो जाते थे। उन्होंने चिरकालीन पुस्तकों (आगम ग्रंथों) को अपनी टीका द्वारा गौरवशाली बनाकर पूर्वकालीन समस्त पुस्तक शिष्यों (आगम पाठियों) से अधिक अतिशय प्राप्त किया। अपने ज्ञानोपदेश द्वारा भव्यों को सम्बोधन करते हुए वे मुनिराज पंचस्तूपान्वय में ऐसे देदीप्यमान हुए, जैसे अपनी प्रकाशकिरणों द्वारा कमलों को प्रफुल्लित करता हुआ आकाश में सूर्य। इस आर्यनंदी के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य ने अपने गुणों द्वारा अपने कुल गण व सन्तान को उज्ज्वल बना दिया। इसी प्रकार आदि पुराण की उत्थानिका के चार श्लोकों (५५-५८) में वीरसेन की वन्दना इस प्रकार की गई है—भट्टारक की विशाल पदवी को प्राप्त पवित्र आत्मा तथा वादि वृन्दारक श्रीवीरसेन मुनि हमें पवित्र करें। इन भट्टारक जी में लोक विज्ञता और कवित्व ये दोनों गुण थे। उनकी वक्तृत्व शक्ति और वाणी वाचस्पति के समान थी। सिद्धान्तों के उपनिबन्धों के विधाता मेरे इन गुरु के मृदुल चरण-कमल मेरे मनरूपी सरोवर में स्थित रहें। उनकी जिस पवित्र और निर्मल धवला भारती तथा कीर्ति ने समस्त भुवन को धवल बना दिया उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

पट्खण्डागम की शैली और भाषा :—

यह ग्रन्थ जिस रूप में प्राप्त हुआ है, उसमें हमें शैली व भाषा की दृष्टि से तीन स्तर दिखाई देते हैं। एक तो पुष्पदन्त

और भूतबलि कृत सूत्र दूसरे टीकाकार द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत प्राचीन गाथाएं, और तीसरे टीकाकार वीरसेन की अपनी टीका। सूत्रों की रचना का समय पूर्वोक्त अनुसार शक सं की द्वितीय शती है। ये समस्त सूत्र शौरसेनी प्राकृत में हैं जिसमें मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' 'क' के स्थान में 'ग्' बहुतायत से पाये जाते हैं, किन्तु यत्र तत्र वर्ण लोप भी दिखाई देता है। आर्य भाषा के विकास की दृष्टि से यह स्थिति मध्यकाल के प्रथम और द्वितीय स्तर के संधि काल की प्रतीत होती है, जिसका समय भी ईसा की दूसरी शती माना गया है। सूत्रों में यत्र तत्र अर्धमागधी की पुट भी दिखाई देती है जो प्राचीन जैनागम का स्मरण कराती है।

उद्धृत गाथाओं की भाषा भी शौरसेनी प्राकृत है,किन्तु इनमें हमें मध्यवर्णों के लोप सम्बन्धी महाराष्ट्री प्रवृत्ति सूत्रों की अपेक्षा अधिक मात्रा में दिखाई देती है, जिससे उनका रचना काल सूत्रों की अपेक्षा कुछ पीछे का सिद्ध होता है। इन गाथाओं में से कितनी ही नेमिचन्द्र कृत गोम्मटसार में भी संग्रहीत पाई जाती हैं जिनमें हमें महाराष्ट्री प्रवृत्ति के अनुसार वर्णलोप तथा रूप विपरिवर्तन और भी अधिक दिखाई देता है। वीरसेन कृत धवला टीका की रचना मणि-प्रवाल न्याय से अर्थात् संस्कृत प्राकृत मिश्रित भाषामें हुई है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रायः प्राकृत में ही किया गया है, किन्तु दार्शनिक व न्यायात्मक विषयों जैसे दर्शन व ज्ञान का स्वरूप तथा नयों की व्यवस्था आदि के विवेचन के लिये संस्कृत भाषाका उपयोग किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि धवलाकार के समय तक कर्मसिद्धान्त के व्याख्यान में तो प्राकृत का ही माध्यम चलता था किन्तु दर्शन व न्याय विषयक विवेचन के लिये संस्कृत का माध्यम जैन परम्परा में भी स्वीकार हो चुका था जैसा कि तत्कालीन जैन साहित्य से भी सिद्ध होता है। टीका में आचार्य ने उस भाष्य शैली का अवलम्बन किया है जिसके अनुसार व्याख्याता अपनी कही हुई बात पर भी शंका प्रतिशंका उठा उठाकर उसका समाधान करता हुआ व विषय के मर्मस्थल तक पहुँचता हुआ चलता है। टीका का प्राकृत गद्य बड़ी प्रसन्न शैली का है। दिग साहित्य में यही एक रचना है जहाँ हमें प्राकृत गद्य का प्रयोग इतनी प्रचुरता से मिलता है। इसकी प्राकृत भी शौरसेनी है जिसमें महाराष्ट्री की वर्ण लोप रूप प्रवृत्ति टीका के रचना काल के अनुरूप मात्रा में मिलती है। इसी मिश्र प्रवृत्ति के कारण इन रचनाओं की तथा कुन्दकुन्दादि दक्षिण के आचार्यों की प्राकृत रचनाओं की भाषा जैन-शौरसेनी कही जाती है क्योंकि इनमें हमें शौरसेनी का वह रूप नहीं मिलता जो प्राकृत व्याकरणों में व तदनुसार संस्कृत नाटकों में प्रगट किया जाता है।

षट्खंडागम का विषय परिचय –

इस आगम के ६ खंडों के नाम हैं—जीवट्ठाण खुद्दाबंध बंधसामित्तविचय वेदना वग्गणा और महाबन्ध। टीकाकार ने इसके विषय की व्युत्पत्ति बारहवें दृष्टिवाद श्रुतांग के अन्तर्गत द्वितीय पूर्व आग्रायणीय के चयनलब्धि नामक ५वें अधिकार के चौथे पाहुड कर्म प्रकृति से बतलाई है जिसका संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। प्रथम खंड जीवट्ठाण में जीव के गुण-धर्मों व नाना अवस्थाओं का वर्णन आठ प्ररूपणाओं द्वारा किया गया है जो इस प्रकार है—सत्, संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। इसके अन्त में नौ चूलिकायें हैं, जिनके नाम हैं—प्रकृति समुत्कीर्तन स्थान समुत्कीर्तन प्रथम महादण्डक द्वितीय महादण्डक तृतीय महादण्डक, उत्कृष्ट स्थिति जघन्य स्थिति सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति। सत्प्ररूपणा के प्रथम सूत्र में पंचनमोकार का पाठ है। टीकाकार ने इसे देशामर्षक मानकर उसके आधार से मंगल निमित्त हेतु आदि छहों अनुयोगों का विस्तार से वर्णन किया है जिसमें इस आगम रचना के निमित्त आदि का परम्परागत ऐतिहासिक परिचय बड़ा महत्त्वपूर्ण है, और इसका भी सार दिया जा चुका है। मंगल के सम्बन्ध में धवलाकार का अभिप्रायमत ध्यान देने योग्य है। उन्होंने इस प्रसंग पर, तथा चौथे वेदना खंड के मंगल सूत्र की टीका में जो विवेचन किया है, उसका सार यह है—मंगल दो प्रकार का होता है—निबद्ध और अनिबद्ध। जिसे ग्रन्थकार स्वयं निबद्ध करता है वह निबद्धमंगल कहलाता है और जहाँ ग्रन्थकार स्वरचित मंगल नहीं किन्तु किसी पूर्व प्रचलित मंगल को निबद्ध करता है वहाँ अनिबद्ध मंगल होता है। उन्होंने पंच नमोकार रूप मंगल को निबद्धमंगल कहा है जिससे प्रतीत होता है कि उनके मतानुसार उसके रचयिता पुष्पदंताचार्य हैं। वेदना खंड के आदि के 'णमो जिणाणं' 'णमो ओहि जिणाणं' आदि ४४ नमस्कार पदों युक्त मंगल को उन्होंने अनिबद्धमंगल कहा है और उसका कारण भी स्पष्ट बतलाया है कि वह मंगल गौतमस्वामीकृत है, जिसे उन्होंने महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के आदि में निबद्ध किया था। भूतबलि स्वामी ने उसे ही वेदना खंड के आदि में उद्धृत कर दिया है, जिससे वह यहाँ अनिबद्ध

मंगल ही माना जा सकता है। उसे यदि निबद्धमंगल ही मानना है तो यह तभी संभव है जब हम वेदनाखंड को कर्मप्रकृति-प्राभृत का अवयव होने से स्वयं वह प्राभृत मान लें और उसी अपेक्षा से उसके कर्ता भूतबलि को भी गौतम गणधर मान लें। अन्य किसीप्रकार से उसे निबद्धमंगल नहीं कहा जा सकता।

सूत्रों में सत्प्ररूपणा का विषय निरूपण ओघ और आदेश क्रम से किया गया है। ओघ में मिथ्यादृष्टि आदि १४ गुणस्थानों का तथा आदेश में गति इन्द्रिय आदि १४ मार्गणाओं का। इस प्ररूपणा में कुल १७७ सूत्र हैं। धवलाकार का प्रथम सूत्र के अन्तर्गत ही नय निरूपण दूसरे सूत्र के आधार से आचारांगादि समस्त श्रुत का परिचय ३३वें सूत्र में इन्द्रियों की निष्पत्ति ९३ वें सूत्र में स्त्रियों के चतुर्दश गुणस्थानों का निर्देश होने पर भी द्रव्यस्त्री की मुक्ति का निषेध तथा चौथे व १११ वें सूत्रों में दर्शन और ज्ञान में विवेक के प्रकरण जैन सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सत्प्ररूपणा के अन्त में उन्होंने गुणस्थान जीवसमास पर्याप्ति प्राण संज्ञा मार्गणा व उपयोग आदि २ प्ररूपणाओं द्वारा विस्तार से यह कहकर प्ररूपण किया है कि "सूत्रेण सूचितार्थानां स्पष्टीकरणार्थं विंशति विधानेन प्ररूपणोच्यते। न पौनरुक्त्यमपि कथंचित् तेभ्यो भेदात्।" यही २ प्ररूपणा की प्रणाली गोम्मटसार में भी स्वीकार की गई है और तिलोयपण्णत्ति में भी पाई जाती है, किन्तु सूत्रों में कहीं नहीं। अतएव यह मननीय है कि इस प्रणाली का प्रारम्भ कहाँ से हुआ। (षट्खण्डागम भाग १—२)

दूसरी प्ररूपणा द्रव्य-प्रमाणानुगम की है जिसमें १९२ सूत्रों द्वारा गुणस्थान व मार्गणास्थान क्रम से जीवों की संख्या का निर्देश किया है। यह प्रमाण निरूपण गणना से काल से और क्षेत्र से बतलाया गया है जैसे "ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया अणंता। अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण। खेत्तेण अणंताणंता लोगा। (सूत्र २—४)। अर्थात् गुण-स्थान क्रम से मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या कितनी है? अनंत है। वे इतने अनन्त हैं कि अनन्तानन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल द्वारा उनका अपहरण नहीं हो सकता। क्षेत्र की अपेक्षा उनका प्रमाण अनन्तानन्त लोकों के प्रदेशों के बराबर है। इस प्रकार प्ररूपण के लिये सूत्रों में हमें शतसहस्रकोटि, कोड़ाकोड़ी संख्यात असंख्यात अनन्त और अनन्तानन्त का उल्लेख तथा सातिरेक हीन गुण व अवहार,(अर्थात् जोड़ बाकी गुणा भाग) वर्ग और वर्गमूल घन अन्योन्याभ्यास आदि गणित की अनेक प्रक्रियाओं का निर्देश किया है। इसी प्रकार काल गणना में आवली अन्तर्मुहूर्त अवसर्पिणी उत्सर्पिणी पल्योपम आदि तथा क्षेत्र की अपेक्षा अंगुल योजन श्रेणी जगप्रतर व लोक का उल्लेख आया है। इन सबसे पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व ही इस परम्परा में गणित का कितना ज्ञान और अभ्यास हो चुका था। टीकाकार ने संख्यात असंख्यात और अनन्त का तथा उनके भेद-प्रभेदों का बड़ी सूक्ष्मता से प्ररूपण किया है। उन्होंने वर्गच्छेद अर्धच्छेद वर्गशलाका व वर्गितसंवर्गित राशियों का जो परिचय दिया है वह गणित शास्त्र के लिये बहुत उपयोगी है। इसी प्रकार उनका राशियों के भाग प्रतिभाग के लिए ध्रुवराशि स्थापित करना खंडित भाजित विरलित, व अपहृत करने की क्रियाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, राशियों के भेद व युग्म एवं उनके तेजोज कलिओज कृतयुग्म व बादर युग्म नामक प्रभेद भी अपूर्व हैं। अपने प्ररूपण में टीकाकार ने अनेक मत मतान्तरों का भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ तिर्यग्लोक के विस्तार और रज्जुप्रमाण के सम्बन्ध में उन्होंने त्रिलोक प्रज्ञप्ति और परिकर्म सूत्र में मतभेद बतलाया है और सूक्ष्म विवेचन द्वारा अपने एक स्वतन्त्र निर्णय पर पहुँचे हैं जिसके अन्त में उन्होंने कहा है—

एसो अत्थो जइवि पुव्वाइरिय संपदाय विरुद्धो तो वि तंतजुत्तिबलेण अम्हेहि परूविदो। तदो इदमित्थं चेति णेहासग्गहो कायव्वो अइंदियत्थविसये छदुमत्थवियप्पिदजुत्तीणं णिण्णयहेउत्ताणुववत्तीदो। तम्हा उवएसं लद्धूण विसेसणिण्णयो एत्थ कायव्वो॥ (ध १ २, ४)

अर्थात् हमारा किया हुआ अर्थ यद्यपि पूर्वाचार्य सम्प्रदाय के विरुद्ध पड़ता है,तो भी तंत्र युक्ति के बल से हमने उसका प्ररूपण किया। अतः यह 'इसी प्रकार है' ऐसा दुराग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में छद्मस्थों (अल्पज्ञों) द्वारा विकल्पित युक्तियों के एक निश्चय रूप निर्णय के लिये हेतु नहीं पाया जाता। अतः उपदेश को प्राप्त कर विशेष निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये। धवलाकार ने यहाँ तात्त्विक अनुसंधान का एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जो आज के समालोचकों को भी अनुकरणीय है। उसी प्रकार प्रमत्त संयत तथा उपशामक जीवों के प्रमाण के सबंध में उन्होंने उत्तरप्रतिपत्ती व दक्षिण प्रतिपत्ती नाम से दो भिन्न मान्यताओं का उल्लेख किया है। पंचेन्द्रिय-तिर्यंच योनिमति मिथ्यादृष्टियों

भावानुगम में ९१ सूत्रो द्वारा गुणस्थान व मार्गणास्थान क्रम से जीवो के औदयिक औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमि और पारिणामिक भावोके भेद प्रभेदो तथा मोहनीय व चारित्रमोहनीय कर्म प्रकृतियो के उदय उपशमादि की जो अवस्था समझाई है वे जैनकर्मसिद्धान्त की तो विशेष वस्तु है ही मनोविज्ञान शास्त्र की दृष्टि से भी उनका बड़ा महत्व है।

अन्तिम आठवी प्ररूपणा अल्प-बहुत्व में ३८२ सूत्र है। यहाँ गुणस्थान व मार्गणास्थानवर्ती जीवो का जो प्रमा संख्या प्ररूपणा में बताया जा चुका है, उसे ध्यान में रखकर हीन से लेकर अधिक की ओर अनुक्रम से वर्गीकरण किया गया है जैसे गुणस्थानो में अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानवर्ती उपशम सम्यक्त्वी जीव अन्य सब स्थानो की अपेक्षा प्रमाण में अ और परस्पर तुल्य होते हैं। उपशान्त कषाय जीवो का प्रमाण भी इतना ही है। उनसे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानव क्षायिक सम्यक्त्वी जीव संख्यात गुणित है। क्षीण-कषाय जीव भी इतने ही होते हैं किन्तु सयोगकेवली उभय की अपे प्रविश्यमान जीवा से संख्यात गुणित है, इत्यादि। यहाँ इस विषय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने जो द्रव्यप्रमाण अतिरिक्त काल अन्तर आदि प्ररूपणाओ को ध्यान में रखकर उक्त अल्प-बहुत्व को गणित की प्रक्रियाओ से वि करके बतलाया है वह मनन करने योग्य है। (षट्खडागम भाग ५)

उक्त आठ प्ररूपणाओ के पश्चात् वर्णित जीवस्थान की ९ चूलिकाओ का विषय इस प्रकार है। प्रथम चूलिका प्रकृ समुत्कीर्तन में ४६ सूत्र हैं जिनके द्वारा जीवो में पूर्वोक्त लक्षणादि संबंधी विशेषताएँ उत्पन्न करनेवाली ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियां व्यवस्था से गिनाई व समझाई गई है। दूसरी स्थान-समुत्कीर्तन नामक चूलिका ११७ सूत्रो द्वारा उक्त कर्म प्रकृतियो में से कितनी एक साथ बाँधी जा सकती है और उनका बध किन-किन गुणस्थानो में सम्भव है यह सब व्यवस्था से समझाया गया है। प्रथम महादण्डक नामक तृतीय चूलिका में केवल दो सूत्र हैं और यहाँ वे कर्म प्रकृतियां गिनाई गई है जिनका बंध प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ संज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च या मनुष्य करता है इन प्रकृतियो की संख्या ७१ है। टीकाकार ने यहाँ सम्यक्त्वोन्मुख जीव के परिणामो की बढती हुई विशुद्धता और उस द्वारा भी शुभ प्रकृतियो के क्रमश बन्ध विच्छेद का बड़ा विशद निरूपण किया है। द्वितीय महादण्डक नामक चतुर्थ चूलि में भी केवल दो ही सूत्र हैं और उनमें ऐसी कर्म प्रकृतियों की गणना की गई है जिन्हें सम्यक्त्वाभिमुख देव और प्रथम पृथिवियो के नारकी जीव बांधते हैं। उसी प्रकार तृतीय महादण्डक नामक ५ वी चूलिका में २ सूत्रो द्वारा उनके सम्यक्त्वा भिमुख होने पर बन्धयोग्य कर्म प्रकृतियो का निर्देश किया गया है। छठी चूलिका उत्कृष्ट स्थिति नामक है, जिसमें ४४ सू द्वारा बंधे हुए कर्मों के उत्कृष्ट स्थिति काल का निरूपण किया गया है। अर्थात् यहाँ यह बतलाया गया है कि बन्ध हो होने पर भिन्न-भिन्न कर्म अधिक से अधिक कितने काल तक उस जीव से लिप्त रह सकते हैं और बंध के कितने आबाधाका के पश्चात् उनका विपाक प्रारम्भ होता है। आबाधा का सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक सागर कोड़ा कोड़ी के बंध प १ वर्ष की आबाधा होती है। किन्तु अन्त कोडा कोडी सागरोपम की स्थिति का आबाधाकाल एक अन्तर्मुहूर्त माना ग है। किन्तु आयुकर्म का नियम इससे भिन्न है,क्योंकि वहाँ अधिकसे अधिक आबाधा भुज्यमान आयु के तृतीय भाग प्रमाण हो है। आबाधा काल के पश्चात् उन कर्मों के निषेक किस प्रकार क्रमशः खिरते है, इसकी प्रक्रिया टीकाकार ने सूक्ष्म गणित नियमो में बांधकर बतलाई है। सातवी जघन्यस्थिति नामक चूलिका में ४३ सूत्रो द्वारा पूर्वोक्तानुसार ही जघन्य स्थि का निरूपण किया है। इस प्रकरण के आदि में ही टीकाकार ने अन्य आचार्यों से अपना मतभेद प्रकट करके परिणा की उत्कृष्ट विशुद्धि को जघन्य स्थिति बध का और परिणामो में सक्लेश वृद्धि को कर्मस्थिति की वृद्धि का कारण बतला है। इसी प्रकरण में उन्होंने यह भी समझा दिया है कि उत्कृष्ट प्रकृति और स्थितिबध की व्यवस्था से ही किस प्रकार प्रदे व अनुभागबंध की व्यवस्था निकल आती है और वहीं उन्होने बंध प्ररूपणा के आधार से सत्व उदय व उदीरणा का स्व भी समझा दिया है। आठवीं चूलिका सम्यक्त्वोत्पत्ति नाम की बड़ी महत्वपूर्ण है। सूत्र तो यहाँ केवल १६ ही हैं, कि उनके आधार से टीकाकार ने सम्यक्त्वोत्पत्ति योग्य कर्मस्थिति के ह्रास का उसके अधिकारी जीवों का दर्शन मोह के उप योग्य स्थान और लब्धियों का तथा अनन्तानुबन्धि प्रथम करण की योजना का जितनी सूक्ष्मता गंभीरता और विस्तार के साथ विवेचन किया है उसका अन्यत्र कहीं भी हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। यह विषय कषायप्राभृत के चूर्णि सूत्रो बहुत कुछ मिलता है।

अन्तिम नवमी चूलिका गत्यागति नामकी है जिसमें २४३ सूत्र हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न गतियो के जीव किन कारणों द्वार

व कैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं, गतियों के प्रवेश करने और वहाँ से निकलने के समय जीवों के कौन से गुणस्थान होते हैं और वे कौन-कौन सी गतियों में जाते हैं, किस गति से निकलकर व किस गति में जाकर जीव कौन-कौन से गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं, ये विषय विशदता से समझाये गये हैं। (षट्खंडागम भाग ६)

इस प्रकार जीवट्ठाण नामक प्रथम खंड में भूतबलि व पुष्पदन्तकृत कुल २३७५ सूत्र हैं जो १७ अधिकारों में विभाजित हैं और वे उसकी विशाल धवलाटीका सहित षट्खंडागम के प्रथम छः भागों में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हैं।

२–खुद्दाबंध

प्रथम खंड जीवट्ठाण में उसकी गुणस्थान मार्गणास्थान विषयक-प्ररूपणाओं व चूलिकाओं द्वारा जैन कर्मसिद्धान्त का एक ढंग से पूर्ण वर्णन किया जा चुका है, तो भी अन्य खण्डों में भी उसी विषय को विविध प्रकार से सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। खुद्दाबंध नामक द्वितीय खंड में मार्गणास्थानों के अनुक्रम से कौन जीव बंधक है और कौन जीव बंधक नहीं है, इसकी ग्यारह अनुयोगों द्वारा प्ररूपणा की गई है। वे अनुयोग इस प्रकार हैं —

एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल व अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र व स्पर्शन, नाना जीवोंकी अपेक्षा काल व अन्तर, भागाभाग एवं अल्प-बहुत्व। इससे पूर्व प्रास्ताविक रूप से बंधकों के सत्त्व की प्ररूपणा की गई है और अन्त में ग्यारहों अनुयोग द्वारों की चूलिका रूप से महादंडक दिया गया है। इस प्रकार इस खंड के १३ अधिकार हो जाते हैं।

बंधक सत्त्व प्ररूपणा में ४३ सूत्र हैं जिनमें विषय प्ररूपणा इस प्रकार की गई है। गतिमार्गणानुसार नारकी जीव बंधक हैं, तिर्यंच भी बंधक हैं। मनुष्य बंधक भी हैं और अबंधक भी। सिद्ध अबंधक हैं। इसी प्रकार इन्द्रियादि मार्गणाओं का प्ररूपण किया गया है जिसका अभिप्राय यह निकलता है कि जहाँ तक योग अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया विद्यमान है वहाँ तक सब जीव बंधक हैं। केवल अयोगी मनुष्य और सिद्ध अबंधक हैं।

एक जीव से स्वामित्व नामक अनुगम में ९१ सूत्र हैं जिनमें मार्गणाओं के अनुक्रम से उनकी पर्याय में कारणीभूत कर्मोदय व लब्धियों का प्रश्नोत्तरी के रूप में प्ररूपण किया गया है। जैसे नरकगति में नारकी कैसे होता है? उत्तर है नरकगति नामकर्म के उदय से। उसी प्रकार तिर्यंच, मनुष्य व देवगति को उत्पन्न करनेवाला उस प्रकार का नामकर्म बतलाया गया है। सिद्ध गति में सिद्ध कैसे होता है? इसका उत्तर है क्षायिकलब्धि के द्वारा। इसी प्रकार इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव क्षायोपशमिक लब्धि द्वारा बतलाये गये हैं।

एक जीव से कालानुगम की प्ररूपणा में २१६ सूत्रों द्वारा गति आदि मार्गणाओं में जीव की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति का निरूपण किया गया है। इसकी जीव-स्थान खंड में प्ररूपित काल-प्ररूपणा से यह विशेषता है कि यहाँ गुणस्थान का विचार छोड़कर प्ररूपणा की गई है। इसी प्रकार अगली अन्तरप्ररूपणा के १५१ सूत्रों में मार्गणा क्रम से जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर काल बतलाया गया है। नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय में २३ सूत्रों द्वारा यह बतलाया गया है कि किन मार्गणाओं में जीव सदैव रहते हैं या कौन से जीव कभी नहीं भी रहते। जैसे नरकादि चारों गतियों में जीव सदैव नियम से रहते हैं किन्तु मनुष्य अपर्याप्त कभी होते हैं, और कभी नहीं भी होते। उसी प्रकार वैक्रियिक मिश्र आदि जीवों की मार्गणाएं भी सान्तर हैं जैसा कि जीवट्ठाण की अन्तरप्ररूपणा में कहा जा चुका है।

द्रव्य प्रमाणानुगम के १७१ सूत्रों में गुणस्थान रहित मार्गणास्थान क्रम से जीवों की संख्या व उसी के आश्रय से काल व क्षेत्र का प्ररूपण है और उसी प्रकार क्षेत्रानुगम के १२४ सूत्रों में स्पर्शानुगम के २७९ सूत्रों में अपने-अपने विषय की प्ररूपणा की गई है। नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम में ५५ सूत्रों में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त व सादि-सान्त रूप से काल-प्ररूपणा हुई है। और उसी प्रकार अन्तरानुगम में ६८ सूत्रों द्वारा बंधकों के जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर काल की। भागाभागानुगम में ८८ सूत्र हैं जिनमें मार्गणानुसार अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग, संख्यातवें भाग तथा अनन्त बहुभाग असंख्यात बहुभाग व संख्यात बहुभाग के रूप से जीवों का सर्वजीवों की अपेक्षा प्रमाण बतलाया गया है। जैसे नारकी जीव सर्वजीवों की अपेक्षा कितने प्रमाण हैं, इसका उत्तर है? अनन्तवें भाग।

नानाजीव अल्पबहुत्व अनुगम में १ ६ सूत्र हैं जिनमें १४ मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमासों का अन्य से अल्प की

और गुणनात्मक द्रव्यप्रमाण बतलाया गया है। जैसे गतिमार्गणा में मनुष्य सबसे थोड़े हैं उनसे नारकी असंख्यगुणे उनसे देव असंख्यगुण उनसे सिद्ध अनन्तगुणे और उनसे भी तिर्यंच अनन्तगुणे हैं इत्यादि।

अन्तिम चूलिकाधिकार महादण्डक के रूप में है जिसके ७९ सूत्रों में मार्गणा विभाग को छोड़ कर गर्भोपक्रान्तिक मनुष्य पर्याप्त से लेकर निगोद जीवों तक के जीवसमासों का अल्प-बहुत्व प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार समस्त खुद्दाबंध में १५८२ सूत्र हैं जिनमें कर्मप्रकृति प्राभृत के बंधक अधिकार के बंध बंधक बंधनीय और बंधविधान नामक चार अनुयोगों में से बंधक का प्ररूपण किया गया है। इसे खुद्दा या क्षुद्रक (क्षुल्लक) बंध कहने की सार्थकता यह है कि यहाँ महाबंध की अपेक्षा प्ररूपण संक्षिप्त रूप से किया गया है। (षट्खंडागम भाग–७)

३–बंधसामित्त विचय

तृतीय खंड बंधस्वामित्व-विचय नामक है। विचय का अर्थ है–विचारणा मीमांसा या परीक्षा तदनुसार यहाँ यह विवेचन किया गया है कि किस कर्मबंध के स्वामी कौन से गुणस्थानवर्ती व मार्गणास्थानवर्ती जीव हैं। इस खंड में कुल ३२४ सूत्र हैं। इनमें से आदि के ४२ सूत्रों में ओघ अर्थात् गुणस्थान क्रम से तथा शेष सूत्रों में आदेश अर्थात् मार्गणाओं के भीतर गुणस्थान क्रम से बंधक जीवों का प्ररूपण किया गया है। उदाहरणार्थ—प्रश्न है कि पाँच ज्ञानावरणीय चार दर्शनावरणीय यश कीर्ति उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय कर्मों का कौन बंधक है कौन अबंधक? उत्तर है मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म सांपराय शुद्धि संयत उपशामक व क्षपक तक के गुणस्थानवर्ती जीव उक्त प्रकृति के बंधक हैं। सूक्ष्म सांपराय काल के अन्तिम समय में जाकर उनका बंध व्युच्छिन्न होता है। अतएव शेष गुणस्थानवर्ती जीव उनके अबंधक हैं। उक्त प्रश्नात्मक पाँचवें सूत्र को टीकाकार ने देशामर्शक मानकर उसमें कर्मप्रकृतियों के उदय बंध व व्युच्छित्ति बंध—स्वोदय सान्तिर अनादिक ध्रुवत्व आदि सम्बन्धी कम सैद्धान्तिक २३ अन्य प्रश्नों का भी उसमें समावेश माना है और अपनी टीका में उन सब विषयों की व्यवस्थाएँ बतलाई हैं। इनके द्वारा यहाँ कर्मसिद्धान्त का अपने ढंग से एक बड़ा महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है। (षट्खंडागम भाग–८)

४—वेदनाखंड

ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मप्रकृति प्राभृत के २४ अधिकारों में से कृति और वेदना नामक प्रथम २ अनुयोगों का नाम वेदनाखंड रखा गया है। सूत्रकार की दृष्टि में ६ खंडों के भी २ मुख्यवर्ग रहे प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने जीवट्ठाण के आदि में पचनमोकार रूप मंगल पाठ किया है, और वही मंगल उपर्युक्त तीन खंडों का है। वेदना खंड के कृति अनुयोग के आदि में पुनः ४४ सूत्रों में मगल पाठ किया है। कृति अनुयोगद्वार में कुल ७६ सूत्र हैं जिनमें उक्त मंगल पाठ के अतिरिक्त कृति के नाना भेद बतलाकर मूलकरण कृति के १३ भेदों का विशेष रूप से कथन किया गया है जो इस प्रकार है। औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीर रूप तीनों करणकृतियों में से प्रत्येक संघातन परिशातन और संघातन-परिशातन के भेद से तीन प्रकार की होती है। तैजस् और कार्मण शरीर की करण कृतियाँ संघातन और संघातन-परिशातन ये दो भेद रूप ही हैं, और इस प्रकार मूलकरण कृतियों के १३ भेद होते हैं। संघातन कृति शरीर परिमाणुओं के संचय होने को कहते हैं और परिशातन उन परमाणुओं की निर्जरा को। मनुष्यों व देवों के जन्म काल में उनके औदारिक वैक्रियक व आहारक शरीरों की संघातन कृति मात्र होती है तथा मृत्यु काल में केवल परिशातन। मध्यवर्ती काल में संघातन-परिशातन कृतियाँ एक साथ चलती रहती हैं। तैजस और कार्मण शरीरों की शुद्ध संघातन कृति कभी संभव नहीं क्योंकि ये शरीर संसारी जीवों के सदैव साथ रहते हैं और उनकी संघातन-परिशातन कृति ही सर्वत्र होती रहती है। जीव के योगों का अभाव होने पर अयोग केवली गुणस्थान में ही इन दोनों शरीरों की परिशातन कृति होती है। इन कृतियों की व्यवस्था को टीकाकार ने गर्भ मार्गों के अनुक्रम से विभिन्न ६६ से ७१ तक के छः सूत्रों की टीका में समझाया है। उनकी मंगलसूत्रों की टीका तथा ७६ वे सूत्र के आश्रय से नयों का विवेचन भी बड़ा मार्मिक है। (षट्खंडागम भाग—९)

द्वितीय प्रकरण वेदना नामक है। वेदना का अर्थ है जीव के द्वारा कर्मफल का अनुभवन व उपचार से उक्त अनुभव के कारणीभूत कर्म भी वेदना है। इसका इस प्रकरण में बड़े विस्तार से १६ अधिकारों द्वारा वर्णन किया गया है जो कर्म सिद्धान्त के सूक्ष्म ज्ञान के लिये बड़ महत्त्वपूर्ण है। वे अधिकार निम्न प्रकार हैं —

(१) निक्षेप (सू १) (२) नय (सू ४) (३) नाम (सू ४) (४) द्रव्य(सू २१३) (५) क्षेत्र(सू ९)

(६) काल (सू २७९) (७) भाव (सू ३१४) (८) प्रत्यय (सू १६) (९)स्वामित्व(सू १५) (१०) वेदना विधान (सू ५८) (११) गति (सू १२) (१२) अनन्तर(सू ११) (१३)सन्निकर्ष(सू ३२) (१४)परिमाण (सू ५३) (१५) भागाभाग (सू २१) और (१६) अल्प-बहुत्व (सू २७)।

१–निक्षेप अधिकार में नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों द्वारा वेदना के स्वरूप को समझाया है। २–नय विभाषणता अधिकार में उक्त निक्षेपों में कौन सा कर्म यहाँ प्रकृत है यह नैगम संग्रह आदि नयो के द्वारा समझाया गया है। ३—नामविधान अधिकार में नैगमादि नयों के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में वेदना की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है। ४—द्रव्यविधान अधिकार में पद मीमांसा स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगों के द्वारा ज्ञानावरणी आदि कर्मों के द्रव्य का उत्कृष्ट,अनुत्कृष्ट जघन्य सादि-अनादि स्वरूप समझाया गया है। वे किन जीवों में किस प्रकार घटित होते हैं यह बतलाया गया है तथा अनुक्रम से आठों कर्मों की जघन्य व उत्कृष्ट वेदनाओं के तरतम भाव को प्रगट किया गया है। इस सम्बन्ध में टीकाकार ने भागहारों नाना गुण-हानियों समयप्रबद्ध, गुणश्रेणि-निर्जरा समुद्घातों आदि का जो विवरण दिया है उससे यह अधिकार बहुत विशाल व महत्त्वपूर्ण बन गया है। (षट्खंडागम—भाग १)

५—क्षेत्र-विधान में ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मरूप पुद्गल द्रव्य को वेदना मानकर समुद्घातादि विविध अवस्थाओ में उनके संकोच व विस्तार को प्राप्त होने वाले जीव प्रदेशों के क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है और इसे समझाने के लिए भी पद मीमांसा स्वामित्व और अल्प-बहुत्व ये तीन अनुयोग ग्रहण किये गये हैं।

६—काल-विधान अधिकार में उक्त तीन अनुयोगो द्वारा काल के स्वरूप को समझाया गया है। उसके नाम स्थापना द्रव्य समाचार, अद्धा प्रमाण और भाव इन सात भेदों व उनके भी नाना उत्तर भेदो का निर्देश किया गया है। पाँच द्रव्यों के परिणमन में हेतुभूत कालाणुओं का प्रधान काल तथा सचित्त अचित्त व मिश्र भेदों से युक्त दंश व मशक काल भूमिकर्दम काल तथा शीतकाल आदि को अप्रधान काल बतलाया गया है। समाचार काल के भी लौकिक और लोकोत्तर भेद बतलाये है, और फिर ज्ञानावरणीय कर्मों की उत्कृष्ट आदि वेदनाओं की काल मर्यादा उनके स्वामियों तथा उनके तरतम भाव का प्ररूपण किया गया है। इसके अन्त में दो चूलिकाएँ भी हैं। पहली चूलिका में स्थिति बंध-स्थान निषेक आबाधा-काण्डक और अल्प-बहुत्व इन चार अनुयोगों की प्ररूपणा की गई है। तथा दूसरी चूलिका में स्थिति-बंध-अध्यवसाय स्थानों को जीव प्रकृति और स्थिति इन तीन समुदाहारों द्वारा समझाया गया है। (षट्खण्डागम—भाग ११)

७—भाव-विधान अधिकार में पूर्वोक्त पद-मीमांसादि तीन अनुयोगो द्वारा ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंकी उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट आदि रूप भावात्मक वेदनाओ का विचार किया गया है। उनके स्वामी जीवों को बतलाया गया है और जघन्य उत्कृष्ट व जघन्य-उत्कृष्ट भवो के माध्यम से कर्म प्रकृतियो का अल्प-बहुत्व प्रगट किया गया है। उत्तर प्रकृतियो के अल्प-बहुत्व की यही बड़ी विशेषता है कि उसके ६४ पदों को पहले गाथा सूत्रों में प्रगट करके पश्चात् उन्हें पूर्ववत् गद्य-सूत्रों में महादण्डक रूप में समझाया है। ऐसी सूत्रात्मक गाथाओ की संख्या आठ है। अनुमानतः यह गाथाएँ सूत्रकार को स्वयं पूर्व आचार्य परम्परा से प्राप्त हुई होंगी। इस अधिकार की तीन चूलिकाएँ भी हैं। प्रथम चूलिका में सम्यक्त्वोत्पत्ति श्रावक विरत अनन्तानुबंधी विसंयोजक दर्शनमोह-क्षपक चारित्रमोह-उपशामक उपशान्तकषाय क्षपक क्षीणमोह, स्वस्थान-जिन और योग निरोध में प्रवृत्त जिन इन ग्यारह स्थानो में गुणश्रेणि निर्जरा का उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित्व तथा काल की अपेक्षा संख्यातगुणहीनत्व स्थापित किया गया है। यहा यह ध्यान देने योग्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के सम्यग्दृष्टि श्रावक आदि सूत्र की व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार न गुणश्रेणि के केवल १ ही स्थान गिनाय हैं। वहा अन्तिम दो स्थानों में भेद नहीं किया गया है। दूसरी चूलिका में अनुभागबंध-अध्यवसाय स्थानो का अविभाग-प्रतिच्छेद, स्थान अन्तर, काण्डक आदि १२ प्ररूपणाओं द्वारा कथन किया गया है। तीसरी चूलिका जीव-समुदाहार विषयक है जिसमें एक स्थान जीव-प्रमाणानुगम निरन्तर-स्थान जीव प्रमाणानुगम सान्तरस्थान आदि आठ अनुयोगद्वार हैं।

८—वेदना-प्रत्यय विधान में ज्ञानावरणीयादि आठो कर्मों की वेदना के प्रत्ययों अर्थात् कारणों का प्ररूपण किया गया है और यह भी नयो के आश्रय से। तदनुसार आठों कर्मों के प्रत्यय हिंसादि पापो बताया निदान व कलह पैशुन्य आदि को नैगम व्यवहार और संग्रह नय की अपेक्षा बतलाया है। किन्तु ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा उनके प्रकृति और प्रदेश भाग को योग प्रत्यय एव स्थिति और अनुभाग को कषाय प्रत्यय तथा शब्द नय की अपेक्षा अवक्तव्य कहा गया है। यहाँ टीकाकार

न जो शब्द नय के प्रकरणमें अवक्तव्य का सूक्ष्म विवेचन किया है वह शब्द नय की मर्यादा को समझने के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार दसवें सूत्र में जो कर्म प्रत्ययों में 'माय' शब्द आया है उसका अर्थ टीकाकार ने 'मेय' अर्थात् प्रस्थ आदि मान किया है। यहाँ प्रश्न उठाया है कि 'मेय' का 'माय' कैसे हो गया ? इसका समाधान करने के लिये उन्होंने 'एए छच्च समाणा' आदि गाथा उद्धृत करके कहा है—'अनेन सूत्रेण प्राकृते एकारस्य आकार विधानात्'। इस सूत्र का उन्होंने अन्यत्र भी टीका में उपयोग किया है और इस पर से प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख कोई प्राकृत भाषा का भाषाबद्ध व्याकरण उपस्थित था जो अब नहीं मिलता।

९—वेदना-स्वामित्व विधान में आठो कर्मों के स्वामियों का प्रकपण किया है और इसके लिये भी उन्होंने नयों का अवलम्बन लेकर एक जीव नो जीव और नाना जीव के एक व द्वि संयोगी आठ भागों से स्वामित्व का विधान किया है। यहाँ उन्होंने नैगम और व्यवहार नयों की अपेक्षा आठो कर्मों के आठो प्रकार के स्वामित्वों का 'स्यात्' शब्दपूर्वक विधान किया है। किन्तु संग्रह नय की अपेक्षा केवल दो प्रकार के स्वामियों का एक जीव और नाना जीव तथा ऋजुसूत्र और शब्द नय की अपेक्षा केवल एक जीव के स्वामित्व का विधान किया है क्योंकि ये नय द्रव्य-बहुत्व को स्वीकार नहीं करते।

१०—वेदना-वेदन अधिकार में आठो कर्मों के बध्यमान उदीर्ण व उपशान्त स्वरूपों का एकत्व व अनेकत्व की अपेक्षा नैगमादि नयों के अनुसार प्ररूपण किया गया है। यहाँ नैगम व्यवहार और संग्रहनयो की अपेक्षा पृथक् पृथक् और कुछ भेद को लिये हुए निरूपण पाया जाता है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा कर्मों की केवल उदीर्ण अर्थात् फल प्राप्त विपाक वेदना मात्र को स्वीकार किया गया है और शब्दनय की अपेक्षा विषय को अवक्तव्य कहा है।

११—वेदना-गति विधान अनुयोगद्वार में कर्मों की स्थित अस्थित अथवा स्थितास्थित अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। नैगम संग्रह और व्यवहार नयो की अपेक्षा ज्ञानावरणीयादि चार घातिया कर्मों की वेदना को स्यात्-स्थित और स्यात् स्थित-अस्थित ही कहा है व अघातिया कर्मों को कथंचित् स्थित अस्थित व स्थितास्थित तीनों रूप। ऋजुसूत्रनय से सभी कर्मों को कथंचित् स्थित और कथंचित् अस्थित इन दो रूप तथा शब्द नय की अपेक्षा अवक्तव्य।

१२—अनन्तर-विधान अनुयोगद्वार में कर्मों के अनन्तर परम्परा व उभयप्रकार बंधो का विचार किया गया है। नैगम और व्यवहार नयो की अपेक्षा आठो कर्मों की वेदना तीनो प्रकार के बंधरूप है। संग्रहनय से अनन्तर और परम्परा बंधरूप। ऋजुसूत्र नय से केवल परम्परा बंध रूप तथा शब्द नय से अवक्तव्य।

१३—वेदना सन्निकर्ष विधान में यह विचार किया गया है कि कर्मों की जो वेदना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव इन चार में से किसी एक की अपेक्षा उत्कृष्ट या जघन्य होती है वह शेष विकल्पों से भी उसी प्रकार होती है या अन्य भी। जैसे ज्ञानावरणीय की द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ? उत्तर है वह नियम से अनुत्कृष्ट और असंख्यात गुणहीन होती है तथा काल और भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट दोनों ही। इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है वेदनीय कर्म की वेदना सम्बन्धी। ५ वें आदि सूत्रों में बतलाया गया है कि जो वेदनीय-वेदना क्षेत्र से उत्कृष्ट होती है वह द्रव्य तथा काल से नियमतः अनुत्कृष्ट और भाव से उत्कृष्ट होती है। यहाँ टीका में प्रश्न उठाया गया है कि लोकपूरण-समुद्घात-गत केवली के क्षेत्र की अपेक्षा वेदनीय कर्म की वेदना उत्कृष्ट होते हुए, भाव से अनुत्कृष्ट क्यों नहीं होनी चाहिये ? इस शंका का टीका में बड़े विवेचन सहित समाधान किया है और इस संबंध में सूत्र की प्रामाणिकता की पुष्टि में सूत्र के स्वरूप को बतलाने वाला निम्न श्लोक उद्धृत किया है —

> अर्थस्य सूचनात् सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा। सूत्रमुक्तं अनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः ॥

अर्थात् अर्थ का भले प्रकार सूचक होने से तथा अर्थ का उत्पादक होने से सूत्रकार आचार्य द्वारा कही हुई अर्थपूर्ण उक्ति ही तत्त्वतः सूत्र है। और इसके पश्चात् उन्होंने कहा है —

> ण च जुत्ति-विरुद्धत्तादो ण सुत्तमेदमिदि वोत्तुं सक्किज्जदे। सुत्तविरुद्धत्ताए जुत्तित्ताभावादो ॥

अर्थात् युक्ति विरुद्ध होने से यह सूत्र तो नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूत्र के विरुद्ध जानेवाली बात में स्वयं युक्ति का अभाव है। इस प्रकार टीकाकार ने आगम के व्याख्यान में युक्ति की सीमा को निर्धारित कर दिया है और स्वयं उनका व्याख्यान युक्तियों से परिपूर्ण होते हुए भी उक्त नियम का पूर्णतः परिपालन करता हुआ पाया जाता है।

१४—वेदना-परिमाण-विधान अधिकार में आठो कर्मों की प्रकृत्यर्थता समय-प्रबद्धार्थता और क्षेत्र-प्रत्यास की प्ररूपणा की गई है। प्रकृत्यर्थता में अन्य कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ तो उतनी ही बतलाई हैं, जितनी अन्यत्र। किन्तु ज्ञानावरणीय

दर्शनावरणीय और नामकर्म की प्रकृतियों को असंख्यात लोकप्रमाण बतलाया है जिसका टीकाकार ने जीव स्वभाव प्ररूपण द्वारा उचित समाधान किया है। समय प्रबद्धार्थतानुसार ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय की एक एक प्रकृति का तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपमों के समय-प्रबद्धों से गणित प्रमाण कहा है। इसी प्रकार अन्य कर्मों की प्ररूपणा की गई है। इसी प्रकार क्षेत्र प्रत्यास में जीव द्वारा अवरुद्ध क्षेत्र के प्रमाण से गुणित समय प्रबद्ध प्रमाण रूप प्रकृतियों का निर्देश किया गया है।

१५—भागाभाग प्रकरण में कर्म प्रकृतियों का उन्हीं प्रकृत्यर्थता आदि तीनों अपेक्षाओं से यह प्ररूपण किया गया है कि वे सब प्रकृतियों की अपेक्षा कितने भाग प्रमाण हैं। जैसे ज्ञानावरण प्रकृति समस्त प्रकृतियों के कुछ कम दो भाग प्रमाण है और इसी प्रकार दर्शनावरण भी तथा शेष छः कर्मों की प्रकृतियाँ पृथक् पृथक् असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं इत्यादि।

१६—वेदना अल्प-बहुत्व विधान में उन्हीं प्रकृत्यर्थता आदि तीनों अनुयोगों द्वारा ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों के अल्प बहुत्व का प्ररूपण किया गया है और इसी के साथ वेदना खंड १४४९ सूत्रों में पूर्ण होता है। (पट्खंडागम भाग—१२)

५—वर्गणा खण्ड —

५ वें खण्ड वर्गणा में उक्त २४ अनुयोग द्वारों में से स्पर्श कर्म और प्रकृति ये तीन तथा बंधन अनुयोगद्वार के बंध और बंधनीय विभागों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस खण्ड का नाम 'वर्गणा' इस कारण रखा गया है क्योंकि इसके बहुभाग (बंधन अनुयोगद्वार, सूत्र ९८–१८) में वर्गणाओं का कथन किया गया है।

स्पर्श अनुयोगद्वार के ३२ सूत्रों में नाम स्थापना आदि १३ प्रकार के स्पर्श बतलाये गये हैं और अन्त में यह स्पष्ट किया है कि यहाँ उनमें से और सब स्पर्शों को छोड़कर कर्मस्पर्श से ही प्रयोजन है जिसका विषय है ज्ञानावरणीयादि कर्मों के जिनमें पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध जो कि पूर्व में और विशेषतः वेदना खण्ड में बतलाया जा चुका है।

कर्म अनुयोगद्वार में ३१ सूत्र हैं जिनमें नामकर्म स्थापना कर्म व द्रव्यकर्म आदि दस प्रकार के कर्मों का निरूपण किया गया है। पहले कौन सा मत किन-किन प्रकार के कर्मों को स्वीकार करता है यह दिखलाकर उन कर्मों का जो स्वरूप प्रकट किया गया है उसके आश्रय से टीकाकार ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों का विस्तार से परिचय कराया है जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

द्रव्यकर्म से तात्पर्य है नाना द्रव्यों की सद्भाव क्रिया जैसे जीव का ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन तथा पुद्गल का वर्ण-गंधादि रूप व धर्म का गमनागमन में हेतु रूप आदि परिणमन इसी प्रकार मन-वचन-काय के निमित्त से जीव का स्पन्दन प्रयोग कर्म है। मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग के निमित्त से कर्मों का ज्ञानावरणीयादि रूप परिणमन कर ग्रहण करना समवदान कर्म है। औदारिक शरीर द्वारा मस छेदना परिताप आरम्भ आदि पाप क्रियाओं को करना अध कर्म है। ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक केवल योग के निमित्त से होने वाला कर्म ईर्यापथ कहा गया है। इस टीकाकार ने कुछ प्राचीन गाथाओं के आधार पर ध्यान का तथा भूख प्यास आदि समस्त बाधाओं को दूर करने वाला कहा है। तपोकर्म के प्रसंग में बाह्य और अभ्यन्तर तप एवं उनके भेद प्रभेदों का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। क्रिया कर्म के विवरण में गुरु जिन व जिनालय की प्रदक्षिणा, नमस्कार वन्दना स्तुति आदि का विवरण दिया गया है। प्रयोग कर्मादि छः कर्मों का टीकाकार ने सत्संख्यादि आठ अनुयोगों द्वारा भी ओघ और आदेश अर्थात् गुणस्थान व मार्गणास्थान की अपेक्षा भी प्ररूपण किया है। प्रकृत में समवदान कर्म से प्रयोजन बतलाया गया है।

प्रकृति अनुयोगद्वार में १४२ सूत्र हैं। यहाँ आदि में नाम स्थापना द्रव्य और भाव प्रकृति रूप चार भेद करके उनका नया के आश्रय से विचार किया गया है। प्रकृति के प्रकृति-निक्षेप, प्रकृति-नय-विभाषणता आदि १६ अधिकारों की सूचना की गई है किन्तु व्याख्यान केवल उक्त दो का ही किया गया है। शेष की टीकाकार ने वेदना खंड के अनुसार समझ लेने की सूचना दी है। इस प्रकृति के आश्रय से यहाँ ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विस्तार से और अनेक बातों में कुछ अपूर्व विवेचन पाया जाता है। यहाँ दिये गये ज्ञान के भेद प्रभेदों का व पूर्वों का वर्णन बड़ा महत्वपूर्ण है। टीकाकार ने पूर्वों का स्वरूप विस्तार से समझाया और उन्हीं में समस्त श्रुतज्ञान का समावेश सिद्ध किया है। यह प्रश्न किए जाने पर कि जब अक्षर आदि स्वरूप अंग बाह्यादि १४ प्रकीर्णक रूप श्रुतों का अन्तर्भाव कहाँ होता है उसका केवल यह उत्तर दिया है कि उनके अक्षरोच्चार व अनुयोगद्वार-समास प्राभृत व अवयव ही होना चाहिए तथा कोई नियम नहीं है अथवा प्रतिपत्ति समास का पूर्वगत में इनका अन्तर्भाव कहना चाहिये। इस समाधान के होते हुए भी वीरसेनाचार्य का मत यही प्रतीत होता है कि पूर्वगत सूत्राधार तो पूर्वगत ही है। (पट्खंडागम भाग—१३)

बंध और बंधनीय में अगाधार सूत्र हैं, जिनकी संख्या ७२७ है। बंध प्रकरण प्रथम ६४ सूत्रों में समाप्त हो गया है। यहाँ नामादि चार प्रकार से बंध के भेद करके उनमें नयों की योजना की गई है और फिर उन्हीं बंध भेदों का स्वरूप वर्णन किया गया है। इसमें द्रव्य बंध के आगम नोआगम रूप दो भेद नो आगम द्रव्य बंध के प्रयोग बंध और विस्रसाबंध ये दो भेद विस्रसाबंध के सादि अनादि रूप से दो भेद तथा प्रयोग बंध के कर्म और नोकर्म तथा नोकर्म बंध के आलापन अल्लीवण संश्लेष शरीर और शरीरी ये पाँच भेद फिर समझाये गये हैं। इस प्रकरण के पश्चात् तीन सूत्रों में बंधक अनुयोगद्वार का अवतार करके यह सूचित कर दिया गया है कि यहाँ खुद्दाबन्ध के ग्यारह अधिकारों द्वारा इस विषय को समझ लेना चाहिये। इसके पश्चात् सूत्र ६८ से बंधनीय अनुयोगद्वार प्रारम्भ होता है। आदि में ही यह स्पष्टीकरण किया गया है कि वेदनात्मक अर्थात् विपाक या अनुभव कराने वाले पुद्गल-स्कन्ध ही बंधनीय होते हैं और वे वर्गणास्वरूप हैं। इसलिये कर्म-वर्गणाओं का स्वरूप आठ अनुयोगों द्वारा जानने योग्य है जो इस प्रकार है —वर्गणा द्रव्य-समुदाहार, अनन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा अवहार, यवमध्य पदमीमांसा और अल्प-बहुत्व॥

वर्गणा के दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर वर्गणा भी एक श्रेणी और नाना श्रेणी रूप से दो प्रकार की है। एक श्रेणी वर्गणा का विचार निक्षेप नय-विभाषणता प्ररूपणा आदि १६ अनुयोगों द्वारा ज्ञातव्य कहा गया है, किन्तु उनमें से विवेचन केवल प्रथम दो का ही किया गया है। शेष विवेचन छोड़ने का कारण टीकाकार ने यह सूचित किया है कि उनका परिचय वर्गणा-द्रव्य-समुदाहार के विवरण से प्राप्त हो सकता है। वर्गणा-द्रव्य-समुदाहार का प्ररूपण भी नाना अनुयोगों द्वारा किया गया है जिनमें २३ प्रकार की वर्गणाओं का स्वरूप वर्णन मनन करने योग्य है। विशेषतः बादर और सूक्ष्म निगोद वर्गणाओं का स्वरूप व उनके आधारभूत शरीरों व अन्य द्रव्यों का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। यहाँ साधारण जीवों का स्वरूप बतलाने वाली 'साहारणमाहारो' आदि सात गाथाएँ सूत्र रूप से पाई जाती हैं जिनके आश्रय से टीकाकार ने महत्त्वपूर्ण व्याख्यान किया है। प्रत्येक शरीर, पृथिवी जल अग्नि और वायुकायिक देव-नारकियों का वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर और केवली इन आठ शरीरों को छोड़कर शेष समस्त संसारी जीवों के शरीर बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित हैं। इनके अतिरिक्त जल थल व आकाश में सर्वत्र सूक्ष्म निगोद वर्गणाओं का सद्भाव है। क्षीणकषाय गुणस्थान में ध्यान के बल से क्षपक के शरीर में नये निगोद जीव उत्पन्न नहीं होते तथा पुराने अपनी आयु पूर्ण कर मरने लगते हैं। अतः इस गुणस्थान के अन्तिम समय में वहाँ जघन्य बादर-निगोद-वर्गणा होकर सयोग केवली-जिन में उसका सर्वथा अभाव हो जाता है। बंधन अनुयोग की चूलिका में निगोद शरीरों व जीवों का स्वरूप और भी सूक्ष्मता से समझाया गया है। यहाँ आदि में ही कहा गया है कि जब कोई निगोदी जीव उत्पन्न होता है और एक समय में अनन्तानन्त साधारण जीव एक शरीर धारण करते हैं ऐसे असंख्यात लोकमात्र शरीरों का एक निगोद होता है (सू ५८२)। दूसरे समय में असंख्यात गुणहीन जीव उत्पन्न होते हैं और यह उत्पत्ति क्रम अधिक से अधिक एक आवली के असंख्यातवें भाग तक चलता जाता है। तत्पश्चात् एक दो या तीन समय का अन्तर पड़कर पुनः उत्पत्ति क्रम चालू होता है। इसके पश्चात् अवगमन करनेवाले जीवों का अल्प बहुत्व दिया गया है। इस भाग के अन्त में सूचना की गई है कि बन्धविधान के जो प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश बंध होते हैं, उनका प्ररूपण भूतबलि भट्टारक ने महाबंध में विस्तार से किया है इसलिये यहाँ नहीं किया जाता। (षट्खंडागम भाग—१४)

६ महाबंध :—

उपर्युक्त बंधनीय अधिकार की समाप्ति के पश्चात् यहाँ ७९७ वें सूत्र में सूचना की गई है कि —"ज त बंधविहाणं तं चउव्विहं। पयडिबंधो ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि।" और इस सूत्र पर टीकाकार का कहना है कि सूत्रोक्त चारों बंधों का विधान भूतबलि भट्टारक ने महाबंध में सप्रपंच (सविस्तार) किया है, इसलिये हमने यहाँ नहीं किया। इस प्रकार समस्त महाबंध यहाँ प्ररूपित होने पर बंध-विधान समाप्त होता है। इस सूत्र और टीका से स्पष्ट है कि महाबन्ध खण्ड का अवतार इसी सूत्र से हुआ है। दुर्भाग्यतः महाबंध की ताड़पत्रीय प्रति के आदि के कुछ ताड़पत्र अप्राप्य होने से इस अल्पप्रति में महाबन्ध का किस प्रकार प्रारंभ किया गया था यह बात नहीं होता। उपलब्ध पाठ के आदि में १६ गाथाएँ पाई जाती हैं जो अवधिज्ञान के क्षेत्र विषयक हैं और उनके अन्त में सूचना है—'एवं ओधिणाणावरणीयस्स कम्मस्स परूवणा कदा भवदि। तत्पश्चात् मनःपर्यय एवं केवलज्ञानावरणीय कर्मों तथा दर्शनावरणीय वेदनीय मोहनीय आयु, नाम गोत्र और अन्तराय कर्मों के स्वरूप के पश्चात् सूचना है कि प्रकृति समुत्कीर्तन समाप्त हुआ। इसके पश्चात्

बंध का स्वरूप समझकर ओघ और आदेश प्ररूपणा का निर्देश करके काल अन्तर, सन्निकर्ष भंगविचय भागाभाग परिमाण तथा क्षेत्र-स्पर्शनादि अल्प-बहुत्व पर्यन्त प्ररूपणाओं द्वारा प्रकृति बंध का व्याख्यान किया गया है।

(महाबन्ध भाग-१)

स्थितिबंध का प्ररूपण निपक भागाभाग-काल्प व अल्पबहुत्व के अतिरिक्त अद्धाछेद, सर्व-नोसर्व बंध आदि २४ अनुयोग द्वार द्वारा किया गया है। तत्पश्चात् भुजगारबंध पदनिक्षेप वृद्धिबंध अध्यवसाय समुदाहार जीव समुदाहार तथा उत्तर प्रकृति स्थिति बंध का प्ररूपण तत्सम्बन्धी नाना अधिकारों द्वारा किया गया है। (महाबन्ध भाग २-३)

अनुभाग बन्ध का प्ररूपण पहले मूल प्रकृतियों का और फिर उत्तर प्रकृतियों का पृथक पृथक संज्ञा आदि २४ अनुयोग द्वार द्वारा किया गया है। (महाबन्ध भाग ४-५)

प्रदेशबंध की प्ररूपणा भी मूल और उत्तर प्रकृतियों की पृथक्-पृथक लेकर स्थान सर्वबंध-नोसर्वबंध उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टबंध आदि अल्प-बहुत्व तक २४ अनुयोगों द्वारा और तत्पश्चात् भुजगार, पदनिक्षेप वृद्धि अध्यवसाय-समुदाहार और जीव-समुदाहार अनुयोगों द्वारा विस्तारपूर्वक की गई है। दुर्भाग्य की बात यह है कि उक्त सभी प्रकरणों में कहीं-कहीं ताम्रपत्र त्रुटित व अप्राप्य होने से बीच-बीच में पाठ खंडित हुआ पाया जाता है। संभव है मूडबिद्री के ही भंडार में प्रयत्न करने से उसकी त्रुटिपूर्ति की जा सके। (महाबन्ध भाग ६—७)

यहाँ भूतबलि कृत महाबंध खण्ड समाप्त हो जाता है जिसकी रचना इन्द्रनंदीकृत श्रुतावतार के अनुसार तीस हजार श्लोक प्रमाण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि पुष्पदन्त और भूतबलि की सूत्र रचना में कर्म प्रकृति-प्राभृत के २४ अधिकारों में से केवल प्रथम ६ अर्थात् कृति वेदना स्पर्श कर्मप्रकृति और बन्धन का प्ररूपण पाया जाता है। शेष निबन्धनादि १८ अधिकारों पर कोई सूत्र रचना नहीं की तथापि वीरसेनाचार्य ने अपने गुरु से उपदेश पाकर इनकी भी प्ररूपणा की और इस अधिकार को भी उन्होंने सत्कर्म नामक छठा खण्ड कहा है। इन अधिकारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

(७) निबन्ध —नामक अधिकार में मूल और उत्तर प्रकृतियों के विषय बंधन का निरूपण किया गया है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय रूप में निबद्ध है, श्रोत्र शब्द में व घ्राण गंध में इत्यादि। उसी प्रकार ज्ञानावरण सब द्रव्यों में निबद्ध है, किन्तु उनकी सब पर्यायों में नहीं। इसी प्रकार दर्शनावरणीय मोहनीय व गोत्र आत्मा में निबद्ध हैं, वेदनीय सुख-दुःख में नाम पुद्गल जीव और क्षेत्र विपाकों में, तथा अन्तराय दानादि में। इस प्रकरण में वीरसेन स्वामी ने २ सूत्र बनाकर भी निबद्ध किये हैं।

(८) प्रक्रम —का अर्थ है परिवर्तन। इस अधिकार में कर्म प्रक्रम को चितन का विषय बनाकर यह प्ररूपण किया गया है कि कार्मण वर्गणा के पुद्गलस्कन्ध मूल प्रकृति रूप से तथा प्रकृति स्थिति व अनुभाग के वैशिष्ट्य से क्या और किस प्रकार परिणमन करते हैं। इस प्रक्रम में ग्रंथकार ने सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद एवं नैयायिक असत्कार्यवाद व क्षणिकवाद आदि की एकान्तग्राहिता का निरसन कर द्रव्य की अनेकान्तता व उसकी उत्पाद-व्यय युक्त ध्रुवता की स्याद्वाद के माध्यम से सिद्धि की है।

(९) उपक्रम —जिस प्रकार प्रक्रम में प्रकृति स्थिति व अनुभागात्मक पुद्गल वर्गणाओं का प्ररूपण किया है उसी प्रकार उपक्रम में उनके बंध होने के द्वितीय समय से लेकर क्रमशः आगे के कार्य का प्ररूपण किया गया है और तदनुसार उपक्रम चार अनुयोगों में विभाजित है—बंधन उदीरणा उपशामना और विपरिणाम जिनमें क्रमशः ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के बंध उदीरणा प्रशस्त और अप्रशस्त उपशामना तथा प्रकृति स्थिति आदि की देश व सकल निर्जरा रूप क्रमबद्ध कार्य की प्ररूपणा की गई है। इस प्रक्रम में कर्मों की अपकर्षण उत्कर्षण संक्रमण आदि अवस्थाओं का विचार बड़ा महत्वपूर्ण हुआ है।

(१०) उदय —इस प्रकरण में कर्मद्रव्य के स्थिति व अनुभाग आदि रूप से उदय में आने की प्रक्रिया को स्वामित्व प्रमाण काल अन्तर आदि नाना अनुयोगों के अनुसार समझाया गया है।

इन निबंधनादि चार प्रकरणों के ऊपर 'सतकम्म' नामक पंजिका भी प्राप्त हुई है जिसमें उक्त विषयों के विवेचन में अनेक स्थलों पर 'चूदो' 'केत्तियमेत्तर्ण' आदि रूप से प्रश्न उठाकर उनका समाधान सूक्ष्मता व विस्तार से किया गया है। पंजिका की उत्थानिका के वाक्यों से इसके कर्ता का समस्त अठारहों अधिकारों पर टीका लिखने का अभिप्राय प्रतीत होता

आदि आहार से जैसे खान पान आदि ममत्व व अनुराग से तथा परिग्रह से। "अथवा पोग्गलाणं अत्ता रूप रस गंध फासाण्णिक्कवण्णं सरूवं पोग्गल-अत्ता। अर्थात् पुद्गलों का रूप रस गंध स्पर्श आदि लक्षण व स्वरूप ही हुआ उनकी आत्मा। इस प्रकार पोग्गल-अत्ता यह इस अनुयोगद्वार के नाम की व्याख्या हो सकती है जिसमें पुद्गल के उक्त गुणों की अनन्तभाग वृद्धि आदि षड्गुणवृद्धि की प्ररूपणा जिस प्रकार भाव विधान में की गई है उसी प्रकार करनी चाहिये। इससे अधिक इस अनुयोग द्वार का और कोई विवेचन यहाँ नहीं किया गया।

(२०) निधत्तमनिधत्त—जो कर्म जीव परिणामों की विशेषता से उदय व प्रकृति संक्रमण के योग्य नहीं रहते किन्तु उत्कर्षण अपकर्षण योग्य होते हैं वे निधत्तीकृत कहे जाते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रविष्ट हुए उपशामक व क्षपक जीव के समस्त कर्म अनिधत्त होते हैं। तथा अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने वाले के अनिवृत्तिकरण में अनन्तानुबंधी चतुष्क अनिधत्त होते हैं, व शेष कर्म निधत्त भी हो सकते हैं और अनिधत्त भी। दर्शन मोह उपशामक व क्षपक के अनिवृत्तिकरण में केवल दर्शनमोह ही अनिधत्त है शेष सब कर्म निधत्त या अनिधत्त होते हैं इसी अर्थपद के अनुसार समस्त मूल और उत्तर प्रकृतियों के २४ अनुयोगों द्वारा निधत्त व अनिधत्त की सूचना देकर यह प्रकरण पूर्ण किया गया है।

(२१) निकाचित-अनिकाचित—कर्मों की उस अवस्था को निकाचित कहते हैं जब कि वे उदय संक्रमण अपकर्षण व उत्कर्षण के योग्य नहीं होते। इससे विपरीत अवस्था का नाम अनिकाचित है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रविष्ट जीव के समस्त कर्म अनिकाचित हैं उससे नीचे निकाचित भी होते हैं और अनिकाचित भी। यहाँ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि उपशान्त निधत्त और निकाचित का सन्निकर्ष है अर्थात् इनमें से कर्मों की कोई एक अवस्था होने पर उनमें अन्य दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। यहाँ इतनी ही प्ररूपणा की गई है।

(२२) कर्मस्थिति—इस प्रकरण में वीरसेन स्वामी ने चार पंक्तियों में केवल इतना ही कहा है कि नागहस्तिक्षमाश्रमण के अनुसार यहाँ कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों की प्ररूपणा है और आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण का कहना है कि यहाँ कर्म स्थिति संचित कर्मों के सत्त्व की प्ररूपणा है। इस प्रकार इन दोनों ही उपदेशों के अनुसार कर्मस्थिति की प्ररूपणा इस अनुयोगद्वार में करनी चाहिये।

(२३) पश्चिमस्कंध—यहाँ जीव के अन्तिम भव संबंधी कर्मों की बंध उदय उदीरणा संक्रमण और सत्कर्म इन पांच मार्गणाओं से प्ररूपणा की जानी चाहिये। इस सूचना के पश्चात् यहाँ सयोग केवली की आयु के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर होने वाली केवली समुद्घात क्रिया को बतलाया गया है जिसमें दण्ड कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातों द्वारा स्थिति व अनुभाग के घात और तत्पश्चात् योगनिरोधों के द्वारा शैलेशी अवस्था की प्राप्ति समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान और तत्पश्चात् मुक्ति होने का क्रम समझाया गया है।

(२४) अल्प-बहुत्व—इस प्रकरण के आदि में वीरसेन स्वामी ने सूचना की है कि नागहस्ति भट्टारक यहाँ सत्कर्म मार्गणा द्वारा प्ररूपण करते हैं और यह उपदेश परम्परागत होने से मान्य है। तदनुसार यहाँ पहले सत्कर्म के स्वामी जीवों का प्ररूपण कर नाना गतियों में नाना भव प्रभेदों की अपेक्षा कर्मों के सत्त्व के अल्प-बहुत्व का क्रम समझाया गया है।

इस प्रकार सत्कर्मप्रकृति-प्राभृत के चौबीसों अनुयोगद्वारों का विषय प्ररूपण कर धवलाकार वीरसेन स्वामी ने अपनी यह रचना पूर्ण की है और इन्द्रनंदी के अनुसार यही रचना (निबंधनादि १८ अनुयोगद्वार) सत्कर्म नामक छठा खण्ड है।

विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ

(दरबारीलाल कोठिया एम ए शास्त्राचार्य न्यायाचार्य)

प्रस्तुत निबन्ध में सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं नैयायिक तार्किक चूडामणि आचार्य विद्यानन्द और उनकी रचनाओं पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

(१) परिचय —

विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्यों का अपने ग्रन्थों में उद्धरणादि रूप में उल्लेख करने वाले परवर्ती ग्रन्थकारों के समुल्लेखों तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं पर से जो उनका संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(क) कार्यक्षेत्र —

सर्वप्रथम हम विद्यानन्द की उन प्रशस्तियों को लेते हैं जो उन्होंने अपने ग्रंथों के आदि अथवा अन्त में श्लेष रूप से दी हुई हैं। इन प्रशस्तियों में विद्यानन्द ने अपने समकालीन दो गंगनरेशों-शिवमार द्वितीय (ई ८१) और उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई ८१६) का उल्लेख किया है[1] गंग राजाओं का राज्य वर्तमान मैसूर राज्य के उस भूभाग में था जिसे 'गङ्गवाडि' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसा की चौथी शताब्दी तक रहा और आठवीं सदी में श्री पुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्य काल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों और दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैन धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दि ने इस राज्य की स्थापना में भारी सहायता की थी, और पूज्यपाद देवनन्दि इसी राज्य के गंग-नरेश दुर्विनीत (लगभग ५ ई) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं कि ऐसे जिनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और निर्विघ्नता के साथ वहाँ रहकर अपने महत्त्वपूर्ण सारभूत विशाल ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

विद्यानन्द के प्रशस्तिलेखों से उनके साहित्यिक कार्यों और जैन शासन के प्रचार का क्षेत्र उक्त गंगराजाओं की राज्य-भूमि गंगवाडि प्रदेश प्रतीत होता है और यही प्रदेश उनकी जन्म-भूमि भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

---

१ यथा (क) जीयात्सज्जनताश्रयः शिव-सुधाधाराऽवधान-प्रभु
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र प्रतापान्वितः।
प्रोर्ज्ज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानितः
स मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल-मल-प्रज्वालनप्रक्षमः ॥ —तत्त्वार्थश्लो प्रशस्तिप

इस प्रशस्ति पद्य में विद्यानन्द ने 'शिवमार्ग'-मोक्षमार्ग का जयकार तो किया ही है किन्तु उन्होंने अपने समय के गंगनरेश शिवमार द्वितीय का भी जयकार एवं यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गंगवंशी श्री पुरुष का उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था जो ई सन ८१ के लगभग राज्याधिकारी हुआ था।

(ख) सत्यवाक्यस्तुति गोचरोऽभ्यधायि श्रीसत्यवाक्याधिप

(ग) विद्यानन्द-बुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः। —युक्त्यनुशा प्रश प

(घ) जयन्ति निर्जिताशेष सर्वथैकान्तनीतयः
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥ प्रमाणपरी ।

(ङ) विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थ सिद्ध्यै। —आप्तपरीक्षा प्रश ।

(ख) समय—

उपर्युक्त उल्लेखों से यह भी ज्ञात हो जाता है कि विद्यानन्द उक्त गंग नरेश शिवमार द्वितीय और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के समकालीन हैं। अर्थात् ई० सन् ७७५ से ई० ८४० उनका अस्तित्व समय अनुमानित होता है। जैसा कि हमने विस्तार के साथ अन्यत्र[1] विचार किया है।

(ग) साधुजीवन और कठोर चारित्राराधन—

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य सूक्ष्म प्रज्ञा विस्मयप्रद प्रतिभा गंभीर विचारणा अद्भुत अध्ययनशीलता और अपूर्व तर्कणा आदि के संबंध में इसी लेख में हम आगे विचार करेंगे। उससे पूर्व उनके साधु जीवन की कठोर चर्या पर भी कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

विद्यानन्द ने यद्यपि चारित्र सम्बन्धी कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं रचा और यदि रचा भी हो तो वह उपलब्ध नहीं है जिस पर से उनकी चर्या पर कुछ विशद जाना जाता फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक और अष्टसहस्री-गत व्याख्यानों से उनके निर्दोष और सुदृढ़ चरित्र पालन का हमें अच्छा संकेत मिल जाता है। यहाँ हम उदाहरण स्वरूप उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-गत दो महत्त्वपूर्ण विचारों को प्रस्तुत करते हैं।

(१) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ४५२) में तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय के ११वें सूत्र के व्याख्यान में जब उन्होंने पूर्व परम्परानुसार दुःख शोक आदि असातावेदनीय रूप पापास्रव के कारणों का समर्थन किया तो उनसे प्रश्न किया गया कि जैन साधु जो काय क्लेश अनशन आतापन आदि दुस्तर तपों को तपते हैं उनसे उन्हें भी दुःखादि होना अवश्यम्भावी है और ऐसी हालत में उनके भी असातावेदनीय रूप पापास्रव होगा। अतः कायक्लेशादि तपों का उपदेश युक्त नहीं है। और यदि युक्त है तो दुःखादि को पापास्रव का कारण बतलाना असंगत है? विद्यानन्द इस प्रश्न का अपने पूर्वज पूज्यपाद अकलंकदेव आदि की तरह आर्षसम्मत समाधान करते हुए कहते हैं कि जैन साधुओं को कायक्लेशादि तपश्चरण करने में क्रोधादि कषाय रूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते बल्कि उसमें उन्हें आनन्द आता है। जिन्हें उनके करने में संक्लेश होता है आनन्द नहीं आता जो उन्हें भार तथा आपद मानते हैं, उन्हीं के वे दुःखादिक पापास्रव के कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग और मोक्ष के जितने भी साधन हैं वे सब दुःख रूप ही हैं और इसलिये इतर साधुओं को भी उनके करने से पापास्रव होगा। अतः संक्लेश परिणाम युक्त दुःखादि ही असाता वेदनीय रूप पापास्रव के कारण हैं[2]।

इन उल्लेखों में 'सत्यवाक्य' पद द्वारा शिवमार द्वितीय (ई० ८१) के उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) का उल्लेख किया गया है

(घ) अष्टसहस्री के निम्न प्रशस्ति-पद्य में भी सत्यवाक्य का निर्देश किया गया प्रतीत होता है —

> यनाशेष-कुनीतिवृत्ति-सरितः प्रक्षालना शोषिता
> यद्वाचोऽप्यकलंक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थसार्थ-द्युतः।
> स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्
> विद्यानन्द-घन प्रदोऽनघधिया स्याद्वाद-मार्गाग्रणी ॥

यहाँ 'यद्वाचोऽप्यकलंक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युत' और 'अनघधिया विभु' में दो पद खासतौर से विचारणीय के लिए विचारणीय हैं। ये दोनों ही पद सत्यवाक्य के अर्थ में प्रयुक्त किये गये जान पड़ते हैं। इस पद्य के सार ही पद ऐसे हैं जो स्वामी समन्तभद्रयतीन्द्र के अतिरिक्त किसी राजा विशेष के अर्थ में भी लगते हैं और वह राजा विशेष यहाँ सत्यवाक्य (राचमल्ल-सत्यवाक्य प्रथम) के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जान पड़ता।

१ देखो प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित आप्त-परीक्षा की प्रस्तावना।

२ ऐसा ही आर्षसम्मत व्याख्यान उन्होंने अष्टसहस्री (पृ० २९) में समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा' गत 'विशुद्धि संक्लेशाङ्गं' इस ९५वीं कारिका का किया है।

२—इसी तरह इसी ग्रन्थ (पृष्ठ ४६४) में तत्त्वार्थसूत्र के ७ वें अध्याय के १७ वें सूत्र का व्याख्यान करते हुए विद्यानन्द ने पुष्कल युक्तियों द्वारा साधु के नाग्न्य-जिनकल्प का जोरदार एवं सबल समर्थन किया है और वस्त्रादिग्रहण का युक्त निषेध किया है।

विद्यानन्द के इन विचारों से स्पष्ट है कि वे अपने चरित्र पालन अनशनादि तपों एवं नाग्न्य के आचरण में कितने सावधान एवं तत्पर रहे होंगे। आप्तविषय पर लिखी गई अपनी 'आप्त-परीक्षा' की टीका प्रशस्ति में उन्होंने स्वयं लिखा है कि वे सम्यक् दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप बहु रत्नाभूषणों से सतत आभूषित थे[1]। विद्यानन्द से कोई दो सौ वर्ष बाद होने वाले प्रभावशाली विद्वान् वादिराज ने भी 'अनवद्यचरण' निर्दोष चारित्र-पालक जैसे गौरव पूर्ण विशेषण के साथ उनका उल्लेख किया है[2]। अतः सन्देह नहीं कि इसी कारण विद्यानन्द का मुनिसंघ में असाधारण एवं सम्मानपूर्ण स्थान था और उन्हें आचार्य माना जाता था[3]।

(घ) सूक्ष्म-प्रज्ञादि गुण-दिग्दर्शन :—

विद्यानन्द भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे वैशेषिक न्याय मीमांसा बौद्ध चार्वाक सांख्य और वेदान्त दर्शनों के मन्तव्यों को जब अपने दार्शनिक ग्रंथों में पूर्व पक्ष के रूप में रखते तथा उनकी समालोचना करते हैं तो उन दर्शनों की उनकी अगाध विद्वत्ता तलस्पर्शी अध्ययन और विशाल पाण्डित्य का विशद परिचय मिलता है। उनके तर्कपूर्ण उत्तर-पक्ष सूक्ष्म और गम्भीर ज्ञान के भण्डार हैं और भारतीय दार्शनिकों के मस्तक को उन्नत करने वाले हैं। जैन शास्त्रों के निपुण उद्धरणों से उनका जैन शास्त्राभ्यास भी अद्भुत और महान् ज्ञात होता है। आगम ग्रन्थों तथा पूर्ववर्ती दार्शनिक ग्रंथों का उन्होंने जो मर्मोद्घाटन किया है वह उनकी विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। उनकी इस प्रकार की प्रतिभा एवं सूक्ष्म प्रज्ञा का एक सुन्दर उदाहरण देखिये —

आचार्य गृद्धपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि "जो गुण और पर्याय युक्त है वह द्रव्य है[4]। इस पर शंका की गई कि गुण मान्यता तो इतर दार्शनिकों की है, जैनों की नहीं। उनके यहाँ तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित की गई है और इसीलिये उनके ग्राहक सिर्फ दो ही नयों—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का उपदेश दिया गया है। यदि गुण को भी स्वीकार किया जावे तो उसको ग्रहण करनेवाला एक और तीसरा 'गुणार्थिक' नय माना जाना चाहिये।

इस शंका का समाधान सिद्धसेन अकलंक और विद्यानन्द इन तीनों विद्वानों ने किया है। सिद्धसेन ने तो यह उत्तर दिया है[5] कि गुण पर्याय से भिन्न नहीं है—पर्याय में ही 'गुण' शब्द का प्रयोग जैनागम में किया गया है और इसलिये गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक इन दो ही नयों का उपदेश है, गुणार्थिक नय का नहीं।

अकलङ्क कहते हैं[6] कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है और सामान्य उत्सर्ग अन्वय गुण ये सब पर्याय-वाची शब्द हैं तथा विशेष भेद पर्याय ये एकार्थक शब्द हैं। अतः सामान्य को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। इसलिये गुण को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय ही है उससे भिन्न गुणार्थिक नाम के तीसरे नय को मानने की आवश्यकता नहीं है। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलङ्क के इन समाधानों के बाद पुनः शंका उठाई गई कि यदि गुण और पर्याय दोनों एक हैं तो द्रव्यलक्षण में उन दोनों का निर्देश क्यों किया गया है ?

१—सजयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम्।
तत्त्वार्थार्णव-तरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥

२—देवस्य शासनमतीव-गभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः
विद्वान्न चेन्न च गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्य-चरणः सदनन्तकीर्तिः ॥ न्याय वि वि २ १११ १४५० ॥

३—देखो शिलालेख-संग्रह प्रथम भाग शिलालेख नं १ ५।

४—'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—तत्त्वार्थसूत्र ५-३७।

५—सन्मति सूत्र ३-८, ९ ११ १२ नं की गाथाएँ

६—देखो तत्त्वार्थवार्तिक ५-३७ की व्याख्या

इसका उत्तर विद्यानन्द अपनी विलक्षणप्रतिभा एवं सूक्ष्म बुद्धि से देते हुए कहते हैं[1] कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों रूप है—(१) सहानेकान्त (२) क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान कराने के लिये तो गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त की सिद्धि के लिये पर्याययुक्त को द्रव्य कहा गया है। अतः गुण तथा पर्याय दोनों शब्दों का द्रव्य लक्षण में निवेश युक्त एवं सार्थक है।

जहाँ तक हम जानते हैं यह दो तरह के अनेकान्तों की कल्पना और उक्त सुन्दर समाधान विद्यानन्द की सूक्ष्म प्रज्ञा एवं तीक्ष्ण बुद्धि से प्रसूत हुए हैं[2]?

विद्यानन्द स्वतन्त्रचेता और उदार विचारक भी थे। स्पष्ट है कि अकलंकदेव[3] और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि[4] तथा लघु अनन्तवीर्य[5] आदि ने प्रत्यभिज्ञान के अनेक (दो से भी अधिक) भेद बतलाये हैं। परन्तु विद्यानन्द[6] अपने सभी ग्रन्थों में प्रत्यभिज्ञान के एकत्व और सादृश्य ये दो ही भेद प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार एक उदाहरण उनके उदार विचारों का भी हम नीचे प्रस्तुत करते हैं —

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५८ में विद्यानन्द ने ब्राह्मणत्व चाण्डालत्व आदि जातियों की व्यवस्था गुणों व दोषों से बतलाते हुए लिखा है कि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ सम्यग्दर्शनादि गुणों तथा मिथ्यात्वादि दोषों से व्यवस्थित हैं। नित्य और अनादि जाति कोई नहीं है। जो इन्हें अनादि, नित्य सर्वगत और अमूर्त स्वभाव मानते हैं, वे प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से बाधित हैं। इस तरह उन्होंने अपने उदार विचारों को उपस्थित किया है और यह उनकी जैन तर्क ग्रन्थों के लिये अपूर्व देन है। प्रभाचन्द्र ने उनके इस कथन को ही प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४८२–४८७) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७६८–७७९) में पल्लवित एवं विस्तृत किया है।

यहाँ यह भी उल्लेखयोग्य है कि विद्यानन्द सफल व्याख्याकार भी हैं। उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ स्वामी समन्तभद्र, अकलंक आदि के पद-वाक्यादिकों का अपने ग्रन्थों में जहाँ-कहीं व्याख्यान एवं मर्मोद्घाटन का अवसर आया है उसका उन्होंने बड़ी प्रामाणिकता एवं ईमानदारी से व्याख्यान किया है[7]।

उनके ग्रन्थों में प्रचुर व्याकरण के सिद्ध प्रयोग अनूठी पद्यात्मक काव्य रचना तर्कगर्भ वाक्चर्या प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शी जिन-शासन-भक्ति उन्हें उत्कृष्ट वैयाकरण श्रेष्ठ कवि अद्वितीय वादी महान् सैद्धान्ती और सच्चा जिनशासन-भक्त सिद्ध करने के पुष्कल प्रमाण हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय में कम से कम जैन परम्परा में तो कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज प्रभाचन्द्र अभयदेव देवसूरि, हेमचन्द्र लघुसमन्तभद्र वादिराज प्रभाचन्द्र, अभिनव धर्मभूषण उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिये पथ प्रदर्शक एवं अनुकरणीय हुई हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख जहाँ अकलंकदेव के वाङ्मय के आधार से रचा गया है वहाँ विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षादि तार्किक रचनाओं का भी वह आभारी है और उनका उस पर उल्लेखनीय प्रभाव है। वादिराज (ई० १०२५) ने लिखा है कि यदि विद्यानन्द अकलंक के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था। प्रकट है कि विद्यानन्द ने अकलंकदेव की अष्टशती के

१—गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्ययवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये॥ तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ४३८

२—वादीभसिंह सूरि (९वीं शती) ने भी अपनी स्याद्वादसिद्धि में युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तों का वर्णन किया है, जो सम्भवतः विद्यानन्द का अनुकरण हो।

३—लघीयस्त्रय का० २१

४—परीक्षामुख ३-५ से ३-१०।

५—प्रमेयरत्नमाला ३-१०।

६—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १९० अष्टस० पृ० २७९, प्रमाणपरीक्षा पृ० ६९।

७—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० २४ २४२, २५४ आदि तथा अष्टस० पृ० ५,११८,२१ आदि और प्रमाणपरीक्षा पृ० ६८ ६९ आदि

तात्पर्य को अष्टसहस्री द्वारा उद्घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में विद्यानन्द के तत्त्वार्थालंकार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा देवागमालंकार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है कि आश्चर्य है कि 'विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलंकारों की चर्चा करने-कराने और सुनने-सुनानेवालों के भी अंगों में कान्ति आ जाती है—उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है। प्रभाचन्द्र अभयदेव वादि देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण के ग्रन्थ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों से उपजीव्य हैं। उन्होंने उनके ग्रंथों से स्थल के स्थल उद्धृत किये हैं और अपने ग्रन्थों को उनसे अलंकृत कर उन्हें गौरव प्रदान किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को जिसके सम्बन्ध में विद्यानन्द ने स्वयं ही कहा है कि 'हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिये उसी से समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जायेगा' पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए हैं कि 'उन्होंने उसपर 'अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण' नाम की नव्य-न्याय शैली प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी है।

(ख) तर्कशैली —

विद्यानन्द की तर्क शैली तर्कशास्त्रियों के लिये स्पर्धा की वस्तु है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो अद्भुत तर्क शैली प्रस्तुत की है वह सूक्ष्म और तीक्ष्ण तर्कजालों से ओत-प्रोत होते हुए भी इतनी विशद एवं प्रवाहपूर्ण है कि कि पाठक उसपर मुग्ध हुए बिना नहीं रहता। प्रसिद्ध दार्शनिक स्व प अम्बादासजी शास्त्री ने विद्यानन्द की तर्कशैली पर अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा था कि 'विद्यानन्द की असाधारण तर्कणा एवं महान विचारणा अत्यन्त प्रशंसनीय है। उन्होंने ईश्वर कर्तृत्व की जैसी विशद, सबल एवं तर्कपूर्ण समालोचना की है वैसी अन्य किसी ने की हो अब तक देखने में नहीं आई। धर्मकीर्ति शान्त-रक्षित आदि विद्वानों ने भी ईश्वरकर्तृत्व की आलोचना की है पर वह आलोचना विद्यानन्द की आलोचना की समता नहीं करती। विद्यानन्द तो दण्ड लेकर ईश्वर के पीछे पड़ गये। आप्त परीक्षा' उनकी इस विषय की एक बेजोड़ रचना है। निःसन्देह निष्पक्ष व्यक्ति उनकी प्रशंसा करेंगे।

जैन तार्किक श्रद्धेय प सुखलालजी विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की तर्कजालों एवं महान विचारणाओं की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में जितना और जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खंडन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी किसी भी टीका में नहीं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं बल्कि बहुत से स्थानों पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में बिल्कुल अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोक-वार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैनवाङ्मय में जो थोड़ी बहुत कृतियां महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतियां राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक भी हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्य में से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखाई नहीं देता।

स्वर्गीय प महेन्द्रकुमार जी बनारस ने लिखा है कि 'तर्क ग्रन्थों के अभ्यासी विद्यानन्द के अतुल पाण्डित्य तलस्पर्शी विवेचन सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा में गूंथे गये युक्तिजाल से परिचित होंगे। उनके ग्रंथों को जैन न्याय के कोषागार से अलग कर दिया जाये तो वह एकदम निष्प्रभ सा हो जायगा।

विद्वानों के इन उद्गारों से हम सहज में जान सकते हैं कि विद्यानन्द की तर्क निष्णात प्रमेय प्रतिपादन शैली कितनी आकर्षक तथा मुग्ध करने वाली है। उनकी इस अपूर्व शैली के दो उदाहरण देखिये —

१—(क) 'कस्यचिद् दुष्टस्य निग्रह शिष्टस्य चानुग्रहं करोतीश्वरः प्रभुत्वात्, लोकप्रसिद्ध प्रभुवत्। न चैव

१—देखो 'आप्तपरीक्षा' की प्रस्तावना पृ २८

२—देखो न्यायवि वि (कि प १८२) गत यह पद्य जो इसी लेख में पहले उद्धृत किया जा चुका है।

३—अलंकारार्थ स्फुरत्येव विद्यानन्दस्य विस्मयं
अध्ययनाध्यापनाकार दीप्तिरङ्गेषु रिङ्गति ॥श्लो २८॥

४—श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यातैः
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमय-सद्भावः ॥ अष्टस पृ १५७।

महेश्वर सिद्धिः, नानाप्रभूनामेकमहाप्रभुतन्त्रत्वदर्शनात् । तथा हि-विवादाध्यासिता नानाप्रभव एकमहाप्रभुतन्त्रा एव नानाप्रभुत्वात् । ये ये नाना प्रभवस्ते ते अनेकमहाप्रभुतन्त्रा दृष्टाः, यथा सामन्त-महासामन्त-माण्डलिकादय एकचक्रवर्तितन्त्राः प्रभवश्चेमे चक्रवर्तीश्वरादयः, तस्मादेक महाप्रभुतन्त्रा एव । योऽसौ महाप्रभुः स महेश्वर इत्येकेश्वरसिद्धिः । स च स्वदेहनिर्माणकरोऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरत्वात् यो यो ऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरः स स स्वदेहनिर्माणकरो दृष्टः, यथा राजा तथा चायमन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरः, तस्मात्स्वदेहनिर्माणकर इति सिद्धम् ।

तच्च न परीक्षाक्षमम् महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः । तथाहि—यदि हीश्वरो देहान्तराद्विनाऽपि स्वदेहमनुत्पन्नमात्मानमुत्पादयेत् तदाऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रह लक्षण कार्यमपि प्रकृतं तथैव जनयेदिति तज्जनने देहाधानमनर्थकं स्यात् । यदि पुनर्देहान्तरादेव स्वदेहं विदधीत तदा तदपि देहान्तरमन्यस्मात् देहादित्यनवस्थिति स्यात् । तथा चापरापरदेह निर्माण एवोपक्षीणशक्तिकत्वान्न कदाचित्प्रकृते कार्यं कुर्यादीश्वरः । आप्तप० पृ० ६६ ।

(ख) किमुच सर्वथा वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथम पक्षे विधिवाद एव । द्वितीय पक्षे निरालम्बनवादः । तृतीय पक्षे तूभयदोषानुषंगः । चतुर्थपक्षेऽप्यभावः, सत्त्वासत्त्वयोः परस्पर व्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः सकृदेकमोभयप्रतिषेधायोगात् ।—अष्टस० पृ० ८ ।

कितनी प्रसन्न विशद अर्थगर्भ और तर्कपूर्ण शैली है । शंका और समाधान दोनों कितने व्यवस्थित और सरल तरीके से प्रस्तुत किये गये हैं । इसी तरह अपने प्रायः सभी ग्रन्थों में उन्होंने इस मोहक एवं प्रबोधजनक शैली को अपनाया है ।

२—दूसरा उदाहरण भी देखिए —

(क) कुमारिल भट्ट ने मीमांसाश्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ का निषेध करते हुए लिखा है कि सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनों को सर्वज्ञ माना जाये तो उनके उपदेशों में परस्पर विरोध क्यों ? इसलिये कोई सर्वज्ञ नहीं है । यथा—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥

विद्यानन्द कुमारिल के इस प्रबन्ध आक्षेप का तर्कपूर्ण करारा उत्तर देते हुए कहते हैं —

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट प्रभाकरौ ॥
कार्येऽर्थे चोदना ज्ञानं स्वरूपे किंन तत्प्रमा । द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ॥

अर्थात् इस तरह श्रुति भी प्रमाण नहीं हो सकती । हम पूछते हैं कि भावना श्रुतिवाक्य का अर्थ है नियोग नहीं इसमें क्या नियामक है ? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनों नष्ट हो जाते हैं । इसी तरह नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है विधि (ब्रह्म) नहीं इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और वेदान्ती दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

(ख) कुमारिल ने सर्वज्ञ के निरास के सिलसिले में ही इसी ग्रन्थ में एक दूसरी जगह लिखा है कि सद्भावसाधक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों में से कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ का साधक नहीं है । अतः अभाव प्रमाण से उसका अभाव सिद्ध होता है । यथा—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥
न चागम विधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ।
न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्प्यते ॥इत्यादि ।

विद्यानन्द इसका भी तर्कपूर्ण जवाब देते हुए कहते हैं कि 'सर्वज्ञ का साधक सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्षादि से वस्तु का सद्भाव सिद्ध होता है । अतः उनसे सर्वज्ञ का अभाव नहीं हो सकता । अभाव

१—आपकी का एक सौनिक आदर जिसे न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल इन्दौर में सुनाता ।
२—देखो तत्त्वार्थसूत्र सविवेचन की 'परिचय' प्रस्तावना पृ० २ ।
३—देखो अनेकान्त वर्ष ३ किरण ११ ।

प्रमाण भी सर्वज्ञ का निषेधक संभव नहीं है क्योंकि जहाँ निषेध्य का निषेध (अभाव) करना होता है उसका ज्ञान होने पर और जिसका निषेध करना होता है उसका स्मरण करने पर ही नियम से नहीं है एसा ज्ञान अर्थात् अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है, लेकिन न तो किसी प्रमाणादि से सर्वज्ञ के आधारभूत समस्त संसार का ज्ञान संभव है जहाँ सर्वज्ञ का निषेध करना है और न सर्वज्ञ का पहले अनुभव है तब उसका स्मरण कैसे हो सकता है ? क्योंकि अनुभवपूर्वक ही स्मरण होता है ? अतः अभाव प्रमाण का उदय न हो सकने से वह भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं साध सकता। इसलिये सर्वज्ञ का कोई बाधक न होने से वह नियम से सिद्ध होता है। यथा—

> प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत् त्रिकालं भुवनत्रयम्।
> रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्नहि तद् बाधकं भवेत्॥
> नानुमानोपमानार्थापत्त्यागमबलादपि।
> विश्वज्ञाभावसंसिद्धिस्तेषां सद्विषयत्वतः॥
>
> •
>
> अभावोऽपि प्रमाणं न निषेध्याधारवेदने।
> निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमंजसा॥
> न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते।
> नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वं तत्स्मरणं कुतः
> येनाशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम्। (आप्तपरीक्षा पृ २२१-२२९)

कुमारिल प्रभाकर, धर्मकीर्ति प्रज्ञाकर आदि मीमांसक तथा बौद्ध दार्शनिकों के जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपों का विद्यानन्द ने इसी प्रकार अपनी सन्तुलित एवं गम्भीर तर्क शैली के माध्यम से जवाब दिया है। कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ ग्रन्थकार तो कहीं-कहीं परपक्ष-खंडन में अपना सन्तुलन भी खो बैठते हैं और दूसरे दार्शनिकों को उन्मत्त अज्ञानी अश्लीलवक्ता आदि गालियों की वर्षा करते हुए भी देखे जाते हैं। पर सूक्ष्म विवेकी विद्यानन्द की तर्कमर्मी विचारणा में ऐसी कोई चीज दृष्टिगोचर नहीं होती। निःसन्देह विद्यानन्द की यह सब से बड़ी विशेषता है जो बहुत कम दूसरों में पाई जाती है। मीमांसकों और वेदान्तियों की भावनानियोग और विधि की दुरूह चर्चा जो जैन दर्शन के लिये विद्यानन्द की अपूर्व देन है तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा अष्टसहस्री में अत्यन्त गंभीर और प्राञ्जल भाषा में विस्तार के साथ प्रस्तुत करके विद्यानन्द ने जिज्ञासा के लिये एक अभिनव ज्ञान भण्डार प्रदान किया है। यही वे बातें हैं जिनका उत्तरवर्ती जैन तार्किकों पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

२—विद्यानन्द के ग्रन्थ —

विद्यानन्द ने नौ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इनमें ६ स्वतन्त्र एवं मौलिक हैं और ३ टीका-ग्रन्थ हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है —

१—विद्यानन्द महोदय—यह विद्यानन्द की सम्भवतः आद्य रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती प्रायः सभी रचनाओं में इसके उल्लेख मिलते हैं[1] और सूचना दी गई है कि विस्तार से विद्यानन्द महोदय से जानना चाहिये। किन्तु दुर्भाग्य से आज यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। विक्रम की १३वीं शताब्दी तक इसका पता चलता है। विद्यानन्द के चार सौ वर्ष बाद हुए वादिदेवसूरि ने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसके नामोल्लेखपूर्वक इसकी पंक्ति भी दी है।[2] इस उल्लेख से जहाँ इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि एवं महत्ता प्रकट है वहाँ उसका १३ वीं सदी तक अस्तित्व भी सिद्ध है। इसकी खोज होनी चाहिये।

२—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—यह आ॰ गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) रचित तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई पाण्डित्यपूर्ण विशाल

१—"इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्द महोदये"—तत्त्वार्थश्लो॰ पृ॰ २७२　　अवगम्यताम्॥ यथावम् प्रपंचेन विद्यानन्द महोदयात्'। त॰ श्लो॰ ३८५। "इति तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्द महोदये च प्रपंचतः प्रकपितम्"—अष्ट स॰ पृ॰ २९। 'विद्यानम तत्त्वार्थालंकार-विद्यानन्द महोदयेषु च तदन्यस्य व्यवस्थापनात्'। (आप्त॰ पृ॰ २६२)
२—देखो, स्याद्वादरत्नाकर पृ॰ १४९।

आचार्य हेमचन्द्र और उनकी साहित्य साधना

(ले० मुनि श्री मोहनलाल 'शार्दूल')

सविता का अभिनव उदय स्वभाव से ही सकल सृष्टि के कण कण को जागरण का अमर संदेश और गतिशीलता के लिये प्रज्वलित स्फुर्णा होता है। उस अमृत-वेला में सूर्य के प्रदीप्त ज्योतिमण्डल से जग-जग उद्योतित हो उठता है। उसकी स्वर्णरश्मियाँ दूर-दूर तक फैल जाती हैं, तिमिर को कहीं भी अवकाश नहीं छोड़ती। नहंमणि के जीवनदायी करों से स्पर्श, जल अतल कुछ भी अस्पृष्ट नहीं रह पाता। समग्र क्षेत्रों में उसकी भास्वर-किरणें पहुँच जाती हैं और उनको ज्योतिर्मय बना देती हैं। नभोमणि की स्वाभाविक उज्ज्वलता का नैसर्गिक परिणाम यह है कि उस विकासशील प्रभा के प्रभाव से कुछ भी अप्रभावित नहीं रह पाता। समग्र वस्तु-जात पर उसकी स्वर्णिम मयूख की छाप अंकित होती है और उसे आभासित करती है।

हेमचन्द्र का विशाल जीवन-वृत्त सूर्योदय का जीवित जागृत प्रतिबिम्ब है। उससे प्रत्येक क्षेत्र को नया जीवन और नई चेतना प्राप्त हुई है। विस्मृति के गहन अन्धकार में जो जीवन और तथ्य विलुप्त हो चुके थे उनको प्रकाश में आने का सुअवसर मिला है। हेमचन्द्र के प्रखर तेज से सारा गुजरात आलोकित हो उठा था। गुजरात की सांस्कृतिक, राजनीतिक सामाजिक आदि सभी परम्पराओं को उन्होंने नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया था और अपने कठोर परिश्रम से सबल बनाया था। जन जीवन के जितने अंग होते हैं उन पर सब पर उन्होंने मार्मिक साहित्य लिखा था। यही कारण है कि वे जन-जीवन में घुलमिल गये और जो नया मोड़ देना चाहते थे उसमें सफल हुए। उनका संवेदन बहुत गहरा और सूक्ष्म था इसलिए वे उपेक्षित से उपेक्षित अवयवों में भी नये प्राण संचारित कर सके।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने समय में सबसे अनूठी और बड़ी बात जो की थी वह यह थी कि उन्होंने समाज और शासन पर धर्म का अंकुश पुन स्थापित किया था। जब कर्म धर्म पर छा जाता है और उसे अगति देने लगता है तो बहुत बड़ा अनर्थ विपर्यास हो जाता है। उस समय चैतन्य कुण्ठित होने लगता है और जड़ता प्रसार पाने लगती है। राजसत्ता की डोर जितनी बलशाली होती है बंधन उतना ही कठोर और मजबूत होता है।

स्वाभाविक ही इस कटघरे के बाहर झांकने की प्रवृत्ति मंद हो जाती है और जीवन की शान्ति राजनीति के चक्रव्यूह में घिर जाती है। मानव का जो सर्वोत्तम भाव समर्पण है वह यहाँ सिकुड़ना प्रारम्भ हो जाता है और क्रमश सिकुड़ता सिमटता निरुपयोगी गाँठ बन जाता है, परन्तु जीवन का मूल तो वितरण की महाधारा पर अवस्थित और सुरक्षित है उसे केवल ग्रहण और संचय के महासागर में छोड़ दिया जाय तो वह गल कर विनष्ट हो जावेगा। हेमचन्द्र ने इस गहन गुत्थी के तार सुलझाये थे और धर्म की सीमा को विस्तीर्ण बनाया था। यह उनकी एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण देन थी। युगान्तरकारी परिवर्तन था। इसी परिवर्तन का परिणाम था कि सिद्धराज-जयसिंह जैसा योद्धा और तेजस्वी राजा उनके चरणों में झुका और कुमारपाल विनम्र भक्त बना तथा प्रशासन में सांस्कृतिक चेतना जागी।

इस उपर्युक्त परिवर्तन का उनको महान् लाभ प्राप्त हुआ। वे मानव के जिस महान विटप को पल्लवित पुष्पित और फलित करना चाहते थे उसके लिये आधार भूमि तैयार हो गयी थी। राजकीयवर्ग उस प्रशस्त पथ की ओर मुड़ गया था और जीवन जागृति के इस विराट अनुष्ठान में सावधान हो गया था। हेमचन्द्राचार्य की पावन प्रेरणा उसे जीवन के समीप ले आई थी। कृत्रिमता से टूटकर वह वास्तविकता के क्षितिज पर आ खड़ा हुआ था।

हेमचन्द्र का जीवन-दर्शन अत्यन्त व्यापक है। उन्होंने हर क्रिया-कलाप में विशाल दृष्टिकोण को अपनाया था। उनके आचीर्ण वर्ताव-व्यवहार में मतान्धता की तथा संकीर्णता की दुर्गन्ध नहीं प्रत्युत सहिष्णुता और समभाव की सुवास थी।

उस सुवास से सारा गुजरात सुवासित है। गुजरात की प्रत्येक गतिविधि की भव्यता में उनका विशाल हृदय स्पन्दित है। अपने समय की घटनाओं में ही वे रस नहीं लेते हैं प्रत्युत बहुत पूर्वकालीन संस्कृति उन्नायक कार्यक्रमों का भी स्मरण करके आत्मविभोर हो जाते हैं और यथा प्रशस्ति लिखते हैं। नृपति मूलराज शैव मतावलम्बी था यह इतिहास सिद्ध है फिर भी उन्होंने अपने संस्कृत-द्वयाश्रय महाकाव्य में उसके योग्य कार्यों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। अपने समय में भी वे सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल के साथ कई बार सनातन तीर्थों की यात्रा करते हैं। उनका भक्तिमान् शिष्य कुमारपाल अपनी राजधानी अनहिल्लपुर पाटण में महादेव का मन्दिर बनवाता है। सोमनाथ का जीर्णोद्धार करवाता है तथा केदारनाथ की मरम्मत भी सम्पन्न करता है। यह सब हेमचन्द्र की देखरेख तथा प्रेरणा से किया जाता जाना है। सूर्य की तरह यह स्पष्ट है कि यह उनके विशाल दृष्टिकोण का प्रतीक है। उनमें यदि स्वमताग्रह होता तो ये सब कार्य कभी न हो पाते। उनके आचरण में वही आ सका जो मानव कल्याण के उपयुक्त था और धर्मातीत तथा समयातीत था। श्री के० एम० मुंशी ने अत्यन्त भावभरे शब्दों में उनके लिये यह ठीक ही लिखा है कि 'यह था समस्त जग का एक प्रखर विद्वान कवि इतिहासकार वैयाकरण और कोशकार गुजरात का कलिकाल-सर्वज्ञ मद्यनिषेध-शासन का सर्वप्रथम प्रेरक मध्यकाल में अहिंसा को राजनीति में स्थान का प्रयत्न करने वालों में प्रथम गुजरात की एकता और महत्ता को अपनी कल्पना से पूर्ण करने वाला विश्वकर्मा।

इसी प्रकार ए० बी० सद्‌ठे ने भी लिखा है कि 'हेमचन्द्राचार्य ने अमुक जाति या समुदाय के लिये अपना जीवन व्यतीत नहीं किया उनकी कई कृतियाँ तो भारतीय साहित्य में बहुत महत्त्व का स्थान रखती हैं। वे केवल पुरातन पद्धति के अनुयायी नहीं थे। उनके जीवन के साथ तत्कालीन गुजरात का इतिहास आरपार गुँथा हुआ है। यद्यपि हेमचन्द्र विश्वजनीन और अप्रतिबन्ध हैं फिर भी क्योंकि उनका निवास सबसे अधिक गुजरात में हुआ इसलिये उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक लाभ गुजरात को ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने ओजस्वी और उदात्त व्यक्तित्व से गुजरात को सँवारा सजाया है और युग-युग तक जीवित रहने की जीवन्त शक्ति भरी है। सारे सोलंकी-वंश को अपनी लेखनी का अमृत पिला-पिला कर अमर बनाया है। गुर्जर-इतिहास में उन्हें अद्वितीय स्थान प्राप्त है।

विद्वद्वर्य पण्डित शिवदत्त ने अपने लेख में इसे स्पष्ट उल्लिखित किया है।[1] संस्कृत साहित्य और विक्रमादित्य के इतिहास में जो स्थान कालिदास का था और श्रीहर्ष के दरबार में बाणभट्ट का प्राय: वही स्थान बारहवीं शताब्दी में श्रीयुत यशोमय सुप्रसिद्ध गुर्जर-नरेन्द्र शिरोमणि सिद्धराज जयसिंह के इतिहास में श्री हेमचन्द्राचार्य का है।

गुजरात के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्री धूमकेतु का कथन भी इस ओर संकेत करता है। उन्होंने कहा है—'सोलंकियों का इतिहास हेमचन्द्राचार्य के बिना सहारा का इतिहास बन जाये हेमचन्द्राचार्य के बिना गुजराती भाषा का इतिहास अपूर्ण और अविचल सम हेमचन्द्राचार्य के बिना गुजरात के पास विश्व के साहित्यिक इतिहास में निक्षिप्त करने योग्य व्यक्ति बहुत कम हैं'।

वस्तुत: गुजरात के सर्वांगीण निर्माण और उसे उन्नति शिखर पर चढ़ाने में हेमचन्द्र अत्यन्त अनिवार्य व्यक्ति थे। वे गुजरात की समस्त प्रवृत्तियों की रमणीयता में ओतप्रोत हैं और उनको अपने व्यक्तित्व के रंग में रँगा है। हेमचन्द्र यदि गुजराती-इतिहास में प्रवेश नहीं पाते तो शायद गुजरात का यह निरुपम रूप नहीं हो पाता'। गुजरातियों को अपनी महत्ता देखकर गर्व का और महान् बनने का आज जो स्वप्न आता है वह कदाचित् नहीं आता। हेमचन्द्र बिना गुजराती भाषा का जन्म-संस्कार न हो पाता। इनके बिना वर्षों तक गुजरात को जागृत रखनेवाली सत्कारिता की कल्पना असम्भव है और इनके बिना गुजराती प्रजा के आज के जो जो विशिष्ट समाज-समन्वय विवेक अहिंसा प्रेम शुद्ध सदाचार और प्रामाणिक व्यवहार प्रणाली आदि हैं न आ पाते। इन सब सद्‌गुणों की वृद्धि में उनका योग अप्रतिम है। यही कारण है कि गुजरात के वृहद् आकाश में

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग ६, संख्या ४)
२—श्री हेमचन्द्राचार्य पृ ९
३—श्री हेमचन्द्राचार्य पृ ८

वे तेजस्वी सितारे की तरह चमक रहे हैं। उन्होंने साहित्य के रूप में जो अमृत बहाया है वह आज भी गुजरात की नस-नस में बह रहा है। इस प्रकार वे स्वतः ही गुजराती इतिहास के अपरिहार्य, अमूल्य मणि सिद्ध हो जाते हैं।

जन्म-कुल और बाल्य काल —

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य का जन्म 'प्रभावक-चरित' के अनुसार विक्रम संवत् ११४५ कार्तिक पूर्णिमा को गुजरातान्तर्गत धन्धूका गाँव में हुआ। धन्धूका भादर नदी के दाहिने तट पर, अहमदाबाद से उत्तर-पश्चिम में ६२ मील की दूरी पर स्थित है। इनके पिता मोढ-कुल जाति के वणिक थे। उनका नाम चाचदेव था[1]। चाचदेव की पत्नी का नाम पाहिनी (पाहिणी) था। पाहिनी ने एक सुन्दर स्वप्न देखा। उस समय वहाँ चान्द्रगच्छ के आचार्य देवचन्द्रसूरि आये हुए थे। पाहिनी देवी ने अपने स्वप्न का रहस्य उनसे पूछा। आचार्य देवचन्द्रसूरि ने कहा—तुम्हारा यह स्वप्न बहुत उत्तम है। तुम अवश्य ही ज्ञान दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिये एक अलौकिक ज्योतियुक्त पुत्ररत्न मुझे जैन शासन के हितार्थ अर्पित करोगी। इसी अच्छे (चंगे) सपने के कारण या आधार पर बालक का नाम चंगदेव रखा गया। लाड़-प्यार से चंगदेव का पालन होने लगा। हिमगिरि की तरह वह बालक विकास पाने लगा।

एक बार आचार्य देवचन्द्र ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भव्यजनों के प्रबोध हेतु धन्धूका गाँव में आये। लोगों के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनार्थ तथा उनकी पीयूषमयी वाणी का रसास्वादन करने के लिये जा रहे थे। पाहिनी भी चंगदेव को साथ लेकर गुरुवन्दन को गयी। सहजसरल और शुभलक्षणी पञ्चवर्षीय चंगदेव को देखकर आचार्य देवचन्द्र उस पर मुग्ध हो गये और तत्काल पाहिनी से बोले—बहिन! इस चिन्तामणि को तुम मुझे अर्पित कर दो! आचार्य की वाणी सुनकर पाहिनी व्याकुल सी हो गयी। मन में ममता जाग आयी और गद्गद् कंठ से बोली—गुरुदेव! यह कैसे हो सकता है? मेरे एक ही पुत्र है, बहुत छोटा है, मेरा एक मात्र आधार है, यह कलेजे की कोर आगे उसकी वाणी रुक गयी वह रुंआसा-सी हो गई। उसकी आँखों में अश्रुबिन्दु छलक आये। परन्तु आचार्य के मुख से हेमचन्द्र की प्रतिभा की प्रखरता व उनके द्वारा होने वाली जैनशासन की प्रभावना की बात समझकर, धर्म की भावना से माँ ने बालक को आ० देवचन्द्र को सौंप दिया। आचार्य उसे स्तम्भतीर्थ (खम्भात) में ले कर गये और सिद्धराज के मंत्री उदयन के घर में परिपालन के लिए रख दिया।

दीक्षा-ग्रहण—

हेमचन्द्र की प्रव्रज्या के विषय में मतैक्य तथा व्यवस्थित प्रमाण नहीं मिलते। प्रभावक-चरित के अनुसार पाँच वर्ष की अवस्था में उनका दीक्षित होना सिद्ध होता है पर जिनमण्डनकृत "कुमारपाल प्रबन्ध" में विक्रम संवत ११५४ में प्रव्रजित होने का उल्लेख प्राप्त होता है और प्रबन्ध चिन्तामणि पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, प्रबन्ध-कोश तथा कुमारपाल-प्रतिबोध आदि ग्रन्थों में आठ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण करने का विवरण मिलता है। इस सब उल्लेखों के आधार पर दीक्षाविषयक ठीक निर्णय कर पाना कठिन है पर अधिक संभव यही है कि दीक्षित होने के समय उनकी आयु आठ वर्ष की रही हो क्योंकि अधिकांश ग्रन्थों में ऐसा ही विवरण मिलता है। प्रव्रज्या ग्रहण के बाद चंगदेव का नाम सोमचन्द्र रखा गया। सोमचन्द्र की प्रतिभा बहुत ही प्रखर, सूक्ष्मग्राहिणी तथा प्रसरणशील थी। स्वल्प समय में ही अपने चन्द्रमा के समान प्रज्ञाबल से वे तर्क लक्षण अलंकार छन्द आदि विषयों का बहुत गहरा अध्ययन कर चुके थे[2] 'एक-सहस्र-पद' की धारणा-शक्ति से सम्पन्न हो गये थे फिर भी उनको सन्तोष नहीं था। वे विद्यार्जन के लिये काश्मीर जाना चाहते थे पर ऐसा करने के लिए उनके गुरु देवचन्द्र ने अनुज्ञा नहीं दी।

सूरि पद-प्राप्ति —

सोमचन्द्र अपनी प्रतिभा से ही पटु नहीं थे उन्होंने इतर गुणों में भी निपुणता प्राप्त की थी। धैर्य समन्वय अनुशासन

१—कुमारपाल-प्रतिबोध आदि कई ग्रन्थों में 'चच्च' 'चाचिग' "चाच' आदि नाम भी मिलते हैं।

२—सोमचन्द्रस्ततश्चन्द्रोज्ज्वलप्रज्ञाबलादसौ।
तर्कं लक्षण साहित्य विद्या पर्यच्छिनद्द्रुतम् ॥ (प्रभावक चरितम्-हेमचन्द्रसूरि प्रबन्ध श्लोक ३७)

बदलने की क्षमता आदि पर उनका विशेष अधिकार था। विनयशीलता समता आदि को भी उन्होंने आत्मसात् कर लिया था। उनकी योग्यता असंदिग्ध थी। हर विषय में वे अपनी नयी सूझ-बूझ रखते थे तथा उसे सम्पादित करने का नया ढंग रखते थे। आचार्य देवचन्द्र उन पर पूरे प्रसन्न थे। उनकी योग्यता का उन्हें सात्त्विक गर्व था। यही कारण था कि उन्होंने सोमचन्द्र को ११६६ में २१ वर्ष की लघु वय में सूरिपद से विभूषित किया। यह सूरिपद दान का समारोह सर्वसम्मानित प्रमाण-मीमांसा की प्रस्तावना के अनुसार नागौर में सम्पन्न हुआ जिसका प्रबन्ध धनद नाम के एक वणिक ने किया। सूरि पद देने के बाद सोमचन्द्र का नाम हेमचन्द्र कर दिया गया।

आचार्य हेमचन्द्र और जयसिंह सिद्धराज :—

श्री हेमचन्द्र एक जैन आचार्य थे फिर भी उनकी दृष्टि इतनी विशाल थी कि प्राणि-मात्र की हित-परिकल्पना उनमें गर्भित थी। बिना कोई भेद भाव के वे इस जनजागरण और जीवनोत्थान के कार्य में अपने को अर्पित कर चुके थ। प्रत्येक अवसर पर व एक नयी सूझ बूझ से काम लेते और सदा के लिए अपनी तलस्पर्शी मेधा का एक चमत्कारिक प्रभाव छोड़ देते। सम्भवत चेतना की इस विलक्षणता ने ही महापराक्रमी गुर्जरेश्वर जयसिंह सिद्धराज को आकृष्ट किया था। आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज का प्रथम परिचय कब हुआ इसका विवरण प्रामाणिक रूप से तो कहीं प्राप्त नहीं होता पर लगता है यह अवसर मालव-विजय के बाद ही उनके आगमन पर मिला हो।

एक किंवदन्ती के अनुसार उनका प्रथम सम्पर्क यहाँ से प्रारम्भ होता है जबकि सिद्धराज मालव को जीत कर गुजरात के एक प्रदेश से गुजर रहा होता है, पर भीड़ बहुत भारी होने के कारण ठिठकता है और हिचकिचाता है। तब शुभयोग से श्री हेमचन्द्राचार्य भी वहीं होते हैं और वे उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।

"हे राजन्! अपने कुंजर को नि सकोच आगे बढ़ाओ दिग्गज यदि त्रास पाते हो तो पाने दो! तुम रुको मत! क्योंकि सारी धरती का उद्धार तो तुमने ही किया है।"[1]

इस स्फुट और स्पष्ट बात को सुनकर सिद्धराज आगे बढ़ता है और आचार्य के इस प्रतिभाशाली ढंग से अन्दर ही अन्दर कुछ आकृष्ट हो जाता है। तदुपरान्त तो आचार्य और राजा का नैकट्य वर्धमान ही रहता है, और दोनो परस्पर काफी सबद्ध हो जाते हैं तथा एक दूसरे के विकास में आजन्म सहायक होते हैं। सिद्धराज और श्री हेमचन्द्र के सम्बन्ध की एक कड़ी राज माता मीनलदेवी भी हैं। वह जैन मतावलम्बिनी हैं। इसी कारण जैनो को उन्होंने प्रश्रय देना चाहा था। गुजरात-नरेश जयसिंह अपने समय का बड़ा प्रभावशाली और विकासप्रेमी राजा हुआ है। उसने गुजरात की हर उन्नति में अपना ध्यान लगाया है और विकास की प्रत्येक लहर को गतिशील बनाया है। तत्कालीन समय में मालव की सांस्कृतिक चेतना का स्तर बहुत समुन्नत था। विकास की वायु भी वहाँ बहुत जोर से बह रही थी। राजा भोज का सरस्वती प्रेम सुप्रसिद्ध है। वह स्वय सस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था। शैक्षणिक उन्नति और सांस्कृतिक विकास के लिए वह हर समय उत्सुक और उद्योगी रहता। राजा सिद्धराज भी अपने गुजरात को उससे भिन्न नहीं देखना चाहता था। इसलिये उसन पूर्ण प्रयत्नपूर्वक गुजरात के सर्वांगीण विकास के द्वार खोले थ। सिद्धराज की राजनैतिक दृष्टि भी बहुत तीव्र थी। वह गुजरात में एक नव युग का निर्माता है और गुजरात को उन्नति शिखर पर ले जाने में उसका सूक्ष्म-कौशल बहुत विख्यात है। आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज की प्रतिभा-सम्मिलन से गुजरात की चौमुखी प्रगति हुई थी। सिद्धराज न जहाँ नूतन राजनीति का निर्माण किया वहाँ आचार्य हेमचन्द्र ने सस्कार निर्माण का महत्त्वपूर्ण काम किया। सिद्धराज समर विजयी था तो हेमचन्द्र मारविजयी। सिद्धराज सरस्वती प्रेमी था तो हेमचन्द्र सरस्वती धर्मी। वह अपने विशाल वैभव का अधिपति था—तो यह महाविरक्त था। सब मिलाकर इन दोनो का संगम गुजरात के लिये महत्पूर्ण अभ्युदय का समय है।

बूलेनु के कथनानुसार भी यह समय गुजरात का सर्वोत्कृष्ट है। गुजरात की सांस्कृतिक सभ्यता के जिस सूर्य का

१—कारय प्रसरं सिद्ध! हस्तिराजमशङ्कितम्।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृतायत ॥ (प्रभावकचरित हेमचन्द्रसूरिचरितम्)

उदय मूलराज के समय में हुआ उसकी समग्र किरणों का प्रादुष्करण भीमदेव के शासन काल में हुआ और सिद्धराज के समय में वह अपनी प्रखर किरणो सहित मध्यान्ह में पहुँचा।

आचार्य हेमचन्द्र और राजा सिद्धराज समवयस्क थे। सिद्धराज का जन्म हेमचन्द्र से २ वर्ष पूर्व वि स ११४३ में हुआ। चिन्तन पद्धति में भी दोनो काफी निकट थे। दोनों का ही गुजरात पर पूर्ण और समीपवर्ती क्षेत्रो पर बहुत सुन्दर प्रभाव था। सिद्धराज राष्ट्रीय नेता शासक सरक्षक के रूप में सम्माननीय था तो हेमचन्द्र धार्मिक चारित्रिक व सांस्कृतिक दृष्टि से प्राणवमी थे। दोना में गहरा सम्बन्ध था।

जब देवसूरि ने ११८१ में जब सिद्धराज की सभा में दिगम्बर आचार्य श्री कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ किया था तब हेमचन्द्र भी उनके मित्र के रूप में उपस्थित थे। सिद्धराज पर इसका भी अच्छा असर रहा था। इस तरह सिद्धराज का का हेमचन्द्र के साथ गहरा आन्तरिक सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। उसके कई प्रमाण भी मिलते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल —

हेमचन्द्र और सिद्धराज का सम्बन्ध परस्पर गहरे मित्रों का सा था तो वहाँ हेमचन्द्र और कुमारपाल का सम्बन्ध गुरु और शिष्य का माना जाता है। कुमारपाल पर उनका विशद प्रभाव रहने का कारण भी था। हेमचन्द्र ने सात वर्ष पहले ही उसे राज्य मिलने की पूर्व घोषणा या भविष्यवाणी कर दी थी[1]। एकबार उसके प्राणो की भी रक्षा की थी। राज्यकीय पुरुष उसे पकड़ने आये तो हेमचन्द्र ने उसे ताड़-पत्रों में छिपा कर उसके प्राण बचाये थे। तभी से वह उनको परम उपकारी और अपना प्राणदाता मानने लगा था। कुमारपाल के राजगद्दी पर आने के बाद भी सम्बन्ध बराबर बना रहा और वृद्धिगत होता चला गया। हेमचन्द्र उसके साथ बहुत उदार दृष्टि से विचार-विमर्श तथा व्यवहार करते थे। गुजरात का सर्वांगीण विकास कैसे हो यही उनके चिंतन का प्रमुख विषय रहता था। उन्होंने कभी भी संकुचित दृष्टि का परिचय नही दिया। इसी उदार दृष्टि का परिणाम था कि राजा उनके प्रति उत्तरोत्तर आकृष्ट होता गया और उनका प्रभाव प्रशासन में आता गया। उनके इस प्रभावशाली वातावरण का इतना विस्तार हुआ कि राज्य सरक्षण में पलनेवाले तत्कालीन शैवधर्म विद्वानो को बहुत अखरा और अप्रिय लगा। कुछ एक ने राजा की दृष्टि से उन्हें गिराने के प्रयत्न भी किये। राजा के कान भरे कि हेमचन्द्र अपने ही देवो तीर्थों और सिद्धान्तो को महत्त्व देते हैं दूसरो को कुछ भी नही समझते गौरव-गान तो दूर, प्रत्युत् अवज्ञा करते हैं। राजा के मन में यह बात घुम गयी पर जब उसने हेमचन्द्र से कहा कि आप सोमनाथ की यात्रा पर चलें तो उन्होंने बिना झिझक के इसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने राजा के साथ कई तीर्थों की यात्राएं की और भक्ति-विभोर होकर स्तुति की। एक बार उन्होंने स्तुति करते हुये कहा था—"चाहे किसी भी समय में किसी भी देश में किसी भी रूप में अथवा नाम में आप हो राग द्वेषादि दोषो से रहित होने पर भगवान् के रूप ही हैं। हे वीतराग भगवान् आपको नमस्कार है।" महादेव की स्तुति करते हुये उन्होंने कहा था—

"महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च। कषायश्च च हतो येन महादेव स उच्यते ॥

"जिसने महाराग महाद्वेष और कषाय को मिटा दिया है, वही महादेव है उनको मेरा नमस्कार है। आचार्य हेमचन्द्र के इन उदार विचारो और उदात्त आचरणो की प्रतिक्रिया कुमारपाल पर बहुत सुन्दर हुई। वह हेमचन्द्राचार्य के अधिकाधिक निकट होता चला गया। वह सबसे बढ कर आदरणीय और हितैषी इन्हें ही समझता था। इन्हें अपना गुरु मानता था। कुमारपाल का शासन काल वि स १२२९ तक है। इस सम्पूर्ण अवधि में उनका पूर्ण प्रभुत्व रहा था ऐसा माना जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल के चारित्रिक पक्ष को भी बहुत परिष्कृत किया था। ऐश्वर्य के विलासमय और उत्तेजक वातावरण में रहते हुए भी उसे राजर्षि और परमार्हत बना दिया था। आचार्य ने उसे मांस-मदिरा आदि बातो ही व्यसनो से मुक्ति दिलायी थी और पापा के विषम जाल से बचाया था। राजा को वस्तुत इन घोर कृत्यों के अनाचरण से बहुत सन्तोष और सुख मिला था तभी वह इन व्यसनो के त्याग के व्यापक प्रचार प्रसार के लिये उद्यत हुआ था। उसने अपने आधीन १८

१—अमुना दशमे वर्षे पृथिवीपालो भविष्यसि। (प्रभावक चरितम्)

राज्यों में "अमारि"[1] घोषणा की थी सप्त व्यसन वर्जन व्यवस्था की थी और एक काफी समय से चली आ रही दूषित परम्परा के उन्मूलन का श्रेय भी कुमारपाल ने प्राप्त किया था । प्रशासन की एक सुदृढ़ रीति सी चली आ रही थी कि जिस औरत के पति पुत्र स्वर्गगत हो जाते उसका सारा धन राज्य द्वारा हड़प किया जाता था । बेचारी उस दुखिया को और भी दुःखिता तथा असहाय बना दिया जाता । राजा कुमार पाल ने उस द्रव्य को अग्रहणीय घोषित किया था । इन सब उत्तम और प्रशस्त आचरणों से अहिंसा की सीमा विस्तीर्ण हुई थी तथा लोगों में उज्ज्वल आधार भूमिका बनी थी । दोषमुक्त व्यक्ति की तरह दूषण रहित इस राज्य की नींव सुदृढ़ एवं गहरी बनी थी क्योंकि प्रशासन संवेदनशील तथा मानव संस्कारों का आदर करने वाला बनने लगा था । गरीब और अशक्त व्यक्तियों को इससे बहुत राहत मिली थी ।

यद्यपि कुछ हठधर्मी और स्वमताग्रही व्यक्तियों ने "अमारि" घोषणा का बहुत प्रबल विरोध किया और धर्म के लिए घातक तथा धर्मोन्मूलन का कार्य बताया पर राजा ने इसका भी उचित प्रतिकार किया । विरोधी लोगों ने राज्य में भ्रम फैलाया कि कण्टकेश्वर को बलि न देने से महान् संकट होगा तथा भयंकर उत्पात मचेगा । पर राजा ने इसका समाधान यह किया कि रात भर पशुओं को देवी के मन्दिर में बन्द करवा दिया और कहा —यदि देवी को बलि अभीष्ट है तो वह अपने-आप बलि ले लेगी पर प्रातः सब ही पशु जीवित मिले । इससे राजा की अमारि घोषणा को बहुत बल मिला तथा विरोधी लोगों को भी मुंहतोड़ उत्तर मिल गया ।

राजा कुमारपाल जैन धर्म में दीक्षित हुआ या नहीं यह विषय[2] इतिहासवेत्ताओं के लिये विवादास्पद माना जाता है। के० एम० मुंशी ने भी अपनी पुस्तक 'गुजरात और उसका साहित्य" में उसे उसकी मृत्यु से चार वर्ष पूर्व तक शैव माना है जैन नहीं । दुर्गाशंकर शास्त्री ने भी उसे परममाहेश्वर स्वीकार किया है । परन्तु इन मान्यताओं के विपरीत भी प्रमाण मिलते हैं । एक पाश्चात्य विद्वान् एलक्जेन्डर ने कुमारपाल का जैन धर्म में दीक्षित होना स्वीकार किया है । उसने कुमारपाल द्वारा स्वीकृत बारह व्रतों का विशद वर्णन किया है । हिन्दी की एक पुस्तक "आचार्य हेमचन्द्र' में भी कुमारपाल के जैन होने का स्पष्ट उल्लेख है । उसमें लिखा है—कुमारपाल वि सं० १२१६ में मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया को श्रावक धर्म के बारह व्रत स्वीकार कर विधिपूर्वक जैनधर्म में दीक्षित हुआ । इस प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते हैं । अतः यह शोध का ही विषय मानना चाहिये ।

साहित्य—

हेमचन्द्र की साहित्य-साधना बहुत विशाल और व्यापक है । जीवन को संस्कृत संवर्धित संचालित और संगत करने वाले जितने पहलू होते हैं, उन सभी को उन्होंने अपनी लेखनी का विषय बनाया है । विभिन्न क्रियाओं की तथा भिन्न-भिन्न निकट-दूर के तथ्यों की जीवन पर जो प्रतिक्रिया होती है, जीवन को जो उत्तेजना मिलती है तथा प्रेरणा प्राप्त होती है उन समग्र विषयों पर उन्होंने अपनी लेखनी चलायी है ।

जीवन के सर्वांगीण-विकास में जो आभ्यन्तर और बाह्य क्रियाएँ अनिवार्य दीखती हैं, उनकी परिधि इतनी विशाल है कि समग्र विश्व उसमें समाविष्ट हो जाता है । संसार का हर विचार, हर आचरण और हर कण जीवन के अभ्युदय के लिय सहायक बन सकता है । बन ही नहीं सकता बल्कि जब उसे अपरिहार्य रूप में बनाया जाता है तभी जीवन की शृंखला सुदृढ़ और चिरस्थायी बनती है । भूगोल खगोल ज्योतिष इतिहास न्याय नीति धर्म साहित्य दर्शन विज्ञान कला और आचार आदि सभी धाराओं का रस ग्रहण कर जीवन समृद्ध और परिपूर्ण बनता है । आचार्य हेमचन्द्र ने इन सभी विषयों पर बहुत ही मार्मिक और विशाल साहित्य लिख कर जीवन को प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील बनाया है ।

उनके साहित्य का परिमाण बहुत विशाल गिना जाता है । वे एक जैनाचार्य थे अतः स्वाभाविक ही था कि उनकी रुचि जैन सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार में अधिक हो किन्तु वे इसमें ही लिप्त न रहे । जीवनोत्थान के हर विषय को उन्होंने महत्त्व दिया है और जन-साधारण के जीवनोपयोगी अंगों पर अपनी लेखनी चलाई है । व्याकरण काव्य नाटक कोश छन्द अलंकार

१—मत मारो ।

२—Kumarpala was a Shaiva still in 1169 four years prior to his death, and that he was not converted to Jainism. Gujrat and its Literature P 16

न्याय नीति इतिहास स्तुति आदि विविध विषयों पर प्रभूत साहित्य सृजन किया है। यद्यपि वर्तमान में जो विकास और अनुसंधान हुआ है उससे अनेक नव विषय निकल आए हैं उन पर उनका बहुत व्यापक साहित्य नहीं मिलता फिर भी उनके बीज अवश्य ही प्राप्त हो सकते हैं। वे एक सफल और समर्थ साहित्यकार के रूप में प्रख्यात हुए हैं। उनका साहित्य इतना रोचक मर्मस्पर्शी और सजीव है कि वह पाश्चात्य देशों तक पहुँचा है। पश्चिम के विद्वान् उनके साहित्य पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने उनको ज्ञान का महान् सागर (Ocean of Knowledge) कहा है। उनकी हर रचना में नया दृष्टिकोण है, नयी शैली है तथा नया तरीका है। उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा का संसार को अद्वितीय दान दिया है। सोमप्रभसूरि ने जो कि उनके समकालीन थे उनकी इस सर्वांगीण प्रज्ञा पर विस्मय विमुग्ध होकर कहा था—

"क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्व्याश्रया-
लङ्कारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम् ।
तर्कः संजनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः ।"

इस प्रकार उन्होंने सरस्वती के भंडार को अमर निधियाँ भेंट की हैं। उनकी आद्यकृति क्या है ? और कौन से समय में लिखी है इसका कोई नहीं स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। फिर भी कुछ प्रमाणों के आधार पर अनुमान होता है कि उनकी प्रथम रचना व्याकरण ही रही होगी। व्याकरण निर्माण की एक चित्ताकर्षक और अनोखी घटना है। यह प्रसंग आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व का उद्दीपक भी है।

वि० सं० ११९३ में मालव-विजय के उपरान्त वहाँ के साहित्य भंडारों में से बहुत सी सामग्री गुजरात लाई गई। एक दिन निरीक्षण करते हुए सिद्धराज ने भोजराज विरचित "सरस्वती कण्ठाभरण" नामक एक व्याकरण देखा तो उसका राजकीय अहं जाग उठा कि मेरे राज्याश्रय में ऐसा भी कोई व्याकरण होना चाहिए। अपनी परिषद् के पण्डितों के टटोला तो आचार्य हेमचन्द्र ही उसको इसके योग्य प्रतीत हुए। उसने उनको राज्य सभा में आमंत्रित करके निवेदन किया कि—"हे मुनि नायक आप अविलम्ब एक व्याकरण का निर्माण करें जो संसार के मनुष्यों के लिये उपकारक हो मेरा यश फैलावे और आपकी प्रख्याति बढ़ावे।"[1] आचार्य हेमचन्द्र की स्वीकृति मिलने पर राजा ने उसकी समग्र सामग्री का प्रबन्ध कर दिया। हेमचन्द्र ने काश्मीर से ८ व्याकरण मँगवाये और उनका विधिवत् अध्ययन करके नवीन व्याकरण का निर्माण किया जो ३५६६ सूत्रों में है। इसका नाम "सिद्धहेमशब्दानुशासनम्" रखा। इसके आठ अध्याय हैं। सात में तो संस्कृत व्याकरण और आठवें में प्राकृत व्याकरण है। प्राकृत व्याकरण में १११९ सूत्र हैं। व्याकरण बहुत ही सुन्दर और सुगम बनी है। "गुजरात नु प्रधान व्याकरण" लेख में पण्डित बेचरदास दोशी ने कहा है कि—अभ्यास की सुगमता की दृष्टि से पाणिनी के सूत्रों की योजना की अपेक्षा हेमचन्द्र के सूत्रों की योजना विशिष्ट और सरल है और संज्ञायें भी सुलभ तथा सुबोध हैं। प्राचीन ग्रन्थ "प्रबन्ध-चिन्तामणि" में भी इसकी कमनीयता की गुणगाथा मिलती है।

'भ्रातः' संवृणु पाणिनि प्रलपितं कातन्त्रकन्था वृथा
मा कार्षीः कटु शाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम् ।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयत्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा श्रीसिद्धहेमोक्तयः ॥

हैम व्याकरण १— मूलपाठ, २— धातुपारायण ३— गणपाठ, ४— उणादि प्रत्यय और ५— लिंगानुशासन व्याकरण के इन पाँचों अंगों से परिपूर्ण है।

यह एक वर्ष में सवा लाख श्लोकों के प्रमाण लिखी गयी थी ऐसी मान्यता है, पर मधुसूदन मोदी जो हेमचन्द्र के विशेष अभ्येता हैं तथा जिन्होंने उनके ग्रन्थों पर "हैम-समीक्षा" नाम से एक समीक्षात्मक पुस्तक भी लिखी है, वे पंचांगी व्याकरण के ५ श्लोकों से अधिक स्वीकार नहीं करते। यह तथ्य कुछ अन्वेषणीय है। आचार्य ने व्याकरण पर १ हजार श्लोक प्रमाण

१—यशोमम तव ख्यातिं पुण्यं च मुनिनायक ।
विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरणं नवम् ॥ (प्रभावकचरित्र, हेमचन्द्रसूरिप्रबन्ध श्लोक ८४)

लघु और १८ श्लोक प्रमाण बृहद् वृत्ति लिखी है। बृहद् वृत्ति ७ अध्यायों पर ही प्राप्त होती है आठवें पर नहीं। पाणिनी के महाभाष्य की स्पर्धा में हेमचन्द्र ने व्याकरण पर बृहन्न्यास की भी रचना की है। इसका कुछ प्रारम्भिक अंश पुरातन भण्डारों में प्राप्त होता है।

व्याकरण निर्माण के बाद एक किंवदन्ती के अनुसार ३ लेखकों से उसकी प्रतिलिपियाँ तैयार करायी गई तथा अनेक देशों में प्रचारार्थ प्रेषित की गई। अकेले काश्मीर में बीस प्रतियाँ भेजी गयी थी। सिद्धराज ने इसे अपनी रुचि से बनवाया था। अतः इसके शिक्षण का प्रबन्ध भी राज्यस्तर पर हुआ। कायस्थ कुल के एक "काकल" नामके विद्वान को जो कि व्याकरण का प्रकाण्ड पण्डित था अध्यापक रखा गया। काकल के लिये बहुत ही श्रद्धा के विशेषण प्राप्त होते हैं (पञ्चार्क वर्णप्रमति कविचक्रवर्ती शब्दानुशासनमहाम्बुधिपारदृष्टा)। काकल ने इस व्याकरण पर एक प्रकरण भी लिखा था। आचार्य हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य रामचन्द्रसूरि ने भी इस पर लघुन्यास की रचना की है।

प्राकृत व्याकरण —

प्राकृत व्याकरण हेमशब्दानुशासन का आठवाँ अध्याय है। इसमें कुल १११९ सूत्र हैं जिसमें प्रथम ९३ सूत्रों में प्राकृत सामान्य के लक्षण देकर, चतुर्थ पाद के ११ वें सूत्र से क्रमशः २७ सूत्रों में शौरसेनी १६ सूत्रों में मागधी २२ सूत्रों में पैशाची ४ सूत्रों में चूलिकापैशाची और अन्त के १२ सूत्रों में अपभ्रंश के लक्षण दिये गये हैं। यह आठवाँ अध्याय हेमचन्द्र को क्या जोड़ना पड़ा ? इसका अन्तर रहस्य यही हो सकता है कि तत्कालीन समय में प्राकृत ही जन साधारण की भाषा थी हो जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं 'काव्यानुशासन कारिका' की टीका में कहा है—"बाल-स्त्री-मंद-मूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्। अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥" इस कथनके अनुसार सामान्य जनता तथा स्त्रियाँ आदि उस समय में प्राकृत भाषा ही बोलती थी। संस्कृत भाषा तो विशेष विद्वान् या उच्चकोटि के वक्ता ही बोलते थे ऐसा प्रतीत होता है। (लोकमुक की आज्ञा से विद्याकर मिश्र द्वारा सन् १८९५ में कलकत्ते से प्रथम बार प्रकाशित)

संस्कृतद्व्याश्रय —

द्व्याश्रय नामसे ही स्पष्ट है कि उसमें दो तथ्यों को आश्रय मिला है, चौलुक्य वंश की क्रमपरम्परा और व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण। हेमचन्द्र ने एक सर्वगुण सम्पन्न महाकाव्य में सूत्रों का संदर्भ देकर अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इस महाकाव्य के बीस सर्ग हैं। महाकाव्य में जो सर्वांगीण वर्णन और विश्लेषण होना चाहिए—उसका इसमें पूर्ण सद्भाव है। सृष्टिवर्णन ऋतुवर्णन रसवर्णन आदि महाकाव्य के अनेक गुण इसमें विद्यमान हैं। चौलुक्य वंश का सविस्तर इतिहास इसमें वर्णित है। उसका राज्य कैसे प्रारम्भ हुआ और क्या उत्थान पतन होते रहे किस प्रकार लोगों की निष्ठा में उनके प्रति उतार चढ़ाव आये कैसे गुजरात और मालव में स्पर्धा जागी किस तरह चौलुक्यवंशीय राजाओं ने अधिकाधिक राजनैतिक और शासनिक प्रगति की और किस प्रकार गुजरात को सुसमृद्ध और पूर्ण बनाया आदि समस्त विषयों का वर्णन-विवेचन बड़ी विदग्धता से किया गया है। दूसरी दृष्टि से इसे लक्षण—ग्रंथ भी कहा जाता है। महाकाव्य और व्याकरण दोनों के लक्षणों का इसमें स्वयं ही विवेचन हो गया है। यह सारा ग्रंथ २८८८ श्लोकों में आबद्ध है। इसके १४ सर्ग तो ११९९ तक लिख गये और ६ सर्ग बाद में वि सं १४१२ में अणहिलपुर पाटण में। इस काव्य पर अभयतिलक गणि ने १७५७ श्लोक प्रमाणटीका लिखी है तथा मणिलाल नाणू भाई द्वारा गुजराती अनुवाद किया गया है।

प्राकृतद्व्याश्रय —

प्रस्तुत काव्य में भी दो चीजें चलती हैं काव्य और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण। संस्कृत-द्व्याश्रय में चौलुक्य-वंश का इतिहास कुमारपाल के गद्दी पर बैठने तक है। प्राकृत-द्व्याश्रय में कुमारपाल के चरित्र का विशद वर्णन है। उसकी धर्मनिष्ठा नीति परोपकारी आचरण सांस्कृतिक चेतना धार्मिक उदारता नागरजनों के साथ सबंध जैनधर्म में दीक्षित होना और दिनचर्या आदि सभी विषयों का काफी विस्तार पूर्ण तथा रोचक विवेचन किया गया है। प्राकृत द्व्याश्रय उसके सर्वांगीण जीवन पर सुन्दर प्रकाश डालता है।

इसमें काव्यतत्त्व अधिक है। कवित्वमय सा दिखाई देता है। हर विषय में कवि सौन्दर्य का निर्मीण साम्राज्य प्रस्तुत करता है। जर्मन के प्रोफेसर जैसे बर्लिन का गौरवपूर्ण वर्णन करते हैं, लगभग उसी गौरव के साथ हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात

और अणहिल्लपुर पाटण का वर्णन किया है। किसी भी सर्ग को देखा जाय हेमचन्द्र की महान् आत्मा उसमें विद्यमान दीखती है। इसके आठ सर्ग हैं और ७४७ गाथाएँ हैं। वि सं० १३७१ में पूर्णकलशगणि ने इस पर ४२१ श्लोक प्रमाण टीका लिखी है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्—

काव्य के नाम से ही अभिव्यक्त है कि इसमें त्रेसठशलाका व्यक्तियों (गिनने योग्य महापुरुष) का जीवन चरित्र है। २४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती ९ बलदेव ९ वासुदेव और ९ प्रति वासुदेव। इन त्रेसठ को इसमें विविक्त किया गया है। इस काव्य में दस पर्व हैं और मुनि पुण्यविजय जी के अनुसार ३२ हजार श्लोक हैं। इसका रचनाकाल जर्मन विद्वान डा बुहर के अभिमत से वि सं १२२६—१२२९ के बीच का है।

प्रस्तुत काव्य एक अनोखा और अखूट भण्डार है। "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्" की उक्ति के अनुसार ऐसा लगता है कि इसमें कुछ भी अवर्णित नहीं रहा। तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर, परलोक आत्मा कर्म धर्म सृष्टि आदि विषयों पर खूब विशद विवेचन है। संक्षेप में षड्दर्शन के सिद्धान्त उनका निरसन तथा समन्वय इसमें प्रस्तुत किया गया है। जैन मान्यताओं की चर्चा भी बहुत विस्तार-पूर्वक की गयी है। इतिहास कथा पौराणिक कथानक आदि का भी इसमें समावेश है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति का भी यहां सुन्दर चित्रण किया गया है।

गुजरात की आध्यात्मिक चेतना सांस्कृतिक जागरूकता साहित्यिक समृद्धि अद्वितीय वैभव व्यापारिक समुन्नति जनता की अभिरुचियाँ एवं उसके आचरण आदि के वर्णन भी इसकी विशाल आत्मा में सन्निहित हैं। पूजा भक्ति उपासना दान दया आदि का भी विश्लेषण बहुत हृदयग्राही है। नारी की गौरव गाथा भी काव्य में पायी गई है। विभिन्न विषयों से परिपूर्ण यह काव्य वस्तुत बहुत सुन्दर और अक्षय निधि है।

कोश —

प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने चार कोशों की रचना की है—अभिधान चिन्तामणि अनेकार्थनाममाला, देशीनाममाला और निघण्टु। इन सब में अभिधान चिन्तामणि सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी रचना वि सं के आसपास हुई है। इसमें छः काण्ड हैं और १५४१ श्लोक हैं। अमरकोष की तरह जैनों में इसे कंठस्थ करने की परिपाटी चालू है। वस्तुत यह शब्दों का विशाल भण्डार है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है।

अनेकार्थनाममाला में ७ काण्ड हैं, और १८२९ श्लोक हैं। इसकी विशेषता यह है कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। १९ एकस्वर वाले ५९१ द्विस्वर, ७६६ त्रिस्वर, ३४३ चतुःस्वर, ४८ पंचस्वर, ५ षट्स्वर और अव्यय के ६ श्लोक इसप्रकार समग्र श्लोक संख्या १८२९ है।

निघण्टु में छःकाण्ड हैं और ३९६ श्लोक हैं। इसमें सब वनस्पतियों के नाम हैं। वे छः काण्ड हैं—वृक्ष पुष्प लता शाक तृण और धान्य। देशीनाममाला में ३५ देशी शब्दों का संकलन किया गया है। चारों ही कोशों पर आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि ने टीकाएँ लिखी हैं।

काव्यानुशासन —

"शब्दानुशासनेऽस्माभि साध्व्यो वाचो विवेचिता
तासामिदानीं काव्यत्वं यथावदनुशिष्यते।" (१२)।

इस श्लोक के अनुसार यह कृति सिद्धहेमशब्दानुशासन के बाद की प्रतीत होती है आचार्य हेमचन्द्र प्रखर प्रतिभा के स्वामी थे फिर भी नये ज्ञान के अर्जन के लिये सदैव प्रस्तुत रहते और इसी से उनकी कृतियों में पूर्णता आ पाती। काव्यानुशासन की सृष्टि भी इसी धारा पर हुई। आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त रुद्रट, राजशेखर, धनंजय मम्मट आदि के काव्य मीमांसा काव्यप्रकाश ध्वन्यालोक आदि अलंकारग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त काव्यानुशासन की रचना की गयी है। इसीलिये यह ग्रन्थ काफी सरस और सुन्दर बना है। इन सब ग्रन्थों की विशेषताओं के सामंजस्य की आधारभूमि पर इसका निर्माण हुआ है। सूत्रनिर्माण में मम्मट की छाप है तथा नाट्यशास्त्र के सूत्रों की योजना में धनंजय और भरत की। फिर भी हेमचन्द्र ने किसी का अनुकरण नहीं किया अपनी अन्वेषणशील प्रतिभा से नयी सृष्टि की है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन बताते हुए कहा है —"काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" साहित्य निर्माण यश अर्थ व्यवहारविज्ञान अश्रेय निवारण तत्काल निर्वृत्ति और कान्ता समान कमनीय उपदेश के लिये किया जाता है। वहाँ आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यमामन्दाय' यह कहकर और एक उद्देश्य जोड़ दिया जो कि वर्तमान में "स्वान्तःसुखाय" के नाम से प्रचलित है। काव्य प्रकाश में जहाँ आया है "साधर्म्य-मुपमा भेदे" वहाँ काव्यानुशासन में 'हृद्यं साधर्म्यमुपमा' किया है। इस तरह आचार्य हेमचन्द्र ने अपने स्वतन्त्र चिन्तन का महत्त्व रखा है। मधुसूदन मोदी ने अन्य लक्षण और अलंकार ग्रंथों को दुर्बोध माना है और इसे सरल एवं सुबोध स्वीकार किया है तथा सर्वांगसुन्दर ग्रन्थ माना है।

काव्यानुशासन पर हेमचन्द्र ने अलंकारचूडामणि नामसे एक लघुवृत्ति लिखी है और "विवेक" नाम से विस्तृत टीका का निर्माण किया है जैसाकि उसके प्रारम्भ में वे स्वयं कहते हैं—

"विवरीतुं क्वचित् दृब्धं नवं सन्दर्भितं क्वचित्। काव्यानुशासनस्यायं विवेकः प्रवितन्यते ॥"

इस तरह यह एक महान ग्रंथ बन जाता है।

योगशास्त्रः—

योगशास्त्र की रचना कुमारपाल के निवेदन पर हुई थी। इसमें बारह प्रकाश और १ १२ श्लोक हैं। यह ग्रंथ गृहस्थ जीवन को लक्षित करके लिखा गया है। गृहस्थ में रहते हुए व्यक्ति आत्मसाधना कैसे करे, यही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। एक से चार प्रकाश तक अणुव्रत आदि का विवेचन है। चार से बारह प्रकाश तक योग की परिभाषा व्यायाम रेचक कुम्भक पूरक आदि का विश्लेषण कर स्थिरचित्तता के आसन तथा साधन बताये हैं। इसके अध्ययन व अभ्यास से आध्यात्मिक जीवन को अच्छी प्रेरणा मिलती है। व्यक्ति अन्तर्मुखी हो ऐसे तत्त्व इसमें सन्निहित हैं। कुमारपाल इसका रोज स्वाध्याय करता था और नवीन प्रेरणा प्राप्त करता था।

यशःपालने "मोहपराजय" में योगशास्त्र को मुमुक्षुओं के लिए वज्रकवच कहा है। इसकी समता आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से की जाती है। हेमचन्द्र ने इस पर वृत्ति भी लिखी है। इसके अतिरिक्त प्रमाण-मीमांसा (न्याय-ग्रन्थ) अर्हन्नीति नामैकमसिद्धिसन्धान-काव्य छन्दोनुशासन अन्ययोग-व्यवच्छेदिका अयोग-व्यवच्छेदिका द्विजवदन चपेटा स्तुति ग्रन्थ आदि अनेक कृतियाँ भी आचार्य हेमचन्द्र की हैं। उनके बहुत से ग्रन्थ अनुपलब्ध भी हैं व कुछ अभी अप्रकाशित हैं, जिनकी हस्तलिपियाँ जैसलमेर, पाटण तथा खम्भात के पुस्तक भण्डारों में प्राप्त होती हैं। आचार्य हेमचन्द्र का साहित्य जितना विशाल था उतना तो नहीं फिर भी उसका संरक्षण तथा प्रचार प्रसार काफी हुआ है।

'हैमसमीक्षा' के पुरा-वचन में मुनि जिनविजयजी ने कहा है कि —हेमचन्द्र की कृतियों के समान दूसरे आचार्यों की रचनायें प्रचार प्रसार का अवसर नहीं पा सकीं। इनकी रचनाओं को राजाओं ने जैन जैनतर, अनेक भण्डारों में भिजवाया था तथा दूर-दूर तक पहुँचाने की व्यवस्था की थी। संरक्षण की दृष्टि से कहा जाता है कि कुमारपाल ने सात सौ लेखकों को अपने आश्रय में रखकर हेमचन्द्र के ग्रंथ लिपिबद्ध कराये और अपने राज्य में २१ बड़े बड़े ज्ञान भण्डार स्थापित कराये।

"लेखनी करवाल से अधिक शक्ति की स्वामी है" बुल्वर लिटन की इस उक्ति के अनुसार हेमचन्द्र का साहित्य नया चिन्तन प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि उनका साहित्य विदेशों तक पहुँच सका तथा वहाँ के विद्वानोंको आकृष्ट कर सका। जर्मन विद्वान् डा. हर्मन जेकोबी तथा डा. बुल्हर ने उनके साहित्य का गहरा अध्ययन किया है और इन दोनों ही विद्वानों ने उन पर निबन्ध लिखे हैं जिनमें उनकी कृतियों का सिंहावलोकन किया गया है। उनकी कृतियों का विशिष्ट वर्णनात्मक परिचय जनता को प्राप्त हो इस दृष्टि से भी एक ग्रन्थ गुजराती भाषा में लिखा जा चुका है। इसका नाम "हेम-समीक्षा" है। इस ग्रन्थ में हेमचन्द्र की एक-एक कृति पर समालोचनात्मक दृष्टि से विस्तारपूर्वक लिखा गया है। इसके लेखक हैं मधुसूदन मोदी।

शिष्यमण्डलः—

आचार्य हेमचन्द्र जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व सम्पन्न और उत्तमोत्तम गुणों के धारक थे वैसा ही उनका शिष्य समूह भी था। हेमचन्द्र की अलग-अलग कृतियों में उनके अनेक शिष्यों के नाम मिलते हैं। रामचन्द्रसूरि, बालचन्द्रसूरि, गुणचन्द्रसूरि,

महेन्द्रसूरि, वर्धमानमणी देवचन्द्र उदयचन्द्र यशचन्द्र ये उनके काफी प्रख्यात शिष्य हुए हैं। इन्होंने हेमचन्द्र की रचनाओं पर वृत्तियाँ तथा टीकाएँ लिखी हैं और स्वतन्त्र ग्रंथ प्रणयन भी किया है।

रामचन्द्रसूरि इन सब में अग्रणी थे। उनमें कवि की प्रखर प्रतिभा की तथा सायुल्य का अलौकिक तेज था। इनकी अनेक रचनाएँ हैं। कुमारविहारशतक के रचयिता ये ही हैं। इन्हें प्रबन्धशत-कर्तृ कहा जाता है। इनकी कृतियाँ काफी प्रसिद्ध हुई हैं। इन्होंने और गुणचन्द्रसूरि ने मिलकर जो "नाट्यदर्पण" लिखा था वह काफी प्रचलित व प्रसिद्ध हुआ है। भूपाल सिद्धराज ने इनकी काव्य प्रतिभापर मुग्ध होकर 'कविकटारमल्ल' की पदवी दी थी। हेमचन्द्र के दिवंगत हो जाने पर राजा कुमारपाल का दुःख भी इन्होंने ही शान्त किया था। महेन्द्रसूरि ने अभिधानचिन्तामणि अनेकार्थनाममाला देशी नाममाला और निघण्टु पर टीकाएँ लिखी। देवचन्द्रसूरि ने 'चन्द्रलेखा-विजय-प्रकरण' नामक एक काव्य लिखा तथा तीन नाटक लिखे। बालचन्द्रगणि ने "स्नातस्या" नाम के एक काव्य की रचना की है। हेमचन्द्र के शिष्य समूह की जानकारी के लिये मोतीलाल लाघजभाई ने "हेमचन्द्राचार्य नु शिष्य मण्डल" नामसे एक पत्रिका भी प्रकाशित की है। हेमचन्द्र अपने साधु शिष्यों के अतिरिक्त गृहस्थ शिष्यों से भी परिवृत रहे। उनमें कुमारपाल का महामंत्री वाग्भट वाहड चाहड आदि अनेक श्रद्धाशील तथा अनन्य निष्ठ और भक्तिमान् सुप्रसिद्ध श्रावक हुए हैं।

उपसंहार—

आचार्य हेमचन्द्र एक बहुत ही प्रतिभाशाली चेतनाशील और उदार व्यक्तित्व वाले आचार्य हुए हैं। उन्होंने उन सब क्षेत्रों में विपुल यश अर्जित किया है जो मानव-जीवन के उन्नायक होते हैं। उन सभी विषयों में उन्होंने एक नई चेतना जागृत की है तथा उदात्तता की सबल छाप लगायी है। सब कार्यों की जड़ में उन्होंने जो एक वस्तु भरी है वह है जीवन को निर्मल व अनुप्राणित करने की मंगलमय शक्ति। कार्य और प्रणालियों से कोई अर्थ नहीं निकलता यदि उनमें जीवन को परिष्कृत और विस्तृत बनाने का सामर्थ्य न हो तो। इस सामर्थ्य से विकल कार्य और पद्धतियाँ सारशून्य होती हैं और भार बन बनी रहती हैं। उनसे जीवन को सजीवन नहीं मिल सकता। हेमचन्द्र इसी सजीवन के स्रष्टा थे। उन्होंने मानव जीवन के हर पहलू में संजीवन की धार बहायी है। उनकी अगणित विशेषताएँ हैं कहना चाहिये वे विलक्षणता और विशेषतामय ही थे। फिर भी यदि विश्लेषक दृष्टि से देखा जावे तो उनके व्यक्तित्व के कई पहलू तो बहुत ही उभरे हैं। उन सब पर तो नहीं किन्तु चार पहलुओं पर मैं किंचित् चंचुपात करना चाहूँगा।

अध्यात्म-पथ के महान् यात्रीः—

हेमचन्द्र अध्यात्मपथ के एक महान् यात्री थे। उन्होंने जीवन का पूर्ण विकास आत्म-साधना में ही देखा है। उनका अध्यात्म शुष्क और नीरस नहीं बल्कि तरल और सरस है। सर्वभूत हितैरत को उसमें प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनकी दृष्टि से अध्यात्म विकल जीवन क्षीरमरिक्त-पुष्प लावण्यविहीन-रूप चरित्रशून्य-साधु के समान अस्तित्व विहीन है। अध्यात्म तो जीवन की आत्मा है। उसके बिना जीवन की परिकल्पना भी कैसे की जा सकती है? इन्होंने इस मौलिक तत्त्व की गहरी आराधना की थी। केन्द्र में वे इसे रखकर ही कोई पद-विक्षेप करते थे। इसीलिये उनसे अन्य चरण-विन्यास में भी सर्व हितपरता के प्राण प्रतिष्ठित हो जाते थे और उन्हें एक अव्यक्त सुख प्राप्त होता था। उनके शान्त और संतुष्ट जीवन का सीधा असर पड़ता था क्योंकि उनमें कोई उलझन नहीं थी—जहाँ कि व्यक्ति को अटकना पड़े।

संस्कार निर्माता—

हेमचन्द्र अपने समय के एक महान् संस्कार निर्माता थे। उन्होंने जीवन के प्रत्येक अंग को परिष्कृत करने का प्रयास किया था। संस्कार से जो परिमार्जन और सौन्दर्य आता है उसका मूल्यांकन होना कठिन है। संस्कृत और संशोधित वस्तु का जहाँ मूल्य बढ़ता है वहाँ उसका स्थायित्व भी बढ़ जाता है, क्योंकि शिथिल और अभद्र अंशों के निष्कासन के उपरान्त उन में दृढ़ और मधुर अंश ही अवशिष्ट रहते हैं।

हेमचन्द्र ने जीवन की हर प्रवृत्ति में तथा हर गतिविधि में परिष्कार किया था और प्रसुप्त सांस्कृतिक चेतना को जगाया था। पूजा भक्ति क्रियाकाण्ड सेवा व्यापार, व्यवहार, रहन-सहन वेशभूषा आदि सभी विषयों पर गम्भीर प्रकाश डाला था तथा एक नया निखार, एक नया आकर्षण इनमें उत्पन्न किया था। इन सब कृत्यों से उन्होंने मनुष्यों के मन में संस्कृति

के प्रति एक व्यापक अनुराग जगा दिया था जो कि उन्हें प्रतिपक्ष विशुद्ध बनाने के लिए उद्यत रख और जीवन में रुकावट नहीं आने दे।

सफल साहित्यकार:—

आचार्य हेमचन्द्र एक सफल साहित्यकार थे। उन्होंने बहुत विशाल और मार्मिक साहित्य का सृजन किया है। उनके साहित्य की अपनी एक विशेषता है—वह सब शान्त रस से आप्लावित है। उसमें आध्यात्मिकता मुखरित हो रही है। उनका ज्ञान गंभीर ठोस और व्यापक था। अतः उनकी रचनाएँ भी बहुत गहरी मर्मभरी और सूक्ष्म बनी हैं। उनके सारे साहित्य-समुद्र का मंथन कर पाना बहुत कठिन कार्य है क्योंकि उसकी परिमाण बहुत विशाल है। किंवदन्ती है कि उन्होंने साढ़े तीन करोड़ पद्य प्रमाण-साहित्य लिखा था पर आधुनिक शोधों के आधार पर इसमें कुछ अन्तर आ गया है। अवश्य ही यह विषय अनुसंधान और खोज का है। फिर भी यह तो स्पष्ट है ही कि उनकी ज्ञानराशि सचमुच में विस्मयजनक है। आगमिक दार्शनिक साहित्यिक सामाजिक और राजनैतिक आदि सभी प्रकार के ज्ञान से उनका भण्डार भरा हुआ था। कहीं भी उनकी गति स्खलित नहीं होती थी। लोग उनके ज्ञान में सर्वज्ञता का आभास पाते थे इसीलिये उन्हें "कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया गया था। "गुजरात का सर्वज्ञ" इस नाम से भी वे काफी प्रख्यात हुए हैं। सहज ही इन विशेषताओं में उनके अपूर्व और अप्रतिम-ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है।

समयधर्मी राजनीतिज्ञ —

हेमचन्द्र जहाँ अध्यात्म के पार प्राप्तयोगी थे वहाँ समयधर्मी राजनीतिज्ञ भी बहुत अनूठे थे। किस समय में और कहाँ क्या करना चाहिये इस तथ्य के पूरे 'तत्त्वज्ञ' थे। "क्षेत्र पुरुषे च समए" आचारांग के इस सिद्धान्त को उन्होंने पूर्ण हृदयंगम कर लिया था इसीलिये वे हर जगह सम्मान पाते और अपना प्रभाव डाल सकते। इसी मान्यता के आधार पर के एम मुंशी की लिखित पुस्तक "गुजरात और उसका साहित्य" के अनुसार हेमचन्द्र ने अपने शक्तिशाली शिष्यों के द्वारा गुजरात पर शासन सा कर लिया था और राजा को अपना पूर्ण सहयोगी बना लिया था।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हेमचन्द्र सर्वगुणों से मण्डित एक महान् पुरुष थे। उन्होंने अपने आपको जगद्-हिताय अर्पित कर दिया था और संस्कार जागरण साहित्य निर्माण व जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सतत् उन्नति करने की प्रेरणा के स्रोत बनकर आजीवन व मानवता की सेवा करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ करते रहे। विपुल ज्ञान के स्वामी होते हुए भी एकदम निरभिमान रहकर जन साधारण के जीवन का पथ प्रदर्शन करते रहे। वे अपने अन्तिम समय तक अपने धर्म-कर्म में लीन रहे। वि सं १२२९ में ८४ वर्ष की आयु भोग कर वे स्वर्गस्थ हो गये।

यद्यपि आज हमारे बीच उनका भौतिक शरीर नहीं है फिर भी उनका यश दिनमणि की तरह प्रकाशमान है और चिरकाल तक प्रकाशमान रहेगा।

---

१ Hemchandra in fact ruled Gujrat through his powerful Jain disciples and the Jains accepted the king as their co—religionist. (Gujrat and its literature p 76)

पउमचरियं

(प्रथम जैन-रामायण का समीक्षात्मक विश्लेषण)

(ले०—के० आर० चन्द्र, रिसर्च स्कालर, प्रा० जै० वि०, मु० पुर)

'पउमचरियं' राम-कथा संबंधी प्रथम जैन महाकाव्य है। इसमें पउम (पद्म) का ही अपर नाम राम है। जैन-परंपरा में राम आठवें बलदेव थे जो बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थ-काल में हुए थे। वाल्मीकि रामायण का जो स्थान ब्राह्मण-साहित्य में है, वही पउमचरियं का जैन साहित्य में। यदि वाल्मीकि-रामायण संस्कृत-साहित्य में आदि महाकाव्य है तो पउमचरियं प्राकृत-साहित्य में। इन दोनों रचनाओं में कथानक मौलिक रूप से भिन्न नहीं है, परन्तु पउमचरियं की कुछ अपनी अलग महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। इसमें सभी पात्रों का जैन-धर्मावलम्बी होना स्वाभाविक है, परन्तु आदिम जातियों के वीरों को इसमें जो आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ है, इससे जातिगत वैमनस्य का परिहार हुआ है। इस सांस्कृतिक समन्वय में भारतीय एकता का पोषण व संवर्धन करने वाली उदारता, मित्रता व सहृदयता की भावनाओं की छाप स्पष्ट है।

कवि परिचय व काल —

प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद तथा अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार विमलसूरि ने इस चरित की रचना की है। वे आचार्य राहु के प्रशिष्य विजय के शिष्य और नाइलकुल के वंशज थे।

प्रशस्ति के उल्लेखानुसार यह प्रथम शती ई० की रचना है। परन्तु आश्चर्य है इस कवि का उल्लेख सर्वप्रथम ८ वीं शती ई० की रचना कुवलयमाला में हुआ है। ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण से यह बाद की रचना प्रतीत होती है। रविषेण का पद्मचरित् पउमचरियं का परिवर्धित रूपमात्र होने से यह ७वीं शती के पूर्व की रचना होनी चाहिए। इसमें महाराष्ट्री प्राकृत का निखरा हुआ रूप है जो दूसरी शती ई० के पूर्व का नहीं हो सकता। उज्जैन के स्वतंत्र राजा सिंहोदर का अपने दशपुर के भृत्य-राजा से युद्ध दूसरी शती ई० के महाक्षत्रपों की ओर संकेत करता है। श्रीशैल व श्रीपर्वतवासियों का उल्लेख तृतीय शती के आन्ध्र देश के श्रीपर्वतीय इक्ष्वाकु राजाओं का स्मरण कराता है। आनन्द लोगों का उल्लेख तीसरी चौथी शती के आनन्दवंश (दक्षिण में) की ओर संकेत कराता है। दीनार का उल्लेख इस रचना को गुप्तों के समकालीन ले जाता है। पूजा के बाद (?) का उल्लेख, अपभ्रंश भाषा का प्रभाव तथा उत्तर-कालीन छन्दों का प्रयोग इस रचना को तीसरी चौथी शती से पूर्वकालीन मानने में बाधाजनक है। डा० जैकोबी ने भी पउमचरियं का रचना काल लगभग यही माना है।

कथानक का आधार व प्रभाव :—

कवि के उल्लेखानुसार यह कथानक 'पूर्वों' में कथित व नामावली-निबद्ध और आचार्य-परम्परा से जो पद्मचरित उपलब्ध था उसको आनुपूर्वी से संक्षेप में लिखा गया है। समवायांग और तिलोयपण्णत्ति में नामावली-रूप में क्रमशः ५४ व ६३ उत्तम (शलाका) पुरुषों के चरित उपलब्ध होते हैं। इन स्मृति सहायक नामावलियों के आधार पर ही मौलिक कथानक गुरु-शिष्य परम्परा में मौखिक रूप में प्रचलित रहा होगा। आगे ग्रन्थ-रचना के कारणस्वरूप यह भी कहा गया है कि कुकवियों ने ऊटपटांग और अविश्वसनीय बातें लिख दी थीं जैसे रावणादि का राक्षसत्व, कुम्भकर्ण का छमासीय शयन, रावण द्वारा देवेन्द्र का जीता जाना, बानरमुख का होना और बानरों द्वारा पुल बांधा जाना—उनके स्पष्टीकरण के लिए यह रचना की गयी। ये सब बातें वाल्मीकि रामायण में विद्यमान हैं। महाभारत में जिस प्रकार रामचरित का वृत्तान्त पृथक् दिया गया है, उसी प्रकार इसमें भी। इसके अतिरिक्त इसमें बानरों को प्लवगम, राक्षसों को निशाचर, इन्द्र को सुरपति, पद्म का राम और हनुमान को मरुत्सुत के नाम से सम्बोधित करना उपरोक्त ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रभाव सिद्ध करते हैं। परन्तु इसमें कुछ स्थल ऐसे हैं जिनका आभास रामायण और महाभारत में नहीं मिलता जैसे—कैकेयी का स्वयंवर, जनक के पुत्र का उल्लेख, राम द्वारा जनक राजाओं को अपने अधीन करना और लव-कुश का राम से युद्ध। इसलिये रामायण और महाभारत का आधार होते

हुए भी पउमचरिय का विकास अपनी ही परम्परा से प्राप्त सूत्रों और कथानक पर हुआ है। कथा में कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें विमलसूरि की प्रतिभा स्पष्ट झलकती है। इस मौलिकता का दिग्दर्शन आगे कराया जायेगा। पउमचरिय उत्तरकालीन सभी चरित सम्बन्धी जैन रचनाओं का आधार है सिवाय गुणभद्र की परंपरा के जिसका अनुसरण बहुत कम हुआ है। अजैन रचनाओं पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। सीता स्वयंवर में राम का अनेक राजाओं के बीच धनुष-यज्ञ में सफल होना राक्षसों को प्रेम क्रीड़ा और लव को कुश का अग्रज मानना तथा उनका राम से युद्ध करना इत्यादि ऐसे वृत्तान्त हैं जो अनेक अजैन रचनाओं में विद्यमान हैं।

पउमचरिय एक पुराण—

ग्रन्थ का शीर्षक पउमचरिय है और इसी का उल्लेख प्रत्येक सर्ग के अन्त में हुआ है। इसको यदा-कदा राघवचरित राम देवचरित और रामायविस्य चरित भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसको पुराण की भी संज्ञा दी है। जैन परम्परा के अनुसार जिसमें किसी एक शलाका पुरुष का वर्णन हो उसे पुराण या चरित कहते हैं। पुराण के जो आठ अंग माने गये हैं— लोक देश पुर, राज्य तीर्थ दान तप और अन्वय (वंश) उन सबका समावेश इसमें हुआ है।

विमलसूरि ने इस पुराण के जिन सात अधिकारों का निर्देश प्रथम सर्ग में किया है—स्थिति वंशसमुत्पत्ति प्रस्थान रण लवकुशोत्पत्ति निर्वाण और अनेक भव उन सबका वर्णन इस ग्रन्थ के ११८ सर्गों में प्रथम सर्ग में विषयों की जो सूची दी गई है उसी के अनुसार क्रमशः यथास्थान किया गया है।

संक्षिप्त कथा—

अयोध्यापति दशरथ की अपराजिता और सुमित्रा दो महारानियाँ थी। एक समय नारद से दशरथ को समाचार प्राप्त होता है कि विभीषण उन्हें मारने आ रहा है, जिससे उनके पुत्र द्वारा सीता के निमित्त किया जाने वाला रावण का भावी वध टाला जा सके। दशरथ यह सुन अपने बचाव के लिए छद्मवेश में राजधानी छोड़ देते हैं और संयोगवश कैकेयी के स्वयंवर में पहुँचते हैं। कैकेयी द्वारा उनके चुन जाने पर दूसरे राजकुमार उनसे युद्ध करते हैं। उस युद्ध में कैकेयी दशरथ का रथ हाँककर अपना धैर्य और कुशलता बतलाती है और दशरथ विजयी होते हैं। इसी उपलक्ष्य में दशरथ कैकेयी को 'एक' वरदान देते हैं।

अपराजिता एक पुत्र को जन्म देती है। उसका मुख पद्म जैसा सुन्दर होने के कारण उसका नाम पद्म रखा जाता है। उसका अपर नाम राम भी है। सुमित्रा लक्ष्मण को और कैकेयी भरत व शत्रुघ्न को जन्म देती है।

एक बार राम (पद्म) जनक को बब्बर-बर्बरा के आक्रमण से बचाते हैं, इसी कारण जनक अपनी औरस पुत्री सीता का सम्बन्ध राम के साथ तय करते हैं। जनक-पुत्र भामण्डल को जिसे जन्म होते ही चन्द्रगति विद्याधर ने हरण कर ले गया था युवा होने पर अज्ञानतावश सीता से मोह उत्पन्न होता है। चन्द्रगति जनक से सीता को भामण्डल के लिए माँगता है, इससे जनक असमंजस में पड़ जाते हैं। इस दुविधा के निवारणार्थ चन्द्रगति जनक को एक धनुष देकर सीता-स्वयंवर का आयोजन करवाता है, जिसमें सिर्फ राम ही सफल होते हैं और सीता का वरण करते हैं।

दशरथ और भरत पति व पुत्र दोनों के दीक्षा के लिये उद्यत देखकर कैकेयी अपने वरदान-स्वरूप भरत के लिए राज्य माँगती है जिससे भरत गृहस्थी बना रहे और पति-पुत्र दोनों के वियोग में कष्ट से उसका बचाव हो। भरत के आनाकानी करने पर राम स्वयं उसको समझाकर राज्य का अधिकारी बनाते हैं और स्वयं अपनी इच्छा से लक्ष्मण तथा सीता के साथ वन को चले जाते हैं। उधर अपराजिता और सुमित्रा अपने पुत्र वियोग से बहुत दुःखी होती हैं। कैकेयी से यह देखा नहीं जाता, वह अपने पुत्र के साथ राम के पास पारियात्र वन में जाकर उनको लौटाने का प्रयत्न करती है परन्तु राम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहते हैं। आगे अपनी यात्रा में अनेक राजाओं का दुःख विमोचन करते हुए राम दण्डकारण्य पहुँचते हैं।

एक समय लक्ष्मण एक दैविक तलवार को प्राप्त करते हैं और उसकी शक्ति का सामर्थ्य देखने के लिए एक झुरमुट काटते हैं। संयोगवश असावधानी से शम्बुक की हत्या हो जाती है जो उस झुरमुट में छिपकर तपस्या कर रहा था। शम्बुक की माता रावण की बहन चन्द्रनखा पुत्र की खोज में भटकते वहाँ आ पहुँचती है और इन राजकुमारों को देखकर प्रथम तो विक्षुब्ध होती है परन्तु उनके रूप से मोहित होकर वह दोनों भाइयों में से किसी एक को अपना पति बनने की प्रार्थना करती है। राम तथा लक्ष्मण इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हैं। चन्द्रनखा क्रुद्ध होकर अपने पति खरदूषण को उल्टा-सीधा समझाकर इनके

वध के लिए भेजती है। उधर रावण भी अपने बहनोई की सहायता के लिए वहाँ पर पहुँचता है। सीता की सुन्दरता पर मोहित होकर राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में वह सीता का हरण करता है। खरदूषण को मारने के पश्चात् राम सीता को नहीं पाकर दुःखी होते हैं। उसी समय एक विद्याधर विराधित राम को अपनी पैतृक राजधानी पातालंकारपुर के लाता है जिसे खरदूषण ने विराधित के पिता का वध कर उससे छीन लिया था।

इधर सुग्रीव अपनी पत्नी तारा को विट-सुग्रीव की चंगुल से बचाने के लिए राम की शरण लेता है। राम विट-सुग्रीव को मारकर वानर-पति सुग्रीव की सहायता करते हैं। सुग्रीव के आदेशानुसार हनु (मान) सीता का पता लगाता है। इस प्रसंग में हनुमान द्वारा लंका दहन का कोई उल्लेख यहाँ नहीं है। सुग्रीव और उसकी सेना की सहायता से लक्ष्मण रावण का वध करते हैं और सीता को साथ लेकर राम और लक्ष्मण अयोध्या लौटते हैं।

तत्पश्चात् भरत और कैकेयी दीक्षा ग्रहण करते हैं। राम स्वयं राजा न बन कर लक्ष्मण को राज्यपाट देते हैं। कुछ समय बाद सीता गर्भवती होती है परन्तु लोकापवाद के कारण राम उसका निर्वासन करते हैं। संयोगवश पुण्डरीकपुर का राजा सीता को भयानक अटवी से ले जाकर अपने यहाँ बहन की तरह रखता है। वहाँ पर लवण और अंकुश का जन्म होता है। वे देश के विजय करने के पश्चात् अपनी माता के दुःख का बदला लेने के लिए राम पर चढ़ाई करते हैं और अन्त में अपने पिता के साथ उनका प्रेमपूर्वक समागम होता है। सीता की अग्नि परीक्षा होती है, जिसमें वह निष्कलंक सिद्ध होती है और उसी समय साध्वी बन जाती है। लक्ष्मण की अकस्मात् मृत्यु हो जाने के कारण राम उन्मत्त हो जाते हैं और भ्रातृ-मोह से उनका शव उठाकर इधर-उधर भटकते हैं। जब उनका मनोवेग शान्त हो जाता है तब वे दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और कठोर तप साधना करके अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

मौलिक विशेषताएँ:—

मौलिक विशेषताओं में विमलसूरि का कोई सानी नहीं रखता। वाल्मीकि-रामायण में अद्भुत रस या विकृति के फेर में यथार्थता का दम घुट गया और अनेक अन्धविश्वासों का आतंक छा गया। परन्तु पउमचरिय ही प्रथम रचना है जिसमें यथार्थता का दिग्दर्शन होता है तथा ऊटपटांग व अतर्कसंगत बातों का निराकरण हुआ है। बुद्धिवादियों के लिए तो यह अत्यन्त महत्त्व पूर्ण वरदान है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि भारतीय-साहित्य-जगत में विमलसूरि के रूप में एक ऐसा देदीप्यमान नक्षत्र उदित हुआ जिसने भारतीय वाङ्मय और संस्कृति को अपनी अपूर्व देन से प्रकाशित कर दिया, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इससे अनेक उत्तरकालीन कवि और लेखक अनुप्राणित हुए। इतना ही नहीं बल्कि विमलसूरि के यथार्थवाद का महत्त्व वर्तमान बौद्धिक-युग में और भी बढ़ता जा रहा है क्योंकि इसमें आधुनिक विद्वानों को सांस्कृतिक-गुत्थियों का समाधान मिलता है।

पउमचरिय की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें विभिन्न परिस्थितियों में मानव-चरित्र को ऊँचा उठाया गया है। इन्हीं विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है जो पउमचरिय की मौलिकता का प्रतिपादन करता है।

(१) यथार्थवाद:—

रावण का जिस इन्द्र के साथ युद्ध हुआ वह कोई देवपति नहीं था वरन् विद्याधर-वंश का राजा था। सोम वरुण इत्यादि कोई देव नहीं थे बल्कि उसके अधीनस्थ विभिन्न प्रान्तों के मानव राज्यपाल थे। इन्द्र जिस वंश की संतान था उसकी स्थापना नमि और विनमि द्वारा की गयी थी जो भारतवर्ष के प्रथम राजा व तीर्थंकर ऋषभदेव के संबंधी थे। अपूर्व विद्याओं के स्वामी होने के कारण इस वंश का नामकरण विद्याधर वंश हुआ।

इसी वंश में से दो अन्य वंशों का उद्भव हुआ जो राक्षस और वानर वंश के नाम से प्रसिद्ध हुए। राक्षस वंश की उत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है। एक समय संयोगवश अपने बन्धु-बान्धवों से शत्रुता हो जाने के कारण मेघवाहन नामक एक विद्याधर वंशीय राजा को अपना विजयार्द्धपर्वतीय राज्य छोड़ देना पड़ा। भाग्यवश उसे लंका और अन्य द्वीपों का स्वामी बनाया गया। इन द्वीपों की रक्षा करने के कारण उसका वंश राक्षस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वानर वंश की उत्पत्ति के सबंध में कहा गया है कि विद्याधर राजा अमरप्रभ ने अपनी प्राचीन मंगल-परंपरा को जीवित रखने के लिए बन्दरों की आकृतियाँ महलों के तोरणों मुकुटों तथा ध्वजाओं पर अंकित करवायी और उस बन्दर आकृति को राज्य-चिह्न की मान्यता दी। इसी कारण से उसका वंश वानर वंश कहलाया।

रावण राक्षस वंश में उत्पन्न हुआ था। एक बार उसकी माता ने उसे उस नौ मणियों का हार पहनाया। उसमें उसके मुख के नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होने के कारण उसी समय उसके पिता ने उसका नाम दशमुख रख दिया।

आजकल भी चतुर्मुख तथा चतुर्भुज नामक व्यक्ति पाये जाते हैं परन्तु उनके चार मुख और चार भुजायें नहीं होतीं। मानव-जाति में नाहर-वंश अभी भी विद्यमान है, लेकिन उससे हिंसक पशु-वर्ग का बोध नहीं होता। नाग पहले किस्से कहानियों का शब्द था। आज यह अवस्था नहीं है। गुप्तकाल तथा परवर्ती काल में नागवंश का परिचय पाया जाता है तथा आज की नाग जाति एक भारतीय मानव-वंश है।

पउमचरिय में राक्षस एवं वानरों का जो वर्णन प्राप्त होता है उससे उनकी समृद्ध संस्कृति का पता लगता है। अतः राक्षस और वानर कोई दैत्यरूपी अद्भुत प्राणी और बन्दर (पशु) नहीं थे। वे तो मानव जाति के ही वंश-विशेष थे। बाली और सुग्रीव की उत्पत्ति कोई दैविक योग से नहीं हुई। वे किष्किन्ध पर्वत के वानरवंशीय राजा आदित्यरज और उसकी पत्नी इन्दुमालिनी के औरस पुत्र थे।

इसी प्रकार हनुमान् भी विद्याधर राजा प्रह्लाद के पुत्र पवनंजय और उसकी पत्नी अंजनासुन्दरी का औरस पुत्र था। सूर्य को फल समझकर हनुमान द्वारा उसे भक्षित किये जाने का वृत्तान्त पउमचरिय में नहीं मिलता। उसके नामकरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब निर्वासित अंजनासुन्दरी को उसके मामा अपने यहाँ हनुरुहपुर ले जा रहे थे उस समय उसका नवजात बालक ज्योंही विमान (रथ) की टिकिनियों को पकड़ने के लिए लपका त्योंही वह विमान से बाहर शैल पर गिर पड़ा। अतः उसका एक नाम श्रीशैल रखा गया तथा हनुरुहपुर में उसका प्रथम सत्कार और लालन-पालन हुआ इसलिये उसका अपर नाम हनु रखा गया। जन्मस्थान से सम्बन्धित नामकरण की परम्परा बहुत पुरानी है। भगवान् महावीर को वैशालीक तथा सीता को वैदेही कहा जाना इसी परम्परा की पुष्टि करते हैं।

कैकेयी को वरदान देने का अवसर कोई देवासुर संग्राम नहीं था वरन् उसी के स्वयंवर में दशरथ के साथ अन्य राजकुमारों का युद्ध था।

सीता की उत्पत्ति हल की नोक से भूमि खोदे जाने पर नहीं हुई। वह तो राजा जनक और उसकी पत्नी विदेहा की स्वाभाविक औरस पुत्री थी।

विराधित कोई दैत्य नहीं था। वह पातालंकारपुर का राक्षसवंशीय राजपुत्र था। खरदूषण ने उसके पिता का वध करके उसकी नगरी छीन ली थी। उसका प्रतिशोध लेने के निमित्त खरदूषण को मारने में उसने लक्ष्मण की सहायता की थी।

लंकासुन्दरी कोई देवी नहीं थी। वह एक राक्षस कन्या थी जो अपने पिता के साथ लंका के दुर्ग (प्राकार) की रक्षा के लिये रावण द्वारा नियुक्त की गयी थी।

समुद्र के देव का कोई वृत्तान्त पउमचरिय में नहीं है। समुद्र रावण के अधीन एक राजा था जो सीमा-प्रदेश की रक्षा करता था। उसको हराकर राम लंका की ओर अग्रसित हुए थे।

हनुमान् कोई पर्वत उठाकर नहीं लाये थे। उन्होंने विशल्या नामक एक स्त्री-चिकित्सक को घायल लक्ष्मण की चिकित्सा के लिये सम्मानपूर्वक उपस्थित किया था।

चरित्र चित्रण —

राम-कथा के पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में विमलसूरि ने परिस्थितियों का सहारा लेकर पुरुष तथा स्त्री चरित्रों को ऊँचा उठाया है।

दशरथ द्वारा भरत को राज्य देने का समाचार सुनकर राम अपने पिता को धीरज देते हुए कहते हैं कि पिताजी आप अपने वचन की रक्षा करें, मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण आप का लोक में अपयश हो। जब भरत राज्य ग्रहण करने में आनाकानी करते हैं, तब राम उनको अपने पिता की विमल कीर्ति बनाए रखने और माता के वचन की रक्षा के लिए परामर्श देते हैं। जब भरत टस से मस नहीं होते तब राम स्वयं अपनी इच्छा से वन-गमन के लिए प्रस्थान करते हैं। यह तो उनकी महान् उदारता का उदाहरण है। युद्ध के समय जब विभीषण राम से प्रार्थना करता है कि विद्यासाधना में ध्यानमग्न रावण को क्यों न बन्दी बना लिया जाय, तब राम अपनी नीति बतलाते हुए उत्तर देते हैं कि मैं भयभीत को भी रण में नहीं मारता तब क्या धर्मकर्तव्य में लगे पुरुष को धोखे से कैसे बन्दी बना सकता हूँ? परिस्थितिवश लोकापवाद के कारण राम सीता का

निर्वासन करते है। अग्नि-परीक्षा में सीता निष्कलंक सिद्ध होती है तब राम बहुत पछताते हैं और अन्तर से अपने दोषों के लिये सीता से क्षमा याचना करते हैं। बाली को छिपकर मारने का अवसर तो आने ही नहीं दिया। इस प्रकार कवि ने राम के चरित्र को और भी ऊँचा उठा दिया है।

लक्ष्मण कैकेयी की वरदान-पूर्ति पर मन ही मन रोष करते हैं और सब कांटों को पथ से अलग करने की सोचते हैं। परन्तु तुरन्त अपने कर्तव्य का विचार आते ही शान्त हो जाते हैं और यह सोचते हैं कि गुरुजनों ने जो किया है वह उचित ही होगा। इस प्रकार लक्ष्मण अपने गुरुजनों का अपमान करने के अविनय से सहज ही मुक्त रहता है। दण्डकारण्य में भी चन्द्रनखा को अंगविहीन करने का उन्होंने कोई उपक्रम नहीं किया।

रावण स्वयं धार्मिक और व्रती पुरुष था। उसने नलकूबेर की रानी उपरम्भा के प्रेम प्रस्ताव का दुरुपयोग नहीं किया बल्कि उसको इस जघन्य कार्य से बचाया। सीता की सुन्दरता पर मोहित हो जाने के कारण रावण ने उसका हरण किया। परन्तु उसने सीता की इच्छाओं के विरुद्ध उस पर कभी बलात्कार करने की चेष्टा नहीं की। यहाँ तक कि जब मन्दोदरी स्वयं उसे परामर्श देती है कि सीता पर बल का प्रयोग क्यों न किया जाय तब सहज ही रावण के मुख से ये शब्द निकल पड़ते हैं—ऐसा कभी नहीं हो सकता क्योंकि मेरा यह व्रत है कि किसी भी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार नहीं करूँगा। इस घटना से सीता के कलंक की शंका का निश्चित रूप से निवारण भी हो गया है। एक बार ऐसा प्रसंग आता है कि सीता रावण से अपने पति राम और भाई भामण्डल को न मारने की प्रार्थना करती हुई मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। सीता का ऐसा अटल पतिप्रेम तथा वियोग में उसे यों दु:खी देख रावण अपनी भर्त्सना आप करता है कि मैंने मदनाभिभूत हो क्यों इस मिथुन को वियोग की अग्नि में झुलस डाला। सीता को राम के पास लौटाने का विचार आता है परन्तु यह सोचकर कि इस कार्य से लोग उसे कायर समझेंगे वह यह निश्चय करता है कि राम और लक्ष्मण को युद्ध में जीतकर परम वैभव के साथ सीता को लौटाऊँगा जिससे मेरी कीर्ति में धब्बा नहीं लग पावेगा तथा मेरा गौरव और भी बढ़ जावेगा। इस प्रकार रावण के चरित्र का महान् उत्कर्ष पउमचरियं में मिलता है।

बाली और सुग्रीव में राज्य या स्त्री के लिये कोई झगड़ा नहीं हुआ। बाली एक कुलीन और विनयशील राजा था। जब रावण ने उसको अपने अधीन करना चाहा तब वह अपने भाई सुग्रीव को राज्य सौंप स्वतंत्र रहने के लिए दीक्षित हो गया। इस तरह बाली का चरित्र भी समस्त लांछनों से मुक्त रहता है।

कैकेयी द्वारा भरत के लिए राज्य मांगना परिस्थिति जन्य है न कि ईर्ष्याजन्य। अन्तिम महारानी होने के कारण कैकेयी प्रथम दो महारानियों से वय में कम ही रही होगी। ऐसी अवस्था में पति और पुत्र दोनों का एक साथ वियोग उसके लिए असह्य हो जाना सहज संभव था। इसी मानसिक पीड़ा से बचने के लिये उसने भरत को गृहस्थ-जीवन में बाँध रखने का यह प्रयत्न किया। उसका हृदय वात्सल्य भाव से शून्य नहीं था। जब अपराजिता और सुमित्रा पुत्र वियोग में दु:खी होती हैं तब उसका करुणामय हृदय द्रवित हो जाता है। राम को लौटाने के लिये वह स्वयं वन में जाती है और राम से कहती है कि भरत को अभी बहुत कुछ सीखना है। राज्य तुम्हीं को करना है। नारी का स्वभाव चपल होता है। एकाएक मेरे से जो अप्रिय बन पड़ा है उसे मत सोचो क्षमा करो और अयोध्या चलो। वह अपने पुत्र भरत का वियोग सह सकने में अन्त तक अपने को असमर्थ पाती रही। भरत के प्रव्रजित (राम के लंका से लौटने के पश्चात्) हो जाने से वह सहसा मूर्छित हो जाती है। वह उस धेनु की तरह क्रन्दन करती है जिसका वत्स उससे पृथक हो गया हो। अन्ततोगत्वा दीक्षित होने में ही उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है।

सीता एक पतिव्रता है, अबला नारी नहीं। अग्नि परीक्षा के समय जिस साहस से वह राम को दुत्कारती है, वह उसके नारीत्व के ओज का परिचायक है। वह राम की भर्त्सना करती हुई कहती है—गर्भवती नारी! भयावह अटवी! और वहाँ उसे एकाकिनी छोड़ जाना! क्या यह निष्ठुरता की पराकाष्ठा नहीं है? यह तो दुष्ट तथा प्राकृत-जन का ही कार्य है।

अग्निपरीक्षा में सीता निष्कलंकिनी सिद्ध होती है। राम उसे अपनाने के लिए उत्सुकता दिखाते हुए अपने किये गए व्यवहार के लिए क्षमा याचना करते हैं।

अनेक दु:खों की कड़ी घूट पीने वाली सांसारिक जीवन के विषादमय आरोह-अवरोह का अनुभव करने वाली सीता

वह भोगमय जीवन की ओर पुनः क्योंकर आकृष्ट होती ! सहसा सीता अपने केशपाश खींचकर संयमारूढ़ हो जाती है। यह है एक नारी के सम्माननीय व गौरवमय जीवन का चरम परिपाक !

विमलसूरि एक सफल कथाकार —

विमलसूरि एक कुशल और सिद्धहस्त कथाकार के रूप में पाठकों के सामने आते हैं। उन्होंने कथा को घटनात्मक बनाकर उसे सरल प्रवाह के साथ अबाधित रूप से अग्रसर होने दिया है। कथा को गौण बनाकर काव्यात्मक वर्णन-शैली का भार इस पर नहीं थोपा गया है। अवान्तर कथाओं के बीच में आ जाने से मुख्यकथा की गति कुछ अवरुद्ध हो जाती है, परन्तु उन कथाओं में भी जो शिक्षा है उसका अपना स्वतन्त्र आकर्षण है। पूर्व-जन्म की ही ऐसी कुछ कथाएँ हैं जिनमें अनेक जन्मों का गणनात्मक विवरण पढ़ते-पढ़ते रुचि कुंठित हो जाती है। यह तो सदैव परम्परा से ही जैन कथाओं का मुख्य क्रम रहा है। परन्तु एक सफल कथाकार के रूप में उसकी अपनी मौलिकता छिप नहीं सकती। इस महाकाव्य में अनेक स्थलों पर कवि ने नयी-नयी घटनाओं और परिस्थितियों का आविष्कार कर मुख्य कथा में दिलचस्प मोड़ दिया है जिससे मुख्य कथा में छिछलापन नहीं आ सका है। कुछ परम्परागत कथाओं में यथोचित परिवर्तन के साथ उनको प्रसंगानुकूल बनाकर तथा कुछ नवीन कथाओं की सृष्टि कर कवि ने अपनी कुशलता का खासा परिचय दिया है।

पउमचरिय एक सरस कथात्मक काव्य —

जैन-साहित्य में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में पउमचरिय प्राकृत भाषा का प्रथम महाकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है जिस पर यत्रतत्र अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भाषा में प्रवाह, सरलता तथा सरसता है। युद्ध प्रसंगों तथा युद्ध के अवसरों पर इसमें ओज भी आ गया है। भाषा का रूप निखरा हुआ है। उपमा रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रर्याप्त प्रयोग हुआ है। कुछेक अन्य अलंकारों का भी प्रयोग पाया जाता है। सदाचार, ज्ञान और धर्म सम्बन्धी सूक्तियों की बहुतायत होने से कथानक प्रभावशील बन पड़ा है। वर्णन संक्षिप्त व सरस है जैसे दशरथ के कंचुकी की वृद्धावस्था सीता-हरण पर राम का क्रन्दन युद्ध के पूर्व राक्षस सैनिकों द्वारा अपनी प्रियतमाओं से विदा लेना लंका में वानर सेना का प्रवेश होने पर नागरिकों की घबराहट और भागदौड़ लक्ष्मण की मृत्यु से राम की उन्मत्तावस्था इत्यादि। माहिष्मती के राजा की नर्मदा में जलक्रीड़ा तथा कुलांगनाओं द्वारा गवाक्षों से रावण को देखने का वर्णन भी मनोहर है। समुद्र नदी पर्वत वन उपवन सूर्योदय सूर्यास्त युद्ध इत्यादि के भी यथास्थान संक्षिप्त वर्णन इसमें विद्यमान हैं। घटनाओं की प्रधानता में ऐसे वर्णनों को साधारण स्थान ही प्राप्त हुआ है। फिर भी कवि की अपनी वर्णनशैली की छाप सर्वत्र विद्यमान है।

सम्पूर्ण रचना गाथा नामक मात्रा छन्द में की गयी है। प्रत्येक उद्देश के अन्त में छन्द बदल गया है। उनमें मुख्यतः वर्ण छन्द हैं और कहीं पर मात्रा छन्द के ही भेद हैं। उद्देशों के मध्य में बहुत कम अवसरों पर वर्णछन्द का प्रयोग हुआ है। वर्ण छन्दों में वसंततिलका उपजाति मालिनी इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा रुचिरा शार्दूलविक्रीडित आदि उल्लेखनीय हैं।

पउमचरिय एक महाकाव्य :—

ऊपर हम कह चुके हैं कि कवि ने इस रचना को पुराण की भी संज्ञा दी है। परन्तु इसको पुराण कहना यहीं तक ही उचित है कि इसमें एक पौराणिक महापुरुष का चरित्र-चित्रण है क्योंकि पुराण की शैली से इसकी शैली भिन्न है। इसमें तो काव्यात्मक शैली का ही अनुसरण किया गया है। इस प्रकार इसे गौण रूप से पुराण तथा मुख्य रूप से एक महाकाव्य ही कहना चाहिये।

इस काव्य में घटनाओं की प्रधानता होने के कारण वर्णन लम्बे नहीं हैं, अपितु संक्षिप्त हैं। परन्तु उनमें भावों व रसों की व्यंजना उचित रूप में हुई है। आगमों की शैली में जो दुरूहता पुनरावृत्ति व शुष्कता है उसे यह रचना बिल्कुल मुक्त है। इस प्रकार विमलसूरि ने प्रथम बार प्राकृत-रचना में नवीनता लाकर काव्यात्मक शैली का पोषण किया है।

जिस तरह कथानक में अपनी मौलिकता का दिग्दर्शन कराया है उसी प्रकार विमलसूरि प्रथम कवि हैं जिनने प्राकृत भाषा में महाकाव्य रचने की परम्परा का बीजारोपण किया। भावात्मक व रसात्मक वर्णन की शैली अपना कर उन्होंने धार्मिक आगम-साहित्य की पुनरावृत्ति की शैली में संशोधन किया है और एक कवि की संज्ञा प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है। आगम साहित्य में जो दुरूहता है वह पउमचरिय में दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी शैली बहुत सुगम तथा अर्थव्यंजना बहुत मार्मिक

और स्पष्ट बन पड़ी है। इस काव्यात्मक शैली में अलंकरण का समावेश तो अवश्य है, परन्तु उत्तर-कालीन कवियों का आलंकारिक जंजाल नहीं है जहाँ वर्णन की कृत्रिमता में कथानक का लोप ही हो जाता है। इस रचना में यथार्थ रूप में कथानक कहीं भी शिथिल नहीं हो पाता तथा रस-भाव व्यंजना भी यथाप्रसंग बनी रहती है।

कवि ने अपने वर्णनों में देश नगर, समुद्र नदी अटवी ऋतु, शरीर-सौंदर्य व लोकव्यवहार के विभिन्न रसों का समावेश किया है। इन उदाहरणों से कवि के प्रकृति-प्रेम व मानवीय अनुभूतियों की समवेदना का अच्छा दिग्दर्शन होता है। कवि के वर्णन कौशल के कारण लौकिक सत्य कई सूक्तियों में प्रकट हो उठा है। निम्न पद्यों में मगध देश की समृद्धि वहाँ की विशेषताओं व लोगों की रुचि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

इह जम्बुद्दीवदीवे दक्खिणभरहे महन्तगुणकलिओ।
मगहा नाम जणवओ, नगरागरमण्डिओ रम्मो॥
गामपुरखेडकब्बड-मडम्बदोणीमुहेसु परिकिण्णो।
गोमहिसिवसभपुण्णो जणनिवहनिरुद्धसीमपहो॥
सव्वाहसेट्ठिगहवइ-कोडुम्बियपमुहसुयणपरिवहो।
मणिकणयरयणमोत्तिय बहुधणमहन्तकोट्ठारो॥
देसम्मि तम्मि लोगो विन्नाणवियक्खणो महासुरूवो।
कलविहवकन्ति जुत्तो बहुविहधम्मुज्जुयमईओ॥
गयवट्टणतल्लिच्छ-निच्चनच्चन्तगीयसद्दालो।
नाणाहाराहरणाहिय-मणुयाविन्भन्तपहियजणो॥
महियं बीयाइधन्न-थियारजो पवरकुसुमतिलओ।
बहुपाणखाणभोयण जणवयं वद्धिउच्छाहो॥
पुक्खरणीसु सरेसु य उज्जाणेसु य समन्तओ रम्मो।
परजणसमारिक्खयरूव-दुब्भिक्खविवज्जिओ मुइओ॥ (२ १–७)

समुद्र की छटा, तरंगों की उथल-पुथल जल-जन्तुओं का विचरण तथा उसके वैभव का शृंखलाबद्ध वर्णन देखिये।

भीमजलसमयरकच्छह-मच्छोग्गाहवियविलुलियावत्तं।
आवत्तविद्दुमाहय-विप्फुरियविरोहिय संजलं॥
सजलसिप्पिसंपुड-विहुडियमोत्तिय चञ्चियतरङ्ग।
सतरङ्गमाहयाहय-सरियामुहभरियकूलयलं॥
कल्लोलहयसारस-कलमयमयरबहियच्छियक्खमग्गं।
उक्खमग्गरयण बहुविय-किरणुज्जोवियपुरग्गयरं॥
पयरन्तविसयमोत्तिय धवलियपवणफेणपुञ्जपुञ्जइयं।
पुञ्जइयविम्भयपवण-कुसुमसमाहयाविज्जन्तं॥
विज्जन्तय व देहं, महल्लमहल्लमन्ववीइसंघट्ट।
संघट्टजालउव्विय सव्वत्तो गुलगुलायन्तं॥

इसी प्रकार नर्मदा व गंगानदी के वर्णन तथा भयावह सिंहनिनाद अटवी और जंगलीपशुओं से आतंकित चित्रकूट पर्वत के वर्णन ध्यान देने योग्य हैं।

वर्षा ऋतु के वर्णन में बादलों की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक भूमि में पड़ी दरारों का दृश्य तथा वियोगी पथिकों की अवरुद्ध गति और प्रियमिलन के लिए उनकी छटपटाहट का सुन्दर वर्णन स्वभाव और उपमा सहित देखिये।

घणपवणतिमिरनिसाहे गंगातीरट्ठियस्स रमणिज्जे।
गज्जन्तमेहमुहलो पत्तो पाउसो कालो॥
घणपवणायायपमाद विज्जुलया चञ्चलचञ्चलच्छा य।

इन्दाउह कयभूसा-सरत्तनवघणविज्जुसोहा ॥
अञ्जनगिरिसच्छाया नवहत्थी पाउसं व सुरवइणा ।
संपेसिया पभूया रक्खससनाहस्स अइगुरुया ॥
अन्धारियं समत्थं गयणं रविकरपणट्ठगहचक्कं ।
तडयडसमुट्ठियरवं धारासरभिन्नभुवणयलं ॥
धारासरभिन्नो कन्ता सरिऊण मुच्छिओ पहिओ ।
पुणरवि आससिओ च्चिय सीए सुहसंगमासाए ॥
सुट्ठु वि उक्कण्ठुलया पहिया जलफलिहरुद्धपयमग्गा ।
कन्तासमागममणा पंथावहिया विसूरेन्ति ॥

शरद् ऋतु की स्वच्छता मनमोहकता सुन्दरता तथा मुक्त वातावरण का रूपकमय वर्णन देखिये ।

ववगयघणसेवालं ससिहंसं धवलतारयाकुसुमं ।
सोमस्स कुणइ पीई, नहसलिलं पेच्छिउं सरए ॥
चक्कायहंससारस-अणोमरसन्तकयसमालावा ।
निप्फन्नसव्वसस्सा अहियं चिय रेहए वसुहा ॥

सीता की शारीरिक सुन्दरता का उपमा रूपक और व्यतिरेकमय वर्णन कितना सरस है ।

वरकमलपत्तनयणा कोमुइरयणियरसरिसमुहसोहा ।
कुन्दसमसरिसदसणा दाडिमफलाहरच्छाया ॥
कोमलबाहालइया रत्तासोउज्जलामकरजुयला ।
करयलसुमेज्झमज्झा, विच्छिण्णनियम्बकरभोरू ॥
रत्तुप्पलसमचलणा कोमुइससियरकिरणसंघाया ।
सोहासिउ व मज्झइ, रमणियरं चेव कन्तीए ॥ (२८,११-१ २)

राघव जब रण पर विजयी होकर लंका को लौटता है तब उसके दर्शन के लिए अपने-अपने प्रासादों के गवाक्षों की ओर भागने में उनके उत्साह, हड़बड़ाहट तथा स्फूर्ति का कैसा स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन है :—

नायरवहूहि सिग्घं वहमुहदरिसणमणाहि अइरेयं ।
ससारिउं गवक्खा रुद्धा चिय वयणकमलेहिं ॥
अन्ना अन्नं पेल्लइ, करेण मा ठाहि मज्झओ तुरियं ।
ताए वि सा भणिज्जइ, किं मज्झ न कोउयं बहिणे ॥
मा अवहरेसु पेच्छसु, वहमुहदरिसणमणासि अइचवले ।
तीए वि य भणिया सा मा रुम्भ गवक्खयं एयं ॥
भणइ सही अमिलक्ख अवसारसु मज्झ नयणमग्गाओ ।
तीए वि य भणिया सा न य पेच्छसि अन्तरं विउलं ॥
नायरवहूहि एवं बलागमं तत्थ पेच्छमाणीहिं ।
हल्लोलमुहलसद्दा भवणगवक्खा कया सव्वे ॥

जब वानर सैनिक लंका में प्रवेश करते हैं, तब वहाँ के लोग भयग्रस्त होकर इधर-उधर भागते हैं । स्त्रियाँ अपने स्वजनों को शत्रु से बचाने के लिए अपने-अपने घरों में ऊँची आवाज से बुलाती हैं । उनकी घबराहट और शून्यता का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है । कुलाङ्गनाएँ भय से ऐसी त्रस्त हैं कि उनको अपने वस्त्रों व अलंकरणों की भी सुध बुध नहीं रह जाती —

सोऊण दुन्दुभिरवं ताण पविट्ठाण जणवओ खुभिओ ।
किं किं ति उल्लवन्तो भयविहलविसंठुलो जाओ ॥
अपरा पययवई हा ताय महाभय समुप्पन्न ।

पविसपु घरं कुरन्तो मा एत्थ तुमं विणासिहिसि ॥
हा मइ परित्तायह, माउय मा बाह कुह नियत्तेहि ।
अवि थाह किं पेच्छह परबलविलासियं नयरं ॥
× × ×
काएत्थ पच्छिमरयणा मउहुया कुडियमेहलकलावा ।
हत्थावलम्बिय करा, अन्ना पुण वच्चइ तुरन्ती ॥
× × ×
अन्नाएं पवइ हारो अन्नाएं कणयकुण्डलाहरणं ।
अन्नाएं उत्तरिज्जं विवडियवडियं न विन्नायं ॥ (१७१९–२ २२,२५)

पाप और पुण्य के मध्य लोगों की अवस्थाओं में अन्तर हो जाता है। एक तो वे दुःखी प्राणी हैं जिन्हें भरपेट खाने को नहीं मिलता ओढ़ने को वस्त्र नहीं मिलता और रहने को उचित स्थान नहीं मिलता। दूसरी ओर वे धनाढ्य लोग हैं जो सुख की नींद सोते हैं, रसीले आहारपान करते हैं तथा भोगों व ऐश्वर्य के बीच में ही जिनका पूरा जीवन बीतता है। हेमन्त ऋतु में जीवन के ऐसे ही दो विपरीत पहलुओं का वर्णन देखिये।

आकुंचियकरसीसा पुरिसा सीएण कुडियसव्वंगा।
सुमरन्ति अग्गिनिवहं वीया वि अमल्लपाउरणा।
आवडिय वसणखीणा दारिद्दसमभिभूया अमेत्ति कालं अकयपुण्णा ॥
पासायतलत्था वि य अन्ने पुण जीवलोयवरमेवं।
वरकत्थपाउयङ्गा कालागरुधूववासियसुयन्धा।
भुंजन्ति सया रसियं आहारं कणयभायणनिविट्ठं।
कुंकुमकयङ्गरागा जुवईयणसंगया सुकयपुण्णा ॥

इसी प्रकार स्वयंवर, मन्दिर, पूजामहोत्सव व सैनिकों के प्रस्थान के वर्णन उद्धृत किये जा सकते हैं।

वस्तु वर्णन व भावाभिव्यक्ति में जो सरसता और स्वाभाविकता है वैसी ही रसाभिव्यक्ति में भी। शृंगार, वीर और करुण रसों की अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर हुई है। गौण रूप से उपयुक्त स्थानों पर भयानक रौद्र बीभत्स अद्भुत व हास्य रस के भी उदाहरण मिलते हैं।

शृंगार रस —

माहेस्सर के राजा का अपनी स्त्रियों के साथ नर्मदा नदी में जलक्रीडा का वर्णन कीजिये —

विविहजलजन्तुविरइय-निरुद्धजलमरियभूरिनीराए।
सोहन्ती रमणीओ सहस्सकिरणस्स महिलाओ ॥
एक्का तत्थ वरतणू घणकुसुमं अंसुएण छायन्ती।
अवहरियउत्तरिज्जा सहसत्ति जले गया निबुड्डा।
ईसावसेण कुविया उदयं घेत्तूण कोमलकरेसु।
कन्तस्स हरिसियमणा पहरइ वच्छत्थलाभोए ॥
इन्दीवरदलनयणा घेत्तुं इन्दीवरं हणइ अन्ना।
अन्नाएं सा वि तुरियं आहम्मइ सहस्सवत्तेहि।
अन्ना दट्ठूण जले, महग्घय वालचम्मसंठाणं।
अवहरियउत्तरिज्जा छायइ थणं करयलेणं ॥
काएत्थ पणयकुविया मोत्तं परिणिग्गिहरूय वरजुवई।
तीए पुण उवणीया दइएण सिरप्पणामेणं ॥

प्रियाओं की काम-भावना, ईर्ष्या, कोप द्वारा प्रकट मनमुटाव और प्रिय के अनुनय-विनय का कैसा सुन्दर चित्रण है

करुण रस —

दशरथ के कंचुकी द्वारा अपनी वृद्धावस्था का वर्णन एक मार्मिक दृश्य उपस्थित करता है। इसी हृदयस्पर्शी वर्णन से दशरथ का कारुण्य जाग उठता है। उन्हें सांसारिक वस्तुओं में अनित्यता के दर्शन होते हैं और वे स्वयं दीक्षा लेने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इस वर्णन में कंचुकी अपने सभी अंगों की निर्बलता का उपयुक्त उपमाओं सहित करुणाजनक चित्र उपस्थित करता है।

एवं जराए अंगं मज्झ कयं विसयसंगउच्छाहं।
तुरन्तस्स वि भणियं न वहइ परिसुम्भमाणं च॥
जे आसि मज्झ नयणा पढमं वियारदिट्ठिया।
ते वि य न दीहपेही संपइ जाया कुमित्त व्व॥
कण्णा वि पढमवयणं निसुणन्ता सम्मणं पि उल्लावं।
ते सुमहयं पि सद्दं न सुणन्ति पहू कुपुत्त व्व॥
जे वि महं आसि पुरा दन्ता वरकुन्दकुसुमसंकासा।
ते वि जरवइडज्झया पडिया अरय व दुम्माओ॥
× × ×
तुरन्तस्स य अंगं कम्पइ बहुला हवन्ति नीसासा।
कासो य समुप्पज्जइ, मई वि मन्दं समुव्वहइ॥ २९ २१-२४ २९।

युद्धस्थल पर तूर्य-निनाद, वीर सैनिकों का कोलाहल क्रोध और जोश में स्फूर्ति के साथ शस्त्र संचालन का वर्णन देखिये —

बहुतूरनिणाएणं भडाण वुक्काररविड्डमरवेणं।
न सुणेइ एक्कमेक्को, उल्लावं कण्णपडियं पि॥
खोहं वि बलाण पत्तो, आकम्पो सायरे महागुम्मे।
संखुभियवसुमईए, गिरी वि आकम्पिया सहसा॥
उब्भओ सगयजसो, पवाइओ मारुओ बहलरेणू॥
विवरीयं सरियाओ वहन्ति समराणुभावेणं॥
उभयबलेसु भरभडा भीमरसरासरभिडिमाकाइं।
मुयन्ति आउहाइं, उक्काइं य पज्जलन्ताइं॥
सभडा रणसूरा, पहणन्ति गयासिचक्कपहरेहिं।
निमयकुलं सावेन्ता असीमसकुज्ज्ममणमईया॥
आरूढा रणसियरा चक्ककपहरोवमेसु जाएसु।
तह जुज्झिउ पवरा जह कालेणं समोसरिय॥
अन्ने समुट्ठिया पुण जायरसुहडा असम्मारणपसरा।
जुज्झन्ति सबलहुत्ता रणरससेणं विवाएन्ता॥ ५७ २५-३१॥

युद्ध के समय वीर सैनिकों की गतिविधियों का कैसा स्वाभाविक दृश्य है। आपस में मारपीट करने की रोषपूर्ण आवाज तथा उनका उत्साह देखिये :—

हण छिन्द भिन्द निक्खिव उत्तिट्ठुत्तिट्ठ लहु पडिच्छाहि
पप्फोड ताड मारय सद्दपउम्मत्त विहणन्ति॥ (९१ ३१)

पक्ष-प्रतिपक्ष की गर्वीली और जोशपूर्ण स्पर्द्धा—

मा भाहि कायर तुमं वीरं न हणामि जं च परम्मुहं।
तेण वि सो पडिभणिओ अज्ज तुमं चेव भट्ठो सि॥ ९१ ३४॥

वस्त्र शिथिल हो जाने पर एक लड़ता हुआ सैनिक किस प्रकार अपनी पोशाक को स्फूर्ति के साथ संभालता है —

कोइ भडो सन्नाहं सहसा विच्छिन्नबन्धणं दट्ठूं।
संधेइ साहु पुरिसो जह नेहं विहडियं सन्तं॥

है जिससे अर्थ समझने में दुरूहता तथा काव्य के शैली में कृत्रिमता का आभास नहीं होता । उपरोक्त वर्णनों में यथास्थान जो अलंकार प्रयुक्त हुए हैं उनका निर्देश कर चुके हैं । अब कुछ अन्य उदाहरण देखिये —

जीवन की नश्वरता का जल के बुलबुलों की चपलता बिजली की चंचलता स्वप्न की क्षणभंगुरता तथा इन्द्रधनुष के क्षणिक वैभव के साथ तुलना करके एक कठोर सत्य को मार्मिक बना दिया गया है ।

जलबुब्बुओवमं चवलं विज्जुलया चंचलं हवइ जीयं जीयं च सुविणपरितुल्लं

इन्दधणुसुमिणसरिसे विज्जुलयाचवलचंचले जीये ।

जिह्वा वही सुन्दर है जो धर्मानुसार भाषण करती है, अन्यथा वह एक तेज छुरी के समान है ।

जा जंपइ समय-रसं सा जीहा सुन्दरा हवइ लोए ।

दुव्वयणतिक्खधारा सेसा छुरिय व्व नवघडिया । १२५ ॥

अपने पति का चिर वियोग हो गया है, एकमात्र पुत्र ही जिसका सहारा है, वह भी यदि संसार को त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ले तो नारी का मातृहृदय तड़प उठता है । उसकी वही दशा होती है जो एक वत्स रहित धेनु की ।

धेणू व्व वच्छरहिया कुणइ पलावं पयत्तिमंसु ॥ ८१ ९ ॥

श्रमण साधुओं के गुणों का वर्णन करने में उपमाओं की झड़ी देखिए ।

धरणी विव सव्वसहा पवणो इव सव्वसंग परिमुक्का ।

गयणं व निम्मलमणा गम्भीरा सायरं चेव ॥

सोमा निसायरं पिव तेएण दिवायरं व दिप्पन्ता ।

मेरु व्व धीरगरुया विहगा इव संग परिहीणा ॥१४ ७९—८ ॥

रूपक :—

संसार को विभिन्न प्रकार से एक महासमुद्र एक अटवी और एक भील का रूपक दिया गया है ।

दुक्खसलिलावगाढे कसायगाहुक्कडे भयावत्ते ।

जम्मदोगाहविच्छीए, जरमरणकिलेसकल्लोले ॥१ ९—४१ ॥

और

आवाधिवाहुएणं विविहतविन्धमहन्तअकिएणं ।

नाणामलेण राहव तुमए जम्माडवी दड्ढा ॥ ११७—१७ ॥

वसन्त ऋतु के फले फूले वन का सिंह के अंगों के साथ रूपकमय वर्णन देखिये —

अंकोल्लतिक्खनयणो, मल्लियनयणो असोयदलजीहो । कुरवयकराअवसणो सहयारसुकेसराडम्बिओ ॥

कुसुमरयपिंजरंगो अइमुत्तलयासमसियकरग्गो । पत्तो वसन्तसीहो गयवइयाणं भयं देन्तो ॥९२ ७—८॥

उत्प्रेक्षा —

सूर्य अपनी स्वाभाविक गति से अस्त हो रहा है परन्तु कवि उत्प्रेक्षा करता है कि वह उपसर्ग के डर से भाग रहा है ।

ताव च्चिय अत्थाओ मइलन्तो अम्बरं दियसनाहो ।

उवसग्गस्स व भीओ किरणवसेणं सम नट्ठो ॥ १९ २१ ॥

सन्ध्याकालीन अन्धकार सभी दिशाओं में कालिमा फैला देता है । परन्तु कवि कल्पना करता है कि यह तो दुर्जन स्वभाव है, जो सज्जनों के उज्ज्वल चरित्र पर कालिख पोतता है ।

उच्छरइ तमो गयणं मइलन्तो दिसिवहे कसिणवण्णो ।

सज्जणचरिउज्जोयं नज्जइ ता दुज्जण सहावो ॥२—१ ॥

भ्रान्तिमान —

नदी में राम और सीता जलक्रीड़ा में मग्न हैं । उस समय भौंरे सीता के मुख को कमल समझकर उस पर झपटते हैं ।

जह ते तत्थ महुयरा रामेण समाहया परिममेत्तं ।
सीमाएँ बयलकमले निलन्ति पउमाहिसंकाए ॥४२ २१॥

मुद्रालंकार—प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद में इस अलंकार का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार एक विशद अर्थव्यंजनात्मक रूप से कवि ने अपने नाम का निर्देश किया है।

अहो नराणं तु समत्थलोए, अवट्ठियाणं पि हु मच्चुमग्गो ।
समज्जियं जं विमलं तु कम्मं करेइ ताणं सरणं च विण्णं ॥६३ ७२॥

सूक्तियों में कवि ने व्यवहार, बुद्धि सदाचार, नीति व धर्म सम्बन्धी कहावतों का प्रयोग कर कथानक को प्रभावशाली बनाया है।

मेहेण विणा वुट्ठी न होइ न य बीयवज्जियं सस्सं ।
तह धम्मेण विरहियं न य सोक्खं होइ जीवाणं ॥४ २६॥
जह एक्कम्मि तरुवरे बसिऊणं पक्खिणो पभायम्मि
वच्चन्ति दस दिसाओ एक्क कुटुम्बम्मि तह जीवा ॥५ १८४॥

इस प्रकार उदाहरण अलंकार द्वारा जीवन के अनुभवों का हृदयस्पर्शी प्रकटीकरण हुआ है।

थेवो थेवो वि बरं कायव्वो नाणसंगहो निययं ।
सरियाउ किं न पेच्छह, विगूहि समुद्दमूयाओ ॥१४-१२४॥

धार्मिक उपदेश के समय दृष्टान्त और निदर्शना के समुचित उपयोग का एक नमूना देखिये —

लद्धूण माणुसत्तं जस्स न धम्मे सया हवइ चित्तं ।
तस्स फिर करयलत्थं अमयं नट्ठं चिय नरस्स ॥२ ८ ॥

अर्थान्तरन्यास का उदाहरण देखिये। सुग्रीव राम की शरण में जाने से पहले सोचता है :—

वच्चामि तस्स सरणं सो वि हु सन्तोसओ होउ ।
तुल्लावत्थाण जए होइ सिणेहो नराण नियम पि ॥४७ ५॥

अलंकार रहित सूक्तियों का भी काफी प्रयोग है। हनुमान् रावण को सचेत करता हुआ कहता है —

पत्ते विणासकाले नासइ बुद्धि नराण निक्खुत्तं ॥५३ ११८॥

मन्दोदरी रावण को समझाती हुई कहती है कि —

किं विज्जयरस्स दीवो दिज्जइ वि हु मग्गमट्ठाए ॥७० २७॥

उच्च व वैभवशाली कुल में जन्म लेने पर भी महिला को परगृह में जाना ही पड़ता है। वह सदा अपने पितृगृह में नहीं रह सकती —

परगेहं सेवन्ति चिय एस सहावो महिलियाण ॥६ २२॥

एक रानी अपने पति का आचरण सुधारने के लिये परामर्श देती हुई कहती है कि जैसा राजा होगा वैसी ही प्रजा होगी।

जारिसवम्मायारो हवइ नरिन्दो इहं वसुमईए ।
तारिस निओय निरओ अहियं चिय होइ सव्वजणो ॥९३ २८॥

कवि कहता है कि दुःख आपत्ति व व्याधि के समय में कोई किसी का साथ नहीं देता है। यह तो अपना ही सुकर्म है जो काम आता है।

न पिया न चेव माया न भाया नय अन्धतवरा ।
दुक्खम्मि परित्ताणं जीवस्स उ धम्मरहियस्स ॥१ ६ ११॥

छन्द प्रयोग —

पउमचरिय में गाथा नामक मात्रिक छन्द का मुख्य रूप से प्रयोग हुआ है। तत्कालीन कवि अपनी रचनाओं को सभा में साधारण जनों के समक्ष पढ़कर सुनाया करते थे। इसलिये सुविधा सरलता व सुरीलेपन के कारण गाथा-छन्द का ही

प्रयोग करना अच्छा समझा जाता था। पउमचरिय के प्रथम सर्ग से यह स्पष्ट है कि कवि अपनी रचनाको परिषद में श्रोतागणों के समक्ष पढ़कर सुना रहा है।

एत्थ चिय परिसाए, नराण चित्ताइ बहुवियप्पाई ॥ १ १४ ॥

— — — — — रइय गाहाहि पायडफुडत्थ। विमलेण पउमचरियं सखवेण निसामेह ॥१ ३१॥

सम्पूर्ण रचना गाथा छन्द में निबद्ध है। परन्तु प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद में छन्द बदल गया है। उन अन्तिम पदो में मुख्यतः वर्णछन्दों का प्रयोग है और अन्य स्थलों पर गाथा छन्द के ही भद प्रभेद हैं। सर्गों के मध्य में भी यत्रतत्र वर्णछन्दों का प्रयोग हुआ है। वर्णछन्दों में वसंततिलका उपजाति मालिनी इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा रुचिरा शार्दूलविक्रीडित आदि उल्लेखनीय हैं।

आठ वर्णों के प्रमाणिका नामक वर्ण-छन्द का उपयुक्त प्रयोग किया गया है। हनुमान और इन्द्रजित् के सैनिकों के बीच युद्ध का दृश्य है। प्रतीत होता है कि युद्ध संगीत के ताल और लय के साथ सैनिकों के पैर भी उठ रहे हैं तथा वही ताल और लय इसको स्फूर्त के लिए प्रेरित करता हुआ जोश दिला रहा है।

सचामिकज्जउज्जया पयगवायदारिया। विमुक्कजीयबन्धणा पडन्ति तो महाभडा ॥

सहावतिक्खमक्खया असन्तचारुचामरा पवणमाउहाहया लय गया तुरंगमा ॥

पवंगमिद्दमत्थया सुअन्तदित्तमोत्तिमा। पणट्ठदाणबुद्धिणा पडन्ति मत्तकुंजरा ॥

विचित्तहेममिम्मिया विभिट्ठकवचट्ठया। पवमवायचुण्णिया लय गया महारहा ॥५१ ११ ११३॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पउमचरिय प्राकृत भाषा का प्रथम महाकाव्य है जिसमें रस भावात्मक वर्णनों व अलंकारो की योजना बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। यह उत्तरकालीन कवियो की कृत्रिमता से बिलकुल परे है और इसीलिए एक साधारण व अल्पशिक्षित पाठक के लिए भी सुपाठ्य व सुबोध बन सका है।

पुष्पदन्त की रामकथा

(ले०—डा देवेन्द्र कुमार)

(१) पुष्पदंत—अपभ्रंश के बहुत बड़े कवि थ । ९वी और १० वी सदी के मिलन-बिन्दु पर उनका जन्म हुआ। अपभ्रंश ही नहीं समूचे भारतीय साहित्य में पुष्पदंत का कुछ निराला ही स्थान है । यह निरालापन उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनो में है। वह पंडित होकर भी फक्कड़ थे । उनके व्यक्तित्व में जहाँ स्वाभिमान की उग्र ज्वाला थी वहाँ भावुक नम्रता की शीतलधारा भी । उनकी कठोरता भावुकता को बचाने का ही एक आवरण थी । पूरे बारह वर्ष तक वह जमकर साहित्य साधना में लगे रहे । आवश्यकताओ के घटराग से परे और समय की छाया से दूर । उन्होंने जो कुछ लिखा वह युग और परंपरा के अनुरोध पर ही फिर भी उसमें मौलिक सजीवता है । वह सजीवता जो समय की चुनौती ही नही स्वीकार करती वरन् उसपर खेलती है ।

(२) उनके समूचे साहित्य में 'रामकथा' विशेष स्थान रखती है। कथा की भिन्नता लेखक का दृष्टिकोण और सामयिकता के मिश्रण से यह कथा राम के बारे में नवीन तथ्य प्रस्तुत करती है । यह सच है कि पुष्पदंत की रामकथा एकदम उनकी अपनी नहीं है । फिर भी उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ है, और यह बात सभी प्राचीन भारतीय लेखकों के बारे में सच है । इसका मुख्य कारण यह है कि राम कवि के युग में यथार्थ की अपेक्षा श्रद्धा के विषय बन चुके थे । उनसे प्रेरणा लेने के बजाय उन्हें श्रद्धा के फूल चढ़ाना भारतीय साहित्यकार का युगधर्म बन गया था । राम रोम रोम में रमे हुए हैं या नहीं इसमें संदेह किया जा सकता है पर भारतीय काव्य में राम रमे हुए हैं—यह संदेह से परे है । और इसलिये—हर नए युग में राम का काव्यात्मक स्वरूप बदला । इतिहास राम के बाद का है और पौराणिक मान्यताओं के आधार पर राम के शुद्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्व की स्थापना करना खतरे का काम है । फिर भी राम के बारे में कई दृष्टिकोण हैं । दर्शन उन्हें परमतत्त्व मानता है । धर्म उन्हें भगवान् के रूप में पूजता है । पुराण में वह अवतार है और साहित्य में आदर्श । जब हम काव्य कृतियों में अंकित उनके चरित्र को देखते हैं तो लगता है कि राम व्यक्ति नहीं प्रतीक हैं । ऐसा प्रतीक जिसे कल्पना मनचाहा तराशती रही और युगभावना उसे अपनी तबियत का आकार देती रही । फिर भी एक बात हरेक युग के लिये सच है, और वह यह कि राम युग चेतना की अभिव्यक्ति के समर्थ और लोकप्रिय माध्यम रहे हैं । लिहाजा पुष्पदंत के राम भी ऐसे ही परंपरा के राम हैं ।

(३) उनकी चरित्र रेखाएँ वही पुरानी की पुरानी । जीवन भी एकदम रूढ़ । फिर भी पुष्पदंत की रामकथा में कुछ ऐसी बातें हैं जो हिन्दू रामकथा से ही नही दूसरी जैन रामकथाओ से भी भिन्न हैं । इस भिन्नता का मूल बिन्दु यह है कि पुष्पदंत के अनुसार राम और सीता का वियोग उनके पूर्व जन्म के पाप का परिणाम था इसके लिये रावण को ही दोषी ठहराना ठीक नहीं वह एक निमित्त था । कवि यहाँ यह बताना चाहता है मनुष्य को वर्तमान परिस्थिति के लिये दूसरे ही नही वरन् उसके स्वयं के काम भी उत्तरदायी होते हैं । इसलिये उसने विस्तार के साथ राम-लक्ष्मण के पूर्व जन्मों की पीढ़ियों का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पूर्व जन्म में राम और लक्ष्मण राजा प्रजापति और उसके मंत्री के पुत्र थे। उनके नाम थे चन्द्रचूल और विजय। एक बार उन्होंने नगर सेठ श्रीदत्त की पत्नी कुबेरदत्ता का अपहरण किया । इस पर राजा ने उन्हें जंगल में ले जाकर मार डालने की आज्ञा दी । मंत्रियो ने मारने की अपेक्षा जैन साधुओ को उन्हें सौंप दिया । दोनों ने दीक्षा लेकर तप किया । अगले जन्म में वे राजा दशरथ के यहाँ राम और लक्ष्मण के नाम से उत्पन्न हुए इस प्रकार राम का सीता वियोग उनके पूर्व जन्म की घटना की प्रतिक्रिया थी । पुष्पदंत की रामकथा में दशरथ के तीन ही बेटे हैं। राम लक्ष्मण और शत्रुघ्न। रामकी माँ का नाम कौशल्या न होकर 'सुबला' था और लक्ष्मण की माँ कैकेयी थी उनकी रामकथा में भरत का अस्तित्व ही नही । इसलिये भरत से संबंधित प्रसंगो का इसमें अभाव है । कवि ने राम के बचपन का बहुत ही चलता परिचय दिया है । उसके आधार पर इतना ही कह सकते हैं कि राम का बचपन राजकुमारों की तरह बीता । राम के पिता के बारे में यह संकेत महत्त्वपूर्ण है कि पहले वह हिंसामूलक यज्ञ संस्कृति में गहरी आस्था रखते थ । बाद में वह उसके विरोधी बन गये । घटनाक्रम से

इस परिवर्तन का कारण खोजना कठिन नहीं । पुष्पदंत नीतिवादी धार्मिक लेखक थे । धर्मफल प्रधान अहिंसक संस्कृति में उनकी गहरी आस्था थी । उनकी यह आस्था रामकथा के विस्तारक्रम में पग-पग पर देखी जा सकती है ।

(४) उनकी रामकथा का दूसरा महत्त्वपूर्ण मोड़ है राम का यज्ञ की रक्षा के लिए जाना । समूची रामकथा के महत्त्वपूर्ण प्रसंग दो ही हैं । एक यह और दूसरा राम का वनवास । एक में राम का सीता से विवाह हुआ और दूसरे में उनका वियोग । दोनों ही यात्राओं ने राम के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया । राम यज्ञ की रक्षा के लिए जाते हैं । पर वशिष्ठ के अनुरोध पर नहीं प्रत्युत् राजा जनक के निमंत्रण पर । पुष्पदंत के अनुसार जनक भी यज्ञवादी थे ब्रह्मवादी नहीं । वहाँ पहुँच कर राम ने रक्षा करने के बजाय हिंसामूलक यज्ञ का शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध किया । उन्होंने जो तर्क दिये—उनसे लोगों की यज्ञ से आस्था उठ गई और खुद जनक ने अपनी बेटी राम को ब्याह दी । सीता के साथ राम ठाटबाट से अयोध्या लौट आए । नगर प्रवेश के पहले उन्होंने जिन भगवान् की पूजा-वन्दना की । राम राजा के पुत्र थे इसलिये युद्ध की उत्सुकता उनके मन में होना स्वाभाविक बात थी । उन्होंने पिता से काशी पर चढ़ाई करने की आज्ञा माँगी । राम विस्तारवादी तो नहीं थे पर अपने पूर्वजों की धरती खोना उनके स्वाभिमान को स्वीकार नहीं था । काशी पहले अयोध्या के अधीन थी पर बाद में स्वाधीन हो गई । पिता की अनुमति पाकर राम दल-बल काशी पहुँचे पर युद्ध की नौबत नहीं आई । काशी वालों ने उनकी अधीनता मान ली । चमचमाती ध्वजाओं और मंगलमय तोरणों के बीच काशी के नागरिकों ने उनका भव्य स्वागत किया । कामदेव को भी मात देने वाले राम के सौन्दर्य को देखकर काशी की वनिताओं का बुरा हाल था । राम ने कुछ समय अपने नये राज्य में ही रहने का निश्चय किया । इसी बीच जनमन में तूफान मचाता हुआ वसंत आ पहुँचा ।

(५) राम अन्तःपुर के साथ वसन्त की क्रीडा-बहार लूटने चल पड़े । ठीक इसी समय नारद ने जाकर रावण से सीता के सौन्दर्य का बखान किया । रावण सीता पर आसक्त हो गया । नारद ने यह जानबूझ कर किया । सीता रावण की बेटी थी । पर ज्योतिषियों के अनुसार वह रावण की मृत्यु का कारण बनती । इसलिए उसने उसे जन्मते ही फिंकवा दिया । पर विधि का विधान देखिये । पिता पुत्री पर आसक्त था । विभीषण और मारीच ने उसे बहुतेरा समझाया पर व्यर्थ । नारद का यह प्रसंग भी पुष्पदंत की रामकथा को दूसरी रामकथाओं से भिन्न करता है । जिस प्रकार राम का पत्नी-वियोग पूर्व के कर्म का फल था उसी प्रकार रावण की आसक्ति भी उसके पूर्व संस्कार का फल था । स्वर्ग का प्रलोभन नरक का भय यश का आकर्षण और नीति के उपदेश रावण का हृदय बदलने में असमर्थ रहे । सीता के बिना उसे जीवन और राज्य सूना-सूना लग रहा था । उसने अपनी बहन चन्द्रमुखी (दूसरी कथाओं की सूर्पनखा) को सीता को फुसलाने भेजा । जब कोई अपनी बेटी पर ही रीझ जाय तो बहन से सहायता लेने में उसे क्या बुराई हो सकती है ? चन्द्रमुखी ने चित्रकूट के क्रीडावन में जब सीता को देखा तो देखती रह गई । उसे अपना यौवन फीका लगा । इसीलिये शायद वह बुढ़िया का रूप बना सीता के पास पहुँची । सीता का मन टटोलने के लिये उसने दूर की बात चली । सीता के रूप और सौन्दर्य की प्रशंसा कर, स्वयं तपकर अगले जन्म में वैसा ही रूप सौन्दर्य की कामना की । इस पर सीता ने उसे फटकारा कि पति कैसा भी हो स्त्री को उसी में सन्तोष करना चाहिए । साधना का लक्ष्य मोक्ष होना चाहिए न कि रूप और सौन्दर्य । चन्द्रमुखी ने ताड़ लिया कि रूप और सौन्दर्य जैसी भौतिक बातों की अपेक्षा सीता आत्मा में विश्वास करती है, इसलिए उसे डिगाना कठिन है । उसने जाकर रावण से साफ कह दिया कि सीता देवी का डिगाना कठिन है । रावण खिन्न हो उठा और सीता के अपहरण के लिए विमान में बैठकर चल पड़ा । चित्रकूट में पहुँचकर उसने देखा कि प्रकृति की रमणीयता ने रमणी के सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये हैं । रावण के मामा मारीच ने सोने के मृग का रूप धारण कर राम को भरमाया और रावण सीता को लेकर चलता बना । इधर राम सीता के वियोग में दुखी थे और उधर सीता रावण की निठुरता से आतंकित । राम उनकी खोज में लगे रहे, पर कुछ पता नहीं चला । अभी अयोध्या में दशरथ जीवित थे । उन्होंने स्वप्न के आधार पर बताया कि सीता को रावण हर ले गया है । शत्रुघ्न भी राम की सहायता के लिए आ गए । सुग्रीव और हनुमान भी उनके सहयोगी बन गए । राम ने भी सुग्रीव को उसके भाई बालि के राज्य दिलवाने का वचन दिया । हनुमान सीता की खबर लेने लंका गया और भ्रमर का रूप धारण कर उसने सीता से भेंट की । उसे ढाढ़स बँधाया । जब वह राम के पास वापस आया तो उन्होंने उसे गले लगा लिया । उधर जब मंदोदरी को मालूम हुआ कि सीता उसकी ही लड़की है, तो उसने रावण को बहुत समझाया पर व्यर्थ ।

(६) राम युद्ध की अपेक्षा शांति के पक्ष में थे । तलवार से अधिक महत्त्व वह बातचीत को देते थे । इसलिये लक्ष्मण

के विरोध के बावजूद भी राम ने हनुमान को एक सेनापति की हैसियत से दूत बनाकर भेजा। हनुमान और रावण में वार्ता हो ही रही थी कि दूसरे योद्धाओं ने उसका अपमान कर दिया। हनुमान आगबबूला हो गया। वह चुनौती देकर आ गया। अब युद्ध के बिना चारा नहीं था। राम ने कूच कर दिया। बीच में उन्होंने विद्याएँ सिद्ध की। दोनों दलों में जमकर लड़ाई हुई, और रावण लक्ष्मण के हाथ से मारा गया। युद्ध के उस अग्निकुण्ड में सोने की लंका जलकर राख हो गई। सारा दृश्य करुणा से भर उठा। रावण के अन्तःपुर से जो हाहाकार उठा उसमें मन्दोदरी का स्वर सबसे ऊँचा करुण और गंभीर था। विभीषण भी आत्मग्लानि में डूबा जा रहा था कि उसने अपने भाई से विद्रोह क्यों किया। रावण की शव यात्रा निकली राम भी उसमें सम्मिलित हुए। पुष्पदंत की रामकथा का यह सबसे अधिक मानवी प्रसंग है। रावण के जीवन का उपसंहार कवि के शब्दों में देखिए :—

रामाएसें जगकंपावणु
चउहिं जणहिं उच्चाइउ रावणु
होइ सुरिंदु वि मयणुम्मारउ
परयारेण सच्चु लहुयारउ ।।म० पु २ ७८,२५,१–७।।

राम की आज्ञा पाकर जग को कँपा देनेवाले रावण को चार लोगों ने कंधों पर उठा लिया। रावण तो रावण था। इन्द्र भी यदि दूसरे की स्त्री का हरण करे तो उसे हलका देखना पड़ता है। जीवन की क्षणभंगुरता और मनुष्य की अनैतिकता का सुन्दर व्यंग्य-चित्र इस शव-यात्रा के वर्णन में अंकित है। राम को व्यक्तिगत कारण से रावणसे लड़ना पड़ा किसी सांस्कृतिक घृणा या जातीय द्वेष के कारण नहीं। बाद में राम ने पहला जो काम किया वह था ग्रह-नक्षत्रों और ब्राह्मण-ज्योतिषियों की पूजा। फिर मन्दोदरी को सान्त्वना और विभीषण को राजपाट देकर वह दिग्विजय के लिये निकल पड़े। तीनों खण्ड पृथ्वी जीतकर वह अयोध्या वापस आये। बहुत समय तक राज्य करने के बाद लक्ष्मण की मृत्यु हो गई। इस घटना से राम का मन संसार से ऊब गया। उन्होंने शिवगुप्त नाम के जैन आचार्य से दीक्षा ले ली और तप कर अंत में मोक्ष लाभ किया।

(७) प्रस्तुत विश्लेषण का पहला निष्कर्ष यह है कि पुष्पदंत की रामकथा में राम का वर्तमान जीवन उनके पूर्व जन्म की एक प्रतिक्रिया थी। बहुविवाह, बहुपत्नी प्रथा कैकेयी के वरदान से राम के सुख-दुःख का कोई सीधा संबंध नहीं। कैकेयी और भरत के प्रसंगों की तरह रामचरित की उत्तरकालीन घटनाएँ भी इसमें नहीं हैं। राम की लंका यात्रा किसी घरेलू घटना का परिणाम नहीं थी। वह वैसे उनकी दिग्विजय के अभियान का ही एक अंग थी। इसलिये लंका विजय के बाद राम सीधे घर न आकर, दिग्विजय के लिये चले जाते हैं। सीता के शील पर कवि को इतनी श्रद्धा है कि सामाजिक अविश्वास को दूर करने के लिये अग्निपरीक्षा की कल्पना उसे असह्य है। उसकी दृष्टि राम की वियोग वेदना के चित्रण तक ही सीमित है, सीता के चरित्र की परीक्षा का प्रश्न उसके सम्मुख है ही नहीं। पुष्पदंत की रामकथा सामाजिक घटनाओं और पारिवारिक संवेदनाओं को समेट कर नहीं चलती वह धर्म सिद्धान्त की अटल रेखा पर चलती है। विस्तारभय से अभी यह बात उठाना ठीक नहीं कि कवि के इन परिवर्तनों के मूल स्रोत क्या हैं। पर यह स्पष्ट है कि उनकी रामकथा में पूर्ववर्ती सभी कथाओं का मिश्रण है। घटनाएँ परम्परागत हैं पर उनके संदर्भ में और परिणाम नए हैं। उन पर कवि के विचारों की छाप है। प्रमुख पात्रों के चरित्र और मुख्य घटनाओं के अंकन में कवि के जीवन निष्कर्ष प्रच्छन्न रूप से प्रतिफलित हुए हैं। उदाहरण के लिए कवि का यह धार्मिक विश्वास था कि प्रखर भौतिक कामना मनुष्य के चरित्र को गिराती है। आध्यात्मिक लक्ष्य के बिना मनुष्य के चरित्र में दृढ़ता नहीं आ सकती। उसके इस विश्वास को ठीक इसी रूप में उस प्रसंग में देखा जा सकता है जब रावण की बहन पहले-पहल सीता को फुसलाने आती है। कवि पुष्पदंत की सामाजिक आदर्शों में उतनी आस्था नहीं थी जितनी आध्यात्मिक आदर्शों में। इसलिये इस उद्देश्य से मेल खानेवाली घटनाओं को ही उन्होंने अपनाया है। हो सकता है इसका कारण कवि का एकाकी जीवन हो। पुष्पदंत की कथा के अनुसार राम एक सामन्तकुमार थे। उनका बचपन आमोद प्रमोद में बीता और यौवन विलास एवं दिग्विजय में। पुरुषार्थ और त्याग की उनमें कमी नहीं थी पर उसका उपयोग उन्होंने आध्यात्मिक जीवन में किया। राम के स्वभाव में भारतीय राजनीतिज्ञों की वह नीति अंकित है जो युद्ध के बजाय शान्ति में विश्वास रखती है। साहित्य और भाषा की दृष्टि से उनकी इस कथा का महत्त्व इससे भी अधिक है क्योंकि उसमें काव्य का अलंकरण और भाषा की सजीवता का मेल कवि की भावुक प्रतिभा का सुन्दर प्रतीक बन गया है।

अपभ्रंश भाषा के सन्धिकालीन महाकवि रइधू

(ले० राजाराम जैन एम०ए०)

व्यक्तित्व और कृतित्व —

अपभ्रंश-साहित्य के इतिहास में महाकवि रइधू अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। पुराण आख्यान चरित सिद्धान्त आचार एवं अध्यात्म जैसे विभिन्न विषयों पर उनकी समर्थ लेखनी से कई प्रतिनिधि रचनाओं का सृजन हुआ है। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी रचनाओं में लिखित प्रशस्तियों के माध्यम से मध्यकालीन इतिहास संस्कृति एवं कला के उन रूपों को भी अभिव्यक्ति दी है जो प्रचलित इतिहास के ग्रन्थों में कई कारणोंवश स्वतंत्रतापूर्वक नहीं लिखे जा सके थे। इसके अतिरिक्त एक अन्य विशेषता यह है कि इनकी रचनाएँ उस काल में लिखी गई थीं जब कि अपभ्रंश भाषाएँ हिन्दी का रूप ले रही थीं। अतः रइधू-साहित्य सन्धिकालीन होने के कारण भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अपना एक विशेष महत्व रखता है।

महाकवि रइधू अत्यन्त सहृदय एवं भावुक कवि थे। उन्होंने अपना सारा जीवन परोपकार में ही लगा दिया था। उनकी जितनी भी रचनाएँ हैं वे प्रायः सभी उन्होंने अपने भक्तजनों के निमित्त लिखी थीं। अपने आचार-विचार एवं कवित्व शक्ति से उन्होंने अपने समकालीन गोपाचल-नरेश डूंगरसिंह तथा उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह को अपना परमभक्त बना लिया था। इन्हीं के समय में ग्वालियर का किला जैन संस्कृति एवं इतिहास का गढ़ बना। कहते हैं कि लगभग ३३ वर्षों तक वहाँ जैन मूर्तियों का निर्माण-कार्य होता रहा जिसमें राजा डूंगरसिंह एवं कीर्तिसिंह ने लाखों रुपये व्यय किए थे।

अतः राजाओं के साथ ही कवि ने अपने जिज्ञासु भक्तों नगरसेठों एवं भट्टारकों आदि की विस्तृत प्रशस्तियाँ लिखकर एक ओर जहाँ उन्हें युगों-युगों तक अमर कर दिया वहाँ निज का ऐसा कोई विशिष्ट परिचय अपनी रचनाओं में नहीं दिया जिससे कि उनका सर्वांगीण जीवन चित्रित किया जा सके। फिर भी उनकी कुछ ग्रन्थ-प्रशस्तियों के आधार पर मधुकरी वृत्ति से जो कुछ भी पता चल सका है उसके अनुसार उनके जीवन का परिचय इस प्रकार है —

कवि परिचय :—

महाकवि रइधू काष्ठसंघ माथुरगच्छ के एक भट्टारकीय विद्वान् एवं महाकवि थे। वे सम्भवतः पद्मावती (पद्मावती ग्वालियर) के निवासी थे। वे जाति के पद्मावति पुरवाल थे। इनके पितामह का नाम था संघपति देवराज तथा माता का विजयश्री और पिता का नाम था हरिसिंह संघवी[1]। हरिसिंह संघवी एक सम्मानित विद्वान् एवं कवि थे। उनका यही पाण्डित्य एवं कवित्व रइधू को विरासत में मिला था जिसका कि भान सम्भवतः उन्हें न था। एक दिन जब वे अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित न कर सकने के कारण व्यग्र एवं निराश थे तभी उन्हें निद्रा आ गई। उसी स्थिति में उन्हें सरस्वती देवी ने स्वप्न देकर काव्य रचना की प्रेरणा दी —

> सिविणंतरे दिट्ठ सुयदेवि सुपसण्ण।
> आहासए तुज्झु हउ जाए सुपसण्ण॥
> परिहरहि मणचित करि भव्वु णिसु कव्वु।
> खलयणहं मा डरहि भउ हरिउ मइ सव्वु॥
> तो देविवयणेण पडिउवि सायरु।
> तयलभय सयमाउ उट्ठिउ जि मयवरु॥ (सम्मति १।४।२-४)

अर्थात् "प्रमुदित (मना) सरस्वती देवी ने स्वप्न में (मुझे) दर्शन दिया (तथा) कहा (कि) मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। मन की चिन्ता छोड़ दे भव्य (तू) निरन्तर (प्रतिदिन) काव्य (रचना) किया कर। दुर्जनों से मत डर, (क्योंकि) मय सम्पूर्ण

---

(१) दे सम्मति० १।२८।११-१३

बुद्धि का अपहरण कर लेता है। उस देवि के वचनों से प्रतिबुद्ध हो (मैं) आनन्दित हो उठा। उसी समय मेरी निद्रा टूट गई (और मैं) बिस्तर से उठ बैठा।" इस स्वप्न ने कवि को प्रबुद्ध चित्त बना दिया था। यही कारण है कि वे अपने अल्प जीवन में भी ऐसे विशाल अपभ्रंश साहित्य का निर्माण कर सके कि जिससे स्वयं एक छोटा सा स्वतंत्र प्राच्य बन सकता है। उनकी रचनाओं में से अभी तक २३ कृतियों का पता चल सका है जो विभिन्न शास्त्रभंडारों में सुरक्षित हैं तथा अब प्रकाशन की राह जोह रही हैं। उनकी उपलब्ध रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं —

रचनाएँ — (क) पुराण साहित्य– (१) हरिवंश पुराण तथा (२) महापुराण।

(ख) कथा-साहित्य– (१) पुण्याश्रव कथा कोष (२) अणथमी कथा तथा (३) सम्यक्त्व कौमुदी।

(ग) चरित-साहित्य– (१) पार्श्वचरित (२) सुकौशल चरित (३) मेघेश्वर चरित (४) पद्मचरित।
(५) धन्यकुमार चरित (६) सम्मति जिन चरित। (७) जीवन्धर चरित
(८) करकंड चरित (९) श्रीपाल चरित तथा (१०) यशोधरचरित।

(घ) आचार तथा सिद्धान्त–(१) वृत्तसार (२) उपदेशरत्नमाला (३) आत्मसम्बोध काव्य
(४) सम्यक्त्वगुणनिधान (५) सम्यक्त्व गुणारोहण तथा (६) सिद्धान्तसार।

(ङ) पूजा-पाठ– (१) दशलक्षण जयमाल तथा (२) सोलहकारण पूजा एवं जयमाल।

उक्त रचनाओं की नामावली तथा विषय प्रकार देखने से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि कवि का ज्ञान बहुमुखी तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं पर उसका असाधारण अधिकार था। कवि की रचनाओं में अपने आश्रयदाताओं के प्रति आशीर्वचन संस्कृत श्लोकों में लिखे गए हैं। उनके संगठन एवं शैली को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि वे संस्कृत भाषा के भी अच्छे विद्वान् थे। छन्द एवं शब्दशास्त्र का व्यवस्थित ज्ञान तथा काव्यों में स्वाभाविक प्रवाह रहने पर भी उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है। शान्त रस की प्रमुखता होने पर भी रइधू-साहित्य में प्रसंगवश शृंगार, वीर, रौद्र वीभत्स आदि विविध रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। कल्पनाएँ मार्मिक एवं लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे जन सामान्य के बीच के ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति-चित्रण एवं नगर-वर्णन जहाँ एक ओर कवि के रचना-कौशल की सूचना देते हैं मालव-जनपद का एक सजीव इतिहास भी उपस्थित करते हैं।

काल-निर्णय —

महाकवि रइधू की जन्मतिथि अथवा कार्यकाल के प्रारम्भ की कोई भी स्पष्ट सूचना उनकी रचनाओं में नहीं मिलती यह पहले ही कहा जा चुका है, फिर भी हम निम्न बाह्याभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर कार्यकाल के प्रारम्भ आदि का निर्णय इस प्रकार कर सकते हैं —

(१) महाकवि रइधू ने अपनी एक रचना "सम्मत्त गुणणिहाण कव्व" में उसका समाप्तिकाल वि स १४९२ दिया है। इसकी रचना कवि ने तीन मास के अल्पकाल में ही की थी[1]। प्रस्तुत कृति में इनकी पूर्ववर्ती किसी भी रचना का उल्लेख नहीं है।

(२) कवि का एक अन्य ग्रन्थ "सुकोसल चरिउ" है जिसकी रचना वि स १४९६ में समाप्त हुई थी। इसमें कवि ने अपनी पूर्वरचित (१) णेमिचरिउ (२) पासणाहचरिउ तथा (३) बलभद्र पुराण नामक तीन रचनाओं का उल्लेख किया है[2]। 'णेमिचरिउ' के निर्माण में ब्रह्मचारी खेल्हा[3] की काफी प्रेरणा कवि को मिली। ब्र खेल्हा भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य अथवा भक्त थे। इन भ गुणकीर्ति का समय वि सं १४६८–७३ है[4]। अपनी एक अन्य

---

(१) दे सम्मत —४।१४।८–११
(२) दे सुकोसल० —४।२३।१–३
(३) दे सुकोसल – १।४।५–८
(४) दे हरिवंश० – १।३।३।११
(५) दे भट्टारक सम्प्रदाय–पृ ९४६

इसी "धन्यकुमारचरित" में कवि ने इन्हीं भ० गुणकीर्ति को अपना गुरु[1] भी माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि कवि ने १४६८ से १४७१ के मध्य तक अपनी रचनाओं का लेखन प्रारम्भ कर दिया था। 'नेमि चरित' में कवि ने अपनी जिन सात रचनाओं का उल्लेख[2] किया है उनके परिमाण को देखते हुए उक्त काल उपयुक्त भी प्रतीत होता है। इस प्रकार वि० सं० १४६८–७१ के बीच का समय कवि के ग्रंथ लेखन का प्रारम्भकाल माना जा सकता है।

(३) कवि महिन्दु कृत अपभ्रंश-भाषा के "शान्तिनाथ-चरित" में उल्लिखित पूर्ववर्ती कवियों में महाकवि रइधू का भी स्मरण किया गया है[3]। उक्त रचना वि० सं० १५८७ में लिखी गई थी[4]। इससे विदित होता है कि कवि रइधू उक्त समय के पूर्व हो चुके थे।

(४) महाकवि रइधू कृत 'पार्श्वपुराण' की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि वि० सं० १५४ की पौष शुक्ल एकादशी शुक्रवार को लिखी हुई प्राप्त होती है जो कि हिसार के महावीर चैत्यालय में सुल्तान शाह सिकन्दर के राज्यकाल में लिखी गई थी और वह मूल रचना से कुछ वर्ष बाद की ही प्रतिलिपि जान पड़ती है[5]।

(५) रइधू ने अपनी एक रचना "नेमिचरित" में वनवाड़ि (सोनागिर, मध्यप्रदेश) में भ० कमलकीर्ति (वि० सं० १५ १–१) के एक पट्ट की स्थापना का उल्लेख किया है, जिसका कि पट्टधर भ० शुभचन्द्र को बनाया गया था[6]। भ० शुभचन्द्र का समय वि० सं० १५१ निश्चित है[7]। इस उल्लेख से उक्त काल तक कवि के जीवित रहने की सूचना मिलती है।

(६) कवि की रचनाओं में उपरोक्त भट्टारक शुभचन्द्र (वि० सं० १५१) तथा राजा कीर्तिसिंह के बाद की ऐसी कोई घटना या नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता जिससे कि उनके जीवित रहने की सूचना मिलती हो। कीर्तिसिंह का मृत्युकाल वि० सं० १५३६ है[8]। अतः यही रइधू के जीवन काल की अन्तिम अवधि हुई। इस प्रकार कवि का कार्यकाल वि० सं० १४६८ से १५३६ तक माना जा सकता है।

रचनाओं का परिचय—

सम्यक्त्वगुणनिधानकाव्य —

प्रस्तुत ग्रन्थ महाकवि रइधू की सिद्धान्त-परक एक सुन्दर रचना है जिसमें संक्षिप्त आख्यान के माध्यम से सम्यक्त्व का वर्णन सरस एवं सरल भाषा में किया गया है। इसमें ४ संधियाँ हैं तथा कुल १ ४ कडवक। प्रथम सन्धि के १ कडवकों में कवि ने अपने गुरु यशःकीर्ति भट्टारक का स्मरण, गोपाचल नगर तथा उसके राजा डूंगरसिंह का विस्तृत परिचय एवं अपने आश्रयदाता संघपति कमलसिंह की प्रशंसा करने के बाद ग्रंथ के विषय का सामान्य परिचय दिया है और इसी में प्रथम सन्धि समाप्त हो जाती है[1]।

द्वितीय संधि के २२ कडवकों में कवि ने सम्यग्दर्शन के प्रथम निःशंकित-अंग का वर्णन किया है जिसमें अनेक कथाएँ लिखकर विषय को काफी रोचक बना दिया है।

तृतीय संधि के २७ कडवकों में कवि ने सम्यक्त्व के अन्य अंगों—निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण एवं वात्सल्य का निरूपण करके अन्तिम चतुर्थ-सन्धि के ३६ कडवकों में प्रभावना अंग का वर्णन किया है।

---

(१) दे० धन्यकुमार—१।१।११, १।२।१–१, १।३।१२, १।४।८–, ५।१५।११
(२) दे० हरिवंश १।३।६ १
(३) दे० अनेकान्त ५।२५४
(४) दे० वही ५।२५३
(५) दे० वही ५।४ २
(६) दे० हरिवंश १।२।१७–१३
(७) दे० भट्टारक पृ० २४७
(८) दे० अनेकान्त १ ।३८४

उक्त रचना की आदि व अन्त की प्रशस्तियाँ इतिहास की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। इनमें कवि ने अपने समय के गोपाचल नगर की आर्थिक सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का सुन्दर दिग्दर्शन कराया है[1]।

इस ग्रंथ की रचना महाकवि रइधू ने साहू कमलसिंह की प्रेरणा से की थी। रचना प्रारम्भ होने के पूर्व कमलसिंह इसकी सूचना राजा डूंगरसिंह को देते हैं तो वे प्रत्युत्तर में कहते हैं —

पुण्णु कज्जु जं तुव मणि रुच्चइ त णिरमहि लम साहु समुच्चइ।
जे पुणु अण्ण के वि सुसहायम करहु करहु ते धम्ममहायम।
किंपि तक मा किज्जहु चित्तहँ सतुट्ठ्उ हउ धम्मणिमित्तहिं।
जहिं सोरट्ठि वीसलविव रज्जहिं, धम्मु पकिन्ठउविवणिरवज्जहिं।
वच्छतेमपाल्कसवणिवहिं, पवरतित्थ पिम्मिय गयदप्पहिं।
जिह पेरोजसाहि सुपसायं जोइणिपुरि णिवसत ममाम।
सारंग (साल?) साहुणाम विक्खाय पविहिय जत्त धम्मजपुराएँ।
तिह तुहु णिरमहि एत्थु गुणायर अइ लइ पउरु दव्वु धम्मायर।
म मु जेत्तडउ (दव्वु ?) विरिज्जइ, सो सयम वि वेक्खउ क्खणिच्छइ।
ऊणइ हउ असेसु पूरेसमि व जं मग्गहु त त देसमि।
पुणु पुणु एम तेण तहि भणिउ पुणु तबोल देवि सम्माणिउ।
पुणु सुरिसाण सीह णियमिच्चहु धामिय धम्मचिंतियमणिच्चहु।
तहु भाएसु णिवेण पुणु विण्णउ किज्जहि धम्मसहाउ अछिण्णउ।
कमलसीहु जं तुम्हु मासइ, त तहु पविहिज्जहि सुसमासइ।
मणिवि पसाउ तेण पडिवण्णउ अज्जु सामि किंकरु हउ धण्णउ॥

सम्मति १।१५।७-२१॥

उक्त पद्य में राजा डूंगरसिंह साहू कमलसिंह को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे मन में जो पुण्य कार्य करने की अभिरुचि जाग्रत हुई है उसे तुम निश्चित मन से पूरा करो। इस प्रसंग में अपनी धार्मिक नीति एव उदार वृत्ति की तुलना डूंगरसिंह ने सोरठ (सौराष्ट्र) देश के राजा वीसलदेव (समय —??) महामन्त्री वस्तुपाल— तेजपाल तथा जोगिनीपुर (दिल्ली) के राजा पेरोजसाह (फीरोज शाह?) से करते हुए कहा कि मुझे भी तुम वैसा ही समझो और धर्म सम्बन्धी जो भी कार्य करना चाहो उसे करो। यदि उसे पूरा करने में तुम्हारे पास द्रव्य की कमी आ जावे तो उसे मैं पूरा करूँगा। तुम जो-जो मागोगे मैं वही-वही (मुहमांगा) दूगा। इतना ही नहीं उक्त आश्वासन के साथ राजा ने पान देकर उसे सम्मानित भी किया राजा के इस व्यवहार से कमलसिंह का मन बहुत ही सतुष्ट एव प्रसन्न हुआ और उसने अपने को धन्य माना।

महाराज डूंगरसिंह का उदार धार्मिक नीति सम्बन्धी उक्त कथन अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। ग्वालियर दुर्ग में उनके द्वारा निर्मित प्रचुर जैन मूर्तियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। रइधू ने ग्वालियर-नगर के दो जैन विहारों का उल्लेख भी किया है जहाँ के "सुकवित्त रसायणणिहि रसाल" वातावरण में कवि ने अपनी रचनाएँ लिखी थी —

एरिस सावमहि वि विहिमाणु णेमीसरजिणहरि वड्ढमाणु
णिवसइ जा रइधू कइ गुणाल सुकवित्तरसायणणिहि रसाल ॥ दे सम्मत्त १।६।१९-२॥

इसके पश्चात् कवि ने एक बड़ा ही मार्मिक प्रसंग उपस्थित किया है। वह जिस समय रचना प्रारम्भ करने को सोचता है उसी समय उसका मन दुर्जनों की दुष्ट प्रवृत्तियों के कारण सशंक हो उठता है अत वह अपने ग्रन्थ प्रेरक से कहता है —

(१) दे वही १।१ १।४ १।५ १।६
(२) दे सम्मत आदि-प्रशस्ति
(३) दे वही १।१ १।४ १।५ १।६

विजयसेन से इसीकी दो परम्पराएं बन गईं। प्रथम परम्परा में उदयसेन के बाद क्रमशः देवसेन विमलसेन धर्मसेन भावसेन सहस्रकीर्ति एवं गुणकीर्ति भट्टारक हुए। द्वितीय विजयसेन की परम्परा में नेमिसेन अनन्तकीर्ति कमलकीर्ति क्षेमकीर्ति तथा हेमकीर्ति नाम के भट्टारक हुए[1] प्रस्तुत रचना में कवि ने उक्त द्वितीय परम्परा के संस्थापक भ० विजयसेन तथा उनके बाद क्रमशः छठवें एवं सातवें भट्टारक क्षेमकीर्ति एवं हेमकीर्ति का उल्लेख किया है। हेमकीर्ति जो कि भ० कमलकीर्ति प्रथम (वि० सं० १४४१) के प्रशिष्य थे का समय वि० सं० १४६९ रहा है[2]।

कवि ने एक अन्य भट्टारक कुमारसेन का उल्लेख अपने गुरु के रूप में किया है[3]। ये भ० कमलकीर्ति द्वितीय वि० सं० १५ १ १) के शिष्य थे जिनका कि समय लगभग वि० सं० १५ ६–१५३ के लगभग रहा है[4]।

प्रस्तुत रचना में भाषागत विशेषताएँ भी पर्याप्त मिलती हैं। कवि ने बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग किया है। कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो थोड़ा सा भी हेरफेर करनेसे ब्रज अवधी या बुन्देली के रूप ले लेते हैं। ऐसे शब्दों में टक्के (टक्का ४४१७) झप्प (झपना झपटना १६ ११) चलिय (चलकर, १–६–१४) बोलिय (बोलकर १६,११) धूम (धूम ११ १२) गोड़ (बुन्देली भाषा ११३) सल्ल (बुन्देली सल्य ४ ६, १) आदि शब्द दृष्टव्य हैं।

इस रचना में कवि ने अपने गुरु तथा आश्रयदाता श्री रणमल्ल साहु आदि का परिचय देने के साथ जहाँ अपने लिये पण्डित धीमान् आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, वहाँ अपने लिये उसने जडमति[5] एवं अगर्व[6] भी कहा है। इतना ही नहीं आगे तो उसकी असमर्थता बड़ी ही मार्मिक बन पड़ी है और प्रतीत होता है कि उससे सम्भवतः महाकवि सूरदास को भी प्रेरणा मिली। रइधू कहते हैं —

सुत अत्थ हीणउ हउं सामिय किम पंगुल हुवंति वहुगामिय।
किं अंधउ दरसइ कि सायर, किम अम्मिअइ रयणमणि कायर।
बोल्लइ मूक करिवि कि बोल्लइ, किम बहिरउ पयडइ भव मिल्लइ।
आसि कईवहि चरिउ जि भासिउ कइ विरयमि हउं तं मेहासिउ।
पिसुण कंचुवि दुवियहि ण आणवि किम अप्पउ कवित्त गुणमाणवि॥

सूरदासजी कहते हैं—

चरन कमल बंदौ हरिराई,
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कछु दरसाई।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार-बार बंदौं तिहिं पाई॥ (सूरसागर)

रइधू एवं सूर दोनों ही भक्त कवि हैं लेकिन एक साहित्यकार पहिले है बाद में भक्त और दूसरा पहले भक्त है बाद में साहित्यकार। एक ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता नहीं मानता जब कि दूसरे का सारा जीवन-दर्शन ही उससे ओतप्रोत है। इस दृष्टि से एक ने गुरुचरणों को आलम्बन मानकर उसे अपनी काव्य शक्ति की प्रेरणा का स्रोत बनाया तो दूसरे ने "हरिराई के चरण-कमलों" को। सिद्धान्तगत भेद कुछ भी हो साहित्यिकता के नाते दोनों की स्वयं की असमर्थता एवं अपने आराध्य की अचिन्त्य शक्ति का चित्रण दृष्टव्य है। सूरदास का जन्म सं० १५४ के लगभग हुआ था और रइधू का जन्म इससे लगभग ७०–८० वर्ष पूर्व। कोई असम्भव नहीं यदि रइधू की रचनाएं लोकप्रिय होने के कारण सूर के सम्मुख भी आ गई हों और रइधू के उक्त पद ने उन्हें विशेष प्रभावित किया हो तथा उसमें कुछ सम्पादन संशोधन कर उसे अपनी विचार-धारा के अनुरूप बना लिया हो।

---

१ दे० भट्टारक पृ० २४५–४६
२ दे० भट्टारक पृ० २४०
३ दे० सुकौशल १।३।१–३
४–५ दे० भट्टारक पृ० २४०
६ दे० सुकौशल १।५।१

(४) मेघेश्वर चरित —

मेघेश्वर चरित्र महाकवि रइधू का एक महाकाव्य है, जिसकी १२ संधियों के लगभग ३ ४ कडवकों में भरत चक्रवर्ती (ऋषभ-पुत्र) के सेनापति मेघेश्वर के चरित्र का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ की रचना खेऊ साहू के निमित्त ग्वालियर में राजा डूंगरसिंह के समय में की गई थी। खेऊ साहू का विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ की आदि एवं अन्त की प्रशस्तियों तथा प्रत्येक सन्धि के अन्त के संस्कृत श्लोकों में दिया गया है।

प्रथम संधि में २१ कडवक हैं जिनमें प्रशस्ति-गान के साथ ही छहकालों का नाम-निर्देश किया गया है। द्वितीय संधि के १७ कडवकों में ऋषभदेव का गृहत्याग तथा तृतीय संधि के २४ कडवकों में ऋषभदेव के केवलज्ञान की उत्पत्ति समोशरण की रचना और उसमें उपस्थित हुए जीवों के निमित्त द्रव्य के स्वरूप का वर्णन किया गया है। चतुर्थ एवं पंचम संधियों के क्रमशः २४ एवं २१ कडवकों में छह खण्डों पर विजय प्राप्त करने के बाद भरत के दूत का बाहुबलि के पास गमन तथा बाहुबलि का गृहत्याग एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन है।

छठवीं सन्धि के २३ कडवकों में सुलोचना-स्वयम्बर तथा मेघश्वर का अर्ककीर्ति (भरत-पुत्र) के साथ संग्राम का वर्णन है। तदनन्तर सातवीं सन्धि के २ कडवकों में सुलोचना-मेघेश्वर के पाणिग्रहण संस्कार का वर्णन किया गया है।

आठवीं सन्धि के १२ कडवकों में कुबेर-मित्र के जीवन-भवों का वर्णन तथा उसकी स्वर्गप्राप्ति के उल्लेख के बाद नवमी सन्धि के ४ कडवकों में हिरण्यगर्भ प्रजापति के पुनर्भवों का वर्णन है। दसवीं संधि के २१ कडवकों में भीम भट्टारक का निर्वाण-गमन तथा ग्यारहवीं-बारहवीं संधि के २४–२४ कडवकों में क्रमशः श्रीपाल-चक्रवर्ती का हरण तथा उसके मोक्ष-गमन का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। अन्तिम तेरहवीं संधि में १४ कडवक हैं जिनमें पूर्वार्द्ध में मेघश्वर का निर्वाण गमन एवं ग्रन्थ की अन्त प्रशस्ति लिखी गई है।

काव्य-कला की दृष्टि से यह रचना उच्चकोटि की है। इसमें कवि ने दुवई, गाहा चामर, घत्ता पद्धडिया समानिका मत्तगयंद आदि विविध छन्दों में शृङ्गार, वीर, वीभत्स रौद्र एवं शान्त आदि रसों की प्रसंग-वश सुन्दर उद्भावनाएं की हैं। इसका कथा भाग परम्परा-प्राप्त होने पर भी कवि ने अपनी नवीन शैली तथा उत्प्रेक्षा उपमा रूपक आदि अलंकारों की योजना करके उसे काफी सरस एवं आकर्षक बना दिया है।

आद्य प्रशस्ति में अन्य सूचनाओं के साथ ही कवि ने पूर्ववर्ती साहित्य एवं साहित्यकारों की खासी सूची उपस्थित की है जो निम्न प्रकार है —

> चाएसरि सुरसरि रयणायर। हुय पुण आसि कइय गुणायर ॥
> सुय पयणो दुविय मिच्छारय। वीरसेणु[1] कइ चक्कि विहियरय ॥
> देवणंदि[1] वंदि विज्जासंदिर। जणविहिउ वायरणु महाविद[2] ॥
> छद्दसणु पमाणु[2] पविसेणें[1]। विरयउ पासिय जिणवमसेणें ॥
> पउमचरिउ[2] भणिउं रविसेणे। हरिवंसु[2] वि पायड जिणसेणें[1] ॥
> मेहेसरहु[2] चरिउ सुरसेणें[1]। चरिउ अणगहु[2] दिणयरसेणें[2] ॥
> पुणु वि सयंभु[1] महाकइ जायउ। चउमुहु[1] पुप्फयंतु[1] विक्खायउ ॥
> इय अवर वि बहि णरवइ जाया। ति कारणि महु फुरइ भवाया ॥ (मेघश्वर १।९।११)

उक्त कवियों में देवनन्दि मुनि (अपर नाम पूज्यपाद आचार्य) तथा उनके द्वारा विरचित जैनेन्द्र-व्याकरण आचाय रविषेण तथा उनका पद्मचरित जिनसेन तथा उनका हरिवंश पुराण प्रकाश में आ चुके हैं। इसी प्रकार महाकवि स्वयम्भू तथा पुष्पदन्त के विषय में भी जानकारी प्राप्त हो चुकी है।

पविसेण (प्रद्युम्नसेन ?) कृत षड्दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ एवं दिनकरसेन कृत "अनंग चरित' का उल्लेख कवि ने किया है लेकिन इनकी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। कवि ने एक अन्य रचना "मेघेश्वर-चरित" तथा उसके कर्ता सुरसेन का उल्लेख किया है। आमेर शास्त्र भण्डार में देवसेन कृत 'सुलोचना चरित" की सं १५६ की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि प्राप्त हुई है। असम्भव नहीं कि रइधू के सुरसेन यही देवसेन तथा सुलोचना-चरित ही मेघश्वर चरित हो।

रइधू ने चउमुह (चतुर्मुख सम्भवतः ८वीं सदी के पूर्व) का भी उल्लेख किया है। इसके पूर्व महाकवि धवल (१ वीं

शती) नयनन्दि (११वी शती) देवसेन गणि (१११५ ई के पूर्व) आदि ने उनका उल्लेख किया है। स्वयम्भू ने इनकी तीन रचनाओं का भी उल्लेख किया है (१) हरिवंश पुराण (२) पउमचरिउ तथा (३)पंचमीचरिउ किन्तु इनमें से कोई भी रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है।

कवि ने इस रचना में गुणकीर्ति के पट्टशिष्य यश कीर्ति भट्टारक (वि सं १४८६-९७) को अपना गुरु माना है, जिन्होंने कवि को आशीर्वाद दिया था कि 'हे रइधू, तुम मेरे प्रसाद से विचक्षण बन जाओगे'[1] इसके बाद कवि ने अपना रचना स्थान गोपाचल बताकर उसका वर्णन तथा राजा डूंगरसिंह और उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह का परिचय दिया है।

मेघेश्वर चरित की एक-दो ऐसी प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमें इस रचना के कर्ता के रूप में रइधू के स्थान पर सिंहसेन का उल्लेख है। प जुगलकिशोरजी मुख्तार ने सिंहसेन को रइधू का बड़ा भाई माना है लेकिन यह कथन उचित नहीं है क्योंकि उनके भाईयों के नाम तो बाहोल एवं माहणसिंह थे जिनका उल्लेख स्वयं रइधू ने किया है। सद्धय प्रमीजी ने रइधू एवं सिंहसेन को एक ही माना है। रइधू की ही एक अन्य रचना "सन्मति जिन चरित"में एक उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें खेल्हा नामक एक ब्रह्मचारी ने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ भगवान् की मूर्ति का निर्माण करा कर भट्टारक यश कीर्ति से धर्मोपदेश सुना। उसी समय उसके मन में एक इच्छा होती है कि वे महावीरस्वामी का पावन-चरित उसके लिये लिख दें। तब यश कीर्ति महाकवि रइधू का परिचय देते हुए कहते हैं कि —

एत्थु महाकवि णिवसइ सुहमण ॥
रइधू णामें गुणगणधारउ ।
सो णो सवइ वयण तुम्हारउ ॥(सन्मति १।५।८-९)
त णिसुणिवि गुरुणा गच्छहु गुणसाई सिंहसेणि मुणवि मणि ।
पुण सठिउ पढिउ सीस मणविउ भणिउ तेण त तम्मि खणि ॥ (दे वही १।५।१०-११)

आय भी जितना कथन है वह प्राय सभी रइधू पर लागू होता है। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि रइधू का सम्भवत दूसरा नाम सिंहसेन भी था।

हरिवंश पुराण —

हरिवंश पुराण हरिवंश से सम्बन्ध रखने वाले चरितों की एक पिटारी है जिनका वर्णन महाकाव्य की शैली में किया गया है। कवि ने इसकी समाप्ति १४ संधियों के १ २ कडवकों में की है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम नेमिचरित अथवा नेमिपुराण भी मिलता है लेकिन विषय सूची देखने से प्रतीत होता है कि इसका नाम हरिवंश पुराण ही उपयुक्त है क्योंकि नेमिप्रकरण तो अन्तिम एक या दो संधियों में ही प्राप्त होता है। निम्नलिखित विवरण से इस ग्रन्थ का विषय परिचय मिल सकता है —

सन्धि	कडवक	विषय
१	११	राजा श्रेणिक का समवसरण में जाना तथा वहाँ गौतम स्वामी से हरिवंश विषयक प्रश्न पूछना ।
२	२१	ऋषभ-चरित का वर्णन ।
३	१४	हरिवंशोत्पत्ति-वर्णन ।
४	१८	वसुदेव बंधा तथा उनके पूर्वभवों का वर्णन ।
५	४२	वसुदेव का इधर-उधर भटकना रोहिणी के साथ पाणिग्रहण संस्कार तथा बन्धु-बान्धवों से उनकी भेंट ।
६	२२	कंस बलभद्र तथा नारायण के भवों का वर्णन ।
७	२	नारायण का जन्मोत्सव तथा कंस का वध ।
८	२५	पाण्डवों का जुए में हारना तथा उनका गुप्त वेश-निवास ।
९	२१	पाण्डवों का प्रकट होकर द्वारका जाना ।

१—दे मेघेश्वर १।३।८

१	१८	प्रद्युम्न को विद्याप्राप्ति तथा उसका द्वारका-गमन ।
११	१२	जरासंध-वध तथा कृष्ण का राज्यादि सुखभोग ।
१२	१३	द्रौपदी चीर हरण ।
१३	१४	द्वारका -दहन ।
१४	२७	अरिष्ट नमि का परिनिर्वाण ।

उक्त ग्रन्थ की रचना कवि ने जोगिनीपुर(दिल्ली)की उत्तर दिशा में स्थित किसी नगर में साहु साहा के सुपुत्र साहु लोणा के निमित्त की थी। नगर के नाम का उल्लेख आरा की प्रति में 'हिसारपुर' आया है जो स्पष्ट नहीं होता। यह नगर हिसार, जहां रहते हुए कवि न अपने कुछ ग्रन्थों की रचना की थी नहीं हो सकता क्योंकि कवि न उसकी स्थिति जोगिनी पुर के पश्चिम में बतायी है[1]।

हरिवंश पुराण में रइधू ने महाकवि जिनसेन तथा रविषेण एवं उनके ग्रंथ क्रमशः महापुराण तथा पद्मचरित का उल्लेख किया है[2]। इससे प्रतीत होता है कि इन दोनों आचार्यों को रइधू अपनी रचनाओं के लिए आदर्श रूप मानते थे। जिनसेन एवं रइधू दोनों के हरिवंश पुराणों के मिलान करने पर कुछ बातों को छोड़ कर बाकी सभी लगभग समान हैं।

महाकवि रइधू ने प्रस्तुत रचना में अपनी पूर्ववर्ती निम्न रचनाओं का उल्लेख किया है। रचनाओं के साथ उनके विशेषण दृष्टव्य हैं जिनसे कि रचनाओं के विषय भी ज्ञात हो जाते हैं। यथा —

सिरिठेसट्ठिपुरिसगुणमविक रइउ महापुराणु[1] जयचविरु।
तह मेहेसरु[2] सेणावइ चरियउ कोमुइ कहपबन्धु[3] गुणभरियउ ॥
जसहरचरिउ[4] जीवदयपोसणु, वित्तसार[5] सिद्धउ पयासणु ।
जीमधरहु[6] वि पासह चरिउ विरइवि[7] मुक्लसउ जसभरिउ ।दे हरिवंश १।३।६–९॥

रइधू की इस कृति में यह उल्लेख मिलता है कि भ कमलकीर्ति(वि स १५ ६–१)का एक पट्ट कनकाद्रि (सोनागिर, म प्र) में स्थापित किया गया था जिसके पट्टधर भ शुभचन्द्र[3] (वि स १५३) थे। रइधू की इस ऐतिहासिक सूचना से यह पता चलता है कि कनकाद्रि इस समय विद्या का अच्छा केन्द्र बना हुआ था।

बलभद्र पुराण —

बलभद्र पुराण का अपर नाम रामचरित अथवा पद्मचरित भी है। इसमें ११ सन्धियाँ तथा लगभग २४ कडवक हैं। इसकी रचना ग्वालियर के श्री बादशाह के सुपुत्र श्री हरसी साहु क निमित्त की गई थी। इस ग्रन्थ में कवि ने बड़ी ही मार्मिक शैली में राम सीता लक्ष्मण रावण आदि का चरित्रचित्रण किया है।

आद्य प्रशस्ति में कवि न मंगलाचरण के बाद भ देवसेन विमलसेन धर्मसेन भावसेन सहस्रकीर्ति यशःकीर्ति (वि स १४८६-९७) तथा उनके एक अन्यतम शिष्य खेमचन्द्र नामक भट्टारक का उल्लेख किया है। उक्त भट्टारकों में यशः कीर्ति का समय ही निश्चित ज्ञात हो सका है, बाकी के भट्टारक उनसे पूर्व हुए हैं लेकिन उनका समय ज्ञात नहीं हो सका है[4]।

प्रस्तुत रचना में कवि ने अपना गुरु श्रीपाल ब्रह्म[5] आचार्य को माना है जो कि यश कीर्ति के तीन शिष्यों में से तृतीय थे। इसमें कवि ने अपनी एक पूर्व रचना का भी उल्लेख किया है जिसका नाम है "हरिवंशपुराण" या नेमिचरित जो कि खेऊ नामक किसी मुमुक्षुजन के निमित्त लिखी गई थी[7]।

१—दे सम्मति १।६।४
२—दे हरिवंश १।२।९–१
३—दे हरिवंश १।२।१२–१३
४—दे बलभद्र १।१।९–१४
५—दे भट्टारक पृ २५६
६—दे बलभद्र १।४।८
७—दे वही १।४।९–१

स्वयं का परिचय देते हुए कवि ने इस रचना में बताया है कि उसने पद्मावति पुरवाल वंश में हरिसिंह संघपति के यहाँ पुत्ररूप में जन्म लिया था[1]। वे तीन भाई थे बाहोल माहणसिंह एवं रइधू —

सिरि पोमावइ पुरवाल वंसु, णंदउ हरिसिंघु संघवी जासु संसु

घत्ता—'बाहोल माहणसिंह चिरणंदउ इह रइधू कइ तीयउ वि धरा ।

मोलिक्क समाणउ कलमुण जाणउ णंदउ महियलि सो वि परा ॥ (बलभद्र ११।१७।१०—१२)

कवि ने अपने पाण्डित्य का परिचय कथनोपकथन की शैली में बड़े ही अद्भुत ढंग से दिया है। नगरसेठ भी हरसिंह साहु ने किसी समय महाकवि रइधू की प्रशंसा सुनी होगी। वे उनकी सेवा में पहुँचते हैं और विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं —

भो रइधू पंडिय गुणणिहाण पोमावइ वरवंसह पहाण् ।

सिरिपाल बह्म आयरिय सीस महवयणु सुणहि भो बहुमिरीय ॥

सोढल णिमित्त णेमिहु पुराण विरयउ जह कइजण विहिय माणु ।

तहं रामचरित्तु वि महु भणेहि, लक्खण समेउ इउ मणि मुणेहि ॥

महु तापुराउ तुहुं मित्त जेम तिव्वत्ति मज्झु ववहारि तेम ।

महु णामु लिहहि चंवहो विमाणु, मणवयणु सुद्ध णियचित्ति ठाणु ॥ बलभद्र १।४।७—१२॥

हरसिंह साहु की यह प्रार्थना सुनकर महाकवि रइधू अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहते हैं —

घत्ता — हो हो कि वुत्तउ एत्थु अजुत्तउ हउं गिहकम्में गुत्तउ ॥ बलभद्र १।४।१४ ॥

भडएण भरइ को उवहि तोउ को फणि सिरमणि पयडइ विणोउ ।

पंचाणणमुहि को खिवइ हत्थु विणु सुत्तें महि को रयइ वत्थु ।

विणु बुद्धिए तहं कव्वहु पसारु विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु ॥ बलभद्र० १।४।१४ १।५।१—३ ॥

अर्थात् "अरे-अरे, (आपने) यह क्या कह दिया ? यह (आपका कथन तो) अयुक्त है। मैं तो गृहकार्यों में उलझा हुआ हूँ। घड़े से समुद्र का जल कौन भरेगा ? मस्तक-स्थित मणि वाले भुजंग के साथ कौन विनोद करेगा ? सिंह के मुख में कौन अपना हाथ डालेगा ? संसार में बिना धागे के कौन वस्त्र बुन सकता है ?

(उसी प्रकार) बिना बुद्धि के क्या काव्य का प्रसार (रचना) हो सकता है ? (बलभद्र पुराण जैसे महान् ग्रन्थ की) रचना के निर्माण में मैं कैसे पार पाऊँगा ?

इसके प्रत्युत्तर में हरसिंह साहु प्रेरणा करते हैं —

तुहु कव्वु धुरंधर दोसहारि सत्थत्थकुसलु बहु विणय धारि ।

करि कव्वु चित्त परिहरहि भित्त तुह मुहि णिवसइ सरसइ पवित्त ॥ वे वही १।५।५—९ ॥

अर्थात् निर्दोष काव्य रचना में धुरन्धर, शास्त्रार्थ में कुशल एवं विनयशील हे मित्र आप (मन की) चिन्ता छोड़ (बलभद्रपुराण नामक) काव्य की रचना कीजिये। आपके श्रीमुख में तो पवित्र सरस्वती का निवास है।

इस प्रकार यह कथनोपकथन आगे भी इसी क्रम से चला है। इसमें कवि ने अपनी अल्पबुद्धि तथा गर्वहीनता दर्शाकर आगे सज्जन-दुर्जन प्रशंसा-निन्दा की भी चर्चा की है। इस माध्यम से कवि ने वस्तुतः पूर्व परम्परागत शिष्टाचार का निर्वाह तो किया ही किन्तु इस विचित्र शैली से उसने अपनी ख्याति प्रतिष्ठा एवं पाण्डित्य का परिचय दे सकने का एक सुन्दर प्रसंग भी उपस्थित कर लिया जो उसकी कुशाग्र-प्रतिभा का द्योतक है। अस्तु, विषय-वस्तु एवं काव्यकला की दृष्टि से रइधू की यह रचना उत्कृष्ट है।

पासणाहचरिउ —

प्रस्तुत ग्रन्थ में २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के चरित का वर्णन किया गया है। कवि ने इसे स्वयं ही 'काव्य-रसायन' की संज्ञा दी है। छन्दों की विविधता तथा विभिन्न रसों एवं अलंकारों की योजना के कारण कवि की उक्त संज्ञा उपयुक्त भी है। इसमें कुल ७ सन्धियाँ हैं, जिनमें आदि एवं अन्त में महत्त्वपूर्ण प्रशस्तियाँ प्राप्य हैं। इन प्रशस्तियों में कवि ने पोमावइ-

---

१—वे वही ११।७।१

नगर, वहाँ के नरेश तथा वहाँ के भट्टारकों आदि का सुन्दर परिचय दिया है। नगरों का गुण बताते हुए कवि ने गोपाचल नगर, वहाँ के नरेश तथा भट्टारकों आदि का सुन्दर परिचय दिया है। श्रेष्ठतम नगरो का पण्डित एवं गुण बताते हुए कवि ने गोपाचल का वर्णन करते हुए कहा है —

महिवीढि पहाणउं णं गिरिराणउ सुरहं वि मणि विम्भउ जणिउ ।
कउसीसहिं मंडिउ णं इहु पंडिउ गोवायलु णामें भणिउं ॥ पार्श्व १।२।१५–१६ ॥
जुह लच्छी जसायर ण रयणायर बुहयण जुहु णं ईवउए ।
सत्थत्थहिं सोहिउ जणमणु मोहिउ ण करयमरहु एहु पुरु ॥ पार्श्व १।३।१७–१८ ॥

वैसे तो कवि की अधिकांश रचनाओं में ग्वालियर का न्यूनाधिक वर्णन मिलता है तथा हरेक रचना का वह वर्णन अपनी कुछ न कुछ विशेषता लिये हुए है किन्तु पार्श्वपुराण की प्रशस्ति में कवि ने जितना सूचक एवं सुन्दर विस्तृत वर्णन किया है वह अपना अलग ही है, जो इतिहास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजा डूंगरसिंह तथा उनके राजकुमार राजा कीर्तिसिंह के समय में तो ग्वालियर-दुर्ग जैन साहित्य संस्कृति एवं कला का गढ था ही बाद में भी उसके उस रूप में कमी न आ सकी थी। कई जैन साहित्यकारों ने रइधू के बाद साहित्य क्षेत्र की उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा था। महाकवि वाचक मेघविजय जी ने अपनी एक रचना "देवानन्द महाकाव्य" (रचनाकाल सं० १७२७) की रचना भी उसी ग्वालियर दुर्ग में की थी। उसकी अन्त्य प्रशस्ति में कवि ने लिखा है —

एकादश शत श्लोकैं रश्लोकोलोके समेधताम्। वाचकेऽध्यापके चास्य देयान्नित्यं समेधताम् ॥
गोपाचलगिरि दुर्गेऽस्य लेखनं देवनन्दनम्। वाचकैर्मेघविजयैः कृतं सुकृत हेतवे[1] ॥

इतिहास से यह बात सिद्ध है कि गोपाचल की सुरक्षा एवं शान्ति की स्थापना के निमित्त राजा डूंगरसिंह को बड़ी ही मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। कभी-कभी तो कई रातें घोड़े की पीठ पर ही बितानी पड़ी थी। मुगलों के आक्रमणों से लोहा लेना उस समय टेढ़ी खीर थी। फिर भी राजा डूंगरसिंह ने बड़ी ही कुशल सूझ-बूझ से अपने शत्रुओं को नीचा दिखाकर अपने राज्य को सुरक्षित बनाकर उसे समृद्ध बनाया था। कवि ने उनका परिचय देते हुए इनके संकेत भी निम्न पद्य में दिये हैं —

तहिं तोमरकुलसिरिरायहंसु, गुणगणरयणायर लद्धसंसु ।
अण्णाय-णायघासण पवीणु पंचंग मंत सत्थहं पवीणु ॥
अरिराय उरत्थलि दिण्णदाहु समरंगणि पत्तउ विजयलाहु ।
खग्गग्गि डहिय जें मिच्छवंसु जसऊरिय ऊरिय जें दिसंतु ॥
णिव पट्टालंकिय विउलभालु अतुलिय बल खलकुलपलयकालु ।
सिरिणिव गणेसणंदणु पयंडु ण गोरक्खण विहिणउखंडु ॥
सत्तंगरज्ज भर दिण्ण खंधु सम्माणदाण तोसिय सबंधु ।
करवाल पट्टि विप्फुरिय जीहु पच्चंत णिवह भय दलण सीहु ॥
भड विसम साह सुहाम धामु सायरहु तीर सपत्तुणामु ।
छत्तीसाउह पयडण पसिद्ध साहण सायर अणरिउहरिदु ॥

घत्ता—परबलसंतासणु णिवपयसासणु ण सुरवइ बहुपयभणिउ ।
पयजलहर वरसन पहु पुहईं भव डूंगरिंदु णामें भणिउं ॥ दे० वही १।४।१–१२ ॥

रचनाका इतिहास —

भट्टारकों में सहस्रकीर्ति गुणकीर्ति यशःकीर्ति एवं उनके शिष्य खेमचन्द्र का उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है कि गुरु गुणी व्यक्तियों ने विद्याबुद्धि दी है।[2] आगे चलकर उसने श्रीपाल ब्रह्म का नामोल्लेख भी किया है[3]। लेकिन उक्त उल्लेखों

१— देवानन्द महाकाव्य अन्त्यप्रशस्ति सिंधी सीरीज बम्बई से प्रकाशित
२— दे० पार्श्व १।२।२४
३— दे० वही १।७।१

से स्पष्ट नहीं होता कि उनके गुरु कौन थे। पूर्वोक्त भट्टारकों में से कोई एक अथवा श्रीपालब्रह्म? श्रीपालब्रह्म का उल्लेख जिस वातावरण में मिलता है उससे विदित होता है कि सम्भवतः वही इनके गुरु थे। गोपाचल के नेमिविहार (नेमिनाथ जिनमंदिर) में एक दिन खेऊसाहु पहुँचते हैं वहाँ उन्हें श्रीपालब्रह्म के दर्शन होते हैं। उसी समय उनकी दृष्टि सरस्वती-निकेत रइधू पंडित पर जाती है। खेऊसाहु उन दोनों से समालाप करते हैं। इतने में महाकवि रइधू उनके दानादि की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि मैं पार्श्वनाथ चरित की रचना करना चाहता हूँ। इसका भार (सम्भवतः आर्थिक) आपको ग्रहण करना है। इसे सुनकर खेऊसाहु बहुत ही प्रसन्न होते हैं और उनका गुणानुवाद करते हुए उस भार को ले लेने की अपनी स्वीकृति दे देते हैं।[1] इस प्रकार इस रचना का प्रारम्भ हो जाता है।

जब प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना समाप्त हुई तो रइधू ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ खेऊसाहु के लिए वह समर्पित कर दी। इसे पाकर खेऊसाहु इतने अधिक खुश हुए कि उन्होंने द्वीप द्वीपान्तरों से प्राप्त हुए सुन्दर-सुन्दर आभूषण वस्त्रादि भेंट किये। कवि ने भी उनसे सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद दिया। वह पद्य निम्नप्रकार है —

> गहणा विरएप्पिणु सुहमणेण रइधू णामेण वियक्खणेण।
> सपुण्ण करेप्पिणु पयड सत्थु खेऊ साहुहु अप्पियउ सत्थु।
> दीवंतर आगय विविह वत्थु पहिराविउ अइसोहा पसत्थु।
> आहरणहिं मंडिउ पुणु पवित्तु इच्छादाणें रंजियउ चित्तु।
> सन्तुट्ठउ पंडिउ णिय मणम्मि आसीवाउ वि दिण्णउ खणम्मि। (दे. पार्श्वपुराण ७।१।१-८)

पासपुराण की एक विशेषता और भी है। कवि संस्कृत साहित्य की तरह ही इसके अंत में "भरत वाक्य" भी दिया है, जिसमें उसने राष्ट्र, नरेश, जिन शासन, मुनिगण, श्रावकजन तथा श्री खेऊ साहु के प्रति अपनी विभिन्न शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए उनके और इस पार्श्वचरित के 'आचन्द्र दिवाकरौ' तक अमर रहने की मंगल वाणी की है —

> णिवसउ णिवसउ सयलदेसु पयपालउ णरवइ पुणु णरेसु।
> जिणसासणु णंदउ दोसमुक्कु मुणिगणु णंदउ तहिं विसयचुक्कु।
> णंदहु सावयगण पक्खिगणाव जो जिसुणहिं जीवाजीव भाव।
> सिरिखेऊ साहु सुअम्मि रत्तु णंदणहिं समउ णंदउ बहुत्तु।
> णंदउ महि विरसिय महुह कम्मु जो जीवदयावह परमधम्मु।
> जहिणंदउ पासपुराण एहु सज्जणजणाहं वि जणिय णेहु।
> कंचण महिहर आससि दिणिंदु जा पुणु महियलि सुरसरि हिमिंदु।
> ता सयक समि सुणिसिय समिद्ध ता सत्थ णंदउ अत्थसिद्ध। (पार्श्व ७।११।१-८)

महाकवि रइधू की समस्त रचनाओं में से यह रचना भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से बड़ी ही रोचक बन पड़ी है। इसके प्रसंगप्राप्त सैद्धान्तिक विवेचनों की शैली को देखते हुए विदित होता है कि रइधू के बाद शताब्दियों तक यह रचना बड़ी ही लोकप्रिय रही होगी। पं. दौलतरामजी (सं. १८९१) कृत 'छहढाला' का अधिकांश भाग इस रचना को पढ़ने के बाद लिखा गया प्रतीत होता है।

धन्यकुमार चरित्र :—

प्रस्तुत ग्रंथ रइधूकृत एक चरित काव्य में इसकी ४ सन्धियों के ७४ कडवकों में कवि ने धन्यकुमार के चरित का वर्णन है। इसका कथानक भी परम्परा प्राप्त ही है। कवि ने इसकी प्रथम सन्धि में धन्यकुमार के जन्मोत्सव का वर्णन, द्वितीय सन्धि में उसकी एकदम-निधि के लाभ का वर्णन, तृतीय सन्धि में पूर्वभवों का वर्णन तथा अन्तिम चतुर्थ सन्धि में उसके निर्वाण-गमन का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की रचना ग्वालियर (ग्वालियर) के निवासी श्री पुष्पपाल के सुपुत्र श्री भुल्लण के निमित्त राजा गणपतिसिंह के पुत्र राजा डूंगरसिंह (वि. सं. १४८१-१५१०) के राज्य में ग्वालियर में की गई थी।

1—दे. वही १।७।१-१४, १।८।१-१८

धन्यकुमार चरित में कवि ने अपनी पूर्वरचित ४ रचनाओं का उल्लेख किया है जिनके नाम हैं (१) पार्श्वचरित (२) बलभद्र पुराण (३) नेमि चरित (हरिवंश) एवं (४) वर्धमान चरित ।[1] कवि ने अपने गुरु गुणकीर्ति के आदेश से उक्त चरित की रचना की थी जैसा कि कवि ने उल्लेख किया है —

इय जिण मुणिवर विदु आइवि मजवयकाएं ।
पुणु पयडमि अणिसम्मु मुरगुणकित्तिपसाए ॥ (धण्णकुमार १।१।९।१)

इस रचना में भ० गुणकीर्ति का गुरु के रूप में उल्लेख मिलने से कवि के रचना काल के निर्णय में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। गुणकीर्ति का समय वि० सं० १४६८–७३ है। अतः यही काल रइधू की ग्रन्थ-रचना का प्रारम्भ काल माना जा सकता है।[2]

सन्मतिजिन चरित —

प्रस्तुत ग्रन्थ एक सुन्दर चरित काव्य है जिसकी १० सन्धियों के २४६ कडवकों में भ० महावीर के पुण्य-चरित का वर्णन किया है। इसका कथा भाग प्रायः परम्परा प्राप्त है फिर भी छन्दों की विविधता नाना अलंकारों एवं रसों की योजना सरस एवं सहज भाषा शैली के कारण यह रचना काफी आकर्षक बन पड़ी है। इस रचना का प्रशस्ति भाग भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें कवि ने खेल्हा ब्रह्मचारी तथा उनके द्वारा ग्वालियर दुर्ग में निर्मित चन्द्रप्रभ भगवान् की विशाल प्रतिमा 'हिसार नगर की स्थापना गोपाचल वर्णन' आदि कई नवीन सूचनाओं के साथ-साथ पूर्ववर्ती एवं समकालीन भट्टारकों एवं विद्वान् कवियों आदि के नामोल्लेख किये हैं। हिसार-नगर (पंजाब) की स्थापना फीरोजशाह ने की थी इसकी सूचना भी कवि ने दी है —

जोयणिपुराउ पच्छिम दिसाहि सुपसिद्ध णयरु बहुसुहसुयाहि।
णामें हिसारपीरोज (पुरोज ?) अत्थि णाराचिउ पेरोज साहि ण मत्थि।
वणउववणेहि चउपासछिण्णु पथियजणाह पहपउच्छिण्णु।
विउल उरगिणि अइगहीर वयतुमचक्कमहियसरीर। (दे० सम्मति १।६।४–७)

प्रस्तुत रचना में कवि ने गोपाचल (ग्वालियर) का जैसा वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि वह एक प्रकार से धमनपुरी ही थी। कवि ने अपनी साहित्य साधना वहीं की थी। यद्यपि उन्होंने हिसार तक की यात्रा की थी तथा वहाँ भी वे अपनी रचनाएँ लिखते रहे लेकिन बहुत कम। गोपाचल ही उनके लिए प्रिय स्थान रहा था। गोपाचल-दुर्ग में बैठकर भी उन्होंने कुछ ग्रन्थ लिखे थे जिनमें सम्भवतः सम्मतिचरित भी एक था। यथा —

गोवग्गिरि दुग्गमि विवमंतउ बहुसुहेण तहिं (सम्मति १।३।९)

भ० यशःकीर्ति के शिष्य खेल्हा नामक ब्रह्मचारी का उल्लेख भी कवि ने किया है जिसने कि सांसारिक झंझटों से ऊबकर मानसिक शांति हेतु चन्द्रप्रभु भगवान् की मूर्ति का निर्माण कराया था।[3]

'सन्मति जिन चरित' में कवि ने अपनी पूर्व विरचित रचनाओं का इस प्रकार उल्लेख किया है —

(१) पार्श्व चरित (२) मेघेश्वर-चरित (३) महापुराण (४) कुंथुनाथ-स्तुति (५) सिद्धचक्र-माहात्म्य (६) बलभद्र पुराण (७) सुदर्शन चरित एवं (८) धन्यकुमार चरित। इन रचनाओं में 'कुंथुनाथ स्तुति' विशिष्ट है जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

१—दे० धण्णकुमार १।२।४–७।
२—दे० धन्यकुमार १।१।१ १।३।१–२ १।३।१ १।४।८–९ ४।१९।११
३—दे० सम्मति १।४।७–११
४—दे० सम्मति १।६।५
५—दे० वही १।२८।१५–१६ १।२९।१–३
६—दे० सम्मति १।४।०–१३
७—दे० वही १।९।१–२

अपने पूर्ववर्ती कवियों में रइधू ने चउमुह, स्वयम्भू, पुष्पदंत एवं वीर का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम तीन कवियों के सम्बन्ध में तो विद्वानों ने काफी प्रकाश डाला है लेकिन चौथे कवि वीर (११वीं सदी) के विषय में विद्वानों का ध्यान अभी हाल में गया है। इनकी एक अपभ्रंश भाषा निबद्ध 'जंबू सामिचरिउ' नामक रचना मिलती है जो अप्रकाशित है।[1]

प्रस्तुत रचना में कवि ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन भट्टारकों की भी एक महत्त्वपूर्ण सूची दी है जो इस प्रकार है — (१) देवसेन (२) विमलसेन (३) धर्मसेन (४) भावसेन (५) सहस्रकीर्ति (६) गुणकीर्ति (वि सं १४६८-८६) (७) यशःकीर्ति (वि सं १४८६-१४९७) (८) मलयकीर्ति (वि सं १५ २-१५१०) एवं (९) गुणभद्र (वि० सं० १५१ -१५३०)।[2]

भट्टारक यशःकीर्ति के खेमचन्द्र हरिषेण तथा श्रीपाल-ब्रह्म नामक तीन शिष्यों का उल्लेख भी कवि ने इस रचना में किया है जिनमें से तृतीय शिष्य को कवि ने कुछ रचनाओं में अपना गुरु माना है।[3]

प्रस्तुत रचना से यह भी विदित होता है कि महाकवि रइधू का दूसरा नाम सिंहसेन था (दे सम्मति १।५।१०-११)। इसके विषय में 'मेघेश्वर चरिउ' नामक रचना के परिचय में विशेष प्रकाश डाला जा चुका है।

वित्तसार —

वित्तसार' महाकवि रइधू द्वारा विरचित एक सिद्धान्त-परक ग्रन्थ है जिसमें संधि के स्थान में अंक तथा कड़वक के स्थान में गाथा छन्द की योजना की गई है। इसके कुल ६ अंकों में ८५ गाथाएँ हैं। वित्तसार की भूमिका की एक ही गाथा में कवि ने अपने ग्रन्थ के सभी अंकों के विषय सूचित कर दिए हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

दंसणसम्मत्तपरूवणं गुणठाणाण णिरूवणं विविधं।
कम्मं अणुपेहा तह धम्मं तह छट्ठमं झाणं ॥ (१।१६)

अर्थात् वित्तसार के प्रथम अंक (की ११ गाथाओं) में सम्यग्दर्शन का निरूपण द्वितीय अंक (की ११ गाथाओं) में मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानों के स्वरूप निर्देश तृतीय अंक (की ७४ गाथाओं) में कर्मबन्ध का स्वरूप चतुर्थ अंक (की ९ गाथाओं) में अनुप्रेक्षा वर्णन पाँचवें अंक (की ८६ गाथाओं) में उत्तम क्षमादि दसधर्मों के लक्षण एवं अन्तिम छठें अंक (की ११५ गाथाओं) में ध्यान (आदि) का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत रचना भी साहू साहु के निमित्त रची गई थी। सांसारिक प्रपंचों से भयभीत होकर उन्होंने महाकवि रइधू से किसी एक सुन्दर सिद्धान्त परक रचना के निर्माण कर देने की प्रार्थना की थी।

उक्त ग्रंथ का विषय एवं रचना-शैली स्वामिकार्तिकेय कृत 'द्वादशानुप्रेक्षा' का स्मरण कराती है। सुन्दर, सरस एवं बड़ी ही मार्मिक शैली से कवि ने इसमें करणानुयोग चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का वर्णन किया है। बीच-बीच में कवि रइधू जब साहू साहु को सम्बोधित करते हैं तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि मानो किसी पहुँचे हुए महर्षि अथवा महोपदेशक का प्रवचन अपने सम्मुख ही चल रहा है।

वित्तसार के लेखन में कवि ने "उक्तं च" कहकर कई पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं के उद्धरण अपने विषय के समर्थन हेतु उद्धृत किये हैं, जिनमें महाकवि पद्मनन्दि (सम्भवतः ११वीं सदी) कृत एकत्वसप्ततिका प आशाधर (१३वीं सदी) कृत अनगार-धर्मामृत देवसेन (१०वीं सदी) कृत भावसंग्रह आदि प्रमुख हैं। कुछ तात्त्विक स्थलों में कवि की दार्शनिक पद्धति भी देखने को मिलती है और "मीमांसापेक्षि" इति "चार्वाक मिथ्यात्व" "क्षणिकवाद" आदि कहकर दार्शनिक दृष्टि से विषय का प्रतिपादन किया है। कवि ने कुछ गाथाओं का संस्कृत भाष्य भी किया है। इस प्रकार उक्त रचना साहित्यिक शैली तथा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपना अलग ही स्थान रखती है।

इस प्रकार रइधू-साहित्य का परिचय उक्त पंक्तियों में देने के बाद मैं अपने इस लेख को समाप्त करता हूँ। यह प्रस्तुत लेख की समाप्ति अवश्य है लेकिन इससे ही रइधू के सम्पूर्ण साहित्य का परिचय समाप्त नहीं हो जाता। वस्तुतः रइधू

१—दे सम्मति १।०।२१-२४
२—दे वही १।२९।११ १।१ ।१-२४
३—दे वही १।२८।९-१ ।

साहित्य तो एक ऐसा अगाध समुद्र है जिसके ओर छोर एवं गहराई अपरिचित ही हैं। इसकी माप-जोख के लिए किसी ऋषि तुल्य अनुभववृद्ध महान् साधक की निःस्वार्थ साधना तथा अथक एवं अनवरत श्रम की आवश्यकता है। ऐसे समुद्र में सहसा ही अवगाहन करने से हृदय में मूक होने की सम्भावनाएं जानते हुए भी उस पर कुछ लिखने का जो साहस यहां किया गया है उसका एक मात्र उद्देश्य अन्धकार में छिपे हुए एक महाकवि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण किन्तु अप्रकाशित रचनाओं का संक्षिप्त परिचय जिज्ञासु पाठकों के समक्ष उपस्थित करना ही है।

प्रस्तुत निबन्ध में उक्त महाकवि की अन्य रचनाओं के विषय में भी कुछ लिखने की इच्छा थी लेकिन लेख विस्तार के भय से मैं उन्हें यहां नहीं दे रहा हूं। इस निबन्ध में प्रस्तुत रचनाओं सम्बन्धी अन्य आवश्यक उद्धरणों को देने की भी इच्छा थी लेकिन उन्हें न दे सकने का भी प्रमुख कारण पूर्वोक्त ही है, किन्तु वे सभी मेरे पास क्रमवार सुरक्षित हैं जो आवश्यकतानुसार व्यवहृत किये जा सकेंगे।

जैन-भक्तिकाव्य

(ले॰ डा प्रेमसागर जैन अध्यक्ष हिन्दी विभाग जैन कालेज, बड़ौत उ प्र॰)

यद्यपि हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, भक्तिरसायन नारद भक्तिसूत्र और शाण्डिल्य सूत्रों की भाँति जैन परम्परा में किसी भक्तिसूत्र का निर्माण नहीं हुआ किन्तु अनेक जैन सैद्धान्तिक ग्रन्थों में भक्ति सबंधी विवेचन उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्द कुन्द (ईसा की प्रारंभिक शताब्दियाँ) ने सिद्ध-भक्ति श्रुत भक्ति चारित्र-भक्ति योगि-भक्ति आचार्य भक्ति और निर्वाण-भक्ति पर प्राकृत भाषा में लिखा था। ये भक्तियाँ आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका और पं जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी अनुवाद सहित 'दशभक्ति' नाम की पुस्तक में शोलापुर से सन् १९२१ में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के बोध पाहुड और मोक्षपाहुड में भी भक्तिपरक तत्त्वों की व्याख्या की गई है।

आचार्य उमास्वाति (वि स दूसरी शताब्दी) के तत्त्वार्थसूत्र में श्रद्धा विनय और वैयावृत्य के सम्बन्ध में अनेक सूत्रों का निर्माण हुआ है। उन्होंने एक सूत्र के द्वारा तीर्थंकरत्व नामकर्म के उदय में भक्ति को कारण कहा है। आचार्य उमास्वाति के इस सूत्र पर आगे के काल में अनेकात्मक भाष्य और वृत्तियों की रचना हुई। उनमें आचार्य पूज्यपाद (वि॰ सं पाँचवीं शताब्दी) के 'सर्वार्थसिद्धि' आचार्य अकलंक (वि सं सातवीं शताब्दी) के 'तत्त्वार्थवार्तिक' और आचार्य श्रुतसागर (वि स १६ वीं शताब्दी) के 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम के ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें उपर्युक्त भक्ति संबंधी सूत्रों की विशद व्याख्या की गई है। *इन भाष्यकारों ने यथास्थान मौलिक तथा नवीन बातों का भी समावेश किया है।*

उमास्वाति के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र के 'समीचीन धर्म शास्त्र' में श्रद्धा विनय वैयावृत्य जिनेन्द्र और गुरु-भक्ति पर तात्त्विक रूप से विचार किया गया है। वे अपनी परीक्षा की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही जिनेन्द्र के परम भक्त बने थे। उन्होंने अपनी श्रद्धा को सुश्रद्धा कहा है। उस समय का भारतीय वातावरण उनके तर्क और पाण्डित्य का लोहा मानता था।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त दश-भक्तियाँ भी संस्कृत में लिखी हैं। ये 'दशभक्ति' नाम की पुस्तक में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्हीं आचार्य के समाधितंत्र और इष्टोपदेश में भी समाधि और गुरुभक्ति से सम्बन्धित अनेक प्रकरण बिखरे पड़े हैं। विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के ही आचार्य सिद्धसेन के द्वात्रिंशिका स्तोत्र में भी भक्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है।

आचार्य योगीन्दु (छठी शताब्दी ईसवी) ने परमात्मप्रकाश-योगसार की रचना की थी। यह अपभ्रंश भाषा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन परमश्रुतप्रभावकमण्डल बम्बई, से हो चुका है। इसमें भगवान् सिद्ध और आत्मा की एकरूपता दिखाते हुए उनकी भक्ति का निरूपण किया गया है। डा ए एन उपाध्ये ने इस ग्रंथ को रहस्यवादी कहा है।

आचार्य यतिवृषभ (वि स छठी शताब्दी) की तिलोयपण्णत्ति (प्राकृत) में जिनेन्द्र के पंचकल्याणक और तत्सम्बन्धी भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। उन्होंने अकृत्रिम मन्दिरों देवमूर्तियों देवियों और देवों की भक्ति के विषय में पर्याप्त लिखा है। भक्ति के प्रमुख अंग वन्दना का विचार, उत्तराध्ययनसूत्र आवश्यकनिर्युक्ति और बृहत्कल्पभाष्य में सभी दृष्टियों से किया गया है।

आचार्य शिवार्यकोटि (वि स सातवीं शताब्दी) के भगवती आराधना ग्रन्थ में जैन भक्ति पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होंने जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों के आधार से भक्ति का विवेचन किया है। इस विशालकाय ग्रंथ में अनेक स्थलों पर पंच-परमेष्ठी की श्रद्धा सेवा विनय वैयावृत्य और अनुराग परक भक्ति की सार्थकता सिद्ध की गई है। श्री जिनदास गणी (वि स सातवीं-आठवीं शताब्दी) की निशीथचूर्णि में 'सेवा या सा भत्ति" कहकर जिनेन्द्र सेवा पर बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है। श्री देवसेन (११वीं शती ईसवी) ने अपने भाव संग्रह में पंचपरमेष्ठी के ध्यान का वर्णन अनेक दोहों में किया है। आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक (वि स १ १६) और आचार्य वसुनन्दि के वसुनन्दि श्रावकाचार' (वि सं १२वीं शताब्दी) में भक्ति के अनेक अंग-उपांगों की व्याख्या प्राप्त होती है।

जैन मंत्र-ग्रंथ देव देवियों की भक्ति से सम्बन्धित हैं। इनमें आचार्य मल्लिषेण का 'भैरव पद्मावतीकल्प' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसमें देवी पद्मावती की साधना के लिये विविध मंत्रों का निर्माण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि में भी देविया की साधना से सम्बन्धित सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है।

जैन भक्ति का स्वरूप :—

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखा है 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः'। इसका तात्पर्य है कि अर्हन्त आचार्य बहुश्रुत और प्रवचन में भावविशुद्धियुक्त होकर अनुराग करना भक्ति है। आचार्य सोमदेव ने भी यशस्तिलक में "जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे। सद्भावविशुद्धिसम्पन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥" लिखा है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उस वीतराग भगवान् में—जो स्वयं राग रहित है और जो राग त्यागने का उपदेश देता है अनुराग कैसे सम्भव है? राग कैसा ही हो कर्मों के बन्ध का कारण है।

आचार्य कुन्दकुन्द के कथनानुसार वीतराग भगवान् में किया गया अनुराग पाप के बन्ध का मनागपि किंचित् भी कारण नहीं है। उनकी दृष्टि से पंचपरमेष्ठी में राग करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है। आचार्य योगीन्दु का कथन है कि "पर" में होने वाला राग ही बन्ध का हेतु है "स्व" में होनेवाला नहीं। वीतरागी परमात्मा "पर" नहीं अपितु 'स्व' आत्मा ही है। अतः जिनेन्द्र में राग करना अपनी आत्मा में ही प्रेम करना है। "स्व" में राग करनेवाला मोक्षगामी होता है।

इसके अतिरिक्त वह ही राग बन्ध का कारण है जो सांसारिक स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया हो। निष्काम अनुराग में कर्मों को बांधने की शक्ति नहीं होती। वीतराग में किया गया अनुराग निष्काम ही है। वीतरागता पर रीझकर ही भक्त ने वीतराग में अनुराग किया है। इसके उपलक्ष्य में यदि वीतरागी भगवान् अपने भक्त में अनुराग करने लगें तो भक्त का रीझना ही समाप्त हो जायगा। वह भगवान् से अपने ऊपर न दया चाहता है न अनुग्रह और न प्रेम।

आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में श्रद्धा को ही भक्ति कहा गया है। पाइय-सद्-महण्णवो में भी भक्ति के पर्यायवाचियों में सेवा के साथ श्रद्धा की भी गणना है। आचार्य समन्तभद्र ने समीचीन धर्मशास्त्र में श्रद्धान् और भक्ति का एक ही अभिप्राय माना है। वे आप्तादि के श्रद्धान् को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने 'सम्यग्दर्शन' के 'दर्शन' शब्द का अर्थ श्रद्धान् ही किया है। उन्होंने तत्त्वज्ञान के पहले तत्त्वश्रद्धान को इष्ट माना है। उनकी दृष्टि में तत्त्वज्ञान तत्त्वश्रद्धान के बिना नहीं हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है किन्तु अकलंकदेव का मत है कि आत्मा का दर्शन तब तक नहीं हो सकता जब तक वैसा करने की श्रद्धा जन्म न ले।

श्रावक शब्द के 'श्रा' का अर्थ भी श्रद्धा ही लिया गया है। अभिधान राजेन्द्रकोष में लिखा है "श्रान्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः"। श्रावक श्रद्धा के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार का फल पा जाता है। वह अपनी आत्मा को देखने का प्रयास नहीं करता किन्तु जिनेन्द्र में श्रद्धा करता है। जिनेन्द्र और आत्मा का स्वभाव एक ही है। अतः वह जिनेन्द्र की श्रद्धा से अपनी शुद्ध आत्मा को जान जाता है। किन्तु यह श्रद्धा सम्यक् श्रद्धा होनी चाहिये अन्धश्रद्धा का यत्किंचित् मूल्य भी जैन शास्त्रों में नहीं आंका गया। अपनी सुश्रद्धा के कारण ही आचार्य समन्तभद्र जिनेन्द्र के दृढ़ भक्त बन सके थे। इसका अर्थ है कि जैन आचार्यों ने सुश्रद्धा के प्रगाढ़ रूप को ही भक्ति कहा है।

निशीथचूर्णि में "अब्भुट्ठाणदंडग्गहण-पाय-पुंछणासणप्पदाणगहणादीहिं सेवा जा सा भत्ति" लिखा है। इसका अर्थ है—आचार्य के सम्मान में खड़े हो जाना दण्ड ग्रहण करना पांव पोंछना आसन देना आदि जो सेवा है वह ही भक्ति है। पाइयसद्दमहण्णवो में "सेवाया भक्तिर्विनय" कहकर भक्ति का अर्थ सेवा तो लिया ही है सेवा का अर्थ भी विनय किया है। आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र में विनय के ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचारः रूप में चार भेद माने हैं। इनमें उपचार विनय का सेवा से सीधा सम्बन्ध है। आचार्य पूज्यपाद ने उपचार विनय आचार्यों के पीछे पीछे चलने सामने आने पर खड़े हो जाने अञ्जलिबद्ध होकर नमस्कार करने को कहा है।

इस भांति यह सिद्ध हुआ कि जिनेन्द्र के अनुराग श्रद्धा और सेवा करने को भक्ति कहते हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार जिनेन्द्र न कर्त्ता है और न भोक्ता फिर भक्त अपनी स्तुतियों में उसका कर्त्ता क्यों कहता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—वीतराग भगवान् को पूजा वन्दना से कोई तात्पर्य नहीं है क्योंकि वे स्वयं रागा से रहित है। निन्दा से भी उनका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उनमें से वैरभाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य

गुणों का स्मरण भक्त के चित्त को पाप मलों से पवित्र करता है। भगवान को भक्त के इस स्मरण का भान भी नहीं होता किन्तु उन्हीं के गुणों के स्मरण से भक्त का चित्त पवित्र बना और पाप मल धुले। अतः वह तो उन्हें कर्ता कहता ही है। इसी दृष्टि को लेकर जैन भक्त अपनी रचनाओं में जिनेन्द्र से कभी याचना करता है, कभी प्रार्थना और कभी विनती।

प्राचीन भक्ति-परक काव्य —

स्तुति-स्तोत्र स्तव-स्तवन अथवा पूजा और मंगलाचरण के रूप में जैनों का प्राचीन भक्ति काव्य बहुत अधिक है। यह साहित्य प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में लिखा गया था। प्राकृत का 'जयतिहुअण स्तोत्र' सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। बृहद्द्रव्यसंग्रह की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका के आधार पर सिद्ध है कि इसके रचयिता भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर गौतम थे। भगवान् महावीर के समवसरण में प्रविष्ट होते ही गौतम ने इसी स्तोत्र से उनको नमस्कार किया था। भद्रबाहु स्वामी का 'उवसग्गहर स्तोत्र' भी बहुत प्राचीन है। उसमें भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से सम्बन्धित पाँच पद्यों की रचना हुई है। भद्रबाहु भगवान् महावीर के निर्वाण के १७ वें वर्ष मोक्ष गये थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने भक्ति-परक अनेक स्तुतियों का निर्माण प्राकृत भाषा में ही किया था। उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'तित्थयरथुति' की भी रचना की थी। इसमें आठ गाथाएँ हैं जिनमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसे 'लोगस्ससुत्त' भी कहते हैं। मानतुंगसूरि (तीसरी सदी ई०) का २१ पद्यात्मक भयहर स्तोत्र भी प्राकृत भाषा का एक मनोहारी काव्य है।

संस्कृत भाषा में तो उत्तमोत्तम जैन स्तुति स्तोत्रों की रचना हुई। आचार्य समन्तभद्र के स्वयम्भू-स्तोत्र तथा स्तुति-विद्या समूचे भारतीय भक्ति-साहित्य के जगमगाते रत्न हैं। हृदय की भक्ति परक ऐसी कोई धड़कन नहीं जो इनमें सफलता के साथ अभिव्यक्त न हुई हो। भाव और कला का ऐसा अनूठा समन्वय भारत के किसी अन्य स्तोत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। शंकराचार्य के भज गोविन्दं और जयदेव के गीतगोविन्द में स्वरलहरी भले ही मनमोहक हो किन्तु उनकी भावधारा में 'स्वयम्भू स्तोत्र' जैसा अजस्र प्रवाह नहीं है। आचार्य सिद्धसेन (वि० सं० पाँचवीं शताब्दी) के 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' विद्यानन्दि पात्रकेसरी (ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी) के 'बृहत्पंचनमस्कार स्तोत्र' मानतुंगाचार्य (वि० सं० सातवीं शताब्दी-मुनि चतुर विजय) के 'भक्तामर स्तोत्र' भट्टाकलंक (वि० सं० सातवीं शताब्दी) के अकलंक स्तोत्र बप्पभट्टि (ई० ७४३-८३८) के 'चतुर्विंशति जिन स्तोत्र' धनंजय (वि० सं० आठवीं-नौवीं शताब्दी) के विषापहार स्तोत्र और आचार्य हेमचन्द्र (जन्म सं० ११४५, मृत्यु सं० १२२९) के 'वीतराग स्तोत्र' में भक्ति रस चरम आनन्द की सीमा तक पहुँच गया है। इनमें भी भक्तामर स्तोत्र की ख्याति सबसे अधिक है। इसमें ४८ पद्य हैं। सादृश्य विधायक उपमा उत्प्रेक्षा और रूपकों के प्रयोग से बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की ऐसी सफल अभिव्यक्ति कम स्तोत्रों में देखी जाती है। भक्तामर स्तोत्र का पढ़ने वाला आज भी भाव-विभोर और तन्मय हुए बिना नहीं रहता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अपभ्रंश में स्तुति स्तोत्रों का निर्माण नहीं हुआ। इसी आधार पर वे हिन्दी के भक्ति-काव्य को अपभ्रंश से प्रभावित नहीं मानते। किन्तु जैन भण्डारों की खोज के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि संस्कृत और प्राकृत की भाँति ही अपभ्रंश में भी स्तोत्र और स्तवनों की रचना हुई थी। कवि धनपाल (वि० सं० ११ वीं शताब्दी) ने 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' जिनदत्त सूरि (जन्म ११३२, मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'चर्चरी' और 'नवकारफलकुलक' तथा देवसूरि (जन्म ११४३ मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'मुनिचन्द्रसूरि स्तुति' का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। एक भी जिनप्रभ सूरि हुए हैं जिनको डा० विण्टरनित्स ने सुल्तान फीरोज (वि० सं० १२२०-१२९६) का समकालीन बतलाया है। वे जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प के रचयिता जिनप्रभसूरि से भिन्न थे। उन्होंने चर्चरी-स्तुति जिनजन्ममह स्तोत्रम् जिनजन्माभिषेकः जिनमहिमा और मुनिसुव्रत स्तोत्रम् की रचना की थी। श्री धर्मघोषसूरि (वि० सं० ११ ९-११५७) ने भी महावीर-कलश का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। पाटन के जैन भण्डार में अपभ्रंश का भक्ति-साहित्य इतना अधिक है कि उस पर पृथक शोध की आवश्यकता है। जैनों में अनेक कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने एक स्तोत्र में छः भाषाओं का प्रयोग किया है। उनमें सोमसुन्दर सूरि (वि० सं० १४३०-१४९९) का 'षड्भाषामय स्तोत्रादि' प्रसिद्ध है। यह जैन-स्तोत्र समुच्चय में प्रकाशित हो चुका है।

जैन देवियों की भक्ति में भी अनेक स्तुति स्तोत्रों की रचना हुई थी। मैंने पी० एच० डी० के लिये प्रस्तुत किये गये अपने शोध निबन्ध में देवी पद्मावती, अम्बिका चक्रेश्वरी ज्वालामालिनी सरस्वती सच्चियाय और कुरुकुल्ला के पुरातात्विक देविहा

त्विक और वैज्ञानिक विवेचन के साथ-साथ भक्ति परक स्तुति-स्तोत्रों का भी निरूपण किया है। मल्लिषेणसूरि (वि सं ११वीं १२वीं शताब्दी) ने 'भैरव पद्मावतीकल्प' की रचना की जो देवी पद्मावती से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके १ अध्यायों में ४ स्तोत्र निबद्ध हुए हैं। इसका तीसरा अध्याय 'भगवती वराधना' के नाम से गूंथा गया है। यह ग्रन्थ अहमदाबाद और सूरत से प्रकाशित हो चुका है। अहमदाबाद वाले प्रकाशन में जिनप्रभसूरि (१३वीं शताब्दी ईसवी) की पद्मावती चतुष्पदिका भी छप चुकी है। इसमें ३७ पद्य हैं। इन्हीं सूरि जी ने प्राकृत भाषामें भी पद्मावती चतुष्पदी की रचना की थी, जिसमें ५१ गाथाएँ हैं। जैन स्तोत्र संदोह के "ध" परिशिष्ट में एक पद्मावत्यष्टक दिया है जिसकी वृत्ति के रचयिता श्री पार्श्वदेवगणि (वि सं ११७१) थे। सूरत वाले भैरव पद्मावतीकल्प में पद्मावती सहस्रनाम पद्मावतीकवच और पद्मावती-स्तोत्र दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त श्री बप्पभट्टसूरि (आठवीं सदी ईसवी) न सरस्वती स्तोत्र श्री देवसूरि ने कुरुकुल्ला देवी स्तवनम् जिनदत्तसूरि (१२ वीं शताब्दी वि सं) ने अम्बिका स्तुति और जिनदत्तसूरि ने चक्रेश्वरी स्तोत्र का निर्माण किया था। इससे स्पष्ट है कि जैन देवियों की भक्ति जिनेन्द्र के भक्तों की भक्ति है। जैन देवियाँ हिन्दू देवियों की भाँति स्वतन्त्र नहीं थी। उनको जिनेन्द्र की शासनदेवी कहा जाता है। उन पर भी तांत्रिक युग का प्रभाव है किन्तु उनमें मांस भक्षण नर रुधिर का पान और व्यभिचारादि जैसी प्रवृत्तियों का कभी जन्म नहीं हुआ है।

उपर्युक्त स्तुति-स्तोत्रों की भाँति ही पूजा वन्दना और मंगलाचरणों के रूप में जैन-भक्ति की विविध प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ है। इन सब में मंगलाचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति और आचार्य विद्यानन्दि की आप्तपरीक्षा में मंगल का तात्त्विक विवेचन किया गया है। जैनों का सबसे प्राचीन मंगलाचरण "णमो अरहंताण वाला मंत्र है। वैसे तो इस मंत्र को अनादि निधन कहा जाता है किन्तु उपलब्ध साहित्य में भगवन् पुष्पदन्त भूतबलि के षट्खण्डागम का प्रारम्भ इसी मंगलाचरण से हुआ है। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश के सभी जैन ग्रंथों का प्रारम्भ किसी न किसी मंगलाचरण से हुआ है। ये मंगलाचरण जैन भक्ति के सर्वोत्तम निदर्शन हैं। इनमें सबसे बड़ी विशेषता है कि इनके नाम पर विभाजिता को थोड़ा भी प्रश्रय नहीं दिया गया जब कि शिव-पार्वती की भक्ति में लिखे गये अनेक मंगलाचरण ऐसी भावनाओं का नियंत्रण नहीं कर सके।

वन्दना भी जैन भक्ति का मुख्य अंग है। वन्दनक सूत्र पर लिखी गई भद्रबाहुनिर्युक्ति में उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्रों में, हरिभद्रसूरि के वन्दना पंचाशक में तथा वट्टकेरकृत मूलाचार में वन्दना का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है। अरहन्तवन्दन और चैत्यवन्दन पर अनेक स्तुतिस्तोत्र उपलब्ध हैं। श्री जिनदत्तसूरि के चैत्यवन्दनकुलक में २८ गाथाएं हैं। जिनप्रभसूरि के वंदन स्थान विवरण में १५ प्राकृत की गाथाएं हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने देवाधिदेव जिनेन्द्र के चरणों की परिचर्या अर्थात् सेवा करने को ही पूजा कहा है। अष्टद्रव्यरूप पूजा का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में उपलब्ध होता है। इसके उपरान्त पंचपरमेष्ठी विविध तीर्थंकर नन्दीश्वर द्वीप कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों की भक्ति में अधिकाधिक पूजाओं का निर्माण हुआ। ये पूजाएँ प्रायः संस्कृत और हिन्दी में ही रची गईं। इनके अंत में लिखित जयमालाएं भक्ति-साहित्य का मूल्यवान अंश हैं। इन पूजाओं के अनेक संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें भारतीय ज्ञानपीठ-पूजाञ्जलि महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में द्यानतराय की पूजाएँ संगीत लय भाव और भाषा सभी दृष्टियों से उत्तम हैं। जैन और अजैन पूजा साहित्य के तुलनात्मक विवेचन से अनेक नई बातें ज्ञात हो सकती हैं।

हिन्दी का जैन भक्ति-काव्य —

हिन्दी का भक्ति-काव्य अपनी ही उपर्युक्त पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। उसका विभाजन निष्कल भक्तिधारा और सकल भक्तिधारा के रूप में किया जा सकता है। निष्कल ब्रह्म सिद्ध को कहते हैं। सिद्ध अरूप हैं और स्थूल आकार से रहित हैं। वे मोक्ष में विराजमान हैं। उनमें सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान वीर्य सूक्ष्मता अवगाहन अगुरुलघु और अव्याबाध नाम के आठ गुण होते हैं। आचार्य योगीन्दु ने सिद्ध और शुद्ध आत्मा का एक ही रूप माना है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि आठ कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है उसे ही सिद्धि कहते हैं और ऐसी सिद्धि करने वाला ही सिद्ध कहलाता है। पं आशाधर ने सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है "सिद्धि स्वात्मोपलब्धि संजाता यस्य इति सिद्धि।"

गुणों का स्मरण भक्त के चित्त को पाप मलों से पवित्र करता है। भगवान को भक्त के इस स्मरण का भान भी नहीं होता किन्तु उन्हीं के गुणों के स्मरण से भक्त का चित्त पवित्र बना और पाप मल धुले। अत: वह तो उन्हें कर्ता कहता ही है। इसी दृष्टि को लेकर जैन भक्त अपनी रचनाओं में जिनेन्द्र से कभी याचना करता है, कभी प्रार्थना और कभी विनती।

प्राचीन भक्ति-परक काव्य —

स्तुति-स्तोत्र स्तव-स्तवन अथवा पूजा और मंगलाचरण के रूप में जैनों का प्राचीन भक्ति काव्य बहुत अधिक है। यह साहित्य प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में लिखा गया था। प्राकृत का 'जयतिहुअण स्तोत्र' सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। बृहद्द्रव्यसंग्रह की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका के आधार पर सिद्ध है कि इसके रचयिता भगवान् महावीर के *प्रमुख गणधर गौतम थे। भगवान् महावीर के समवसरण में प्रविष्ट होते ही गौतम ने इसी स्तोत्र से उनका नमस्कार किया था।* भद्रबाहु स्वामी का 'उवसग्गहर स्तोत्र' भी बहुत प्राचीन है। उसमें भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से सम्बन्धित पाँच पद्यों की रचना हुई है। भद्रबाहु भगवान् महावीर के निर्वाण के १७० वें वर्ष मोक्ष गये थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने भक्ति-परक अनेक स्तुतियों का निर्माण प्राकृत भाषा में ही किया था। उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'तित्थयरभत्ति' की भी रचना की थी। इसमें आठ गाथाएँ हैं, जिनमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसे 'लोगस्ससुत्त' भी कहते हैं। मानतुंगसूरि (तीसरी सदी ई०) का २१ पद्यात्मक भयहर स्तोत्र भी प्राकृत भाषा का एक मनोहारी काव्य है।

संस्कृत भाषा में तो उत्तमोत्तम जैन स्तुति स्तोत्रों की रचना हुई। आचार्य समन्तभद्र के स्वयम्भू-स्तोत्र तथा स्तुति विद्या समूचे भारतीय भक्ति-साहित्य के जगमगाते रत्न हैं। हृदय की भक्ति परक ऐसी कोई धड़कन नहीं जो इनमें सफलता के साथ अभिव्यक्त न हुई हो। भाव और कला का ऐसा अनूठा समन्वय भारत के किसी अन्य स्तोत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। शंकराचार्य के भज गोविन्दं और जयदेव के गीतगोविन्द में स्वरलहरी भले ही मनमोहक हो किन्तु उनकी भावधारा में 'स्वयम्भू स्तोत्र' जैसा अजस्र प्रवाह नहीं है। आचार्य सिद्धसेन (वि० सं० पाँचवी शताब्दी) के 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' विद्यानन्दि पात्रकेसरी (ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी) के 'बृहत्पञ्चनमस्कार स्तोत्र' मानतुंगाचार्य (वि० सं० सातवीं शताब्दी-मुनि चतुर विजय) के 'भक्तामर स्तोत्र' भट्टाकलंक (वि० सं० सातवीं शताब्दी) के अकलंक स्तोत्र बप्पभट्टि (ई० ७४३-८३८) के 'चतुर्विंशति जिन स्तोत्र' धनंजय (वि० सं० आठवीं-नौवीं शताब्दी) के विषापहार स्तोत्र और आचार्य हेमचन्द्र (जन्म सं० ११४५, मृत्यु सं० १२२९) के 'वीतराग स्तोत्र' में भक्ति-रस चरम आनन्द की सीमा तक पहुँच गया है। इनमें भी भक्तामर स्तोत्र की ख्याति सबसे अधिक है। इसमें ४८ पद्य हैं। सादृश्य विधायक उपमा उत्प्रेक्षा और रूपकों के प्रयोग से बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की ऐसी सफल अभिव्यक्ति कम स्तोत्रों में देखी जाती है। भक्तामर स्तोत्र का पढ़ने वाला आज भी भाव-विभोर और तन्मय हुए बिना नहीं रहता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अपभ्रंश में स्तुति स्तोत्रों का निर्माण नहीं हुआ। इसी आधार पर वे *हिन्दी के भक्ति-काव्य* को अपभ्रंश से प्रभावित नहीं मानते। किन्तु जैन भण्डारों की खोज के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि संस्कृत और प्राकृत की भाँति ही अपभ्रंश में भी स्तोत्र और स्तवनों की रचना हुई थी। कवि धनपाल (वि० सं० ११ वीं शताब्दी) ने 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' जिनदत्त सूरि (जन्म ११३२, मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'चर्चरी' और 'नवकारफलकुलक' तथा देवसूरि (जन्म ११५१ मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'मुनिचन्द्रसूरि स्तुति' का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। एक भी जिनप्रभसूरि हुए हैं, जिनको डा० विण्टरनित्स ने सुल्तान फीरोज (वि० सं० १२२०-१२९६) का समकालीन बतलाया है। ये जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प के रचयिता जिनप्रभसूरि से भिन्न थे। उन्होंने चर्चरी-स्तुति जिनजन्ममह स्तोत्रम् जिनजन्माभिषेक जिनमहिमा और मुनिसुव्रत स्तोत्रम् की रचना की थी। श्री धर्मघोषसूरि (वि० सं० ११ ९-११५७) ने भी महावीर-कलश का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। पाटण के जैन भण्डार में अपभ्रंश का भक्ति-साहित्य इतना अधिक है कि उस पर पृथक् खोज की आवश्यकता है। जैनों में अनेक कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने एक स्तोत्र में छः भाषाओं का प्रयोग किया है। उनमें सोमसुन्दर सूरि (वि० सं० १४३०-१४९९) का 'षड्भाषामय स्तोत्रादि' प्रसिद्ध है। यह जैन-स्तोत्र समुच्चय में प्रकाशित हो चुका है।

जैन देवियों की भक्ति में भी अनेक स्तुति स्तोत्रों की रचना हुई थी। मैंने पी० एच० डी० के लिये प्रस्तुत किये गये अपने शोध निबन्ध में देवी पद्मावती अम्बिका चक्रेश्वरी ज्वालामालिनी सरस्वती, सच्चिया और कुरुकुल्ला के पुरातात्त्विक, ऐतिहा-

सिक और सैद्धान्तिक विवेचन के साथसाथ भक्ति परक स्तुति-स्तोत्रों का भी निरूपण किया है। मल्लिषेणसूरि (वि सं ११वीं १२वी शताब्दी) ने 'भैरव पद्मावतीकल्प' की रचना की जो देवी पद्मावती से संबंधित महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके १ अध्यायों में ४ ० श्लोक निबद्ध हुए हैं। इसका तीसरा अध्याय 'भगवती आराधना' के नाम से गूंथा गया है। यह ग्रन्थ अहमदाबाद और सूरत से प्रकाशित हो चुका है। अहमदाबाद वाले प्रकाशन में जिनप्रभसूरि (१३वी शताब्दी ईसवी) की 'पद्मावती चतुष्पदिका' भी छप चुकी है। इसमें ३७ पद्य हैं। इन्ही सूरि जी ने प्राकृत भाषामें भी पद्मावती चतुष्पदी की रचना की थी जिसमें ४६ गाथाएँ हैं। जैन स्तोत्र संदोह के "ब परिशिष्ट में एक पद्मावत्यष्टक दिया है जिसकी वृत्ति के रचयिता श्री पार्श्वदेवगणि (वि स ११७१) थे। सूरत वाले भैरव पद्मावतीकल्प में पद्मावती सहस्रनाम पद्मावतीकवच और पद्मावती-स्तोत्र दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त श्री बप्पभट्टसूरि (आठवी सदी ईसवी) ने सरस्वती स्तोत्र श्री देवसूरि ने कुरुकुल्ला देवी स्तवनम् जिनेश्वरसूरि (१२ वी शताब्दी वि सं) ने अम्बिका स्तुति और जिनदत्तसूरि ने चक्रेश्वरी स्तोत्र का निर्माण किया था। इनसे स्पष्ट है कि जैन देवियों की भक्ति जिनेन्द्र के भक्तों की भक्ति है। जैन देवियाँ हिन्दू देवियों की भाँति स्वतन्त्र नही थी। उनको जिनेन्द्र की शासनदेवी कहा जाता है। उन पर भी तान्त्रिक युग का प्रभाव है किन्तु उनमें मांस भक्षण नर-रुधिर का पान और व्यभिचारादि जैसी प्रवृत्तियों का कभी जन्म नही हुआ है।

उपर्युक्त स्तुति-स्तोत्रों की भाँति ही पूजा वन्दना और मंगलाचरणों के रूप में जैन भक्ति की विविध प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ है। इन सब में मंगलाचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति और आचार्य विद्यानन्दि की आप्तपरीक्षा में मगल का तात्त्विक विवेचन किया गया है। जैनों का सबसे प्राचीन मंगलाचरण "णमो अरहंताण" वाला मंत्र है। वैसे तो इस मंत्र को अनादि निधन कहा जाता है किन्तु उपलब्ध साहित्य में भगवद् पुष्पदन्त भूतबलि के षट्खण्डागम का प्रारम्भ इसी मंगलाचरण से हुआ है। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश के सभी जैन ग्रंथों का प्रारम्भ किसी न किसी मंगलाचरण से हुआ है। ये मंगलाचरण जैन भक्ति के सर्वोत्तम निदर्शन हैं। इनमें सबसे बड़ी विशेषता है कि इनके नाम पर विलासिता को थोड़ा भी प्रश्रय नही दिया गया जब कि शिव-पार्वती की भक्ति में लिखे गये अनेक मंगलाचरण वही वासनाओं का नियन्त्रण नहीं कर सके।

वन्दना भी जैन भक्ति का मुख्य अंग है। वन्दनक सूत्र पर लिखी गई भद्रबाहुनिर्युक्ति में उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्रों में हरिभद्रसूरि के वन्दना पंचाशक में तथा वट्टकेरकृत मूलाचार में वन्दना का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है। तीर्थंकरवन्दन और चैत्यवन्दन पर अनेक स्तुतिस्तोत्र उपलब्ध हैं। श्री जिनदत्तसूरि के चैत्यवन्दनकुलक में २८ गाथाएं हैं। जिनप्रभसूरि के वंदन स्थान विवरण में १५ प्राकृत की गाथाएं हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने देवाधिदेव जिनेन्द्र के चरणों की परिचर्या अर्थात् सेवा करने को ही पूजा कहा है। अष्टद्रव्यरूप पूजा का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में उपलब्ध होता है। इसके उपरान्त पंचपरमेष्ठी विविध तीर्थक्षेत्र नन्दीश्वर द्वीप कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों की भक्ति में अधिकाधिक पूजाओं का निर्माण हुआ। ये पूजाएँ बहुत कुछ संस्कृत और हिन्दी में ही रची गई। इनके अंत में लिखित जयमालाएं भक्ति-साहित्य का मूल्यवान अंश हैं। इन पूजाओं के अनेक संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें भारतीय ज्ञानपीठ-पूजांजलि महत्त्वपूर्ण है। *हिन्दी में द्यानतराय की पूजाएं,* संगीत रूप भाव और भाषा सभी दृष्टियों से उत्तम हैं। जैन और अजैन पूजा साहित्य के तुलनात्मक विवेचन से अनेक नई बातें ज्ञात हो सकती हैं।

हिन्दी का जैन भक्ति-काव्य :—

हिन्दी का भक्ति-काव्य अपनी ही उपर्युक्त पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। उसका विभाजन -निष्कल भक्तिधारा और सकल भक्तिधारा के रूप में किया जा सकता है। निष्कल ब्रह्म सिद्ध को कहते हैं। सिद्ध अदृश्य हैं और स्थूल आकार से रहित हैं। वे मोक्ष में विराजमान हैं। उनमें सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान वीर्य सूक्ष्मता अवगाहन अगुरुलघु और अव्याबाध नाम के आठ गुण होते हैं। आचार्य योगीन्दु ने सिद्ध और शुद्ध आत्मा का एक ही रूप माना है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि आठ कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है उसे ही सिद्धि कहते हैं और ऐसी सिद्धि करने वाला ही सिद्ध कहलाता है। प आशाधर ने सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है "सिद्धि स्वात्मोपलब्धि संजाता यस्य इति सिद्धि ।

आत्मा भी निराकार है अदृश्य है। हिन्दी के जैन कवियों ने अपने मुक्तक पदों में सिद्ध और आत्मा दोनो ही को सम्बोधन करके अपना भाव प्रकट किया है।

सकल ब्रह्म अरहन्त को कहते है। चार घातिया कर्मों का क्षय करने से अर्हन्तपद मिलता है। अर्हन्त को चार अघातिया कर्मों के नाश होने तक संसार में रुकना होता है। वे समवशरण में बैठकर संसार को उपदेश देते हैं। उनके शरीर होता है वे दिखाई देते है। हिन्दी के भक्त कवियों ने अर्हन्त की भक्ति में बहुत कुछ लिखा है। इसी सकल भक्ति-धारा में आचार्य उपाध्याय साधु, देव-देवियो चैत्य मूर्ति मन्दिर और तीर्थक्षेत्रों को लिया जा सकता है। ये सब सशरीर हैं और दिखाई देते हैं। किन्तु जैन हिन्दी के भक्त कवियों को निष्कल और सकल भक्ति धाराओं में पृथक्-पृथक नही बाँटा जा सकता जैसा कि प० रामचन्द्रशुक्ल ने निर्गुण और सगुण भक्ति-धाराओं के रूप में स्पष्ट विभाजन किया है। हिन्दी का ऐसा कोई जैन कवि नही है जिसे हम केवल सिद्ध या अर्हन्त का ही भक्त कह सकें। प्रत्येक जैन कवि ने यदि एक ओर सिद्ध और आत्मा की भक्ति में अपने भाव अभिव्यक्त किये तो दूसरी ओर अर्हन्त आचार्य या किसी देव-देवी के चरणो में भी अपनी श्रद्धा के पुष्प बिखेरे।

वीरगाथा काल में जैन भक्त कवि —

डा हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार पं रामचन्द्र शुक्ल ने जिस काल को वीरगाथा काल नाम दिया है उसमें वीरगाथाओ की अपेक्षा धार्मिक कृतियाँ अधिक थी। पं शुक्ल ने उन कृतियो की सूचनामात्र करके छोड दिया था। इन कृतियो में जैन भक्ति सम्बन्धी रचनायें हैं। उनमें धार्मिकता है तो साहित्यिकता भी। धार्मिक होने मात्र से ही कोई रचना असाहित्यिक नही हो जाती। मूल प्रवृत्तियों का भावोन्मेष ही साहित्य है फिर भले ही उसका मुख्य स्वर धर्म अथवा अन्य किसी विषय से सम्बन्धित हो। इसी कारण कबीर ग्रन्थावली और रामचरितमानस साहित्य के ग्रन्थ माने जाते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में वीरगाथा काल वि सं १ ५ (सन् ९८१) से वि सं १३०५ (सन् ११९८) तक निर्धारित किया गया है। इसके पूर्व बहुत पहले ही प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त देश भाषा का जन्म हो चुका था। धर्मशास्त्री नारद ने लिखा है कि 'संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यै शिष्यमनुरूपत । देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरु स्मृत ॥' डा कामताप्रसाद जैन का कथन है कि आचार्य देवसेन (वि सं ९९) के पहले ही देश भाषा प्रचलित हो चुकी थी। आचार्य देवसेन ने अपने श्रावकाचार में जिन दोहों का उपयोग किया है वे देश भाषा के ही हैं। इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति कारंजा के सेनगण मन्दिर के पुस्तक भंडार में मौजूद है। इसमें श्रावकों के लिये जिनेन्द्र और पंचगुरु भक्ति का अनेक स्थलो पर उल्लेख हुआ है। एक दोहा इस प्रकार है —

जो जिणसासण भासियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥

इसमें प्रयुक्त शब्द रूप विभक्ति और धातुरूप प्राय सभी देशभाषा के हैं। देश-भाषा को ही प्राचीन हिन्दी कहते हैं। यह भाषा ही आगे चलकर विकसित हिन्दी के रूप में परिणत हुई। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और देश-भाषा में अन्तर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अपभ्रंश देशभाषा अथवा प्राचीन हिन्दी नही है। इसी कारण स्वयंभू (वि० स ९ वी शताब्दी) के पउमचरिउ और पुष्पदन्त (वि सं १ २९) के महापुराण को हिन्दी के ग्रन्थो में नही गिना जा सकता। इनमें बिखरे हुए कुछ स्थल देश भाषा के हैं किन्तु वे अल्प ही हैं। पुष्पदन्त से ४ वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्द्र का कथाकोष देश-भाषा में लिखा गया है। इसकी अधिकांश कथायें जिनेन्द्र-भक्ति से संबंधित हैं। ईसा की ११वी सदी के धनपाल की श्रुतपंचमी कथा में भी देश भाषा का ही प्रयोग हुआ है। श्रुत पंचमी कथा का मूलस्वर जिन-भक्ति से युक्त है। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कवि विनयचन्द्र सूरि ने "नेमिनाथचउपई" का निर्माण किया था। नेमिनाथ के वैराग्य लेने पर, उनके वियोग में राजीमती विलाप करती है। इस "चउपई" में उसका वियोग वर्णन दिखलाया गया है। एक दृष्टान्त देखिये —

भणइ सखी राजल मन रोइ
नीठुरु नेमि न अप्पणु होइ।
साँचउ सखि वरि गिरि भिज्जंति
किमइ न भिज्जइ सामलकंति ॥

विनयचन्द्र सूरि के समकालीन शालिभद्रसूरि के बाहुबलि रास में अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। श्री जिनदत्तसूरि (वि

सं १२७४)के "उपदेशरसायनरास' में गुरुभक्ति के अनेक दृष्टान्त हैं किन्तु उसकी भाषा-देश भाषा नहीं है यह तो दुरूह अपभ्रंश का निदर्शन है। श्री जिनपद्मसूरि का "थूलिभद्दफाग" आचार्य स्थूलभद्र की भक्ति में लिखा गया है। आचार्यस्थूलिभद्र भद्रबाहु स्वामी के समकालीन थे। उनका निर्वाणस्थल गुलजारबाग पटना स्टेशन के सामने कमलदह में बना हुआ है। यह रचना भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है। भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को लिये हुए है। ऐसे सरस फागों की अक्षुण्ण परम्परा वि स की अठारहवीं शताब्दी तक उपलब्ध होती है। प्रस्तुत फाग के पावस वर्णन का एक पद्य इस प्रकार है —

> सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते।
> माण-मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंति॥
> जिम जिम जलभर भरिय मेह गयणंगणि मिलिया।
> तिम तिम कामीतणा नयण नीरहि झलहलिया॥

नेमिचन्द्र भंडारी खरतरगच्छीय जिनेश्वर सूरि के पिता थे। वि सं १२५६ के लगभग 'जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन' के नाम से एक स्तुति लिखी थी जो जैन ऐतिहासिक काव्यसंग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। यह स्तुति आचार्य-भक्ति का दृष्टान्त है। महेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मसूरि ने वि सं १२६६ में 'जम्बूस्वामीचरित' और 'स्थूलिभद्ररास' की रचना की। दोनों में क्रमश ५२ एवं ४७ पद्य हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त केवल तीन केवली हुए, जिनमें जम्बू स्वामी अन्तिम थे। स्थूलिभद्र के विषय में लिखा ही जा चुका है। शाहरयण (वि सं १२७८) ने 'जिनपतिसूरिधवलगीत' लिखा था। यह 'जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह' में छप चुका है। भत्तिवर वस्तुपाल के धर्माचार्य श्री विजयसेनसूरि ने वि सं १२८८ में रेवन्तगिरि रासो का निर्माण किया था। यह प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह में प्रकाशित हुआ है। इन सब की भाषा हिन्दी है। नेमिचन्द्रभण्डारी का एक पद्य देखिये —

> पणमवि सामि वीर जिणु गणहर गोयम सामि।
> सुधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि॥

विक्रम संवत् की चौदहवीं शती में अनेक जैन कवि हुए हैं। उनकी भाषा हिन्दी थी। उनकी कविताओं का मूल स्वर भक्तिपूर्ण था। खरतरगच्छीय जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने वि सं १३३१ के लगभग अनेक ऐसी स्तुतियों की रचना की जो गुरु, आचार्य और जिनेन्द्र की भक्ति से सम्बन्धित थी। जिनेश्वर सूरि के शिष्य श्री अभयतिलक ने वि स १३०७ में महावीररास का निर्माण किया था जिसमें केवल दस पद्य हैं। यह रास श्री अगरचन्दजी नाहटा के निजी संग्रह में मौजूद है। लक्ष्मीतिलक का 'शान्तिनाथरास' और सोममूर्ति का 'जिनेश्वरसूरि संयमश्रीविवाहवर्णनरास' प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

हिन्दी के भक्ति-काल में जैन कवि और काव्य —

यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-काल वि सं १४ से १७ तक माना है किन्तु जैन हिन्दी भक्ति काव्य की दृष्टि से उसको वि स १८ तक मानना चाहिये क्योंकि जैन-हिन्दी के भक्ति-काव्य की प्रौढ़ रचना वि स १७ से १८ के मध्य ही हुई।

राजशेखर सूरि (वि सं १४ ५) का जन्म प्रश्नवाहन कुल में हुआ था। वे तिलकसूरि के शिष्य थे। उनका सम्बन्ध कोटिक गण की मध्यम शाखा के हर्षपुरी गच्छ से था। उन्होंने हिन्दी में 'नेमिनाथफाग' की रचना की थी। यह २७ पद्यों का एक छोटा सा खण्डकाव्य है। इसमें नेमिनाथ और राजुल की कथा है। राजशेखर एक समर्थ कवि थे। भावों और दृश्यों को चित्रित करने में उन्होंने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। विवाह के लिये सजी राजुल के पूरे चित्र की कतिपय पंक्तियाँ देखिये —

> किम किम राजलदेवि तणउ सिणगारु भणवउ।
> चपइ गोरी अइधोइ अंगि चंदनु लेवउ॥
> खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
> सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारी॥

जिनप्रभ उपाध्याय (वि स १४१२) खरतरगच्छ के जैन साधु थे। उनके गुरु का नाम दादा जिनकुशलसूरि था।

उनकी प्रमुख रचना का नाम 'गौतमरासा' है। यह कृति भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम की भक्ति से सम्बन्धित है। इसमें स्थान स्थान पर उत्प्रेक्षाओं के सहारे गौतम स्वामी की शोभा का चित्र अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त विनयप्रभ उपाध्याय की कृतियों में ५ स्तुतियाँ और हैं। उनमें विविध तीर्थंकरों के गुणों का काव्यमय विवेचन है। प्रत्येक में १९-२९ के लगभग पद्य हैं। इनमें 'सीमन्धर स्वामिस्तवन' 'एन्शियट जैन हिम्स' में प्रकाशित हो चुका है। सीमन्धर स्वामी पूर्व विदेह के विहरमान बीस तीर्थंकरों में एक हैं। उनका शासन अभी चल रहा है। यह २१ पद्यों का एक मनोरम स्तवन है। कवि ने लिखा है कि मेरुगिरि के उत्तुंग शिखर, गगन के टिमटिमाते तारागण और समुद्र की तरंगमालिका सीमंधर स्वामी का स्तवन करते ही रहते हैं।

मेरुनन्दन उपाध्याय के दीक्षागुरु का नाम जिनोदयसूरि था। उन्होंने वि. सं. १४१५ के उपरान्त दीक्षा ली थी। मेरुनन्दन उपाध्याय की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—जिनोदयसूरि विवाहलउ अजितशान्तिस्तवनम् और सीमन्धर स्वामी स्तवनम् तीनों ही भक्ति से सम्बन्धित हैं। पहले में गुरु-भक्ति और अवशिष्ट दो में तीर्थंकर भक्ति है। जिनोदयसूरि विवाहलउ में आचार्य जिनोदय का दीक्षाकुमारी के साथ विवाह हुआ है। यह एक रूपक काव्य है। अजितशान्तिस्तवनम् में अजितनाथ और शान्तिनाथ की तथा सीमन्धरस्वामी स्तवनम् में सीमन्धर स्वामी की स्तुति की गई है। ये दोनों ही स्तवन जैन-स्तोत्र सन्दोह के प्रथम भाग में प्रकाशित हो चुके हैं।

भट्टारक सकलकीर्ति अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनका संस्कृत भाषा पर एकाधिपत्य था। उन्होंने संस्कृत में १७ ग्रंथों की रचना की थी। प्रत्येक उत्तमकोटि का ग्रन्थ है। भट्टारक सकलकीर्ति प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियों में तत्कालीन इतिहास की अनेक बातें अंकित हैं। भट्टारक का समय १५ वीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है। वे वि. सं. १४४४ में ईडर की भट्टारकीय गद्दी पर आसीन हुए और वि. सं. १४९९ में महसाना (गुजरात) में उनका स्वर्गवास हुआ। वे हिन्दी के सफल कवि थे। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में उनकी हिन्दी में लिखी हुई अनेक कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें आराधना प्रतिबोधसार, णमोकारफलगीत और नेमीश्वर गीत का भक्ति से संबंध है।

वि. सं. की १६ वीं शती जैन हिन्दी भक्ति-काव्य की मुक्तक रचनाओं के लिये प्रसिद्ध है। मुनि चरित्रसेन (वि. सं. १६ वीं शती पूर्वार्द्ध) की "समाधि" नाम की रचना में समाधि और समाधि लगाने वालों के प्रति भक्ति भाव प्रकट किया गया है। यह कृति दिल्ली के मस्जिद खजूर के जैन पंचायती मन्दिर के शास्त्र भण्डार में मौजूद है। इन्हीं के समकालीन महानन्दिदेव हुए हैं। उन्होंने 'आनन्दतिलक' का निर्माण किया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर के शास्त्र भण्डार में रक्खी है। इस रचना में ४३ पद्य हैं। यह परमात्मप्रकाश और पाहुड़ दोहा की परम्परा में गिनी जा सकती है। संत कवियों की भांति ही मुनि महानन्दिदेव ने जिनेन्द्र का निवास देह में माना जैसे ही जैसे कुसुम में परिमल रहता है। देह के भीतर रहने वाले उस चिदानन्दरूप जिनेन्द्र की जो पूजा करता है वह स्वयं भी आनंद-मण्डल के भीतर स्थिर हो जाता है। अर्थात् उसको चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति होती है। उन्होंने तीर्थ भ्रमण को व्यर्थ प्रमाणित करते हुए लिखा है—आनन्द तीर्थों में नहीं अपितु आत्मा में है और वह आत्मा प्रत्येक के पास होती है। जो वस्तु अपने पास है उसकी ओर न देख कर बाहर भटकना मूर्खता है। मुनि जी ने कबीर की भांति ही कहा कि चित्त में भरा पाप-मल बाह्य स्नान से नहीं अपितु जिनेन्द्र के ध्यान-रूपी तालाब में नहाने से धुलेगा। तीर्थक्षेत्र की व्यर्थता सम्बन्धी एक दृष्टान्त इस भांति है :—

अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढा मरहिं भमतु।
अप्पा बिंदु न जाणही आनन्दा घट महिं देउ अणंतु ॥

कवि धनपाल का जन्म नीमालखा में हुआ था। उनके पिता का नाम वासवदत्त था। धनपाल ने जैन पुराणों का अध्ययन किया और उनका मन नेमीश्वर के चरित्र में विशेष रूप से रमा। उन्होंने वि. सं. १५७१ में नेमीश्वर गीत की रचना की थी। यह एक छोटा सा गीतकाव्य है। भट्टारक ज्ञानभूषण मूलसंघ के सरस्वती गच्छ के बलात्कारगण की परम्परा में हुए हैं। जैन धातु प्रतिमालेख संग्रह से स्पष्ट है कि वे वि. सं. १५३२ से १५५७ तक भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित रहे। वे संस्कृत गुजराती और हिन्दी के विद्वान् थे। हिन्दी में लिखी हुई उनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं—आदीश्वरफाग और पोसहरास। आदीश्वर फाग एक उत्तम कृति है। भट्टारक शुभचन्द्र पद्मनन्दि की परम्परा से सम्बन्धित हैं। उनका रचना काल वि. सं. १५७३ से १६१३ तक माना जाता है। वे अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। उनका संस्कृत भाषा पर अधि

गार था। वे 'पद्मभाषा कवि चक्रवर्ती' कहलाते थे। उन्होंने हिन्दी में तत्त्वसारदूहा की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुर के ठोलियों के जैन मन्दिर में मौजूद है। इस रचना में संत काव्य की ही भांति वर्ण और जाति के भेद को कृत्रिम माना गया है, गुरु की महिमा का उल्लेख है और चिदानन्दस्वरूप आत्मा के चिन्तवन से मोक्ष का मिलना कहा गया है। इन्हीं की रची हुई एक दूसरी हिन्दी की कृति चतुर्विंशति स्तुति अभी प्राप्त हुई है।

विनयचन्द्रमुनि इसी शती के एक सामर्थ्यवान कवि थे। वे माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य थे। वे विनयचन्द्र सूरि से स्पष्टतया पृथक् हैं। विनयचन्द्र सूरि चौदहवीं शती के रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे। मुनि विनयचन्द्र गिरिपुर के राजा अजयनरेश के राज्यकाल में हुए हैं। उनका समय वि. सं. १५७६ माना जाता है। उनकी तीन कृतियां उपलब्ध हैं—चूनड़ी निर्झर पंचमी कथा पंचकल्याणकरासु। चूनड़ी एक रूपक काव्य है। इसमें कुल ३१ पद्य हैं। इसमें एक पत्नी ने पति से प्रार्थना की है कि उसका पति ऐसी चूनड़ी लावे जिसके सहारे वह भव-समुद्र के पार हो सके। निर्झर पंचमी कथा में भगवान् जिनेन्द्र के परम भक्त भविष्यदत्त का चरित्र दिया हुआ है। कथा का मूल स्वर भक्ति से सम्बन्धित है। पंचकल्याण रासु में जैन तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के प्रति भक्ति भाव प्रदर्शित किया गया है।

कवि ठकुरसी (वि. सं. १५७८) खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र पहाड़्या था। उनके पिता का नाम घेल्ह था जो एक कवि थे। उनकी माता धर्मनिष्ठ थी। ठकुरसी की प्रसिद्ध रचना 'कृपणचरित्र' पहले से ही विदित है। इस काव्य का मुख्य अंश कृपण की कृपणता से सम्बन्धित होते हुए भी भक्ति से युक्त है। इसके अतिरिक्त इनकी नवीन कृतियाँ मेघमालाव्रतकथा पंचेन्द्रियबेलि नेमीसुर की बेलि पार्श्वसकुन सत्ताईसी गुणबेलि चिन्तामणि जयमाल और सीमन्धर स्वामी स्तवन विविध शास्त्र भण्डारों से प्राप्त हुई हैं। इनमें काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से पंचेन्द्रिय बेलि नेमिसुर की बेलि और गुणबेलि उत्तम हैं।

सत्रहवीं शती के जैन हिन्दी कवियों का भक्ति परक काव्य भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से प्रौढ़ है। इस शती के जैन कवि महाकवि हैं। उनकी गणना यदि एक ओर कबीर और जायसी की कोटि में होनी चाहिये तो दूसरी ओर वे सूर और तुलसी की पंक्ति में बैठने योग्य हैं। कुमुदचन्द्र इसी शती के आरम्भ में हुए थे। उनकी रचनाओं में ऋषभ-विवाहलो और भरत-बाहुबली-छन्द उत्तम हैं। ब्रह्मरायमल्ल (वि. सं. १६१५) ने अनेकानेक हिन्दी काव्यों की रचना की। इनकी भाषा सरल है और प्रसाद गुण से युक्त। ये रायमल्ल १६ वीं शती के प्रसिद्ध पंडित राजमल्ल से पृथक् हैं। इनका जन्म हूंबड़ वंश में हुआ था उनके पिता का नाम मह्य और माता का नाम चम्पा था। उनकी माता जिनेन्द्र भक्त थी अतः वे भी जिनपादकंज मधुप बन सके। इनके गुरु का नाम अनन्तकीर्ति था। नेमीश्वररास हनुवंतकथा प्रद्युम्नचरित्र सुदर्शनरास श्रीपालरास और भविष्यदत्त कथा ब्रह्मरायमल्ल की हिन्दी की कृतियाँ हैं। इनमें नेमीश्वररास और हनुवंतकथा की विशेष ख्याति है। हनुवंत कथा में बालक हनुमान के ओजस्वी रूप का चित्र खींचा गया है। यह रूप बालक के उदात्ततावरण पक्ष को पुष्ट करता है। एक पद्य देखिए —

> बालक जब रवि उदय कराय।
> अंधकार सब जाय पलाय॥
> बालक सिंह होय अति सूरो।
> हस्तिघात करे चकचूरो॥
> सघन वृक्ष बन अति विस्तारो।
> रती अग्नि करे दह छारो॥
> जो बालक क्षत्रिय को होय।
> सूर स्वभाव न छाड़े कोय॥

कुशललाभ जैसलमेर के रावल हरराज के आश्रित कवि थे। रावल हरराज का समय सत्रहवीं शती का प्रथम पाद माना जाता है। कुशललाभ का रचनाकाल भी यही था। अनेक विद्वानों की विदित है कि कुशललाभ ने राजस्थानी के आदि काव्य ढोला मारू रा दूहा के बीच में अपनी चौपाइयाँ मिलाकर प्रबन्धात्मकता उत्पन्न करने का प्रयास किया था। कुशललाभ खरतरगच्छ के समर्थगुरु अभयदेव उपाध्याय के शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्हें वाग्देवी सिद्धि जन्म से

ही मिली है। उन्होंने भक्ति शृंगार और वीर जैन रसों पर अधिकार पूर्वक लिखा। उनकी रचनाओं में श्री पूज्यवाहणगीत स्थूलिभद्र स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवनम्, गौड़ी पार्श्वनाथस्तवनम् और नवकारछन्द भक्ति से सम्बन्धित हैं। श्री पूज्यवाहण गीत की विशेषता है कि उसमें गुरु के विरह से उत्पन्न हुई शिष्य की अनुभूतियों का सरस वर्णन किया गया है। गुरु की महत्ता उद्घाटित करने वाले पदों से हिन्दी साहित्य भरा पड़ा है। किन्तु गुरु-विरह के ऐसे सरस भाव अन्यत्र देखने को नहीं मिलते।

साधुकीर्ति (वि. सं. १६१८) खरतरगच्छीय अमरमाणिक्य के शिष्य थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर जिनचन्द्रसूरि का स्मरण किया है। साधुकीर्ति भक्त कवि थे उन्होंने अनेक स्तुति स्तोत्रों की रचना की है। उनकी कृतियों में पद-संग्रह पूजा शत्रुञ्जयस्तवन विमलगिरिस्तवन आदिनाथस्तवन सुमतिनाथस्तवन नेमिस्तवन और नेमिगीत मुख्य है। साधुकीर्ति मुक्तक काव्यों के रचने में सिद्धहस्त थे। उदयराज जती ने भी अनेक भक्तिपरक काव्यों का निर्माण किया है। उनका रचना काल वि. सं. १६६७ के आसपास माना जाता है। वे जोधपुर के समीप किसी स्थान के रहने वाले थे। उनके गुरु खरतरगच्छीय भद्रसार थे। उन्होंने भजन छत्तीसी गुण बावनी चौबीस जिन सवैया मनः प्रशंसा दोहा और वैद्य विरहिणी प्रबन्ध की रचना की थी। इसमें वैद्यविरहिणी प्रबन्ध एक रूपक काव्य है। हीरानन्द मुकीम आगरा के ख्यातिप्राप्त जौहरी थे। शहजादा सलीम से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिये संघ निकाला था। शाह हीरानन्द कवि भी थे। उनकी अध्यात्मबावनी एक कृति है। उसका मूलस्वर रहस्यवाद से सम्बन्धित है। हेमविजयसूरि (वि. सं. १६७) तप गच्छ के आचार्य विजयसेन सूरि के शिष्य थे। सम्राट् अकबर ने विजयसेन सूरि को आगरे में बुलाया था और उन्हें सवाई हीरविजय की उपाधि से सुशोभित किया था। हेमविजय अच्छे कवि थे। उन्होंने हीरविजय और विजयसेन सूरि की भक्ति में छोटे छोटे अनेक पद बनाये हैं। उन्होंने तीर्थंकरों का भी स्तवन छोटी-छोटी स्तुतियों से किया है। 'नेमिनाथ' के पद उनकी सफल रचना है। जब नेमीश्वर राजुल के विवाह द्वार से दीन पशुओं की करुण पुकार सुनकर, गिरिनार पर तप करने चले गये उस समय राजुल की बेचैनी का एक चित्र देखिये। गिरिनार की ओर भागती हुई राजुल को सखियों ने पकड़ लिया है। वह उनको सम्बोधित करके कहती है—

> कहि राजमती सुमती सखियान कूं, एक खिनक खरी रहु रे।
> सखि री सगिरी अंगुरी मुही बाहि करति बहुत इसे निहुरे॥
> अबही तबही कबही जबही यदुराय कूं जाय इसी कहु रे।
> मुनिहेम के साहिब नेम जी हो अब तोरन तें तुम्ह क्यूं बहुरे॥

जैन कवि सुन्दरदास हिन्दी के सन्त कवि सुन्दरदास से पृथक् थे। जैन कवि बागड़ प्रान्त के रहनेवाले थे। बादशाह शाहजहाँ ने उनको पहले कविराय फिर महाकविराय की पदवी प्रदान की थी। उन्होंने सुन्दर शृंगार, पाखंड पंचाशिका, सुन्दर सतसई और सुन्दर विलास का निर्माण किया था। इनकी प्रवृत्तियाँ हिन्दी के कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि सन्त कवियों से मिलती जुलती हैं। इनका समय वि. स० १६७५ के आस-पास माना जाता है। पांडे रूपचन्द संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने बनारस में शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसिद्ध कवि बनारसीदास ने उन्हीं से गोम्मटसार-जीवकाण्ड पढ़ा था। इनका स्वर्गवास भी आगरे में हुआ है। पांडे रूपचन्द एक प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे। विद्वत्ता और कवित्व शक्ति का ऐसा समन्वय अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। उनके गीत काव्यों पर आध्यात्मिकता की छाप है। परमार्थी दोहा शतक, गीत परमार्थी मंगलगीत प्रबन्ध नेमिनाथ रासा खटोलनागीत और अध्यात्म सवैया उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त जयपुर के शास्त्र भण्डारों में उनकी दो रचनाएँ सोऽहम्स्वप्नाष्टक तथा जिनस्तुति और प्राप्त हुई है। अर्धकथानक के अनुसार उनका देहावसान वि. स. १६९४ में हुआ।

हर्षकीर्ति (वि. सं. १६८३) की मुक्तक रचनाओं में अध्यात्म और भक्तिरस की अधिकता है। उन्होंने पंचगति बेल नेमिनाथराजुल गीत नेमीश्वरगीत बीस तीर्थंकर जकड़ी चतुर्गतिवेल भजन व पदों का निर्माण किया था। कनककीर्ति भी इन्हीं के समकालीन थे। उनकी हिन्दी कृतियाँ में गीत अधिक है। उनका समय किसी तीर्थ या ऋषि मुनि की भक्ति से है। उनकी कृतियाँ मेघकुमारगीत जिनराजस्तुति विनती श्रीपालस्तुति और पद हैं।

कवि बनारसीदास जैन हिन्दी साहित्याकाश के जगमगाते सूर्य हैं। उन्होंने नाममाला नाटक समयसार, बनारसी विलास

अर्धकथानक मोहविवेक युद्ध मांझा और स्फुट पदों का निर्माण किया था। उन्होंने १४ वर्ष की अवस्था (वि सं १६५७) में एक "नवरस" नाम का ग्रंथ भी लिखा था। उसमें एक हजार दोहा चौपाई थे किन्तु बाद में उसे अत्यधिक अश्लील मानकर उन्होंने गोमती में बहा दिया था। नाममाला एक कोशग्रंथ है। उसकी रचना वि स १६७ में हुई थी। नाटक समयसार बनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यद्यपि इसका मुख्य आधार आचार्य कुन्दकुन्द का समयपाहुड और उस पर लिखी गई अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति टीका है किन्तु उसमें मौलिकता भी पर्याप्त है। सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि नाटक समयसार में कवि की भावुकता प्रमुख है। जब कि समयसारपाहुड में दार्शनिक का पाण्डित्य। मैंने अपने शोध निबंध में नाटक समयसार की परीक्षा भक्ति-परक दृष्टि से की है। मुझे उसमें निर्गुण और सगुण दोनों ही भक्ति धाराओं का समन्वय दिखाई दिया है। बनारसी विलास में बनारसीदास की ५ मुक्तक रचनाएँ संग्रहीत हैं। इनका संकलन आगरे के दीवान जगजीवन ने वि०सं १७ १ में किया था। बनारसी विलास बहुत पहले ही पं नाथूराम प्रेमी के सम्पादन में बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। अर्धकथानक की रचना वि सं १६९८ में हुई थी। इसमें बनारसीदास के ५५ वर्ष के जीवन की आत्मकथा है। पं बनारसीदास चतुर्वेदी डा माताप्रसाद गुप्त आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है। इसमें ६७५ दोहे-चौपाइयाँ हैं। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज का यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। मोह विवेक युद्ध मांझा और कतिपय पद नई खोज में उपलब्ध हुए हैं। बनारसीदास के अध्यात्म-परक गीतों में दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने आत्मा को पति और सुमति को पत्नी बनाया है। पत्नी पति के वियोग में तड़पते हुए दर्शनाभिलाषा प्रकट करती है —

मैं विरहिन पिय के आधीन।
यों तलफों ज्यों जल बिन मीन॥
होहु मगन मैं दरशन पाय।
ज्यों दरिया में बूंद समाय॥
पिय को मिलों अपनपो खोय।
ओला गल पाणी ज्यों होय॥

इसी शती में मनराम कुंवरपाल यशोविजय उपाध्याय और महात्मा आनन्दघन प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। मनराम का मनराम विलास कुंवरपाल के पद यशोविजय जी का जस विलास और आनन्दघन की आनन्दघन बहत्तरि' प्रौढ़ कृतियाँ हैं। भक्ति का सम्बन्ध या तो निराकार आत्मा और सिद्ध अथवा अरहन्त की भक्ति से है। पांडे हेमराज (वि स १७ १–१७१) एक प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। उनकी सितपट चौरासी बोल हिन्दी भक्तामर और गुरुपूजा नाम की कृतियाँ पहले से ही ज्ञात थीं। किन्तु अब हितोपदेश बावनी उपदेश दोहाबावनी और नेमिराजीमती जखड़ी भी प्राप्त हुई हैं। इन्हें मनराम की परम्परा में गिनना चाहिये।

जिनहर्ष (वि स १७१३–१७३८) अट्ठारहवीं शती के एक सामर्थ्यशाली कवि थे। इनके गुरु का नाम शान्तिहर्ष था। जिनहर्ष ने उन्हीं से दीक्षा प्राप्त की थी। जिनहर्ष एक जनजान कवि थे। उन्होंने पचासों स्तुति स्तवन रास और सज्झायों की रचना की है। वे मूलतः गुजराती लेखक थे। किन्तु इनका हिन्दी पर भी अधिकार था। उन्होंने हिन्दी में जसराजबावनी उपदेशछत्तीसी चौबीसी नेमि-राजीमती बारहमास सवैया नेमि बारहमासा महावीर छन्द सिद्धचक्रस्तवन और समकीत का निर्माण किया था। जिनराजसूरि (वि स १७११) का जन्म बीकानेर जाति के लिपुत्रवंश में हुआ था। उन्होंने जैसलमेर में वि स १६७८ फाल्गुन कृष्ण ७ को जिनराजसूरि से दीक्षा ली थी। बादशाह ने पुन इन्हें युग प्रधान के पद से विभूषित किया था। उनकी रचनाओं में प्रबोधबावनी रागमाला चतुर्विंशति जिन-स्तोत्र चिन्तामणि पार्श्वनाथ-स्तवन प्रसिद्ध हैं। प्रथम दो में निर्गुण और अन्तिम दो में सगुण ब्रह्म की भक्ति है।

इस सदी की मनी में भैया भगवतीदास अपनी ओजस्वी कविता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में भी ओज को अपनाया है। भैया भगवतीदास आगरा के रहनेवाले थे। उस समय औरंगजेब का राज्य था। उन्होंने उसके राज्य की प्रशंसा की है। भैया का प्राकृत और संस्कृत पर अधिकार था। उनकी हिन्दी गुजराती और बंगला में विशेष गति थी और वे उर्दू तथा फारसी के भी जानकार थे। उनकी ६७ रचनाओं का संकलन ब्रह्म-विलास के नाम से सन् १ १ में हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई, से प्रकाशित हुआ था। 'भैया' की सभी कृतियाँ निर्गुण अथवा सगुण भक्ति से सम्बन्धित हैं।

एक भक्त भगवान जिनेन्द्र की पुष्पों से पूजा करता हुआ कहता है कि हे भगवान् ? इस कामदेव ने समूचे विश्व को जीत लिया है। उसे इसका घमण्ड भी बहुत है। मुझे विश्वास है कि आपके चरणों की शरण में आने से प्रबल कामदेव की निर्दयता का शिकार मैं न हो पाऊँगा—

जगत के जीव जिन्हें जीत के गुमानी भयो।
ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है।
ताके शर जानियत फलनि के वृन्द बहु।
केतकी कमल कुन्द केवरा सुहायो है॥
मालती सुगन्ध चारु बेलि की अनेक जाति।
चम्पक गुलाब जिन चरण चढ़ायो है।
तेरी ही शरण जिन जोरे न बसाय याको।
सुमन सौं पूजे तोहि मोहि ऐसी भायो है॥

द्यानतराय एक प्रमुख कवि थे। इनका जन्म वि सं १७३३ में आगरे में हुआ था। उनकी शिक्षा विधिवत् हुई। उन्हें उर्दू फारसी का ज्ञान कराया गया तो संस्कृत के माध्यम से धार्मिक शिक्षा भी दी गई। उनका गृहस्थ जीवन दुःखी रहा। वे वि स १७८ में दिल्ली में आकर रहने लगे थे। उनकी प्रसिद्ध रचना धर्म विलास यहीं पर ही पूरी हुई। इसमें पदों की सन्ख्या ३२३ है कुछ पूजायें हैं। ग्रन्थ के साथ विस्तृत प्रशस्ति भी निबद्ध है जिससे तत्कालीन आगरे की सामाजिक परिस्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इसके पदों में भक्ति-रस तो साक्षात् ही हो उठा है। द्यानतराय ने पूजा और आरतियों का निर्माण करके जैन भक्ति की परम्परा में जैसा सरस योगदान किया है वैसा उस समय तक अन्य कोई नहीं कर सका था। उनकी 'देव-शास्त्र-गुरु पूजा' का तो प्रत्यक जैन मन्दिर में प्रतिदिन पाठ होता है। इसके अतिरिक्त बीसतीर्थङ्कर, पंचमेरु दशलक्षण सोलहकारण रत्नत्रय निर्वाणक्षेत्र नन्दीश्वरद्वीप सिद्धचक्र और सरस्वती पूजायें भी उन्हीं की कृतियाँ हैं। उन्होंने पांच आरतियों का भी निर्माण किया था। उनका प्रारम्भ क्रमश इह विधि मंगल आरति कीजै' 'आरति श्री जिनराज तिहारी' आरती कीजै श्री मुनिराज की' 'करौं आरती वर्द्धमान की' और मंगल आरती आतमरामा' से होता है। उनके स्वयम्भू पार्श्वनाथ और एकीभावस्तोत्रों में पार्श्वनाथ स्तोत्र मौलिक है। इनके अतिरिक्त समाधिमरण धर्मपच्चीसी, अध्यात्मपञ्चासिका १ ८ नामो की गुणमाला दशस्थानचौबीसी और छहढाला (सब प्राप्त) भी उन्हीं की रचनायें हैं। उनका समूचा साहित्य भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से खरा है।

मैनपुरी के शास्त्र भंडार में कवि विद्यासागर के हस्तलिखित ग्रन्थों का पता लगा है। विद्यासागर कारंजा के रहनेवाले थे। उनके पिता का नाम राजू साह था। वे बघेरवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। उनकी रचनाएँ भक्त-हृदय की प्रतीक हैं। उन्होंने सोलह स्वप्न-छप्पय जिन-जन्म-महोत्सव षट्पद सप्तव्यसन सवैया दर्शनाष्टक,विषापहार छप्पय और भूपाल स्तोत्र-छप्पय का निर्माण किया था। विनय विजय साधु थे। उनके गुरु का नाम कीर्तिविजय उपाध्याय था। विनय विजय यशोविजय के समकालीन थे। दोनों ने साथ रहकर ही काशी में विद्याध्ययन किया था। गुजराती साहित्य को इनकी देन बहुत बड़ी है। हिन्दी में लिखा हुआ उनका विनयविलास उपलब्ध है। उसके पद सतकाव्यधारा के प्रतीक हैं। लक्ष्मीवल्लभ (वि स १८ की शती का दूसरा पाद) उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। वे बनारस के रहने वाले थे। वे विद्वान थे और कवि भी। उनकी हिन्दी कृतियों के नाम ये हैं—चौबीस स्तवन महावीर गौतम स्वामी छन्द दूहा बावनी सवैया बावनी नेमि राजुल बारहमासा भावना विलास चेतन बत्तीसी उपदेश बत्तीसी और छप्पय बावनी। सभी जैन भक्ति से सबंधित हैं।

विनोदीलाल (वि स १७५) शाहजहांपुर के रहनेवाले थे। उनका जन्म अग्रवाल वंश और गर्ग गोत्र में हुआ था। वे अपनी सरस और प्रसादगुण युक्त रचनाओं के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने चौबीस तीर्थङ्करों की भक्ति में अनेक सवैयों का निर्माण किया है।वे नेमीश्वर के परमभक्त थे। विवाह द्वार से लौटते नेमीश्वर और विलाप करती राजुल उन्हें बहुत ही पसन्द हैं। उनका लिखा हुआ नेमि-राजुलबारहमासा विरहकाव्य परम्परा की एक अमर कृति है। इसके अतिरिक्त उन्होंने नेमि ब्याह, राजुल पच्चीसी नेमजी रेखता प्रभात-जयमाल चतुर्विंशति जिन-स्तवन सवैयादि और फूलमाल पच्चीसी की रचना की थी। विवाह के लिये सजे हुए नेमिश्वर का एक चित्र देखिये :—

मौर धरो सिर दूलह के कर कंकण बांध दई कस डोरी।
कुण्डल कानन में झलके अति भाल में लाल विराजत रोरी॥
मोतिन की लड़ शोभित है छवि देखि लजै बनिता सब गोरी।
लाल विनोदी के साहिब के मुख देखन को दुनियाँ उठ दौरी॥

भूधरदास (वि सं १७८१) एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उनकी रचनाएँ प्रसाद गुण और भाव सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध हैं। जैनशतक, भूधरविलास पदसंग्रह, बारह भावनाएं, बाईस परीषह और स्तोत्र उनकी मुक्तक कृतियाँ हैं। उन्होंने पार्श्वपुराण नाम के एक महाकाव्य का भी निर्माण किया था। यह एक उच्चकोटि का मौलिक काव्य है। इसमें महाकाव्य के सभी गुण सन्निहित हैं। इसकी रचना वि सं १७८९ में हुई थी। कवि भवानीदास (वि सं १७९१) के लिखे हुए १८ मुक्तक काव्यों का पता चला है। श्री अगरचन्द जी नाहटा ने उनकी हस्तलिखित प्रतियों को बनारस के रामघाट के एक जैन मन्दिर में देखा था। इन रचनाओं के आधार पर सिद्ध है कि वे आगरे के रहने वाले थे और उनका जन्म श्वेताम्बर जाति में हुआ था। इन कृतियों में चौबीस जिनबाल चौबीसी के कवित्त नमि हिण्डोलना और नेमिनाथ राजमती गीत प्रसिद्ध हैं।

अजयराज पाटनी (वि सं १७९२-१७९४) आमेर के रहने वाले थे। उनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र पाटनी था। उन्होंने पार्श्वनाथ-सालेहा की रचना वि सं १७९१ में की थी। वे रूपक काव्यों के लिखने में सिद्धहस्त थे। उनके लिखे हुए चरखा-चउपई, शिवरमणी का विवाह और जिन जी की रसोई ऐसे ही गीत हैं।

कन्नड जैन साहित्य

(ले०—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री सं० "गुरुदेव मूडबिद्री)

मानवोत्कर्ष के इतिहास में भाषा के लिये एक महत्वपूर्ण स्थान है। मानव के आज अपने को सर्वोत्तम सामाजिक कहलाने में भी मूल कारण भाषा ही है। जैसे एक शिल्पी अपनी कल्पना शक्ति एवं चतुरता को सुन्दर शिल्प के द्वारा प्रकट करता है और जैसे एक चित्रकार अपने मनोभाव को अभिव्यक्तियों के द्वारा व्यक्त करता है वैसे ही मानव अपने बौद्धिक संस्कार को भाषा के द्वारा ही प्रकट कर सकता है। सुप्राचीन काल से जबसे मानव ने प्रगति पथ पर पैर रखा तबसे आज तक उनके गहरे विचार, हृदय में उत्पन्न मौलिक भावनाएँ अन्यान्य काल में प्राप्त उनके महत्वपूर्ण अनुभव भाषा के द्वारा ही अपनी परम्परा तक पहुँच सके। लिपि के अन्वेषण से भाषा और विकसित हो एकरूपता को प्राप्त होने में समर्थ हुई। मानव जाति एवं सांस्कृतिक अभिवृद्धि के इतिहास में भाषा और लेखनकला को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भाषा के अभाव में मानव वस्तुतः पशुओं की श्रेणी में गिना जाता। मानवीय सर्वतोमुखी अभिवृद्धि में भाषा ही एकमात्र कारण है। अस्तु।

दक्षिण भारत में प्रचलित प्रसिद्ध पाँच द्राविड भाषाओं में कन्नड भाषा भी अन्यतम है। इस भाषावर्ग की शेष चार भाषाएँ तमिल तेलगू मलयालम एवं तुलु हैं। द्राविड भाषाएँ संस्कृत और प्राकृत आदि आर्य भाषाओं से भिन्न इसलिये मानी जाती हैं कि एक तो इन भाषाओं में व्यवहारोपयोगी स्वतन्त्र शब्द प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। अर्थात् इन भाषाओं को किसी भी आर्य भाषा से उधार लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। दूसरी बात यह है कि इस भाषा वर्ग का व्याकरण संस्कृत आदि आर्य भाषाओं के व्याकरणों से बहुत कुछ भिन्न है। इसके लिये कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—द्राविड भाषाओं में लिंग अर्थपरक है, सन्धिक्रम भिन्न है संज्ञाओं के एकवचन और बहुवचन में एक ही प्रकार की विभक्तियाँ हैं गुणवाचक शब्दों में तरतम भाव नहीं है सम्बन्धार्थक सर्वनाम का सर्वथा अभाव है कर्मणि प्रयोग कम है क्रियाओं में निषेधरूप है और कृदन्तज्ञित प्रत्यय स्वतन्त्र है।

ऊपर कहा गया है कि द्राविड भाषाओं में व्यवहार-पर्याप्त स्वतंत्र शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस भाषा वर्ग में संस्कृत और प्राकृत आदि आर्य भाषाओं के शब्द हैं ही नहीं। पीछे समय के प्रभाव से संस्कृत और प्राकृत आदि आर्य भाषाओं के शब्दों को कौन कहे क्रमशः इसमें उर्दू अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द भी यथेष्ट आ मिले हैं। विदेशी शब्दों का यह आगमन केवल द्राविड भाषाओं में ही नहीं प्रत्युत सभी भारतीय भाषाओं में इसी प्रकार होता रहा। इस प्राकृतिक अचल नियम को कोई रोक नहीं सकता। एक दृष्टि से यह है भी उपादेय। अन्यथा किसी भी भाषा के शब्द भाण्डार की वृद्धि नहीं हो सकती। इतना ही नहीं प्रत्येक भाषा की सीमित शब्दावली से काम भी नहीं चल सकता। बल्कि भाषातत्त्व के धुरंधर विद्वान् डा. काल्डवेल के मतानुसार अनक मत्त कुटि कोट, नीर, पल्लि मीन एड मयल हेरम्ब अट्ट आम् बल्लि मुकुल कुतप पालि मठ काक, मायक मेक सीर, ताल चक्र उलूक तटिनी, मल्ल आलि कलि गड लवि बलीन उल्प कल्प और कर्तृ आदि शब्द द्राविड भाषाओं से ही संस्कृत कोषों में लिये गये हैं। इसी प्रकार दीनार होरा आदि शब्द संस्कृत में लैटिन ग्रीक आदि से लिये गये हैं। कई पाश्चात्य भाषा शास्त्रियों का मत है कि संस्कृत व्याकरण में ध्वनि विषयक खासकर टवर्गादि द्राविड भाषाओं से ही लिये गये हैं।[1]

यों तो मोहनजोदडो और हडप्पा आदि स्थानों में उपलब्ध चित्रलिपियों से द्राविड भाषाओं का मूल वैद पूर्वकाल सिद्ध होता है। ब्राह्मी लिपि की तरह उस समय भी इन भाषाओं की लिपि मौजूद[2] थी। फिर भी खेद है कि दूसरी शताब्दी के पूर्व का कन्नड साहित्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। हाँ द्वितीय शताब्दी के कतिपय कन्नड शिलालेख अवश्य उपलब्ध हुए हैं।

---

१ "कर्नाटक कविचरिते" भाग १ की प्रस्तावना देखें।

२ 'कन्नड संस्कृति' पृष्ठ ८ देखें।

साथ ही साथ मालूम हुआ है कि मिस्र में इसी शताब्दी के लिखे गये एक नाटक में भी कुछ कन्नड शब्द वर्तमान हैं।[1] इसी प्रकार बौद्ध धर्म के ग्रंथों में भी पोल्ट्टे तुप्प तिन आदि कन्नड शब्द उपलब्ध होते हैं। प्राचीन जैन ग्रंथों में खोजने से भी कन्नड शब्द मिल सकते हैं।

सुदीर्घ काल से ही कन्नड साहित्य की ओर ध्यान देने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिये जिस समय हिन्दी बंगला मराठी और गुजराती आदि भाषाओं का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय भी कन्नड साहित्य का भाण्डार अनेक बहुमूल्य ग्रंथरत्नों से भरा हुआ था। प्राचीन कन्नड साहित्य को उच्च एवं प्रौढ बनाने का संपूर्ण श्रेय जैन आचार्यों एवं कवियों को प्राप्त है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जैनों के ही द्वारा कन्नड भाषा का उद्धार तथा प्रसार हुआ है और उन्होंने ही इस भाषा के साहित्य को एक उच्च श्रेणी की भाषा के गौरव योग्य बनाया है। कन्नड साहित्य को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचाने में असीम प्रयत्न कर उन्होंने उक्त साहित्य में सदा के लिये अपना नाम अमर कर दिया है। इसी से आज भी सारा कर्नाटक बड़े आदर के साथ इनके सुयश के गीत गा गा कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। तेरहवीं शताब्दी तक कन्नड भाषा के जितने प्रख्यात ग्रंथकर्ता हुए हैं वे प्रायः सबके सब जैन हैं। 'कर्नाटक कविचरिते' के मान्य संपादक महामहोपाध्याय स्व आर नरसिंहाचार्य एम ए के शब्दों में "जैन ही कन्नड भाषा के आदि कवि हैं। आज तक की उपलब्ध सभी प्राचीन एवं उत्कृष्ट कृतियाँ जैन कवियों की ही हैं। ग्रंथ रचना में जैनों के प्राबल्य का काल ही कन्नड साहित्य की उन्नत स्थिति का काल मानना होगा। प्राचीन जैन कवि ही कन्नड भाषा के सौन्दर्य एवं कांति के विशेषतः कारणभूत हैं। उन्होंने शुद्ध और गंभीर शैली में ग्रंथ रचकर ग्रंथ रचना कौशल को उन्नत स्तर पर पहुँचाया है। प्रारंभिक कन्नड साहित्य उन्हीं की लेखनी द्वारा लिखा गया है। कन्नड भाषाध्ययन के सहायभूत छंद अलंकार, व्याकरण और कोश आदि ग्रंथ विशेषतः जैनों के द्वारा ही रचे गये हैं।

बोल-चाल की भाषा को ग्रंथरूप देने का सारा श्रेय जैन कवियों को प्राप्त है। उपलब्ध कन्नड साहित्य में नृपतुंग का कविराज मार्ग ही आदिम ग्रंथ एवं कविताभुणार्णव महाकवि आदि पंप ही आदि कवि है। इसी प्रकार महाकवि नागचंद्र के द्वारा प्रणीत अभिनवपाम्पवी' उपाधि धारिणी कांति आदि कवयित्री है। विलक्षण कविता सामर्थ्य प्राप्त महाकवि पंप अद्वितीय कीर्तिशाली कवि था। कन्नड काव्यों में 'कविचक्रवर्ती' उपाधि प्राप्त पोन्न रन्न तथा जन्न ये तीनों वस्तुतः "रत्नत्रय" हैं। कविचक्रवर्ती महाकवि रन्न काव्यनिर्माण कला में महाकवि भवभूति से कम नहीं था ऐसा एक काव्यमर्मज्ञ विद्वान् का कथन है। जिन-समय दीपक यह रन्न वस्तुतः कन्नड साहित्य का एक समुज्ज्वल रत्न था।

कन्नड जैन पुराणों में आदि पंप (ई सन् ९४१) का आदि-पुराण पोन्न (ई सन् लगभग ९५) का शान्तिनाथपुराण रन्न (ई सन् ९९३) का अजितनाथपुराण चावुण्डराय (ई सन् ९७८) का त्रिषष्टिशलाकापुराण नागचन्द्र या अभिनव पंप (ई सन् लगभग ११) का मल्लिनाथपुराण कर्णपार्य (ई सन् लगभग ११४) का नेमिनाथपुराण अग्गल (ई सन् ११८९) का चंद्रप्रभपुराण आचण्ण (ई सन् ११९५) का वर्धमान पुराण नेमिचन्द्र (ई सन् लगभग ११७) का अर्धनेमि पुराण बन्धुवर्मा (ई सन् लगभग १२) का हरिवंशपुराण पार्श्व पण्डित (ई सन् १२ १) का पार्श्वनाथ पुराण द्वितीय गुणवर्मा (ई सन् लगभग १२२५) का पुष्पदन्त पुराण कमलभव (ई सन् लगभग १२३५) का शान्तीश्वर पुराण मधुर (ई सन् लगभग १३८५) का धर्मनाथपुराण मंगरस (ई सन् १५ ८) का नेमिजिनेश संगति शान्तिकीर्ति (ई सन् १५१९) का शांतिनाथपुराण दोड्डय्य (ई सन् १५५) का चन्द्रप्रभपुराण प्रमुख हैं। इन सब में यथास्थिति श्रृंगार और शौर्य आदि काव्योचित सभी गुण मौजूद हैं। इसी प्रकार षट्पदि ग्रंथों में मंगरस (ई सन् १५ ८) का सम्यक्त्वकौमुदि कुमुदेन्दु (ई सन् लगभग १२७१) का रामायण भास्कर (ई सन १४२४) का जीवंधरचरित कल्याणकीर्ति (ई सन१४३९) का ज्ञानचंद्राभ्युदय बोम्मरस (ई सन् १४८५) का सनत्कुमार चरित कोटीश्वर (ई सन् १५) का जीवंधरषट्पदि और ममरस (ई सन् १५ ८) का जयनृपकाव्य सामान्य प्रथा में रत्नाकरवर्णी (ई सन् १५५७) का भरतेश-वैभव पद्मनाभ (ई सन् लगभग ११८) का रामपुराण चंद्रम (ई सन् ११ ५) का गोम्मटेश्वरचरित और बाहुबली

१— "कर्नाटक कविचरिते" भाग १ और २ की प्रस्तावना देखें।

(ई सन् लगभग १५६) का नाग कुमारचरित शतक ग्रंथों में रत्नाकरवर्णी (ई सन् १५५७) का शतकत्रय व्याकरण ग्रंथो में नागवर्मा (ई सन् लगभग ११४५) के भाषाभूषण और शब्दस्मृति केशिराज (ई सन् लगभग १२६)का शब्दमणिदर्पण भट्टाकलंक (ई सन् १६ ४) का शब्दानुशासन छंद ग्रंथों में नागवर्मा (ई सन् लगभग ११४५) का छंदोम्बुधि अलंकार ग्रंथो में नृपतुंग (ई सन् ८१४) का कविराजमार्ग नागवर्मा (ई सन् लगभग ११४५) का काव्यावलोकन उदयादित्य (ई सन् ११५) का उदयादित्यालंकार और साल्व (ई सन् लगभग १५५ का रस रत्नाकर आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

पूर्वोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त जैन कवियों ने वैद्यक ज्योतिष गणित सूपशास्त्र कामशास्त्र आदि लोकोपकारी विषयोंपर भी ग्रंथ रचना की है। वैद्यक ग्रंथों में सोमनाथ (ई सन् ११५) का कल्याणकारक मंगराज (ई सन् लगभग १३६) का खगेन्द्रमणि दर्पण श्रीधरदेव (ई सन् लगभग १५) का वैद्यामृत साल्व (ई सन् लगभग १५५) का वैद्य सांगत्य देवेन्द्रमुनि (ई सन् लगभग १२) का बालग्रहचिकित्सा कीर्तिवर्मा (ई सन् लगभग ११२५) का गोवैद्य। ज्योतिष ग्रंथो में श्रीधराचार्य (ई सन् १ ४९) का जातकतिलक सुमचन्द्र(ई सन् लगभग १२)का नरपिंगलि। गणित ग्रंथों में राजादित्य (ई सन् लगभग ११२) के व्यवहारगणित क्षेत्रगणित व्यवहाररत्न लीलावति चित्रहसुगे जैन गणितटीको-दाहरण आदि विश्रुत हैं।

सोमनाथ का कल्याणकारक आचार्य पूज्यपाद के 'कल्याणकारक' का कन्नड रूपान्तर है। ग्रंथ महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार मंगराज या मंगरस का "खगेन्द्रमणिदर्पण" विषवैद्य संबंधी श्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित हो चुका है। इसमें सभी प्रकार के विषयों की चिकित्सा बतलायी गई है। सोमनाथ का "कल्याणकारक" भी मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित होने वाला है। वैद्यामृत वैद्यसांगत्य और गोवैद्य उदार प्रकाशकों की प्रतीक्षा में हैं। हाँ 'जातकतिलक' भी हाल ही में मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकट हो चुका है। यह कन्नड साहित्य में एक महत्वपूर्ण रचना है। मंगरस का सूपशास्त्र भी शीघ्र ही मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित होने वाला है। महाकवि रचना मनुमथ मुकुर (कामशास्त्र) बैंगलूर कन्नड साहित्य परिषत् की ओर से प्रकट हो चुका है। ये ग्रंथ हिन्दी में अनुवाद करने योग्य हैं। अस्तु।

उपर्युक्त कवियों में महाकवि नागचन्द्र या अभिनव पंप यदि रामासक्तप्रिय हैं तो कवि नेमिचन्द्र पक्के शृंगारोपासक हैं। कविचक्रवर्ती जन्न अगर अहिंसाप्रेमी है तो विरक्त कवि बंधुवर्मा अध्यात्म प्रिय हैं। इसी प्रकार महाकवि अग्गल अगर संस्कृत पक्षपाती है तो कवि अण्डय्य कन्नड पक्षपाती। सर्वप्रथम संस्कृत भाषा के बहुमूल्य सुन्दर भूषणों को पहनाकर कन्नड वाग्देवी को सजाने का श्रेय एवं बाद में उस अलंकार भार से झुकी उसे उस भार से मुक्त करने का श्रेय दोनों जैन कवियों को ही प्राप्त है। साथ ही साथ कन्नड भाषा में जब क्रमशः शिथिलता आने लगी तब उसमें दृढ़ता लाने वाला वैयाकरण केशिराज भी जैन था। इस प्रकार प्रत्येक पहलुओं से जैन कवियों ने कन्नड भाषा की अपार अद्वितीय सेवा की है, जो कभी भी भुलाई नहीं जा सकती। जैन काव्यों में हमें केवल काव्यधर्म ही नहीं किन्तु आत्मवाद साम्यवाद अपेक्षावाद अहिंसावाद और स्याद्वाद आदि सभी मिलते हैं। पुराणों में भी हमें अभीष्ट महापुरुषों की जीवनी के साथ-साथ अनुकरणीय आदर्श चरित्र का संकेत भी मिलता है। अगर इनके पूर्वार्द्ध में शृंगाररस की स्वच्छ यमुना बहती है तो उत्तरार्द्ध में नियम से शान्तरस की निर्मल गंगा बहती मिलेगी। किसी भाषा के हों जैन पुराण एवं काव्यों में यह एक उल्लेखनीय खास गुण है। साथ ही साथ जैन कवि कभी भी अपनी कृतियों का नायक सामान्य व्यक्तियों को नहीं बनाते। इसीलिये महाकवि अर्हद्दास ने "मुनिसुव्रतकाव्य" नामक अपने महाकाव्य के प्रारम्भ में "सरस्वती कल्पलता स को वा संवर्धयित्वा जिन पारिजातं। विमुच्य कावीरखल्पमेषु व्यारोपयेत् प्राकृतनायकेषु ॥ ऐसा स्पष्ट कहा है। जैन कवि सदा तीर्थंकर आदि महापुरुषों को ही अपनी रचनाओं का नायक चुनते हैं।

पंप रन्न नागचन्द्र और जन्न इन जैन कवियों के नाम कन्नड साहित्य में आचन्द्रार्क अमर रहेंगे। अण्डय्य और नेमिचन्द्र जैसे प्रौढ कवियों ने लौकिक कथाओं को भी लिखा है जो कि बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों से किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। रसिक कवि रत्नाकर का भरतेशवैभव तो एक अद्भुत चीज है। इसमें रत्नाकर के विशाल अध्ययन तथा व्यापक ज्ञान का अस्पष्ट परिचय मिलता है। पंप और रन्न का महाभारत और नागचन्द्र की रामायण दुर्योधन तथा रावण जैसे व्यक्तियों

में भी आदर बुद्धि उत्पन्न कराती है। सारांश—जैन कवियों ने हमें काव्य, काव्यलक्षण, जीवनोपयोगी ज्ञान आदि सब कुछ दिया है। गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल, विजयनगर और मैसूर आदि शासक पूर्वोक्त मान्य कवियों के पोषक एवं प्रोत्साहक बने रहे। इन्हीं राजा-महाराजाओं का आश्रय पाकर पंप, रन्न, पोन्न और जन्न जैसे महाकवियों ने अपनी अमर कृतियों के द्वारा कन्नड वाग्देवी का मुख उज्ज्वल किया है। जिस प्रकार अन्यान्य प्रान्तों में विद्वानों के द्वारा अपने-अपने साहित्य का काल निर्धारित है उसी प्रकार कन्नड साहित्य का काल भी प्राचीन, माध्यमिक और वर्तमान ऐसे अथवा जैन, मतप्रचारक एवं वैज्ञानिक काल के भेद से तीन भूमियों में विभक्त है। प्राचीन काल नवमी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक, माध्यमिक काल बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक, वर्तमानकाल सत्रहवीं शताब्दी से लेकर आज तक माना गया है। कन्नड साहित्य सेवा का भार तीन धर्मानुयायियों के ही हाथ में रहा। जिस समय जिस-जिस धर्म की प्रधानता थी उस समय प्रधानतया उस धर्म के अनुयायियों ने पूर्ण रीति से साहित्य सेवा की है। प्रायः ई० सन् नवमी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक जैनों का विशेष प्रभाव था। अतएव कन्नड भाषा का प्रारंभिक साहित्य उन्हीं की लेखनी द्वारा लिखा गया है। इस सम्बन्ध में कन्नड साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री ... पारिशवाडे के शब्दों में सुनलें—"लगभग ई० सन् छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के सात आठ सौ वर्ष कन्नडी जैनों के अभ्युदय प्राप्ति-निमित्त जो वाङ्मय है उसका अवलोकन करना समुचित है। तत्कालीन करीब २८ कवियों में ६ कवियों को स्मरणीय एवं सफल कवि मान लेने पर इनमें ५ जैन कवियों के नाम ही हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। इन ५ जैन कवियों में ४ कवियों को निस्संदेह हम प्रमुख मान सकते हैं। लौकिक चरित्र, तीर्थंकरों के पारमार्थिक पुराण और सार्वजनिक आदि अन्यान्य भी ग्रंथ जैनों के द्वारा ही जन्म पाकर, वे कन्नड साहित्य के ऊपर अपना प्रभाव शाश्वत जमाए हुए हैं।

जैनों के बाद बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक लिंगायतों (शैव) का प्राधान्य रहा। अतः इन शताब्दियों में प्रधान तया कन्नड साहित्य इन्हीं के हस्तगत रहा। सत्रहवीं शताब्दी से आज तक ब्राह्मणों की प्रधानता में वर्तमान शताब्दियों से इस मत के कवि साहित्य सेवा कर रहे हैं। प्राचीन समय में धर्मोन्नति के साथ-साथ साहित्य का संबंध बड़ा सुन्दर रहा। साथ ही साथ यह विशद रूप से अपने ऐतिहासिक रहस्य को भी प्रकट करता है। यद्यपि कन्नड भाषा का प्रारंभिक काल 'जैन काल' माध्यमिक काल 'लिंगायत काल' और वर्तमान काल 'ब्राह्मण काल' कहलाता है अवश्य, फिर भी लिंगायत या वर्तमान काल में जैन अपनी परंपरागत पवित्र साहित्य सेवा को भूले नहीं। इन समयों में भी अनेक जैनग्रंथ रचे गये हैं।

अब मैं जैन समाज के समक्ष एक परमावश्यक प्रस्ताव उपस्थित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। वह यह है कि कन्नड जैन साहित्य के मौलिक ग्रंथों का अनुवाद या तात्पर्य हिन्दीभाषा भाषी जनता के सामने आ जाना परमावश्यक है। खासकर जो कृतियाँ संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं में नहीं मिलती हैं उनका तो प्रकाश में आना अनिवार्य ही कहा जा सकता है। जो संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं में प्राप्त होते हैं बल्कि उन्हीं के आदर्श पर कन्नड में रचे गये हैं उनका प्रकटीकरण भी अनुपादेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्राचीन क्रमिक जैन संस्कृति का पता लगाने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। बस, यह कन्नड जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय है।

तमिलु जैन साहित्य

(विद्याभूषण पं० के० भुजबलि शास्त्री संपादक 'गुरुदेव' मूडबिद्री)

यह बात स्पष्ट विदित होती है कि तमिल साहित्य प्रारंभ से ही जैनधर्म और जैन संस्कृति से प्रभावित रहा। साथ ही साथ यह भी सुविश्रुत है कि जैनधर्म उत्तर भारत में उदित होने से इसका आर्यसंस्कृति से अवश्य सम्बन्ध था। सूक्ष्म अध्ययन से हमें पता लगता है कि सिंधु की घाटी में आर्यों की अवस्थिति के आदिकाल से ही उन आर्य लोगों में ऐसा भी वर्ग रहा जो बलि विधान का विरोधी एवं अहिंसा-सिद्धान्त का समर्थक था। ऋग्वेद-संहिता में भी मान्य विद्वान जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनमि अर्थात् नमिनाथ का उल्लेख पाते हैं।

ब्राह्मण साहित्य भी आर्यों के दो प्रमुख समुदायों के मध्य में आगे विद्यमान राजनैतिक और सांस्कृतिक भेदों को बताता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि कुरु एवं पांचालदेशीय ब्राह्मणों का पूर्वीय देशों में जाना सुरक्षित नहीं है क्योंकि इन देशों के आर्य लोग वैदिक विधि विधान सम्बन्धी धर्मों को भूल गये हैं। इतना ही नहीं उन्होंने बलि देना त्याग दिया है, बल्कि उन्होंने एक नये धर्म को प्रारम्भ किया है, जिसके अनुसार बलि न देना ही यथार्थ धर्म है। ऐसे अवैदिक आर्यों से तुम किस सम्मान की आशा कर सकते हो जिन्होंने धर्म के प्रति आदर सम्मान का भाव ही छोड़ दिया है। इतना ही नहीं वेदों की की भाषा से भी जिन्होंने अपना सम्पर्क नहीं रखा है। इसके सिवाय इन पूर्वीय देशों के क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों से बड़े मानते हैं। पंचविंश ब्राह्मण के एक प्रमाण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ समय तक आर्यों के क्रियाकांड के विरोधी *दलों का विषय प्रायश्चित था और वे इन पूजा तथा यज्ञात्मक क्रियाकांड के विरुद्ध उपदेश देते थे।* बल्कि इन उपदेशों को मुण्डित मुंड यतियों के रूप में बताया है। जैनेतर साहित्य में वर्णित ये सब बातें विशेष महत्त्व की हैं क्योंकि ये अहिंसा धर्म की प्राचीनता की ओर संकेत करती हैं। अब जैन साहित्य की ओर देखिये। इसमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत के चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय वंश के कहे गये हैं। साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव ने अहिंसा सिद्धान्त के उपदेश पूर्वक तपश्चर्या और योग द्वारा आत्मसिद्धि की ओर ज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया था। जैन तीर्थंकरों में से अधिकतम पूर्वीय देशों से सम्बन्धित हैं। अयोध्या के ऋषभदेव मगध के महावीर और मध्यवर्ती तीर्थंकरों का उन देशों से सम्बन्ध था जो पूर्वीय आर्य देशों में सम्मिलित हैं। बल्कि इन लोगों ने तात्कालिक जनता की बोलचाल की भाषा प्राकृत में ही अपना पवित्र उपदेश दिया था न कि वैदिक संस्कृत भाषा में। सारांशतया ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना अयथार्थ नहीं होगा कि पूर्वीय आर्य लोग या यज्ञविधि के विरोधी थे जिनके नेता वीर क्षत्रिय थे एवं अहिंसा सिद्धान्त में विश्वास रखते थे वे जैनों के पूर्वज थे।

तमिल प्रदेश में जैनों का आगमन कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। श्रवणबेलगोल में प्राप्त शिलालेख आदि के आधार से चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा के काल में अर्थात् ई० पू० २९७ में दक्षिण में जैनों का आगमन हुआ ऐसी अनेक पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानों की राय है। पर कई अन्वेषक विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं। उनका मत है कि इससे पूर्व ही जैनधर्म यहाँ पर मौजूद था। अन्यथा अपने अनुयायियों से शून्य इस दक्षिण भारत में हजारों साधुओं को ले आने का साहस श्रुतकेवली भद्रबाहु कभी नहीं करते। दक्षिण की ओर इस यात्रा में भद्रबाहु का आगमन हुआ होगा कि हजारों साधुओं का बंधुत्व भावपूर्ण जाति द्वारा हार्दिक स्नेहपूर्ण स्वागत प्राप्त होगा। यह बात तर्क सम्मत भी है। इस तर्क के अतिरिक्त अन्य आधार भी हैं। 'महावंश' आदि बौद्ध ग्रंथों में वर्णित सिंहलद्वीप के वर्णन में निग्गंठों (जैन मुनियों) के उल्लेख मिलते हैं। खारवेल के हाथीगुम्फा वाले लेख में यह बात स्पष्ट लिखी हुई मिलती है कि सम्राट् खारवेल के राज्याभिषेक के समय पाण्ड्य नरेश ने कई जहाज भरकर उपहार भेजे थे। खारवेल प्रमुख जैन सम्राट् थे और पाण्ड्य नरेश उसी धर्म के अनुयायी थे। पाण्ड्य नरेश जैन धर्मानुयायी थे यह बात तमिल साहित्य के मिलने से भी स्पष्ट है। सामूहिक भाव तमिल ग्रंथ 'नालडियार' के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उत्तर में दुष्काल के कारण आठ हजार जैन साधु पाण्ड्य देश में आये थे। दुष्काल के बाद वे साधु अपने देश को वापिस जाना चाहते थे। पर उनका वापिस जाना पाण्ड्य नरेश को इष्ट नहीं था। अतः उन सबों ने एक रात्रि को पाण्ड्य नरेश की राजधानी को त्याग दिया।

बाते समय प्रत्येक ने एक-एक ताड़ के पत्तेपर एक-एक पद्य लिखा था और उसे वही अपने स्थान पर छोड़ दिया था। इन पद्यो के संग्रह से ही 'नालडियार' नामक ग्रंथ बना। ग्रथ का यह नाम ही पूर्वोक्त कथन का प्रमाण है। इस परपरागत कथन को तमिल के जैन तथा जैनतर परंपरा से मानते हैं। इस कथन से इस बात का समर्थन होता है कि तमिल देश में भद्रबाहु के आगमन के पूर्व भी जैन नरेश मौजूद थे।

देवचन्द्र की कन्नड 'राजावलिकथे' में भी इससे सबंध रखने वाला एक उल्लेख मिलता है। वह उल्लेख यह है कि मुनि भद्रबाहु ने दिव्यज्ञान के द्वारा अपने अवसान को जानकर प्रमुख शिष्य विशाखाचार्य को बुलाकर आज्ञा दी कि आप १२ विद्वान् मुनियों के साथ चोल और पाण्ड्य देशो में जाकर जैनधर्म का प्रचार कीजिये। विशाखाचार्य अपने श्रुतकेवली गुरु की आज्ञानुसार विज्ञ मुनियो के साथ तमिल देश में गये और वहाँ पर उन सबों ने आनन्दपूर्वक पवित्र जिनालयों का दर्शन किया एव वहा के स्वधर्मी भाइयों को जैनधर्म का रहस्य बतलाया। इस उल्लेख से भी भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा के पूर्व ही तमिल प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक प्रमाण और है। वह यह कि भागवत [पंचमस्कंध] का कहना है कि भगवान् ऋषभदेव ने जैनधर्म के प्रचारार्थ कोंक (कोंकण) वेंक और कुटक (कोडगु) आदि देशो में दीर्घकाल तक पर्यटन किया था। कोंकण और कोडगु ये दोनो कर्णाटक प्रान्त के ही दो विशाल प्रदेश हैं। इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सासारिक भोगोपभोगो से विरक्त आत्मकल्याण के इच्छुक प्रचार प्रेमी जैन धर्मानुयायियो को एकांत निर्जन और प्रशांत दक्षिण भारत बहुत पहले से ही प्रिय लगना सर्वथा स्वाभाविक है। अस्तु, अब प्रस्तुत विषय पर आइये।

भाषा शास्त्रियो ने ससार की सभी भाषाओं को तीन विभागो में विभक्त किया है। वे तीन विभाग ये हैं—आर्य सेमिटिक और तूरानी। संस्कृत आदि उत्तर भारतीय भाषायें और ग्रीक लैटिन आदि पाश्चात्य भाषाएँ आर्य विभाग में हिब्रू अरबी आदि भाषायें सेमिटिक विभाग में मगोली तुर्की आदि भाषाएँ तूरानी विभाग में गर्भीकृत हैं। काल्डवेल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने तमिल भाषा को भी तूरानी विभाग में ले लिया था। किन्तु आधुनिक विद्वान् इस मान्यता को स्वीकार नही करते। द्राविड भाषाएं उपर्युक्त तीन विभागो से भिन्न हैं ऐसा इन विद्वानो का मत है। यानमानो के पूर्व उत्तर भारतीय अन्यान्य भाषाओं की तरह तमिल भाषा भी संस्कृत जन्य है यह कतिपय विद्वानो की राय थी। पर भाषा विशारद काल्डवेल ने इस मान्यता को सप्रमाण सदोष सिद्ध कर दिया है। काल्डवेल का कहना है कि तेलुगु कन्नड एव मलेयाल भाषाएँ क्रमशः अधिकाधिक परिमाण में संस्कृत शब्दों को लिये हुए हैं और ये भाषाएँ कभी संस्कृत से सर्वथा स्वतंत्र नही हो सकती। तमिल भाषा की बात ऐसी नही है। यह संस्कृत शब्दो का आसानी से परित्याग कर सकती है। बल्कि उसकी सहायता के बिना भी यह एक उच्च स्थिति को पाने के लिये समर्थ है।

समस्त तमिल साहित्य को हम तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—संघकाल शैव नैयनार और वैष्णव अलवारकाल और अर्वाचीन काल। इन तीनो युगो में रचित ग्रंथो से तमिल देश में जैनो के जीवन और कार्य का अच्छा पता लगता है। तमिल लेखकों के मतानुसार संघकाल भी प्रथम संघ द्वितीय संघ और तृतीय अथवा अंतिम संघ के नाम से तीन प्रकार है। अनेक विद्वानो की राय से ई॰पू पाचवी शती से ई सन् पाचवी-छठी शताब्दी तक अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष का काल संघकाल या संघमकाल माना गया है। इस काल में भी ई सन् द्वितीय शताब्दी तक प्रथम संघ का काल ई सन् द्वितीय शताब्दी से चौथी शताब्दी तक द्वितीय संघ का काल और ई सन् पाचवीं और छठी शताब्दियां तृतीय संघ का काल निश्चित किया गया है।

इसमें शक नही है कि तमिल एक सुप्राचीन भाषा है। आधुनिक भाषा विशारदों का मत है कि ई पू से बहुत पहले ही यह काफी उन्नत स्थिति में थी। साथ ही साथ इन भाषाशास्त्रियो का यह भी अभिप्राय है कि सुप्राचीन काल में विन्ध्याचल के दक्षिण भाग में एक ही भाषा बोली जाती थी बाद में इसी भाषा से समस्त द्राविड भाषाएँ पैदा हुईं और वह आदिम भाषा प्राचीन तमिल भाषा से बहुत कुछ मिलती है। कुछ भी हो इसमें तनिक भी सदेह नहीं है कि द्राविड भाषाओं में तमिल भाषा सर्वप्राचीन है। इस भाषा के ऊपर संस्कृत भाषा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। प्राचीन तमिल संघ में कन्याकुमारी के दक्षिण भागस्थ पर्वत नदी एवं नगरो आदि का वर्णन उपलब्ध होने से यह भाषा सुप्राचीन तथा उस काल में उन भागों में यही भाषा व्यवहार में रही होगी ऐसा शोधकों का मत है। यहाँ तक संक्षेप में तमिल भाषा का इतिवृत्त हुआ। अब तमिल जैन साहित्य को लीजिये।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि दक्षिण भारत में जैन धर्म ई॰ पू॰ से बहुत पहले ही प्रचार में था । तृतीय संघ के काल में वैदिक धर्म के साथ यह भी मौजूद था । कई विद्वानों की राय है कि ई॰ सन् तृतीय शताब्दी से छठी शताब्दी तक वैदिक धर्म से जैन धर्म विशेष प्रबल रहा । संघकालीन ग्रन्थों में 'तिरुक्कुरल' ही अंतिम ग्रंथ है । इससे पूर्व के ग्रन्थों में कुछ ही ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं । तृतीय संघ की ख्याति क्रमशः कम होकर ई॰ सन् तृतीय शताब्दी में यह नाम शेष हुआ । ऐसी परिस्थिति में भी जैन लेखक वात्सल्य एवं गौरवपूर्वक तमिल भाषा को बढ़ाते गये । ई॰ सन् छठी शताब्दी तक इन्होंने तमिल में अनेक ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु आजकल उन ग्रन्थों में से बहुत से नष्ट हो चुके हैं । अवशिष्ट ग्रंथों से भी जैनों का ज्ञान और पाण्डित्य स्पष्ट प्रकट होता है । द्राविड़ भाषाओं में कन्नड़ भाषा की तरह तमिल भाषा भी जैनों की विशेष ऋणी है । अब नीचे प्रमुख तमिल जैनग्रन्थों का थोड़ा सा परिचय दिया जाता है ।

तोल्काप्पियम—यह तमिल भाषा का एक प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याकरण ग्रन्थ है । इस महत्त्वपूर्ण व्याकरण के लेखक के धर्म के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । स्व॰ प्रो॰ ए॰ चक्रवर्ती ने जीवविभागादि कतिपय अंतरंग समीक्षा के द्वारा इस ग्रंथ को एक जैन विद्वान् की रचना बतलाया है । कहते हैं कि अत्यन्त प्राचीन यह तमिल व्याकरण ग्रंथ प्रायः एक ऐसे जैन विद्वान् द्वारा रचा गया था जो संस्कृत व्याकरण और साहित्य में समान रूप से प्रवीण था । तमिल भाषा के बाद के व्याकरण ग्रन्थों की यही जड़ है । तमिल भाषा का यह महान् व्याकरण द्वितीय संघ काल का कहा जाता है । उपलब्ध सभी तमिल ग्रन्थ तृतीय संघ काल के माने जाने से यह व्याकरण ग्रन्थ सम्पूर्ण उपलब्ध तमिल साहित्य का पूर्ववर्ती माना गया है ।

कुरल्—प्रचार की दृष्टि से यह नीति-ग्रन्थ तमिल साहित्य में सबसे अधिक प्रधान है । ग्रंथ का यह कुरल नाम इसमें प्रयुक्त छन्द के कारण पड़ा है । यह अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर रचा गया है । संपूर्ण ग्रंथ में अहिंसा धर्म की स्तुति की गई है । तमिल प्रान्त के शैव वैष्णव आदि प्रायः सभी सम्प्रदाय इस रचना को अपनी-अपनी बताते हैं । जैनों का कहना है कि यह जैनाचार्य की कृति है । जैन परंपरा इस महान् ग्रंथ का संबंध कुन्दकुन्द अपर नाम एलाचार्य से मानती है । कुन्दकुन्द का काल ई॰ सन् की प्रथम शताब्दी है । कुरल के सूक्ष्म अध्ययन से एक निष्पक्ष विद्वान् अहिंसाधर्म प्रधान इस ग्रन्थ को जैनाचार्य प्रणीत ही मानेगा । एक परंपरा के आधार पर इसके लेखक कोई तिरुवल्लुवर कहे जाते हैं । इसमें तीन विषयों पर प्रकाश डाला गया है—धर्म अर्थ और काम । धर्म के प्रकरण में स्पष्ट लिखा है कि हजारों यज्ञों के करने की अपेक्षा किसी प्राणी का वध न करना और भक्षण न करना अधिक अच्छा और श्रेयस्कर है । इससे स्पष्ट विदित होता है कि लेखक धार्मिक बलिदान के विरोधी हैं । शाकाहार का वर्णन करने वाले दूसरे अध्याय में ग्रंथकार स्पष्ट शब्दों में कसाई के यहाँ से मांस खरीदने के बौद्धों के सिद्धान्त को भ्रमित बताता है, क्योंकि भोजन के निमित्त प्राणिहिंसा का दायित्व प्रधानतया विक्रेता के ही ऊपर है न कि कसाई पर । यहाँ पर स्पष्टतया उसका निराकरण है । नीलकेशि नामक ग्रन्थ का जैन-टीकाकार इस कुरल को अपने अवतरणों में "जैसा कि हमारे शास्त्रों में कहा है" यों स्पष्ट रूप से कुरल को महत्त्वपूर्ण जैन शास्त्र मानता था । यद्यपि कुरल ग्रन्थ के मंगलाचरण में किसी भी भगवान का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । फिर भी विद्वानों की राय है कि 'कमलगामी' 'अष्टगुणयुक्त' आदि भगवान् के विशेषण रूप में प्रयुक्त जैनों के इन पारिभाषिक शब्दों से कुरल का रचयिता जैन धर्मावलम्बी सिद्ध होता है ।

नालडियार—कुरल और नालडियार ये दोनों ग्रन्थ तमिल देशवासियों के चरित्र और आदर्शों के निर्माण में प्रधान कारण रहे हैं । इस ग्रंथ का नामकरण ठीक कुरल के समान इसके छन्द के कारण हुआ है । इस रचना में चार सौ चौपाइयाँ हैं । यह संग्रह ग्रन्थ है । श्रुति परंपरानुसार प्रत्येक पद्य जैन मुनि के द्वारा रचा गया है इस बात का उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ । विस्तार से बताने के लिये यहाँ पर स्थान नहीं है । इस ग्रन्थ का निर्माणकाल बताना कठिन है । हाँ यह तमिल भाषा के नीति के सुप्राचीन ग्रन्थों में एक है और प्रायः कुरल का समकालीन अथवा इससे कुछ पूर्ववर्ती है । तमिल भाषा के अठारह नीति ग्रन्थों में कुरल और नालडियार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं । तमिल साहित्य के ज्ञान के लिये इन दोनों ग्रंथों का अध्ययन करना आवश्यक है । जब तक इन दोनों महान् ग्रन्थों में प्रवीण नहीं होता है तब तक कोई भी व्यक्ति तमिल विद्वान् कहे जाने का अधिकारी नहीं होता । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त नीति के अठारह ग्रन्थों में निरूपित नैतिक सिद्धान्त सभी धर्मावलम्बियों के लिये उपादेय माने जाते हैं । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त नीति के अठारह नीति ग्रंथों में सम्मिलित 'अरनरिच्चारम्' पलमोलि आदि भी सम्भवतः जैनाचार्यों की कृतियाँ हैं ।

अब काव्य साहित्य पर आइये । महाकाव्य और लघुकाव्य के भेद से काव्य साहित्य दो प्रकार का है । महाकाव्य संख्या में पांच हैं—जीवकचिंतामणि शिलप्पधिकारम् मणिमेखलै वलैयापति और कुंडलकेशि । इनमें जीवकचिंतामणि शिलप्पधिकारम् और वलैयापति ये तीन जैन ग्रंथ और शेष दो बौद्ध ग्रंथ हैं । इन पांच महाकाव्यों में से इस समय तीन ही उपलब्ध हैं । वलैयापति और कुंडलकेशि ये दोनों अनुपलब्ध हैं । इसलिये इन ग्रंथों के संबंध में विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता । इधर-उधर इन ग्रंथों के सिर्फ कुछ पद्य उपलब्ध हैं ।

शिलप्पधिकारम् —तमिल में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है । तमिल साहित्य के काल निर्णय में यह ग्रन्थ विशेष सहायक है । इसके लेखक चेर के युवराज हैं जो कि पीछे एक जैन मुनि हो गये थे । इसके तीन खंड हैं । साथ ही साथ तीन अध्याय भी । इस महाकाव्य में दक्षिण भारत के इतिहास से दिलचस्पी रखने वाले विद्वानों के लिये यथेष्ट सामग्री मौजूद है । विद्वानों की राय से यह महाकाव्य ई० सन् द्वितीय शताब्दी का है । इस कथा में तीन प्रमुख एवं मूल्यवान सत्य विद्यमान हैं—(१) अगर एक नरेश सत्य के मार्ग से तनिक भी विचलित होता है तो वह अपनी अनीतिमत्ता के फलस्वरूप अपने तथा अपने राज्य के ऊपर संकट लावेगा (२) शील के मार्ग पर चलने वाली महिला न केवल मनुष्यों के द्वारा प्रशंसित एवं पूजित होती है किन्तु देवों और मुनियों के द्वारा भी (३) कर्मों की गति इस प्रकार की है कि उनका फल अवश्यम्भावी है इसमें कोई बच नहीं सकता ।

जीवकचिन्तामणि —यह ग्रंथ पांच महाकाव्यों में सबसे बड़ा और उपलब्ध तमिल साहित्य में निःसंदेह सर्वोत्कृष्ट है । रचना की महत्ता शैली की सुन्दरता और प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में यह तमिल साहित्य में बेजोड़ है । बाद के तमिल जैन ग्रंथकारों को यह केवल एक अनुकरणीय उदाहरण ही नहीं रहा परन्तु एक मोहक आदर्श भी । यह अतीव अद्भुत महाकाव्य है । इसके रचयिता तिरुत्तक्कदेव हैं । यह जीवंधर का चरित है । इसमें प्रेम तथा सौन्दर्य के विविध रूपों का समावेश है । यह ८वीं शताब्दी के बाद की रचना है । इसमें तीस अध्याय हैं । पहले में कथानायक का जन्म एवं शिक्षण वर्णित है और अंतिम अध्याय उसके निर्वाण के वर्णन के साथ समाप्त होता है । जीवंधर की कथा संस्कृत साहित्य में बहुलता से पाई जाती है । अतः इस विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं ।

यशोधर काव्य —इसके रचयिता एक मुनि हैं । इनका नाम अज्ञात है । प्रो० चक्रवर्ती का अनुमान है कि माधवाचार्य के द्वारा यज्ञ संबंधी हिन्दूधर्म के सिद्धान्त में संशोधन होने के पश्चात् की यह रचना है । माधवाचार्य ने वैदिक क्रियाकांड में यह कल्याणकारी संशोधन किया कि चावल के आटे की बनी हुई वस्तु के द्वारा पशुबलि का काम निकाला जा सकता है । यशोधर काव्य की कथा का स्पष्ट उद्देश्य यह है कि इस प्रकार के सुधार के साथ भी वैदिक यज्ञविधि त्याज्य है । हां प्रसंगवश इसमें जैनधर्म संबंधी अनेक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है । तमिल के पांच लघुकाव्यों में यशोधर काव्य अन्यतम है । शेष चार हैं—चूडामणि उदयनकुमार्, नागकुमार-काव्य और नीलकेशि । इन पांचों के रचयिता जैन कवि हैं ।

चूडामणि —इसका आधार आचार्य जिनसेन के महापुराण की एक पौराणिक कथा है । कथा के नायक त्रिपिष्ट्य नामक एक वासुदेव हैं । यह वासुदेव जैन परम्परा से माने जाने वाले नौ वासुदेवों में से अन्यतम हैं । इसमें कुल १२ सर्ग और २१३१ पद्य हैं । श्री दामोदर पिल्ले की राय से यह ग्रंथ महाकाव्यों के पूर्व का होना चाहिये । ग्रंथ सुन्दर है ।

नीलकेशि —यह लघु काव्य एक जैन दार्शनिक कवि की रचना है । यह भारतीय दर्शनशास्त्र से संबंध रखनेवाला एक दर्शनपूर्ण ग्रंथ है । इस पर मेरु मंदर पुराण' के रचयिता वामनमुनि रचित 'समय दिवाकर' नाम की एक सुन्दर टीका है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'नीलकेशि' बौद्धों के उस 'कुंडल केशि' ग्रंथ का प्रतिवाद स्वरूप है जो कि इस समय अनुपलब्ध है । नीलकेशि की कथा कुंडलकेशि' के सांचे में ढली हुई है और कुंडलकेशि के दार्शनिक विचारों के खंडन के लिये ही यह निर्मित हुई है । यह तमिल साहित्य का बहुत प्राचीन ग्रंथ है । इसमें ८९४ पद्य हैं । अवशिष्ट दो लघुकाव्यों के बारे में मुझे कुछ मिलता नहीं है । इन दोनों के नाम से ही ग्रन्थगत विषय स्पष्ट मालूम पड़ता है ।

उल्लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त मेरुमंदरपुराणम्, श्रीपुराण यप्परुंगलक्कारिकै (व्याकरण) यप्परुंगलवृत्ति (व्याकरण) नमिनाथम् (व्याकरण) नानूल (व्याकरण) अप्पन्नम्मिमै (छंद) और जिनेन्द्रमालै (ज्योतिष) आदि ग्रंथ भी हैं । स्थान वृद्धि के भय से इस समय इन ग्रंथों के बारे में भी मैं कुछ नहीं लिख रहा हूँ । बस इस प्रकार तमिल जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय हुआ है ।

जैन धर्म ने दक्षिण भारत पर बहुत प्रभाव डाला है। देशी भाषाओं की उन्नति करते हुए जैनों ने दक्षिणात्यों में आर्य विचारों और आर्यविद्या का अपूर्व प्रचार किया जिसका परिणाम यह हुआ कि द्राविड़ साहित्य ने उत्तर भारत से नवीन संदेश की घोषणा की। मि. फ्रेजर ने अपने भारत के साहित्यिक इतिहास (A Literary History of India) नामक पुस्तक में लिखा है कि यह जैनों के ही प्रयत्नों का फल था कि दक्षिण में नये आदर्शों नये साहित्य और नये भावों का संचार हुआ।' राम स्वामि अय्यंगार के शब्दों में 'जैनों की उपासना आदि के विधान ब्राह्मणों की अपेक्षा सीधे सादे ढंग के थे और उनको अपने मध्य में स्थान दिया। यहाँ तक कि अपने धार्मिक जीवन में उन्हें अत्यन्त आदर और विश्वास का स्थान दिया। जैन लोग बड़े विद्वान् और ग्रन्थ रचयिता थे। वे साहित्य और कला प्रेमी थे। जैनों की तमिल सेवा तमिल देशवासियों के लिए अमूल्य है। तमिल भाषा में संस्कृत शब्दों का उपयोग पहले पहल सबसे अधिक जैनों ने ही किया। उन्होंने संस्कृत शब्दों को उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से यथेष्ट रूप में बदल डाला। कुरल् के पश्चात् के युग में प्रधानतः जैनों की तत्परता में तमिल साहित्य अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचा। तमिल साहित्य की उन्नति का यह सर्वश्रेष्ठ काल था। यह जैनों की विद्या और प्रतिभा का समय था।" यही अत्यन्त संक्षेप में तमिल जैन साहित्य का परिचय है।

मराठी जैन साहित्य

(ले॰ एस जे० किलेदार)

प्रारंभिक —

मराठी भाषा का प्रथम वाक्य शक ९८१ में कर्नाटक प्रदेशान्तर्गत श्रवण-बेल-गोल के गोमटेश्वरकी जगप्रसिद्ध मूर्ति के नीचे खुदा हुआ है। किन्तु शक १४ तक किसी भी जैन मराठी ग्रंथकर्ता की कोई भी कृति अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी। जैन मराठी वाङ्मय की धारा इतने लम्बे अर्से तक कैसे लुप्त रही यह आश्चर्य की बात है। इसका एक कारण हो सकता है। महाराष्ट्र के मराठी भाषी जैन लोग उत्तर की ओर गुजराती भाषा से ईशान्य और पूर्वी दिशा में हिन्दी से तथा दक्षिण दिशा में कानडी जैसी प्रभावशाली भाषा से घिरे हुए थे। हो सकता है सर्वसामान्य स्त्री-पुरुष अपनी धार्मिक जिज्ञासा गुजराती व कानडी में लिखे गये ग्रंथो द्वारा पूर्ण करते रहे हो। पंडित लोगों के लिए संस्कृत तथा प्राकृत का ग्रंथ भंडार उपस्थित था। मराठी भाषा को जैन साहित्य का अभी तक बहुत अल्पांश ही उपलब्ध हो सका है। अभी भी बहुत सारा साहित्य प्रकाश में आना शेष है।

जिनदास —मराठी जैन वाङ्मय में पहिले ज्ञात ग्रंथकर्ता जिनदास हैं। उन्होंने 'हरिवंशपुराण' नामक ग्रंथ का निर्माण 'देवगिरि' (मराठवाडा) नामक स्थान पर किया।

उनका समय शक १६५ से १७ तक होना चाहिए। उन्होंने भट्टारक भुवनकीर्ति का अपने गुरु के रूप में उल्लेख किया है। भ भुवनकीर्ति का समय शक १६४१ से १६६२ सुनिश्चित है। किन्तु वे 'हरिवंश पुराण' का पूर्वार्द्ध लिखकर परलोकगामी हो गए। इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में चालीस अध्याय हैं। इस ग्रंथ में महाभारत की कथा संक्षेप में लिखने का सफल प्रयास किया गया है।

गुणदास-अपरनाम-गुणकीर्ति —जिनदास के बाद गुणदास अपरनाम गुणकीर्ति नामक ग्रंथकार हुए। इनको गृहस्थ अवस्था में गुणदास तथा त्यागी अवस्था में गुणकीर्ति नाम से पुकारते थे। इनकी श्रेणिक पुराण रुक्मिणीहरण धर्मामृत और पद्मपुराण (अपूर्ण) नामक रचनाएँ अभी तक प्राप्त हुई हैं। श्रेणिक पुराण भाषा की दृष्टि से अपूर्व रचना है। मराठी भाषा शैली प्रवाहमयी और रसपूर्ण है। भगवान महावीर के समकालीन महाराजा श्रेणिक की अद्भुत कथा इसका विषय है। इनकी अन्य कृतियां हैं—धर्मामृत रुक्मिणी हरण और एक स्फुट रचना रामचन्द्र-हलधुलि।

धर्मामृत —यह एक गद्य ग्रंथ है, जो उपलब्ध गद्य ग्रंथों में प्राचीनतम है। इसमें गृहस्थी के आचार का सांगोपांग वर्णन है। सर्वसामान्य गृहस्थो के जीवन में विहित और निषिद्ध वस्तुओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन इसकी विशेषता है। इसमें ग्रंथकार की सूक्ष्म अवलोकन शक्ति तथा सामाजिक परिस्थिति के सूक्ष्म अध्ययन का प्रत्यय पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ९६ पाखण्डो की गिनती सब प्रकार के देव-देवियो तथा तीर्थस्थानों का उल्लेख और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार-विचारो का वर्णन इस तथ्य को सिद्ध करते हैं। यह कृति अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है।

रुक्मिणी हरण —श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण भारत वर्ष में प्रसिद्ध है। तथापि श्रीकृष्ण के सौराष्ट्र से आए हुए गुणकीर्ति द्वारा रुक्मिणी के विदर्भ की मराठी भाषा में उस घटना को ग्रथित किया जाना कुतूहलजनक अवश्य है। वसुदेव बलराम श्रीकृष्ण नेमिनाथ प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये यदुवंश के प्रसिद्ध महापुरुष थे। गुणकीर्ति भी रुक्मिणी-हरण जैसी पैमाचकारी कथा से काव्यपंक्तियाँ लिखने में उद्यत हुए, इसमें आश्चर्य नहीं। मर्यादापुरुषोत्तम राम जैन परम्परा में 'पद्म' नाम से प्रसिद्ध हैं। रामायण भावर्धवाद को पुष्ट करता है। रामायण पर आधारित 'पद्मपुराण' इस कवि की अंतिम कृति मालूम पड़ती है। वे इस ग्रंथ में २८ अध्याय ही लिख सके। गुणकीर्ति के मन में इस ग्रंथ का क्या प्रमाण अभिप्रेत होगा यह अनुमान का ही विषय रह जाता है। वे सिद्धहस्त लेखक थे। यदि काल उनके जीवन सूत्रपर असमय में कुठाराघात न करता तो यह कृति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती। इस पद्मपुराण के अन्तर्गत 'द्वादश अनुप्रेक्षा' नामक अध्याय विशेष प्रसिद्ध है। इसमें विकारसहित मन को विकाररहित बनाने की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न भावनाओं द्वारा प्रस्तुत की गई है।

'रामचन्द्र हळदुळि' नामक प्रभु रामचन्द्र के विवाह का वर्णन करने वाली गीतरचना इनकी एक उल्लेखनीय स्फुट कृति है।

मेघराज —ब्रह्म जिनदास के प्रशिष्य तथा ब्रह्म शांतिदास के शिष्य श्री मेघराज (संक्षिप्त नाम मेघा) ने 'यशोधर चरित्र' लिखकर जैन मराठी वाङ्मय की धारा अक्षुण्ण रखी।

यशोधर की कथा जैनों के साहित्य में सुप्रसिद्ध है। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश गुजराती हिन्दी और कन्नड में यशोधर कथा लिखी गई है। मेघराज ने मराठी में भी उस कथा को लिखकर एक कमी की पूर्ति की। मेघराज गुजरात प्रदेश से आए थे। वहाँ के गुजराती जैन वैश्य समाज में यशोधर की कथा घर-घर में प्रचलित थी। पं० मेघराज उभय-भाषा-मर्मज्ञ थे। वे गुजराती और मराठी में सरलता से रचना कर सकते थे। इस तथ्य की प्रतीति उनके 'गिरनार-यात्रा' नामक यात्रा-वर्णन से होती है। इसमें प्रथम चरण मराठी में और दूसरा चरण गुजराती में लिखा गया है।

'पारिसनाथ भवांतर' नामक पार्श्वनाथ के जीवन से संबंध रखने वाली कृति है। इसमें भ० पार्श्वनाथ के नौ पूर्वभवों का वर्णन है।

कामराज —कामराज मेघराज के गुरुबन्धु थे। उनकी सुदर्शन-पुराण तथा चैतन्यफाग नामक कृतियाँ उपलब्ध हैं। चैतन्यफाग की रचना गुजराती 'फाग' नामक गीतप्रकार के अनुकरण से प्रादुर्भूत हुई। शरीर एक पिंजड़ा है और आत्मा रूप पंछी उसमें बन्धन में पड़ा है' यह इसकी मुख्य कल्पना है। देह की ममता त्यागने से आत्मा मुक्त होती है यह अमर संदेश इसमें निहित है।

सूरिजन —सूरिजन मेघराज तथा कामराज के गुरुबंधु थे। सूरिजन ने 'परम-हंस' नामक रूपक-काव्य लिखा है। इसमें जीव नामक राजा ने चेतना नामक रानी की प्राप्ति बड़े कष्ट से की है इस कल्पना का विस्तार है। इनकी 'दान-शील तप-भावना रास' नामक दूसरी कृति उल्लेखनीय है। इसमें दान-शील तप का प्रभाव के वर्णन है।

नामो बाया :—कारंजा गद्दी के सेनगण के भट्टारक माणिक्यसेन के शिष्य नामोबाया ने 'यशोधर चरित्र'[1] संक्षेप में लिखा है। यह कृति भाषा छन्द और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अभ्यसनीय है।

गुणनन्दी —कारंजा के बलात्कार गण के भ० धर्मभूषण द्वितीय के शिष्य गुणनंदी ने यशोधर चरित्र लिखा है।

इस युग में 'यशोधर' की कथा लोकप्रिय रही होगी। इसमें कथा की दृष्टि से 'नामो बाया' कृत यशोधर चरित्र से विशेष अन्तर नहीं।

अभयकीर्ति —लातूर के प्रथम शाखा के भ० अजितकीर्ति के शिष्य भ० अभयकीर्ति ने शक १५१८ में 'अनंतव्रत कथा' लिखी।

भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष में द्वादशी त्रयोदशी और चतुर्दशी तिथि को यह व्रत किया जाता है। भाद्रपद मास में 'पर्यूषण पर्व' विशेष रूप से मनाया जाता है। इसलिये अनन्तव्रत के पालन का फल विस्तार से बतानेवाली यह कथा विशेष लोकप्रिय थी। 'आदित्य-व्रत-कथा' नाम की एक इनकी दूसरी कृति उपलब्ध है।

चिमणा —लातूर की प्रथम शाखा के भ० अजितकीर्ति के शिष्य पं० चिमणा ने पैठण के चंद्रप्रभ चैत्यालय में अनन्तव्रत-कथा लिखी। उन्होंने कुछ 'आरतियाँ' भी लिखी हैं।

जीवदास अपरनाम पासकीर्ति —चिमणा के बाद जीवदास का नाम उल्लेखनीय है। त्यागी अवस्था में ये पासकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये कारंजा के बलात्कारगण के भ० धर्मचन्द्र द्वितीय के शिष्य थे। उनका जन्म लोहितवाल जाति में हुआ था। इन्होंने शक १५४९ में 'सुदर्शन चरित्र' नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में २५ प्रसंग हैं और ११४५ ओवियाँ (मराठी का एक छंद प्रकार) हैं। भ० महावीर के समकालीन राजगृह के श्रेष्ठी सुदर्शन की यह कथा नमस्कार मंत्र का माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए लिखी गई।

---

१ इसका मूल पाठ जीवराज जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित पं० मेघराज कृत यशोधरचरित्र के साथ सोलापुर से सन् १९५९ में प्रकाशित हुआ है।

'बहुतरी'[1] शब्द का अर्थ ७२ ओवियों का समुदाय है। इस पुस्तिका में अकारादि क्रम से धर्मविषयक स्फुट विचारों का संग्रह किया गया है।

प्राचीन काल से गुजराती वाङ्मय में परमावृत्त अर्थात् मूलाक्षरों के आधार पर धर्मविचारों का संग्रह करने की पद्धति है। यह कृति इसी पद्धति पर आधारित है।

पुण्यसागर —

पुण्यसागर ने जिनदासकृत अपूर्ण हरिवंश पुराण को पूर्ण किया। जिनदास ने ४ अध्याय लिखे थे। पुण्यसागर ने बाद में १८ अध्याय और लिखकर यह जैन मराठी महाभारत समाप्त किया। अपूर्ण ग्रंथ पूर्ण करने का प्रयास क्वचित ही होता है। इस दृष्टि से यह कृति उल्लेखनीय है। पुण्यसागर की 'आदित्यवार-कथा' नामक एक अन्य कृति भी उपलब्ध है।

सावाजी —

सावाजी ने शक १५८७ में सुगंध-दशमी नामक कथा लिखी। यह त्योहार भाद्रपद शुक्ल दशमी को मनाया जाता है। उस अवसर पर यह कथा सुनाई जाती है।

महीचन्द्र —

महीचन्द्र ने शक १६१८ में लातापुर में आदिपुराण की रचना की। स्फुट रचनाओं में निम्नलिखित कृतियाँ उल्लेखनीय हैं—अठाईव्रत कथा, गरुडपंचमी कथा, बारामासी गीत, अरहंत की आरती, नेमिनाथ भवांतर और कतिपय स्तोत्र।

महाकीर्ति —

महाकीर्ति ने "सीतापताका" नामक ग्रंथ लिखा। इसमें ५५२ ओवियाँ हैं। इसमें "सीता की अग्निपरीक्षा" की दिव्य कथा संग्रहीत है।

लक्ष्मीचन्द्र —

लक्ष्मीचंद्र ने शक १६५ में मान-नगर में चंद्रप्रभ चैत्यालय में मेघमाला की कथा लिखी। यह कृति ८६ श्लोक प्रमाण है। इसका गायन सार्वजनिक सभा में होता था।

जनार्दन —

जनार्दन ने शक १६९ में श्रेणिकचरित्र नामक काव्य-ग्रंथ लिखा। इसमें चालीस अध्याय हैं। इसका मूलाधार जिनदास कृत रास तथा गुणदास कृत श्रेणिक चरित्र है। यह ग्रंथ कारंजा (जिला अकोला-महाराष्ट्र) के पास के कर्जराग्राम में रचा गया।

नागेन्द्रकीर्ति —

नागेन्द्रकीर्ति के पद्यों का संग्रह कारंजा से प्रकाशित हुआ है।

महतिसागर —

महतिसागर का समग्र वाङ्मय काव्यकुंज नाम से फलटण से प्रकाशित हुआ है। आपने शक १७२१ में सिद्धपुर में "रविवार कथा" लिखी। शक १७१२ में लातापुर में आदिनाथ-पंच कल्याणिक कथा लिखी।

आपकी भिन्न-भिन्न कृतियों के शीर्षक निम्नप्रकार से हैं —

दशलक्षण, षोडशकारण, रत्नत्रय, पंचपरमेष्ठि गुण वर्णन, सबोध सहस्रपदी, देवेन्द्रकीर्ति की लावणी, तीर्थंकरों के भजन, पुरापाठ, आरतियाँ। आपका जन्म शक १६९४ में तथा मृत्यु शक १७५४ में हुई।

दादा बापरलाल दयासागर तथा दयाभूषण —

जम्बूस्वामी चरित्र, सम्यक्त्व कौमुदी तथा भविष्यदत्त-बंधु कथा इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

विशालकीर्ति —

विशालकीर्ति ने शक १७२९ में धर्मपरीक्षा नामक ग्रंथ की रचना की। इसका मूल आधार जिनदासकृत धर्मपरीक्षा ग्रंथ है। इसमें स्व-मत-प्रतिपादन और पर-मत-खण्डन आकर्षक पद्धति से किया गया है।

---

१ यह रचना 'सन्मति' के १९६ के फरवरी के अंक में प्रथम बार प्रकाशित हुई।

हिराचंद —

हिराचंद नेमचंद के साथ आधुनिक युग का प्रारंभ होता है। उन्होंने जैन समाज में जागृति लाने के लिए 'जैन बोधक' साप्ताहिक पत्र की स्थापना की थी। इसमें कई विचार प्रवर्तक स्फुट लेख लिखे गये। रत्नकरंड का अनुवाद एक उल्लेखनीय कृति है।

कल्लाप्पा भरमाप्पा —

कल्लाप्पा ने पंचास्तिकाय महापुराण जीवंधरचरित्र सागारधर्मामृत इन ग्रंथों का मराठी अनुवाद किया है।

दत्तात्रय रणदिवे —

दत्तात्रेय आधुनिक युग के प्रतिभाशाली कवि थे। गजकुमार चरित्र और भक्तामर अनुवाद के अलावा इन्होंने मराठी में कुछ ललित काव्य रचना भी की है।

जीवराज गौतमचन्द —

सदासुख रत्नकरंड टीका का मराठी अनुवाद तत्त्वार्थसूत्र का छात्रोपयोगी संपादन और पांडवपुराण का अनुवाद इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

रावजी सखाराम —

मराठी जैन वाङ्मय के बालकोपयोगी साहित्य के रावजी आद्यप्रणेता थे। उन्होंने बच्चों के लिए चार प्रारंभिक पुस्तकें प्रकाशित की तथा कथाएँ लिखी।

रावजी नेमचन्द —

रावजी ने महापुराणामृत नामक संस्कृत महापुराण का सरल अनुवाद किया। अमितगति विरचित सामायिक पाठ का समश्लोकी मराठी अनुवाद उल्लेखनीय रचना है।

तात्यासाहेब चोपडे बा मु पाटील तात्या नेमिनाथ पांगळ हिराचंद अमोलकचंद गमपन्न कस्तुरचंद गांधी खुशाल राम इन सज्जनों ने भी साहित्यसेवा में यथाशक्ति हाथ बटाया है।

जीवित लेखकों की ज्ञात तालिका निम्नप्रकार है। उस तालिका से जैन मराठी वाङ्मय की समृद्धि का अनुमान हो सकता है।

(१) जिनदास फडकुले सोलापूर (वराभवन्यादि संग्रह)
(२) वर्धमान पारसनाथ सोलापूर
(३) विद्यान्नीति कारंजा (भावांकुर)
(४) मोतीचंद गौतमचंद, उस्मानाबाद, (कुरल—आर्या रत्नकरंड)
(५) सुमतिबाई शाह, सोलापूर (द्रव्यग्रंथ)
(६) नरेन्द्र भिसीकर, कारंजा (प्रबोधिका छत्रचूडामणि तत्त्वार्थसूत्र)
(७) विष्णुकुमार डोणगांवकर, कारंजा (द्रव्यसंग्रह रत्नकरंडश्रावकाचार)
(८) रवीन्द्र मालगावकर, मोसास (सागारधर्मामृत)
(९) धन्यकुमार भोरे, कारंजा (मोक्षमार्गप्रकाश समयसार)
(१०) सुमेरचन्द जैन सोलापूर (रत्नाची पारख भ महावीर)
(११) सुभाष अक्कोळे सोलापूर, (धर्मपरीक्षा परमहंस धर्मिपुराण)
(१२) विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर (समय जिनसागर, धर्मामृत रूप भरत)
(१३) अनुपमा पाथुरा, अमरावती।
(१४) नलिनीशाह सोलापूर
(१५) चान्दर कोठारी पुणे
(१६) विमल मंगरे
(१७) बा का शाह

निम्नलिखित व्यक्ति स्फुट लेखन के लिये प्रसिद्ध हैं।

(१) रूपचंद महाळे पुसद
(२) जयकुमार मुसारी नागपुर
(३) जिनदास चवरे
(४) रतनचंद हिराचंद मुंबई
(५) हेमचन्द्र रतनसा कारंजा
(६) माणिकचंद भिसिकर बाहुबली
(७) मृत्युंजय मासमोव बाहुबली
(८) माणिकचन्द चवरे, कारंजा
(९) भिसिकर, कुंथलगिरि
(१) गंगाबाई, रईवासे कारंजा
(११) पद्मा भिस्सेवार, नागपुर
(१२) मारखेन्द्र धर्मापुरकर, अंतुर्ली
(१३) मधुकर मडेकर, नागपुर
(१४) विद्युल्लता शाह सोलापूर
(१५) हुनमते बार्शी
(१६) प्रभाकर शामळकर, मुशावळ
(१७) बालचंद जोगी वाशिम
(१८) लक्ष्मीकांत मानेकर, वाशिम
(१९) विष्णुकुमार देशमाने मोमिनाबाद
(२) प्रेमचंद शाह, कारंजा
(२१) वर्धमान मालवांकर, भोपाळ
(२२) मारुती नाईक, सोलापूर
(२३) पद्मनाभ जैनी लंडन
(२४) सी के पाटनी
(२५) महाबाहु बमछोर
(२६) गुलाबचंद धर्ममाने सोलापूर।

राजस्थानी जैन कवि

(ले०—अगरचन्द नाहटा)

जैन धर्म सदा से जनता की भाषा में प्रचारित हुआ है। भगवान् महावीर ने भी अपने से पूर्ववर्ती अन्य तीर्थंकरों की भाँति अपने प्रमुख विहार क्षेत्र मगध और आस पास के प्रदेश की प्रचलित बोली अर्द्धमागधी में ही अपने उपदेश दिये और जैन ग्रंथों में उन उपदेशों को संकलित किया गया। वे समुच्चय रूपसे अर्द्धमागधी आगम कहलाए। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ हैं, कर्त्ताकारक एकवचन अकारान्त संज्ञाओं की विभक्ति ए—जैसे सं० पुरुष—पुरिसे श्, ष् तथा स् इन तीनों ऊष्मों के स्थान पर केवल "स्" का प्रयोग और कहीं-कहीं पर र् के स्थान में ल् जैसे करे कले करे। इस पर से यह देखा जा सकता है कि इसमें आधे लक्षण मागधी के हैं और आधे शौरसेनी के। एक तो इस कारण से और दूसरे यह कि सम्भवतः यह बोली आधे मगध प्रदेश और आधे शूरसेन प्रदेश में बोली जाती रही इस भाषा का नाम अर्द्धमागधी पड़ा। यह न तो पूर्णतः मागधी ही है और न शौरसेनी। इसलिये इसका अर्द्धमागधी नाम अनुपयुक्त नहीं।

भगवान् महावीर के पश्चात् उनके अनुगामी आचार्यों और उनके शिष्यों ने इस परम्परा को चालू रखा। वे जब-जब जहाँ-जहाँ गए उन्होंने उस समय की उस-उस प्रदेश की प्रचलित बोली का ही अपने धर्मोपदेश देने के लिये उपयोग किया। इसका एक सबसे महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी परिणाम यह हुआ कि अखिल भारतवर्ष के लगभग प्रत्येक प्रदेश और काल की भाषाएँ ५ ०–६ ई पू से लगाकर आजतक जैन साहित्य में अपने वास्तविक रूप में सुरक्षित रह गईं। भारत के पूर्व पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ की लोक भाषा को जैन मुनियों ने साहित्य में प्रतिष्ठित कर एक समृद्ध भाषा न बनाया हो। उत्तर और पश्चिम की शौरसेनी पूर्व में अर्द्धमागधी और दक्षिण भारत की कन्नड़ व तमिल भाषाओं को साहित्यिक रूप देने का श्रेय जैन संतों को ही है। कन्नड़ व तमिल के प्राचीन श्रेष्ठ महाकाव्य, रूपार्णव और छंद व व्याकरण ग्रंथ जैन संतो द्वारा ही रचे गये हैं। उनका अध्ययन किये बिना इन भाषाओं का समीचीन और व्यवस्थित अध्ययन असम्भाव्य एकांगी व अपूर्ण है। और आधुनिक भारतीय भाषाओं के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। उन सभी में यहां तक कि फारसी में भी विपुल जैन साहित्य उपलब्ध है। हिन्दी में तो प्राचीनतम काल से लगातार अब तक का उसका सच्चा रूप जैसा जैन साहित्य में उपलब्ध है वैसा अन्यत्र नहीं।

यह समस्त साहित्य केवल धार्मिक ही हो सो बात भी नहीं। काव्य नाटक कथा पुराण इतिहास आदि की रचनाओं को लेकर साहित्य का कोई अंग अछूता नहीं रहा और उनमें लोक जीवन की भी पूरी झाँकी देखने को मिल जाती है। लोक कथाओं के रूप में जन-साहित्य भी इसमें सुरक्षित रहा है। हाँ यह अवश्य है कि इस समस्त साहित्य का आधार और लक्ष्य अन्ततः कोई न कोई धार्मिक सिद्धान्त उसकी श्रेष्ठता और मानव मात्रा के रूप में उसके पालन करने वाले किसी धार्मिक व्यक्ति का जीवन चरित्र उपस्थित करना ही रहा है। वह धार्मिक व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् से लगाकर सर्व-सामान्य मनुष्य तक लिया गया है। यहाँ इन समस्त बातों के उदाहरण उपस्थित कर सकने का अवकाश न होने से इतना ही कह कर बस करना पड़ता है। तो भी इतना और अवश्य कथनीय है कि ई पू ५ ०–६ वर्ष से लगाकर आज तक की इस ढाई हजार वर्षों की अवधि में भारतीय भाषाओं भारतीय साहित्य और संस्कृति के अखण्ड अविच्छिन्न प्रवाह और विकास व उनकी समस्त भिन्न-भिन्न धाराओं और उनके मूल स्रोत की एकता का समझकर भारतवर्ष की अखण्ड-एक राष्ट्रीयता व संस्कृति की अनुभूति के लिए साहित्य के इस अक्षय—भण्डार का व्यवस्थित अध्ययन न केवल आवश्यक बल्कि सर्वथा अनिवार्य है। इसके बिना आज के स्वतंत्र भारत राष्ट्र उसकी संस्कृति और अनेक विध भाषाओं में से हम उसकी वास्तविक एकता अखण्डता के दर्शन नहीं कर सकते।

सामान्यतया प्राकृत साहित्य का विभाजन काल की दृष्टि से तीन युगों में किया जाता है—(१) ई पू ५० से लगा कर १ ई तक प्राचीन प्राकृतों का युग (२) १ ० ई से लगाकर लगभग ६ ई तक मध्यकालीन महा

समयसुन्दर[1] न केवल महाकवि बल्कि गम्भीर मर्मज्ञ विद्वान भी थे। इनकी कविताएं बड़ी सरल स्वाभाविक माधुर्य गुण से युक्त और मार्मिक हैं। कुल रचनाओं की निश्चित संख्या अभी कही नहीं जा सकती क्योंकि लेखक को प्रतिवर्ष कोई न कोई इनकी एकाध नवीन रचना प्राप्त हो जाती है। अब तक उपलब्ध छोटी बड़ी रचनाओं की संख्या कोई ४० है जो लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण हैं[2]। भाषा और शैली की दृष्टि से इनकी रचनाएं संस्कृत गुजराती और मारवाड़ी में गद्य व पद्य दोनों प्रकार की प्राप्य हैं। हिन्दी सिन्धी व फारसी में भी इनकी कतिपय कृतियां मिलती हैं। इनकी कुछ प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१)साम्ब प्रद्युम्न रास (२)चार प्रत्येक बुद्ध रास (३)मृगावती रास (४)प्रियमेलक चौ० (५)पुण्यसार चौ (६)नल दमयंती रास (७)सीताराम चौ (८)शत्रुंजय रास (९) वस्तुपाल-तेजपाल रास (१) वल्कलचीरी रास (११)थावच्चा चौ (१२)क्षुल्लक कुमार चौ (१३)चंपक श्रेष्ठि चौ (१४) गौतम पृच्छा रास (१५)धनदत्त चौ (१६) साधु वंदना (१७) पुंजाऋषि रास (१८)केशी-प्रदेशी सम्बन्ध (१९) द्रौपदी चौ (२)क्षमा छत्तीसी आदि अनेक छत्तीसियां। अंत की ५, ६ रचनाओं का लेखन-स्थल अहमदाबाद और शेष के राजस्थान के भिन्न भिन्न ग्राम व नगर हैं। रचना काल सं १६४९ से लेकर १७ तक है (देखिये समय सुन्दर कृति कुसुमांजली)। रचनाओं पर से कवि का जन्म संवत् १६१ के लगभग माना जा सकता है। इनका स्वर्गवास संवत् १७ २ में चैत्र शुक्ला १३ के दिन अहमदाबाद में हुआ था।

२ उपाध्याय गुणविनय —१७वी शती के विद्वानो में समयसुन्दर के पश्चात् इनका स्थान है। ये समयसुन्दर से पहले दीक्षित हुए, और उनके साथ ही संवत् १६४९ में इन्हें वाचक पद प्राप्त हुआ। ये गद्य प्रश्नोत्तर आदि ग्रन्थो के रचयिता महोपाध्याय जयसोम के शिष्य थे। संस्कृत में इनकी कोई मौलिक रचना तो नहीं परन्तु रघुवंश खंड प्रशस्ति नल-दमयंती चम्पू कर्मचन्द्र-वंश-प्रबंध आदि अनेक ग्रंथों पर टीकाएँ उपलब्ध हैं। राजस्थानी में इनकी रचनाओं की संक्षिप्त नामावली इस प्रकार है —(१)नयवकासंधि (२)कर्मचंद वंशावली रास (३)कलावती रास (४)अंजना प्रबंध (५)ऋषिदत्ता चौपाई (६)जीवस्वरूप चौ (७) गुणसुन्दरी चौ (८) नल-दमयंती रास (९)जंबू रास (१)प्रश्नोत्तरमालिका (११)मूलदेव चौ (१२)धन्नाशालिभद्र चौ (१३)लुंपक मत तमो-दिनकर चौ और १४—तपा-बावनबोल चौ। प्रस्तुत लेखक ने गुणविनय द्वारा रचित लगभग ८ स्तवनादि लघु कविताओं का संग्रह किया है। कवि का ग्रंथ रचना काल संवत् १६४४ से लगाकर संवत् १६७६ तक है और लेखन-स्थल राजस्थान। रचनाओं पर से कवि का जीवन काल लगभग सं १६२ से लगाकर १६८ तक माना जा सकता है। (देखिये युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ १८९ और शोधपत्रिका में प्रकाशित लेख)।

३ सहजकीर्ति—हेमनन्दनजी के शिष्य और प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनकी रचनाएं संस्कृत और राजस्थानी दोनो भाषाओं में मिलती हैं। संस्कृत में इनकी शतदलपद्म-पार्श्वनाथ-स्तोत्र जैसी मौलिक और टीकापरक (कल्पसूत्रादि पर) दोनों प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। राजस्थानी लोकभाषा में इनकी रचनाओं के नाम हैं—(१)सुदर्शन चौ (२)कलावती चौ (३) देवराज-वच्छराज चौ (४)सागरसेठ चौ (५) शालिभद्र विवाहलो (६) शत्रुंजय महात्म्य रास (७) शील रास और (८) हरिश्चन्द्र रास। रचनाकाल सं १६६१ से १६९७ तक है। अतः इनका जीवन काल लगभग सं १६४ से सं १७ तक होना चाहिए। (देखिये प्रस्तुत लेखक का जैन सिद्धान्त भास्कर में प्रकाशित लेख)।

४ श्रीसार —ये सहजकीर्ति के गुरु हेमनन्दन के गुरुभ्राता रत्नहर्ष के शिष्य थे और अच्छे कवि थे। राजस्थानी में इनकी रचनाएँ हैं—(१) जिनराजसूरि रास (२) पार्श्वनाथ रास (३) जय-विजया चौ (४) आनन्द श्रावक संधि (५) मोती कपासिया छंद (६) सार बावनी (७) उपदेश सत्तरी और (८) स्तवनादि। इनमें से आनंद श्रावक संधि आगर

१—देखिये 'जैन साहित्य संशोधक' एवं 'आनंद काव्य महोदधि मौक्तिक'-७वें में प्रकाशित श्रीयुत् मोहनलाल देसाई का 'समय सुंदर कीर्तन निबंध।

२—कवि की छोटी २ कृतियों का संग्रह 'समय सुंदर कृतिकुसुमांजली' के नाम से प्रस्तुत लेखक द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

रचना बहुत प्रसिद्ध हुई। इनका रचनाकाल लगभग सं० १६८१ से १६८९ तक है। संस्कृत में इनकी विशेष देन है राजस्थानी के प्रसिद्ध काव्य 'कृष्ण रुक्मणि बेलि' पर टीका।

५ जिनराज सूरि —ये जिनसिंह सूरि के पट्टधर आचार्य थे। इनका जन्म संवत् १६४७ में वैशाख शुक्ल ७, बुधवार के दिन बीकानेर के बोथरा धर्मसी की भार्या धारलदेवी की कुक्षि से हुआ। इन्होंने संवत् १६५६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १३ को जिनसिंह सूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। इनका दीक्षित अवस्था का नाम राजसमुद्र था। इन्हें संवत् १६७४ के फाल्गुन शुक्ल ७ को मेड़ते में आचार्य पद प्राप्त हुआ। इन्होंने घंघाणी की प्राचीनलिपि अम्बिका देवी की सहायता से पढ़ी। इनके धर्मोपदेश से प्रतिष्ठादि अनेक धर्मकार्य नाना स्थानों पर हुए। इनका स्वर्गवास संवत् १७   में पाटण में हुआ।

संस्कृत में इनकी नैषध काव्य पर छत्तीस हजार श्लोक प्रमाण टीका है। राजस्थानी में इनकी रचनाएँ हैं —(१) शालिभद्र चौ (यह रचना बहुत प्रसिद्ध हुई। अतः इसकी सैकड़ों प्रतियाँ कुछ सचित्र भी उपलब्ध हैं)। (२) चौबीसी (३) बीसी (४) शील बत्तीसी (५) कर्म बत्तीसी (६) रामसीता रास (इसकी अपूर्ण प्रति मिलती है)। (७) गजसुकुमाल रास संवत १६९९ यह इनकी अन्तिम रचना है और फुटकर स्तवनादि एक सौ के लगभग प्रस्तुत लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं। कवि का रचना काल संवत् १६७८ से १६९९ तक है। इन सब कवियों का रचना स्थल अधिक करके राजस्थान है। कुछ कृतियाँ अहमदाबाद (गुजरात) और आगरा (उत्तर प्रदेश) में भी लिखी गई हैं। (देखिये लेखक द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' जैन सत्यप्रकाश वर्ष ३ अंक ४–५ एवं जैन भारती में प्रकाशित लेख)।

६ हेमरत्न —ये पूनमिया गच्छके पद्मराज जी के शिष्य और अच्छे कवि थे। इन्होंने उदयपुर के प्रसिद्ध मंत्री भामाशाह के भ्राता ताराचन्द कावेड़िया एवं बीकानेर के तत्कालीन मंत्री कर्मचन्द बच्छावत के आग्रह से रचनाएँ कीं। इनकी कृतियों के नाम हैं —(१) शीलवती रास (२) महीपाल चौ (३) अमरकुमार चौ (४) गोराबादल चौ (५) लीलावती रास (६) शीला चौ और (७) जगदम्बा बावनी। रचनाकाल संवत् १६ १ से लगभग १६४५ तक है। (देखिये लेखक का शोध पत्रिका में प्रकाशित लेख)।

७ मति सार —१७वीं शती के दूसरे अच्छे कवि हैं। ये खरतरगच्छ के आ० भावदेव सूरि के शिष्य थे और विशेषतः भटनेर तथा सरसा के आसपास ही रहते थे। इनकी कविता बहुत सरस और उपदेशपूर्ण है। इनकी उपलब्ध कृतियों के नाम हैं—(१) पुरन्दर चौ (२) भोज प्रबन्ध (३) पद्यबद्ध (४) धम्मरस चौ (५) देवदत्त चौ (६) धीरापद चौ (७) शिक्षा चौ और (८) राजुल रहनेमि धमाल व शील बत्तीसी आदि। रचना काल है लगभग संवत् १६१२। (देखिये शोध पत्रिका में प्रकाशित लेख)।

८ कुशललाभ —ये अभयधर्म जी के शिष्य और अच्छे कवि थे। इनकी रचनाएँ हैं —(१) माधवानल कामकंदला चौ (२) ढोलामारू चौ (३) तेजसार रास (४) अगड़दत्त रास और (५) पूज्यवाहन गीत आदि। प्रथम दो रचनाएँ 'आनन्द काव्य महोदधि' मौक्तिक ७ में प्रकाशित हैं। कवि का रचना काल संवत् १६१६ से १६२६ तक है। (देखिये राजस्थान भारती में प्रकाशित लेख)।

९ कनकसोम —ये अमर माणिक्य के शिष्य और प्रसिद्ध उपाध्याय साधुकीर्ति जी के गुरुभाई थे। इनकी रचनाएँ हैं — १ जइतपद वेलि (२) जिनपालित-जिनरक्षित रास (३) आषाढभूति सबंध (४) हरिकेशी संधि (५) आर्द्रकुमार चौ (६) मंगल कलश रास (७) थावच्चा सुकोशल रास और (८) हरिबल संधि। रचना काल सं० १६२५ से १६५५ तक और लेखन स्थल प्रथम का आगरा शेष का राजस्थान है। इस पर से कवि का जीवन काल लगभग संवत् १६   से १६६   तक सिद्ध होता है। (देखिये 'युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि')।

इनके अतिरिक्त भी १७वीं शती में अनेकों कवि हुए हैं जिनमें से कुछ का परिचय लेखक ने 'युग प्रधान जिनचन्द्र सूरि' में दिया है। ऊपर जिन कवियों का परिचय दिया गया है, उनमें हेमरत्न और मतिसार को छोड़कर शेष सब खरतरगच्छ के हैं।

इस शती के कवियों की रचनाओं की नामावली पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है कि इन कवियों ने केवल पौराणिक जैन आख्यानों को ही नहीं बल्कि उनके अतिरिक्त लोकगाथाओं को भी सुरक्षित रखने व प्रचारित करने का सराहनीय प्रयास किया है। इन लोगों के द्वारा रचित 'ढोला मारू' माधवानल चौ विक्रमोर्वशीय चन्दन मलयागिरि,

सिंहासन बत्तीसी आदि विक्रम संबंधी कथाओं और भोज चौ मोरा बादल चौ आदि ग्रंथों की गणना लोक कथा साहित्य में ही की जाती है।

अठारहवीं शती —

१७वीं शती की अधिकांश रचनाएँ जैन आख्यानों एवं जैन महापुरुषों के गुणानुवाद रूप में रची गई हैं। १८ वीं शती में यह स्थिति बहुत कुछ बदल जाती है और साहित्य की दिशा विभिन्न विषयों या छोटी बड़ी रचनाओं के निर्माण की ओर मोड़ लेती है। इन विषयों में बावनी देवी देवताओं के छंद उपदेशक दोहे छत्तीसियाँ बत्तीसियाँ और फुटकुल विषय रूप से उल्लेखनीय हैं। यहां पर स्थानाभाव के कारण छोटी-छोटी समस्त रचनाओं का उल्लेख न करके प्रमुख कवियों की विशिष्ट कृतियों का ही निर्देशन किया जायगा।

१ कविवर जिनहर्ष —ये बड़ी शान्त सरल क्षमाशील और गुणग्राहक प्रकृति के थे तथा खरतरगच्छ के पं शान्ति हर्ष जी के शिष्य थे। दीक्षा से पूर्व इनका नाम जसराज था। इस नाम से इनके १५ दोहे और एक बावनी उपलब्ध हैं। इनकी समस्त कृतियों का परिमाण एक लाख श्लोकों के लगभग है। बड़े-बड़े रासों की संख्या लगभग ५ –६ है। इनके अतिरिक्त फुटकर स्तवनादि सैकड़ों लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं। इनकी रचनायें काल की दृष्टि से दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक संवत १७ ४ से संवत् १७३६ तक और दूसरा संवत् १७३६ से १७६२ तक। संवत् १७३५ तक कवि का कार्य-क्षेत्र राजस्थान रहा। इस काल की रचनाओं के नाम निम्नप्रकार हैं —(१) चंदन मलयागिरि चौ (२) विद्याविलास रास (३) मंगल कलश चौ (४) नव वाड़ (५) गज सुकुमाल रास (६) कुसुम श्री रास (७) मृग पुत्र चौ (८) मत्स्योदर रास (९) जिन प्रतिमा हुंडी रास (१) शील नववाड़ सज्झाय और (११)मातृका बावनी।

संवत् १७३६ से लगाकर सं० १७६२ कवि का निवास स्थान और कार्य क्षेत्र पाटण (गुजरात) ही रहा और वहीं इनका स्वर्गवास भी हुआ। अत इस काल की समस्त रचनाओं पर गुजराती भाषा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन रचनाओं के नाम हैं —(१) ज्ञातासूत्र सज्झाय (छठ अंगागम नायाधम्मकहाओ का रूपान्तर)। (२) समकित सत्तरी (३) कुमारपाल रास (४) दशवैकालिक १ गीत (५) जसराज बावनी (६) श्रीपाल रास (७) रत्नसिंह रास (८) अवंती सुकुमाल (९) श्रीपालरास लघु (१) कुमारपाल रास (११) चंदन मलयागिरि चौ (१२) हरिश्चन्द्र रास (१३) उत्तमकुमार रास (१४) बीसी (१५) उपमितिभवप्रपंचा रास (१६) हरिबल मच्छी रास (१७) महाबल रास (१८) बीस स्थानक रास (१९) मृगांकलेखा रास (२) सुदर्शन सेठ रास (२१) अमरदत्त मित्रानंद रास (२२) ऋषिदत्ता रास (२३) अजितसेन कनकावती रास (२४) गुणावली रास (२५) महाबल मलयासुन्दरी रास (२६) शत्रुंजय महात्म्य रास (२७) सत्यविजय निर्वाण रास (२८) रत्नचूड रास (२९) अभयकुमार रास (३) शीलवती रास (३१) रात्रिभोजन रास (३२) रत्नसार रास (३३) अमर स्वामी रास (३४) रत्नशेखर रत्नावती (३५) जम्बू स्वामी रास। (३६) स्थूलिभद्र सज्झाय (३७) नर्मदासुन्दरी सज्झाय (३८) आरामशोभा रास (३९) शीलवती रास (४) वसुदेव रास (४१) मेघकुमार चौढालिया (४२) कनकावती रास (४३) चौबीसी (४४) दोहा संग्रह चौबोली आदि और (४५) विविध स्तवन सज्झायादि। इस प्रकार कुल मिलाकर कवि की ५६ रचनाओं का नाम निर्देश यहां किया गया है। (देखिये लेखक के राजस्थान क्षितिज और जैन भारती में प्रकाशित लेख)।

२ लाभवर्द्धन —ये जिनहर्ष के गुरुभाई थे। इनकी रचनाएँ हैं —(१) विक्रम प्रबन्ध चौ (२) लीलावती रास (३) विक्रम पंचदंड चौ (४) लीलावती गणित रास (५) धर्मबुद्धि-पापबुद्धि चौ (६) स्वरोदय भाषा (७) अंक पाश प्रस्तार (८) पाण्डव चौ और (९) शकुन दीपिका चौ। रचना काल है सं १७२३ से संवत् १७७ तक। (देखिये विश्व संसार वर्ष ६ अंक १)।

३ महोपाध्याय लब्धोदय —ये ज्ञानसारजी के शिष्य थे। रचनाएँ हैं —(१)पद्मिनी चौ (२) मलयासुन्दरी चौ (३)गुणावली चौ और(४-५)उपरोक्त वर्षों में उल्लिखित दो अन्य रास। रचनाकाल संवत् १७ ७ से लगभग १७५ तक।

१—लेखक ने कवि की एक ही रचना का नाम दो बार लिया है। इसका कुछ स्पष्ट कारण समझ में नहीं आ सका यह भूल से ऐसा हो गया है अथवा सचमुच एक ही नाम की दो रचनाएँ हैं। —संपादक

४ महोपाध्याय धर्मवर्द्धन:—ये राजमान्य कवि थे। इनका जन्म सं १७ और नाम धर्मसी था। खरतरगच्छ के विजय हर्ष इनके गुरु थे। दीक्षा सं० १७११ में जिनभद्रसूरि के हाथों हुई। संवत् १७४ के लगभग उपाध्याय पद मिला। इनकी राजमान्यता का प्रमाण है बीकानेर नरेश सुजानसिंहजी के श्री पूज्यजी के दिये गये पत्र में इनके संबंध में लिखा हुआ निम्न पद्य —

'सब गुण ज्ञान विशेष विराजे कविमन ऊपरि घन ज्यूं गाजे।
धर्मसिंह धरणीतल माहिं, पंडित मौम्य प्रकृति दक्ष ताहिं॥

इनकी प्रमुख रचनाएँ है —(१) श्रेणिक चौ (२) अमरसेन वयरसेन चौ (३) धर्मबावनी (४) कुंडलिया बावनी (५) सुरसुन्दरी चौ (६) छप्पय बावनी (७) दशारणभद्र चौ०, (८) शीलरास (९) श्रीमती चौढालिया और (१) फुटकर स्तवनादि। रचनाकाल है संवत् १७१९ से लगभग सं १७६ तक। इनका स्वर्गवास स १७८ के लगभग हुआ। (देखिये लेखक का 'राजस्थान' वर्ष २, अंक २ में प्रकाशित लेख)।

५ कीर्तिसुन्दर —धर्मवर्द्धनजी के शिष्य और अच्छे कवि थे। उनकी रचनाएँ हैं —(१) अवंती सुकुमाल चौ (२) अभय कुमार चौढालिया (३) चौबोली चौढालिया (४) माकड़ रासो और (५) वाग्विलास कथा संग्रह। इनमें से माकड़ रासो 'राजस्थान भारती' में और वाग्विलास 'कथा वरदा' में प्रकाशित है। रचना काल सं १७५७ से लगभग सं १७६९ तक है।

६ अभयसोम — ये सोमसुन्दरजी के शिष्य थे। इनकी रचनाओ के नाम इस प्रकार है —(१) वैदर्भी चौ (२) चन्द्रोदय कथा (३) लापरा चोर चौ (४) चौबोली चौ (५) मानतुंग मानवती रास (६) वस्तुपाल तेजपाल रास और (७) करसंवाद। रचनाकाल है स १७११ से १७४० तक।

७ कवि सुमतिरंग —ये कीर्तिरत्नसूरि शाखा के चन्द्रकीर्तिजी के शिष्य थे। इनकी रचनाओ के नाम हैं — (१) योगशास्त्र भाषा चौ (२) मोहविवेक रास (३) हरिकेशी संधि (४) जंबू चौ (५) जिनमालिका और (६) चैत्य चौवीसी आदि फुटकर रचनाएँ। इन कृतियों का लेखन काल है सं १७२ से लगभग स १७१७ तक।

८. कविधर्ममन्दिर —ये दयाकुशलजी के शिष्य थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ मुल्तान में हुई है, जहाँ कि उस समय आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत अच्छा वातावरण था। इसलिये कवि सुमतिरंग और धर्ममंदिर दोनो की रचनाएँ अध्यात्म प्रधान है। इनकी कृतियाँ है —(१) मुनिपति चौ (२) जंबूरास (३) सुमति नामिछा चौ (४) दयादीपिका चौ (५) मोहविवेक रास (६) परमात्म प्रकाश चौ (७) नवकार रास और (८) आत्मभव (पद ?) प्रकाशादि। इनका लेखन काल सं १७२५ से लगभग सं १७४५ तक है।

९ कमलहर्ष—इनके गुरु जिनराजसूरि के शिष्य मानविजयजी थे। इनकी रचनाएँ निम्नप्रकार है—(१) जिनराज सूरि चौ (२) नंदा चौ (३) पाण्डव चरित्र रास (४) राजिमोचन रास (५) अंजना चौ और (६) दशवैकालिक गीत स्तवनादि। इनका रचनाकाल स १७११ से लगभग स १७३५ तक है।

१०—कुशलधीर —ये जिनमाणिक्यसूरि शाखा के कल्याणधीरजी के शिष्य थे। ये कवि होने के साथ-साथ एक उत्तम टीकाकार भी थे। इनकी टीकाएँ भी राजस्थानी में ही हैं। कृतियों के नाम हैं – (१) पृथ्वीराज वेलिटीका (२) शील वती रास (३) रसिकप्रिया टीका (४) रात्रिभोजन कर्म चौ (५) लीलावती रास (६) भोज चौ (७) उत्तम कर्म संवाद और (८)—सभाकुतूहल भद्रवर्णन संग्रह। कृतियो का रचना काल सं १६९६ से १७२९ तक है। इनके शिष्य कुशलाभ भी अच्छे कवि थ। इनकी रचनाएँ है—(१) भरतबाहुबलि चौपाई, (सं १७५) (२) धर्मबुद्धि चौ० (३) भक्ति स्तवन सं १७५६ और (४) डिंगल भाषा में दुर्गा-सतसई नामक ग्रंथ।

११ जिनसमुद्रसूरि —खरतरगच्छ की बेगड़ भावहर्षी और जिनसागर सूरि शाखाओंमें भी कई अच्छे कवि हो गये हैं। यहा केवल बेगड शाखा के जिनसमुद्रसूरि का ही परिचय दिया जा रहा है। इनके पिता का नाम श्रीमाल हरराज व माता का लखमादे था। ११ वर्ष तक साधु पद पालन करने के बाद सं १७१३ में इनको आचार्य पद प्राप्त हुआ। सं १७१८ में छाजू राज साह के द्वारा सूरतमें इनका पट्टोत्सव किया गया। अपने धर्मोपदेशद्वारा इन्होंने अनेक भावको को प्रतिबोध दिया। लगभग सवा लाख श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना द्वारा इन्होंने राजस्थानी की अमूल्य सेवा की है। इनकी लगभग २ –२५

छोटी-बड़ी रचनाएँ लेखक के संग्रह में हैं। सूरिपद प्राप्त करने से पूर्व इनका दीक्षावस्था का नाम महिमासमुद्र था। इस नाम से भी इन के कई ग्रंथ उपलब्ध हैं। जैसलमेर के रावल अमरसिंहजी इनके अत्यन्त श्रद्धालु भक्त थे। उन्होंने इनको पटौली व उपाश्रय प्रदान किया था। इनका स्वर्गवास सं० १७४१ की कार्तिक सुक्ल पूर्णिमा को श्री बर्मेरपुर में हुआ। इनकी प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं —(१)हरिबल चौ० (२)आतमकरणी संवाद (३)तत्वप्रबोध नाममाला (४)उत्तम कुमार० (५)हंसराजकुमार चौ० (६)गुणसुन्दर चौ० (७)वसुदेव चौ० (८)ऋषिदत्ता चौ० (९)रुक्मिणी चरित्र और (१०)धनुजय रासादि एवं तत्वार्थसिद्धि मणिमाला। इनका रचना काल सं० १७०६ से लगभग सं० १७४ तक है। (देखिये लेखक का राज० निबन्धमाला भाग २ में प्रकाशित लेख)।

१२ लक्ष्मीवल्लभ —इनका जन्म सं० १६९ के लगभग हुआ। बाल्यावस्था का नाम था हेमराज। इनके गुरु खरतरगच्छीय विद्वान लक्ष्मीकीर्तिजी थे। ये विविध विषयों के ज्ञाता थे। इनके बहुमुखी पांडित्य का परिचय कल्पसूत्र पर कल्पद्रुम नाम की इनकी टीका से मिलता है। भाषा की दृष्टि से संस्कृत राजस्थानी हिन्दी और सिन्धी इन सब में इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। राजकवि के नाम से भी इन्होंने कुछ कृतियाँ की हैं। राजस्थानी में प्रमुख इनकी रचनाओं के नाम ये हैं — (१)विक्रम पंचदंड चौ० सं० १७२८ (२)रात्रिभोजन चौ० सं० १७३७ (३) अमर कुमार चौ० (४) रत्नहास चौ० (५)वीर गौतम छंद (६) उपदेश चेतन बत्तीसी वैराग्यादि छंद (७) बावनी और (८) स्तवनादि फुटकर रचनाएँ (देखिये राजस्थानी निबन्धमाला भाग २)।

१३ विनयचन्द —ये ज्ञानतिलकजी के शिष्य थे। इनकी कविताएँ बहुत मधुर और सरस हैं। रचनाओं के नाम हैं — (१)उत्तमकुमार रास (२)ग्यारह अंग सज्झाय (३)रोहा कथा चौ० (४)चौबीसी बीसी और फुटकर रचनाएँ। इनकी छोटी-बड़ी कुल २५—३० रचनाएँ लेखक के संग्रह में हैं। रचनाकाल है सं० १७५२ से लगभग सं० १७६ तक।

१४ अमर विजय—ये उदय तिलकजी के शिष्य थे। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—(१)सुमग्गल रास (२)मुच्छ मालव कथा (३)मेतार्य चौ० (४)रात्रिभोजन चौ० (५)सुकौशल चौ० (६)युधिष्ठिर चौ० (७)कालासवसी चौ० (८)गुरु मंत्र चौ० (९)धर्मदत्त चौ० और (१०)केशी चौ०। रचनाओं का लेखनकाल है सं० १७७१ से सं० १८ ६ तक।

१५ कविरामविजय (रूपचन्द) —ये कविवर जिनहर्ष की परम्परा में दयासिंहजी के शिष्य थे। रामविजय न केवल कवि बल्कि विद्वान् गद्य लेखक भी थे और पद्य की अपेक्षा उनकी गद्य रचनाएँ ही अधिक हैं। संस्कृत में भी इनकी गौतमीय काव्य और गुणमाला प्रकरण 'गद्य' आदि रचनाएँ उपलब्ध हैं। राजस्थानी में भी पद्य और गद्य दोनों प्रकार की कृतियाँ हैं जिनमें गद्यात्मक अधिक हैं। रचनाओं के नाम हैं —(१) भर्तृहरि शतक त्रय (२)अमरु शतक भाषा टीका (३) समयसार बालावबोध (हिन्दी) (४) हेम व्याकरण भाषा टीका (५) चित्रसेन पद्मावती चौ० (६)लघु स्तवन सन्निपात कलिका व नव तत्वादि की भाषा टीकाएँ, (७) नेमि नवरसो (८) आबू आदि के स्तवन और (९) नय-निक्षेप विचारादि सैद्धान्तिक विषयों के स्तवन। इनका लेखन काल सं० १७८८ से लगभग सं० १८३ तक होना चाहिए।

१९ वीं शती —

१८वीं शती की अपेक्षा इस शती में राजस्थानी जैन कवि कम हुए हैं। इस शती में स्थानकवासी एवं तेरापंथी समाज में भी अनेक अच्छे उच्च कोटि के कवि हुए हैं। लेखक को उनकी यथेष्ट जानकारी नहीं है। अतः यहाँ केवल ५ कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१ रघुपति —इनके गुरु खरतरगच्छ के मुनि विद्यानिधानजी थे। इनकी दीक्षा सं० १७७६ में माघ सुदी २ को जिनसुखसूरिजी के द्वारा हुई। दीक्षा के पूर्व इनका नाम रघुनाथ था। ये बहुत अच्छे प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इनकी समस्त रचनाएँ राजस्थानी में हैं, और सं० १७८८ से सं० १८४८ तक लिखी गई हैं। इनके नाम हैं —(१) जैन सारबावनी (२) नंदिषेण चौ० (३) श्रीपाल चौ० (४) रत्नपाल चौ० (५) सुभद्रा चौ० और (६) छप्पय बावनी कुंडलिया बावनी आदि।

२. ज्ञानसारजी —इनका जन्म सं० १८ १ में हुआ। इनके पिता थे बीकानेर राज्य के जांगल ग्राम के सांड उदयचन्दजी और माता जीवनदे। इन्होंने सं० १८२१ में बीस वर्ष की आयु में दीक्षा ली। इनका स्वर्गवास अत्यन्त दीर्घायु में सं० १८ ९ में हुआ। ये रत्नराजजी के शिष्य थे। ज्ञानसारजी अपने समय के बहुत प्रसिद्ध मस्तयोगी कवि काव्य मर्मज्ञ एवं राजमान्य

प्रभावी व्यक्ति थे । यहाँ तक कि बीकानेर के तत्कालीन नरेश सूरतसिंहजी इनको साक्षात् नारायण का ही अवतार मानते थे। जयपुर, जैसलमेर, उदयपुर एवं किशनगढ़ के राजाओं से भी इनका अच्छा संबंध था । इनकी रचनाएँ हिन्दी व राजस्थानी दोनों भाषाओं में मिलती हैं । राजस्थानी रचनाओं के नाम हैं —(१) आनन्दघन चौबीसी व पदों पर टीका (यह टीका बहुत गम्भीर व उत्कृष्ट कोटि की है) स्वकृत पद्यमय चौबीसी बीसी ४७ बोल गर्भित चौबीसी संबोध अष्टोत्तरी स्नात्रपूजा और स्तवनादि । (देखिये लेखक का हिन्दुस्तानी वर्ष ९ अंक २ में प्रकाशित 'श्रीमद्ज्ञानसारजी और उनका साहित्य' नामक लेख हिन्दी रचनाओं की जानकारी के लिये देखिये लेखक द्वारा सम्पादित ज्ञानसार ग्रंथावली') ।

३ क्षमा कल्याणजी —अपने समय के प्रमुख गीतार्थों में इनका नाम आता है । संस्कृत हिन्दी व राजस्थानी तीनों भाषाओं में इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें से संस्कृत मुख्य है । राजस्थानी में गद्य और पद्य दोनों प्रकार की कृतियाँ हैं । पद्य में बावनी चौ सं १८४७ और ६०—७ फुटकर स्तवनादि हैं । गद्य में प्रश्नोत्तर सार्द्धशतकादि प्राप्त हैं। इनका स्वर्गवास सं १८७३ में बीकानेर में हुआ ।

४ जैमल—स्थानकवासी तथा उससे निकले हुए स्थानकवासी समाज में भी कई कवि हो गए हैं जिनमें जैमल और और उनके शिष्य रायचन्दजी[1] प्रधान हैं । जैमल का जन्म सं १८६६ में लाबिये के मुता मोहनदास की पत्नी मोहनदे की कुक्षि से हुआ । सं १८८८ में २२ वर्ष की वय में दीक्षा ली और ६५ वर्ष का लंबा साधु जीवन व्यतीत कर ८७ वर्ष की सुदीर्घ आयु में सं १९५३ में स्वर्ग प्राप्त किया । इनकी कुछ रचनाओं के नाम ये है –(१) नेमि चौ (२) साधु वन्दना (३) चन्दन चौढालिया (४) परदेशी राजा राय महावीर चौ (५) अर्जुनमाली चौढालिया और (६) अवंतिसुकुमाल चौढालिया । रचनाकाल है स १८ ४ से स १८२५ तक । इनकी समस्त रचनाओं का संग्रह सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित है ।

५ संत भीखणजी —तेरापंथ के आद्य संस्थापक आचार्य भिक्षु का जन्म सं १७८३ में कंटालिया ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम था सकलेचा बलूजी और माता का दीपाँदे । पहले ये १८ ८ में रघुनाथजी से दीक्षित हुए, पश्चात् सं १८१७ में अपना तेरापंथ नामक स्वतंत्र मत प्रवर्तन किया । स्वमत प्रचार के लिये इन्होंने ३५ हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचना की है । प्रमुख रचनाएँ हैं —अनुकम्पा की ढाल चतुर विचार ढाल आचारढाल ढाल दान निक्षेप ढाल १२ व्रत ९९ अतिचार, समकित ऋद्धिवादी और चार निक्षेपो आदि की ढालें गद्य में १८१ बोल की हुंडी । जैन आख्यानों पर गत मणियारा चौढालिया सुदर्शन सेठ, उदाई राजा बखाण जंबू चौ अर्जुन माला जिनपालित-जिनरक्षित चौढालिया इन्ध बलभद्र चौपई । इनकी समस्त रचनाओं का संग्रह 'भिक्षु ग्रंथावली' के नाम से तेरापंथी महासभा कलकत्ता से प्रकाशित हो रहा है । (देखिये 'आ भिक्षु के विचार रत्न' नामक ग्रंथ)

२० वीं शती —

इस सदी में आते-आते राजस्थानी का स्थान हिन्दी ले लेती है इसलिये राजस्थानी में रचना बहुत कम हुई । इस काल में जीतमलजी का साहित्य महत्त्वपूर्ण होने से उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे हैं ।

१ जीतमलजी—ये तेरापंथ सम्प्रदाय के चतुर्थ आचार्य थे । इनका जन्म सं १८६ में रोहित नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता का नाम गोलछा आईदान व माता का नाम कलूजी था । इन्होंने सं १८६९ में ९ वर्ष की अल्पायु में ही दीक्षा ले ली । तेरापंथ संप्रदाय की नींव सुदृढ़ करने में इनका स्थान बहुत ऊँचा है । ये बहुत अच्छे प्रतिभासम्पन्न कवि थे विपुल प्रमाण इनका लगभग ३ लाख श्लोक परिमाण विशाल साहित्य दे रहा है । इनमें वर्धमानजी जैनागम के पाँचवें अंग भगवती का ६ हजार श्लोक प्रमाण अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है। इसी आगम के ४ मूल सूत्रों में उत्तराध्ययन दशवैकालिक इन दो मूलसूत्रों पर भी इन्होंने ढालों की रचना की है । इनके अतिरिक्त इनकी रची हुई भिक्षु जसरसायन हेम नवरसा दीपजस जयसद आदि ऐतिहासिक भ्रम विध्वंसनादिक तेरापंथ सम्प्रदाय सबंधी और प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध तथा आराधना चौबीसी ये कृतियाँ भी उपलब्ध हैं । इनका स्वर्गवास संवत १९३८ में जयपुर में हुआ ।

इस प्रकार यहाँ अत्यन्त संक्षेप में जैन विद्वानों द्वारा निर्मित राजस्थानी साहित्य का दिग्दर्शन कराया गया । विस्तार से समस्त कवियों और उनकी कृतियों का परिचय एक विशाल स्वतन्त्र ग्रंथ का विषय है, क्योंकि इस साहित्य का परिमाण लगभग

---

१ रायचन्द्र द्वारा रचित साहित्य के लिये देखिये—जैन गुर्जर कविओ, भाग ३ ।

१५-२ लाख श्लोकों के बराबर है जो समग्र चारणादि जैनेतर साहित्य से अधिक है। यहाँ केवल बहुत प्रमुख कवियों की कुछ विशिष्ट कृतियों का ही नामोल्लेख किया गया है और, कुछ अच्छे कवियों व सुकवित काव्यों का भी परिचय स्थानाभाव के कारण आ नहीं सका है। तो भी इतने से राजस्थानी साहित्य को जैनकवियों की देन दृष्टिगोचर हो सकेगी ऐसी आशा है।

राजस्थानी गद्य-साहित्य :—

उपर्युक्त परिचय में पद्य रचनाओं की ही अधिकता है पर गद्य राजस्थानी जैन-साहित्य भी बहुत विशाल है। जैनागमों एवं प्रामाणिक उपयोगी अन्य जैन-ग्रंथों पर टब्बे व बालावबोध रूप भाषा टीकाओं की रचना प्रचुरता से हुई है और उनका परिमाण भी लाखा श्लोकों का है। जैनयतियों द्वारा लिखित लोककथाओं एवं ऐतिहासिक ख्यातों की भी कई प्रतियाँ उपलब्ध हैं। भाषा टीका निर्माताओं में पार्श्वचन्द्र सूरि शिवनिधान रूपचन्द धर्मसी आदि मुख्य हैं। बहुत से भाषा टीका ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनमें रचयिताओं के नाम नहीं पाये जाते। जैनेतर लोकसाहित्य पर भी जैन विद्वानों ने कई टीकाएँ बनाईं, जिनमें अकेले 'कृष्ण रुक्मणी बेलि' नामक प्रसिद्ध राजस्थानी ग्रंथ पर ही जैन लेखकों की ५ राजस्थानी और २ संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। रसिक प्रिया शतक त्रय अमरु शतक एवं वैद्यक ग्रंथों पर भी जैन लक्षकों की टीकाएँ मिलती हैं। गद्य लेखकों में से दो जैन श्रावकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं:—(१) मुहणोत नैणसी और (२) मुहणोत संग्राम सिंह।

मुहणोत नैणसी—राजस्थानी भाषा व इतिहास का प्रेमी ऐसा कोई व्यक्ति न होगा जो इनको न जानता हो। इनकी सुप्रसिद्ध 'ख्यात' नामक रचना उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ के द्वारा इन्होंने समग्र राजस्थान के इतिहास की चिरस्मरणीय अमूल्य सेवा की है। ऐतिहासिक तहकीकात का विवरण देनेवाली इनकी एक अन्य कृति अभी अप्रसिद्ध है। मुहता नैणसी की 'ख्यात' नामक इनकी रचना का कुछ अंश रामकरणजी आसोपा ने छपाया था। अब वह पूर्ण रूप से राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर से छप रही है। (जीवनी के लिए देखिए ख्यात के दो भागों में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित इनकी प्रस्तावना)।

मुहणोत संग्राम सिंह—इन्होंने सं० १८१६ में 'अखलाक मकसी हुसैना' नामक फारसी ग्रंथ का नीति प्रकाश नाम से सुन्दर अनुवाद किया है। इसकी प्रति कविराज सुखदानजी के संग्रह में है। इनके अतिरिक्त भंडारी उत्तमचन्दजी कृत 'रतना- हमीरबात' तथा अन्य जैनयतियों द्वारा लिखित अमर सिंह बात[1] 'राठौड़ वंशावली' आदि प्रचुर ऐतिहासिक साहित्य उपलब्ध है।

जैन विद्वानों ने स्वयं रचना करने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी राजस्थानी साहित्य की दो बड़ी सेवाएँ की हैं। प्रथम जैनेतर लेखकों द्वारा रचित साहित्य का संरक्षण करके और दूसरी राजस्थानी लोकगीतों को अमर बनाकर। जैन भंडारों में अन्य लेखकों द्वारा निर्मित जैनेतर साहित्य बहुत बड़े परिमाण में सुरक्षित है। उसमें से बहुत-सा ऐसा है, जो अन्यत्र सर्वथा अप्राप्य है। अर्थात् यहाँ न होने का अर्थ होता है उस साहित्य का सर्वथा लुप्त हो जाना। इतना ही नहीं यहां सुरक्षित प्रतियाँ बहुत शुद्ध और कई-कई की संख्या में हैं। बोलचाल की राजस्थानी के प्राचीन ग्रंथ बीसलदेव रासो की बीसों प्रतियाँ हम लेखक ने देखी हैं। ये सभी जैन विद्वानों द्वारा ही लिखी गई हैं। एक भी प्रति अन्य किसी के द्वारा लिखी हुई नहीं मिलती। यदि यहाँ इतनी प्रतियाँ सुरक्षित न रहती तो शायद आज इस महाकाव्य का नाम भी हमें सुनने को न मिल पाता। यह जैनों की महत्त्वपूर्ण अमूल्य सेवा है।

दूसरी बात है सरल भाषा में ग्रन्थ रचना और लोकगीतों को अमर बनाना। राजस्थानी जैन-साहित्य की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ डिंगल जैसी कठिन भाषा को न अपनाकर समग्र साहित्य तत्कालीन प्रचलित बोलचाल की भाषा में सृजन किया गया है। और क्योंकि गत ४ वर्षों में राजस्थान की बोली में बहुत कम अन्तर पड़ा है अतः उपर्युक्त नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन चार शताब्दियों की जैन रचनाओं को आज भी बिना टीका-टिप्पणी प्रकाशित करने पर

१—उस साहित्य के परिचय के लिए देखिए लेखक का 'भारतीय विद्या भाग २ अंक १-४ में प्रकाशित 'जैनेतर ग्रंथों पर जैन टीकाएँ' नामक लेख।

२—प्रकाशित भारतीय विद्या भाग अंक-१

जनसामान्य उन्हें सरलता से पढ और समझ सकता है। इसलिये लेखक का यह सुझाव है कि इन रचनाओं के संपादन, अनुवाद प्रकाशन आदि में अतिरिक्त व्यय न करके जैन-साहित्य के प्रकाशन की ओर समुचित योग लगाया जाय।

जैन लेखकों ने जिस प्रकार भाषा के क्षेत्र में जनसामान्य की प्रचलित बोली को अपनाया उसी प्रकार काव्यरूपों और शैलियों में उनकी वृत्ति प्राचीन ग्रन्थों को आदर्श मानकर लोक प्रचलित रीतियाँ अर्थात् लोकगीतों में प्रयुक्त रागों और छन्दों को अपनाने की ही रही। सहस्रावधि लोकगीतों के नाम उन्हें अपनी रचनाओं का आधार बनाकर इन साहित्यकारों ने अमर कर दिये हैं। श्रीयुत मोहनलाल देसाई ने बहुत परिश्रमपूर्वक जैन रासो और चौपाइयों में प्रयुक्त २३ से भी अधिक देशी रागों की एक विस्तृत सूची अपने 'जैन गुर्जर कवियो' भाग–३ के परिशिष्ट में दी है। उस सूची को देखने से पता चलता है कि हम अपनी असावधानी के कारण सैकड़ों अत्यन्त सुन्दर लोकगीतों को खो बैठे हैं और इससे सचमुच किसी सहृदय साहित्यिक को बड़ा अनुताप होता है। देसाईजी ने अपनी सूची में यह भी निर्दिष्ट किया कि किस संवत् के किसकी किस रचना में कौन-कौन से देशीरागों छन्दों का प्रयोग हुआ है। इससे हमें उन गीतों की प्राचीनता एवं मूल भाषा का भी भलीभाँति परिचय मिल जाता है। इन देशी गीतों के माध्यम से हमारे अपढ जनसाधारण में स्वाभाविक संगीत की कैसी मधुर मंदाकिनी प्रवाहित होती थी इसकी भी एक झाँकी हमें बरबस देखने को मिल जाती है और अपढ समाज की उत्कृष्ट प्राचीन संस्कृति का चित्र आँखों में आकर हृदय द्रवीभूत हुए बिना नहीं रहता।

इतना ही नहीं अनेक जैन श्रावकों ने चारण भाट आदि जन-कवियों को आश्रय देकर न केवल साहित्य निर्माण बल्कि चित्रकला एवं स्थापत्य कला के प्रोत्साहन द्वारा इन कलाओं के संरक्षण संवर्द्धन का युगीन चिरस्मरणीय राष्ट्रीय हित का कार्य किया है। इस विषय पर लेखक का अवसर मिलने पर स्वतन्त्र रूप से लिखने का संकल्प है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण साहित्य के परिचय से किसी भी पाठक को इतना स्पष्ट ध्यान में आये बिना नहीं रहेगा कि गत चार-पाँच शताब्दियों में राजस्थानी साहित्य संस्कृति लोकजीवन और इतिहास का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिस पर किसी-न-किसी रूप में जैन साहित्यकारों और श्रावकों का महत्वपूर्ण योगदान न हो। इस सम्पूर्ण समस्त के अवलोकन के बिना किसी भी जिज्ञासु का इन सदियों के राजस्थान का अध्ययन सर्वांगीण नहीं हो सकता। यहाँ अन्त में इतना ही कह कर यह लेख समाप्त किया जाता है।

हिंदी जैन साहित्य

(ले० प्रो० नेमिचन्द्र जैन एम० ए० ज्योतिषाचार्य, आरा)

आन्तरिक रूप से विश्व के समस्त साहित्य में भावों विचारों और आदर्शों का सनातन साम्य सा है, यतः आन्तरिक भाव धारा और जीवन-मरण की समस्या एक है। प्राकृतिक रहस्यों से चकित होना तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर पुलकित होना मानवमात्र के लिये समान है। साहित्य में साधना और अनुभूति के समन्वय से समाज सम्प्रदाय और संसार से ऊपर सत्य एवं सौन्दर्य का चिरन्तन रूप पाया जाता है। इसी कारण साहित्यकार चाहे वह किसी भी जाति समाज देश और धर्म का हो अनुभूति का भण्डार समान रूप से ही अर्जित करता है। वह सत्य और सौन्दर्य की तह में प्रविष्ट हो अपने मानस से भावराशि-रूपी मुक्ताओं को चुन चुन कर शब्दावली की लड़ी में शिव की साधना करता है।

सौन्दर्य पिपासा मानव की चिरन्तन प्रवृत्ति है। जीवन की नश्वरता और अपूर्णता की अनुभूति सभी करते हैं आबाल-वृद्ध सभी इसका मर्म जानने के लिये उत्सुक रहते हैं। इसी कारण साहित्य सार्वजनीन अनुभूति के प्राची पर उदय लेता है। मानव के भीतर चेतना का एक गूढ़ और प्रबल आवेग है अनुभूति इसी आवेग की सच्ची सजीव और साकार प्रतिमा है। अतएव साहित्य में साम्प्रदायिक या जातिगत कोई ऐसा भेद नहीं होता जो उसे विकृत या विरूप कर सके। अतः सत्य अविच्छिन्न एक और अखण्ड है उसमें किसी प्रकार का भेद करना मानवता में भेद डालना है।

जैन साहित्य भी उसी वाङ्मय का एक अंग है, जिसमें मानवता का अखण्डरूप से विश्लेषण किया गया है। इस साहित्य के स्रष्टाओं ने अखण्ड चैतन्य ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अपने अन्तस् में साक्षात्कार किया और साहित्य में उसी की अनुभूति को मूर्तरूप प्रदान कर सौन्दर्य के शाश्वत प्रकाश की रेखाओं द्वारा धर्ममय चित्र अंकित किया है। इन्होंने अपनी अनुभूति को आत्मसाधना का विषय बनाकर चिरन्तन मंगल प्रभात का दर्शन किया तथा आभ्यन्तरिक धरातल में अंकुरित अशांति एवं असंतोष का उपचार ऊपरी सतह में लगे दोषों के परिमार्जन से न कर प्रस्फुटित अनुभूति के झरने में मज्जन कर, किया।

हिन्दी जैन साहित्य का उद्भव —

चिरन्तन सत्य अखण्ड और एक है, पर उसकी उपलब्धि के साधन और प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। यही कारण है कि साहित्य में साम्प्रदायिक भेद उत्पन्न होता है। साहित्य का प्रेरणा स्रोत जो कि जीवन दर्पण ही है, अनेक परिधानों में अभिव्यंजित होता है। साम्प्रदायिक साहित्यकार अपने दर्शन की मान्यताओं के आवेष्टन से आवेष्टित होकर साहित्य देवता की भव्य मूर्ति अंकित करता है।

हिन्दी की जननी अपभ्रंश है। ७—८ वीं सदी में जनसाधारण की भाषा बन जाने के कारण अपभ्रंश का प्रचार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक था। यह जीवित और भाव प्रवण भाषा थी अतः जैनाचार्यो ने मानव के आदर्शों के प्रचार के लिये तथा मूर्छित मानवता को सचेतन बनाने के लिये इस भाषा में प्रभूत साहित्य रचा। स्तोत्र काव्य कथाकाव्य महाकाव्य खण्डकाव्य एवं चरितकाव्य जैन लेखकों द्वारा लिखित इस भाषा में पाये जाते हैं। दोहों के रूप में जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और दोहासार इस भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। कुछ लोग जोइन्दु को अपभ्रंश भाषा का सर्वप्रथम जैन कवि मानते हैं।[1] इनके पश्चात् चतुर्मुख आदि कई अपभ्रंश कवियों के नामोल्लेख मिलते हैं। ८— वीं शताब्दी में रामायण हरिवंश प्रभृति महाकाव्यों के रचयिता महाकवि स्वयंभू का नाम आता है। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू भी अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि हैं। दसवीं शताब्दी में महाकवि पुष्पदन्त ने अपभ्रंश भाषा में महापुराण नामक महाकाव्य की रचना की। इन्हीं शताब्दियों में जैन कवि देवसेन महेश्वरसूरि, पद्मकीर्ति धनपाल हरिषेण नयनन्दि धवल वीर श्रीचन्द आदि ने अपनी काव्य कृतियों द्वारा अपभ्रंश साहित्य की श्रीवृद्धि की। इनके उपरान्त श्रीधर, कनकामर, वाहिल यशःकीर्ति प्रभृति कवियों ने अनेक कृतियाँ प्रदान कीं। आचार्य हेमचन्द्र ने इस भाषा का व्याकरण लिखा और उदाहरण के रूप में अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को सुरक्षित रखा। इन दोहों में शृंगार, सौन्दर्य नीति करुणा एवं भय का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। नरसेन सिंह धनपाल शान्तिप्रभ पद्मकीर्ति और रइधू मध्यकाल के प्रसिद्ध कवि हैं।

II/20

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के जैन कवियों ने लोक प्रचलित कहानियों को लेकर और उनमें स्वेच्छया परिवर्तन कर सुन्दर काव्य ग्रंथ लिखे हैं। मध्यकाल के आरम्भ में समाज और धर्म संकीर्ण हो रहे थे। अतः जैन लेखकों ने परम्परा प्राप्त पुराने कथानकों और लोकप्रचलित प्रसिद्ध कथानकों में जैनधर्म का पुट देकर मानव हितकारी साहित्य का सृजन किया। हिन्दी के जैन लेखक प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की जैन परम्पराओं के साथ विशाल संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न अंगो से सुपरिचित थे। बौद्ध साहित्य पौराणिक साहित्य तन्त्र साहित्य एवं वेदान्त साहित्य का इन्होंने पूर्णतया अध्ययन किया था। फलतः पुरानी हिन्दी-अपभ्रंश से भिन्न पर पूर्णतया उससे प्रभावित में ही साहित्य का निर्माण जैनाचार्यों के द्वारा हुआ। यों तो अपभ्रंश की रचनाएँ १७ वी शती तक मिलती है पर १ वी ११वी और १२ वी शती ही अपभ्रंश का स्वर्णकाल है। ११वी शती से अपभ्रंश प्रभावित पुरानी हिन्दी में रचनायें लिखी जाने लगी। सोमप्रभ के कुमारपाल प्रतिबोध की ५७ लघु कथाएँ और मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि' के कतिपय आख्यान पुरानी हिन्दी का आदिमरूप कहे जा सकते है। जिसे वास्तविक रूप में हिन्दी कहा जाता है उसके काव्यो का आरम्भ ११ वी शती के धर्मसूरि के जम्बूरासा से होता है। इसके पश्चात् हिन्दी में जैन साहित्य की परम्परा द्रुतगति से आगे बढ़ती है। १७ वी और १८वी शती तो इस साहित्य का स्वर्णकाल है।

हिन्दी जैन साहित्य का कालवर्गीकरण —

सामयिक अवधि के अनुसार जैन हिन्दी साहित्य के काल को तीन युगो में विभक्त किया जा सकता है—आदिकाल मध्यकाल और अर्वाचीन काल। आदिकाल के पुनः दो भेद हैं—अपभ्रंश साहित्यकाल और पुरानी हिन्दी का साहित्यकाल। समय सीमा के अनुसार विक्रम की ८ वी शती से १२ वी शती तक अपभ्रंश साहित्यकाल और १३ वी शती से १६ वी शती तक पुरानी हिन्दी का साहित्यकाल माना जायगा। मध्यकाल की समय सीमा १७ वी शती से १९ वी शती तक तथा अर्वाचीनकाल विक्रम की १९ वी शती के पश्चात् आरम्भ होता है। प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर ही हिन्दी जैन साहित्य का परिचय दिया जायगा।

अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति पाँचवी शती में हुई थी और छठी शती में यह देशी भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी थी। अतः छठी से १२ वी शती तक इस भाषा में पुष्कल परिमाण में साहित्य का सृजन होता रहा। आगे चलकर इसी भाषा ने हिन्दी भाषी प्रान्तो में हिन्दी का रूप और अन्य भाषा-भाषी प्रान्तो में मराठी गुजराती आदि भाषाओं का रूप धारण किया। लोक भाषा होने के कारण इसी में गीत एवं लोकभाषा साहित्य लिखा गया। इस साहित्य के वर्ण्य विषय सर्व साधारण के सुख-दुःख हर्ष विषाद हास एवं विलास ही थे। ८–९ वी शती में भक्ति प्रेम वीर, करुण हास्य आदि रसो से सम्बद्ध साहित्य दोहा, चौपाई, कडवक घत्ता छप्पय रोला प्रभृति छन्दो में शास्त्रीय परम्परा के आधार पर लिखा गया।

अपभ्रंश जैन साहित्य में प्रबन्ध काव्य की धारा आठवी शती से ही प्रवाहित हुई। जैन कवियों ने प्राचीन कथानकों को लेकर इस देशी भाषा-अपभ्रंश में अपने काव्य-भवन का निर्माण किया। तीर्थंकर, चक्रवर्ती और नारायण आदि महान व्यक्तियो के सरस और हृदयग्राही जीवनवृत्त काव्य के उपकरण बने। इतना ही नही किन्तु वैदिक महापुरुषों के चरितो एवं लोक प्रसिद्ध प्रेमाख्यान या वीराख्यान के नायको के जीवन वृत्तो को जैनत्व के आवरण में वेष्टित कर नव कथानक भी उपस्थित किए गये। लोकप्रचलित प्रेमाख्यानो में जैनत्व की रंग-बिरंगी कारीगरी कर साहित्य का निर्माण किया गया। अपभ्रंश भाषा में पउमचरिउ-रामायण हरिवंश-कृष्ण चरित रिट्ठणेमिचरिउ भविसयत्तकहा तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार, करकंडु चरित और वड्ढमाणचरिउ श्रेष्ठ महाकाव्य है। इन काव्यो में महाकाव्य के सभी तत्त्व वर्तमान हैं।

अपभ्रंश में पचमी चरित णायकुमार चरित यशोधर चरित नमिनाथ चउपई, आदि खण्डकाव्य हैं। खण्डकाव्य में जीवन के किसी खास पहलू पर कवि की दृष्टि केन्द्रित रहती है। यद्यपि घटना विधान दृश्य योजना और परिस्थिति निर्माण का भी प्रयास खण्डकाव्य के निर्माताओं को करना पडता है, पर जीवन के किसी खास अंश की सीमा में बँधकर। उपर्युक्त अपभ्रंश के सभी खण्डकाव्य काव्यत्व की दृष्टि से पूर्ण सफल हैं।

पुरानी हिन्दी के साहित्य में प्रधान रूप से रासा ग्रंथो का समावेश होता है। रासा शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है। कुछ का अभिमत है कि यह शब्द रसायन या रहस्य से निकला है। पर इस शब्द का वास्तविक रहस्य प्रयत्नसाध्य बना है। जैन परम्परा में ११ वी शती से १६ वी शती तक अनेक रासा ग्रंथ रचे गये हैं। यों तो रासा साहित्य

की परम्परा १८वीं सदी तक पायी जाती है। व्रतों के फलों का निरूपण यात्रा के फलों का कथन जीवन की किसी भी महत्वपूर्ण घटना का काव्यात्मक प्रतिपादन रासा ग्रन्थों के वर्ण्य विषय हैं। इन रचनाओं में धर्म और आचार के बीज तो वर्तमान हैं ही पर काव्यतत्व की न्यूनता नहीं है।

जम्बूस्वामी रासा की रचना धर्मसूरि ने संवत् १२६६ में की है। इनके गुरु का नाम महेन्द्र सूरि था। इस ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश और गुजराती से प्रभावित हिन्दी है। प्रबन्ध कल्पना कवि में पूर्णतया वर्तमान है। जीवन के उपयोगी अंशों के उद्घाटन की क्षमता भी कवि में है। भाषा का नमूना निम्नप्रकार है —

जिण चउविस पय नमेवि गुरुचरण नमेवि।
जम्बूस्वामिहिं तणू चरिय भविउ निसुणेवि।
करि सानिध सरसत्ति देवि जीयरयं कहाणउ।
जम्बू स्वामिहिं (सु) गुणगहण संखेवि वखाणउ॥

रेवन्तगिरि रासा की रचना विजयसेन सूरि ने की है। इनका शिष्य वस्तुपाल मन्त्री था इसने संवत् १२८८ के लगभग गिरनार संघ निकाला था। इस काव्य में गिरनार यात्रा तथा गिरनार क्षेत्र पर किये गये जीर्णोद्धार का लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा पुरानी हिन्दी है, पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट है। इस रचना में काव्यतत्व की अपेक्षा धर्मतत्व की मुख्यता है। नमूना निम्न प्रकार है —

परमेसर तित्थेसरह पयपंकज पणमेवि।
भणिसु रास रेवन्तगिरि-अबिकदिवि सुमरेवि॥
गामागर-पुर-वण गहण सरि-सरवरि-सुपएसु।
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु॥

नेमिनाथ चउपई के रचयिता विनयचन्द्र सूरि हैं। ये संस्कृत और प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् थे तथा संस्कृत प्राकृत और हिन्दी इन तीनों ही भाषाओं में कविता भी करते थे। इनके गुरु का नाम रत्नसिंह है। इनका समय १३ वीं सदी माना गया है। इन्होंने ४ पद्यों में इस काव्य को पूरा किया है। इनका उपदेशमाला कथानक छप्पय नाम का ८१ पद्यों का एक अन्य काव्य भी उपलब्ध है। नेमिनाथ चउपई की प्रारंभिक पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

सोहग सुंदर घण लावन्नु, सुमरवि सामिउ सामलवन्नु।
सखिपति राजल चडि उत्तरिय बार मास सुणि जिम वज्जरिय॥
नेमिकुमर सुमरवि गिरनार, सिद्धी राजल कन्न कुमारि।
श्रावणि सरवणि कडुए मेहु गज्जइ विरहि रि झिज्जइ देहु॥
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नेमिहि विणु सहि सहियइ केव।
सखी भणइ सामिणी मत झूरि, दुज्जण तण मनवांछित पूरि॥

समरतिसमरा रास भी इस काल की सुन्दर रचना है। इसके रचयिता नमेन्द्र गच्छ के आचार्य पासड सूरि के शिष्य अम्बदेव थे। अणहिल्लपुर पट्टन के ओसवाल शाह समरासपति ने संवत् १३७१ में शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार अपार धनव्यय करके कराया था। कवि ने इसी इतिवृत्ति को लेकर इस काव्य की रचना की है। भाषा राजस्थानी का परिष्कृत रूप है। अपभ्रंश का प्रभाव भी विद्यमान है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं —

बाजिय संख असंख नादि काहल दुडदुडिया।
घोड़े चडइ सल्लारसार राउत सींगडिया॥
तउ देवालउ जोत्रिवेगि धाघरि रवु झमकई।
सम विसम नवि गणइ कोइ नवि वारिउ थक्कइ॥

थूलभद्र फागु की रचना चैत्र महीने में फाग खेलने के लिये जिनपद्मसूरि ने की है। इनके पिता का नाम अम्बाशाह और पितामह का नाम लक्ष्मीधर था। ये श्रीमाल कुल में उत्पन्न हुए थे। संवत् १३८९ में ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी सोमवार को इन्हें खरतरगच्छीय जिनकुशल सूरि के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। शाह हरिपाल ने संघभक्ति और गुरु भक्ति के साथ इन्हें

गुणप्रभाव पद बड़े उत्साह के साथ प्रदान किया था। इनकी कविता परिष्कृत और सरस है। अलंकारों का भी यथास्थान समावेश हुआ है। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं —

उन्ह सोहग सुन्दर रूपवंतु गुणमणि भंडारो।
कंचण जिम झलकंत कति संजम सिरिहारो॥
फुरिभइ मुणिराउ जाम महियली बोहंतउ।
नयरराय पाटलिय माँहि पहुतउ विहरंतउ॥

गौतम रासा वि० संवत् १४१२ में विनयप्रभ ने लिखा है। इस काव्य में कल्पनाओं के सहारे सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं। गौतम स्वामी के रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

× × ×

सात हाथ सुप्रमाण देह रूपहिं रंभावर॥
नयणवयण करचरणि जिण वि पंकज जलिपाडिय।
तेजहिं तारा चंद सूर आकाशि भमाडिय॥
रूविहि मयणु अनंग करवि मेल्हिउ निराडिय।
धीरिम मेरु गंभीरि सिंधु चंगमि चय चाडिय॥

ज्ञान पंचमी की रचना मगध देश में विहार करते हुये जिनउदय गुरु के शिष्य ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणु ने संवत् १४२३ में की थी। इसमें श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य बतलाया गया है। कलिंगागचरित्र, सारसिखामनरास, यशोधरचरित्र, कृपणचरित्र और रामसीता चरित्र १६वीं सदी की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

कवि ठकुरसी द्वारा संवत् १५८० में रचित कृपणचरित्र एक सुन्दर काव्य है। इस काव्य का कथानक बड़ा रोचक एवं शिक्षाप्रद है। बताया गया है कि एक दिन कृपण की पत्नी ने अपने पति से गिरनार की यात्रा को चलने का अनुरोध किया। कृपण महानुभाव ने पत्नी के प्रस्ताव का विरोध किया। पति-पत्नी में इस विषय को लेकर बहुत वाद-विवाद हुआ। पत्नी ने अनेक युक्तियों से तीर्थाटन दान एवं पुण्य कार्यों के संपादन में ही धन की सार्थकता बतलायी किन्तु कृपण महोदय को उक्त बातें रुचिकर प्रतीत नहीं हुईं। उसने किसी युक्ति से पत्नी को उसके पीहर भेज दिया। इधर यात्रियों का एक संघ गिरनार से वापस आया। इस संघ के कुछ लोग मार्ग में व्यापार करते हुए अपने कपड़ों को ले गये थे। अतः वे यात्रा के साथ साथ बहुत सा धनार्जन भी कर लाये थे। कृपण के लिये वे व्यापारी यात्री ईर्ष्या का विषय बने। फलतः दिनरात चिन्ता करने के कारण वह कृपण रोगी हो गया। कृपणता के कारण औषधि कर नहीं सका और उसकी मृत्यु हो गयी। वह मरकर नरक गया।

इस काव्य में रोचकता इतनी अधिक है कि प्रारम्भ करने पर समाप्त किये बिना नहीं रहा जायगा। स्व० श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है— 'यह छोटा सा पर बहुत ही सुन्दर और प्रसादगुण सम्पन्न काव्य बम्बई दि० जैन मन्दिर के सरस्वती भण्डार में एक गुटके में लिखा हुआ मौजूद है। इसमें कवि ने एक कंजूस धनी का अपनी आँखों देखा चरित्र ३५ छप्पय छन्दों में लिखा है'[१]। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं —

कृपणु एकु परसिद्धु नयरि निवसतु निलक्खणु।
कही करम संजोग तासु घरि, नारि विचक्खणु॥
देखि दुहु की जोड़ सयल जगि रहिउ तमासै।
याहि पुरिषकै याहि, दई किम दे इम मासै॥
वह रहो रीति चाहै भली दान पुंज गुण सील सवि।
यह देन खान खरचन किवै दुवै करहि दिनि कलह अति॥

ये सभी रासा ग्रन्थ प्रायः एक ही शैली पर लिखे गये हैं। इनमें काव्यत्व अल्प और पौराणिकता अधिक है। धर्मवार्ता होने के कारण सुन्दर नीति और शिष्टाचार की भावना अन्तर्हित है। इस रासा साहित्य में प्रेम और विरह के चित्रों की भी कमी नहीं है। वीररस का चित्रण तो अनेक स्थलों पर बड़े सुन्दर रूप से हुआ है।

'अंजना सुन्दरी रास' में अंजना के विरह का सजीव और उदात्त वर्णन किया गया है। विरहिणी के जीवन की समस्त परिस्थितियों का चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। संस्कृत साहित्य में विरह की जिन दस दशाओं का निरूपण किया गया है वे सभी अंजना के जीवन में विद्यमान हैं। विरहिणी अंजना के जीवन में कवि ने निष्ठा और सहानुभूति की भी कमी नहीं दिखाई है। पति द्वारा अकारण तिरस्कृत होने से अंजना के मन में अत्यन्त ग्लानि है, वह अपनी संकट की घड़ियों को पति के प्रथम साक्षात्कार की मधुर स्मृति के अनुभव द्वारा प्रसन्नतापूर्वक बिता देती है। भगवद्भक्ति और सदाचार ही उसके जीवन के आधार हैं। इस काव्य की कथावस्तु विरहिणी के आँसुओं से ही ग्रथित की गयी है। इस काव्य के रचयिता कवि महानन्द हैं।

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य बहुत विशाल है। इस काल में महाकाव्य खण्डकाव्य चरित और कथाकाव्य आध्यात्मिक रूपक काव्य गीति काव्य प्रकीर्णक काव्य आत्मकथा काव्य रीति साहित्य एवं गद्य साहित्य का सृजन हुआ। हम सुविधा के लिये इस कालखण्ड का काव्य प्रवृत्तियों के आधार पर विवेचन तथा समय क्रमानुसार कवियों के आधार पर ही निरूपण करेंगे।

हमारे अभीष्ट कालखण्ड में श्रेष्ठतम कवि बनारसीदास हैं। ये महाकवि की उपाधि से विभूषित हैं। इनका जन्म श्रीमाली परिवार में हुआ था। इनके प्रपितामह जिनदास का साका चलता था पितामह मूलदास हिन्दी और फारसी के पंडित थे और ये नरवर (मालवा) में वहाँ के मुसलमान नवाब के मोदी होकर गये थे। इनके मातामह मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी थे और पिता खड्गसिंह कुछ दिनों तक बंगाल के सुल्तान मोदीखाँ के पोतदार रहे थे। इनका जन्म जौनपुर में माघ सुदी ११ संवत् १६४३ में हुआ था। ये श्रीमाली वैश्य थे। ये बड़े ही प्रतिभाशाली और सुधारक कवि थे। शिक्षा सामान्य प्राप्त हुई थी पर अद्भुत प्रतिभा के कारण ये अच्छे कवि थे। चौदह वर्ष की अवस्था में इन्होंने एक हजार दोहा-चौपाइयों का नवरस नामक ग्रंथ बनाया था जिसे आगे चलकर इस भय से कि इस ग्रंथ के अध्ययन से समाज पथभ्रष्ट न हो जाय गोमती में प्रवाहित कर दिया था।

महाकवि बनारसीदास के पिता मूलतः आगरा निवासी ही थे तथा इन्हें भी बहुत दिनों तक आगरा में रहने का अवसर मिला था। उस समय आगरा जैन विद्वानों का केन्द्र था। इनके सहयोगियों में पं० रामचन्द्रजी चतुर्भुज बैरागी भगवतीदास धर्मदास कुँवरपाल और जगजीवनराम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाकवि बनारसीदास का सम्पर्क सन्त कवि सुन्दरदास और तुलसीदास के साथ भी था। तुलसीदास की रामायण पर बनारसीदास ने "विराजै रामायण घट माहीं। मरमी होय मरम सो जानै मूरख समझै नाहीं" इत्यादि पद्य लिखकर अपनी सम्मति दी थी। रचनायें निम्न हैं। नाममाला—एक सौ पचहत्तर दोहों का एक छोटा सा शब्द कोष है। इसका आधार महाकवि धनंजय की संस्कृत नाममाला है। कवि ने धनंजय के २ श्लोकों का सार १७५ दोहों में ही रख दिया है। इसकी प्रशस्ति में बताया गया है—

> सोरह सै सत्तरि समै असू मास सित पक्ष।
> विजैदसम ससिवार तह, श्रवण नखत परतक्ष॥
> दिन दिन तेज प्रताप जय सदा अखंडित आन।
> पातसाह थिर नूरदी जहाँगीर सुल्तान॥"

अर्थात्—इस ग्रंथ की रचना संवत् १६७० में बादशाह जहाँगीर के राज्यकाल में आश्विनमास के शुक्लपक्ष में विजयादशमी सोमवार के दिन भानुपुर के प्रसाद से पूर्णता को प्राप्त हुई।

नाटक समयसार—यह एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक रचना है। आत्मान्वेषकों को सरस कविता में आत्मतत्त्व की उपलब्धि की सुन्दर अभिव्यंजना वर्तमान है। कुशल कलाकार ने चित्रकार के समान काव्यगत आत्मानुभूति में नाना कल्पनाओं का रंग भरकर अद्भुत चित्र खींचने का प्रयास किया है। यद्यपि कवि की इस रचना का आधार आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार है, पर कवि ने रागतत्त्व बुद्धितत्त्व और कल्पनातत्त्व का समावेश कर इस रचना की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखा है। ग्रन्थ के रस में प्रवाह और माधुर्य वर्तमान है। सरल और कोमल शब्दों का चयन करने में कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। अनूठी उक्तियाँ और नवीन उद्भावनाएँ तो पाठक का मन ही बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। जीवन के कोमल पक्ष की अभिव्यंजना

होने से कविता हृदय और मस्तिष्क दोनों को समान रूप से छूती है। इसमें जीवन के उन विशेष विचारों और भावनाओं का संकलन किया गया है जो यथार्थ जीवन को गतिशील बनाते हैं।

इसमें ११ दोहा-सोरठा २४१ सवैया-इकतीसा ८६ चौपाई, ६ सवैया-तेईसा २ छप्पय १८ कवित्त, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियाँ हैं। कुल पद्यों की संख्या ७२६ है। इसमें कवि ने आत्मतत्त्व का निरूपण नाटक के पात्रों का रूप देकर किया है। इसमें सात तत्त्व अभिनय करने वाले हैं। यही कारण है कि इसका नाम नाटक समयसार रखा गया है।

कवि ने मंगलाचरण के उपरान्त सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा अज्ञानी की विभिन्न अवस्थाएँ, ज्ञानी की अवस्थाएँ, ज्ञानी का हृदय संसार और शरीर का स्वरूप दिग्दर्शन आत्मजागृति आत्मा की अनेकता मन की विचित्र दौड़ एवं सप्तव्यसनों का सच्चा स्वरूप प्रतिपादित करने के साथ जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का काव्य की शैली में निरूपण किया है। आत्मा की अनुपम आभा का कितना सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

जो अपनी दुति आप विराजत है परधान पदारथ नामी।
चेतन एक सदा निकलंक महासुख सागर को विसरामी॥
जीव-अजीव जिते जग में तिनको गुन ज्ञायक अन्तरजामी।
सो शिवरूप बसै शिवथानक ताहि विलोकन मैं शिवगामी॥

अज्ञानी जीव भ्रम के कारण अपने स्वरूप को विस्मृत कर संसार में जन्म-मरण के कष्ट उठा रहा है। कवि कहता है कि काया की चित्रशाला में कर्म का पलंग बिछाया गया है, उस पर माया की सेज सजाकर मिथ्या कल्पना का चादर तान गया है। इस शय्या पर अचेतन की नींद में चेतन सोता है। मोह की मरोड़ नेत्रों का बन्द करना—झपकी लेना है। कर्म के उदय का बल ही श्वास का घोर शब्द है और विषय सुख की दौड़ ही स्वप्न है। इस प्रकार तीनों कालों में अज्ञान की निद्रा में मग्न यह आत्मा भ्रमजाल में ही दौड़ती है, पर इसे अपना रूप प्राप्त नहीं होता। कवि इसी स्वरूप का विश्लेषण करता हुआ कहता है —

काया की चित्रसारी में करम परजंक भारी माया की सँवारी सेज चादर कलपना।
सैन करै चेतन अचेतनता नींद लियें मोह की मरोर यहै लोचन का ढपना॥
उदै बल जोर यहै स्वास को सबद घोर, विष सुखकारी जाकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दसा में मगन रहै तिहुँकाल धावे भ्रमजाल में न पावे रूप अपना॥

इसी प्रकार कवि ने भवविज्ञान आत्मानुभूति आत्मतत्त्व सहजानुभूति कर्मसंघर्ष से होनेवाली आत्मा की विभिन्न प्रकार की लीलाएँ निश्चय और व्यवहार के स्वरूप उनके दृष्टिकोण आत्मा का कर्तृत्व अकर्तृत्व भोक्तृत्व अभोक्तृत्व प्रभृति का रूपात्मक काव्य शैली में प्रतिपादन किया है। इन प्रसंगों में प्रयुक्त उपमान बड़े ही सरस और नवीन हैं। रूपकों के सहारे आत्मतत्त्व का विश्लेषण काव्य के स्वरूप को चमत्कृत ही नहीं करता बल्कि उसे रस-ग्राह्य बनाता है। यहाँ एक चित्र का वर्णन करना आवश्यक है। कवि कर्म संयोगी आत्मा की अनेकरूपता का चित्रण करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार नदी की एक ही धारा में नाना स्रोतों का जल आकर मिलता है, तथा जिस स्थान पर पाषाण शिलाएँ रहती हैं वहाँ धारा मुड़कर चलती है जहाँ कंकर रहते हैं वहाँ झाग देती हुई आगे बढ़ती है जहाँ हवा का जोर अधिक रहता है, वहाँ चंचल तरंगें उठती हैं और जहाँ की भूमि नीची होती है वहाँ भँवरें पड़ती हैं। इसी प्रकार आत्मा में पुद्गल अचेतन के अनन्त रसों के कारण अनेक प्रकार के विभाव उत्पन्न होते हैं। आत्मा की विभाव पर्याय जन्य लीलाएँ नाटक के पात्रों की लीलाओं से कम नहीं होतीं। संसाररूपी रंगस्थली पर आत्मा नट बनकर नाना तरह की लीलाएँ किया करती है। नायक आत्मा है और प्रतिनायक पुद्गल—जड़पदार्थ। आत्मा की इसी अनेकरूपता का कितना स्वाभाविक चित्रण किया है —

जैसे महीमण्डल में नदी का प्रवाह एक ताही में अनेक भाँति नीर की ढरनि है।
पाथर के जोर तहाँ धार की मरोर होत काँकर की खानि तहाँ झाग की झरनि है॥
पौन की झकोर तहाँ चंचल तरंग उठै भूमि की निचानि तहाँ भौंर की परनि है।
तैसो एक आतमा अनन्त रस पुद्गल दोहू के संयोग में विभाव की भरनि है॥

'नाटक समयसार' की भाषा सरस मधुर और प्रसादगुण पूर्ण है। शब्द चयन वाक्य विन्यास और पदावलियों के संगठन में सतर्कता और सार्थकता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है।

अर्द्धकथानक'' —इसमें कवि ने अपनी आत्मकथा लिखी है। वि सं १६९८ तक की सभी घटनाएं दी गयी हैं। यह हिन्दी में लिखी गयी सबसे पहली आत्मकथा है। यह आत्मकथा काव्य "मध्य देश की बोली" में लिखा गया है। यह सम्पूर्ण आत्मकथा इतनी रोचक है और ऐतिहासिक निबन्धन की दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें हिन्दी-साहित्य की अनकनमी बातों पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही १७ वी शती की राजनीतिक और सामाजिक अनेक घटनाओं का जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाता है। इस आत्मकथा में कवि ने अपना ५५ वर्ष का चरित्र स्पष्टता और सत्यतापूर्वक अंकित किया है।

बनारसी विलास-इसमें महाकवि बनारसीदास की ५७ छोटी-मोटी रचनाएं संग्रहीत हैं। इसका संकलन संवत् १७ १ में पं जगजीवन ने किया है। इस संकलन में तेरह काठिया भवसिन्धुचतुर्दशी अध्यात्मर्महिंडोलना सूक्तिमुक्तावली ज्ञानपच्चीसी अध्यात्मबत्तीसी कर्मछत्तीसी मोक्षपैडी शिवपच्चीसी और ज्ञानबावनी आदि प्रधान हैं।

तेरह काठिया में कवि कहता है कि जिस प्रकार लुटेरे, बदमाश चोर आदि देश में उपद्रव मचाते हैं उसी प्रकार तेरह काठिया आत्मा में उपद्रव-विकृति उत्पन्न करते हैं। जुआ आलस्य शोक भय कुकथा कौतुक कोप कृपणबुद्धि अज्ञानता भ्रम निन्द्रा मद और मोह ये तेरह आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं। विभाव परिणति के कारण शुद्ध बुद्ध और निरञ्जन आत्मतत्त्व में परपदार्थों के संयोग से विकृति उत्पन्न हो जाती है। उपर्युक्त तेरह धूर्त आत्मा के निजी धन अनन्तज्ञान अनन्त दर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को चुराते हैं।

भवसिन्धु चतुर्दशी एक सरस हृदय ग्राहक रचना है। इसमें संसार की विडम्बनाओं से पृथक रहने की ओर संकेत करते हुए परमात्म चिन्तन अथवा अन्वयण की ओर प्रवृत्त होने की बात कही है। इसमें विभिन्न रूपकों द्वारा संसार के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

हिंडोले का रूपक लेकर आत्मानुभूति की सरस और सुन्दर अभिव्यञ्जना इस अध्यात्मर्महिंडोलना में की गयी है। चेतन आत्मा स्वाभाविक सुख के हिंडोले पर आत्मगुणों के साथ क्रीडा करती रहती है। रूपक अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही है।

सूक्तिमुक्तावली के पद्य भी सुन्दर और उपदेशप्रद हैं। यह संस्कृत भाषा में लिखी गयी सोमप्रभ की सूक्तिमुक्तावली के आधार पर लिखित है।

हमारे इस युग के द्वितीय बड़े कवि भैया भगवतीदास हैं। ये आगरा के निवासी ओसवाल जैन थे। इनका गोत्र कटारिया था। इनके पिता का नाम लालजी और पितामह का नाम दशरथ साहू था। इनके जन्म संवत् एवं मृत्यु संवत् के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है। हां इनकी रचनाओं में संवत् १७३१ से १७५५ तक का उल्लेख मिलता है। वि सं १७११ में हीरानन्द ने पञ्चास्तिकाय का अनुवाद किया था इसमें भगवती दास का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः ये ही भैया भगवतीदास रहे होंगे। इन्होंने कविता में अपना उल्लेख भैया भविक और दास-किशोर उपनामों से किया है। इनकी समस्त कविताओं का संग्रह ब्रह्मविलास में प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त "लघु सीतासतु" नामक एक सुन्दर खण्डकाव्य भगवतीदास के नाम से उपलब्ध है। यहाँ दो-एक रचनाओं का अनुशीलन उपस्थित किया जाता है।

चेतनकर्म चरित्र इनका एक सुन्दर आध्यात्मिक रूपक काव्य है। इसकी कथावस्तु में बतलाया गया है कि चेतन की सुबुद्धि और कुबुद्धि नाम की दो भार्याएँ थीं। सुबुद्धि चेतन-आत्मा की कर्म संयुक्त अवस्था को देखकर कहने लगी—चेतन तुम्हारे साथ यह दुष्टों का संग कहाँ से आ गया। तुम उनको दूर क्यों नहीं करते हो। चेतन—हे महाभागे ! मैं तो इस प्रकार फंस गया हूँ जिससे इस बहन पंक से निकलना असम्भव-सा लग रहा है। सुबुद्धि पुनः चेतन को समझाती है जिससे चेतन कुबुद्धि को अपने घर से निकाल देता है। कुबुद्धि रूठकर अपने पिता मोह के घर चली जाती है और मोह विचारों की सेना सजाकर चेतन पर चढ़ा कर देता है। इधर चेतन की ओर से संयम धन समिति अनुप्रेक्षा और गुणस्थानरूप योद्धा समरभूमि में आते हैं तथा मोह की ओर से मिथ्यात्व अविरति प्रमाद योग और कषाय रूपी योद्धा जम करते हैं। घमासान युद्ध होने के उपरान्त मोह की सेना तितर-बितर हो जाती है। कवि ने उक्त रूपक को लेकर ही इस काव्य की २९६ पद्यों में रचना की है। भावनाओं के अनुसार कपूर तथा परवर्णों का प्रयोग इस कृति में चमत्कार उत्पन्न करता है। युद्ध का वर्णन कितना सजीव हुआ है —

सूर बलवंत मदमत्त महामोह के निकसि सब सैन आगे जु आये।
मारि घमासान महाजुद्ध बहु रूद्ध करि, एकतें एक सातों सबाये ॥
वीर सुविवेक ने धनुष ले ध्यान का मारिकैं सुभट सातों गिराये।
कुमुक जो ज्ञान की सैन सब संग धसी मोहके सुभट मूर्च्छा सबाये ॥

पंचेन्द्रिय संवाद और मधुबिन्दुक चौपाई भी सुन्दर रचनाएं हैं, इन दोनों काव्यों का लक्ष्य भी आत्मतत्त्व को पहचानना है।

लघु सीता सतु खण्डकाव्य है। इसमें कवि ने सीता के सतीत्व की झांकी दिखलायी है। बारह मासों में मन्दोदरी सीता के प्रश्नोत्तर के रूप में रावण और मन्दोदरी की चित्तवृत्ति का सुन्दर विश्लेषण किया है। मानसिक घात-प्रतिघातों का चित्र बड़ी चतुराई से खींचा गया है। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

तब बोलइ मन्दोदरी रानी। सखि अषाढ़ घनघट घहरानी ॥
पीय गये ते फिर घर आवा। पामर नर नित मन्दिर छावा ॥
लवहिं पपीहे दादुर मोरा। हियरा उमग धरत नहिं धीरा ॥
बादर उमहि रहे चौपासा। तिय-पिय बिनु लहिं उसन उसासा ॥
नन्हीं बूंद झरत झर लावा। पावस नभ आगमु घर छावा ॥
दामिनि दमकत निशि अंधियारी। विरहिनि काम बाण उर मारी ॥
भुगवहिं भोगु सुनहिं सिख मोरी। जानति काहे भई मति बौरी ॥
मदन रसायन हुइ जग सारु। संजमु नेमु कथन विवहारु ॥
जब लग होस शरीर महिं तब लग कीजइ भोगु।
राज तजहिं भिक्षा भमहिं, इउ भूला सब लोगु ॥

ब्रह्मगुलाल कवि ने 'कृपणजगावन' काव्य रचा है। ये पद्मावती पुरवाल जाति के थे। ये चन्दवार-फिरोजाबाद के पास टापू नामक गाँव के निवासी थे। कृपणजगावन काव्य की प्रशस्ति में बतलाया गया है कि ये भट्टारक जगभूषणके शिष्य थे। टापू गाँव के राजा कीरतसिंह थे। इस गाँव में धर्मदास के कुल में मथुरामल्ल नाम के एक व्यक्ति थे ये ब्रह्मचर्य के पालन करने में प्रसिद्ध थे। कवि ने इन्हीं के उपदेश से संवत् १६७१ में उक्त काव्य ग्रंथ की रचना की है। इस काव्य की कथावस्तु रोचक और सरल है।

राजगृह नगर में वसुमति राजा शासन करता था। इस नगर में श्रेष्ठि पुत्री धर्मश्री रहती थी। राजा ने मुनिराज से तपश्री की भवावली पूछी। मुनि कहने लगे—यह पहले भव में उज्जैन के सेठ धनद की पत्नी थी इसका नाम मल्लि था। उज्जैन के राजा पद्मनाभ ने अष्टाह्निका उत्सव सामूहिक रूपसे मनाया धनद सेठ भी इसमें शामिल हुआ पर मल्लि सेठानी को यह नहीं रुचा। पूजा के लिये सामग्री और पकवान बनाये अवश्य किन्तु अच्छी वस्तुएँ न लेकर सड़े-गले सामान से सामग्री तैयार की जिससे मुनियों को आहार नहीं दिया जा सका। मल्लि की भावनायें सदा कलुषित रहती थी दानमें एक कानी कौड़ी भी खर्च करने में उसके प्राण सूखते थे। इसी कारण पति से निरन्तर संघर्ष होता रहता था फलतः उसे कुष्ट रोग हुआ है। मुनिराज ने उसे पुण्य की कंजूसी के आख्यान भी बतलाये। इन्हीं आख्यानों को सुनकर तपश्री को विरक्ति हो गयी और वह आत्मसाधना में तत्पर हुई। इस काव्य में जीवन के कतिपय तत्त्वों का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है।

इस काल में बनारसी दास और भगवती दास के अतिरिक्त पद रचयिताओं में आनन्दघन का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये उपाध्याय यशोविजय के समकालीन थे। इनका आनन्दघन बहत्तरी नामक कविता संग्रह उपलब्ध है। ये आध्यात्मिकता के ऊंचे शिखर पर पहुँचे हुए आत्मदर्शक सन्त थे। इन्होंने अपने काव्य में आत्मतत्त्व की महत्ता का अनुभव कर आध्यात्मिक धरातल पर आत्मस्नान का उत्कर्ष दिखलाया है तथा ऐन्द्रियिक आनन्द को निकृष्ट और हीन बतलाकर इन्द्रियातीत अलौकिक आनन्द की अभिव्यंजना की है। आत्मा की अमरता का भाव निम्न पद्य में कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुआ है —

अब हम अमर भये न मरेंगे ।
या कारन मिथ्यात दियो तजि क्योंकर देह धरेंगे ॥१॥
राग-दोष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे ।
मर्‍यो अनन्त काल तें प्राणी सो हम काल हरेंगे ॥२॥
देह विनाशी हूँ अविनाशी अपनी गति पकरेंगे ।
नासी नासी हम थिरवासी चोखे ह्वै निखरेंगे ॥३॥
मर्‍यो अनन्त बार बिन समझे अब सो सुख बिसरेंगे ।
'आनन्दघन' निपट निकट अक्षर दो नहिं सुमरै सो मरेंगे ॥४॥

यशोविजय के पदों का संग्रह जसविलास नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके पदों में भावनाएं तीव्र आवेगमय और संगीतात्मक प्रवाह में प्रस्फुटित हुई हैं। भाषा में कलात्मक वैचित्र्य के स्थान पर सरसता और सरलता है। पदों में प्रधान रूप से आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना की गयी है।

इस काल के प्रथम श्रेणी के कवियों में कवि भूधरदास की भी गणना की जाती है। ये आगरा के निवासी और जाति के खण्डेलवाल थे। इनका समय १७वीं शताब्दी का अन्तिम भाग या १८वीं शती का प्रारम्भिक भाग है। इनकी तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—पार्श्वपुराण (महाकाव्य) जैनशतक और पदसंग्रह।

पार्श्वपुराण की कथा बड़ी रोचक और आत्मपोषक है। वैर की परम्परा किस प्रकार जन्म-जन्मान्तरों तक चलती है, यह इसमें बड़ी खूबी के साथ बतलाया गया है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ का जीवनवृत्त वर्णित है। इसकी कथावस्तु महाकाव्य की है। नायक पार्श्वनाथ का जीव अपने समय के समाज का प्रतिनिधित्व करता हुआ लोक मानव की रक्षा के लिए बद्ध परिकर है। कवि ने कथा में क्रमबद्धता का पूरा निर्वाह किया है। मानवता और युगभावना का प्राधान्य सर्वत्र है। परिस्थिति-निर्माण में पूर्व के भी भवों की कथा जोड़कर कवि ने पूरी सफलता प्राप्त की है। जीवन का इतना सर्वांग और स्वस्थ विवेचन अन्यत्र नहीं मिल सकेगा।

जैनशतक में भूधरदास ने वैराग्य भावना को उद्दीप्त करने का विधान बतलाया है। इसके कवित्त सवैये छप्पय बड़े ही सरस प्रवाहपूर्ण लोकोक्ति समाविष्ट एवं जोरदार हुए हैं। वृद्धावस्था संसार की अस्थिरता काल-सामर्थ्य स्वार्थ परता दिगम्बर मुनियों की तपस्या आशा-तृष्णा की नग्नता आदि विषयों का निरूपण बड़ी ही ओजस्वी शैली में किया गया है। विषय निरूपण की शैली उदात्त है। भावों को विशद करने में कवि को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। जहाँ शृंगारी कवियों ने नायिका के स्तनों को स्वर्णकलश की और उनके श्यामल अग्रभाग को नीलमणि की ढंकनी की उपमा देकर प्रशंसा की वहाँ भूधरदास ने उन्हें आमिष पिण्ड तथा श्यामल भाग को क्षार-राख कहकर भर्त्सना की है। उदाहरण निम्न प्रकार है —[११]

कंचन कुम्भन की उपमा कहि देत उरोजन को कवि बारे।
ऊपर स्याम विलोकत के मानो नीलम की ढंकनी ढक छारे॥
यो सत बैन कहै न कुपण्डित ये जुग आमिष पिंड उघारे।
साधन झार दई मुह छार, भये इहि हेत किधौं कुच कारे॥

कवि भूधरदास ने पद साहित्य भी लिखा है। इन्होंने भक्तिकाव्य की सभी बारीकियाँ अपने पदों में प्रदर्शित की हैं। इन्होंने स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया है। यद्यपि इन्होंने बाह्य सौन्दर्य का भी पर्यवेक्षण किया है, पर वह इन्हें स्थिरता प्रदान नहीं कर सका है। यही कारण है कि इनके पदों में भावुकता के सहारे करुण रस और आत्मवेदना की अभिव्यंजना हुई है। इनके पदों में धार्मिक कोमलता भावनाओं की मादकता और कल्पनाओं का इन्द्रजाल समन्वित रूप में विद्यमान है। इनके पद स्तुतिपरक जीव की अज्ञानावस्था के परिणाम और निस्तार सूचक आराध्य की शरण के दृढ़ विश्वास सूचक आत्मान्वेषी संसार और शरीर से विरक्ति-उत्पादक नामस्मरण के महत्व द्योतक और मनुष्यता के पूर्ण अभिव्यंजक इन सात वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं।

खेमचन्द तपागच्छ की चन्द्रशाखा के पण्डित थे। इनके गुरु का नाम मुक्तिचन्द्र था। इन्होंने गुजरात देश में संवत् १७६१

11/21

में गुणमाला चउपई अथवा धर्मसिंह गुणमाल चरित्र की रचना की है। यह अच्छा काव्य है, इसकी भाषा पर गुजराती प्रभाव है।

द्यानतराय भी इस युग के उत्तम कवियों में हैं। ये आगरा के निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जाति के गोयल गोत्र में हुआ था। इनके पूर्वज लालपुर से आकर आगरा में बस गये थे। इनके पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामदास था। इनका जन्म संवत् १७३३ में और विवाह संवत् १७४८ में हुआ था। उस समय आगरा में मानसिंहजी की धर्मशैली थी। कवि द्यानतराय ने उससे लाभ उठाया। कवि को पं० बिहारीदास और पं० मानसिंह के धर्मोपदेश से जैनधर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। इन्होंने संवत १७७७ में सम्मेद शिखर की यात्रा की। इनकी कविताओं का संग्रह "धर्मविलास" नाम से प्रसिद्ध है। इस संकलन को कवि ने स्वयं संवत् १७८ में किया था। इस संकलन में ४५ विषयों पर फुटकर कविताएँ और ३३३ पद संगृहीत हैं। उपदेशशतक व्योहार पच्चीसी और पूर्णपंचाशिका इनकी बहुत सुन्दर रचनाएँ हैं।

उपदेश शतक में १२१ पद्य हैं। इसमें मंगलाचरण के पश्चात् भक्ति और स्तुति की आवश्यकता मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की महिमा गृहवास का दुःख इन्द्रियों की दासता नरक निगोद के दुःख पाप-पुण्य की महत्ता धर्म का महत्त्व ज्ञानी-अज्ञानी का चिन्तन आत्मानुभूति की विशेषता शुद्ध आत्मा स्वरूप तत्त्व-स्वरूप आदि का प्रतिपादन किया गया है। दानबावनी में कवि ने दान का महत्त्व और उसके आदर्श का विश्लेषण किया है। अतिथि-सत्कार का वर्णन करते हुए कहा गया है —

मौन कहाँ जहा साधन आवत पावन सो सो मुनि तीरथ होई।
पाय प्रछालके काम लगाय के देह की सर्व बिथा नहीं कोई॥
दान करयो नहिं पेट भरयो बहु दान की आवन बार न कोई।
मानुष जोनिकौं पायकें मूरख काम की बात करो नहिं कोई॥

इस युग में कवि बनारसीदास के समकालीन रूपचन्द भी हैं। इन्होंने परमार्थ दोहा शतक परमार्थ गीत पदसंग्रह, गीतपरमार्थी पंचमंगल एवं नेमिनाथरास की रचना की है। रायमल्ल पाण्डे जिनदास कुंवरपाल पाण्डे हेमराज बुलाकीदास किशनसिंह, खड्गसेन रामचन्द्र शिरोमणि दास मनोहरलाल या मनोहरदास जगसागर, बुलाकचन्द काला सम्यक्त्व कोहट ब्रह्मरायमल भी अच्छे कवि हैं।"

अर्वाचीन काल में कवि वृन्दावन बुधजन भागचन्द मनरंग, दौलतराम बखतावरमल जगमोहनदास परमेष्ठिदास आदि प्रमुख हैं।

कवि वृन्दावन का जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में संवत् १८४८ में हुआ था। ये गोयल गोत्री अग्रवाल थे। कवि के वंशधर बारा छोड़कर काशी में आकर रहने लगे थे। कवि के पिता का नाम धर्मचन्द्र था। १२ वर्ष की अवस्था में वृन्दावन अपने पिता के साथ काशी आये। काशी में ये लोग बाबर शहीद की गली में रहते थे।

वृन्दावन की माता का नाम सिताबी और स्त्री का नाम रुक्मिणी था। इनकी पत्नी बड़ी धर्मात्मा और पतिव्रता थी। इनकी ससुराल भी काशी के ठठेरी बाजार में ही थी। इनके श्वसुर बड़े धनिक थे। इनके यहाँ टकसाल का काम होता था। एक दिन एक किरानी अंग्रेज इनके श्वसुर की टकसाल देखने आया। वृन्दावन भी उस समय वहीं उपस्थित थे। जब किरानी अंग्रेज ने इनके श्वसुर से कहा—"हम तुम्हारा कारखाना देखना चाहते हैं कि इसमें कैसे सिक्के तैयार होते हैं। वृन्दावन ने इस अंग्रेज किरानी को फटकार दिया और उसे टकसाल नहीं दिखलायी। वह अंग्रेज नाराज होता हुआ चला गया।"

दैवयोग से कुछ दिन के उपरान्त वही अंग्रेज किरानी काशी का कलक्टर होकर आया। इस समय वृन्दावन सरकारी खजान्ची के पद पर आसीन थे। साहब बहादुर ने प्रथम साक्षात्कार के अनन्तर ही इन्हें पहचान लिया और बदला लेने का उसने निश्चय किया। यद्यपि कविवर अपना कार्य बड़ी ईमानदारी सचाई और कुशलता से सम्पन्न करते थे पर जब अफसर ही विरोधी बन जाय तब कितने दिनों तक कोई बच सकता है। आखिर एक जाल बनाकर साहब ने इन्हें तीन वर्ष के लिये जेल की सजा दे दी।

कुछ दिनों के उपरान्त एक दिन प्रातःकाल ही कलक्टर साहब जेल का निरीक्षण करने गये। वहाँ उन्होंने कवि को एक कोठरी में पद्मासन लगाये निम्न स्तुति पढ़ते देखा—

हे दीनबन्धु श्रीपति करुणानिधानजी ।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो बार क्या लगी ।

इस कविता को सुनकर अंग्रेज बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इन्हें कारागृह से मुक्त कर दिया। वृन्दावन आशु कवि थे। इनके द्वारा रचित ग्रंथ प्रवचनसार, तीस-चौबीसी पाठ, चौबीसी पाठ, छन्दशतक, अर्हत्पासा केवली और वृन्दावन विलास उपलब्ध हैं।

विनोदीलाल भी इस युग के यशस्वी कवि हैं। इनकी रचनाओं में बारहमासा नेमिराजुल, नेमि विवाह, आदि रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हैं। तपश्चरण के लिये गए हुए अपने पति को राजुल श्रावण मासों के रम्य प्राकृतिक चित्रण द्वारा विचलित करने की चेष्टा करती है। नेमिकुमार राजुल के रागात्मक वचनों का वैराग्य के द्वारा उत्तर देते हैं। वार्तालाप बहुत ही सरस है —

पिय लागैगो चैत-वसंत सुहावनो फूलेंगी बेल सबै बनमाहीं।
फूलमी कामिनी जाको पिया घर, फूलेंगी फूल सबै बनराई।
खेलहिंगे ब्रज के बन में सब बाल-गुपाल व कुँवर कन्हाई।
नेमि पिया उठ आवो घरै तुम काहेको करहो लोग हँसाई॥

बुधजन—इनका पूरा नाम विरधीचन्द था। ये जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन थे। इनका समय अनुमानतः १९वीं शती का मध्य भाग है। इनके द्वारा विरचित चार ग्रंथ उपलब्ध हैं—तत्त्वार्थबोध, बुधजन सतसई, पंचास्तिकाय और बुधजन विलास। इनकी भाषा पर मारवाड़ी प्रभाव है। बुधजन सतसई सरस और नीति पूर्ण रचना है। इसमें देवानुराग शतक, सुभाषितनीति, उपदेशाधिकार और विरागभावना ये चार प्रकरण हैं। प्रथम देवानुराग शतक में कवि बुधजन ने दास्य भाव की भक्ति अपने आराध्य के प्रति प्रकट की है। यद्यपि वीतरागी प्रभु के साथ इस भावना का सामञ्जस्य नहीं बैठता तो भी भक्ति के अतिरेक के कारण कवि ने अपने को दास के रूप में उपस्थित किया है। आत्मालोचन के साथ जिनवर के माहात्म्य को व्यक्त करना कवि का लक्ष्य है। कवि कहता है—

मेरे अवगुन जिन गिनौं मैं औगुन को धाम।
पतित उधारक आप हैं, करो पतित को काम॥

सुभाषित खण्ड में २ दोहे हैं, ये सभी नीति विषयक हैं। लोक-मर्यादा के रक्षण के लिए कवि ने हितोपदेश की बातें कही हैं।

भारामल्ल फर्रुखाबाद के निवासी सिंघई परशुराम के पुत्र थे। इनकी जाति खरौआ थी। इन्होंने भिंड नगर में रहकर संवत् १८१३ में चारुदत्त चरित्र की रचना की है। सप्तव्यसन चरित्र, दानकथा, शीलकथा और रात्रिभोजनकथा भी पद्यबद्ध रचनाएँ हैं।

पंडित जयराम माधवराजपुर निवासी अग्रवाल थे। इन्होंने संवत् १८६७ में गुरूपदेश श्रावकाचार छन्दोबद्ध संवत् १८७१ में सम्यक्त्व प्रकाश और अनेक पूजाओं की रचना की है। कवि दौलतराम हाथरस के रहने वाले पल्लीवाल थे। इनके पिता का नाम टोडरमल था। इनका जन्म वि. सं. १८५५ में हुआ था। इनकी बनाई हुई छहढाला और पदसंग्रह रचनाएँ प्राप्त हैं। छहढाला भाव, भाषा और अनुभूति की दृष्टि से बेजोड़ है।

मनरंगलाल कन्नौज के निवासी पल्लीवाल थे। इनके पिता का नाम कन्नौजीलाल और माता का नाम देवकी था। कन्नौज में गोपालदास नामक एक धर्मात्मा सज्जन निवास करते थे। इनके अनुरोध से ही इन्होंने चौबीसी पाठ की रचना की है। इसके अतिरिक्त इनके नेमिचन्द्रिका, सप्तव्यसनचरित्र, सप्तर्षिपूजा एवं शिखर सम्मेदाचल माहात्म्य भी उपलब्ध हैं। कवि हरिकृष्ण ने सं. १८२१ ज्येष्ठकृष्णा अष्टमी को बुद्धिप्रकाश नामक काव्य की रचना की है। इसमें धर्म, वैराग्य और नीति के विषयों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। राजा और मन्त्र का वार्तालाप तो बहुत ही सुन्दर हुआ है।

बखतराम ने मिथ्यात्व खण्डन और बुद्धिविलास इन दो ग्रंथों की रचना की है। बुद्धिविलास के आरम्भ में कवि ने जयपुर का इतिहास लिखा है। इस रचना में विविध धार्मिक विषय, दिगम्बर संघ-भट्टारकावली, भट्टारकों तथा खण्डेलवाल आदि की उत्पत्ति आदि वर्णित हैं। इस रचना की समाप्ति कविवर ने मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी सं. १८२७ में की थी।

पद्य साहित्य के साथ-साथ हिन्दी गद्य साहित्य की धारा भी आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही। आरम्भिक गद्य का रूप टीकाओं और वृत्तियों में मिलता है। १७ वीं सदी के मध्यभाग में राजमल पाण्डे ने गद्य में समयसार की टीका लिखी। इस टीका की भाषा ढूढारी है। शैली पण्डिताऊ है।

कविवर बनारसीदास कवि होने के साथ-साथ गद्य लेखक भी हैं। आगरा में बहुत दिन रहने के कारण इनके गद्य की भाषा ब्रजभाषा है। इन्होंने परमार्थवचनिका और उपादान-निमित्त की चिट्ठी भी लिखी है। इनकी गद्यशैली व्यवस्थित है, भाषा का रूप निखरा हुआ है और क्रियापद प्राय विशुद्ध ब्रजभाषा के हैं। संस्कृत के लिख्यते कथ्यते और उच्यते जैसे कुछ क्रियापद भी इनके गद्य में विद्यमान हैं।

अखयराम श्रीमाल ने संवत् १७८ के आसपास "चतुर्दश गुणस्थान चर्चा" नामक स्वतंत्र गद्य ग्रंथ तथा कई स्तोत्रों की हिन्दी वचनिकाएँ लिखीं। लेखक ने गद्य में अति सैद्धान्तिक विषयों को बड़े ही हृदयग्राह्य ढंग से उपस्थित किया है।

वचनिकाकारों में पाण्डे हेमराज का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने सत्रहवीं सदी के अन्तिम पाद में प्रवचनसार टीका पचास्तिकाय टीका तथा भक्तामर भाषा गोम्मटसार भाषा और नयचक्र की वचनिका ये पाँच गद्य रचनाएं लिखी हैं। इनकी टीकाओं की शैली पुरातन तथा संस्कृत टीकाकारों के अनुसार खण्डान्वय पर आधारित है।

अठारहवीं सदी के मध्य में दीपचन्द काशलीवाल का जन्म हुआ। इन्होंने प्राचीन ग्रंथों का अनुवाद न कर स्वतन्त्र रूप से गद्य ग्रन्थ लिखे। इनकी अनुभवप्रकाश चिद्विलास गुणस्थानभेद आदि धार्मिक रचनाएं प्रसिद्ध हैं। बसवा निवासी पं दौलतराम ने पुण्यास्रव कथाकोष पद्मपुराण आदिपुराण और वसुनन्दी श्रावकाचार इन चार ग्रंथों का गद्य में अनुवाद किया। इनके गद्य को हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार पं रामचन्द्र शुक्ल ने अपरिमार्जित खड़ीबोली का गद्य कहा है।

मुनि वैराग्यसागर ने सं १७५९ में 'आठकर्मनी १ ८ प्रकृति" नामक गद्य ग्रन्थ की रचना की है। शैली और भाषा दोनों पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव है। न के स्थान पर 'ण' दूसरे के स्थान पर 'बीजउ' का प्रयोग पाया जाता है।

१९ वीं शती के आरम्भ में भूधरदास ने चरचा समाधान नामक गद्य ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि इसमें विभक्तियाँ ढूढारी हैं पर भाषा खड़ी बोली के अत्यन्त निकट है।

संवत् १८२ में देवगुरु ने छहढालोकी टीका और इनसे पहले दीपचन्द ने ज्ञानदर्पण-भाषा-वचनिका लिखी। १९वीं शती के मध्य भाग में 'भद्रबाहु चरित्र" नामक भाषा ग्रंथ अमर कल्याण ने लिखा। संवत् १८५८ में आनन्द ने श्रावकाचार लिखा। इनका गद्य विकसित और विकासोन्मुख है।

१९ वीं शताब्दी में ही स्वनामधन्य आचार्य कल्प पं टोडरमल का जन्म हुआ। इन्होंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा जैनसिद्धान्त के गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार और आत्मानुशासन आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की हिन्दी वचनिकाएं लिखीं। अनुवाद कार्य के अतिरिक्त आपने ढूढारी भाषा में मोक्षमार्गप्रकाश की रचना की। यह मौलिक ग्रन्थ भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

१९ वीं शती में पं जयचन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि वचनिका परीक्षामुख वचनिका द्रव्यसंग्रह वचनिका स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आत्मख्याति समयसार, देवागमस्तोत्र वचनिका अष्टपाहुड वचनिका ज्ञानार्णव टीका भक्तामर चरित्र सामायिक पाठ चन्द्रप्रभकाव्य के द्वितीय सर्ग की टीका पत्र-परीक्षा-वचनिका आदि ग्रंथ लिखे।

२०वीं शती के प्रारम्भ में पं सदासुखदास पं भागचन्द चम्पाराम जौहरीलाल शाह, पन्नेहलाल चिमनराय एवं शिवजीलाल आदि कई टीकाकार हुए।

वर्तमान में जैन लेखक खड़ी बोली में उपन्यास नाटक निबन्ध कथाओं आदि की रचना कर रहे हैं। जैनेन्द्रकिशोर का मनोरमा मुनि निरंजन विजय का शरत्‌ और पं गोपालदास का सुशीला उपन्यास इस बीसवीं शती के प्रारम्भ की श्रेष्ठ रचनाएं हैं।

हिन्दी जैन साहित्य का सर्वेक्षण —

११ वीं शती में गाथा और चउपई ग्रन्थ लिखे गए। १४वीं शती की सप्तक्षेत्र रास समरा रास और जम्बूस्वामि रास प्रमुख रचनाएं हैं। १५वीं शती में भट्टारक सकलकीर्ति ने आराधना सार प्रतिबोध विजयभद्र का गौतमरासा जिन उदय

गुरु के शिष्य और ठक्कुर माल्हू के पुत्र विद्धणु ने ज्ञानपंचमी चउपई और ब दयासागर सूरि ने धर्मदत्त चरित्र लिखा । १६वीं शती में ब्रह्म जिनदास न आदिपुराण श्रेणिक चरित्र सम्यक्त्वरास यशोधररास धनपाल रास व्रतकथाकोश दशलक्षण-व्रत कथा सोलहकारण चन्दन षष्ठी मोक्ष सप्तमी निर्दोष सप्तमी कथा आदि ग्रन्थ रचे । इसी शताब्दी में चतरुमल ने नमीश्वरगीत और धर्मदास ने धर्मोपदेश श्रावकाचार रचा ।

हिन्दी जैन साहित्य के विकास के लिये सत्रहवीं शताब्दी विशेष महत्त्व की है । इस शती में गद्य और पद्य दोनों में साहित्य लिखा गया । महाकवि बनारसीदास रूपचन्द्र और रायमल्ल जैसे श्रेष्ठ कवियों को उत्पन्न करने का गौरव इसी शती को है । इनके अतिरिक्त त्रिभुवनदास हेमविजय कुँवरपाल और उदयराजयति की रचनायें भी कम गौरवपूर्ण नहीं हैं । गद्य लेखकों में पाण्डे रायमल्ल एवं अखयराज की रचनायें प्रमुख हैं । राजभूषण ने लोकनिराकरण रास ब्रह्मवस्तु ने पार्श्वनाथ रास मुनि कल्याणकीर्ति ने होली प्रबन्ध नयनसुख न मेघ महोत्सव हरिकलश न हरिकलश रूपचन्द ने परमार्थ दोहा शतक परमार्थ गीत पदसंग्रह, गीतपरमार्थी पंचमंगल नेमिनाथ रासो रायमल ने हनुमन्त कथा प्रद्युम्न चरित्र सुदर्शन रासो निर्दोष सप्तमी व्रतकथा नमीश्वररासो श्रीपाल रासो भविष्यदत्त कथा त्रिभुवनचन्द्र ने अनित्यपंचाशत प्रास्ताविक दोहे, षट्द्रव्यवर्णन और फुटकर कवित्त बनारसीदास ने बनारसीविलास नाटक समयसार, अर्धकथानक नाममाला कल्याणदेव ने देवराज वच्छराज चउपई, मालदेव न भोज-प्रबन्ध पुरन्दर कुमार चउपई, पाण्डे जिनदास ने जम्बूचरित्र ज्ञानसूर्योदय पाण्डे हेमराज ने प्रवचनसार टीका पंचास्तिकाय टीका भाषा भक्तामर, विद्याकमल ने भगवती गीता मुनि लावण्य ने रावण मन्दोदरी संवाद, गुणसूरि न ढोलासागर, कुशलाभ ने अंजनासुन्दरी संवाद मानसिंह ने भाषा कवि रसमंजरी केशवदास न जन्म प्रकाशिका जटमल ने बावनी गोरा बादल की बात प्रेमविलास चौपई, हसराज ने हंसराज ज्ञानभूषण ने आदीश्वरफागु, भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने नमीश्वर चन्द्रायण वस्तु न पंचेन्द्रिय बोल समयसुन्दर गणि न मृगावती चरित्र कुशललाभ गणि न माधवानल चौपई एवं ब्रह्मरायमल्ल ने श्रीपालरास की रचना की ।

अठारहवीं शताब्दी में हेम न छंद मालिका केसरकीर्ति ने नाम रत्नाकर, विनयसागर न अनेकार्थ नाममाला कुँवर कुशल न लखपति जयसिन्धु, मान न संयोग द्वात्रिंशिका कवि विनोद ने फुटकर पद उदयचन्द्र न अनूप रसाल उदयराज न वैद्य विरहिणी प्रबन्ध मानसिंह विजय गच्छ ने राजविलास सुबुद्धि विजय ने प्रतापसिंह का गुण वर्णन धर्मरूप न भावदेव सूरि रास लक्ष्मीवल्लभ न कालज्ञान धर्मसिंह ने कुंभ क्रिया समरथने रसमंजरी रामचन्द्र ने रामविनोद दीपचन्द ने बैद्यसार बालतन्त्र की भाषा वचनिका जयधर्म ने शकुन प्रदीप रामचन्द्र न सामुद्रिक भाषा नगराज ने सामुद्रिक लालचन्द ने स्वरोदय भाषा टीका रत्नशेखर न रत्नपरीक्षा लक्ष्मीचन्द्र ने आगरा गजल जटमल न उदयपुर गजल चित्तौड़गजल मनरूप विजय न मृगावत वर्णन उदयचन्द ने बीकानेर गजल दुर्गादास ने मरोट विजय न कृष्ण बावनी केशव न केशव बावनी जिनहर्ष न जसराज बावनी लक्ष्मीवल्लभ न हेमराज बावनी जिनहर्ष ने उपदेश छत्तीसी सवैया भैया भगवतीदास न ब्रह्मविलास द्यानतराय ने धर्मविलास आगम विलास शिरोमणि दास ने धर्मसार, बुलाकीदास न महाभारत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, प श्यामलाल न सामायिक पाठ किशोरीलाल न श्रीपाल चरित्र प लक्ष्मीदास ने यशोधर चरित्र धर्मप्रकाश प शिवलाल न चर्चा सागर, भूधरदास न पार्श्वपुराण जैनशतक पदसंग्रह, आनन्दघन न आनन्द बहत्तरी यशोविजय न धर्मविलास विनयविजय ने विनयविलास किशनसिंह न क्रियाकोश भद्रबाहुचरित्र रात्रिभोजन कथा मनोहर लाल ने धर्मपरीक्षा जोधराज गोदीका न सम्यक्त्व कौमुदी खुशालचन्द काला न हरिवंशपुराण पद्मपुराण उत्तरपुराण रूपचन्द न नाटक समयसार की टीका पं दौलतराम ने हरिवंश पुराण की वचनिका पद्मपुराण की वचनिका आदिपुराण की वचनिका परमात्मप्रकाश की वचनिका श्रीपालचरित्र क्रियाकोष बख्तराम ने त्रिलोक दर्पण जगतराम न आगमविलास सम्यक्त्व कौमुदी पद्मनन्द पचीसी टेकसिंह न उपदेश-सिद्धान्त रत्नमाला दीपराज न परमात्मप्रकाश की वचनिका ताराचन्द न ज्ञानार्णव जिनभूषण भट्टारक ने जिनदत्त चरित्र हरचन्द न श्रीपाल चरित्र जिनरंगसूरि न सौभाग्य पचीसी धर्ममन्दिर गणि ने प्रबोध चिन्तामणि हंस विजय गणि ने कल्पसूत्र की टीका ज्ञानविजययति ने मलय चरित्र लाभवर्धन न उपपदी ग्रन्थ टीकम ने चतुरंग चउपई, दत्त रुचि न चन्द्रगुप्त ब्रह्मजिनदास ने जम्बूस्वामी चरित्र नयनकीर्ति न धर्मरासो एवं परिमल्ल न श्रीपालचरित्र की रचना की है ।

उन्नीसवी शताब्दी में टोडरमल ने गोम्मटसार की वचनिका त्रिलोकसार की वचनिका लब्धिसार की वचनिका क्षपणासार की वचनिका आत्मानुशासन की वचनिका मोक्षमार्ग प्रकाश जयचन्द ने सर्वार्थसिद्धि की वचनिका द्रव्यसंग्रह की वचनिका स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की वचनिका आत्मख्यातिसार की वचनिका परीक्षामुखवचनिका देवागमस्तोत्र वचनिका अष्ट पाहुड की वचनिका ज्ञानार्णव की वचनिका भक्तामर की वचनिका वृन्दावनदास ने वृन्दावन विलास चतुर्विंशति जिनपाठ-पूजा तीस चौबीसी पूजापाठ, भूधर मिश्र ने पुरुषार्थ सिद्धि वचनिका चर्चा समाधान बुधजन ने तत्त्वार्थ बोध बुधजन सतसई, पंचास्तिकाय भाषा बुधजन विलास दीपचन्द ने ज्ञानदर्पण अनुभव प्रकाश अनुभव विलास आत्मावलोकन चिद्विलास परमात्मपुराण स्वरूपानन्द अध्यात्म पच्चीसी ज्ञानानन्द ने ज्ञानविलास समय तरंग रंगविजय ने गजल कुमुदविजय या चिदानन्द ने स्वरोदय टेकचन्द ने तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका की वचनिका सुदृष्टितरंगिणी नथमल विलाला ने जिनगुण विलास नागकुमार चरित्र जीवन्धर चरित्र जम्बूस्वामी चरित्र डालूराम ने गुरूपदेश श्रावकाचार, सम्यक्त्वप्रकाश पूजाएँ, सेवाराम ने हनुमच्चरित्र शान्तिनाथ पुराण भविष्यदत्त चरित्र देवीदास ने परमानन्द विलास प्रवचनसार टीका चिद्विलास वचनिका चौबीसी पाठ भारामल ने चारुदत्त चरित्र सप्तव्यसन चरित्र दानकथा शीलकथा रात्रिभोजन कथा गुलाबराम ने शिखरविलास थानसिंह ने सुबुद्धिप्रकाश नन्दलाल छावड़ा ने मूलाचार की वचनिका मनरंगलाल सांगानेर ने चरित्रसार की वचनिका मनरंगलाल ने चौबीसी पूजा पाठ, नेमिचन्द्रिका सप्तव्यसन चरित्र सप्तर्षि पूजा षट्कर्मोपदेश रत्नमाला वराग चरित्र विमलनाथ पुराण शिखिर विलास सम्यक्त्व कौमुदी आगमशतक अनेक पूजा ग्रन्थ चेतनविजय ने सर्मुपिनय आत्मबोध नाममाला मेघराज ने छन्दप्रकाश उदयचन्द ने छन्द प्रबन्ध उत्तमचन्द ने अलंकार आशय मंजरी क्षमा कल्याण ने अंबड चरित्र चन्द्र कथा ज्ञानसागर ने भाषा पिंगल कामोद्दीपन पूरबदेश वर्णन चन्द चौपाई समालोचना निहाल बावनी मूलचन्द ने वैद्य-हुलास मेघ ने मेघ विनोद मेघमाला गंगाराम ने कोविन्द राजभाषा सूरजप्रकाश भावनिदान चैनसुखदास ने शतश्लोकी की भाषा टीका रामचन्द्र ने अथपरिक्षा शकुनावली तत्त्वकुमार ने रत्नपरीक्षा गुणविजय ने कापरडा कल्याण ने गिरनार सिद्धाचल गजल भक्ति विजय ने भावनगर वर्णन गजल मनरूप ने मेड़ता वर्णन पोरबन्दर वर्णन सोजत वर्णन रघुपति ने जैनसार बावनी निहाल ने ब्रह्मबावनी चेतन ने अध्यात्म बारहखड़ी सेवाराम शाह ने चौबीसी पूजा पाठ, यति कृपालचन्द्र मणि ने जिनवाणी सार, हरिकिशनराय ने साधु गुणमाला देवाधिदेव स्तवन क्षमाकल्याण पाठक ने साधु प्रतिक्रमण विधि श्रावक प्रतिक्रमण विधि एवं विजयकीर्ति ने श्रेणिक चरित्र की रचना की है।

विक्रम की २ वीं सदी के प्रारम्भ में एवं ई सन् की १९ वी सदी के अन्त में पं सदासुख ने रत्नकरंडश्रावकाचार की टीका समयसार की टीका नित्य पूजा की टीका भागचन्द ने ज्ञान सूर्योदय उपदेश सिद्धांत रत्नमाला अमितगति श्रावकाचार टीका प्रमाण परीक्षा टीका नेमिनाथ पुराण दौलतराम ने छहढाला मुनि आत्माराम ने जैन तत्त्वादर्श तत्त्वनिर्णय प्रसार अज्ञानतिमिर भास्कर, चम्पाराम ने धर्मिम परीक्षा वसुनन्दी श्रावकाचार टीका चर्चासागर और योगसार, छत्रपति ने द्वादशानुप्रेक्षा मनमोहन पचासिका उद्यम प्रकाश और शिक्षा प्रधान मन्नाराम ने योगसार वचनिका यशोधरचरित्र और त्रिलोक सार पूजा एवं नाथूराम दोषी ने सुकुमाल चरित्र सिद्धिप्रिय स्तोत्र महीपाल चरित्र रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका, समाधि तन्त्र की टीका दर्शनसार टीका परमात्मप्रकाश टीका लिखी है। हिन्दी जैन साहित्य के विकास का यह क्रम उत्तरोत्तर विकसित होता आ रहा है। बीसवी सदी में अनेक विद्वान् इस साहित्य की सेवा में संलग्न हैं।

संदर्भ तालिका

(१) देखें—चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत डा ज्योतिप्रसाद जैन का 'हिन्दी की जननी अपभ्रंश' शीर्षक निबन्ध पृ ४५१
(२) विशेष जानकारी के लिए देखें—भारतीय वाङ्मय भाग १ के अन्तर्गत डा एच एल जैन का "अपभ्रंश साहित्य" शीर्षक निबंध पृ १११–११७
(३) जा मति पाछइ सपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंजु भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ॥
जइ यह रावणु जाइयो दहमुह इक्कु सरीर।
जननि वियम्भी चिन्तवइ, कवन पियावउ खीर॥ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ ११

(४) देखें—हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भाग २, परिशिष्ट पृ० २१८.
(५) वही पृ २१९.
(६) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ ६७
(७) हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—पं नाथूराम प्रेमी पृ १५
(८) मंजनासुन्दरी रास की प्रति जैन सिद्धान्त भवन, आरा में सुरक्षित है।
(९) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० ११७
(१) बनारसी नाममाला पद्य १७१–१७२ प्रकाशक वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली।
(११) अर्द्ध कथानक हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई, से प्रकाशित है।
(१२) जैन शतक पद्य ६५
(१३) हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन प्रथम भाग पृ १७१–२ १ तथा आमेर शास्त्र भण्डार के ग्रन्थों का प्रशस्ति-संग्रह प्रस्तावना भाग पृ १७–२२
(१४) रचनाओं और कवियों की विशेष जानकारी के लिए देखें—वृन्दावन विलास की प्रस्तावना आद्योपान्त तथा नाथूराम प्रेमी का हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास पृ ६०–८
(१५) प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ के अन्तर्गत जैन सिद्धान्तभवन आरा के कुछ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ पृ ५ ५ तथा हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भाग २ का परिशिष्ट पृ २१५।

आणंदा

(ले०—डा० हरिशंकर शर्मा "हरीश" एम ए डीफिल)

विषय की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के आदिकाल की इधर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना—आणंदा—उपलब्ध हुई है। रचना अप्रकाशित है तथा इसकी एक प्रति अतिशय क्षेत्र कमेटी महावीरजी भंडार जयपुर के अनुसंधान विभाग में सुरक्षित है और एक प्रति अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में। लेखक को इस ग्रंथ की मूल प्रति श्री अगरचंद नाहटा द्वारा मिली जिसके लिए वह उनका पूर्ण आभारी है।

प्रस्तुत रचना का नाम कवि ने आणंदा रखा है जो आनंद शब्द का राजस्थानी रूप है। पूरी रचना में प्रत्येक छन्द के साथ साथ कवि ने आणंदा छंद का नियोजन किया है। रचना का विषय अध्यात्म है। अद्यावधि प्राप्त रचनाओं में आणंदा का विषय विशेषत मानस में आनंद का स्फुरण करता है। जीव और ब्रह्म आत्मा परमात्मा तथा सद्वृत्तियों का अध्यात्म की ओर उन्मुख करना ही आणंदा की मुख्य संवेदना है। आदिकाल के अपभ्रंश जैन साहित्य में जिस प्रकार मुनि रामसिंह की कृति-पाहुड दोहा—मिलती है ठीक इसी प्रकार की आध्यात्मिक रचना आणंदा है।—अप्पा बुज्झिउ परमपउ जो घरसाविउ भेउ—अपनी आत्मा को समझो आत्मा ही परमात्मा है उसका निवास घट-घट में है अन्यत्र नहीं। तीर्थ यात्रा करना व्यर्थ है, आदि भावनाओं को कवि ने इस आध्यात्मिक काव्य में बाधा है।

इस कृति में रचनाकार के नाम पर मतभेद है। पर काव्य का अध्ययन करने पर यह प्रश्न हल हो जाता है। आणंदा शब्द का बहुत बार प्रयोग होने से श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने अपने लेख में[1] कृति के रचनाकार का नाम आनंद तिलक बताया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने आणंदा शब्द के बार-बार हुए प्रयोग तथा—मुणतह आणंद उच्छलई, मस्तक बाण तिलक—आदि बातों को ही मूल में रखकर यह नामकरण किया है। जो इस पंक्ति को पढ़कर तो इस आनन्द तिलक नाम के स्थान पर ज्ञान तिलक (ध्यान तिलक) नाम भी दिया जा सकता है क्योंकि आनन्द तिलक से ज्ञान तिलक की संगति ठीक बैठती है। पर इसका परिहार श्री अगरचन्द नाहटा ने निम्न पद्य से कर दिया है[2] —

आरम्भ— चिदानंद सानंदजिणु सयल हुसो (?)
महाणंदि सो पूजवउ
आणंदा गयणमंडल थिरहोइ आणदा ॥१॥

अंत— महाणांदियइ वाणियउ
आणंदा जिणि घरसाविउ भेउ आणंदा ॥४१॥
महाणंदि देउ आणंदा
वाणिउ भणइ महाणंदि देउ वाणिउ जाण्म भेउ आणदा ॥४२॥

इस निष्कर्ष से उन्होंने इसके रचयिता का नाम—महाणंद देउ (महानंद देव) किया है। यह नामकरण कहाँ तक सही है बहुत निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता परन्तु नाहटाजी का यह मत बहुत सम्भव है कि यथार्थ के निकट हो। जो भी हो इस सम्बन्ध में रचयिता का नामकरण सन्देह से परे नहीं कहा जा सकता।

रचना के रचयिता की भाँति इसकी भाषा और रचनाकाल भी सर्वैक्य प्राप्त नहीं है। श्री कासलीवाल ने इसकी भाषा को अपभ्रंश कहा है,[3] तथा इसका रचनाकाल १२ वी शताब्दी बताया है। परन्तु इसकी भाषा वास्तव में प्राचीन राजस्थानी है और रचना की भाषा को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह ११ वी शताब्दी की रचना होगी क्योंकि इसमें अपभ्रंश का जन-भाषा के साथ सुन्दर समन्वय स्पष्ट होता है।

१—देखिए वीरवाणी वर्ष ३ अंक १४–१५ पृ १९७–१९८ श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल का लेख।

२—वही वर्ष ३ अंक २२, पृ २८१ पर नाहटा जी का लेख।

३—वही वर्ष ३ अंक १४–१५ पृ १९८।

आत्मा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता हुआ कवि प्रारम्भ में ही मनुष्य को उसकी ऊँचाई पहिचानने की प्रेरणा देता है। शरीर से यह नितान्त भिन्न है। पाप में लिप्त मनुष्य के लिए आत्मा की पवित्रता अत्यावश्यक है। पाप पंकमय शरीर को आत्मज्ञान के साबुन से ही धोकर स्वच्छ किया जा सकता है। अतः पाप मल को ज्ञान सरोवर में अवगाहन करके छुड़ाना चाहिए —

> मिठरि भरिउ पाउमलु, मूढा करहि सन्हाणु
> मैमल लाग चित्तमहि आणंदा रे किम जाय सन्हाणि
> ज्ञान सरोवर अमिय जलु, मुणिवर करइ सन्हाणु
> अट्ठ कम्ममल धोवहि आणंदा रे णियडा पाहु णिवाण

इन भावनाओं में पाहुड दोहा से पर्याप्त साम्य है। इनको देखकर यह कहा जा सकता है कि कवि पर सं० १ में विरचित पाहुड दोहा काव्य का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा है। और यह भी कहा जा सकता है कि पाहुड दोहा ही इस रचना के मूल में रही हो।

रचनाकार ने गुरु की महत्ता पर प्रकाश डाला है। गुरु ही एक ऐसा साधन है जो आत्मा से मिला सकता है। गुरु भी एसा जो सद्गुरु है कुगुरु में इतनी क्षमता नहीं हो सकती। सच्चे गुरु की दृष्टि में सम्यक्त्व होता है और वह आत्म स्वरूप को जानता है और उसी अप्पाभाव में रंगा होता है। पाहुड दोहा की इन—

> गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
> अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ॥

पंक्तियों की ही भाँति निम्नांकित पद देखिए—साथही पाहुड दोहा के उक्त दोहे से इन पंक्तियों को मिलाइए —

> गुरु जिणवर गुरु सिद्ध सिउ गुरु रयणत्तयसारु।
> सो दरसावइ अप्पपरु आणंदा भवजल पावइ पारु॥
> कुगुरु पूजिय सिरण जगहु तीरथ काहु ममेहु
> देव सचेयणु सतगुरु जो दरिसावइ भव
> × × ×
> सुणवहुँ जाणउ उम्मसइ मस्तकि पा तिलकु
> मुकुटमणि सिर सोहवई आणदा साहु गुरु पाकउ जामु
> समरस भाव रंगिया अप्पा देखइ सोई
> अप्पउ जाणउ परहणइ आणदा करई णिरालव होई।

वस्तुतः उक्त रचना में जो आणंदा शब्द बार-बार आया है उसके लिए यह भी कहा जा सकता है कि आणंदा शब्द के बार-बार प्रयोग के लिए यह भी सम्भव हो कि कवि ने उसे मन या जीवन का प्रतीक माना हो—
आनंद के कामी—मन अर्थात् हे आणदा! या हे आनन्द के प्रतीक-मन! या हे साकार आनंद!

इस प्रकार रचना में आणंदा शब्द के बार-बार सम्बोधन के लिए ये अर्थ भी लगाये जा सकते हैं।

तीर्थों में कवि की श्रद्धा नहीं। तीर्थ करके व्यर्थ समय नष्ट करने से पूर्व तो कवि मनुष्य को अपने घट की खोज करने को कहता है। उसे कुदेवों पर भी विश्वास नहीं —

> अट्ठ सट्ठि तीरथ परिभमई मूढा मरइ भमंतु
> अप्पबिन्दु ण जाणहि आणंदारे घटमहि देव अणंतु

घट घट में निवास करने वाले अनन्त देवों की पहिचान कुगुरु नहीं करा सकता। वह तो दर्शनों में ही दुष्ट है। उसकी दृष्टि ही मिथ्या है—

> सुण्णहु हियडइ कमलसइ मस्तकि उप्पजइ मूल
> अगाणु कडावइ बहु हि पइ आणंदा मिच्छादिट्ठी जोगु

कवि का काव्य प्रवाह अध्यात्म के महानन्द जैसे तत्त्वों की व्याख्या करने में स्पष्ट होता है और रचनाकार स्वयं इस विषय में डूबकर उसका प्रतिपादन करता है। जिन मौन है चिदानन्द की उपासना महाआनंद की पूजा बिना नहीं हो सकती चाहे कोई शरीर का कष्ट शोषण जाप जप आदि द्वारा कितनी ही तितिक्षा क्यों न दे घटा क्या न बढ़ाए, वर्षा सर्दी गर्मी मौन भोजन त्यागकर व्यर्थ श्रम करे पर महानन्द को समझे बिना सब व्यर्थ है। पवन मंडल तभी स्थिर हो सकता है जब शीस

गुणों की सम्यक प्रकार से रक्षा हो। जप-तप व्यर्थ समझकर मन की शुद्धि की जाय। चिदानन्द जो सभी शरीरों में स्थित है उसे समझा जाय —

चिदार्णदु सोर्णदु जिणु समल सरीरहं सोई
महाणंदि सो पूजियइं आणंदारे गयणमंडलु थिर होई
× × ×
केइ केस लुचावहिं केइ सिर जटभारु
अप्पा बिंदु ण जाणहिं आणंदारे कि मया वहिं भवपारु
तिणी काल वाहिय सहि, सहहिं परस्सह भार
दंसण णाणहं बाहिरउ आणंदारे मरिसइ अमबालु
पावि मासि मोषणु करहिं पाणिउ गासु निरासु
अप्प झाइण जाणहिं आणंदा तिहुआइ वम पुरिवासु
× × ×
आपु अपइ बहु उवतपई तो वि ण कम्महणई
एक समउ अप्पा मुणइ आणंदा चउगइ पाणिउ देई
अप्पा संजम सील गुण अप्पा दंसणणाणु
बउ तउ संजम देउ गुरु आणंदा सो पाविहि णिवाणु

और कवि इस आध्यात्मिकता को महानन्द के निवास स्थान तक ले जाता है। भाषा की सरलता रचना की सीतिमयता, लोक भाषा मूलकता शब्द चयन तथा प्रासादिकता दृष्टव्य है। रचना में पद लालित्य के साथ-साथ अर्थ मार्मिर्य भी है। कवि ने निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले महानन्द का निवास स्थान कितने मर्मकथन द्वारा सम्पन्न किया है —

जिमवइ सायर कवमहिं कुसुम परिमलु होई
तिहुं देह मइ वसइ जिय आणंदा विरला बूझइ कोइ
हरिहरबंभु विधि बम्हाही मनुबुद्धि लखिउण जाई
मध्य सरीरहं संवसइ, आणंदा लीजहिं गुरुहि पसाई

पूरी रचना हिरोला छन्द में लिखी गई है तथा कुल छन्द ४४ हैं। कवि ने भाषा प्राचीन राजस्थानी जन बोली ही रखी है और १३ वीं शताब्दी के आस पास की रचना होने से उस पर अपभ्रंश के शब्दों का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है। ज्ञान जैसे क्लिष्ट विषय को कवि ने बड़ी सरल शब्दावली अनुप्रासादिकता तथा कोमल एवं प्रासादिक पदावली में समझाया है। उसके उपदेश का व्यक्तित्व स्थल स्थल पर स्पष्ट होता जाता है, जो रचना का महत्व और भी अधिक बढ़ा देता है।

इन बातों के साथ साथ अंत में कर्मों के दोषों को बदलने के लिए रचना को रोज पाठ करने का आदेश किया है —

पढइ पढावइ अणचरइ जइ सिवपुरि जाई
कम्महखय भउं बिरदलणि आणंदा भवियण हियइ समाई

उक्त पद भरत वाक्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रचना सर्वांश सुन्दर और ज्ञानोन्मुख करनेवाली है। रचना का मूल पाठ लेखक ने अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर से उपलब्ध किया है। यहाँ यह पाठ ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें सम्पादन के नाम पर लेखक का अधिक कुछ भी नहीं है। आशा है विद्वान् इसका वैज्ञानिक रूप से सम्पादन प्रस्तुत करेंगे—आणंदा का मूल पाठ अप्राप्ति है —

— आणंदा —

चिदाणदु सार्णद जिणु, सयल सरीरहं इंसो
महाणंदि सो पूजियइ, आणंदा गयनमडलि थिर होई ॥ आणंदा ॥ १॥
आप्पुनिरंजन अप्पसिउ अप्पा परमार्णदु
मूढ के वेउण पूजियण आणदा गुरु बिनु मूलउ अंधु ॥आणंदा ॥२॥
अट्ठ सट्ठ तीरथ परिभमइ, मूढा मरहिं भमतु
अप्पा बिंदु ण जाणइ कटमहिं देउ आनतु ॥ आणदा ॥३॥

भीतरि भरिउ पावमलु मूढा करहि सनाणु
जे मल लागा चित्ति महु आणंदा ते किम जाहि सनाणे ॥आणंदा ॥४॥
णाणु सरोवर अमिय जलु मुणिवर करहि सणाणु,
अट्ठकम्ममल धोवहिं आणंदा णियडउ पटु णिव्वाणु ॥आणंदा ॥५॥
बेणी समय जलमरहु जाणि ज्झंपम देहु
णाणुवि हिउ तपु जाणि करि आणंदा कम्मपडलखउ खेउ ॥आणंदा ॥६॥
छत्त पअतो मूढ वाइ भ्रम पूजण विवहार।
काइ आपवण पूजीयइ आणंदा नाहीं मोक्खदुवार ॥आणंदा ॥७॥
चउत्थउ संजमसील गुण सहइ महव्वय भार
एक न जाणइ परम कला आणंदा भमिहइ बहु संसार ॥आणंदा ॥८॥
कहवि केस लुंचकेहिं केइ सिरि जट-भार
अप्पा बिंदु न ध्यावहिं आणंदा किम पावहिं भवपार ॥आणंदा ॥९॥
तिथि कालम्बहिं रिखसहिं सहहिं परीसह भार घोसण
जाणइ बाहिरउ आणंदा पारे सहसमकाम ॥आणंदा ॥१ ॥
पाखि मासि भोयणु करहिं, पाणिउ गासु णिमासु
अप्पाणाइ ण जाणहिं आणंदा ठिहुमइ जमपुरिवासु ॥आणंदा ॥११॥
बाहिर लिंग धरेवि मुणि रूवइ मूढ णिचिंतु
अप्पाएक्कु ण झायहिं आणंदा सिवपुरि जाहिं णिभंतु ॥आणंदा ॥१२॥
जिणवर पुज्जइ गुरु भणहिं सत्थसयण कराय
अप्पादेउ न बिज्झी आणंदा ते पार जमपुरि जाहिं ॥आणंदा ॥१३॥
जाणि ससिसिहं झाईयउ धरिजिम संझाएहिं
मोक्खमहापुरि णीयडउ आणंदा भवदुह पाणिउ देहिं ॥आणंदा ॥१४॥
जिणु असमणु वि मुणि भणइ तारण मरकण होइ
मारवि तिहुयण भक्खिउ आणंदा अप्पा करइसहोइ ॥आणंदा॥१५॥
जिमि बहसालर कहमहु, कुसुमह परमल होइ
तिम देहसु जिय सहिजिउ विरला बुझइ कोई ॥आणंदा ॥१६॥
जब विहूणउ देहडिहिं जिम्मक मरहु विहीणु
कम्मविणि रहे जवरिजु जिम आणंदा ण वि तसु पाउ ण पुण्णु ॥आणंदा ॥१७॥
स्पर्श गंध रस बाहिरउ रूव विहीणु जीउ
जीव सरीरहं भिण्णुकरि आणंदा सहु गुरु जाणइ कोइ ॥आणंदा ॥१८॥
देउ सचतन झाइ इवि जिणइ पर विवहार
एक समइ ध्यानगसेण आणंदा खपइ कम्म पयार ॥आणंदा ॥१९॥
जाप जपइ बहु तउ तावइ तो वि न कम्महभेउ
एक समइ अप्पाभुणइ आणंदा चउगइ पाणी देइ ॥आणंदा ॥२ ॥
सो अप्पा सवम सील गुणु अप्पउ दंसणणाणु
चउतउ सयमु देउ गुरु आणंदा जो जिण सासणि धाउ ॥आणंदा ॥२१॥
परमपउ जे झायहिं सो सवउ विवहार
समितुजोवहिं बाहिर आणंदा कहु विणु गहिमपयाल ॥आणंदा ॥२२॥
भाय जम्म कुल जाति विणु जउ तसु रोसु न राउ

संमिकुविविहि आणीइ आणंदा सद्गुरु करइ सुभाउ ॥आणंदा ॥२३॥
परमाणंदसरोवरहु, जे मुणि करहिं पवेसु
अमिय महारस जइ पियहिं आणंदा गुरु सामिहि उवएसु ॥आणंदा ॥२४॥
महि सायर रमणिहिं रमई जवे अकहिय होइ
णाणवलेण जि ते वि मुणि आणंदा सिवपुरि पियडा होइ ॥आणंदा ॥२५॥
सिक्ख सुणइ सदगुरु भणइ परमाणंद सहाउ
परमजोति तसु उल्हसइ आणंदा करइ जु निम्मल भाउ ॥आणंदा ॥२६॥
हरियमणु विखोहियउ चेयणु भइ उवएस
उदय करतउ णारीउ आणंदा सुण आपणदेस ॥आणंदा ॥२७॥
समरस भाविहिं रंगिया अप्पा देक्खइ सोइ
उप्पउ जाणई पखहणइ आणंदा करइ णिरालंब वासु ॥ आणंदा ॥२८॥
मयकुमत्थलि जेम ठिउ केसरि करइ पहारु
परम समाहि म मुक्कई आणंदा रहियउ इह निरकारु ॥आणंदा ॥२९॥
पुण्णकिय मकवि पुरइ भवउ न होयइ देह
अप्पा अपु मणु रमिया आणंदा केवलणाणु हवेइ ॥आणंदा ॥३० ॥
देव णवाणवइ धुरंमी पुणइ वि वम मुरारि
इंद फणिंद चिवक्कइ आणंदा तिमिउ सहियार ॥आणंदा ॥३१॥
केवलणाण वि उपज्जइ सद्गुरु वयण पसाइ
जगु सचराचर सो मुणइ आणंदा रहइसु सहज समाइ ॥आणंदा ॥३२॥
सदगुरु ताम्मपाईयइ सुगति तिया वर वासु
सागुर मितु मितु सार्ईयइ आणंदा अवलमि हियइ उसासु ॥आणंदा ॥३३॥
गुरु जिणवर गुण सिद्धसिउ गुरु रयणत्तयसार
जो दरिसावइ अप्पपर आणंदा भवजलि पावइ पारु ॥आणंदा ॥३४॥
जिमि सिव पवहु तीरथ काइ भमेहु
देवसचेतन सत्पगुरु आणंदा जो दरिसावइ भेउ ॥आणंदा ॥३५॥
सुणइ सुणावइ भावइवइ सो णव सिवपुरी जाय
कम्मइमण मउ विरदलम आणंदा गोपालहियसमाइ ॥आणंदा ॥३६॥
सुणताइ आणद उल्हसइ मस्तकि ज्ञान तिलक
मुकुट मणिहि सिर सोहवइ आणंदा माझु गोपालहि जोइ ॥आणंदा ॥३७॥
——हरीयरा या——मसुकि उगवइ सूल
अमरतु भउर महु टीयइ आणंदा मिच्छाविविहि चोम ॥आणंदा ॥३८॥
हीरोल——— ———————गुजिणाउ
———महाणवि इह जाणियउ आणंदा जिणि दरिसावियउ भेउ ॥३९॥
——— ———— ———— णादि देउ आणदा
अणियउ भणइ महाणदि देउ जाणिउ आणइमिउ ॥आणंदा ॥४० ॥

———

जैन व्याकरण साहित्य

(ले०—प्रो० नेमिचन्द्र जैन, एम० ए० ज्योतिषाचार्य आरा)

भाषा के शुद्ध ज्ञान के लिये व्याकरण ज्ञान परम आवश्यक है। धातु और प्रत्यय के संश्लेषण एवं विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन का विचार व्याकरण साहित्य में ही किया जाता है। लक्ष्य और लक्षणों का सुव्यवस्थित वर्णन करना ही व्याकरण का उद्देश्य है। व्याकरण शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके निर्माण की प्राणवन्त प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन करता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है, उसके स्वरूप का निश्चय और उसमें प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्दों के निर्माण की महनीय प्रक्रिया उपस्थित करता है, साथ ही धातु और प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय भी इसी के द्वारा होता है। संक्षेप में व्याकरण भाषा का अनुशासन कर उसके विस्तृत साम्राज्य में पहुँचने के लिये राजपथ का निर्माण करता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार आठ व्याकरण शास्त्र के निर्माताओं के नाम उपलब्ध होते हैं[1]।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

अर्थात् इन्द्र शाकटायन आपिशली काशकृत्स्न पाणिनि अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र ये आठ शाब्दिक प्रसिद्ध हुए हैं। इन आठों में इन्द्र शाकटायन आपिशलि काशकृत्स्न और पाणिनि ये पाँच वैयाकरण प्राचीन और अमर, जैनेन्द्र तथा चन्द्र नवीन हैं। अब इस प्रसंग में यह विचार करना है कि जैन सम्प्रदाय में व्याकरण शास्त्र का प्रणयन कब से आरम्भ हुआ और उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध वैयाकरण हुए।

जैन व्याकरण शास्त्र का उद्भव और विकास —

भगवान् महावीर के मुख से निःसृत द्वादशांगवाणी ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का आकर है। कहा जाता है कि सत्यप्रवाद पूर्व में व्याकरणशास्त्र के सभी प्रमुख नियम आये हुए हैं। इसमें वचन संस्कार के कारण शब्दोच्चारण के स्थान प्रयत्न वचन प्रयोग वचन भेद आदि का निरूपण है। वचन संस्कार का विवेचन करते हुए इसके दो कारण बतलाये गए हैं—स्थान और प्रयत्न। शब्दोच्चारण के हृदय कण्ठ, मस्तक जिह्वामूल दन्त तालु, नासिका और ओष्ठ ये आठ स्थान बतलाए हैं। शब्दो-च्चारण के प्रयत्नों का विवेचन करते हुए स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता, विवृतता ईषद्विवृतता और संवृतता इन पाँच की परिभाषाएँ दी गई हैं। वचन के शिष्ट और दुष्ट प्रयोगों के निरूपण में शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व का भी प्रतिपादन किया गया है। अतः सत्यप्रवादपूर्व में व्याकरणशास्त्र की एक स्पष्ट रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। जैन आम्नाय के अनुसार पूर्वग्रन्थ भगवान् महावीर से पहले के हैं। इनका पूर्वसंज्ञ नाम ही इस बात का साक्षी है कि ये परम्परा में पहले से वर्तमान थे।

जैन आगम ग्रन्थों की रचना प्राकृतभाषा में है अतः प्राकृत में रचा गया कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य रहा होगा। प्राकृत भाषा में लिखित आगम ग्रन्थों में व्याकरण की अनेक बातें आई हैं। ठाणांग के अष्टम स्थान में आठ कारकों का निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वार (सू १२८) में तीन वचन लिंग काल और पुरुषों का विवेचन मिलता है। इसी ग्रन्थ के सूत्र १२४ १२५ और ११ में क्रमशः चार, पाँच और दस प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख आया है। सूत्र ११ में सात समासों और पाँच प्रकार के पदों का कथन किया गया है। अतः संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृत में व्याकरणशास्त्र के प्रणयन के पूर्व जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में ही व्याकरण ग्रन्थ लिखे[1] थे जो आज उपलब्ध नहीं है।

भारतीय इतिहास में ई पू १८४ में शुंगवंश के पुष्यमित्र ने मौर्यवंश का अन्त कर मगध का शासन स्थापित किया[2]। यह पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का अनुयायी और श्रमण धर्म का विरोधी था। अतः इसके राज्यकाल में प्राकृत की अवहेलना और संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार हुआ। पतञ्जलि जैसे भाष्यकार ने अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखा। संस्कृत साहित्य की इस उन्नति ने गुप्त काल में विराट्रूप धारण किया और सार्वजनिक भाषा के साथ-साथ राजभाषा का पद भी इसे प्राप्त हुआ। फलतः ब्राह्मणों के साथ श्रमणों ने भी संस्कृत भाषा को ग्रंथरचना का माध्यम बनाया। श्रमणों की प्रखर प्रतिभा ने अल्प काल में ही

संस्कृत भाषा में विभिन्न प्रकार का विपुल साहित्य रच डाला। पाणिनि के पश्चात् नवीन ग्रन्थनिर्माता वैयाकरण भी श्रमणों में ही हुए[1]। पतंजलि और कात्यायन के अतिरिक्त जयादित्य और जिनेन्द्रबुद्धि ने भी पाणिनीय सूत्रों पर टीकाएँ लिखी हैं। टीकाओं से केवल व्याकरण का विशदीकरण हुआ था। अतः जैन और बौद्धों ने जो श्रमणों में प्रधान थे व्याकरण के ग्रन्थ रचे। बौद्धाचार्य चन्द्रगोमी ने चान्द्र व्याकरण और जैनाचार्य देवनन्दी या पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण की रचना की। आचार्य देवनन्दी ने अपने शब्दानुशासन में निम्न छः पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है।

१—गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् (१।४।३४)
२—कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९)
३—राद्भूतबलेः (३।४।८३)
४—रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य (४।३।१८)
५—वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)
६—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४)

उपर्युक्त सूत्रों में श्रीदत्त यशोभद्र भूतबलि प्रभाचन्द्र सिद्धसेन और समन्तभद्र इन छः वैयाकरणों के नाम आये हैं इनके व्याकरण संबंधी ग्रन्थ रहे होंगे पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं। अभयनन्दी ने जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्ति में "उपसिद्धसेन वैयाकरणाः" उदाहरण द्वारा यह बतलाया है कि सब वैयाकरण सिद्धसेन से हीन हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार से भी हम यह निष्कर्ष निकालने में असमर्थ हैं कि जैन सम्प्रदाय में कौन सा व्याकरण ग्रन्थ सर्वप्रथम लिखा गया। उपलब्ध जैन व्याकरण साहित्य में देवनन्दी या पूज्यपाद का जैनेन्द्र व्याकरण ही सबसे प्राचीन है।

जैनाचार्यों द्वारा लिखे गए छोटे-मोटे कई व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से केवल तीन ग्रन्थ ही प्रधान हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम।

जैनेन्द्र व्याकरण —

यह महत्त्वपूर्ण शब्दानुशासन है। इसमें ५ अध्याय २ पाद और ३०६७ सूत्र हैं। इस व्याकरण के मूल सूत्रपाठ दो प्रकार के उपलब्ध हैं—एक तो वह जिस पर आचार्य अभयनन्दि की महावृत्ति तथा श्रुतकीर्ति कृत 'पंचवस्तु' नाम की प्रक्रिया है और दूसरा वह जिस पर सोमदेव सूरिकृत 'शब्दार्णव चन्द्रिका' और गुणनन्दी कृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकार के पाठ में लगभग ३ और दूसरे में लगभग ३७ सूत्र हैं। सात सौ सूत्र अधिक होने के साथ शेष तीन हजार सूत्र भी दोनों में एकसे नहीं हैं किन्तु दूसरे सूत्र पाठ में पहले सूत्रपाठ के सैकड़ों सूत्र भी परिवर्तित और परिवर्धित किये गये हैं। प्रथम सूत्रपाठ पाणिनि के ढंग का है, अतः उसमें वर्तमान भाषा-साहित्य की दृष्टि से अनुशासन करने में अपूर्णता रह जाती है। इसी कमी की पूर्ति अभयनन्दी ने अपनी 'महावृत्ति' में वार्तिक और उपसंख्यानों द्वारा की है।

दोनों प्रकार के सूत्रपाठों में कतिपय भिन्नताओं के रहते हुए भी समानता कम नहीं है। दोनों के अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनों के प्रारम्भ का मंगलाचरण भी एक है और दोनों में कर्ता का नाम देवनन्दी या पूज्यपाद लिखा हुआ मिलता है।

आदरणीय स्व. प्रेमीजी ने असली सूत्रपाठ का निर्णय करते हुए लिखा है[1]—"हमारे ख्याल में आचार्य देवनन्दि या पूज्यपाद का बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिस पर अभयनन्दी ने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समय तक तो ठीक समझा जाता रहा जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायन को भी जैनेन्द्र के होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनाने की आवश्यकता इसीलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसंख्यानों के उससे काम नहीं चल सकता परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वांगपूर्ण व्याकरण बन चुका तब जैनेन्द्र व्याकरण के भक्तों को उसकी त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमें से आचार्य गुणनन्दि ने उसे सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का फल ही दूसरा सूत्रपाठ है, जिसपर सोमदेव की शब्दार्णव चन्द्रिका रची गई है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि शब्दार्णव चन्द्रिका और जैनेन्द्र प्रक्रिया के सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण के वास्तविक सूत्र नहीं हैं। अभयनन्दि ने अपनी वृत्ति जिन सूत्रों पर लिखी है वे ही जैनेन्द्र के सूत्र हैं।

इस शब्दानुशासन का जैनेन्द्र नाम होने का कारण रचयिता का जिनेन्द्रबुद्धि नाम ही है। श्रवणबेल्गोल के ४ में शिलालेख में बताया गया है—

"यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्" ॥

आचार्य का प्रथम नाम देवनन्दी था बुद्धि की महत्ता के कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवों ने उनके चरणों की पूजा की इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

"पदेषु पदैकदेशान्" नियम के अनुसार जिनेन्द्रबुद्धि का संक्षिप्त नाम जिनेन्द्र है और उनके द्वारा ग्रथित शब्दानुशासन जैनेन्द्र कहा जाता है।

आचार्य देवनन्दी का समय स्व॰ श्री प्रेमीजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी निश्चित किया है[1]। अधिकांश विद्वान् इसी समय को ठीक मानते हैं। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने जैनेन्द्र महावृत्ति में "जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ" शीर्षक में 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' उदाहरण से यह निष्कर्ष निकाला है कि इसमें आचार्य पूज्यपाद के काल की 'महेन्द्र और उसका मथुरा विजय' ऐतिहासिक घटना सुरक्षित है। यहाँ महेन्द्र से आशय गुप्तवंशीय कुमारगुप्त से है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। अतः आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त के समकालीन हैं और कुमारगुप्त का समय ई॰ ४१३–४५५ है। अतएव पूज्यपाद का समय—विक्रम की पांचवी शती का उत्तरार्ध या छठी शती का पूर्वार्ध है। ये दर्शन और व्याकरण के धुरन्धर विद्वान् थे।

इस व्याकरण में अनेक विशेषताएं हैं। पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों का आधार रहने पर भी स्वर और वैदिक प्रयोग सबंधी सूत्रों का परित्याग कर दिया है। इसकी उल्लेखनीय विशेषताएं निम्न हैं —

१—स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः (१।१।९९) सूत्र द्वारा बताया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर एकत्व द्वित्व और बहुत्व में प्रवृत्त होते हैं। अतः एकशेष मानना निरर्थक है। अतएव इनका यह व्याकरण अनेकशेष कहलाता है। इसका मत है कि लोकव्यवहार में जो चीज सर्वत्र प्रचलित है, उसे सूत्रबद्ध निर्देश करने से शास्त्र का निरर्थक कलेवर बढ़ता है।

२—सिद्धिरनेकान्तात् १।१।१। द्वारा यह बतलाया गया है कि नित्यत्व अनित्यत्व उभयत्व अनुभयत्व प्रभृति नाना धर्मों से विशिष्ट धर्मीरूप शब्द की सिद्धि अनेकान्त से ही संभव है। एकान्त सिद्धान्त से अनेक धर्मविशिष्ट शब्दों का साधुत्व नहीं बतलाया जा सकता।

३—जैनेन्द्र का संज्ञाप्रकरण बहुत ही मौलिक और सांकेतिक है। इसमें धातु, प्रत्यय प्रातिपदिक विभक्ति समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओं के लिए बीजगणित जैसी अतिसंक्षिप्त और पूर्ण संज्ञाएँ आई हैं। इस व्याकरण में उपसर्ग के लिए गि अव्यय के लिए झि समास के लिए स वृद्धि के लिए ऐप्, गुण के लिए एप्, सम्प्रसारण के लिए जि, प्रथमा विभक्ति के लिए वा, द्वितीया के लिए इप्, तृतीया के लिए भा चतुर्थी के लिए अप् पंचमी के लिए का षष्ठी के लिए ता सप्तमी के लिए ईप् और संबोधन के लिए कि संज्ञाएँ बतलायी गई हैं। इन संज्ञाओं की कल्पना में आचार्य का अद्भुत पाण्डित्य छिपा हुआ है।

४—देवनन्दी ने सन्धौ ४।३।६ को अधिकार सूत्र कहकर चतुर्थ अध्याय के तृतीय और चौथे पाद तथा पंचम अध्याय के कुछ सूत्रों में सन्धि का निरूपण किया है। अधिकार सूत्र के अनन्तर स्वरान्त के परे सन्धि में तुगागम का विधान किया है। तुगागम करने वाले ४।३।६१—४।३।६४ तक चार सूत्र आए हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व आङ्, माङ् तथा दी शब्दों से परे तुगागम किया है और त् को च् बनाकर इच्छति गच्छति आच्छिनत्ति माच्छिदत् ह्रीच्छति म्लेच्छति कुवलच्छाया आदि प्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया पाणिनि के समान है किन्तु इसमें अधिक सूत्रों की आवश्यकता उपस्थित नहीं होती है। संज्ञाओं की मौलिकता के कारण ही अनुशासन में लाघवत्व आ गया है।

५—यह पंचांग व्याकरण है। इसमें धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन के निर्देश पूर्णतया उपलब्ध होते हैं।"

जैनेन्द्र व्याकरण की टीकाएं —

इस व्याकरण पर अभयनन्दि कृत 'महावृत्ति' प्रभाचन्द्र कृत 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' श्रुतकीर्तिकृत 'पंचवस्तु प्रक्रिया' और पं॰ महाचन्द्र कृत 'लघु जैनेन्द्र' ये चार टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। पंचवस्तु के अन्त में श्लोक में जैनेन्द्र व्याकरण को महल की उपमा दी है। यह मूलसूत्र रूपी स्तम्भों पर खड़ा किया गया है न्यासरूपी उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके कपाट

है, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपानमयी है। इसके द्वारा उक्त महल पर आरोहण किया जा सकता है। अतएव स्पष्ट है कि पंचवस्तु के कर्ता के समय तक इस व्याकरण पर एक न्यास दो वृत्तियाँ तीन भाष्य और चार टीकाएँ विद्यमान थीं[१]।

जैनेन्द्र सूत्रपाठ का संशोधित और परिवर्धित संस्करण शब्दार्णव कहलाता है। इसके कर्ता गुणनन्दि हैं[२]। गुणनन्दि का समय दसवीं शताब्दी माना गया है। शब्दार्णव की दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—शब्दार्णव चन्द्रिका और शब्दार्णव प्रक्रिया। शब्दार्णव चन्द्रिका के रचयिता सोमदेव हैं। ये शिलाहारवंश के राजा भोजदेव (द्वितीय) के समय में हुए हैं। इन्होंने अर्जुरिका नामक ग्राम के त्रिभुवन तिलक नामक जैन मन्दिर में शक संवत् ११२७ में इसकी रचना की है। यह रचना सनातन जैन ग्रन्थ-माला से प्रकाशित है।

शब्दार्णवप्रक्रिया जैनेन्द्र प्रक्रिया के नाम से मुद्रित है। जिस प्रकार अभयनन्दि की वृत्ति के आधार पर प्रक्रियारूप पंचवस्तुटीका लिखी गयी है उसी प्रकार सोमदेव की शब्दार्णव चन्द्रिका के आधार पर यह प्रक्रिया लिखी गई है।

जैनेन्द्र की उपलब्ध समस्त टीकाओं में अभयनन्दिकृत महावृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इसका समय ई॰ सन् ७५ है[३]। इन्होंने मंगलाचरण के श्लोक में पूर्ववर्ती प्राचीन टीकाओं का भी निर्देश किया है।

यच्छब्दलक्षणमसुव्रजपारमन्यै-
रव्यक्तमुक्तमभिधान विधौ दरिद्रैः।
तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यै-
र्व्यक्तीकरोत्ययमभयनन्दिमुनिः समस्तम्॥

कठिनता से पार पाने योग्य जिस शब्द लक्षण को दरिद्रों ने व्याख्या करने में स्पष्ट नहीं किया उस सम्पूर्ण शब्द लक्षण को अभयनन्दी मुनि सबके हृदय को प्रिय लगने वाले सुन्दर वाक्यों से स्पष्ट करता है।

अतः स्पष्ट है कि अभयनन्दी ने अपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारों को 'दरिद्र' पद से व्यक्त किया है। सम्भवतः ये व्याख्याएँ लघुवृत्ति के रूप में रही होंगी। आचार्य अभयनन्दी की यह वृत्ति काशिका के समान ही बृहद् है। इसमें निम्न विशेषताएँ विद्यमान हैं।

१—कात्यायन के वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य से सार लेकर पूज्यपाद से छूटे हुए व्याकरण नियमों की पूर्ति वार्तिक, परिभाषा और उपाख्यान रचकर की।

२—शिक्षा सूत्र भी इस महावृत्ति में पाये जाते हैं। १।१।२ की व्याख्या में लगभग ४ शिक्षासूत्र दिये गये हैं।

३—परिभाषाओं की व्याख्याएँ भी वृत्ति में की गई हैं।

४—अभयनन्दी ने अपनी वृत्ति में अनेक उणादिसूत्र उद्धृत किये हैं। इनमें कुछ प्राचीन पञ्चपादी से मिलते हैं और कुछ में पाठान्तर है। अतः जैनेन्द्र के उणादिसूत्रों को जानने के लिए इस महावृत्ति का अध्ययन परम आवश्यक है।

५—अनेक नवीन शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यथा १।२।९९ की व्याख्या में प्रतिजन्य प्रयोग की सिद्धि में अद्भुत पाण्डित्य दिखलाया गया है।

६—महावृत्ति में दिये गये उदाहरणों से अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आते हैं—यथा सूत्र १।४।१४ की वृत्ति में 'शरदि मथुरा रमणीया' 'मास काश्यामी काशी' दिये गये उदाहरणों से अवगत होता है कि काशीपुरी में मासव्यापी उत्सव होता था और मथुरा में शरद्-आश्विन के महीने में शोभा की जाती थी।

७—महावृत्ति के उदाहरणों में तीर्थंकरों महापुरुषों, ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम भी आये हैं। जैसे १।४।१५ में अनु शालिभद्रम् आढ्याः अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः सूत्र १।४।१६ में उपसिद्धनन्दिनं कवयः उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः तथा १।१।१ में आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य प्रयोग आये हैं। इन प्रयोगों से सिद्ध है कि सबसे बड़ा धनी शालिभद्र सबसे बड़ा तार्किक समन्तभद्र सबसे बड़ा कवि सिद्धनन्दि और सबसे बड़ा वैयाकरण सिद्धसेन था।

८—व्याकरण सम्बन्धी अनेक गुत्थियों को भी इस महावृत्ति में सुलझाया गया है।

इस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण संस्कृत साहित्य की इस द्वितीय श्रेणि का सर्वप्रथम व्याकरण है इसने पाणिनि की अष्टाध्यायी के लौकिक भाषा के अनुशासन सम्बन्धी सूत्रों को पूर्णतया सुरक्षित रखा है। अभयनन्दी ने १२ हजार श्लोक प्रमाण इसकी महावृत्ति लिखी है। अन्य टीकाएँ भी उपयोगी हैं।

शाकटायन व्याकरण :—

इस व्याकरण के रचयिता यापनीय संघ के आचार्य पाल्यकीर्ति हैं। इनका दूसरा नाम शाकटायनाचार्य भी है। इन्होंने अमोघवृत्ति न्यास सहित शाकटायन के सूत्रों की रचना की है। अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायन या पाल्यकीर्ति की ही बतायी जाती है। मुनिवंशाभ्युदय में बताया है "उस मुनि ने अपने बुद्धिरूप मन्दराचल के मुतरूप समुद्र का मन्थनकर यश के साथ व्याकरणरूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायन ने उत्कृष्ट शब्दानुशासन का बना लेने के बाद अमोघवृत्ति नाम की टीका जिसे बड़ी-शाकटायन कहते हैं—बनायी जिसका परिमाण १८   हजार है। यशप्रसिद्ध शाकटायन मुनि ने व्याकरण के सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकार का पुण्य सम्पादन किया। एक बार अविद्धकर्ण सिद्धान्तचक्रवर्ती पद्मनन्दि ने मुनियों के मध्य पूजित शाकटायन को मन्दर पर्वत के समान धीर विशेषण से विभूषित किया।"

इससे स्पष्ट है कि पाल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञवृत्ति—अमोघवृत्ति की रचना की है। 'ख्याते दृश्ये' सूत्र की अमोघवृत्ति में 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' अर्थात् अमोघवर्ष ने शत्रुओं को जला दिया—इस घटना से प्रथम अमोघवर्ष का अपने शत्रुओं पर विजय पाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी घटना का उल्लेख शक संवत् ८३२ के शिलालेख में भी हुआ है 'भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह' अर्थात् अमोघवर्ष ने उन काँटे जैसे राजाओं को घेरा और जला दिया जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गये थे। इसमें लिट् लकार की 'ददाह' क्रिया का प्रयोग हुआ है किन्तु शाकटायन में लङ्लकार की 'अदहद्' क्रिया का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि शाकटायन के समय यह घटना घटित हुई थी। अतः शाकटायन या पाल्यकीर्ति का समय शक संवत् ७३६–७८९ के मध्य में है"।

इस व्याकरण में चार अध्याय और सोलह पाद हैं। प्रथम अध्याय में ७२१ सूत्र द्वितीय में ७१२ तृतीय में ७५५ और चतुर्थ में १   ७ सूत्र हैं। कुल सूत्रों की संख्या ३२३६ है। कहा भी है —

पञ्चशतं सूत्राणामनुष्टुभामथ सप्तशतीह

त्रीणि सहस्राणि शते द्वे षट्त्रिंशच्च योगानाम्" ॥

इस शब्दानुशासन में नौ प्रकार के सूत्रों का कथन किया गया है—संज्ञा नियम निषेध अधिकार, नित्यापवाद विधि परिभाषा अतिदेश और विकल्प। यथा—

संज्ञानियमनिषेधाधिकार नित्यापवादविधिपरिभाषा।

अतिदेशविकल्पाविति नवधाशब्दानुशासने सूत्राणाम्" ॥

यह शब्दानुशासन सूत्रपाठ गणपाठ धातुपाठ लिङ्गानुशासन और उणादि सूत्रपाठरूप पंचांग है। इसमें पाणिनीय या जैनेन्द्र के समान वार्तिक उपसंख्यान अथवा अन्य नियम वाक्यों की आवश्यकता नहीं है। यह इतना पूर्ण और व्यवहारोपयोगी है कि इस एक ही व्याकरण के अध्ययन से संस्कृत भाषा का पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया जा सकता है।

शाकटायन व्याकरण में प्रत्याहार शैली को अपनाया है। आरम्भ में "तत्रादौ शास्त्र संव्यवहारार्थं संज्ञासंग्रह क्रियते" निम्नवत् (१) अइउण् (२) ऋक् (३) एओङ् (४) ऐऔच् हयवरलञ् (५) ञमङणनम् (६) झभञ् (७) घढधष् (८) जबगडदश् (९) खफछठथट (१) चटतव् (११) कपय् (१२) शषस अं अः ×क ⌣प र् (१३) हल् (१४) इति वर्ण समाम्नायः वर्णादि प्रत्याहारार्थः। इस प्रकार शाकटायन में १४ प्रत्याहार सूत्रों का निरूपण किया गया है। यहाँ पर विशेषता यह है कि शाकटायन में प्रत्याहार सूत्रों का संग्रह पाणिनि जैसा ही नहीं है और न इसका क्रम जैनेन्द्र से ही मिलता है बल्कि इसने उन दोनों आचार्यों के प्रत्याहार सूत्रों में संशोधन और परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ शाकटायन में ऌकार को स्वर माना ही नहीं गया है। इसी प्रकार अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की गणना व्यञ्जनों के अन्तर्गत कर दी गई है। पाणिनि ने अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय और और उपध्मानीय को विकृत व्यञ्जन माना है। वास्तव में अनुस्वार मकार या नकार जन्य है विसर्ग कहीं सकार से और कहीं रेफ से स्वतः उत्पन्न होता है तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय क्रमशः क ख तथा प फ के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने इन सभी अक्षरों को अपने प्रत्याहार सूत्र में—जो कि उनकी वर्णमाला कही जायगी स्वतन्त्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। बाद के पाणिनीय वैयाकरणों में से कात्यायन ने इन चारों को स्वर व्यञ्जन दोनों में ही परिगणित करने का निर्देश किया। शाकटायन व्याकरण में अनुस्वार विसर्ग आदि के मूल रूपों को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रत्याहार सूत्रों में स्थान दिया और उनके व्यञ्जन होने की घोषणा कर दी गयी।

शाकटायन के प्रत्याहार सूत्रों की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें लण् सूत्र को स्थान नहीं दिया है और लकार को पूर्व सूत्र में ही रख दिया गया है। इसमें सभी वर्गों के प्रथमादि अक्षरों के क्रम से अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। केवल वर्गों के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिये दो सूत्र हैं। पाणिनीय वर्णसमाम्नाय की भाँति शाकटायन व्याकरण में भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण में ४१ ४२ या ४४ प्रत्याहार रूपों की उपलब्धि होती है किन्तु शाकटायन में सिर्फ १८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

शाकटायन में सामान्य संज्ञाएँ बहुत कम हैं। ह्रस्वसंज्ञा और स्वसंज्ञा—सवर्ण संज्ञा करनेवाले बस ये दो ही संज्ञाविधायक सूत्र हैं और इस व्याकरण में अवशेष दो सूत्र ग्राहकसूत्र कहे जायेंगे। ग्राहक सूत्रों में प्रथम सूत्र वह है जो स्वर से उसके सजातीय दीर्घादि वर्णों का बोध करता है और दूसरा प्रत्याहार बोधक सात्मेतत् १।१।१ सूत्र है। यह प्रत्याहारबोधक सूत्र इतना अस्पष्ट है कि इसकी व्याख्या खींचातानी जान पड़ती है। यदि इसी को वृत्ति के अनुसार समझना हो तो इसके पूर्व पाणिनी का 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र कंठस्थ कर लेना होगा।

यद्यपि शाकटायन में ऌ वर्ण को ग्रहण नहीं किया गया है पर उसके टीकाकारों ने "ऋवर्णग्रहणे ऌवर्णस्यापि ग्रहणम् भवति तयोरैकत्वप्रतिज्ञानात्" कथन किया है। अतः ऌकार के ग्रहण की सिद्धि कर ली है।

यह स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण में संज्ञासूत्रों की बहुत कमी है। आचार्य पाल्यकीर्ति ने कारिकाओं में भी प्रमुख सिद्धान्तों का सन्निवेश किया है। इस शब्दानुशासन के संज्ञाप्रकरण में कुल छह सूत्र हैं उनमें भी दो ही सूत्र ऐसे हैं जो संज्ञा विधायक कहे जा सकते हैं। शाकटायन ही एक ऐसा व्याकरण है जिसमें बहुत कम संज्ञाओं से काम चलाया गया है। सरलता और आशुबोधता की दृष्टि से इस शब्दानुशासन के संज्ञाप्रकरण का अधिक महत्त्व है। पाणिनी और जैनेन्द्र के समान पाल्यकीर्ति ने संज्ञाओं को संक्षिप्त जटिल और सांकेतिक बनाने की चेष्टा नहीं की है।

शाकटायन में 'न' १।१।७ सूत्र के द्वारा विराम में सन्धिकार्य का निषेध करते हुए अविराम में सन्धि का विधान मानकर "न" सूत्र को अधिकारसूत्र बताया है। अच सन्धि के आदि में सबसे पहले यणादि सन्धि का विधान किया है। पश्चात् १।१।७१ द्वारा यण सन्धि का निरूपण किया है। यण् सन्धि के विधान के प्रसंग में शाकटायन में 'ह्रस्वो वाऽपदे' १।१।७४ सूत्र है इसके द्वारा दधी+अत्र=दधियत्र दध्यत्र नदी+एषा=नदिएषा नद्येषा रूप सिद्ध होते हैं। शाकटायन का यह विधान बिल्कुल नवीन है। पाणिनीय तन्त्र में ह्रस्व विधान का नियम नहीं है। ज्ञात होता है कि शाकटायन के समय में भाषा का प्रवाह पाणिनी की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ गया है।

प्रकृतिभाव सन्धि को शाकटायन ने निषेध सन्धि कहा है। इस प्रकरण में केवल चार ही सूत्र आये हैं। यद्यपि पाणिनि की अपेक्षा इसमें कोई मौलिकता या नवीनता नहीं है फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि शाकटायन ने बहुत थोड़े में अधिक काम कर दिखलाया है। शाकटायन में स्वर सन्धि के अन्तर्गत द्वित्व सन्धि को भी रखा गया है और इसका अनुशासन ९ सूत्रों में किया गया है। यह अनुशासन पाणिनि के समान है, किन्तु इसका प्रभाव उत्तरकालीन वैयाकरण हेम पर अधिक पड़ा है।

सम्राट् शब्द की सिद्धि शाकटायन ने "सम्राट्" १।१।११३ सूत्र द्वारा की है। वृत्ति में "समोमकारो निपात्यते क्विबन्ते राजि परे" लिखा है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने मकार को निपातन से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि शाकटायन में इस सूत्र के पूर्व वैकल्पिक अनुस्वार का अनुशासन विद्यमान है, तो भी उन्होंने अनुस्वाराभाव का जिक्र नहीं किया है। हमें ऐसा लगता है कि निपातन कह देने से ही शाकटायन ने इसलिए सन्तोष कर लिया कि निपातन का अर्थ ही है अन्य विधान स्थितियों का अभाव। अतः उन्होंने हेम की तरह अनुस्वाराभाव कहने की आवश्यकता नहीं समझी और उनके टीकाकारों ने इस पर प्रकाश डाला।

शब्दसाधुत्व में शाकटायन का दृष्टिकोण पाणिनि के ही समान है। इन्होंने एक-एक शब्द को लेकर सातों विभक्तियों में उनकी रूप की साधनिका उपस्थित की है।

स्त्री प्रत्यय प्रकरण में शाकटायन ने स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों का बाहुल्य छोड़ दिया है। जैसे दीर्घपुच्छी दीर्घपुच्छा कबर पुच्छी मणिपुच्छी विषपुच्छी उन्नपुच्छी अरत्नीनि मनसाभीनि प्रभृति प्रयोगों का शाकटायन में अभाव है। इस कमी

की पूर्ति हेमचन्द्र ने २।३।४ २।३।४२ २।३।४३ और २।३।४५ सूत्रों के प्रणयन द्वारा की है। शाकटायन में कारक सामान्य और कर्ता कर्मादि की परिभाषाएँ नहीं आई हैं। इसमें विभक्ति विधायक सूत्रों का सीधे ढंग से ही कथन किया गया है। अतः शाब्दिक अनुशासन की दृष्टि से यह प्रकरण उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना पाणिनि का है।

शाकटायन में समास प्रकरण आरम्भ करते ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया है। पश्चात् कुछ तद्धित प्रत्यय आ गए हैं जिनका प्रयोग प्रायः बहुव्रीहि समास में होता है। जैसे न दुस् सु, इनसे परे प्रजा शब्दान्त बहुव्रीहि से अस् प्रत्यय न दुस् तथा अल्प शब्द से परे मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से अस् प्रत्यय आदि शब्दान्त बहुव्रीहि से छ प्रत्यय एवं धर्मशब्दान्त बहुव्रीहि से अन् प्रत्यय होता है। इसके पश्चात् बहुव्रीहि समास में पुंवद्भाव ह्रस्व प्रभृति अनुशासनों का नियमन है। सुगन्धि पूतगन्धि सुरभिगन्धि घृतगन्धि आदि सामासिक प्रयोगों के साधुत्व के लिए इत् प्रत्यय का विधान किया है। बहुव्रीहि समास समाप्त करते ही अव्ययीभाव समास का प्रकरण आरम्भ हो जाता है तथा युद्धवाच्य में ग्रहण और प्रहरण अर्थ में केशाकेशि और दण्डादण्डि को अव्ययीभाव समास माना है। अतः शाकटायन के अनुसार अव्ययीभाव समास के प्रधान दो भेद हैं—अन्य पदार्थ प्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अतः "केशाश्च केशाश्च परस्परस्य ग्रहणम् यस्मिन् युद्धे" इस प्रकार के साम्य प्रयोग विग्रहवाक्य में अन्य वाक्य प्रधान अव्ययीभाव समास है। पाणिनि ने जिन प्रयोगों को बहुव्रीहि समास में गिनाया है उनमें से कतिपय शाकटायन में अव्ययीभाव समास में गिनाये गये हैं।

शाकटायन का तद्धित कृदन्त और तिङन्त प्रकरण भी प्रायः पाणिनि के अनुसार है। परन्तु इन प्रकरणों में प्रत्यय विधान और प्रत्ययों के अर्थ अपनी मौलिकता समेटे हुए हैं। कुशल अनुशासक ने उस शिल्पी का कार्य किया है जो पुराने उपादानों को लेकर भी भवन का नये ढंग से निर्माण करता है।

शाकटायन शब्दानुशासन की सात टीकाएँ अबतक उपलब्ध हैं। विवरण निम्नप्रकार है।

१ अमोघवृत्ति—यह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के नाम पर लिखी गयी है। स्वयं सूत्रकर्ता ही इस वृत्ति के रचयिता हैं। यह सबसे बड़ी वृत्ति है।

२ शाकटायन-न्यास—यह अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्रकृत न्यास है। इस ग्रन्थ के केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं।

३ चिन्तामणि टीका (लघीयसी वृत्ति)—यक्षवर्मा ने अमोघवृत्ति को संक्षिप्त कर यह टीका लिखी है। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से यह टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

४ मणिप्रकाशिका—अजितसेन ने चिन्तामणि के अर्थ को व्यक्त करने के लिए इस टीका का निर्माण किया है। अनुशासन की दृष्टि से यह टीका भी अध्येताओं के लिए उपयोगी है।

५ प्रक्रिया संग्रह—अभयचन्द्र ने सिद्धान्त कौमुदी के ढंग की यह टीका लिखी है। जो पाणिनीय तन्त्र के लिए भट्टोजिदीक्षित ने कार्य किया है, वैसा ही यह कार्य है।

६ शाकटायन टीका—वादिपर्वत वज्र-भावसेन त्रैविद्य ने इस टीका की रचना की है। यही भावसेन कातन्त्र की रूपमाला टीका के कर्ता भी हैं। इनका एक 'विश्वतत्त्व प्रकाश' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

७ रूपसिद्धि—पाणिनी सूत्रों पर लघुसिद्धान्त कौमुदी का निर्माण इसलिए हुआ कि जिज्ञासुओं को संक्षेप में पाणिनीय शब्दानुशासन का बोध बिना किसी क्लेश के हो सके। इसी बात को ध्यान में रखकर दयापाल मुनि ने इस टीका की रचना की है। यह लघुसिद्धान्तकौमुदी के समान उपयोगी है। दयापाल के गुरु का नाम मतिसागर था। टीकाकार पार्श्वनाथ-चरित और न्यायविनिश्चय के कर्ता वादिराज सूरि के सधर्मा थे। पार्श्वनाथ चरित की रचना शकसंवत् ९४७ में हुई है। अतः टीकाकार का समय भी उपर्युक्त ही है[१]।

हैमशब्दानुशासन—

आचार्य हेम का व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है, उतना ही प्रेरक भी। इनमें एक साथ ही वैयाकरण आलंकारिक दार्शनिक साहित्यकार, इतिहासकार, पुराणकार, कोशकार, छन्दोनुशासक और महान् युगकवि का अन्यतम समवाय हुआ है। हेम के इन विभिन्न रूपों में उनका कौन-सा रूप प्रधान है यह निश्चय करना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैयाकरण हेम अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

हेम के पूर्व पाणिनी चान्द्र पूज्यपाद शाकटायन और भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके हैं। इन्होंने अपने समय में उपलब्ध समस्त शब्दार्थ का अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण उपयोगी एवं सरल व्याकरण की रचना कर संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं को पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिखकर हेम ने इस भाषा को अमर तो बना ही दिया है, किन्तु अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को उदाहरण के रूप में उपस्थित कर लुप्त होते हुए महत्त्वपूर्ण साहित्य के नमूनों की रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेम का व्यक्तित्व अद्भुत है। इन्होंने धातु और प्रातिपदिक प्रकृति और प्रत्यय समास और वाक्य कृत और तद्धित अव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण विवेचन एवं विश्लेषण किया है।

शब्दानुशासन के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनी भट्टोजिदीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। इन्होंने सूत्र वृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायों में और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय में इस प्रकार कुल आठ अध्यायों में अपना अष्टाध्यायी शब्दानुशासन को समाप्त किया है।

संस्कृत शब्दानुशासन के उदाहरण संस्कृत द्वयाश्रय काव्य में और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्वयाश्रय काव्य में लिखे हैं।

संस्कृत शब्दानुशासन के प्रथम अध्याय में २४१ सूत्र द्वितीय में ४६ तृतीय में ५२१ चतुर्थ में ४८१ पंचम में ४९८, षष्ठ में ६९२ और सप्तम में ६७१ सूत्र हैं। कुल सूत्रसंख्या ३५६६ है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में संज्ञाओं का विवेचन किया है। इसमें स्वर, ह्रस्व दीर्घ प्लुत नामी समान सन्ध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग व्यंजन धुट् वर्ग अघोष घोषवत्, अन्तस्थ शिट्, स्व प्रथमादि, विभक्ति पद वाक्य नाम अव्यय और संख्यावत् इन चौबीस का प्रतिपादन किया है। शिष्टायस्य द्वितीयो वा १।३।५९ द्वारा क्षीरम्, क्षीरम् तथा अप्सरा अप्सरा जैसे शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी का खीर शब्द हेमचन्द्र के क्षीरम बहुत नजदीक है।

हेम ने इस प्रकरण में व्यंजन और विसर्ग इन दोनों सन्धियों का सम्मिलित रूप में विवेचन किया है। इसके कुछ सूत्र व्यंजन संधि के हैं तथा कुछ विसर्ग के और आगे बढ़ने पर विसर्ग सन्धि के सूत्रों के पश्चात् पुनः व्यंजन सन्धि के सूत्रों पर लौट आते हैं और अन्त में पुनः विसर्ग सन्धि की बातें बतलाने लगते हैं। सामान्य रूप से देखन पर यह एक गड़बड़ झाला दिखलाई पड़ेगा पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यंजन सन्धि के समान ही विसर्ग सन्धि को भी व्यंजन संधि ही माना है, अतः दोनों का एकत्रीय स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्रायः देखा जाता है कि व्यंजन सन्धि के प्रसंग में आवश्यकतानुसार ही विसर्ग सन्धि के कार्य का समावेश हो जाया करता है। हेम विसर्ग को 'र्' और "स्" का प्रतिनिधि ही मानते हैं। प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में कतिपय स्वरान्त और व्यंजनान्त शब्दों का भी नियमन किया गया है।

द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद में अवशेष शब्द रूपों की चर्चा द्वितीय पाद में कारक प्रकरण तृतीय पाद में णत्व-षत्व विधान और चतुर्थपाद में स्त्री-प्रत्यय प्रकरण है। तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद में समास प्रकरण तथा तृतीय और चतुर्थ पाद में आख्यात प्रकरण आया है। चतुर्थ अध्याय के चारों पादों में भी आख्यात प्रकरण का ही नियमन किया गया है। पंचम अध्याय के चारो पादों में कृदन्त और षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणशास्त्र का अध्ययन कर अपने शब्दानुशासन को सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय बनाने का श्लाघनीय प्रयास किया है। अब यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि हेम में अन्य व्याकरणों की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि से बहुत कुछ लिया है पर इस अवदान को मौलिक और नवीन रूप में ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। विचार करने से अवगत होता है कि संस्कृत के शब्दानुशासकों ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी संज्ञाओं के सांकेतिक रूप दिये हैं। यत्र-तत्र एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुरमात्रा में विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए, उनकी रचनाएँ अलग-अलग व्याकरण के रूप में अभिहित हुईं। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण एक ही संस्कृत भाषा में व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है। इन्होंने स्वर तथा व्यंजन विधान संज्ञाओं का विवेचन करने के अनन्तर विभक्ति, पद नाम और वाक्य संज्ञाओं का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया है। पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार के विवेचन का

ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गए हैं। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने समझने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर इन्होंने वाक्य की जो परिभाषा "एकतिङ्वाक्यम्" की है वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारों ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे भी "एकतिङ्वाक्यम्" के दायरे से दूर नहीं हो सके हैं फलतः उनकी वाक्य-परिभाषा सीधा स्वरूप लेकर उपस्थित नहीं हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्यों-की त्यों बनी रही है। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है— 'सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्' १।१।२६ "त्याद्यन्तं पदमाख्यातं साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहितं प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यातं वाक्यसंज्ञं भवति।" अर्थात् मूलसूत्र में सविशेषण आख्यात की वाक्यसंज्ञा बतलायी गयी है। यहाँ आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय कारक संज्ञा विशेषण और क्रियाविशेषणों का साक्षात् या परम्परया रहना। इस सूत्र के वृत्यंश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणों के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात की ही वाक्य में प्रधानता रहती है। यहाँ विशेषण शब्द से केवल संज्ञा विशेषण को ही ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु साधारणतः अप्रधान अर्थ में इसे ग्रहण किया है। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य में आख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है? हेम ने अपनी वाक्य परिभाषा का सम्बन्ध "पदात्युग्विभक्त्यैक वाक्ये वस्नसौ बहुत्वे" २।१।२१ सूत्र से भी माना है। अतः पाणिनीय तन्त्रकारों की अपेक्षा हेम की वाक्य-परिभाषा अधिक तर्कसंगत है।

हेम ने सात सूत्रों में अव्यय संज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपात संज्ञा को अव्यय संज्ञा में ही विलीन कर किया है। इन्होंने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान किया है। यह संक्षिप्तीकरण का एक सुन्दरतम प्रयास है। तद् प्रत्यय और सख्यावद् संज्ञाओं का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अतः इसके लिये पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। संज्ञाप्रकरण की हेम की संज्ञाएँ शब्दानुसारी हैं, किन्तु बाकी वाली कारकीय संज्ञाएँ अर्थानुसारी हैं। पाणिनि के समान हेम की संज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक से अधिक सम्प्रदायों को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अतः हेम ने पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा कम संज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। इस सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी संज्ञाओं को ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व दीर्घ और प्लुत संज्ञाएँ पाणिनि ने भी लिखी हैं किन्तु हेम ने इन संज्ञाओं में स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिये एक द्वि और त्रि मात्रिक को क्रमशः ह्रस्व दीर्घ और प्लुत कह दिया है। यद्यपि पाणिनि के "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" १।२।२७ सूत्र में हेम का उक्त भाव अंकित है किन्तु हेम ने एकमात्रिक द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिये स्पष्टीकरण कर दिया है।

हेम और पाणिनि की संज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहारों के झमेले में नहीं पड़े हैं इनकी संज्ञाओं में प्रत्याहारों का बिलकुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को लेकर ही हेम ने संज्ञा विधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारों द्वारा संज्ञाओं का निरूपण किया है, जिससे प्रत्याहार क्रम को स्मरण किये बिना संज्ञाओं का अर्थबोध नहीं हो सकता है। अतः हेम का संज्ञाविधान पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा सरल एवं स्पष्ट है।

सन्धि प्रकरण में भी हेम ने लाघव को कायम रखने की पूरी चेष्टा की है। मुख सन्धि में ऋ के स्थान पर अर और लृ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिये पृथक् "उरणरपरः" १।१।५१ सूत्र लिखना पड़ा है। हेम ने इस एक सूत्र की बचत कर ली है। पाणिनि ने "एङिपररूपम्" ६।१।९४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद में ए हो तो पर रूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने "ओष्ठौत्वोः समासे" १।२।१७ द्वारा लुक का नियमन किया है। अतः पाणिनि की अपेक्षा हेम में लाघव है। हेम ने यह प्रक्रिया शाकटायन से अपनायी है।

पाणिनि ने ७।१।५७ के द्वारा जस् के स्थान में "शी" होने का विधान किया है, हेम ने १।४।९ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर "ई" कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहाँ यदि केवल "ई" का विधायन होता तो यह जस् के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता अतएव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शी का विधान किया। हेम के यहाँ इस तरह का कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहाँ जस् के स्थान पर किया गया "ई" का नियमन समस्त जस् के स्थान पर होता है। अतः यहाँ हेम की लाघव दृष्टि प्रशंसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं की है, किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया है। जहाँ पाणिनि ने सर्वनाम को रोककर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोका

है यहाँ हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नहीं मानकर काम चलाया है। यह भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है। पाणिनि ने साम् को साम् बनाने के लिये सुट् का आगम किया है पर हेम ने १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग में क्त्वायी क्त्वाया और क्त्वाया की सिद्धि के लिये पाणिनि ने बहुत अधिक प्राणायाम किया है। उन्होंने ७।३।११३ सूत्र से याट् किया है पुन वृद्धिकी तब क्त्वायै बनाया तथा दीर्घ करण पर क्त्वाया और क्त्वायाम् का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।७ सूत्र द्वारा सीधे यै याद् और याम् प्रत्यय जोड़कर उक्त रूपा का सहज साधुत्व दिखाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघव सूचक है। मुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्व सवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने १।४।२१ सूत्र द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का अनुशासन किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानो के लिये अधिक रुचिकर और आलम्बनात्मक है। मनौ प्रयोग में पाणिनि ने ७।३।११९ के द्वारा इ को ऊ और ङी को औ किया है तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है किन्तु हेम ने १।४।२५ सूत्र के द्वारा ङी को डौ किया है जिससे यहाँ ड् का अनुबन्ध होने से मुनि शब्द का इकार स्वयं ही हट गया है अतएव मुनि शब्द के नकार में रहने वाले इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय तन्त्र में क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नहीहै, बाद के वैयाकरणो और नैयायिको ने 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्व' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने २।२।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में समाहीत कर लिया है। पाणिनि ने २।३।१६ सूत्र द्वारा अलं शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है किन्तु हेम ने शक्त्यर्थक सभी शब्दो के योग में चतुर्थी का नियमन किया है इससे अधिक स्पष्टता आ गयी है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए अलं शब्द को पर्याप्त्यर्थक माना पड़ता है, अन्यथा "अलं महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि वाक्य अव्यवहित हो जायेंगे। हेम ने शक्त्यर्थक और पर्याप्त्यर्थक शब्दो के साधुत्व को पृथक कर दिया है, जिससे किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हेम में पाणिनि जैनेन्द्र और शाकटायन की अपेक्षा अधिक लाघव और स्पष्टता है पर यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि हेम ने उक्त तीनो व्याकरणो से प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। पूज्य पाद और पाणिनि की अपेक्षा हेम ने शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनेन्द्र के सिद्धिरनेकान्तात्" का प्रभाव" सिद्धि स्याद्वादात् १।१।२ पर स्पष्ट है। हेम ने तद्धित और कृदन्त प्रकरण में जैनेन्द्र के सूत्र ज्यो के त्यों अपनाये हैं।

शाकटायन व्याकरण की शैली का प्रभाव तो हेम पर सर्वाधिक है। यहाँ एक उदाहरण देकर उक्त कथन का स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनि ने "पारेमध्येषष्ठ्यावा" २।१।१८ पूज्यपाद ने "पारे मध्ये तया वा' १।३।१५ और शाकटायन ने "पारे मध्येऽन्त षष्ठ्या वा' २।१।९ सूत्र लिखा है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर "पारे मध्येऽग्रेऽन्त षष्ठ्या वा" सूत्र लिखा है। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणो के सूत्र की हेम के सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का सर्वाधिक अनुकरण किया है।

शाकटायन के "नगुपूर्वार्थव्यवधिने २।१।१४ का अमोघवृत्ति सहित हेम ने "न गुपूर्वार्थव्यवधिने ७।१।१ ९ में शब्दश अनुकरण किया है। यद्यपि हेम ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणो से बहुत कुछ लिया है तो भी अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा शब्दानुशासन में अनेक नवीनताएँ लाने का उनका प्रयास प्रशस्य है।

हेम शब्दानुशासन का अष्टम अध्याय प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है। इसमें चार पाद और कुल १११९ सूत्र हैं। प्रथम पाद में स्वर और व्यञ्जन विकार, द्वितीय में संयुक्त व्यञ्जन विकार, तृतीय में सर्वनाम कारक कृदन्त एव चतुर्थपाद में धात्वादेश शौरसेनी मागधी पैशाची चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश का अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषा की जानकारी के लिये इससे बड़ा और सर्वांगपूर्ण व्याकरण अन्य कोई नहीं है। पाणिनि ने जिस प्रकार वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत भाषा का अनुशासन किया उसी प्रकार हेम ने लौकिक संस्कृत तथा उसकी निकटवर्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। भाषा के तत्त्वो की जानकारी हेम की अद्भुत है। हैमशब्दानुशासन इतना पूर्ण है कि इस व्याकरण के अकेले अध्ययन से ही लोक प्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओ की यथेष्ट जानकारी हो सकती है। यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है। हैमशब्दानुशासन पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं —

नाम	कर्ता	संवत्
लघुन्यास	हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्रगणी	हेमचन्द्र कालीन
लघुन्यास	धर्मघोष	
न्यासोद्धार	कनकप्रभ	
हैमलघुवृत्ति	काकल कायस्थ	हेमचन्द्र के समकालीन
हैमबृहद्वृत्ति ढुंढिका	सौभाग्य सागर	१५९१
हैमढुंढिका वृत्ति	उदय सौभाग्य	
हैमलघुवृत्ति ढुंढिका	मुनिशेखर	
हैम अवचूरि	धनचन्द्र	
प्राकृत दीपिका	द्वितीय हरिभद्र	
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि	
हैमचतुष्पाद वृत्ति	उदय सौभाग्य	१५९१
हैम व्याकरण दीपिका	जिनसागर	
हैम व्याकरण अवचूरि	रत्नशेखर	
हैम दुर्गपद प्रबोध	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ	१६६१
हैम कारक समुच्चय	श्रीप्रभसूरि	१२८
हैमवृत्ति		

हैम व्याकरण से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ —

नाम	कर्ता	संवत्
लिंगानुशासन वृत्ति	जयानन्द	
धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रम)	पुण्यसुन्दर	
क्रियारत्न समुच्चय	गुणरत्न	१४६६
हैमविभ्रम सूत्र	गुणचन्द्र	
हैम विभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ	
हैम लघुन्यास प्रशस्ति अवचूरि	उदयचन्द्र	
न्यायमञ्जूषा	हेमहंस	१५१५
न्यायमञ्जूषान्यास		
स्यादि शब्द समुच्चय	अमरचन्द्र	
हैमकौमुदी	मेघविजय	१७५८
शब्दचन्द्रिका	"	१७६१
हैमप्रक्रिया	महेन्द्र सुतवीरसेन	
हैम लघुप्रक्रिया	विनय विजय-तपागच्छ के आचार्य	
सिद्ध व्याकरण	अनुमानत	
बालकौमुदी	अनुमानत	

इन प्रसिद्ध तीन महाव्याकरणों के अतिरिक्त [illegible] यशोभद्र कृत जैन व्याकरण आर्य वज्रस्वामी कृत जैन व्याकरण भूतबली जैन व्याकरण श्रीदत्त कृत जैन व्याकरण प्रभाचन्द्र कृत जैन व्याकरण एवं सिद्धनन्दी कृत जैन व्याकरण के नामों की सूचना मिलती है।[३]

कातन्त्र के सूत्रों के रचयिता के सम्बन्ध में विवाद है[४] पर इतना सत्य है कि कातन्त्र रूपमाला के रचयिता भावसेन त्रैविद्य है[५]। यह व्याकरण साहित्य के महान् विद्वान् थे। कातन्त्र का प्रचार प्राचीन काल में बहुत था। संस्कृत भाषा को

सरलता के साथ सीखने में यह व्याकरण बहुत सहायक है। कातन्त्र में संज्ञाओं का कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है, सन्धि-प्रकरण के पहले पाद में प्रायः सभी प्रमुख संज्ञाओं का उल्लेख कर दिया गया है। इस व्याकरण की "सिद्धोवर्णसमाम्नाय" यह प्रथम सूत्रीय घोषणा अत्यन्त गंभीर है। इस सूत्र द्वारा वर्णों की नित्यता स्वीकार की गई है। इसमें प्रत्याहार की अपेक्षा नहीं है। सन्धि शब्द विभक्त्यर्थ स्त्रीप्रत्यय समास तिङन्त कृदन्त और तद्धित सभी प्रकरण इस व्याकरण में हैं। कातन्त्र के तिङन्त प्रकरण में कालवाची क्रियाओं का नामकरण वर्तमाना परोक्षा सप्तमी पंचमी ह्यस्तनी अद्यतनी आशी: श्वस्तनी भविष्यन्ती और क्रियातिपत्ति के रूप में किया गया है। जैनेन्द्र और शाकटायन में लकारों का निरूपण है किन्तु हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में कातन्त्र सम्मत कालवाची क्रियाओं को स्थान दिया है। कातन्त्र व्याकरण के पठन पाठन का प्रचार जैन सम्प्रदाय में बहुत अधिक रहा है। इसकी एक प्रमुख विशेषता विराम में अनुस्वार का होना भी है। स्व. पं. पद्माकान्त चाकलीवाल ने इसी व्याकरण के आधार पर बालबोध नामक अतिसरल व्याकरण लिखा है। कातन्त्र पर सकलकीर्ति द्वितीय कृत कातन्त्ररूपमाला लघुवृत्ति दुर्गसिंह कृत कातन्त्रव्याकरण की वृत्ति और रविवर्माचार्य कृत कातन्त्रव्याकरण की वृत्ति उपलब्ध है। वर्द्धमान कवि की कातन्त्र विस्तार नाम की टीका भी उपलब्ध है।[१] इस टीका में सूत्रों की व्याख्या के साथ अनेक नवीन उदाहरण भी सम्मिलित किये गये हैं। इसमें कई उदाहरण काशिका वृत्ति के हैं। कातन्त्र के रचयिता का नाम सर्ववर्मा होने से विद्वान् इनके जैन होने में सन्देह करते हैं। परन्तु इनके प्रथम सूत्र का "सिद्ध" पद से प्रारम्भ होना इसके अधिकांश टीकाकारों का जैन होना व जैनसमाज में इस व्याकरण का विशेष प्रचार होना आदि तथ्य इनके जैन होने की प्रतीति उत्पन्न कराये बिना नहीं रहते। इस व्याकरण के विशेष अध्ययन से यह बात और भी पुष्ट होती है।

फुटकर स्रोतों से प्राप्त सूचना के आधार पर निम्न जैन व्याकरण ग्रंथों की जानकारी और भी प्राप्त होती है।

पाण्डवपुराण की प्रशस्ति से अवगत होता है कि १२२४ सूत्र प्रमाण 'चिन्तामणि' नाम का शब्दानुशासन आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा था। यह तीन अध्यायों में विभक्त था तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद थे। इस ग्रंथ पर द्वितीय समन्तभद्र ने 'चिन्तामणि' व्याकरणटिप्पण भी लिखा है। ग्रन्थप्रमाण के अनुसार यह व्याकरण उपयोगी होगा।

कन्नड-भाषा का व्याकरण संस्कृत भाषा में भट्टाकलंक देव भट्ट ने लिखा है। इस व्याकरण का नाम "शब्दानुशासन" है। कन्नड भाषा और साहित्य के विद्वानों में इस ग्रन्थ का बड़ा सम्मान है। आज भी यह व्याकरण अपनी उपयोगिता के कारण लोकप्रिय है। जैनाचार्यों ने कन्नड का व्याकरण कन्नड भाषा में भी लिखा है। कन्नड-साहित्य और कन्नड-व्याकरण को समृद्धिशाली बनाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है।

भावसेन का मनोरमा व्याकरण, केशवराज का शब्दमणि व्याकरण, तपागच्छ के आचार्य राजविजय सूरि के शिष्य राम विजय का शब्दभूषण, मलयगिरि का शब्दानुशासन, दुर्गसिंह का शब्दानुशासन, तपागच्छ के आचार्य विजयानन्द के शिष्य हेमहंस विजय का "शब्दार्थचन्द्रिका" व्याकरण प्रभृति जैन-व्याकरण-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

पूर्णतल्लिगच्छ के आचार्य देवनन्द की सिद्ध सारस्वत टीका तथा खरतर गच्छीय हेमचन्द्र उपाध्याय के शिष्य सहजकीर्ति का सिद्ध शब्दार्णव, पुण्यसुन्दर का स्वरवर्णानुक्रम धातुपाठ, धनरत्न के शिष्य नयसुन्दर का रूपरत्नमाला, कल्याणसागर सूरि का लिंग-निर्णय, अमरस्वामी का लिंगानुशासन, दुर्गसिंह का लिंगानुशासन तथा धर्मनन्दन सूरि का लिंगानुशासनोद्धार भी व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। अर्हन्नन्दी के शिष्य त्रिविक्रम का प्राकृत शब्दानुशासन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका आधार हेमचन्द्र का प्राकृत शब्दानुशासन ही है।

इन व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने सारस्वत व्याकरण पर कई टीकाएँ लिखी हैं। कुछ विद्वान् तो अजितसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन को ही इस व्याकरण का रचयिता मानते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने भी अपने व्याकरण-साहित्य के इतिहास में इस ओर संकेत किया है। हमें लगता है कि इसी कारण इस पर अनेक टीकाएँ जैनाचार्यों द्वारा निर्मित हुई हैं। नागपुरीय तपागच्छ के आचार्य चन्द्रकीर्ति की सं. १६६४ में लिखी गयी इस व्याकरण की प्रसिद्ध टीका है।

जैन-व्याकरण-साहित्य की उपलब्धियाँ —

१ शब्द की अनेकान्तात्मकता—अनेक धर्मात्मक होने के कारण स्याद्वाद द्वारा शब्दों की सिद्धि पर जोर दिया। जैनेतर वैयाकरण शब्द में वाच्य-वाचक सम्बन्ध को मानकर भी दोनों को स्वतन्त्र मानते हैं। वाचक के रूप में परिवर्तन हो जाने पर भी वाच्य के रूप में कोई परिवर्तन नहीं मानते। पर जैन शाब्दिकों का मत है कि वाचक में लिंग संख्या आदि का जो

परिवर्तन होता है यह स्वतन्त्र नहीं है किन्तु अनन्त धर्मात्मक बाह्य वस्तु के आधीन है अर्थात् जिन धर्मों से विशिष्ट वाचक का प्रयोग किया जाता है वे सब धर्म वाच्य में रहते हैं।

२ वैदिक शब्दों का अनुशासन करनेवाले पाणिनीय व्याकरण के पक्ष से छुड़ाकर लौकिक भाषा के स्वरूप निर्धारण में अधिक-से-अधिक योगदान देनेवाले शब्दानुशासनों का निर्माण कर गतिशील भाषा को स्थिर या मृत न बनाकर उसकी गति शीलता में ही सहायक होना।

३ पाणिनीय तन्त्रों का मन्थन कर सारभूत रत्नों को उपस्थित किया जिससे अध्येताओं के समय और श्रम की बचत हुई।

४ उदाहरणों में उन ऐतिहासिक प्रयोगों और स्थानों के नामों को सुरक्षित रखा जिनसे आज भी देश के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है तथा इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

५ उन साम्प्रदायिक शब्दों का साधुत्व प्रतिपादित किया जिनकी अवहेलना अन्य सम्प्रदाय वाले वैयाकरण करते आ रहे थे।

६ उदाहरणों में जैन तीर्थंकरों जैन राजाओं जैन महापुरुषों और जैन ग्रन्थकारों के नाम सन्निविष्ट किये तथा उक्त शब्दों की व्युत्पत्तियाँ बतलायी।

७ शब्दों में स्वाभाविक रूप से अनन्त शक्तियाँ स्वीकार कीं फलतः एकशेष का त्याग कर अनेकशेष का निरूपण किया। यत जैनेतर वैयाकरणों के अनुसार एक शब्द एक ही व्यक्ति का कथन करता है अतः बहुत से व्यक्तियों का बोध करना हो तो बहुत से शब्दों का प्रयोग करके "सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ" १।२।६४ सूत्र के अनुसार एक शेष किया जाता है। बहु वचन में एक रूप के शेष रहने पर बहुवचन बोधक प्रत्यय लगाकर बहुवचन शब्द बना लिया जाता है। अतएव व्यक्ति और जाति के स्वतन्त्र रूप से पृथक होने के कारण एक शेष आवश्यक है।

जैन वैयाकरण शब्द को अनेक धर्मात्मक मानते हैं अत एक ही शब्द परिस्थिति विशेष में विशेषण विशेष्य पुल्लिंग स्त्रीलिंग कर्ता कर्म करण आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है। इसी कारण शब्द अनन्त धर्मात्मक वस्तु का वाचक है, उसका वाच्य न केवल व्यक्ति है और न जाति किन्तु जाति व्यक्त्यात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वाच्य है। अतः एकशेष मानने की आवश्यकता नहीं। अत 'शब्द स्वभाव से ही एक दो या बहुत व्यक्तियों का कथन करता है।

८. जैन शब्दानुशासनों के पंचाङ्गपूर्ण होने के कारण अनुशासन में लाघव और स्पष्टता।

९ वर्णित विषय के क्रम विवेचन की मौलिकता।

१० विचारों के उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का निरूपण।

११ विषय विवेचन में वैज्ञानिकता और मौलिकता का सन्निवेश।

१२ ग्रन्थनशैली की महनीयता।

१३ संस्कृत भाषा में जैन शब्दानुशासनों का प्रणयन उस समय हुआ जब पाणिनीय व्याकरण का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हो चुका था। इतना ही नहीं बल्कि उसके आधार पर कात्यायन तथा पतञ्जलि जैसे विशिष्ट वैयाकरणों ने सैद्धान्तिक गवेषणाएँ प्रस्तुत कर दी थी। इस प्रकार जैन वैयाकरणों के समक्ष पाणिनि की अनुपलब्धियाँ और अभावपूर्तियाँ भी वर्तमान थी। फलतः जैन आचार्यों ने उन सारी सामग्रियों का उपयोग कर अपने शब्दानुशासनों को पूर्ण एवं समयानुकूल बनाया।

१४ पाणिनीय तन्त्रकारों ने शब्दों का अनुशासन करते समय प्रत्ययों आदेशों तथा आगम आदि में जो अनुबन्ध लगाये हैं उनका सम्बन्ध उन्होंने वैदिक स्वर प्रक्रिया के साथ भी जुटाये रखा है जिसके कारण श्रेष्य संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनुशासन को समझने में क्लेश आ जाता है। जैन वैयाकरणों ने उन्हीं अनुबन्धों को ग्रहीत किया है जिनका प्रयोजन तत्काल सिद्ध होता है। अत स्पष्ट है कि पाणिनीय तन्त्र में भले ही साथ-ही-साथ वैदिक भाषा का भी अनुशासन होता गया किन्तु श्रेष्य संस्कृत का सुबोध अनुशासन जैन वैयाकरणों द्वारा ही हुआ।

१५. जैनाचार्यों ने समयानुसारिणी अनुशासन व्यवस्था को अपनाया फलत उनके नियमों में सरलता संक्षिप्तता और वैज्ञानिकता का रहना।

१६. संस्कृत भाषा के अनुशासन के साथ प्राकृत भाषा का अनुशासन भी लिखा गया।

१७ वाक्य विचार, रूप विचार, सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व का विश्लेषण ध्वनितत्त्व ध्वनिपरिवर्तन के कारण वर्णागम वर्णलोप वर्णविपर्यय अपिश्रुति स्वरभक्ति समीकरण एवं विषमीकरण सम्बन्धी भाषाविज्ञान के नियमों का प्रतिपादन।

१८ शब्द के कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व की मौलिक उद्भावनाएँ।

१९ भाषा के विशाल और विराट् भाण्डार का दर्शन।

२ पुरातन और नूतन नियमों का समन्वय।

२१ प्राचीन पदपाठ शिक्षासूत्र परिभाषाओं एवं सूत्रपाठ की परम्पराओं का संरक्षण।

सदर्भ तालिका

१ देखें—बोपदेव द्वारा विरचित मुग्धबोध।

२ देखें—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ के अन्तर्गत "प्राकृत साहित्य का सिंहावलोकन" शीर्षक निबन्ध पृ० ४१६ तथा "प्राकृत भाषाओ अने साहित्य पृ ५५।

३ यशस्तिलक चम्पू की श्रुतसागर सूरि की टीका में "प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्र रचना चञ्चुना" यह उल्लेख आया है तथा षट्प्राभृत की संस्कृत टीका में प्राकृत सूत्रांश उद्धृत किये हैं।

४ देखें—जैनेन्द्र महावृत्ति की डा वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित भूमिका पृ ७

५ देखें—जैन-साहित्य और इतिहास के अन्तर्गत "देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण" शीर्षक निबन्ध पृ २७

६ देखें— उपर्युक्त ग्रंथ पृ २८-१

७ जैनेन्द्र महावृत्ति का 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ' निबन्ध पृ ४१ ४४ तथा स्ट्रक्चर ऑफ दि अष्टाध्यायी भूमिका पृ ११

८ जैनेन्द्र महावृत्ति प्रस्तावना भाग पृ ४७-४८

९. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन् न्यासोरुरत्नक्षिति श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामाल मिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्र शब्दागमं प्रासादं पृथु पञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥—अन्तिम पद्य

१ श्री पूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम्।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥ (मंगलाचरण शब्दार्णव चन्द्रिका)
तथा नन्दि की प्रशंसा चुरादि धातुपाठ के अन्त में —"शब्दब्रह्मा स धीमान् गुण-
निधि गुणनन्दिव्रतीशस्सुसौख्य" शब्दब्रह्मा विशेषण देकर की गयी है।

११ सिस्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर—पैराग्राफ १

१२ विशेष जानकारी के लिये देखें—जैन साहित्य और इतिहास पृ १६५-१६६।

१३—१४ शाकटायनीय सूत्र के अन्तिम पद्य।

१५ हितैषिणा यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापाल मुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्धनि यः प्रभावैः।
श्रवणबेल्गोल का ५४ वा शिलालेख।

१६ देखें—प गुरुपद हालदार कृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' पृ ४४८।

१७ अकारादिहकारान्तं वर्णाम्नाय विनिर्मिता।
ऋषभेणार्हता येन स्वमातास्याद्यमादित ॥
यथार्हपद सद्धर्म वर्णाम्नाय प्रतिष्ठित।

तस्मै कौमारशब्दानुशासनाय नमोनमः ॥
यद्वा कुमार्या प्रथमं सरस्वत्याप्यधिष्ठितम् ।
अर्हं पदं संस्मरन्त्या तद् कौमारमधीयते ॥
कुमार्या अपि भारत्या अनन्यासेव्ययं क्रमः ।
अकारादिह पयन्तस्तत् कौमारमित्ययं ॥ —कातन्त्र रूपमाला के अन्तिम श्लोक ।

१८. भावसेन त्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिणा ।
कृतायां रूपमालायां कृदन्तः पर्यपूर्यत ॥
मन्दबुद्धिप्रबोधार्थं भावसेनमुनीश्वरः ।
कातन्त्ररूपमालाख्यां वृत्तिं व्यरचयत्सुधीः ॥ —रूपमाला के अन्तिम पद्य ।

१९. देखें—प्रशस्तिसंग्रह पृ १९८-२ ।

जैन कोश-साहित्य

(लै०—प्रो० नेमिचन्द्र जैन, एम० ए० ज्योतिषाचार्य आरा)

किसी भी भाषा के शब्दसमूह का रक्षण और पोषण कोश-साहित्य द्वारा ही संभव है। कोश की महत्ता के संबंध में बतलाया गया है—

कोशस्यैव महीपानां कोशस्य विदुषामपि ॥
उपयोगो महानेष क्लेशस्तेन विना भवेत् ॥

जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रों का कार्य कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता है कोश के अभाव में शासन-सूत्र के संचालन में क्लेश होता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्दकोश के बिना अर्थग्रहण में क्लेश होता है। शब्दों में संकेतग्रहण की योग्यता कोशसाहित्य के द्वारा ही प्रतीत होती है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार के उपयोगी और सार्वजनीन साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किन कारणों से उत्पन्न होता है? कोशगत शब्दसम्पत्ति पर जैन बौद्ध और वैदिक विचारधाराओं की साम्प्रदायिक छाप किस प्रकार संभव है? ऐसा तो कभी संभव नहीं होता कि जैन आम्नाय में शब्दों का प्रयोग किसी अर्थ में होता हो और इतर आम्नाय में अन्य किसी अर्थ में। जल शब्द का अर्थ मानवमात्र के लिये पिपासा शान्त करने वाला शीतल पदार्थ है न कि जैन आम्नायवालों के लिए किसी भिन्नार्थ का द्योतक। अतः कोश-साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किस प्रकार संभव है? इस प्रश्न का समाधान निम्न निष्पत्तियों के आधार पर सहज ही किया जा सकता है।

१ प्रत्येक दर्शन की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं और इन मान्यताओं के अनुसार शब्दावली भी कुछ अंशों तक साम्प्रदायिक वातावरण से प्रभावित रहती है अतः इन शब्दावलियों का तात्त्विक अर्थ उस सम्प्रदाय के आचार्य ही व्यक्त कर पाते हैं। फलतः जैन-दर्शन के प्रकाश में शब्दों के अर्थों का विवेचन जैन कोशों में ही संभव है।

२ प्रत्येक दर्शन या आम्नाय में आवश्यकतानुसार नये-नये शब्दों का गठन या संयोजन किया जाता है। अतः पुरानी या प्रचलित शब्दावली उनके भावों की अभिव्यंजना में सफल नहीं हो पाती। अतएव साम्प्रदायिक कोशकार उपर्युक्त प्रकार की शब्दावलियों का चयन करते हैं। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि अर्हत् जिन भाविक धर्मध्यान द्रव्य भावबन्ध प्रभृति सहस्रों ऐसे शब्द हैं जिनके पर्यायवाची शब्द अमरकोश वैजयन्ती मेदिनी विश्वप्रकाश कोश आदि में नहीं हैं। जैन कोशकारों ने साधारणीकरण के धरातल पर उतर कर ऐसे कोशों का निर्माण किया जो सब के लिये समान रूप से उपादेय हो सकते हैं।

३ अपने सम्प्रदाय में प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या संकलन और प्रतिपादन करना भी साम्प्रदायिक कोशों का एक लक्ष्य है।

४ साम्प्रदायिक क्षितिज में आविष्ट व्यक्तियों के नाम वस्तुओं के नाम तथा भौगोलिक ऐतिहासिक एवं आगमिक शब्दावलियों के अर्थों का निरूपण भी साम्प्रदायिक कोशों में ही संभव है।

५ प्रत्येक धर्म का किसी एक भाषा के साथ घनिष्ट संबंध रहता है। वह भाषा उस सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों की अपनी भाषा मान ली जाती है, यथा वैदिक-धर्म के लिये संस्कृत बौद्ध-धर्म के लिये पालि एवं जैन-धर्म के लिये प्राकृत। अतः साम्प्रदायिक कोशकार अपने धर्मग्रन्थों में व्यवहृत भाषा के कोशग्रन्थ भी लिखते हैं। यही कारण है कि जैन कोशकारों ने संस्कृत के कोशग्रन्थों के साथ प्राकृत और देसी भाषा में भी कोशग्रन्थों की रचना की है।

जैन कोश-साहित्य की उत्पत्ति और विकास —

द्वादशांगवाणी के अन्तर्गत सभी प्रकार का साहित्य सन्निविष्ट हो जाता है अतः कोशसाहित्य की रचनाएँ भी सत्यप्रवाद पूर्व और विद्यानुवाद की पाँच सौ महाविद्याओं में से अक्षर विद्या में सम्मिलित हैं। आरम्भ में एकादश अंगों चतुर्दशपूर्वों के

भाष्य चूर्णियाँ वृत्तियाँ एवं विभिन्न प्रकार की टीकाएँ ही कोश-साहित्य का काम करती रहीं। कालान्तर में जब चूर्णियों और भाष्यों के सम्प्रदायों की पूर्णतः जानकारी न रही तो शब्दकोशों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

सबसे पहले कौन सा जैन या जैनेतर कोश लिखा गया यह कहना कठिन है। उपलब्ध जैन कोश-साहित्य में धनंजय कवि की नाममाला ही सबसे प्राचीन है। यद्यपि ई की पाँचवी और छठी शताब्दी में कोश का स्वरूप निश्चित हो चुका था। धवला मनी की वसुदेव हिण्डी के "चत्तारि अट्ठ" वाली गाथा के १४ अर्थ किये गये हैं। ये नाना अर्थ ही अनेकार्थकोश की बुनियाद हैं। जैनो में प्रचलित द्विसंधान चतुस्सन्धान सप्तसन्धान चतुर्विंशतिसन्धान जैसे अनेकार्थक काव्यों की परम्परा इस बात का स्वतन्त्र प्रमाण है कि जैनो में कोश-साहित्य का सृजन भाष्य और वृत्तियों के पश्चात् तत्काल में ही हुआ होगा। अनेकार्थक साहित्य तभी लिखा जाता है जब कोशों में शब्दों के विभिन्न अर्थ निश्चित कर लिये जाते हैं। एक-एक श्लोक के सौ-सौ अर्थों की अभिव्यंजना करना साधारण बात नहीं है।

महाकवि धनंजय के कोश विषयक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नाममाला अनेकार्थनाममाला और अनेकार्थनिघण्टु। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित द्विसन्धानकाव्य और विषापहार स्तोत्र भी हैं। द्विसन्धान काव्य के अन्तिम श्लोक की टीका से अवगत होता है कि इनके पिता का नाम वसुदेव माता का नाम श्री देवी और गुरु का नाम दशरथ था। ये गृहस्थ थे। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में सूक्तिमुक्तावली की ४१ वी तरंग से ज्ञात होता है कि ये प्रसिद्ध अमरकोषकार अमर कवि के साले थे। शोलापुर निवासी स्व सेठ रावजी सखाराम जी दोशी महोदय ने अमरकोष सम्बन्धी एक ट्रैक्ट प्रकाशित किया था जिसकी भूमिका में अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया था कि अमरकोषकार जैन हैं।

नाममाला के अन्त में प्राप्त होने वाले निम्न श्लोक से कवि की कीर्ति "द्विसन्धानकवि" के नाम से व्याप्त थी।

> प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
> द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलंकदेव का प्रमाणशास्त्र पूज्यपाद का लक्षण-व्याकरणशास्त्र और द्विसन्धान कवि का द्विसन्धानकाव्य—ये तीनों अपूर्व रत्नत्रय हैं। वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित के प्रारम्भ में द्विसन्धान काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

> अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
> बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥

धनंजय के द्वारा कहे गये अनेक सन्धान-मर्मभेदवाले और हृदयस्पर्शी वचन कानों को ही प्रिय क्यों लगेंगे जब कि अर्जुन के द्वारा छोड़े जाने वाले अनेक लक्ष्यों के भेदक मर्मभेदी बाण कर्ण को प्रिय नहीं लगते।

इससे स्पष्ट है कि शब्द के अर्थ और उनके समुचित प्रयोग का वैदग्ध्य इन्हें पूर्णतया प्राप्त था। नाममाला का अन्तिम श्लोक भी उक्त तथ्य का साक्षी है—

> ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात् तुषाराचल—
> स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदी व्याजात् तथा केशवम्।
> अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधिः ध्वानोपदेशादहो
> फूत्कुर्वन्ति धनञ्जयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः॥

धनंजय के भय से पीड़ित होकर शब्द ब्रह्माजी के पास जाकर वेदों के निनाद के छल से हिमालय पर्वत के स्थान में रहने वाले महादेवजी को प्राप्त होकर, उनके प्रति स्वर्ग की गंगा की ध्वनि के मिष से एवं समुद्र में शयन करने वाले विष्णु के प्रति समुद्र की गर्जना के छल से जाकर पुकारते हैं, यह नितान्त आश्चर्य की बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकवि धनंजय का शब्दों के ऊपर पूरा अधिकार है।

धनंजय के समय के सम्बन्ध में विद्वानो में पर्याप्त मतभेद है। स्व श्री नाथूरामजी प्रेमी ने बनारसीविलास की उत्थानिका में ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन और हरचरित के कर्ता रत्नाकर द्वारा धनंजय की स्तुति किये जाने की बात कही है। आनन्दवर्धन का समय ई ८४०–७ एवं रत्नाकर का समय ई ८११–५ है। अतः महाकवि धनंजय का समय ई ८११ से पहले होना चाहिए।[1]

उपर्युक्त कथन की पुष्टि आदरणीय डाक्टर हीरालालजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम् प्रथम भाग की प्रस्तावना[1] से भी होती है। डाक्टर साहब ने सूचित किया है कि जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने धवला टीका पृ० १८७ पर अनेकार्थ नाममाला का "हेतावेवं प्रकाराद्यैः" श्लोक उद्धृत किया है। धवला टीका सन् ८१६ में समाप्त हुई थी अतः धनंजय का समय ई० ८१६ के पहले होना तर्क सम्मत है।[1]

नाममाला —

यह छात्रोपयोगी सरल और सुन्दर शैली में लिखा गया कोष है। इसमें व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले सभी आवश्यक पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। महाकवि धनंजय ने २ श्लोकों में ही संस्कृत भाषा की आवश्यक शब्दावली का चयनकर गागर में सागर भर देने की कहावत चरितार्थ की है। शब्द से शब्दान्तर बनाने की इनकी प्रक्रिया निराली है। अमरकोष वैजयन्ती प्रभृति किसी भी कोषकार ने इस पद्धति को नहीं अपनाया है। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि एक प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी से ही दूसरे प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी सहज में हो जाती है। जैसे पृथ्वी के नामों के आगे 'धर' या धर के पर्यायवाची शब्द जोड़ देने से पर्वत के नाम 'पति' शब्द या पति शब्द के समानार्थक स्वामिन् आदि शब्द जोड़ देने से राजा के नाम एवं 'रुह' शब्द जोड़ देने से वृक्ष के नाम हो जाते हैं। इसी प्रकार 'जल' शब्द के नामों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से मछली के नाम वृक्ष शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से बन्दर के नाम जल शब्द के पर्यायवाची शब्दो के आगे 'प्रद' शब्द जोड़ देने से बादल के नाम 'उद्भव' शब्द जोड़ देने से कमल के नाम एवं 'धर' शब्द जोड़ देने से समुद्र के नाम बन जाते हैं। महाकवि धनंजय ने अपनी इस वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इस कोष को अधिक लोकप्रिय और उपयोगी बनाया है। इस कोष में कुल १७ शब्दो के अर्थ दिये गये हैं।

इस कोष पर अमरकीर्ति का भाष्य भी विद्यमान है। अमरकीर्ति का समय १५ वीं शती माना गया है। इन्होंने नाममाला में आए हुए समस्त शब्दों की व्युत्पत्तियाँ उपस्थित की हैं। इन व्युत्पत्तियों से शब्दो का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

अनेकार्थ-नाममाला और अनेकार्थ-निघण्टु —

अनेकार्थ-नाममाला में एक शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल ४६ पद्य हैं और अज अब्ज अंजन अग्र आदि अनन्त अस्त अम्ब अर्क इति कदली कम्बु, केतन कीलाल कौशल्य कोटि क्षीर प्रभृति ही शब्दो के नाना अर्थों का संकलन किया गया है। मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने कहा—

> गम्भीरं रुचिरं चित्रं विस्तीर्णार्थ प्रसाधकम्।
>
> शाब्दं अनाक प्रवक्ष्यामि धनंजय हितकाम्यया॥

कवियों की हितकामना की दृष्टि से गम्भीर सुन्दर, विचित्र और व्यापक अर्थ को प्रकट करनेवाले कतिपय शब्दो का निरूपण करता हूँ।

अनेकार्थ निघण्टु में २९८ शब्दो के विभिन्न अर्थों का संकलन किया गया है। रचना शैली की दृष्टि से यह कोष साधारण स्तर का है। इसकी श्लोक संख्या १५४ है। एक-एक शब्द के तीन-तीन चार-चार अर्थ बतलाये गये हैं। अनेकार्थ निघण्टु पर अमरकीर्ति का भाष्य नहीं है।

पाइअलच्छी-नाममाला —

प्राकृत भाषा में भी शब्दकोशों की रचना जैनाचार्यों ने की है। अभिमानचिह्न गोपाल देवराज द्रोण धनपाल और हेमचन्द्र के नाम इस दिशा में गौरव के साथ लिये जाते हैं। यद्यपि आज उपर्युक्त सभी रचयिताओं की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, कुछके नामोंकी मात्र सूचना ही मिलती है, तो भी धनपाल कवि की "पाइअलच्छी-नाममाला प्राकृत भाषाके लिये एक अच्छा कोष है। महाकवि ने ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्ति निम्नप्रकार दी है—

> विक्कमकालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि।
>
> मालवनरिन्दधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि॥
>
> धारानयरीए परिट्ठिएण मग्गे ठिआए अणवज्जे।
>
> कज्जे कणिट्ठबहिणीए 'सुन्दरी' नामधिज्जाए॥

कइणो अंधजणकिवा कुसलत्ति पयाण मंतिमावण्णा ।
नामम्मि जस्स कमसो तेणेसा विरइया देसी ॥
कव्वेसु जे रसड्ढा सद्दा बहुसा कईहि बज्झन्ति ।
ते इत्थ मए रइया एगत्थ हिअए सहिअयाणं ॥

अर्थात् विक्रम संवत् १ २९ में जब कि मालवनरेन्द्र को निर्वासित कर दिया गया था धारानगरी के अन्तर्गत मानखेड गाँव में कवि धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिये इस निर्दोष ग्रन्थ की रचना की । जो काव्यों का रसास्वादन करनेवाले हैं, वे कवियों के द्वारा प्रयुक्त नाना प्रकार की शब्दावली को इस कृति के द्वारा अवगत कर सकेंगे ।

धनपाल कवि का उल्लेख कवि हेमचन्द्र ने "अभिधान चिन्तामणि" की स्वोपज्ञ टीका में "व्युत्पत्तिधनपाल" कहकर किया है । अतः यह सिद्ध है कि कोषकार धनपाल हेमचन्द्र के समय तक पर्याप्त यश अर्जन कर चुके थे ।

इनके पिता का नाम सर्वदेव था । ये काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे । इनका मूल निवास स्थान 'संकाश्य' नामक ग्राम था । ये आजीविका के निमित्त धारा नगरी में आये थे । इनके पिता वैष्णव धर्मानुयायी थे । बाकी आयु बीत जाने पर ये महेन्द्र सूरि के निकट जैन-धर्म में दीक्षित हुए थे । इन्होंने धारा नगरी में जैनों के प्रवेश पर लगी हुई रोक को हटवाया था । जैन होने के उपरान्त ही धनपाल ने 'पाइअलच्छी-नाममाला' की रचना की ।

यह पद्यबद्ध कोष है इसमें कुल २७५ गाथाएँ और ९९८ शब्दों के पर्याय संगृहीत हैं । इस कोश में संस्कृत व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत शब्द तथा देशी शब्द इन दोनों प्रकार के शब्दों का संकलन किया गया है । उदाहरण के लिये भ्रमर के पर्याय वाची शब्दों को लिया जाता है ।

फुल्लंधुआ रसाऊ भिंगा भसला य महुअरा अलिणो ।
इंदिंदिरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा ॥११॥

अर्थ—फुल्लन्धुअ रसाऊ, भिंग भसल महुअर, अलि इंदिंदिर, दुरेह, धुअगाय छप्पय और भमर ये ११ नाम भ्रमर के हैं । इन ग्यारह शब्दों में फुल्लंधुअ रसाऊ, भसल इंदिंदिर और धुअगाय ये पाँच शब्द देशी हैं । यों तो फुल्लन्धुअ की व्युत्पत्ति पुष्पन्धय और रसाऊ की रसायुष् की जा सकती है और पुष्पन्धय का अर्थ भी पुष्परस का पान करने वाला भ्रमर होगा किन्तु ये दोनों शब्द देशी ही हैं ।

सुन्दर शब्द के पर्यायवाचियों में भी छट्ठ का प्रयोग किया है । यह भी देशी शब्द है । इस कोश में कुछ ऐसे भी देशी शब्द आये हैं जिनका प्रयोग आज भी लोकभाषाओं में होता है । उदाहरण के लिये अलस या आलस के पर्यायवाचियों में एक मट्ठ शब्द आया है । ब्रजभाषा में आज भी आलसी के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है । इसी प्रकार नूतन पल्लवों के अर्थ में कुपल शब्द का प्रयोग किया गया है । यह शब्द ब्रजभाषा भोजपुरी और खड़ी बोली इन तीनों में प्रयुक्त होता है । इस प्रकार इस कोष में अनेक ऐसे देशी शब्द संगृहीत हैं, जिनका प्रयोग आज भी आर्यभाषाओं में पाया जाता है ।

इस कोश के अन्त में प्रत्ययों के अर्थ बतलाये गये हैं । इर प्रत्यय को स्वभावसूचक और इल्ल इर आल प्रत्यय को मत्वर्थक बताया गया है । इस तरह कोशकार ने इसे सभी प्रकार से उपयोगी बनाने का उपक्रम किया है ।

पाइअलच्छी-नाममाला के उपरान्त कोशकारों में कालक्रमानुसार हेमचन्द्र का नाम आता है । इनका जन्म अहमदाबाद से ६ मील दक्षिण-पश्चिम कोण में स्थित धन्धुका नगर में विक्रम संवत् ११४५ में कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में हुआ था । इनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी देवी था । इनका जन्म नाम चांगदेव और दीक्षा नाम सोमचन्द्र था । इन्होंने आचार्य देवचन्द्र से बचपन में ही दीक्षा धारण की थी । सूरिपद प्राप्त होने के पश्चात् ये हेमचन्द्र कहलाये । इनकी विद्वत्ता से सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों ही प्रभावित थे । अगाध पाण्डित्य के कारण ही ये कलिकाल सर्वज्ञ कहलाते थे । इन्होंने चार कोश ग्रन्थों की रचना की है—अभिधानचिन्तामणि अनेकार्थसंग्रह निघण्टु और देशीनाममाला । इनमें से प्रथम तीन संस्कृत भाषा के कोष हैं और चौथा देशी शब्दों का संग्रह है । निघण्टु तो वनस्पतिशास्त्र का कोष है ।

अभिधानचिन्तामणि —

संस्कृत के उपलब्ध समस्त जैनकोश-साहित्य में अभिधान चिन्तामणि ही एक ऐसा कोष है जिसमें जैनत्व पूर्णरूपेण सुरक्षित है । इसमें तीर्थंकरों के नाम प्रत्येक तीर्थंकर के पर्यायवाची शब्द तीर्थंकरों के मातापिताओं के नाम तीर्थंकरों के अति

शर्मों की नामावली भूत भविष्यत् और वर्तमानकालीन चौबीसी गणधरों के नाम तीर्थंकरों के ध्वजचिह्न अन्तिम केवली श्रुतकेवली तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ तथा जैन आम्नाय द्वारा सम्मत देवगति तिर्यंचगति के जीवों का वर्णन किया गया है। चतुर्थकाण्ड में पृथ्वीकायिक जीव पर्याय अप्कायिक जीव पर्याय तेजकायिक जीव पर्याय वायुकायिक जीव पर्याय और वनस्पतिकायिक जीव पर्याय का विस्तृत निरूपण किया है। द्वीन्द्रियजीवों की नामावली चार श्लोकों में दी गई है और त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की नामावली भी पूरे विस्तार के साथ लगभग २ श्लोकों में वर्णित की गयी है। यहाँ उदाहरण के लिये दो इन्द्रिय जीवों के पर्यायवाची शब्दों को उद्धृत किया जाता है।

गौलंमु कृमिरन्त्रर्ज भूकीटो महिर्मव ।
पुल्कासतूमये अपिस्यु कीकसा कृमयो उमव ॥
काष्ठकीटो घुण मधूपद: किंचुलक: कुसू ।
भूलता मन्यूपदी तु शिली अरत्पा जलौकस ॥
जलाकोका जसूका च जलौका जलसर्पिणी ।
मुक्तास्फोटो अक्षिमंडूकी शुक्ति सम्बुस्तुवारिज ॥
मिरेका पोडशावर्त शंख अथ क्षुद्रकम्बव ।
सनकार मुस्सकाश्च शम्बूकास्तम्बुमालजा ॥

कृमि गौलंबु, अक्रकीट पुलक मधुकृमि कीकस काष्ठकीट घुण मधूपद किंचुलक कुसू भूलता मन्यूपदी शिली अरत्पा जलौकस जलाकोक जसक जलौक जलसर्पी मुक्तस्फोट अक्षिमंडूकी शुक्ति सम्बु, शंख वारिज मिरेका षोडशावर्त क्षुद्रकम्बव सनक मुस्कक शम्बूक कर्पद हिरण्य पणास्थिक वराटक दुर्नाम और दीर्घकोष ये द्वीन्द्रिय जीवों के पर्यायवाची हैं।

ऊहापोह करने पर प्रतीत होगा कि इस प्रकार के पर्यायवाची शब्दों का कथन किसी भी कोष में नहीं किया गया है आचार्य हेमचन्द्र की यह अत्यन्त मौलिकता है कि इन्होंने भूमिकाण्ड में त्रस और स्थावरों के पर्यायवाची शब्दों का इतने विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। संस्कृत भाषा के किसी भी कोष में इतने पर्यायवाची शब्दों का समावेश नहीं मिलेगा।

इस पद्यमयकोष में कुल छ काण्ड हैं। प्रथम देवाधिदेव नाम का काण्ड है, इसमें ८६ पद्य हैं। द्वितीय देवकाण्ड है, इसमें २५ पद्य हैं। तृतीय मर्त्यकाण्ड में ५९८ पद्य चतुर्थ भूमिकाण्ड में ४२१ पद्य पंचम नारककाण्ड में ७ पद्य एवं षष्ठ सामान्य काण्ड में १७८ पद्य हैं। इस प्रकार कुल १५४२ श्लोक इस कोष में हैं। हेमचन्द्र ने आरम्भ में ही रूढ़ यौगिक और मिश्र शब्दों के पर्यायवाची शब्द लिखने की प्रतिज्ञा की है। उन्होंने बतलाया है—

व्युत्पत्ति रहिता शब्दा रूढा आखण्डलादय ।
योगो न्वय स तु गुण क्रिया सम्बन्ध सम्भव ॥
गुणतो नीलकण्ठाद्या क्रियात स्रष्टसन्निभा ।

व्युत्पत्तिरहित शब्द रूढ कहलाते हैं, जैसे आखण्डल इत्यादि। जिन शब्दोंके प्रकृति प्रत्ययमें अर्थानुगमन होता है वे यौगिक कहलाते हैं। यह योग गुण क्रिया और अन्य सम्बन्धों के कारण होता है। गुण के सम्बन्ध के कारण जिन शब्दों का व्यवहार होता है वे नीलकण्ठ, शितिकण्ठ कालकण्ठ प्रभृति हैं। क्रिया का योग जिन शब्दों में रहता है वे शब्द स्रष्टा विधाता आदि हैं।

इतर सम्बन्ध में स्वस्वामिभाव जन्यजनकभाव कार्यकारणभाव भोज्यभोजकभाव पतिकलत्रभाव वाह्यवाहकभाव ज्ञातिसम्बन्ध आश्रयाश्रयिभाव एवं वध्यघातकभाव को ग्रहण किया गया है और इन्हीं सम्बन्धों के अनुसार पर्याय शब्दों का कथन किया है। इसके पश्चात् अन्यान्य व्युत्पत्तिजन्य पर्यायों का प्रतिपादन किया है।

इस कोष में निम्न मौलिकताएँ और भी उपलब्ध होती हैं। सबसे पहली मौलिकता तो यह है कि हेमचन्द्र ने भी धनंजय के समान शब्दयोग से अनेक पर्यायवाची शब्दों के बनाने का विधान किया है किन्तु इस विधान में "कविरूढ्या ज्ञेयो दाहरणावली" के अनुसार उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया गया है, जो कवि सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। जैसे पतिवाचक शब्दों में कान्ता प्रियतमा वधू, प्रणयिनी एवं निभा शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पत्नी के नाम और कलत्र वाचक शब्दों में वर, रमण प्रणयी व एवं प्रिय शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पतिवाचक शब्द बन जाते हैं। गौरी के पर्यायवाची बनाने के लिये शिव शब्द में उक्त शब्द जोड़ने पर शिवकान्ता शिवप्रियतमा शिववधू,

शिवप्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं। गिम का समानार्थक परिग्रह भी है किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है उस प्रकार शिवपरिग्रह नहीं। अतः कवि सम्प्रदाय में यह शब्द ग्रहण नहीं किया गया है।

कमलवाची गौरी शब्द में वर, रमण प्रभृति शब्द जोड़ने पर गौरीवर, गौरीरमण गौरीश आदि शिववाचक शब्द बनते हैं, जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिव का वाचक है उस प्रकार गंगावर शब्द नहीं। यद्यपि कान्तावाची गंगा शब्द में वर शब्द जोड़कर पतिवाचक शब्द बन जाते हैं, तो भी कवि सम्प्रदाय में इस शब्द की प्रसिद्धि नहीं होने से यह शिव के अर्थ में ग्राह्य नहीं है। हेमचन्द्र ने अपनी वृत्ति में इन सारी विशेषताओं को बतलाया है तथा 'समादन' में और भी अनेक कोषगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरी मौलिकता इस कोश की यह है कि इसमें अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो अन्य कोशों में नहीं मिलते। अमरकोश में सुन्दर के पर्यायवाची सुन्दरम्, रुचिरम् चारु सुषमम् साधु शोभनम् कान्तम् मनोरमम् रुच्य मनोज्ञ मंजु मंजुलम्, ये बारह शब्द आये हैं। हेम ने इसी सुन्दर के पर्यायवाची चारु हारि रुचिर मनोहरं वल्गु:, कान्तं अभिरामं बन्धुरम् वामम्, रुच्य षुषमम् शोभनं मंजुलम् मञ्जः, मनोरमम् साधु रम्यम् मनोरमम् पेशलं हृद्यं काम्यं कम्रं कमनीयं सौम्यं मधुरं और प्रियं ये २६ शब्द बतलाये हैं। इतना ही नहीं हेम ने अपनी वृत्ति में 'लडह' देशी शब्द को भी सौन्दर्यवाची ग्रहण किया है इस प्रकार हेम ने एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों को ग्रहणकर अपने इस कोश को खूब समृद्धिशाली बनाया है। कुछ ऐसे नवीन शब्द भी इस कोश आये हैं जिनका अन्यत्र पाया जाना सम्भव नहीं है। गेहूँ के आटे के लिये समिता (३।६७) खून के लिये केसा' और पिण्डोलि(३१९) बड़ी साली के लिये ज्येष्ठश्वसा और छुली छोटी साली के लिए हाली मजनी और केलिकुंचिका (३।२१८-२१९) एव बहुसन्तानवाली माता के लिये कुमिका (३।२२२) शब्द आया है। इन शब्दो के प्रयोगो से अवगत होता है कि हेमचन्द्र का शब्दज्ञान कितना विशाल था।

हेमचन्द्र ने अपने इस संस्कृत कोश में जिन शब्दों का संकलन किया है, उनपर प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषा के शब्दों का पूर्णतः प्रभाव लक्षित होता है। अनेक शब्द तो आधुनिक भाषाओं में भी दिखलायी पड़ते हैं। उदाहरण के लिये कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

(१) पोतिका (३।६२) गुजराती में पोती ब्रजभाषा में पोती।
(२) मोदको लड्डुकश्च (शेष ३।६४)—हिन्दी में लड्डू, गुजराती में लाडु।
(३) चोटी (३।३३१)—हिन्दी-चोटी गुजराती-चोणी।
(४) समीकन्दुकल्पेन्दुकी (३।३५१)—हिन्दी में गेन्द ब्रजभाषा में गेंद।
(५) हेरिको गूढ पुरुष (३।३९७) ब्रजभाषा हेर या हेरना—देखना गुजराती हेर।
(६) तरवारि (३।४४६) ब्रजभाषा में तरवार, राजस्थानी में तलवार तथा गुजराती में तरवार।
(७) जंगलो निर्जल (४।१९) ब्रजभाषा में जंगल हिन्दी में जंगल।
(८) सुरंगा सन्धिनास्याद् गूढमार्गोमवोऽन्तरे (३।५१) ब्रजभाषा हिन्दी तथा गुजराती तीनो में सुरंग।
(९) निश्रेणीत्वधिरोहिणी (४।७८) ब्रजभाषा नसेनी गुजराती नीसरणी।
(१) चालनीतितउ ४।८४ ब्रज राजस्थानी व गुजराती में चालनी हिन्दी में चलनी या छलनी।
(११) पटास्याग्मपूषा (४।८१) राजस्थानी पेटी गजराती पेटी पेटो तथा ब्रजभाषा में पिटारी पेनी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हेमचन्द्र की शब्दावली देशीभाषा की ओर विशेष झुकी हुई है।

अभिधानचिन्तामणि एक सर्वांगपूर्ण कोश है। इसके अध्ययन से संस्कृत भाषा के पाण्डित्य के साथ-साथ भाषा के नये और भी जानकारी भी प्राप्त हो सकती है।

अनेकार्थसंग्रहनामकोश —

अभिधानचिन्तामणि में हेमचन्द्र ने एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द बतलाये हैं और इस कोश में एक शब्द के अनेक अर्थों का संकलन किया है। इसकी शैली भी अभिधान चिन्तामणि की ही है। इसमें सात काण्ड हैं। प्रथम एकस्वर काण्ड में १६ श्लोक द्वितीय द्विस्वर काण्ड में ६ ८।। श्लोक तृतीय त्रिस्वर काण्ड में ८१४।। श्लोक चतुर्थ चतुःस्वरकाण्ड में

देशी नाममाला में मराठी[1] कन्नड़[2] गुजराती और ब्रजभाषा में प्रचलित अनेक शब्द मिलते हैं। अवधी भाषा में भी नाममाला में प्रयुक्त अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। यहाँ थोड़े से शब्दों की तालिका दी जा रही है।

(१) उल्ली तथा उद्दाणा चुल्लीह १।८७—राजस्थानी चूल्हा गुजराती चूलो।
(२) उत्थल्ला परिवर्तनम् १।९९—हिन्दी खड़ी बोली उथल गुजराती उथल।
(३) उम्मर्ट मिथ्या १।७९—ब्रजभाषा उकट राजस्थानी उमर्टुं, गुजराती उमर्टुं।
(४) उडिदोमाषधान्यम् १।९८ ब्रजभाषा उड़द भोजपुरी उरिद, खड़ीबोली उड़द गुजराती उड़द और राजस्थानी उडिद।
(५) ओड्ढनम् उत्तरीयम् १।१५५, खड़ीबोली राजस्थानी और गुजराती में ओढ़नी।
(६) खड्डा खनि २।६६—खड़ीबोली खाड़ी भोजपुरी खड्डा गुजराती खाड़ी ब्रजभाषा खड्डा गड्ढा।
(७) खडक्की लघुद्वारम् २।७१—खड़ीबोली खिड़की ब्रजभाषा खिड़की भोजपुरी खिरकी।
(८) खट्टिक्को सौनिकः २।७ —ब्रजभाषा में खटिक भोजपुरी में खाटके गुजराती में खाटकी।
(९) खाइया परिखा २।७३—खड़ीबोली में खाई, राजस्थानी गुजराती और भोजपुरी में भी खाई प्रयुक्त होता है।
(१०) खल्लम रिक्तं २।७१—खाली—भोजपुरी ब्रजभाषा राजस्थानी और गुजराती में इसी अर्थ में प्रयुक्त है।
(११) छछिआ छल्लो छप्पण्णो—एते यमो अपि विदग्धार्थाः ३।२४—ब्रजभाषा में छछिआ बोलचाल के अर्थ में भोजपुरी में उस प्रेमी के अर्थ में जो प्रेमिका की वंचना करता है।
(१२) छल्लीस्चक ३।२४ खड़ीबोली में छाल।
(१३) छटा विद्युत् ३।२४—खड़ीबोली में छटा राजस्थानी में छटा।
(१४) छासी तक्रम् ३।२६—ब्रजभाषा भोजपुरी और खड़ीबोली में छाछ।
(१५) छेंडी लघुरथ्या ३।३१—ब्रजभाषा में छेंडी शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।
(१६) छक्की छाग ३।३२—भोजपुरी और ब्रजभाषा में छेर।
(१७) जोण्णलिआ जोआरी ३।५०—ब्रजभाषा में जुआरी जुनरी राजस्थानी और भोजपुरी में भी जुणरी और जुनरी प्रयुक्त होते हैं।
(१८) झडी निरन्तर वृष्टिः ३।५३—ब्रजभाषा राजस्थानी और भोजपुरी इन तीनों भाषाओं में झड़ी शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।
(१९) डालीशाखा ४।९—खड़ीबोली ब्रजभाषा राजस्थानी और गुजराती में डाली शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।
(२०) डोला शिबिका—४।११ खड़ीबोली राजस्थानी और गुजराती में भी इसी अर्थ में डोला।
(२१) ढेंका कूपतुला ४।१७ भोजपुरी में इसी अर्थ में ढेंका।
(२२) ढेंकी बलाका ४।१५ भोजपुरी में धान कूटने के लिये प्रयुक्त ढेंकी।
(२३) णहरी छुरिका ४।२ ब्रजभाषा में नाखून काटनेवाली नहनी भोजपुरी में नहरनी और खड़ीबोली में नहरनी।
(२४) णीसणिआ नि श्रेणी। क प्रत्ययाभावे णीसणीत्यपि ४।४१—ब्रजभाषा में नसेनी शब्द इसी अर्थ में आया है।

कुछ ऐसे शब्द भी इस कोश में हैं, जिनके समकक्ष अन्य किसी भाषा में उन अर्थों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द नहीं मिलेंगे। उदाहरण के लिये चिच्चो (११९) शब्द चिपटी या चपटी नाक के लिये अज्जोली (११०) शब्द दूध देनेवाली गाय के लिए अगा (११४) गोचरभूमि (Pasture land) के लिये अण्णाय (११७) शब्द विवाह के समय वरपक्ष की ओर से वधू को दी जानेवाली भेंट के लिये अमुट्ठी (११६) शब्द सिरपुल्पी के लिये और 'अनुवज्जिअ' शब्द जिसकी सेवा शुश्रूषा की जाती है, उसके लिये आया है। प्राकृत भाषा के साथ अन्य प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के शब्दों का अध्ययन करने के लिये यह कोश बहुत उपयोगी है। अंगालिय शब्द ईख के उस टुकड़े के अर्थ में आया है जो निस्सार रहता है। जहाँ ईख की पत्तियाँ लगी रहती हैं यह हिस्सा पशुओं के चारे के काम में आता है। इस अंगालिय शब्द से राजस्थानी और भोजपुरी इन दोनों बोलियों में अगोला या अँगरी शब्द आया है। इस शब्द का अर्थ भी वही है, जो अंगालिय का है। हिन्दी के अनेक शब्द जिनकी व्युत्पत्ति आज सन्दिग्ध है, इस देशी नाममाला के शब्दों से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

विश्वलोचनकोश —

श्रीधरसेन ने इस कोश की रचना की है। इसका दूसरा नाम मुक्तावलिकोश भी है। कोश की प्रशस्ति[४३] के अनुसार इनके गुरु का नाम मुनिसेन था ये सेन संघ के आचार्य थे। इन्हें कवि और नैयायिक कहा गया है। श्रीधरसेन नाना शास्त्रों के पारगामी और बड़े-बड़े राजाओं द्वारा मान्य थे। सुन्दर गणि ने अपने धातुरत्नाकर में विश्वलोचनकोश के उद्धरण दिये[४४] हैं और धातु रत्नाकर का रचनाकाल ई० १६२४ है, अतः श्रीधरसेन का समय ई० १६२४ के पहले अवश्य है। विश्वलोचनकोश पर रंगनाथ[४५] ने ई० १६५६ में टीका लिखी है। इस टीका में विश्वलोचनकोश का उल्लेख किया गया है। अतः यह सत्य है कि विश्वलोचन की रचना १६ वी शताब्दी के पूर्व हुई होगी। शैली की दृष्टि से विश्वलोचनकोश पर हम विश्वप्रकाश और मेदिनी इन तीनों कोशों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विश्वप्रकाश का रचनाकाल ई० ११ ५ मेदिनी का समय इसके कुछ वर्ष पश्चात् अर्थात् १२ वी शती का उत्तरार्ध और हेम का १२ वी शती का उत्तरार्ध है। अतः विश्वलोचन कोश का समय १३ वी शती का उत्तरार्ध या १४ वी का पूर्वार्ध मानना उचित होगा[४६]।

इस कोश में २४५३ श्लोक है। स्वरवर्ण और ककार आदि के वर्णक्रम से शब्दों का संकलन किया गया है। इस ग्रन्थ की विशेषता के संबन्ध में इसके संपादक श्री नन्दलाल शर्मा ने लिखा है' 'संस्कृत में कई नानार्थ-कोश हैं, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं कोई भी इतना बड़ा और इतने अधिक अर्थों को बतलाने वाला नहीं है। इसमें एक-एक शब्द को जितने अर्थों का वाचक बतलाया है, दूसरों में प्रायः इससे कम ही बतलाया है। उदाहरण के लिये एक 'रचक' शब्द को लीजिये—जहाँ अमर में इसके चार व मेदिनी में दस अर्थ बतलाये गये हैं वहाँ इसमें १२ अर्थ बतलाये गए हैं, यही इस कोश की विशेषता है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध कोश साहित्य के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थों की सूचना मिलती है जिनकी प्रतियाँ समक्ष न होने के कारण साधारण परिचय ही दिया जा सकता है।

एकाक्षर-नाममाला नाम की चार रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक कृति के रचयिता जिनदत्त सूरि के शिष्य अमरचन्द्र हैं इसमें एक-एक अक्षर का वर्णमाला क्रम से अर्थ बतलाया गया है। दूसरी विश्वशम्भु द्वारा ११५ पद्यों में रचित है। तीसरी कृति राजशेखर के शिष्य सुधाकलश द्वारा रचित है। इसमें केवल ५ पद्य हैं। वर्णमाला क्रम से एक-एक वर्ण का पृथक् पृथक् अर्थ बतलाया गया है। चौथी कृति धनञ्जय की नाममाला के अमरकीर्ति कृत भाष्य के साथ प्रकाशित है। इसमें कुल १९ श्लोक हैं। रचना साधारण है स्वरविशिष्ट एक-एक अक्षर का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है। यथा—"धं शुभे साधु शोभाया धी शयने धू निशाकरे" अर्थात् 'ध' शुभार्थ 'धा' शोभार्थ में 'धी' शयन अर्थ में और 'धू' चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इन कोशों के अतिरिक्त पुरुषोत्तम देव कृत त्रिकाण्डशेष हारावली और एकाक्षरकोश के भी उल्लेख मिलते हैं। ये रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।

राजचन्द्र का देश्यनिदेश-निघण्टु और विमलसूरि का देश्यशब्द-समुच्चय भी महत्त्वपूर्ण है। सं० १६४ में विमलसूरि ने देशीनाममाला के शब्दों का सार लेकर अकारादिक्रम से 'देश्यनिदेश-निघण्टु' की रचना की है। पुण्यरत्नसूरि का द्व्यक्षरकोश असगकवि का नानार्थकोश रामचन्द्र का नानार्थसंग्रह एवं हर्षकीर्ति की नाममाला की गणना भी उपयोगी कोशों में की जा सकती है। तपागच्छ के आचार्य सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र ने नामसंग्रहकोश की रचना की है। हर्षकीर्ति सूरि की लघुनाममाला भी भाषा और साहित्य के अध्येताओं के लिये उपयोगी है।

शब्दप्रभेद नाममाला या शब्दभेद प्रकाश की रचना वैद्यधर्मावलम्बी महेश्वर ने की है। इस कोश का नाम "विश्वप्रकाश" भी है। इसकी वृत्ति सं० १६५४ में जिनविमल ने लिखी है। यह खरतरगच्छ के आचार्य भानुचन्द्र के शिष्य थे। साधुकीर्ति उपाध्याय के शिष्य साधु सुन्दरगणि ने शब्द रत्नाकर की रचना की है। इस कोश में छः काण्ड और १ ११ श्लोक हैं। अभिधानचिन्तामणि के पूरक के रूप में संवत् १४३३ में जिनदेव सूरि ने शिलोञ्छ-नाममाला की रचना १४ पद्यों में की है। इस रचना में अनेक प्रचलित शब्दों का संकलन किया गया है जिनका अस्तित्व आज भी कोषभाषाओं की शब्दावली में मिलता है।

धर्मभित्र के नाम से एक निघण्टु की रचना भी मिलती है। अनेकार्थ नाम के एक कोश की सूचना मलयपराजय के कर्ता के नाम पर भी उपलब्ध होती है। इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अमरकोश की कई जैन टीकाएं भी उपलब्ध हैं। आशाधरकी अमरकोश की क्रियाकलाप टीका महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत और प्राकृत भाषा के कोशों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने कन्नड़ हिन्दी आदि भाषाओं में भी कोशों की रचना की है। कवि बनारसी दास ने संवत १६७० में विजयादशमी के दिन अपने मित्र नरोत्तमदास के अनुरोध से हिन्दी नाममाला की रचना की है। इस रचना का आधार महाकवि धनंजय की नाममाला है। पर इतना सत्य है कि यह नाममाला का पद्यबद्ध अनुवाद नहीं है। कवि ने अन्य कोश ग्रन्थों का अध्ययन कर इसे सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। इस नाममाला में १५ विषयों के नामों का सुन्दर संकलन किया गया है। उदाहरण के लिये दर्शन ज्ञान और चरित्र के नाम उद्धृत किये जाते हैं।

दर्शन के पर्यायवाची— दरस विलोकनि देखनौं अवलोकनि दृगचाल।
सगुन दृष्टि निरखन जुवसि चितवनि चाहहिं भाल ॥४७॥

ज्ञान के पर्यायवाची— ज्ञान बोध अवगम मनन जगत भान जगजान।

चारित्र के पर्यायवाची— संयम चारित आचरन चरवृत्त थिरवान ॥४८॥

इस रचना में कुल १७५ पद्य हैं। हिन्दी के अभ्यासियों के लिये इसका अध्ययन अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा।

जैनशब्दकोश-साहित्य की उपलब्धियाँ –

जैनाचार्यों ने संस्कृत प्राकृत कन्नड़ हिन्दी प्रभृति विभिन्न भाषाओं में पर्यायवाची एवं अनेकार्थवाची कोशों की रचना कर उक्त भाषाओं के अध्ययन मार्ग को सुगम बनाया है। प्राकृत और देशी भाषाओं के कोश तो एकमात्र जैनाचार्यों के ही हैं। कोश लिखने की परम्परा अब तक जैनों में चली आ रही है। इस शताब्दी में भी शतावधानी मुनि रत्नचन्द्रजी ने पाँच भागों में अर्धमागधी कोश और जैनागम शब्दसंग्रह-अर्धमागधी गुजराती कोश की रचना की है। श्री राजेन्द्रसूरि का अभिधान-राजेन्द्र नाम का बृहत्काय कोश सात बड़ी-बड़ी जिल्दों में पूर्ण हुआ है। इस कोश द्वारा जैनागम के पारिभाषिक शब्दों एवं अन्य बातों की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है। स्व. सेठ गोविन्ददास का 'पाइअ सद्द महण्णवो' तो प्राकृत भाषा के विद्यार्थी और विद्वान् दोनों के लिये अत्यधिक उपयोगी है तथा अपनी इसी उपयोगिता के कारण विद्वानों का कण्ठहार बना हुआ है।

बी. एल. जैतन्य और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद ने बृहत् जैन-शब्दार्णव नाम के कोश ग्रन्थ की रचना हिन्दी भाषा में की है। यह पारिभाषिक शब्दों की जानकारी के लिये बहुत उपयोगी है। इस कोश के केवल दो ही भाग प्रकाशित हो सके हैं। संक्षेप में जैन-कोशसाहित्य की निम्न उपलब्धियाँ हैं—

१—जैन पारिभाषिक और आम्नाय सम्मत शब्दावली की जानकारी।
२—प्राकृत और देशीभाषा के शब्दों का अर्थबोध।
३—जैन परम्परा की पौराणिक धार्मिक एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं के विवरण।
४—नानार्थक कोशों द्वारा अनेकार्थ साहित्य के सृजन की प्रेरणा।
५—कोशों के भाष्य और वृत्तियों में प्रतिपादित व्युत्पत्तियों के द्वारा शब्दों के सांस्कृतिक इतिहास का संकेत।
६—भाषा की नयी और पुरानी प्रवृत्तियों का चयन कर तत्-तत् समय में बोलने वालों के मनोविश्लेषण की सामग्री उपस्थित करना।
७—शब्द तथा पदों के अनेकार्थों द्वारा अर्थपरिवर्तनों को उपस्थित कर भाषा विज्ञान के अध्ययन की सामग्री रखना।
८—कोश साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा का ज्ञान प्राप्त करना और परस्पर के आदानों का अध्ययन एवं विश्लेषण।
९—शब्द सम्पत्ति की मनोरंजक जानकारी।

संदर्भ तालिका

१—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८ किरण १ पृ. २२।
२—षट्खण्डागम के प्रथम भाग की प्रस्तावना पृ. ६२।
३—विशेष विचार के लिये देखें—नाममाला सभाष्य की प्रस्तावना पृ. ११।
४—सभाष्य नाममाला पृ. २१।

विश्वलोचनकोश —

श्रीधरसेन ने इस कोश की रचना की है। इसका दूसरा नाम मुक्तावलिकोश भी है। कोश की प्रशस्ति[*] के अनुसार इनके गुरु का नाम मुनिसेन था ये सेन संघ के आचार्य थे। इन्हें कवि और नैयायिक कहा गया है। श्रीधरसेन नाना शास्त्रों के पारगामी और बड़े-बड़े राजाओं द्वारा मान्य थे। सुन्दर गणि ने अपने धातुरत्नाकर में विश्वलोचनकोश के उद्धरण दिये[*] हैं और धातु रत्नाकर का रचनाकाल ई० १६२४ है, अतः श्रीधरसेन का समय ई० १६२४ के पहले अवश्य है। शिशुपालवधीय पर रंगनाथ[*] ने ई० १६५६ में टीका लिखी है। इस टीका में विश्वलोचनकोश का उल्लेख किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि विश्वलोचन की रचना १६ वीं शताब्दी के पूर्व हुई होगी। शैली की दृष्टि से विश्वलोचनकोश पर हैम विश्वप्रकाश और मेदिनी इन तीनों कोशों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विश्वप्रकाश का रचनाकाल ई० ११ ५, मेदिनी का समय इसके कुछ वर्ष पश्चात् अर्थात् १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध और हेम का १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। अतः विश्वलोचन कोश का समय १३ वीं शती का उत्तरार्द्ध या १४ वीं का पूर्वार्द्ध मानना उचित होगा[*]।

इस कोश में २४५३ श्लोक हैं। स्वरवर्ण और ककार आदि के वर्णक्रम से शब्दों का संकलन किया गया है। इस कोश की विशेषता के संबंध में इसके संपादक श्री नन्दलाल शर्मा ने लिखा है[*] "संस्कृत में कई नानार्थ-कोश हैं परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं कोई भी इतना बड़ा और इतने अधिक अर्थों को बतलाने वाला नहीं है। इसमें एक-एक शब्द को जितने अर्थों का वाचक बतलाया है, दूसरों में प्रायः इससे कम ही बतलाया है। उदाहरण के लिये एक रुचक शब्द को लीजिये—जहाँ अमर में इसके चार व मेदिनी में दश अर्थ बतलाये गये हैं वहाँ इसमें १२ अर्थ बतलाये गए हैं, यही इस कोश की विशेषता है

उपर्युक्त प्रसिद्ध कोश साहित्य के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थों की सूचना मिलती है जिनकी प्रतियाँ समक्ष न होने के कारण साधारण परिचय ही दिया जा सकता है।

एकाक्षर-नाममाला नाम की चार रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक कृति के रचयिता जिनदत्त सूरि के शिष्य अमरचन्द्र हैं, इसमें एक-एक अक्षर का वर्णमाला क्रम से अर्थ बतलाया गया है। दूसरी विश्वशम्भु द्वारा ११५ पद्यों में रचित है। तीसरी कृति राजशेखर के शिष्य सुधाकलश द्वारा रचित है। इसमें केवल ५ पद्य हैं। वर्णमाला क्रम से एक-एक वर्ण का पृथक् पृथक् अर्थ बतलाया गया है। चौथी कृति धनंजय की नाममाला के अमरकीर्ति कृत भाष्य के साथ प्रकाशित है। इसमें कुल १९ श्लोक हैं। रचना साधारण है स्वरविशिष्ट एक-एक अक्षर का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है। यथा— 'धं धुमे धातु शोभायां धी धमने धू निशाकरे' अर्थात् 'ध' धुमार्थ 'धा' शोभार्थ में 'धी' धमन अर्थ में और 'धू' चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इन कोशों के अतिरिक्त पुरुषोत्तम देव कृत त्रिकाण्डशेष हारावली और एकाक्षरकोश के भी उल्लेख मिलते हैं। ये रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।

राजचन्द्र का देश्यनिदेश-निघण्टु और विमलसूरि का देश्यशब्द-समुच्चय भी महत्वपूर्ण है। सं० ११४ में विमलसूरि ने देशीनाममाला के शब्दों का सार लेकर अकारादिक्रम से 'देश्यनिदेश-निघण्टु' की रचना की है। पुण्यरत्नसूरि का द्व्यक्षरकोश असगकवि का नानार्थकोश रामचन्द्र का नानार्थसंग्रह एवं हर्षकीर्ति की नाममाला की गणना भी उपयोगी कोशों में की जा सकती है। तपागच्छ के आचार्य सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र ने नामसंग्रहकोश की रचना की है। हर्षकीर्ति सूरि की लघुनाममाला भी भाषा और साहित्य के अभ्यासियों के लिये उपयोगी है।

शब्दप्रभेद नाममाला या शब्दभेद प्रकाश की रचना वैद्यधर्मावलम्बी महेश्वर ने की है। इस कोश का नाम "विश्व प्रकाश" भी है। इसकी वृत्ति सं० १६५४ में जिनविमल ने लिखी है। यह खरतरगच्छ के आचार्य भानुमेरु के शिष्य थे। साधुकीर्ति उपाध्याय के शिष्य साधु सुन्दरगणि ने शब्द रत्नाकर की रचना की है। इस कोश में छ काण्ड और १ ११ श्लोक हैं। अभिधानचिन्तामणि के पूरक के रूप में संवत् १४३३ में जिनदेव सूरि ने शिलोञ्छ-नाममाला की रचना १४ पद्यों में की है। इस रचना में अनेक प्रचलित शब्दों का संकलन किया गया है, जिनका अस्तित्व आज भी लोकभाषाओं की शब्दावली में मिलता है।

धनमित्र के नाम से एक निघण्टु की रचना भी मिलती है। अनेकार्थ नाम के एक कोश की सूचना महाराजाजय के कर्ता के नाम पर भी उपलब्ध होती है। इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अमरकोश की कई जैन टीकाएं भी उपलब्ध हैं। आशाधरजी की अमरकोश की क्रियाकलाप टीका महत्वपूर्ण है।

जैन अलंकार साहित्य

(डॉ० पं० अमृतलाल शास्त्री प्रो० जैनदर्शन सं० वि० वि वाराणसी)

भारतीय साहित्य में अलंकार शास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस में भी अलकारो का प्रयोग[1] प्रचुर मात्रा में मिलता है। अलंकार संक्षेप में दो प्रकार के होते हैं—शब्दालकार और अर्थालंकार। यमक और अनुप्रास आदि शब्दालंकार हैं और उपमा आदि अर्थालंकार। ऋग्वेद में दोनों प्रकार के अलंकारों का उपयोग किया गया है। "अभ्रातेव——— इत्यादि मन्त्र में यास्क ने चार उपमाएँ बतलाई हैं। यो अलंकार शास्त्र की रचना बाद में हुई, किन्तु भाषा के साथ उसके भूषण -अलंकार का रहना स्वाभाविक है अतः ऋग्वेद में अलंकारों का प्रयोग आश्चर्यजनक नहीं। अनुसंधान किया जाय तो ऋग्वेद के समान उसके बाद के ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्, सूत्र स्मृति पुराण और दर्शन आदि साहित्य में भी अनुप्रास आदि शब्दालंकार व उपमा आदि अर्थालंकार मिल सकते हैं।

प्राचीन साहित्य का अध्ययन कर आचार्य भरत (प्रथम शती ई) ने अपने नाट्यशास्त्र में उपमा रूपक दीपक और यमक इन चार अलंकारों का निरूपण किया है। इनके बाद ईसा की छठी शताब्दी से सत्तरहवीं तक भामह दण्डी वामन उद्भट रुद्रट मम्मट रुय्यक विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों ने अनेक आलंकारिक ग्रन्थो की रचना की है। अबतक कुल सात सौ अलंकार ग्रन्थो का पता अनुसंधान करनेवाले विद्वानो को लग चुका है जिनमें अकबर शाह शाहि शृंगार दर्पण अलंकार कौमुदी अलंकार कौस्तुभ अलंकार प्रदीप अलंकार मंजूषा अलकार मणिहार, अलकार महोदधि अलंकार मुक्तावलि अलंकार रत्नाकर, अलंकार शेखर, अलकार संग्रह अलकार सर्वस्व अलकार सारमंजरी अलंकार सूत्र अलंकृतिममिमांसा उज्ज्वल नीलमणि कण्ठभूषण कविकल्पलता काव्यदर्पण काव्यदीपिका काव्यनिर्णय काव्यपरीक्षा काव्यालंकार, काव्यमीमांसा काव्यप्रकाश काव्यानुशासन चन्द्रालोक ध्वन्यालोक साहित्यदर्पण नाट्यदर्पण नाट्यशास्त्र अलंकार चिन्तामणि और रसगंगाधर आदि सौ से ऊपर प्रकाशित हो चुके हैं।

उपयोग —

मानव मात्र को शिक्षा देने के लिये साहित्य की रचना की गई है। किन्तु साहित्य का मर्म हर एक मनुष्य नहीं जान सकता। इसी साहित्यिक मर्म को जानने के लिये अलंकार शास्त्र का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। श्री राजशेखर ने लिखा है—शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छंदोविचिति और ज्योतिष ये वेद के छ अंग हैं। उपकारक होने से अलकार शास्त्र उसका सातवा अंग है। बिना अलंकार समझे वेदों का अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता। जैसे 'सुन्दर पत्तोंवाले एक साथ रहने वाले और परस्पर मित्रता रखन वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। दोनों में से एक स्वादयुक्त फलो को खाता है और दूसरा बिना कुछ खाये ही प्रकाशमान रहता है। इस ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ अतिशयोक्ति अलंकार का स्वरूप समझे बिना ज्ञात नहीं हो सकता। जहाँ उपमेय की चर्चा किये बिना उपमान की चर्चा होती है वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता

---

१ यमक—अवन्मनो भरते केत वेदा अवरमनो भरते फेनमुदम् ॥ (ऋ १।१ ४।३ पृ ११५ पूना प्रकाशन)
अनुप्रास—इन्द्र पिब मरुत्वामुत्सते भव स्वादो स्वादीयो स्वाय ॥ (ऋ १।११४।६ पृष्ठ ७ ४ पूना प्रकाशन)
उपमा—अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची (ऋ १।१२४।७ पृ ७८८, पू प्रकाशन)
२ "शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचिति ज्योतिषं च षडंगानि"—
इत्याचार्याः। "उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गम्" इति यायावरीयः ॥ (का मी अ० २)
ऋतेच तत्स्वरूप परिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—
"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋ १।१६४।२ पृ ९९ पूना प्रकाशन)

५—वही पृ १८।
६-७—वही पृ २ ।
८—वही पृ ११।
९—अमरकोष में भी वृत्न के लिये फेरा शब्द मिलता है।
१०—देखें—Buhler Life of Hemchandracharya, p 37
११—विशेष के लिये देखें—प्रो मुरलीधर बनर्जी द्वारा सम्पादित देशी नाममाला का Intro p
१२—विशेष के लिये देखें—प्रो मुरलीधर बनर्जी द्वारा सपादित अंग्रेजी नाममाला की प्रस्तावना
१३—Dr P L Vaidya observations on Hemchandra s Desinamamala Anr Inst Vol. VIII Part 1 April 1926
१४—Proof A. N Upadhye "Kanarese words in Desi Texicons Annals of I XII Part III July 1931 p. 260–273 तथा K Amrit Rao, Ind. Ant. Dr in Prakrit vol. XVIII Feb 1957
१५—

जैनान्वये सकलतत्वसमर्पितश्री
श्रीमत्नुनायत कविर्मुनिसेननामा ।
आन्वीक्षिकी सकलशास्त्रमयी च विद्या
यस्याबादपदवी न बभीयसी स्यात ॥
तस्मादभूदखिल वाड्मयपारदृश्वा—
विश्वासपात्रमवनीतलनायकानाम् ।
श्रीश्रीधरः सकलसत्कविधु फ्रितस्व
पीयूषपानकृतनिर्जरभारतीम ॥
तस्यातिशायिनी कवे पथिजागरुक
श्रीलोचनस्य पुरुशासनलोचनस्य ।
नानाकवीन्द्ररचितानभिधानकोषा—
नाकृष्य लोचनमिवायमदीपिकोष ॥—विश्वलोचन निर्णयसागर ब

१६—देखें पिन्सेल द्वारा निर्मित सूची भाग ५ पृ १६२।
१७—प्रो चारदेव शास्त्री द्वारा लिखित विश्वलोचकोश की भूमिका पृ २५।
१८—समय निर्णय के लिये देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ४ किरण १ पृ ९।
१९—विश्वलोचन कोष—भाषाटीकाकार पं नन्दलाल शर्मा
निर्णयसागर प्रेस बम्बई जून १९१२, प्रस्तावना पृ ५।

वाग्भटालंकार में पाँच परिच्छेद हैं जिनमें क्रमश—२७ २९ १७ १५१ और ११ कुल मिलाकर २५० श्लोक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत छोटा है किन्तु इसमें संक्षेप से कवि-शिक्षा दोष गुण अलंकार और रस इन अलंकार शास्त्र में वर्णनीय विषयों पर प्रकाश डाला गया है। 'गागर में सागर' वाली उक्ति को वाग्भट्ट ने इस कृति में पूर्ण रूप से चरितार्थ किया है।

विशेषता —

वाग्भट्ट अलंकार-शास्त्र के मर्मज्ञ थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आलंकारिकों के प्रामाणिक ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन किया था। इन्होंने अपनी कृति में किसी भी ग्रन्थकार का खण्डन-मण्डन नहीं किया। सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि ये समन्वयवादी थे। इसका कुछ आभास इनकी काव्य परिभाषा से लग जाता है —

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥१।२

अर्थात्—सुन्दर शब्द और अर्थ इन दोनों से काव्य के शरीर का निर्माण होता है। काव्य का शरीर गुण और अलंकारों से विभूषित होता है। काव्यशरीर में रीति और रस का पुट रहता है। इसका निर्माण कीर्ति की कामना से करना चाहिए।

वाग्भट के पूर्ववर्ती विद्वानों में दण्डी ने अपने काव्यादर्श में केवल शब्द को ही काव्य बतलाया था—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श १–१ ।

भामह ने अपने भामहालंकार में शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना था —

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्————————————१।१६

भामह[1] दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। दण्डी को भामह का मत मान्य प्रतीत नहीं हुआ। दण्डी का अभिप्राय यह था कि शब्द के साथ अर्थ तो रहता ही है अतः शब्द के साथ अर्थ जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु दण्डी के बाद के विद्वानों ने दण्डी के मत को न मानकर भामह के ही मत को स्वीकार किया।

वामनाचार्य ने लिखा है—गुण और अलंकारों से विभूषित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं —

"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते" —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।१।१

इसी तरह रुद्रट ने भी शब्दार्थ को काव्य बतलाया है — ननु शब्दार्थौ काव्यम् ... । —काव्यालंकार २।१

इसके बाद वाग्देवतावतार श्री मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में लिखा है—निर्दोष सगुण और सालंकार तथा कहीं निरलंकार (जहाँ रस आदि की सत्ता हो) शब्दार्थ को काव्य कहते हैं —

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश १।१

इस तरह काव्य के स्वरूप-निरूपण से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों की दो तरह की विचार धाराएँ थीं।

श्री वाग्भट ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मत का सूक्ष्म अध्ययन कर प्रामाणिक विचारधारा को अपनाया। इसी तरह कुछ विद्वान् 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को काव्य की आत्मा बतलाते हैं और कुछ विद्वान् "रस एवात्रजीवितम्" लिखकर काव्य की आत्मा रस को बतलाते हैं एवं वक्रोक्ति जीवितकार ने "वक्रोक्ति काव्य जीवितम्" लिखकर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा बतलाया है। वाग्भट ने काव्य में रीति रस और वक्रोक्ति इन सभी को यथायोग्य स्थान देकर अपनी समन्वयवादिनी बुद्धि का समुचित उपयोग किया। वाग्भट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है न कि काव्यात्मा—

चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासौ यमकं ध्वन्यलंक्रियाः —वाग्भटालंकार ४।२

चित्र वक्रोक्ति अनुप्रास और यमक ये चार शब्दालंकार हैं।

जिन विषयों पर अन्य आलंकारिकों ने प्रकाश डाला है उन्हीं पर वाग्भट ने अपने ढंग से नूतन प्रकाश डालकर अपनी मौलिक बुद्धि का परिचय दिया है।

अन्य आलंकारिकों ने प्रतिभा को काव्य का हेतु बतलाया है किन्तु यह किसी ने नहीं बतलाया कि अभिनवकवि का अर्थ कैसे सूझे। या अभिनवकवि के काव्य के लिए भी प्रतिभा ही हेतु है। किन्तु अभिनव होने के कारण उसे कुछ विशेष साधनों की

---

[1] दण्डी ने अर्थ को अप्रधान माना है आवश्यक नहीं। पण्डितराज जगन्नाथ ने दण्डी का मत मान्य किया है और बहुत बलवान् युक्तियों के सहारे केवल 'शब्द' को ही काव्य का शरीर माना है।—सम्पादक

आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक है। इसीलिये वाग्भट लिखते हैं—काव्य-निर्माण उस समय करे, जब चित्त प्रसन्न हो? चित्त प्रसन्न होने पर भी हर समय कविता उतनी अच्छी नहीं बन सकती जितनी प्रभात के समय। अतः मन की प्रसन्नता के होने पर प्रभात के समय कविता के योग्य अर्थ आसानी से सूझता है। पर चित्त की प्रसन्नता और प्रभात की मंगल बेला के साथ उद्योग भी करना चाहिए। किन्तु उद्योग भी तभी सफल हो सकता है जब अनेक शास्त्रों का परिशीलन किया हो। यही सब सोचकर वाग्भट ने काव्य के योग्य अर्थ की सूझ के लिये प्रतिभा के साथ चित्त की प्रसन्नता प्रभात का समय प्रयत्न और अनेक शास्त्रों के परिशीलन को आवश्यक बतलाया है।[1]

मनः प्रसत्तिः प्रतिभा प्रातःकालोऽभियोगिता।
अनेकशास्त्रबहुलत्वमित्यर्थालोकहेतवः ॥ —वाग्भट १।१४

इसी तरह आरम्भ से अन्त तक वाग्भट के ग्रंथ में उनकी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय मिलता है।

वाग्भट ने पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण देकर एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण याद करने वाले छात्रों को बड़ी सरलता कर दी है। जैसे—

अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलंघनम्।
भुक्त्वा स्नातो गुरून् देवांश्च वन्दते ॥ —वाग्भटालंकार २।२२

जहाँ लौकिक या शास्त्रीय क्रम का उल्लंघन हो वहाँ अपक्रम नामक दोष होता है। जैसे यह सबसे पहले भोजन करता है, फिर स्नान करता है। स्नान के बाद गुरु-वन्दना करता है और इसके बाद में देव-वन्दना। यहाँ लौकिक और शास्त्रीय दोनों क्रमों का उल्लंघन किया गया है, अतः अपक्रम दोष है।

मल्लिनाथ ने रघुवंश आदि ग्रन्थों की टीकाओं में यत्र-तत्र वाग्भट के श्लोक उद्धृत किये हैं। अलंकार चिन्तामणिकार श्री अजितसेन ने अपने ग्रन्थ में अनेक जगह वाग्भट के श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे वाग्भट का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

वाग्भट ने अन्य आलंकारिकों के समान अन्य ग्रन्थों से उदाहरण नहीं लिये बल्कि स्वयं ही बनाये हैं। हाँ कहीं-कहीं नेमि-निर्वाण महाकाव्य के उदाहरण अवश्य लिये हैं खासकर यमक के प्रकरण में।

काव्यानुशासन —

काव्यानुशासन के प्रणेता आचार्य हेमचन्द्र (११वीं-१२ वीं शती ई०) हैं। ये जैन-समाज के ही नहीं बल्कि भारतीय समाज के भूषण थे। न्याय व्याकरण साहित्य छन्द अलंकार, पुराण और कोष आदि सभी विषयों पर इन का समान अधिकार था और सभी विषयों पर इन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने कुल मिलाकर साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना की है। इनके साहित्य में निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं —

प्रमाणमीमांसा सिद्ध हेमशब्दानुशासन द्वयाश्रयमहाकाव्य छन्दोनुशासन काव्यानुशासन त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र *अभिधानचिन्तामणि अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला वीतरागस्तोत्र और योगशास्त्र आदि।*

वाग्भट ने भामह दण्डी और रुद्रट की तरह अपना वाग्भटालंकार श्लोकों में लिखा था किन्तु हेमचन्द्र ने अपना ग्रन्थ-काव्यानुशासन वामन की तरह सूत्र-शैली में लिखा। काव्यानुशासन में आठ अध्याय हैं, जिनमें कुल मिलाकर २०८ सूत्र हैं। सूत्रों में अलंकार शास्त्र सम्बन्धी-कविशिक्षा अलंकार, रस ध्वनि गुण दोष और साथ ही नाट्कीय तत्त्वों पर विशद प्रकाश डाला है। अपने सूत्रों पर अलंकार चूड़ामणि नामक वृत्ति और विशेष बातों को समझाने के लिये "विवेक" की रचना भी स्वयं हेमचन्द्र ने की है। अलंकार आदि सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए 'विवेक' में ९ से ऊपर तथा 'अलंकारचूड़ामणि' में ७ से ऊपर पद्य उद्धृत किये हैं। उदाहरणों का चयन हेमचन्द्र ने निष्पक्ष दृष्टि से किया है। इसीलिए काव्यानुशासन में हेमचन्द्राचार्य ने जैन-ग्रन्थों के साथ जैनेतर ग्रन्थों से भी उदाहरण लिये हैं।

विशेषता —

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में काव्य प्रकाश ध्वन्यालोक और काव्यमीमांसा आदि ग्रंथों से अधिक विषय

१—इनके पूर्ववर्ती माघ और राजशेखर ने भी यह बात कही है। —सम्पादक

का प्रतिपादन किया है। इनकी दृष्टि से जो कमी पूर्ववर्ती साहित्य में रह गयी थी उसे इन्होंने काव्यानुशासन में पूरा कर दिया। काव्यप्रकाश में मम्मट ने नाटकीय तत्त्वों पर तनिक भी प्रकाश नहीं डाला जब कि हेमचन्द्र ने इसके लिये काव्यानुशासन में एक पूरा का पूरा (अन्तिम) अध्याय लिखा। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश से अधिक विषयों का निरूपण किया है। ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धन ने ९ वी सदी में सबसे पहले ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह इनके महान शास्त्रीय चिन्तन का परिणाम था। किन्तु महिमभट्ट आदि कुछ विद्वानों ने ध्वनिसिद्धान्त का जोरदार खण्डन किया और यह बतलाया कि व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं। रस का ज्ञान व्यंजना से नहीं अनुमान से होता है। ११ वी सदी में आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश लिखकर महिमभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन कर आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का मण्डन किया। मम्मट के अव्यवहित उत्तरकाल में आचार्य हेमचन्द्र ने महिमभट्ट का खण्डन कर ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया। फिर तो ध्वनिसिद्धान्त का खूब ही प्रचार बढ़ा।

ध्वनि के प्रकरण में आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं जो ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश आदि विशिष्ट ग्रन्थों में भी नहीं मिलते। जैसे—

बहलतमा हमराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णं।

तह जग्गिसु सअज्जिय न जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥ —काव्यानु पृष्ठ १६ (निर्णयसा प्रका)

एक नायिका—जिसका पति प्रवास में है और घर बिलकुल सूना है—रात्रि के समय अपने पड़ोसी से कह रही है —

आज की रात्रि बहुत दुःखदायिनी है क्योंकि चारों ओर अंधेरा छाया हुआ है, पतिदेव बाहर गये हैं और घर सूना है। इसलिये हे पड़ोसी आज जागते रहना जिससे हमारी और तुम्हारी चोरी न हो जाय। इस विधिवाक्य से अन्य विधि व्यंग है—तुम निर्भय होकर मेरे पास आ जाओ।[1]

कहीं वाच्य से—जो न तो विधि परक हो और न निषेध परक—निषेध सूचक व्यंग्य निकलता है। जैसे—

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम।

गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ॥

—काव्यानु पृष्ठ १७ (निर्णयसा प्रका)

प्रवास के लिये उद्यत हुए पति को रोकने के लिये पत्नी कह रही है —

हे कान्त! मुझे अपने जीवन में जितनी आसक्ति है उतनी धन में नहीं—मुझे धन से जीवन प्यारा है। (अतः मैं जीवन देकर धन लेना पसन्द नहीं कर सकती)। अब आप जाइये या ठहरिये मैंने अपनी अवस्था आपको बतला दी है। (तुम्हारे बिना मेरा जीवित रहना कठिन है)।

यहाँ पति के जाने या न जाने का विधान नहीं किया गया है। वाच्यार्थ से हाँ या ना दोनों में से किसी एक का भी बोध नहीं होता किन्तु व्यंग्य रूप से यह प्रतीत हो रहा है कि पत्नी अपने पति को रोकना चाहती है। आपको मेरा उतना खयाल नहीं जितना माया का यह भाव प्रकट करने के लिये पति को "कान्त" पद से सम्बोधित किया गया है। इत्यादि सैकड़ों ऐसे उदाहरण हैं जिनसे हेमचन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। अलंकारचूडामणि और विवेक से विभूषित होकर काव्यानुशासन काव्यप्रकाश से अधिक महत्त्वशाली हो गया है। काव्यप्रकाश से साहित्यदर्पण का प्रचार अधिक हुआ है। इसके दो कारण हैं—(१) काव्यप्रकाश की भाषा से साहित्यदर्पण की भाषा सरल है और (२) काव्यप्रकाश में नाटकीय तत्त्वों पर प्रकाश नहीं डाला गया है जबकि साहित्यदर्पण में है। मेरा खयाल है यदि हेमचन्द्र जैन न होते तो काव्यानुशासन का प्रचार काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण से कहीं अधिक होता। समालोचकों का कहना है कि दर्पणकार साहित्यिक मर्म के

---

१ अत्र यथा वयं न मुष्यामहे तथा त्वं जागृहीति विध्यभिधान रात्रिरत्यन्धकारा पतिः प्रोषितः गृहं शून्यम् अतस्त्वमस्मै मत्पार्श्वमागच्छेति विध्यंतरं प्रतीयते। —काव्यानु पृ १६ (निर्णयसा प्रका)

२ अत्र गच्छ वा तिष्ठ वेति अविधिनिषेधे "जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम" इति वचनात् त्वया विनाऽहं जीवितुं न शक्नोमि इत्युपक्षेपेण गमन निषेधः प्रतीयते। —काव्यानुशासन पृष्ठ १८ (निर्णयसागर प्रकाशन)

प्रकाशन में उतने समर्थ नहीं जितने कविता करने में और काव्यप्रकाशकार के बारे में उनका कहना है कि वे शब्दों के प्रयोग में कृपण थे—कम शब्दों में बहुत अर्थ प्रकट करना चाहते थे। यो देखा जाय तो यह मम्मट का गुण है, न कि दोष। आज के समय में जिज्ञासु ग्रन्थ का हृदय थोड़े परिश्रम से ही जानना चाहता है। इस दृष्टि से हेमचन्द्र बहुत सफल हुए हैं। इनका विवेचन प्रामाणिक होने के साथ-साथ सरस भी है।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलकार का नाम 'अन्योक्ति' रखा है—"सामान्यविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्य चोक्तिरन्योक्ति (काव्यानुशासन अध्याय ६ पृष्ठ ३ ७)। हेमचन्द्र के पूर्ववर्तियों में केवल रुद्रट ने इस संज्ञा का उपयोग किया था। भामह वामन आनन्दवर्धन और मम्मट आदि सभी ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' सज्ञा का उपयोग किया था। हेमचन्द्र के बाद के विद्वानो ने भी—'अप्रस्तुत प्रशंसा' सज्ञा का उपयोग किया है किन्तु हिन्दी-साहित्य में प्राय सर्वत्र 'अन्योक्ति' सज्ञा का उपयोग किया गया है। इसी तरह विद्वज्जन काव्यानुशासन का ध्यान से अवलोकन करें, तो और भी ऐसी बहुत सी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होगी।

काव्यकल्पलतावृत्ति —

काव्यकल्पलता की सूत्र-रचना जैनाचार्य श्री अरिसिंह ने की थी और इसकी वृत्ति जैनाचार्य अमरमुनि ने लिखी थी। इन दोनो का समय विद्वानो ने तेरहवी शती निश्चित किया है। ये दोनो ही अपने समय के विशिष्ट विद्वान् थे। इनके अन्य ग्रन्थो का भी विद्वानो ने पता लगाया है। अरिसिंह ने वस्तुपाल की प्रशंसा में 'सुकृत संकीर्तन' महाकाव्य लिखा था और अमर ने 'जिनेन्द्रचरित' 'स्यादिशब्दसमुच्चय' 'बालभारत' 'द्रौपदीस्वयंवर' 'छन्दो-रत्नावलि' 'काव्यकल्पलता' 'परिमल' और 'अलंकारप्रबोध' आदि ग्रन्थ लिखे थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में चार प्रतान हैं—१ छन्दसिद्धिप्रतान २ शब्दसिद्धिप्रतान ३ श्लेषसिद्धिप्रतान और ४ अर्थसिद्धिप्रतान। प्रत्येक प्रतान में क्रमश पाँच चार, पाँच और सात कुल इक्कीस स्तबक हैं।

कविता निर्माण करने की इसमें सुन्दर विधि बतलाई गई है और साथ में अन्य भी प्रासंगिक विषयों का वर्णन किया गया है। इस विषय में क्षेमेन्द्र जयमगल और हलायुध आदि विद्वानो ने भी ग्रन्थ लिखे किन्तु वे अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण जिज्ञासा शान्त नही कर पाये। प्रस्तुत ग्रन्थ का विद्वद् ससार में खूब ही प्रचार हुआ और चौदहवी शती के ब्राह्मण विद्वान श्री देवेश्वर को यह ग्रन्थ इतना रुचिकर हुआ कि इन्होने इसी का आधार लेकर नवीन 'कवि कल्पलता' की रचना की जिसमें यत्र-तत्र प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का उपयोग किया।

काव्यकल्पलतावृत्ति में कुछ ऐसे विषय हैं जो कवियो के लिये बहुत ही सहायक हैं —

छन्दो के अभ्यास के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखा है कि ककार आदि व्यजनो को भरकर छन्दों का अभ्यास करना चाहिए। ग्यारह अक्षर वाले इन्द्रवज्रा छन्द का अभ्यास करना हो तो उसके लक्षण के अनुसार ककार आदि वर्णों का प्रयोग करें। जैसे—

काका ककाका कक्का कका का की की कि की की किकि की किकीकि।
कुकु कुकक कुकुकु कुकुकु कें क क क क ककक क कं कम् ॥
—काव्यकल्पलतावृत्ति प्रतान १ स्तबक २।

इसी ढग से अन्य छन्दो का भी अभ्यास करना चाहिए। यह विधि बहुत ही सरल है।

छन्दो की पूर्ति के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ में हजारो शब्दो का संग्रह कर दिया गया है, जिनके यथास्थान रख देने से छन्द की पूर्ति सरलता से हो सकती है। जैसे—

अनुष्टुप छन्द बनाना हो तो निम्नलिखित अक्षरो में से कोई भी अक्षर उसके प्रथम अक्षर के लिये उपयोगी है।

श्री स श्रम् प्राक् विधु का नि भाह् पु, उद् तद्।

इसी तरह अन्य छन्दो के लिये भी अनेक प्रकार के शब्दो का सकलन प्रस्तुत ग्रन्थ में है। छन्दो के साथ अलकारो के योग्य शब्दो का भी आश्चर्यजनक संग्रह यहाँ मिलता है। इसी तरह हजारो बातो पर इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है, जो विद्वानो को आश्चर्य में डाल देता है।

चौथे प्रतान के सातवें स्तबक में समस्यापूर्ति का क्रम भी बतलाया गया है—

प्रश्न से भी समस्यापूर्ति हो सकती है। जैसे "मृगात् सिंह पलायते" इस समस्या की पूर्ति—

कस्तूरी जायते कस्मात् ? को हन्ति करिणां कुलम् ?
किं कुर्यात् कातरो युद्धे ? "मृगात् सिंह. पलायते ॥ —काव्यकल्पलता वृत्ति ४।७

प्रस्तुत समस्या की पूर्ति तीन प्रश्नो से की गई है—पहला प्रश्न कस्तूरी किससे होती है ? दूसरा प्रश्न —हाथियो के झुण्ड को कौन मारता है ? तीसरा प्रश्न—युद्ध में कायर क्या करता है ? इन तीनों के क्रमश उत्तर (१) मृग से (मृगात्) (२) सिंह और (३) भाग जाता है (पलायते) ।

'यदि' शब्द के प्रयोग से भी समस्यापूर्ति की जा सकती है—

जैसे—"अग्निस्तुहिनशीतल" इसकी पूर्ति देखिये—

प्रतीच्यां यदि मार्तण्ड समुदेति स्फुरत्कर ।
तदा सजायते 'नूनमग्निस्तुहिन शीतल ॥ —का क ४।७

इसी तरह और भी उपाय बतलाये हैं जिनसे शीघ्र ही समस्यापूर्ति की जा सकती है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय साहित्य का भूषण है । श्री देवेश्वर ने इसी के आधार से 'कविकल्पलता' की रचना की । कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे श्लोक मिलते-जुलते हैं । कुछ श्लोको की तुलना नीचे दी जा रही है —

१ अथ वर्ण्यानि कथ्यन्ते तानि-यानि कवीश्वरै ।
महाकाव्यप्रभृतिषु प्रबन्धषु बबन्धिरे ॥ —का क वृत्ति पृ २४ कविकल्पलता पृ १२

२ राजाऽमात्यपुरोहितौ नृपवधू राजागज सैन्यपो
देशग्रामपुरीसरोऽब्धिसरिदुद्यानाद्र्यरण्याश्रमा ।
मन्त्रो दूतरणप्रयाणमृगयाश्वमर्तिवत्तेमूद्वया
वीवाहो विरह. स्वर्गबरसुरा पुण्याम्बुजलाशयम् ॥ —का क वृत्ति पृ २४
राजाराजवधू पुरोहितकुमारामात्यसेनाधिपा
—(शेष पंक्तियाँ उपर्युक्त श्लोक के समान) —कविकल्पलता पृष्ठ १३

३ ग्रामे मान्यवल्ताभूखसरसी पशु पुष्प्य ।
क्षेत्रारघट्टकेदारग्रामेयीमुग्धविभ्रमा ॥ —काव्यकल्पलतावृत्ति पृष्ठ २५
—————————मुग्ध विभ्रमा ॥ —(शेष उपर्युक्त श्लोकवत्)
—कविकल्पलता पृष्ठ १३

४ पुरेऽप्रपरिखावप्रप्रतोली तोरणाम्भ्या ।
प्रासादाध्वप्रपा ऽऽरामवापी वेश्यासतीश्वरी ॥ —काव्यकल्पलतावृत्ति पृ २५
————————————तोरणध्वजा ।—(शेष उपर्युक्त श्लोकवत्)

५ युद्धेषु वर्मबल्वीररजाधि तूर्य—
निस्वाननादधरमण्डपरक्तनद्य ।
छिन्नातपत्र रथचामरकेतुकुम्भि—
मुक्तासुरीवृतमदामरपुष्पवर्षा ॥ —काव्यकल्पलतावृत्ति पृ २६
— — — — — —वाररजाधि तूर्य ।
—(शेष उपर्युक्त श्लोकवत्) —कविकल्पलता पृ १४

अलंकारमहोदधि :—

अलंकारमहोदधि की रचना श्री नरेन्द्रप्रभ सूरि ने वस्तुपाल मन्त्री की प्रार्थना पर अपने गुरु श्री नरचन्द्र सूरि की आज्ञा

से की थी[1]। इसकी टीका भी स्वयं नरेन्द्रप्रभ ने विक्रम संवत् १२८२ में समाप्त की थी जिसका प्रमाण ४५ (सवे चार हजार) अनुष्टुप श्लोक प्रमाण[2] है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ तरंगों में विभाजित है। काव्य का स्वरूप प्रयोजन भेद शब्द, अर्थ गुण दोष अलंकार और ध्वनि आदि विषयों पर आचार्य नरेन्द्रप्रभ ने विशद प्रकाश डाला है। काव्यप्रकाश की तरह इसमें भी नाटकीय तत्त्वों पर पर प्रकाश नहीं डाला गया है। शेष सभी विषयों पर काव्यप्रकाश से कहीं अधिक विवेचन किया गया है। साहित्यदर्पण इसके सामने बहुत छोटा है। साहित्यदर्पण में अलंकारों का विवेचन काव्यप्रकाश से अधिक है। किन्तु अलंकार महोदधि का अलंकार विवेचन साहित्यदर्पण से कहीं अधिक है।

प्रस्तुत ग्रंथ में पृष्ठ २१२–१३ पर वृत्यनुप्रास के अवान्तर भेद—कार्णाटी कौन्तली कौंकी कौंकणी बानवासिका त्रावणी माथरी मात्सी और मागधी आदि बतलाये हैं, जो काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण आदि ग्रंथों में नहीं हैं।

काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) के समान प्रस्तुत ग्रंथो में भी ध्वनि का विस्तार से वर्णन है।

सरल शब्दों में परिभाषा बनाना और सरल उदाहरण चुनना प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता है। जैसे सार अलंकार की परिभाषा देखिये—'सारः प्रकर्षस्तूत्तरोत्तरम्' (पृष्ठ १ ६)। उदाहरण—'राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम्।

अजनिष्ठहसतचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पंच शती ॥ —अलंकारमहोदधि श्लोक ११, पृ १४०

'सौधे तल्पं तल्पे वाराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम्'। (पृ० १ ६)।

अलंकारों के अवान्तर भेद भी प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण आदि ग्रंथों से अधिक किये गये हैं।

नाट्यदर्पण —

नाट्यदर्पण आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र दो विद्वानों की कृति है। ये दोनों आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे अतः इनका समय भी वही है जो हेमचन्द्र का है। रामचन्द्र और गुणचन्द्र अपने गुरु के समान बहुश्रुत विद्वान् थे। इन्होंने लगभग सौ ग्रंथों की रचना की थी। उनमें से चार-पाँच प्रकाशित भी हो चुके हैं। नाट्यदर्पण उन्हीं में से एक है।

नाट्यदर्पण चार विवेकों में विभक्त है। मूल कारिकाऐं क्रमशः चारों विवेकों में ६५, ३७ ५१ और ५४—कुल २०७ हैं और इन पर स्वयं रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने विस्तृत विवरण लिखा है, जो ४५ अनुष्टुप छन्द प्रमाण है। विवरण में विषय की विशेष पुष्टि के लिये जैन व जैनेतर ग्रंथों के उदाहरण दिये गये हैं। भरत ने विस्तृत नाट्य शास्त्र लिखा था। उसके बाद संक्षेप में नाट्यतत्त्वों का स्वरूपनिरूपण करने वाले मुख्य दो ग्रन्थ हैं (१) प्रस्तुत नाट्यदर्पण और (२) दशरूपक। दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है किन्तु रामचन्द्र और गुणचन्द्र ये दोनों नाटकीय तत्त्व के मर्मज्ञ थे। इन्होंने अनेक ऐसे ग्रंथों के उदाहरण दिये हैं, जो आज अनुपलब्ध हैं।

कहीं-कहीं दोनों ग्रन्थों में मौलिक अन्तर भी है। दशरूपककार नाटकों में शान्त रस नहीं मानते नाट्यदर्पणकार मानते हैं। दशरूपक में व्यंजना वृत्ति का खंडन है, नाट्यदर्पण में नहीं है। नाट्यदर्पण में रस को सुख-दुःखात्मक बतलाया गया है— "सुख दुःखात्मको रस पृष्ट १४१। शृंगार, हास्य वीर, अद्भुत और शान्त इन पाँचों को सुखात्मक और करुण रौद्र, बीभत्स तथा भयानक इन चारों को दुःखात्मक बतलाया है। दशरूपक में रूपकों की संख्या दस स्वीकार की है, जब कि नाट्यदर्पण में बारह।

अलंकारचिन्तामणि —

इसके रचयिता आचार्य अजितसेन हैं। इनका समय चौदहवीं शती है। इन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ में जैन-ग्रंथों के ही उदाहरण दिये हैं। जैनेतर ग्रंथों के भी उदाहरण हैं, किन्तु ऐसे उदाहरणों की संख्या बहुत ही कम है। अर्हद्दास के मुनिसुव्रत काव्य के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत ग्रंथ में हैं, अतः प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता का समय चौदहवीं शती है। अर्हद्दास का समय विक्रम की तेरहवीं शती का अन्तिम चरण और चौदहवीं का प्रथम चरण है।

---

[1] तेषा निदेशावश सद्गुरुणां श्रीवस्तुपालस्य मुदे तनोत्।
चकार किञ्चनभरसंनिविष्टं सूरिर्नरेन्द्रप्रभनामधेयं ॥ —अलंकारमहोदधि, श्लोक १९, पृ १

[2] नयन वसु सूर्य वर्षे विक्रमनृपतः प्रमाणमेतस्या।
अजनिष्ठहसतचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पंचशती ॥ अलंकारमहोदधि श्लोक १६, पृ १४

काव्यानुशासन —

इस के लेखक अभिनव वाग्भट हैं। इनका समय १४ वी शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पृष्ठ ४२ पर उदात्तालंकार का जो उदाहरण वाग्भट ने दिया है, वह नरेन्द्रप्रभ सूरि के अलंकार महोदधि—जिसकी रचना वि सं १२८२ में समाप्त हुई थी—को छोड़कर अन्यत्र नही मिलता। अत वाग्भट का समय १४ वी शताब्दी निश्चित है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख इर्गालिंग कैटलॉग मे ११५७ पर है। इस लिखित प्रति पर लेखन-काल वि सं० १५१५ है।

वाग्भट के पिता का नाम नेमिकुमार और पितामह का भी मक्कलप्य था। इनका निवासस्थान मेवाड है। ये अपने समय के बहुत बड़े धनिक व्यापारी और उच्चकोटि के लेखक या महाकवि थे। इन्होंने अनेक महाकाव्य लिखे थे[१]। इन्होंने अपना परिचय काव्यानुशासन के प्रारम्भ में दिया है। विशेष जानकारी के लिये इन पंक्तियों के लेखक का "महाकवि वाग्भट और उनका काव्यानुशासन" शीर्षक लेख देखिये जो 'जैन सिद्धान्त भास्कर' भाग २२, किरण २ (सन् १९५५) में प्रकाशित हो चुका है।

काव्यानुशासन सूत्र शैली में लिखा गया छोटा-सा किन्तु महत्वपूर्ण अलंकार ग्रंथ है। इसके पाँच अध्यायों में क्रमश १२, ७५, १८, २६ और ५८ कुल—२८९ सूत्र हैं। सूत्रो के ऊपर वाग्भट ने स्वय अलंकारतिलक वृत्ति' नाम की टीका लिखी है। सूक्ष्म दृष्टि से ग्रंथ देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वाग्भट हेमचन्द्र से बहुत प्रभावित थे। वे उन्हें अपना समझते व अत उनके ग्रंथ का नाम (काव्यानुशासन) सूत्र शैली और कुछ सूत्र तथा कुछ टीका का अश भी उन्होंने अपने ग्रंथ में ले लिया है।

ग्रन्थ बहुत सरल है। इसमें अलंकार सबधी सभी तत्त्वो पर प्रकाश डाला गया है। जो बात सूत्रों में नहीं कही जा सकी वह टीका में कह दी गयी है। टीका बहुत महत्वपूर्ण है।

हेमचन्द्र ने ध्वनि का समर्थन जोरदार शब्दो में किया है, किन्तु वाग्भट ने उसे 'पर्यायोक्त' अलंकार में गर्भित किया है। सभी अलंकार ग्रन्थो में काव्यों से उदाहरण लिये गये हैं, किन्तु वाग्भट ने दोष प्रकरण में मम्मट और दण्डी आदि के अलंकार ग्रन्थो के मगलाचरण के पद्यो को उद्धृत कर उनमें दोष बतलाये हैं।

काव्यालंकारसार :—

इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री भावदेव सूरि हैं। इनका समय विक्रम की पन्द्रहवी शती का प्रथम चरण है। इसकी सूचना स्वयं इन्होंने अपने पार्श्वनाथ चरित महाकाव्य की प्रशस्ति में दी है।[१]

काव्यालंकारसार में आठ अध्याय हैं, जिनमें क्रमश ५+१५+२४+११+११+४९+५+८=१३२ श्लोक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्य का स्वरूप हेतु, फल (१) शब्दार्थस्वरूप (२) शब्दार्थदोष (३) गुण (४) शब्दालंकार (५) अर्थालंकार (६) रीति (७) और रस (८) इन साहित्यिक तत्त्वो पर संक्षिप्त और सारगर्भ प्रकाश डाला गया है।

आचार्य श्री भावदेव सूरि ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के अलंकार ग्रंथो का गम्भीर चिन्तन कर प्रस्तुत ग्रन्थ बनाया है। अभी तक प्रकाशित हुए अलंकार ग्रंथो में इतना सरल और सरस ग्रंथ मेरे देखन में नही आया। अलंकार शास्त्र के अध्ययन करने वालो को सबसे पहले यही ग्रंथ पढना चाहिए।

---

१ उच्चैर्मन्ते स्म देवमन्यग्रगनविरहिते चैत्यत मौर्यियाणा
मत्र स्यामाक बीजस्यपि चटकवचूचकोटिच्युतानि।
यस्मिन् शातर्मकस्माच्चटुलकटुकराकृष्टमुक्तावचम—
भ्रष्टास्तत्रैव दृष्ट्वा युवतिभिरलस भूषिता मौक्तिकौघा ॥

२—नव्यानेकमहाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जित—
स्फारोदारयश प्रचारसततव्याकीर्णविश्वत्रय।
श्रीमन्नेमिकुमारसूनुरखिलप्रज्ञालचूडामणि
काव्यानामनुशासन वरमिद चक्रे कविर्वाग्भट ॥

जैन ज्योतिष साहित्य

(ले प्रो नेमीचन्द्रजैन एम ए ज्योतिषाचार्य आरा)

"ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्"—सूर्यादिग्रह और काल का बोध करानेवाला शास्त्र ज्योतिष कहलाता है। अत्यन्त प्राचीन काल से आकाश-मण्डल मानव के लिए कौतूहल का विषय रहा है। सूर्य और चन्द्रमा से परिचित हो जाने के उपरान्त ताराओं ग्रहों एवं उपग्रहों की जानकारी भी मानव ने प्राप्त की। जैन परम्परा बतलाती है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय में जब मनुष्यों को सर्वप्रथम सूर्य और चन्द्रमा दिखलायी पड़े तो वे इनसे सशंकित हुए और अपनी उत्कंठा शान्त करने के लिए उक्त प्रतिश्रुति नामक कुलकर-मनु के पास गये। उक्त कुलकर ने सौर जगत् की व्यावहारिक जानकारी बतलायी और इन्हीं से लोगों ने सौर-मण्डल का ज्ञान प्राप्त किया तथा यही ज्ञान लोक में ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगमिक परम्परा अनवच्छिन्नरूप से अनादि होने पर भी इस युग में ज्योतिष साहित्य की नींव का इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। यों तो जो ज्योतिष-साहित्य आजकल उपलब्ध है वह प्रतिश्रुति कुलकर से लाखों वर्ष पीछे का लिखा हुआ है।

जैन ज्योतिष-साहित्य का उद्भव और विकास—

आगमिक दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र का विकास विद्यानुवादाङ्ग और परिकर्मों से हुआ है। समस्त गणित-सिद्धान्त ज्योतिष परिकर्मों में अंकित था और अष्टांग निमित्त का विवेचन विद्यानुवादांग में किया गया था। षट्खण्डागम धवलाटीका' में रौद्र श्वेत मैत्र सारभट दैत्य वैरोचन वैश्वदेव अभिजित् रोहण बल विजय नैऋत्य वरुण अर्यमन् और भाग्य ये पन्द्रह मुहूर्त आये हैं। मुहूर्तों की नामावली वीरसेन स्वामी की अपनी नहीं है किन्तु पूर्व परम्परा से प्राप्त श्लोकों को उन्होंने उद्धृत किया है। अतः मुहूर्त चर्चा पर्याप्त प्राचीन है।

प्रश्नव्याकरण में नक्षत्रों की मीमांसा कई दृष्टिकोणों से की गयी है। समस्त नक्षत्रों को कुल उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन कर वर्णन किया गया है। यह वर्णन प्रणाली ज्योतिष के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। धनिष्ठा उत्तराभाद्रपद अश्विनी कृत्तिका मृगशिरा पुष्य मघा उत्तरा फाल्गुनी चित्रा विशाखा मूल एवं उत्तराषाढ़ा ये नक्षत्र कुलसंज्ञक श्रवण पूर्वाभाद्रपद रेवती भरणी रोहिणी पुनर्वसु आश्लेषा पूर्वाफाल्गुनी हस्त स्वाति ज्येष्ठा एवं पूर्वाषाढ़ा ये नक्षत्र उपकुलसंज्ञक और अभिजित् शतभिषा आर्द्रा एवं अनुराधा कुलोपकुल संज्ञक हैं। यह कुलोपकुल का विभाजन पूर्णमासी को होनेवाले नक्षत्रों के आधार पर किया गया है। अभिप्राय यह है कि श्रावण मास के धनिष्ठा श्रवण और अभिजित् भाद्रपदमास के उत्तराभाद्रपद पूर्वाभाद्रपद और शतभिषा आश्विनमास के अश्विनी और रेवती कार्तिकमास के कृत्तिका और भरणी अगहन या मार्गशीर्ष मास के मृगशिरा और रोहिणी पौष मास के पुष्य पुनर्वसु और आर्द्रा माघमास के मघा और आश्लेषा फाल्गुनमास के उत्तराफाल्गुनी और पूर्वाफाल्गुनी चैत्रमास के चित्रा और हस्त वैशाखमास के विशाखा और स्वाति ज्येष्ठ मास के ज्येष्ठा मूल और अनुराधा एवं आषाढ़मास के उत्तराषाढ़ा और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र बताये गये हैं। प्रत्येक मास की पूर्णमासी को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुलसंज्ञक दूसरा उपकुलसंज्ञक और तीसरा कुलोपकुल संज्ञक होता है। इस कथन का प्रयोजन उस महीने का फल निरूपण करना है। इस ग्रन्थ में ऋतु, अयन मास पक्ष और तिथि सम्बन्धी चर्चाएँ भी उपलब्ध हैं।

समवायाङ्ग में नक्षत्रों की ताराएँ उनके दिशाद्वार आदि का वर्णन है। कहा गया है—"कत्तिआइया सत्तणक्खत्ता पुव्वदारिआ"। महाइया सत्तणक्खत्ता दाहिणदारिआ। अणुराहाइया सत्तणक्खत्ता अवरदारिआ। धणिट्ठाइया सत्तणक्खत्ता उत्तरदारिआ' अर्थात् कृत्तिका रोहिणी मृगशिरा आर्द्रा पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा ये सात नक्षत्र पूर्वद्वार, मघा पूर्वाफाल्गुनी उत्तराफाल्गुनी हस्त चित्रा स्वाति और विशाखा ये नक्षत्र दक्षिणद्वार अनुराधा ज्येष्ठा मूल पूर्वाषाढ़ा उत्तराषाढ़ा अभिजित और श्रवण ये सात नक्षत्र पश्चिमद्वार एवं धनिष्ठा शतभिषा पूर्वाभाद्रपद उत्तराभाद्रपद रेवती अश्विनी

और भरणी ये सात नक्षत्र उत्तर द्वार वाले हैं। समवायांग ११,२४ ३१२,७१३ ५१९ में आयी हुई ज्योतिष चर्चाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

ठाणांग में चन्द्रमा के साथ स्पर्श योग करनेवाले नक्षत्रों का कथन किया गया है। वहाँ बतलाया गया है—कृत्तिका रोहिणी पुनर्वसु मघा चित्रा विशाखा अनुराधा और ज्येष्ठा ये आठ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ स्पर्शयोग करनेवाले हैं। इस योग का फल तिथियों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार नक्षत्रों की अन्य संज्ञाएँ तथा उत्तर, पश्चिम दक्षिण और और पूर्व दिशा की ओर से चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले नक्षत्रों के नाम और उनके फल विस्तार पूर्वक बतलाये गये हैं। ठाणांग में अंगारक काल लोहिताक्ष शनैश्चर, कनक कनक-कनक कनक-वितान कनक-संतानक सोमहित आश्वासन कज्जो पग कर्बट अयस्कर, दुंदुभ शंख शंखवर्ण इन्द्राग्नि धूमकेतु, हरि, पिंगल बुध शुक्र, बृहस्पति राहु अगस्त्य माणवक काश स्पर्श धुर, प्रमुख विकट विसन्धि विमल पपिल जटिलक अरुण अग्निल काल महाकाल स्वस्तिक सौवस्तिक वर्द्धमान पुष्पमानक अंकुश प्रलम्ब नित्यालोक नित्योद्योत स्वयंप्रभ उसम श्रेयंकर, प्रेयंकर, आयंकर, प्रभंकर, अपराजित अरज अशोक विगतशोक निर्मल विमुख वितत विवस्त्र विशाल शाल सुव्रत अनिवर्तक एकजटी द्विजटी करकरीक राजर्गल पुष्प केतु एवं भावकेतु आदि ८८ ग्रहों के नाम बताए गये हैं। समवायांग में भी उक्त ८८ ग्रहों का कथन आया है। 'एगमेगस्स णं चंदिम सूरियस्स अट्ठासीइं महग्गहा परिवारो'' अर्थात् एक-एक चन्द्र और सूर्य के परिवार में अट्ठासी-अट्ठासी महाग्रह हैं। प्रश्नव्याकरणांग में सूर्य चन्द्र मंगल बुध गुरु शुक्र शनि राहु और केतु या धूमकेतु इन नौ ग्रहों का सम्बन्ध में प्रभाव बतलाया गया है।

समवायांग में ग्रहण के कारणों का भी विवेचन मिलता है। इसमें राहु के दो भेद बतलाये गये हैं—नित्यराहु और पर्व राहु। नित्यराहु को कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का कारण तथा पर्वराहु को चन्द्रग्रहण का कारण माना है। केतु जिसका ध्वजदण्ड सूर्य के ध्वजदण्ड से ऊँचा है भ्रमणवश वही केतु सूर्यग्रहण का कारण होता है।

दिनवृद्धि और दिनह्रास के सम्बन्ध में भी समवायांग में विचार-विनिमय किया गया है। सूर्य जब दक्षिणायन में निषध पर्वत के आभ्यंतर मण्डल से निकलता हुआ ४४ वें मण्डल—गमन मार्ग में आता है, उस समय ४४/६१ मुहूर्त दिन कम होकर रात बढ़ती है—इस समय २४ घटी का दिन और ३६ घटी की रात होती है। उत्तर दिशा में ४४वें मंडल—गमन मार्ग पर जब सूर्य आता है, तब ४४/६१ मुहूर्त दिन बढ़ने लगता है और इस प्रकार जब सूर्य ९३ वें मंडल पर पहुँचता है तो दिन परमाधिक ३६ घटी का होता है। यह स्थिति आषाढ़ीपूर्णिमा को घटती है।

इस प्रकार जैन आगम ग्रन्थों में ऋतु अयन दिनमान दिनवृद्धि दिनह्रास नक्षत्रमास नक्षत्रों की विविध संज्ञाएँ ग्रहों के मण्डल विमानों के स्वरूप और विस्तार, ग्रहों की आकृतियाँ आदि का फुटकर रूप में कथन मिलता है। यद्यपि आगम ग्रन्थों का संकलनकाल ई॰ सन् की आरम्भिक शताब्दी या उसके पश्चात् ही विद्वान् मानते हैं किन्तु ज्योतिष की उपर्युक्त चर्चाएँ पर्याप्त प्राचीन हैं। इन्हीं मौलिक मान्यताओं के आधार पर जैन ज्योतिष के सिद्धान्तों को क्रमपूर्व सिद्ध किया गया है।[1]

ऐतिहासिक विद्वान् गणित ज्योतिष से भी फलित को प्राचीन मानते हैं। अतः अपने कार्यों की सिद्धि के लिए समय शुद्धि की आवश्यकता आदिम-मानव को भी रही होगी। इसी कारण जैन आगम ग्रन्थों में फलित ज्योतिष के बीज-तिथि नक्षत्र योग करण वार समयशुद्धि दिनशुद्धि आदि की चर्चाएँ विद्यमान हैं।

जैन ज्योतिष-साहित्य का सांगोपांग परिचय प्राप्त करने के लिए इसे निम्न चार कालखण्डों में विभाजित कर हृदयंगम करना सरल होगा।

अन्धकार—ई॰ पू॰ १ से १ ई॰ तक।
उदयकाल—१ ई॰ से १ ई॰ तक।
प्रचार काल—१ ई॰ से १० ई॰ तक।
उत्कर्षकाल—१० ई॰ से १०९ ई॰ तक।

आदि काल की रचनाओं में सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति अंगविज्जा लोकविभाग एवं ज्योतिष्करण्डक आदि उल्लेखनीय हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति प्राकृत भाषा में लिखित एक प्राचीन रचना है। इस पर मलयगिरि की संस्कृत टीका है। ई सन् से दो सौ वर्ष पूर्व की यह रचना निर्विवाद सिद्ध है। इसमें पंचवर्षात्मक युग मानकर तिथि नक्षत्रादि का साधन किया गया है। भगवान महावीर की शासनतिथि श्रावणकृष्णा प्रतिपदा से जब कि चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्र पर रहता है, युगारम्भ माना गया है।

सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य के गमनमार्ग आयु, परिवार आदि के प्रतिपादन के साथ पंचवर्षात्मक युग के अयनों के नक्षत्र तिथि और मास का वर्णन भी किया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय प्राय: सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। विषय की अपेक्षा यह सूर्यप्रज्ञप्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें सूर्य की प्रतिदिन की योजनात्मिका गति निकाली गई है तथा उत्तरायण और दक्षिणायन की वीथियों का अलग-अलग विस्तार निकाल कर सूर्य और चन्द्र की गति निश्चित की गई है। इसके चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान तथा तापक्षेत्र का संस्थान विस्तार से बताया गया है। इसमें समचतुस्र विषमचतुस्र आदि विभिन्न आकारों का खण्डन कर सोलह वीथियों में चन्द्रमा को समचतुस्र गोल आकार बताया गया है। इसका कारण यह है कि सुषमा-सुषमाकाल के आदि में श्रावणकृष्ण प्रतिपदा के दिन जम्बूद्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व दक्षिण-अग्निकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर-वायव्यकोण में चला। इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर-ईशान कोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम-दक्षिण नैऋत्य कोण में चला। अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुस्र संस्थान था पर उदय होते समय ये ग्रह वर्तुलाकार निकले अत: चन्द्रमा और सूर्य का आकार अर्धकपीठ-अर्ध समचतुस्र गोल बताया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में छाया साधन किया गया है और छाया प्रमाण पर से दिनमान भी निकाला गया है। ज्योतिष की दृष्टि से यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ प्रश्न किया गया है कि जब अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना शेष रहा? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिए। यहाँ विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर के पहले अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत और दो तिहाई भाग अवशेष तथा दोपहर के बाद अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दो तिहाई भाग प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिए। पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत और तीन चौथाई भाग शेष डेढ़ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और चार पंचम भाग (⅘ भाग) अवशेष दिन समझना चाहिए।

इस ग्रंथ में गोल त्रिकोण लम्बी चौकोर वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का आनयन किया गया है। चन्द्रमा के साथ तीस मुहूर्त तक योग करनेवाले श्रवण धनिष्ठा पूर्वाभाद्रपद, रेवती अश्विनी कृत्तिका मृगशिर पुष्य मघा पूर्वाफाल्गुनी हस्त चित्रा अनुराधा मूल और पूर्वाषाढ़ ये पन्द्रह नक्षत्र बताए गए हैं। पैंतालीस मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले उत्तराभाद्रपद रोहिणी पुनर्वसु उत्तराफाल्गुनी विशाखा और उत्तराषाढ़ा ये छ: नक्षत्र एवं पन्द्रह मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले शतभिषा भरणी आर्द्रा आश्लेषा स्वाति और ज्येष्ठा ये छ: नक्षत्र बताये गये हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति के १९ वें प्राभृत में चन्द्रमा को स्वत: प्रकाशमान बतलाया है तथा इसके घटने-बढ़ने का कारण भी स्पष्ट किया है। १८वें प्राभृत में पृथ्वी तल से सूर्यादि ग्रहों की ऊँचाई बतलाई गयी है।

ज्योतिष्करण्डक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें अयनादि के कथन के साथ नक्षत्र लग्न का भी निरूपण किया गया है। यह लग्न निरूपण की प्रणाली सर्वथा नवीन और मौलिक है —

लग्गं च दक्खिणाय विसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे।
लग्गं साई विसुवेसु पंचसु वि दक्खिणे अयणे॥

अर्थात् अश्विनी और स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये हैं। जिस प्रकार नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को राशि कहा जाता है उसी प्रकार यहाँ नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को लग्न बताया गया है।

इस ग्रंथ में कृत्तिकादि धनिष्ठादि भरण्यादि श्रवणादि एवं अभिजित् आदि नक्षत्र गणनाओं की विवेचना की गयी है।

ज्योतिष्करण्डक का रचनाकाल ई पू १ के लगभग है। विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

अंगविज्जा का रचनाकाल कुषाण-गुप्त युग का सन्धिकाल माना गया है। शरीर के लक्षणों से अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या चिह्नों से किसी के लिए शुभाशुभ फल का कथन करना ही इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। इस ग्रन्थ में कुल साठ अध्याय हैं। इन्हें अध्यायों का पटलों में विभाजन किया गया है। आरम्भ के अध्यायों में अंगविद्या की उत्पत्ति स्वरूप शिष्य के गुण दोष अंगविद्या का माहात्म्य प्रभृति विषयों का विवेचन किया है। गृहप्रवेश यात्रारम्भ वस्त्र यान धान्य चर्या चेष्टा आदि के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन किया गया है। प्रवासी घर कब और कैसी स्थिति में लौटकर आयेगा इसका विचार ४५ वें अध्याय में किया गया है। ५२ वें अध्याय में इन्द्रधनुष विद्युत् चन्द्रग्रह नक्षत्र तारा उदय अस्त अमावस्या पूर्णमासी मण्डल वीथी युग संवत्सर, ऋतु, मास पक्ष क्षण लव मुहूर्त उल्कापात दिशादाह आदि निमित्तों से फलकथन किया गया है। सत्ताईस नक्षत्र और उनसे होने वाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख है। संक्षेप में इस ग्रन्थ में अष्टांग निमित्त का विस्तारपूर्वक विभिन्न दृष्टियों से कथन किया गया है।[10]

लोकविजय-यन्त्र भी एक प्राचीन ज्योतिष की रचना है। यह प्राकृत भाषा में ३० गाथाओं में लिखा गया है। इसमें प्रधानरूप से सुभिक्ष दुर्भिक्ष की जानकारी बतलायी गयी है। आरम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहा है —

पणमिय पयारविंदे तिलोयनाहस्स जगपईवस्स।
वुच्छामि लोयविजयं जंतं जंतूण सिद्धिकयं॥

जगत्पति—नाभिराय के पुत्र त्रिलोकनाथ ऋषभदेव के चरणकमलों में प्रणाम करके जीवों की सिद्धि के लिये लोकविजय-यन्त्र का वर्णन करता हूँ।

इसमें १४५ से आरम्भ कर १५१ तक ध्रुवांक बतलाये गये हैं। इन ध्रुवांकों पर से ही अपने स्थान के शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। कृषिशास्त्र की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

कालकाचार्य—यह भी निमित्त और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा से शककुल के साहि को स्ववश किया था तथा गर्दभिल्ल को दण्ड दिया था। जैन परम्परा में ज्योतिष के प्रवर्तकों में इनका मुख्य स्थान है। यदि यह आचार्य निमित्त और संहिता का निर्माण न करते तो उत्तरवर्ती जैन लेखक ज्योतिष को पापश्रुत समझकर अछूता ही छोड़ देते।

वराहमिहिर ने बृहज्जातक में कालक संहिता का उल्लेख किया है।[11] निशीथचूर्णि आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों से इनके ज्योतिष-ज्ञान का पता चलता है।

उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में जैन ज्योतिष के मूल सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इनके मत से ग्रहों का केन्द्र सुमेरु पर्वत है ग्रह नित्य गतिशील होते हुए मेरु की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। चौथे अध्याय में ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णक और तारों का भी वर्णन किया है। संक्षेप रूप में आई हुई इनकी चर्चाएँ ज्योतिष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार आदिकाल में अनेक ज्योतिष की रचनाएँ हुईं। स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषय-धार्मिक ग्रन्थों आगम ग्रन्थों की चूर्णियों वृत्तियों और भाष्यों में भी ज्योतिष की महत्त्वपूर्ण बातें अंकित की गयीं। तिलोय-पण्णत्ति में ज्योतिष लोक का महत्त्वपूर्ण वर्णन आया है। ज्योतिर्लोकाधिकार में अयन गमनमार्ग नक्षत्र एवं दिननाम आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

पूर्वमध्यकाल में गणित और फलित दोनों ही प्रकार के ज्योतिष का यथेष्ट विकास हुआ। इसमें ऋषिपुत्र महावीराचार्य चन्द्रसेन श्रीधर प्रभृति ज्योतिर्विदों ने अपनी अमूल्य रचनाओं के द्वारा इस साहित्य की श्रीवृद्धि की।

भद्रबाहु के नाम पर अर्हच्चूडामणिसार नामक एक प्रश्न शास्त्र सम्बन्धी ७४ प्राकृत गाथाओं में रचना उपलब्ध है। यह रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की है इसमें तो सन्देह है। हमें ऐसा लगता है कि यह भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई थे अतः सम्भव है कि इस कृति के लेखक यह द्वितीय भद्रबाहु ही होंगे। आरम्भ में वर्णों की संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं। अ इ ए ओ ये चार स्वर तथा क च ट त प य श ग ज ड द ब ल स ये चौदह व्यंजन आलिंगित संज्ञक हैं। इनका शुभम उत्तर और संकट नाम भी है। आ ई ऐ औ ये चार स्वर तथा ख छ ठ थ फ र ष घ झ ढ ध भ व ह ये चौदह व्यंजन अभिधूमित संज्ञक हैं। इनका मध्यम उत्तराधर और विकट नाम भी है। उ ऊ अं अः ये चार स्वर तथा ङ ञ ण न म ये व्यंजन दग्धसंज्ञक हैं। इनका विकट संकट अधर और अशुभ नाम भी है। प्रश्न में सभी आलिंगित अक्षर हों तो प्रश्नकर्त्ता की कार्य सिद्धि होती है।

प्रश्नाक्षरों के दग्ध होने पर कार्यसिद्धि का विनाश होता है। उत्तर संज्ञक स्वर उत्तर संज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने से उत्तरतम और उत्तराधर तथा अधर स्वरों से संयुक्त होने पर उत्तर और अधर संज्ञक होते हैं। अधर संज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने पर अधराधरतर संज्ञक होते हैं। दग्धसंज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में मिलन से दग्धतम संज्ञक होते हैं।" इन संज्ञाओं के पश्चात् फलाफल निकाला गया है। जय-पराजय लाभालाभ जीवन-मरण आदि का विवेचन भी किया गया है। इस छोटी-सी कृति में बहुत कुछ निबद्ध कर दिया गया है। इस कृति की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसमें मध्यवर्ती क य और त के स्थान पर य श्रुति पायी जाती है।

करलक्खण—यह सामुद्रिक शास्त्र का छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें रेखाओं का महत्त्व स्त्री और पुरुष के हाथों के विविध लक्षण अंगुलियों के बीच के अन्तराल पर्वों के फल मणिबन्ध विद्यारेखा कुल धन ऊर्ध्व सम्मान समृद्धि आयु, धर्म व्रत आदि रेखाओं का वर्णन किया है। भाई-बहन सन्तान आदि की द्योतक रेखाओं के वर्णन के उपरान्त अंगुष्ठ के अधोभाग में रहनेवाले यव का विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिपादन किया गया है। यव का यह प्रकरण सौ गाथाओं में पाया जाता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ग्रन्थकार ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

इय करलक्खणमेयं समासओ दंसियं जइजणस्स ।
पुव्वायरिएहिं णरं परिक्खिऊणं वयं दिज्जा ॥६१॥

यतियों के लिए संक्षेप में करलक्षणों का वर्णन किया गया है। इन लक्षणों के द्वारा व्रत ग्रहण करनेवाले की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जब शिष्य में पूरी योग्यता हो व्रतों का निर्वाह कर सके तथा व्रती जीवन को प्रभावक बना सके तभी उसे व्रतों की दीक्षा देनी देनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का उद्देश्य जनकल्याण के साथ नवागत शिष्य की परीक्षा करना ही है। इसका प्रचार भी साधुओं में रहा होगा।

ऋषिपुत्र का नाम भी प्रथम श्रेणी के ज्योतिर्विदों में परिगणित है। इन्हें गर्ग का पुत्र कहा गया है। गर्ग मुनि ज्योतिष के धुरन्धर विद्वान थे इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके सम्बन्ध में लिखा मिलता है।

जैन आसीज्जगद्वन्द्यो गर्गनामा महामुनिः ।
तेन स्वयं निर्णीतं य सत्पाशात्र केवली ॥
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम् ।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना ॥

संभवतः इन्हीं गर्ग के वंश में ऋषिपुत्र हुए होंगे। इनका नाम ही इस बात का साक्षी है कि यह किसी ऋषि के वंशज थे अथवा किसी मुनि के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। ऋषिपुत्र का एक निमित्त शास्त्र ही उपलब्ध है। इनके द्वारा रची गयी एक संहिता का भी मदनरत्न नामक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है। ऋषिपुत्र के उद्धरण बृहत्संहिता की भट्टोत्पली टीका में उपलब्ध हैं।

ऋषिपुत्र का समय वराहमिहिर के पहले होना चाहिए। अतः ऋषिपुत्र का प्रभाव वराहमिहिर पर स्पष्ट है। यहाँ दो-एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जायगा।

ससलोहिवण्णहोवरि संकुण हवति होइ णायव्वो ।
संगामं पुण घोरं खग्गं सूरो णिवेदेइ ॥ —ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्र
शशि रुधिरनिभे भानौ नभस्थले भवन्ति संग्रामाः । —वराहमिहिर

अपने निमित्त शास्त्र में पृथ्वी पर दिखाई देनेवाले आकाश में दृष्टिगोचर होनेवाले और विभिन्न प्रकार के शब्द श्रवण द्वारा प्रकट होनेवाले इन तीन प्रकार के निमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया है। वर्षोत्पात देवोत्पात रजोत्पात उल्कोत्पात गन्धर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों द्वारा शुभाशुभत्व की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की है।

लग्नशुद्धि या लग्नकुण्डिका नाम की रचना हरिभद्र की मिलती है। हरिभद्र दर्शन कथा और आगम शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। इनका समय आठवीं शती माना जाता है। इन्होंने १४४ प्रकरण—ग्रन्थ रचे हैं। इनकी अब तक ८८ रचनाओं का पता मुनि जिन-विजयजी ने लगाया है। इनकी २६ रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं।

लग्नशुद्धि प्राकृत भाषा में लिखी गयी ज्योतिष रचना है। इसमें लग्न के फल द्वादश भावों के नाम उनसे विचारणीय

विषय लग्न के सम्बन्ध में ग्रहों का फल ग्रहों का स्वरूप नवांश उच्चांश आदि का कथन किया गया है। जातकशास्त्र या होराशास्त्र का यह ग्रन्थ है। उपयोगिता की दृष्टि से इसका अधिक महत्व है। ग्रहों के बल तथा लग्न की सभी प्रकार से शुद्धि—पापग्रहों का अभाव शुभग्रहों का सद्भाव वर्णित है।

महावीराचार्य—ये धुरन्धर गणितज्ञ थे। ये राष्ट्रकूट वंश के अमोघवर्ष नृपतुंग के समय में हुए थे अतः इनका समय ई० सन् ८५ माना जाता है। इन्होंने ज्योतिष-पटल और गणितसार-संग्रह नाम के ज्योतिष ग्रन्थो की रचना की है। ये दोनो ही ग्रन्थ गणितज्योतिष के हैं ? इन ग्रन्थों से इनकी विद्वत्ता का ज्ञान सहज ही में आँका जा सकता है। गणितसार के प्रारम्भ में गणित की प्रशंसा करते हुए बताया है कि गणित के बिना संसार के किसी भी शास्त्र की जानकारी नहीं हो सकती है। कामशास्त्र गान्धर्व नाटक सूपशास्त्र वास्तुविद्या छन्दशास्त्र अलंकार काव्य तर्क व्याकरण कला प्रभृति का यथार्थ ज्ञान गणित के बिना सम्भव नहीं है अतः गणितविद्या सर्वोपरि है।

इस ग्रन्थ में संज्ञाधिकार, परिकर्मव्यवहार, कलासवर्णव्यवहार, प्रकीर्णव्यवहार, त्रैराशिकव्यवहार, मिश्रकव्यवहार, क्षेत्र-गणितव्यवहार, खातव्यवहार एवं छायाव्यवहार नाम के प्रकरण हैं। मिश्रकव्यवहार में समकुट्टीकरण विषमकुट्टीकरण और मिश्रकुट्टीकरण आदि अनेक प्रकार के गणित हैं। पाटीगणित और रेखागणित की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। इसके क्षेत्रव्यवहार प्रकरण में आयत को वर्ग और वर्ग को वृत्त में परिणत करने के सिद्धान्त दिये गये हैं। समत्रिभुज विषमत्रिभुज समकोण चतुर्भुज विषमकोण चतुर्भुज वृत्तक्षेत्र सूची व्यास पञ्चभुजक्षेत्र एवं बहुभुजक्षेत्रों का क्षेत्रफल तथा घनफल निकाला गया है।

ज्योतिषपटल में ग्रहों के चार क्षेत्र सूर्य के मण्डल नक्षत्र और ताराओं के संस्थान गति स्थिति और संख्या आदि का प्रतिपादन किया है।

चन्द्रसेन—के द्वारा 'केवलज्ञान होरा' नामक महत्त्वपूर्ण विशालकाय ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ कल्याणवर्मा के पीछे का रचा गया प्रतीत होता है। इसके प्रकरण सारावली से मिलते-जुलते हैं पर दक्षिण में रचना होने के कारण कर्नाटक प्रदेश के ज्योतिष का पूर्ण प्रभाव है। इन्होंने ग्रन्थ के विषय को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच में कन्नड़ भाषा का भी आश्रय लिया है। यह ग्रन्थ अनुमानतः चार हजार श्लोकों में पूर्ण हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा है —

होरा नाम महाविद्या वक्तव्यं च भवद्धितम्।
ज्योतिर्ज्ञानैकसारं भूषणं बुधपोषणम् ॥

इन्होंने अपनी प्रशंसा भी प्रचुर परिमाण में की है—

आगमः सदृशो जैनः चन्द्रसेन समो मुनिः।
केवली सदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे ॥

इस ग्रन्थ में हेमप्रकरण दाम्यप्रकरण शिलाप्रकरण मृत्तिका प्रकरण वृक्ष प्रकरण कार्पास-गुल्म-वल्कल-तृण रोम-चर्म पट्टप्रकरण संख्या प्रकरण नष्ट द्रव्य प्रकरण निर्वाह प्रकरण अपत्यप्रकरण लाभालाभप्रकरण स्वरप्रकरण स्वप्न प्रकरण वास्तु प्रकरण भोजन प्रकरण देहलोहदीक्षा प्रकरण अंजनविद्या प्रकरण एवं विष विद्या प्रकरण आदि हैं। ग्रन्थ को आद्योपान्त देखने से अवगत होता है कि यह संहिता विषयक रचना है होरा विषयक नहीं।

श्रीधर—ये ज्योतिष शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इनका समय दसवीं शती का अंतिम भाग है। ये कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इनकी माता का नाम अब्बोका और पिता का नाम बलदेव शर्मा था। इन्होंने बचपन में अपने पिता से ही संस्कृत और कन्नड़-साहित्य का अध्ययन किया था। प्रारम्भ में ये शैव थे किन्तु बाद में जैन धर्मानुयायी हो गये थे। इनकी गणितसार और ज्योतिर्ज्ञानविधि संस्कृत भाषा में तथा जातकतिलक कन्नड़-भाषा में रचनाएँ हैं। गणितसार में अभिन्न गुणक भागहार, वर्ग वर्गमूल घन घनमूल भिन्न समच्छेद भागजाति प्रभागजाति भागानुबन्ध भागमातृ जाति त्रैराशिक पञ्चराशिक सप्तराशिक भाण्डप्रतिभाण्ड मिश्रकव्यवहार, भाव्यकव्यवहार, एकपत्रीकरण सुवर्णगणित प्रक्षेपक गणित समक्रय विक्रय श्रेणीव्यवहार, क्षेत्रव्यवहार, खातव्यवहार, चितिव्यवहार, काष्ठकव्यवहार, राशिव्यवहार एवं छायाव्यवहार आदि गणितों का निरूपण किया है।

ज्योतिर्ज्ञानविधि प्रारम्भिक ज्योतिष का ग्रन्थ है। इसमें व्यवहारोपयोगी मुहूर्त भी दिये गये हैं। आरम्भ में संवत्सरा

के नाम नक्षत्र नाम योग-करण नाम तथा उनके शुभाशुभत्व दिये गये हैं। इसमें मासशेष मासाधिपतिशेष दिनशेष एवं दिनाधिपति शेष आदि गणितानयन की अद्भुत प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं।

जातकतिलक कन्नड-भाषा में लिखित होरा या जातकशास्त्र सम्बन्धी रचना है। इस ग्रन्थ में जन्म ग्रह ग्रहयोग एवं जन्मकुण्डली सम्बन्धी फलादेश का निरूपण किया गया है। दक्षिण भारत में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार है।

चन्द्रोन्मीलन प्रश्न भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नशास्त्र की रचना है। इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। ग्रन्थ को देखने से यह अवश्य अवगत होता है कि इस प्रश्न प्रणाली का प्रचार खूब था। प्रश्नकर्ता के प्रश्नवर्णों का संयुक्त असंयुक्त अभिहत अनभिहत अभिघातित अभिधूमित आलिंगित और दग्ध इन संज्ञाओं में विभाजन कर प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। चन्द्रोन्मीलन पर्याप्त विस्तृत है। इसके आधार पर और भी कई प्रश्न ग्रन्थ लिखे गये हैं। केरलीय प्रश्न संग्रह में चन्द्रोन्मीलन का खण्डन किया गया है। प्रोक्तं चन्द्रोन्मीलनं शुक्लवस्त्रैस्तच्चाशुद्धम्" इससे ज्ञात होता है कि यह प्रणाली लोकप्रिय थी। चन्द्रोन्मीलन नाम का जो ग्रन्थ उपलब्ध है वह साधारण है।

उत्तरमध्यकाल में फलित ज्योतिष का बहुत विकास हुआ। मुहूर्त जातक संहिता प्रश्न सामुद्रिकशास्त्र प्रभृति विषयों की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं लिखी गयी हैं। इस युग में सर्वप्रथम और प्रसिद्ध ज्योतिषी दुर्गदेव हैं। दुर्गदेव के नाम से यों तो अनेक रचनाएं मिलती हैं पर दो रचनाएँ प्रमुख हैं—रिट्ठसमुच्चय और अर्घकाण्ड। दुर्गदेव का समय सन् १ १२ माना गया है। रिट्ठसमुच्चय की रचना अपने गुरु संयमदेव के वचनानुसार की है। ग्रन्थ में एक स्थान पर संयमदेव के गुरु संयमसेन और उनके गुरु माधवचन्द्र बताए गए हैं। रिट्ठसमुच्चय शौरसेनी प्राकृत में २६१ गाथाओं में रचा गया है। इसमें शकुन और शुभाशुभ निमित्तों का संकलन किया गया है। लेखक ने रिष्टों के पिण्डस्थ पदस्थ और रूपस्थ नामक तीन भेद किये हैं। प्रथम श्रेणी में अंगुलियों का टूटना नेत्रज्योति की हीनता रसज्ञान की न्यूनता नेत्रों से लगातार जलप्रवाह एवं जिह्वा न देख सकना आदि को परिगणित किया है। द्वितीय श्रेणी में सूर्य और चन्द्रमा का अनेकों रूपों में दर्शन प्रज्वलित दीपक को शीतल अनुभव करना चन्द्रमा को त्रिभंगी रूप में देखना चन्द्रलाञ्छन का दर्शन न होना इत्यादि को ग्रहण किया है। तृतीय में निजछाया परछाया तथा छायापुरुष का वर्णन है। प्रश्नाक्षर शकुन और स्वप्न आदि का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

अर्घकाण्ड में तेजी-मंदी का ग्रह-योग के अनुसार विचार किया गया है। यह ग्रन्थ भी १४९ प्राकृत गाथाओं में लिखा गया है।

मल्लिषेण—संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनके पिता का नाम जिनसेन सूरि था ये दक्षिण भारत के धारवाड जिले के अन्तर्गत गदगताल्लुका नामक स्थान के रहनेवाले थे। इनका समय ई सन् १ ४३ माना गया है। इनका आयसद्भाव नामक ज्योतिषग्रन्थ उपलब्ध है। आरम्भ में ही कहा है—

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदायसद्भावम्।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ॥
ध्वजधूमसिंहमण्डलवृषखरगजवायसा भवन्त्याया।
ज्ञायन्ते ते विद्भिरिहोत्तरमपगमया चाष्टौ ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इनके पूर्व भी सुग्रीव आदि जैन मुनियों के द्वारा इस विषय की और रचनाएं भी हुई थीं, उन्हीं के सारांश को लेकर आयसद्भाव की रचना की गयी है। इस कृति में १९५ आर्याएँ और अन्त में एक गाथा इस तरह कुल १९६ पद्य हैं। इसमें ध्वज धूम सिंह मण्डल वृष खर, गज और वायस इन आठों आयों के स्वरूप और फलादेश वर्णित हैं।

भट्टवोसरि—आयज्ञानतिलक नामक ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बराचार्य दामनन्दी के शिष्य भट्टवोसरि हैं। यह प्रश्न-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें २५ प्रकरण और ४१५ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकर्ता की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। दामनन्दी का उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेख न ५५ में पाया जाता है। ये प्रभाचन्द्राचार्य के सधर्मा या गुरु भाई थे। अतः इनका समय विक्रम संवत् की ११वीं शती है और भट्टवोसरि का भी इन्हीं के आसपास का समय है।

इस ग्रन्थ में ध्वज धूम सिंह गज खर श्वान वृष ध्वांक्ष इन आठ आयों द्वारा प्रश्नों के फलादेश का विस्तृत विवेचन

किया है। इसमें लाभ-अलाभ हानि-लाभ जय-पराजय सिद्धि असिद्धि आदि का विचार विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रश्न शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

उदयप्रभदेव—इनके गुरु का नाम विजयसेन सूरि था। इनका समय ई सन् १२२ बताया जाता है। इन्होंने ज्योतिष विषयक आरम्भ सिद्धि अपरनाम व्यवहार चर्या ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ पर वि सं १५१४ में रत्नाकर सूरि के शिष्य हेमहंस गणि ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका में इन्होंने मुहूर्त सम्बन्धी साहित्य का अच्छा संकलन किया है। लेखक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थोक्त अध्यायों का संक्षिप्त नामकरण निम्नप्रकार किया है।

दैवज्ञदीपकलिका व्यवहारचर्यामारम्भसिद्धिमुदयप्रभदेवानाम् शास्त्रिक्रमेण तिथिवारभयोगराशिगोचर्यकार्याणमवास्तु विलग्नमिति ।

हेमहंसगणि ने व्यवहारचर्या नाम की सार्थकता दिखलाते हुए लिखा है—

"व्यवहार शिष्टजनसमाचार: शुभतिथिवारभादिषु शुभकार्यकरणादिरूपस्तस्यचर्या। यह ग्रन्थ मुहूर्त चिन्तामणि के समान उपयोगी और पूर्ण है। मुहूर्त विषय की जानकारी इस अकेले ग्रन्थ के अध्ययन से की जा सकती है।

राजादित्य—इनके पिता का नाम श्रीपति और माता का नाम वसन्ता था। इनका जन्म कौण्डिमण्डल के 'यूविनबाग' नामक स्थान में हुआ था। इनके नामान्तर राजवर्म भास्कर और वाचिराज बताए जाते हैं। ये विष्णुवर्धन राजा की सभा के प्रधान पण्डित थे अत इनका समय सन् ११२ के लगभग है। यह कवि होने के साथ-साथ गणित और ज्योतिष के माने हुए विद्वान थे। 'कर्णाटक कवि चरिते' के लेखक का कथन है कि कन्नड़-साहित्य में गणित का ग्रन्थ लिखनेवाला यह सबसे बड़ा विद्वान् था। इनके द्वारा रचित व्यवहार गणित क्षेत्रगणित व्यवहाररत्न तथा जैन-गणित सूत्रटीकोदाहरण और लीलावती ये गणित ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पद्मप्रभसूरि—नागौर की तपागच्छीय पट्टावली से पता चलता है कि ये वादिदेव सूरि के शिष्य थे। इन्होंने भुवनदीपक या ग्रहभावप्रकाश नामक ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ पर पर सिंहतिलक सूरि ने वि स १३२६ में एक विवृति लिखी है। "जैन-साहित्य नो इतिहास" नामक ग्रन्थ में इन्होंने इनके गुरु का नाम विबुधप्रभ सूरि बताया है। भुवनदीपक का रचनाकाल वि सं १२९४ है। यह ग्रन्थ छोटा होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ३६ द्वार प्रकरण हैं। राशि स्वामी उच्चनीचत्व मित्र-शत्रु, राहु का गृह, केतुस्थान ग्रहों के स्वरूप द्वादश भावों से विचारणीय बातें इष्टकाल ज्ञान लग्न सम्बन्धी विचार, विनष्टग्रह, राजयोग का कथन लाभालाभ विचार, लग्नेश की स्थिति का फल प्रश्न द्वारा गर्भ विचार, प्रश्न द्वारा प्रसवकाल ज्ञानविचार, मृत्युयोग चौर्य ज्ञान द्रव्यागादि के फलों का विचार विस्तार से किया है। इस ग्रन्थ में कुल १७ श्लोक हैं। इसकी भाषा सस्कृत है।

नरचन्द्र उपाध्याय—ये कासद्रहगच्छ के सिंहसूरि के शिष्य थे। इन्होंने ज्योतिषशास्त्र के कई ग्रन्थों की रचना की है। वर्तमान में इनके बेड़ा जातक वृत्ति प्रश्न शतक प्रश्न चतुर्विंशतिका जन्मसमुद्रटीका लग्नविचार और ज्योतिषप्रकाश उपलब्ध है। नरचन्द्र ने सं १३२४ में माघ सुदी ८ रविवार को बेड़ाजातक वृत्ति की रचना १ ५ श्लोक प्रमाण में की है। ज्ञानदीपिका नाम की एक अन्य रचना भी इनकी मानी जाती है। ज्योतिषप्रकाश संहिता और जातक सबधी महत्त्वपूर्ण रचना है।

अट्ठकवि या अर्हद्दास—ये जैन ब्राह्मण थे। इनका समय ईस्वी सन् १३ के आसपास है। अर्हद्दास के पिता नागकुमार थे। अर्हद्दास कन्नड़ भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने कन्नड़ में अट्टमत नामक ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रंथ की चौदहवीं शताब्दी में भास्कर नाम के आन्ध्र कवि ने इस ग्रंथ का तेलगु भाषा में अनुवाद किया था। अट्टमत में वर्षा के चिह्न, आकस्मिक लक्षण शकुन वायुचक्र, गृहप्रवेश भूकम्प भूजातफल उत्पात लक्षण परिवेषलक्षण इन्द्रधनुर्लक्षण प्रथमगर्भलक्षण द्रोणसंख्या विद्युतलक्षण, प्रतिसूर्यलक्षण संवत्सरफल ग्रहद्वेष मेघों के नाम कुलवर्ण ध्वनिविचार देशवृष्टि मासफल राहुचन्द्र १४ नक्षत्रफल संक्रान्ति फल आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

महेन्द्रसूरि—ये भृगुपुर" निवासी मदन सूरि के शिष्य फिरोजशाह तुगलक के प्रधान सभापण्डित थे। इन्होंने नाड़ीवृत्त के धरातल में गोलपृष्ठस्थ सभी वृत्तों का परिणमन करके यन्त्रराज नामक ग्रह गणित का उपयोगी ग्रन्थ लिखा है। इनके शिष्य मलयेन्दु सूरि ने इस पर सोदाहरण टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में परमाक्रान्ति २३ अंश ३५ कला मानी गयी है। इसकी

रचना शक संवत् १२९२ में हुई है। इसमें गणिताध्याय यन्त्रघटनाध्याय यन्त्ररचनाध्याय यन्त्रशोधनाध्याय और यन्त्रविचारणाध्याय ये पाँच अध्याय हैं। क्रमोत्क्रमज्यानयन भुजकोटिज्या का चापसाधन क्रान्तिसाधक द्युज्याखण्डसाधन द्युज्याफलानयन सौम्य गणित के विभिन्न गणितों का साधन अक्षांश से उन्नतांश साधन ग्रंथ के नक्षत्र ध्रुवादिक से अभीष्ट वर्ष के ध्रुवादिक का साधन नक्षत्रों के दृक्कर्मसाधन द्वादश राशियों के विभिन्नवृत्त सम्बन्धी गणितों का साधन इष्ट शंकु से छायाकरण साधन यन्त्रशोधन प्रकार और उसके अनुसार विभिन्न राशि नक्षत्रों के गणित का साधन द्वादशभाव और नवग्रहों के स्पष्टीकरण का गणित एवं विभिन्न यन्त्रों द्वारा सभी ग्रहों के साधन का गणित बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया है। इस ग्रन्थ में यन्त्र निर्माण करने की विधि का निरूपण किया है।

भद्रबाहुसंहिता अष्टांग निमित्त का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भ के २७ अध्यायों में निमित्त और संहिता विषय का प्रतिपादन किया गया है। १ वें अध्याय में अरिष्टों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ का निर्माण श्रुतकेवली भद्रबाहु के वचनों के आधार पर हुआ है। विषयनिरूपण और शैली की दृष्टि से इसका रचनाकाल ८–९ वीं शती के पश्चात् नहीं हो सकता है। हाँ लोकोपयोगी रचना होने के कारण उसमें समय-समय पर संशोधन और परिवर्धन होता रहा है।

इस ग्रंथ में व्यंजन अंग स्वर, भौम छिन्न अन्तरिक्ष लक्षण एवं स्वप्न इन आठों निमित्तों का फलनिरूपण सहित विवेचन किया गया है। उल्का परिवेष विद्युत् अभ्र सन्ध्या मेघ वात प्रवर्षण गन्धर्वनगर, गर्भलक्षण यात्रा,उत्पात ग्रहचार, ग्रहयुद्ध स्वप्न मुहूर्त,तिथि करण शकुन पाक ज्योतिष वास्तु, इन्द्रसम्पदा लक्षण व्यंजन चिह्न, लग्न विद्या औषध प्रभृति सभी निमित्तों के बलाबल विरोध और पराजय आदि विषयों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। यह निमित्तशास्त्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ है। इससे वर्षा कृषि धान्यभाव एवं अनेक लोकोपयोगी बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि के रचयिता समन्तभद्र का समय ११ वीं शती है। ये समन्तभद्र विजयप के पुत्र थे। विजयप के भाई नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक की रचना आनन्द संवत्सर में चैत्रमास की पंचमी को की है। अतः समन्तभद्र का समय ११ वीं शती है। इस ग्रन्थ में धातु, मूल जीव नष्ट मुष्टि लाभ हानि रोग मृत्यु, भोजन शयन शकुन जन्म कर्म अस्त्र शल्य वृष्टि अतिवृष्टि अनावृष्टि, सिद्धि, असिद्धि आदि विषयों का प्ररूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में अ च ट त प य श अथवा आ ए क च ट त प य श इन अक्षरों का प्रथम वर्ग आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष इन अक्षरों का द्वितीय वर्ग इ ओ ग ज ड द ब ल स इन अक्षरों का तृतीय वर्ग ई औ घ झ ढ ध भ व ह, न अक्षरों का चतुर्थ वर्ग और उ ऊ ङ ञ ण न म अं अः इन अक्षरों का पंचम वर्ग बताया गया है। प्रश्नकर्त्ता के वाक्य या प्रश्नाक्षरों को ग्रहण कर संयुक्त असंयुक्त अभिहित और अभिघातित इन पाँचों द्वारा तथा आलिंगित अभिधूमित और दग्ध इन तीनों क्रियाविशेषणों द्वारा प्रश्नों के फलाफल का विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में मूक प्रश्नों के उत्तर भी निकाले गये हैं। यह प्रश्न शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

हेमप्रभ—इनके गुरु का नाम देवेन्द्रसूरि था। इनका समय चौदहवीं शती का प्रथम पाद है। संवत् ११ ५ में त्रैलोक्यप्रकाश रचना की गयी है। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—त्रैलोक्यप्रकाश और मेघमाला।"

त्रैलोक्यप्रकाश बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ११६ श्लोक हैं। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से फलित ज्योतिष की अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आरंभ में ११ श्लोकों में लग्न ज्ञान का निरूपण है। इस प्रकरण में भावों के स्वामी ग्रहों के छ प्रकार के बल दृष्टिविचार, शत्रु-मित्र वक्री-मार्गी उच्च-नीच भावों की संज्ञाएँ, भावराशि ग्रहबल विचार आदि का विवेचन किया गया है। द्वितीय प्रकरण में योगविशेष—धनी सुखी दरिद्र राज्यप्राप्ति सन्तानप्राप्ति विद्या प्राप्ति आदि का कथन है। तृतीय प्रकरण में निधिप्राप्ति—घर या जमीन के भीतर रखे गये धन और उस धन को निकालने की विधि का विवेचन है। यह प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इतने सरल और सीधे ढंग से इस विषय का निरूपण अन्यत्र नहीं है। चतुर्थ प्रकरण भोजन और पंचम ग्रामपृच्छा है। इन दोनों प्रकरणों में नाम के अनुसार विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार के योगों का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ पुत्र प्रकरण है,इसमें सन्तानप्राप्ति का समय सन्तान संख्या पुत्र-पुत्रियों की प्राप्ति आदि का कथन है। सप्तम प्रकरण में छठे भाव से विभिन्न प्रकार के रोगों का विवेचन अष्टम में सप्तम भाव से दाम्पत्य सम्बन्ध और नवम में विभिन्न दृष्टियों से स्त्री-सुख का विचार किया गया है। दशम प्रकरण में स्त्रीजातक—स्त्रियों की दृष्टि से फलाफल का निरूपण किया गया है। एकादश में परचक्रगमन द्वादश में गमनागमन त्रयोदश में युद्ध चतुर्दश में सन्धि विग्रह

पंचदश में वृक्ष ज्ञान षोडश में ग्रह दोष-ग्रह पीड़ा सप्तदश में आयु, अष्टादश में प्रवहण और एकोनविंश में प्रव्रज्या का विवेचन किया है। बीसवें प्रकरण में राज्य या पदप्राप्ति इक्कीसवें में वृष्टि बाईसवें में अर्धकाण्ड तेईसवें में स्त्रीलाभ चौबीसवें में नष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं पच्चीसवें में ग्रहों के उदयास्त सुभिक्ष-दुर्भिक्ष महर्घ समर्घ और विभिन्न प्रकार से तेजी-मन्दी की जानकारी बतलाई गयी है। इस ग्रंथ की प्रशंसा स्वयं ही इन्होंने की है।[१८]

श्रीमद्देवेन्द्रसूरीणां शिष्येण ज्ञानदर्पण।
विश्वप्रकाशकश्चक्रे श्रीहेमप्रभसूरिणा॥

श्री देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्री हेमप्रभ सूरि ने विश्वप्रकाशक और ज्ञानदर्पण इस ग्रन्थ को रचा।

मेघमाला की श्लोक संख्या १ ० बतायी गयी है। प्रो एच डी वेलनकर ने जैनग्रंथावली में उक्त प्रकार का ही निर्देश किया है।

रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धि दीपिका नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा है। इनका समय १५ वी सदी बताया जाता है। ग्रन्थ के अन्त में निम्न प्रशस्ति गाथा मिलती है।

सिरिवयरसेणगुरुपट्ट-नाहसिरिहेमतिलयसूरीणं।
पायपसाया एसा रयणसिहरसूरिणा विहिया॥१४४॥

वज्रसेन गुरु के पट्टधर श्री हेमतिलक सूरि के प्रसाद से रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धि प्रकरण की रचना की।

इसे 'मुनिमणभवणपयासं' अर्थात् मुनियों के मन रूपी भवन को प्रकाशित करने वाला कहा है। इसमें कुल १४४ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में वारद्वार, कालहोरा वारप्रारम्भ कुलिकादियोग वर्ज्यप्रहर, नन्दभद्रादि संज्ञाएँ, क्रूरतिथि वर्ज्यतिथि दग्धातिथि करण भद्राविचार, नक्षत्रद्वार, राशिद्वार लग्नद्वार, चन्द्रमवस्था शुभरवियोग कुमारयोग राजयोग आनन्दादि योग अमृतसिद्धियोग उत्पातियोग लग्नविचार, प्रयाणकालीन शुभाशुभ विचार, वास्तु मुहूर्त षडष्टकादि राशिकूट नक्षत्रयोनि विचार, विविध मुहूर्त नक्षत्र दोष विचार, छायासाधन और उसके द्वारा फलादेश एवं विभिन्न प्रकार के शकुनों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ व्यवहारोपयोगी है।

चौदहवी शताब्दी में ठक्कर फेरु का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने गणितसार और जोइससार ये दो ग्रन्थ महत्वपूर्ण लिखे हैं। गणितसार में पाटीगणित और परिकर्माष्टक की मीमांसा की गयी है। जोइससार में नक्षत्रों की नामावली से लेकर ग्रहों के विभिन्न योगों का सम्यक विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति कृत जन्मपत्रपद्धति जिनवल्लभ कृत स्वप्नसहितिका जयविजय कृत शकुन दीपिका पुण्यतिलक कृत ग्रहायुसाधन,, पर्गमुनि कृत पासावली समुद्र कवि कृत सामुद्रिक-शास्त्र मानसागर कृत मानसागरी पद्धति जिनसेनकृत निमित्तदीपक आदि ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण हैं। ज्योतिषसार ज्योतिषसंग्रह शकुनसंग्रह शकुनदीपिका शकुनविचार जन्मपत्री पद्धति ग्रहयोग ग्रहफल नाम के अनेक ऐसे संग्रह ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनके कर्ता का पता ही नही चलता है।

अर्वाचीन काल में कई अच्छे ज्योतिर्विद् हुए हैं जिन्होंने जैन ज्योतिषसाहित्य को बहुत आगे बढ़ाया है।[१९] यहाँ प्रमुख लेखकों का उनकी कृतियों के साथ परिचय दिया जाता है। इस युग के सबसे प्रमुख मेघविजय गणि हैं। ये ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय वि सं १७३७ के आस पास माना गया है। इनके द्वारा रचित मेघमहोदय या वर्षप्रबोध उदयदीपिका रमलशास्त्र और हस्तसंजीवन आदि मुख्य हैं। वर्षप्रबोध में १३ अधिकार और ३५ प्रकरण हैं। इसमें उत्पातप्रकरण कर्पूरचक्र पद्मिनीचक्र मण्डलप्रकरण सूर्य और चन्द्रग्रहण का फल मास-वायु विचार, संवत्सर का फल ग्रहों के उदयास्त और वक्री अयन-मास-पक्ष विचार, संक्रान्तिफल वर्ष के राजा मंत्री धान्येश रसेश आदि का निरूपण आय-व्यय विचार, सर्वतोभद्रचक्र एवं शकुन आदि विषयों का निरूपण किया गया है। ज्योतिष विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिए यह रचना उपयोगी है।

हस्तसंजीवन में तीन अधिकार हैं। प्रथम दर्शनाधिकार में हाथ देखने की प्रक्रिया हाथ की रेखाओं पर से ही मास दिन घटी पल आदि का कथन एवं हस्तरेखाओं के आधार पर से ही जन्मकुण्डली बनाना तथा उसका फलादेश निरूपण करना

वर्णित है। द्वितीय स्पर्शनाधिकार में हाथ की रेखाओं के स्पर्श पर से ही समस्त शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। इस अधिकार में मूक प्रश्नों के उत्तर देने की प्रक्रिया भी वर्णित है। तृतीय विमर्शनाधिकार में रेखाओं पर से ही आयु, सन्तान स्त्री भाग्योदय जीवन की प्रमुख घटनाएँ, सांसारिक सुख विद्या बुद्धि राज्यसम्मान और पदोन्नति का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और पठनीय है।

उभयकुशल—का समय १८ वी सदी का पूर्वार्द्ध है। य फलित ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने विवाहपटल और चमत्कार चिन्तामणि टबा नामक दो ग्रंथों की रचना की है। ये मुहूर्त और जातक दोनों ही विषयों के पूर्ण पण्डित थे। चिन्तामणि टबा में द्वादश भावों के अनुसार ग्रहों के फलादेश का प्रतिपादन किया गया है। विवाहपटल में विवाह के मुहूर्त और कुण्डली मिलान का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

लब्धचन्द्रगणि—ये खरतरगच्छीय कल्याणनिधान के शिष्य थे। इन्होंने वि सं १७५१ में कार्तिक मास में जन्मपत्री पद्धति नामक एक व्यवहारोपयोगी ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थ में इष्टकाल भयात भभोग लग्न नवग्रहो का स्पष्टीकरण द्वादशभाव तात्कालिक चक्र, दशवर्ग विंशोत्तरी दशा साधन आदि का विवेचन किया गया है।

बाघजी मुनि—ये पार्श्वचन्द्रगच्छीय शाखा के मुनि थे। इनका समय वि सं १७८३ माना जाता है। इन्होंने तिथिसारिणी नामक ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त इनके दो-तीन फलित-ज्योतिष के भी मुहूर्त सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थ हैं। इनका सारणी ग्रन्थ मकरन्द सारणी के समान उपयोगी है।

यशस्वतसागर—इनका दूसरा नाम जसवंत सागर भी बताया जाता है। ये ज्योतिष न्याय व्याकरण और दर्शन शास्त्र के धुरन्धर विद्वान् थे। इन्होंने ग्रहलाघव के ऊपर वार्तिक नाम की टीका लिखी है। वि स १७६२ में जन्मकुण्डली विषय को लेकर 'यशोराज-पद्धति' नामक एक व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ जन्मकुण्डली की रचना के नियमो के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है उत्तरार्द्ध में जातक पद्धति के अनुसार संक्षिप्त फल बतलाया है।

इनके अतिरिक्त विनयकुशल हरिकुशल मेघराज जिनपाल जयरत्न सूरचन्द्र आदि कई ज्योतिषियो की ज्योतिष सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध है। जैन ज्योतिष साहित्य का विकास आज भी शोध टीकाओ का निर्माण एवं संग्रह ग्रन्थों के रूप में हो रहा है।[१४] सक्षप में अंकगणित बीजगणित रेखागणित त्रिकोणमितिगणित प्रतिभागणित पचाग निर्माण गणित, जन्मपत्रनिर्माण गणित आदि गणित-ज्योतिष के अगो के साथ होराशास्त्र संहिता[११] मुहूर्त सामुद्रिक शास्त्र प्रश्नशास्त्र, स्वप्नशास्त्र निमित्तशास्त्र रमलशास्त्र पासाकेवली प्रभृति फलित अंगो का विवेचन जैन ज्योतिष में किया गया है। जैन ज्योतिष साहित्य के अब तक पाँच सौ ग्रन्थो का पता लग चुका है।[१२]

संदर्भ तालिका

(१) धवलाटीका जिल्द ४ पृ ३१८.
(२) प्रश्नव्याकरण १ ५
(३) समवायाग स ७ सूत्र ५
(४) ठाणाग पृ ९८-१
(५) समवायाग स ८८.१
(६) समवायाग स० १५.१
(७) बहिराओ उत्तराओ कट्ठाओ सूरिए पढमं छम्मासं अयमाणे चोयालिस इमे मंडलगते अट्ठासीति एगट्ठि भागे मुहुत्तस्स दिवसखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता रयणिक्खेत्तस्स अभिनिवुड्ढेत्ता सूरिए चारं चरइ —— स ८८.४
(८) चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत गौरवपूर्ण जैन ज्योतिष विचारधारा शीर्षक निबन्ध पृ० ४६२
(९) ता अबड्ढपोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गते सेसे वा ता तिभागे गए वा ता सेसे वा पोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा जाव चउभाग गए सेसे वा। चन्द्रप्रज्ञप्ति प्र ९ ५
(१) अगविज्जा पृ २ ९-२ ९.

(११) भारतीय ज्योतिष पृ १ ७

(१२) मुहूर्तचूडामणिसार, गाथा १–८

(१३) प्रशस्ति संग्रह प्रथम भाग सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार, प्रस्तावना पृ ९५–९६ तथा पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना पृ १ १–१ २

(१४) अभूद्भृगुपुरे वरे ममकचक्रचूडामणि
स्फुटी नृपतिविसंस्तुतो मदनसूरिनामा गुरुः
तदीयपदधामिना विरचिते सुयन्त्रागमे
महेन्द्रगुरुणोधृतागमनि विचारणा सन्मना। यन्त्रराज अ० ५, श्लोक ६७

(१५) जैन ग्रन्थावली पृ १५६

(१६) त्रैलोक्य प्रकाश श्लो० ४३

(१७) केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि का प्रस्तावना भाग

(१८) भद्रबाहु संहिता का प्रस्तावना अंश

(१९) महावीर स्मृतिग्रन्थ के अन्तर्गत 'जैनज्योतिष की व्यावहारिकता' शीर्षक निबन्ध पृ० १९६–१९७

(२) वर्णी अभिनन्दनग्रन्थ के अन्तर्गत 'भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन ज्योतिष' पृ ४७८–४८४

भारतीय लोकोत्तर गणित-विज्ञान के शोध-पथ

(ले —लक्ष्मीचन्द्र जैन, म० म० सि० जबलपुर)

लोकोत्तर गणित-विज्ञान के प्रमाण मूलतः भारत और चीन में स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं[1]। आत्मा सम्बन्धी ज्ञान को इस गणित द्वारा निबद्ध करने के प्रयास की चरम सीमा प्राकृत ग्रंथों में दृष्टिगत होती है[2]। अभी तक प्राकृत ग्रन्थों की गणित पर शोधके जो स्फुट प्रयास हुए हैं,[3-8] उनसे यह संकेत मिलता है कि सम्भवतः,तीर्थंकर महावीर-कालीन भारतके अप्रतिम गणितीय शोध पश्चिमी और पूर्वी देशों के लिये प्रेरणा और कौतूहल की वस्तु रहे होंगे। अब समय है कि हम पायथेगोरस (६ ? ५७०? ई पू जन्म) कालीन यूरोप बेबीलान मिस्र और चीन की परम्पराओं कलाओं और विज्ञानों में प्रकट आनुरूप्य (correspondence) को गणितीय विकास के दृष्टिकोण पर भी आधारित करें।[9]

---

१ चीन में एतद्विषयक जानकारी के लिये निम्नलिखित ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं
NEEDHAM J Science and Civilization in China, Vols. 1 2, 3 4 (1954... ..) Cambridge. लेखक को अभी तक केवल प्रथम भाग देखने को मिल सका है।

२ लेखक ने अभी तक प्राकृत ग्रंथों के सिवाय अन्य भारतीय प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन नहीं किया है। सम्भव है कि उनमें भी ऐसे प्रमाण निबद्ध हों जो अभी तक प्रकाश में न आ सके हों। दत्त और सिंह ने ऐसे प्रमाणों की कल्पना अवश्य की है, (हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० १ १९५६, लखनऊ)। अन्यत्र गणना-संकेतना (arithmetical notation) के सम्बन्ध में वाण्डर्वेन का स्पष्ट मत यह है It is clear that these numerals were never used for actual counting or for calculations. They are pure fantasies which like Indian towers, were constructed in stages to dazzling heights. (Science Awakening, 1954 p.52, Groningen)

३ DATTA B. B. The Jain School of Mathematics, pp. 115-145 Bul. Cal. Math. Soc., Vol. XXI, (1929)

४ DATTA B B. Mathematics of Nemi Chandra, The Jain Antiquary Vol. I, No. II, (1935) pp 25-44.

५ DATTA B B A lost Jain treatise on Arithmetic The Jain Antiquary Vol. II No. II, (1936) pp 38-41

६ SINGH A. N Mathematics of Dhavala Shatakhandagama, Vol. IV (Amraoti) 1942 pp V XXI.

७ SINGH A. N History of Mathematics in India from Jain Sources The Jain Antiquary XV II, (1949) pp 46-53

८ SINGH A. N History of Mathematics from Jain Sources The Jain Antiquary XVI, II (1950) pp. 54-69

९ लक्ष्मीचन्द्र जैन 'तिलोय पण्णत्ती का गणित' जम्बूदीवपण्णत्तीसंगहो प्रस्तावना प्रकरण पृ १-१०४ (१९५८) शोलापुर।

९a. DATTA B. B. and SINGH A. N History of Hindu Mathematics, pt. I(1935) pt. II (1938) Lahore.

९b. इस सम्बन्ध में लेखक ने मिस्र के महास्तूप पर जैनमाला सम्मति सन्देश में दी थी तथा चीनी के गमन सम्बन्धी तर्क और जिनागम प्रणीत क्रमात्मक (ordinals) और गणात्मक (cardinals) पर विचार प्रकट किये थे। उनमें चीन

विश्व की ऐतिहासिक परम्पराओं के सहसम्बन्ध की खोज बहुधा प्रेरणास्पद होती है। साथ ही वह प्रस्तुत आधुनिक समस्याओं को सुलझाने के लिये नवीन पथप्रदर्शित करती है। लोकोत्तर गणित-विज्ञान के प्रयोगों की कहानी बहुत कुछ ऐसी है। वस्तु को निर्दोष बनाने के गणितीय प्रयासों ने लौकिक गणित को कहाँ तक प्रेरणा दी इस तथ्य का परिलक्षण यूनान के रेखागणित भारत के बीजगणित और चीन के कलात्मक विज्ञान में प्रकट है।

इतिहास सम्बन्धी शोध-पथ —

इतिहास साधारणतः कहाँ और कब का स्पष्टीकरण करता है। यूनान और भारत के गणित में गति लाने के स्रोत का अभ्युदय कहाँ और कब हुआ? यह विवाद नया नहीं है। आज के गणित-इतिहासकारों ने बेबीलान में ऐसे स्रोत की परिकल्पना की है।[10]

यह निश्चित है कि बेबीलान में ऐसे अभिलेख प्राप्य हैं जो भारत और यूनान के अभिलेखों से मिलते-जुलते हैं। उनका समय भी प्राचीनतर आंका गया है। परन्तु, गणितीय विधियों (जैसे स्थानार्ह पद्धति—place value system का विकास आदि) में परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उस युग में बेबीलानियों में अलौकिक प्रेरणा का स्रोत दृष्टिगत नहीं है। लौकिक गणितीय विधियों में क्रांति उत्पन्न होने का आधार निश्चित न होने के कारण गणित इतिहासकारों के समक्ष प्रस्तुत समस्या का सर्वमान्य समाधान नहीं हो सका। अब हम स्रोत सम्बन्धी समस्या पर विस्तार से विचार करेंगे।

भारत में वर्द्धमान महावीर के तीर्थकाल में हुई गणितीय क्रांति को देखने पर कुछ नवीन दृष्टिकोण सामने आते हैं। प्रथम तो यह कि क्या उस काल में लौकिक गणित का आधार लेकर ही कर्मबंध और द्रव्य लोकादि विषयों को प्ररूपित किया गया? यदि लौकिक गणित का आधार लिया गया तो हमें ऐसे अभिलेख अवश्य मिलने चाहिएँ, जिनमें अनन्त की गणना और सत्तागा-गमन का अवक्षेप रूप से प्रयोगात्मक वर्णन हो। उनमें क्षेत्र प्रयोग-विधि तथा स्थानार्ह-पद्धति का प्रयोग प्रकट हो। अभी तक हमें ऐसे अभिलेख प्राप्त नहीं हो सके हैं और यह निश्चित करना पड़ता है कि सम्भवतः अनन्त की गणित और सत्तागागमन के प्रयोग वर्द्धमान महावीर के तीर्थकालीन होने चाहिएँ। स्थानार्ह पद्धति के विकास की आवश्यकता का आधार विस्तृत प्रमाण का ध्येय हो सकता है। वृहद् प्रमाण प्राकृत ग्रन्थों में उपलब्ध है।

जहाँ इटली में जीनो (४९ ई पू) के विभाज्यता (divisibility) सम्बन्धी तर्क कौतूहल उत्पन्न करते हैं तथा यूनानियों को अनन्त की गणना से भयभीत करते हैं, तथा जहाँ चीन में 'हुई शिह' (पाँचवी सदी ई पू) के असद्भास (paradoxes) जीनो के असद्भासों से सहसम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वहाँ भारत के प्राकृत ग्रन्थों में वे सिद्धान्त रूप से उपचारित किये जाकर द्रव्य क्षेत्र प्ररूपणा का आधार बनते हैं[11]। कणाद से प्रायः २ वर्ष पूर्व उमास्वाति ने पुद्गल के अविभागी प्रतिच्छेद की चर्चा की है, तथा उसी के आधार पर सीमित क्षेत्र में अनन्त विभाज्यता का खण्डन करनेवाले जीनो के तर्क और मो चिंग (१० ई पू) की बिन्दु की परिभाषा प्राकृत ग्रंथों से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।[12] अविभागीसमय सम्बन्धी प्राकृत ग्रन्थों के प्रकरण जीनो के अंतिम दो तर्कों का विषय बनते हैं। प्राकृत ग्रंथों में अविभाग प्रतिच्छेद को इकाई लेकर यथार्थ अनन्तों (proper infinities) का अल्पबहुत्व (comparability) संरचित किया गया है।

के सम्बन्ध में कोई भी जानकारी नहीं है। इन लेखों में चीन सम्बन्धी जानकारी का समान्तर समन्वय विद्यापति १ की सहायता से किया जा सकता है। (सम्मति सन्देश वर्ष १ अंक २ ४ ५, ६, ८–१४ १६, १७ वर्ष २ अंक १–२, ८।

१ न्यूगेबाएर के क्यूनिफ़ार्म ग्रन्थों के अनुवादों पर आधारित तथ्यों से यह नवीन सम्भावना प्रकट हुई है। इस सम्बन्ध में उनकी The Exact Sciences in Antiquity (Providence) 1957 दृष्टव्य है। पर, जैसा कि हम आगे देखेंगे यूरोप और चीन में यथार्थ विज्ञान संबंधी गुत्थियों का युगपत प्रकट होना नवीन समस्याएं प्रस्तुत करता है।

११ देखिये १ भाग १ पृ १४४। साथ ही "धवला" पुस्तक ३ और ४ देखिये।

१२ देखिये १ भाग १ पृ १५५।

अनन्त के अल्पबहुत्व का प्रकरण यूरोप में जार्ज केन्टर[13] (१८४५–१९१८) के काल से प्रारम्भ होता है। इसका आधार एक-एक संवाद की चर्चा गेलिलियो (१५६४–१६४२) से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। प्रश्न उठता है कि अनन्त के अल्प बहुत्व को निर्धारित करने की क्या आवश्यकता पड़ी ? लौकिक क्षेत्र में साधारणतः अनन्त को स्थान प्राप्त नहीं होता है। प्रायः प्रत्येक घटना में सांतता अनुमान अथवा अभिबिन्दुता (convergence) प्रस्थापित कर समाधान कर लिया जाता है। पर जब घटनाओं का स्पष्टीकरण गहरी दृष्टियों से करना होता है तब नवीन गणितीय उपकरणों का आविष्कार करना आवश्यक हो जाता है।

स्पष्ट है कि महावीरीय युग में एक नवीन पथ की ओर मोड़ देने के लिये सद्दृष्टियों से आदर्श को तौलने के लिये भारत तथा विदेशों में भी प्रचलित लौकिक गणित को साधन के रूप में अवश्य चुना गया होगा। उसमें नवीन प्रसाधन आविष्कृत किये गये होंगे और युगान्तरों में उनका प्रचलन देश-देशान्तरों में हुआ होगा।

अभिलेखबद्ध सामग्री से प्रकट है कि नवीन पद्धतियों का उपयोग सम्भवतः निम्नरूप में विकसित किया गया होगा

१ विविध प्रतीकत्व (symbolism) का विकास[14]।

२ संख्याएं लिखने में तथा व्यक्त करने में दशार्हा आदि पद्धतियों का प्रयोग।

३ ह्रासित (reduced) पूर्ण राशियों के लिखने में स्थानार्हा पद्धति (place value system) का प्रयोग।[15]

४ सलाका गणन (logarithms) का प्रयोग।

५ एक-एक तथा एक-बहु संवाद (One-many correspondence) विधि का प्रयोग।[16]

६ विरलन देय (spread and give) पद्धति का प्रयोग।

७ क्षेत्र प्रयोग विधि (method of application of areas) तथा काल प्रयोग विधि का उपयोग।[17]

८ वर्गादि स्थानों में खण्डित भाजित विरलित अपहृत प्रमाण कारण निरुक्ति और विकल्प विधियों के प्रयोग।[18]

उपर्युक्त पद्धतियों के स्रोत और आविष्कार के काल के विषय में खोज करने के लिये विशेष प्रयास नहीं हुए हैं। प्राप्य अभिलेखबद्ध सामग्री भी काल के विषय में यथोचित सिद्ध नहीं होती है। गणित सम्बन्धी हस्तलिपियों की खोज तथा प्रतीकत्व के विकास सम्बन्धी नवीन शिलालेखों की खोज उपयोगी सिद्ध हो सकती है। अभी भी टोडरमल द्वारा रचित अर्थसंदृष्टि में खोज के लिये अभूतपूर्व सामग्री विद्यमान है। टोडरमल ने अपने काल में उपलब्ध समस्त ग्रन्थों में से विभिन्न प्रकार की प्रतीक बद्ध सामग्री को सकलित किया और गोम्मटसार जीवकांड और कर्मकांड की टीकाओं में इनके प्रयोग विशेष रूप से किये। साथ ही उन्हें अर्थसंदृष्टि नामक ग्रन्थ बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह ग्रन्थ उनके कठोर परिश्रम तथा मेधाशक्ति का

---

१३ इस सम्बन्ध में विवरण निम्नलिखित पुस्तकों से उपलब्ध हो सकता है —

G CANTOR Contributions to the founding of the theory of Transfinite Numbers,(1915), *Dover Pub.*

A. A. FRAENKEL Abstract Set Theory (1953) Amsterdam.

१४ इसके अध्ययन के लिये मुख्यतः यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ती तथा टोडरमल रचित अर्थसंदृष्टि उपयोगी सिद्ध होगी। लेखक को अभीतक इनसे पूर्व की हस्तलिपियाँ अथवा मुद्रित ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सके हैं। धवला पुस्तक १९ (१९५७ मेलसा) में भी कुछ सामग्री उपलब्ध है।

१५ इस पद्धति का स्पष्ट विवरण टोडरमल ने अर्थसंदृष्टि में किया है।

१६ 'अनन्तों का अल्पबहुत्व' जैसे प्रकरण को समाभाजित करने के लिये वीरसेन ने इस विधि का प्रयोग धवला पु ३ में किया है।

१७. क्षेत्र प्रयोग विधि का उपयोग यूनान तथा उससे भी पूर्व बेबीलान में हुआ दृष्टिगत होता है। पर, भारत में द्रव्य क्षेत्र और काल की अपेक्षा से जीव द्रव्य विषयक प्ररूपण में ये प्रयोग गहराई से वृहद् और ठोस रूप में हुए हैं। इसके आविष्कार के विषय में अंतिम शब्द नहीं कहा जा सकता है।

१८. ये वैकल्पिक विधियाँ धवला पु ३ में पृ ४ आदि पर देखिये।

सम्यक प्रतीक है। इसमें उन्होंने ऋण प्रतीक के लिये पाँच चिह्नों का प्रयोग बतलाया है, शून्य का विभिन्न अर्थों में प्रतीक बत प्रयोग बतलाया है। सकामागमन के भी प्रतीक हैं जिनमें फंक्शन के फंक्शन (function of a function) की अवधा रणा को विकसित करने की ओर प्रयास असफल रहे प्रतीत होते हैं। यदि ये प्रयास इस ओर बढ़ते और भारत के विद्वानों का झुकाव इस ओर अधिक होता तो कुछ शताब्दियों पूर्व यहाँ आज का युग उपस्थित होता। अर्थ संदृष्टि सदृश ग्रन्थों के गहन अध्ययनसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधारों को सुदृढ़ किया जा सकता है और भारत के उज्ज्वल अतीतपर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। इसमें प्रयुक्त हुए कुछ प्रतीक गिरनार तथा अशोक काल से पूर्व के शिलालेख कालीन प्रतीत होते हैं।[19]

वर्द्धमान महावीर का तीर्थकाल न केवल गणित विज्ञान की दृष्टि से आकर्षक प्रतीत होता है वरन् वह इतिहास के अंधकारपूर्ण काल पर विशद प्रकाश डालने में सहायक हो सकता है। उदाहरणार्थ जहाँ अरस्तू (३८४ ई० से ३२२ ई० पू०) आत्माओं की गति (ladder of souls) के सिद्धान्त की प्ररूपणा करते हैं वहाँ चीन में ऐसा ही सिद्धान्त सुवन त्सू (२९८ ई० पू० से २३८ ई० पू० Hsun Tzu अथवा Hsun Chhing) द्वारा प्ररूपित किया गया है और यही भारत में जीवों के मार्गणा स्थान के रूप में प्ररूपित है।[20] चीन से लेकर यूनान तक ऐसी अवधारणाओं के गमन में विशद काल लगना चाहिये और स्रोत का कारण भी स्पष्ट होना चाहिये। भारत में वर्द्धमान का तीर्थ ही स्रोत था ऐसा निश्चय पूर्वक अभी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार चन्द्रमा के बढ़ने-घटने के कारण समुद्रों के नीचे की पाताल वायु का फैलना[21] चीन और यूनान में क्रमशः यू शिह चन चिउ (चौथी से तीसरी शताब्दी ई० पू०) और अरस्तू द्वारा चन्द्रमा की कला विकासादि के कारण समुद्री रीढ़हीन जन्तुओं के फैलने आदि की चर्चा से समन्वय रखता प्रतीत होता है।[22] इस तथ्य के हजारों मील दूर फैलने का कारण और स्रोत क्या हो सकता है? इस पर विशेष विचार किया जा सकता है।

भारत में एक ओर पायथेगोरस और दूसरी ओर कन्फ्यूशस (छठी सदी ई० पू०) द्वारा पश्चिम और पूर्व में नवीन प्रतिभा का मधुर संचालन एक अद्भुत क्रांति को प्रकट करता है। पायथेगोरस सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियाँ उनके अहिंसा प्रेम और गणित के अद्भुत ज्ञान को प्रकट करती हैं। लोक में जीवसंख्या की निश्चलता (invariability) के आधार पर जनता को मांसाहार की ओर से मोड़कर शाकाहारी बनाने का प्रयत्न पायथेगोरस की गणित की प्रतिभा का प्रतीक है।[23] यदि कोई साधारण (common) स्रोत यूनान और चीन के बीच रहा तो ऐसे प्रकरण हमें चीन में कन्फ्यूशस अथवा लाओ काल में दृष्टिगत होने चाहिऐं।[24] मिस्र की जागृति का काल भी प्रायः यही है जब कि कि सायटिक युग (६६३–५२५ ई० पू०) में वहाँ अहिंसक खुफू कालीन प्राचीन परम्पराओं का अकस्मात् अनुसरण प्रारम्भ हुआ था[25] और नरसिंह (sphinx) प्रतीक पुनः पूजा का केन्द्र बन गया था। सम्भवतः यही आश्चर्य पायथेगोरस के पूर्व भ्रमण का कारण बना होगा।

अविभागी पुद्गलपरमाणु के आधार पर परिभाषित बिन्दु के प्रयोग में वीरसेन द्वारा कतिपय नवीन विधियों का उप

---

१९. लेखक ने इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये भण्डारकर इंस्टीट्यूट पूना को लिखा है पर अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। अशोक के पूर्व के बडली ग्राम (अजमेर) तथा नेपाल की तराई के पिप्रावा नामक स्थान में उपलब्ध सामग्री में जो 'ई' का चिह्न है, उससे सम्भवतः ऋण के लिए प्रयुक्त चिह्नों का संबंध स्थापित किया जा सकता है। देखिये ओझा रचित भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० २, ४० (१९५९) दिल्ली।

२० देखिये १ भाग १ पृ० १५५।

२१ देखिये तिलोयपण्णत्ती भाग १ ४–२४ १ (शोलापुर) १९४३।

२२ देखिये १ भाग १ पृ० १५०–१५१।

२३ देखिये E. T BELL Magic of Numbers, (1946) pp. 87 88 91 92

२४ गौतम के मतानुसार बौद्ध धर्म का चीन में प्रथम प्रवेश ई० पश्चात् ६५ में हुआ जिसके प्रायः १ वर्ष पश्चात् प्रथम सूत्रों का चीनी भाषा में लोयाग में अनुवाद प्रारम्भ हुआ। देखिये १ भाग १ पृ० ११२।

२५ देखिये Salem Hossan The Sphinx, Its history in the light of recent excavations (Cairo pp. 219 221 (1949)

योग प्रकट हुआ है। इनमें से निश्शेषण विधि (method of exhaustion) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा शंकु के समच्छिन्नक (frustrum) का घनफल निकाला गया है। इसमें एक ऐसे ज्यामितीय सूत्र का भी उपयोग किया गया है, जो चीन में त्सु चुङ्-चिह् (प्रायः पाँचवीं सदी Tsu Chhung-Chih) द्वारा उपयोग में लाया गया है। सूत्र गणितीय रूप में यह है

$$\pi = \frac{परिधि}{व्यास} = \frac{१६}{११३} + \frac{१६}{११३ \times व्यास} +$$

स्पष्ट है कि यदि व्यास तुलना में बहुत बड़ा हो तो दक्षिण पक्ष में बीच की राशि नगण्य हो जावेगी। वीरसेन ने व्यास को इकाई मानकर इस मान को ग्रहण किया है। जब परमाणु के व्यास को इकाई माना जाता है, तो एक अंगुल माप व्यास के लिए भी π का मान $\frac{१६}{११३}+३$ ग्रहण किया जा सकता है। यही चीनी मान है। यदि उक्त सूत्र इसी आधार पर अवतरित है तो उसका स्रोत भारतीय है अन्यथा हो सकता है कि यह चीन से लेकर इस रूप में रखा गया हो[26]।

क्षेत्र प्रयोग विधियों में हम किन्हीं बीज राशियों का क्षेत्र प्ररूपण वाहदवें वर्गमूल के रूप में भी देखते हैं। इसका आशय प्ररूपण को सरल और सुग्राह्य बनाना है। स्पष्ट है कि किसी सीमित क्षेत्र में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की संख्या का वाहदवाँ वर्गमूल निकालने की विधियाँ भी प्रचलित होंगी तथा या तो उसका मान ठीक पूर्णांक ही होगा अथवा ऐसे परिकलन में पूर्णांकों के ग्रहण करने का प्रचलन होगा। लघुगणन (logarithm) में अर्द्धच्छेद* आदि निकालने की क्रिया में भी सम्भवतः यही प्रचलन रहा होगा।

लोकोत्तर गणित–विज्ञान में ज्योतिष के विकास को भी अवसर प्राप्त हुआ।[27] इसका कारण स्पष्ट है। दृष्टिगत ज्योतिष बिम्बों की गणना विस्तार, बनावट तथा उनसे परे आकाश की सीमाओं आदि पर गहन अध्ययन की सामग्री जुटाई या लिपिबद्ध की गई होगी। भारत में प्राचीन ज्योतिष के प्रमुख तत्त्वों को प्राकृत ग्रन्थों में साधारणतः अपरिवर्तित रखा गया है[28]। इसका कारण भी स्पष्ट है। इनके अनेक तथ्यों की यूनान और चीन के प्रारम्भिक ज्योतिषीय तथ्यों से तुलना कर इतिहास में नए मोड़ लाए जा सकते हैं।[29] साधारणतः बेबीलोनीय परम्परा को स्रोत के रूप में मान्यता है। कारण यह है कि भारत में प्राचीन अभिलेखबद्ध सामग्री का अभाव है और जो उपस्थित है, उसकी लिपि सर्वमान्य रूप से नहीं पढ़ी जा सकी है।

कर्मबंध जैसे जटिल प्ररूपण को देनेवाले उक्त भारतीय विद्वद्वर्ग के लिये फलित ज्योतिष में अंशदान देना स्वाभाविक प्रतीत होता है।* उसका क्या रूप रहा होगा? इस ओर लेखक ने अभी लक्ष्य नहीं दिया है। स्रोत के उदय का काल अथवा विकास का काल भी निर्णीत करना अभी कठिन-सा प्रतीत होता है, पर उपयुक्त सामग्री की उपलब्धि से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर अवश्य पहुँचा जा सकता है।

विज्ञान सम्बन्धी शोध पथ:—

उपधारणाओं (postulates) और परिकल्पनाओं (hypothesis) के आधार पर विज्ञान की प्रगति होती है।

---

२६ इस सम्बन्ध में डा. अवधेशनारायण सिंह के विचार भी द्रष्टव्य हैं जो वर्णी अभिनन्दनग्रन्थ (सागर) में "भारतीय गणित के इतिहास के जैन स्रोत" नामक लेख में पृ. ५ ३ पर प्रकट किये गये हैं।

* Logarithm to the base two

२७ देखिये ९. पृ. १६, १७।

२८ देखिये 'वीरपूर्व जैन-ज्योतिष विचार-धारा" नेमिचन्द्र शास्त्री पं. चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रन्थ (आरा) १९५४।

२९ चीन में उपलब्ध सामग्री के लिए देखिये १ भाग ३ —यूनान मिस्र और बेबीलोन की सामग्री के संक्षिप्त विवरण के लिये १ द्रष्टव्य है।

* इस सम्बन्ध में "केवल ज्ञान प्रश्न चूड़ामणि" (१९५) काशी तथा "ज्ञान प्रदीपिका" (१९१४) के विषय विशेष रूप से अपनी मौलिकता के लिए प्रतीत होते हैं। राशि सिर्मच श्रेणि बीथी जैसे शब्दों से भी सम्भवतः स्रोत का निश्चय किया जा सके।

उपधारणाओं को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है पर परिकल्पनाओं के आधार पर उन्हें प्रामाणिक माना जा सकता है, परिकल्पनाएं उपधारणाओं के आधार पर सिद्ध की जाती हैं, इस प्रकार विज्ञान में नवीन उपकरण तथा नवीन आविष्कार होते चले जाते हैं तथा सत्य के समीप जाने का अवसर प्राप्त होता प्रतीत होता है। अल्पतम उपधारणाओं के आधार पर एक सूत्री और संगत सिद्धांत (Unified & consistent) की रचना के प्रयासों की कहानी बहुत प्राचीन है इस सिद्धान्त से विश्व की प्रत्यक्ष घटना का समाधान करने का प्रयास होता है। समाधान होने के सिवाय अब यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह सिद्धान्त मनचाहे फलित के विषय में मार्गदर्शन कर सके। आज प्रधानत: गणित और प्रयोगों के आधार पर स्थापित क्वांटम यांत्रिकी तथा सापेक्षता सिद्धांत से ऐसे ही एकसूत्री सिद्धान्त की रचना के प्रयास हो रहे हैं ताकि आज के विश्व की अखिल अभिलेख बद्ध विज्ञान की सामग्री को अल्पतम प्रयास से पूर्णरूपेण समझा जा सके तथा पुद्गल (matter and electricity) की रचना के संबंध में और गहरी जानकारी प्राप्त हो सके।

प्रश्न है कि प्राकृत ग्रंथों में इस प्रकार की सामग्री की स्थिति अपेक्षाकृत क्या है ?[१] अभी तक जो तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं, उनसे स्थिति आशाजनक प्रतीत होती है। घटनाओं का इस प्रकार आंशिक समाधान ही किसी सिद्धान्त को पूर्णत: संगत सिद्ध नहीं कर सकता है। अपितु, सिद्धान्त का महत्व तब होता है जब कि वह आधुनिक सिद्धान्तों में गति या मोड़ देकर नवीन पद्धतियों की ओर ले जा सके। यदि नियत कार्यवाही (programme) नहीं है तो हमें वस्तुस्थिति पर गहरा विचार करना पड़ेगा।

प्राकृत ग्रंथों से मुख्यत: निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी मिलती प्रतीत होती है :—

(१) अनन्तों का पूर्णांकों पर आधारित अल्प बहुत्व तथा राशि सिद्धान्त।
(२) समय की अविभाज्यता के आधार पर अधिकतम और अल्पतम प्रवेग (velocity) की उपधारणा।
(३) पुद्गल परमाणु की अविभाज्यता तथा उनकी राशि की यथार्थ गणनात्मक (cordinal) सख्या की उपधारणा।
(४) पुद्गल परमाणु का यथार्थ अनन्त पुद्गल परमाणुओं के साथ एक ही प्रदेश में अवगाहनत्व।
(५) द्रव्यों तथा उनके गुणों का एक दूसरे में अन्योन्याभाव और असत्ताभाव।
(६) ऊर्जा-स्तरों (energy levels) के आधार पर पुद्गल परमाणुओं का बंध होना।
(७) समयों के बीतने की अतीत अनागत विधा।
(८) उपादान शक्तियों के सिवाय पुद्गल का अन्य द्रव्यों के उदासीन अनुग्रह (सहकारिता) से गमन परिणमन अवगाहन और स्थिरता होना।
(९) पुद्गल में विशेष गुणों के सिवाय प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व अनन्त गुणीहानिवृद्धि जैसे सामान्य गुणों का होना।
(१) स्पर्श (coincidence) अथवा अवगाहनत्व का सिद्धान्त।
(११) द्रव्यों की क्रियावती और भाववती शक्ति।[११]

---

१ इस सम्बन्ध में तुलनात्मक सामग्री मुख्यत: निम्नलिखित लेखों में प्राप्य है —

(अ) JAIN G R. Cosmology old & new (1942) Lucknow

(ब) KOHL J F Das physikalische und biologische Weltbild der indischen Jain Sekte. (1956) Aliganj.

(स) फूलचन्द्र जैन न-दर्शन में पुद्गल द्रव्य और परमाणु सिद्धान्त ब्र पं चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रंथ (आरा) १९५४ पृ २६१–२८२।

११ केवल जीव और पुद्गल द्रव्यों में दोनों शक्तियों की मान्यता है, शेष में केवल भाववती शक्ति ही। द्रव्यों के देशान्तर प्राप्ति हेतु प्रदेशों के हलनचलन रूप परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं। उनमें होनेवाले प्रवाह रूप उनके परिणमन को भाव कहते हैं।

जहाँ तक प्रत्यक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रश्न है, उनकी सम्भाव्यता का प्राकृत ग्रन्थों में इस काल के लिये निषेध है। तब मति और श्रुत से परोक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रकरण सम्मुख आता है। पुद्गल द्रव्य विषयक दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि श्रुत के सिवाय मति से होती है। मति का आधार संदेशवाहक पुद्गल द्रव्य की क्रियाएँ हैं। संदेशवाहन काल पर आधारित है, इसलिये सापेक्षता सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। सापेक्षता सिद्धान्त में जब महत्तम प्रवेग की उपधारणा की जाती है, तो भौतिक विज्ञान के प्रारम्भिक आधुनिक प्रयोगों की पुष्टि होती है। साथ ही अल्पतम क्रिया (action) के क्वान्टम (quantum) की उपधारणा से क्वान्टम यांत्रिकी का आधार बनता है, जिसमें अनिश्चितता के अनुबंध (uncertainty relations) का सिद्धान्त भी विशेष रूप से प्रयुक्त होता है।[12] आधुनिक सापेक्षता सिद्धान्त में जहाँ एक ओर महत्तम प्रवेग को उपधारित किया गया है, वहाँ उसे अल्पतम प्रदेश और समय की अवधारणा (concept) से अछूता रखा गया है। क्वान्टम यांत्रिकी में पुद्गल की द्वैतमय (तरंगात्मक और कणिकात्मक) दशाओं तथा गति और स्थिति के सम्बन्ध में समाधान नहीं मिलता है। इन समस्याओं में समय की अवधारणा (concept) से सम्बन्धित अल्पतम और महत्तम प्रवेग पर आधारित पुद्गल की युगपत् अनेक बिन्दुओं पर उपस्थिति का प्रकरण सहायक हो सकता है। सम्भवतः इस युक्ति से बोह्र (Bohr) के परिपूरकता (complementarity)[13] के सिद्धांत आदि का यत्किंचित् समन्वय भी हो सकेगा।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में प्रकृति के अल्पतम अथवा महत्तम क्रिया (action) के सिद्धान्त का प्रारंभिक प्रयोग होता है। इनमें मुख्यतः निश्चयात्मकता और अनिश्चयात्मकता के कारण भेद हो जाता है, जिसका मुख्य कारण गति स्थिति आदि सम्बन्धी उपर्युक्त समस्याएँ हैं। प्राकृत ग्रन्थों में भी कुछ ऐसी ही समस्या निम्न प्रकार उत्पन्न होती प्रतीत होती है। अतीतकाल पूर्णांकों से निर्मित है और अनागत काल के समय भी पूर्णांकों से निर्मित हैं। प्रथम की प्रथम संख्या और द्वितीय

---

१२ प्रत्येक सरल-दोलक (harmonic oscillator) की एक अद्वितीय (unique) आवृत्ति (frequency) होती है। प्लांक (planck) के मतानुसार प्रत्येक सरल-दोलक के लिये एक "ऊर्जा का क्वांटम (quantum of energy) निर्दिष्ट किया जा सकता है, जिसका परिमाण उस दोलक की आवृत्ति और नियतांक (constant) 'h के गुणनफल के बराबर माना जा सकता है। उस धारणा (concept) का अर्थ यह है कि जब भी किसी सरल-दोलक और विकिरण (radiation) में ऊर्जा का विनिमय होता है, तब जितनी ऊर्जा को यह दोलक ग्रहण करता है या जो देता है उसका परिमाण परिमित होता है और उस दोलक के क्वांटम के समान होता है। व्यापक रूप से यह देखा गया कि नियतांक h की विमितियाँ (dimensions) वही होती हैं, जो क्रिया (action) की होती हैं [अर्थात् जो ऊर्जा और समय के गुणनफल के या गतिमात्रा (momentum) और लम्बाई के गुणनफल की होती हैं] और यह क्रिया की मौलिक मात्रा (elementary quantity) के समान ही कार्य करता है। अतः उसे क्रिया का परमाणु समझा जा सकता है। *क्रिया सदा दो प्रकार की राशियों के गुणनफल के द्वारा व्यक्त की जाती है, जिनमें एक तो स्थानिकीय कोटि की होती है* और दूसरी गत्यात्मक कोटि की। अप्रत्यक्ष प्रयोगों के आधार पर अनिश्चितता के अनुबंधों का आधार इस प्रकार प्रकट होता है कि जब किसी कणिका का स्थान अधिक सुनिश्चित होता है तब उसकी गत्यात्मक अवस्था उतनी ही अधिक अनिश्चित होती है। किसी क्षणपर कणिका के स्थान को और उसी क्षण पर उसकी गति की अवस्था को एक साथ यथातथ जान लेना असम्भव है। अथवा किसी निर्देशांक (coordinates) की अनिश्चितता और गति मात्रा के तत्संगत (corresponding) घटक (component) की अनिश्चितता का गुणनफल सदैव कम-से-कम प्लांक के नियतांक के परिमाण की कोटि (order of magnitude) का होता है। इस प्रकार प्रकट है कि किसी कणिका का कोई निर्देशांक और उसके संवेग का तत्संगत घटक दोनों एक साथ यथार्थतापूर्वक नहीं जाने जा सकते और यदि इन दोनों संयुग्मी (conjugate) राशियों में से एक की अनिश्चितता बहुत कम हो तो दूसरी की बहुत अधिक हो जाती है। विशेष विवरण के लिये देखिये "भौतिक विज्ञान में क्रान्ति" (१९५८) प्रकाशन शाखा सूचना-विभाग उत्तर प्रदेश।

१३ कणिकात्मक गुण और तरंगात्मक गुण का प्रत्यक्ष विरोध कभी नहीं होता क्योंकि एक ही समय दोनों का अस्तित्व कभी नहीं रहता।

की अंतिम संख्या दृष्ट नहीं है । तथापि अतीतकाल समयराशि से अनागत काल राशि अनन्तगुनी अधिक बतलाई गई है ।[१४] इसके प्रत्येक समय में केवली के ज्ञान की पर्यायों की समानता अथवा असमानता विवादास्पद हो जाती है, जिसका आधार नियति वाद (determinism) अथवा अनियतिवाद (indeterminism) प्रतीत होता है । जो कुछ हो एक और प्रश्न सम्मुख आता है । यदि जीव चेतनमूल्य से मुक्ति का सामर्थ्य रखता है तो पुद्गल का वह सामर्थ्य किस विशेष गुण में प्रकट है । साधारणतः मन के चेतक भाव में अभिप्रायता (purposefulness) और कारणत्व (causality) का सहयोग रहता है पर पुद्गल की क्रियाओं में सम्भवतः केवल कारणत्व का योग रहता है ।[१५] इससे सम्भवतः अग्र और पूर्व विभव के सिद्धान्त (theory of advanced and retarded potentials) का निर्वचन हो सकता है । ऐसा प्रतीत होता है मानो बद्ध संसारी अपने ज्ञानगुण के उपलब्ध प्रत्येक अविभागी प्रतिच्छेद में एक या अनेक इच्छाओं के अनागत काल में फलित होनेवाले वेक्टरों या टेंसरों (vectors or tensors) को स्थापित करता है । मुक्ति (निवृत्ति) की ओर प्रवृत्त जीव इन अविभागी प्रतिच्छेदों को अशून्य रखना चला जाता है । इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्ग का गणितीय टेंसर[१६] (tensor) मय प्ररूपण प्राकृत ग्रन्थों से उपलब्ध ज्ञान की और भी गहरी जानकारी प्रदान कर सकता है ।

यद्यपि आत्मा अथवा पुद्गल की शक्तियाँ एक दूसरे रूप परिणत नहीं होतीं तथापि एक दूसरे स्तर को बढ़ाने में प्रयोज्य हो सकती हैं । जैसे ज्ञानगुण से चारित्रगुण बढ़ाया जा सकता है यह सिद्धान्त है, अथवा यह भी कहा जाता है कि काललब्धि से ज्ञानगुण चारित्रगुण की वृद्धि में निमित्त मात्र हो जाता है । काल के लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाएँ प्रधानतः व्यवहार काल के फलन (फंक्शन) हैं । यहाँ फलन का आशय हम गणितीय रूप में ले रहे हैं, जो एकार्हि (single valued) अथवा बहुर्हि (multiple-valued) हो सकता है । जब आत्मा या पुद्गल की स्थिति (position) अथवा गमन अवस्था का विचार करते हैं तो हमें फंक्शनल (functional) की अवधारणा का आधार लेना पड़ेगा क्योंकि एक समय में गमनशील वस्तु की स्थिति युगपत् कई बिन्दुओं पर होने से फंक्शन मात्र का उपयोग निरर्थक हो जाता है । यदि यह आधार लिया जावे तो सम्भव है कि सापेक्षता और क्वान्टम सिद्धान्तों को एकसूत्री सिद्धान्त में निबद्ध किया जा सके । प्रश्न है कि क्या इस तथ्य के आधार पर परमाणुओं अथवा बद्ध परमाणु राशियों के मात्रा गुरुत्व विद्युतावेश जैसे गुणों को भी काल के फलन के रूप में विभिन्न गुणों के स्तरों के पदों में निरूपण किया जा सकेगा ?

अनन्तों के अल्पबहुत्व स्थापित करने में केन्टर और डेडिकेंड की ज्यामितीय विधियों और प्राकृत ग्रंथों की विधियों में स्पष्ट अन्तर है । जहाँ आज सरल रेखा अथवा व्यवहार काल की अतीत अनागत दिशा में किन्हीं भी दो बिन्दुओं के अन्तराल में अगण्य (non-denumerable) संख्या राशि की मान्यता है, वहाँ प्राकृत ग्रंथों में बिन्दुओं की राशि की सीमित संख्या की मान्यता दी गई है । अतएव ग्रन्थों में प्रदेश कल्पना कालाणुओं के कारण अथवा पुद्गल परमाणुओं के आधार पर की गई प्रतीत होती है । इससे प्रतीत होता है कि असंख्यात कालाणुओं से लोकाकाश-द्रव्य की अखण्डता पूर्णरूपेण सम्भावी हो सकती है ।

---

१४ एक राशि से दूसरी राशि को अनन्तगुणा प्रदर्शित करने के लिये दोनों राशियों की इकाइयों में एक-एक संवाद स्थापित कर यह दर्शाया जाता है कि इसके पश्चात् दूसरी राशि में अनन्त संख्याएँ (इकाइयाँ) रह जाती हैं ।

१५. यहाँ कारणत्व शब्द का उपयोग करण संबंध से किया गया है । जीवों को सक्रियपन का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म के उपचय रूप पुद्गल हैं, इसलिये जीव पुद्गल करण वाले हैं । पुद्गलों को सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक काल है, इसलिए पुद्गल काल करण वाले हैं । सर्वस्थावर जीवसमूह कर्म फल को वेदते हैं, कार्य को नहीं ।

१६ अदिष्ट (scalar) और वेक्टर (vector) का व्यापक रूप टेंसर (tensor) है । इसके अनेक अवयवों का प्ररूपण अतिसूक्ष्म रूप वाले सांकेतिक समीकरण द्वारा किया जाता है । इसका प्रत्येक अवयव किसी अदिष्ट प्राचल (scalar parameter) का फलन (function) होता है । सापेक्षता सिद्धान्त में वह स्थिति निर्देशांक (coordinates) और समय (time coordinate) का फंक्शन होता है । ऐसा टेंसर क्षेत्र और काल के प्रत्येक अविभागी अंश पर एक टेंसर क्षेत्र का निर्माण करता है । क्षेत्र और काल परिवर्तन के परिणाम स्वरूप टेंसर का परिणमन एक विशिष्ट रूप से होता है, जिससे घटनाओं के संसार के तत्त्व का निरूपण सहज हो जाता है ।

इसका गणितीय आधार भी सुस्पष्ट है।[17] यह स्पष्ट इसलिए है कि त्रिविमीतीय (three-dimensional) आकाश में एक दूसरे पर लम्ब तीन दिशाओं में एक एक बिन्दु स्थापित करते हुए, विदिशाओं में अपरिमेय राशियाँ भी प्रकट हो जाती हैं, जो संततता (continuum) की संरचना में उसी तरह आधारभूत हो जाती हैं जैसी प्राकृत संख्याएँ। इसी एक एक प्रदेश संरचना से विभिन्न असद्भाव प्रकट नहीं हो पाते हैं, जो बहुधा सिद्धान्त को असमत बनाकर व्यावहारिक प्ररूपण में बाधाएँ उत्पन्न करते हैं।

आज गणित में जहाँ संततता में गण्य (denumerable) अनन्त से बड़े अनन्त की कल्पना में फलन का आधार लिया गया है जो बहुहारी (multiple valued) है, वहाँ प्राकृत ग्रंथों में एक-अनेक अथवा एक-अनन्त संवाद का आधार लिया गया प्रतीत होता है जो बहुहारी फलनों में प्रतीक बद्ध हुआ प्रतीत होता है। बहुहारी फलनों के विशिष्ट रूप और फलनक भौतिक घटनाओं से सुसंबद्ध किये जाकर और भी गहरी जानकारी प्रदान करने में सहायक हो सकते हैं। इस योजना में प्राकृत ग्रंथों आदि की भारतीय प्राचीन सामग्री संभवतः कुछ अंशों में उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

आज जहाँ कट (cut) शब्द का उपयोग होता है, उसका अविभागी अंश या अविभागी प्रतिच्छेद है। प्रतिच्छेद शब्द का प्राकृत ग्रंथों में प्रयोग इसलिये हुआ है कि उनमें विभिन्न प्रकार के गुणों और क्षेत्रादि के अविभागी छेदों का वर्णन रहता है। एक छेद दूसरा रूप नहीं होता इसलिये अन्योन्याभावी अथवा अत्यंताभावी होने के कारण उनमें 'प्रति' (corresponding) शब्द प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब हम गणित में अपरिमेय (irrational) अथवा काल्पनिक (imaginary) आदि संख्याओं का प्रयोग कर व्यावहारिक प्ररूपण का विषय बनायें तो वास्तविकता प्रकट करने के लिये अंततः प्राकृत (natural) संख्याओं के संवादी चित्रण का आधार लेना पड़ता।

एक ओर जब हम व्यवहार काल को ही घटनाओं के फलन के रूप में देखते हैं, वहाँ निश्चयकाल धर्म अधर्म आकाश को क्रमशः परिणमन गमन स्थिति अवगाह आदि में सहकारी (co-operational) पाते हैं। इनमें केवल भाववती शक्ति का विचार करना पड़ता है। इस प्रकार के कारकों (operators) को हम किन दशाओं में "व्यत्ययहीन" (non-commutative) कह सकते हैं? साथ ही यह प्रश्न उठता है कि चारों आपरेटर किस रूप में सापेक्षता और क्वान्टम सिद्धान्तों में प्रयुक्त हो सकते हैं? आशा है कि ऐसे प्रश्नों के अध्ययन न केवल भौतिकीय तथा रासायनिक घटनाओं के अपितु निवृत्ति विषयक प्ररूपणा के गहरे भेदों को प्रकाशित करने में उपयोगी सिद्ध होंगे।

अंत में मैं अपने गुरुओं प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ जिनकी असीम अनुकम्पा से शोध पत्र सम्बन्धी उपर्युक्त सुझाव दे सकने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

---

१७ देखिये ९. पृ १ २९

१८. क्वाटम यांत्रिकी का मूल आधार यह है कि भौतिक राशियों को साधारण संख्याओं के स्थान में ऐसी क्वांटम संख्याओं द्वारा निरूपित किया जाता है, जिनका गुणन व्यत्ययशील नहीं होता। व्यत्ययशीलता की कमी तब प्रकट होती है, जब कि वैश्लेषिक यांत्रिकी के दृष्टिकोण से दो राशियाँ वैधानिकतः संयुग्मित (canonically conjugate) हों। इस कमी का माप 'h द्वारा होता है जो सूक्ष्म-स्तरीय घटनाओं में उपेक्षणीय होता है? प्रत्येक भौतिक राशि के लिये क्वांटम-यांत्रिकी में एक प्रक्रिया संकेत (symbol of operation) अथवा कारक (operator) नियत करते हैं। समस्त भौतिक राशियों का एक-एक आनुषंगिक (conjugate) कारक होता है। अभी हम नहीं कह सकते कि उपर्युक्त प्रकार के कारकों को गणित में किस रूप में निविष्ट करना संभव होगा।

प्राचीन जैन साहित्य में मृतक कर्म

(डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, एम० ए० पीएच० डी०)

वैदिक युग में प्रेतक्रिया —

प्राचीन वैदिक युग में मृतकों को जंगल में फेंक दिया जाता (परोप्त) अथवा वृक्ष आदि पर रखकर छोड़ दिया जाता था (उद्धत)।[1] बाद चलकर मृतकों को जलाया जाने लगा। ऋग्वेद (१।१५।१४) में अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध मृतकों का उल्लेख इस कथन को प्रमाणित करता है।

कहा गया है कि मृतकों के क्रिया-कर्म के लिये ऐसा स्थान ढूंढना चाहिए जहाँ मृतक को सुख और शांति प्राप्त हो सके (शतपथ ५।१३।८।१)। शव को भूमि पर उतारने से पहले भूमि को गोबर से लीपकर तृण बिछा देने चाहिएँ। तत्पश्चात् शव को स्नान कराकर उसे चन्दन से लिप्तकर उसका क्षौर कर्म करना चाहिये नाखून काट देने चाहिएँ और फिर उसे नए वस्त्र पहना खाट-गाड़ी या शिबिका में रखकर श्मशान भूमि को ले जाना चाहिए। मृतक के पीछे गाय या बकरी के अगले बायें पैर में रस्सी बांधकर ले जाना चाहिए, जिससे उसके मांस से मृतक के शरीर को ढँका जा सके। क्षत्रिय मृत की चिता के उत्तर भाग में उसकी पत्नी को लिटाना चाहिए और उसके देवर को चाहिए कि वह उसे शीघ्र ही वहाँ से उठा दे।[2]

बौद्ध बुद्ध का दाहकर्म —

बौद्ध तथा जैन ब्राह्मण-परंपरा विहित अनुष्ठानों को प्राय: स्वीकार नहीं करते इसलिए उनकी प्रतिक्रिया इतनी जटिल नहीं है। बौद्ध सूत्रों में कहा है कि तथागत के मरण समाचार प्राप्त होते ही कुशीनारा के मल्ल नर-नारी क्रन्दन करने लगे। बुद्ध के शरीर को एक से एक सुन्दर सूक्ष्म वस्त्रों में लपेटा गया। मल्लों ने बुद्ध के सत्कार में छह दिन नाचने गाने में बिता दिये। तत्पश्चात् सातवें दिन उन्हें नगर के दक्षिण भाग से ले जाकर सुगन्धित काष्ठ की चिता बनाकर उसका दाह-संस्कार किया। सुगन्ध मिश्रित जल से चिता को शांत किया गया और फिर अस्थियों पर स्तूपों[3] का निर्माण हुआ

---

१ पालि ग्रंथों में आलाहन (जलाना) और छड्डक पुराण (फेंक देना) नाम की विधियों का उल्लेख है। जैन ग्रन्थों में (महानिशीथ गुजराती अनुवाद पृ २५) किसी श्रविका की दासी को उसकी मृत्यु के बाद पशु-पक्षियों के खाने के लिये जंगल में फेंक दिए जाने का उल्लेख है। मरण के बाद जेल के कैदियों को रस्सी में बांधकर खाई में लटका दिया जाता था जिससे उन्हें भेड़िये गीदड़ आदि भक्षण कर जाते थे (प्रश्न व्याकरण सू १२१ पृ ५५)। गिद्धपिट्ठक मरण स्वीकार करने के लिये बहुत से लोग (मृत पुरुष) हाथी ऊँट गधो आदि के बीच लेटकर अपने आप को गिद्धों से भक्षण कराते थे (औपपातिक सू १८,पृ १६२–१)। जैन साधु भी अपने मृतकों को जंगल में छोड़ जाते थे।

२ देखिये आश्वलायन गृह्य सूत्र ४२,१–४ पी एम मोद्दे, सोशल एण्ड रिलीजियस लाइफ इन द गृह्यसूत्राज पृ २४ २५२ आदि।

३ तित्तिर जातक (४३८,पृ ५१७) में बालू के स्तूप का उल्लेख है। स्तूप ईंट आदि से निर्मित किए जाते थे मृतक की स्मृति में जो देवकुल बनाया जाता था उसे चैत्य कहते थे। म्लेच्छों में मृतक लेण अथवा मृतक गृह बनाने की प्रथा थी। इस तरह के गृह दीव और जोण नामक देशों में बनाये जाते थे (निशीथचूर्णि साइक्लोस्टाइल प्रति पृ ११, आचारांग चूर्णि पृ १०)। मृतकों की पूजा (मडयपूयण) की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। देखिए आवश्यक भाष्य २६, २७ हरिभद्र टीका पृ १११ आवश्यक चूर्णि पृ० १५७ २२२ आदि।

(दीघ निकाय महापरिनिब्बाण सुत्त)। जैना के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण हो जाने पर ऋषभदेव के मृत शरीर पर चन्दन का अनुलेप किया गया हंस-चित्रित सुन्दर वस्त्र पहनाये गये और उनके शरीर को सर्वालंकारों से विभूषित किया गया उसके बाद शव को शिविका में रखकर ले गये और गोशीर्षचन्दन से निर्मित चिता पर रख दिया। अगुरु तुरुष्क मधु और घृत आदि डालकर चिता को प्रज्वलित किया गया। फिर शरीर का मांस और रक्त जल जाने पर जलसे चिता को शान्त किया गया। तत्पश्चात् उनकी अस्थियों पर चैत्य स्तूप निर्मित किये गये। (आवश्यक चूर्णि पृ २२२-४ जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति)।[1]

जैन भिक्षुओं की नीहरण क्रिया —

बृहत्कल्पसूत्र भाष्य ४।२७ (भाष्य का समय ईसवी सन् की चौथी शताब्दी) के विष्वग्भवन (जीव और शरीर का पृथक हो जाना अर्थात् मरण) प्रकरण में जैन भिक्षुओं की नीहरण क्रिया का विस्तार से उल्लेख है। उक्त सूत्र में कहा है कि यदि कोई भिक्षु रात्रि अथवा विकाल में मरण धर्म को प्राप्त करे तो वैयावृत्त करने वाला भिक्षु मृतक को ले जाकर जीव-जन्तु आदि रहित एकान्त स्थान में रख दे। यदि मृतक के शरीर को वहन करने के लिये किसी गृहस्थ के घर कोई काष्ठ आदि हो तो उसके द्वारा मृतक को वहन करे और फिर काष्ठ को जहाँ से लिया हो वहीं रख दे।

व्यंतराधिष्ठित मृत भिक्षु —

यदि कोई भिक्षु हाल ही में मरा हो और वायु के कारण उसका शरीर स्तब्ध न हुआ हो तो मृतक के हाथ-पैर फैला दे तथा मुंह और आंख बन्द कर दे। उसके हाथ और पैर के अंगूठों को रस्सी से बांध कर मुख-वस्त्रिका से मुंह ढक दे। मृतक को यक्षाविष्ट न होने देने के लिये उनकी अक्षत देह में उंगली को बीच में से थोड़ा-सा चीर दे। ऐसा करने पर भी यदि कोई व्यंतर या प्रत्यनीक देवता शरीर में प्रविष्ट हो जाये तो मूत्र (परिणामिनी) को बायें हाथ में लेकर शव को सींचे। यदि शरीराधिष्ठित व्यंतर विकराल रूप प्रदर्शित कर चिल्लावे या अट्टहास करे, तो निर्भीक रहकर शव को एकांत स्थान में रख दे।

मरणोत्तर विधि —

भिक्षु के कालधर्म को प्राप्त होने के पश्चात् भूमि को प्रमार्जित कर अव्यवच्छिन्न धारा से शव तृणों का एक संस्तारक तैयार करे। यदि तृण न हो तो चूर्ण केशर या लेप आदि के द्वारा 'क' [ब्राह्मी लिपि में 'क' निम्न प्रकार से लिखा जाता है + बनाकर उसके नीचे त (ब्राह्मी लिपि में λ) लिखे। ककार के नीचे तकार लिखने से X पुरुष की आकृति बन जाती है] साधु के काल-गत होने पर उचित नक्षत्र आदि देखकर डाभ के पुतले बनावे और मृतक को कुहनी हाथ के वस्त्र और भूमि वस्त्र में लपेटे एक वस्त्र नीचे और दूसरा ऊपर डाले। फिर शव को रस्सी से लपेट कर उसे एक उज्ज्वल वस्त्र से ढक दे।

दिन या रात्रि के समय जब भिक्षु कालधर्म को प्राप्त हो उसे उसी समय ले जावे। यदि रात्रि में हिम बरसता हो, चोरो अथवा जंगली जानवरो का भय हो नगर के द्वार बन्द हो और यदि किसी ग्राम में शव को रात्रि के समय निकालने की प्रथा

---

१ रामायण (६।१११।११ आदि) में कहा है कि रावण की मृत्यु होने पर सुवर्ण की शिविका बनाई गयी। मृतक को क्षौम वस्त्र पहनाये गए रंग-बिरंगी पताकाएँ लगाई गईं और फिर बाजे-गाजे के साथ अर्थी निकाली गई। दक्षिण की ओर मृतक का मुंह किया गया। आग्नेय दिशा में चिता के पास एक वेदी निर्मित की गई और वहाँ एक बकरे का वध किया गया। तत्पश्चात् चिता पर घी बखेर कर उसमें आग दी गई। प्रेतवाहन के लिये दूर्वा और जल से मिश्रित तिल भूमि पर रखे गए। इसके बाद मृतक को जल तर्पण कर सब नर-नारी अपने घर लौट गये। इसी प्रकार दशरथ आदि के मरने पर अनेक पक्षी और क्रीड़ा-पर्वत आदि के चित्र निर्मित कर शिविका को सजाया गया और उसे श्मशान भूमि में ले गए। वही (२।७६।१६ आदि)। पांडु का और्ध्वदैहिक कृत्य करते समय शिविका को अलंकृत कर छत्र ध्वज, चमर बजाते हुए गाजे-बाजे के साथ अर्थी निकाली गई रत्नो का दान किया गया। तत्पश्चात् चन्दन उशीरक आदि सुगन्धित द्रव्यो से चिता बनाकर पुरोहित की बताई हुई विधि के अनुसार दाह-कर्म सम्पन्न हुआ (महाभारत १।११८-११६, तथा देखिये जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति)

न हो तो शव को रात्रि में न ले जावे। यदि कोई महातपस्वी मरण धर्म को प्राप्त हुआ हो तो भी उसे रात का न ले जावे। हाँ यदि साधुओं के पास शुचि और श्वेत वस्त्र न हों तो मृतक को रात के समय निकाल सकते हैं। तथा यदि राजा अन्तःपुर सहित नगर में प्रवेश कर रहा हो या अपने योद्धा और कर्मचारियों के साथ बाहर जा रहा हो और उस समय नगर द्वार बन्द हो तो मृतक को रात्रि में ही निकालना चाहिए (बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य विस्तारभवन प्रकृत)।

उपाश्रय से मृतक को ले जाते समय जिस दिशा में ग्राम हो उधर मृतक का सिर रखना चाहिये। यदि साधु काफी संख्या में मौजूद हों तो उन्हें ही मृतक को वहन करना चाहिये नहीं तो गृहस्थ मृतक को बैलगाड़ी में रखकर ले जावें अथवा मल्ल लोग वहन करें, अन्यथा गृहस्थ राजकुल में पहुँचकर सहायता माँगें। यह संभव न हो तो चांडाल मृतक को उठाकर ले जावें। यदि शव को वहन करने वाले कुल चार व्यक्ति हों और उनमें एक वसतिपालक (उपाश्रय आदि की देख-रेख करनेवाला) हो तो शेष तीन व्यक्ति बीच-बीच में विश्राम करके शव को ले जावें। आवश्यकता होने पर अन्य वेष धारण करके मृतक की परिष्ठापना करनी चाहिए। संभव है कभी वहन करने वाला साधु अकेला ही हो तो ऐसी हालत में वह सवर्गी असवेगी साम्य सिद्धपुत्र और श्रावकों की सहायता से मृतक को ले जाय। आवश्यकता होने पर श्रावकों को दूसरे गाँव से बुलवाय। यदि श्रावक भी न मिलें तो फिर क्रम से सारूपिकी सिद्धपुत्री तुल्यवयवाली श्राविका वृद्धा सयती मध्यवय वाली सयती और तुल्यवयवाली सयती की सहायता से मृतक का निष्कासन करे। स्त्रियाँ भी न मिलें तो मल्लगण हस्तिपालगण और कुंभकार गणों की सहायता प्राप्त करे। अन्यथा हीन जाति हीनकर्मी कूड़ा-कचरा उठाने वाले (सफर) नगरशोधक और स्नान कराने वाले आदि की सहायता से मृतक को ले जावे। ये लोग यदि बिना पैसे लिये काम करने को तैयार न हों तो इन्हें धर्मोपदेश देकर अथवा वस्त्र आदि देकर सन्तुष्ट करे (व्यवहार भाष्य ७ गाथा ४४९ ६२, पृ ७९)।

मृतक की परिष्ठापनविधि —

मृतक को परिष्ठापन करने के लिये स्थंडिल प्रदेश (जीव-जन्तु रहित प्रदेश) की देखभाल करना अत्यन्त आवश्यक है। किसी कोरे मिट्टी के बर्तन में पान और चार अंगुल प्रमाण कुशों को लेकर स्थण्डिल की ओर मुह किये अर्थी के आगे-आगे एक साधु को चलना चाहिए (बृहत्कल्पभाष्य वही)।

यदि मरण का समाचार किसी को ज्ञात न हो तो साधु शीघ्र ही अन्य लिंग धारण कर प्रच्छन्न रूप से मृतक को किसी स्थंडिल प्रदेश में ले जावे। यदि मरण का पता लग गया है और मृतक को नगर के बाहर ले जाना संभव न हो तो उसे विधि पूर्वक उपाश्रय के पश्चिम-दक्षिण भाग में रख दे। यदि वहाँ स्थान न हो तो फिर राजा द्वारा अनुज्ञात स्थंडिल में परिष्ठापित करे। यदि स्थंडिल जीव जन्तु रहित न हो तो सूखे तृणों में रख दे। यदि राजा की आज्ञा हो कि सब पाखण्डियों का मृतक कलेवरों को गड्ढे में छोड़ देना चाहिए अथवा बहती हुई नदी या जलती हुई आग में फेंक देना चाहिए तो फिर ऐसा ही करें (बृहत्कल्प भाष्य ४ गाथा ४८२४)। मृतक को परिष्ठापन करते समय सब से पहले नैऋत दिशा पसन्द करनी चाहिए। उसके अभाव में क्रम से दक्षिण-पश्चिम आग्नेय (वायव्य) पूर्व-उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशाओं में मृतक को रखना चाहिए (वही विस्तारभवन प्रकृत)।

आनन्दपुर में (वडनगर, उत्तर गुजरात) उत्तर दिशा में सयतों का परिष्ठापन किया जाता था। ऐसी हालत में उत्तर दिशा में ही जैन साधुओं को भी परिष्ठित करना चाहिये। यदि किसी गाँव में सब जगह खेत हों तो राजपथ अथवा दो गाँवों के बीच की सीमा में मृतक को रखकर छोड़ दे। यदि यह संभव न हो तो श्मशान में जावे। यदि श्मशान पालक श्मशान के द्वार पर खड़ा होकर माँगे तो वहाँ अनाथ-मृतक जलाये जाते हों वहाँ ले जाय। यदि श्मशान में इस तरह का कोई अन्य स्थान न हो तो श्मशान पालक को धर्मोपदेश देकर सन्तुष्ट करें। यदि वह फिर भी न माने तो उसे मृतक के अथवा अन्य वस्त्र दे। यदि स्वीकार न करे तो गाँव में से माँगकर लावे। यदि वस्त्र न मिलें तो राजकुल में जाकर निवेदन करें कि हम निष्किंचन साधु श्मशान-पालक को क्या दे सकते हैं। यदि राजा कहे कि श्मशान-पालक की मर्जी के खिलाफ हम कुछ नहीं कर सकते तो फिर धर्मास्तिकाय की कल्पना कर हरितकाय के ऊपर ही मृतक को परिष्ठापित कर दे। (व्यवहार भाष्य ७ गाथा ४४२–६, पृ ७६)। मृतक के पास रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि साधुओं के उपकरण रख दे। ऐसा न करने पर राजा को भय हो सकता है कि मृतक की किसी गाँव वाले ने हत्या कर दी है और ऐसी हालत में संभव है कि वह किसी गाँव को जलवा डाले (बृहत्कल्प भाष्य वही)।

परिष्ठापन के बाद की विधि —

मृतक को स्थंडिल में रखकर शव की बिना प्रदक्षिणा किये ही साधु लोग इस तरह अपने स्थान को लौट जायें जिससे उनके पैर गाँव की तरफ न हों। वे जिस मार्ग से गये हों उस मार्ग से न लौटें। उपाश्रय में आकर मंगल-स्तोत्र का पाठ करें। मृतको की मूत्र-कफ आदि से सनी हुई कुशमयी शय्या को फेंक दें। यदि कोई गणाधिष्ठित साधु मरा हो तो उसकी तो शय्या के टुकड़े टुकड़े करके फेंक दें तथा उसके अन्य उपकरण जो उसके शरीर से छू गये हों उनका भी परित्याग कर दें (बृहत्कल्प भाष्य वही)।

मृतकों के श्राद्ध में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।[1]

---

१ उत्तराध्ययन-टीका ११ पृ १९४ व निशीथचूर्णि ११ ७ ९ नायाधम्मकहा १४ १५१। श्राद्ध के लिये देखिये सांख्यायन गृह्यसूत्र ४।१-४ मतक भत्त जातक (१८) पृ १६६।

जैन विद्वानों की बौद्ध साहित्य सेवा

(ले० अगरचन्द नाहटा बीकानेर)

साहित्योपासना में जैन विद्वानों ने बड़ी ही उदारता एवं गुणानुराग से काम लिया है। उन्होंने विविध भाषाओं एवं विषयों के हजारों महत्वपूर्ण ग्रंथ निर्माण के उपरांत जैनेतर विद्वानों की रचनाओं को भी लिखकर अपने ज्ञान भंडारों में सुरक्षित रखा उनका पठन-पाठन किया एवं उन ग्रंथों पर टीका टिप्पणी आदि व्याख्याएँ बनाकर उनके प्रचार में हाथ बंटाया।

बौद्धधर्म भारत में ही जन्मा एवं सहस्रों वर्षों तक फला फूला पर एक दिन ऐसा आया कि एकाएक उसे अपनी जन्मभूमि से बिछुड़ना पड़ा। फिर भी सहस्रों वर्षों का प्रभाव सर्वथा नष्ट होना सम्भव न था। उसकी साहित्य सम्पत्ति भारत के से सर्वथा लुप्त कैसे हो सकती थी? जैन विद्वानों ने बौद्धों का जो कुछ भी साहित्य मिल सका अपने संग्रह में बड़े यत्न से सम्हाल कर रक्खा। फलतः कई ऐसे बौद्ध ग्रंथ आज भी जैन भण्डारों प्राप्त होते हैं जिनकी प्रतियाँ अन्यत्र कहीं नहीं मिलती अर्थात् उनकी सुरक्षा का श्रेय इन्हीं उदारमना जैन विद्वानों को है। ऐसे ग्रंथों में धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु और कर्मशील का तत्त्वसंग्रह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आर्य वसुधारा[1] नामक बौद्ध रचना का संक्षिप्त रूप जैन विद्वानों ने भी अपना लिया है, जिसका प्रतिवर्ष दीवाली के दिन पाठ किया जाता है। इसके संक्षिप्त रूप की पचासों प्रतियाँ जैन ज्ञान भंडारों में उपलब्ध हैं। उनमें से सबसे प्राचीन प्रति हमारे संग्रह में है।

पाणिनीय व्याकरण के काशिका विवरण के कर्ता जैनन्द्र बुद्धि संभवतः बौद्ध थे इसकी भी कई प्रतियाँ जैन भण्डारों में प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार शांतरक्षित रचित तत्त्वसंग्रह कमलशील की तत्त्वसंग्रह पंजिका एवं प्रमाणान्तर्भाव आदि बौद्ध ग्रंथों की प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियाँ जैसलमेर आदि भण्डारों में प्राप्त हैं।

भारतवर्ष में किसी समय बौद्ध न्याय का बोलबाला था। नालन्दा एवं विक्रमशिला आदि के महाविहारों में बड़े-बड़े विद्वान् रहते थे जिनके पास पढ़ने के लिये भारत के ही नहीं विदेशों से सैकड़ों विद्यार्थी आते थे। कहा जाता है कि हरिभद्र सूरि एवं अकलङ्कदेव के शिष्य भी बौद्ध महाविहारों में पढ़ने को गये थे। बौद्ध दर्शन एवं न्याय का जैनाचार्यों ने भलीभांति अध्ययन कर उनका खंडन अपने ग्रंथों में किया है। अर्थात् जैन विद्वानों ने बौद्ध ग्रंथों को केवल सुरक्षित ही नहीं रखा पर वे उनका अध्ययन अध्यापन भी करते थे। इतना ही नहीं तीन बौद्ध ग्रंथों पर, जिनमें से दो न्याय और एक अलंकार विषयक है कई जैन विद्वानों ने टीकाएँ भी बनाई हैं, जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है। ये टीकाएँ ८ वीं से १७ वीं शताब्दी तक में रची गई हैं।

बौद्ध ग्रन्थों पर जैन विद्वानों की टीकायें

न्याय ग्रन्थ —

१—न्याय प्रवेश मूलकर्ता-दिङ्नाग समय ई ४२५।

(i) आठवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने टीका बनाई।

(ii) सं ११६४ में पार्श्वदेव ने पंजिका की रचना की। ये दोनों टीकाएँ व पंजिका 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज' से प्रकाशित हैं।

१—'आर्य वसुधारा' आदि बौद्ध तांत्रिक कृतियों की प्रतियों के सम्बन्ध में धर्मदूत वर्ष ९, अं १ में प्रकाशित मेरा 'राजपूताने की बौद्ध वस्तुएँ' शीर्षक लेख देखना चाहिए एवं जैन समाज में प्रचलित वसुधारा की प्रतियों के सम्बन्ध में जैन सत्यप्रकाश वर्ष १ अंक ९ में प्रकाशित मेरा लेख देखें।

२—कई इन्हें जैन बतलाते हैं। पर कई प्रतियों में बोधि-सत्त्वदेशीय आदि विशेषण मिलते हैं जिनसे ये बौद्ध ज्ञात होते हैं। इसकी प्रति हमारे संग्रह में भी है।

२—न्याय बिन्दु-धर्मोत्तर टिप्पणी मूलकर्ता धर्मोत्तर, समय ई ६४ से ७२ ।

(i) प्रसिद्ध जैन विद्वान् मल्लवादी (ई ८२५) ने टिप्पणी की। इसकी सं १२ ६ की लिखित एक प्रति जैसलमेर के जैन ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है।

अलंकार—

१—विदग्ध मुखमण्डन मूलकर्ता धर्मदास[1] समय अज्ञात।

(i) सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जिनप्रभसूरि जी ने संक्षिप्त टीका बनाई है, जिसकी प्रति बीकानेर के 'जिनचारित्र सूरि ज्ञान-भण्डार' में एवं 'सिंधिया ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट' उज्जैन में पाई जाती है।

(ii) विनयसुन्दर के शिष्य विनयरत्न रचित टीका की एक अपूर्ण प्रति हमारे संग्रह में एवं पूर्ण प्रति 'कुशलचन्द्र सूरि पुस्तकालय' में प्राप्त है। इस टीका का रचना काल १७ वी शताब्दी है।

(iii) खरतरगच्छीय श्री जिनसिंह सूरि (आद्यपक्षीय शाखा) के शिष्य लब्धिचन्द्र के शिष्य शिवचन्द्र ने स १६६९ में अमरसर में काव्यार्थकृति नामक टीका बनाई, जिसकी प्रति भी पूज्य 'जिनचारित्रसूरि संग्रह' एवं चूरू के यति ऋद्धिकरण जी के संग्रह में विद्यमान है।

(iv) खरतरगच्छीय पिप्पलक शाखा के आचार्य जिनहर्ष सूरि के सन्तानीय सुमतिकलश के शिष्य विनयसागर ने स १६६९ माघ शुक्ल २ रविवार को तेजपुर में टीका बनाई, जिसकी प्रति जयचन्द्रजी के भण्डार (बीकानेर) में उपलब्ध है।

(v) कुन्दकुन्दाचार्य सन्तानीय किसी अज्ञात जैन विद्वान् के द्वारा रचित टीका की प्रति स्थानीय 'अनूप संस्कृत लायब्रेरी' म पाई जाती है।

अष्टांग हृदय नामक प्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ के रचयिता भी बौद्ध कहे जाते हैं, इस पर दिगम्बर जैन पण्डित आशाधर ने टीका बनाई थी पर वह अद्यावधि अनुपलब्ध है।

कई बौद्ध ग्रन्थ ऐसे भी मिल रहे हैं कि उनके रचयिता बौद्ध हैं या नहीं ? इसके सम्बन्ध में विचार है। अतः शोध करने पर संभव है और भी कई ग्रन्थ एवं टीकाओं का पता चले।

१—जैन टीकाकारों ने इसे बौद्धाचार्य धर्मदास रचित बतलाया है, बौद्ध विद्वानों से अनुरोध है कि वे धर्मदास के समयादि पर प्रकाश डालें।

जैन और बौद्ध पिटकों का समानता

(ले राहुल सांकृत्यायन)

यह विषय लेखका नही ग्रंथ-अनेक ग्रंथों में लिखने योग्य है पर मैं यहाँ संक्षेप में लिखूंगा।

बुद्ध और महावीर प्राचीन भारत के महान् स्वतन्त्र विचारक हैं। साथ ही उनका जीवन बहुत मधुर और अपने समय में भी हजारो के लिये शिक्षा और मार्गदर्शन का काम करता रहा। स्वय बौद्ध पिटकों (दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त) में आता है—"निगंठो नाथपुत्तो सघी चेव गणी च गणाचारियो आता यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो अद्धगतो वयो अनुप्पत्तो'।

दोनो ही महापुरुषो में बहुत सी समानताएँ थी—(१) दोनों शान्ति-अहिंसा के महान् प्रचारक थे (२) दोनों ने वर्ण व्यवस्था-जातिवाद का विरोध किया (३) दोनों ही अपरिग्रह प्रव्रज्या के जीवन को आदर्श मानते थे।(४) दोनों इस दुनिया के किसी कर्ता-निर्माता ईश्वर से इन्कार करते थे। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि (५) दोनो ही गणतन्त्र में पैदा हुए, वही बढे। महावीर की जन्मभूमि वैशाली अपने समय के मगध और कोशल जैसे राज्यो के मानमर्दन की शक्ति रखती थी। वह भारतीय जनतन्त्र की एथेन्स थी अत्यन्त महिमामयी।

दोनो के उपदेश अपने-अपने आगमो में समृहीत हैं। जैन उन्हें सुत्तागम के नाम से पुकारते हैं तो बौद्ध भी अपने सुत्त पिटक के पाँचो निकायो को दीघागम मज्झिमागम सयुत्तागम अंगुत्तागम खुद्दकागम कहते हैं। बल्कि सर्वास्तिवाद आदि निकाय तो आगम शब्द ही का प्रयोग करते थे। सुत्त का संस्कृत सूत्र जैन और बौद्ध दोनो मानते हैं पर सूत्र (कल्प) ग्रंथो की परिपाटी दोनो महापुरुषो के निर्वाण के बाद चली उसके पहिले सूक्त (ऋग्वेद के सूक्त) की परपरा थी। वस्तुतः सुत्त का अर्थ सूक्त था। बौद्ध परपरा इसे भूली नही थी। ११ वी सदी के ग्रंथकार आनन्द ने लिखा है, "अत्थानं सूचनतो सुवुत्त तोच सूदनतो सुत्ताना सुत्तसभागतो।

पालिपिटक और जैन आगमो (अंगों-उपांगो) को पढते समय जान पडता है कि हम एक ही समाज एक ही भूभाग एक ही वातावरण में विचर रहे हैं श्वास ले रहे हैं। दोनो जो भाषा बोलते थे वह भी एक ही रही होगी। आज भी वैशाली (बसाढ जिला मुजफ्फरपुर) में पूर्वी छोर की और लुम्बिनी (शाक्य) में पश्चिमी छोर की भोजपुरी बोली जाती है। सिंहल की पिटक परपरा सबसे पुरानी है। उसका तो कहना है 'मागधी मूल भाषा" (सा मागधी मूलभासा) है। यदि बच्चो को अलग रखा जाये किसी भाषा को सुनने का मौका न दिया जाये तो वे मागधी (पालि) बोलेंगे। मुल्ला लोग अरबी को यही स्थान देते हैं पर उसे अकबर के जमाने के तजुर्बे ने गलत सिद्ध किया। हाँ हमें श्रद्धा का सम्मान करना चाहिए। जैन आगमो की भाषा अर्धमागधी बतलायी जाती है। जो भी हो एक ही देश और एक ही काल के महापुरुषो की भाषा में उतनी ही विषमता होनी चाहिये जितनी आज दोनो की जन्मभूमि की भोजपुरी में है। पर सो बात नहीं है। पालि साहित्य की मागधी अशोक के पूर्वी शिलालेखो वाली मागधी से भिन्न है। लेखो की मागधी में स् के स्थान पर श् और र् के स्थान पर ल् की भरमार है, जिसका पालि में अभाव है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सिंहल शिलालेखो में मागधी उच्चारण खूब पाया जाता है। समस-संमस-सघस। पर ईसवी सन् के शुरू होने के बाद जो श् का बहिष्कार होता है तो आज भी वह पालिभाषा में बसा जाता है। यही बात जैन आगमो की भाषा के बारे में है। हाँ वे अर्धमागधी कहकर छुट्टी ले लेते हैं।

यह संभव भी नहीं हो सकता था। बौद्ध आगम चार सौ से अधिक वर्षो तक कण्ठस्थ श्रुति रूप में रहे। पहले २ सौ भारतीय कण्ठो में फिर २ सौ सिंहल कंठो में। सिंहल में इससे खतरा देखा जाने लगा। दीघभाणक मज्झिम भाणक आदि भिक्षु जिन आगमो को कण्ठस्थ किए हुए हैं, वे भिक्षु यदि अकाल और ईति-भीति से मर गये तो बुद्धवचन नष्ट हो जायेंगे। इसलिये सिंहल के राजा वट्टगामिणी (ईसवी पूर्व ४४–१७) की सहायता लेकर वहाँ के आलोक विहार में भिक्षुओं की परिषद बैठी जिसने प्रामाणिक मुखो से सुनकर तालपत्र पर पिटकों को उतारा। जैनो ने यह काम पाँच शताब्दियो

बाद वलभी में किया। अशोक विहार में बौद्धपिटक उस समय उतारे गये जब कि अब भी पाटलिपुत्र का अन्तिम चरण बीत रहा था। बहुत सावधानी रखने पर भी मौखिक सूत्रों की भाषा विशेषकर उच्चारण में परिवर्तन होना आवश्यक था। बुद्ध के समय में ही उनके सुत्तों (सूत्रों) को अब तक अपनी भाषा में शौरसेन के कौरव अपनी भाषा (निरुक्ति) में, मागध अपनी मागधी में बोलते थे। इस अव्यवस्था को हटाने के लिये छान्दस् (वैदिक भाषा) में अनुवाद कर डालने की सलाह दी गयी। पर बुद्ध ने उसे इंकार ही नहीं प्रायश्चित्त योग्य प्रयास बतलाया। वह जानते थे कि यद्यपि छन्द भाषा में कर देने से एकता जरूर आ जायेगी पर वह बहुत महँगी होगी। जनता के लिये ये सुत्त दुर्लभ हो जायेंगे। वह आज के काले साहबों की भाँति अंग्रेजी द्वारा जनता में ज्ञान फैलाना नहीं चाहते थे। जब तत्काल ही देशों (भिन्न–भिन्न जनपदों) ने भाषा में भेद पैदा कर दिया था तो बुद्ध से चार शताब्दी बाद बुद्धवचन की भाषा में और महावीर से प्रायः हजार वर्ष के बाद कण्ठस्थ होकर आई भाषा में परिवर्तन नहीं हुआ होगा यह मानना मुश्किल है। यह होने पर भी दोनों आगमों की प्रामाणिकता में संदेह नहीं हो सकता। सुत्त पिटक के पाँचों आगम बुद्धवचन हैं यह भले ही न कहा जाये पर बुद्धवचन इन्हीं में है, यह निर्विवाद है। यही बात महावीर के मुख्य वचनों और जैन आगमों के संबंध में भी है। इसके कारण कण्ठस्थ करनेवालों पर दोष देना बेकार है। सैकड़ों की परम्परा में यदि एक ने जानबूझकर या प्रमादवश घटा–बढ़ा भी दिया तो उसका परिमार्जन कैसे होता।

श्रमण महावीर—दोनों आगमों की समानता दिखलाने के पहिले जैन तीर्थंकर के बारे में कुछ बातें कह देनी चाहिये। महा-माहण[1] (महान ब्राह्मण) श्रमण भगवान महावीर वैशाली के काश्यपगोत्रीय ज्ञातपुत्र थे। ज्ञातपुत्त के स्थान पर पालिपिटक नाथपुत्त या नातपुत्त प्रयुक्त करता है पर बौद्धों का संस्कृत पिटक ज्ञातपुत्र ही देता है, जो अधिक युक्तियुक्त है। वैशाली के आस-पास के बहुत बड़े इलाके में जेथरिया-भूमिहार लोग बसते हैं। ज्ञातृक का 'जेथरिया' बनना बिल्कुल आसान है। यही नहीं कि दोनों में नाम और स्थान की समानता है, आज भी जेथरिया लोगों का गोत्र काश्यप है। वैशालिक श्रमण महावीर इसी जेथरिया वंश में पैदा हुये। बिहार के सबसे बड़े राजवंशों में द्वितीय बेतिया राजवंश जेथरिया है। जिस प्रकार श्रमण गौतम का घर का नाम सिद्धार्थ था वैसे ही श्रमण महावीर का घर का नाम वर्द्धमान था।[2] समणगोतम के नाम से जैसे बुद्ध लोगों में प्रसिद्ध थे उसी प्रकार श्रमण भगवान् या समण महावीर के नाम से जैन तीर्थंकर प्रसिद्ध थे। अन्य तीर्थिक (दूसरे मत वाले) समणनातपुत्त (ज्ञातपुत्र) भी कहते रहे होंगे। श्रमण गौतम की भाँति श्रमण काश्यप नाम क्यों नहीं पड़ा, इसका कारण शायद काश्यपों की बहुतायत रही होगी। उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे जो गौतम के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। यह वैसे ही श्रमण महावीर के अग्रश्रावक थे जैसे बुद्ध के सारिपुत्र।

बौद्ध आगमों के अनुसार श्रमण महावीर की शिक्षा चातुर्याम संवर की थी— 'चातुयाम संवर संवुतो (१) सब्बवारि वारितो च (२) सब्बवारि युत्तो च (३) सब्बवारि धुतो च (४) सब्बवारि फुट्ठो" च (दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त)। जैन आगम भी इससे सहमत हैं।

(१) "इच्छामि णं भंते तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता विहरित्तए" सूयगडं ७।१२।१४ भगवई १।९।७६

(२) "अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णविंति" (ठाणंग ४।१।१२)

(३) तएणं (से)—पुंडरीए सयमेव चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ। थेराणं अंतिए चाउज्जामं धम्मं उवसंपज्जित्ताए" (नायाधम्मकहाओ १९।१४७)

गौतम इन्द्रभूति—ये तीर्थंकर के ज्येष्ठ शिष्य थे—"समणस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूति नामं अणगारे गोयम गोत्तेणं – घोरतवस्सी घोरबम्भचेरवासी । (भगवई १।१।७ ओववाइय १७)

१—समणे भगवं महावीरे महामाहणे" उवासगदसा ७ ५६। (सर्वत्र उद्धरण पुप्फ भिक्खु संपादित 'सुत्तागम प्रकाशक समिति' गुड़गाँव के आगमों से दिया जाता है)।

२—समणेणं महावीरेण कासवेण।

३—उत्तरज्झयण सुत्त २३।२१ धम्मसुत्त महावीरचरिय ९।

शिष्य परम्परा—विनयपिटक के पाँचवें (तथा पीछे के) ग्रन्थ परिवार में बुद्ध से आनेवाली गुरु परंपरा दी गई है। वैसे ही नंदीसुत्त २१-४९ पृष्ठ १ ९२-३ पर भगवान् वर्द्धमान इन्द्रभूति अग्निभूति वायुभूति सुधर्मा जम्बू, प्रभव सय्यंभव यशोभद्र संभूतविजय और भद्रबाहु आदि से देवर्द्धिगणि पर्यन्त शिष्य परम्परा दी हुई है।

भिक्खु-भिक्खुणी—"अगाराओ अणगारियो (घर से बेघर प्रव्रजित)'[1] पालि (अगारा अनगारियो) जैसा है ही? इसी प्रकार बौद्धों की भाँति ही जैन साधु-साध्वियों को भी भिक्खु-भिक्खुणी कहा जाता था। पीछे बौद्ध श्रमणों के लिए इस शब्द के रूढ़ हो जाने पर इसका प्रयोग जैन साधुओं में छूट गया जिसे अभी भी कोई कोई जैन मुनि अपने नाम के साथ प्रयुक्त करते हैं। (तेरापंथ सम्प्रदाय के आद्य संस्थापक संत भीखणजी को आ 'भिक्षु' नाम से अभिहित किया जाता है)। श्रमणों की एकता सिद्ध करने के लिये यह शब्द बहुत उपयुक्त है।

बौद्ध भिक्षुओं में भिक्षु बनाने का काम संघ करता है पर आचार्य उपाध्याय का होना आवश्यक है वही बात जैन भिक्षुओं के लिये भी थी। भिक्षु बनाते समय जो विधि बरती जाती है उसे बौद्ध लोग उपसंपदा कहते हैं। चाहे इस अर्थ में उसका प्रयोग न हो पर जैनागम इस शब्द से अपरिचित नहीं हैं।

बौद्ध लोग जैन साधुओं को अधिकतर निगंठ (निर्ग्रन्थ) निगंठी (निर्ग्रन्थी) नाम से पुकारते थे। ये जैनआगम में भी सुपरिचित शब्द हैं। "पंचहिं ठाणेहिं निग्गंथा निग्गंथीओ य... "।[3]

आचार्य उपाध्याय—बौद्ध भिक्षु संघ द्वारा बनाये जाते थे जिसका कोरम (अल्पतम संख्या) विहार उत्तरप्रदेश (मध्य-मंडल) में १ और बाहर ५ रक्खी गयी थी। गुरु संघ ही कहना चाहिये। नव भिक्षु की शिक्षा के लिये उसी समय उपाध्याय और आचार्य बना दिये जाते थे। जैन भिक्षु-भिक्षुणी के लिये भी आचार्य उपाध्याय की आवश्यकता होती है—"आउसंतो समणा! संति मम पुरे संथुया वा पच्छा संथुया वा त जहा आयरिए वा उवज्झाए वा पवित्ती वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेइए वा अभियाई, एएसिं अट्ठं अट्ठं वाहामि (आयारंग ११।१।९२५)।

बौद्ध भिक्षु बनाते समय जो कर्मकाण्ड (कर्मवाचा) व्यवहृत होता है उसे उपसंपदा कहते हैं। यद्यपि उसी अर्थ में जैनागमों में उसका व्यवहार नहीं होता पर उपसंपदा का प्रयोग होता है—"इच्छामि णं भंते तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाण मासियं भिक्खु पडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।"[4]

एकशाटक—वस्त्र को लेकर जैन आम्नायों में विवाद है। बौद्ध ग्रंथों में जहाँ नग्न या दिगंबर साधुओं का उल्लेख भी मिलता है, वहाँ अति प्राचीन ग्रंथों में एकशाटक (एक ही वस्त्र पहने) का भी अनेक स्थानों पर उल्लेख है। थेरीगाथा में भद्दा 'पुराण निग्गंठी' कहती है—

"लूनकेसी पंकधारी एकसाटी पुरे चरिं" उदान (६।२ में भी "सत्त च एक साटा"[5] का उल्लेख है। जैनआगम में भी "एक साडे अदुवा अचेले"[6] मिलता है।

थेर (स्थविर)—शब्द का प्रयोग बौद्ध और जैन दोनों में ज्येष्ठ भिक्षुओं के लिये हुआ है। बौद्धों में तो १२ वर्ष से अधिक के सभी भिक्षुओं के नाम के साथ थेर या थेरो लगाया जाता है। जैन साधु ऐसा नहीं करते पर आगमों में ऐसा आता है—"एए च आमडे थेरे।

१—"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा" (आयारंग ७।६।४१ प्र भाग पृ २९)

२—"आउसंतो समणा संति मम पुरे संथुया पच्छा संथुया वा तं जहा आयरिए वा उवज्झाए वा" । (आयारंग १०।९२५)।

३—ठाणंग ५, १ ४१६ द्वि भाग पृ २६२।

४—अत्र २।१।९२, पृ ४२१ प्रव्रज्या और उपसंपदा शब्दों के पालि अर्थ के अनुरूप अर्थ के लिए देखिये—उ सू भा द्वि सूत्र ९० १८ पर।

५—(थेरी गाथा १ ७। (६) आयारंग ५।४।४२२। (७) भगवई १५।५४६, पृ ७१९।

एक से विशेष शब्द—जैन और बौद्ध आगमों में सैकड़ों एक से विशेष शब्द पाये जाते हैं, जिनमें से कुछ को यहाँ देते हैं।

पोसहसाला—पोसह को पालि में पोसथ (सं० पोषध) कहते हैं। उपवास या उपोसथ भी उसी शब्द के रूप हैं। पोसह व्रत लेकर रहने के लिये विशेष शालाएँ होती थीं जिनको पोसहसाला कहते थे। बौद्ध भिक्षु पोसथ के दिन जिस घर में एकत्रित होकर 'पोसथकम्म' (विनयविधि) करते हैं उसे उपोसथागार या पोसथशाला कहते हैं—"उपागासम्मचो वाविवा जेणवपोसहसाला तणेव उवागच्छइ"[1]। समणोवासिया (श्रमणोपासिका) जैसे जैन महिला को कहते हैं वैसे ही बौद्ध महिला को उपासिका कहते हैं।

वेरमणी—विरत होने का व्रत लेते समय इस शब्द का प्रयोग दोनों में मिलता है।

भन्ते—बौद्ध बड़ों को भन्ते (भदन्त) शब्द से पुकारते हैं। उस समय दास अपने स्वामियों को भन्ते कहकर संबोधित करते थे। जैनागम में भी यही बात मिलती है से गूण भन्ते 'से केणट्ठेण भन्ते "से णूणं भन्ते गरहमाण भन्ते" सेव भन्ते सेवं भन्ते।"[2]

आउसो—समान या छोटे के लिये आवुस (आयुष्मान्) शब्द का प्रयोग भी एक-सा मिलता है। अबौद्ध तो बुद्ध को भी "आवुस गौतम" कहकर संबोधित करते थे।[3] जैनागमों में भी देखिये "आउसो त्ति" (आयारंग १।१ ।१।१)।

"आउसो कासवा" (भगवई। १५।५४७ ५५ आदि) भगवान् महावीर के लिये यह संबोधन है, जैसा "आवुस गौतम" बुद्ध के लिये।

श्रावक उपासक—गृहस्थ भक्तों के लिये ये दोनों शब्द दोनों जगह व्यवहृत होते हैं। श्रावक से ही तो सरावगी बना है "समणोवासियाए" (भगवई १२।२।४४१) "मद्दुयं समणोवासगं (भगवई १८।७।६३३) "साविगे त्ति वा" उवासिए त्ति वा (आयारंग ४।१।७७८)।

आर्यमार्ग—बौद्ध-धर्म आर्य-अष्टांगिक मार्ग की बात करता है, और इधर सूयगडांग में मिलता है—"जे तत्थ आरिय मग्गं परमं च समाहियं (३।४।६)।

बोधि संबोधि—परम ज्ञान के लिये दोनों ही जगह इन शब्दों का प्रयोग होता है। जिसे परम ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह बुद्ध संबुद्ध कहा जाता है। जैनागमों में "किं न बुज्झह संबोही" (सूयगडांग २।१।१।८९)। तिविहा बोही—णाणबोही, दंसणबोही चरित्तबोही" (स्थानांग ३।२।२ ७) आदि प्रयोग मिलते हैं।

बुद्ध संबद्ध सयबद्ध—यह विशेषण दोनों महापुरुषों के लिये प्रयुक्त होते हैं।

"तिविहा बुद्धा—णाणबुद्धा दंसण बुद्धा चारित्त बुद्धा" (वही)

"नमोत्थु तित्थगराणं सयसंबुद्धाणं "(रायपसेणइयं ५)।

'समणेणं भगवया महावीरेण आइगरेणं तित्थगरेणं सयसंबुद्धेणं। (समवायांग २।२)

से हु पन्नाणमंत बुद्धे आरंभोवरए। (आयारंग ४।४।२५८)।

"बुद्धेहिं एवं पवेदितं (आयारंग ४।१।३४)

"सव्वाई धम्म य वियागरंति बुद्धा हु ते अन्तकरा भवन्ति" (सूय १।१४।१८)

"बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए" (वही २।६।४२।७८५)

"सिद्धे बुद्धे मुत्ते' (ठाणांग २।१।७६)

"जिणे जाणए बुद्धे बोहिए मुत्ते मोयए सव्वन्नू"। (भगवई १।१।५)

बौद्धों की नमस्कार गाथा है —

'मे च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता।

(१) भग १२।४।३७ पृ ५४८। (२) वही ७।१।२७

३—विनय के लिये मेरी "बुद्धचर्या" द्रष्टव्य

४—गोशालक ने भ महावीर को "आउसो' कहकर संबोधित किया है।

पच्चुप्पन्ना य जे बुद्धा अहं वंदामि ते सदा ॥"

इसे मिलाइये सुत्तकृतांग की निम्नगाथा से —

"जे य बुद्धा अतिक्कन्ता जे य बुद्धा अणागया" (१।१।११।५१२)

तथागत—यह शब्द भी जैनागमों में प्रयुक्त है।

"कओ कयाइ मेहावी उप्पज्जन्ति तहागया।

तहागया अप्पडिकन्ता चक्खू लोगस्सणुत्तरा" (वही २।१५।१२।६२५)

सम्मादिट्ठि, मिच्छादिट्ठि—बौद्ध वाङ्मय में सच्चे मत को सम्यग्दृष्टि और झूठ मत को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैनागम में भी इन्हीं अर्थों में ये शब्द प्रयुक्त हैं —

"एगा सम्मदिट्ठियाण वग्गणा एगा मिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा"। (ठाणंग २ १ ७)

"धम्मा मिच्छादिट्ठि ण भवे। (भगवई १।१।८२१)

मिथ्यादृष्टि मतों या ग्रंथों की गणना नन्दीसुत्त में मिलती है। पालि पिटक में भी अपने मत को छोड़ अन्य सबको मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

"भारह रामायणं भीमासुरक्खं कोडिल्लियं सगडभद्दियाओ घोडगमुहं, कप्पासियं नागसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं तेरासियं काविलियं लोगायणं सट्ठितंत माठरं पुराणं वागरणं भागवं पायंजली पुस्सदेवयं लेहं गणियं सउणरुयं नाडयाइं, अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेया संगोवंगा एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स—" (नन्दीसुत्त ४२)

विनय (विणय)—भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार नियम को विनय कहते हैं। बौद्धों का तो इसका एक पिटक (विनयपिटक) ही है। जैनागमों में भी विनय संबंधी व्याख्यान है। उत्तरज्झयण सुत्त का प्रथम अध्ययन ही विणयसुय है। जिसकी प्रारंभिक कुछ गाथाएँ इस प्रकार हैं —

'संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो

विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

× × × ×

विणए ठवेज्ज अप्पाणं इच्छन्तो हियमप्पणो ॥६॥

तम्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जओ।

बुद्धपुत्त नियागट्ठी न निक्कसिज्जई कण्हुई ॥७॥

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।

अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य ॥१५॥

वर्जित कथाएँ —धर्म ब्रह्मचर्य में बाधक कथाओं (वार्ताओं) को दोनों धर्मों ने वर्जित किया है। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल और सामञ्ञफल दोनों सुत्तों में इन्हें तिरच्छान कथा कहा है —

"तिरच्छानकथं अनुयुत्ता विहरन्ति सेय्यथीदं-राजकथं चोरकथं महामत्तकथं सेनाकथं भयकथं युद्धकथं-अन्नकथं पानकथं वत्थकथं सयनकथं मालाकथं गन्धकथं ञातिकथं यानकथं गामकथं निगमकथं नगरकथं जनपदकथं इत्थिकथं पुरिसकथं सूरकथं विसिखाकथं कुम्भट्ठानकथं पुब्बपेतकथं नानत्तकथं लोकक्खायिकं समुद्दक्खायिकं इति भवाभवकथं इति वा इति एवरूपाय तिरच्छानकथाय — — — — — — — — — ।"

ओववाइय सुत्त में ऐसी कुछ कथाओं का निषेध किया गया है —

"तेसि परिव्वायगाणं णो कप्पइ इत्थिकहा इ वा भत्तकहा इ वा देसकहा इ वा रायकहा इ वा चोरकहा इ वा जणवय कहा इ वा— — — — — — — (२)।

धर्म संबंधी पदों और वर्णन शैली में भी बहुत समानता है। कितनी ही जगह तो दोनों में भेद केवल पालि और अर्धमागधी के उच्चारण का है।

श्रमणपरम्परा— वैसे तो भारतीय संस्कृति एक ही है, जो श्रमण ब्राह्मण धाराओं में आर्य-द्रविड रक्त और संस्कृति के मिश्रण से पैदा हुई। पर उसमें भी श्रमण संस्कृति भीतरी भेदों को रखते हुए भी एक सम्प्रति थी। यह उपर्युक्त उदाहरणों

और कथनों से प्रतीत होगा। दोनों के आगमों में जो समानता देखी जाती है, उसके एक अंश को भी लेख में लाया नहीं जा सकता। बुद्ध और महावीर के मुख से निःसृत गाथाओं में बहुत समानता है परन्तु ऐसी बहुत कम मिलती हैं जो दोनों में एक हैं। हाँ उपमाओं चमत्कारिक उक्तियों आदि की समानता इतनी है कि दोनों को एक समय सामने न रखकर पढ़ने वालों को एकता की भ्रान्ति हो जाती है।

व्यक्ति नाम —दोनों में व्यक्तियों और भौगोलिक स्थानों की भी बड़ी समानता है। वस्तुतः दोनों के सुत्तों को पढ़ते समय मालूम होता है कि एक ही वातावरण में दवास ले रहे हैं। भाषा का भेद होते हुए भी पालि में "सक्को देवानं इन्दो" सैकड़ों स्थानों पर आता है। जैन सूत्र 'सक्कदेविन्द' बहुत बार दुहराते हैं। मक्खलीगोशाल का भी उल्लेख दोनों जगह मिलता है।[1]

पएसी—राजा अपने समय का घोर नास्तिक था। शरीर से पृथक आत्मा को नहीं मानता था। पालि-साहित्य में उसका नाम पायासी आता है। इसके अनुसार यह कोसल राजा का सामन्त था और सेतव्या में रहता था जो कोशल देश में श्रावस्ती और कपिलवस्तु के बीच में पड़ती थी जैनागम इसे सेयविया (श्वेताम्बिका) कहते हैं। दोनों नगर और व्यक्ति एक ही हैं।[2] जैनागम के अनुसार केसीकुमार ने उसकी नास्तिकता भगाई। दीर्घनिकाय[3] के अनुसार कोशलराज प्रसेनजित के समप्रम भिक्षु कुमारकाश्यप ने यह काम किया। दोनों जगह अपने पक्ष के समर्थन में जो युक्तियाँ पायासी ने दी हैं, वे आज भी बड़ी सबल मालूम होती हैं।

भौगोलिक नाम—दोनों में प्रायः वही हैं। बौद्ध धर्म सात सौ वर्ष पहले भारत से लुप्त हो गया इसलिए पिटिक में आये नामों का फिर से पता लगाने की आवश्यकता पड़ी। परन्तु जैन तो बराबर भारत में रहे वे कैसे कितनों ही को भूल गये? और तो और वैशालिक ज्ञातपुत्र काश्यप निगंठ न महावीर की जन्मभूमि वैशाली के बारे में ही निश्चय नहीं है। वासुन नाम का प्राचीन गाँव बसिल मुजर जिले में अब भी है। जहाँ जैनियों के न होने से मद्धालुओं ने एक मंदिर बना रखा है, परन्तु उसे वाणसी न कहकर दूसरा नाम दिया जाता है। जान पड़ता है मगध बिहार व उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग से बौद्ध धर्म की तरह जैनधर्म उच्छिन्न हो गया था। इसीलिए परम्परा टूट गई। आज जो जैन इन पूर्वी जिलों में पाये जाते हैं वे पीछे आए।

आलभिया[4]—आलविया के नाम से इसका उल्लेख सुत्तपिटक में आता है। वहीं यह भी पता लगता है कि यहाँ का यक्ष आलवक "पत्तालचन्द्र" माना जाता था। जैन बौद्ध आगम प्राचीन भारत के भौगोलिक ऐतिहासिक व सामाजिक सामग्री के महत्त्वपूर्ण साधन तथा एक-दूसरे के पूरक हैं। मैंने उस सामग्री के लिये 'बुद्धचर्या' लिखी मगर किसी जैन विद्वान ने जैन आगम चूर्णी टीकाओं आदि में जो सामग्री भरी है, उसको लेकर 'महावीरचर्या' नहीं लिखी नहीं तो इतिहास के विद्यार्थियों को बहुत सुभीता होता।

कंपिल्ल—पंचाल की राजधानी काम्पिल्य आज भी एटा जिले में है। जैनागम[5] उसे पंचाल जनपद में बतलाता है।

कजंगला[6] —बौद्ध ग्रन्थों की यह कजंगला है, जिसे मध्यमंडल की पूर्वी सीमा पर माना जाता था। यहाँ की कजंगला भिक्षुणी बुद्ध की प्रधान शिष्याओं में से थी।

१—सुत्तागमे पृ ७११-१३ ७१६-१७ ७२६, ७३०-३१ ७६६
२—पासादिकसुत्त (सुत्तागमे पृ० ८२-१ १)
३—दीर्घनिकाय २३ (पायासिसुत्त)।
४—सुत्तागमे प्र भाग पृ ११०४ देखिये तृतीय खंड में पृ २७-२८ पर प्रकाशित Dr Dc. Sircar का जार्नी नगरी आदल लेख।
५—वही पृ १४६-४७ ११४६।
६—वही पृ १ २७।
७—वही पृ ४१७-१८।

दसण्ण'—बौद्ध सूत्रों में भी इसी उच्चारण के साथ मिलता है और यह वर्तमान बुंदेलखंड में ही है जहाँ की नदी धसान (सं दशार्ण) अब भी उसी नाम को रक्खे हुए है। बौद्धसूत्र इसकी राजधानी एरकच्छ बताते हैं, जो आज भी एरच के नाम से मौजूद है।

नालंदा व राजगृह (राजगिह)—दो बुद्ध और महावीर की प्रधान विहार भूमि रहे तो भी नालंदा को जैन लोग कुंडलपुर कहकर पुकारते रहे हैं।

मल्ल लच्छवि—तत्कालीन गणराज्यों के दो समूह थे। जैन आगमों' ही से पता लगता है कि उनमें से एक-एक में नौ गण थे—"नव मल्लई नव लिच्छई"।

एक स्थान' पर भगवान महावीर के मिथिला (दरभंगा जिला) से ही कुरु जनपद (मेरठ कमिश्नरी) जाने का भी उल्लेख है।

राजगृह (राजगिर) के वैभार पर्वत के पास के महान उष्ण प्रस्रवण (उष्णि पासवण) गर्म पानी के चश्मे का भी उल्लेख है। बौद्धपिटक इसे तपोदा के नाम से जानता है जहाँ बुद्ध के लिए एक विहार बना था।

वाराणसी'—को तो भारत की दोनों महान विभूतियों ने अपने चरणरज से पूत किया था। पालि-मागधी में इस बाराणसी ही कहा गया है, पर अर्द्धमागधी में इसे वाणारसी बना दिया गया था जिससे ही बनारस बना था। इसे अशुद्ध समझकर अब फिर वाराणसी कर दिया गया है।

सावत्थी—को "कुणालाए जनपदे' कुणाल जनपद में बतलाया गया है।' कुणाला कोसल का ही बना है इसमें संदेह नहीं।

पुक्खलावती (पुष्कलावती)—गंधार (पख्तूनिस्तान) की यशस्वी नगरी (आधुनिक चारसद्दा) थी। उसका भी नाम आना' बतलाता है कि जैन धर्म वहाँ तक पहुँचा था। 'सीता" चीनी मध्य एशिया की तारिम नदी है जिसका भी यहीं उल्लेख है।

बौद्ध त्रिपिटक की विशाल ग्रंथराशि को देखते से ही ख्याल आता है कि जैन सूत्र उससे कम नहीं रहे होंगे। परम्परा भी १४ पूर्वीय श्रुतज्ञान के भ्रष्ट हीन की बात बतलाती है जो बहुत बड़ी क्षति है, परन्तु जो कुछ मिलता है उसका अध्ययन व प्रचार बहुत आवश्यक है।

१—वही पृ १ ७ तथा उत्तरज्झयण सुत्त।
२—सुत्तागमे प्र भाग पृ ५२१–२४ भगवई सुत्त)।
३—वही पृ १ २५ (नायाधम्मकहाओ)।
४—वही पृ ४१२ (भगवई))। ५—वही पृ ४६१ ६२।
६—वही द्वि भाग पृ ७७ (रायपसेणिय) ७—वही प्र भाग पृ ११११ (नायाधम्मकहाओ)

जैन-दर्शन के छः द्रव्य और सात तत्त्व

(ले०—पं० चंदाबाई जी आरा)

वर्तमान समय में भारतीय दर्शनों के दो मुख्य वर्ग प्रचलित हैं—एक वेद को प्रमाण मानने वाले और दूसरे वेद को न मानने वाले। वेद को प्रमाण मानने वाले भारतीय दर्शनों के ६ मुख्य नाम हैं—सांख्य योग न्याय वैशेषिक पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा तथा जो वेद को प्रमाण नहीं मानते वे हैं—जैन बौद्ध और चार्वाक। यहाँ पर जैन-दर्शन के विषय में ही कुछ लिखा जाता है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन-दर्शन में कई प्रमुख विशेषताएँ हैं, क्योंकि जैनदर्शन चारित्र और विचार दोनों को समान स्थान देता है। दार्शनिक दृष्टि भी एकांगी नहीं है। यह तत्त्वों की समीक्षा में जीव और अजीव दो तत्त्वों का वर्णन कर जड़ (पुद्गल) और चेतन आत्मा का स्वरूप दर्शाकर चारित्र का भी निरूपण करता है। दर्शन ज्ञान तथा चारित्र की अंतिम निर्मलता से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है।

सृष्टि के दो मूलतत्त्व-जीव और अजीव—जैन-दर्शन के अनुसार जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व इन दो तत्त्वों का समुदाय लोक है। इनसे परे और कोई वस्तु आकाश के सिवा नहीं है। इन्हीं में सबका समावेश है।

छः द्रव्य—

जीवतत्त्व का स्वरूप इस प्रकार है—

> जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
>
> णवि रूवं ण सरीरं, णवि संठाणं ण संहणणं ॥समयसारगाथा ५॥

अर्थात्—यह जीव गंध वर्ण रस स्पर्श रूप शरीर और संहनन से रहित है। अतः अरूपी होने के कारण यह जीव इंद्रियों से जाना नहीं जाता इन्द्रियों के अगोचर है। इसका कोई आकार नहीं है। यह चेतना गुण युक्त है। इसको अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। इस अबाध्य शुद्ध चैतन्यात्मा का अनुभव स्वसंवेदनात्मक है।

अजीवतत्त्व —जड़ के पाँच भेद किये गये हैं—पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल।

पुद्गल—इस जगत में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसे हम देखते हैं, जो कुछ सूंघते हैं सुनते हैं खाते हैं छूते हैं, वह पुद्गल द्रव्य है। यही एक द्रव्य रूप रस गंध स्पर्श वाला है, मूर्तिक है। पृथ्वी जल अग्नि और वायु ये चारों पुद्गल द्रव्य हैं। टूटना फूटना बिगड़ना यह सब इसी द्रव्य के रूप हैं। परमाणु और स्कन्ध ये इसके दो भेद हैं। पुद्गल के सबसे सूक्ष्म अविभागी अंश को परमाणु और परमाणु समूह से बने पृथ्वी आदि को स्कंध कहते हैं। पुद्गल और जीव क्रियाशील हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं।

धर्म और अधर्म—द्रव्य भी अरूपी हैं ये स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इनका कार्य जीव और पुद्गल को चलने तथा ठहरने में उदासीन रूप से सहायक होना है। इन द्रव्यों को जैनेतर दर्शनकारों ने नहीं माना है। इनका अर्थ पुण्य-पाप नहीं है। ये अजीव द्रव्य के भेद हैं। समस्त संसार में व्याप्त हैं इनके अभाव में जीव और पुद्गल की गमन शक्ति और ठहरने की शक्ति कार्यकारी नहीं रहती।

आकाश द्रव्य—यह भी अरूपी है सर्वव्यापक है। जैनाचार्यों ने आकाश के दो भेद किये हैं—एक लोकाकाश, दूसरा अलोकाकाश। लोकाकाश में अन्य पाँच द्रव्य भी पाये जाते हैं और इसके बाहर केवल आकाश-द्रव्य ही अकेला है उसको अलोकाकाश कहा गया है। यह लोक छहों द्रव्यों से परिपूर्ण अनादि-अनंत स्वयं-सिद्ध स्थित है।

काल द्रव्य—यह सब द्रव्यों के परिवर्तनों में सहकारी है। यों तो सब द्रव्यों में परिणमन शक्ति स्वयं मौजूद है किन्तु बाह्य निमित्त के बिना उसकी व्यक्ति नहीं होती। जैसे मिट्टी में घटाकार होने की शक्ति विद्यमान है किन्तु कुम्हार के चाक डंडे व चाक के बिना वह घटाकार रूप परिणमन नहीं कर सकती। इस प्रकार जैन-धर्म में छः द्रव्य माने गये हैं। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण वाले हैं।

द्रव्य के लक्षण—दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हु ॥पंचास्तिकाय—गा० १०॥

अर्थात् अपनी सत्ता को लिए हुए उत्पाद व्यय और ध्रौव्य गुण सहित पर्यायवाला द्रव्य होता है। उमास्वामी ने भी कहा है—गुणपर्ययवद्द्रव्यम् यानि गुण और पर्याय वाला ही द्रव्य होता है। जैसे जीव एक द्रव्य है उसमें सुख ज्ञान चेतना आदि गुण विद्यमान हैं और उसकी नर, नारक पशु आदि पर्यायें पाई जाती हैं। जीव का ज्ञान गुण अन्य सब गुणों से मुख्य गुण है। यह सदा विकसित और जीव में सदा विद्यमान रहता है। कम-अधिक होने पर भी जीव से कभी सर्वथा पृथक् नहीं होता। इसलिये इसे गुण कहते हैं और जो क्षण-क्षण में बदलता रहता है वह पर्याय है। जैसे कि एक जीव मनुष्य हुआ फिर मरकर उसने देव पर्याय पाई, पुनः अन्य जन्म में अन्य पर्याय पाई। इसी प्रकार जीव और पुद्गल के पर्याय बदलते रहते हैं। किन्तु द्रव्य में गुण स्थायी रहते हैं। वे पर्याय के समान बदलते नहीं रहते हैं। ये गुण और पर्याय द्रव्य के ही आत्म स्वरूप हैं। किसी भी अवस्था में द्रव्य से अलग नहीं रह सकते क्योंकि द्रव्य ही इनका आधार है। नवीन पर्याय उत्पन्न होता है वह उत्पाद है और पुराना पर्याय विनष्ट होना है वह व्यय है तथा द्रव्य दोनों में मौजूद है यह ध्रौव्य है। जैसे कि एक सुवर्ण का पासा है उसे तोड़कर कड़ा बनाया गया वहाँ पासे पर्याय का विनाश हुआ यह व्यय है और कुण्डल पर्याय की उत्पत्ति हुई, यह उत्पाद है एवं सुवर्ण दोनों में मौजूद है, यह ध्रौव्यगुण है।

सात तत्त्व—

जैन-धर्म में सात तत्त्व मुख्य माने गये हैं, इन्हीं का पूर्ण ज्ञान और श्रद्धान् हो जाने से आत्मा के दुःख की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है, इसका ज्ञान हो जाता है और उस मार्ग पर चलने की चेष्टा में भी यह जीव लग जाता है। तथा संसार दुःख के अभाव में परम सुख (मोक्ष) कैसे मिलता है और उसका क्या स्वरूप है, यह भी तत्त्वों के ज्ञान से अनुभव में आ जाता है। मोक्ष ही जीवात्मा का परम ध्येय है क्योंकि सभी जीव सम्पूर्ण सुखी होना चाहते हैं। जैन-धर्म कहता है कि दुःखों का मूल कारण उसी के द्वारा बांधे गये कर्म हैं जो कि अजीव हैं, जड़ हैं। जिस प्रकार मदिरा मनुष्य को गाफिल कर देती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म जीव को बसुध कर देता है। अतः जब कि कर्मबन्धन से छुटकारा ही सुख का कारण है, तब उन कर्मों का जीव के साथ किस प्रकार बंधना-छूटना होता है, इसकी जानकारी होना भी आवश्यक है। इसे समझने के लिए सात तत्त्वों का मनन जरूरी है।

जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। जीव-अजीव तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका है। मुख्य ये ही दो तत्त्व हैं, तीसरा आस्रव है जो कि जीव में कर्ममल के आने को मार्ग देता है। इसके मुख्य ४ प्रत्यय हैं। मिथ्यात्व अविरति योग और कषाय। इन्हीं की तीव्र मंद दशा में पड़कर जीवात्मा आस्रव का भागी होता है। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। जीव और कर्मों के परस्पर बंधन को बंधन कहते हैं। इन कर्मों के आठ मुख्य भेद माने गये हैं।

१ ज्ञानावरणीय—यह ज्ञान की पूर्णता को रोकता है।

२ दर्शनावरणीय —भी इसी प्रकार दर्शन शक्ति में बाधक है।

३ मोहनीय—यह कर्म बाह्य वस्तुओं में मोह ममत्व भाव पैदा करता है।

४ अन्तराय—यह कर्म आत्मा की अनन्त शक्ति को व्यक्त होने से रोकता है। ये चारों घातिया कर्म कहे गये हैं, क्योंकि ये आत्मा के मूल गुणों का घात (आवरण) करते हैं।

इसी प्रकार ४ अघातिया कर्म हैं —१ वेदनीय—यह सांसारिक दुःख-सुख में मग्न करता है २ नामकर्म—यह शरीर की रचना में कारण होता है ३ गोत्र कर्म—यह ऊँची-नीची पर्याय दिलाने में निमित्त होता है और ४ आयुकर्म—यह जीवात्मा को संसार में रोके रहता है। इसकी पूर्ण रूप से समाप्ति हो जाने पर और इसका बंधन बिलकुल टूट जाने पर ही निर्वाण अवस्था प्राप्त कर यह जीव मुक्त होता है।

आस्रव और बंध इन्हीं के द्वारा जीव संसार में संसारी बनकर भ्रमण करता रहता है।

संवर—पाँचवाँ तत्त्व संवर है। यह जीव के आस्रव को अर्थात् कर्मों के आने को रोकता है—समत्वादि निज भाव भावों के होने पर ही संवर की प्राप्ति होती है।

या कुछ धर्मों को मनुष्य अपने इन्द्रिय ज्ञान गोचर कर सकता है किन्तु एक साथ एक बार में नही कह सकता वचनों से एक समय में एक ही धर्म का वर्णन कर सकता है, तब दूसरे गुण वक्ता की दृष्टि में गौण हो जाते हैं। जैसे कि द्रव्य ध्रौव्य गुण की अपेक्षा नित्य है, किन्तु पर्याय की दृष्टि से अनित्य भी है। एक जीव की पर्याय मरण के समय नष्ट होती है, इस अपेक्षा जीव को अनित्य कह सकते हैं और वही जीव दूसरी पर्याय में भी विद्यमान है, अतः ध्रुव है, नित्य है। इस तरह एक द्रव्य सत् भी है और असत् भी है। इसको स्पष्ट करने के लिये जैनदर्शन में स्यात् शब्द का प्रयोग किया है, इस स्यात् पद के लगाने से वस्तु के एक धर्म का वर्णन करते समय दूसरे धर्म का अभाव नहीं हो जाता है, किन्तु वह उसमें विद्यमान रहता है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य ही मान ली जाय या अनित्य ही मान ली जाय तो परिणमन किसी वस्तु का नहीं बनेगा और इस तरह द्रव्य का उत्पाद-व्यय गुण नष्ट होकर जो पर्याय है—जैसे मनुष्य है, घट है वह कभी विनष्ट नहीं होगा और अनित्य ही मानने से क्षण स्थायी सब द्रव्य हो जायेंगे जो कि प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः एक ही वस्तु अपेक्षा से नित्यानित्य होती है। इस अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर ही वस्तु के गुणों का वर्णन समुचित रूप से हो सकता है। जैसे कि देवदत्त नामक मनुष्य अपने पिता का पुत्र है, भगिनी का भ्राता है तथा स्त्री का पति है। अतएव पुत्रत्व भ्रातृत्व और पतित्व तीनों धर्म देवदत्त में विद्यमान हैं। वह पिता के सम्बन्ध से पुत्रत्व और भगिनी के संबंध से भ्रातृत्व एवं पत्नी के संबंध से पतित्व धर्म का धारक है। तब देवदत्त स्यात् पुत्र स्यात् भ्राता स्यात् पति इस प्रकार अपेक्षा से तीनों धर्मों का अधिकारी है। केवल पुत्र या भ्राता या पति ही नहीं है। जैनेतर बन्धु स्यात् शब्द की गहराई को न समझकर कभी-कभी कह देते हैं कि जैन दर्शन अनिश्चित वस्तु स्थिति का द्योतक है, वस्तु ऐसी है भी और नहीं भी है, इस प्रकार उभयपक्ष सामने हैं। किन्तु यह गलत है। वस्तु के अनेक धर्मों को समझने के लिये 'ही' के स्थान में 'भी' लगाना ही पड़ेगा जैसा कि ऊपर लिखा गया है।

अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद वस्तु की स्वरूप सिद्धि में एक ही हैं। वस्तु के अनेक धर्मों को समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है। जैसा कि वस्तु स्व-रूप की अपेक्षा से स्यात् है और पर-रूप की अपेक्षा से असत् है, और स्व-रूप पर-रूप की क्रमिक अपेक्षा से सत्-असत् है, तथा स्व-रूप पर-रूप की युगपत् अपेक्षा से अवक्तव्य है। इसको शास्त्रीय भाषा में स्व-पर चतुष्टय कहा है। अर्थात् जब हम किसी से कहते हैं—पुस्तक ले आओ तब वह पुस्तक लाता है और जब कहते हैं कि घड़ा ले आओ तो घड़ा ले आता है, पुस्तक नहीं लाता क्योंकि दोनों वस्तुओं के गुण धर्म अलग-अलग हैं, एक के गुण दूसरे में नहीं हैं। इसलिये पुस्तक घड़े की अपेक्षा नहीं है और घड़ा पुस्तक की अपेक्षा नहीं है। इसी को कहा है कि जब पुस्तक में अपनी अपेक्षा से अस्तित्व गुण है तब घड़ा आदि समस्त वस्तुओं की अपेक्षा से नास्तित्व गुण भी मौजूद है। अतः प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति दोनों धर्मों वाली है। यदि एक अस्तित्व धर्म वाली वस्तु मान ली जाय याने दूसरे से भिन्न गुण भी उसमें मान लिये जायें तब सब वस्तुएँ एक हो जायेंगी और सबके स्वरूप की विभिन्नता मिटकर अनर्थ हो जायगा। इसको स्पष्ट करने के लिये जैन दर्शन स्यात् शब्द से एक वस्तु के सभी गुण-धर्मों का अनेकान्त दृष्टि से विवेचन कर देता है। यही अनेकान्त दृष्टि का फलितार्थ है और यह अनेकान्त नित्य प्रति सबके व्यवहार में आता है। इसके बिना संसार की वस्तुओं के गुण-धर्म समझ में नहीं आ सकते और न परस्पर के झगड़े टंटे मिट सकते हैं।

जैन-दर्शन पर कुछ विचार

(ले० भ० भगवानदीन)

दर्शन के बारे में मेरे अपने मत ये हैं —

(१) दुनिया की रचना के बारे में जो भी जो सोचता है वह उसका दर्शन है।

(२) जिसमें सोचने की शक्ति है उसका दर्शन होना ही चाहिए।

(३) ईश्वर को जगत का कर्ता मान बैठना सोचने की शक्ति या दर्शन की शक्ति का दिवाला निकाल बैठना है।

(४) मनुष्य का यह दर्शन कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई, दर्शन की जड़ नहीं है, पर दर्शन की पीढ़ जरूर है।

(५) दर्शन की जड़ है प्रकृति की शक्तियों को देवता मान बैठना।

(६) आत्मा को मानना भी ईश्वर को कर्ता मानने से कम तो है पर यह भी विचार शक्ति को पूर्ण स्वाधीनता हासिल करने से रोकना है।

(७) आत्मा का विधान भी ईश्वर रूपी पीढ़ का एक पुरा है।

(८) क्या कोई दर्शन ऐसा नहीं हो सकता जो देवतावाद ईश्वर कर्तृत्ववाद और आत्मवाद से बचा सके।

(९) विज्ञान दर्शन-वृक्ष का ही फूल है फल क्या होगा इसका पता नहीं।

जन लोग जैन-धर्म को अनादि कहते हैं। पर इतिहास उसे ढाई-तीन हजार वर्ष से ज्यादा पुराना नहीं मानता। इतिहास भले ही पूरा सच्चा न हो पर जितने सबूत हमें प्राप्त हैं उनमें से यह काम चलाऊ जरूर है। इसलिए उसे ध्यान में रखना ही होगा।

जैनों के चौबीसों तीर्थंकरों में अकेले महावीर को ही इतिहास में स्थान है। इनके पहले पार्श्वनाथ की भी कुछ-कुछ खोज इतिहास तक पहुँच पाई है। इसलिए अकेले महावीर स्वामी को ही लेकर हमें जैन-दर्शन की बात करनी होगी।

महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान दोनों को इतिहास में स्थान है। दोनों समकालीन थे। दोनों के जन्म-मरण की तिथियाँ इतिहासज्ञ अब तक ठीक-ठीक तय नहीं कर पाए। मोटे रूप में उनका यह कहना है कि यह दोनों महापुरुष ईसा से कम से कम चार सौ वर्ष और ज्यादा से ज्यादा छः सौ वर्ष पहिले भारत भूमि में विचरते थे।

दर्शन को इतिहास की आवश्यकता नहीं। पर इतिहासज्ञ उसे इतिहास में खींचे बिना नहीं मानते। दर्शन को नया या पुराना कहना मेरी समझ में नहीं बैठता। दर्शन के विषय में तो हमारी कसौटी तर्क ही होनी चाहिए। यानि तर्क सिद्ध दर्शन ही प्रमाण तर्क रहित अप्रमाण।

इतिहास की यह बात भी जैन-दर्शन के समझने में बड़ी सहायक होगी कि महावीर स्वामी के जीते जी जैन-धर्म पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखे गए। उनके निर्वाण के तीन सौ वर्ष बाद ग्रन्थ लिपिबद्ध होना शुरू हुए।

जिस तरह महावीर और बुद्ध समकालीन हैं उसी तरह जैन दर्शन और बौद्ध-दर्शन का विकास भी समकालीन है, इसलिए अध्ययन करने वालों को बहुत से पारिभाषिक शब्द समान मिलेंगे।

बौद्ध-दर्शनकारों ने आत्मा की अमरता को भी दूर कर दिया। इसलिए उनकी कल्पनाशक्ति पूरी स्वतन्त्र हो गई और आत्मा की बाधा बीच में से हट गई।

अब जैन-दर्शन को लीजिए—

(१) इस जगत की रचना किसी ईश्वर या अन्य शक्तिशाली व्यक्ति ने नहीं की। इसी तरह इसके विचार में —

(२) यह जगत का कारण अनादि अनन्त है।

(३) आत्मा अनादि अनन्त है और है।

(४) आत्मा अनादि से कर्मों में बँधी हुई है। वह कर्मों से अलग हो सकती है। होती रही है होती है और होती रहेगी।

(ख) मुक्ति अनादि अनन्त है, पर मुक्ति में कोई जीवात्मा ऐसा नहीं है जो पहले संसारी आत्मा न रह चुका हो।

इसी तरह इतिहास के निष्कर्षों के बल पर एक बहुत बड़ा दर्शन खड़ा हो गया है। उसी के आधार पर कर्मवाद खड़ा हुआ है। कर्मवाद एक तरह साम्य का एसा विस्तार है, जो मामूली आदमी की समझ में आ सकता है।

जैन दार्शनिकों की राय में इस लोक में चार तरह के पदार्थ हो सकते हैं। (१) अनादि-अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि-सान्त (४) सादि-अनन्त। अर्थात् (१) पहले वो जो हमेशा से हैं और हमेशा तक रहेंगे। (२) दूसरे वो जो हमेशा से हैं और हमेशा तक नहीं रहेंगे। (३) तीसरे वो जो न हमेशा से हैं न हमेशा तक रहेंगे। (४) चौथे वो जो हमेशा से हैं तो नहीं पर हमेशा तक रहेंगे जरूर।

जीव हमेशा से है और हमेशा तक रहेगा। लोक आकाश काल धर्म (वह अदृश्य तत्त्व जो सारे लोकाकाश में फैला हुआ है, और जो अगर न हो तो संसार का कोई पदार्थ गति नहीं कर सकता। धर्म के लिए अंग्रेजी का ईथर शब्द काम में लिया जा सकता है।) अधम (वह अदृश्य तत्त्व जो अगर न हो तो संसार का कोई पदार्थ टिक न सके) इत्यादि सब ऐसे ही हैं।

जीवात्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि सान्त है। यानी हमेशा से है हमेशा तक नहीं रहेगा। जीवात्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों से अलग हो सकता है और मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

पेड़ पौधे पशु-पक्षी नर-नारी इत्यादि समस्त पर्याय सादि-सान्त हैं। न हमेशा से हैं न हमेशा तक रहेंगी। पर्याय शब्द याद रखिये। पेड़ रहेंगे पर पेड़ विशेष नहीं रहेगा। पेड़ सदा से हैं, पर पेड़ विशेष सदा से नहीं। मुर्गी पहले या अण्डा पहिले पेड़ पहिले या बीज पहिले? यह प्रश्न हल हो गया। प्रश्न ही नहीं रह गया। अण्डे हमेशा से मुर्गी हमेशा से। पेड़ हमेशा से बीज हमेशा से। पर मुर्गी विशेष अण्डा विशेष बीज विशेष हमेशा से नहीं। राम और कृष्ण नामधारी आदमी न हमेशा से हैं, न हमेशा तक रहेंगे। लेकिन आदमी हमेशा हैं और हमेशा तक रहेंगे।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि क्या आज के विज्ञान की ये बात की हमारी इस पृथ्वी पर करोड़ों-अरबों वर्ष पहले आदमी नामी वस्तु नहीं था गलत है। जैन दर्शन इसका उत्तर देगा यह नहीं यह गलत नहीं हैं। हो सकता है आदमी इस पृथ्वी पर न हो, पर संसार में कहीं भी न हो यह नहीं हो सकता। इस ग्रह पर नहीं तो कहीं और होना चाहिए। इस सौर जगत में नहीं तो किसी दूसरे सौर जगत में होना चाहिए।

मुक्ति सादि और अनन्त है। जैन दार्शनिकों की राय में जो जीवात्मा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है वह फिर कर्मबन्धन में नहीं फँसेगा। वह सदा के लिये मुक्त रहेगा और अत्यन्त हल्का होने के कारण लोक के ऊपरी भाग पर रहेगा। अलोकाकाश में प्रवेश नहीं कर सकेगा क्योंकि वहाँ धर्म द्रव्य यानि ईथर नहीं है।

जैन-दर्शन के अनुसार लोक का क्या आकार है, यह जानने की इच्छा स्वाभाविक है। जैन-दर्शन उसका उत्तर यह देता है कि वह डमरु के आकार का है। यानि एक डमरु के ऊपर दूसरा डमरु रख दिया जाय और ऊपर वाले डमरु का आधा हिस्सा काट दिया जाय। बस मुक्त आत्मा इसी लोक के सबसे ऊपर के भाग में निवास करते हैं। अगर कोई आदमी जैन दर्शन की मुक्ति से इन्कार करे, तो यह भार उसके सिर पर आ पड़ता है कि वह यह बताये कि फिर दूसरी एसी कौन सी चीज है, जो सदा से तो नहीं है पर रहेगी सदा तक। अगर वह इसका उत्तर दे देगा तो जैन-दर्शन उसे मानने से इन्कार नहीं करेगा।

जैन दर्शन के अनुसार जीवधारी लोक में ही हैं, अलोक में नहीं। अलोक में केवल एक तत्त्व है,—आकाश। लोक में छ द्रव्य हैं—जीव अजीव (पुद्‌गल अर्थात् मैटर) धर्म (ईथर) अधर्म (नान ईथर) काल (यह वह शक्ति है जो समस्त लोकाकाश म फैली हुई है तथा जीव व पुद्‌गल द्रव्यों की पर्याय बदलने का काम करती रहती है यानि चीजों को पुराना करती रहती है) और आकाश (जगह देने वाला द्रव्य)।

जैन दर्शनकार ने इन छह चीजों से दुनिया की सब तरह की चीजों की सृष्टि सिद्ध कर दी है। जिन्हें विस्तार से जानना हो वे जैन-दर्शन का अध्ययन करें। हमें विश्वास है कि जैन-दर्शन के अध्ययन के बाद ईश्वर के कर्तृत्व पर अगर किसी को श्रद्धा रह जाय तो हम यही कहेंगे कि जैन-दर्शन को वह नहीं समझ पाया है और न वह उसके गले उतर पाया। आज के लिए इस दर्शन का अध्ययन बड़े काम का साबित हो सकता है।

अनेकान्तवाद

(डॉ० हीराकुमारी, व्याकरण सांख्य वेदान्त तीर्थ)

हमारे सामने अनेक वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं। हम अपने प्रयोजनानुसार उनका व्यवहार करते रहते हैं पर शायद ही सोचते होंगे कि जिस समय वे हमें दिखलाई पड़ती हैं, वही क्या उनका मौलिक रूप है या और कुछ ? पर जब हम वस्तुओं के स्वरूप के बारे में सोचना तथा विश्लेषण करना आरम्भ करते हैं, तब हम दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

दर्शन का मर्म है चिन्तन मनन अथवा अनुभव के आधार पर परिदृश्यमान जगत के मौलिक स्वरूप का अन्वेषण। इसके धर्मात्मक शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहा जाता है।

आज हमें जो दर्शन शास्त्र उपलब्ध है, वह हजारों वर्षों के अथक चिन्तन-मनन तथा अनुभवों का फल है। अनेक विशिष्ट व्यक्तियों ने इसके पीछे अपना जीवन अर्पण कर दिया था। तब उसके फलस्वरूप उन्होंने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर इस परिदृश्यमान जगत की व्याख्या की है। उन प्रत्येक व्यक्तियों की अपनी-अपनी परिस्थितियाँ थी। उनकी व्याख्या करने की प्रणालियाँ भी अलग-अलग थी। उन व्याख्याओं पर कालगत देशगत प्रभाव भी पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सबसे अधिक तो उन व्याख्याओं में अपनी-अपनी परम्परागत धार्मिक परिभाषाओं का प्रभाव था। इसके फलस्वरूप विशिष्ट विशिष्ट व्यक्तियों की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के नाम से अभिहित हुईं।

उन सब दर्शनों में आपस में भेद दिखलाई देने पर भी हम उन्हें दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो एकान्तवाद, दूसरा अनेकान्तवाद। एकान्तवाद में एक पक्ष एकमात्र कूटस्थ नित्य को ही सत्य मानता है। उनका कहना है कि एक ही वस्तु कभी एक रूप में प्रतीत होती है तो कभी वह दूसरे रूप से प्रतीत होती है। तब भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होनेवाली वस्तु का कौन-सा स्वरूप सत्य होना चाहिए। वस्तु का स्वरूप एक ही होना चाहिए न कि दो। इसलिए वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में जब विचार या विश्लेषण किया जाता है तो उसके सब धर्म मिथ्या-प्रतिभात होने लगते हैं। उन्हें युक्तियों से तर्कों से अथवा अनुभवों से इन सब मिथ्या धर्मों के आधार रूप से एक ऐसे तत्व का भान होता है जो कि नित्य है कूटस्थ है अर्थात् उसमें कोई गुण नहीं धर्म नहीं न उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है और न कभी वह किसी रूप में परिणमन करता है। उस कूटस्थ नित्य सत्य के आधार पर जगत मिथ्या प्रतिभासित होता है।

दूसरा पक्ष कार्यकारण भाव को मानकर भी उन दोनों कार्यकारण भावों में अनुस्यूत रहे, ऐसा कोई नित्य तत्व नहीं मानता। उनका कहना है कि कार्य और कारण दोनों ही अनित्य हैं, कारण से कार्य जब उत्पन्न होता है तभी कारण का निरन्वय विनाश हो जाता है। वर्तमान कार्य आगामी कार्य का कारण बनकर कार्य उत्पन्न करके स्वयं विनष्ट हो जाता है। इस तरह कार्यकारण की सततियाँ चलती रहती हैं। कार्यकारण भाव को आपस में सम्बन्धित करने के लिये एक नित्य सत्य मानने की कोई आवश्यकता दिखलाई नहीं पड़ती।

अनेकान्तवादी को ये दोनों मत अभीष्ट नहीं हैं। दृश्यमान जगत के मूल में जो मौलिक तत्त्व है, उसे वह न कूटस्थ नित्य मानता है और न कारण का निरन्वय विनाश ही मानता है। उनका कहना है कि जो भी वस्तु या द्रव्य हमें दिखलाई पड़ती है, उसमें नाना गुणों का बोध होता है। उसमें भावात्मक-अभावात्मक दोनों धर्मों की प्रतीति होती है। विविध परिस्थितियों में एक वस्तु या द्रव्य विविध रूप से भासित होता है, तब उन सब धर्मों को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है। अनुभव अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण को अनुमान प्रमाण से श्रेष्ठ ही तो कहा गया है।

कार्यकारण की अनित्यता के बारे में भी यही युक्ति है। कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है। कार्य में कारण की सत्ता विद्यमान रहती है उसका निरन्वय विनाश उपलब्धि में नहीं आता। एक घटरूप कार्य को देखने से इस विषय की प्रतीति हो जाती है। मृत्तिका रूप कारण से घट-कार्य उत्पन्न होता है और उसमें मृत्तिका की सत्ता विद्यमान रहती है न कि मृत्तिका का निरन्वय विनाश हो जाता है। इसलिये अनेकान्तवादी दर्शन दृष्टि-भेद से और सापेक्षता से द्रव्य का विवेचन

करता है। वह एक ही धर्मी में नित्यानित्यात्मक भेदाभेदात्मक अनेक धर्मों का अस्तित्व स्वीकार करता है। एक ही प्रकृति में आपस में वैपरीत्य को लेकर भी सत्वरजस्तमोगुण अबाधित रूप से रह सकता है। एक ही आत्मा में ज्ञान सुख इच्छा गुण सहावस्थित हैं। जिसका विभाग न हो सके ऐसे अतिसूक्ष्म पुद्गल परमाणु में रूप रस गन्ध स्पर्श आदि गुणों का रहना भी सम्भव है। अनेकान्तवादी को इसमें किसी तरह का विरोध प्रतीत नहीं होता।

अनेकान्तवाद में और-और पक्ष होने पर भी दो पक्ष ही प्रधान हैं। एक सांख्य-योगदर्शन दूसरा जैनदर्शन। इसमें जैन दर्शन अपने को अनेकान्त के नाम से परिचय प्रदान करने में गौरव अनुभव करता है। ये दोनों दर्शन अपनी-अपनी परिभाषाओं के द्वारा और अपने-अपने विचार वैचित्र्य से अनेकान्तवाद को स्थापित करते हैं।

सांख्यदर्शन मूल में दो तत्वों को स्वीकार करता है। एक पुरुष तत्त्व दूसरा प्रकृति तत्त्व। उसके मत से पुरुष बहु है और कूटस्थ नित्य है। उसमें न कोई गुण है न धर्म है। न उसमें कभी किसी तरह का विकार उत्पन्न होता है। प्रकृति ठीक पुरुष तत्त्व के विपरीत रूप है। वह नित्य होकर भी परिणमन करती रहती है। यह दृश्यमान जगत इस प्रकृति का परम्परागत परिणमन अर्थात् कार्य है। अति सूक्ष्म प्रकृति तत्त्व एक परिणाम से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस तरह परिणामों को प्राप्त करता हुआ स्थूल रूप में परिणत होता है। यह परिणमन धर्म लक्षण और अवस्था इन तीनों परिणामों के द्वारा होता है। धर्मी रूप प्रकृति से उसके धर्म का एकान्त भेद बतलाना संभव नहीं। धर्म का वर्तमान समय में जो रूप अभिव्यक्त है उसका त्याग करके स्वीय सत्ता में रह हुए दूसरे रूप को धारण करना धर्म परिणाम है। यह धर्म परिणाम धर्मी के स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए कार्य और कारण में भेद भी है और अभेद भी। यदि भेद नहीं माना जाय तो धर्मी का नाना धर्मों में रूपान्तरित होना असंभव है। एक ही वस्तु रूपान्तर ग्रहण करती है इसलिए अभेद भी है।

धर्म का भी परिणमन होता है उस परिणमन को लक्षण परिणाम कहा जाता है। लक्षण परिणाम का अर्थ है अतीत अनागत और वर्तमान रूप परिणमन। धर्मी में रहे हुए धर्म का अतीत अनागत वर्तमान रूप में परिणमन होता है, द्रव्य रूप धर्मी का नहीं। वर्तमान समय में धर्मी का जो स्वरूप आविर्भूत है, वह कालान्तर में विलय होकर अतीत का विषय बन जाता है और अनागत रूप में जो धर्म धर्मी की सत्ता में छिपा हुआ था उसका आविर्भाव होता है। इसी तरह धर्म समूह तीनों कालों को स्पर्श करता हुआ परिणमन करता रहता है। धर्मी इन तीनों कालों के धर्मों में विद्यमान रहकर नित्य कहलाता है।

लक्षण परिणाम का परिणमन अवस्था परिणाम कहलाता है। नया-पुरानापन ही अवस्था परिणाम है। मृत्पिण्ड से घट जब कार्य रूप से आविर्भूत होता है, तब नया घट कहलाता है और दिन प्रति-दिन वह पुरानेपन की तरफ बढ़ता हुआ पुरानेपन में परिणमन करता है। इस तरह अतीत कार्य सुदूर अतीत के रूप में सुदूर अनागत कार्य निकट अनागत के रूप में परिणत होता रहता है।

सांख्य-योगदर्शन ने इस प्रकार के तीन परिणामों के द्वारा इस परिदृश्यमान जगत की व्याख्या की है। इस तरह अनन्त काल से कार्यकारण का निरवच्छिन्न प्रवाह चलता आता है—एक का लय अपर की उत्पत्ति होती रहती है, पर कारण की सत्ता से उसकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है।

जैन-दर्शन भी चेतनतत्त्व और जड़तत्त्व दोनों तत्त्वों को स्वीकार करता है। जड़तत्त्व को तो वह उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक रूप से प्रतिपादित करता ही है, चेतनतत्त्व को भी उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक मानता है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्य शब्द से एक ही वस्तु के दो स्वरूप भासित होते हैं—एक विनाशी दूसरा अविनाशी। उत्पाद-व्यय शब्द वस्तु के विनाशी स्वरूप को बतलाता है और ध्रौव्य शब्द उसके अविनाशी स्वरूप को।

जैन परिभाषा में धर्मी को द्रव्य और उत्पाद-व्ययशील धर्म को पर्याय कहा गया है। धर्म अथवा पर्याय को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वह गुण नाम से परिचित है। गुण और पर्याय का आधार द्रव्य है। द्रव्य परिणामी है अतः वह अपनी-अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न पर्यायों को उत्पन्न करता हुआ परिणमन करता रहता है। जैन-दर्शन के अनुसार एक द्रव्य अनन्त शक्ति या गुणों का आधार है। जैन-दर्शन के अनुसार उस गुण समूह को गुणी द्रव्य से पृथक् करना असम्भव है। एक द्रव्य में रहे हुए गुणों को भी गुणान्तर से पृथक् करना शक्य नहीं है। द्रव्य जब अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न पर्यायों के रूप में परिणमन करता है, तभी गुण से गुणान्तर का भेद उपलब्ध होता है। द्रव्य से पर्यायों का भेद दिखलाई पड़ता है। इस

जिससे एक दृष्टि से द्रव्य गुण और पर्याय में भेद भी है। द्रव्य स्वयं ही परिणमन करता है, इसलिए एक दृष्टि से वे तीनों अभिन्न भी हैं। पर्याय उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है, पर द्रव्य और गुण अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए पर्यायों से पर्यायान्तर में परिणमित होते रहते हैं। सांख्यदर्शन के कार्य की तरह पर्याय भी तीनों कालों के प्रवाह में बहता हुआ चला जाता है। न इसका आदि है न अन्त ही। इसमें एक विशेषता यह है कि एक द्रव्य में अनेक गुणों का पर्याय एक समय में वर्तमान रह सकता है पर एक गुण के दो पर्यायों का एक समय में रहना सम्भव नहीं। एक गुण दूसरे गुण में रूपान्तरित नहीं होता। जैन-दर्शन के अनुसार चेतन स्वरूप आत्मा बद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में दोनों अवस्थाओं में अपने चेतनस्वरूप को नित्य रखते हुए गुणों के द्वारा परिणमन करता रहता है।

ज्ञान उसका मुख्य गुण है। आत्मा की बद्धावस्था में उसका ज्ञान गुण पूर्ण विकसित नहीं रहता है पर क्रम-भेदी रूप से वस्तु का स्वरूप उसके ज्ञान में भासित होता ही है। ज्ञान में एक के बाद एक वस्तु का भासित होना उसका पर्याय है। ज्ञानगुण के द्वारा एक के बाद एक पर्याय उत्पन्न होता है चेतनस्वरूप आत्मा उसके साथ-साथ अपनी सत्ता को रखते हुए परिणमन करता रहता है। यदि वह परिणामी नहीं होता तो विषय से विषयान्तर को ग्रहण नहीं कर सकता। आत्मा की मुक्तावस्था में उसकी ज्ञान शक्ति अकुण्ठित या पूर्ण विकसित हो जाती है। उसमें वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप भासित होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार इस परिदृश्यमान रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दमय जगत का मूल कारण पुद्गल परमाणु है। ये अति सूक्ष्म अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु आपस में मिलते बिखरते रहते हैं। कभी आपस में मिलकर वे स्थूल रूप में परिणत होते हैं। कभी बिखर कर स्थूल रूप धारण करते हैं। कभी स्थूल रूप से बिखरते-बिखरते अविभाज्य ऐसे पुद्गल परमाणु के रूप में परिणमन कर लेते हैं। प्रत्येक पुद्गल परमाणु में रूप रस गन्ध स्पर्श आदि नाना गुणों का अस्तित्व है। वह उन शक्तियों द्वारा एक रूप से दूसरे रूप में एक स्पर्श से दूसरे स्पर्श में इस तरह परिणमन करता रहता है। परमाणु परिणमन करता हुआ भी द्रव्य रूप से नित्य रहता है। उसकी रूप शक्ति रस शक्ति आदि भी नील पीत आदि रूपान्तर में कड़वे-मीठे आदि रसान्तर परिणत होती हुई भी शक्ति रूप से नित्य रहती है—पर्याय रूप से उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। नाना रूप से परिणमन करते हुए भी प्रत्येक परमाणु अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता न गुण गुणान्तर में परिणमन करता है।

जैन-दर्शन इस तरह उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक रूप से वस्तुओं का विश्लेषण करता हुआ नित्यानित्यात्मक भेदाभेदात्मक, भावाभावात्मक आदि आपात प्रतीयमान विरुद्ध धर्मात्मक रूप से वस्तु के स्वरूप को अनुभव करता है। दृष्टिभेद से वस्तु में अनेकरूपता की प्रतीति होती है। यही इसका अनेकान्तवाद है। सांख्य-योगदर्शन भी इस रूप से अनेकान्तवादी या परिणामवादी है। एक (जैन) परिदृश्यमान जगत का मूल कारण अनन्तानन्त परमाणुओं को मानता है दूसरा (सांख्य-योग) एक प्रकृति को।

———

जैन परम्परा में योग

(मुनी श्री नथमलजी)

सत्य क्या है ? यह प्रश्न जितना छोटा है, उतना ही गूढ़ है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा सत्य-दर्शन के अनवरत प्रयत्न हुए हैं। पर उसकी अनुपलब्धि आज भी उपलब्धि से अधिक है। सत्य का अनुद्घाटित अंश जो दृश्य बनता है, वह अनेक अदृश्य सत्यों की सम्भावना उत्पन्न कर देता है। इसका आदि मध्य और अन्त नहीं है। आत्मा है या नहीं ? पूर्वजन्म और पुनर्जन्म है या नहीं ? बन्धन और मुक्ति है या नहीं ? ये प्रश्न हजारों वर्षों पूर्व[1] जैसे थे वैसे ही आज हैं। यह अदृश्य की चर्चा है। दृश्य जो है, पौद्गलिक जगत् जो है, वह भी पूर्ण ज्ञात नहीं है। एक परमाणु के अनन्त स्कन्ध हैं। संघात और भेद के द्वारा उनके अनन्त पर्याय होते हैं। संयोग-वियोग के द्वारा उनमें अनन्त शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य उनकी कुछेक पर्यायों व शक्तियों को जान पाता है। देश-काल की दूरी में ज्ञात शक्तियाँ विस्मृति के गहरे गर्त में चली जाती हैं और अज्ञात शक्तियाँ ज्ञात बन जाती हैं। सत्य शोध का उपक्रम सतत गतिशील रहता है। नहीं कहा जा सकता—सत्य की शोध नहीं हुई और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्य की शोध पूर्ण हो गई। भगवान् महावीर ने कहा—जो एक को जान लेता है वह सबको जान लेता है। जो सबको जानता है वही एक को जानता है।[2] उपनिषद् की भाषा में जो आत्मा को जान लेता है, उसके लिए सर्वज्ञात हो जाता है।[3]

मूल समस्या यह है कि जो आत्मा अदृश्य है अमूर्त है, वह कैसे जाना जावे ? भगवान् महावीर की वाणी में आत्मविद् वह है जिसे शब्द रूप गन्ध रस और स्पर्श भलीभाँति ज्ञात होते हैं।[4] आत्मोपलब्धि का साधन है चित्त-स्थैर्य। महर्षि पतञ्जलि ने विषयवती प्रवृत्ति को चित्त-स्थैर्य का साधन कहा है।[5] इन्द्रियों के जो विषय हैं उन्हें सब लोग जानते हैं पर साधना की भाषा में जानने का अर्थ होता है, (ज्ञेय का) ज्ञान और (हेय का) परित्याग। किसी भी वस्तु का उत्पादन या त्याग तभी हो सकता है, जब उसका स्वरूप भलीभाँति जान लिया जाए। चक्षु का विषय रूप है। रूप कैसे देखा जाता है ? उसका क्रम क्या है ? रूप का स्थान कहाँ है ? प्रकाश कहाँ से आता है ? कैसे आता है ? आदि प्रश्नों पर विचार करते-करते चित्त स्थिर होता है, तब चित्त-वृत्ति रूप-विषय वाली कहलाती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी चित्त को स्थिर किया जाता है। इस अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है दर्शन के आवरण क्षीण होते हैं—अन्धकार में देखने व दूर श्रवण आदि की शक्तियाँ विकसित होती हैं।

मूल—प्रश्न है शक्तियों का स्रोत क्या है ? इसका समाधान पाने के लिए भारतीय मुनियों ने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा और बहिर दर्शन की अपेक्षा अन्तरदर्शन को अधिक महत्त्व दिया। तर्क और बहिर दर्शन जहाँ समाप्त होते हैं, वहाँ अन्तरदर्शन का प्रारंभ होता है। जहाँ शरीर वाणी और मन की प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, वहाँ अन्तरदर्शन प्रवृत्त होता है। जहाँ इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों से विरत होती हैं वहाँ अन्तरदर्शन प्रस्फुटित होता है। यह अन्तरदर्शन ही सत्य की उपलब्धि का साधन है। जिन्हें यह प्राप्त हुआ उनकी भाषा में सत्य है आत्मा।

उत्पाद की परिधि में इस विषय में जो है, वह सब सत्य है। असत्य वही है जो नहीं है। सद् या अस्तित्व की

१—को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो—उत्तराध्ययन ५।६। येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः। (कठोपनिषद्)

२—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

३—आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति—बृहदारण्यक २।४।५

४—जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं—आचारांग १।३।१

५—विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी—पातंजल योग-दर्शन १।३५.

उपलब्धि का जो साधन है वह भी सत्य है। स्वरूप की दृष्टि से आत्मा सत्य है। उसकी उपलब्धि का जो साधन है वह भी सत्य है। पदार्थोपलब्धि का साधन ज्ञान और आत्मोपलब्धि का साधन धर्म है। जैन आगम इसे मोक्ष-मार्ग, पतंजलि योग और बौद्धाचार्य विशुद्धि मार्ग कहते हैं। शब्दार्थ में तीनों कुछ भिन्न हैं फलितार्थ में अभिन्न। चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता के बिना न मोक्ष मार्ग उपलब्ध है, न आत्मलीनता ही होती है और न विशुद्धि मार्ग मिलता है। चित्त एकाग्र बनता है तभी ये सब बनते हैं। पतंजलि की भाषा में चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है वह योग है[1]। जैनों की भाषा में शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियों का जो पूर्ण निरोध है सर्व संवर है, वह योग है।[2]

योग शास्त्र —

शास्त्र वह होता है, जो शासन करे और जिसमें त्राण-शक्ति हो।[3] योग शरीर, वाणी और मन पर शासन करता है तथा वह आत्मा को विजातीय तत्त्व से त्राण देता है, इसलिये वह शास्त्र है। शास्त्रों की परंपरा में जैसे पतंजलि ने योग-दर्शन लिखा वैसे जैन परम्परा में उमास्वाति ने मोक्षमार्ग लिखा। योग शब्द जैन आगमों में व्यवहृत है—समाधि-योग, ध्यान-योग भावना-योग आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने समाधितंत्र ध्यानशतक सुभाषित आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं। किन्तु योग शब्द को प्रधान मानकर लिखने वालों में आचार्य हरिभद्र हेमचन्द्र और यशोविजयजी हैं। हरिभद्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—योगविंशिका योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय और योगशतक।

हेमचन्द्र का योग-शास्त्र सुन्दर कृति है। यशोविजयजी ने पतंजलि योग-दर्शन की जैन दृष्टि से परीक्षा की है और वे योगविंशिका आदि के व्याख्याकार भी हैं। आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव योग शब्द परक नहीं है पर उसकी पद्धति योग-शास्त्र की है। नागसेन का तत्त्वानुशासन और पूज्यपाद का समाधितन्त्र व इष्टोपदेश इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

योग की व्याख्या—उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा है।[4] इसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।[5] हरिभद्र सूरि के अभिमत में धर्म-मात्र योग है। योग वह है जो मोक्ष से योग-सम्बन्ध कराये। धर्म मोक्ष का साधन है, इसलिए धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार है वह सब योग है।[6] यह निश्चय दृष्टि से है। किन्तु व्यवहार दृष्टि या तांत्रिक संकेत के अनुसार योग-स्थान आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को कहा जाता है। हरिभद्र सूरि ने योग के ५ प्रकार बतलाये हैं।

१ स्थान—कायोत्सर्ग पर्यंक पद्मासन आदि आसन।
२ ऊर्ण-वर्ण—शब्द का उच्चारण मंत्र जप आदि
३ अर्थ—योग आदि का वाच्यार्थ
४ आलम्बन—रूपी द्रव्य में मन को केन्द्रित करना।
५ रहित—निरालम्ब या निर्विकल्प-चिन्मात्र समाधि रूप।

इनमें से प्रथम दो प्रकारों को कर्मयोग और शेष तीन प्रकारों को ज्ञान-योग कहा है।[7]

पतंजलि के अनुसार योग है[8]—

१—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः—योगदर्शन १।२।
२—उत्तराध्ययन २९।
३—शासन सामर्थ्येन तु, संत्राण बलेन चानवद्येन युक्तं यच्छास्त्रम्—प्रशमरतिः १८८।
४—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तत्त्वार्थसूत्र १।१।१।
५—मोक्षोपायो योगो ज्ञान-श्रद्धान्-चरणात्मकः—अभिधान चिन्तामणि —१।७७।
६—योग विंशिका १ व्याख्या।
७—ठाणुन्नत्थालंबण—रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो—योगविंशिका २।
८—दुगमित्थ कम्मजोगो तहा तियं नाणजोगो उ—योगविंशिका २।
९—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—योगदर्शन २।२९

विवेक प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। योगी के लिये उसकी और अधिक अपेक्षा है। जो व्यक्ति काल-क्षेत्र मात्रा स्वात्म-हित या पथ्य गरिष्ठ लघु और अपने पाचन बल को देखकर भोजन करता है उसे औषध से क्या ?[1] औषध उसे लेनी होती है जो अमित और अहित खाये। यह स्वास्थ्य दृष्टि है। योगसाधना में शरीर की अपेक्षा मन को प्रधानता दी गई है। मानसिक स्वास्थ्य के लिये भोजन पर जितना विचार किया गया है उतना ही भोजन न करने पर किया है। जैनेतर योग-शास्त्री इस विषय में भिन्न मत रखते हैं। घेरण्ड ने योगी के लिये उपवास का निषेध किया है।[2]

उन्होंने लिखा है कि योगी कठिन और बासी भोजन न करे[3] जैनाचार्यों ने साधना के लिये दीर्घ तप का विधान किया है। भगवान् महावीर दीर्घ तपस्वी थे। उन्होंने दीर्घ तप किया दो उपवास से लेकर छः मास तक के उपवास किये। दीर्घकालीन उपवास से रासायनिक परिवर्तन होता है संकल्प-सिद्धि सहज सुलभ होती है, यह तत्त्व उन्हें ज्ञात था। उपवास का अर्थ आहार त्याग ही नहीं है। उसका अर्थ है विषय और विकार के त्याग की संयुक्त आराधना। गीता के अनुसार—'निराहार व्यक्ति विषयों से निवृत्ति पा लेता है। उससे रस नहीं छूटता किन्तु रस-रहित परमतत्त्व का साक्षात् पा वह रस से भी मुक्त हो जाता है।'[5] उपवास का प्रयोजन शरीर-शोषण नहीं किन्तु लक्ष्यपूर्ति है। शरीर का शोषण होना उसका प्रासंगिक परिणाम है। महात्मा बुद्ध ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये संकल्प किया—"इस आसन पर बैठे-बैठे मेरा शरीर भले सूख जाए, चमड़ी, हड्डि और मांस भले विनष्ट हो जाएँ, किन्तु दुर्लभ बोधि को प्राप्त किये बिना यह शरीर इस आसन से विचलित नहीं होगा।"[6] भगवान् महावीर ने संकल्प किया कि मैं सब प्रकार के कष्टों को तब तक सहन करूँगा जब तक केवल ज्ञान की उपलब्धि न हो जाए। संकल्प की पूर्ति के लिये उपवास शरीर-शोषण या विषय-वर्जन आवश्यक है। प्राणायाम के साथ उपवास का सम्बन्ध कम है। उपवास का निषेध भी प्राणायाम के प्रकरण में किया गया है और उसके आरम्भ में दूध-घी तथा दो बार भोजन करने का विधान किया गया है।

जैन आचार्य प्राणायाम को महत्त्व नहीं देते। उनके अभिमत में वह चित्त-निरोध और इन्द्रिय-विजय का निश्चित उपाय नहीं है। जैन प्रक्रिया के अनुसार विजातीय द्रव्य का रेचन और अंतर भाव में स्थिर होना कुम्भक है। चित्त की एकाग्रता के लिए यही प्राणायाम है। योग वाशिष्ठ में हठ से चित्त की विजय को अनुपादेय माना गया है। ऊनोदरी या मिताहार के विषय में सब योगदर्शन एक मत हैं।[9] रस-परित्याग का अर्थ है विकृति बढ़ाने वाले रसों का वर्जन या अस्वाद-वृत्ति। योग साधना और स्वाद वृत्ति में उतना ही विरोध है, जितना विरोध अहिंसा और भय में है। साधक नित्य रसों का सेवन न करे

---

१ काल क्षेत्रं मात्रा स्वात्म्यं द्रव्य गुरु लाघवं स्वबलम् ज्ञात्वा यो भ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य—प्रशमरति १३७

२ प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेश विधिं विना। एकाहारं निराहारं, यामान्ते च न कारयेत्—घेरण्ड संहिता ५।३१।

३ कठिनं दुरितं पूति उष्णं पर्युषितं तथा अतिशीतं चाति चोष्णं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत्—घेरण्ड संहिता ५।२९।

४ आवश्यक निर्युक्ति पत्र २६६-१।

५ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते—गीता २५९।

६ इहासन शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयञ्च यातु। ललितविस्तर-बुद्धचरित अप्राप्य बोधिं बहुकल्प दुर्लभां नैवासनात् कायचित्।

७ एवं विधि विधानेन प्राणायाम समाचरेत्। आरम्भे प्रथमं कुर्यात्, क्षीराज्यं नित्य भोजनम्। मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत्—घेरण्ड संहिता ५।३३।

८ न च प्राणायामादि हठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चित उपायोऽपि 'ऊसासं ण णिरुंभइ'—आव नि निर्युक्ति इत्यादागमेन योग समाधान विघ्नत्वेन बहुशः तस्य निषिद्धत्वात्—पातंजल योगदर्शन—यशोविजयजी

९—मिताशनं दशवैकालिक ८।
मिताहारं विना यस्तु, योगारम्भं तु कारयेत्।
नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चिद् योगो न सिध्यति—घेरण्ड संहिता ५।१६।

मनोज्ञ आहार करे, उसमें आसक्त नहीं हो उसकी स्मृति न करे, उसमें मति का नियोग न करे।[1]

कायक्लेश—कायक्लेश के चार प्रकार हैं —[2]

१ आसन—

२ आतापना—सूर्य की रश्मियों का ताप लेना शीत को सहन करना—निर्वस्त्र रहना।

३ विभूषा—वर्जन

४ परिकर्म—शरीर की साज-सज्जा का वर्जन। आसन दो प्रकार के होते हैं—शरीरासन और ध्यानासन। पतंजलि ने आसन को 'स्थिर सुख' कहा है।[3] ध्यानासन के लिये दो अपेक्षाएँ हैं—(१) शरीर स्थिर रहे और (२) सुखपूर्वक बैठा जा सके। जैन परम्परा में वीरासन आदि कठोर और पद्मासन आदि सुखासन—इन दोनों को सुखावह कहा गया है।

इन दोनों का ध्यान के लिये प्रयोग होता था। आगमों में निम्नलिखित आसनों का विशेष उल्लेख मिलता है।[4]

१ स्थान स्थिति—(कायोत्सर्ग)—दोनों भुजाओं को फैलाकर पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिला या वितस्ति। जितना अन्तर रख सरल खड़ा रखना।

२—स्थान—स्थिर, शान्त बैठना।

३ उत्कटुक—पैर और पुत दोनों भूमि से लगे रहें वैसे बैठना। घेरण्ड संहिता के अनुसार—अंगूठों को भूमि पर टिका एड़ियों को ऊपर को ओर उठा उन पर गुदा रख बैठना।[5]

४ पद्मासन—बायीं जाँघ पर दायाँ पैर और दायीं जाँघ पर बायाँ पैर रखकर हथेलियों को एक दूसरे पर रख नाभि के नीचे रखना।

५. वीरासन—बायाँ पैर दाईं साथल पर दायाँ पैर बाईं साथल पर रखना दोनों हाथों को नाभि के पास रखना। अथवा सिंहासन पर बैठ पैर नीचे भूमि पर टिका रखे हों और सिंहासन निकाल लिया जाए, वह आसन (अथवा) एक पैर से दोनों अण्डकोषों को दबा दूसरे पैर को दूसरी जाँघ पर रख सरल भाव से बैठना।

६ गोदोहिका—गाय के दुहने जैसी स्थिति में बैठना।

७ पर्यंकासन—दोनों जाँघों के अधोभाग को पैरों पर टिका दोनों हाथों को नाभि के सामने दक्षिणोत्तर रख बैठना।

इनमें से पद्मासन आदि आसन चित्त की स्थिरता के लिए हैं और वीरासन आदि धैर्य की प्राप्ति के लिए।

संलीनता—संलीनता के चार प्रकार हैं[6] —

१ इन्द्रिय-संलीनता—इन्द्रियों के विषयों से बचना।

२ कषाय-संलीनता—क्रोध मान माया और लोभ से बचना।

३ योग-संलीनता—मन वाणी और शरीर की प्रवृत्ति से बचना।

४ विविक्तशयन-आसन—एकान्त स्थान में सोना बैठना। संलीनता की आंशिक तुलना पतंजलि के प्रत्याहार से होती है। योगी के लिए उपशान्त वृत्ति और स्थिरता आवश्यक होती है।

इसके चतुर्थ प्रकार में योगी कहाँ रहे, इसका निर्देश है। साधक के लिये श्मशान शून्यागार और वृक्षमूल इन स्थानों में रहने का विधान है।[7] तप के ये छहों प्रकार विषयों से बचने के साधन हैं। विकार आत्मा का आन्तरिक दोष है।

---

१ प्रश्न व्याकरण संवरद्वार ५

२—औपपातिक तपोधिकार

३—स्थिरसुखमासनम्, योगदर्शन २।४६

४—अभ्य ध १। २७

५. औपपातिक तपोधिकार

६ अंगुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खे गतौ। तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयं उत्कटासनम्—२।२७

७ औपपातिक तपोधिकार

८. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगओ—उत्तराध्ययन २

विषय आत्मा का बोध नहीं है यह विचार का निमित्त है। इसलिए उससे बचना आवश्यक होता है। निमित्तों से बचने के साधनों को बाह्य तप कहने का कारण यही है। प्रायश्चित आदि से आन्तरिक विकारों का शोधन होता है, इसीलिये उन्हें आन्तरिक कहा गया है।

प्रायश्चित मूल के अनुरूप होता है। इससे साधना का पथ प्रशस्त होता है। विनय का अर्थ है—संयम या शुद्धि के साधनों का अवलम्बन। उसके सात प्रकार हैं[1] —

१ ज्ञान का विनय।

२ दर्शन-सम्यग्दृष्टि का विनय।

३ चारित्र का विनय।

४ मन-विनय—मन का प्रशस्त प्रयोग।

५ वचन-विनय —वचन का प्रशस्त प्रयोग।

६ काय-विनय—सावधानी से चलना खड़ा रहना बैठना सोना।

७ लोकोपचार-विनय—गुरु की इच्छा का सम्मान करना उनका अनुगमन करना उनका छन्द रखना आदि।

वैयावृत्त्य—साधक को सहयोग देना वैयावृत्त्य है।

स्वाध्याय—स्वाध्याय और ध्यान दोनों परमात्म-भाव की अभिव्यक्ति के अनन्य साधन हैं। योगी स्वाध्याय से विरत हो ध्यान और ध्यान से विरत हो स्वाध्याय करे। स्वाध्याय और ध्यान की सम्पदा से परम-आत्मा प्रकाशित होती है।[2]

स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं:—

१ वाचना—पढाना २ प्रच्छना—प्रश्न करना ३ परिवर्तना—याद किये हुए पाठ को दोहराना ४ अनुप्रेक्षा—चिन्तन ५ धर्म कथा—धर्मचर्चा धर्म-वार्ता।

शिष्य ने पूछा भंते ! स्वाध्याय का क्या फल है ?

भगवान ने कहा—स्वाध्याय से ज्ञानवरण क्षीण होता है।[3]

ध्यान—स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान का क्रम है। पतंजलि ने ध्यान का पूर्व तत्त्व धारणा माना है। इस तपोयोग में धारणा नाम का कोई तत्त्व नहीं है। किन्तु जैन परम्परा में 'एकाग्र मनः सन्निवेशना' जो है उसकी तुलना धारणा से होती है। एकाग्र का अर्थ है कोई एक आलम्बन। उसमें मन को स्थापित करना लगाना या बाँध देना—एकाग्रमनः सन्निवेशना है।

शिष्य ने पूछा—भंते ! एकाग्रमनः सन्निवेशना का क्या फल है ? भगवान् ने कहा—एकाग्रमनः सन्निवेशना का फल है—चित्त-निरोध।[4] यही ध्यान है। जो अध्यवसाय चल है, वह चित्त है और जो स्थिर है वह ध्यान है। ध्यान का पहला रूप है चित्त-निरोध और दूसरा रूप है शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध।[5] साधना की दृष्टि से ध्यान के दो प्रकार हैं—(१) धर्म्य (२) शुक्ल।

ये दोनों आलम्बी हैं। शुक्ल ध्यान पूर्वधर (विशिष्ट ज्ञानी) मुनियों के होता है। उससे पहले धर्म्य-ध्यान ही होता है।

उसके चार प्रकार हैं[6]—

१ आज्ञा-विचय—आगम के अनुसार सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन करना।

---

१ औपपातिक तपोधिकार।

२ स्वाध्यायद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्। ध्यान स्वाध्याय संपत्या परमात्मा प्रकाशते—क्षमा

३ सज्झाएणं भंते जीवे किं जणेइ ?
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ—उत्तराध्ययन २९।१८।

४ एगग्ग मण संनिवेसणाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?
एगग्गमण सन्निवेसणाए णं चित्त निरोहं करेइ—उत्तराध्ययन २९।२५।

५ एकाग्रचिन्ता योग निरोधो वा ध्यानम्—जैन सिद्धान्त दीपिका।

६ स्थानांग ४।१।२४७।

२ अपाय-विचय—हेय क्या है इसका चिन्तन करना ।

३ विपाक-विचय—हेय के परिणामों का चिन्तन करना ।

४ संस्थान-विचय—लोक या पदार्थों की आकृतियों स्वरूपों का चिन्तन करना ।

आज्ञा अपाय विपाक और संस्थान ये ध्येय हैं । जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है वैसे ही इन ध्येय विषयों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है । इनके चिन्तन से चित्त-निरोध होता है, चित्त की शुद्धि होती है, इसलिए इनका चिन्तन धर्म्य ध्यान कहलाता है ।

आज्ञा-विचय से वीतराग-भाव की प्राप्ति होती है । अपाय-विचय से राग-द्वेष और मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्ति मिलती है । विपाक-विचय से दुःख कैसे होता है ? क्यों होता है ? किस प्रवृत्ति का क्या परिणाम होता है ? इसकी जानकारी प्राप्त होती है । संस्थान-विचय से मन अनासक्त बनता है । विश्व की उत्पाद व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है, उसके विविध परिणाम-परिवर्तन जान लिए जाते हैं तब मनुष्य का मन स्नेह, घृणा हास्य शोक आदि विकारों से विरक्त हो जाता है ।

धर्म्य-ध्यान चित्त-निरोध या चित्त-विशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास है । शुक्ल ध्यान में यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है । मन सहज ही चंचल है । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण कर उसे प्रेषित करती हैं इसलिए उसकी चंचलता और बढ़ जाती है । वह समूचे विश्व की परिक्रमा करने लग जाता है । ध्यान का कार्य है उस भ्रमणशील मन को सब विषयों से हटा किसी एक विषय पर स्थिर कर देना ।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, त्यों-त्यों मन शांत और निष्प्रकम्प हो जाता है । शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध पूर्ण संवर या समाधि प्राप्त हो जाती है ।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं[1]—१ पृथक्त्व वितर्क—सविचारी २ एकत्व वितर्क—अविचारी ३ सूक्ष्म-क्रिय—अप्रतिपाती ४ समुच्छिन्न-क्रिय—अनिवृत्ति ।

पतंजलि ने समापत्ति के चार प्रकार बतलाए हैं—१ सवितर्का २ निर्वितर्का ३ सविचारा ४ निर्विचारा ।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है । विचार का अर्थ है परिवर्तन । पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन ले ध्यान करता है, किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय पर स्थिर नहीं रहता वह उसके विविध परिणामों पर विचरण करता है तथा शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर एवं मन वाणी और शरीर में से एक दूसरी प्रवृत्ति पर संक्रमण करता है नाना दृष्टिकोणों से उस पर चिन्तन करता है । उसे पृथक्त्व वितर्क सविचारी कहा जाता है ।[2] पतंजलि ने शब्द अर्थ ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण समापत्ति को सवितर्का माना है ।[3]

पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन ले उसके किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है । वह शब्द अर्थ और मन वाणी तथा शरीर पर संक्रमण नहीं करता । वैसा ध्यान एकत्व वितर्क अविचारी कहलाता है । पहले में पृथक्त्व है इसलिए वह सविचारी है । दूसरे में एकत्व है इसलिये वह अविचारी है ।

पहला हवादार-गृह का प्रदीप है और दूसरा निर्वात-गृह का । पतंजलि ने शब्द, ज्ञान आदि विकल्पों से शून्य अर्थात् अर्थ मात्र के साक्षात्कार को निर्वितर्का समापत्ति माना है । उनके अभिमत में सवितर्का और निर्वितर्का स्थूल पदार्थ विषयक हैं सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म पदार्थ विषयक हैं ।[4] जैन दृष्टि के अनुसार उक्त दोनों प्रकारों में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ आलम्बन बनते हैं । पतंजलि ने चारों समापत्तियों को सबीज माना है ।[5] जैन दृष्टि के अनुसार ये मोह

१ स्थानाङ्ग ४।१।२४७

२ स्थानाङ्ग वृत्ति ४।१।२४७ पत्र १९१

३ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः—योगदर्शन १।४२

४ स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासानिर्वितर्का—योगदर्शन १।४३

५ एतयैव सविचारा निर्विचारा सूक्ष्म विषया व्याख्याता —योगदर्शन १।४४

६ ता एव सबीजः समाधिः—योग दर्शन १।४६

के उपशम से प्राप्त हो, तो सवीज और मोह के क्षय से प्राप्त हों तो निर्बीज होती है।[1]

पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी अर्थात् भेद-प्रधान ध्यान का अभ्यास दृढ़ होता है, तब एकत्व-वितर्क-अविचारी अर्थात् अभेद-प्रधान ध्यान प्राप्त होता है। इनके अभ्यास से मोह क्षीण होता है, उसके साथ-साथ ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय क्षीण हो जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग और अनन्त शक्ति-सम्पन्न बन जाता है। आयुष्य शेष रहता है, तब तक वह योगी जीता है। उसकी पूर्ति निकट होती है, तब उसके सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाती ध्यान होता है। इसमें पहले मन का फिर वाणी का और फिर काया का निरोध होता है। श्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया बचती है। पश्चात् उसका भी निरोध हो जाता है, उसे समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति ध्यान कहा जाता है।

इसकी प्राप्ति होते ही मुनि पंच ह्रस्वाक्षरों (अ इ, उ ऋ, लृ) के उच्चारण काल तक शरीरी रहता है फिर मुक्त हो जाता है। पतंजलि के शब्दों में शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेदों को संप्रज्ञात और अंतिम दो भेदों को असंप्रज्ञात समाधि कहा जा सकता है।[2]

धर्म ध्यान के चार लक्षण हैं—

१ आज्ञा-रुचि—राग-द्वेष मोह के दूर होने से जो कुग्रह-मिथ्या आग्रह का अभाव होता है।
२ निसर्ग-रुचि—पूर्व स्मृति से उत्पन्न सहज रुचि।
३ सूत्र-रुचि—सूत्र के अध्ययन से उत्पन्न रुचि।
४ अवगाढ़ रुचि—तत्त्व के अवगाहन से उत्पन्न रुचि।

धर्म-ध्यान के चार आलम्बन हैं—१ वाचना—पढ़ाना २ प्रच्छना—पूछना ३ परिवर्तना—दोहराना ४ अनुप्रेक्षा—चिन्तन।

धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

१ एकत्वानुप्रेक्षा—'मैं अकेला हूँ' ऐसी भावना।
२ अनित्यानुप्रेक्षा—'सब संयोग अनित्य हैं' ऐसी भावना।
३ अशरणानुप्रेक्षा—'दूसरा कोई त्राण नहीं है' ऐसी भावना।
४ संसारानुप्रेक्षा—'जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है' ऐसी भावना।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण हैं—

१ अव्यथ—व्यथा का अभाव कष्ट सहन में अचल धैर्य।
२ असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थ के विषय में मूढ़ता न होना माया जाल में न फँसना।
३ विवेक—देह और आत्मा का परिपक्व भेद, ज्ञान संयोग त्याग।
४ व्युत्सर्ग—शरीर और उपकरणों में निर्लिप्तता।

शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन हैं—१ क्षमा—सहन करना अक्रोध २ मुक्ति—निर्लोभता ३ मार्दव—निरभिमानता ४ आर्जव—सरलता।

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

१ अनन्त-वृत्ति-अनुप्रेक्षा—भव परम्परा अनादि है ऐसी भावना।
२ विपरिणामानुप्रेक्षा—सब पदार्थ परिणमनशील हैं, ऐसी भावना।
३ अशुभानुप्रेक्षा—संसार के सब संयोग अशुभ हैं, ऐसी भावना।

---

१ धर्मायो—
२ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते। सम्यक् प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा—योग बिन्दु ४१८
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः। निरुद्धाशेषवृत्त्यादि, तत्स्वरूपानुवेधतः—योगबिन्दु ४२

४ अपायानुप्रेक्षा[1]—आस्रव बन्धन के हेतु हैं, ऐसी भावना ।

धर्म्य-ध्यान के लिए श्रद्धा स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है यह उसके लक्षण आलम्बन और अनुप्रेक्षाओं से फलित होता है। शुक्ल-ध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव का अवगाहन और भावना अपेक्षित है यह उसके लक्षण आदि से ज्ञात होता है। भावनाएँ १२ हैं —(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशौच (७) आस्रव (८) संवर, (९) निर्जरा (१) धर्म (११) लोक-संस्थान और (१२) बोधि । चार भावनाएँ और हैं—(१) मैत्री (२) प्रमोद (३) करुणा (४) माध्यस्थ ।

इनमें प्रथम चार भावनाएँ धर्म्य-ध्यान की अनुप्रेक्षाएँ हैं । अनन्तवृत्ति-संसारानुप्रेक्षा का ही स्थिर अभ्यास है । विपरिणाम को लोक अपाय को आस्रव और अशुभ को अशौच भावना कहा जा सकता है ।

व्युत्सर्ग—तपो-योग का १२ वाँ प्रकार व्युत्सर्ग है । इसका अर्थ है—देहाध्यास की मुक्ति शरीर की स्थिरता ।

महाव्रत और तपोयोग में पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग के ६ अङ्ग समाविष्ट हैं । प्राणायाम और धारणा ये दो शेष रहते हैं । प्राणायाम के विषय में जैन-भावना क्या है ? यह बतलाया जा चुका है

धारणा के विषय में कोई मतभेद नहीं है । त्राटक भी योग का एक अंग है । इसमें चित्त और दृष्टि दोनों एकत्र स्थिर किये जाते हैं । जहाँ भगवान् महावीर की ध्यान-मुद्रा का उल्लेख हुआ है, वहाँ उन्हें एक पुद्गल-निविष्ट दृष्टि और अनिमिष नयन कहा गया है ।[2] नासाग्र दृष्टि को भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना है । आचार्य हेमचन्द्र ने जिनमुद्रा की विशेषता बतलाते हुए लिखा है—"जिनेन्द्र ! आपकी और-और विशेषताओं को सीखना तो दूर रहा पर अन्यतीर्थिक देवों ने पर्यंक-आसन शिथिल-शरीर और नासाग्र दृष्टि वाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी ।"[3] उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भृकुटी भाल ललाट नाभि तालु और हृदय-कमल आदि धारणाओं की चर्चा मिलती है । भगवान महावीर ने साधना का जो क्रम प्रस्तुत किया उसमें अनशन और ध्यान इन दोनो का समन्वय था । यह साधना क्रम न केवल कष्ट-सहन था और न कष्ट से पलायन कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न था । साधक के लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनो आवश्यक होते हैं । इस साधना क्रम में दोनो का सुमेल था । समय-परिवर्तन के साथ क्रम में परिवर्तन हो गया । ध्यान का स्थान गौण हो गया और अनशन साधना के सिंहासन पर जा बैठा । इसीलिए अन्य दर्शनी लोग जैन-साधना को केवल कष्टमय या अत्यन्त कठोर मानते हैं ।

भगवान् महावीर का साधना काल बारह वर्ष और तेरह पक्ष का है । उसमें अनशन आसन और ध्यान की स्पर्धा सी रही है । भगवान् ने इस अवधि में तीन सौ उनचास दिन भोजन-पानी ग्रहण किया और ऊकडू आसन निषद्या-कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ कई सौ बार स्वीकार की ।[5]

बारह बार एक रात्रि की प्रतिमा स्वीकार की ।[6] भगवान् को जब कैवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तब वे ऊकडू आसन में बैठे थे दो दिन का उपवास था[7] और ध्यानान्तरिका में वर्तमान थे ।[8] भगवान् जब दृढभूमि के पेढाल ग्राम में विहार कर रहे थे तब उन्होंने पोलास नामक चैत्य में तीन दिन का उपवास किया । कायोत्सर्ग मुद्रा की । उनका शरीर आगे की ओर कुछ

---

१ स्थानांग ४।१।२४७

२ एगपोग्गल निविट्ठदिट्ठी अणिमिस नयणे—भगवती ३।२।

३ वपुश्च पर्यंक शयं श्लथं च दृशौ च नासा नियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्रमुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥ अयोगव्यवच्छेदिका २ ॥

४ वपुर्विपये भवति ललाटे, नाभी तालुनि हृत्पद्म निकटे ।
एतेष्वस्मिन् देशे चेतः, सप्तमाणी धारीयति धान्तम् ॥ वैराग्यमणिमाला १४।

५ तिन्निसए दिवसार्ण—आवस्यक निर्युक्ति ५३४।

६ आवस्यक निर्युक्ति ५३१ ।

७ आवश्यक निर्युक्ति ५२५ ।

८ झाणंतरियाए वट्टमाणस्स—आ नि ५२४ वृत्ति पत्र २९८ ।

झुका हुआ था । दृष्टि एक पुद्गल पर टिकी हुई थी । आँखें अनिमेष थी । शरीर प्रणिहित था इन्द्रियाँ गुप्त थी । दोनों पैर सटे हुए थे और दोनों हाथ प्रलम्बित थे । इस मुद्रा में भगवान् ने एक रात्रि की महाप्रतिमा की ।[1]

सानुलष्टि ग्राम में भगवान ने भद्रा महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमाएँ की । पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण इन चारों दिशाओं में चार-चार पहर कायोत्सर्ग किया जाए वह भद्रा प्रतिमा है । इसकी आराधना करने वाला पहले दिन पूर्वाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है, रात को दक्षिणाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है । दूसरे दिन पश्चिम दिशाभिमुख और रात को उत्तराभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है । भगवान् ने भद्रा के अनन्तर ही महाभद्रा प्रतिमा प्रारंभ कर दी । इसमें चारों दिशाओं में एक दिन-रात कायोत्सर्ग किया जाता है । भगवान् ने चार दिन तक इसकी आराधना की । इसके अनन्तर सर्वतोभद्रा का प्रारंभ किया । इसमें दस दिन रात लगे । चारों दिशाओं में चार दिन-रात चारों विदिशाओं में चार दिन-रात और एक-एक दिन रात ऊँची और नीची दिशा के अभिमुख हो कायोत्सर्ग किया । इस तरह सोलह दिन-रात तक भगवान् सतत-ध्यानरत और उपवासी रहे ।[2]

स्थानांग में इनके अतिरिक्त सुभद्रा प्रतिमा का उल्लेख और मिलता है ।[3] उसका अर्थ आज ज्ञात नहीं है, वृत्तिकार अभयदेव सूरि को भी ज्ञात नहीं था । इनके अतिरिक्त समाधि प्रतिमा उपधान-प्रतिमा विवेक-प्रतिमा और व्युत्सर्ग-प्रतिमा क्षुल्लिकामोय प्रतिमा महतीमोय प्रतिमा यवमध्या और वज्रमध्या आदि प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है ।[5] इनकी परम्परा लुप्त है और हृदय अज्ञात । जैन परम्परा में ध्यान-क्रम इस प्रकार है —

१ स्थान—कायोत्सर्ग आसन आदि ।
२ मौन—वाक् संयम ।
३ ध्यान—एकाग्रता ।

भगवान् प्राय मौन रहते थे ।[6] आसनस्थ होकर ध्यान करते । वे ऊँची-नीची और तिरछी तीनों दिशाओं में स्थित पदार्थों को अपना ध्येय बनाते ।[7]

योगी के लिए निद्रा विजय भी आवश्यक है । भगवान ने साधना-काल में केवल १ मुहूर्त भर नींद ली ।

भगवान प्रहर भर तिर्यग् भित्तिगा-दृष्टि टिका कर ध्यान करते थे ।[8] भगवान् के शिष्यों के लिए भी ध्यान 'कोष्ठोपगत' विशेषण प्रचुरता से प्रयुक्त हुआ है । इतनी बड़ी परम्परा कैसे लुप्तप्राय हो गई, यह एक अन्वेषणीय विषय है ।

साधनाकी बाधाएँ —

(१) मोह, (२) क्षयोपशम का अभाव (३) अस्वस्थता[9] (४) स्तम्भ (५) मिथ्यात्व (६) अविरति (७) प्रमाद, (८) कषाय (९) शरीर, वाणी और मन की चंचलता (१) आलस्य[11] (११) अविनय और (१२) विकृति-प्रति-

---

१ आवश्यक निर्युक्ति पत्र २८८ ।
२ आवश्यक निर्युक्ति ४९५ वृत्ति पत्र २८८ ।
३ चत्तारि पडिमाओ प० त०—'भद्दा सुभद्दा महाभद्दा सव्वतोभद्दा' ४।१।२५१ ।
४ सुभद्राप्येवंभूतैव सम्भाव्यते न च दृष्टेति न लिखिता—स्थानांगवृत्ति ४।१।२५१ ।
५ स्थानांग ४।१।२५१ ।
६ आचारांग १।९।१।६२ २।७६ ।
७ अविकसाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने—
आचारांग १।९।४। ८।

८ आवश्यक निर्युक्ति पत्र २७ ।
णिद्दं पि णो पगामाए सेवइ भगवं उट्ठाए । जग्गावई य अप्पाणं ईसिं साई य अपडिन्ने—आचारांग १।९।२।६९।
९. अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झायइ—आचारांग १।९।१।४६ । वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न किया है, पर वह चिन्त्य है ।
१ स्थानांग ५।२।२८१ ।
११ उत्तराध्ययन ११।३ ।

गहराता—रस लोलुपता।[1] अनमता—ये योग-साधना या शिक्षा के विघ्न हैं।

(११) पतंजलि ने व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रांति-दर्शन अलब्धभूमिकत्व और अनव स्थितत्व इन चित्त विक्षेपों को योगान्तराय माना है।[2]

ध्यान की भूमिकाएँ —

विस्तार दृष्टि से साधना के विघ्न अनेक हैं किन्तु संक्षेप में उसका विघ्न एक है। वह है मोह। मोह का उदय होता है। ध्यानभंग हो जाता है, उसका उपशम क्षय-उपशम और क्षय होता है, ध्यान प्रशस्त हो जाता है। ध्यान की प्रधान भूमिकाएँ ग्यारह हैं।[3] १ सम्यग्दृष्टि २ देशव्रती ३ महाव्रती ४ अप्रमत्त ५ अपूर्वकरण ६ अनिवृत्ति-बादर ७ सूक्ष्म-लोभ ८ उपशान्त-मोह, ९ क्षीण-मोह, १० सयोगी-केवली ११ अयोगी-केवली।

प्रथम तीन भूमिकाओं में धर्म-ध्यान होता है। चतुर्थ भूमिका में धर्म-ध्यान होता है और अंशतः शुक्ल-ध्यान भी होता है।[4] इस भूमिका से सूक्ष्म-लोभ की भूमिका तक शुक्ल-ध्यान का प्रथम चरण प्राप्त होता है।

क्षीण-मोह वीतराग को शुक्ल-ध्यान का दूसरा चरण प्राप्त होता है।[5] दसवीं भूमिका के अंत में शुक्ल-ध्यान का तीसरा चरण होता है। केवली के शरीर की स्थिरता होती है, वही ध्यान है।[6] ग्यारहवीं भूमिका में शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण प्राप्त होता है।[7]

ध्यान का फल —

ध्यान का मुख्य फल है मोह विलय या परमात्म-भाव। उसका गौण फल है लब्धि। योगदर्शन में इन्हें विभूति कहा गया है। लब्धियाँ २८ हैं। उनके द्वारा वैसे कार्य होते हैं जिनकी कल्पना करना भी कठिन है। पर ध्यान का यह साध्य नहीं है। उसका साध्य है आत्मोपलब्धि। आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से वेष्टित है। हमारे पास ज्ञान के साधन हैं इन्द्रियाँ और मन। ये बहिर विषयों की जानकारी में चंचल रहते हैं। इनका बहिर दर्शन मिटे तब कहीं अन्तर-दर्शन का आरंभ हो। वही है ध्यानावस्था। शुक्ल ध्यान में आरूढ़ योगी विश्व भर के जीवों के कर्म-बन्धन को तोड़ डालने में समर्थ होता है यदि ऐसा हो सके।[8] ध्यान की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है? मुनि के लिए विधान है कि वह दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करे और दूसरे पहर में ध्यान करे।

तीसरे पहर में आहार करे और चौथे पहर में फिर स्वाध्याय करे।[9] इसी प्रकार रात के पहले पहर में स्वाध्याय दूसरे में ध्यान करे तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे।[10]

यह औत्सर्गिक विधि थी। काल-क्रम से इसमें परिवर्तन हुआ है। इसीलिए अतिशायी ज्ञान दर्शन की हानि हुई है। भगवान ने कहा है—जो मुनि (१) स्त्री-कथा भक्त-कथा देश-कथा राज-कथा करता है (२) विवेक और व्युत्सर्ग से

---

१ स्थानांग ३।

२ योग-दर्शन १।३०।

३ समवायांग १४।

४ धर्म-ध्यानं भवत्यत्र मुख्यवृत्त्या जिनोदितम् ॥
रूपातीत तया शुक्ल-मपि स्यादंशमात्रतः ॥ गुणस्थान क्रमारोह, ३५ ॥

५ तत्राष्टमेगुणस्थाने शुक्लसद्ध्यानमादिमम्। ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्य संहननान्वितः ॥५१॥
भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा वीतरागो महायतिः। पूर्ववद् भाव संयुक्तो द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत ॥ गुण क्रमा ७४॥

६. छद्मस्थस्य यथा ध्यानं मनसः स्थैर्यमुच्यते। तथैव वपुषः स्थैर्यं ध्यानं केवलिनो भवेत् ॥ गुण क १ १॥

७ समानिवृत्ति शब्दान्तं समुच्छिन्न क्रियात्मकम् चतुर्थं भवति ध्यानमयोगि परमेष्ठिनः ॥ गुण क्रमारोह १ ५॥

८. क्षपक श्रेणि परिगतः, स समर्थः सर्व कर्मिणां कर्म।
क्षपयितु मेको यदि कर्म-संक्रम स्यात् परकृतस्य ॥ प्रशमरतिः, २६४ ॥

९. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायइ तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥ उत्त० २६।१२ ॥

१० पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायइ तइयाए निद्द मोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥ उत्त २६।१८॥

आत्मा को सम्यग् भावित नहीं करता (३) पूर्व रात्र और अपर-रात्र में धर्म-जागरिका नहीं करता (४) शुद्ध भिक्षा की गवेषणा नहीं करता उसे अतिशायी ज्ञान-दर्शन प्राप्त होते-होते रुक जाता है। इसके विपरीत जो मुनि (१) विकथा नहीं करता (२) आत्मा को असम्यग् भावित नहीं करता (३) धर्म जागरिका करता है तथा (४) शुद्ध भिक्षा की सम्यक् गवेषणा करता है उसे अतिशायी ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है।[1]

पदार्थ-विज्ञान आज बहुत विकसित है। आत्मा-ज्ञान या प्रत्यक्षज्ञान बहुत ही अविकसित है। जो प्राप्त है उसके लिये प्रयत्न आवश्यक नहीं है जो प्राप्तव्य है उसके लिए प्रयत्न अपेक्षित है। सत्य के साक्षात्कार के लिये आत्मा के शुद्ध रूप की अनुभूति परम आवश्यक है। आत्मा की तीन दशाएँ हैं—(१) बहिर-आत्मा (२) अन्तर-आत्मा (३) परमात्मा। देह और आत्मा को जो भिन्न नहीं मानता वह बहिर आत्मा है। जिसे देह और आत्मा के भेद का ज्ञान है वह अन्तरात्मा है। जो कर्म-मल से रहित है, वह परमात्मा है। परमात्मा उपेय है। बहिरात्मा हेय है। अन्तरात्मा उसका उपाय है। ध्याता ध्यान और ध्येय सब कुछ आत्मा है। मोह की हानि बाह्य चिन्ता की निवृत्ति के लिये तथा एकाग्रता की सिद्धि के लिये आत्मा का ध्यान किया जाए। यह जीवन का सर्वोपरि सत्य है। (इतिशम्)

---

१ स्थानांग ४।२।२८४

भगवान् महावीर और गौतम के संवाद

(ले०—मुनि श्री मनोहरलाल जी)

भगवान् महावीर के निर्वाण को लगभग ढाई हजार वर्ष हुए हैं। वे महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। उस समय बुद्ध जहाँ नये धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे थे वहाँ महावीर अपने से पूर्व जनकतीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्यों को ही निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से प्रसारित करते थे। नवीन तो कुछ होता ही नहीं है इस आधार पर तो बुद्ध ने भी उन्हीं शाश्वत सत्यों के आधार पर ही अपनी बातों को तत्कालीन समय की आवश्यकताओं के अनुरूप बौद्ध-धर्म के रूप में उपस्थित किया है। यों माना जा सकता है कि जैन-धर्म की तरह बौद्ध-धर्म की कोई पूर्व परम्परा नहीं थी। बुद्ध ने ही उसका पहले पहल प्रवर्तन किया अतः वे ही बौद्ध-धर्म के प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तक तथा मूल देवता माने जाते हैं। किन्तु भगवान महावीर जैन-धर्म के वर्तमान अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर माने जाते हैं। जैन-धर्म के मतानुसार भूतकाल में इस प्रकार की अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी हैं। उन सभी तीर्थंकरों ने भिन्न-भिन्न समय में अपने-अपने ढंग से निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तन किया था। भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती तीर्थंकरों में से वर्तमान इतिहास शोधकों ने दीर्घ अन्वेषण के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ को एक ऐतिहासिक महापुरुष मान लिया है जो कि जैन-धर्म के तेईसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथजी भी एक मान्य महापुरुष हुए हैं यह इतिहासकारों की खोज का विषय बन चुका है। भगवान् ऋषभनाथ का नामोल्लेख संसार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थों में भी हुआ है। भागवत आदि प्राचीन वैदिक ग्रंथों में उनकी विस्तृत जीवनी पाई जाती है।[1] जैन पुराणों में तो उनकी जीवनी का सुविशद विवरण प्रस्तुत किया ही गया है। भगवान् महावीर का हमारे लिये अधिक महत्व इस बात में है कि वर्तमान धर्मशासन उन्हीं के उपदेशों को प्रमाण मानकर चलने वाला है। वर्तमान निर्ग्रन्थ-प्रवचन के मूल स्रोत तथा वर्तमान निर्ग्रन्थ धर्म के संस्थापक भगवान् महावीर आज भी मानवजाति के एक उत्कृष्ट प्रेरणा स्रोत हैं।

भगवान् महावीर ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था व परम्परागत क्रियाकाण्डों पर कठोर प्रहार किया था। उन्होंने मानव को नई दृष्टि देकर एक नया वातावरण तैयार किया था। सहस्राब्दियों पूर्व जब समाज रूढ़ हो गया था प्रगति का नाम अगाध लगता था तथा किसी भी प्रकार के परम्परागत विचारों के विरुद्ध कोई भी बात लोग सुनने को तैयार नहीं थे ऐसे समय में उन्होंने जातिवाद के विरुद्ध आवाज उठाई, धर्म के नाम पर होनेवाले निरीह प्राणियों के वध का डटकर विरोध किया और धन से धर्म नहीं होता आदि अनेकानेक क्रांतिकारी विचारों का संस्थापन कर आध्यात्मिक जगत में बहुत बड़ी हलचल पैदा की।

भगवान् महावीर के जीवनकाल में और उनके निर्वाण के अनन्तर भी उनके अनेकानेक क्रांतिकारी विचारों का घोर विरोध हुआ। उनके समय में छः अन्य धर्म प्रवर्तक भी अपने आप को तीर्थंकर घोषित करते थे। इस प्रकार एक समय में उस सीमित से क्षेत्र में अनेक तीर्थंकरों की उपस्थिति से जहाँ एक ओर धार्मिक जागृति का परिचय मिलता है वहाँ दूसरी तरफ विचारों का बड़ा भारी विरोध खण्डन-मण्डन और और कटुता भी प्रकट होती है। उस समय उस क्षेत्र में भगवान् महावीर का बहुत बड़ा प्रभाव था। उनकी हजारों की शिष्य सम्पदा तथा लाखों उपासकों का समूह इस बात के उदाहरण रह आ सकते हैं। बाहर के विरोधों के साथ-साथ भगवान् को स्वयं अपने ही शिष्यों द्वारा किये गये विरोधों का भी सामना करना पड़ा। भगवान् के मुक्त होने के पश्चात् भी उनके सिद्धान्तों का कई प्रशिष्यों ने विरोध किया था। यों पहले और पीछे के विरोधों को मिलाकर सात बार तक के विरोधों का कथन तो स्वयं आगम ग्रन्थों में संगृहीत है। विचार भेद को लेकर अनेक शिष्यों का अपना अलग-अलग विपक्ष तैयार कर लेना भगवान् महावीर के क्रांतिकारी विचारों की प्रतिक्रिया की ही एक झाँकी उपस्थित

---

[1] देखिये इसर खण्ड २ पृ १–८, 'भगवान् ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता' नामक लेख।

करता है । क्रिया की समसता के अनुरूप प्रतिक्रिया भी हुआ करती है, परन्तु शान्तिवाहक के सिद्धान्तों की दृढ़ता तथा प्रसन्न की उपयोगी पद्धति के सामने कोई भी प्रतिक्रिया सफल नहीं हो सकती । अतः वे सब-के-सब लज्जा-कवलित होकर निष्प्रभ हो गये ।

भगवान् महावीर का श्रमसंघ एक बहुत विस्तृत धर्मसंघ था । उनके श्रमणों की गणना हजारों से ऊपर थी । गणधरों के माध्यम से उस श्रमण वर्ग की व्यवस्था व अध्ययन होता था । महावीर के उपदेशों को धारण करने वाले एकादश गणधर थे जिन्होंने उनकी सम्पूर्ण वाणी को आगमों के रूप में गुम्फित किया । एकादश गणधरों में इन्द्रभूति गौतम प्रथम गणधर थे । वे भगवान् महावीर की विशाल शिष्य सम्पदा के प्रधान शिष्य होने के साथ ही आचार, ज्ञान तथा चरित्र आदि में भी सबसे महान् थे । आगमों में प्रायः सर्वत्र उनका पुनः-पुनः नामोल्लेख तथा महत्त्व प्रदर्शित हुआ है । हर स्थान में और हर कार्य में उनकी अग्रगामिता प्रकट होती है ।

जैन आगम गद्य तथा पद्य दोनों ही रूपों से अपनी ज्ञान-स्रोतस्विनी प्रवाहित करते हैं । उनके पर्याप्त स्थल प्रश्नोत्तरों तथा संवादों के रूप में हैं । लगता है जैन आगमों में प्रश्नोत्तरों के रूप में तत्त्व धर्म दर्शन और विज्ञान का प्रस्टीकरण करके लेखन के क्षेत्र में एक विशिष्ट वर्ग का ही प्रादुर्भाव कर दिया गया है । गहन गम्भीर विषयों को साधारण से साधारण व्यक्ति भी हृदयंगम कर सके संभवतः इसीलिये गणधरों ने उस ज्ञान को इस नवीन प्रकार से उपस्थित किया है । ऐसे भी जैनों के सम्पूर्ण आगम साहित्य में सरलता पर अधिकाधिक ध्यान दिया गया है । कुछ तात्त्विक तथा दार्शनिक स्थलों पर प्रारम्भ में कहीं-कहीं पर दुरूहता का आभास भी हो सकता है पर कुछ अभ्यास के पश्चात् वहाँ भी पाठक को सरलता और सरसता ही दीख पड़ेगी । जहाँ संवादों का क्रम अपनाया गया है, वहाँ तो समतल भूमि पर बहती हुई जलधारा के समान वह क्रम और भी अधिक सरल बन गया मालूम होता है ।

भगवान् महावीर जिस किसी भी ग्राम नगर या उद्यान में प्रवास करते वहाँ धर्म देशना तत्त्वचर्चा आदि विभिन्न प्रसंग चलते ही रहते थे । उस अवसर पर समागत जन जिज्ञासा-शान्ति ज्ञान लाभ तथा जीवन सम्बल के लिये अनेक बहुमूल्य विचार प्राप्त करते थे । इसके अलावा अवशेष समय में गणधर गौतम का शंका-समाधान चलता रहता था । वे हर विषय की बातों को जानने की उत्कट अभिलाषा लिये रहते थे । नवागन्तुक लोगों के विषय में सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करना उनके भूत और भविष्य के जीवनों की अनेकानेक घटनाओं का सम्बन्ध जानना तो उनका अत्यन्त रुचिपूर्ण विषय था । किसी को व्याधि सम्पन्न दु:खार्त या कोढ़ आदि भयंकर रोगों से पीड़ित देखते तो उनका मन इन विचित्रताओं का मूल कारण समझने के लिये जिज्ञासा और कौतूहल से भर जाता । वे भगवान् महावीर के पास पहुँचते । घुटने टेककर सविधि वन्दन करते और पूछते— भगवन् ये लोग किन कारणों को लेकर ऐसी स्थिति को प्राप्त हुए हैं । भगवान् महावीर पूर्वतन भवों की घटनाओं का वर्णन करते हुए कहते—गौतम ! इन्होंने पूर्वजन्म में ऐसे-ऐसे कृत्य किये थे इसलिये आज इस स्थिति को प्राप्त हुए हैं । बौद्धागमों में भी इस प्रकार के संवाद पाये जाते हैं । स्वयं महात्मा बुद्ध के जीवन से संबद्ध संवाद भी हैं । उनके पूर्व जीवन पर प्रकाश डालने वाला एक संवाद इस प्रकार है—एक बार बुद्ध श्रमण-समूह के साथ कहीं जा रहे थे । उस समय अकस्मात् एक तीक्ष्ण शूल उनके पैर में चुभा । तदनन्तर साथ के श्रमणों ने पूछा —भन्ते ! यह शूल किस कारण से चुभा ! बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म का संबंध बताते हुए कहा —

इत एक नवति कप्पे सत्त्या मे पुरिसो हतो ।
तेन कर्म विपाकेन पादे विद्धोस्मि भिक्खवे ॥१॥

अर्थात्—यहाँ से एकानवे भव पूर्व मेरे भाले के प्रहार से एक पुरुष मृत्यु को प्राप्त हो गया था उसी कर्म विपाक के फलस्वरूप आज मेरा यह पैर बींधा गया ।

जैनागमों में अधिकांश संवाद अकेले गौतम के ही मिलते हैं । अवशेष संवादों में अन्य साधुओं उपासकों एवं सामान्य जनों का सम्बन्ध रहा है । सम्पूर्ण भगवती सूत्र तो एक प्रकार से संवाद सूत्र ही बना हुआ है । भगवती सूत्र उपलब्ध जैनागमों में सबसे बृहद् सूत्र है । उसमें गांगेय आदि के कुछ संवादों को छोड़कर शेष सारे संवादों में गणधर गौतम प्रश्न पूछते हैं और महावीर उनके उत्तर देते हैं ।

इन संवादों में अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है । उनमें कहीं भाषा की सूक्ष्म युक्तियों का विश्लेषण है कहीं तात्त्विक

अन्तर्गत परिलक्षित होता है कहीं ऐतिहासिकता निखार लेती है, तो कहीं आज के विकासोन्मुख विज्ञान के लिये नवीन सामग्री तथा चुनौती भी उपस्थित होती पाई जाती है। आध्यात्मिकता तो जैन आगमों का मूल प्रतिपाद्य ही है इसलिये संवादों में सर्वत्र उसका असाधारण स्थान रहता है। उनके संवादों में जैन-दर्शन के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ ही साथ अन्य दर्शनों का भी प्रसंगोपात्त विवेचन हुआ है। कुछ स्थानों पर तो प्राकृतिक दृश्यों को लेकर ऐसे प्रश्नोत्तर चले हैं, जहाँ एक बालक भी अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त कर सकता है। समग्र संवादों का निरीक्षण करने पर ऐसा अनुभव होता है कि गणधर गौतम ने केवल अपनी जानकारी के लिए ही ऐसा नहीं किया बल्कि जन-साधारण की जिज्ञासा शान्त करने तथा उपकार बुद्धि से प्रेरित होकर दूसरे के कल्याणार्थ उन्होंने ऐसा किया है। यहाँ उनके कुछ संवाद प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

भाषा का रहस्य—

भगवन्! जो चल रहा है, वह चला गया? जो उदीर्यमाण है, वह उदीरा जा चुका? जो कर्म वेदा जा रहा है, वह वेदा गया? जो पड़ रहा है। वह पड़ा? जो छेदा जा रहा हो, वह छेदा गया? जो भेदा जा रहा हो वह भेदा गया? जो जल रहा हो वह जला जो मर रहा हो, वह मरा? और जो निर्जीर्ण हो रहा हो वह निर्जरा? क्या ऐसा कहा जा सकता है? गौतम! जो चल रहा है, वह चला गया इत्यादि कहा जा सकता है।

उपर्युक्त कथन भाषा के रहस्य को स्पष्ट करने वाला है। यों तो यह प्रश्न और यह उत्तर बहुत साधारण सा और कुछ नहीं खेंचता हुआ सा लगता है। परन्तु इसके पीछे यह सिद्धान्त छिपा हुआ है कि भाषा में 'क्रियमाण' (वर्तमान समय में चालू कार्य) को कृत भी कहा जाता है। जैसे कि कपड़े का कोई छोर जलने लगता है, तब कहा जाता है कि 'कपड़ा जल गया'। दिल्ली जाने के लिये रेल पर चढ़ाकर लौटने वाले व्यक्ति के विषय में कहते हैं—वह तो दिल्ली गया है। इस प्रकार के भाषा प्रयोग होते ही रहते हैं किन्तु ये सब सत्यभाषी के लिये आदरणीय हैं अथवा नहीं? उपर्युक्त संवाद इसी प्रश्न का उत्तर है। भगवान् महावीर ने इस लोक प्रचलित शब्द पद्धति को स्वीकार किया है। इसका यह तात्पर्य तो कदापि नहीं है कि ऐसा ही कहा जाये अन्यथा नहीं। किन्तु यह अवश्य है कि ऐसा भी कहा जा सकता है। ऐसा प्रयोग करने वाले कोई असत्य का पोषण नहीं करते। यदि इसे असत्य कहा जायेगा तो फिर गाम आ गया यह सड़क कलकत्ता जाती है, यह चीनी की मिल है यह कमीज का कपड़ा है आदि प्रयोग भी असत्य ठहरेंगे पर ऐसा नहीं माना जा सकता। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है और इन उपर्युक्त प्रयोगों से भी कहने वाले स्पष्टतः अपने भाव दूसरों तक पहुँचाते हैं।

मोक्षमार्ग और जीव का साहचर्य —

भगवन्! ज्ञान ऐहभविक है पारभविक है या तदुभयभविक?

गौतम! ज्ञान ऐहभविक भी है पारभविक भी है और तदुभयभविक भी।

भगवन्! दर्शन ऐहभविक है, पारभविक है या तदुभयभविक?

गौतम! दर्शन ऐहभविक भी है पारभविक भी है और तदुभय भविक भी।

भगवन्! चारित्र ऐहभविक है पारभविक है या तदुभय भविक?

गौतम! चारित्र ऐहभविक है पारभविक और तदुभय भविक नहीं है।

तप और संयम के विषय में भी चारित्र की तरह ही जानना चाहिए। (भ सू शतक १ उद्देशक १)।

इस संवाद में ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप मोक्ष मार्गों की जीव के साथ साहचर्य की सीमा बताई गई है। ऐहभविक अर्थात्—जो केवल इसी एक भव-जन्म में साथ रहता हो। पारभविक अर्थात्—जो इस भव के बाद परभव में भी साथ रहता हो। तदुभयभविक अर्थात्—जो इस भव पर भव और परतर भव—तीसरे-चौथे आदि भवों में भी साथ रहता हो। ज्ञान उपर्युक्त तीनों ही प्रकार का होता है। अर्थात्—कुछ ज्ञान ऐसे होते हैं जो केवल इसी जन्म से सम्बन्धित होते हैं कुछ ऐसे होते हैं जो इस जन्म तथा पर जन्म तक साथ निभाते हैं, और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो जन्म-जन्मान्तरों तक साथ रहते हैं। दर्शन भी ज्ञान की तरह ही तीनों प्रकार का होता है।

चारित्र के विषय में ऐसी बात नहीं है। वह केवल ऐहभविक है। इस भव का चारित्र इतर भवों में नहीं जाता क्योंकि 'न हि चारित्रवानिह मृत्वा दैवेषु चारित्रेण पुनश्चारित्री भवति' अर्थात् मनुष्य जहाँ जिस चारित्र से चारित्रवान हुआ है, उसी से वह परभव में चारित्री नहीं होता। चारित्र में जो सावद्य विरति होती है, वह इस जीवन के साथ ही समाप्त हो जाती है,

दृष्टिगोचर हो सकते हैं। अतः उनके जीवत्व के विषय में प्रायः कोई दो मत नहीं हो सकते। एकेन्द्रिय जीव ही ऐसे हैं जिनके जीवत्व के विषय में निःसंदिग्ध ज्ञान वैज्ञानिकों को भी अभी तक नहीं हो पाया है। वनस्पति की सजीवता भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने अवश्य सिद्ध की थी परन्तु जैनागमों के अनुसार पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति—ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं। इनके सिर्फ एक शरीरेन्द्रिय ही होती है। भय, रोग, शोक आदि स्थितियों के उत्पन्न होने पर ये प्राणी अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र स्थानान्तरित होने का सामर्थ्य नहीं रखते इसलिए इन जीवों को 'स्थावर' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यहाँ हम उन एकेन्द्रिय जीवों के विषय में कुछ संवाद प्रस्तुत करते हैं —

(१) पृथ्वी कायिक जीवों की स्थिति —

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने काल तक होती है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष की होती है (भ. सू. शतक १ उद्देशक १)।

(२) पृथ्वीकायिक जीव आहार करते हैं —

भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक जीव आहारार्थी होते हैं ?

गौतम ! हाँ वे आहारार्थी होते हैं।

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने काल से आहार की अभिलाषा होती है।

गौतम ! उनके निरन्तर आहार की अभिलाषा रहती है। (भ. सू. शतक १ उद्देशक १)

(३) एकेन्द्रिय जीवों के भी उच्छ्वास निःश्वास —

भगवन् ! ये जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके आनाम-प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास जानते हैं, देखते हैं, पर पृथ्वीकायिक, वायुकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके आनाम प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास नहीं जानते हैं, नहीं देखते हैं। क्या भगवन् ! ये जीव आनाम, प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं ?

हाँ गौतम ! पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव भी आनाम प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं

(भ. सू. श. २, उद्दे. १)।

ज्ञान और दर्शन —

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा ज्ञानस्वरूप है या अज्ञान स्वरूप ?

गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा नियम से अज्ञानी है और उनका अज्ञान भी नियम से आत्मरूप है।

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा दर्शन रूप है या दर्शन उनसे भिन्न है ?

गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा नियम से दर्शन रूप है और दर्शन भी नियम से आत्मा है। गौतम ! इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों की आत्मा को समझो (भ. सू. शतक १२ उद्देशक १)।

वेदना का अनुभव —

भगवन् ! पृथ्वीकायिक शीत वेदना का अनुभव करते हैं, उष्ण वेदना का अनुभव करते हैं या शीतोष्ण वेदना का ?

गौतम ! शीत वेदना का भी अनुभव करते हैं, उष्ण वेदना का भी अनुभव करते हैं और शीतोष्ण वेदना का भी।

भगवन् ! पृथ्वी कायिकादि शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं, मानसिक वेदना का अनुभव करते हैं या शारीरिक-मानसिक वेदना का ?

गौतम ! वे केवल शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं। अवशेष का नहीं, क्योंकि उनके मन का अभाव है।

भगवन् ! पृथ्वीकायिकादि दुःख रूप वेदना का अनुभव करते हैं, सुख रूप वेदना का अनुभव करते हैं या दुःख-सुख रूप वेदना का ?

गौतम ! वे तीनों वेदनाओं का अनुभव करते हैं। (भ. सू. शतक १ उद्देशक २)।

कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं —

भगवन् ! वे जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं या तिर्यंचों से, मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या देवों से ?

गौतम ! पृथ्वीकायिक और वनस्पतिकायिक जीव नैरयिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते पर तिर्यंच मनुष्य या देवों से आकर उत्पन्न होते हैं। अप्कायिक तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव तिर्यंच और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं नैरयिक और देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते। (भ सू शतक १९, उद्देशक ३)।

वायुकायिक जीवों का उत्पत्ति स्थान —

भगवन् ! अधिकरणी (एरण) पर (हथौड़ा मारते समय) वायुकाय उत्पन्न होता है ?

हाँ गौतम ! होता है। (भ सू शतक १६, उद्देशक १)।

भगवन् ! अंगारकारिका-सिगड़ी में अग्निकाय कितने काल तक रहता है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन रात्रि-दिवस रहता है और वहाँ अन्य वायुकाय जीव भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि वायुकाय के बिना अग्निकाय प्रज्वलित नहीं होता। (भ सू शतक १६, उद्देशक १)।

वनस्पतिकाय सब से सूक्ष्म —

भगवन् ! पृथ्वीकायिक अप्कायिक तेजस्कायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव इनमें से कौन-सी काय सबसे सूक्ष्म है और कौन-सी सूक्ष्मतर ?

गौतम ! वनस्पतिकाय सबसे सूक्ष्म है और सूक्ष्मतर है। (भ सू शतक १९, उद्देशक ३)।

शरीर की सूक्ष्मता —

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की शरीर अवगाहना कितनी बड़ी कही है ?

गौतम ! एक चातुरंत चक्रवर्ती राजा की चन्दन घिसने वाली दासी हो वह तरुणी बलवान्, युगवान्, निरोग और अत्यन्त कलाकुशल हो वह दासी चूर्ण बाँटने की वज्रमय कठोर शिला पर, वज्रमय कठोर पाषाण द्वारा लाख के पिण्ड जितना बड़े पृथ्वीकाय के पिण्ड को कि उसे बार-बार एकत्रित कर थोड़ा-थोड़ा करके पीसे और तुरंत ही और डालूँगी ऐसे बोध से इक्कीस बार पीसे तो भी हे गौतम ! उनमें से कितने ही पृथ्वी कायिक जीवों का उस शिला और पाषाण का स्पर्श होता है, कितनों ही का नहीं होता कितनों ही का संघर्ष होता है कितनों ही का नहीं होता कितनों ही को पीड़ा पहुँचती है कितनों ही को पीड़ा नहीं पहुँचती कितने ही मरते हैं, कितने ही नहीं मरते कितने ही पिसते हैं, कितने ही नहीं पिसते। हे गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों की ऐसी ही बड़ी शरीर-अवगाहना कही गई है। (भ सू शतक १९, उद्देशक ३)।

वेदना का अनुभव —

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर, दबने पर कैसी वेदना का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! यदि कोई बलवान् निपुण कलाकुशल तरुण पुरुष जीर्ण जरा जर्जरित दुर्बल और म्लान शरीरवाले मनुष्य के शरीर पर अपने दोनों हाथो से प्रहार करे, तो हे गौतम ! उस तरुण पुरुष के द्वारा मस्तक पर दोनों हाथों से प्रहार किया जाता हुआ वह दुर्बल मनुष्य कैसी वेदना का अनुभव करता है ?

हे आयुष्यमान् श्रमण ! वह वृद्ध जरा जर्जरित पुरुष अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है।

हे गौतम ! पृथ्वीकाय के जीव दबने पर उस पुरुष की वेदना से अनिष्टतर, अधिक अप्रिय और अधिक अमनाप-अनभीष्ट वेदना का अनुभव करते हैं। (भ सू शतक १९ उद्देशक ३)।

भारतीय तत्त्व ज्ञान में सर्वोदयी विचारधारा

(ले०—उषा अमर मनि)

धर्म दर्शन और विज्ञान —

धर्म दर्शन और विज्ञान—परस्पर सम्बद्ध हैं अथवा एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं ? मानव जीवन के लिये तीनों कहाँ तक उपयोगी हैं ? मैं समझता हूँ कि ये सब प्रश्न आज नहीं तो कल अवश्य अपना समाधान मांगेंगे —मांग चुके हैं। धर्म और दर्शन में तो आज ही नहीं युग युगसे साहचर्य रहा है। आज भी है। धर्म का अर्थ है—आचार। दर्शन का अर्थ है—विचार। भारतीय धर्मों की प्रत्येक शाखा ने आचार और विचार में धर्म एवं दर्शन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। गीता में साम्य बुद्धि और योग कला का सुन्दर समन्वय किया गया है। बौद्धों में हीनयान और महायान-आचार तथा विचार क्रमिक विकास के बीजभूत हैं। हीनयान धर्म (आचार) प्रधान रहा तो महायान दर्शन (विचार) प्रधान बन गया। जैनों में धर्म और दर्शन के नाम पर, आचार तथा विचार को लेकर साम्ययोग एवं हीनयान महायान जैसे स्वतन्त्र विभाग तो नहीं पड़ सके क्योंकि एकान्त आचार तथा एकान्त विचार जैसी वस्तु अनेकान्त में कथमपि सम्भावित ही न थी। आचार्यों ने आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त पर विशेष बल दिया अवश्य फिर भी यहाँ धर्म और दर्शन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित नहीं कर सके। दोनों का गंगा-यमुनी रूप ही अनेकान्त में फिट बैठ सकता था। अब रही विज्ञान की बात। विज्ञान है क्या ? यदि सत्य का अनुसंधान ही वास्तव में विज्ञान हो तो वह भी दर्शन की एक विशेष पद्धति ही का नामान्तर होगा। यदि यहाँ भेद जैसी कोई चीज आवश्यक हो तो मात्र इतना भेद किया जा सकता है कि विचार के दो पक्ष होंगे—एक अध्यात्म दूसरा भौतिक अनुसंधान। अन्दर की खोज और बाहर की खोज। पहला दर्शन कहा जायगा और दूसरा विज्ञान। परन्तु आखिर, धर्म दर्शन और विज्ञान-तीनों एक दूसरे के पूरक ही हैं विघटक नहीं। इस अर्थ में ये तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध ही कहे जा सकते हैं।

धर्म और दर्शन किंवा आचार और विचार का समन्वय आज ही नहीं युग-युगान्तर से अभीष्ट रहा है—भारतीय परम्परा में। कृष्ण ने जिस शाश्वत तत्त्व को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग कहा महावीर ने उसी को अहिंसा तथा अनेकान्त कहा। गांधी ने उसी तत्त्व को एक शब्द से कह दिया—"सर्वोदय"। द्वैत में अद्वैत की खोज भिन्न में अभिन्नत्व का अनुसंधान और पर में स्व की अनुभूति का नाम ही सर्वोदय है। प्राणिमात्र में समानता का आधार ही सर्वोदय की जन्मभूमि है। सर्वोदय आखिर है क्या। सब का उदय सब का उत्कर्ष सब का विकास और सब का कल्याण ही तो सर्वोदय है। सर्वोदय आज का धर्म नहीं भारतीय संस्कृति का तो यह मूल स्वर है। भारत के प्राचीन साहित्य में सर्वोदय के बीज बिखरे पड़े हैं।

१ सब सुखी रहें। सब स्वस्थ रहें। सब के सब कल्याण भागी बनें कोई कभी दुखी न हो।[1]

२ "सब जीव मुझको क्षमा करें। मैं भी सबको क्षमा करता हूँ। सब के साथ मेरी मित्रता है। किसी पर भी मेरा वैर-भाव नहीं है।"[2]

विश्वात्मा की भव्य भावना भारतीय साहित्य के पृष्ठों पर आज ही अंकित नहीं हुई है। गांधीजी इस भावना के सष्टा नहीं उपद्रष्टा थे। भारतीय वाङ्मय में ऐसे उल्लेख हैं जिनमें गांधीजी से बहुत पूर्व ही "सर्वोदय" शब्द अंकित हुआ है। सर्वोदय शब्द का प्रयोग आचार्य समन्तभद्र की वाणी में ही हुआ है।

१—सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥

२—खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमन्तु मे
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केण इ ॥

सर्वोदय का ध्येय बिन्दु —

जैन परम्परा के महान् दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान के धर्मशासन को सर्वोदय कहा है। तीर्थंकर का धर्मशासन एक ऐसा शासन है, जिसमें सब का उत्कर्ष है सब का उदय है सब का विकास है। अन्त कभी नहीं होता। वह समस्त आपदाओं का अन्तकर है।"[1]

सर्वोदय मानता है कि सब का उदय कोरा स्वप्न कोरा आदर्श नहीं है। वह आदर्श अवश्य है किन्तु व्यवहार के योग्य है। उसे जीवन में उतारा जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है, परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य। हाँ प्रयत्न साध्य अवश्य है। सर्वोदय का आदर्श है विश्वात्मवाद और उसकी नीति है समन्वय। मानव निर्मित समस्त विषमताओं का वह निराकरण करना चाहता है तथा प्राकृतिक समस्याओं का भी वह बौद्धिक समाधान करना चाहता है। प्रकृति पर विजय वह मौतिक रूप में चाहता है। अतः वह विचार की उच्चता के साथ आचार की पवित्रता का भी प्रबल समर्थक है। सर्वोदयी सिद्धान्त में जीवन एक विज्ञान भी है एक कला भी। जीवमात्र के प्रति समादर की भावना यह सर्वोदय का मुख्य ध्येय है। प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति रूप अमृत (Milk of human sympathy) जब मानवी जीवन में प्रवाहित होता है तब सर्वोदय की भूमि में से कल्पवृक्ष अङ्कुरित पल्लवित एवं फलित होते हैं। सर्वोदय राजनीति में नहीं लोकनीति में विश्वास लेकर उठा है। क्योंकि राजनीति में शासन मुख्य है, लोकनीति में अनुशासन। सर्वोदय की पावन प्रेरणा है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर तथा दमन से आत्म संयम की ओर बढ़े चलो। यह अधिकार पर नहीं कर्तव्य पालन पर बल देता है। हृदय परिवर्तन जीवन शोधन साधन शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार ही सर्वोदय है।

सुख दुःख का बँटवारा—

सब के उदय का सबके उत्कर्ष का अर्थ यही है कि कोई भी सुख किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग के लिये न होकर सबके लिये हो। सुख ही नहीं मानव को दुःख भी बाँटना होगा। तभी समाज में समत्व योग का प्रसार सम्भवित है। जब तक समाज में एक भी व्यक्ति अभावग्रस्त है भूखा है दुःखी है तब तक सच्चे अर्थ में सर्वोदय का चमत्कार नहीं माना जा सकता। यदि एक वर्ग दूसरे वर्ग का अथवा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है तो वह न्याय न होगा। एक की समृद्धि दूसरे के शोषण पर खड़ी नहीं होनी चाहिए। प्रकाश को अपने साम्राज्य का भव्य प्रासाद अन्धकार की नींव पर खड़ा करते किसने देखा ? क्या प्रकाश अन्धकार को अपना आधार बना सकता है ? यदि नहीं तो शोषण के आधार पर सुख कैसे खड़ा रहेगा ? जब तक समाज में राष्ट्र में और व्यक्ति में भी शोषण वृत्ति का अस्तित्व किसी भी अंश में है तो वहाँ सर्वोदय टिक न सकेगा। सर्वोदय में शोषक शोषक न रहेगा और शोषित शोषित न रहेगा। सब प्रकार के शोषण के विरुद्ध सर्वोदय का एक ही नारा है—"हम शोषक का अन्त नहीं शोषण वृत्ति का ही अन्त करना चाहते हैं। जब समाज में राष्ट्र में व्यक्ति में शोषण वृत्ति ही न रहेगी तब शोषक का अस्तित्व ही न रहेगा। सुख दुःख में दुःख सुख में पच जायगा। तभी व्यक्ति का समाज का और राष्ट्र का सभी का उदय होगा।

सुख है कहाँ ? दुःख है कहाँ ? वस्तुनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ। यदि वस्तुनिष्ठ माने जाएँ, तब तो भौतिक साधनों का अधिक-से-अधिक संग्रह सुख का और उसका वियोग दुःख का कारण माना जाएगा। परन्तु बात ऐसी है नहीं। समाज में सम्पन्न भी दुःखी देखा गया है और विपन्न भी कभी सुखी। फिर तो निश्चय ही सुख-दुःख वस्तुनिष्ठ नहीं रहे, आत्मनिष्ठ हो गए। मानव की मनोभूमि में से ही ये उत्पन्न होते हैं और वहीं विलीन भी। अतः सर्वोदय कहता है—सुख-साधनों में आसक्ति मत होने दो तब स्वतः ही दुःख भी सुख हो जायगा।

सर्वोदय की विराट भावना—

सर्वोदय 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को लेकर चला है। समग्र विश्व की आत्माएँ एक समान हैं। उनमें ऊँच नीच का भेद कृत्रिम है स्वाभाविक नहीं। यह ब्राह्मण है यह क्षत्रिय है यह वैश्य है यह हरिजन है ये सब भेद मानवकृत हैं।" यह स्वामी है यह दास है यह अन्तर भी समाजकृत है। यह नर है यह नारी है यह भेद भी वास्तविक नहीं है। शरीर

---

[1]—सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।

तक ही यह सीमित है। आत्मा में पहुँच कर तो यह भेद भी नहीं ठहरता। भव में अभेद और अनेकत्व में एकत्व की साधना भी सर्वोदय की एक पद्धति है। जहाँ सब का उदय अभीष्ट है, वहाँ एक का उत्कर्ष अभीष्ट कैसे होगा ? जो व्यक्ति अपना हित चाहता है उसे चाहिए कि वह दूसरों का हित पहले करे। क्योंकि पर-हित में स्व-हित-निहित रहता ही है। दूसरे को दुःख न देकर स्वयं सुखी बनने के प्रयत्न में मनुष्य का गौरव अक्षुण्ण नहीं रह सकेगा। एक सच्चे सर्वोदयी की यह भावना होनी चाहिए—"सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो प्राणी एक-दूसरे के हित में सदा निरत रहें, हमारे समग्र दोष नष्ट हो यहाँ सर्वत्र जितने भी जीव हैं, वे सुखी रहें।"[1]

जब सर्वोदय की यह विराट भावना जन-जीवन में समवतरित होगी तब मानव मन में से जन्म पानेवाले ये जाति के बन्धन ये राष्ट्र के बन्धन स्वार्थ के बन्धन और ये मानवीपन के समस्त बन्धन स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाएंगे। मनुष्य 'महतोमहीयान्' बन जायगा। तभी मनुष्य को विश्वात्मा के दर्शन हो सकेंगे। हम भी जीवित रहें पर साथ में दूसरे भी जीवित रहें। इसी विराट भावना को जन-जन के मन-मन में उतारने का प्रयत्न सर्वोदय कर रहा है। सर्वोदय की सफलता इसी में है कि मानव मानव पर विश्वास करना सीखे।

दिव्य विचार का प्रसार—

'विचार और विकार' दोनों की उत्पत्ति मानव मन है। विकार से पतन और विचार से उत्थान होता है। दूसरे के प्रति विद्वेष की भावना रखना मानव मन का विकार है, तथा सबके प्रति हित दृष्टि रखना एक सुन्दर विचार है। सर्वोदय विकार को विचार में बदलने की एक कला है। जन-जीवन में दिव्य विचारों का प्रसार करना भी सर्वोदय का एक अपना उदात्त विचार ही है। समाज के उत्थान के लिये व्यक्ति के उत्कर्ष के लिये केवल दिव्य विचारों का प्रसार करके ही सर्वोदय विरत नहीं हो जाता बल्कि वह आगे बढ़कर कहता है, कि "विचार को आचार में आने दो" अन्यथा दिव्य विचार भी जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन न ला सकेंगे। भारतीय संस्कृति की एक मात्र यही विशेषता है कि वह आदर्श को केवल आदर्श मानकर ही बैठ नहीं जाती बल्कि इसे जीवन में उतारने की पद्धति भी बताती है।

राम की मर्यादा कृष्ण का प्रेम योग महावीर की अहिंसा एवं अनेकांत बुद्ध का वैराग्य और गांधी का सत्याग्रह—ये सभी आदर्श हैं। निश्चित रूप में आदर्श हैं। परन्तु ये जन-जीवन में भी उतरे हैं उतर सकते हैं। राम की मर्यादा केवल राम के साथ ही नहीं मरी आज भी वह भारतीय जनों के जीवन को प्रेरणा देती है। महावीर की अहिंसा और अनेकान्त केवल महावीर तक ही नहीं रहे, आज भी वे उतने ही उपयोगी हैं। दिव्य विचार कभी किसी एक व्यक्ति में आबद्ध नहीं रह सके हैं। यह हो सकता है कि कभी कोई विचार किसी व्यक्ति विशेष के आचरण से दिव्य बन गया हो पर वह सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति है। विचार जब आचरण में आता है, तभी उसमें दिव्यता प्रस्फुटित होती है।

अहिंसा और अनेकान्त—

श्रमण संस्कृति जिस अहिंसा और अनेकान्त की उदात्त भावना का युग-युग से प्रचार एवं प्रसार करती आ रही है, सर्वोदय में भी वही तत्त्व सन्निहित है। विचार में अनेकान्त व्यवहार में अहिंसा और समाज में अपरिग्रह—इन सब के सुन्दर योग का नाम ही तो सर्वोदय विचार धारा है।

अहिंसा नागरिक जीवन का और लोक नीति का एक आधारभूत सिद्धान्त है। अहिंसा प्रेम के विस्तार में प्रकट होती है। दूसरे का सुख हमारा सुख है दूसरे का दुःख हमारा दुःख है। इस सह जीवन की विराट भावना में से ही अहिंसा प्रस्फुटित होती है। जो तेरे लिए काँटा बोता है, उसके लिए तू फूल ही बना। तुझे फूल ही मिलेंगे उसे काटे। परन्तु उसके लिए तू अपने मन में काँटे की भावना मत रख। तेरे फूलों की महक अगर उसके काँटों से बड़ी होगी तो निश्चय ही इसमें तेरी सफलता है। फिर तो तेरे आस-पास जो काँटे बिखरे गये हैं उनमें से भी गुलाब ही महकेंगे। यही तो अहिंसा तत्त्व का दर्शन है। दूसरे के जीवन में सहायता पहुँचाना अहिंसा है और दूसरे के जीवन में बाधा पहुँचाना हिंसा है। अहिंसा अमृत और हिंसा विष है। जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिए अहिंसा को जीवन में उतरने दो। साध्य शुद्ध हो यह तो

---

1 शिवमस्तु सर्वजगतः परहित-निरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

ठीक ही है। परन्तु साधन शुद्धि पर भी पूरा ध्यान देना चाहिए (Take care of the means and the end will takecare of itself) साधन शुद्ध होगा तो साध्य अपने आप शुद्ध होगा ही।

अनेकान्त का अर्थ है—विचार सहिष्णुता। परमत के प्रति जब तक सहिष्णुता का भाव जागृत नहीं होगा तब तक सच्चे अर्थ में जीवन का उच्च ध्येय प्राप्त न हो सकेगा। सामाजिक जीवन में विरोध हो जाना सहज है परन्तु वह विरोध विद्रूप न बन जाए, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। विरोध में समन्वय खोजना ही तो अनेकान्त है। समन्वयात्मक जीवन की स्थापना के लिए जीवनगत विरोधों का परिहार हमें करना पड़ता है। व्यक्तिगत विरोध तथा समाजगत विरोध इन सारे विरोधों का परिहार करने की जो पद्धति है उसी को अनेकान्त अथवा समन्वय कहा जाता है। सर्वोदय सभी सुविचारों का सुन्दर समन्वय करता रहा है। सत्य क्या है? वह कहाँ है? आदि प्रश्नों का सुन्दर एवं समुचित समाधान समन्वय पद्धति है। यह समन्वय-पद्धति क्या है? जहाँ भी जिस किसी के पास भी सत्य हो ग्रहण कर लो। सत्य यदि अपना है तो भी ठीक और यदि वह पर का है, तो भी ठीक। आठवीं शती के महान् विद्वान् समन्वय तत्त्वदर्शी आचार्य हरिभद्र ने कहा था—

"सत्य कहीं पर भी हो उसे आदर से ग्रहण कर लो। यदि वह कपिल के पास हो तब भी सुन्दर है और यदि वह बुद्ध के पास है, तब भी ठीक है। जिसका वचन युक्ति-युक्त हो युक्ति संगत हो उसे ग्रहण करना ही चाहिए।"[1]

सर्वोदय का भी भाव हमें इसी भावना पर पहुँचा देता है। सर्वोदय में धर्म दर्शन विज्ञान नीति संस्कृति और आचार सब का समन्वय मिल जाता है।

अहिंसा और अनेकान्त तथा अपरिग्रह तो उसके मूलभूत सिद्धान्त ही हैं। सर्वोदय में विचारों का आग्रह नहीं वहाँ तो सभी विचारों का समादर है। गांधी का सर्वोदय गांधी का अपना नहीं उसमें समग्र भारतीय तत्त्वदर्शन भारतीय विचार चिन्तन और भारतीय संस्कृति का सार संगृहीत है। समाज और राष्ट्र में सुख शान्ति और संतोष का फैलाव करना ही एकमात्र इस विचार-पद्धति का मूल ध्येय है जो अभिनव होकर भी अपने आप में पुरातन है चिरन्तन है। भारतीय तत्त्व दर्शन का यह सुवर्ण पृष्ठ है, जो अपने आप में सुन्दर, सरस और सुमधुर है।

१—पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

अध्यात्म तत्त्व की प्राचीनतम वैदिक परम्परा

(डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल काशी विश्वविद्यालय वाराणसी)

वेदविद्या सृष्टिविद्या है—

वेदविद्या सृष्टिविद्या का दूसरा नाम है। सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या वेद की नाना विद्याओं के रूप में उपलब्ध होती है। इन विद्याओं का अपरिमित विस्तार है। जैसे सृष्टि अनन्त है, वैसे ही वेदविद्या भी अपरिमित है। विराट् और अणु इन दोनों क्षेत्रों में अर्वाचीन विज्ञान की यही तथ्यात्मक स्वीकृति है कि इन दोनों की रहस्यमयी रचना का पारावार नहीं है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' दोनों की एकता का दर्शन करने वाले ऋषियों ने भी यही कहा है कि इन दोनों का मूल कोई अनन्त अव्यक्त अक्षरतत्त्व है। अणु और महत् दोनों में उसी की महिमा अभिव्यक्त हो रही है, किन्तु स्वयं वह अव्यय पुरुष सहस्रात्मा या अनन्त है। विश्व विराट् अनादि और अनन्त है। इसका स्रोत अविनाशी है। देश और काल अथवा नाम और रूप के परिवर्तन स्वस्तिक में इसका नित्य नया रूप प्रकट हो रहा है। इस प्रकार ऋषि और वैज्ञानिक दोनों ही विश्व के रहस्य की व्याख्या करते हैं। पर ऋषियों का दर्शन इस ध्रुव विश्वास से भरा हुआ है कि यह व्यक्त विश्व किसी अव्यक्त मूल स्रोत से उद्गत हुआ है। वह अव्यक्त मूल इस व्यक्त की सृष्टि करके इसमें अनुप्रविष्ट हो रहा है।

वेद के विषय में दो दृष्टिकोण—

वेदों के विषय में पूर्व और पश्चिम के दो पृथक् दृष्टिकोण स्पष्ट सामने आते हैं। पश्चिमी दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर संगति है और न कुछ सुलझे हुए अर्थों की स्थापना है। वेद धार्मिक विश्वासों के विखण्डित [illegible] हैं, जिनका बहुत-सा अंश बुद्धिगम्य नहीं है। मानव जाति के [illegible] बच्चे जिस आश्चर्य से विश्व को देखते हैं, उसी की छाया मन्त्रों में है। उनमें किसी समन्वित या सुप्रतिष्ठित दार्शनिक विचार की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी सूत्र को पकड़ कर पिछले सौ वर्षों में वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्या-ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। अपने देश में भी नये मार्ग से चलने वाले वैदिक विद्वान् इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं और उनका दृष्टिकोण भी यही है। उनके लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में पाई जाने वाली वेद-व्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। किन्तु भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को ऋषियों का परिपूर्ण ज्ञान मानती है। जो कोई दिव्य समष्टि ज्ञान है वह उसी की शब्दमयी अभिव्यक्ति है। इस आस्था से वैदिक अर्थों के प्रति नई श्रद्धा का जन्म होता है। इन दो दृष्टिकोणों से तात्त्विक विचार में [illegible] हुआ नहीं। हमारा लक्ष्य यही है कि वैदिक शब्दों की अधिक-से-अधिक स्पष्ट व्याख्या प्राप्त हो सके। जहाँ मन्त्रों के अर्थों की पारम्परिक संगति लग सके एवं जहाँ मन्त्रों की परिभाषात्मक शब्दावली यज्ञ के कर्मकाण्ड तथा सृष्टि के वास्तविक वैज्ञानिक रहस्य की एक सूचना या संगति प्राप्त की जा सके। पश्चिम में जो वेदार्थ का प्रयत्न हुआ उस पर दृष्टि डालते हुए भी ई. जे. टामस ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि समस्या सुलझी नहीं है तथा आगे बढ़ने का मार्ग अवरुद्ध-सा दिखाई पड़ता है। हमारी सम्मति में भारतीय दृष्टि से ही वेदार्थ की समस्या का समाधान सम्भव है। सर्वप्रथम यह धारणा होनी चाहिए कि जिन उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों की अत्यधिक महिमा कही जाती है, इन सब का स्रोत वेद है। कालान्तर में इस साहित्य में जो अमृत कुम्भ है उसका निवास वेद मन्त्रों में ही निहित है जिसको अमृत भाव तत्त्व भी कहते हैं। यह अमृत भाव विश्व का विराट् मन या समष्टि ज्ञान है। वह एक समुद्र है जिससे एक-एक बिन्दु ले मानवी मस्तिष्क सोचते और विचारते हैं। व्यक्ति के मन में जितना ज्ञान अब तक आ चुका है और जो कुछ भविष्य में प्रकाशित होगा उस सबका स्रोत उसी विश्वात्मक ज्ञान में है, जिसे वेद कहा जाता है। उसे ही अध्यात्म सरोवर, ज्ञानसर, ज्ञान समुद्र या क्षीरोदधि नाम कहते हैं। उस ज्ञान के दो रूप हैं एक पर और दूसरा अपर। अपर स्थूल शब्दमयी ज्ञान है जो बुद्धि का स्पर्श करती है। किन्तु पर ज्ञान [illegible] तत्त्व है जो हृदय का स्पर्श करती है या हृदय में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से जीवन का निर्माण करती है। इसे [illegible]

वाक् भी कहते हैं। इसी प्रकार वाक् से गायत्री आदि सप्त छन्दों का वितान या विकास होता है—'अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः। ऋ० १।१६४।२४॥

देव तत्त्व —

वैदिक सृष्टिविद्या की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्त्व हैं—एक देव दूसरा भूत। देव तत्त्व का ही दूसरा नाम शक्ति तत्त्व है। देव या शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य है। भूत दृश्य और स्थूल है। प्रत्येक भूत एक-एक कूट या ढेर है जिसकी विभूति शक्ति या देव कहलाती है। बिना देव के किसी भी भूत की पृथक सत्ता संभव नहीं। मूलभूत देव तत्त्व एक और अखंड है। वही सृष्टि के लिये बहुभाव या नाना भाव में परिवर्तित होता है। एको देवः सर्व भूतेषु गूढः, यही सृष्टि का मूल सूत्र है। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति इस नियम के अनुसार एक तत्त्व ही बहुभाव या बहुधा भाव को प्राप्त होता है। जो मूलभूत एक देव है उसे वेदों में एकमेवाद्वितीयम् कहा गया है। वह ऐसा एक है जिसमें दो तीन चार संख्याओं की कल्पना नहीं है। किन्तु वह अपनी निगूढ शक्ति से स्वयं ही बहुभाव को प्राप्त होता है। यद्यपि देवों के अनेक नाम कहे गए हैं, किन्तु उन सब नामों के मूल में एक ही देव तत्त्व प्रतिष्ठित है—यो देवाना नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। (ऋ० १।८२।३)।

प्रजापति के दो रूप —

वह मूल देवतत्त्व संप्रश्न भी कहा जाता है। आदि से अन्त तक वह एक प्रश्न या पहेली ही है। उसकी शक्ति का क्या स्वरूप है? इसकी मीमांसा अनेक प्रकार से की जाती है, किन्तु शब्दों में उसकी इयत्ता संभव नहीं। जब हम विश्व की दृष्टि से विचार करते हैं तब उस मूल शक्ति को प्रजापति कहा जाता है। प्रजापति के दो रूप हैं—एक अनिरुक्त दूसरा निरुक्त एक अमूर्त दूसरा मूर्त एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष एक ऊर्ध्व दूसरा अव एक तत्, दूसरा एतत्। जो एतत् है, उसे ही इदं सर्वम् भी कहते हैं। जो विश्वातीत रूप है वह तत् है और जो विश्वात्मक रूप है वह इदं सर्वम् है। प्रजापति का एक रूप 'अजायमान' और दूसरा 'बहुधा विजायते' कहा जाता है —

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्, ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

जो अजायमान या विश्वातीत रूप है उसे गम योनि नाम प्रजापति गुहा या पर्वत के समान अविनाशी अद्रितत्त्व भी कहा जाता है। वही परमव्योम या परमाकाश है। परावाक उसी का रूप है। अग्नि इन्द्र मित्र वरुण यम मातरिश्वा इन देवों की पृथक कल्पना सहेतुक है क्योंकि मूलभूत एक शक्ति विभिन्न रूपों में कार्य करती हुई देखी जाती है, किन्तु इससे उसके मूलभूत एकत्व का अपलाप नहीं होता। जिस प्रकार महाकाल की दृष्टि से उषा एक है किन्तु सापेक्ष काल या परिवर्तनशील संवत्सर की दृष्टि से प्रतिदिन नई उषा का उदय होता है जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में मूलभूत अग्नि तत्त्व एक है, किन्तु शक्ति के नाना रूपों में वही बहुधा विभक्त ज्ञात होता है, जिस प्रकार एक ही मूल सूर्य से कोटानुकोटि सूर्यों का विकास होता है ऐसे ही वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया था कि अनेक ब्रह्माण्डों का रचयिता प्रजापति एक है और वही ईश तत्त्व इन सब में समाया हुआ है। दूर और निकट अणु और महत्, भूत और भविष्य सर्वत्र उसी की सत्ता है। वही अखण्ड सूत्र पूर्व और उत्तर की समस्त सृष्टि में पिरोया हुआ है। जिसके कारण उसे अन्तर्यामी या सूत्रात्मा कहते हैं। अपने अजायमान रूप से सबके भीतर प्रतिष्ठित रहकर वह एक अक्षर तत्त्व सबका नियमन करता है। उसी के नियम या धर्मों के वश में सब भुवनों के चक्र पिरोये हैं। इसीलिए वह सर्वान्तर्यामी कहा जाता है। उसी ओत-प्रोत सूत्र से सब तन्तुओं का वितान होता है अतएव वह सूत्रात्मा है।

वैदिक त्रिक—

यह सृष्टि किसी महान् कवि की विलक्षण कविता है। वेदों में इसे सप्ततन्तुमय यज्ञ कहा है। एक मन एक प्राण और पाँच भूत इन सात तन्तुओं से कोई बुनने वाला इस पट को बुन रहा है। पंचभूतों को वैदिक परिभाषा में वाक भी कहते हैं। पाँच भूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है। आकाश का गुण शब्द या वाक् है। अतएव पंच भूतों के लिए वाक यह सरल प्रतीक मान लिया गया है। यह समस्त सृष्टि पंचभूतों की रचना है। जो प्रधान या प्रकृति है वह तीन गुणों के तारतम्य से पंचभूतों के रूप में परिणत होती है। इस पंचभूतात्मक रचना को वाक कहते हैं। वाङ्मय-प्राणमय मनोमय एष आत्मा-उपनिषदों की यह परिभाषा सर्वथा सुनिश्चित है। इसका अर्थ यह है कि जितनी भी अभिव्यक्त सृष्टि है उसके मूल में प्रज्ञा या मनस्तत्त्व,

प्राणतत्त्व और पंचभूत इनकी सत्ता है। मन प्राण वाक् का त्रिक क्रमशः सत्त्व रज और तम कहा जाता है। यह त्रिक विश्व रचना का आधार है। सृष्टि की वैदिक कल्पना त्रिक पर समाश्रित है—तीन लोक तीन देव तीन छन्द, तीन मात्रायें आदि अनेक रूपों में त्रिक की व्याख्या की जा सकती है। मैत्रायणी उपनिषद् में त्रिक की अति सुन्दर व्याख्या पाई जाती है। वहाँ कहा है यह जो अ उ म अक्षर हैं यही उस त्रिपाद ब्रह्म की स्वनवती तनू है जिसे ओम् भी कहते हैं। स्त्री-पुं-नपुंसक यह लिंगवती तनू है। अग्नि-वायु-आदित्य इन तीनों का नाम भास्वती तनू है। ब्रह्मा-रुद्र-विष्णु यह अधिपतिवती तनू है। ऋक् यजु-साम यह विज्ञानवती तनू है। भूर्भुवः स्वः—यह लोकवती भूत-भव्य तनू है। भविष्यत् यह कालवती प्राण-अग्नि सूर्य यह प्रतापवती अन्न-आप् चन्द्रमा यह आप्यायनवती गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि आहवनीय यह मुखवती बुद्धि-मन अहंकार यह चेतनवती और प्राण-अपान-व्यान यह प्राणवती तनू है। यह सब प्रजापति के ही रूप हैं। जब ओम् या प्रणवस्वरूप अक्षर ब्रह्म का उच्चारण किया जाता है, तो उसी के पर और अपर दो रूप कहे जाते हैं। जो त्रिक के अन्तर्गत है वह अपर रूप है और जो त्रिक से अतीत है, वही पर रूप है। जो पर है उसे अव्यय भी कहते हैं। *परे अव्यये सर्व एकी भवन्ति अथवा यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्* यह अव्यय या परब्रह्म के लिए ही कहा जाता है। इसे ही त्रिपाद और ऊर्ध्व भी कहते हैं।

अग्निविद्या —

वैदिक सृष्टि विद्या की दृष्टि से प्रजापति विद्या का बहुत अधिक महत्त्व है। अग्निविद्या और संवत्सर विद्या उसी के दो रूप हैं। अग्निविद्या या अग्नितत्त्व और संवत्सर विद्या-काल तत्त्व इन दोनों के सम्मिलित रूप का नाम यज्ञ विद्या है। वैदिक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अग्निविद्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रजापति ब्रह्म महाकाश शक्ति तत्त्व में सब अग्नि के ही रूप हैं। मनु ने जिसे तमोभूत अप्रज्ञात अलक्षण और प्रसुप्त अवस्था कहा है उसी के धरातल पर अग्नि का जन्म होता है। प्राण और कर्म की जितनी शक्ति है उस सब का प्रतीक अग्नि है। अग्नि सर्वा देवता जितने देव हैं सब अग्नि के रूप हैं, यह ऐतरेय की परिभाषा है। प्रश्न होता है कि अग्नि तत्त्व क्या है। क्या चूल्हे में जलने वाली और काष्ठ से उत्पन्न होनेवाली अग्नि कोई देवता है? वेद में किसे अग्नि कहा है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों में जितनी शक्ति और उसके भेद हैं वह सब अग्नि का ही एक-एक रूप है—एक एकाग्निर्बहुधा समिद्धः। जिसका समिन्धन होता है, अर्थात् जो दहकती है उसे अग्नि कहते हैं। स्थूल काष्ठ या समिधा अग्नि के समिन्धन का एक प्रतीक या उदाहरणमात्र है। इसका अर्थ यह है कि हम अग्नि को तब तक प्रत्यक्ष नहीं देख सकते जब तक वह भूत के माध्यम से प्रकट न हो। भूत को क्षर कहते हैं और उस क्षर के भीतर निवास करने वाले अक्षर को देव कहा जाता है—क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

प्राण या जीवन —

मत्स्यपुराण में कहा है कि अक्षर से ही क्षर का जन्म होता है—ततः क्षरत्यक्षरम् अर्थात् देव या शक्ति से ही भूत का निर्माण होता है। इस अक्षर या देव तत्त्व की अभिव्यक्ति तीन रूपों में हो रही है, एक वृक्ष-वनस्पति दूसरे पशु-पक्षी और तीसरे मानव। इन तीनों में जो शक्ति तत्त्व है उसे प्राणाग्नि कहते हैं। प्राण या जीवन चैतन्य का ही रूप है, जो विश्व का सबसे महान् रहस्य है। प्रजापति विद्या का सबसे उत्कृष्ट और रहस्यात्मक रूप प्राण या जीवन है। प्राण के स्रोत उद्गम वृद्धि विकास और ह्रास के नियम मानव के लिये सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्राण ही आयु है प्राण ही अग्नि है। प्राणविद्या सब विद्याओं में मूर्धन्य है। वस्तुतः ऋषियों की दृष्टि से प्राणविद्या ही विश्वविद्या है। इसी की व्याख्या यज्ञों के द्वारा की जाती है। यह प्राणतत्त्व क्या है? ऋषियों ने इस गूढ़ प्रश्न पर बहुत विचार किया था। इस विश्व में सबसे अधिक आश्चर्य यह देखकर होता है कि प्रकृति ने पंचभूत प्राण और मन इन तीनों को एक साथ गूँथ कर रहस्यात्मक जीवन तत्त्व का निर्माण किया है। उस जीवन तत्त्व के क्या नियम हैं और उसका क्या रहस्य है, इसकी छानबीन वेदविद्या का मुख्य लक्ष्य है। जहाँ भी जीवन है उस संस्थान को यज्ञ कहा जाता है। उस यज्ञ का आरम्भ प्राणापान के स्पन्दन से होता है। प्राण शक्ति का रूप है और शक्ति सदा दो सहचारी रूपों में प्रकट होती है, जिन्हें ऋण और धन का रूप कहते हैं। इन्हें ही मूलभूत एक प्राण के प्राण और अपान ये दो भेद कहा जाता है। प्राण का स्वरूप स्पन्दन है। जैसे कोई सोता हुआ बालक जागकर अपना जीवन आरम्भ करता है वैसे ही बीज के केन्द्र में प्रसुप्त प्राण-बिन्दु का जागरण या क्षोभ होता है। प्राण के जागरण को ही *वैज्ञानिक भाषा* में *स्पन्दन प्रसारण* कहा जाता है—

प्राणो वै समंचनप्रसारणं। (शतपथ ८।१।४।१०)।

सिकुड़ना और फैलना यही स्पन्दन का रूप है। घन से ऋण और ऋण से घन बिन्दु की ओर जाना और आना यही विद्युत या शक्ति का नम है। इसे ही वैदिक भाषा में 'एति च प्रेति च' कहते हैं। प्राणरूपी कोई ज्योति या रोचना मानव-केन्द्र से प्रकट होती है और प्राण एवं अपान के रूप में स्पन्दित होती हुई आयुपर्यन्त सक्रिय रहती है—

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवं॥ (ऋ १।१८९।२)।

यही जीवन का रूप है। इस मन्त्र का देवता आत्मा या सूर्य है। वैदिक परिभाषा में विराट् आत्मतत्त्व का सर्वोत्तम प्रतीक सूर्य ही माना गया है—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। जो मूर्त है वह असत्य है जो अमूर्त है वह सत्य है, वही ब्रह्म है वही ज्योति है। जो ज्योति है वही आदित्य है। जो आदित्य है वही आत्मा है (मै ६।३)।

वैश्वानर अग्नि —

विश्व में जितनी गति है सब स्पन्दन का रूप है। यही प्राण है पंचतत्त्व या भूतों में से बना हुआ शरीर काष्ठ पंजर को जोड़कर बनाए हुए निर्जीव शकट के समान है (शकटमेवाचेतनमिदं शरीरं मै २।३)। यह प्राण ही है जो प्रत्येक पुरुष में चेतनात्मक क्षेत्रज्ञ प्रजापति के रूप में उसे जीवित रखता है। प्राण के साथ ही प्रज्ञा सहयुक्त है—यौ वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः (कौषीतकी ३।३)।

इन्द्र ने अपने विषय में यही कहा— प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा अर्थात् मैं ऐसा प्राण हूँ जो प्रज्ञा या मनस्तत्त्व के साथ प्राणियों के केन्द्र में आविर्भूत होता है। मन-प्राण-वाक् इन तीनों के सम्मिलन या तादात्म्य सम्बन्ध से जो एक नई शक्ति या अग्नि उत्पन्न होती है उसे ही वैश्वानर कहते हैं—अयं यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरः (मै २।६)। मन प्राण वाक (माइण्ड-लाइफ-मैटर)। इन तीनों के मिलने से ही प्राण या जीवन की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति के तीन क्षेत्र हैं। एक वृक्ष-वनस्पति जिनमें पंचभूत प्रधान हैं दूसरे पशु-पक्षी जिनमें प्राण या क्रिया शक्ति मुख्य है तीसरे मनुष्य जिनमें इन्द्रशक्ति या मनस्तत्त्व या प्रज्ञात्मक प्रज्ञातत्त्व प्रधान है। किन्तु तीनों में एक-एक की प्रधानता होते हुए भी तीनों ही रहते हैं अर्थात् वृक्षों में भी पंचभूतों के अतिरिक्त प्राण और मन का अस्तित्व है। वेदों में इन्द्र को मनस्वान् कहा गया है—यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् (ऋ २।१२।१)। जहाँ एक या अनेक इंद्रियों का विकास उपलब्ध हो वहाँ इन्द्र या मनस्तत्त्व की सत्ता अवश्य है।

इन्द्रतत्त्व —

शतपथ में इन्द्र को मध्य प्राण कहा गया है (स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रः श ६।१।१।२)। अन्य सब इन्द्रियाँ उस मध्य प्राण से संचालित होती हैं। वे इन्द्र के सहचारी सामन्तप्राण कहे जा सकते हैं। यह इन्द्र तत्त्व क्या है? शक्ति के समिन्धन या जागरण को ही इन्द्र इन्धी धातु के आधार से इन्धन कहा जाता है और इन्ध तत्त्व ही परोक्ष या संकेत भाषा में इन्द्र कहलाता है। इस प्रकार की अनेक परोक्ष व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण-साहित्य में पाई जाती हैं। इन सबके सांकेतिक अर्थ पदार्थ की व्याख्या में सहायक होते हैं। इन्ध और इन्द्र इन दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध बताते हुए ऋषि का उद्देश्य यह है कि इन्द्र या मनस्तत्त्व प्राणाग्नि की सत्ता है। भूत प्राण और मन इन तीनों तत्त्वों का आदि कौन कहाँ से आरम्भ होता है यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। अर्वाचीन विज्ञान और वैदिक दर्शन दोनों में इसका उत्तर एक ही है, अर्थात् माता-पिता के शुक्र-शोणित संयोग से जो सर्वप्रथम एक गर्भित कोष या भ्रूण उत्पन्न होता है वहीं से जीवन का स्पन्दन आरंभ हो जाता है। वह कोष अपनी शक्ति से एक से दो दो से चार, चार से आठ इस प्रकार उत्तरोत्तर आत्म-विभाग द्वारा अपना सम्वर्धन करते हुए एक पिंड या कूट बन जाता है जिसे शरीर कहते हैं। वह प्राणात्मक स्पन्दन अन्नाद अग्नि का रूप है, जो केन्द्र के बाहर से सोम रूप अन्न को खींचकर पचाता है और शरीर की वृद्धि करता है। यही सोम की अग्नि में आहुति है, जिससे शरीररूपी अग्नि यज्ञ सम्पन्न होता है। यही अग्नि का जागरण है।

हिरण्यगर्भ —

गर्भ-विज्ञान की दृष्टि से यह समस्त प्रक्रिया अत्यन्त स्पष्ट है। वैज्ञानिक की भाषा में कोष के भीतर प्रसुप्त उसका केन्द्र (न्यूक्लियस) अपना स्पन्दनात्मक कार्य आरम्भ कर देता है। ऋषि के शब्दों में वह कोष हिरण्यगर्भ कहलाता है।

सर्वप्रथम इसी हिरण्यात्मक गर्भ या शिशु का जन्म होता है—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । हिरण्यगर्भ ही अग्नि का पुत्र है जिसे ऋग्वेद में चित्र शिशु (२ ।१।२) और कुमार (ऋ १ ।११५।१) कहा गया है। जीवन के रूप में उद्बुद्ध होने वाली यह अग्नि अत्यन्त रहस्यमयी शक्ति है। इसीलिये इसे अद्भुत भी कहा जाता है। (ऋग्वेद १।१५।२)। वृक्ष-वनस्पति कीट-पतंग पशु-पक्षी एवं मनुष्य आदि की जितनी योनियाँ हैं उनमें कुमार का यही रूप है—नवो नवो भवति जायमानः । प्रत्येक पीढ़ी में जीवन की शृंखला को आगे बढ़ाते हुए यह नये-नये रूपों में उत्पन्न होता रहता है। यही सृष्टि का क्रम है। । एक ओर जीवन की सत्ता नव शिशु या कुमार के रूप में दिखाई देती है, दूसरी ओर सृष्टि के आदि से इसकी दुर्धर्ष और अजर सत्ता सदा रही है। इसके नवीन रूप को बाल या वाम और वृद्ध रूप को पलित या पक्कित कहा गया है।

वाम पलित होता —

जो वाम या नवीन या सुन्दर है वह प्रतिक्षण पलित की ओर बढ़ रहा है और आत्मविकास के लिये पलित से ही जीवन तत्व को ले रहा है। वाम और पलित ये दोनों एक ही मूल होतृ तत्व के दो रूप हैं। जो वाम या नया है, वह पलित को आत्मकेन्द्र में लेकर नवीन सृजन करता है और जो पलित है वह वाम को आकृष्ट करके भी पलित या वृद्ध बनाता है। वाम से पलित और पलित से वाम इस गति और आगति का नाम ही जीवन का स्पन्दन है। प्रत्येक घटक-कोष में यह प्रतिक्षण हो रहा है। जितनी भी भूत सृष्टि है उस सब का आदि कारण हिरण्यगर्भ या अग्नि का पुत्र वह शाश्वत केन्द्र है, जिसे प्राण या जीवन कहा जाता है। अस्य वामस्य पलितस्य होतुः इस मन्त्र में दीर्घतमा ऋषि ने जिस तथ्य का प्रतिपादन किया है विज्ञान की साक्षी भी सर्वथा वही है दोनों की शब्दावली भिन्न भले ही हो।

अग्नि के होमकर्म का स्वरूप —

यहाँ 'होता' शब्द ध्यान देने योग्य है? होता का अर्थ है देव या शक्ति का आवाहन करने वाला। उस आवाहन के द्वारा बाहर से भूततत्व को लेकर अग्नि में उसका हवन करने वाला और हवन करके उसे आत्मरूप में परिवर्तित करने वाला जो अग्नि का रूप है, वही होता है। प्रत्येक जीवित कोष (फर्टिलाइजर सेल) में जो स्पन्दन होता है, वह इसी होमकर्म की पूर्ति के लिये है। वह बाहर से भूतों या पंचतत्वों को केन्द्र में खींचकर उसका सम्वर्धन करता है। इसमें दो प्रक्रियाएँ दिखाई पड़ती हैं एक अन्न-अन्नाद की प्रक्रिया है और दूसरी सम्वर्धन की प्रक्रिया। अन्न-अन्नाद का तात्पर्य यह है कि केन्द्र में बैठा हुआ अग्नि जो अन्नाद है बाहर से अपने लिये अन्न या सोम चाहता है। इसे अन्नाद अग्नि की भूख या अशनाया कहते हैं। यदि अग्नि को सोम न मिले तो यज्ञ की समाप्ति ही जाय और कोष के सम्वर्धन का काम रुक जाय।

वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जीवन के तीन विशेष लक्षण हैं। जहाँ भी जीवन रहता है वहाँ इन तीनों की सत्ता पाई जाती है। उनमें पहला अन्न-अन्नाद का नियम है जिसे वैज्ञानिक एसीमिलेशन और एलिमिनेशन की प्रक्रिया कहते हैं (अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे)। पोषण प्राप्त करने के बाद दूसरी प्रक्रिया सम्वर्धन की है जिसे वैज्ञानिक भाषा में डिवीजन या ग्रोथ कहते हैं। इन दोनों के बाद जीवन का तीसरा लक्षण का प्रजनन है। जिस बीज से प्राण की उत्पत्ति होती है प्रजनन के द्वारा पुनः उसी बीज की सृष्टि प्रकृति का लक्ष्य है। बीज से बीज तक पहुँचना यही प्रकृति का चक्र है जिसे ब्रह्म चक्र एवं संवत्सर चक्र भी कहते हैं। प्रत्येक बीज काल की जितनी अवधि में पुनः बीज तक पहुँच पाता है, वही उसका संवत्सर काल है। किन्तु यह संवत्सर की चक्रात्मक गति है जो बार-बार घूमती हुई काल की अवधि में नये नये बीजों का निर्माण करती है। प्रजापति की सृष्टि में समस्त प्राणतत्व या जीवन संवत्सर चक्र से नियमित है। इसीलिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि संवत्सर ही प्रजापति है—संवत्सर एव प्रजापतिः (शतपथ १।६।३।५), अर्थात् सृष्टि की जो प्रजननात्मक प्रक्रिया है वह संवत्सरात्मक काल की शक्ति से नये-नये रूपों में प्रकट होती हुई सामने आती है। इस संवत्सर के दो रूप हैं एक चक्रात्मक दूसरा यज्ञात्मक। पृथ्वी जितनी अवधि में एक बिन्दु से चलकर पुनः उसी बिन्दु पर लौट आती है वह चक्रात्मक संवत्सर है अर्थात् जितनी देर में काल का एक पहिया घूम जाता है किन्तु उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रहता। उस संवत्सर की अवधि में देव या शक्ति जिनमें भूतपदार्थ को बाहर से खींच कर अपने स्वरूप में ढाल लेती है वही यज्ञात्मक संवत्सर है। अग्नि में सोम की आहुति इसका स्वरूप है। चक्रात्मक संवत्सर

केवल प्रतीकमात्र है, वह मार्ति सिद्ध है वह केवल छन्द या आवपन या पात्र है। उस पात्र में अग्नि द्वारा सोम की जो मात्रा भर जाती है वह यज्ञात्मक संवत्सर सत्तासिद्ध है। उसी को हम मूर्त-भौतिक या स्थूल दृश्य रूप में प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विश्व की रचना के लिये प्रजापति ने अपने आपको संवत्सर और यज्ञ इन दो रूपों में प्रकट किया है —संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः (शतपथ १।२।५।१२)। संवत्सर और यज्ञ काल और जीवन ये दो सृष्टि के महान् रहस्य हैं। अनेक प्रकार से इनका वर्णन वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में पाया जाता है। इन विद्याओं का परिचय वेदार्थ की कुंजी है।

प्रमा-प्रतिमा —

ऋग्वेद में प्रश्न किया है—कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानं (१०।१३०।३)।

अर्थात् इस विश्व की रचना में प्रजापति के पास प्रमा या नाप या तौल क्या थी और प्रतिमा या नमूना क्या था? इसका उत्तर यह है कि प्रमा या मात्रा निश्चित करने के लिए प्रजापति ने संवत्सर का निर्माण किया और इसकी प्रतिमा या नमूने के लिए स्वयं अपनी ही आहुति डालकर सर्वहुत यज्ञ का विधान किया। इस विश्वरूपी यज्ञ के यूप में सबप्रथम कौन-सा पशु बांधा गया? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि प्रजापति ने स्वयं अपनी ही आहुति इस यज्ञ में दी प्रजापति स्वयं ही इस यज्ञ के पशु बने। जो प्रजापति का रूप है वही पुरुष का रूप है। इसीलिए पुरुष को प्रजापति का नेदिष्ठ या निकटतम प्राणी कहा गया है। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम (शतपथ ४।३।४।३)।

यज्ञ-विद्या —

वेदविद्या की दृष्टि से यज्ञविद्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यज्ञ का जो स्वरूप ऋग्वेद में उपलब्ध होता है वह विश्व रचना और पुरुष की अध्यात्म रचना इन दोनों को समझने के लिए आवश्यक है। ऋग्वेद के पहले ही मंत्र में अग्नि को यज्ञ का देवता पुरोहित ऋत्विज होता और रत्नों का आधान करने वाला कहा गया है। ये पाँचों विशेषण सार्थक हैं और अग्नि या प्राण की मूलभूत विशेषताओं का परिचय देते हैं। अग्नि पुरोहित है। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त देवों में अग्नि प्रत्यक्ष प्राप्त है। अग्नि के द्वारा ही अन्य देव या शक्तियाँ पकड़ में आती हैं। मानव शरीर में जठराग्नि के रूप में अग्नि हमारे सबसे अधिक निकट और प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है। तीन या पाँच दिन निराहार उपवास करने से अग्नि की महती शक्ति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यह अग्नि अन्न का परिपाक करती है और शरीर के जितने अंग-प्रत्यंग हैं सबका निर्माण करती है। यह अग्नि कोई ज्वाला या लपट नहीं जो हमारे भीतर दहक रही हो। यह नितान्त पार्थिव है। आमाशय के भीतर जो अनेक रसात्मक क्षार या अम्ल हैं, वे ही इस अग्नि के रूप हैं, जो खाए हुए अनेक प्रकार के पदार्थों को पचाकर उनसे रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र इन सप्त धातुओं की चिति करते हैं। यही अग्नि का पार्थिव रूप है। ऐतरेय के अनुसार पृथिवी पुरोधाता है और अग्नि पुरोहित है। विश्व की मूलभूत शक्ति या अग्नि को प्रकट होने के लिए भौतिक या पार्थिव शरीर चाहिए। वह अग्नि स्वयं पार्थिव धरातल पर प्रकट होकर भौतिक देह का निर्माण करता है। यह देह नियमनों से बँधा हुआ एक संस्थान है जिसका प्रत्येक कार्य विश्व विधान के अनुसार व्यवस्थित है। इसमें अनेक देवों का निवास है किन्तु उन सब में प्रधान देव अग्नि है। जिस प्रकार इन्धन के पहाड़ को शक्ति रूप में परिवर्तित करने के लिये एक चिनगारी की आवश्यकता होती है ऐसे ही प्रत्येक यज्ञ की वेदि में अग्नि के आधान की आवश्यकता है। यह अग्नि की ही शक्ति है कि नित्यप्रति बाहर से अन्नकण या हर लेकर उसे शक्ति और भूतों के रूप में परिवर्तित करके शरीर का सम्वर्धन करता रहता है। जो प्रक्रिया मानवी देह में है वही छोटे-छोटे से तृण और सूक्ष्म कीट पतंग आदि के शरीर में भी है। यह विचित्र रचना है जिसका आरंभ एक हिरण्यगर्भ या एक गर्भित भ्रूण से होता है। अर्वाचीन गर्भविज्ञान (एम्ब्रयोलाजी) शास्त्र में शरीर-निर्माण की इस रहस्यमयी प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वैदिक कोश-विज्ञान और वेदना-विज्ञान के साथ उसका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा श्री डा० वासुदेवशरण अपने ग्रन्थ 'वैदिक साइंस ऐण्ड सिम्बल ऑफ बायलाजी' में प्रतिपादित किया है।

चयनविद्या—

भ्रूण-योनि के एक गर्भ-कोश से आरंभ करके इतने जटिल शरीर का निर्माण यही अग्नि की चयनविद्या है जिसका शतपथ ब्राह्मण में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है और जिसका मूल यजुर्वेद के अध्याय ११ से अध्याय १८ तक के मन्त्रों में आता है। इस यज्ञ को वैचानिक कहते हैं। पंचभूतात्मक पाँच तत्त्वों से जो चिति होती है उसी से शरीर की रचना सम्पन्न

होती है। इसे चित्याग्नि कहा जाता है। ऋग्वेद में जिसे चित्र शिशु कहा गया है, वह अग्नि चयन द्वारा चित होने के कारण मर्त्य है। प्रतिक्षण इसका सम्बन्ध चितिनिमेय नामक अमृत अग्नि से होता रहता है। विश्व में जो समष्टि प्राण जीवन और चेतना है, उसके साथ गर्भस्थ कोष बुद्बुद या कलल का सम्बन्ध माता के श्वास-प्रश्वास द्वारा बना रहता है और वहीं से वह अपने लिये अमृत का पोषण प्राप्त करता है। यदि अमृत प्राण का पोषण उसे प्राप्त न हो तो भौतिक धरातल पर संचित उस अग्नि का स्पन्दन रुक जाय।

घर्म —

वेद ने अपने ढंग से इस गर्भित कोष को एक औंटता हुआ पात्र कहा है। इसके लिये अग्नि चयन के अन्त में अवभृथ शब्द आया है (यजु० १८।६६)। उसे ही अस्यवामीय सूक्त में अभीद्ध घर्म कहा गया है (ऋ० १।१६४।२६)। इसे ही महावीर पात्र कहते हैं। विश्व की जो प्राणाग्नि है उसकी उष्णता से यह पात्र औंटता है। इस पात्र में सोम भरा रहता है और अग्नि का केन्द्र अपने स्पन्दनात्मक घर्षण से उस सोम को औंटता है। यह पात्र प्रारम्भिक एक घटक कोष के रूप में हो या करोड़ों कोषों का समुदाय शरीर हो उसमें उष्णता या घर्म का नियम एक ही है। मैत्रायणी उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि प्राण और पान या उपांशु और अन्तर्याम के पारस्परिक घर्षण से जो उष्णता उत्पन्न होती है, वही पुरुष है और वही वैश्वानर अग्नि है—

> अथोपांशुरन्तर्याममभिभवत्यन्तर्याम उपांशु च।
> एतयोरन्तरा देवौष्ण्यं प्रासुवत्।
> यदौष्ण्यं स पुरुषः।
> अथ यः पुरुषः सो ऽग्निर्वैश्वानरः (मै० २।६)।

अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार इस उष्णता की माप ९८.८ फारेनहाइट तापक्रम है। यह उष्णता १०७ अंश से अधिक हो जाय या ९७ अंश से नीचे आ जाय तो जीवन या प्राणात्मक स्पन्दन समाप्त हो जाता है। जो समष्टि या विराट् विश्व में आदित्य का तेज है उसकी उष्णता असीम है। वैज्ञानिक मत से सूर्य के धरातल पर ६ अंश और उसके केन्द्र में दो करोड़ अंश सेंटीग्रेड की गर्मी है। किन्तु प्रकृति का ऐसा विलक्षण विधान है कि उस उष्णता का अत्यन्त नियमित अंश मानव के इस शरीररूपी घर्म या पात्र को प्राप्त होता है। उसी की संज्ञा प्राण या जीवन है।

तीन ज्योतियाँ —

वैदिक परिभाषा में विश्व की विराट् अग्नि को अश्वमेध और शरीर की अग्नि को अर्क कहा जाता है। अर्क संज्ञक शरीर की प्राणाग्नि तीन प्रकार की होती है। अतएव उसे त्रिधातु अर्क कहा जाता है (यजु० ८।६६)। अग्नि एक ज्योति है उसमें तीन ज्योतियों का सम्मिलित रूप है।

प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी (यजु० ८।३६)। अग्नि-वायु-आदित्य अथवा वाक्-प्राण-मन अथवा क्षर-अक्षर-अव्यय अथवा अर्वाचीन विज्ञान के शब्दों में मैटर-लाइफ-माइंड ये ही तीन ज्योतियाँ हैं, जिनके बिना कोई भी प्राणात्मक स्पन्दन या यज्ञ सम्भव नहीं है। इन्हें ही प्राण-अपान-व्यान नामक तीन अग्नियाँ कहा जाता है जो यज्ञ की तीन वेदियों में गार्हपत्य दक्षिणाग्नि और आहवनीय के रूप में प्रज्वलित रहती हैं।

सविता —

यजुर्वेद में जहाँ अग्नि चयन या घर्मयाग का वर्णन है, वहाँ आरम्भ में यही प्रश्न है कि प्राणाग्नि के इस स्पन्दन का स्रोत क्या है? इसके मूल कारण को वहाँ सविता कहा गया है और उस सविता की संज्ञा मन है। सविता के द्वारा मन की प्रेरणा से ही प्रज्ञात्मक प्राण का यह स्पन्दन आरम्भ होता है। मन की शक्ति से ही जन्मभर इसका समिन्धन या आप्यायन चलता रहता है। सविता व देवानां प्रसविता अर्थात् सविता ही प्रत्येक प्राण केन्द्र में उद्बुद्ध होकर अन्य सब देवों को खींच लाता है। सविता अन्य देवों का भोक्ता है। वही अन्य सब के कर्मों का विधान करता है। मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः सविता देव की यही महती स्तुति या सर्वाधिक प्रशंसा है। इस समस्त विश्व की जो सवाहिका शक्ति है वही विराट् सविता देव है। उसकी जो शक्ति प्रत्येक केन्द्र में आ रही है वह सावित्री है। सावित्री शक्ति प्रत्येक केन्द्र को ओत-प्रोत करके वहाँ से प्रतिफलित होकर अपने मूल स्थान को लौट रही है। शक्ति का यही रूप है। वह आती है और जाती है। इसी नियम से उसके

मन और प्राण दो रूप बनते हैं। विश्वात्मक सविता से प्राप्त होनेवाली सावित्री की धारा जब हमारे शरीर से प्रतिफलित होती है तो उसे ही गायत्री कहते हैं। सावित्री और गायत्री का एक छन्द है। द्युलोक सावित्री और पृथ्वी गायत्री है। ये एक ही मूलभूत शक्ति के दो रूप हैं। मनुष्य के शरीर में जो प्राण है, वह प्रति बार बाहर जाकर द्युलोक के विश्वात्मक प्राण के साथ मिलकर फिर भीतर आता है, जैसा शांखायन संहिता में कहा है—पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः अर्थात् शरीर संचारी प्राण आकाश के अमृत का पान करके शीघ्रता से बारंबार वापिस लौट आता है। यही समष्टि और व्यष्टि प्राण की सम्मिलित धारा है जिसका सन्तान-क्रम या आना-जाना जीवन का लक्षण है। जो विश्वात्मक है उसे ही अनन्त और अमृत कहते हैं। जो अमृत है, वही देव कहा जाता है। जो मर्त्य है उसे भूत कहते हैं। भूतों को देव का आश्रय चाहिए। तभी भूतों का जीवन सम्भव होता है। एक क्षण के लिए भी भूत और देव इनका सम्बन्ध टूट जाय तो भूत व्याकुल हो जाते हैं। अनन्त विश्व में महाप्राण भरा है, किन्तु भूतात्मक देह में उसका एक अंश ही आ पाता है। वस्तुतः अमृत तत्त्व का नाम ही जीवन है। अमृत तत्त्व ही प्राण है। अग्नि को वेदों में बारंबार अमृत कहा गया है। जीवन ही वह अमृत है, जो मर्त्य भूतों में समाविष्ट है—इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु, अर्थात् अग्नि मर्त्य भूतों में अमृत ज्योति है (ऋग्वेद ६।९।४)। आयुर्बल से युक्त अग्नि मर्त्य भूतों में रहने वाला अमृत अतिथि है (ऋ ६।४।२)। अमृत अग्नि मर्त्य भूतों में प्रविष्ट हुआ है यही जीवन है (ऋ १।७९।१ ७।४।४। मर्त्येषु अग्निरमृतो निधायि)।

अग्निप्रजापति का प्रथमज —

वैदिक-साहित्य में अग्निविद्या का अपरिमित विस्तार है। एक वाक्य में कहना चाहें, तो अग्निविद्या ही वेदविद्या है। अग्नि ही प्रजापति और अग्नि ही ब्रह्म का रूप है। बृंहण या स्पन्दन अग्नि के बिना नहीं होता। जल से पूर्ण एक कलश चूल्हे पर रख दिया जाय तो उसमें कोई हरकत नहीं होगी। पर उसमें यदि अग्नि का संयोग कर दें तो वह जल खौलने लगता है, उसमें एक गति उत्पन्न हो जाती है। ठीक यही अवस्था प्रत्येक सृष्टि-रचना की है। आरम्भ में प्रकृति या पंचभूत साम्य अवस्था में थे उनमें कोई गति या क्षोभ नहीं था। उस समान व्यापक अवस्था का वैदिक भाषा में ऋत या 'आपः' कहते हैं (यद् आप्नोत तस्माद् आपः)। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त था इसलिए उसकी संज्ञा 'आपः' हुई (शतपथ ६।१।१।९)। प्राक्सृष्टि काल में प्रकृति की यही साम्यावस्था परमेष्ठी कही जाती है। जो परमेष्ठी है, उसी का नाम समष्टि (कॉस्मिक यूनिवर्स) है। मनोवैज्ञानिक युग के शब्दों में यही कलेक्टिव अनकॉन्शस अर्थात् विश्वात्मक प्रज्ञान है, जिसका अनुभव सुषुप्ति अवस्था में होता है। उस प्रकार की साम्यावस्था के धरातल पर जो प्रथम क्षोभ उत्पन्न होता है वही अग्नि का स्पन्दन है। उसी के कारण एक अखण्ड तत्त्व नानाभाव या बहुभाव में आता है। उस बहुभाव को ही बृंहण या ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म का ही रूप अग्नि है। अतएव ऋग्वेद में अग्नि को ऋत का प्रथमज कहा गया है—अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य (ऋग्वेद १०।५।७)। इसी दृष्टि से अन्यत्र कहा है कि ऋत के प्रथमज प्रजापति रूप अग्नि ने अपने तप से ब्रह्म के लिए यह सृष्टि रूप ओदन तैयार किया (यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्, अथर्व ४।३५।१)।

ब्रह्मरूप त्रयी विद्या —

ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम् (शतपथ ६।१।१।८) अर्थात् प्रजापति ने ब्रह्म का सर्वप्रथम सृजन किया। यह ब्रह्म या वेद या त्रयी विद्या ही थी जिसके द्वारा सृष्टि का विकास हुआ। अग्नि ही त्रयी विद्या का प्रतीक है। अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन त्रयी विद्या के रूप हैं। इनमें ऋग्वेद पिण्ड या मूर्ति का निर्माण करने वाला है। सामवेद उसके मण्डल की चरम बाह्य उसकी परिधि है। यजुर्वेद उसका केन्द्र है, जिसमें स्पन्द-गति का निवास रहता है। प्रत्येक रचना एक-एक मण्डल या वृत्तात्मक चक्र है। जहाँ मण्डल है, वहीं केन्द्र व्यास और परिधि का सम्मिलित संस्थान रहता है। इस संस्थान की संज्ञा ही त्रयी विद्या है।

जलों का पुत्र अग्नि —

ऋत के धरातल पर सर्वप्रथम अग्नि का जन्म होता है। इसलिए वेदों में अग्नि को 'अपांगर्भ' अर्थात् जल का पुत्र कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थिति के धरातल पर गति का जन्म सृष्टि का आरंभ है। इसे ही साम्यावस्था में प्रसुप्त स्वयंभू पुरुष के संयोग से गर्भ-धारण कहा जाता है। परमेष्ठी या ऋत की संज्ञा महत् भी है। वह विश्व की योनि है। अग्नि रूप प्रजापति उसमें बीजाधान करता है। अग्नि का स्पन्दन ही वह बीज है जिससे रचना-कर्म का आरंभ होता है। एक

गेहूँ के दाने की कल्पना कीजिए। उसमें अग्नि और सोम दोनों का सम्मिलित रूप है। किन्तु वह तब तक अंकुरित नहीं होता जब तक उसके केन्द्र में सोया हुआ अग्नि क्षुब्ध नहीं हो जाता अर्थात् उसमें गति-आगति का स्पन्दन जन्म नहीं लेता। इस आवरण से ही वह बीज अंकुरित होता है अर्थात् एक से अनेक बनता है। जो एक है, वह निष्कलक या अखंड है। जो अनेक है, उसे ही माया बहु ब्रह्म या मन कहते हैं।

ऋत-सत्य का भेद —

ऋत और सत्य इन दोनो में भेद है। ऋत परमेष्ठी या समष्टि की संज्ञा है (ऋतमेव परमेष्ठि)। उस परमेष्ठि में अग्नि के संयोग से जब एक केन्द्र का उदय होता है, तो उस केन्द्र को सत्य कहते हैं। सूर्य सत्य का रूप है। इसका निर्माण जिन नीहारिकाओं से हुआ वे ऋत रूप थी। सत्यात्मक पिंड के कोने को पकड़ें तो सारा पदार्थ खिंचने लगता है। पर सरोवर में भरे हुए ऋतु रूप जल का एक अंश उससे अलग होकर हमारे पात्र में आ जाता है। ऋत का कोई एक केन्द्र नहीं रहता किन्तु सत्य का सुनिश्चित केन्द्र होता है। ऋत के भीतर केन्द्र का जन्म ही यज्ञ है। यज्ञ के लिए अग्नि का प्रज्वलित करना आवश्यक है। यह अग्नि द्यावा-पृथिवी रूप दो अरणियों के मथन से उत्पन्न होता है। इसे वेदों में सहस पुत्र (यजुर्वेद ११२२) अर्थात् यज्ञों का पुत्र कहा है। प्रत्येक यज्ञ एक-एक वत्स है। यज्ञ बिना केन्द्र प्रयुक्त नहीं होता। अतएव प्रत्येक यज्ञ के मध्य में उसका केन्द्र आवश्यक है। इस केन्द्र को ही नाभि हृदय या यूप कहते हैं।

द्युलोक और पृथिवी ये विश्व के माता-पिता कहे गए हैं। प्रत्येक प्राणिकेन्द्र के लिए द्यावा-पृथिवी रूप माता-पिता की आवश्यकता है। द्यावा-पृथिवी की संज्ञा रोदसी है। रोदसी वह लोक है जिसमें कोई भी नई सृष्टि माता-पिता के बिना नहीं होती। वृक्ष-वनस्पति से लेकर मनुष्यों तक जितनी योनियाँ हैं, सब में माता-पिता का द्वन्द्व अनिवार्य है। एक-एक पुष्प में माता-पिता योषा-वृषा या पुरुष-स्त्री के इस द्वन्द्व की सत्ता है। इसे ही मित्रावरुण का जोड़ा कहते हैं। परस्पर आकर्षण या मैत्रीभाव इस जोड़े की विशेषता है। मित्र और वरुण इन दोनो के दो मण्डलों के मिलने से ही प्राण का जन्म संभव होता है। जो मित्र का मण्डल है वह उष्ण या आग्नेय है। जो वरुण का मण्डल है, वह शीत या सौम्य है। अग्नि और सोम उष्ण और शीत मित्र और वरुण द्युलोक और पृथिवी इस द्वन्द्व के बिना प्राण या जीवन का जन्म संभव नहीं।

रोदसी का अर्थ :—

जिस प्रकार रोदसी या द्यावा पृथिवी रूप विश्व में माता और पिता अनिवार्य हैं, उसी प्रकार रोदसी में जितनी प्राणि-सृष्टि है, वह अन्न-अन्नाद के नियम के अधीन है। जिस केन्द्र में प्राण का जन्म होता है उसमें अशनाया तत्त्व या बुभुक्षा का नियम अवश्य काम करता है। बालक भूख से व्याकुल होकर रोता है। इसलिये अग्नि की सोम के लिए व्याकुलता या भूख को ब्राह्मण ग्रन्थों में रुदन कहा है। जो अन्नाद या अन्न का खानेवाला है, वह अन्न के लिए रुदन करता है। जो रुदन करता है वह रुद्र है (यदरोदीत्तस्माद् रुद्रः शतपथ ६।१।३।१०)। अग्नि ही रुद्र है (अग्निर्वै रुद्रः श ५।३।१।१)। अन्नाद अग्नि अन्न रूप सोम के बिना नहीं रह सकता। इसीलिए अग्नि के दो रूप कहे गये हैं—एक घोर दूसरा अघोर। अग्नि को जब सोम नहीं मिलता तो वह घोर या मृत्यु रूप हो जाता है। बिना सोम के अग्नि जिस केन्द्र में रहता है, उसी को नष्ट कर डालता है, जैसे बिना घी के दीपक की ज्वाला अपनी बत्ती को जला डालती है। किन्तु जैसे ही अग्नि को सोम मिलता है अग्नि शान्त और शिव बन जाता है। अपनी जठराग्नि में इस प्रक्रिया को हम नित्य देखते हैं। अन्न रूप सोम की आहुति से वैश्वानर अग्नि कुछ समय के लिए शान्त हो जाता है और फिर व्याकुल हो उठता है। अन्न-अन्नाद का यह नियम अटल है। द्यावा पृथिवी के मध्य में जितनी सृष्टि है सब इस नियम से व्याप्त है। इसी कारण इसे रुद्राग्नि का लोक या रोदसी कहते हैं।

तीन अग्नियाँ —

एक अग्नि पृथिवी पर और दूसरी द्युलोक में सूर्य रूप में है। दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है दोनों के बीच तीसरी अन्तरिक्ष की अग्नि है जिसके माध्यम से दोनों का सम्बन्ध होता है। इसीलिए अग्नि त्रेता या तीन अग्नियाँ कही जाती हैं और अग्नि को तीन लोकों में प्रज्वलित माना जाता है—त्रिधा ते अग्ने त्रेधा जनानि (यजु १२।१९)। मन-प्राण-वाक् सूर्य में तीन अग्नियाँ हैं। इस विषय में ऋषि ने बृहद्देवता में अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया है—भव्य भूत और भव्य जंगम और स्थावर इनका प्रभव और प्रलय अर्थात् उत्पत्ति और विनाश का कारण सूर्य ही है। सूर्य ही प्रजापति है जो असत्

और सत् इन दोनों का उद्गम स्थान है। सूर्य ही अपने आप को तीन रूपों में विभक्त करके इन तीनों लोकों में स्थित है। सब देव उसकी रश्मियों में समाये हुए हैं। ऋषि तीन नामों से उसी की उपासना करते हैं। वही प्रत्येक प्राणी के उदर में जठराग्नि रूप में प्रज्वलित है। यज्ञों में सुवा मिलाकर उसी का तीन स्थानों में आवाहन किया जाता है। उसे ही इस लोक में अग्नि मध्य लोक में वायु इन्द्र और द्युलोक में सूर्य कहते हैं। ये ही तीन देवता हैं —

> त्रय्येव हि विभात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति ।
> देवान्यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥
> एतद्भूतेषु लोकेषु अग्निभूतं स्थितं त्रिधा ।
> ऋषयो गीर्भिरर्चन्ति व्यंजितं नामभिस्त्रिभिः ॥
> तिष्ठत्येष हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन् ।
> त्रिस्थानं चैनमर्चन्ति होमायां सुक्त बर्हिष ॥
> अग्निरस्मिन्नथन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च ।
> सूर्यो दिवीति विज्ञेयास तिस्र एवेह देवताः ॥ (बृ दे १।९१ ९४ ९५, ९६) ॥

अग्नि के तीन भ्राता —

विज्ञान विद्या के अनुसार तीन अग्नियों को ऋग्वेद में तीन भ्राता कहा गया है (१।१६४।१)। पृथिवी की अग्नि पवमान अन्तरिक्ष की पावक और द्युलोक की शुचि कही जाती है। पवमान को निर्मन्थ्य अग्नि भी कहते हैं, क्योंकि यह दो अरणियों को मथकर उत्पन्न की जाती है। यज्ञ में दो अरणियों की कल्पना महत्वपूर्ण है। माता और पिता शिशु रूप अग्नि को उत्पन्न करने वाले दो मथन दण्ड हैं। इन्हें ही प्राण और अपान भी कहते हैं। शरीर में प्राण और अपान दो घोड़ों के समान हैं जो व्यान रूपी शिला पर दो ओर से टकराते हैं और परस्पर के घर्षण से शारीरिक अग्नि उत्पन्न करते हैं। मध्यस्थ व्यान प्राण की संज्ञा वामन भी है। केन्द्र या हृदय में प्रतिष्ठित होने के कारण इसे वामन कहा जाता है। यही शक्ति जब केन्द्र से बाहर फैलती है तो इसका रूप विराट हो जाता है। शुचि-पावक-पवमान इन तीन अग्नियों को ही क्रमशः ब्रह्माग्नि देवाग्नि और भूताग्नि कहते हैं। इनमें केवल भूताग्नि प्रत्यक्ष होती है शेष उसके दो रूप नहीं। जैसे स्थूल शरीर ही भौतिक होने से प्रत्यक्ष का विषय है और आँख से देखा जाता है, उसके आधार पर रहनेवाले प्राण और मन नेत्र से दिखाई नहीं पड़ते ऐसे ही देवाग्नि और ब्रह्माग्नि प्रत्यक्ष का विषय नहीं। शरीर के भीतर जो क्षार और अम्लयुक्त रसात्मक भौतिक अग्नि है उसे यन्त्र द्वारा प्रत्यक्ष देख सकते हैं। किन्तु शरीर के भीतर की प्राणक्रिया और मानस क्रिया की ध्रुव सत्ता होते हुए भी उन्हें प्रत्यक्ष देखना सम्भव नहीं इसी दृष्टि से पार्थिव अग्नि को स्थूल घन अन्तरिक्ष की अग्नि को तरल और द्युलोक की अग्नि को विरल कहा जाता है। इस दृष्टि से भौतिक देह घन है। उसमें व्याप्त प्राण की क्रिया तरल और मन की क्रिया विरल है। विरल अग्नि सबसे सूक्ष्म और सबसे अधिक व्याप्त होती है। यही दशा मन की है जो निकट और दूर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

वैदिक प्रतीक या विज्ञान विद्या —

वैदिक भाषा में प्रतीकों का सबसे अधिक महत्त्व है। प्रत्यक्ष शब्दों की अपेक्षा संकेत ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। परोक्ष प्रिया वै देवा प्रत्यक्षद्विषः यह वैदिक अर्थों का नियामक सूत्र है। मनुष्यों के कण्ठ से जिन शब्दों का उच्चारण होता है वे शब्द उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं। जैसे गौ शब्द कण्ठ से जन्म लेकर विनष्ट हो जाता है। किन्तु जो गौ पशु है, वह जैसी पूर्व में थी वैसी ही आज भी है और आगे भी रहेगी। उसमें जो प्रक्रिया हो रही है, वह नित्य है। प्रकृति में गौ की रचना मानवी कृति नहीं नित्य कृति है। अतएव वह अपौरुषेय रचना है। गौ के प्रतीक से जो अर्थ ग्रहण किए जाते हैं वे भी नित्य होने के कारण अपौरुषेय हैं। इस प्रकार सृष्टि का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो विश्व की रचना के परोक्ष अर्थों की व्याख्या न करता हो। सूर्य चन्द्र पृथिवी समुद्र मेघ आकाश नदी वृक्ष वन पशु अग्नि इत्यादि जितने घन-सहस्र पदार्थ हैं, सब अपने-अपने प्रतीक से सृष्टि के रहस्य को प्रकट कर रहे हैं। वे शब्दमयी भाषा की अपेक्षा कहीं गंभीर अर्थों के परोक्ष संकेत प्रदान करते हैं। ऋषियों ने सृष्टि विद्या के अर्थों को इन मूर्तियों पर टाँग कर अर्थों की इसी शैली को अपनाया।

गोतत्त्व —

उदाहरण के लिए जो गौ है वह दूध का प्रतीक है। दूध देने वाले और भी कई पशु हैं पर उनमें गौ ही सर्वश्रेष्ठ है। गौ के शरीर में कोई ऐसी रसायनशाला है जो जल को दूध में बदल देती है। किन्तु गौ भी तब तक दूध नहीं देती जब तक वह बियाती नहीं। अतएव स्पष्ट हुआ कि नीर का क्षीर में परिवर्तन ही प्रजनन या मातृत्व है। दूध और पानी में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का प्रतीकात्मक उत्तर स्पष्ट है पानी वह है जिसको मथने से त्रिकाल में भी घी या स्नेह नहीं प्राप्त होगा। किन्तु दूध एसा स्नेह द्रव है जिसके रोम-रोम में घृत के कण व्याप्त हो गए हैं। यह घृत माता के हृदय का स्नेह है जो वह वत्स के लिए प्रकट करती है। अतएव गौ मातृत्व या प्रजनन का प्रतीक है। गौ जब गर्भित होती है तभी वह बच्चे को जन्म देती है और तभी उसमें दूध देने की क्षमता उत्पन्न होती है। गौ या मातृ तत्त्व सोम है। गौ वृषभ के शुक्र या आग्नेय गुण से गर्भ धारण करती है। यह अग्नि ही गौ के दूध में व्याप्त घृत है। पानी और घी का अन्तर यह है कि पानी से आग बुझती है और घी से प्रज्वलित होती है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है कि घृत अग्नि का साक्षात् रूप है (एतद्ध अग्ने प्रियं धाम यद्घृतं तै० १।१।९।१ एतद् वै प्रत्यक्षं यज्ञरूपं यद्घृतं शतपथ १२।८।२।१५)। जिस प्रकार वृषभ और गौ से वत्स का जन्म होता है, वैसे ही पुरुष और प्रकृति के पारस्परिक संयोग से विश्व का जन्म होता है। इस विश्वरूपी वत्स की माता अनन्त प्रकृति है, उसे अदिति कहते हैं। यह कामदुघा और विश्वायुस् धेनु है अर्थात् काम ही उसका दूध है और विश्व ही उससे तृप्त होनेवाला वत्स है। इस प्रकार गौ का प्रतीक अनेक अर्थों की उद्भावना कराता है। जहाँ-जहाँ प्रजनन या मातृत्व है वहीं-वहीं गौ के रूप की अर्थवत्ति है। पृथिवी गौ है जो अनन्त वृक्ष वनस्पति को प्रतिवर्ष जन्म देती है। ऐसे ही विश्व के प्राणिमात्र की जितनी माताएँ हैं, सब गौ के रूप हैं। सूर्य की रश्मियाँ गौएँ हैं जो अपनी गति से समस्त संसार में विचरण करती हैं और जिस पृथ्वी से उनका सम्पर्क होता है उसे वे गर्भधारण की योग्यता प्रदान करती हैं। सूर्य की उष्णता से ही पृथ्वी गर्भित होती है। इसी प्रकार और सूक्ष्म स्तर में प्रविष्ट होने से ज्ञात होता है कि वाक् भी गौ है। वह मन रूपी वृषभ से गर्भित होती है। मन के विचार ही वाणी में आते हैं और दोनों के सम्मिलन से प्राण या क्रिया का जन्म होता है। वेद में अनेक प्रकार से गौ के रूप का विस्तार है। ऋषियों को अर्थों की यह परोक्ष शैली मनःपूत थी। जाने-पहिचाने पदार्थों को लेकर वे उनके साथ सृष्टि विद्या के अर्थों का सम्बन्ध जोड़ देते थे। इस विश्व को जब वृक्ष या अश्वत्थ कहा जाता है तो उसका अभिप्राय यह है कि अश्वत्थ के जन्म की कथा से विश्व के जन्म और विकास की व्याख्या समझी जा सके। शक्ति का कोई महान् स्तम्भ पृथिवी से द्युलोक तक वृक्ष की भाँति ऊर्ध्व और स्तब्ध खड़ा है। इसे ही ऋग्वेद में नाभ (अमृता नाभं मरता सुवानस ८।२।१८) और ओषध या अर्ग भी कहा है (१।१७३।६)। यह स्कम्भ क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यज्ञ ही वह ओषध या धारणात्मक टेक है जिस पर सृष्टि का दूर-से-दूर और निकट से निकट का प्रत्येक भाग अविचल रूप से ठहरा हुआ है (ऋ० ८।१४।१५)। यद्यपि यह अहर्निश सदा भ्रमणशील देखा जाता है, किन्तु इसका धुरा कभी गर्म नहीं होता और जो भुवन इसमें पिरोये हुए हैं वे तिलमात्र भी विचलित नहीं होते। इस पट का वितान अति सुन्दर है। अहोरात्र दर्श-पौर्णमास ऋतुएँ, अयन और संवत्सर इनके अंशों से यह चक्र निरन्तर आगे बढ़ रहा है, मानों काल रूपी कोई अश्व अपनी दुर्धर्ष गति से इस विराट् देवरथ को चला रहा है। प्रतीकों की दृष्टि से ऋग्वेद विश्व के समस्त साहित्य में सर्वोपरि स्थान रखता है। इस समय संसार में धार्मिक प्रतीकों की व्याख्या के प्रति एक नई अभिरुचि देखी जाती है। पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि धार्मिक प्रतीकों के अर्थों पर विचार करने से ही आगे का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। इस क्षेत्र में सबसे बड़ी सहायता मनोविज्ञान शास्त्र से प्राप्त हो रही है और भविष्य में प्राप्त होने की संभावना है। प्रतीकों के अर्थों की दृष्टि से ऋग्वेद के प्रति विश्व के विद्वानों का सविशेष ध्यान आकृष्ट हो रहा है।

मन का महत्त्व —

ऋग्वेद के अनुसार यह विश्व प्रजापति के मन की रचना है। इसे प्रजापति का कामम यज्ञ भी कहा गया है। जहाँ मन है वहीं कामना है। काम मन का प्रथम रेत या शक्ति-बीज था। उसी से यह सब रचना हुई।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (नासदीयसूक्त)।

वैदिक सृष्टि विद्या और अर्वाचीन मनोविज्ञान शास्त्र की शब्दावली में अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ मन के ही रूप हैं। मन का ही प्रकट रूप विश्व और मानव है। अरबों-खरबों संस्कारों को सुरक्षित

रखने वाला कोश मन या बुद्धि ही है। मन प्रज्ञान और बुद्धि विज्ञान है। दोनों एक प्रज्ञा तत्त्व के रूप हैं। प्रज्ञान चन्द्रमा के समान सौम्य या घटनेवाला है। विज्ञान सूर्य के समान अविनाशी तेज से युक्त रहता है। चेतन या जाग्रत मन प्रज्ञा का अति अल्प भाग है। मन की महती सत्ता तो अवचेतन प्रज्ञा में है। उसी से सब प्रेरणाओं के स्रोत उन्मुक्त होते हैं। यही दबे हुए वर्षों का इन्द्र द्वारा उन्मोचन है। ऋत ही समष्टि मन है। जिस व्यष्टि मन का सम्बन्ध समष्टि मन (कलेक्टिव अनकान्शस माइण्ड) से जुड़ जाता है उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। वेदों के उपाख्यान या देवता-वर्णनों का अभिप्राय वस्तुतः मन की व्याख्या है। मन के ही रूप इन्द्र और अग्नि हैं मनस्तत्त्व ही आदित्य या सूर्य है। विराट् सूर्य-ज्योति प्रजापति के मन का रूप है। उसी की एक-एक रश्मि व्यष्टि मन या मानव के केन्द्र में प्रतिबिम्बित होती है। इसी दृष्टि से मनु का यह श्लोक संगत है —

> एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
> इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (मनु १२ । १२१) ।

अग्नि प्राण इन्द्र शाश्वत ब्रह्म और मनु—ये एक ही प्रजापति या प्रजननात्मक तत्त्व के रूप हैं। मन एक पात्र है जो विचारों के जल से भरा हुआ है। जन्मपर्यन्त इस सरोवर से वाक की धारा बहती रहती है पर यह शुष्क या रिक्त नहीं होता। मन को अर्वाचीन मनोविज्ञान में मानस कहा जाता है। प्रो युंग ने मानस के द्वारा ही अपने शास्त्र की व्याख्या की है। उनके अनुसंधान का आधार स्वप्न है। स्वप्न में जो दृश्य देख जाते हैं वे अवचेतन मन की गूढ दशाओं का परिचय देते हैं। यह मनु के 'स्वप्नधीगम्य' (१२।१२२) विशेषण का अक्षरशः अनुवाद है। वैदिक कोष का अभिप्राय बहुत कुछ मनोविज्ञान शास्त्र प्रतीक शास्त्र और यज्ञशास्त्र के द्वारा समर्थित है। ऋषियों ने वेदार्थ को सरल बनाने के लिए ही प्रतीकों का आश्रय लिया था। बालकपन से ही हम प्रतीकों के स्थूलरूप को देखने लगते हैं। उनके सूक्ष्म अर्थों को समझने का अभ्यास ही प्रज्ञा का उन्मेष है।

शिव संकल्प —

मानस शास्त्र का मुकुट आत्मपक्ष शिव-संकल्प (आटोसजेशन या साइकोथिरेपी) में माना जाता है। वेद-मंत्रों में इसका अपरिमित भण्डार भरा है। ये सब 'सु' के रूप हैं और प्राण के मूलभूत स्वस्तिक की व्याख्या हैं। सुप्राण् सुमन सुविज्ञान सुपाणि स्वाहुति सुदेव सुदुघा सुकृत्या सुमति सुचक्षु सुमित्र सुपुष्ट सुभृतु, स्वावेश स्वाहुत सुप्रथित आदि इस प्राण रूपी सुपत्र के सैकड़ों आरे हैं। जिन भावों का 'सु' से सम्बन्ध है उनकी प्रतिष्ठा सूर्य है। स्वस्तिक का आधार सूर्य है। सब देवों के मध्य में सूर्य 'सुदेव' है। विश्व में दो प्रकार के रूप हैं एक 'सु' दूसरे 'दुस्' एक अच्छे दूसरे बुरे। पहले अमृत दूसरे मर्त्य हैं। एक ज्योति दूसरे तम हैं। एक का रूप इन्द्र दूसरे का वृत्र या अघ है। शरीर, परिवार, समाज और राष्ट्र की कुशल-क्षेम के लिये सुप्राणमयास्वाहा कृतियों की आवश्यकता होती है।

पूर्ण कलश —

वैदिक साहित्य में शरीर की दो कल्पनाएँ हैं। एक के अनुसार यह सोम से भरा हुआ द्रोण कलश है और दूसरे के अनुसार अग्नि से भरी उखा या अंगीठी है। अग्नि और सोम दोनों ही इस शरीर में प्रतिष्ठित हैं। अग्नि में सोम की आहुति सवन या अग्निहोत्र कही जाती है। अग्नि में अग्नि की वृद्धि चयन या अग्निचित्या है। अग्नि और सोम की यह दोहरी प्रक्रिया शरीर के एक-एक कोष में प्रतिक्षण हो रही है। एक से शरीर बढ़ता है दूसरे से नई-नई शक्ति मिलती है। दोनों ही यज्ञ के रूप हैं। यजुर्वेद अध्याय चार से दस तक सवन का एवं अध्याय ग्यारह से अठारह तक चयन यज्ञ का विस्तार है। इनमें कर्मकाण्ड की जो विधियाँ हैं उनका लक्ष्य अध्यात्म और अधिदैवत की यज्ञ-विद्या है। राजसूय और वाजपेय दोनों सोमयज्ञ हैं। राजसूय का लक्ष्य प्रज्ञान मन और वाजपेय का विज्ञानात्मक बुद्धि है। यज्ञ-विद्या अति गूढ है। इस पर दीर्घ स्वाध्याय की आवश्यकता है।

जिस शरीर को पूर्ण कलश कहा जाता है वह प्रकृति की सबसे रहस्यपूर्ण कृति है। विश्व में ऐसा कुछ नहीं जो इस शरीर में न हो। जिस सविता ने इसका निर्माण किया उसने इस कलश के सोम को बाँटते समय उसमें अपने अच्छे-से-अच्छे सभी द्रव्य या रस मिला दिए हैं—

एक दूसरी श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार कहा जाता है कि छठें स्थविर भद्रबाहु के समय में अर्धस्फालक सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इनमें से वि० सं० १३६ में दिगम्बरों की उत्पत्ति हुई, जो मूलसंघ कहलाया।'

यापनीयों के संबंध में देवसेनसूरि के 'दर्शनसार' में लिखा है कि वि० सं० २०५ में कल्याण नगर में श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की।

अनुश्रुतियों की आलोचना—इन अनुश्रुतियों के पीछे आपस में छीटाकशी और दूषित मनोवृत्ति के सिवाय कुछ भी हो पर तीनों सम्प्रदायों की उत्पत्ति का समय प्रायः एक सा बैठता है, चाहे उसे वि० सं० १३६ कहें या ११८ २ ५ कहें कारण यह है कि सम्प्रदायों की उत्पत्ति की जो भी तिथियाँ बताई जाती हैं वे प्रायः बहुत सही नहीं होती। पर थोड़ा-बहुत जो तथ्य प्रतिफलित होता है, वह यह है कि अर्धफालक जो दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे की उत्पत्ति में कारण बने हैं। अर्धफालक का अस्तित्व मथुरा से प्राप्त पुरातत्त्व से मालूम होता है। वहाँ के कंकाली टीले से प्राप्त एक तोरण के ऊपर पर एक नग्न साधु चित्रित है जिसकी कलाई पर वस्त्रखण्ड लटका हुआ है। इस तोरण पर भगवान् के धर्मपरिवर्तन का दृश्य अंकित है और लेख पर कुषाण सं० ९५, (अर्थात् वि० सं० २१) लिखा है। इस तरह अर्धफालक सम्प्रदाय का विरल ही इन भेदक संघो के प्राय एक काल का बैठता है। यहाँ तीनो सम्प्रदायो की उत्पत्ति का घटनात्मक प्रायः पुरातत्त्व मालूम पड़ता है जिस क्षेत्र को लेकर इन अनुश्रुतियों का सृजन हुआ था।

श्वेताम्बर अनुश्रुति के शिवभूति के संबंध में हम इतना जानते हैं कि एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख 'कल्पसूत्र स्थविरावली' में आया है तथा 'आवश्यक सूत्र भाष्य' में शिवभूति को वीर निर्वाण के पश्चात् ६०९ वर्ष में बोटिक मत का संस्थापक कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'भाव पाहुड' में कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने 'हरिवंशपुराण' में लोहार्य के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्बलि पद को धारण किया था। इन्द्रनन्दि ने अर्हद्बलि से नन्दि देव सिंह और सेन संघो की उत्पत्ति बतलाई है। मुनि आचार की एक प्राचीन रचना 'भगवती आराधना' है, जिसके कर्त्ता शिवार्य हैं, जिनका समय विक्रम की प्रारंभिक शताब्दियों का है। यह ग्रंथ यापनीय सम्प्रदाय का बताया जाता है। हो सकता है उक्त अनुश्रुति इन्हीं को लक्ष्य कर विकृत रूप में गढ़ी गई हो।

अस्तु स्थिति जो भी हो पर हमारी समझ में आता है कि ये भेद आकस्मिक नहीं हैं। वे जैन धर्म की [illegible] से ही चले आते हैं। यहाँ हम उन कारणों की ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यालोचना करना चाहते हैं।

संघ भेद का ऐतिहासिक विकास —

पालि भाषा के बौद्ध पिटकों से जो कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में सिंहल नृप वट्टगामिनी के काल में लेखबद्ध हो [illegible] रूप पा चुके थे जैन धर्म की अनेक बातों का स्पष्ट रूप से या इंगित रूप से विकृत रूप में तथा कहीं अविकृत रूप में परिचय मिलता है। तथाकथित इस जैनधर्म को विद्वान् लोग बुद्ध एवं महावीर के समय का या उनसे पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ का धर्म बताते हैं। अनेक प्रसंगों में उन ग्रन्थों में 'निगण्ठो नातपुत्तो' तथा 'निगण्ठा एक साटका' एवं 'अचेलक' जैसे शब्द महावीर या जैन धर्म के अनुयायियों के विषय में आते हैं। इन शब्दों का अर्थ श्वेताम्बर आगम के अभ्यासियों को समझना कठिन नहीं है। उक्त साहित्य के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं अंतिम तीर्थंकर महावीर ने अचेलक (वस्त्ररहित) धर्म का उपदेश दिया था और शेष २२ तीर्थंकरों ने सचेल एवं अचेल दोनों धर्मों का। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के केशी गौतम संवाद से प्रकट होता है कि महावीर के समय में पार्श्वापत्यिक परम्परा के केशी सचेल थे और महावीर ने अचेलक धर्म का प्रतिपादन किया (जो अचेलए धम्मे पण्णत्ते) था। उससे विदित होता है कि जैन धर्म में सचेलत्व एवं अचेलत्व दोनों विद्यमान थे यद्यपि भ० महावीर ने अचेलत्व का प्रतिपादन किया था।

दोनों सम्प्रदायों में महावीर के समय से जम्बू तक जो कि महावीर के निर्वाण पश्चात् ६४ वें वर्ष माने हैं पूर्व ४ १ में निर्वाण को प्राप्त हुए थे के गुरुओं की वंशावली एक सी स्वीकार की गई है। जम्बू के पश्चात् दोनो पक्ष अपने अपने गुरुओं की भिन्न भिन्न वंशावलियाँ देते हैं परन्तु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय (ई० पू० ३२१-२९८) में हुए भद्रबाहु को दोनों स्वीकार करते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने भद्रबाहु के विषय में 'परिशिष्ट पर्व' में लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब १२ वर्षीय दुर्भिक्ष

पड़ा तो वे नेपाल की ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष हटा तो पाटलिपुत्र में १२ अंगों का संकलन करने का आयोजन हुआ पर भद्रबाहु उसमें सम्मिलित न हुए। फलतः भद्रबाहु और मगध संघ के साथ खींचातानी हो गई।

इसके बाद श्वेताम्बर ग्रंथों में गुरुओं की पट्टावलि भद्रबाहु के नाम से प्रारम्भ न कर उनके समकालीन स्थविर संभूति विजय से शुरू करते हैं और दिगम्बर भद्रबाहु से। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जम्बू स्वामी और भद्रबाहु के बीच संक्रान्ति काल में महावीर के समय की सचेलकत्व एवं अचेलकत्व की भावना पुनः अंकुरित होने लगी थी और जब उनका वर्णन थोड़े बहुत रूप में आगमों में संकलित होने लगा तो एक वर्ग ने असहमति दिखायी (पीछे तो देश काल की परिस्थिति ने इन भावनाओं को और बढ़ाया। भद्रबाहु के बाद दिग. मान्यता के अनुसार जैनधर्म दक्षिण देश में चला गया और पाटलिपुत्र में संकलित आगम इस परम्परा को मान्य नहीं है। तथा भद्रबाहु के बाद आगम ज्ञान लुप्त हो गया।

उत्तर भारत में जैनधर्म मगध से धीरे-धीरे हटकर पूर्व में बंगाल और उड़ीसा की ओर गया तथा मध्य देश में मथुरा के पास आ कुछ समय वहीं केन्द्रित हुआ और पीछे उसने पश्चिम भारत में अपने केन्द्र बना लिए। शक क्षत्रप काल और कुषाण काल में मथुरा के आस पास जैनधर्म के वैभव को सूचित करने वाले अनेक प्रकार के शिल्प मिले हैं। वहाँ से प्राप्त अनेक मूर्ति लेखों से मालूम होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व से चौथी शताब्दी तक जैन संघ कई कुल गण शाखाओं एवं संभोगों में विभक्त था जिनकी पहचान 'कल्पसूत्र स्थविरावलि' में वर्णित कुल गण एवं शाखाओं के कुछ नामों से की गई है। 'कल्पसूत्र स्थविरावलि' में उन गणों की संख्या ८ बताई गई है। वे गण शाखाओं और कुलों में विभक्त थे। प्रत्येक गण की पृथक्-पृथक् चार शाखाएँ थीं और कुलों की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक छ तक पहुँच गई थी। मथुरा के लेखों में ऐसे ४ गणों ८ शाखाओं तथा १४ कुलों की पहचान की जा सकी है। इन लेखों में तीन संभोगों का उल्लेख भी है जिनका नाम 'कल्पसूत्र स्थविरावलि' में नहीं मिलता। गण का अर्थ बड़ी ईकाई था जिसका प्रबन्ध वे आचार्य करते थे जो कि अत्यन्त प्रज्ञावान सत्यवान मेधावी स्मृतिवान बहुश्रुत एवं-समभाववाले होते थे। गणों का नाम प्रायः आचार्य के नाम से होता था। कुल आचार्य के शिष्यों के क्रम से चले थे और शाखाएँ कुलों का प्रभेद थीं। संभोग का अर्थ एक साथ समाचारी करने वाले एवं एक साथ भोजन करने वाले साधुवर्ग से था। मथुरा से प्राप्त लेखों से मालूम होता है कि कुल और शाखा स्थान-विशेष के नाम या व्यक्ति विशेष के नाम से चले थे। गण की भेदक कुछ और ईकाइयों का नाम भी मिलता है जैसे गच्छ (गाच्छ के मूल अर्थ में) जो कि गण का नामान्तर प्रतीत होता है। गुल्म (गुल्म=छोटा वृक्ष) यह गच्छ का एक भेद था और स्पर्धक (स्पर्धक ?) गच्छ का अन्तर भेद था। मथुरा के लेखों में ऐसे केवल एक उक्त गच्छ का उल्लेख मिलता है। उन लेखों में कई वाचक और महावाचक पदधारी आचार्यों का नाम मिलता है, जो कि आगमों के वाचने वाले रहे होंगे। इस प्रकार का उल्लेख हमें गुप्त सम्राट कुमारगुप्त (सन ४३४ ई.) के समय तक के मिले हैं। इसके बाद मध्य देश में हमें इस परम्परा का कोई पता नहीं लगता।

यह परम्परा किस सम्प्रदाय की थी, यह कहना कठिन है। क्योंकि मथुरा के बाद पश्चिम भारत में तो ऐसी परम्परा का कदाचित् ही अस्तित्व मिला हो। दक्षिण भारत में तो इसका नाम भी नहीं। फिर भी मथुरा के शिल्प प्राचीन काल में अवश्य ही श्वेताम्बर, दिग. के बीच की कड़ी थे। वहाँ से कुछ ऐसे तथ्य भी मिले हैं जो बताते हैं कि दोनों सम्प्रदायों में अनेक वस्तुएँ एक थीं। वहाँ की मूर्तियों में जैन तीर्थंकरों को नग्न बनाया गया है और लेखों में प्रायः कल्पसूत्र 'स्थविरावलि' में मिलने वाले गण कुल शाखाओं में से अधिकांश के नाम अंकित हैं। अर्धफालक सम्प्रदाय के साधुओं का चित्रण भी किया है। मूर्ति लेखों में कुषाण सं. ५२ और ५४ के दो लेख बड़े महत्त्व के हैं। इसमें वाचक नागहस्ति और मंगुनन्दि का उल्लेख मिलता है। 'नन्दिसूत्रपट्टावलि' में इनका समय वीर निर्वाण सं. ६२०—६८९ दिया गया है जिससे मालूम होता है कि वे लेख उनके समकाल के हैं। दिगम्बर परम्परा मान्य धवलादि ग्रन्थों में उन्हें 'कषायप्राभृत' के कर्ता गुणधर के शिष्य एवं यतिवृषभ के गुरु माना गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि भद्रबाहु के बाद मध्य देश में जैन संघ ने ईसा के पूर्व एवं बाद की शताब्दियों में शाखा-प्रशाखाओं द्वारा अपना एक अच्छा संगठन कर लिया था। उसकी एक आगम परम्परा चल रही थी भले ही वह एक अंग रूप में बची रही हो या सुव्यवस्थित न रही हो और उसकी मान्यता में सभी संघ को विवाद रहा हो।

मध्य देश का कुषाण राजाओं के बाद गुप्त राजाओं के उदय होने के पहले एक-डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है। इस समय जैन संघ की स्थिति का पता भी ठीक से नहीं चलता।

इन्हीं शताब्दियों के लगभग पश्चिम एवं दक्षिण भारत में उपलब्ध आगम ज्ञान को ग्रंथबद्ध कर धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त भूतबलि ने एवं गुणधर आदि ने सिद्धान्त-ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ किये। इसी समय के लगभग शिवार्य कुन्दकुन्द वट्टकेर आदि ने अपने-अपने सम्प्रदाय के लिए मुनि धर्म का वर्णन करने वाले ग्रन्थ लिखे। इस आधार से दिगम्बर-श्वेताम्बर या यापनीयत्व की भावनाएँ कुछ-कुछ प्रस्फुटित होने लगी। इन्हीं भावनाओं की प्रतिध्वनि स्वरूप इन शताब्दियों में विविध संघभेदों की स्थापना की कहानियाँ भी गढ़ी गईं।

पश्चिम भारत के नये वातावरण एवं नये राज्याश्रय में जैन संघ ने भी अपना नया रूप धारण किया मथुरा के लेखों में मिलने वाली गण एवं कुलों की परम्परा यहाँ समाप्त हो गई। दक्षिण भारत में यद्यपि उक्त परम्परा के कोई चिह्न नहीं मिलते पर उस क्षेत्र के पाँचवीं शताब्दी के कदम्ब एवं गंगवंशी लेखों से विभाजक जैन संघ के भेद सूचन करने वाले श्वेताम्बर महाश्रमण संघ निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ यापनीय संघ और कूर्चक संघ के नाम मालूम होते हैं। इनमें से एक निर्ग्रन्थ को छोड़ शेष नाम उस काल के लिए नये प्रतीत होते हैं। इनमें श्वेतपट महाश्रमणसंघ से श्वेताम्बर मुनिसंघ का अभिप्राय है, निर्ग्रन्थ से अचेलक निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर साधु संघ से मतलब है, और यापनीय संघ से अभिप्राय उस संघ के साधुओं से है, जो दिगम्बरों के समान नग्न रहते थे पाणिपात्र भोजी थे पर इनमें भी वस्त्र को अपवाद रूप से ग्रहण करने की आज्ञा थी। इस वर्ग के मुनियों की आचार-विचार परम्परा का ग्रन्थ शिवार्य विरचित 'भगवती आराधना' है।

इसी तरह कूर्चक सम्प्रदाय ईसा की पाँचवीं या उसके पहले जैन साधुओं का एक वर्ग था जो दाढ़ी मूंछ रखता था। 'वरांगचरित' (जैन काव्य) के रचयिता जटाचार्य सिंहनन्दि सम्भव है, अपने 'जटा प्रलम्बवृत्त्य' के कारण इसे वर्ग के साधुओं में से थे। यह दिगम्बर सम्प्रदाय का ही एक भेद था।

चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक इन नवगठित संघ भेदों के अवान्तर भेदों का उल्लेख या परिचय तत्कालीन साहित्य एवं लेखों से नहीं मिलता। दक्षिण भारत में मुनिधर्म का वर्णन करने वाले शिवार्य की 'भगवती आराधना' वट्टकेर के 'मूलाचार' एवं कुन्दकुन्द के कुछ ग्रन्थों में जैन मुनियों के दैनन्दिन आवश्यक आचारों का वर्णन है। उनमें जैन संघ के अवान्तर भेद संघ गण गच्छ बलि आदि का जिनका कि नाम हम पीछे पाँचवीं शताब्दी या उसके बाद के शिलालेखों में देखते हैं परिचय तो दूर रहा उल्लेख भी नहीं मिलता। 'मूलाचार' में एक जगह गण गच्छ एवं कुछ शब्दों की परिभाषा अवश्य दी गई है परन्तु आचार्य वट्टकेर ने गण आदि के निर्माण के प्रति बड़ा क्षोभ प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है कि —

'वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणम्।
विवाहे राग-उप्पत्ती गणो दोसानमागरो॥

अर्थात् 'गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है। विवाह से राग की उत्पत्ति होती है, पर गण तो अनेक दोषों की खानि है।'[1] सम्भव है दक्षिणी भारत में इसीलिए बहुत काल तक शायद भद्रबाहु के बाद किसी संघ गण गच्छ का निर्माण न हो सका हो। इसलिए दक्षिणी जैनधर्म की मान्यता में महावीर के बाद की गुरुपरम्परा में वीर नि० सं० ६८३ अर्थात् लोहाचार्य तक एक-एक ही आचार्य शिष्य परम्परा से चले आये हैं और न उनकी किन्हीं शाखा-प्रशाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता। बाद के संघ एवं गणादि की उत्पत्ति में भी उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों को नहीं लपेटा। इस कथन के प्रमाण स्वरूप हम 'तिलोयपण्णत्ति' पुन्नाट संघीय जिनसेन के 'हरिवंश पुराण' (६६वें सर्ग) में वर्णित महावीर से लेकर लोहाचार्य तक की गुरुपरम्परा एवं इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' में दी गई आचार्य परम्परा को देख सकते हैं।

इसके बाद चार आरातीय मुनि होते हैं जो अंग पूर्व के एक देश ज्ञाता थे। इनमें से ही तृतीय या चतुर्थ आचार्य शिवगुप्त या अर्हद्बलि से नवीन मुनिसंघ एवं गणों की उत्पत्ति कही गई है। इस तरह विक्रम की तीसरी शताब्दी का उत्तरार्ध संघों एवं गणों की उत्पत्ति का समय बैठता है। पर उनका शिलालेखीय उल्लेख पाँचवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलता। इसके पहले समग्र जैन संघ का नाम निर्ग्रन्थ संघ था और वह चौथी-पाँचवीं शताब्दी के करीब तक चलता रहा। दरम्य

1—इनसे की पंक्ति नहीं होती और साधु समाज बनाकर नहीं चलते। इस उक्ति के पीछे भी शायद यही भाव है।

नरेश मृगेशवर्मा के एक ताम्रपत्र (सन् ४७ ई) में इस भेद का प्रथम उल्लेख श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महा श्रमण संघ के रूप में किया गया है। इसी नरेश के एक दूसरे लेख में यापनीय और कूर्चक के साथ निर्ग्रंथ संघ का उल्लेख है।

आगे के संघ भेदों को समझनेके लिए यहाँ हम संक्षेप में पीछे तथा मध्य की परिस्थितियों का विहगमावलोकन कर लेते हैं। महावीर के निर्वाण के बाद करीब ७ वर्षों में हमने समस्त जैन संघ को विकासशील पाया। वह देश-काल एवं मानवीय प्रवृत्तियों का आश्रय ले विकसित होता रहा और ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों में कतिपय भेदों में प्रस्फुटित होने लगा। इसके बाद उस नये देश नये वातावरण नये राज्याश्रय और नये समाज में परिस्थितिवश अपनी व्यवस्था करनी पड़ी जिन व्यवस्थाओं के नाम पर उसमें आवश्यक परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया। जैन मुनि का आदर्श जो महावीर के युग में था वह ७ वर्ष बाद पर्याप्त बदल गया था। तिल-तुष परिग्रह न रखने वाला निर्ग्रन्थ साधु जमाने की चपेट में आ अपवाद मार्ग का अवलम्बन ले, धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था देखने के नाम पर प्रवृत्तिमार्गी होने लगा था। उसने नवीन राज्याश्रय पा नये संघों एवं गच्छों की स्थापना की तथा उनकी प्रेरणा से नवीन मठ एवं मंदिरों का निर्माण हुआ। नई-नई आचार्य परम्पराएँ कायम हुई जिनमें कुछ तो स्थानीय और कुछ व्यापक रूप धारण करने लगीं। यह प्रक्रिया श्वेताम्बर-दिगम्बर एवं यापनीय तीनों सम्प्रदायों में एकसी दिखती है। शिथिलाचार की प्रवृत्ति के कारण वनों और वनको में रहने वाले साधु मन्दिरों और मठों में रहने लगे पूजा और आरती करने लग तथा जिनमन्दिर और धर्मशालाएँ बनवाने लग। इस प्रकार की प्रवृत्ति वालों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 'चैत्यवासी' कहा गया है। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी ग्रन्थ में इस प्रवृत्ति वालो का चैत्यवासी नाम से उल्लेख नहीं मिलता फिर भी उनके क्रिया-कलापों से कतिपय गणों एवं संघों के नाम पर से उन्हें पहचान सकते हैं। यह नई व्यवस्था का काल लगभग ७ वर्षों के चलता रहा और ९ वी तथा १ वी शताब्दी के करीब इस नई प्रवृत्ति वाले बहुत प्रबल हो गये और एक प्रकार से कठोर मार्ग का अनुसरण करने वाले साधुओं की निन्दा करने लगे।

उस नई व्यवस्था के काल में भी निवृत्तिमार्गी परम्परानुयायी साधकों का बड़ा समाज था जो विज्ञापनहीन जनजीवन से परे, अपनी आत्म आराधना में लगा रहता था और अपने सहधर्मियोंकी इस प्रवृत्ति का समय-समय पर तीव्र विरोध करता था। देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' में ऐसे संघों को जैनाभास कहा है तथा आशाधर कवि ने इस प्रकार की प्रवृत्ति वालों मिथ्यात्वी कहा है। इस तरह एक ओर शिथिलाचार और दूसरी ओर परम्परानुसारी कठोर मार्ग के कारण अवान्तर-संघ भेद होने लगे। प्रारम्भ में नग्नता और सवस्त्रता को लेकर श्वेताम्बर या दिगम्बर का झगड़ा मुनियों तक सीमित था किन्तु बाद उसे श्रावकवर्ग की क्रियापद्धति में शामिल कर श्रावकों में भी झगड़े के बीज बो दिये गये। जिसका फल यह हुआ कि तीर्थों एवं मंदिरों के नाम पर श्रावक वर्ग झगड़ने लग और धीरे-धीरे अवान्तर पन्थ उत्पन्न होते गये। प्रस्तुत निबन्ध में हम केवल दिगम्बर संघ का परिचय कराते हैं।

दिगम्बर संघ—

प्रारम्भ में समग्र जैन संघ का नाम निर्ग्रन्थ संघ था पर पीछे संघभेद के कारण जब एक संघ ने 'श्वेत पट' या श्वेताम्बर नाम रख लिया तो दूसरे ने दोनों के बीच की कड़ी होने के कारण 'यापनीय' रखा। पर दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों का नाम प्रारम्भ से निर्ग्रंथ महाश्रमण संघ या निर्ग्रंथ ही रहा।

दक्षिण भारत में या पूर्व एवं पश्चिम भारत में जब जैन संघ पहुँचा तो उसके स्थान विशेष या देश विशेष के कारण कोई संघभेद न थे। यद्यपि मान्यताओं के कारण पाछे में पृथक नाम होने लगे। पर प्रत्येक संघ अपनी इकाई बनाए हुए था। निग्रन्थ सम्प्रदाय (दिगम्बर)के भीतर पीछे शिथिलाचार की प्रवृत्ति देख विशुद्धतावादियों का एक आन्दोलन चला जिसमें यद्यपि निश्चय-व्यवहार से पदार्थों का निरूपण तो किया पर आचार के क्षेत्र में परम निर्ग्रन्थता का ही प्रतिपादन किया और परम-निर्ग्रन्थता (दिगम्बरत्व) के प्रतिपादन में ठीक न बैठने वाली अनेक भावनाओं को चुन-चुन कर पृथक किया। ऐसे लोगों ने अपना नाम परम निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर की परंपरा का सीधामूल का अनुयायी होने के कारण 'मूलसंघ' घोषित किया जिसका अर्थ होता था कि दूसरे संघ अमूल हैं महावीर से पन्थ का मूल उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है।

मूलसंघ की स्थापना कब हुई यह कहना कठिन है। पीछे के ग्रन्थों और शिलालेखों में मूल संघके अपनी आम्नाय के रूप

में कुन्दकुन्दाचार्य को स्मरण किया जाता है। इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी से पाँचवी के बीच का माना जाता है। मूलसंघ का उल्लेख शिलालेखों में पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मिलता है। दिग सघ में मूलसंघ के अनुकरण पर पीछे द्राविड़संघ एवं काष्ठासंघ की स्थापना हुई। इन सब का वर्णन पीछे क्रमश: किया गया है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से इन संघों में कोई भेद नहीं है, पर भेद प्रवृत्ति के नाम पर बाह्याचार में थोड़ा बहुत अन्तर तो हो ही गया और ईसा की आठवीं शताब्दी के बाद से ये संघ एक दूसरे को बड़ी घृणा एवं द्वेष दृष्टि से देखने लगे। भट्टारक युग में तो एक दूसरे के वास्ते में कीचड़ उछालने में भी संकोच नहीं किया। अस्तु जो हो पर आज के दिगम्बर सघ या सम्प्रदाय के निर्माण में इन तीनों का बड़ा योग दान है। इतना ही नहीं दक्षिण भारत में बसने वाली जैन और जैनेतर प्रवृत्तियों से भी दिगम्बर संघ बहुत प्रभावित हुआ है। उसके पड़ोसी यापनीय संघ की तो अनेक बातें इस संघ में आ गई और उनके अनेक साहित्यिक ग्रंथों को अक्षरशः स्वीकार कर लिया गया है। इन ग्रंथों की पहचान आज समालोचकों ने प्राय: कर ली है। आज का दिगम्बर समाज यथार्थ में यदि देखा जाय तो वास्तविक रूप में यापनीय तथा निर्ग्रंथ सम्प्रदाय के अन्य संघों का ही विकसित रूप है। इसलिए यहाँ हम दिग एवं यापनीय संघ के ऐसे कुछ भेदों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

मूल संघ —

मूल संघ की स्थापना का उल्लेख किसी प्राचीन ग्रन्थ एवं लेख में नहीं मिलता हाँ उसके अवान्तर गणों एवं गच्छों का परिचय ११ वी शताब्दी के आचार्य इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' में कुछ प्राचीन परम्परा का आधार बनाकर किया गया है। तदनुसार पुण्ड्रवर्धनपुर (बोगरा जिला बंगाल) में अर्हद्बलि (वि सं २७५ के लगभग) नाम के आचार्य हो गए हैं। वे पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन में बसने वाले मुनियों को एकत्र करके युग प्रतिक्रमण किया करते थे। एक बार ऐसे ही युगप्रतिक्रमण के समय उन्होंने मुनियों से पूछा कि क्या सब मुनि आ गये तब उन्होंने उत्तर दिया हाँ भगवन्! हम सब अपने अपने सघ सहित आ गये। यह सुन आचार्य ने विचार किया कि अब यह जैन धर्म गण पक्षपात के सहारे ठहर सकेगा उदासीन भाव से नहीं। तब उन्होंने संघ या गण स्थापित किये। उन्होंने स्थान विशेष के आधार पर ये गण बनाये तथा गुफाओं से आने वालों को 'नंदि' या 'वीर' संज्ञा दी अशोकवाटिका से आने वालों को 'देव' या 'अपराजित' कहा पंचस्तूप से आये हुओं को 'सेन' या 'भद्र' कहा और शाल्मलि एवं खण्ड-केसर वृक्षों के पास से आने वालों को 'सिंह' 'भद्र' नाम दिया।

इन गणभेदों के पीछे ऐतिहासिक तथ्य जो भी हो पर इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि परम्परा के ज्ञापक गुरुओं के अभाव से हम ठीक ठीक नहीं कह सकते कि इन भेदों की उत्पत्ति कैसे हुई है। तो भी उक्त कथन एवं कुछ उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के आधार से हम कह सकते हैं कि नन्दिसंघ या गण बहुत प्राचीन है। इस संघ की एक प्राकृत पट्टावली मिली है। नन्दिसंघ यापनीय और द्राविड़संघ में भी पाया जाता है। संभव है कि प्रारंभ में नन्द्यन्त नामधारी मुनियों के के नाम पर इसका संगठन किया गया हो। मूलसंघ के साथ इसका सम्बन्ध यापनीय एवं द्राविड संघ के बाद १२ वी शताब्दी के लेखों में पाते हैं। पर १४-१५ वी शताब्दी में नन्दि एव मूलसंघ एक दूसरे के पर्यायवाची बन जाते हैं। सेन गण की उत्पत्ति प्रारम्भ में गुफावासी मुनियों से कही गई है जिससे प्रतीत होता है कि इस संघ के मुनिगण कठोर तपस्या प्रधान निलिप्त वनवासी थे पीछे तो युगधर्म के अनुसार वे बहुत बदल गये। देव सघ का संगठन देवान्त नामधारी मुनियों पर से हुआ था पीछे इसका प्रतिनिधि देशी गण उपलब्ध होता है। सेन सघ का नाम भी सेनान्त मुनियों से हुआ है और इसके प्रतिष्ठापक 'आदिपुराण' के कर्त्ता जिनसेन भट्टारक माने जाते हैं। पर इन्होंने अपने गुरु वीरसेन को पंचस्तूपान्वय का लिखा है। इस अन्वय का उल्लेख पाँचवी शताब्दी के पहाड़पुर (बंगाल) के लेखों में मिलता है। मथुरा के पंचस्तूपों का वर्णन हरिषेण कथाकोष में आया है। लगता है यह बहुत प्राचीन मुनिसंघ था। सेनगण का पीछे बड़ा नाम हुआ और प्राय सभी भट्टारक सेनगण के ही हुए हैं। इसके मठ कोल्हापुर (महाराष्ट्र) जिनकांची (मद्रास) पेनुगोंडा (आन्ध्र) और कारंजा (विदर्भ) में हैं। सेनान्वय बड़ा प्रभावशाली रहा है। डा ज्योतिप्रसाद जैन का अनुमान है कि बंगाल के सेनवंशी राजवंश का उद्भव इसी सेनगणानुयायी किसी पुरुष से हुआ है। सिंहगण का नाम भी सम्भव है, सिंहान्त मुनियों के नाम से हुआ

हो। पर ये गण अपने प्रतिनिधि क्राणूरगण के नाम से मूलसंघ के ११ वीं से १४ वीं शताब्दी तक के लेखों में विशेष रूप से मिलता है।

मालूम होता है कि मूलसंघ के पुनर्गठन काल में ९-१० वीं शताब्दी के लगभग इन सभी गणों को मूलसंघ के एक छत्र के नीचे एकत्रित किया गया हो या मूलसंघ के किसी एक गण विशेष के अन्तर्गत बढ़ते हुए प्रभाव के कारण शेष गणों ने भी मूलसंघ की छाप अपने ऊपर लगा ली हो।

इस संघ में स्थान विशेष के नामों से स्थापित कई अन्वय बलि गण एवं गच्छ आदि शाखायें थीं जिनके कुछ नाम ये हैं —

अन्वय—कोण्डकुन्दान्वय श्रीपुरान्वय 'कित्तूरान्वय' चन्द्रकवाटान्वय चित्रकूटान्वय आदि।

बलि—इनसोगे या पनसोगे इंगुलेश्वर एवं मानव बलि आदि।

गच्छ—चित्रकूट होत्तगे तगरिल होगरि पारिजात मेषपाषाण तिंत्रिणीक सरस्वती पुस्तक वक्रगच्छ आदि।

संघ—नविलूरसंघ मयूरसंघ किट्टूरसंघ कोल्लत्तूरसंघ गनवर संघ गौडसंघ श्रीसंघ सिंहसंघ परलूरसंघ आदि।

गण—बलात्कार, सूरस्थ काणूर उदार, योगरिय पुन्नागवृक्ष मूलगण पंगुर, आदि।

संघ के ये भेद प्रभेद विशेषकर कर्नाटक प्रान्त के स्थानों को लेकर हैं। इनमें बहुत कम ही उत्तर भारत के स्थानों से सम्बंधित हैं। इनमें गण तो संघ का विस्तृत भेद लगता है, गच्छ उसका प्रभेद है अन्वय का अर्थ उद्गम स्थान है बलि आध्यात्मिक परिवार या समुदाय कहलाता था। ये भेद प्रभेद दक्षिण के प्रायः सभी यापनीय एवं द्राविड़-संघों में दिखाई देते हैं।

मूलसंघ के गणों एवं अन्वयों में सबसे प्रभावशाली देसीगण था। यह देश नामक गाम में स्थापित एवं विकसित हुआ था। यह नाम दक्षिण भारत के कन्नड़ प्रान्त के उस हिस्से को कहते हैं जो पश्चिमी घाट के उच्च भूमिभाग (बाला घाट) और गोदावरी के बीच में है। वहां के ब्राह्मण अब भी देशस्थ कहलाते हैं। संभव है उस प्रान्त में रहने वाले साधु समुदाय को बाद में देसी कहा जाता हो और पीछे वही प्रमुख गण के रूप में परिणत हुआ हो। इस गण का उद्भव लगभग ९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था। इसका प्रमुख अन्वय कोण्डकुन्दान्वय था जो कि कोण्डकुण्डे नामक स्थान में स्थापित हुआ था। यह कोण्डकुण्डे आन्ध्र देश के अनन्तपुर जिले के गूटी तालुका में कोनकोण्डल ग्राम के नाम से पहचाना गया है जो कि एक समय प्राचीन जैन तीर्थ था। संभव है प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द यहीं हुए हों। उनका असली नाम क्या था ? वह नहीं सकते पर उनका नाम उनके जन्मस्थान के नाम से चला हुआ मालूम होता है। कुछ विद्वान् साहित्यिक आधारों से कहते हैं कि मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय पर्यायवाची हैं आचार्य कुन्दकुन्द ही मूलगण के प्रवर्तक हैं आदि। पर यह बात ११ वीं शताब्दी के पहले किसी लेख से सिद्ध नहीं होती। कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग ८–९वीं शताब्दी के लेखों से पहले नहीं मिलता। संभव है इसका प्रचलन कुछ पहले हुआ हो और ८–९वीं शताब्दी में इस स्थान के साधुओं ने कर्नाटक प्रान्त में या अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयत्न किए हों और पीछे देशस्थ साधुओं के सम्पर्क से उसमें सफल हुए हों। कोण्डकुन्दान्वय का कुछ प्रभाव द्राविड़ संघ पर भी पड़ा था ऐसा एक लेख से ज्ञात हुआ है। मूलसंघ देशीय एवं कोण्डकुन्दान्वय से संबंधित सैकड़ों लेख मिले हैं जिनमें इसकी शाखा प्रशाखाओं का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि कर्नाटक प्रान्त में इसका विस्तृत संगठन था और वह भी १०–११ वीं शताब्दी के लगभग से। दक्षिण भारत में देशीयगण के भट्टारक पीठ मूडबिद्रे, कारकल मलयखेड़गोल तथा हुम्मच स्थानों में पाये जाते हैं।

मूल संघ के अन्य प्रसिद्ध गणों में सूरस्थगण क्राणूरगण एवं बलात्कारगण के नाम मिलते हैं। इनमें बलात्कारगण भट्टारक युग में तो बड़ा प्रभावशाली हुआ। सूरस्थ गण सौराष्ट्र देश से निकला हुआ मालूम होता है। सूरस्थगण प्रारम्भ में सेन गण से संबंधित था। एक लेख में द्रविडान्वय से उसका सम्बन्ध बताया गया है। क्राणूरगण कण्डूरगण के नाम से यापनीयों में भी दिखाई पड़ता है। इसके दो गच्छ मेष पाषाण और तिन्त्रिणीक नाम से थे। इस गण के लेख ११वीं से १४ वीं शताब्दी तक विशेष मिलते हैं। १४ वीं शताब्दी के बाद क्राणूरगण का प्रभाव बलात्कार गण के प्रभावशाली भट्टारकों के आगे क्षीण हो गया। बलात्कारगण का प्रारंभिक नाम बलिहारी या बलगार था जो कि बलगार नामक स्थान विशेष के नाम से समय

है, पड़ा हो। यह गण प्रारंभ में यापनीयों के साथ था। पीछे विदर्भ और पश्चिम भारत में इसका बहुत बड़ा प्रभाव रहा। विजयनगर राज्य में इस गण के भट्टारकों का बड़ा प्रभाव था। इसके कुछ गच्छों का नाम सरस्वती गच्छ मदसारद गच्छ एवं चित्रकूटान्वय था।

मूल संघ के अनुयायी इस संघ को पवित्र जैन संघ कहते हैं और दूसरे संघों-द्राविड काष्ठा एवं यापनीय—को जैनाभास बतलाते हैं। पर यह उचित नहीं जँचता। जिस शिथिलाचार के कारण उन्होंने इन सभी को जैनाभास कहा है वह तो इस संघ के मुनियों में भी था। क्योंकि विक्रम की पाँचवीं-छठी सदी तक के ऐसे अनेक लेख मिले हैं जिनसे मालूम होता है कि वे भी मन्दिरों की मरम्मत आदि के निमित्त गाँव जमीन आदि का दान लेने लगे। फिर भी इस संघ के मुनियों ने अन्य संघों की अपेक्षा परम दिगम्बर की धारा बनाये रखने में बहुत प्रयत्न किया था। इस संघ में शुद्धाचारी और तपस्वी दिगम्बर मुनियों का अभाव न था। उनमें शुद्ध शास्त्रों का आधार पालने वाले और उनकी उपासना करने वाले भी अनेक साधु थे जिन्होंने समय-समय पर शिथिलाचारियों की भर्त्सना की है। पं आशाधरजी ने एक जगह ऐसे साधुओं की आलोचना करते हुए कहा है कि—द्रव्य जिनलिंग के धारी मठपति म्लेच्छों के समान लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण करते हैं। इनके साथ मन वचन और काय से सबंध नहीं रखना चाहिये।

द्राविड़ संघ—

द्राविड़ संघ जैसा कि उसके नाम से सूचित होता है प्रारम्भ में तामिल देश से संबंधित रहा होगा। लेखों में उसे द्राविड़, द्रविड द्रमिण द्रमिल दरमिल या तिवुल नाम से उल्लिखित किया गया है। नामगत ये भेद लेखक या उत्कीर्णक के कारण प्रतीत होते हैं। तामिल देश में जैनधर्म का प्रवेश ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में ही हो चुका था। इसमें दो धाराओं से जैनधर्म ने प्रवेश किया था। पहली तो आन्ध्रदेश से सिंहल द्वीप को गई थी और दूसरी भद्रबाहु के नेतृत्व में मैसूर होकर आई थी। तामिल देश में जैनधर्म के अनेकों केन्द्र थे। इस देश में रहने वाले सारे संघ का नाम देश पर से द्राविड़ संघ पड़ा। पर प्रारंभिक शताब्दियों में उसके भेद-प्रभेदों का पता नहीं चलता। ग्रन्थों और उनकी प्रशस्तियों से तो वहाँ के प्रभावशाली मुनियों का पता लगता ही है। आश्चर्य है कि तामिल देश के किसी लेख में द्राविड़ संघ या किसी अन्य संघ का उल्लेख नहीं मिलता। इस संघ के संबंध में देवसेन आचार्य (वि सं ९९) ने कहा है कि मथुरा में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि सं ५२६ में इसकी स्थापना की। यद्यपि इस बात का उल्लेख किसी अन्य प्रमाण से समर्थित नहीं है, फिर भी लगता है कि मूल-संघ की स्थापना काल के लगभग तामिल देश के मुनियों को भी अपने देश के संघ को किसी विशेष नाम से पुकारने की भावना उत्पन्न हुई होगी और मथुरा स्थान में वज्रनन्दि के नेतृत्व में यह काम हुआ होगा। ७ वीं शताब्दी के लगभग इसे शैव-धर्म से दुर्धर्ष संघर्ष करना पड़ा था। इसी समय यहाँ के जैनाचार्यों ने अपने धर्म को सर्वप्रिय बनाने के लिए आकर्षक यत्न किये। इन्होंने साधारण जनता पर प्रभाव डालने के लिए यक्षि-यक्षिणियों की पूजा-प्रतिष्ठा का आविष्कार किया और इस संघ के आचार्यों ने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना प्रारम्भ किया।

इस संघ की एक शाखा मैसूर राज्य में ८ वीं शताब्दी के लगभग आई। इसके पास एक स्थान मागूर है जिसकी एक शाखा मालनूर अन्वय सेनगण का उल्लेख श्रवणबेल्गोल से प्राप्त एक लेख (नं २५) में मिलता है, जो वि लगभग ८ वीं शताब्दी का है। १०—११ वीं शताब्दी में इस संघ के अनेक लेख मैसूर के अंग (सोसेर) नामक स्थान से मिले हैं, जो होय्सल नरेशों का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। इस स्थान के एक लेख में द्राविड संघ के साथ कोण्डकुन्दान्वय (सन् ९९ के लगभग) जुड़ा है तो दूसरे लेख (सन् १ ४ ६ ?) में मूलसंघ के साथ द्रविडान्वय जुड़ा है। पीछे ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अनेकों लेखों में इसे द्रविड गण के रूप में नन्दिसंघ इरुंगलान्वय या अरुंगलान्वय के साथ उल्लिखित पाते हैं। अरुंगलान्वय का अर्थ अरुंगल नामक स्थान से सम्बन्धित शाखा है जो कि तामिल देश के गुडियत्तम तालुका में एक प्राचीन जैन स्थान था। इन निर्देशों से यह अनुमान होता है कि मैसूर प्रान्त में अपना पुनर्गठन करने के लिए द्रविड़ संघ ने अपना आधार या तो मूलसंघ को या कुन्दकुन्दान्वय को बनाया होगा पर पीछे यापनीय सम्प्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघ में अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे विशेष सम्बन्ध रखा या द्राविडगण के रूप में उक्त संघ के अन्तर्गत हो गया। कुछ लेखों में नन्दिसंघ को इस गण के गण के रूप में भी लिखा है। देवसेन ने अपने दर्शनसार में इन्हें यापनीयों की भाँति ही जैनाभास कहा है जो सम्भव है, इस ओर ही संकेत करता है। उन्होंने आगे लिखा है कि 'द्रविड़ संघ ने श्रावक

वज्रनन्दि की मान्यता है कि बीजों में जीव नहीं है, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है सावद्य कुछ नहीं है। उसने कछार, खेत बसदि और वाणिज्य से जीविका निर्वाह करते हुए तथा शीतल जल से स्नान करते हुए प्रचुर पाप का संग्रह किया। यद्यपि ऐसा उल्लेख किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया। फिर भी लगता है कि आचार्य देवसेन के समय तक उक्त संघ के मुनियों में शिथिलाचार काफी आ गया था उस संघ के साधु बसदि या जैन मन्दिरों में रहने लग थे और उन मन्दिरो के लिए मिली हुई जमीन में खेती आदि कराते थे। अनेक लेखो से यह बात स्पष्ट है।

इस संघ के अनेक लेख कोंगाल्वबंशी शान्तरवंशी तथा होय्सलवंशी राजाओ के राज्यकाल के हैं। जिससे ज्ञात होता है कि उन वंशों के नरेशो का इस संघ को संरक्षण प्राप्त था। इन लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि इस संघ के आचार्यों ने पद्मावती की पूजा एवं प्रतिष्ठा के प्रसार में बड़ा योग दिया है। इन लेखों में यह भी दिखाया है कि शान्तर और होय्सल वंशों के प्रतिष्ठापक राजाओं ने राज्यसत्ता पाने में पद्मावती के चमत्कार या प्रभाव की सहायता ली थी। होय्सलो के उत्पत्ति स्थान अंगडि से इस संघ के प्राचीन लेखों की प्राप्ति से हम अनुमान करते हैं कि इस संघ के आचार्यों ने उक्त प्रदेशों में पहुँच जैन-धर्म के संरक्षक होय्सल नरेशों को ऊपर उठाने में अवश्य सहायता की होगी अथवा प्रगतिशील दोनों ने राज्य एवं धर्म मे—एक दूसरे को बढ़ाने में मदद दी होगी। होय्सल वंश के अनेको नरेश एवं सेनापति इस संघ के भक्त थे हालाँकि उन्होंने दूसरे जैन संघों के प्रति भी भक्ति एवं आदर प्रदर्शित किया है।

इस संघ में अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् हो गए हैं। न्यायविनिश्चयविवरण पार्श्वनाथ चरित आदि प्रसिद्ध ग्रन्थो के कर्ता वादिराज इसी संघ के थे ।

कर्नाटक प्रान्त में जाकर पुनर्गठन कार्य में इस संघ के लोग प्राय श्वेताम्बर चैत्यवासियों के समान शिथिलाचारी हो गए थे। उनके इस संगठन पर शंकराचार्य आदि का असर पड़ा होगा और उनके अनुकरण पर उन्होंने पीठ स्थापित कर जैनधर्म की रक्षा का उपाय सोचा होगा। हमारे भट्टारको की गद्दियां इन्ही की प्रतिनिधि हैं। हालाँकि पीछे की शताब्दियो में इस संघ से इनकी गद्दियाँ नहीं चली।

काष्ठासंघ —

यह संघ भी स्थान विशेष के नाम से बना है। यद्यपि इस स्थान की ऐतिहासिकता पर कोई प्राचीन प्रमाण नहीं मिलते फिर भी विद्वानों का अनुमान है कि यह स्थान या तो मथुरा के पास जमुना तट पर स्थित काष्ठाग्राम है या दिल्ली के उत्तर में जमुना के किनारे स्थित काष्ठाग्राम (जो १२ वी शताब्दी में टक्क देश की राजधानी थी) है जिससे संघ का यह नाम पड़ा हो। पर बड़ा आश्चर्य है कि वहा से कोई लेख आदि नहीं मिले। इस संघ का मथुरा या उससे पश्चिम भारत में विशेष प्रभाव था। प्रारम्भ में कर्नाटक या महाराष्ट्र में इसके कोई केन्द्र न थे।

इसकी स्थापना के सम्बन्ध में भी विवाद है। 'दर्शनसार' के कर्ता देवसेन सूरि (वि सं ९९) न लिखा है कि स ७५३ में नन्दितट ग्राम में विनय सेन के शिष्य कुमार सेन ने इसकी स्थापना की और इस संघ की एक शाखा माथुर-संघ की स्थापना स ९५३ में रामसेन ने मथुरा में की। पर यह कथन कालक्रम आदि अनेक दृष्टियों से ठीक नहीं बैठता। १७ वीं शताब्दी के एक ग्रन्थ 'वचनकोश' में इस संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि उमास्वामी के पदाधिकारी लोहाचार्य ने उत्तर भारत के अगरोहा नगर में की थी। मालूम होता है कि इन दोनो कथन करने वाला को इतिहास या कालक्रम का ज्ञान न था और किंवदन्तियो के आधार पर मनगढन्त बात लिख दी।

इस संघ का सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख दूबकुण्ड से प्राप्त सं ११५ के एक भग्न लेख में मिलता है। चौदहवीं शताब्दी के बाद इस संघ की अनेक परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। इसके मुख्य भेद चार कहे जाते हैं—माथुरगच्छ बागड़गच्छ लाटबागड़गच्छ एवं नन्दितटगच्छ। पर १२ वी शताब्दी तक माथुर, बागड तथा लाटबागड इन परम्पराओं के जो उल्लेख मिलते हैं उनमें इन्हें स्वतन्त्र संघ की संज्ञा दी गयी है तथा काष्ठासंघ के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। सम्भवत तीनो तीन देश के स्वतन्त्र संघ रहे होंगे। प्रारम्भ में माथुरगच्छ मथुरा से जो कि जैन-धर्म का प्राचीन केन्द्र था बागड़गच्छ बागड (पूर्व गुजरात सागवाडे के आसपास) से और लाट (दक्षिण गुजरात) तथा बागड़ से लाटबागड़ गच्छ निकले मालूम होते हैं। लाट और बागड बहुत समय तक एक ही राजवंश के अधीन थे। लाट और बागड़ के आसपास का प्रान्त मथुरा के बाद पश्चिम भारत में जैनाचार्यों का प्रमुख केन्द्र था। चित्तौड़ (चित्रकूट) में तो मूल संघ का एक अच्छा

मिलता था। धरसेनाचार्य यहीं की गुफाओं में रहते थे। धवला टीकाकार वीरसेन ने चित्तौड़ आकर एलाचार्य से सिद्धान्त-ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया था। काष्टासंघ में अनेक आचार्य कर्नाटक प्रदेश से आकर रहते थे। पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन (सन् ७८३) में उक्त देश के वढवान नामक स्थान में रहकर 'हरिवंश पुराण' की रचना की थी। सम्भव है इन्ही मुनियों ने काठियावाड़-गुजरात में रहकर पीछे १०—११ वी शताब्दी में काष्टासंघ संघ की स्थापना की हो। पीछे भट्टारक युग में काष्ठासंघ के पुनर्गठन काल में तीनो संघों का एकीकरण कर एक बृहत् काष्ठासंघ की स्थापना की गयी होगी। १४ वी शताब्दी से काष्ठासंघ के नवीन गच्छ नन्दीतट का उल्लेख मिलता है जो महाराष्ट्र प्रदेश के नान्देडग्राम में स्थापित हुआ था। 'दर्शनसार' के उल्लेखानुसार काष्ठासंघ की स्थापना का स्थान यही है। इस गच्छ का दूसरा नाम विद्यागण है, जो सम्भव है बलात्कारगण के सरस्वतीगच्छ के अनुकरण पर बना था। इस गच्छ का नाम रामसेनगच्छ भी है। कहा जाता है कि नरसिंहपुरा जाति की स्थापना रामसेन ने की थी।

काष्ठासंघ के इस प्रकार के क्रमिक विकास को देखते हुए लगता है कि नन्दीतट गच्छ के काल में काष्ठासंघ का पुनर्गठन कर उसमें चारो गच्छो की व्यवस्था की गई होगी। । इस संगठन का मुख्य कारण उत्तर भारत की बदलती हुई राजनीतिक अवस्था थी जिसने इस प्रकार से एक सूत्र में बंधने के लिए बाध्य किया होगा। जो भी हो, इस संघ के प्रभाव में उत्तर भारत की अनेको जैन जातियां फली-फूली थी। इस संघ ने अनेक जैन जातियों की स्थापना की थी। इन जातियो के नाम से इस संघ के कुछ अन्वयो के नाम भी पड़े हैं—जैसे अग्रोतक अन्वय खण्डेलवाल अन्वय आदि।

भट्टारक काल की स्थापना के बाद उत्तर भारत में मूलसंघ और काष्ठासंघ के अनुयायियों एवं भट्टारकों में अनेक ईर्ष्या-द्वेष के प्रसंग उपस्थित होते रहे हैं, जो प्रकट एवं अप्रकट रूप से साहित्य में पढ़ने को मिल जाते हैं। मूलसंघ के अनुयायियो ने इस संघ को दूसरे संघो की भांति जैनाभास कहा है। इसी तरह काष्ठासंघ वालों ने पद्मनन्दि आदि भट्टारको एवं कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति कुत्सित वचन कहे हैं। वैसे तो शिथिलाचार के युग में क्रियाकलाप में सब संघ बराबर थे। पर इस संघ के भट्टारक मोर के पंखो की पिच्छि के बदले गाय के बालों की पिच्छि रखते थे। माथुर संघ में तो रामसेन के बाद पीछी न रखने की प्रथा चली जिससे वे 'निष्पिच्छ' कहलाये।

यापनीय संघ —

दक्षिण भारत के जैन धर्म के इतिहास में इस संघ ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इसने अनेक धार्मिक मान्यताओं को प्रभावित किया एवं नवीन संघीय परम्परा को जन्म दिया। इस संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक दो किंवदन्तियों के सिवाय हमें विशेष कुछ नहीं मालूम। देवसेन सूरि ने इसकी उत्पत्ति का समय वि सं २ ५ बताया है। यह संघ दक्षिण भारत की अपनी देन है। यहां के बलवान् और कठोर जीवन बिताने के प्रति आग्रह ने इस संघ को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म पालन करने की प्रेरणा दी। इस संघ के साधु एक ओर दिगम्बर साधुओं के समान चर्या पालन के रूप में नग्न रहते थे मोर की पिच्छि रखते तथा पाणितलभोजी थे एवं नग्न मूर्तियां पूजते और वन्दना करने वालों को धर्म-लाभ देते थे तो दूसरी ओर सैद्धान्तिक मान्यता में श्वेताम्बरो के समान स्त्रीमुक्ति केवली कवलाहार, सग्रन्थ मोक्ष आदि मानते थे।

दक्षिण भारत के जैनसंघ में सुधारवादी आन्दोलन के इस संघ के संस्थापकगण सबसे पहले अगुआ थे और उनका अनुसरण प्राय इतर जैनसंघ ने भी किया तथा धीरे-धीरे उसे आत्मसात कर लिया। सम्भव है यह सम्प्रदाय श्वेताम्बर और दिगम्बरो के बीच की एक कड़ी था। इसके अनेक उदार धार्मिक दृष्टिकोणो में तीन मुख्य थे —

१ परशासने मोक्ष—दूसरे सिद्धान्तो के मानने वाले भी मोक्ष पा सकते हैं।

२ सग्रन्थाना मोक्ष—संसारी बन्धनो से मुक्ति पाने का पात्र मुनि ही आवश्यक रूप से नहीं अपितु गृहस्थ भी है।

३ स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष —स्त्रियां इसी भव में मोक्ष पा सकती हैं।

इन तीनो मान्यताओ ने इन्हें तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में सर्वप्रिय बना दिया। सम्भव है इससे उन्होंने दूसरे धर्मों के लोगों को एवं श्रावक एव श्राविका वर्गों को विशेष आकर्षित किया था। इस संघ में साध्वियो को वैसा ही स्थान था जैसा मुनियो को। दक्षिण भारत से प्राप्त अनेक शिलालेख इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। सम्भव है साधारण साध्वियों को कन्ती (आर्यिका) और विशिष्ट साध्वियो को कन्ती कहते थे। तामिल काव्य 'शिलप्पदिकारम्' में ऐसी एक विशिष्ट साध्वी कवन्ती (कन्ती) द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों को उपदेश दिया गया है।

एक समय यह सम्प्रदाय बड़ा ही राज्य-मान्य था। शिलालेखों से मालूम होता है कि कदम्ब चालुक्य गंग राष्ट्रकूट एवं आदि वंशों के राजाओं ने इस संघ को और उसके साधुओं को अनेकों भूमि दानादि दिये। इस संघ का प्रधान केन्द्र कर्नाटक देश का उत्तरीय प्रदेश विशेष रूप से था। शिलालेखीय एवं अन्य प्रमाणों से मालूम होता है कि इस प्रान्त में इनके बड़े प्रभावक केन्द्र थे। आन्ध्र देश में इनके प्रभाव को सूचित करने वाले एक-दो लेख मिले हैं। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इनका अस्तित्व ईसा की चौथी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक अवश्य था। इस बीच में ही दिगम्बर सम्प्रदाय के दूसरे संगठनों के पुनर्गठन के द्वारा या तो इनके गण प्रभावहीन हो गए या उनके द्वारा आत्मसात् कर लिये गए। इस सम्प्रदाय में अनेकों प्रतिभाशाली विद्वान् आचार्य एवं कवि हुए हैं जिन्होंने संस्कृत प्राकृत एवं कन्नड़ में सैकड़ों प्रतिष्ठित ग्रन्थ लिखे हैं। इन विद्वानों में शिवार्य वट्टकेर, उमास्वाति यतिवृषभ अपराजित पाल्यकीर्ति शाकटायन महावीर तथा स्वयंभू आदि हुए हैं। सम्भव है यतिवृषभ और उमास्वाति उस परम्परा के हों जो मथुरा के कुषाणकालीन लेखों में पायी जाती थी। उमास्वाति ने अपने भाष्य में अपने को पाटलिपुत्र का कहा है। यतिवृषभ ने अपने गुरु के रूप में आर्य नागहस्ति एवं आर्यमंक्षु को माना है। इन दोनों का उल्लेख मथुरा के लेख क्र० ५४–५५ में मिलता है। ये दोनों आचार्य सहपाठी थे तथा क्षमाश्रमण एवं महावाचक थे। कषायप्राभृत के कर्ता गुणधर इन के गुरु थे। इस तरह हम देखते हैं कि इनकी परम्परा सीधे मथुरा के संघ से चली आयी है। ये प्राचीन जैनागमों का पठन-पाठन करते थे पर उनके आगम शायद श्वेताम्बरों के वर्तमान आगमों से कुछ भिन्न थे। इस सम्प्रदाय के कई ग्रन्थ दोनों (दिग० एवं श्वेता०) सम्प्रदायों में कुछ संशोधन के साथ पढ़े जाते हैं। दिग० सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ षट्खण्डागम कषायप्राभृत तत्त्वार्थ सूत्र मूलाचार आदि सम्भव है यापनीय सम्प्रदाय के थे।

उन्होंने मथुरा में जैन संघ के संगठन की भांति स्थान विशेष या प्रदेश विशेष को आधार बना दक्षिण प्रान्त में अपने संघ का संगठन किया। इस सम्प्रदाय में नन्दिसंघ (गण) प्राचीन तथा प्रमुख था जो कि मुनियों के नामान्त को लेकर बना था। पीछे इसके स्थान विशेष को ले अनेक भेद-प्रभेद हो गये। उनमें कनकोपलसम्भूत वृक्षमूलगण श्रीमूल मूलगण तथा पुन्नागवृक्ष मूलगण प्रमुख थे। ये गण अमुक-अमुक वृक्ष-विशेष वाले स्थान से प्रारम्भ में सम्बन्धित रहे होंगे। उनका तत्कालीन सुविधा की दृष्टि से नामकरण किया गया होगा, पर पीछे वही नाम रूढ़िगत हो गया। इसके अन्य गणों में कौमुदीगण मडुवगण या कोटि मडुवगण मेषपाषाण से सम्बन्धित कारेयगण मकाप अन्वय नन्दिपूरगण कण्डूरगण बलहारिगण आदि प्रसिद्ध थे। गच्छों में केवल वन्दियूरगच्छ एवं नन्दिगच्छ का उल्लेख मिला है। इस संघ के कुछ गणों को ११वीं शताब्दी के बाद से मूल संघ के गणों में उसी नाम या कुछ परिवर्तित नाम के साथ निर्दिष्ट पाते हैं। वे गण हैं—पुन्नागवृक्षमूलगण कण्डूरगण क्राणूर या काणूर के नाम से तथा बलहारिगण बलत्कार, बलगार या बलात्कारगण के नाम। हो सकता है कि मूलसंघ ने पुनर्गठन में उस काल में इस गण के साधु शामिल कर लिये गए हों या अमुक-अमुक स्थानों में मूलसंघ के मुनियों का प्रभाव बढ़ा हो और उन गणों का संगठन वहां से हुआ हो। नन्दिसंघ को भी ११वीं शताब्दी में द्रविड़ संघ के एवं १२वीं शताब्दी से मूलसंघ के अन्तर्गत पाते हैं। हो सकता है कि पीछे उन-उन संघों ने अपने पुनर्गठन काल में इस संघ को आधार बना उसे अपने में मान्यता दी हो या इस संघ के अनुकरण पर नन्द्यन्त मुनियों के नाम पर से अपना संगठन किया हो। नन्दिसंघ की एक प्राकृत पट्टावली है, जिसमें भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद ६८३ वर्षों तक की गुरु परम्परा दी गयी है। इस पट्टावली के अनुसरण पर यतिवृषभ की तिलोय पण्णत्ति में एवं पुन्नाट संघ के जिनसेन के हरिवंश में एक गुरु परम्परा दी गई है। विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः यह पट्टावली प्राचीन यापनीय संघ की है।

जो भी हो प्रमाणों से सिद्ध है कि यह संघ दोनों सम्प्रदायों की अपेक्षा अनेक बातों में प्राचीन है और दोनों सम्प्रदाय इसकी अनेक बातों एवं साहित्य के ऋणी हैं। इस संघ के साहित्य से जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को बड़ी मदद मिलेगी। दिगम्बर श्वेताम्बर मतभेदों के मूल का पता लगाने के लिए यह दोनों के बीच का और दोनों को जोड़ने वाला साहित्य है। इस दृष्टि से इस साहित्य का अध्ययन होना चाहिए।

आज दिगम्बर जैन समाज में इन संघों का अस्तित्व न के बराबर है। मध्ययुग में अनेक गणों के प्रतिनिधि भट्टारक हो गए

---

१ विशेष के लिए देखें—मेरी लिखी प्रस्तावना जैन शिलालेख संग्रह तृतीय भाग (मा० दि० जैन ग्रन्थमाला)।
पी० बी० देसाई—जैनिज्म इन साउथ इण्डिया (शोलापुर) पृष्ठ १६३–१६९।

थे जिनके मठों की स्थापना शंकराचार्य के पादपीठों के अनुकरण पर की गई मालूम होती है। ये अपने-अपने मण्डल में बड़े प्रभावक थे एवं पूजे जाते थे। कई तो इनमें मण्डलाचार्य भी कहलाते थे। पीछे इनमें शिथिलाचार की प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि इनके विरोध में समाज का एक वर्ग उठ खड़ा हुआ जिसे दिग० समाज में तेरापन्थ कहते हैं। इस तरह धीरे-धीरे उनका प्रभाव नष्ट होने लगा। बीसवीं शताब्दी में तो अब नाममात्र के भट्टारक पीठ रह गये हैं। पर जैन समाज की क्षेत्रीय एवं देशीय प्रवृत्तियों में इनका प्रकट या अप्रकट रूप से बड़ा ही प्रभाव दिखता है। आज समाज पर से अमुक-अमुक संघ की छाप तो मिट गई, पर उनके निमित्त से जो एक धारा चल पड़ी थी उसे दिग० समाज बिना विवेक किये ढोये जा रहा है सच मुच में परम्परा का असर बड़ा ही होता है।

THIRD SECTION

Pre-Aryan Bhartiya Religion

(Ramchandra Jain, Advocate.)

The cradle-land of the undivided Aryans was somewhere in northern parts of Russian steppes. Growth of population, desiction of the region and knowledge of the flourishing agricultural regions in other parts of the world led the pastoral nomadic Aryan barbarions to migrate from their orignal home. Aryo-Europeans seperated from the Aryan collective or Gana about 2500 B C Aryo-Asians were found in Cappadocia and central Asia some where about 2000 B. C Aryo-Iranians were on the northern gates of Iran somewhere about 1400 B C

The Western Frontiers of Bharat extended upto North-Eastern Iran in those ancient times. Vratras populated the Iranian region Arachosia and Gedrosia were inhabited by Vratras, Dasas, Dasyas, Panis, Yadus and Turvashas. Apart from these tribes Anus, Druhyus, Purus, Bhedas, Matsyas, Ajas, Shigrus and Yakshas inhabited the Doab region of Saraswati and Drishadvati rivers and to the east and south of the Doab The Aryo-Brahma invaders conquered these tribes and annihilated their republics from 1400 B C to 1100 B C., the date of the Dasrajna war

Eastern Bharat was mostly populated by the Ikshvakus from whom descended Mallikas Sakyas, Lichhavas, Kasis, Kosals and Videhas, Magadhas and Angas were in the South East. There were also the predecessors of Kols, Bhils and Gonds in Central Bharat. South Bharat had overwhelming population of Dravidas. All these tribes were parts and parcels of the Great Vratya Race of Bharat, during this period. Their culture and civilisation should be termed as Bhartiya culture and not Harappan or Indus [1] culture.

We are here mainly concerned with the true understanding of the religion of those people. And for that we have to first understand their economic and social conditions.

Bhartiya people developed a civilisation of cities and Mohenjodaro and Harappa stand monuments to that with drains, public baths, grand roads, public grainaries and brick buildings [2] Townships were well planned and thoroughly executed They had forts of iron and stone [3] wide in extant of hundered pillars. They were very wealthy people.[4]

The basic economy of those Bhartiya people as even today was Agriculture which had been very highly developed in those days. Apart from barley and wheat, they grew abundant cotton.[5] Cotton cultivation was exported from Bharat to Babylonia and Egypt. The growth of large sized inland cities and parts imply the existence of a substantial middle class based on internal and foreign trade, and commerce and a developed industry They had developed weaving industry to a high efficiency Male and female terracota figures are shown to wear beautiful clothes which imply weaving of cotton into fine fabrics. They had weights and measurements of length.[6] These traders and bankmen had big houses and palaces along with

gold, silver and javels.[7] Side by side with these wealthy people, we find the existence of poor workers also At Mohenjodaro have been found a block of barracks comprising sixteen similar sub-units which Piggot designates as coolie-line comparable to workmen's quarters at Harappa.[8] The property was privately owned and there were sharp differences of wealth, between the rich and the poor

Indus script has some similarities with Sumerian cuniforum script and the Egyptian heiroglyphic script. But unlike these Indus script is changeless and does not show any variation from the earliest to the latest discovered strata, i. e. 3000 B C to 1500 B. C. The writers of this script were 'Mridhravacah or 'Vadrivacah'[9] which may be identified with Ancient Prakrit, which is presently lost to us, the precursor of Vedic Sanskrit. The people spoke Ancient Prakrit the language of the people which in the polished form later became the language of the literature and the Court. But complete truth will come to light only when the Indus script is authentically deciphered

Women enjoyed a high honoured status among the society Mother was the guiding spirit of every household. Numerous terracotta figurines of an almost nude female have been supposed to represent a Mother-Goddess. I entirely agree with Wheeler that it easily relates to a household cult than a state religion.[10] Really speaking these female figures can not be connected with religion at all. Females have been shown in postures of fertility The secular aspect of the image of a nude dancing giro is aparent. The tree issuing forth of the womb of the female emphasises the secular aspect. The numerous female figures point to the matriarchal system of society prevalent amongst the ancient Bhartiya people and their great respect and glorification almost touching to divinity shown to womanhood as opposed to Aryans who had scant respect for them. The later history more than amply testifies to this truth.

What was the form of the State which these people projected can not be described with certainty There is no doubt that it was not a monarchical system of Government. Aryo-Brahman political system was a collective, a military junta, a Gana Gana means military troop.[11] Puru and other Bhartiya tribes residing between Saraswati and Drishadvati Doab have been referred to as 'Panchjanah'[12] Jana means people.[13] It implies, therefore, that Aryan man has a negligible constituent, having no independent existence, of the steel-frame Aryan collective which was a self-acting armed organisation. Bhartiya man was an independent constituent of a self-organised and self-disciplined republic Aryan 'Gana later developed into monarchical system Bhartiya Gana was the predecessor of later Janapadas.

Bhartiya society in this age was homogeneous. It is generally a social phenomenon that poor people loot or plunder during times of chaos and turmoil but we do not find any evidence of such remnants of loot and plunder in poor people's houses at Mohenjodro, Harappa, Amri and other Bhartiya towns militarily destroyed by the invading Aryo-Brahmins. There were class distinctions but social relationship was not of a violent character Bulk of the working class people remained in their allotted position.[14] It implied that wealth had not assumed an exploitery and pinching character

The Bhartiya State mechanism did not weild military or police force. There was no violent coercion fortifications at the two major cities of Mohenjodaro and Harappa were not meant as a safeguard against external aggression. They appear to be meant for internal protection. Implements of violence are so crude and undeveloped that they cannot even safely be termed as military weapons even during those days. They might have been used for self-protection

The wide extent of the Indus valley civilization going upto Hissar in North Western Iran having a strong outpost at Amri in Baluchistan was not the product of military conquests. Military element does not loom large in the extent remains[16] Indus civilization was unwar like.[17] There had been large scale finds of military equipment in Sumerian City Ur and the Egyptian city El Amarana but no such military equipment have been found, not even in small scale, at any of the archaeological sites from Hissar in Iran to Hastinapur in Bharat. We do not find curiously enough remnants of temples as found in Sumeria and in Egypt. A raised platform like an artificial mountain and citadel resembling the Ziggurat of Messopotamia have been found at Harappa and a similar citadel at Mohenjodaro But no traces of a pre-existing temple can even be conjectured at these sites. No military equipment was found at these sites or palace like buildings as was found in the Ur temple of Enlil, the Sumerian god.

The foregoing discussion conclusively proves that no royal or priestly force or coercion was used to keep the society in tact. The social mechanism was evolved in such a way that the necessity for violence was reduced to the minimum. It was the inner spiritual force that determined the values of life. Religion was a powerful guide.

Do we find this picture of life of the Indus people sculptured in their Art ? Terracotas and seals may be toys, Sculpture may be a thing of play for an artist. But even in play and toys we find the mind of the artist taking bodily form. We would now discuss figures and seals printed in Vedic Age on plate No VII figures 4 5 & 6 and stone statues on plate No VI figures 1 and 2.

Wheeler concurs with Marshall and Mackay that there is no doubt about the divinity of the remarkable figure on three seals of Plate No VII The figure is represented as seated either on the ground or on a low stool.In two instances the head is three faced and in all it bears a horned headdress with a vertical central figure.[18] The figure is a prototype of Siva in his aspect as Pashupati The deity is always nude.[1] Some other scholars also concur with this[20—21] interpretation There is a generality of views among European and Indian scholars that these seal represent Siva-Pasupati It is also held that Pasupati (or Yogishwara) of the Indus culture was first introduced into the Vedic culture as the dreaded deity Rudra,[2] whose alien origin is indicated by the oldest Brahmans which warn the Aryan sacrificers against invoking him or even pronouncing his name. But all the same this Rudra Siva cult is persisted as being represented in Bhartiya (Indus) religion

Rudra is the predecessor of Siva in Brahmnical religion Is he an imported non-Aryan god or a natural Vedic Aryan god. ? The evidence of Rigveda itself establishes the later character of this god Rudra. It is true he is a god of Wrath par-excellence.[24] He is mighty fierce having

strong limbs.[21] He bears bows and arrows, he is weilder of thunderbolt and he possesses Cow-killing and men-slaying weapons. He is destroyer of (enemies) heroes and invincible conqueror, the weilder of sharp weapons and expeller of foes along with Agni. He is man-destroying.[a] But if this wrathful nature of Rudra is to be condemned we will have to condemn more severe-ly the violent, brutal and inhuman wrath of Agni and Indra specially and the Vishve-devas generally of which instances and narrations Rigveda is replete with. The wrath of Rudra is definitely inferior to that of fierce Indra and Agni, the Aryo-Brahmin War lords par-excellence.[27]

But Rudra shows all the other important traits of the Arya War lords (Devas). He is accomplisher of sacrifices, wise, radiant, brilliant, holding excellent medicaments, nourished by sanatory vegetables, immortal, omniscient and divine, the creator guardian against disease, illustrious and protector of sacrifices.[28] He is painted also as a great benefactor of the Aryan Gana. He is their Ganapati.[29] He is most beautiful, showerer of benefits, supreme ruler and lord of the world, the parent of the world, far seeing, of pleasing aspect, undecaying, endowed with felicity the source of prosperity. He is one of the Vishve-devas, attending the hall of sacri-fice of the Aryan-collective. The benevolent qualities of Rudra far out-number his malavolent qualities. The malavolent qualities of warring Aryan gods was a prime necessity for their continued success in battle fields.

But these qualities of Rigvedic Rudra do not accord with the divine qualities of the asce-tic depicted on the aforesaid three seals. Those divinities do sit in the pose of a Yogishwara in the Padmasana posture but Rudra does not display any Yogishwara qualities. It has been all-eged that the seal may accord with the description of Rudra as the Supreme diety in Rigveda.[30] But so has been described Indra and Agni.[a]

The seal is surrounded by elephant, tiger buffalo and rhinoceros with deer appearing under the seat. The association of the animal world with the Yogi shows the oneness of all spirits in living beings. These animals are not to fear from the most vociferous and brutal animal, the man. Buffalo and deer have nothing to fear from the ferocious tiger and this tiger stands without any feeling of hostility anger or violence in the presence of the Apostle of Non-violence and peace. This atmosphere clearly depicts the peace and non-violence inherent in the conscience of every being beastly forces of violence, greed and selfishness submitting themselves to the superior force of peace and non-violence. These seals, hence, can not be a prototype of Cow-killing and man slaying Rudra.

Dr Prana-Nath reads the inscription on the seal of the divine figure on Plate No. VII Fi-gure 4 printed in 'Vedic-Age as thus "Go Sarga Deva Jana Kara meaning the creator or lord of the Divine people.[32] The reading of word "Jana in this inscription is very significant. It in-dicates people and may indicate a republic self-controlled and self-governed by spirtual laws helped and guided by the spirtual lord in the evergrowing process of spirtual progress and advance-ment higher and still higher

Horns appear on the head of divinities of all the three aforesaid seals. Marshall and Whee-ler in their eminent monographs referred above have explained them as an emblem of divinity

It appears that followers of these divinities also had some horned head-dress as Vratra wore.[33] And Vritra, the Ahi, was a sage.[34]

Two stone statuettes from Harappa of less than 4" in height have revolutionised the existing notions about ancient Indian thought. They are male torsos given on Plate No VI figures 1 and 2 in 'Vedic age exhibiting a sensitiveness and a modelling that is both firm and figures 1 and 2 in 'Vedic age exhibiting a sensitiveness and a modelling that is both firm and resilient. In one of the statuettes under discussion the body is represented as a volume modelled by an unrestrained life force pressing from within activating every particle of the surface. The figure which appears to be modelled from within, is actually at rest yet brims with movement. The figure is full of strength and appears to grow in stature. In short, the statuette records unconsciously the inner movement of life within the plastic walls of its body This physical type is the veritable standard in Indian art for divinities in which the force of creative activity held under control (Jitendriya) is to be shown as for example, in the Jainas or Tirthankaras or deities deep in penance or meditation.[35] Hence it has been clearly established that the figures of divinities on the seals and statuettes of Indus valley represent a spirtual divinity in contradistinction to the physical development of Rudra or quasi-spirtual divinity of Shiva-Pashupati.

Shiva is Rudra deified. We find the glory of Shiva for the first time in Shwetashwataropanishad which is a post Mahavir Upanishad composed probably between 400-300 B C[36] The Aryo Brahmins could not remain untouched and their physical religion borrowed some of the ingredients of Bhartiya spirtual culture.

Did the pre-Aryan Bhartiya peoples worship Linga? Wheeler is doubtful that certain polished stones, mostly small but upto 2 ft. or more in height have been correctly identified with Linga and other pierced stones with Yoni.[37] But some scholars have fallen into the error of holding that worship of Lingas and Yonis is testified to in their numerous examples found executed in stone describing their worshippers as Shishne Devah

The scholars have been misled to identify the above stone emblems as Phallus and Yoni due to their misinterpretation and wrong appreciation of the term and institution of Shishne-Devah. The right understanding of 'Shishne-Devah will clearly disprove the theory that Pre-Aryan people worshiped Linga.

The 'Shishne-Devah caused the disturbance of Aryan rites, sacrifices. Indra has been asked by the Aryo-Brahmins to save their sacrifices from the influence of Shishne-Devah as he has been prayed to save their progeny and cattle from Rakshashas and evil spirits.[38] It shows that Shishne-Devas did not think well of the Aryan institution of sacrifice and actively opposed them.

Word "Deva in Vedic literature has been used in the sense of a leader shining, illustrious, divine and the best amongest men. The whole Rigveda is replete with this word Deva indicating this sense. Shishne-Devas (in plural) hence, naturally means those illustrious, shining and divine leaders of humanity (of course opposing the Aryan plunderers who considered the Bhartiya people as Amanusha)[39] who did not wear clothes and voluntarily remained naked as a child of nature, though Indus valley grew abundant cotton and weaved it into fine clothes

and exported cotton cultivation to Babylonia and Egypt. In Rigveda and Brahmanical literature, the word 'Deva' has no where been used in this sense of worshippers but has always and everywhere been used in the sense of the 'Worshipped'. Agni-deva and Indra-deva nowhere mean Agni-worshippers and Indra-worshippers but always mean God Agni or God-Indra. Hence it is travesty of truth and total falsehood to translate 'Shishne-Devah' as Shishna worshippers, but it should be translated as 'Shishna worshipped or Nude gods or the Supreme Divinities, leading a natural way of life. And the natural way of life is the spirtual way of life.

There is also a misconception among the scholars that Naga or Serpant worship also prevailed among the pre-Aryan Bhartiya people. A. C Das, concurring with P T Shrinivas Ayenger (Life in Ancient India in the age of the Mantras P 129) has held that Vratra and Indra originally were gods of rival tribes and the tribes that worshipped Vratra, the serpent god, either also worshipped or were associated with those that worshipped the Shishna (Shishne-Devah) also.[40] Word Ahi[41] wrongly interpretated as Serpant is the cause of this confusion. Vratras or Ahis have been mentioned alongwith Dasas, Dasyus and Panis. They didnot perform Aryan sacred rites, opposed the Aryan sacred rites, interfered with the Aryan Sacred rites and followed their own rites. Nowhere it has been mentioned that they were Naga or serpant worshippers. The word Ahi may mean non-killer possibly derived from the root 'Han' and Vritra. The Ahi has nowhere been associated with violence in Rigveda. Vratras were a section of wealthy agricultural people using water storage system for irrigating their fields.[42] The Aryans reviled the Bhartiya people by calling them Nagas or serpants (which is later more clearly evidenced in Mahabharat and Puranas) who were really the followers of Shishne-Devas or Nagna-Devas or Naga-Devas meaning Nude gods.

We do not find sacrificial altars in Mohenjodaro and Harappa cities. They do not provide any evidence of the existence of anything corresponding to Vedic ritualism in the Indus valley (Bhartiya) civilization.[43]

What was then the religion preached by the Shishne-Devas. They preached the Vratya religion under the supreme leadership of EK Vratya. The cult of vratya seems to belong to the (miscalled) Mohenjodaro (Bhartiya) civilization and was once wide spread in India (Bharat) among her indigenous peoples.[44] Much untruth has surrounded this term 'EK Vratya' also. The word 'EK Vratya' is used in Atharvaveda fifteenth Kanda.[45] It is alleged that Vratya is one of the names of Rudra. Namo Vratyaya (नमो व्रात्याय-salutations to Vratya) is one of the passages occurring in the Rudradhyaya chapter of Yajurveda.[46] The Rudradhyaya chapter of Yajurveda uses the word Vrata (व्रात) and not the word Vratya (व्रात्य). The same word Vrata (व्रात) and not Vratya (व्रात्य) is used is Black Yajurveda.[47] Ralph T H. Griffith translates the particular hymn of the Yajurveda as thus —

"Homage to the troops and to you lords of troops be homage
Homage to companies and to you lord of companies homage."[48]

A B. Keith translates the particular hymn of Tattiriya Samhita as thus

"Homage to you hosts and to you, lords of hosts homage.
"Homage to you troops, and to you, lords of troops, homage."

The word Vrata alongwith the word Gana has several times been used in Rigveda in the sense of troop and company or assembly and company [60] Panchwimsa Brahmin uses the word Vrata in the sense of a group.[61] Vrata (व्रात) in the sense of group or a company can not be equated to any race or tribe as Gana in the sense of race or tribe can never be equated. Vrata (व्रात) or Gana implies a civil or military organisation of a particular race tribe or class. And even if we for a moment accept the word Vratya derived from Vrata meaning thereby a member of a group that meaning to the word Vrata has not been assigned in this context by any commentator or translator None has offered salutations to Rudra as a member of a group including Sayana. Sampurananad has played a big intellectual fraud on the edic scholarship by misquoting Namo Vrataya (नमो व्राताय) as Namo Vratyaya (नमो व्रात्याय) surreptitiously introducing consonent 'Y' in between. And it is for this reason that he had to mistranslate the word 'Rudra in A. V 15 15 10 and 11 and ignore the correct translation of Griffith.

Shinde also maintains that the Vratyas were outside the pale of the orthodox Aryans. The Atharvaveda not only admitted them in the Aryan fold but made the most righteous of them, the highest divinity [62] (15 1 8) But Rudra was not outside the pale of orthodox Aryans. He from the very begining is in the Aryan hierarchy of gods just like Indra and Agni We may not agree with I. W Hauer (Der Vratya, stullgart, Germany 1927) in defining the functions of Vratya but he is nearer truth in discribing Vratyas as a class of heterodox nomadic holy men. [64] His descriptions correspond to that of Rigvedic Shishne Devas.

Word Vratya (व्रात्य) is not derived from the word 'Vrata (व्रात) but it is derived from the word 'Vruta (व्रत) Kano lends support to this veiw asserting that it is possible to derive the word (व्रत्य) from Vruta (व्रत) meaning a religious vow Dr Hauer defines Vratya as initiated into Vratas. Hence 'Vratya means a person who has voluntarily accepted the moral code of vows for his own inner spirtual discipline. Definition given by Griffith to 'Vratya as a 'Wandering religious mendicant [66] meets the truth only half way Hence Vratyas were those pre-Aryan people of Bharat who had accepted spirtual discipline as their way of life. Their religious teachers were Shishne Devas who took to mendicant life and who wandering from North to south and from East to West propagated the spirtual way of life to their lay followers the Vratyas. EK Vratya was at the head of all these Lay Vratyas and mendicant 'Shishne-Devas, very powerful, universally respected and holy in the words of Sayana. [67] And this EK Vratya, the spirtualism incarnate, is sculptured in the aforesaid seal pictured in the aforesaid plate No VII figure 4

We have discribed here the religion of the people before the Aryan invasion of Bharat (About 1400 B C in Iranian frontier and 1200 B C in the west to Indus region) This area is confined by the snowy mountains in the north the Indus and the range of Suleman mountains in the West, the Indus or Sea in the south and the valley of the Jumna and Ganges in the East.[68] This was the widest geographical horizon known to these Rigvedic peoples. Beyond that the world, though open, was unknown to the Vedic peoples. The eastern and southern parts of the rest of Bharat were also inhabited by Vratyas, the Ikshvakush Mallas, Licchavis Ka

sis, Kosals and Videhas including Magadhas and Dravidians.[59] Eastern Bharat was the epi-centre of the Vratya religion Dravidians in the sourthern Bharat also followed a similar religion

Glorification of female is a prominent aspect of the Dravidian civilization They styled a deified man as 'Ko and created to his honour a house called Ko-il.[60] This cannot be taken for a temple. Like Mohenjodaro and Harappa citadel it was used by the spirtual leaders for religious discourses to their followers. It was a place of religion

Conclusions

1 Pre-Aryan people of Bharat were a homogeneous people self-disciplimed by spiritual values of life.

2. They considered material civilisation subservient to or only the servant of the spiritual culture.

3 The Vratya-cult or the principle religion of the Bhartiya people was mainly founded on Non violence. They had equal respect for all forms of life

REFERENCES

1 This is a very brief summary of the conclusions arrived at by me after critical studies of the problems which have fully been discussed in my Article "Original Aryan Home and 'Pre-Aryan People of Bharat.
2. The Indus civilization by Shri Martiner Wheeler p 6, 29 31 and 36
3 R. V 1 15 10. 3 2. 2. 9.8 1 19 5 4 1 23 10.2 8 1 12. 6 6 2. 5 10
4. R. V 1 19 4. 7 1. 28 12. 4 4. 3 9 13 8 5. 10 6 1 24. 1 7 5 3 2. 5-to 7 4 8 4 7
5 Wheeler Op. cit. P 63
6 Wheeler Op cit. p 61
7 R V 1 7 3 4 1 7 3 8
8 Wheeler Op cit. P 20 and 40
9 R V 1 10 1 8 1 23 11 3 4. 2 6 9 8 8 1 11 10. 1 4 12 10 2. 6. 8
10 Wheeler Op cit. P 83
11 (A) R V 3 2 14 6 5 4 9 11
(b) Y V 16 25 T 5 4. 5 4
(c) Veda of Black Yajus school by A. B Keith P 356
12 R. V 6 5 2. 11 8 5 2. 22.
13 Ancient India—P 57
14 India from Primitive communism to Slavery by S A. Dange p. 47
15 An Introduction to the study of Indian History by D D Kosambi—P 02
16. Wheeler Op. cit. P 52—53

17 The culture and art of India by Radhakumud Mukerjee P 49
18 Wheeler Op cit. P 79
19 Vedic Age P 187
20 The wonder that was India by A. L. Basham P 23
21. Radhakumud Mukerjee Op cit. P 49
22. Radhakumud Mukerjee Op. cit. p 42.
23 Radha Kumud Mukerjee Op, cit. P 49
24. (a) Y V 16 1
(b) T S 4 5 1
(c) Religion and philosophy of Veda and Upnishads by A. B. Keith P 143
25 R. V 1 16 9 1 2. 4 1 9
26. R. V 2. 4 1 10 2. 4. 1 3 1 16. 0 10 1 16 0 1
7 3 13 1 2. 1 1 6 4. 1 3 6
27 R. V 1 16 9 4 to 6 7 3 13 1 2. 7 4 3 2
1 8 8 4 2. 4. 1 15
28 (a) Y V 16 25
(b) TS 4 5 4
29 R. V 1 8 8 1 2. 4 1 9 6 4. 6 10 7 3 3 5
30 History of Dharam Shastra volume II part II by P V Kane Page 736
31 R. V 3 2. 2 1 8 7 1 8 8 10 9 1 & 16 7 2. 4 5
32. Decipherment of Harappa and Mohenjadaro inscriptions by Pran Nath p. 17
33 R. V 1 7 3 12.
34 R. V 3 4 9 2.
35 Voice of Ahimsa vol VII no. 3—4 p 152, Article by P N Ramchandaran.
36. Indian Philosophy by Radhakrishanan. Vol. I p 142.
37 (a) Radhakumud Mukerjee op cit. p 43
(b) P V Kane op. cit. p. 736
38 R. V 7 2. 4 1
39 R. V 8 8 1 11
40 Rigvedic culture A. C Dass-P 167—168
41 R. V 7 2 4 3
42 R. V 7 3 10 9 7 2 4 3 to 7 1 7 3 4 and 5 6 1 14 3 8 8 1 11 1 13 11
13 6 3 6. 6 6 3 10 3 7 2. 2. 4 7 5 13 4 9 4 16 9 9 5 3 4
43 History of Philosphy Eastern and Western-Chief Editor Radhakrishanan-p 37
44 History of Indian Civilization by Radhakumud Mukherjee-p 123,.
45 Atharvaveda Vratya Kand-Sampurnanand–P 16
46 Y V 16 25
47 T S 4 5 4d and 9
48 Y V (Tr) P—171
49 T S (Tr) P –356

50 R. V 1 22. 7 8 3 2. 14 6 5 4 9 11

51 Panchavimsa Brahmin by Dr W Calland, P -454.

52. (a) Sampurnanand op. cit-p -37 & 36

(b) A V (Tr) op cit. P -190

53 The religion and philosophy of Atharvaveda by N. L Shende—P-7

54. History and Doctrine of Ajivikas, by A. L. Basham, P-8

55 Aryon ka adi desha, Sampurnanand P 222.

56 A V (Tr) Preface P VII

57 History of Dharmashastra—by Dr P V Kane, Vol. II part I P-386.

58 The Vedas by Max Muller P-103

59 Laws of Manu by G Buhler Chapter 10, slok 22, p-406

60. Vedic Age P—159

BIBLIOGRAPHY

1. Rigveda Samhita edited by Satvalekar S Y 2018 Swadhyaya Mandal, Pardi, Surat.
2. Rigveda Samhita translated by H H. Wilson, 1927 A. D Ashtekar and Co. Poona.
3 The Indus civilization by Shri Mertimor Wheeler 1953 A. D University Press Cambridge
4. Yajurveda Samhita, S Y 1998 Vaidik Samsthan Lucknow
5. Yajurveda Samhita translated by Ralf T H. Griffith, 1957 A. D E. I Lazarus & Co Medical Hall Press, Banaras.
6. Atharvaveda Samhita edited by Satvalekar S Y 2018 Swadhyaya Mandal, Pardi, Surat.
7 Hymns of the Atharvaveda translated by Ralph. T H. Griffith, 1916 A. D. F L Lazaraus and Co Banaras.
8 Taittiriya Samhita edited by Satvalekar 1957 A. D Swadhyay Mandal. Pardi, Surat.
9 The Veda of the Black Yajus school by A. N Keith, 1914 A D Harward University Press, Cabmridge Massachusetts (U.S.A.)
10. Ancient India by Radhakumud Mukerjee, 1956 A. D Indian Press (Publication) Private Ltd. Allahabad
11 India from primitive communism to slavery by S A, Dange 1949 A. D Peoples publishing house Ltd. Bombay
12. An introduction to the study of Indian History by D D Kosambi 1956 A. D Popular Book Depot, Bombay
13 The culture and Art of India by Radhakamal Mukherjee, 1959 A. D George Allen and Unwin Ltd London
14 The History and culture of the Indian people, The Vedic age 1957 A. D George Allen and Unwin Ltd. London

15 The wonder that was India by A. L. Basham, 1956 A. D Sidgwick and Jackson London.

16 Religion and Philosophy of Veda and Upnishads by A. B Keith 1925 A. D Har ward University Press, Cambridge, Massachusetts (U S A.)

17 History of Dahrmashashtra Vol. II part II by P V Kane, 1941 A. D B O R. I., Poona.

18 Indian Philosophy by Radhakrishnan Volume I 1951 A. D Geroge Allen and Unwin Ltd. London

19 Rigvedic culture by A. C Dass, 1925 A. D., R. Chambey and Co., Calcutta

20 History and Philosophy Eastern and Western Chief Editor Radhakrishanan 1957 A. D George Allin and unwin Ltd. London.

21 The Atharvaveda Vratyakanda by Sampurnanand, 1956 A. D., Ganesh and Co., (Madras) Private Ltd. Madras.

22. Panchwimsha Brahmin by Dr W Colland, 1931 A. D Asiatic Society of Bengal Calcutta.

23 Aryon ka Adi desha by Sampurnanand S V 2013 Bharti Bhandar Leader Press, Allahabad.

24 Laws of Manu by G Buhler Sacred Books of the East Series, London

25 History of Indian Civilization by Radha Kamal Mukherjee, 1958 A. D Hind Kitab Ltd. Bombay

26 The Vedas by Max Muller 1956 A. D Sushil Gupta (India) Ltd. Calcutta.

27 The Regligion and philosophy of the Atharvaveda by Dr N I Shinde, 1952 A. D B. O R. I Poona.

28. Voice of Ahimsa (Journal) Vol. VII.P 203—4 Article by P N Ramchandran "An interesting sculpture from Harappa and Jainism, P—152.

29 History and Doctrine of Ajivikas by A. C Basham, 1951 A. D Luzac and Co. Ltd London

30 Decipherment of Harappa and Mohenjodaro Inscriptions by Dr Prananath re-print from Poineer Lucknow

---

The Jain sources of the history of Ancient India

(Dr Jyoti Prasad Jain, M.A., LL.B Ph-D., Lucknow)

The Jain community with its unique cultural heritage, has formed from the days of yore an important section of the Indian people and has been drawing its adherents from all the various races, castes and classes inhabiting the different parts of this ancient country Naturally the Jains have contributed a lot of material which may well be used as valuable sources of history

These Jain sources are neither mean nor meagre but are remarkable for their variety vastness and chronological sequence. They are spread over the whole range of historical times and are connected with practically every part of the country and with almost every phase of its past history At the same time they are no less authentic than the contemporary and similar Buddhist or Brahmanic sources. In the words of Dr B Ch. Chhabra, "It is an established fact that Jain literature is as extensive as Buddhist literature, if not more so. The historical information contained in it is supposed to be of a more reliable nature, and is expected to add vastly to our existing knowledge." And as Prof. K. A. N Sastri observed, "The Jain books form one of the primary sources of our knowledge of the internal history of India from the 7th century B C to the rise of the Mauryan Empire. And though these books, no less than the Vedic literature devote themselves more to religious ideas and movements than to historical events they contain many incidental references to states and their relations—which when shifted, give a clearer idea of the politics of the time than the meagre and confused traditions in the Puranas."

From the times of the Mauryas onwards right upto the advent of the Muslims, and in some respects, even upto the end of the Muslim period, the Jain material constitutes a good secondary source and its corroborative value cannot be exaggerated. In some cases as that of Gujarat and several of the principal states of the Deccan and the South, histories of these regions could be reconstructed chiefly with the help of their respective Jain sources. And for the pre-historic times, prior to the age of Mahavira and the Buddha, the Jain traditions should have the same value and importance as the corresponding Brahmanic traditions. Their mutual agreements and differences, if comparatively studied and critically examined, may reveal many a hitheto unknown facts and may push back farther the limits of historical times.

Moreover the ancient Jains seem to have had a love for dates and exactness which is evident from their numerous pontifical genealogies and dynastic chronologies, the dated colophons of their works and of the latter's successive manuscript copies, the historical and even pre-historical traditions recorded with corresponding dates and periods in later works and form their inscriptional records which reach back to the 5th century B C The late Dr K.

P Jayaswal once remarked that among the Hindus, the Jains alone have preserved a complete and admirable chronology for the two and a half thousand years or so after Mahavira s death. And Dr Buhler who has done good work on the history and literature of Jainism, speaks very highly of the authenticity of Jain traditions and of their value and importance to history In fact, the Jain sources have a superiority over other sectarian sources in so far as chronology is concerned, especially for the history of ancient India. With their aid many an unknown or doubtful date can be fixed, while those already fixed can further be confirmed. A rational use of these sources can often dispel the confusion usually arising from similarity of names and circumstances. Besides, the account of historical development of almost every branch of Indian learning and art and of cultural phases and social institutions would be incomplete without incorporating in them the corresponding contributions made by the Jains.

It may be mentioned here that for the ancient period of Indian history apart from archaeology epigraphy numismatics and foreigners accounts our principal source of information is literature both secular and religious, produced and preserved by the different sects and religious communities that flourished side by side. And the most important communities to whom we are indebted for these literary sources, are, without doubt, the Hindus, the Buddhists and the Jains. Of these the Buddhist sources have long been fully studied and explored. The Brahmanic sources have also been exhaustively studied and still engage the attention of scholars. But the Jain sources have so far been utilized to a small extent. The little and scattered work that has been done on them is, however enough to indicate their possibilities and to impress their value as a rich source of history

To give in brief the genesis of Jain literature, it may be asserted, that the Jains have all along been a peace-loving community and naturally they nurtured tastes and tendencies favourable for developing arts and literature. According to Jainism, greater prestige is attached to the ascetic institution which forms an integral part of the Jain social organisation, made up of monks, nuns, laymen and laywomen

The members of the ascetic institution, naturally and necessarily devoted major portion of their time to the study of scriptures and compositions of fresh treatises for the benefit of suffering humanity Thus, generations of Jain monks have enriched, according to their training, temperament and taste, various branches of Indian literature.The munificence of the wealthy section of the community and royal patronage have uniformly encouraged both monks and laymen in their literary pursuits in different parts of the country at least for the last two thousand years or so. The importance of scriptural knowledge in attaining liberation and the emphasis laid on 'Shastra-dana have enkindled an inborn zeal in the Jain community for the preservation and composition of literary works, both religious and secular the latter too, very often serving some religious purpose directly or indirectly The zeal of Shastra-dana had so much permeated the hearts of pious Jains that they took special interest in getting the manuscripts of books prepared and distributed among the worthy To quote a typical case,

Atimabbe, a pious lady in about 973 A. D had a thousand copies of the Kannada Shantipurana of Poona (c. 933 A. D) made and distributed. This zeal of preservation and propagation of literature assumed a concrete form in the establishment of Shrutabhandaras those at Patan, Jaisalmer Moodbidri, Karanja, Jaipur etc. can be looked upon as a part of our national wealth

The early literature of Jainism is in Prakrit. But the Jain authors never attached a davish sanctity to any particular language. Preaching of religious principles in an instructive and entertaining form was their chief aim and language was just a means to this end According to localities and the spirit of the age the Jain authors adopted various languages and wrote works in them. The result has been unique they enriched various branches of literature in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Old-Rajasthani, Old-Hindi, Old-Gujarati, Tamil, Kannada, etc In every language their achievements are worthy of special attention The credit of inaugurating an Augustan age in Apabhramsha, Tamil and Kannada unquestionably goes to Jain authors and it is impossible to reconstruct the evolution of Rajasthani, Gujarati and Hindi by ignoring the rich philological material found in Jain works, the MSS. of which bearing different dates are available in plenty Their achievements are equally great in Sanskrit literature and their value is being lately assessed by research scholars. The Jain works in different languages often show mutual relation and their comparative study is likely to give chronological clues and socio-historical facts. Moreover Indian literature, generally speaking, lacks in definite data of authors and their works but the Jain author is almost always an exception to this rule. If he is a monk, he specifies his ascetic congregation and mentions his predecessors and teachers if he is a layman he would give some personal detail and refer to his patron and teacher and in most cases the date and place of composition are mentioned.

As a possible source of historical information, the known and available Jain material may be classified as follows :—

A. Historical Literature —

(a) Histories—(i) Socio-Political—

Under this section we have first, the dynastic chronologies of India, particularly with reference to Ujjain, for the one thousand years or so after the death of Mahavira. These records have been preserved in several works viz the Tiloyapannati, Harivamsa Purana, Haribhadra s Avasyaka-vritti, Titthogali Painnai and Mahapurana, and in a number of later works like Trilokasara, Parisistaparva Tirthoddhara-prakarana, etc.

Secondly there are works like the Kadamba Purana, Bhuvanapradipika, Rajavalikathe, which deal with the history of important Jain gurus and laymen in the background of general history In this connection, mention may also be made of Muta Nainsi s Khyata which is one of the best of mediaeval histories. There are also a number of historical documents, even political chronologies or dynastic lists relating to later times, like the Rajavali of Dilli, which give the names of rulers with important events of their reign.

(ii) Religious —

Certain works like the Tiloyapannati Jambudvipa Prajnapti, Dhavala, Jaya-Dhavala, Harivamsa and Adi Purana, Kalpasutra, Theravali and Samacharisataka, the Churnis of the Avasyaka and the Nandi Sutras, the Darsana Sara, the Srutavataras, Merutunga's Sthavira vali, Munivamsabhyudaya, etc., contain an account of pontifical succession after Mahavira, the history of the canonical redaction and of the Jain Samgha with that of the successive schisms.

(b) Pattavalis and Guruvavalis —

Closely related to no (ii) are these pontifical succession lists of the Jain ascetic congrega tions Samghas, Ganas, Gachchhas, etc. that developed during the past two thousand years.

(c) Historical Biographies —

There are a number of biographical accounts dealing with the life stories of the histori cal Jain heroes like Parshva, Mahavira Gautama, Jambu, Bhadrabahu, Sthulabhadra, Kara kandu Srenika, Abhayakumara, Jivandhara, Sudarsana Seth, Kalaksuri Kundakunda, Pujyapada, Akalamka, Haribhadra, etc

(d) The Prabandhas —

They are collections of similar biographical accounts of ancient Jain persons of note, mostly historical. Though to a great extent of a legendary character they contain much useful historical material and in particular have been found very valuable for a reconstruction of the history of Gujarat.

(e) Colophons —

They constitute our most valuable literary source of history These Prashastis are generally found at the end of Jain works, sometimes also at the beginning, or in the form of Pushpikas at the end of some or all the chapters of the MSS These Prasastis are of generally three types, namely the author's Prashasti the copyist's prashasti and the donor's Prashasti. In placing together the information about Indian history these Prashastis form a valuable source.

(f) Sundry references —

A number of works even if they do not contain a regular colophon often contain sundry references to previous authors or works, particularly relating to their own subject and incidentally even to some important facts about contemporary history This is particularly true of our logico-philosophical literature which helps in a remarkable way in not only fixing up the chronological sequence of Jain authors, but also of the important Brahmanic and Buddhist logicians and philosophers of first millenium of the Christian era.

B. Kathakoshas and Story Literature —

The story literature of the Jains is very extensive It is found in three forms

(a) Kathakosas of which Harishena's Brihat katha Kosa is the most popular consists of the several commentaries of the Mula-Aradhana and of a number of Aradhana Katha Koshas But even the Mula Aradhana of Shivarya does not appear to be the only source for the fossils of many a tradition found recorded in it are seen embedded in the literary stratum of the

Painnas Besides the Aradhana–Katha-koshas there are a number of other collections of stories such as the Kathavalis, Punyashrava Katha Koshas, the many Vrata Kathakoshas, works like Samyaktva Kaumudi and so on.

(b) Independent works of fiction such as Samaraditya Katha Kuvalayamala, Upamiti-Bhavaprapancha-Katha, Dhurtakhyana, Dharmapariksha, Tilaka-manjari Rambha-manjari, Ratna-Chuda-ki katha, Shuka-saptati, etc. They include romances, tales of adventure, tales relating to animal life folklore, some fine specimens of early mediaeval Indian novels and some beautiful allegories and satires.

(c) Then there are numerous stories generally used to illustrate some theological or ethical truth and found scattered in the commentaries of the Shwetambara Agama Sutras and in the theological, didactic or ethical works of the Digambaras.

The importance and worth of the Jain story literature *has found due recognition* at the hands of many Indian as well as European scholars. The ultimate source of many a European tale has been traced to the Jain Katha literature.

C The Puranic Literature of the Jains —

It consists of two classes—(i) the Puranas or bigger epics, and (ii) Pauranic Chantras or smaller epics. This extensive Pauranic literature of the Jains, as a fruitful source of ancient Indian historical traditions relating to pre-historic times, has the same value as the Brahmanic Puranas and the Buddhist Jatakas. Besides being lively narratives, these works contain vivid pictures of the life and society in its various aspects, as obtained in the times of their respective authors.

D Geography —

Several works like the Tiloyapannati, Lokavibhaga, Jambudvipa-prajnapti-samgraha, Trilokasara, etc. which principally deal with cosmology from the Jain theological point of view in their accounts of Jambudvipa and Bharata-kshetra give an interesting idea about the geographical notions of ancient Indians. The commentaries on the Tattvartha Sutra and on the Digambara and Swetambara Agamas substantiate this source on this point. The Puranas and th Agama Sutras contain a fund of information relating to the political geography of ancient India as well. The accounts of and references to the Jain places of pilgrimage are also quite helpful in the geographical studies of ancient India since those places continue to be sacred for the Jains even to this day

E Political literature —

In the Nitivakyamrita of *Somadeva (959 A. D)* we have an excellent *regular* treatise on the science and art of politics. We also find useful discussions of political theory and its application in works like the Gadyachintamani, Adipurana, Dharma Sharmabhyudaya, Yahsastilaka Champu Chandraprabha Charita, Arhanniti etc

F Secular and Scientific literature —

A number of works on the grammar of Prakrit, Sanskrit, Apabhramsa, Tamil and Kan-

nada, on lexicon, prosody and poetics on logic and dialectics, on mathematics and astronomy on medicine and other useful subjects, written by Jain writers are available In many cases these works by their references to previous works and authors on the subject help in reconstructing the histories of the development of these different branches of ancient Indian learning.

G Jain commentaries on non-Jain works —

The Jain scholars have, from the earliest times, been reputed commentators. They wrote numerous and voluminous commentaries not only on their own canonical texts and other works, but also wrote a large number of valuable commentaries on various philosophical and other secular works of non-Jain authorship Many such works have reached us only through Jain commentaries on them and but for their manuscripts preserved in the Jain Bhandaras they would be practically non-existent. The value of these commentaries is obvious in reconstructing the literary history of our country

H Religious literature —

This most voluminous stream of Jain literature consists of the canonical texts of both the sects together with the vast exegetical literature thereon in the form of Vrittis Tikas Niryuktis, Churnis, Bhasyas, etc. and of many independent works divided into the four Anuyogas relating to metaphysics, philosophy ethics and tradition respectively Devotional poems, Mantra-shastras, ritualistic and consecrational literature also forms a considerable part. These works in their colophons and sundry allusions are often found to supply important bits of historical information

I Manuscript material and Grantha Bhandaras —

We have in India numerous Jain Bhandaras, big and small, which on account of their old, authentic and valuable manuscript treasures deserve to be looked upon as a part of our national wealth. For the study of palaeography and caligraphy this material should prove very helpful.

J Epigraphy —

Innumerable Jain inscriptions found inscribed on the pedestals of images, on Nishadyas, Stupas, Mana-stambhas, Ayagapattas and metalic yantras, in temples places of pilgrimage, ancient sites and other places, and those that exist in the form of donative tablets or copper plate grants are scattered all over the country Like the Jain manuscripts most of the Jain inscriptions are also dated.

K. Numismatics —

A study of coins seals, dynastic or royal ensigns of some of the ancient kings ruling dynasties of republican states, in the light of distinctive Jain religious symbols and mystical sings is likely to prove helpful in numismatic studies and in identifying those rulers as also in determining their religious bias

L. Iconography —

Jain iconography is an important aspect of ancient Indian iconographic art. There

is a large number and variety of Jain icons and there is also very rich material in the Jain texts on the subject.

M. Art and architecture —

Jain monuments of different types have no less value than other contemporary architectural remains. In the study of ancient art and architecture and in the evolution of various styles the numerous Jain monuments and works of art should prove quite useful.

N Festivals, customs and practices—

A study of some of the characteristic Jain festivals and tracing their history back in literature, epigraphy and archaeology throws interesting light on their origin and evolution. It further shows which of them have been adopted by other communities from the Jains or vice-versa. The study of the development of Jain-rituals and religious as well as social customs and practices gives us an angle from which to study the influence of Jain ideas on Indian society and that of other systems on the Jains themselves.

Historicity of some places in Bihar as mentioned in the Jain Literature

(Dr M. S Pandey M. A. (Cal.) Ph D (London) Patna University F R. A. S.)

Bihar has been a land of experiments of great apostles and preachers from time immemorial. Of all the preachers of the sixth century B C it was Mahavira who was born in Bihar and attained salvation in that very land. The field of religious activities of Mahavira was not so extensive as that of the Buddha. His wanderings were confined to Bihar and its neighbouring territories only

The accounts of Mahavira's wandering are preserved in Prakrit literature of the Jains. It won t be out of place if we discuss a little about the Jaina sources that one has to tackle with in dealing with the geographical problems of ancient India. The geographical materials which the Jain works contain have not been fully investigated and utilized. The reason is that much of the Jain works have not been yet published. Major portion of the Jain sources that have come down to us were composed in western India, therefore their authors did not know much of Bihar The rivers, hills, territories and places referred to in the Jain scriptures have not been precisely located and are rarely corroborated by other sources. Some times they furnish us with such information as one comes to conclusion that certain places or regions exist only in the land of myths. There is a special feature of the Jain sources which we do not find in the Buddhist or Hindu works The wanderings of the Buddha or his followers, no doubt, extended over large areas, but they were confined to big capitals, cities and apanas. It was probably because the Buddhists sought help of kings and big people to propogate their faith. Even to pass their chaturamasa, they took shelter in big cities On the other hand the Jain ascetics laid emphasis on extreme penance which was possible in solitude far away from the madding crowd of the people. Mahavira did not believe in the Madhya Marga (middle path) as Buddha did. He laid stress on extreme penance to the extent of physical torture. Naturally the Jain ascetics retired to dense forests. The Buddhist or Hindu works are generally silent about the wild tract of Jharakhanda or Chhotanagpur as we call it at present. The faintest ray of information of ancient days that we get about this region is from the Jain sources alone.

We get abundance of information about big cities and well-known places also in the Jain works. But those places have been referred to in other sources also So we shall confine ourselves to such places only as are mentioned only in the Jain works and if we get any thing new about the places which find mention in other works we shall try to discuss them.

Besides giving a detailed description of the territories and kingdoms in the north and South Bihar the Jain sources throw a faint ray of light on the geography of Jharakhanda region also as we have stated above But informations are so vague in their description that it is very difficult to identify the places with any amount of certainty However scholars have pointed out a few places in the Jharakhanda area which are referred to in the Jain literature

Bhanga or, Bhangi[2] is included in the twentyfive and half Aryan countries, with Pava as its capital This kingdom is referred to in the Mahabharata[3] also It probably comprised the districts of Hazaribagh and Dhanbad.[3] Its capital Pava is located in the region near the Parasanatha hill.

Another region Daddhabhumi is said to have been inhabited by many Mlechchhas It may be identified with Dhalbhum sub-division of the Singhbhum district.

The Acharanga Sutra mentions a region called Ladhadesa. In later literature and inscriptions this country has been known as Radhadesa. According to the Acharanga Sutra this region was divided into Vajjabhumi and Subhabhumi The latter may be identified on the basis of similarity of Names with Singhbhum district of modern Bihar

To facilitate our task we shall try to discuss and identify places districtwise so far as possible

In early days of Jainism, Rajagriha, the Magadhan metropolis, was one of the seven big cities of the then India. In Indian literature, this city has been known by various names, signifying its different attributes. The Jain sources[4] give us another name to it—Chanakapura This name is found only in the Jain literature and seems to have been given to the newly built town by Bimbisara or Ajatasatru, for the simple reason that the city was built in the fields where Gram (chanaka) grew in abundance

PAVA

This village is often mentioned in the Jain literature.[5] Sometimes it is called Majjhima Pava.[6] From the study of the Jain and Buddhist literature we arrive at the conclusion that there were three famous places which bore the name Pava Pava of the Mallas in the Gorakhapur district the Majjhima Pava in the Patna district and Pava, the capital of the Bhanga country somewhere near the Parasanatha hill in the Hazaribagh district. As between the two Pavas, it was known as Middle Pava. It was also known as Apapapuri because the place was regarded sacred after the supposed death of Mahavira at this very place. If we study the Jain scriptures minutely it will appear that the place where Mahavira died was not the modern Pava in the Patna district, but it may have been the capital of the Bhanga country in the Hazaribagh district. This conjecture seems to be more sound when we learn that Mahavira died in the house of Hastipala who was a king in the neighbourhood of Rajagriha, when Ajatasatru was ruling over Magadha. A large number of the Jain ascetics died on the Parasanath hill and so the hill was deemed very sacred from very ancient time. It is possible that Mahavira in his last days was wandering in that region when he suddenly died at Pava. A few centuries after the death of Mahavira, it became difficult to locate the place in that region people therefore associated

this great event with Majjhima Pava which is identified according to the Jain tradition with the modern village of Pava, seven miles to the south—east of Bihar—Sharif in the Patna district.

In this connection, we must not forget that Pava is not an important place from the point of view of archeology We have not yet discovered any historical fields there. It is also to be noted that modern temples are situated at Puri and not at Pava which is at a distance of not less than two miles from the said village The village Puri is mentioned neither in the Jain tradition nor in the Buddhist. Hence modern Pava cannot be ancient Pava where Mahavira attained salvation.

KAKANDI

It was variously known as Kagandi or Kaindi. It is said to be the birth-place of the ninth Tirthamkaras[7] and Mahavira is said to have visited this place.[8] It is identified by Rahula Sankrityayana[9] with Kakan in the Monghyr district. The identification seems to be correct.

MORAGA

Mahavira often visited this place He is said to have arrived here from Atthiyagama and once from Kollaka.[10] The place was definitely in North Bihar because places connected with it are all in the same region The village Moranga in the Sitamarhee Police area may be identified with ancient Moraga.

Mahakundagama, Khattiyagama, and Kundapura —

These were the villages in the suburbs of Vaishali. The Acharanga Sutra states that Kundapura was a village where Mahavira was born It is divided into two parts—southern and northern. The southern was mostly populated by the Brahmins and the northern by Khattiyas. This village is known as Kundapura in the Kalpa Sutra. It is identified with modern Basukunda in the Muzaffarpur district.

KALAYA

This was a village near Vaniyagama[11] to its north—east. It is not exactly located but it must be in the Muzaffarpur district where Vaniyagama was situated.

VANIYAGAMA

The Avasyaka Niryukti refers to this village in connection with Mahavira s wanderings It is known as Vaniyagrama[12] in the Panchobha copper Plate of Sangramagupta. It is identified with modern Baniya near Basarh in the district of Muzaffarpur

KOLLAGA

This was a village near Vaishali [13] we often find mentioned in the Jain literature. This is identified with Kohuha, a village near Basarh.

KUMARAGAMA

Mahavira came here from Kundapura and proceeded to Kollaka.[14] Since Kollaka has been located in the Muzaffarpur district, this place too may be in north Bihar There is a village Kunara in the Sitamarhi Police area of the same district which may be ancient site of Kumaragama

Kayalasimagama or Kayalaigama —

Mahavira arrived here from Bhaddiya and left for Jambusanda.[15] The place seems to modern Kahalgaon in the Bhagalpur district.

MANDIRA

According to the Avasyaka Niryukti,[16] this was the place where the sixteenth Tirthankara received his first alms. Shri J C Jain thinks that it may be identified with Mandaragiri in the Bhagalpur district.

ARAKHURI

The Avasyaka Niryukti[17] states that this village was situated on the border of Champa. Its exact location is not known but it should be in the Bhagalpur district.

PITHICHANPA

Mahavira arrived here from Choraga and left for Kayangala. The place was near Champa.[18] The location is not exactly known but it should be in the Bhagalpur district.

JAMBHIYUGAMA

This place is often referred to in the Jain scriptures Its Sanskrit name seems to be grimbhi kagrama. Mahavira is said have attained Kevalahood at this place which was on the bank of the Rijupalika.[19] Muni Kalyana Vijaya[20] understands that it was a flourshing "town with tall ramparts and high buildings." *He identifies it with* jambhikagaon *near the Damodara* in the Hazaribagh district. Shri J C Jain prefers to locate it somewhere in the region round modern Pava in the district of Patna. We find many references to Jain ascetics moving in the area round the Parasanath hill and so it is no wonder if Mahavira also went there to attain Kevala hood. The only objection to the identification of this place is that the place where Mahavira attained enlightenment was on the bank of the Rijupalika, which is identified with the Barakar We cannot say how the village near the Damodara can be identified with the ancient Jambhiyagaon. It is possible that the Damodara may be flowing in that area through the old bed of the Bar akar

PAVA

The place has been discussed in connection with Papa or Pava in the Patna district,

BHADDILAPURA

This was the capital of the Malaya country which is one of the twenty-five and half of the aryan countries. This information of the Jain literature is not corroborated by any other source. However the village is identified with modern Bhaddiya near the Kolhuvahill in the Hazaribagh district. It was the birth place of the tenth Tirthankara.

CHORAYA

This place was visited by Mahavira. It has been identified with Choreya in the Ranchi district on the basis of similarity of names.

LOHAGALA

The place is often referred to in the Jain literature. On the basis of similarity of names it may be identified with Lohardaga, the head quarter of a sub-division of the Ranchi district.

MADANGAMA

This village is referred to in the Jain Canons. Mahavira is said to have arrived here from Kundaka and left for Bahusalaga. It may have been somewhere in the Ranchi district or Jharakhanada area.

BAHUSALAGA

It is stated that Mahavira travelled to this place from Madangama and left for Lohaggala. As Lohaggala is probably modern Lohardagga, this place too may be in the Ranchi district.

GOBHUMI

This place was often visited by Mahavira.[21] The Mahabharata[22] mentions a locality called Pasubhumi which is identified with modern Chhotanagapur region on account of abundance of wild animals. It is possible that Gobhumi and Pasubhumi are identical. Gobhumi may be identified with Gomoh in the Dhanbad district.

Besides the places mentioned above there are numerous places of which we are not sure if they are in Bihar The identification of those places is possible only if thorough research work be carried on of the neighbouring states of Bihar

REFERENCES —

1. Brihatakalpa Sutra—1 50.
2. „ II, 31. 11
3. Shramana Bhagawan Mahavira, p 379
4. Jain—Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons—p 276
5. Kalpa Sutra—p 269
6. Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons—p 310.
7. Avashyaka Niryukti, 382.
8. Anuttara—p. 61
9. Bharatiya Vidya (July 1944) p 8
10. Shramana Bhagawana Mahavira II—p. 288
11. Avashyaka Tika—p 456
12. Journal of Bihar-Orissa Research Society Vol. V pp 582-96.
13. Uvasagadasao II—p 4.
14. Shramana Bhagawan Mahavira II—p 28a.
15. Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons—p 251
16. Avashyak Niryukti—p. 324.
17. Ibid—p 1297
18. Avashyaka Tika—383a
19. Kalpa Sutra—p 263
20. Shramana Bhagawana Mahavira—pp 357 370
21. Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons p. 289
22. II 278

Jainism in Manbhum

(P C Roy Choudhury)

The message of Jainism was carried by Mahavira, the 24th Tirthankara, born on the soil of Bihar through Radadesh to Utkal, modern Orissa. Radadesh included the area previously known as the district of Manbhum and now a portion of which is known as Purulia district in West Bengal. Manbhum was the tract through which the commonly known road meandered to Puri which has the temple of Jagannath In the course of his itinerary Mahavira was roughly treated in Radadesh which only went to strengthen his confidence in himself and with redoubled vigour he accepted the challenge and spread the creed of Jainism in the same area.

The efforts of Mahavira were apparently crowned with success and as unknown to most of us, lie scattered, throughout this area, Jaina antiquities in abundance The adjoining district of Singhbhum in Bihar is also full of Jaina relics but it is peculiar that while some attention has been paid to the Jaina relics in Singhbhum and the adjoining districts of Orissa up to the famous antiquities in Khandagiri caves, very little attention has been paid to these in Manbhum district. Vandalism has been responsible for the disappearance of many of the wonderful antiquities in Manbhum area. Quite a large number of them are being worshipped as orthodox Hindu deities. Some of them are even found on the door steps, the walls and parapets of houses, often besmeared with vermillion. In this short article some of these antiquities will be referred to with the fond hope that the attention of the proper authorities and scholars will be drawn to them.

These relics offer a field for investigation as to the periods to which the antiquities refer to and probably a scholar may discover valuable data for tracing the evolution of Jainism which spread through Manbhum and Orissa and from Orissa to the south It is a mistake to think that Jainism has completely died out in this area. What has happened is that without their knowledge sizable sections of the population in different pockets are following Jaina creed—there are villages where Ahimsa is concretely practised by villagers by being scrupulously vegetarian, there are places where people do not follow the usual casteism and so on Another great effect of Jainism in this area appears to have been to iron out the differences amongst other creeds. Side by side of the Jaina antiquities in Manbhum area we find specimens of orthodox Hindu antiquity clear relics of Mahayana Buddhism and clear traces of Vaishnavism Eclecticism appears to have been responsible for the area accepting one religious creed after another and the result is that there was a confluence of different faiths in Manbhum. There is no doubt that at one time or other Jainism had received a certain amount of patronage from the landed aristocracy which helped the spread of the creed. King Bimbisara, Kharavela, the lines of Rashtrakuta and Chandelas who had ruled these parts, were sympathetic

to Jainism as a creed if not as active supporters. The section of people known as the Pacch hima Brahmins in Manbhum area are held by some as belonging to the clan of Vardha mana Mahavira.

There was a decline of the flow of Jainism in this area and in adjoining Orissa and it is worth while for a research scholar to investigate the reasons. The rise of Lingayat Saivism appears to have clearly contributed to the decline of Jainism in Chotanagpur There is a theory that the Chola soldiers on their way to the expedition under Rajendra Chola Deva and on the return back after defeating Mahipala of Bengal near about 1023 A. D., had destroyed many of the Jaina temples and images in Manbhum district. The Pandeyas were great iconoclasts. The decline of a powerful ruler at the centre led to a fissiparous tendency and several small princi palities came to be carved out and ruled by branches of the Rajputs. Landlords like Kasipur and Patkum were examples. Many of these rulers or powerful Zamindars were under the influence of Brahmin priests who wanted to increase their power and so there was a clash of interests. From the 13th century A. D., Manbhum seems to have been the field for different religious creeds trying to push out the other and if not to bring about a compromise and to continue the same influence The religious ideas were fused and even when Tantrik Mahayana Shaivism came to have some influence the Jaina images came in handy During the latter part of the Mughal period when the centre became very weak most of the religions excepting Mohammedanism all over India lost their individual identity and a broad-based Hindu creed assimilating a number of creeds came to be the ruling creed on the surface This creed took in Jainism as a current in the broader current. This is the reason probably why today one will find Jaina Tirthamkara images openly worshipped as Bhaironath, Hara Parvati, etc The result is seen in the fact that today unmistakable Jaina images are found installed in Hindu temples and worshipped as Hindu deities.

As mentioned before, Jaina relics lie scattered in abundance throughout Manbhum area. This is the area where the ancient Shravakas who were clearly Jains lived and practised the earli est known smelting of iron-ore. Hieun Tsang mentioned this area as the "Safa Province. The origin of the name of Safa is not known but it appears to be clearly associated with Jainism. Hibert had identified Dalmi as the capital of the Safa-province and the entire Dalmi hills are full of Jaina antiquities. It is this province of Safa which is identified with a part of Radadesh which was visited by Lord Mahavira.

Balarampur and Boram are two big villages near Purulia which have got temples with Jaina images and it appears these temples were Jaina in origin From Chandankiari village a few miles away from Purulia a large number of Jaina antiquities were accidentally discovered. Some of the images of the Jaina Tirthankaras discovered in Chandankiari form one of the finest collec tions of Indian antiquities now preserved in Patna Museum. Most of these images have clear Jaina chinhas. The date is of the 11th century A. D A number of other Jaina images have been found at the villages Kumhari and Komardaga within 5 miles of Chandankiari. The tem ples and sculptures at Pakbira about 32 miles from Purulia were identified by J D Beglar as

of clear Jaina origin. Near the temples are a number of mounds which have not been excavated. There is no doubt that the entire area of Pakbira was once the seat of Jaina culture. Even now a large number of Jaina images are lying here and one of the images is 5 cubit high of Sri Bahubalji. Near the image of the great Bahubali are some other Jaina images of Parshvanath, Mahavirji and Padmavati The carvings are superb and the images are still intact and may be about two hundred years old.

The villages of Budhpur Daruka and Charrah have also a number of Jaina antiquities. At Charrah there are still images which are clearly of Kunthanatha, Chandraprabhu, Dhanendra-Padmavati *Rishabhdeva and Mahavira. It is understood that quite a large number of images* have been removed by the military people when they had a colony at Charrah during the Second Great War

The writer noticed at Deoli, an insignificantly small village a number of very old Jaina temples. In the sanctum of the largest temple there is instituted a Jaina figure known as Anantnath. This figure is now worshipped by the Hindus. The main temple which is now in ruins consisted of a sanctum, antarala and a mahamandapa. Near about under the tree there is a Jaina figure in nudity with the serpent hood above the head.

Another small village Suissa has a collection of statues that had been noticed by Beglar which he identified as of Jaina origin. Some of the Jaina antiquities mentioned by Beglar have now disappeared. At village Bhawanipur about 8 miles east of Purulia there is an image of Rishabhnath with 24 Tirthamkaras engraved on the side with the figures of Chamaries Incensors and Yakshis. An image of Padmavati and Dhanendra is now worshipped as Hara-Parvati.

The writer made a tour on Hura-Puncha road and within a distance of 21 miles dozens of Jaina images were noticed lying neglected in almost every village on this road. Many of them appeared to be worshipped as some member of the Hindu pantheon. Some figures were lying under trees.

It is unnecessary to give more examples. As a matter of fact, there are dozens of other villages in Purulia district which have got hundreds of Jaina antiquities, some broken and some intact. Recently some inscriptions have been found which have to be properly deciphered and edited. The Jainas had raised beautiful temples at almost impossible places in the area and the Hindus and Jainas had lived together for centuries and made a great contribution to the culture of Manbhum district. Manbhum offers a very rich area for further exploration and investigation so far as Jainism is concerned.

Kakandinagari

(Dr D C Sircar M. A., Ph.D., F.A. S., Government Epigraphist for India, Ootacamund.)

A place called काकंदी or काकंदीनगरी famous in both the Jain and Buddhist traditions[1] The Jains regarded toe locality as the birth place of the तीर्थंकर सुविधिनाथ[2] while the Buddhists regarded it as the home of an ancient sage named काकंद[3] But this place does not appear to have so far been satisfactorily identified.

B. C. Bhattacharya suggested the identification of काकंदी with the city of किष्किन्धा celebrated in the story of the रामायण[4] But the equation of काकंदी and किष्किन्धा does not seem to be philologically sound. Moreover किष्किन्धा in the neighbourhood of पम्पा (modern Hampi in the Bellary District of Mysore State) is far away from the sphere of activities of the early Jains and Buddhists. B C Law who has ignored Bhattacharya s suggestion, regards the place as unidentifiable in the present state of our knowledge[5] But there is epigraphical evidence to prove that काकंदी the traditional birth place of सुविधिनाथ was regarded in the medieval age as identical with a place now called काकन which lies within the jurisdiction of the Sikandra Police Station in the Jamui Sub-Division of the Monghyr District of Bihar

About the beginning of the year 1951 I visited the said village of काकन in search of new inscriptions and found three epigraphs in the local Jain temple These records were noticed in the Annual Report on Indian Epigraphy 1950-51 Nos. B 2-4. The earliest of the three records, which is engraved on the pedestal of an image of पार्श्वनाथ bears the date V S 1504 फाल्गुन-सुदी 9 falling in the month of February 1448 A. D The latest of the three inscriptions is incised on the back of an आयागपट and is dated in V S., 1933 corresponding to 1876-77 A. D

The third inscription, with a date falling midway between the dates of the two other records referred to above is very interesting. Dated in V S 1822 वैशाख-सुदी 6 falling in April 1765 A.D., this inscription is engraved around two foot marks fixed in front of the image of पार्श्वनाथ in the Jain temple at काकन and records the installation of the said foot-marks. It is clearly stated in the inscription that they represent the foot-marks of the तीर्थंकर सुविधिनाथ and that they were installed by the (Jain) Sangha at काकंदीनगरी which was the birth place of the said तीर्थंकर Some repairs are also stated to have been carried out apparently in the local Jain temple wherein the foot-marks were installed. The inscription of V.S 1504 seems

---

1 Cf B. C Law India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism, p 219

2. B C Bhattacharya, The Jaina Iconography pp 64-65

3 G P Malasekera, Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I p 558

4 Loc. cit.

5 Historical Geography of Ancient India, S V

o suggest that the Jain temple at काकन existed at least before the middle of the fifteenth century A. D The last line of the inscription contains the prayer that the holy place called काकंदी may rejoice for ever

The text of the Inscription runs as follows —

१	ओं[1]	नमः	॥	संवत्[2]	१८२२	वर्षे	वैशाख[3]मासे शुक्लप
२	क्षे			षष्ठी-तिथौ			श्रीसुविधिनाथजिनवरचरण[4]क-

३–मले ग	ये एवा
४–पिते ॥	श्री का
५–कंदी	नगरी
६–नाम	वस्या
७–नगर-	स्थाने
८–श्री-सं	घन ॥
९–संघो	पार्श्व का
१०–गरि	सर्वं ॥१

११ चिरं नंन्दु तीर्थेयं काकंदी-नामकं परं [॥*] *

The tradition that modern काकन where the Inscription has been found, is the same as काकंदी or काकंदीनगरी regarded by the Jains as the birth place of the तीर्थंकर सुविधिनाथ can thus be referred at least to the late medieval period

1 This is expressed by Symbol. Lines 1 2 are incised above the foot-marks.

2. Read संवत्

3 Read वैशाख

4 Read चरण

5 Lines 3 10 are engraved on both sides of the foot-marks.

6 Read नगरीम् or better नगर्याम्

7 This gives the impression that the preceding lines contain a verse though this is not actually the case

8 This line representing half of a stanza in the Anushtubh metre is incised in front of the foot marks, the two feet of the half verse being separated by a gap.

* The Inscription is recorded in Jain Inscriptions by P C Naha vol I PP 41, Ins. No 1 11 (Published 1918 Cal)—Editor

The Jaina Contribution to Indian Political Thought

[Dr B A. Saletore, M. A, Ph D., (Lond.) D Phil. (Giessen) Professor of Ancient Indian History & Culture and Head of the Department of History in the University of Karnatak, Dharwar]

One of the most important sections of the Indian people to whom adequate justice has not been done, especially in the matter of evaluating their contribution to the totality of Indian History and Culture, is that comprising the Jainas. That this is no exaggeration will be evident when we open the pages of any standard book on Indian History only to find few paragraphs being devoted to the great महावीर and to some of the splendid monuments of architectural skill associated with the Jainas in some parts of the country A good deal of noise has been made, and that of late, of the Buddhist contribution to Indian History and Culture, but practically nothing has been said of the more solid and more lasting contribution by the Jainas to the many-sided aspects of our life It is commonly assumed that the Jainas were devoted to their religion and to their trade, and that they preserved the one and increased the other amidst varying circumstances of fortune and misfortune and added practically nothing to the progress of the country This is a misconception, especially in regard to the vital question of politics, and of kingdom-building, as I have long ago shown in my book on Mediaeval Jainism.[1] In the present article I shall be concerned with another and an equally important, aspect of the same problem, and that dealing with the whole country This relates to the contribution of the Jainas to the political theories of India. I shall first narrate the theoretical aspect of the question and then relate how one of the most celebrated Jaina theorists helped to formulate the ends of the State

Before we do so it is necessary that we should mention the sources on which we base our remarks. They are the Jainas literary sources the most ancient of which for our purpose, are the Jaina Sutras. The exact date of the composition of the Jaina Sutras "is a problem which cannot be satisfactorily solved." Professor Herman Jacobi, who had thus opined on them in 1894 also said that most parts, tracts and treatises of which the canonical books consist, are old, that the redaction of the Angas took place at an early period (tradition placing it under भद्रबाहु) that the other works of the जैन सिद्धान्त were collected in course of time, probably in the first centuries of the Christian era and that additions and alterations may have been made in the canonical texts till the time of their first edition under देवर्द्धिगणि in A. D 454.[2] Of the Jaina Sutras we shall be concerned mostly with the उत्तराध्ययन सूत्र and to some extent, with the आचारांग सूत्र It will be seen presently that Professor Beni Prasad s verdict on the

(1) B A. Saletore, mediaeval Jainism with Special Reference to the Vijayanagara Empire. Bombay 1938

(2) Jacobi H., Jaina Sutra, Part II Intr p. xl. (Sacred Books of the East, XLV 1895. The I. Part of the Jaina Sutras was published in 1885 as Vol XXII of S B E.)

Jaina Sutras in general, viz. that "To the student of Governmental theory the Sutras as a whole are rather disappointing' cannot be entertained.[3]

One of the earliest Jaina writers who deal with a significant aspect of political life, was Haribhadra Suri (circa A. D 705-775) the author of Dharmabindu. In this didactic work he gives a long list of duties of a Jaina layman One of these was refraining from disrespect to the king[4] Haribhadra Suri s work was more inclined on the side of Dharma than on that of politics and Government.

Chronologically the next great figures amongst the Jainas were those of जिनसेनाचार्य and of his gifted pupil गुणभद्र Both were the authors of one and the same work, the first part of which was called आदिपुराण and which was composed by जिनसेनाचार्य while the second part was styled उत्तरपुराण and was written by गुणभद्र Jinasena was the preceptor of the powerful राष्ट्रकूट king अमोघवर्ष (A. D 815-877)[5] and was the author of at least two other works the poem पार्श्वाभ्युदय[6] वर्धमानपुराण जिनेन्द्र-गुणस्तुति the last two of which are said to have been lost[7] Jinasena s pupil completed the work by writing the उत्तरपुराण in A. D 897 in the reign of king अमोघवर्ष's successor कृष्ण II[8] The fact that गुणभद्र was the preceptor of King कृष्ण II is proved by a Sanskrit commentary on गुणभद्र's आत्मानुशासनम्[9] It is thus clear that both Jinasena and गुणभद्र thet eacher and the pupil, were closely associated with the राष्ट्रकूट monarchs अमोघवर्ष and the latter s son and successor कृष्ण II (A. D 884-913)[10] The significance of the works of the two Jaina authors lies in the fact that Jinasena s आदिपुराण contains one of the finest presentations of the Jaina theory of the origin of government which we shall presently describe.[11]

(3) Beni Prasad, Theory of Government in Ancient India, p 229 (Allahabad, 1927)

(4) Haribhabrasuri, Dharmabindu, I 31 On the date of Haribhadra, See Winternitz, A History of Indian Literature II p 479 Read also Ghoshal, U N., History of Indian Political Theories, pp 351 464 (Oxford, 1959)

(5) Rice, Lewis Mysore and Coorg from the Inscriptions p 67 (London 1909)

(6) Bhandarkar R. G., Earley History of the Deccan (In the Bombay Gazetteers) p. 200. Dr J F Heet seems to have identified this Jinasena with his name, who was the author of the हरिवंश (written in A. D 783-84) See Heet, Dynasties of the *Kanarese Dynasties (In the Bombay Gazetteers Series) p 407* (Bombay 1896) Professor Beni Prasad denies that both are the same-Beni Prasad, op. cit p 221 note (1)

(7) Beni Prasad, ibid, p. ibid, note ibid.

(8) Heet, ibid, ph. 407-408

(9) Heet, ibid, p. 411

(10) Rice, op. cit. p 67 The interval between the last year of अमोघवर्ष I and the fine regnal year of कृष्ण II is not discussed in this paper

(11) Beni Prasad, ibid, p. 221 The text of the आदिपुराण was published with a Hindi translation by Lala Ram Jaina in the स्याद्वाद-ग्रन्थमाला No. 4. Indore. For a full account of Jinasena, read my med. Jainism. under Jinasena I pl. 38, 38. n 39 234 235, 235 n. 274, 276 276 (n) 277

In his उत्तरपुराण गुणभद्र continues and completes the theory of the origin and nature of Government as given by his teacher Jinasena, and gives biographical sketches of the twentythree Tirthamkaras who followed ऋषभ at long intervals of time, and of राम कृष्ण मणिक तीर्थंकर, and very many other Jaina heroes. It inculcates profuse patronage of learning by the government but "its political ideas are few and old."[12]

After the time of Jinasena and गुणभद्र there appeared Somadeva Suri, one of the most illustrious of Jaina political theorists, who will require a separate treatment by himself. In what way he departed from Jinasena will be narrated below

The political theories of Jinasena were continued to some extent not in the Deccan but in Gujarat where in the twelfth century there appeared one of the most illustrious of Jaina teachers and authors–the encyclopaedist हेमचन्द्राचार्य who lived from A. D 1089 till A. D 1173 We shall have to mention him in some detail below Here it is enough to observe that of his numerous works the लघु-अर्हन्नीति closely followed, in regard to some topics, the model of Jinasena s आदिपुराण although it draws freely upon its Brahmnical predecessors.[13]

To the same age (the twelfth century A. D) are to be assigned the following works. First comes सोमप्रभाचार्य's कुमारपालप्रतिबोध composed in about A. D 1195[14] In this we have a king who is gradually converted to Jainism and led on the ideal path by the great हेमचन्द्राचार्य The reference here could have been only to the well known Caulukya monarch कुमारपाल (A. D 1143-1174) who will figure below The author s idea of government is interesting the ruler prohibiting meat-eating, killing of animals, drinking, prostituton plundering, and other sins, erecting Jiana monasteries, temples, alms-houses, etc., spending a good deal of the time listening to religious discourse, but at the same time attending to the problems of the State listening to appeals in cases, and passing judgments on them[15] That this was not a picture o the stereotyped ruler but a real and an historical one will be evident when we shall describe the work of the great हेमचन्द्राचार्य below सोमप्रभाचार्य s contribution therefore, was not so much in the direction of theory proper as in that of translating the theory into practice.

Of the same age were the following — the हरिवंशपुराण ascribed to another Jinasena the पद्मपुराण and the प्रद्युम्न-चरित by महासेनाचार्य The हरिवंशपुराण ascribes the foundation of all social and political Institutions to ऋषभ (वृषभ) in accordance with the orthodox Jaina views. Like the other two Jaina works mentioned above, it has

(12) Beni Prasad, ibid p 227
(13) Beni Prasad, op. cit. p 227
(14) सोमप्रभाचार्य कुमारपालप्रतिबोध. Edited by Muniraj Jinavijaya, Gaekwad Oriental Series, No. XIV Baroda.
(15) Cf Beni Prasad, ibid, p. 228.

nothing new to add to our subject,[16] although none of them can be dismissed as being useless from the general stand point of socio-political development.

Perhaps to the same twelfth century A. D have to be assigned the following Jaina authors-अभयदेवसूरि, Who wrote a Commentary on the भगवती and जिनपतिविजयगणि the author of the commentary called सुबोधिका on the कल्पसूत्र of भद्रबाहु[17] These works have fleeting references to the socio-political growth of the people

We may now pass on to the main contribution of the Jainas to Indian Political theory It may be grouped under the following heads —(a) The Jaina theory of the origin of society or the theory of cycles of ages (b) The Jaina concept of the origin of overlordship or the theory of Patriarchs (c) The Jaina ideals of क्षत्रिय-hood (d) The Jaina theory of दण्ड or punishment (e) the Jaina idea of universal monarchs (f) the Jaina idea of Government and (g) the Jaina forms of Government. To these will be added the specific contribution by two of the most outstanding of Jain authors, सोमदेवसूरि and हेमचन्द्राचार्य to Indian political theory and to the ends of the state.

(a) **The Jaina origin of Society:** It is necessary to repeat here that the Jaina lore which was reduced to a definite shape in the fifth century A. D at the famous council of Valabhi presided over by the venerable देवर्द्धिगणि stretched back to considerable antiquity and was anterior to the Buddhist traditions which it rivals both in variety and vastness. We have, therefore to assume that the Jaina versions of the origin of society and of kingship present a view point which had held its own for centuries in the land. Perhaps one of the finest exposi-

---

(16) Cf. Beni Prasad, op cit. p. 227 On page 228 Dr Beni Prasad wrote thus —"It is interesting to note that the Jainas have their पुराणs which betray deep Brahmanic influence. The Pradyumnacaritra has been edited by Manohar Lal Shastri and Ram Prasad Shastri in the Manik Chand Digabbara Jaina Granthamala, No. 8. Bombay Vikrama era 1973 नयचन्द्रसूरि's हम्मीरमहाकाव्य (Edited by Nilakantha Janardhan Kirtane Bombay 1879) contains a few references to Government but not in the manner of either सोमदेवसूरि or हेमचन्द्राचार्य Of an inferior order was to contribution by the Kannada Jaina authors to some aspects of political theory Chief among the Kannada poets were गुणवर्म (circa A. D 900) आदिपम्प (A. D 941) पार्श्वपण्डित (A. D 1205) मंगराज (A. D 1331) मधुर (A. D 1385) and चिदानन्दकवि (circa A. D 1680) These Jaina authors have written either on नीति or राजनीति or service to the State (R. Narasimhacarya Karnataka Kavicharite I ph. 24, 36 327 412 II pp. 431 432, 500 While these Jaina authors help us to confirm the fact that the ancient ideals still survived in these parts of the land, they do not enlighten us on the main political theories as is done by सोमदेवसूरि or हेमचन्द्राचार्य

(17) On the Jaina authors and on their probable dates, read Winternitz, op. cit. II pp. 480—595

tions of the Jaina theory of the origin of society is given by जिनसेनाचार्य in his आदिपुराण and continued by his eminent pupil गुणभद्र in the latter's उत्तरपुराण [18]

Jinasena visualized the origin of society amidst surroundings which were of pristine purity and happiness The times fell from a state of perfect virtue and happiness, the decline being gradual and extending over millions of centuries Here the Jaina author perhaps starts in the manner of the ancient Hindus but from now onwards, however evolves a theory that was essentially Jaina in concept. He advocated a two-fold cycle of progressive evolution (उत्सर्पिणी) and of recessing evolution (अवसर्पिणी) which rotate one after another like the two successive fortnights. Each of these cycles consists of six ages or time-divisions which are the following — (a) Bliss—bliss (सुषमा-सुषमा) Bliss (सुषमा) Bliss—sorrow (सुषमा दुषमा) sorrow—Bliss (दुषमा-सुषमा) sorrow (दुषमा) Sorrow sorrow (दुषमा-दुषमा) We have in the above cycles the gradual inking up of the previous age with the following one in such a manner as to indicate the evolution of society from an age of idyllic felicity to one of misery and pain The cycles vary in duration so as to permit longer duration of happiness The exact computation of the ages is a feat of mathematical skill. As to what exactly Jinasena had in mind when he pictured the first stage in the history of human society will be evident when we note the description of the men and women in that age They enjoyed a span of existence which cannot adequately be computed. Hence so far as their ages were concerned, they were like aeons. They had a golden complexion their countenances being as beautiful as their virtues were perfect. There was no question of their earning their daily bread, since it was one of idyllic surroundings which yielded whatever they desired through the कल्पवृक्ष or wishing-trees. At the merest prompting of their hearts, the कल्पवृक्ष gave them whatever they wanted.

The above age of indescribable happiness gradually declined in the second cycle, and to a still lower level in the third cycle when there took place some profound changes in the world. Among these was the appearance of the sun and the moon in the heavens, and the consequent alarm and surprise which they caused among mankind. The men then went to प्रतिश्रुति the one person who was pre-eminent in that society of perfect equality and happiness, for advice Here we are introduced to the theory of the कुलकर or Patriarchs whom we shall presently mention. Jinasena, while describing the अवसर्पिणी or recessing evolution refers to the आर्य क्षेत्र of the भारतवर्ष that is probably to the आर्यावर्त of the ancient Hindu writers, which was the region between the हिमालय and the विन्ध्य, perhaps excluding the eastern parts of India, on the one hand, and the south-western parts of northern India, or सिंध and सौराष्ट्र[19] It was here in the आर्यक्षेत्र that Jinasena placed the life-history of the कुलकर to which we may now turn.

(b) **The Theory of the Patriarchs.**—प्रतिश्रुति was the first कुलकर or patriarch in a

(18) गुणभद्र उत्तरपुराण प्रशस्ति प 11—12.

(19) The Manusmrti defines आर्यावर्त thus —"But (the tract) between these two mountains (the हिमालय and the विन्ध्य) which (extends) as far as the eastern and the western oceans the wise call आर्यावर्त (the country of the Aryans) Since in

line of fourteen patriarchs. These patriarchs were called by four different names according to the functions performed by them. They were मनु because they knew and taught the people the means of their livelihood कुलकर because they taught the आर्य्य how to live together कुलधर because they established many families and युगादिपुरुष because they were the embodiments of the age-cycles.

The first कुलकर explained that the light of the कल्पवृक्ष or wishing-trees was fading away and that the planets had, therefore become visible. There was no cause of fright among men. At this the latter felt profusely re-assured, and thanking and praising him, in accordance with his wishes returned to their homes. But the countless aeons rolled on, and other and more profound and more alarming changes came into view The stars appeared in the heavens, and the mountains and rivers became visible on earth Animals which till now had remained docile, became more ferocious. The innocent people were then siezed with fear at the growing sense of insecurity around them. At this stage there appeared the other patriarchs, who taught men how to adapt themselves to the changing environment. These new Teachers told men how to protect themselves from ferocious brutes, how to tame and break elephants, horses, and other animals, how to climb mountains, and how to cross rivers by means of canoes. In the meanwhile the कल्पवृक्ष were slowly but surely declining in number Over the remaining कल्पवृक्ष, the men, who had now become selfish, began *to quarrel with ever increasing* ferocity

With the fifth patriarch order came out of chaos. The fifth कुलकर was सीमंकर who marked the wish-giving trees and fixed their boundaries. His successor सीमंधर demarcated the dwindling कल्पवृक्ष still more clearly During the age of the eleventh Patriarch नाभि the कल्पवृक्ष altogether disappeared. Clouds and rain came for the first time, and the earth began to shoot forth ordinary trees, herbs and fruits. The people approached नाभि and enquired of him as to what they were like—beneficial or injurious. That Patriarch gave them a long discourse along with a demonstration He taught them the art of cooking the products of the earth but warned them against the poisonous plants. This brought about a complete transformation in the life of man.

It was left to the last Patriarch ऋषभदेव to establish the six occupations relating to the martial, agricultural, literary artistic, commercial, and industrial aspects of man's life. He instituted the three castes of the क्षत्रिय, the वैश्य, and the शूद्र. In each caste were men who were best fitted to fulfil the object of that particular caste. The शूद्र were

---

the preceding verse (No 21) Manu has described the Madhyadesha or the central region, as lying between the हिमवत् and the विन्ध्य and as being located to the east of प्रयाग and to the west of विनशन (the place where the सरस्वती disappeared) (Manu VII 21—22 p 33 Buhler's trans. S B E. XXV) Professor Ghoshal's equation of आर्यावर्त as given by Jinasena, and as being the middle region of भारतवर्ष (Ghoshal op cit, p 457) does not seem to be correct

further subdivided into two sections—the washermen barbers etc. and the rest. The latter were further subdivided into the touchables and the untouchables. ऋषभदेव planned towns, built villages and grouped them into circles of eight hundered, four hundred, and two hundred. He apportioned the earth among four great monarchs, each of whom was the lord of a thousand smaller kings under him. It was now when the political institutions of governments were thus established. ऋषभदेव founded the other institution of punishment and imprisonment. The justification for thus creating punishment was that hitherto men had obeyed even when they had been mildly rebuked but now they ceased to listen even when mildly rebuked chastisement of a severer type was now needed to bring them round, and this could be done only by punishment.

As to how punishment came gradually to assume its full stature we are told in the आदिपुराण that, with the increased wickedness of men, the patriarchs progressively increased their penalties for offences. Thus, the first five Patriarchs and their successors had merely prescribed for offences the punishment of crying alas (हा) to which the next five Patriarchs added that of warning (मा) against the repetition of the offence while the last four Patriarchs prescribed for offenders the punishment of crying shame (धिक्) while it was only भरत who, on realizing that men could not be weaned from crimes, instituted corporal punishment imprisonment, and even death. Thus was the earlier भोगभूमि or land of enjoyment, transformed into कर्मभूमि or land of action, the age-cycles made complete and coercive punishment, so essential in preserving order introduced into the history of men It was only in this way that the strong were prevented from swallowing the weak like the proverbial law of the fish (मात्स्यन्याय) [20]

So that we might complete Jinasena's ideas on government, we may here briefly enumerate the obligations of the king to subjects. Jinasena, we may be permitted to repeat, states that the rule relating to the punishment of the wicked and the cherishing of the good, had not existed in the earliest ages, since men had lived in a state of complete happiness. It was only in the absence of the wielder of the दंड or punishment, that there was the fear of the larger fish devouring the smaller as mentioned just above. It was here, while referring to the origin of punishment, that Jinasena reveals that inspite of his describing an idyllic state of nature he was influenced by the earlier Indian concept relating to the मात्स्यन्याय which was a familiar simile with the ancient Hindu authors on Polity मनु for instance states thus —"If the king did not, without tiring, inflict punishment on those worthy to be punished, the stronger would roast the weaker like the fish on a spit."[21] कौटिल्य is even more expli

(२०) आदिपुराण III XVI 130-190 214 216 240-245 255-257 See also Beni Prasad, op cit. pp 222—224 Professor Ghoshal would make the last group of patriarchs five (Ghoshal, op-cit. p 457) but this would make them all fifteen when he himself states in para first of the same page that there were fourteen Patriarhs beginning with प्रतिश्रुति Evidently he has included भरत whom, however he would style as a कुलधर, and not as a कुलकर, on the same page.

(21) Manu, VII 20 p.219

cit on this point. "For when the law of punishment is held in abeyance, it gives rise to such disorder as is implied in the proverb of the fishes for in the absence of a magistrate, the stronger will swallow the weak, but under his protection the weak will resist the strong (अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति बलीयानबलं ग्रसते दण्डधराभावे तेन गुप्तः प्रभवति इति।)"[22] Jinasena, therefore, does not improve upon the earlier Indian authors in regard to the cause of the origin of punishment. He only differs from them in so far as the condition of society prior to the institution of punishment was concerned. Jinasena in this respect as will be explained below differs from another illustrious Jaina thinker सोमदेव सूरि.

Jinasena s ideas of government may now be briefly summarized. In his आदिपुराण he enumerates the king s obligations to his subjects, thus[23] —the obligation to preserve the कुल (family) meaning thereby perhaps, as Professor Ghoshal rightly says, that the king had to preserve the family customs (कुलाम्नाय) of his own and of other families.[24] Then there was the obligation to divide society into two classes—those who should be protected and those who were to be made to devote themseves to their respective professions. The second idea was obviously in accordance with the earlier Hindu idea of the king s duties as given for instance, in the मनुस्मृति thus —'The king has been created (to be) the protector of the castes (वर्ण) and orders (आश्रम) who all according to their rank shall discharge their several duties."[25] The next obligation of the king, according to Jinasena was to follow the law (dharma) and lead others on the same path. The fourth obligation was to inflict punishment. Then came the king s obligation to preserve his subjects like a cowherd preserving his herd of cattle In this connection, Jinasena elaborates his theory of दण्ड and says among other things, that punishment should not be severe but appropriate to the crime committed. This was, by way in accordance with the ancient Indian theory which मनु has elaborated in the मनुस्मृति[26] The comparison which Jinasena has made between the cowherd and the king is worked out by him in a detailed manner in the आदिपुराण[27] We may just comment on two ideas which Jinasena has elucidated in this connection. The first refers to the king s cherishing his hereditary troops (मौलम् तन्त्रम्) and the second to the king s strengthening himself within the sprere of the circle of states (मण्डल) Both these ideas were of considerable antiquity[28] I have shown elsewhere how the idea of मण्डल or राजमण्डल was a very ancient concept. As regards the hereditary troops and the need to maintain them, Jinasena obviously had कौटिल्य in mind, for the latter

---

(22) कौटिल्य अर्थशास्त्र Bk. I ch IV 9 p 8 (R. Shama Sastry s trans. 3rd. ed. Mysore. 1920) text, p 9 (Ed. by R. Shama Sastri Mysore 1924)

(23) आदिपुराण XLIII

(24) Ghoshal op cit. p 464

(25) मनु VII 35 p 221

(26) मनु VIII 126-130 p 276

(27) Read Ghoshal op cit. pp 465-467 for an elaborate description of this question.

(28) Read my India s Diplomatic Relations with West pp. 36-42 (Bombay 1958)

the Patriarchs and men is one of pre-eminence on the part of the former and the need for guidance on the part of the latter That Jinasena s concept of protection and taxation was more idealistic than practical and that, therefore, it was not accepted by other Jaina theorists like सोमदेव सूरि will be evident when we shall describe in some detail the concept of government as given in the latter s नीतिवाक्यामृतम् below

Even Jinasena could not escape the necessary relationship between the ruler and the ruled, as is clear from the fact that, according to him, the informal relationship of pre-eminence, on the one hand, and the need for guidance on the other gradually came to be converted into that of the rulers and the ruled. The Jaina theory of the origin of society caste and government is completed when, after ऋषभदेव the last of the कुलकर s and the first of the तीर्थंकर, his son भरत assumed the status and powers of a world-conqueror (चक्रवर्तिन्) and of the founder of families (कुलधर) The individualistic outlook of the Jainas is evident when we note that Emperor भरत selected a number of persons from the three castes, grouped them into a fourth caste and called it ब्राह्मण In this way did the early Jaina leaders create the fourth caste in order to meet the exigencies of life In doing so they could not free themselves from the concept of the four-fold division of society of the ancient Hindus. But how they transformed the old concept was to make the first caste among the Hindus, namely the ब्राह्मण, inferior to the rest of the three castes. That Jinasena laboured under the earlier idea of the Hindus, even when he had created the fourth caste of the ब्राह्मण from amongst the best of the three castes, which had already been formed, is clear when it is observed that in the आदिपुराण ऋषभदेव instituted the order of the क्षत्रिय with the weapons in his hands, brought the वैश्य s into existence with his thighs, indicating the ways of travel, and created the शूद्र s with his feet. It was left to Emperor भरत to bring into existence the ब्राह्मण s by teaching the शास्त्र s with his mouth. All the four castes, according to the theory as enunciated by the author of the आदिपुराण professed originally Jainism but later on when they fell into "falsehood. abjured that religion and embraced Hinduism, as had been foretold to Emperor भरत in an ominous dream.[35]

On other important matters, particularly governmental institutions, the आदिपुराण had practically nothing to say Although protection was not a fundamental function of monarchy, yet Jinasena would make the ruler the embodiment of all virtues, and would require of him his ungrudging attention and his untiring energy devoted to the protection of his subjects. The revenue was to be realized like a milkman milking the cows without causing hardships to the people अहिंसा or non-violence to all living creatures, was to be the essence of religion, and the universal conquest of the world by अहिंसा was the aim of Jinasena s political theory[36]

In order to better appreciate Jinasena s idealism, we should read the Jaina Sutras, and

---

(35) आदिपुराण XVI 241 248 see also Beni Prasad, op cit. p 225

(36) आदिपुराण IV 186-198 XVI 254 XXV-XXVI See also Beni Prasad, ibid pp 226-227

especially the significant work of सोमदेव सूरि to be mentioned below For instance, in the उत्तराध्ययन सूत्र there is a very interesting description of the ideals of क्षत्रिय-hood in the conversation between नमि who had descended from the world of gods and was born as a man, and Indra disguised as a ब्राह्मण The occasion was the complete retirement of नमि to a life of meditation when he had reached the excellent stage of प्रव्रज्या at which Indra draws his attention to the uproar in the erstwhile capital of नमि मिथिला and advises him thus :—"Erect a wall, gates, and battlements dig a moat construct शतघ्नीs then you will be a क्षत्रिय नमि answered that his faith was his fortress self control the bolt of its gates patience its strong wall, zeal his bow truth the strength with which he pierced the arrow the penance the foe s mail, and कमन the weapon with which he could be victor in the battle of the संसार or life. Indra then said —"Build palaces, excellent houses (वर्धमानगृह) and turrets, thus you will be a क्षत्रिय नमि answered that he who built houses on the roads would certainly get into trouble he may take up his lodgings where-ever he wanted to go Then Indra said —"Punishing thieves and robbers, cut purses, and burglars, you should establish public safety : thus will you be a क्षत्रिय नमि replied :—"Men frequently apply punishments worngly the innocent are put in prison, and the perpetrator of the crime is at liberty Indra answered —"O king, bring into subjection all princes who do not acknowledge you thus you will be a true क्षत्रिय At this नमि replied that, although a man might conquer thousands and thousands of valiant foes yet his greater victory would be when he would conquer himself Indra then said :— "Offer great sacrifices, feed श्रमणs and ब्राह्मणs, give alms, enjoy yourself and offer sacrifices thus will you be a true क्षत्रिय To this नमि replied that he who controlled himself was better than he who gave away thousands of cows as gifts. Then Indra said—"Multiply your gold and silver your jewels and pearls, your copper fine robes and carriages, and your treasury thus you will be a true क्षत्रिय " नमि replied by saying that, since there was no end to man s greed, it was best to practise austerities. Indra failed to entice the enlightened नमि with the pleasure and privileges of ideal क्षत्रिय-hood.[37]

In the above we have, among others the following important concepts —(a) that relating to the duty of a क्षत्रिय—(i.e., a king) who was to get ready the necessary fortifications of his capital (b) that concerning his duty of punishing the wicked and of establishing public safety (c) that relating to the subjection of all recalcitrant chieftains, that is, to his ambition as a conqueror (d) that relating to his patronage of dharma in the shape of performing sacrifices, feeding the श्रमणs and ब्राह्मणs, and giving alms etc and (e) that relating to his increasing the material wealth in the shape of gold, silver jewels, etc. The Jaina Sutras are in perfect agreement in regard to these ideals of a क्षत्रिय as narrated in the मनुस्मृति as

(37) Jacobi, Jaina Sutras, Part II IX 17-40 No 37-40

(38) मनु, 1 89 p 24 VII 87–95 144 pp 230–231 X. 77–79 115 pp. 419 423

This proves that so far as the concept of क्षत्रिय-hood is concerned, there was perfect agreement between the ancient Hindus and the ancient Jainas.

The Jaina Sutras also enlighten us on the names of universal monarchs whose ideal was भरत the son of ऋषभदेव About भरत it is said that after learning the pure creed of the jaina faith "which is adorned by truth and righteousness, he gave up भारतवर्ष and all pleasures and entered the order The pure faith is described thus— A wise man believes in the existence of the soul he avoids the heresy of the non existence of the soul possessing true faith one should practise the very difficult law according to the faith. Next to भरत (King of अयोध्या) it was सगर (also King of अयोध्या) who likewise gave up the ocean-girt भारतवर्ष and his unrivalled kingly power and reached perfection through compassion Then came Maghavan (king of श्रावस्ती) who was also a universal monarch of great power and who gave up भारतवर्ष before taking to the life of the pure faith. Next came सनत्कुमार, (King of हस्तिनापुर) another चक्रवर्तिन् who abidcated in favour of his son, and then practised austerities. शान्ति the next universal monarch, followed suit. King कुन्थु the bull of the इक्ष्वाकु race, likewise gave up his universal dominion in order to become an ascetic Then came Ara, who similarly gave up the sea—girt भारतवर्ष before becoming perfect. महापद्म (King of हस्तिनापुर) gave up his large kingdom, his army war chariots, and his exquisite pleasures before becoming perfect. He was followed by हरिषेण (King of काम्पिल्य) जय दशार्णभद्र king of दशार्ण करकंडु of कलिंग द्विमुख of पाञ्चाल नमि of विदेह नग्गति or नग्नजित of गान्धार उदायन of सौवीर, नरन of काशी विजय the son of ब्रह्मराज of द्वारवती and महाबल of हस्तिनापुर"[39]

Two points are clear from the above list of universal monarchs as given in the Jaina Sutras —First, that the Jainas had a concept of universal dominion and, secondly all the monarchs after realizing the pleasures of the world, became ascetics in the true sense of the term.

The Jaina Sutras are also important from another point of view They refer to occasional periods of anarchy in kingdoms which were unsafe for Jaina monks to visit. In such countries they were liable to be suspected as spies. The six different forms of governments in this connection are the following अरायाणि वा गणरायाणि वा युवरायाणि वा दो रज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्ध रज्जाणि वा That is those states of the अराजता form, those ruled over by the गणs those ruled over by two युवराजs, those by two kings, those called the वैराज्य and those styled वैरुद्धराज्य.

Excepting as regards the गण states there is hardly any agreement among scholars as to what exactly the other kinds of States were as mentioned in the above list. The first type of the State was evidently one in which there was perpetual misrule. The word गण was evidently used in the Jaina Sutras in the sense of a republic and it is therefore, not improbable that we have to refer the term गण-राज्य to a republican constitution of some sort about which no exact information is available in the Jain literature The term गण was used by पाणिनि in

(39) Jaina Sutras, XVIII. 33-51 p. 85 88 for the identification of Kings, p 85 note (1)
(40) आचारांग-सूत्र II. 3 1 10.

the sense also of a संघ in which there seem to have been two parties as indicated by the term द्वन्द and an executive as suggested by the term वर्ग composed of either five or ten or twenty members.[41] But more than this it is not possible to say about the गणs concerning which there is some indefiniteness among scholars. For instance the late Professor A. S Altekar while commenting on the same passage in the आचारांग सूत्र wrote that गण meant a democratic government, and that "it had a definite constitutional meaning and denoted a form of government where the power was vested not in one person but in a गण or group of people[42] This explanation is not helpful, since a group of people could agree to work together without forming themselves into a republican form of government. Villagers in India, as is well known have always worked in groups of their own But that does not mean that we could consider the village communities as republican types of government.

An equally inadequate definition was given by the late Professor Beni Prasad, who wrote of गण or repulican oligarchies.[43] A more elaborate explanation of the term गण was given by the late Dr K. P Jayaswal, who maintained that the गण State was a republican State ruled by numbers, that it was another term for संघ that the counting of votes took place in a गण State that it had its own मुख्यs or chieftains, a Court, an Assembly-whip and even a Parliament.[44] We may merely observe that this fine edifice of suppositions does not rest on historical facts.

Likewise an equally unconvincing explanation was given by that versatile scholar of the word अराजता or अराजक which in the Vedic and post Vedic literature meant a state of anarchy[45] Dr Jayaswal construed अराजक in the sense of a non-ruler constitution a sort of an idealistic form of government in which Law was the ruler there being no man-ruler The basis of the State was the mutual agreement or social contract of the citizens.[46] The least one could say about this fantastic interpretation is that, if the अराजता or अराजक State was really of the idyllic type described by the learned historian one cannot understand why the Jaina Sutras should have included it in the list of States which were forbidden to the Jaina monks

The युवराज State mentioned in the same list evidently referred to a State which was ruled over by two (rival) crown princes at one and the same time But what one fails to understand

(41) पाणिनी अष्टाध्यायी V 1.60 Agrawala, V S India as known to Panini pp 428-434 (Lucknow 1953)

(42) Altekar A. S The State and Government in Ancient India, p 70 (Banaras 1949)

(43) Beni Prasad, op. cit p 357

(44) Jayaswal, K. P Hindu Political theory pp 22, 23 101-103 etc. (Bangalore 1955 revised and enlarged ed.)

(45) तैत्तरीय ब्राह्मण 1.5 9 1 ऐतरेय ब्राह्मण I 14 6 See also Vedic Index, II p.215 Rangaswami Aiyangar Some Aspects of Ancient Indian Polity pp 82-84 (Madras 1935 2nd. ed)

(46) Jayaswal, ibid, p 84.

is why the युवराज States continued to remain in the युवराज stage without the युवराज not attaining the full status of two राजाs In the context of the Jaina work, we may presume that a युवराज्य was declared dangerous for a Jain monk because it was obviously ruled, as stated above by two rival युवराजs, who must have been led by their respective leaders and politicians, thereby drawing the land in a perpetual era of misrule.[47]

About the दोरज्जाणि वेरज्जाणि and विरुद्धरज्जाणि too there is no agreement among scholars as to their exact meaning. Dr Jayaswal has nothing special to say about the दोरज्जाणि excepting that it was a constitution while about the वेरज्जाणि he says that it was a democratic republic in which the whole country was supposed to rule. While the विरुद्ध रज्जाणि according to the same authority was a State which was ruled over by parties.[48] These definitions do not improve matters. According to Professor Altekar the दोरज्जाणि (or द्विराज्य) was a State where two kings ruled if they pulled in opposite directions, there was a fighting State (वैराज्य)[49] No authoirty is cited by the learned professor for these definitions.

We must leave the above six forms of government as given in the Jaina Sutras at this stage, merely noting that, while the Sutras certainly give the names of the different forms of government, they do not help us to understand their exact nature. This does not mean however that we could agree to the view of Professor Beni Prasad that the Sutras merely touch on government "in a rather left handed way"[50]

In marked contrast to Jinasena s idealism was the realism of सोमदेवसूरि. Like Jinasena, he too served under a ruler of the Deccan But सोमदेव's patron was in political status unlike the powerful राष्ट्रकूट monarch whose preceptor was Jinasena. This difference in the status of the two royal patrons of the two Jaina authors may be borne in mind in our estimate of their contribution to the totality of Indian political thought. सोमदेव सूरि lived at the court of a ruler called यशोधर, who was the feudatory of the great राष्ट्रकूट monarch कृष्ण III. He wrote two works—one called नीतिवाक्यामृतम् (The Nector of Political Maxims) and the other यशस्तिलक His age is determined from the end of the latter work wherein it is stated that it was finished

(47) Dr Jayaswal s statement that the युवराज State referred "to a government like the one over which खारवेल presided before his coronation and that it refers to an interregnum (Jayaswal op cit p 84) merely escapes the issue If it was merely a question of an interregnum did it necessarily mean a period of anarchy? Why should it have been classed by Jainas along with the other kinds of States of the अराजता type?

(48) Jayaswal ibid pp 84 85 of the State called वेरज्जाणि was called by that name because as Dr Jayaswal assumes it was ruled over by parties then, in what way was it different from the गण State which on the eviednce of पाणिनि as seen above had two parties? Dr Jayaswal s explanation is unconvincing

(4) Altekar op cit. p 21

(50) Beni Prasad, op cit p 228

on the 13th of चैत्र when 881 years of the शक king had elapsed, the cyclic year being सिद्धार्थिन during the reign of यशोधर, when the latter's suzerain was कृष्णराजदेव.[51] सोमदेव, therefore, lived in A. D 959 From the two works mentioned above and especially from the यशस्तिलक we learn that सोमदेव was an आचार्य of the देवसंघ Incidentally it may be noted here that as pointed out, by me elsewhere, the देवसंघ was one of the four संघs mentioned in देवसेन's दर्शनसार (A. D 933) the others being the नन्दी सिंह and सेनसंघ.[52] सोमदेव we may presume was a southerner and probably one of the earliest to enter the देवसंघ He was a pupil of नेमिदेव who was a pupil of यशोदेव सोमदेव was noted as a great dialectician, a poet of considerable merit, and a master of Jaina theology and tradition.[53] He wrote the नीतिवाक्यामृतम् in the सूत्र form, but the यशस्तिलक in the चम्पू style Of these two works the नीतिवाक्यामृतम् contains a more comprehensive treatment of government and allied subjects than the यशस्तिलकचम्पू which seems to be later work, since the यशस्तिलक is mentioned in the नीतिवाक्यामृतम् सोमदेव's style and diction *are uncommonly excellent. He is supposed to have written three other works but only one of* which called त्रिवर्गमहेन्द्र-मातलिसंजल्प refers to politics. This work is a dialogue between Indra and his charioteer मातलि on धर्म अर्थ and काम.[54]

We may now analyse सोमदेव's contribution to political theory Unlike any previous Jaina writer सोमदेव like another शुक्राचार्य deifies the State in the first सूत्र of the नीतिवाक्यामृतम् thus—अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नमः. Now salutation to the State the source of धर्म and अर्थ सोमदेव thus anticipated by almost a millennium the Hegelian concept of the State's aim being the cheif good of human existence.[55] The fact that, unlike any other Jaina author he does not salute the तीर्थंकरs in his opening verses,and the equally significant fact that in the above work, although he mentions religion, yet allows the reader to interpret it as he will, suggest that सोमदेव was more inclined to lay stress on the material rather than on the spiritual side of man's existence In this, as in many other matters he followed कौटिल्य who in the latter's अर्थशास्त्र lays special stress on आन्वीक्षकी (Logic and reasoning) by giving it the place of honour among the four sciences, the next three being in order of importance the triple Vedas, वार्ता (agriculture cattle breeding and

---

(51) Peterson, Professor Report on the Skt. Mss. for 1883-1884, p 48 Bhandarkar R. G op cit. p. 207 and note (2) The नीतिवाक्यामृतम् was first published in the Manika Candra Granthasratnamala—22, Vikrama Era, 1979 It was also edited with an anonymous टीका by Pandit Pannalal Soni Bombay 1923

(52) Read Saletore op cit. pp 233-234

(53) Beni Prasad, op cit p 230 n (1)

(54) Beni Prasad, ibid, p 242 For a good critique on the नीतिवाक्यामृतम् read Dr Jayaswal, Hindu Policy pp 8–10.

(55) Read नीतिवाक्यामृतम् pp 1–28 See also Beni Prasad. op cit. p.230 The commentator Haribala on Somadeva's work states that Jaina author instead of saluting the तीर्थंकरs, preferred to imitate शुक्राचार्य the author of the now lost Qushnasa अर्थशास्त्र which began with a salutation to the State, thus—नमोऽस्तु-राज्यवृक्षाय षड्गुण्याय-प्रशाखिने (Jayaswal op cit. p 10)

trade) and दंडनीति [56] Both कौटिल्य and सोमदेव therefore considered knowledge to be essential for the well-being of the State Indeed, according to सोमदेव knowledge is the prime requisite in worldly affairs He even went to the extent of maintaining that anarchy was preferable to rule, by a king, who was uninstructed in the art of Government. A perverse king was worse than a calamity while a worthy king, who was the repository of all goodness and merit, was extolled by all men.[57] In this particular regard सोमदेव had outstripped even कौटिल्य who does not seem to prefer anarchy to rule of an unworthy king.

What was the end of the State ? To this question सोमदेव would reply in Kautilyan manner that the prosperity of the subjects was the end of the State But prosperity was impossible without protection which in its turn could not be maintained without punishment. It is here that we see how सोमदेव completely repudiated Jinasena s theory of protection as given above In order to understand सोमदेव's theory of punishment, we should follow him in his description of the king and of the latter's functions. The king was almost a God on earth, who bowed only to his ancestors and गुरु. His prime duty was protection सोमदेव asks the pertinent question–How can he be a king who does not protect his subjects (स किं राजा यो न रक्षति प्रजा:)[58] ? Protection surpasses all royal duties in importance and religious merit. Protection of the subjects is the king s sacrifice (प्रजा पालनं हि राज्ञो यज्ञः) and when the king protects his people in just ways the skies shower beneficiently all benefits (न्यायतः परिपालके राज्ञि प्रजानां कामदुघा दिशः) [59]

But protection was impossible without being strict in regard to sinners and criminals. They were obstacles in the way of the happiness of the people No mercy was to be shown to them they were to be just weeded out. The king could not condone crime he had to repress it If a king did not put down the wicked, he was on the road to perdition This was to be done by wielding the दंड or punishment which was to maintain the social order Indeed, the king was to set himself like the God of Death, the task of inflicting punishment, so that people did not transgress their prescribed limits,and so that they could attain the three ends of life Punishment was to be meted by the king only for the protection of the subjects and not for amassing wealth. In this direction Somadeva followed the स्मृति tradition.[60]

On the important question of the ministers and the need for the king consult them, सोमदेव followed closely कौटिल्य The ministers were to be men of character free from sensual pleasures reliable and courageous but they could never be foreigners. As regards deliberation, secrecy was to be maintained. The king was not to be satisfied with one minister

(56) Kautilya Bk I Ch ii 6 p. 5 text, p 6

(57) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम् p 26—56

(58) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम् p. 17 Cf. Aiyangar op cit. p. 108.

(59) Somadeva, ibid, 66 105

(60) Ghoshal, op cit. p 486

but with many सोमदेव dwells on the problem of ministers also in his यशस्तिलक [61] The details given both in the नीतिवाक्यामृतम् and यशस्तिलक about the minsters are far too many to be recounted here. They are on the whole in agreement with those given in कौटिल्य's अर्थशास्त्र [62]

Somadeva has something to say about the next important element of the State the army The army officers were not to be consulted on matters of State policy since they would be only too ready to solve them through war Further if they were to be placed in control of civil policy they might grow proud and powerful.[63] The army was the main support of sovereignty Of the many wings of the army the elephants were the most important section. Unlike कौटिल्य who relied on mercenary troops सोमदेव was of the opinion that hired troops were not of much use. Those solidiers were the best who were tied to the sovereign by bonds of sentiment. Everywhere the solliders put forth their best not because of prospective monetary gain (by way of a share in the loot or booty) but because of the honour expected from their royal master That is सोमदेव in the above as well as in his injuction that no foreigner was to be employed a minister gave expression to the keen sense of patriotism and nationality which had animated the people in those ages. But he was careful in warning the king that the latter should be punctual in paying his forces, What was the use of a cloud if it did not bring forth rain in time.[64]

While the army was certainly useful, diplomacy was not less important. Allies were to be secured in as many ways as possible He merely follows कौटिल्य in the delineation of the foreign policy [65]

Somadeva identified the State with the king to such an extent that he maintained that the safety of the monarch was the safety of the State He said that a people may be prosperous but if they have no government, they would come to no good. He firmly believed in protecting the king from all kinds of temptations, including that of women whom he unduly condemned as being the source of evil and a bundle of craft and hypocrisy The young princes were to be respectful to their parents even in thought, otherwise they would fall into misery [66]

On certain fundamental problems like taxation Somadeva was unequivocal He warns the State against over taxation. Taxation was to be adjusted to the resources of the people. Expenditure was never to exceed income He followed the ancient Hindu theory of one-sixth of the produce being levied as taxes, which was to be paid only in return for the protection given by the king. The king received not merely the sixth of the produce of land but also a corresponding

(61) यशस्तिलक III pp 367-374 Ghoshal, Ibid, p 468

(62) कौटिल्य-अर्थशास्त्र Bk I chs. VIII IX, X, & XV pp. 12—17 26—29 On ministers read नीतिवाक्यामृतम् pp 62—135

(63) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम् pp. 136—137

(64) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम् pp 207—215

(65) Ibid, pp 210—216 324—344.

(66) Ibid, pp 221—271

portion of the increase of the spiritual merit of his people as a result of protection He expressed it thus—परिपालको हि राजा सर्वेषाम् धर्मषष्ठांशम् आप्नोति[67] It was clear that he had rejected the theory of guidance of Jinasena, and had fallen in line with the traditional theory of the ancient Indian writers about the rate and policy of taxation

Somadeva s importance in the history of Indian political thought may be stated thus :— Firstly he re-enforced the अर्थशास्त्र of कौटिल्य in a manner which no other writer excepting कामन्दक had done thereby showing that कौटिल्य's theories had definitely come to stay centuries after the times of that great Mauryan Prime—minister Granting that, as has been shown by his commentator Haribala,[68] he followed closely कौटिल्य yet it proves that there was complete agreement between the Brahman कौटिल्य and the Jaina Somadeva in regard to the most vital question of the State Secondly we see here not so much as the repetition of ideas as the confirmation of the old ideas by a later writer thereby proving the continuity in Indian political thought. Thirdly Somadeva by departing from the idealistic stand of Jinasena, had shown the truly practical bent of mind which has always characterized the Jains. Fourthly Somadeva was in a sense modern since had eliminated all social privileges. Although he recognized caste and upheld the ancient Hindu theory view that people should follow their hereditary professions, and even looked upon the Brahmans with some special regard, yet he maintained the equality of all before the law[69] In this he no doubt followed कौटिल्य who had unmistakenably enunciated the policy of treating all subjects alike by the State[70] Fifthly Somadeva had gone a step further than कौटिल्य by idealizing the State. No Indian writer had ever invoked the State in the manner Somadeva had done. This is all the more remarkable when we realize that his patron was a petty feudatory of a great monarch. But like कौटिल्य he wrote for all time and for the whole country Like Machiavelli producing his celebrated 'The Prince under the auspices of a small ruller Somadeva wrote his two works नीतिवाक्यामृतम् and यशस्तिलक under the patronage of an insignificant ruler thereby demonstrating the fact that remarkable things were written and done not necessarily under the patronage of mighty monarchs but were also produced under the benevolent care of smaller men amidst comparatively humbler surroundings. This leads us to the last point of importance concerning Somadeva which is involved in the previous one By anticipating Hegel's idea of the State to some extent, Somadeva had not only assured for himself a place of

(67) Ibid. pp 18,250—271 See also Aryangar op. cit. p 109

(68) Haribala s commentary is printed in the Digambara Jaina Granthamala See also Somadeva नीतिवाक्यामृतम् pp 6—7 (Soni s ed. 1928) Aiyangar op cit p 17 and note (31) Beni Prasad, op. cit p 242

(69) Beni Prasad, ibid, pp 241—242. Read also Ghoshal, op cit. pp 476—489 for an elaborate account of Somadeva s theory

(70) This point is fully brought out in my forthcoming publication entitled Ancient Indian Political thought and Institutions.

respect among all political thinkers, but had vindicated the position of Indian political thought in the international field. Somadeva s deification of the State and the practically negligible part which the individual played in his concept of the State forestalled in a measure the nineteenth century German political philosopher G W F Hegel s concept of the State Hegel in his work on The philosophy of Right (1821) taught that the State was the real person its will being the manifestation of perfect rationality In his own way Somadeva, too had stated the same idea, namely that knowledge was the prime requisite in the affairs of the State thereby emphasizing the importance of rationality When Hegel maintained that "the State is the divine idea as it exists on earth" he seemed to express in modern terms Somadeva s dictum that the king is a great god, to whom all excepting the ancestors and the गुरु had to bow And in the statement of Hegel that "all the worth which the living being possesses—all spiritual reality—he possesses only through the State he had admirably conveyed the idea of Somadeva as expressed in the salutation to the State cited in an earlier context in this paper namely अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः But Somadeva stopped with this while Hegel developed the philosophical theory of the State transcending the limits of his Jaina predecessor[71] Nevertheless the tenth century Jaina political thinker inspite of all his shortcomings, had earned for himself and his country a place of distinction among international thinkers who had deified the position of the State

Two centuries later there appeared one of the greatest figures in the Indian literary world. This was हेमचन्द्राचार्य also called हेमाचार्य (A. D 1089—1173) His royal patron was first the famous सिद्धराज जयसिंहदेव (A. D 1094—1143) the monarch of Gujarat, and, then the next ruler कुमारपालदेव (A. D 1143—1174) In the days of king सिद्धराज हेमचन्द्राचार्य had written a treatise on grammar called सिद्धहेम as well as other works like अभिधानचिन्तामणि अनेकार्थनाममाला हेमनाममाला or a string of names composed by हेम (चन्द्र) and had begun his great द्व्याश्रयकोष which was intended to teach both grammar and the history of the चौलुक्य or सोलंकी family to which king सिद्धराज had belonged. But हेमचन्द्राचार्य became more famous during the reign of the next monarch of Gujarat—कुमारपालदेव हेमचन्द्राचार्य's गुरु was the learned महागुरु देवसूरि a श्वेताम्बर teacher[72]

The life of हेमचन्द्राचार्य is interwoven first with the career of सिद्धराजदेव and then of that of कुमारपालदेव[?] It abounds in wonders with which we are not concerned here In the reign of कुमारपालदेव he wrote many well known Sanskrit and Prakrit works like अध्यात्मोपनिषद् or योगशास्त्र in twelve chapters and 12,000 verses त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित or the lives of sixty three Jaina saints of the उत्सर्पिणी and the अवसर्पिणी ages the परिशिष्टपर्व of 3500 verses being the

(71) Read Hegel G 10 F The Philosophy of Right (1821) Translated by S W Dyde Read also Beni Prasad, op cit. p 345

(72) Indraji Bhagawanlal History of Gujarat (in the Bombay Gazetteers) pp 150 180 and ibid, note (2) 191 192

(73) Indraji ibid, p 182ff.

life of a Jaina Sthavira who had flourished after महावीर the Prakrit शब्दानुशासनम् or Prakrit grammar द्व्याश्रयकोश which he begun in the previous reign of king सिद्धराज and which was a double dictionary being both a grammar and history the छन्दोनुशासन of about 6 000 verses on prosody the लिंगानुशासन on genders the देशीनाममाला in Prakrit with a commentary a work on local and provincial words अलंकारचूडामणि a work on rhetoric and finally लघु-अर्हन्नीति with which we are concerned here.[74]

Along with the लघु-अर्हन्नीति we have to study त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित the first book which styled आदीश्वरचरित is of much interest to us. The great Hemacandra harked back to जिनसेनाचार्य to some extent but could not *help following* the earlier Hindu writers on polity in certain other important matters. In his account of the origin of society and the political order हेमचन्द्राचार्य treads in the foot—steps of जिनसेनाचार्य The आदीश्वरचरित for instance is more of the pattern of the आदिपुराण inasmuch as it is introduces the *reader of the twelve—spoked wheel of Time with its two great cycles called* अवसर्पिणी and उत्सर्पिणी The अवसर्पिणी cycle had six ages in a decending order namely pure Bliss (एकान्त-सुषमा) Bliss (सुषमा) Bliss—Sorrow (सुषमा-दुषमा) Sorrow—Bliss (दुषमा-सुषमा) Sorrow (दुषमा) and pure sorrow (एकान्त-दुषमा) The उत्सर्पिणी cycle had the same spokes but in a reverse order The succession of the six ages in the अवसर्पिणी cycle was attended with a *gradual decline in the longevity and health of men, in their food, and even* in the कल्पवृक्षs or wish—giving trees. It was in the third age of the अवसर्पिणी cycle that the hero विमलवाहन and his wife (both twins) were born in the southern part of the भारतवर्ष in the जम्बूद्वीप in the region between the Ganges and the Sindhu. विमलवाहन was the progenitor of a line of chiefs. When in the course of time the wish giving trees diminished in potency one of the twins born in the manner of their progenitors, wished to acquire a कल्पवृक्ष at which the other afflicted twins made विमलवाहन their king with ruling powers. Then the latter divided the wish—giving trees among his followers, thereby originating the Institution of property He then instituted the penalty of 'हाकार' for *punishing any one who crossed the boundary of a wish—giving tree* with a view to securing the tree of another Gradually with the further decline in morality the fourth descendant from विमलवाहन instituted the penalty of 'माकार' the sixth introduced the penalty of धिक्कार In the days of the seventh patriarch called नाभि they made, at his advice ऋषभ their monarch, who introduced the institution of punishment in its civil and criminal aspects[75]

Notwithstanding the above approach to the problem of the origin of society and of

---

(74) Indraji, op cit. p 183 The लघु-अर्हन्नीति does not figure in this list. On लघु-अर्हन्नीति see Beni Prasad, op cit p 227 Ghoshal op cit. pp 458 490

(75) Hemacandra, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित Bk. I आदीश्वर चरित pp *93—99 148 —155* (Trans. into English by Dr Helen N Johnson, Baroda, G O S 1931) Text published earlier in Bhavnagar 1900 See also Ghoshal op cit. pp 459—460

ence that कुमारपालदेव gave up the use of flesh and wine, ceased to take pleasure in the chase and by beat of drum forbade throughout his vast kingdom the taking of life. कुमार पालदेव withdrew from hunters, fowlers, and even fishermen their licenses, and compelled them to adopt other avocations that were in agreement with the great principle of causing no harm to living beings. The king ordered that only filtered water was to be given to the animals employed in the royal army When a Bani of शाम्भर (which province in Rajputana had been conquered by कुमारपाल) had been caught killing a louse he was brought in chains to Anahilavada. On another occasion a woman of Nador in मारवाड़ had offered flesh to a field—god (क्षेत्रपाल) At this her husband was put to death by Khelna, the chief of Nador in order to escape the wrath of the great king What अशोक the Buddhist had failed to do कुमारपालदेव the Jain did अहिंसा was not only made the corner—stone of the edifice of the State but was made to cover the existence of even the fishes in the ocean. अशोक the Great had lived the life of a Buddhist almost in vain the sad condition of the Mauryan capital and the Empire soon after his death does not warrant the saying that he had succeeded in planting firmly the tree of अहिंसा for ever in the land. But कुमारपाल the illustrious not only successfully lived the life of a devout Jaina but handed down to the country the glorious gospel of अहिंसा which centuries afterwards another celebrated son of Gujarat was to hold aloft as the beacon light of India s Freedom. The credit of thus converting a negative axiom of non-killing into a positive one of life and progress must go to the great हेमचन्द्राचार्य whose vast learning was eclipsed by his more profound sense of the realism lying behind the principle of अहिंसा

---

ence that कुमारपालदेव gave up the use of flesh and wine ceased to take pleasure in the chase and by beat of drum forbade throughout his vast kingdom the taking of life. कुमारपालदेव withdrew from hunters, fowlers, and even fishermen their licenses, and compelled them to adopt other avocations that were in agreement with the great principle of causing no harm to living beings. The king ordered that only filtered water was to be given to the animals employed in the royal army When a Bani of साम्भर (which province in Rajputana had been conquered by कुमारपाल) had been caught killing a louse he was brought in chains to Anahilavada On another occasion a woman of Nador in मारवाड़ had offered flesh to a field—god (क्षेत्रपाल) At this her husband was put to death by Khelna, the chief of Nador in order to escape the wrath of the great king What अशोक the Buddhist had failed to do कुमारपालदेव the Jain did अहिंसा was not only made the corner—stone of the edifice of the State but was made to cover the existence of even the fishes in the ocean अशोक the Great had lived the life of a Buddhist almost in vain the sad condition of the Mauryan capital and the Empire soon after his death does not warrant the saying that he had succeeded in planting firmly the tree of अहिंसा for ever in the land. But कुमारपाल the illustrious not only successfully lived the life of a devout Jaina but handed down to the country the glorious gospel of अहिंसा which centuries afterwards another celebrated son of Gujarat was to hold aloft as the beacon light of India's Freedom. *The credit of thus converting a negative* axiom of non-killing into a positive one of life and progress must go to the great हेमचन्द्राचार्य whose vast learning was eclipsed by his more profound sense of the realism lying behind the principle of अहिंसा

---

(80) Indraji op cit. p 193

ence that कुमारपालदेव gave up the use of flesh and wine ceased to take pleasure in the chase and by beat of drum forbade throughout his vast kingdom the taking of life. कुमारपालदेव withdrew from hunters, fowlers, and even fishermen their licenses, and compelled them to adopt other avocations that were in agreement with the great principle of causing no harm to living beings. The king ordered that only filtered water was to be given to the animals employed in the royal army When a Bani of साम्भर (which province in Rajputana had been conquered by कुमारपाल) had been caught killing a louse he was brought in chains to Anahilavada. On another occasion a woman of Nador in मारवाड had offered flesh to a field—god (क्षेत्रपाल) At this her husband was put to death by Khelna, the chief of Nador in order to escape the wrath of the great king. What अशोक the Buddhist had failed to do कुमारपालदेव the Jain did अहिंसा was not only made the corner—stone of the edifice of the State but was made to cover the existence of even the fishes in the ocean. अशोक the Great had lived the life of a Buddhist almost in vain the sad condition of the Mauryan capital and the Empire soon after his death does not warrant the saying that he had succeeded in planting firmly the tree of अहिंसा for ever in the land. But कुमारपाल the illustrious not only successfully lived the life of a devout Jaina but handed down to the country the glorious gospel of अहिंसा which centuries afterwards another celebrated son of Gujarat was to hold aloft as the beacon light of India s Freedom. The credit of thus converting a negative axiom of non-killing into a positive one of life and progress must go to the great हेमचन्द्राचार्य whose vast learning was eclipsed by his more profound sense of the realism lying behind the principle of अहिंसा

---

ence that कुमारपालदेव gave up the use of flesh and wine, ceased to take pleasure in the chase and by beat of drum forbade throughout his vast kingdom the taking of life. कुमार-पालदेव withdrew from hunters, fowlers, and even fishermen their licenses and compelled them to adopt other avocations that were in agreement with the great principle of causing no harm to living beings. The king ordered that only filtered water was to be given to the animals employed in the royal army When a Bani of साम्भर (which province in Rajputana had been conquered by कुमारपाल) had been caught killing a louse he was brought in chains to Anahilavada. On another occasion a woman of Nador in मारवाड़ had offered flesh to a field—god (क्षेत्रपाल) At this her husband was put to death by Khelna, the chief of Nador in order to escape the wrath of the great king. What अशोक the Buddhist had failed to do कुमारपालदेव the Jain did अहिंसा was not only made the corner—stone of the edifice of the State but was made to cover the existence of even the fishes in the ocean. अशोक the Great had lived the life of a Buddhist almost in vain the sad condition of the Mauryan capital and the Empire soon after his death does not warrant the saying that he had succeeded in planting firmly the tree of अहिंसा for ever in the land. But कुमारपाल the illustrious not only successfully lived the life of a devout Jaina but handed down to the country the glorious gospel of अहिंसा which centuries afterwards another celebrated son of Gujarat was to hold aloft as the beacon light of India's Freedom. The credit of thus converting a negative axiom of non-killing into a positive one of life and progress must go to the great हेमचन्द्राचार्य whose vast learning was eclipsed by his more profound sense of the realism lying behind the principle of अहिंसा

---

(80) Indraji, op cit. p. 183

mental principles of Jain thought, the ontological and psychological system underlying Jainism, no change is visible at all.

Two important tenets have taken such firm root in India that they would appear to form the basis of practically every system of Indian religious philosophy The first of these is belief in metempsychosis (संसार) and the other is what is known as Karma. According to the former death does not release the soul from its combination with matter, for the soul may have to return again and again perhaps an endless succession of times, inhabiting other bodies, human animal and even vegetable. The present state of its existence is the result of past actions and its future further depends upon its present actions.

स्याद्वाद —

Round these two tenets, Jain thinkers developed a kind of logic, called स्याद्वाद, which appears to cut at the root of all dogmatic knowledge. If the question is "Is there a soul"? स्याद्वाद would admit of seven answers (I) there is (2) there is not (3) there is and is not (4) it is unpredicable (5) there is and it is unpredicable (6) there is not and it is unpredicable (7) there is is not and it is unpredicable. Some critics have wrongly assumed that this attitude implies agnosticism or metaphysical nihilism but the Jains had a definite theory of reality and their logic was a subtle and disguised protest against the dogmatism of the Vedas, though not intended to deny all reality by any means.

Jain concept of God —

The Jain system does not recognise a Supreme Being, but it does recognise a whole galaxy of deified men who have been spiritually great, and, more than this, it recognises that every soul possesses the potentiality of becoming as great as any other This helps to create in the Jain layman a type of confidence and a sense of responsibility which other systems of thought in India have always diluted by a belief in the possibility of divine intervention in one s favour

Prayer amongst the Jains is not prayer for help It is essentially a recollection of divine commands and warnings. Jainism seeks to develop a community of individuals on the basis of non-violence and goodness.

There has been a conflict in human history between the claims of the group and the claims of the individual. Experience has shown that where individual freedom is emphasised at the cost of organisation, there takes place an atomisation of the human group and a consequent weakening of the individual himself Where social organisation is emphasised at the expense of the freedom of the individual, the individual is reduced to the position of a mere means for the attainment of ends over which he loses all effective control.

Emphasis upon the Individual —

Jain philosophy seeks to indicate a solution to this conflict between the individual and the group by suggesting that it is definitely the individual who is the more important,

mental principles of Jain thought, the ontological and psychological system underlying Jainism, no change is visible at all.

Two important tenets have taken such firm root in India that they would appear to form the basis of practically every system of Indian religious philosophy The first of these is belief in metempsychosis (संसार) and the other is what is known as Karma According to the former death does not release the soul from its combination with matter for the soul may have to return again and again perhaps an endless succession of times, inhabiting other bodies human animal and even vegetable. The present state of its existence is the result of past actions and its future further depends upon its present actions.

स्याद्वाद —

Round these two tenets, Jain thinkers developed a kind of logic, called स्याद्वाद, which appears to cut at the root of all dogmatic knowledge. If the question is "Is there a soul ? स्याद्वाद would admit of seven answers (I) there is (2) there is not (3) there is and is not (4) it is unpredicable (5) there is and it is unpredicable (6) there is not and it is unpredicable (7) there is is not and it is unpredicable Some critics have wrongly assumed that this attitude implies agnosticism or metaphysical nihilism but the Jains had a definite theory of reality and their logic was a subtle and disguised protest against the dogmatism of the Vedas, though not intended to deny all reality by any means.

Jain concept of God —

The Jain system does not recognise a Supreme Being, but it does recognise a whole galaxy of deified men who have been spiritually great, and, more than this, it recognises that every soul possesses the potentiality of becoming as great as any other This helps to create in the Jain layman a type of confidence and a sense of responsibility which other systems of thought in India have always diluted by a belief in the possibility of divine intervention in one s favour

Prayer amongst the Jains is not prayer for help It is essentially a recollection of divine commands and warnings. Jainism seeks to develop a community of individuals on *the basis of non-violence and goodness*

There has been a conflict in human history between the claims of the group and the claims of the individual. Experience has shown that where individual freedom is emphasised at the cost of organisation there takes place an atomisation of the human group and a consequent weakening of the individual himself Where social organisation is emphasised at the expense of the freedom of the individual the individual is reduced to the position of a mere means for the attainment of ends over which he loses all effective control

Emphasis upon the Individual. —

Jain philosophy seeks to indicate a solution to this conflict between the individual and the group by suggesting that it is definitely the individual who is the more important,

mental principles of Jain thought, the ontological and psychological system underlying Jainism, no change is visible at all.

Two important tenets have taken such firm root in India that they would appear to form the basis of practically every system of Indian religious philosophy The first of these is belief in metempsychosis (संसार) and the other is what is known as Karma. According to the former death does not release the soul from its combination with matter for the soul may have to return again and again perhaps an endless succession of times, inhabiting other bodies human animal and even vegetable. The present state of its existence is the result of past actions and its future further depends upon its present actions. स्याद्वाद —

Round these two tenets, Jain thinkers developed a kind of logic, called स्याद्वाद, which appears to cut at the root of all dogmatic knowledge. If the question is "Is there a soul ? स्याद्वाद would admit of seven answers (1) there is (2) there is not (3) there is and is not (4) it is unpredicable (5) there is and it is unpredicable (6) there is not and it is unpredicable (7) there is is not and it is unpredicable. Some critics have wrongly assumed that this attitude implies agnosticism or metaphysical nihilism but the Jains had a definite theory of reality and their logic was a subtle and disguised protest against the dogmatism of the Vedas, though not intended to deny all reality by any means.

Jain concept of God —

The Jain system does not recognise a Supreme Being, but it does recognise a whole galaxy of deified men who have been spiritually great, and, more than this, it recognises that every soul possesses the potentiality of becoming as great as any other This helps to create in the Jain layman a type of confidence and a sense of responsibility which other systems of thought in India have always diluted by a belief in the possibility of divine intervention in one s favour

Prayer amongst the Jains is not prayer for help It is essentially a recollection of divine commands and warnings. Jainism seeks to develop a community of individuals on the basis of non-violence and goodness

There has been a conflict in human history between the claims of the group and the claims of the individual. Experience has shown that where individual freedom is emphasised at the cost of organisation, there takes place an atomisation of the human group and a consequent weakening of the individual himself Where social organisation is emphasised at the expense of the freedom of the individual, the individual is reduced to the position of a mere means for the attainment of ends over which he loses all effective control.

Emphasis upon the Individual. —

Jain philosophy seeks to indicate a solution to this conflict between the individual and the group by suggesting that it is definitely the individual who is the more important,

but at the same time laying it down as a principle that the individual must necessarily be non-violent in all his actions.

If non-violence is correctly understood, as the duty not merely to do no harm to others but also so to act as to contribute to their happiness and promote the establish ment of such conditions of life as will render violence between classes impossible the principle of Jain ethics universally applied, would help to bring about peace prosperity and a worldwide establishment of the common good.

It is necessary clearly to understand the distinction between Dharma and the Swadharama as enjoined in any particular religion. Dharma is the name of those general principles of action and behaviour which are reckoned as immutable Swadharma is made up of those duties which particular classes and ranks of individuals in particular stages of life are required to perform.

Swadharma is necessarily bound up with the time place and conditions of life of the community Its definition is given by the leaders of the day and its substance varies with changing circumstances material and spiritual. The Jain Dharma gives a list of five fundamental principles of life called Anuvratas in the case of members of the lay community These prescribe (1) that there shall be complete abhorrence of violence (2) that untruthfulness shall not be resorted to (3) that one s action shall be completely free from stealing (4) that there shall be chastity in human relations and (5) that there shall be no undue attachment to property

The Vratas are enjoined upon Sadhus in a much stricter form than in the case of laymen and laywomen. Qualifications for laymen and laywomen have been prescribed with a view to making the moral code at once practical and capable of adoption in an orga nised society

The principles of the Vratas are so conceived always that, properly followed, they will result in peace for the individual as well as for the group

---

Rajavallabha's Bhojacharitra

(Dr B Ch. Chhabra, New Delhi.)

The Bhojacharitra of a Jaina author पाठक राजवल्लभ सूरि, is yet an unpublished work. Its author describes himself to be a disciple of महीतिलक सूरि, belonging to the family of शालिधर्म सूरि and to the Dharmaghosha Gaccha. From the fact that this महीतिलक सूरि of the Dharmaghosha Gaccha is known from certain inscriptions ranging in date from A. D. 1429 to A.D 1456, we can place Rajavallabha in the middle of the 15th century Again from the fact that one of the available manuscripts of his Bhojacharitra is dated Samvat 1498, corresponding to A. D 1441 it can safely be inferred that he completed the said work before that year

The Bhojacharitra consists of five chapters or प्रस्ताव the total number of verses being about 1575 There are about 35 verses in Apabhramsha and the rest is in Sanskrit, though here and there Prakrit words are also found in the Sanskrit part. The composition is not of a high poetic standard nor is it very valuable as an historical narrative. In fact, it adds to the confusion about the history or rather story of the famous king Bhoja of Dhara (धारा) as known from Ballala s Bhojaprabandha as well as from Merutunga s प्रबन्ध-चिन्तामणि All the same, it makes an interesting reading and is perhaps not altogether void of factual details. For this reason it deserves a careful perusal.

The work is being edited by the present writer in collaboration with Pt S. Sankaranarayanan, Assistant Superintendent for Epigraphy and may be published before long A summary of the first प्रस्ताव is given below to show how Rajavallabha s version differs from his predecessors.

Summary

There reigned a King named Sindhu in the city of Dhara in मालव Being blessed with no son the king often remained sad. Once he went out a hunting in order to divert his mind. While walking along the bank of a river he found an infant lying on a heap of Munja-grass. He took it home, placed it in the lap of his queen, रत्नावती and asked her to rear the child as their real son. The king then spread the news that a son had been born to him and there was much rejoicing among his people. The child was named Munja because it was found upon a heap of munja-grass.

Later on the queen actually gave birth to a son and again a great jubilation took place. This child was named Sindhula. Both Munja and Sindhula played their childhood together and they were put under the care of the same Preceptor who taught them when they both grew able the king got them both married and from that time onward they began to live in separate palaces.

One day the king paid an unexpected visit to Munja who was then sporting with his consort. As soon as Munja heard of his father's arrival, he hid his wife under the bed and welcomed his father The king asked if there was no third person there for he was going to disclose a secret. Munja assured him that there was none except them both and the king proceeded—"Well, my dear let me tell you for the first time that you are our adopted son and Sindhul is our real son I however would not mind that and will bequeath my kingdom to you You will have only to take care of your younger brother Sindhula. So saying, the king left and it soon occurred to Munja that a secret heard by three persons could not remain concealed. Consequently he drew out his wife from beneath the bed and at once put her to the sword. The king, who was yet wending his way downstairs, heard the hustle and turned up again. When he learnt what had taken place he deemed Munja to be cruel enough to hold the royal sway and so anointed him king there and then, besmearing his forehead with the very gore of his wife who lay writhing by

On the following day the king sent for his minister Shivaditya (शिवादित्य) along with the latter's son Rudraditya (रुद्रादित्य) and told him that he intended to pass his kingdom to Munja and ministership to Rudraditya. The minister approved of the king's intention and it soon came about that Munja was consercrated as king and Rudraditya as his minister Sindhula served under his elder brother as a prince. Their father Sindhu, turned an ascetic and renounced home.

Now Sindhula was brave and modest and, above all, was artless to a fault. He was so sturdy and strong that Munja always feared lest the former should sometime overthrow him, when coming to know that Munja was not his real brother Munja was, therefore ever anxious to get rid of Sindhula and devised means to this end.

Thus first he caused an elephant to run over Sindhula while the latter was sitting quite unaware and unarmed. But luckily a bitch happened to be there close by Sindhula caught hold of her hind-legs and hurled her at the elephant who then became frightened and ran away Thus Sindhula escaped the first fatal attack. He was too innocent to understand the wickedness of his elder brother The latter however grew concious that he had given vent to his malice towards his younger brother

Next, about that time, two wrestlers chanced to visit Dhara. Munja invited them to his palace and concerted a plot against Sindhula. The two athletes were to wrestle with Sindhula and were instructed to pluck out his eyes in the course of wrestling.[1] The wrestlers did accordingly and were amply rewarded. Sindhula, the poor fellow became totally blind.

Some time afterwards, Sindhula's wife became pregnant. Munja showed pleasure at this and appointed some astrologers in the lying-in-chamber (सूतिकागृह) with a wicked end in view One Vararuci an expert astrologer disguised as a lady also remained there of his own accord When the child was born the appointed astrologers declared that it was born

(1) We are perforce reminded here of Shakespeare's play As you like It wherein Oliver tries to take his younger brother Orlando's life through Charles, the duke's wrestler

this the monk smiled significantly and said — 'What have we monks to do with such a sort of wealth ? If you wish to be true to your promise then give me one of your two sons. This amote Sarvad iara hard. He certainly had two sons, Dhanapala and Shobhana by name, but little d d he dream that he would have to part with one of them—his most precious wealth And as a result of this unexpected shock he developed fever and was confined to bed till at last death looked him in the face His sons beside his death-bed asked him whether he desired any charitable act to be done before he breathed his last, and he said in reply— "There is but one pang gnawing at my heart. If you wish me a peaceful death, then please one of you embrace monkship under Susthitacarya and there by release me from the debt of promise. At his, Dhanapala showed reluctance but, Sobhana, the younger son, promised to obey his fater s command. The father expired, and after the funeral ceremonies, Shobhana approached Susthitacarya who consecrated him as a Jain monk and soon afterwards raised him to the rank of a preacher

Dhanapala, at first despised Jainism very much and mocked even at his younger brother who had turned a Jain monk, but later on he was so drawn to it that he himself embraced Jainism.

Now a report of this conversion of Dhanapala was secretly made to Bhoja who awaited an occasion to test it. The occasion came once Bhoja accompanied by Dhanapala happened to visit the temple of God Shiva. While Bhoja paid obeisance to the idol, Dhanapala stood by indifferent. Bhoja demanded an explanation of this indifference which Dhanapala gave with much reasoning, so much so that the belief of Bhoja himself was shaken and he realised the futility of idol-worship. In this wise Dhanapala won Bhoja s favour

Dhanapala was also a good poet. Once while describing a newly-built tank, the following escaped his lips.—"There are tanks that overflow dur ng rains but praise-worthy are only those that do not dry up even du ing summer " Bhoja took this as a taunt upon himself and expressed his resentment thus —"Eh ! his sight does not bear my glory The poet inferred from the remark that he wou d have his eyes plucked out as a punishment for offending the king like that. So he awaited an opportunity to appease Bhoja s wrath and it soon presented itself. They came across an extremely old dame with her head constantly shak ng. The poets around Bhoja were asked to describe the dame. They all d d so but Dhanapala excelled them all in d scribing her Bhoja was pleased and asked Dhanapala to choose what reward he liked. Thereupon Dhanapala sa d — My lord I please grant me my sight." Bhoja was s mply struck with wonder at Dhanapala s foresight for Bhoja had actually resolved to have Dhanapala's eyes p ucked out as a penalty for the offence the latter had committed on the previous occasion. This raised Dhanapala in Bhoja s esteem still higher

Dhanapala composed several works some of which are connected with Jainism e. g. Rshabhapanchas ika The chapter comes to an end with Dhanapala s leaving this world for his heavenly abode.

Apabhramsha Literature

(H. C. Bhayani Bharatiya Vidya Bhavan Bombay)

General Character —

In a glaring contrast with Sanskrit and Prakrit literatures, Apabhramsha(अपभ्रंश) literature in so far as it is available, has an overwhelmingly Jain character Buddhist, Brahmanical (known indirectly and through reference and sparse citations) and non-sectarian contributions seem to have been dwarfed by the rich and varied Jain output. The Jainas can claim Apabh. as their special domain. This, of course is a transitional picture, as the activity of unearthing and bringing to light Apabhramsha texts is hardly fifty years old and so far it has never been undertaken with any vigour

Aside from its predominantly religious tone, another outstanding trait of the discovered Apabhramsa literature is its almost exclusively poetic character भामह and Dandin did know of some Apabhramsha prose tales, but no prose work even of a modest length is preserved to us, and this creates grave doubts about any vigorous prose tradition in that literature.

Apabhramsha Language —

Literary Apabhramsha, like the literary Prakrits, was considerably artificial It was a special language, which, though strongly dominated by Sanskrit and maintaining dominant features of the Prakrit stage in its phonology attempted to a limited degree to adapt its morphology and expressions (and, to a slight extent, its lexicon) to the constantly changing spoken idioms of the period. This fact of being continuously open to reinforcement through an undercurrent of living speech forms,slowly worked for undermining the rigidity that Apabh. had attained as a highly standardized literary language fostered in the linguistic surrounding of centuries-old aristocratic and stylized traditions.

The circumstances surrounding the origin of Apabh. language and literature are very much shrouded in obscurity The best part of the early literature is all lost. We have no means to trace the course of Apabhramsha evolution from its beginnings. The literary types and metrical forms, of great originality and vigour remain quite unexplained as to their genesis.

Beginnings and the main types —

On the showing of literary and inscriptional records, Apabhramsha enjoyed already in the seventh century A. D an independent literary status. It was worthy of being mentioned alongside Sanskrit and Prakrit. The earliest Apabhramsha work preserved to us, however does not go much further than the Ninth Century A. D though stray citations from a near-dozen earlier Apabhramsha poets, including some epic-writers, testify that the literary activity in Apabhramsha during the few preceding centuries too was in full swing. This is also presumed

by the well developed form, style and diction of the earliest available specimens. From the theoretical treatment in two[1] pre-tenth century prosodists विरहांक and Swayambhu (सयम्भु) we gather that Apabhramsha had evolved at least two distinct new poetic types, viz., the Sandhi Bandha (संधि-बन्ध) and the Rasa Bandh (रासा-बन्ध)[2] besides a host of rhymed moraic metres unknown to earlier literatures.

The Sandhi-Kavya (संधि-काव्य) —

Of these, the Sandhi Bandha was the most favourite form of composition. It is found employed for a wide range of narrative themes. The Puranic epic, the biography the religious narrative—single or the whole cycle of them—all could be handled with equal aptness and facility in this form. The earliest extent Sandhi-Kavya is not later than ninth century But this had a respectable long tradition behind. Several earlier poets like Bhadra (or Dantibhadra) and Caturmukha (चउमुह) are known from literary allusions to have attempted before Swayambhu to work on the themes of Ramayan (रामायण) and Harivamsha (हरिवंश) and among them Caturmukha, highly respected by all the succeeding centuries of Apabhramsha literary tradition possibly a non Jain, was know to be the pioneer in treating those themes in the Sandhi form Bhoja followed by (Hemacandra) especially selects the name of Caturmukha's Abdhimathana (अब्धिमथन) for citing as an illustration of the Apabhramsha Sandhi Bandha.

Svayambhudeva —

But since none of these early works are traceable Svayambhu's epics (between the seventh and tenth century A. D) serve us as the first source of information on the Sandhi-form. Kaviraja Svayambhudeva, Caturmukha and Pushpadanta make up the three greatest names in the field of Apabhramsha letters and one may be even tempted to assign the first place to Svayambhu. Poetry was in his family tradition His literary activity was carried on probably in the Vidarbha and Karnataka regions under the patronge of different pious Jain laymen He himself appears to be a follower of Yapaniya (यापनीय) Jain sect, flourishing at the time in those areas.

Only three of his works are preserved to us two Puranic (पुराणिक) epics viz. the Paumacariya (पउमचरिय) and the Ritthanemicariya (रिट्ठणेमिचरिय) and a manual of Prakrit and Apabhramsha metres called Svayambhuchandas[3]

The Paumacariya —

The Paumacariya, Sk. Padmacarita alternatively called Ramyanapurana (रामायणपुराण) continues the Sanskrit and Prakrit literary traditions of composing epics on the life-story of Padma i.e Rama. The Jain versions of the famous narrative show wide and important variations

1 Possibly three if we are to include Jnanashraya (ज्ञानाश्रय)

2. At present it cannot be quite ascertained whether some Rasa compositions reported to be in Sanskrit and Prakrit were original or derivative as a type.

3 Apart from its importance as an early and authoritative source for MIA prosody it is of supreme value by virtue of its numerous illustrative citations that give us a glimpse of the lost literary riches of Prakrit & Apabhramsa.

from the Brahmanical version (represented by the Ramayana of Valmiki) which they presuppose and imitate. Svayambhu s work has the extent of a Purana (पुराण) Its five books, (Kanda–कंड) called respectively विज्जाहर (Sk. विद्याधर) Ujjha (Sk. Ayodhya) Sundara, Jujjha (Sk. Yuddha) and Uttara contain a total of ninety cantos (sandhi) each of which is further divided into twelve to twenty smaller well-defined units, resembling verse-paragraphs) (kadavaka) Thus Kadavaka was peculiar to Apabhramsha (and Early New Indo-Aryan poetry and was eminently suitable for shaping narrative themes. The main body of the Kadavaka, consisting normally of eight rhymed distiches in some moraic metres develops the topic and the concluding piece in a shorter metre, uniform for the whole canto rounds it off or in add tion hints at the succeeding one.[1] Such a structure aided by run-on distichs and flexible metres, affords very good scope for narrative and episodical treatment, in contrast to the Sarga unit of the Sanskrit Mahakavya with its series of self-contained, exquisitely rounded off, semi-independent stanzas. Besides, the Apabhramsha Sandhi possessed the great quality of being recited or sung before an audience in pleasant melodies with rhythmic and lyrical effects.

Of the ninety cantos of the Paumacariya the last eight were the work of Svayambhu s rather self-conscious son Tribhuvana, as the former for some unknown reason had left the epic incomplete To Tribhuvana goes also the credit of completing his father's second work, the Ritthanemicariya and composing independently a poem called Pancamicariya (Sk. Pancamicarita)—to us a mere name.

Svayambhu was quite honest in acknowledging his debt to his predecessors For the structure of his epic he thanks the great poet Caturmukha, and for the subject matter and the poetic treatment of the Paumacariya he admits obligations to Ravishena (रविषेण) whose Padmacarita—alias Padmapurana (677 78 A. D) in Sanskrit he closely follows. The Paumacariya can aptly be described as a free and compressed Apabhramsha recast-cum adaptation of the Padmacarita,[2] and yet there is ample evidence of Svayambhu s originality and poetic powers of a high order

As a rule he holds to the thread of the narrative as found with Ravishena, which otherwise too being fixed by tradition even in its minor details, permitted little invention or artistic designing and variation, insofar as its subject—matter was concerned and no poet of the period would even conceive of any departure from the sacred tradition Regarding only the stylistic embellishments, descriptions and depiction of sentiment the poet enjoyed a measure of freedom and he could expatiate on particular incidents he took fancy for

These limitations, notwithstanding, Svayambhu displays a keen artistic sense and prunes, rehandles or altogether parts company with his model to allow enough scope to his

1 This form of the Apabhramsha Kadavaka has been inherited by the Sufi Premakhyanakas and the famous Rama-Caritamanasa of Tulasidasa in Early Awadhi poetry

2. Ravishena s Padmacarita, in its turn, is hardly more than a very close but considerably expanded Sanskrit rendering of Vimala Suri s Paumacariya.

poetic fancy The vivid, racy and sensuous description of water sports in a fascinating setting of vernal scenery (canto 1) has been always recognised as a classic. Various battle scenes, some incidents of tense moments in the Anjana (अंजना) episode (cantos 17 19) penetrative sadness enveloping the telling scene of Ravana's cremation (canto 77) are a few of highly inspired passages, wherein Svayambhu's poetic genius is seen to find an unhampered expression.

The Rithanemicariya —

Svayambhu's second voluminous epic, viz. Ritthanemicariya (Sk. Arishtanemicarita) also called Harivamsha-Purana deals with the favourite subject of the life-story of the twenty-second Tirthankara Arishtanemi along with the narrative of Krishna and the Pandavas in its Jain version. Barring a few extracts, the work is still unpublished. Its one hundred and twelve cantos (said to contain 1,937 Kadavakas and about 18 000 units of thirty two syllables) are distributed over four books : Jayava (Sk. Yadava) Kuru, Jujjha (Sk. Yuddha) and Uttara. Here too Svayambhu had several precedents. Vimalasuri and Vidagadha in Prakrit, Jinasena (c. 783-784 A. D) in Sanskrit and Bhadra (or Dantibhadra, Bhadrashva ?) Govinda and Caturmukha in Apabhramsha appear to have written epics on the subject of Harivamsha before the ninth century The portion of the Ritthanemicariya after the ninety-ninth Sandhi was written by Svayambhu's son Tribhuvana and further a few interpolations were made in the sixteenth century by an Apabhramsha poet Yashahkirti Bhattaraka of Gopacala (गोपाचल—modern Gwalior)

Of the several epics in the Sandhi-form written after Svayambhu on the same two subjects, particulars about a few are given below :—

Author	Work	Date	Remarks.
Dhavala	Harivamsha-purana	Not later than 10th Cent.	Contains 122 cantos.
Yashahkirti Bhattarka.	Pandupurana	1523	Contains 34 Cantos.
Pandita Raidhu	(1) Balabhadrapurana.	15th cent.	A Rama-epic
alias Simhasena	(2) Neminathacarita.		in 11 cantos.
Shrutakirti	Harivamshapurana	1551	Contains 40 cantos.

These works testify to the living tradition and popularity of these themes even some seven centureis after Svayambhu.

Pushpadantat :—

From the works of Pushpadanta (Apabhramsha Pupphayanta) alias Mammaiya (c. 957 972 A. D) we come to know of two other subject—types treated in the Sandhi form. Pushpandanta was born of Brahmana parents that were later converted to Digamabara Jainism. He composed his three Apabhramsha poems under the patronsage of Bharata and his son Nanna who were successive ministers to the Rashtrakuta kings Krisna III (939-968 A. D.) and Khott igadsva (968-9 A. D) ruling at Manyakheta (modern Malkhed in the Andhrapradesha) Svayambhu and his predecessors exploited the popular narratives of Rama and Krishna-cum-Pandavas, while Pushpadanta's poetic genius turned towards other and vaster regions of Jain mythology According to it, there flourished in past sixtytheree dignitaries (महापुरुष शलाकापुरुष)

who include twentyfour prophets (tirthankaras) twelve universal monarchs (cakrin) nine Vasu devas (heroes enjoying half the Status of a Cakrin), nine Baladevas (brothers to corresponding Vasudevas) and nine Prativasudevas (opponents of vasudevas) Lakshmana, Padma (or Rama and Ravana constitute the eighth and Krishna, Balabhadra and Jarasandha, the ninth trio of the groups of Vasudevas, Baladevas and Prativasudevas. The works giving an account of these sixty three great men are known as Mahapurana (the great puran) or Trishastimahapursa (or shalakapurusha)carita (Lives of Sixty three Great men, The earlier portion dealing with the life of R shabha, the first prophet and Bharata, the first universal monarch,is called Adipuran, while the later portion containing the narratives of the rest of the great men is called Uttarapurana.

The Mahapurana.—

Before Pushpadanta the subject was already treated in Sanskrit and Prakrit. He was possibly first to write an epic on this in Apabhramsha. Of the 102 cantos of his magnumopus named Mahapuran or Tisatthimahapurisagunalamkara (Sk. Trishastimahapurushagunalamkara) the first thirty seven make up to Adipurana, and the remaining the Uttarpurana. For the narrative Pushpadanta follows the *Trishastilakshanamahapurana samgraha (completed in 898 A. D) of* Jinasena and Gunabhadra in Sanskrit, besides the lost work of Kavi Parameshthin. Here too the whole frame of the narrative with all its incidents and details was rigidly fixed by tradition and the poet had to depend on the resources of his descriptive and stylistic abilities and Shastric learning for investing his theme with a literary status. This was one of the reasons why the Jaina poets inspite of the puranic character of their themes, were compelled to follow in their treatment the great tradition of the ornate Sanskrit epics and to lavish all the wealth of elaborate rhetoric and erudite learning on the thin frame of the narrative. Svayambhu expressly tells us in his Ritthanemicariya that he had laid under contribution Indra for grammar Bharata for flavour (rasa) Vyasa for bulk Pingala for prosody Bhamaha and Dandin for rhetorics, Bana for rich and sonorous diction, Shriharsha for maturity of style and Caturmukha for the special metrical structure. Compared with Svayambhu, Pushpadanta draws, more upon the subtelties of rhetoric, abundance of metrical varieties and the treasures of traditional learning. *Greater* prosodic variation and the longer Kadavaka and Sandhi indicate a further elaboration of Sandhi bandha as found with Pushapadanta.

Some portions of the cantos 4,12,17 46,52 and a few others from the Mahapurana can be cited as the choicest flowers of Pushpadanta s poetic genius. Cantos 69 to 79 recount in brief the Ramayana, Cantos 81 to 92 narrate the Jain Harivamsha, while the end portion deals with the lives of Parshva and Mahavira, respectively the twenty-third and twenty-fourth Tirthankaras of the Jainas.

The Carita Kavya —

The *other two poems of Pushpadanta, viz. the* Nayakumaracariya(Sk. Nagakumaracarita) and the Jasaharacariya (Sk. Yasodharacarita) reveal that aside from the vast puranic themes the Sandhi form was employed also for the biographical narratives of famous persons of Jain mythology legendry or traditional history In its range and treatment the Carita-kavya or Katha Kavya

reminds one of the Sanskrit Sarga-bandh Kavya,though the Apabhramsha counterpart tends to have a shorter extent. In this case too Pushpadanta had before him several earlier models. From a stray reference or two we know the names of at least two such poems—the Suddhayacariya of Svayambhu and the Pancamicariya of his son Tribhuvana.

The Nayakumaracariya narrates in nine cantos adventures of the hero Nagakumara (one of the twentyfour Kamadevas—cupids—of the Jain mythology) and his two powerful leutenants, Vyala and Mahavyala with the object of illustrating the fruits of observing the fast on Shripancami (the fifth of Phalguna)

Similarly the object of Pushpadanta s third work,viz.Jasaharacariya (Sk.Yashodharacarita) is to illustrate the evil fruits of the sin of taking life through narrating in four cantos, the sotry of king Yashodhara of Ujjayini Numerous works on these very subjects in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha and modern Indian languages before and after Pushpadanta testify to the great popularity of the Parvakathas with the Jainas.

Pushpadanta s mastery of the peotic craft, his matchless command of Apabhramsha language and his impressive erudition would entitle him to an honourable place among the great poets of classical India. At one place he has most aptly indicated his ideal of great poetry It is to be resplendent with the figures of sound and sense, to have a delicate diction, harbour many sentiments and 'flavours flow evenly with excellent sense, display numerous arts and sciences, illustrate the wealth of grammar and metres and be inspired by the sacred canon. The best of Apabhramsha literature appears to have attempted to realize this poetic ideal but probably none succeeded as much as Pushpadanta.

The Carita Kavya after Puspadanta.

After Pushpadanta, we get numerous Caritakavyas in the Sandhi form, but most of them are known so far only from manuscripts. Of the few published, the Bhavisattakaha of Dhanapala (probably before the 12th c A. D) is the most important. This poem too is a Parvakatha in twenty-two cantos. It recounts in a relatively simple style the romantic story of Bhavishyadatta to illustrate the fruits of observing a fast on Shrutapancami or Jnanapancami (णाणपंचमी) which falls on the fifth of Kartika. The story tells us of a merchant s son Bhavishyadatta, who, along with his mother was discarded for no reason by his father who then married another wife. When grown up once he went on a voyage in the company of his younger step-brother who befriended and deserted him twice over on a lonely island. But ultimately thanks to his mother s observing the fast of Shrutapancami all his woes and difficulties came to an end, he rose to the crest of fortune and for helping the king defeat an agressor was rewarded with a share in the kingom Having died he underwent a few more births and eventually in his fourth birth he attained Omniscience by virtue of having observed the Shrutapancami fast.

Dhanapala s Bhavisattakaha had at least two literature forbears Tribhuvana s Pancamicariya in Apabhramsha and Maheshvara s Nanapancamikaha (णाणपंचमीकहा) in Prakrit. After Dhanapala we have Shridhara s Apabhramsha poem Bhavisayatta-cariya (Sk. Bhavishyadattacarita) in six cantos, completed in 1174 A. D and still unpublished.

The Karakandacariya of Kanakamara treats in ten cantos the life story of a Pratyeka buddha (self-enlightened saint) The story of Karakanda figures also in the Buddhist literature.

Paumasri-cariya (Sk. Padmashri-carita) of Dhahila (before the 12th C.A. D) illustrates in four cantos the evil fruits of deceitful acts by narrating the story of Padmashri in successive births.

The great bulk, however of the Carita Kavyas of the Sandhi-bandha variety has not yet appeared in print. We cannot do here more than append a list which is far from exhaustive. The works narrate the biography either of some Tirthankara or of some notable figure of Jain mythology or history to illustrate some point of Jain belief religious practice or pious conduct.

The Kathakosha Type —

The Sandhi-form serves yet another class of subjects, viz.,the one characterized by a chain of narratives woven round some particular body of religious or ethical beliefs dogmas or practices The Sayalavihi-vihana-kavva (Sk. Sakala-vidhi-vidhana-kavya) of Nayanandin (1044 A.D) in two parts respectively of canots 56 and 58 and the Kahakosha (Sk. Kathakosa) of Shricandra (11th Cent. A. D) in 53 canots narrate stories associated with the verses of the Bhagavati Aradhana (भगवती अराधना) the well-known pro-canonical Digambara work in Jain Shaurasenī, dealing with monachism. Nayanandin and *Shricandra appear to have based their works on si* milar previous Kathakoshas in Prakrit and Sanskrit connected with the Aradhana.

Here are also to be included the Damsanakaharayana-kosa (Sk Darshana-katha-ratna kosha) of Shricandra (1064 A. D) in 21 cantos, the Dhammaparikkha (Sk Dharmapariksha) of Harishena (988 A. D) in 11 cantos, the Chakkammovaesa (Sk. shatkarmopadesha) of Amarakirti (1191 A. D) in 14 cantos, and possibly the Paramitthipayasasara (Sk. Parameshthiprakashasar–परमेष्ठिप्रकाशसार) of Shrutakirti (1497 A.D) in 7 canots all of which so far remain to be published.

Of these the Dhammaparikkha is specially interesting on account of its remarkable subject-matter It tells us how Manovega converts his friend Pavanavega to Jainism by effectively demonstrating the absurdity of the stories of the Brahminical Puranas. Quite an effective technique is employed for the purpose. Manovega narrates in the presence of Pavanavega all sorts of incredible and fantastic stories about himself before an assembly of the Brahmanas, and when they refuse to believe him, he justifies himself by quoting equally absurd incidents from the great epics and Puranas. Harisbena's work was based on a Prakrit original and was succeeded by several similar compositions in Sanskrit and other languages. Haribhadra's Dhurtakhyana (धूर्ताख्यान–eighth Cent. A. D) in Prakrit, having a similar purpose and motif was the earliest finished work of this type though an unrefined version was known even earlier to Haribhadra.

The foregoing brief survey would suffice to give an idea of the importance and richness of the Sandhibandha in Apabhramsha literature

The Rasa-bandha —

The second important genre in Apabhramsha literature was the Rasabandha, which enjoyed the same vogue as the Sandhibandha. It was probably sort of a lyrical composition of mode rate length (reminding us of the Sanskrit Khandakavya) In one of its forms it employed

one traditionally fixed metre for the general body of the poem and a variety of choice metres for the purpose of variation.

In the face of its popularity as can be gathered from definitions and extolling reference of the earliest Prakrit prosodists (Svayambhu proclaims it as a veritable elixir to the gatherings of the dilettanti) it is very strange that not a single name of any of these early Rasakas, let alone their actual specimens or excerpts is handed down to us. And for the later times too we have very little to relieve our ignorance about this important class of Apabhramsha poems. It seems that there were even some Prakrit and Sanskrit Rasas. But none has come to light so far Having undergone continuous and basic transformation the Rasaka persisted in some of the New Indo-Aryan literatures down to the end of the nineteenth century (and as Rasas, it is even currently a popular poetic form of composition) There are hundreds of Rasas in early Gujarati and Rajasthani, most of the preserved ones being works of the Jaina authors. But for Apabhramsha all we have got is a tenth century reference to one Ambadevaya-rasa, (अम्बदेवय रास) a twelfth century reference to one Manikya prastarika pratibaddha rasa, a unique thirteenth century poem, Samdesha-rasaka, from the pen of a Muslim author and one small didactic Jain Rasa of the twelfth century devoid of any literary significance.

The Samdesha-rasaka of Abdula Rahamana, is a charming Duta-kavya (दूत-काव्य) of 223 stanzas distributed over three prakramas or sections But this division rests entirely on the development of the theme. After the prefatory section we are introduced in the section to a Virahini s (विरहिणी) chance meeting with a traveller through whom she sends a message to her husband who has failed to return from abroad at the promised date. In spite of the overworked theme of love-in-separation the poet has succeeded in importing to it some genuine freshness and a very facile handling of diction and metre gets the lion s share of this credit. In using one metre for the general frame and more than twenty pupular metres for variation, the Samdesharasaka supplies us a typical and the only preserved-example of a genuine Rasabandha. That it is from the ten of a Muslim poet further adds to its uniqueness.

The Upadesarasayana rasa of Jinadattasuri (1076—1155 A. D) is a sermon in eighty verses praising the genuine spiritual guide and religious practices and denouncing the spurious ones. It is not a real representative of a Rasaka poem, but a late specimen of a popular literary type pressed in the service of religion In fact, as it is straight way composed in one single metre without any structural arrangement of parts that usually characterize the Rasaka form, it could as well go under the next section.

The Unstructured Types —

Besides the above two types with a definite structure which required the literary subject matter to be moulded and organized in a particular from, Apabhramsha also used the 'unstructured verse form, for long and short themes.

The Carita Kavya —

For the epic narrative the Sandhibandha was not obligatory as can be seen from a preserved instance or two of extensive narrative poems using only one metre continously from

start to finish. This practice is known from Prakrit literature Gaudavaho being a typical example. Haribhadra s Neminaha-cariya (Sk. Neminatha-carita) finished in 1150 A. D has an extent of 8032 units of thirtytwo syllables (granthagra ग्रन्थाग्र) and is throughout composed in a mixed type of metre called Radda (रड्डा) which consists of two units a five-lined unit in the intricate Matra (मात्रा) metre with a four—lined unit in the Doha metre tacked on [to it. This type does not appear to have any formal divisions One Govinda preceded Haribhadra by at least three centuries. From citations in the Svayambhucchandas of Svayambhu and from other sources Govinda appears to have an epic on the life of Neminatha, in different varieties of the Radda metre.

Haribhadra s epic, as its title indicates, narrates the life of Neminatha, along with the famous story-cycle of the Jain Harivamsha. Like his predecessors, Svyambhu and Pushpadanta and numerous others Haribhadra has an ornate style revealing a deep influence of the standardized conventions of the Sanskrit ornate Kavya in its later form.

Religious—didactic and Mystical works —

Though Apabhramsha was very rich in narrative (and probably lyrical) poetry it does not mean that it was quite so lacking in other poetic varieties. Besides some miner works of a religious—didactic character there are a few works of mystical spirit and contents which testify to the cultivation of spiritual poetry in Apabhramsha.

Of these the Paramappa—payasa (Sk. Paramatmaprakasha परमात्म प्रकाश) and Yogasara of Yogindudeva (Ap Joindu) are the most important. The Paramappapayasa is divided into two sections. The first section gives in 123 Dohas a free rambling exposition of three types of selves—the external self the internal self and the supreme self The second section of 214 stanzas, mostly in the Doha metre deals with the topics of liberation and the means thereto Yogindudeva preaches to the mystic aspirant (Yogi) the supreme importance of self realization which can be achieved by renouncing sensual pleasures, by adhering to the inner spirit rather than the mere external shell of religion, by purifying the mind, by meditating on the true nature of the self

His Yogasara in 108 stanzas mostly Dohas, purports to awaken and enlighten souls disgusted with wandering in the rounds—of births and aspiring for liberation In form, style and contents it has a family-likeness with the previous collection

The same remark applies to the Doha—pahuda (Sk. Doha—prabhrita) of Ramasimha (possibly before the 12th cent.) which in 212 stanzas stresses the same mystic—moral outlook that distinguishes the spirit from the body and regards realization of the identity of the individual spirit and the superspirit as the *summum bonum* of the spiritual aspirant.

These three works reveal a stock of ideas, terms and symbolisms that is commonly shared by them with Brahminical and Buddhistic works of mysticism. Together they make as a noteworthy Jain contribution to Indian mystical literature.

Buddhists too like the Jainas had some of their mystical works in Apabhramsha.Their authors were Siddhas of the Tantric sects of Vajrayana and Sahajayana deriving from Maha-

yana Buddhism.[1] Of these the Doha—Koshas of Kanha and Saraha (possibly c. 10th cent) are more important. Opposition to ritualism and form, importance of the Guru, inner purity attainment of Shunyata (शून्यता) as the highest goal—these are the favourite subjects of the Doha-koshas, treated in a direct and penetrating diction of coloquial force. As rare works of Buddhist Apabhramsha literature and more as the root-sources of the spirit, language and mode of expression so familiar to us from the literature of medieval saints, these mystical works are invaluable

Of the minor religious—diadactic works we may mention a few The Savayadhammadoha (S. K. Shravakadharmadoha—श्रावकधर्मदोहा) alias Navakarashravakacara (नवकार-श्रावकाचार) of Lakshmidhara (before 10th century A D.) which occupies itself with explaining in a popular way the religious duties of a Jain householder The Samjamamanjari of Maheshvara (possibly 13th century A D) small poem in 35 Doha verses on self restraint the Carcari (चर्चरी) and Kalamarupakulaka (कालस्वरूप-कुलक) of Jinadatta-suri (1076—1152 A. D.) and various devotional hymns like the Satyapuramandana Mahaviratsaha (सत्यपुरमंडन-महावीरोत्साह) of Dhanapala (11th Cent. A D) the Jayatihuana (जयतिहुयण) of Abhayadeva (11th cent. A D) etc.

Miscellaneous works and Later tendencies —

Besides independent works, small and large sections in Apabhramsha occur in numerous Jain Prakrit and Sanskrit works and commentarial literature Their number is far from negligible. To cite only a few such works —

स्वयम्भूच्छन्द	of	स्वयम्भू	(before 10th cent A. D.)
सरस्वतीकण्ठाभरण	of	भोज	(11th Cent. A. D.)
ऋषभचरित	of	वर्धमान	(1109 A. D)
शान्तिनाथ चरित	of	देवचन्द्र	(1109 A. D)
सिद्धहेम	of	हेमचन्द्र	(12 th cent.)
कुमारपालचरित	of	हेमचन्द्र	"
छन्दोनुशासन	of	हेमचन्द्र	"
उपदेशमाला—दोघट्टीवृत्ति	of	रत्नप्रभ	(1182 A. D)
कुमारपालप्रतिबोध	of	सोमप्रभ	(1185 A. D)
संयममंजरी वृत्ति	of	हेमहंस शिष्य	(before 15th cent. A. D)

The Sandhi —

In the thirteenth century a new form-type for short poems is developed. These Sandhi poems (to be clearly distinguished from the Sandhibandha treated earlier) have some religious-didactic or narrative topic mostly from the Agama or earlier Dharmakatha literature as their subject, which they develop in a number of Kadavakas The Antaramga Sandhi (अन्तरंग-संधि) of Ratnaprabha (13th century A. D) Bhavana-sandhi of Jayadeva Gani, Cauramga-sandhi (चउरंग-संधि) Mayanareha-sandhi (मयणरेहा-संधि—1241 A. D) and several other Sandhis of Jinaprabha (13th cent. A. D) may be named as the typical instances.

1 The Buddhist sect Sammatiya is said to have its sacred literature in Apabhramsha. But no such work has yet come to light.

The language of many of the Apabhramsha works after the 13th century reveal an ever-increasing influence of the contemporary speech-forms, some of which were already being employed for literary purposes, though, to start with these new literatures were but further extensions of the Apabhramsha literary types and trends. This influence of the spoken idiom is felt even in some of the illustrative verses cited in the Apabhramsha section of Hemacandra's grammar and conversely the Apabhramsha tradition in form, style and diction continues in literature with diminishing vigour up to the 15th century or in some cases, even later

Concluding Remarks —

From the preceding broad survey it would be seen clearly that Apabhramsha can boast of a considerably rich and varied literature. Most of the known Apabhramsha authors were Jainas and the lion's share goes to the *Digambara Jainas*. The high artistic traditions of the classical Sanskrit poetry were ably and creditably maintained by the Apabhramsha poets, their inescapable didacticism notwithstanding. Of course in accord with the atmosphere and spirit of their times poetic expression had become further elaborate, pedantic and found of display But it cannot be denied that *Svayambhu, Pushpadanta* (and possibly *Caturmukha*) had a stature equalling that of any famous authors of the Sanskrit Mahakavya. Their works have a classical eminence. *The mystic verses of Yogindu, Kanha and Saraha* too with their direct and penetrating spiritual note, as also the lyrical appeal of the Samdesharasaka assure them of a venerable place in Ancient Indian literature.

The Four Niksepas

(A Dissertation on Language and reality)

[Dr Nathmal Tatia M. A., D Litt.
Professor of Research in Buddhist Philosophy Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda]

1 Introductory —

The schools of Indian philosophy grew up as commentaries on texts which recorded the religious experiences and philosophical insights of the ancient seers. And the commentators had to devise techniques of exposition and also interpret texts in the light of the criticisms offered by their rivals in the field. The doctrine of four fold निक्षेप is one such technique of exposition of words as well as interpretation of the nature of reality. Etymologically the term stands for putting together or classifying, but this meaning can hardly be recognized in the developed forms of the concept of निक्षेप We can however discern four distinct phases of the development of the doctrine in the exegetical and logical literature of the Jainas viz. (i) निक्षेप as a doctrine of verbal usage, (ii) निक्षेप as a doctrine of aspects of reality (iii) नाम निक्षेप as entailing a doctrine of import of words and (iv) निक्षेप as a critique of absolutisms. Accordingly our treatment of the topic also would fall under four sections, each dealing with one of the above four phases. The subject is obviously very wide in scope, and cannot be treated fully in a small dissertation like this. We should therefore try to study the problem only in broad outline, ignoring subtle details and polemics. In fact, the dissertation should form the subject matter of an independent monograph. The doctrine developed as a critique of a number of important theories regarding language and reality and an exhaustive evaluation of the different phases of the doctrine involves a critical estimate of those theories. This is obviously a stupendous task which can be undertaken only by a patient scholar who is equally at home in all those philosopical schools which developed in our country

2 निक्षेप— A Doctrine of verbal Usage:—

The Jaina exegetists evolved the doctrine of निक्षेप for the determination of the meaning of a word in its different usages. (I) A word may be used simply as a demonstrative symbol in order to identify a thing or a person. Thus the word इन्द्र can be used as the name of a particular person without the least reference to any king of the heaven, whom the word was originally conceived to refer to Such usage is classed under what is called नाम-निक्षेप or the usage of a word as a proper noun or name (नाम) (II) The same word can again be used to stand for an image of a king of the heaven, erected in order to evoke feelings of devotion and for worship Such usage is put under what is known as स्थापना-निक्षेप or the usage of a word for a representative form

(स्थापना) imaginary or real, of the person or thing which is the ultimate referend of the word. (III) The word इन्द्र may again be used to stand for a person who once enjoyed the status of a king of the heaven or is going to enjoy the same in future, and such usage falls under the द्रव्य-निक्षेप or the usage of a word for the material cause or the substance (द्रव्य) of the person or the thing for which the word really stands. (VI) Lastly the same word इन्द्र may be used to refer to the actual glory and magnificence (which is the etymolo gical meaning of the word) of a king of the heaven. And this is an instance of the भाव निक्षेप or the usage of a word to connote the living, modes (भाव) of a thing or a person, which (modes) follow from the etymologies or the peculiar associations of the word itself

3 निक्षेप–A Doctrine of Aspects of Reality—

The Jain Philosophers discovered in this doctrine of the exegetists a complete view of reality The name (नाम) the form (स्थापना) the substance (द्रव्य) and the 'living modes (भाव) constitute the whole of a real. The name must be an internal characteristic (धर्म) of a thing inasmuch as it has an intrinsic expressiveness with regard to it. Similarly form is a common characteristic of all entities including our cognitions which derive it from their objects. A real must also have some substance as its core. And as regards the living modes, they prove the very existence of the thing and as such require no proof for themselves.

This exposition of the doctrine is obviously a complete reformation and was done when the age of exegesis was gradually giving way to an epoch of independent thinking.

4 नाम-निक्षेप– entails a Doctrine of Import of words:—

Thirdly the Jaina logician विद्यानंद developed a full fledged theory of import of words in connection with his exposition of the concept of नाम-निक्षेप

(a) नाम means a name, that is, a proper noun, and the wish of the speaker (वक्तुर् विवक्षा:) is the sole determinant of its usage for a particular thing or a person. There are also other factors—viz. universals, qualities, actions and substantives—which determine the usage of words. Thus the word cow refers to a particular cow through the universal cowhood which determines the meaning of the word. Similarly the word white refers to a white thing through 'whiteness which is a quality the word moves to a thing moving through motion which is an aspect of action and the word wealthy to a rich man because he possesses wealth which is a substantive. The first three words, instanced above, respectively fall under the parts of speech known as common noun adjective and verb. The word wealthy is an instance of an adjective which is characterised by its reference to another substantive What distinguishes a proper noun or name from other words is its determinant which is merely a sort of fiat of the speaker A proper noun moreover is self-contained in the sense that it indicates its referend directly without reference to anything else.

(b) विद्यानंद notes a view which regarded all words as symbols arbitrarily devised by man to stand for ultimate reals. The universals, qualities, etc., are only subjective

constructions without any objective reality But the position is untenable inasmuch as the universals, qualities, etc., are distinct determinants of the application of words as shown above. Universals must be accepted as real, for otherwise the fact that the word 'cow' refers to a particular cow through the universal 'cowhood' will remain unexplained.[1] The claims of qualities, actions and substantives as determinants of the application of words to their referends can be similarly established. As regards those words which stand for the determinants—viz., universals, qualities, actions and substantives—themselves, they are pure names (devised by the speaker) inasmuch as an ultimate universal cannot have another universal as its determinant, nor can a quality be determined through another quality and so on.

(c) There were again thinkers (the मीमांसक) who upheld that the words stand for universals alone, and cannot refer to anything else. Thus the word 'cow' stands for cowhood which is directly conjured up as soon as one hears the word. Similarly the word 'white' conjures up 'whiteness' and the word 'moves' conjures up 'motion'.[3] Even the proper name "डित्थ" (which is a linguistic nonsense) stands for the vertical universal (viz. personality) which runs through the life history of the person, so named, as a child, a boy a youth, and so on.[4] विद्यानंद criticizes the position as only a half truth, because it ignores the particulars without which universals would be void concepts.

---

1 Cf "The question of the "reality of universals" receives a certain kind of answer They are real at least in the speech community whatever other reality they may or may not have. They are the *sine qua non* of there being any linguistic meaning and therefore of any communication whatsoever A word intends an object directly but it always intends a universal indirectly and these two intentions can never be separated. This situation may be put in the following way We cannot look at a tall man let us say and give the result of our looking in words, without intuiting the seen man as a *man* We cannot look at this man and give the result of our looking in words without intuiting him as *tall* The universal is then not that which we see, but that through which we see." Urban Language and Reality p. 142.

2. Cf. "Nouns, verbs, adjectives, are all in a sense names and an element of universality inheres in them all. Lotze insists that this first universal is intuitive, is of a very different character from the ordinary class concepts of logic, and is indeed presupposed by them. Perception itself contains this universal." Ibid, p 118

3 Cf "There is a sense in which everything denoted by language is universalized. What ever particular sign is named, the very act of naming, of speaking, transforms and universalizes it. To give the name "cold" to any particular experience not only takes it out of the realm of the merely individual and particular but also takes it out of the realm of the subjective—objectifies it —Ibid. p. 117

4 The following, in continuation of footnote 1 may be compared "This is true even of the singular term. Thus in the expression Nansen skates, Nansen is a grammatical proper noun and may therefore be supposed to stand for a particular and not a universal.

(d) विद्यानंद also records a number of views which recognised pure immutable substance (द्रव्य) in some form or other as the import of words. Thus there were thinkers who accepted immutable discrete substance-units (नाना नित्यद्रव्यम्) as the meaning of words. There were again others who regarded only one unitary substance (एकम् एव प्रधानम्) as the ultimate referend of words. A third group of thinkers upheld the view that words can at best signify there own selves (स्वरूप-मात्रस्य प्रकाशका) even as a thunder signifies nothing but its own sound. There were yet others who regarded the non-dual Self (पुरुषाद्वैतम्) the ultimate reference of words. All these views have been discussed and criticized in detail by विद्यानंद and we reserve the topic for a separate paper

(e) A class of thinkers proposed the view that words indicate only individuals. And the individuals, thus known, reveal the universals under which they fall. This revelation which is immediate and necessary helps us to identify the desired individual on future occasions. विद्यानंद rejects the view on the ground that when the individual, indicated by a word, necessarily and immediatly reveals the relevant universal, it is better to ascribe the power of revelation of the universal to the word itself.

(f) विद्यानंद records another view which asserts particular configuration or shapes (आकार) alone as the meaning of words. He, however finds it untenable on the same ground as was advanced against the upholders of universals as the meaning of words.

(g) Finally we come to the Fluxist Buddhists who advocated the doctrine of अपोह which spelled a complete paralysis of speech They regarded discrete momentary entities only as real. Such entities are quite incapable of being expressed in words. And consequently words were conceived to have only the negative function of exclusion of a thing from what it is not (अन्यापोह) Thus words do not stand for anything real, but only for an imaginary universe of things (विकल्प) which pretends to exclude the real forms what it is not. विद्यानंद rejects the view on the ground that it ignores the patent fact that negation and affirmation go together and both are fundamental.

(h) The Jaina logician s view of the problem is conformable to his non-absolutistic position in philosophy A real is both particular and universal in one and consequently a word, in order to be an adequate expression for reality must stand for both. The predominance of the universal over the particular in one case, and the predominance of the latter over the former in another are purely expediential.

5 निक्षेप—A Critique of Absolutisms –

5. The Jaina philosopher accepts as shown in section 3 name form, substance and

---

But, as Stout points out, it is really a universal. Nansen perceived must be Nansen eating or Nansen sleeping or Nansen skating. The individual Nansen is a universal, as a connecting link of his own manifold and varying states, relations, qualities and activities. We cannot *see* the individual Nansen except through the universal"—Ibid p. 142.

modes as the four essential aspects of a real and records his disagreement with those who regard only one of them as the nature of reality As a result, the doctrine of निक्षेप is developed into a critique of the following four types of absolutism—viz., (i) Verbal Monism (शब्दाद्वैत) which regards नाम (name, word) alone as Reality (ii) Illusionism (विभ्रमैकान्तवाद) which accepts स्थापना (कल्पना-*illusion*) alone as the truth (iii) Substantialism (द्रव्याद्वैत) which postulates द्रव्य (unitary substance) alone as Reality and (iv) the absolutistic philosophy which accepts भाव (transitory states and modes) alone as real. The logical literature of the Jainas contains a full discussion of these absolutisms and an intensive study of it is a desideratum.

Nayas—ways of Approach and Observation

[Dr. Nathmal Tatia, M.A. D Litt., Professor of Research in Buddhist Philosophy
Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda]

The Jaina philosopher has made some astonishingly original contributions in the field of logic and epistemology which have not been properly assessed and appreciated by the rival schools of Indian thought. Among those I here propose to deal with is a problem which has living interest not only for the professional philosophers but also for practical men of the world. The problem will have interest for the journalists, politicians and administrators who have to arrive at a decision and chalk out a line of action in the midst of conflicting views and demands actuated by diverse interests and inclinations. This problem is called Nayas—ways of approach and observation. Even when the problem is a self—identical singular question of fact or act, persons of different interests and inclinations are bound to study it in different lights and each will claim the infallibility and imperative necessity of his point of view being accepted and implemented. It is not necessary that all of them will be erroneous or misd rected. It is quite possible that there is truth in each of these conflicting presentations. It is a question of paramount importance that these different views and conflicting assertions and truth-claims should be assessed at their real worth and assigned their proper value in an impartial estimation of the situation confronting a thinker

The Jaina philosopher asserts that each fact, however trivial it may appear can be thoroughly understood in the context of the entire reality and only in the light of its interconnection with the rest of reality A real is possessed of an infinite number of aspects and attributes which can be thoroughly comprehended only by a person who is directly acquainted with the whole order of reality in one word, who is omniscient. But this does not mean that the Jaina here offers a counsel of perfection which amounts to a counsel of despair for a person like us whose resources are limited. Though the full knowledge of all the possible characteristics even of a particle of dust cannot be claimed by anyone of us, the knowledge of one or the other attribute can be attained if we are dispassionate and free from bias for one angle of vision and prepared for approaching it from other stand points. The standpoints are called Nayas. A Naya is a viewpoint and way of approach from which a person looks at the particular aspect of a thing impelled by a consideration which is in its turn determined by his interest, inclination and aesthetic intellectual as well as moral equipment. It is entailed by our mental constitution and the exigencies of the human understanding that we should isolate one aspect of the reality and concentrate upon it. There is nothing to impune its validity or expediency provided it does not make us blind or hostile to the other aspects which present themselves to other viewpoints. The conflict becomes irreconcilable when the advocate of a particular aspect develops a fanatic zeal and refuses to view it from other angles of vision. The rivalry and antagonism among philo-

sophers, followers of different religious creeds and also politicians derive their genesis from this exclusive emphasis upon a particular glimpse of the truth.

As we are interested in the logical problem, we select examples of philosophical interest to drive home the truth of our position An entity can be viewed as possessed of diverse characteristics as they are unfolded to different ways of approach For instance, a pen is an existant fact and this shows that it has the character of existence which it shares in common with all other entities. Again, it may be regarded as a pen possessed of penhood which it shares with other pens. Again it is found to possess a distinctive individuality which distinguishes it from all other things—pens and not pens. Now the first character of existence is entirely devoid of diversity The second character is diverse and unitive. It is diverse from not-pen and is the unitive common character of all pens. So it may be called generic-cum-specific. The third is entirely specific as it belongs to the particular pen. The pen is thus found to possess an entirely generic (अविसृत) an entirely specific (विसृत) and generic-cum-specific (विसृताविसृत) character None of these is to be dismissed as an untrue estimation of the character of the pen This truth is also attested in ordinary assertions of workaday life. Asked about his residence a man may observe that his residence is in Asia or India or Bengal or Calcutta or Chowringhee or a particular house with a particular number Ultimately he may observe for the sake of exactitude that as a soul he lives within his own body Now all these observations are true though the first statement presents a broadly generalized concept and the last the most specific one, the intermediate locations representing graduated scale of specificition. This way of approach has been called Naigama Naya—the way of pantoscopic observation.

Now all these different traits are present and real. The philosophers of the न्यायवैशेषिक school approach reality from this point of view and the result is the discovery of these multiple traits varying in the scale of generalization down to the ultimate limit of specialized content which does not admit of any unitive common bond. The fallacy of this approach, according to the Jaina philosopher consists in regarding these diverse traits as numerically and qualitatively different from one another and also from the substratum in which they are embodied The Jaina philosopher admits the reality of these distinctive traits but insists upon their integration in a concrete real, which is incompatible with their absolute otherness and diversity They are necessarily bound with the substratum and one another only by virtue of their being related by way of identity-cum-difference While appreciating the acuteness of the observation of the philosophers of the न्याय-वैशेषिक school, he accuses them of abstractionist outlook which prevents the consideration of the unitive bond subsisting *interse*

The second way of approach is called synthetic vision which ignores the concrete entity in which the unity manifests itself Now a concrete entity is possessed of generic, generic-cum-specific and purely specific characteristics. The most generalized character which any entity exhibits is existence which is also the necessary characteristic of all existent

facts. It is creditable for the philosopher who discovers the unitive bond in the diversity of multiple characteristics. But when he regards this as the sole and absolute characteristic of reality and dismisses the diverse attributes as unreal appearance, swayed by the dictates of formal logic he is held guilty of extremism and exclusiveness of outlook. The Vedantist of the monistic school has approached reality from this angle of vision and arrived at the conclusion that existence is the only character of reality The diverse characters such as substantiality cowhood and the shape, magnitude, colour etc. are dismissed as unreal appearance on the ground that they cannot claim reality if they be other than existence. And the only reality they can claim is due to their identity with existence. This facile way of condemning the plain testimony of experience and the preferential treatment of a part of its content are regarded by the Jaina philosopher as the result of this way of approach and observation If, however a person stops at this discovery of a common bond and asserts it to be the character of reality without any commitment regarding the other characteristics he will not be guilty of an aberration. Certainly the knowledge of a slice of reality cannot be false unless the fanaticism of the observer makes it the sole and sufficient character of it. This is called Sangraha Naya—the synthetic approach and observation.

All extremism is by its very nature bound to create a reaction in the opposite direction. This has been called the dialectic movement of thought by Hegel. An extremistic assertion is compelled by the dialectic of its nature to pass into its opposite. The purely monistic outlook as exemplified in the aforesaid approach and angle of vision finds itself confronted by its diametrically opposite point of view which is called व्यवहार-नय— the analytic and particularistic approach The exclusively synthetic approach culminates in positing pure being as the only reality But pure being is equivalent to non-being because both of them have no character and are as such indistinguishable. It may sound paradoxical that being and non-being should be regarded as identical. But the paradox will disappear if one calmly reflects on both It is generally supposed that pure being represents plenitude of wealth and non-being stands for absolute poverty But both are abstractions, pure and simple. And when one thinks that being is something positive and affirmative as opposed to the negativity of non-being, one has before one's mind the idea of some concrete real. A pure universal is only an empty idea if it is divorced from concrete facts of experience. What we experience is always a concrete individual and the so-called universal is only an ideal abstraction Whatever has no individuality of its own is a chimera. The sky-flower a barren woman's son a mare's nest are only names. They are never perceived by anybody It is only individuals—say a pen, a table, a jar a coat that we happen to observe.

Moreover the criterion of reality is found in causal efficiency A universal *ex-hypothesi* has no causal efficiency It is the individual cow that yields milk and not the so-called cowhood. It is the pen that writes and not penhood. The so-called universals are

only hypostatized concepts which pass for reals only because the mental inertia of the average man prevents him from the labour of judging their worth. Not only the verdict of experience is against these universals but also logic confutes their reality. Well, is the universal different from the particulars or identical with them ? If it be identical, then it becomes the individual only and if it be different it transpires to be an illusory fiction just like the ass's horn. A universal unrelated to individuals is an unthinkable concept, a mere name, an empty nonsense. Well, the opponent swears by the tree-universal or cow-universal or the pen-universal, but what is the tree-universal apart from the trees ? If it be different from the trees it will be the negation of the tree and so, like the jar or pen, will cease to have any connection with the tree. No honest thinker can think of a tree which is not the oak or the mango or the teak etc. Nobody can conceive of a triangle which is neither equilateral nor isosceles nor scalene. Experience is the proof of the existence of a thing, and not pure thought. Experience always confronts individuals and not universals. A universal without an individual is an unperceived fact. This analytic empirical approach is sponsored by the nominalists and conceptualists. The Jaina philosopher convicts it of extremism because it puts the telescope on the blind eye like Nelson. The synthetic unity among the particulars of a class which renders classification possible cannot be ignored. Of course, the absolute identity of the universals in different individuals is not endorsed by the Jaina philosopher. But he does not repudiate the universal as an unfounded concept. The universal is an empirical concept and must be given a status in the scheme of reality. The close resemblance of the individuals of a class is too pronounced and patent a fact to be dismissed without incurring the charge of infidelity to experience.

Now the particularistic approach which takes delight in the analysis of a real into particular components cannot stop short at the substantive individuals. And if the individual be regarded as an enduring and abiding entity persisting through the past, present and future, it amounts to the assertion of a universal in another way. The past is defunct and the future is unborn. And if experience be the proof of the existence of a thing, the past and future existence of a fact must be rejected as the real traits of the individuals. What we perceive is the present and so it is the present that can be real. Furthermore, the past has no casual efficiency and so also the future. The real tree is the present one which exercises casual efficiency. The past tree does not serve any purpose or give any advantage or disadvantage. So logical consistency demands that we should regard only that as real which is existent in the present moment. This line of approach has been pursued by the Buddhist Fluxist who declares all reals to be momentary in duration.

This approach has been called ऋजुसूत्रनय that is the approach which gives the straight and direct glimpse of the thing. The present is the real character of the individual. The past and future determinations are as alien to it as the character of other entities. It, of course does not consider the differences of name or of gender and number thereof as

the determination of the real individual. And so these differences of expression do not affect the individuality of the thing.

The advocate of the next Naya goes one step further in the process of particularization. He agrees with the advocate of the previous approach in the assertion that the present alone is real. But as the real is expressed and characterized by work and words are significant and not unmeaning symbols, the real must be understood in the light of the connotation of the term that stands for it. Each term designates an action being derived from a verbal root, and it is this action which stamps the fact meant with its distinctive character. And so the word घट (a jar) which is derived from the √घट 'to exert' stands for the thing which is capable of action viz. drawing water etc. This is the case with all words. The king is one who is possessed of sovereign power. If a man is called by the name king, it has not the meaning of the word 'king'. Similarly the portrait or the statue of a man is loosely identified with the man. The heir apparent to the throne is addressed by the Sycophants 'Your Majesty'. These are all unmeaning expressions because they do not possess the function which the word connotes. Of course this constitutes the difference of the Naya from the previous one.

This view also maintains that the connotation of the terms is bound to differ if they differ in gender and number. The terms with different number and gender cannot be identical. They are as different as their antonyms. The verbal expression is not an external label but has a definite connotation which is bound to differ when the number or gender differs. Man and Woman are different *because they differ in gender. It is expressive of* an entitative difference. Of course the advocate of this Naya makes concession in favour of synonyms. The synonyms have different connotation no doubt, but as the denotation is identical the reality is not made different by them. The other terms only signify the different attributes and functions which however belong to the same substratum. This is called शब्द-नय—the Verbalistic approach.

The next Naya is called समभिरूढ which goes another step further in the process of specification by identifying the etymological meaning (व्युत्पत्तिनिमित्त) with the real meaning (प्रवृत्तिनिमित्त). The advocate of this line of approach maintains that the meanings of words must differ with the difference of words. Each word has got a distinctive connotation of its own. So there can be no synonyms in the true sense of the term. Well the jar is called घट कुट and also कुम्भ in sanskrit. They are derived from different radicals and each of them has got a distinctive meaning. Thus the घट stands for a particular action. √कुट stands for crookedness and कुम्भ which is derived from Ku+√umbha 'to fill up' stands for this action of filling. The derivative words should therefore be properly affixed to facts which have these acts as their connotation. It is not consistent to maintain that the words with different connotations do stand for a self identical denotation.

If the difference of number and gender constitutes real difference in the meaning, the differences of the so called synonymous words must be held to be expressive of real

differences. The advocate of this line of approach maintains that there can be no synonyms. Each word must have a different meaning of its own and the etymological meaning is the real meaning of the word. He does not subscribe to the view that the real meaning and the etymological meaning are different. The very fact that a different word is called into request shows that it must have a different meaning, etymological as well as real. Otherwise it would be reduced to nonsense.

The last verbalistic approach, called एवंभूत affirms that only the actualized meaning of the word is the real meaning. The word signifies an action and the fact which actually exercises the action should be regarded as the real meaning. So the word घट should mean the jar which actually draws water and not the jar which remainsidle in a corner of the room. The latter does not possess the connotation and so cannot be designated by the word. Thus the king is the person who actually exercises sovereignty the minister is one who actually exercises the function of a counsellor and framer of state policy So when the king is engaged in domestic affairs or talking to his wife he is not the king proper The exponent of the preceding approach hits upon the truth that difference of words entails difference of meaning, but he fails to grasp the real significance of the connotation when he affixes the word to the fact which is bereft of the action connoted by it. The idle jar is as different and distinct from the water-carrying jar as the pen If however the word could signify a fact devoid of the connotation there is no logic why it would not be labelled upon a different fact having a different connotation. Light, for instance, means an entity which actually illuminates. If it could be affixed to a lamp which has gone out it could with equal logical properiety be affixed to an opaque stone.

Now all these approaches may be employed in the determination of truth and their misemployment is bound to lead to aberrations. The Jaina philosopher with his characteristic catholicity of outlook and tolerance for other views and readiness to accomodate them and assess them at their proper worth has no hesitation to receive them as estimation of reality This toleration is however subject to the proviso that they must not be allowed to outstrip their proper jurisdiction. The unitive bond in the midst of diverse attributes is endorsed by the Jaina logician as it is attested by uncontradicted experience. What the Jaina emphasizes is that all these traits are not isolated aspects but integrated in the concrete fact which we experience. The so-called antinomies conjured up by the dictates of abstract logic are only figments of formalism. Pure logic suffers from the defect that it ascribes rigidity to the different aspects and makes them fixed characteristics which come into conflict with their opposites. There is nothing fixed in the world. Everything is impellled to change by the inner dialectic of its constitution. So the opposition of unity to diversity is only a figment. The different approaches only illustrate the truth that the tendency to differentiation and specification if not checked by reference to the other concomitant traits, will culminate in disastrous results. The specification begins from the third approach. The fourth only concentrates the attention of the knower upon the immediate presents. The

fifth makes the word a determinant factor and the sixth follows it up by abolishing all synonyms. The seventh asserts the actual presence of the verbal meaning to be the sole determinant of the reality If however it were conceded that each trait is a real factor and it is indifferent to the other traits, then each of them can be accepted as a true estimation of the reality Of course each way of approach only succeeds in catching hold of a part. But the actuality of the part is undeniable. If the advocate of these different ways of approach asserts that the several findings are exclusive and sole character of the real he will expose himself to the charge of extremism and fanaticism.

In practical life when a politician concentrates on the immediate need of the hour and refuses to take a retrospective or prospective view he makes himself guilty of exclusiveness. All dogmatism owes its genesis to this partiality of outlook and fondness for a line of thinking to which a person has accustomed himself. The Jaina logician welcomes all the light that comes from different ways of approach and integrates them in one whole in which all these finite traits can subsist as moments. This intellectual charity will resolve all conflict and rivalry So whatever may be the calling and avocation a man may be called upon to pursue he can achieve success and combine it with benevolence and amity if he is alive to the importance and the utility of all the different ways of approach in the study of problems.

Anekanta, Syadvada and Saptabhangi

(अनेकान्त स्याद्वाद और सप्तभंगी)

[Dr Nathmal Tatia, M.A.,D Litt.
Professor of Research in Buddhist Philosophy Nava Nalanda Mahavihar Nalanda.]

1 Anekanta (Non-absolutism)[1]

1 The real, according to the Jaina philosopher is a variable constant. It is being and non-being (becoming included) unity and plurality (one and many) the universal and the particular rolled into one. If causal efficiency is the test of reality the real cannot be an absolute constant, nor can it be an absolute variable. It must be a variable constant.[2] Similarly absolute being and non-being, incompatible as they are with causal efficiency cannot characterise reality If being is the eternal cause-aspect of the real, non-being is its evanescent effect-aspect. The real is a synthesis of infinite potencies (अनेक-शक्ति प्रचित) and also continues through change. It is thus unity and plurality or one and many rolled into one. The persisting and pervading nature of an entity is the universal and the ever changing mode the particular The postulation of such pairs of characteristics by the Jaina philosopher has been responsible for the designation of his philosophy as अनेकान्तवाद (theory of manifoldness of truth or non-absolutism) Let us study these pairs in some detail.

1 (i) Being and Non being

2. Being, in its universal aspect, pervades all reals while in its personal character, it is the negation of that pervasion that is, non-being.[3] Being ,as personal, is the self-existence (that is, existence in respect of its own substance, space time and mode) of a real and non-being is its non-existence (in respect of an alien substance space, time and mode) which includes the negation of the modes of infinite past (प्रध्वंसाभाव i.e., non-existence after destruction) and of infinite future (प्रागभाव i. e. pre-non-existence) as well as absolute negation (अत्यन्ताभाव e. g non-existence of colour in air) and infinite numerical differences (अन्योन्याभाव i e., mutual non-existence or non-existence of identity of things) The denial of this non-existence would make the distinction of one thing from another impossible, and thus rob it of its individuality and determinate character[4] Non-being, therefore, is as much an element in the constitution of a real as being is. Universal being is uncharacterized indeterminate existence or pure affirmation which is the uniting bond of all determinate reals. Personal being is characterized and determinate existence and is non-being in the sense

---

1 We owe this happy expression to Professor S Mookerjee. Vide his JPN

2. For a detailed study of the problem of causation in absolutist philosophies, see JPN, pp.25 seq.

3 Cf. TV iv 42 (15) p 258 (lines 26ff.) where the conditions of 'position and negation are laid down.

4. For details see JPN pp. 31 seq

of other than or distinct from universal being. Thus personal being is determinate self-existence or self-affirmation as distinct from, that is, as non-existence or negation of other determinates coordinate with it. Being and non-being, existence and non-existence, affirmation and negation thus are the constituents of a real at every stage.

3 This analysis of a real is necessitated by an analysis of the nature of any ordinary experience Our experience is at once positive and negative. A purely positive experience, being altogether incapable of defining its object, is either a case of confusion or an experience tantamount to no experience' The postulation of a purely negative experience also leads to a similar contradiction. Negation means exclusion of a determinate fact from other such facts.[1] But no such function can be fulfilled by a purely negative experience, as it does not claim any determinate fact as its object. This is obviously a contradiction.[2] This positive-cum-negative character of experience is a proof direct of its object as a synthesis of being and non-being, existence and non-existence, as explained above. This is also corroborated by the fact that the affirmative propositions become fully significant only when supplemented by the correlative negative propositions and vice versa. Neither the affirmative nor the negative proposition taken by itself is capable of giving the intended sense in its fulness.

4. Here the problem of the relation between the real and its characteristics and between the characteristics themselves crops up For the sake of convenience, the real may be called a 'substantive and its characteristic an adjective What then is the relation between a substantive and its *adjective*, and *also between one* adjective and *another belonging to the* same substantive ? The relation cannot be absolute identity for then the two terms would merge into absolute unity that is, the relation would annihilate itself. Nor can it be absolute difference, for this would leave the terms unrelated and the relation would be equivalent to no relation The Jaina philosopher seeks to solve the difficulty by postulating a peculiar kind of relation called 'indentity-cum-difference (भेदाभेद) which is neither absolute

1 Cf. "... there is more, and not less, in the idea of an object conceived as not existing than in the idea of this same object conceived as 'existing for the idea of the object not existing is necessarily the idea of the object existing with, in addition, the representation of an exclusion of this object by the actual reality taken in block " Bergson *Creative Evolution* (London, 1954) p. 302. Although the Jaina philosopher does not agree with Bergson in regarding negation as a pseudo-idea and a mere species of affirmation, he is in perfect agreement with him in regarding negation as an exclusion of the negatum by positive facts other than it (viz. negatum) and to that extent as sharing the nature of an affirmation. He also does not agree with Bergson in admitting affirmation as a complete act of the mind and negation but the half of an intellectual act, of which the other half is understood; or rather put off to an indefinite future ? (Ibid. p. 303) For him each is equally incomplete without the other

2. न प्रमाणविधिमात्रमेव परिच्छिद्यते पदार्थव्यावृत्तिमभावमात्रस्य तस्य प्रवृत्ते: लोकव्यवहारात् व्यवस्थापितसमानता प्रसंगो वा । न प्रतिषेधमात्रं विधिमपरिच्छिन्दानस्य इदम् अस्माद् व्यावृत्तं इति पर्येतुम्–अशक्तेः SKh, IX, pp 103-4.

identity nor absolute difference, not an artificial conjunction of the two but a new type which is *sui-generis* (सदसदात्मक)[1] Accordingly the real also as conceived by him, is neither absolute being, nor absolute non-being, nor an artificial synthesis of the two, but a focal unity of being and non-being, which cannot be reached by logical thought'—a unity which is immanent in the elements, but at the same time transcends them in that it is not analysable into elements[2] This estimate of relation does not allow the terms to merge, nor to fall apart. The substantive owns its adjectives on account of its identity with them, and the adjectives preserve their individuality on account of their difference from the substantive. The adjectives do not fall apart on account of their identity with the substantive, and the substantive does not lose itself in its adjectives on account of its difference from them.

5 The वैशेषिक philosopher has levelled the charge of truism (सिद्धसाध्यता) against the doctrine of existence in respect of one's own nature (स्वरूपेण सत्त्वम्) and non-existence in respect of an alien nature (पररूपेण असत्त्वम्) and the charges of triviality and insignificance also follow from it. But the above evaluation of the nature of relation, implied by the doctrine, should be considered sufficient for the refutation of these charges. For the वैशेषिक philosopher the relation of identity-cum-difference is quite novel, and the light that it throws on the nature of the real is quite momentous and significant.[3] The real cannot be, as already shown either absolute being or absolute non-being. Here by 'absolute being' we understand what is eternal, positive and absolutely unamenable to change, and by adsolute non-deing what is absolutely negative and devoid of all characterization. These are repectively the postulates of the Vedantic monist and the Buddhist nihilist. Similarly the real cannot be either pure being or pure non-being—the expression 'pure being standing for 'being without becoming or continuant without change (change in the sense of real creative change and not mere actualization of the potential) and 'pure non-being' standing for becoming without being or change without continuant These may respectively be regarded as the postulates of the सांख्य evolutionist and the Buddhist fluxist. The Jaina philosopher believes in being tolerant of non-being, and non-being tolerant of being.[4] For him, in other words, being and becoming are informed with each other and go *pari passu* one without the other is impossible.

1 (ii) Unity and Plurality or One and many

6. From the adove analysis of the real into being and becoming, it follows that it is also unity and plurality or one and many If the real as being is self-indentical unity i. e., one, the real as becoming is plurality i.e. many A positive entity (भाव)—e.g. the self—is *ipso facto* plural, unlike

1 See AJP p. 65

2. See JPN, pp. 114 and 115

3 See AJP pp. 90 Seq

4. For the Jaina philosopher's arguments proving the absence of contradiction between being and non-being, vide infra, section 2, §/a.

negation (अभाव) which, being homogeneous, does not brook distinction or plurality within itself and at least six distinct stages—viz. origination, continuity transformation, growth decay and lapse—can be distinguished in its process [1] Plurality in fact, is plurality of aspects, and the multitude of concepts and the corresponding linguistic expressions, related to a single fact, is a proof of the reality of these aspects.[2] The unitary real ought to be regarded as plural also on account of its being an intergration of numerous energies (अनेक-शक्ति प्रचितत्वात्) [3] Its temporal continuity and ever emerging novelty also argue its manifold character "Strictly speaking," as has been observed by Professor Mookerjee, a thing is neither an absolute unity nor split up into an irreconcilable plurality It is both unity and plurality all the time. There is no opposition between unity of being and plurality of aspects. The opposition would have been inevitable if the unity of a real varied with each aspect. But the varying aspects are affirmed of the self-identical subject and this proves that the unity is not affected by such predication. A thing is one and many at the same time—a unity and a plurality rolled into one."[4]

1(iii) The Universal and the Particular

7 Reals are universals and particulars synthesized into one. The universal is the unitive bond running through the particulars and the Jaina philosopher has recognized two kinds of it, viz. the vertical universal (ऊर्ध्वता-सामान्य) and the horizontal universal (तिर्यक्सामान्य) The self-identity of the real, running through its temporal process, is the vertical, and the bond that unites one real with others in space is the horizontal universal. Almost all later Jaina logicians however under the influence of the Buddhist philosophers like धर्मकीर्ति and others, have identified the horizontal universal with similarity which they regard as a quality different in different individuals. The disastrous consequences of this reassessment of the nature of a universal have been thoroughly examined by Professor Mookerjee in his celebrated work, 'The Jaina Philosophy of Non-absolutism (Chapter IX) and an impartial student of philosophy cannot but agree with his findings. We should stick to the original (earlier) Jaina position and should not accept an interpretation as faithful if it goes against the fundamental postulates of non-absolutism. Let us now study in brief the grounds for the admission of real as a unity of the universal and the particular

8 A jar as jar' cannot be distinguished from another jar as jar' and this incapacity of thought to distinguish the two argues their indentity in respect of the characteristic of jarhood. Although the two jars are separate in respect of their separate substantial, spatial, temporal and modal determinations, their identity *qua* jar cannot be got rid of. Identity in the ultimate analysis, is an identity of characteristics belonging to different entities. What

1. TV iv 42 (4)
2. TV iv 42 (5)
3. TV iv 42 (6)
4. JPN. pp. 29-30.

cannot be distinguished in any particular respect must be accepted as indentical in that respect. The colour as colour of a coloured thing cannot be distinguished from colour as colour of another coloured thing, and therefore the two colours must be regarded as identical though they belong to two separate things and may also be two different colours, say red and green. Thus 'red and green are identical as colour and different as specific determinations of it.[1] Mere spatial separateness of two entities does not prove numerical difference of their characteristics. There can be spatial separateness without numerical difference, e. g. between two distant parts of a patch of colour and similarly there can be numerical difference without spatial separateness, e. g. between the colour and shape of the self-same object. Thus there is nothing repugnant in admitting the relation of identity-cum-difference in respect of characteristics between any one entity and another Neither identity without difference, nor difference without identity is possible. Now as the identity presupposes the universal and the difference the particular the real is a synthesis of the two. In other words, the real is a concrete universal. "Things are, observes Professor Mookerjee, "neither exclusively particulars, nor are they exclusively universals, but they are a concrete realization of both. The two elements can be distinguished by reflective thought, but cannot be rent asunder"[2]

9 This analysis of a real into universal and particular is significant in that it gives a penetrating vision of the interrelatedness of reals and their uniting bond. It should be understood that the two elements do not exhaust the real, but are mere indicators of the comprehensive and transcendent nature of it. "A real" again to quote Professor Mookerjee, "is neither a particular nor a universal in an exclusive manner but a synthesis which is different from both severally and jointly though embracing them in its fold. A real is *sui generis*"[3]

10. We have now seen how the pairs of characteristics—viz. being and non-being, unity and plurality or one and many the universal and the particular—unfold the nature of a real as a microcosm and macrocosm in one. The Jaina philosopher's dual points of view (*nayas*)—viz. synthetic (द्रव्यार्थिक or निश्चय) and analytic (पर्यायार्थिक or व्यवहार) —also point to the same truth.[4] The entire corpus of Jaina metaphysical literature is inspired by this dual approach, though the far-reaching implications of it are not always visualized, not unfolded in the light of the needs of ever progressing thought. The charac-

---

1 W E. Johnson has proposed to call such comparatively indeterminate characteristics as colour and shape determinables in relation to such specific characteristics as red and circular which he calls determinates.—See his *Logic* Part. I (Cambridge 1921) p. 174.

2. JPN, p. 6.

3 JPN, p. 13

4. JPN pp 301 and 309.

teristics of being-cum-non-being, unity-cum-plurality universal-cum particular are certainly repugnant to the abstract ways of our logical thought and understanding, but none the less they are verdicts of plain experience and as such true measures of reality The whole truth may not be understood, but there is no reason why we should be dissuaded from pursuing the way shown by our plain experience and capturing whatever vision the pursuit may provide. In this connection, the following remarks of Bradley regarding the knowledge of unity which transcends and yet contains every manifold appearance are worth remembering. "Our complete inability to understand this concrete unity in detail is no good ground for our declining to entertain it. Such a ground would be irrational, and its principle could hardly everywhere be adhered to. But if we can realize at all the general features of the Absolute, if we can see that somehow they come together in a way known vaguely and in the abstract, our result is certain."[1]

2 Syadvada (Relativism)

11 A real, as shown, has pairs of characteristics which oppose (negate) each other and we have also seen how this opposition is resolved in the uniqueness of the real. In order to exhibit the internal harmony of these apparently opposed characteristics and also to attain logical and linguistic precision, the Jaina philosopher has proposed to prefix the restrictive expression स्यात् (which means in some respect or 'with reference to a particular aspect or context') to those propositions which have such conflicting characteristics as predicates. The expression स्यात् moreover brings out the relative validity of the predication and is thus a corrective against the absolutist ways of thought and evaluation of reality[2] And the practical application of non-absolutism (अनेकान्तवाद) which necessitates the invention of this linguistic tool for logical precision is known as स्याद्वाद (relativism) To illustrate this application by a concrete example let us take the eternal-cum-evanescent nature of the real. A real is eternal in respect of its substance (द्रव्य) and evanescent in respect of its modes (पर्याय) In other words, the characteristics of eternality and evanescence are to be predicated of the selfsame real with reference to its two different aspects, viz. the substantial and the modal. The real *qua* subject of a proposition at every stage of its analysis, is found to be a unity of two opposite elements and as the predicated characteristic can refer to only one of those two elements, it must be held to be true of only that element and by this very fact untrue of the other[3] The predication is thus found to be

---

1. *Appearance and Reality* (Oxford, 1955) pp. 141 2.
2. Vide JPN, p. 132.
3. Cf. "There is only one way to get rid of contradiction, and that way is by dissolution. Instead of one subject distracted, we get a larger subject with distinctions, and so the tension is removed. We have at first A, which possesses the qualities c, and b, inconsistent adjectives which collide and we go on to produce harmony by making a distinction within this subject. That was really not mere A, but either a complex within A, or (rather here) a wider whole in

only relatively true.[1]

2(i) Relativism and Laws of Thought

12. Let us now see if this relativism of predication has any bearing on the traditional Laws of Thought, which, to be significant, must, besides being true measures of reality formulate principles of valid predication.

12 (A) The Law of Identity is the simplest of all possible laws of judgments and must, to be significant, set forth their minimum conditions viz. meaning and truth. A judgment which has no meaning is no judgment, and a judgment whose truth cannot be ascertained is an idle gibberish

In its bare form A is A the law does not possess any significance and is apparently nothing more than tautology If however it is taken to express the mere identity of the

---

which A is included. The real subject is A+D and this subject contains the contradiction made harmless by division, since A is c and D is b This is the general principle, and I will attempt here to apply it in particular Let us suppose the reality to be X (a b c d e f g ....) and that we are able only to get partial views of this reality Let us first take such a view of 'X (a b) is b This (rightly or wrongly) we should probably call a true view For the content b does plainly belong to the subject and, further the appearance also—in other words, the separation of b in the predicate—can partly be explained. For answering to this separation, we postulate now *another* adjective in the subject let us call it β The 'thatness the psychical existence of the predicate which at first was neglected, has now also itself been included in the subject. We may hence write the subject as X (a b β) and in this way we seem to avoid contradiction Let us go further on the same line, and, having dealt with a truth, pass next to an error Take the subject once more as X (a b c d e.. .....) and let us now say 'X (a b) is d' This is false, because d is not present in the subject, and so we have a collision. But the collision is resolved if we take the subject, not as mere X (a b) but more widely as X (a b c d) In this case the predicate d becomes applicable. Thus the error consisted in the reference of d to a b; as it might have consisted in like manner in the reference of a b to c, or again of c to d. All of these exist in the subject, and the reality possesses with each both its 'what' and its 'that But not content with a provisional separation of these indissoluble aspects, not satisfied (as in true appearance) to have a ≺ b β and d δ— forms which may typify distinctions that bring no discord into the qualities—we have gone on further into error We have not only loosened 'what' from 'that and so have made appearance but we in each case then bestowed the 'what on a wrong quality within the real subject. We have crossed the threads of the connexion between our whats and our 'thats and have thus caused collision, a collision which disappears when things are taken as whole."—*Appearance and Reality* (Oxford, 1955) pp. 170-1

1 Cf "We found that some knowledge was absolute and that, in contrast with this, all finite truth was but conditional. But when we examine it more closely this difference seems hard

subject and the predicate, it goes only half way towards the acquisition of meaning, because it leaves out the difference without which the identity is unmeaning. In order therefore, to invest the form A is A with full meaning and truth, we should interpret the predicate A as a characteristic a which is true of a part of the subject A. We now have the form A (a b ..) is a which is *meaningful* because it exhibits in full the identity-cum-difference between the subject and the predicate, and also *true* because the predicate belongs to the subject. In the language of the Jaina philosopher the above form can be expressed as 'In one parti cular aspect (स्यात्) A is a The Law of Identity thus becomes significant if interpreted in the light of स्याद्वाद

Here one important fact about judgment or proposition[1] should be clearly understood. A proposition which is once true is always true. Certain logicians have denied this dictum, and their denial appears to be due to in the words of Mr Johnson "a confusion between the time of which an assertion is made, and the time to which an assertion refers or as Mr Bosanquet has neatly put it—'between the time *of* predication and the time *in* predication '[2] Thus taking as example the proposition 'The mango is green we must say on the one hand that if the proposition is true at any time it is true at all times but on the other we must not say that if the predicate 'being green is true of a given subject at one time, it will be true at all times. The time *of* predication i.e. the time at which the judgment is made is, relatively to the content of the judgment, a mere accident. The time *in* predication is the relation of the predicated characteristic to the subject. Green, in the above example is true of mango at only a particular moment or duration of time of the latter's existence, and thus the time here is an essential constituent of the subject of the judgment. With the change of this temporal context of the subject, the truth of the predicate may change. But this change has no effect on the time of the judgment and hence also on its truth. The problem however

---

to maintain. For how can truth be true absolutely if there remains a gulf between itself and reality ? Now in any truth about Reality the word about is too significant. There remains always something outside and other than, the predicate. And, because of this which is out side, the predicate, in the end, may be called conditional. In brief the difference between subject and predicate, a difference essential to truth is not accounted for It depends on some thing not included within the judgement itself an element outlying and, therefore in a sense unknown. The type and the essence in other words, can never reach the reality The essence realized, we may say is too much to be truth and, unrealized and abstract, it is assuredly too little to be real. Even absolute truth in the end seems thus to turn out erroneous. —Ibid. p. 482.

1 We agree with W E. Johnson (*Logic* Part I p. 1) in regarding a proposition as 'that of which truth and falsity can be significantly predicated' and also in refuting the view that the propo sition is the verbal expression of the judgment as an error

2. Johnson *Logic* Part I p 235 Also Bosanquet *Logic* (2nd Edition) Vol. I p. 203.

concerns the nature of propositions in general and not the Laws of Thought in particular. We understand the laws as laws of the truth or falsity of predicates only and not, as some modern logicians have done in order to avoid the difficulties as laws of the truth or falsity of propositions.

The Law of Identity is also formulated as 'whatever is, is' which may ontologically be interpreted to lay stress on the static character of things. But nothing, as shown, is static according to the Jaina philosopher and so the formula is not acceptable to him.[1] The Vedantist would have no objection against this interpretation of the law because he belives in reality as static.

12 (B) The Law of Contradiction is symbolically expressed as A is not both A and not A and may be regarded as only the complement of the Law of Identity It supplies something without which the Law of Identity is not logically complete or distinctly intelligible. If A is A, A cannot be not A. In other words, nothing can both be and not be.

The Jaina philosopher has shown being and non-being as simultaneously true of a real and hence we cannot agree to the above interpretation of the law Absolute being and absolute non-being are certainly exclusive of each other But this is not the case with concrete being which alone is real according to the Jaina philosopher Concrete being is being tolerant of non-being. Absolute being and absolute non-being are only figments of abstract logic.

The field of application of the Law of Contradiction, therefore should be ascertained by the observation of concrete cases in the real world. Characteristics which cannot exist together simultaneously are contradictorily opposed, and the law can be usefully applied to the cases of such characteristics. Thus a patch of colour cannot be red and green at the same time and hence red and green can be accepted as contradictorily opposed. But a variegated linen showing patches of different colours can be red and green at the same time (though of course in different parts) and the Jaina philosopher unlike the Vedantist and the Buddhist absolutists, does not find any contradiction in this. Our experience is thus the sole determinant of contradiction and no abstract logical formulas can give an insight into the nature of the concrete things of the world

12 (C) The Law of Excluded Middle is symbolically represented as A is either B or not—B' Interpreted in the plain sense this law means that the negation of any predicate is an absolute alternative to it, that is, if one is false the other must be true. This means that falsehood can establish truth. But this discovery of truth is vague and practically useless because one of the terms, viz. not B is indeterminate and absolutely incapable of giving a determinate fact which alone makes the predicate significant. This is a defect which makes the law trivial and insignificant.

13 The Laws of Thought are thus found to be vitiated by serious defects—all of

1 See JPN pp. 8 Seq

which are primarily due to their aprioristic foundations. By the idealist philosophers the laws were used for the refutation of the positions of the realists who could never be convinced of the validity of these laws as instruments of the discovery of truth. "The difference between the realist and the idealist," in the words of professor Mookerjee, "hinges upon this fundamental difference of view of the validity of the Laws of Thought—whether they are known empirically or *a priori* It seems that the difference between them is irreconcilable, being more or less bound up with the innate difference of our predispositions and tendencies from self to self. The result is an uncompromising antagonism between our respective outlook and attitude."[1]

2 (ii) Opposition

14. *The fountain-head of all this logical controversy is the estimation of the relation between being and non-being.* The formulations of the Laws of Thought are inspired by the belief that there is innate opposition between being and non-being—an opposition which is absolutely incapable of dissolution. But the Jaina philosopher is unable to appreciate the *raison d'etre* of this belief Opposition (*virodha*) according to him, is exhausted by the following three types of relation, none of which can be shown to obtain between being and non-being.[2]

14(A) The first type of oppositional relation is represented by the relation of destruction, which obtains between the destroyable and the destroyer (वध्य-घातक) e. g. between *snake and mongoose, or fire and water The destruction in such cases is possible only when two* coexistent positive facts come together into collision and the one overpowers the other There is *not such relation of destruction between being and non-being, as the two according* to the opponent himself do not coexist in a common substratum even for a moment. If however the two are admitted to coexist in a common substratum, none would destory the other because both are equally powerful on account of their independent and equally powerful origin.

14(B) The second type is represented by the relation of non-coexistence (सहानवस्थान) which obtain between characteristics originating at different moments of time e.g. between greenness and yellowness of the selfsame mango at different moments of its existence. Yellowness in this context can only succeed greenness and can never coexist with it. This type of opposition also does not hold good between being and non-being. The characteristic of non-being cannot succeed the characteristic of 'being in the same sense as yellowness succeeds greenness. Non-being cannot inherit the locus of being, because the locus of being has ceased to exist along with the cessation of being. And non-being without a locus is as ununderstandable as square-circle. The logical difficulties of pure being and pure non-being have already been discussed.[3]

1. JPN pp. 15-6
2. TV iv 42 (18)
3. Vide supra, section 1 (i)

14(C) The third type of oppositional relation is represented by the relation of obstruction which obtains between the obstructed and the obstructor (प्रतिबध्य-प्रतिबंधक) e. g. the conjunction of a fruit with its stalk obstructs the gravitation of the fruit towards the earth. This type of opposition also is not possible between being and non-being. Being is not an obstructor of non-being because the existence of being does not obstruct the existence of non-being. We have already seen how the object of our experience is a synthesis of being and non-being.[1]

15 None of these three types of opposition can be discovered by pure thought unaided by empirical knowledge The destructive opposition is observed when two positive facts actually collide the opposition of non-coexistence is witnessed when one fact vanishes in advance in order to give place to another fact, and the obstructive opposition is admitted when one fact is found to resist the occurrence of another We cannot admit any collision between being and non-being, as one of the terms, viz. non-being, is not a positive fact. Nor do they exhibit the opposition of non-coexistence because neither being nor non-being can be conceived as vanishing in order respectively to give place to non-being and being. The obstructive opposition also does not obtain between being and non-being, because none of the two can obstruct the occurrence of the other The opposition between being and non-being thus cannot be illustrated by any empirical example. In fact, pure being and pure non-being are themselves only imaginary creatures and consequently the question of their mutual opposition should not arise at all. Determinate being and determinate non-being alone are true. Such being and non-being are only two diverse characteristics synthesized into the unity of the real. There is not any kind of opposition between them, as there is none between the colour and the shape of the same thing. Opposition or contradiction, in fact, arises when there is mere conjuction and no real synthesis. Characteristics are not contradictory because they are diverse for the real holds diversity in unity "Contradictions exist" says Bradley "so far only as internal distinction seems impossible only so far as diversities are attached to one unyielding point assumed, tacitly or expressly to be[2] incapable of internal diversity or external complement. But any such fixture is abstraction, useful perhaps, but in the end appearance. And thus, where we find contradiction, there is something limited and untrue which invites us to transcend it.

3 Saptabhangi

(The Doctrine of Seven Ways of Predication or Seven Modes of Truth)

16 The सप्तभंगी (the doctrine of seven ways of predication or the seven modes of truth) is the logical consummation of the doctrines of अनेकान्तवाद (non-absolutism) and स्याद्वाद (relativism) described above. We have seen how a real is characterized by

1 Vide supra, section 1 (i)

2. *Appearance and Reality* p. 505

pairs of characteristics which are opposed to each other Now if we take any one of these pairs —say the pair of the characteristics, viz. existence and non-existence (being and non-being)[1] —and examine the nature of the real, revealed by these characteristics as predicates, we find that there are just seven, neither more nor less, ways in which the characteristics can be predicated of the real, each way of predication revealing a new mode of truth. We have seen[2] how a real is a focal unity of being and non-being (or existence and non-existence) which cannot be reached by logical thought[3] Now as this unity transcends the reach of logical thought, it is also for the purpose of predication, beyond the range of speech. In other words, a real is inexpressible or unspeakable (or indefinite from the standpoint of formal logic) [5] We thus get a third characteristic, viz. inexpressibility (which, as shown, stands for the unique synthesis of existence and non-existence) besides the two viz. existence and non-existence. These are three quite independent characteristics. Now as the total number of combinations of three things taken one, two or three at a time is seven, the total number of predicates that can be constituted by various combinations of the three characteristics is also seven. These seven predicates are—(1) existence, (2) non-existence, (3) existence and non-existence (4) inexpressibility[4] (5) existence and inexpressibility (6) non-existence and inexpressibility and (7) existence, non-existence and inexpressibility There cannot be any eighth combination without repeating the same characteristic twice What is now to be examined is whether each of these seven predicates reveals a new mode of truth. This can be best done by examining the import of the seven predicates together with the significance of the propositions embodying them.

3(1) Import of the Seven Predicates

17(1) The first predicate is existence which means existence in a specific context, that is, determinate existence A jar certainly exists in its own context (स्याद् अस्ति घटः) It has its own substance (द्रव्य) space (क्षेत्र) time (काल) and mode (भाव) In one word, it has a determinate (personal) being The determinate existence rebuts the possibility of absolute being and absolute non-being. This point has already been elaborated[5] and

1 The Jaina philosopher does not distinguish between being and existence, which are always concrete.

2 Vide supra, section 1 (i) § 4.

3 Vide JPN, p. 115

4 This fourth predicate is sometimes given as the third, and in that case the third is given as the fourth. See TV IV 42(15(In fact, the oldest source of these predicates viz., the भगवती सूत्र (X 11 10.469) assigns to it the third place and this is also the demand of the logic behind the dialectic of sevenfold predication For the order followed by us see TV I 6(5) Both these orders of enumeration are followed by the Jaina logicians without discrimination. See also the note on this point by Professor Dalsukh Malvaniya in his Introduction (pp. 40 ff.) to his edition of the न्यायावतारवार्तिक वृत्ति of शान्तिसूरि (Singhi Jain Series, XX)

5 Vide Supra, section 1 (i) § 5.

needs no repetition The significance of the proposition follows from the unique import of the predicate.

It is however to be understood that none of the seven predicates denies the other predicates. Each predicate on the other hand implies the other six as equally important and true characteristics of the real. This implication is expressed by the word स्याद्[1] prefixed to every proposition, e g. in स्याद् अस्त्येव घटः which means 'The jar certainly exists in its own context. This should be carefully noticed in our exposition of the import of the predicates. The implication of एव (certainly) in the above proposition is the exclusion of the negation of existence.

17(2) The second predicate is non-existence which means 'non-existence in a specific context, that is, determinate non-existence The jar certainly does not exist in another context (स्यान्नास्त्येव घटः) This determinate non-existence rebuts the possibility of absolute non-being and absolute being.

The first predicate is concomitant with the second and the second is concomitant with the first. And this is the reason why both can belong to the same subject without conflict and opposition.

17(3) The third predicate is existence and non-existence which means consecutive togetherness of existence and non-existence that is distinguishable compresence of the two. The jar exists and does not exist respectively in its own context and in a different context (स्याद् अस्ति च नास्ति च घटः) This predicate gives a richer glimpse of the real than that provided by the first and the second. It is not however a mere combination of the two, but presents a complex character of the real—a character which reveals the equipollence of existence and non-existence in the constitution of the real.

17(4) The fourth predicate is inexpressibility' which stands for the unique synthesis of existence and non-existence The jar is certainly inexpressible as having both existence and non-existence as its characteristics at the same time (स्याद् अवक्तव्य एव घटः) The third predicate revealed the equipollence of existence and non-existence But this fourth goes further and gives a glimpse of the real as a unique synthesis of existence and non-existence—a synthesis which transcends the equipollence of existence and non-existence by dissolving them into a unity This character of a real cannot be grasped by a definite concept and so is not expressible by a definite linguistic symbol which can express only what is positive or negative but never what is 'positive and negative rolled into one

This inexpressible or the unspeakable that is, the indefinite is a peculiar concept of Jaina philosophy In the words of Professor K. C Bhattacharya, "The given indefinite—the 'unspeakable or अवक्तव्य as it has been called—as distinct from the definite content, presents something other than (the) consecutive togetherness (expressed by the third predicate) : it implies सहार्पण or co-presentation which amounts to non-distinction or

1 For further implications of स्याद् vide supra, section 2, § 11

indeterminate distinction of being and negation. It is objective as given It cannot be said to be *not* a particular position (expressed by the first predicate) nor to be non-existent (expressed by the second predicate) At the same time it is not the definite distinction of position and existence (expressed by the third predicate existence and non-existence[1]) it represents a category by itself. The commonsense principle implied in its recognition is that what is given cannot be rejected simply because it is not expressible by a single positive concept. A truth has to be admitted if it cannot be got rid of even if it is not understood."[2]

One formal difficulty about the term 'inexpressible requires elucidation. In the third predicate—viz. existence and non-existence—the two characteristics are presented consecutively (क्रमार्पित) while in the fourth the same two are presented simultaneously (सहार्पित) [3] No difficulty is felt in conceiving two diverse characteristics consecutively But if the same two are to be conceived at once as one concept, the difficulty arises, because the elements of existence and non-existence that are brought together to compose the concept are driven away as fast as we assemble them. This conceptual difficulty is reflected in the incapacity of language to express the two diverse characteristics at once. But this inexpressibility should not be taken to imply the unreality of the co-presented characteristics. Inexpressibility here means mere impossibility of any adequate verbal symbol to express the situation at once. It cannot imply the unreality of the co-presentation of existence and non-existence. Inexpressibility does not prove unreality because expressibility is not the sole criterion of reality[4] An *ad hoc* symbol also cannot express the situation, because that would also generate its corresponding concepts consecutively[5] A compound word or even a full proposition also is of no avail on account of the same difficulty It is because of this complete paralysis of speech to express at once their unique nature that the co-presented characteristics are called inexpressible Inexpressible thus is a negative term which simply means 'not expressible in language and nothing more.[6] The proposition 'The jar is inex

---

1 This non-existence according to Professor K. C Bhattacharya, is 'universal existence Cf JTA, p. 342, where he describes the second predicate as 'negation or universal existence cf. also p. 341 where he says "......a determinate existent A *is* in one respect and *is not* in another respect. This does not simply mean that A is A and is not B It means that existent A, as existence universal, is distinct from its particularity"

2 JTA, pp. 341 2 The bracketed portions are ours.

3 Vide AM, 16 TSV I.6 (verses 50-1) SBT p 60

4 For detailed arguments see TSV p 140 ? कथं वक्तव्यो धीमादि ......सत्तामात्रमभिधानत्वाभावात् वाच्यतायाः

5 सांकेतिकमेकपदं तद् अभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यं तस्यापि क्रमेणार्थद्वय-प्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः—Ibid. p 140

6 समासस्यासामर्थ्यस्यैव एकस्य धर्मस्याप्रत्यायकत्वपरेन प्रत्यायनात् —Ibid., p. 141
See JPN pp. 122 3 where this view is ascribed to विमलदास the author of SBT (pp 69–70) But SBT has only reproduced TSV

pressible therefore means 'The jar has a complex characteristic which is not expressible in language' विद्यानन्दि has recorded a view which regarded the 'complex characteristic' as expressible at least by the term 'inexpressible' itself But he rejects the view on the ground that if the term 'inexpressible' be admitted as capable of expressing the 'complex characteristic' any other word could be invested with that capacity by mere convention —a contingency which leads to self-contradiction in that it refutes the position that the complex characteristic is inexpressible [1] The purely negative interpretation of the term 'inexpressible' however raises a serious difficulty It has been asserted by the great Jaina logician Samantabhadra that *if things were absolutely incapable of being expressed the affirmation of the predicate 'inexpressible' would be illogical* [2] This is in direct conflict with the negative interpretation. But Vidyanandi solves the problem by interpreting this assertion of Samantabhadra as follows "*If things* that is, reals as characterized by individual characteristics (like existence and non-existence taken one at a time) as well as the reals as characterized by complex characteristics taken simultaneously (as in the fourth predicate) were all alike (admitted to be) *absolutely incapable of being expressed the affirmation of the predicate 'inexpressible'* of any real *would be illogical* because the real (as admitted) is characterized by the absence of expressibility that is, is incapable of being expressed even by the term inexpressible " The implication of this interpretation is that though expressibility is absolutely negated of the fourth predicate, it is affirmed of the other predicates which take one characteristic at a time. The absolute negation of expressibility thus also does not violate the general principle of the Jaina philosopher that any significant affirmation is concomitant with negation, and any significant negation is concomitant with affirmation.[3] A real is inexpressible in respect of the fourth predicate and expressible in respect of the other individual predicates. Expressibility and negation of expressibility are thus to be understood in different contexts. Admission of expressibility and 'negation of expressibility in respect of the same aspect of the real is on a par with the admission of existence and non-existence in the same respect, which is a case of self-contradiction.[4]

17(5) The fifth predicate is 'existence and inexpressibility' that is, 'inexpressibility as qualified by existence (which was the first predicate) The jar exists (in its own context) and is inexpressible (स्याद् अस्ति अवक्तव्यश्च घटः) The proposition asserts the

1 तच्च न सर्वथैवावक्तव्यमेव सांकेतिकपदान्तरादिव विशेषाभावात् —Ibid. pp. 140-1 I have given only the central theme of the arguments.

2 अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते —AM. ,32.

3 अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । —AM, 17–18 For elucidation see JPN p. 152.

4 TSV pp 141 कथमिदानीम् 'अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते' इति उक्तं घटते सर्वथा स्याद्वादन्याय-विद्वेषिणामेव । Also see JPN pp. 123-4 and SBT pp. 70–1

compresence of existence with the inexpressible. The jar is inexpressible (indefinite) *qua* a synthetic unity of existence and non-existence, but it is none the less expressible (definite) *qua existent*. In other words, *the indefinite as affirming itself is a 'positive definite*. Otherwise, the indefinite would turn out to be an absolute affirmation. This fifth predicate is therefore significant in that it reveals the positive aspect of the fourth predicate.

17(6) *The sixth predicate is 'non-existence and inexpressibility that is, inexpressibility* as qualified by non-existence (which was the second predicate). The jar does not exist (in other than its own context) and is inexpressible (स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः) *The proposition asserts the compresence of non-existence with the inexpressible. The jar* is inexpressible (indefinite) *qua* a synthetic unity of existence and non-existence but it is none the less expressible (definite) *qua* non-existent. In other words, the indefinite as negating *what is other than itself is a negative definite. Otherwise the indefinite would turn out* to be an absolute negation. This sixth predicate is, therefore, significant in that it reveals the negative aspect of the fourth predicate.

17(7) *The seventh predicate is existence, non-existence and inexpressibility that is*, 'inexpressibility as qualified by existence-and-non-existence (which is the third predicate). The jar exists (in its own context) and does not exist (in other than its own context) and is inexpressible (स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यश्च घटः) The proposition asserts the consecutive presence of existence and non-existence with the inexpressible. The jar is inexpressible (indefinite) *qua* a synthetic unity of existence and non-existence, but it is none the less expressible (definite) *qua* existent and non-existent consecutively. In other words, the 'indefinite as consecutive affirmation and negation is both a positive and a negative definite. This seventh predicate is significant in that it reveals the double character of the indefinite.

3 (ii) The Seven Predicates as Seven Exhaustive and Unique Modes of Truth

3(ii) (A) The Seven Predicates are Exhaustive

18. We have now explained the import and significance of the seven predicates. We have also seen how the number 'seven is derived by different combinations of the three predicates, *viz. existence, non-existence and inexpressibility* and *also that no further* combination is possible without repeating the same predicate twice. Of the seven predicates, the first and second are simple the fourth is complex, and the remaining four are compounds constituted by all possible combinations of the first, second and fourth *taken two* or three at a time. Now if it could be proved that the first, second and fourth predicates—viz existence, non-existence and inexpressibility—exhaust all possible elemental[1] predicates of a real, the conclusion would naturally follow that there are exactly seven, neither more nor less, predicates which can characterize a real in respect of the pair consisting of

---

1 By elemental we mean 'unitary. The fourth predicate which is a complex is also considered 'unitary because it stands for the synthetic unity of the real.

the characteristics of existence and non-existence. It should, however be clearly understood in this connection that the seven predicates considered above merely exemplify the patterns which would be followed also by other heptads of predicates constituted by pairs of characteristics like permanence and impermanence, oneness and manyness, and so on. We should also here note that expressibility' cannot be regarded as an additional predicate, because the very act of affirmation or negation of a predicate implies it. 'Expressibility together with its opposite inexpressibility' can however give rise to another heptad of predicates after the pattern illustrated by existence and 'non-existence

19 To come to the main problem, let us see whether the triad—e. g., existence, non-existence and inexpressibility—exhausts all possible elemental predicates of a real. And for this purpose let us analyse the nature of our cognition

20 Our simplest cognition or judgment exhibits two factors, viz., subject and a predicate, that is, a substantive and an adjective qualifying it. The substantive is the determinandum and the adjective is the determinans.[1] Thus the judgment 'This is jar' may be rendered as a particular real manifests the character (indicated by the adjectival import of the word) jar'[2] Akalanka, in his तत्त्वार्थवार्तिक[3] has discussed in detail the possible meanings of the predicate jar which we shall here briefly notice. He states the proposition as

---

1 These terms are borrowed from W.E. Johnson who defines them as follows "We find that in every proposition we are determining *in* thought the character of an object presented *to* thought to be thus determined. In the most fundamental sense, then, we may speak of a determinandum and a determinans the determinandum is defined as what is presented *to be* determined or characterised by thought or cognition the determinans as what *does* characterise or determine in thought that which is given to be determined. We shall regard the substantive (used in its widest grammatical sense) as the determinandum, and the adjective as the determinans. —*Logic* part I, (Cambridge. 1921) p 9

2 I am indebted to W E. Johnson for this rendering of the judgment. The passage which has suggested the rendering is as follows "The exclamatory judgment 'Lightning may thus be rendered formally complete by taking as subject term 'a manifestation of reality Here I do not propose to take simply as the equivalent of the exclamatory judgment 'Reality is being manifested in the lightning but rather *A particular portion of reality* manifests the character (indicated by the adjectival import of the word) lightning —*Logic* Part I, p. 19.

Johnson's view of judgment or proposition expressed here is indebted to the views of Bradley and Bosanquet, as he himself has admitted in the following words "Our conclusion, briefly expressed, is that any proposition *characterises* some fact, so that the relation of proposition to fact is the same as that of adjective to substantive. Bradley has represented a proposition as ultimately an adjective characterising Reality and Bosanquet as an adjective characterising that fragment of Reality with which we are in immediate contact. In adopting the principle that a proposition may be said, in general, to characterise a fact, I

the accredited form 'In some respect, this is jar (स्यात् घटः) Here the object represented by the substantive 'this' has two aspects—native (स्वात्म) and alien (परात्म)—which vary according to the intention of the cognizer or speaker Thus (1) if the intended native aspect is the aspect expressed by the concept or the word 'jar' (in its usual sense) the alien aspect is the aspect expressed by the concept or the word non jar In other words the object in its native aspect is jar (स्वात्मना स्यात् घटः) and in its alien aspect non jar (परात्मना स्यात् अघटः) [1] The object thus is both jar and non-jar The principle implied is that the object is a comprehensive fact which includes in itself the opposite characteristics like jar and non-jar The object as determined by the particular characteristic cognized, that is, as determinandum is the native aspect, and the object as not so determined, that is, the non-determinandum is the alien aspect. Corresponding to the determinandum and the non-determinandum, there are also the determinans and the non-determinans. It is thus seen that the substantive and the adjective of a proposition have two aspects each —one positive, another negative. (2) If again the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word jar as an *ad hoc* symbol, the corresponding alien aspect would be the aspect expressed by the word non jar' as a symbol standing for the usual or any other conventional or attributed meaning of the word jar The upshot is the same as in the first analysis, viz., the object in its native aspect is 'jar and in its alien aspect non-jar Similarly (3) if the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word 'jar standing for the jar-particular the alien aspect would be the aspect expressed by the word non jar standing for the jar-universal. Here also the object in its native aspect is jar and in its alien aspect non-jar' Similarly (4) if the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word 'jar' standing for the jar concept, the alien aspect would be the aspect expressed by the word 'non-jar' standing for the external jar-shape (बाह्यो घटाकारः) In the same way (5) if the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word jar' standing for its objective cognition (ज्ञेयाकार, that is, cognition *qua* contemplation to use Professor Alexander's phrase) the alien aspect would be the aspect expressed by the word 'non-jar standing for subjective cognition (ज्ञानाकार, that is, cognition *qua* enjoyment, again to use Professor Alexander's phrase) Thus here also the object in its native aspect is jar' and in its alien aspect non-jar

21 This analysis of a cognition has clearly demonstrated that the object of our cognition is always a fact having two aspects—(1) the aspect that is determined by the predicate of the cognition and (2) the aspect that is not so determined. The object is jar

---

am including with some modification what is common to these two points of view ——*Logic* Part I, p. 14.

3 TV I 6(5)

1 तत्र स्वात्मना स्याद्घटः परात्मना स्यादघटः को वा घटस्य स्वात्मा को वा परात्मा ? घटबुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिलिङ्ग स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्ति स परात्मा पटादि । —TV I. 6 (5)

as well as non jar existent as well as non-existent, and so on It is determinandum as well as non-determinandum, that is determinate as well as non-determinate. This double nature of the real, obtained by analysis, is symptomatic of the fact that the real is a complex of opposites inexpressible by definite linguistic symbol. Thus the predicate 'inexpressible' is also obtained. The real, therefore is found to be possessed of the triad of predicates—viz. existence, non-existence and inexpressibility—all of which are elemental in the sense that each of them presents a unitary characteristic. The analysis does not yield any fourth predicate which is elemental, and so the triad should be regarded as exhaustive.

22. Now as the triad of elemental predicates is found to be exhaustive, it follows, on grounds already given, that there are exactly seven neither more nor less, predicates which can characterize a real in respect of pairs of opposite characteristics. Let us now see whether each of these seven predicates is a unique mode of truth.

3 (ii) (B) The Predicates are Unique Modes

23 While discussing the import of the seven predicates in section 3(i) we showed also the significance of each one of them. And as uniqueness, in the ultimate anlysis, is nothing but significantness, the unique character of each of the predicates is self-evident. What, therefore needs a critical estimate here is whether the predicates are modes of truth. By 'a mode of truth' we understand a true mode of the real The Jaina philosopher as a realist, believes in the direct cognition of the real and for him, therefore, the judgment 'This is jar' is a judgment about the real. Consequently he accepts a significant predicate which is not vitiated by any error as a true mode of the real. And as such the seven predicates stand for seven unique modes of truth.

3(iii) The Seven Propositions—Their Forms Significance and Mutual Relation.

24. There are as shown, seven significant predicates or modes of truth (भंगा) and as each mode—though obtained by an analysis of any simple cognition or judgment and established by reflective thought—is *prima facie* subject to doubt because of its dialectical nature there can be seven kinds of doubts (संशया) about them. The seven doubts give rise to seven forms of curiosity (जिज्ञासा) which, in their turn, give rise to seven questions (प्रश्ना) The seven questions require seven answers (उत्तराणि) and the seven propositions, therefore are asserted to meet the requirement.[1]

25 The accredited forms of the seven propositions—e. g. स्यात् अस्त्येव घटः, and the like—have been given while discussing the import of the predicates in section 3(i), and need no repetition. Their individual significance has also been discussed in the same

---

1 भंगा सत्वाद्य सप्त संशयाः सप्त तद्गता । जिज्ञासा सप्त सप्त स्यु प्रश्ना सप्तोत्तराण्यपि ।
—Quoted in SBT p.8 See TV iv 42 (15) and TSV p 132 where all the five heptads of भंग ? (अस्तित्व नास्तित्व etc) विप्रतिपत्ति (संशय) जिज्ञासा प्रश्न and वचन (उत्तर) are given.

section. The only important problem, therefore, that remains to be examined is the significance of the seven propositions in general and their interrelation.

26. A proposition is a sentence which expresses what is either true or false,[1] and what is expressed is its significance. True and false propositions are equally significant if true, they express facts if false they fail to do so The seven propositions are significant because expressive, and true because what they express are, on reflection found to be facts. They are also not mere truisms, because they express truths which are not ordinarily recognized as such These truths again are necessary universal and constructive-necessary because neither experience nor logic contradicts them universal because they are true of all reals constructive because they give a synthetic view of reality The propositions are also interrelated, and make a system. Existence and non-existence are mutually concomitant and they together qualify the same object.[2] All the seven propositions follow logically from this dictum. In fact, the very first proposition, when logically unfolded, leads to the other six as a matter of necessity Each proposition taken singly is also significant in that it "constitutes" in the words of Professor Mookerjee "an estimation of reality which has been either advocated by a school of philosophers as a matter of historical fact or is capable of being entertained as a possible evaluation."[3] But an isolated proposition, according to the Jaina philosopher does not give the whole truth. It may on the contrary give an untruth if taken as negation of other truths and it can at best, provided it only asserts itself without negating others, give a partial truth that is, *naya* which is described as neither truth nor untruth.[4] The Jaina philosopher therefore, rejects the validity of the isolated propositions because they stand for extremisms, and knits them together into a system which is known as non-extremism or non-absolutism (anekantavada)

3(iv) Pramana-saptabhangi and Naya-saptabhangi.

27 प्रमाण stands for the 'whole truth and नय as just stated, is neither truth nor untruth, but only a partial truth in other words, if the प्रमाण is a comprehensive

---

1 Cf Aristotle "Every sentence has meaning not as being the natural means by which a physical faculty is realized, but, as we have said, by convention. Yet every sentence is not a proposition only such are propositions as have in them either truth or falsity Thus a prayer is a sentence, but is neither true nor false."—*De Interpretation* 17a.

2 अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात् साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद् वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥ —AM, 17-8.

3 For further details, see JPN pp 166 seq.

4 Cf. नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।
स्यात् प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाऽप्यविरोधतः ॥ TSV p. 123.

(सकलादेशिन्) view of reality the नय is only a partial (विकलादेशिन्) view of it[1] in the sense that it takes into consideration only a particular aspect of the whole situation. In its widest sense, the term प्रमाण means 'valid knowledge sensuous (consisting of मति and श्रुत) as well as supersensuous (consisting of अवधि मनःपर्याय and केवल)[2] But the concept of validity when analysed, is found to include comprehensiveness without which knowledge is not completely valid. A प्रमाण thus turns out to be a comprehensive knowledge, though there are admittedly different grades of such comprehensiveness, ranging from the most perfect in the केवल-ज्ञान (omniscience) to the most imperfect in the lowest type of मति-ज्ञान (sense-perception) Knowledge as a natural function of the self is inherently comprehensive. This comprehensiveness however lapses as soon as the knowledge is influenced by the abstractionist tendencies of logical thought and language. The lapse in its turn may either halt at the assertion of a particular position without negating (but only implicitly recognizing) the truth of other plausible views, and thus give rise to what has been called नय (or more accurately सुनय) or it may lose the balance and climb down further by asserting a particular position as the only truth intolerant of other truths and thus give rise to what is known as दुर्नय (wrong view)[3] The contingencies

---

In this connection one may read with interest the following note of Bradley And hence it follows also that every 'part of this whole must be internally defective and (when thought) contradictory For otherwise how from one to others and the rest could there be any internal passage ? And whithout such a passage and with but an external junction or bond, could there be any system or whole at all which would satisfy the intellect, and could be taken as real or possible ? I at least have given my reason for answering this question in the negative We may even, forgetting other points of view say of the world,

Thus every part is full of vice,

Yet the whole mass a paradise."—

Appearance and Reality p. 510.

1 See TSV p. 118 (verse 3)

2 For an idea of मति श्रुत अवधि मनःपर्याय and केवलज्ञान see my *Studies in Jaina Philosophy* Ch. II

3 Cf. धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय-दुर्नयानाम्—AS p. 290 (The passage belongs to अष्टशती,) Also see सन्मतितर्क I. 21et seq Also cf. अन्ययोगव्यवच्छेद 28

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो ।

मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः ॥

Accordint to the last quotation, the propositional forms of दुर्नय नय and प्रमाण are respectively सद् एव । (a real is existent only) sat (a real is existent) and स्यात्सद् (a real is existent in some respect)

In this connection, the views of वीरसेन are worth mention According to him, a सुनय (नय in the above quotations) gives prominence to a particular aspect and must

of नय (सुनय) and दुर्नय arise only when a knowledge situation is sought to be expressed in or understood through inadequate logical categories and linguistic symbols, which fail to express the knowledge in its *pristine comprehensiveness unless their significance is rightly* analysed. A right analysis leading to a comprehensive logical understanding and linguistic expression is called स्याद्वाद[1] and what leads to only a partial apprehension and expression is नय In other words, while the स्याद्वाद[2] is a complete logical estimate and linguistic expres-

---

have स्यात्—it does not matter whether it is expressly stated or taken as understood—in its propositional form, while a दुर्नय is a proposition which asserts the exclusive truth of a particular aspect as in the proposition सदेव (धवला Vol. IX, p. 183) Both सुनय and दुर्नय however give rise to a comprehensive knowledge inasmuch as the knowledge is ipso facto comprehensive and cannot be fragmentary (जयधवला Vol. I, p 204 दुर्नय-वाक्यात् अपि सुनयवाक्यादिव श्रोतु प्रमाण मेवोत्पद्यते विपरीतैकान्तबोधाभावात् । A sunaya expresses the real in its *entirety through a particular aspect.* This *expression of the* real in its entirety is known as सकलादेश which is प्रमाणाधीन that is, under the dominance of प्रमाण The fragmentary expression of the real, on the other hand, is known as विकलादेश and is embodied in propositions like अस्त्येव नास्त्येव and so on, which are durnayas. The विकलादेश is नयाधीन that is, under *the dominance of* naya. (जयधवला Vol. I, pp. 201-4) These observations of वीरसेन leaves us in darkness regarding the line of demarcation between a sunaya and a प्रमाण inasmuch as both of them are found to be सकलादेश The problem of विकलादेश has also been left obscure by वीरसेन Akalanka has prescribed the use of the expression स्यात् even in the case of विकलादेश (TV IV 42, 17) and therefore he regards it as sunaya. But according to वीरसेन the विकलादेश though giving rise to प्रमाण is never the less, in its propositional form, a durnaya.

The distinction between sunaya and प्रमाण is of course very meagre. A sunaya must recognise the reality of aspects other than the one expressed by *itself*, and in this respect its distinction from प्रमाण is nothing but formal. The element of neutrality *or indifference* (उपेक्षा) towards other plausible aspects as the distinctive feature of a sunaya is also not very important, because ultimately the indifference in the present context must be taken as conscious of other plausible aspects, and this consciousness is tantamount to an assertion of those aspects. The distinction thus, if any is only quantitative and not qualitative. *The proble* of विकलादेश may also be viewed from a different angle. विकलादेश is of course an imperfect way of expression and as such it may be viewed as erroneous. The error must find place in its propositional expression and hence the propositions like अस्त्येव नास्त्येव and so on, as vehicles of its expression may be justified. The observations of वीरसेन might *have been* influenced by those weighty considerations, and probably he did not think it necessary *to dila*te on these details which obviously follow from his above statements.

1 For *further information about syadvada and the meaning of the* term *syat*, see section 2 above.

2 Cf. स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने AM, 105.

sion of the real, the नय is only a partial logical estimate and linguistic expression of it. Now as the logico-linguistic analysis of reality is the subject matter of श्रुत-ज्ञान the स्याद्वाद and the नय are regarded as the two aspects of the latter ¹

28 A brief reference to the private-cum-public character of प्रमाण and नय and a further distinction between the two may be made here. A प्रमाण or a नय in its private (स्वार्थ) character is knowledge or intuition² (ज्ञान) and in its public (परार्थ) character it is verbal expression (वचन) conveying the intuition³ Each of the five प्रमाण —viz. मति श्रुत अवधि मनःपर्याय and केवल—thus has two aspects, viz., intuitional and verbal,⁴ and the verbal aspect, being representative of the intuitional, is as much comprehensive as the latter The natural comprehensiveness of the verbal expression, however lapses with the latter's association with logical categories and growth into linguistic symbols which the human intellect invents for a better understanding of the nature of reality though the result is quite the contrary The categories and symbols are further knit together into various theories which crystallize into mutually opposed schools of thought. The Jaina philosopher includes all these conflicting schools of thought under श्रुत-ज्ञान which may be right (सम्यक्) as well as wrong (मिथ्या) The right श्रुत again may be either प्रमाण or नय It is प्रमाण if it is comprehensive and नय if it is only partial. The implications of the terms comprehensive and 'partial' have already been explained and need no further clarification. The other four ज्ञान—viz. मति अवधि मनःपर्याय and केवल—are however necessarily comprehensive⁵ inasmuch as logical categories and linguis-

---

1 Cf नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि ।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥
—न्यायावतारसूत्र 30 Also cf.
उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥— लघीयस्त्रय 62.

Truly speaking, श्रुतज्ञान stands for the whole scripture, स्याद्वाद for the central non-absolutistic philosophy of the scripture and naya for the specific philosophical propositions that are knit together into the scripture.

2 We have used this term in the sense of pure cognition uninfluenced by any logical abstraction.

3 Cf. मत्यादि ज्ञान वक्ष्यमाणं ज्ञानात्मक प्रमाणं स्वार्थं। वचनात्मकं परार्थं। श्रुतविषयैकदेशज्ञानं नयो वक्ष्यमाण स स्वार्थ वचनात्मक परार्थ—TSV p. 128

4 पूज्यपाद does not recognize the verbal or the public (परार्थ) character of any knowledge (प्रमाण) except श्रुत-ज्ञान See his सर्वार्थसिद्धि on TS I 6.

5 Cf. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्-न्यायावतारसूत्र 29 with Siddharsi's विवृति। which says- अनन्तधर्मात्मकमन्तरेण सर्वेषामप्यसम्भवात् सर्वमपि भावधर्मज्ञानानामप्यनेकान्तोपोद्बलनपरिप्रष्टया प्रवृत्त यथा सर्वेषामाप्यमप्यनेकान्तविषयेण न प्रवर्तितुं शक्यते यथा प्रतिपन्नभूतं प्रमाणं एकान्ते प्रवर्तिष्यते इति दुरात्मना प्रकाश्य एवैषा वार्ता Also cf प्रमाण समस्तवस्तुस्वरूपपरिच्छेदात्मकं मत्यादि, नयास्तु एकांशग्राहिण —तत्त्वार्थभाष्य-टीका, Vol. I p. 53

tic symbols do not play any significant part in their case Their intuitional comprehensiveness is not disturbed by the vagaries of conceptual thought and the defects of abstract linguistic symbols. Of these four the केवल-ज्ञान is the most perfect inasmuch as it knows its object completely in all its details. The other three are imperfect in that they are capable of knowing only a limited number of objects with a limited number of attributes and modes. But, in spite of this, they are regarded as comprehensive because of their direct touch with the object and freedom from the association of false opinions and doctrines which destroy their natural freshness and purity The case of श्रुत-ज्ञान however is quite different. It is knowledge derived from verbal expressions and artificial concepts engendered by them, which, on account of their inherent limitations, present a hazy or even a distorted view of the object, and an intellectual effort is needed to clear the haziness or rectify the distortion. The recapture of the full original intuition hidden under logical categories and linguistic symbols is the function of श्रुत *qsa* प्रमाण (also called स्याद्वाद) to understand the standpoint and intention which inspire a particular statement of facts is the function of श्रुत *qsa* नय [1] and the blind insistence on the distorted view is दुर्नय

29 But how can our language overcome its inherent limitations and express the original comprehensive intuition in full ? A word (predicate) can express only one characteristic (attribute or mode) at a time and a number of characteristics can be expressed only consecutively (क्रमेण) by a number of words. The simultaneous (यौगपद्य) expression of all the characteristics of a real in its entirety (सकलादेश) is beyond the capacity of language, and hence the problem of the expression in language of the original comprehensive intuition arises. The Jaina philosopher has tried to solve the problem by a device which is symptomatic of his non-absolutistic position. From the substantial (द्रव्यार्थिक) standpoint, a word expresses a characteristic in its aspect of identity with the other coordinate characteristics, and this ontological identity (अभेदवृत्ति) among the characteristics of a real is taken as the basis for the extension of the import of a word to all the other coordinate characteristics from the modal (पर्यायार्थिक) standpoint, on the other hand, a word expresses a characteristic in its aspect of difference (individuality) from the other coordinate characteristics, and here the basis of a similar extension of the import of the word is metaphorical identity (अभेदोपचार) among the characteristics of the real. The

1 Cf. नयो ज्ञातुरभिप्राय—लघीयस्त्रय, ५२
जावइया वयणवहा तावइया होन्ति नयवाया—सम्मतितर्क III. 47
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नय—AM, 106.

2 Cf. यदा अभिन्नमेकं वस्तु एकगुणरूपेण उच्यते गुणिना गुणरूपम् अन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसम्भवात्, एकोहिजीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य गुणस्य रूपेणाभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा निरंश समस्तो वस्तुमिष्यते विभाग निमित्तस्य प्रतियोगिनो गुणान्तरस्य तत्रानाश्रयणात्, तदा सकलादेश। कथमभेदवृत्ति कथं वा अभेदोपचार ? द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेकाद् अभेदवृत्ति, पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परव्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोप ततश्चाभेदोपचार—TV iv 42 (14)

extension of the import of a word is thus found to be possible on the basis of identity either ontological or metaphorical according to the standpoint of the speaker And the expression स्यात् is used to manifest the intended extension of the import of the predicates of the propositions.[1] Each of the seven propositions of the सप्तभंगी can thus, if so intended, be made to mean the whole truth in its own peculiar way through the individual characteristic (e.g. existence, nonexistence and the like) directly expressed by its predicate.

30 It may be mentioned in this connection that the Jaina philosophers have enumerated eight distinct factors—viz., time (काल) and the like—which are conceived as differentiating limits as well as integrating bonds of the characteristics of a real and as such respectively conditions of the consecutive and simultaneous expression of these characteristics. Thus (1) time (काल) is a differentiating limit, because a unitary entity cannot prima facie possess a number of different characteristics at one and the same time and if it is found to do so its unity is dissolved into plurality there being as many entities as there are characteristics. This is the finding of the analytic (पर्यायार्थिक) standpoint. In the synthetic (द्रव्यार्थिक) standpoint, on the other hand, time is an integrating bond. The plurality of characteristics is found to be somehow bound into a unity by means of simultaneity Similarly (2) self identity (आत्मरूप) of a characteristic is a differentiating limit, because it differentiates one characteristic from another It is a uniting bond as well in view of its reference to an entity which is the common referend of all other coordinate characteristics. (3) The substratum (अर्थ) likewise, is regarded as a differentiating limit in respect of its aspect that varies with each of its characteristics and as an integrating bond in respect of its aspect that is the constant reference of all those characteristics. In the same way (4) the relation (सम्बन्ध) of identity-cum-difference that obtains between an entity and its characteristics functions as a differentiating limit when taken as a relation of difference and as an integrating bond when taken as a relation of identity Similarly (5) the influence (उपकार) exerted by each characteristic upon an entity viewed as an isolated event, is the differentiating limit and the same influence *qua* a common function of all characteristics is the integrating bond. (6) The substance-space (गुणि-देश) likewise viewed as an inelastic space-point of a particular characteristic is a differentiating limit but, viewed as a common locus of the coordinate characteristics, it is an integrating bond of those characteristics. In the same manner (7) the association (संसर्ग)[3]

---

1 Cf अथवा स्याच्छब्दप्रयोग अनेकान्तार्थस्य द्योतक । द्योतकश्च वाचकप्रयोग-सन्निधिमन्तरेणाभिप्रेतार्थद्योतनाय नालमिति तद्द्योत्यधर्माधारार्थाभिधानाय इतरपदप्रयोग क्रियते । अथ केनोपात्तोऽनेकान्तार्थोऽनेन द्योत्यते ? उच्यते— अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रयुक्तशब्दवाच्यताम् एवास्कन्दन्ति इतरे धर्मा इति—TV iv 42(15)

2 तस्य शब्देनाभिधानं क्रम-यौगपद्याभ्याम् । ते च कालादिभिर्भेदाभेदार्पणात्—TV 42 (Varttikas 12 and 13)

3 This संसर्ग is different from सम्बन्ध (the fourth factor mentioned above) in that the former stands for difference qualified by identity while the latter for 'identity qualified by difference. In other words, in samsarga the element of difference is prominent while in sambandha the element of identity is salient.—SBT pp. 33-4.

between an entity and its characteristics can be viewed as a differentiating limit as well as an integrating bond. Lastly (8) the verbal symbol (शब्द) standing for a characteristic is a differentiating limit in so far as it is expressive of that particular characteristic, but, in so far as it is an expression for the thing possessed of similar characteristics, it is an integrating bond.[1]

31 The possibility of the simultaneous expression of all the characteristics of a real in its entirety being thus established, the concepts of प्रमाण-सप्तभंगी and नय-सप्तभंगी can be easily understood. Each of the seven propositions of the प्रमाणसप्तभंगी for stands for the whole truth. As a member (भंग) of the प्रमाणसप्तभंगी the proposition A jar certainly exists in its own context (स्यादस्त्येव घटः) is intended to be expressive of all the characteristics of the jar in its entirety (सकलादेश) And this is the case with each of the other six propositions also Each of these seven propositions expresses the whole subject by means of the particular characteristic predicated in it. The comprehensive character of each of the seven propositions does not make the six propositions other than itself redundant, because each stands for the whole truth in its own peculiar way through a particular characteristic which is directly expressed by the predicate—the remaining characteristics being indirectly implied (by the predicate)[2] Thus, for instance, if in the first proposition A jar certainly exists in its own context' the predicate existence directly (प्राधान्येन) expresses the substantial continuity of the jar it indirectly (गुणभावेन) implies the modal discontinuity of the same thing.[3] In the second proposition the position is reversed, that is, the modal aspect is directly expressed and the substantial aspect is indirectly implied. The meanings of the other five propositions are to be expounded on similar lines.

32. The same septad of propositions (सप्तभंगी) can be viewed as नय-सप्तभंगी if the predicate of each of the propositions is intended to stand for the characteristic which is directly expressed by it without any intention of affirming or denying the indi rectly implied characteristics other than the one directly expressed. The intention of affirming the other characteristics indirectly implied would make the proposition a *member of* the (प्रमाण-सप्तभंगी) while the intention of denying the same would make it a case of दुर्नय (untrue proposition) and thus is why a proposition, in order to be a member of the नय-सप्तभंगी must be inspired by the intention of asserting the particular chara cteristic only without any further implication, positive or negative.

33 The use of the expression स्यात् (e. g. in स्यादस्त्येव घटः) is to be made both

---

1 See TSV p. 136.

2 Cf यदेव स्याद् अस्त्येव जीव इत्यत्रैव सकलादेशेन जीवशब्दवाच्यानां सर्वेषां धर्माणां संग्रहात् इतरेषां भंगानामानर्थक्यमासजति नैष दोषः, गुणप्राधान्यव्यवस्था-विषय-प्रतिपादनार्थत्वात् सर्वेषां भंगानां प्रयोगोऽर्थवान् —TV iv 42 (15)

3 Cf. तद्यथा द्रव्यार्थिकस्य प्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथमः—Ibid.

in the propositions of the प्रमाण-सप्तभंगी and those of the नय-सप्तभंगी It may however be dropped if its meaning is otherwise apparent. In the case of the propositions of the प्रमाण-सप्तभंगी the expression स्यात् does the positive function of implying simultaneously (यौगपद्येन) all other possible characteristics that are true of the subject, while in the case of the propositions of the नय-सप्तभंगी the same expression does the negative function of prohibiting the denial of these characteristics. The cognitive attitude in the first case is indefinite that is, without any artificial definiteness, while the cognitive attitude in the second case is definite that is, with a definiteness which tends to define the object without denying its indefinite character [1]

34. विद्यानन्द who agrees with the above distinction between a प्रमाणवाक्य (i.e. a सकलादेशिन् proposition of the प्रमाण—सप्तभंगी (and) नयवाक्य i.e. a विकलादेशिन् proposition of the नय-सप्तभंगी) records a number of views on the subject and rejects them as untenable.[2] Thus there were thinkers who regarded the proposition which predicated more than one characteristics of the subject, as a प्रमाणवाक्य and the proposition which predicated only one characteristc as a नयवाक्य But, according to this view the first, the second and the fourth propositions of the सप्तभंगी would be cases of नयवाक्य and the remaining four propositions only would be cases of प्रमाणवाक्य and this is obviously a consequence which no Jaina philosopher would admit as acceptable. There was again the view that a proposition about pure substratum (धर्मिमात्र) is प्रमाणवाक्य and that about a characteristic (धर्ममात्र) is नयवाक्य But this is also untenable, because a pure substratum or a pure characteristic is incapable of being expressed by a proposition There was a third view which regarded the seven propositions, when taken severally as so many नयवाक्यs and the same, when taken jointly as a प्रमाणवाक्य But this also is absurd, because a number of partial truths cannot together make up the whole truth. Truth is a unitary whole and cannot be taken as composite of discrete parts. The part of a whole must itself be a whole. अभयदेवसूरि, in his commentary on the सम्मतितर्क-प्रकरण of सिद्धसेन-दिवाकर, mentions a view which regarded the first, the second and the fourth propositions of the सप्तभंगी as सकलादेशिन् (i.e. प्रमाणवाक्य) on account of their reference to the whole subject by virtue of the unitary character of their predicates, and the remaining four as विकलादेशिन (i.e., नयवाक्य) on account of their reference to the individual aspects of the subject by virtue of the multiple character of their predicates.[3] This is also untenable because of the unnecessary distinctions it makes between the identical subjects of the seven propositions.

---

1 For further elucidation of the problem see fn. 3 § 20 Cf. सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं घटादिरूपमर्थं कालादिभिरभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशस्य प्रमाणवाक्यत्वात्, विकलादेशस्तु क्रमेण भेदप्राधान्येन भेदोपचारेण वा गुणैकधर्मात्मकं घटादिरूपमर्थम् प्रतिपादयति विकलादेशस्य नयवाक्यत्वात्। SBT p. 32.

2 See TSV pp. 137 ff. also SBT pp. 16-19

3 See सम्मतितर्क-प्रकरण Vol. 3 pp. 445-6 (Ahmedabad, samvat, 1984)

ABBREVIATIONS

AJP अनेकान्तजयपताका of Haribhadra.

AM .. आप्तमीमांसा

AS अष्टसहस्री of विद्यानन्दि

JPN The Jaina Philosophy of Non absolutism by Dr Satkari Mookherjee.

JTA The Jain Theory of अनेकान्त in Studies in Philosophy' Vo 1 —By K. C. Bhattacharya, Calcutta 1956.

SBT सप्तभंगीतरंगिणी of विमलदास

SKH .. षट्खंडागम

TSV तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

T तत्त्वार्थवार्तिक (ed. by Pt. Mahendrakumar न्यायाचार्य)

The Problem of Time

J S. ZAVERI

The riddle of time is among the oldest and most perplexing of all the problems which confront the philosopher as well as the scientist. Every body be he a common man, a scientist, an engineer or a philosopher acknowledges not only the existence but also the usefulness of time Its tremendous influence on the most common as well as most unusual events is universally recognised Whenever we talk of any kind of happening, from a casual meeting of two friends to the explosion of a distant star one of the first questions would be: "when did it happen" Time is the immediate and inevitable condition of the modification of every substance It is an important factor in the movement and other activities of the animate and inanimate things. The velocity of their motions, acceleration etc. can only be known and made useful by the application of time Similarly freshness and staleness, oldness and youngness, before and after are all results of the influence of time.

But, if we ask a simple question "What is time ?" each of these people will probably give a different answer For most of us common men time is an abstraction marked by events and harnessed by means of clocks and calendars. In mathematical Sciences it is a postulate necessary to explain the laws of Dynamics and useful for the construction of equations of velocities etc In experimental Sciences (and engineering) it is a continuum which is very useful for calculations of experimental results, making formulæ and depicting them by graphs or vector diagrams. For the followers of Einstein's theory of relativity time is the fourth dimension of the four dimensional space—Time continuum. None of these people—common man, Scientist, Mathematician or Engineer—however care whether time is an ultimate reality or not. It is the business of the metaphysician i e. the philosopher to be directly concerned with the question of the reality of time.

For the metaphysician the fundamental problem is whether time is subjective or objective Expressed in a different (and perhaps a better) way the question becomes Is time ultimately real or merely phenomenal ? Do things wear the modes of succession in time merely as a consequence of our own finite imperfect knowledge ? Is the entire Reality when directly apprehended by an absolute all-embracing experience (as that of a Kevalin i.e. omniscient) non-temporal ? Is time limited ? Continuous ? Is there a quantitative element in it ? Is it indivisible or infinitely divisible ? The questions are posed more with a view to indicate the nature of the problem rather than provide definite answers to them which will be far beyond the scope of the present article All that we intend to do here is to deal very superficially with some of them by putting the modern conceptions side by side with the ancient ones.

Classical Philosophical Conceptions

The word Kala meaning time is very ancient one in Indian philosophical literature It is used to express many different meanings In Rigveda Kala is said to be the Destroyer of the Universe It is also used there to mean an Era or Age In Atharva Veda, Kala is accepted as an eternal reality and the determinant factor of all creation. In Upnishads such as Brahadaranyaka, Maitrayana etc. the word Kala is used in many different senses. In Mahabharat there is an elaborate commentary on Kala. It has been used to mean Creator' Future 'That which is bound to happen' Destiny' etc etc In Jain scriptures, we come across two words—Kala and Samaya—both meaning time [1] The latter is also used to mean the smallest ultimate unit of time which is further indivisible and which therefore can be called a time point.

According to Jains Time is the necessary condition of duration (continuity), change (modification), motion, newness and oldness of substances [2] Though time alone cannot cause a thing to have continuity of existence, duration necessarily implies moments of time in which existence is prolonged. Modification or change of states also cannot be conceived without time Similarly motion which implies the assumption of successive positions in space by an object can be conceived only with the existence of time. Lastly the distinction between the old and new the before and the after cannot be explained without time

Jain writers (sometimes) distinguish between (i) Parmarthika Kala i.e absolute or transcedental time and (ii) Vyavaharika Kala (also called Samaya) i.e. empirical or conventional time Absolute time is real and infinite (eternal) but it is formless and not perceptual. It is the determinant factor of continuity or duration (Vartana) of substances. The empirical time on the other hand, is conventionally divided into instants, minutes hours etc. and is limited by a beginning and an end.

Jains hold that every object known by us possesses innumerable characters. As in common conversation so also in philosophy a distinction is made between the qualities (dharm) and that which possesses them (dharmi). The latter which is thus an ultimate substratum in which the qualities inhere is called a substance (dravya). A substance is ultimately real. Ultimate reality according to Jains consists of three factors permanence, origination and decay They believe that things change, that within the unity of the one thing there is a succession of different states The old state is destroyed and is succeeded by a new one. But there is an eternal essence in every substance which enables its possessor to persist through transformations i.e unceasing succession of its changing modes Only what is identical and permanent can change. The self which changes with the flux of time is still the same old self [3] There are six such ultimate substances which compose the entire universe viz. (1) Dharmastikaya (2) Adharmastikaya (3) Akasastikaya (4) Pudgalastikaya (5) Jivastikaya and (6) Kala.

---

1 Kalaha Samyadihi.

2 Vartana-parinama-Kriyah-partvapartvadibhih lakshyah (Jain Siddhant Deepika, Chapter I Aph 19 and 20)

3 Cf Tempora mutantur, nos. et. mutamur in illis.

While there is unanimity of opinion about the ultimate reality of the first five, there is considerable disagreement amongst the Jains themselves regarding Kala. One section does not accept Kala as an ultimate reality but maintains that the unceasing mutability (paryaya) of other substances like Jiva and Pudgala etc. is itself symbolised into an 'existent' called Kala. It is merely a postulate required by our practical needs for expressing their modifications in terms of instants, minutes, hours etc But transcendentally they (instants etc.) have no existence independent of soul, matter etc. Thus according to this school of thought, time is a phenomenal appearence of higher reality like soul, matter etc. which, of course, are themselves ultimately real

According to another traditional school empirical time is considered a mode or state of trancedental time (which itself is accorded the status of a reality). In its turn the empirical time (hour minute etc.) is the modification of the soul, matter etc. A third school accords the status of reality to time without differentiating between empirical and transcedental time This belief is again subdivided into atleast four viz. (1) Time exists as innumerable unconnected points, (2) it exists as a continuous unity composed of connected points and pervades the whole inhabited Universe (Loka), (3) it is a continuous unity but is confined to a limited space inhabited by human beings, and (4) it exists as a single point.

It will be out of place to enter into a detailed discussion of the various opinions. Suffice it to say that if Time is accepted as a continuous unity composed of mutually connected points, it becomes an Astikaya[1] and the contention will be in opposition to the Agamic belief according to which the number of Astikayas is five and not six. On the other hand the number of real existents (Dravya) is six and hence there is no contradiction to Agamic opinion if Time is accorded this status at least empirically

The difference of opinion regarding Time is not confined to Jain schools alone. It is also to be found in the Vedic and Buddhist schools of philosophy Naiyayika and Vaisheshika accept Time as an all pervading indivisible, continuous unity and ultimate reality Its empirical divisions into hours, minutes, etc. are only symbolical. Purvamimansa also accept the independent real existence of Time. One Buddhist School (Sasvatovadins) also accept the existence of present, past and future Time. In direct opposition to the above, Samkhya, Yoga, Vedanta, Vijnanavadins and Shunyavadins do not accept the existence of time as an independent reality The Samkhya thinker Vijnanabhikshu says that eternal Time is an attribute of Prakriti and divisible time (hour etc) is produced by the space. In Yogashastra it is stated that Time is not an ultimate reality Days and nights have symbolic existence for the sake of popular convenience Here the 'Time is defined as a Time-point. A time-point is destroyed as soon as it is produced and another point is produced. The points cannot possibly be integrated into a unity and so at the best the existence of Time

1 Astikaya means a substratum extended in space of a homogenous body (Kaya) composed of a number of units called pradesa (or asti). According to another difinition, it means that which exists (asti) like a body (Kaya) possessing extension.

can only be ideal and not real. Vedantists are notorious monists and do not accept the real existences of anything except Brahman Like Shankaracharya, Ramanuja, Nimbarka, Madhava and Vallabha also reject the real existence of Time Buddhist thinkers like Shantrakshita etc. also do no not accept the existence of Time as an ultimate reality

Division of Time

Empirical or conventional time is limited by a beginning and an end and is divisible into small and big intervals, but it is not infinitely divisible

Samaya is the smallest unit of time or time point. It cannot be sub-divided further into smaller intervals The time-point (Samaya) is beyond human comprehension and can be intuited only by the omniscient. Countless samayas flow away in the twinkling of the eye To explain the subtlety of the time-point two illustrations are commonly given in the Jain scriptures

(1) When a strong man pierces a Thousand lotus petals put together by a pointed sharp needle, it would appear as if the piercing of all the petals occurred instantaneously but actually that cannot be the case. The second petal can be pierced only after the first one and the third after the second is pierced and so on Innumerable time-points must elapse in piercing each of the petals

Again (2) When a strong youth quickly tears an old worn out fine piece of cloth it would appear that the whole action was instanteneous But the cloth is made up of many yarns and each yarn is made up of many cotton fibres. Each fibre is again made up of infinite Samitis Each Samiti contains infinite Samudays each of which is composed of infinite Sanghatas and infinite Paramanus one integrated to make a Sanghata. Now the tearing process accounts for the division of each component in turn. The time interval taken to tear a single fibre contains countless Samayas

A table for time according to Jain system of units is given in the Appendix.

The Modern (Western) Metaphysical Views

The modern metaphysical treatment of the subject insist upon distinguishing between what they call (1) *perceptual time* and (2) *conceptual time* The former is the time as directly known to us in sense perception while the latter is a concept elaborated by the process of synthesis and analysis of the essential features of the former

Perceptual time consists of a quantitative element as well as a qualitative character Different times can be quantitatively compared in respect of the duration comprised in them. On the other hand lapses of duration also have their special direction i e transition from before to after

The most important peculiarity of the perceptual time is that it has an unique relation to the perceiving subject. Its directions are irreversibly and unambiguously determined by reference to the "now" or the focus of consciousness" of the percepient. What is actually focal is "now what is ceasing to be focal is past what is just coming to be focal is "future"

Conceptual Time :

It is easily seen from the above that every individual has its own special perceptual time-system. For the purposes of the practical life it is essential to establish equations between these different individual time systems It is imperative that one should be able to reconstruct mentally the temporal aspect of experience in a form independent of reference to the individual 'now' Thus the establishment of a single conceptual time-system is ultimately required by our practical needs This system could be constructed by a combined process of synthesis analysis and abstraction of the perceptual data. The indefinite repetition of the conceptual synthesis of individual "now leads to the thought of a duration reaching out endless by into past and future and this gives us the familiar concept of the Infinity of time The conceptual time is therefore unlimited It can be easily seen that by a similar indefinite repetition of the process of analysis, it is indefinitely divisible or possessed of no ultimately indivisible last part.

Similarly there is enough valid ground for regarding it as mathematically continuous. All moments time are alike i.e conceptual time is homogeneous throughout, This is an inevitable consequence of the abstraction from all reference to the "now" of immediate feeling. There is absolutely no means of distinguishing before from after past from future. And lastly it is commonly thought of as a unity of some kind.

Time is held to be merely phenomenal and not ultimately real. It is argued that perceptual time cannot be ultimately real because it involves reference to the 'now' of a finite and imperfect experience of an individual. Conceptual time, again cannot be real because it is a mere postulate. It contains no principle of internal distinction and is thus not individual. It represents mere abstract possibility of a finite point of view Neither it gives a point of view both individual and infinite and nor therefore can be the point of view of an absolute experience. The contention that time is phenomenal, the result of a process of construction forced on us by our practical needs is further supported by the arguments that by the recognition of this both sides of the antinomy founded upon the concept of temporal infinity become relatively true Time, then, must be the phenomenal appearance of a high reality which itself must be timeless

Time in Scientific Principles

We shall conclude the discussion after briefly examining the development of the conception of time in scientific literature from Sir Isac Newton to Dr Albert Einstien.

"Absolute, true and mathematical time of itself and from its own nature, flows equally without relation to anything external , wrote Sir Isac Newton two and a half centuries ago. The entire structure of Newtonian laws of mechanics was based on the existence of time absolute and relative. Incidentally the ancient division of time into transcendental (absolute) and emprical may be compared to the absolute and relative time of Newtonian principles.

The concept of absolute time—of a steady unvarying inexorable universal time flow streaming from the infinite past to the infinite future—was discarded by Dr Albert Einstein,

According to him, time has no objective reality no independent existence apart from the order of events by which we measure it An instant, an hour or a day is nothing without an event to mark it. The subjectivity of time is best explained in Einstein's own words thus "The experiences of an individual appear to us arranged in a series of events in this series the single event which we remember appear to be ordered according to the criterion of earlier' and later' There exists therefore for the individual an I—time or subjective time This in itself is not measurable. I can, indeed, define it by means of a clock by comparing the order of events furnished by the clock with the order of the given series of events Thus according to Elenstein we make time an objective concept by referring our own experience to a clock. Yet the time intervals provided by a clock are by no means absolute quantities imposed on the entire Universe In fact there is no such thing as fixed interval of time, no such thing as simultaneity and no such thing as now' independent of a system of reference. If we try to ascertain for example, what is happening on the star Arcturus "right now" a very complicated situation arises because this star is 38 light years away If we were to send a radio message to Arcturus 'right now it would take 76 years for us to receive a reply [1] And when we see Arcturus now in 1960, we are actually seeing a ghost light rays that left their source in 1923

The space of our world is a three dimensional continuum. To describe any physical event involving motion, however it is not enough simply to indicate position in space. It is necessary to state also how position changes in time. For instance, the fact that an air liner is at latitude X, longitude Y and altitude Z means nothing to the traffic manager of airline unless the time co-ordinate is also given So time is the fourth dimension and if one wishes to envisage the light as a whole as a physical reality it must be envisaged as a continuous curve in a four dimension space-time continuum.

Thus Einstein has elevated time to the status of a fourth dimension in the space-time continuum and equated it with the space. Today it has become common place to use the expression light years' Space and time has been expressed incomparable units by using the velocity of light as *the factor of conversion Thus a distance of 1 86,000 miles is one light* second and one-light year corresponds to 5 879 000 000 000 miles (roughly six trillion miles) Similarly the time interval of 15 minutes becomes 800 000 000,000 light feet and one light foot is .0000000011 second Thus by ordinary life standards the rational unit of time is very small indeed.

Conclusion.

We have now put down the various conceptions regarding time. The reader has already been warned in the beginning that it will not be easy to give specific answers to the various questions Even to draw definite conclusions, it would be necessary to make a systematic inquiry into the meaning of the distinction between the real and the apparent and the general character of reality as such

1 (Radio-waves travel at the same speed as light waves viz. 1 86,000 miles per second.)

Jains present a non-absolutistic attitude towards reality There is no such thing as an absolute existence They do not accept absolute permanence or total cessation. Change is as much real as permanence, and not a mere illusion of our senses The distinction between Paramarthika and Vyavaharika Kala is a typical instance of their non-absolutist comprehension of the problem of reality Time, therefore, is an ultimate reality (Dravya) but is not as Astikaya. To say that the existence of time is only subjective and it has no objective existence is an absolutist statement and is to be rejected by Jains. Again the statement that time must be merely an appearance, an imperfect phenomenal manifestation of some higher reality raises the question of what is it the appearance ' The answer by the Western metaphysicians could obviously be "of the Absolute ' But if the Absolute is held to be absolutely timeless how can time be its phenomenal manifestation ? Moreover to the question how then is time transcended in the absolute all embracing experience ' the Western metaphysician's answer is bound to be "we cannot say"

We would just add a short paragraph on the conception of space-time equation. We have seen that micro-space can be very conveniently measured and stated in terms of light years We are not aware of a similar equation for micro-space The Jain Agamas give some idea of the relative subtlety of time and space As stated before, Samaya is indivisible ulti mate constituent of time or time-point Similarly a space-point which is the ultimate indivisible unit of space is called Pradesa Now it is conceived (by Jainas) that a number of space points of a small space of one angula is more than the number of time-points of a countless number of cycles of time Thus a space point is subtler than a time-point. The equation, unfortunately has little practical utility but at least proves that the idea of equating time with space is an ancient one.

APPENDIX

Division of time

Micro Time

Samaya	...	Indivisible unit of time. i.e. a time point.
Countless Samayas		One Avalika.
4446 $\frac{2458}{3773}$ Avalika	...	One normal pulse-beat

Measurable normal Time

7 Normal breaths		One Stoka
7 Stokas	...	One Lava
38½ Lavas		One Ghadi = 4 minutes
77 Lavas		Two Ghadis = One Muhurt.

16777216 Avalikas or 3773 Breaths made one Muhurt = 48 minutes

30 Muhurt	..	one day and night
15 days	..	One paksa (fortnight)
30 days	..	One month.
12 months		One year
7096 × 1012 years		One Purva

Macro Time

Countless years	..	One Palyopama.
10 × 1014	..	One Sagropama.
20 × 10 Sagropamas	..	One Time-cycle
Infinite Time cycles		One Pudgala Parvarta.

Jaina Monachism

S. B. DEO M A. Ph. D Deccan College, Poona.

It is an often-stated fact that whereas Buddhism, a junior contemporary of Jainism, has been wiped off its fact from the region of its origin, Jainism has been still a thriving culture. Several reasons have been put forth by scholars for this phenomenon. However, the best method of understanding this long and chequered history of Jainism, is to know in all its aspects the nature of Jain (Jaina) monachism, its beginning, development and culmination its relations with the laity its conservatism, its peaceful role and its ethical nature. These will reveal the secret of the survival of Jainism in India Such a study will also help the reader to compare the nature of Jaina monachism with that of Buddhist monachism.

Antiquity

Let us therefore begin at the very beginning. It is well known that the antiquity of Jaina monachism can be now traced back to at least the 8th Century B C. from the point of view of historical treatment, though its adherents claim it a hoary antiquity on the basis of its mythology Gone also are the days when Jain monachism was taken to be an off shoot of other Indian monachisms, as some scholars advocated it. Equally disproved is the opinion that Jainism started with twenty fourth Tirthankaras.

Origins.

The origin of Jain monastic institution has to be linked up with the origin of Sramanism. It is well known that both the Jaina and Buddhist texts frequently refer to numerous communities of wandering Sramanas and Nigganthas The Sutrakritaya, Sthananga and the Aupapatika Sutras refer to a host of these. This is also corroborated by a number of Buddhist texts like the Anguttara—Nikaya, Samyutta—Nikaya and the Milindapanho A detailed study of the discipline of these reveals that there were a number of basic features which were common to several of these wandering ascetics The wandering mode of life, adhering to celibacy and acknowledging no caste barriers are the chief attributes which were common to all the various groups of Sramanas.

How did these Sramanas and Nigganthas originate ? Several theories have been put forth by various scholars in possible explanation of this. Garbe holds that the origin of Sramana monachism has to be linked up with the Kshatriya protest against Brahmin priesthood and their emphatic caste—superiority This does not seem to be perfectly correct as Jainism and Buddhism were not against ideal priests but against the degenerate priesthood and the degenerate ideas that they propounded for sticking to their social

superiority In this connection it may be noted that the Uttaradhyayana uses the epithet *Mahana' in the sense of one* who was the symbol of purity and equanimity

Another theory advocated by Ken and Hardy is that the Sramanas adopted their mode of life and discipline from the Brahamcasim. *Some hold that the Brahamacasim* and the Brahamvadin jointly contributed to the theoretical and practical make up of the Sramana Institute There is yet some other who see *in the Sramana discipline either* a mere copy of or a degeneration of the Brahmanical rules for Sannyas All these theories, though apprarentaly seem to hint at the possible *solution of the problem, do not take into* consideration the comprehensive historical and social background of the problem. Each seems *to* emphasise on a single aspect. The origin *of* the *Sramana school of ascetics can not be* the outcome of only one or two reasons, but must have been a process of slow amulgama tion *of* indigenous elements *prevalent prior to Lord Mahavira Dr Upadhyo rightly* designates these elements as *Magadhan* religion and holds that the Samkhya, Jain Buddhistic *and Ajivika tenets* are no *more perversions of the Aryan thought current but are the out* come of an indigenous stream of thought current in Magadha prevallent much before the *Aryan advent in the Gangetic valley*

Jaina monachism, thus, can legitimately be taken to be an indigenousd iscipline independent of Brahmanism. And this quality of being indigenous, being the upholder of the rights and claims of the masses, being the denouncer of costly ritual of the privileged classes, is the secret of the survival of Jaina monachism to this day

The Tenets.

What then are the principles that were adopted and enunciated by the Jaina Sramanas that have such an everlasting value

The entire structure of Jaina monastic discipline is based on, if we may say so, on the three *Guptis* and the five great *Vratas*. The three Guptis comprise mental, verbal and physical control in the thrice threefold way in the sense that one is not to do anything evil nor get it done through somebody else, nor consent to somebody else doing it. Through this ninefold control over mental verbal and physical channels of action the monks were expected to follow the five great vows-Ahimsa Sayta, Asteya Brahmacharya and abstinence *from night* meal.

The Practice.

The compulsion of following the three *Guptis* and the five great vows gave rise to a framework of several rules and subrules which controlled the behaviour of a monk as a member *of* group. As we shall see later on, the spread of Jainism to different regions having different climatic conditions and social practices gave rise to quite a numerous exceptions so as *to meet the emergency Let us, therefore,* see under different heads of monastic conduct, the rules which guided the discipline of a Jaina monk. It may be made clear here that this article expect the readers to have a *broad knowledge of the* basic

rules of Jaina monachism, so that unnecessary repetition and consequent increase in bulk can be avoided.

Church Affairs.

The early texts like the Sthananga Sutra give a list of twenty persons who were not allowed entry to the church. A mere glance at the list would show that persons who could normally not be expected to fulfil the high standard of the discipline of monk life were set aside These included persons of un accomodative nature, persons having physical defects and persons whose entry to the order was expected to be a nuisance rather than help to monastic life. The last included children under eight, pregnant woman, eunuch, persons in debt, so on and so forth. However cases are on record in later texts, when we find certain exceptions being allowed to the general rule For instance, children even below eight years were initiated, eunuch who were supposed to be favourites of kings and who were expected to be helpful in wandering off royal displeasure were temporarily admitted to the order

The ceremony of renunciation in the beginning was a simple but impressive ceremony The Nayadhammakahao gives a graphic description of the renunciation and initiation of the prince Megha. By the time, however we come to the Prakennakas, we have a formidable list of Muhurtas, Nakshatras, Karanas, Sakunas and Lagnas which should be looked into for proper time of renunciation. As Jainism spread to different regions and as it came to encompass within its fold persons from different economic strata of the society there were regular shops dealing with monastic apparatus and the cost of the ceremony of renunciation varied between five to a lakh of rupees.

Similar is the case of the officers of the Church. Whereas, we meet with the principal officers of the Church in the early texts like the Sthananga and others these texts do not give us any idea about the academic and other qualifications of these. It is to be noted that what is emphasised in these early texts is the ethical aspect as revealed in the *Scaryasampad* or the *Ganisampad*. This is as it should be. For prior to consolidation of church on a systematic basis what needs an emphasis is the aspect of mental and moral purity But as Jainism made wider strides, a systematic plan and a curriculum of studies was laid down. This we find in the Chedasutras, or to be more precise, the Vyavahara Sutra, where after a study of twenty years, a monk could be the master of the canon.

The Anga texts often refer to the principal officers like the Acharya, Upadhyaya, Gaṇin, Sthavira etc. But as the necessity arose with the creation of smaller units, we came across new designatories The *Gana Kula* and *Samgh* of the Anga texts, are further augmented by *Sakha Phaddaga Gumma* and *Gaccha* in the *Uparigs* and the Niryuktis. However with further spread over wider regions, there seems to have grown up a tendency for marked groupism as is evidenced by the immemorable *Gacchas* in early medieval period. These were formed on regional incidental or personal basis as is well known. However inspite of minor variations in monastic practices, the main fabric of Jaina discipline remained intact.

That inspite of such an inevitable expansion the masters of Jaina church were keenly awake to realities is evident in the rules regarding seniority and succession In these due respect was shown both to age and learning. No person who lost the confidence of the majority of his followers could continue in office Due consideration was shown to physical incapacities—like sickness etc —when question of seniority arose. Thus this democratic set up was practically the life-breath of Jaina monastic organisation which has contributed enormously for its survival.

The rules for Jaina monastic life pertaining to other fields such as food clothing, study etc. reveal a keen foresight in the working of human mind in relation to the social environment

Take for instance, the rules regarding food. The basic list of the forty two faults pertaining to food and begging alms remains the same in early as well as in later texts. How ever in later texts like the Brhatkalpasutrabhasya we come across a number of exceptions to the general rule. It is as it should be For with the spread of Jainism to diverse regions, the monks and nuns came across peculiar social customs and habits to which they had to adjust without marring the core of their monastic discipline For instance, in regions like the Konkan or Sindhu-Sovra, people had diverse food habits Or in the country of Thuna people used garments with their ends (sadasa) which was not the practice elsewhere always. Naturally the monks could not overlook the society and its customs as they led a wandering life throughout the year except the four months of the rainy season. Besides this awareness of social customs the rules regarding begging of food show at their basis a keen commonsense and the utmost regard to Ahimsa For instance the rules forbidding a monk from accepting food from a pregnant lady or a lady feeding her child or from a person who has to take out that food from a high place show nothing but commonsense which shows a foresight of avoiding any likely physical trouble that such a donor might have to undergo Similarly the non acceptance of food which was specially prepared for the monk reveals the precaution against developing an attachment for the food as also between the monk and the donor From the physical point of view spicy food was no good and as such was not acceptable to the monk. The stories given in the *Pindaniryukti* in justification of and in explanation of the spirit of the rule may appear to many as far fetched and cooked. But to an impartial sympathiser these stories show the keen knowledge of human mind on the part of the framers of these rules.

There is not much difference between the rules regarding the acceptance of proper and pure food from those regarding a residence The texts and the commentories go eloquent in citing stories in explanation of these rules. Too much extensive residences, too small ones, too lonely and deserted, situated too much in the bazar—all-such were not to be accepted. However whereas the earlier Anga texts give us all these basic rules, it is not till we come to the *Brhatkalpabhasya* that we have an elaborate description of the guarding of the nunnery the covering of the door by a curtain, the system of defence in case of attack, so on and so

forth. It will thus be apparent, that Jaina monachism was elastic enough to adjust itself to the circumstances of diverse nature without, at the same time affecting the core of monastic discipline Even the monks were allowed to go to the rescue of such nuns It may not be wrong to hold that such an awareness of circumstances on the part of Jaina church has led to the survival of Jaina monachism.

We had an occasion to refer to the laying down of a regular curriculum of studies over a period of twenty years. This we find only in the *Chedasutras* and not in the still earlier texts of Angas. Study formed the most important item of monastic life and the daily routine of monks and nuns. Even then occasions indicative of bad omens and accepted as such by the people at large, were to be avoided. Apart from the natural phenomena like the eclipses of the sun and the moon, it is significant to note that monks and nuns were not allowed to study in the event of the death of great personalities like the king and others Study on such an occasion was likely to be interpreted as a sign of indifference to the departed for whom the people at large were sorry It was therefore in the fitness of things that such an occasion was taken to be unfit for the study

The learning which a monk acquired out of such a study and the actual practice of the rules imbodied in the texts was deemed a greater qualification for a higher post in the hierarchy than a mere long standing as a monk. However provision was also made in the case of older monks who could not master an essential text due to illness. In such a case, even though an younger monk had mastered it, he was not on that account given the higher post. On the contrary the older monk of longer standing was asked to master it within a specific period after which he was given the higher post in preference to the younger monks of less standing who had mastered the texts It is these major and minor aspects of human relations which were taken note of by the Jaina masters. It is, therefore, no wonder if these human touches have contributed to the growth spread and survival of Jaina monachism.

More or less same basic rules as in the case of food and residence were made applicable in respect of clothing and other apparatus. The elaboration increases when we come to the Niryuktis which give innumerable rules regarding the type of clothing, the proper type of other equipment such as begging bowl, stick, bedding so on and so forth. Even proper Nakshatras for colouring the pot the process for getting oil for it, the number of coatings to be given etc are minutely and metaculously detailed down. This elaboration is characteristic of the mid-phases of the development and spread of Jainism to different regions. These sundry rules reflected the minute care the monks took in avoiding being found fault with by the people even in minor items of monastic discipline. For it was by their actual behaviour rather than the theory of monastic discipline that they could impress the society bring to their notice the rigours of monastic purity and then add to their ranks

Equipped with these rules and their proper understanding and practice the Jaina monks and nuns led a wandering life staying for a night in the village and five nights in a town, save in the rainy season. The canonical texts give elaborate rules for such a touring

life and for study at one place in the rainy season. However as in the case of other items of monastic discipline quite a formidable list of rules arose when the monks spread out in the newer and newer regions These are evidenced by the Niryuktis and the Brhatkalpa bhasya, which not only give details about the omens and Nakshatras etc associated with the proper time for starting on tour after the *Vassavasa* but many other details regarding the method of asking of proper road, protecting the *Acharya* from robbers in case of attacks, writing signs on the road in the event of kidnapping etc. are given for the first time Thus the monks were trained not only in monastic discipline but even in the practical ways of getting over the emergencies And all this, without affecting the core of ideal monastic behaviour

The most notable aspect of Jaina monachism is that its gates lay open to all, irrespective of caste or social status or creed, This spiritual democracy was the backbone of Jaina monachism. And this democratic method was worked out without getting the order or any member of it involved in political turmoil of any nature The monks were not to visit anarchical regions, not to participate in political tangle in any country not to visit regions where rebellions were current and not to take sides in case there were more than one claimants for the throne In case of a blockade, they were not to go out of the city for begging alms in order to avoid being suspected as spies It is indeed a tribute to the framers of Jaina monastic rules that they could think of such minute possibilities and frame rules in awareness of these

The internal discipline of the order was rigourously adhered to and the defaulters were adequately punished according to the severity of the transgression committed. The democratic set up, which we have emphasised earlier is revealed in this aspect of monastic discipline also Nobody by virtue of his position in the church hierarchy could evade punishment for faults and transgressions committed knowingly or unknowingly Right from the *Acharya* to a newly initiated novice all had to face punishments which involved either the undergoing of fasting or the cutting of standing (Panyaya) in the order This levelling of all before discipline had a nice effect as it afforded solace to juniors against the lax behaviour of the elders.

The most significant aspect of Jaina monachism is its relations with the laity These relations were neither so cordial as to degenerate into attachment, nor so formal as to develop into indifference The laity always had a keen eye on the proper behaviour of the monks whereas the monks acted as the ideals of proper conduct before the laity This balance is peculiar only to Jain monachism, and has acted so far as one of the most important factor in the upkeep of Jaina monastic discipline

The survey of the remarkable aspects of Jaina monachism brings out the factor that contributed to the survival and growth of Jain monachism. The marked conservatism and yet the elasticity to adjust the democratic set up and yet the stern discipline, the harmony between standing and learning, the awareness of the working of human mind in relation to the social invironment and the last bent not the least, the mutual control between the laity and the monk order all these stand out remarkably when one studies the structure of Jaina monachism. And it is these factors that have contributed to its uniqueness and survival.

Asrava

(Contamination of Soul According to Jain Philosophy)

Harisatya Bhattacharyya, M.A. B.L. Ph. D

Those who are even cursorily acquainted with the Jaina moral philosophy are sure to be impressed with its fundamental doctrine viz. the Asrava or the doctrine of the soul being vitiated by the non-physical Karma matters flowing into it. The Asrava is a doctrine, peculiar to the Jaina philosophy and it has been emphasised by all the Jaina Omniscients and sages, from the Adisvara to the Vira. The great saint of the modern age, Bhikru-Svami also laid considerable stress on this doctrine of the Asrava and all his moral teachings and exhortations to his followers may be summarised—'Stop the inflow of the dilating Karma—matters into the essentially pure Soul. In the following lines, we shall shortly describe the Asrava-operations, described in the Jain Philosophical works

The Asrava paves the way for the inflow of the various forms of the Karma into the Self and the Jainas describe the particular states and activities of the Self which induce the inflow of a particular mode of the Karma in each case Thus it is said that the Jnavarana and the Darsanavarana Karmas i. e the Karmas which suppress the perfect knowledge and apprehension, inherent in the Soul are introduced by the Pradosa or a tendency to under-appreciable the people who are well versed in the Scriptures, the Nihnava or a tendency to conceal knowledge the Matsarya or a tendency to refuse the imparting of knowledge out of envy the Antaraya or a tendency to hinder the progress of knowledge, the Asadana or a tendency to deny the truth, proclaimed by another openly by speech or by bodily gestures or postures, or the Upaghata or a tendency to refuse the truth, inspite of knowing it to be nothing but the truth. The Mohaniya Karmas are either the Darsana moha which stupefy one s right faith or the Caritra moha which delude his right conduct. The former mode of the Mohania is introduced by the Avarnavada which consists in denouncing the Arhat i.e. the Omniscient Being, the Sruta or the true Scripture the Samgha or the Assembly of Saints, the Dharma or the true religion or in having a wrong idea about the gods e g. thinking them to be fond of animal sacrifices, wine, etc The Caritra-mohaniya or the Karmas that are responsible for a wrong conception about the right conduct are said to be caused by the intense internal state, resulting from the activity of the Kasayas or passions (as well as of the No-Kasayas or lesser passions viz., for joking, liking bad companies etc). The Antaraya Karmas are what obstruct one s natural powers of gaining (Labha) giving (Dana) enjoying consumable things (Bhoga) enjoying non-consumable things

(Upabhoga) and of exercising powers (Virya) The inflex of the Antaraya Karma is caused by ones interfering with another exercise of his powers for Labha Dana 'Bhoga Upabhoga' and Virya

The above are the four forms of the Ghatiya Karma or Karma s which in some sense, are destructive (for the time being) of the fundamental nature of the Soul.

The next mode of the Karma, affecting the Soul, is the Aghatiya or the non-destructive,—the first form of which is the Vedaniya. It is again is of two sorts viz., the Sata—Vedaniya and the Asata—Vedaniya The former mode of the Vedaniya Karma—the Sata yields pleasure to the self and their inflow into the Soul is induced by Bhutanukampa (or a feeling of compassion for all living beings Vrayanukampa, a feeling of compassion for all persons who have adopted the Vratas or vows Dana acts of charity Saragasamyama practice of self-control, though attended with an apparent feeling of attachment still, Samyamasamyama, self control with respect to some of the passions-not of all (through the the practice of vows) Akama-nirjara ungrudging surrender to the fruition of Karma Bala tapa, penances, unattended with correct knowledge Yoga contemplation Kshanti a spirit of forgiveness and 'Sauca a spirit of contentment consisting in want of all forms of greed. The other form of the Vedaniya in the Asata, which yield feelings of unpleasantness and is introduced by Dukkka feelings of pain Soka feelings of sorrow 'Tapa feelings of repentance Akrandana shedding tears Vadha enjury to or loss of life Paridevana pathetic moaning in order to attract others compassion These six sources of the unpleasant Karma s may be subdivided into eighteen—in consideration of the fact that these feelings may be aroused in one s own self or in others or both in one s own self as well as in others

The influx of the Gotra (lineage) Karma s causes one's birth in a high or a low family The Ucch-gotra karma which accounts for one s birth in a high family is introduced by Para-prusamsa praising others Atma ninda condemning one s own self 'Sad-gunod-bhavana discovering goodness in others Asadguna-cchadana, not publishing the goodness of one s own self Nicairvrtti, (humility towards superiors) and Anutseka, want of pride for what one has got or achieved, The opposites of the first four of these six introduce the Niha-gotra karma i.e Karmas which results in one s being born in a low family viz — the Para-ninda" vilifying others Atma-prasamsa extolling one's own self Sad-gunaccha dana not publishing the good qualities of others and Asad-gunodbhavana, giving publicity to the fact of one s own possession of some good qualities which he really does not possess The Ayu is the period for which a being is confined within a particular body and is of four spans in accordance with whether it is the life-duration for the celestial beings or for the human beings or for the subhuman beings or for the infernal beings. Taking active interest in the affairs of the world, however slight the activity or the taking of interest may be together with the non-practice of the Vratas or vows and the Silas or sub-vows, is the general cause of the influx of the Ayu-Karmas The 'Deva-ayu' or the Karma ensuring a life-period fixed for the gods is introduced by Bala-tapa' i.e. penances not backed by

right knowledge Akamanirjara or calm surrender to the fruition of one's own acts Samyamasamyama self-control with respect to some of the passions only not of all (when found in a layman) Saraga samyama self-control, though attended with a feeling of attachment still (when found in a monk) and Samyaktva' or right belief (when developed in a human or a sub-human being. The Manusya ayu or the life period for a human being is also the result of the inflow of a corresponding group of Karmas and these Karma s are introduced by Alparambha one s putting in a comparatively small amount of worldly activity Alpaparigraha' one's interest in worldly affairs being comparatively small as well as by Svabhava mardava or a natural humble disposition. The Tiryakayu-Karma is the karma which secures for one, the life span fixed for a sub-human being and its inflow is caused by one s Maya or decietful attitude and acts. Finally the Naraka ayu-karma or the Karma which gives one the life-duration fixed for an infernal being is introduced by one s Vahvarambha one s putting forth the greatest amount of wordly activities and Vahu parigraha or taking considerable interest in the affairs of the world. The Nama or the body-building Karma is either Subha i.e. good, or Asubha i.e. bad. The latter is introduced by the Yoga Vakrata or crooked or deceitful operations of the mind, body and and speech and by Visamvada or continuous wrangling, and vilification of others, self-applauding etc. while the Subha nama karma which secures a goodbody is brought into the Soul by the opposites of the forgoing two Tirthamkara or the Arhat is the exalted Being who attains Omniscience and other perfections while still in a body and as such it is the effect of an influx of some Karma s—called the 'Tirthamkara Karma The Tirthamara Karmas are certainly the best of all the Karma s and are introduced into the Soul by the following sixteen Bhavanas or subjective activities. 1 The first of these sixteen Bhavanas is the Darsana visuddhi' i.e the right faith with its excellent marks, viz the Nihsamkita the Nihkamksita etc. etc. The rest of these attitudes are—2. the Vinaya sampannata' or reverence for the path of liberation or for those who are on it 3 the Sila vratesvanaticara observance of the Silas and the Vratas 4 the Abhiksna jnanopayoga' continuous pursuit of right knowledge 5 the Samvega not for a moment forgetting the miseries of the wordly existence 6 the Saktitastyaga charity according to one s capacity 7 the Saktitastapah practice of penances according to one s capacity 8 the Sadhu-samadhi helping the saints in every way 9 the Vaiya vrtyakarana serving those who are really good 10 the Arhat bhakti reverence for the Omniscient Lord 11 the Acharya-bhakti reverence for the leader of the religious assembly 12. the Vahu srutabhakti reverence for the learned religious teachers 13 the Pravachana-bhakti reverence for the religious discourses 14 the Avasyaka parihani attending to the six prescribed duties daily without fail 15 the Marga prabhavana propagation of the path of Liberation 16. the Pravachana vatsalya affection for the brothers-in faith.

This finishes our rapid survey of the nature and the course of the Asrava. The influx of the foreign elements into the Soul causes its bondage. It is Asrava which serves as

the channel for the in-flow of those foreign elements It should be noted that the Soul cannot be subjected to bondage even if it comes in closest contact with things of sense unless it is already in a weakened state This weakness in the Soul which is preparatory for its Bandha or bondage consists in the following five subjective conditions. First of all there is the Mithya darsana' or wrong belief The wrong belief may take the form of the Ekanta darsana or laying exclusive stress on only one aspect of a thing or phenomena or it may be an entirely perverse faith i e. the Viparita-darsana The Samsaya or sceptic attitude towards a matter of truth is another form of wrong belief. The ultra-obliging tendency called the Vinaya which considers all forms of faith divinities and all practices involved in all the religions, to be of equal merit is a mode of the Mithya-darsana The last form of wrong belief is Ajnana or utter ignorance, consisting in an inability to distinguish right from wrong.

The second subjective ground for the psychical bondage is Avirati' It consists in non restraint of the five senses and of the internal organ of mind and in want of a compassionate attitude towards all classes of animals.

Pramada or carelessness is another phenomena which weakens the Soul and prapares it for its bondage. Sleep (nidra) affection (sneha) and the careless permissions to the five senses as well as to the four passions to have their full play are forms of the Pramada. Another mode of the Pramada consists in Kathas-or careless talks about food women, politics and scandalous matters These also make one s self weak.

It is the Kasayas or the four fold passions of anger greed, deceitfulness and conceit which are important Bandha hetus or causes of psychical bondage.

The last but not the least of the Souls infirmities which bring about its bondage is of course the Yoga which is a prone ness on the part of the self to welcome foreign elements into it—a psychical inclinatory vibration in correspondence with peculiar activities of ones mind, body and speech.

Thus the Asrava introduces foreign elements into the Soul and if the Soul is already affected and weakened by its own subjective states of wrong belief passions non-restraint etc., those foreign elements find a fruitful soil and take deep roots in the nature of the Self and get the mastery of it—bringing about its bondage.

We have considered the act and attitudes which bring about the inflow of foreign forces and activities into the self as well as those which complete its bondage These Asrava inducing and Bandha-causing actions are the negative aspect of morality—indicating, as they do the thoughts and practices which one wishing to tread the moral path, is to begin by avoiding. There can be no question about this that those acts which invite in one s self knowledge-obscuring, faith-suppressing deluding and enervating influences must be avoided. There is further no doubting that acts, which cause unpleasant feelings birth in a low family a bad bodily structure parts constituents or a miserable status, would be avoided by all, more or less automatically But if the state of one s ordinary existence is felt to be far

from the desirable and if the quest for the Moksa or the escape from the miseries of the empirical life is real, it can be said that the connection with this experiential world is to be progressively cut up. This implies that not only are the acts which introduce the evil karmas into the Self with their unpleasant results to be avoided but also those activities which cause the inflow of even the Subha karma's with their results, all desirable for the time being, or for some duration are also to be given up. The Jaina Philosophers maintain that even the Arhat so long as he is embodied in a frame admittedly the most brilliant and auspicious one, has not the final liberation. His Moksa is complete only when He is 'Videha' i.e. only when the Arhat gives up the body and completely separates his self from it. Even the Tirthamkara karma and the Tirthamkara body stand in the way of the Arhat's complete emancipation which becomes real only when that Karma and the body resulting from it are finally shaken off. Karma, in all its forms, is an obstacle to the attainment of the final bliss and all acts described in the fore going lines which cause the Asrava of the Karma, are to be scrupulously avoided by a person who wants to be on the path of beatitude.

Jaina Moksa in the Perspective of Indian Philosophy

RAM JEE SINGH Principal, P B S. College Banka (Bihar).

Introductory :

The concept of Moksa is perhaps the biggest invention of human ingenuity in its quest of happiness Sri Ramashankar Bhattacharya says that the science of Moksa is an experimental science of mental power[1] The history of human existence is a history of endless effort to eliminate sorrow and attain happiness This is human nature. But we do not get what we aspire after We are a miserable lot. Death alone is the full-stop to our sufferings. But if we accept this ieda of death it would mean a tragic blow to the sense of human adventure, freedom and effort. Thus our ingenuity came across with the idea of Soul an eternal entity Let the body perish soul is immortal. We are children of immortality The immortal in man imparts to it its own quality of happiness. This state of eternal joy bereft of all sufferings is regarded as Moksa or liberation. Thus liberation in itself seems to be a purely negative idea but since the search for absolute freedom involves the search for ultimate purpose of the life of the individual (Parama Purusartha)[2] there is a positive aspect also.

The concept of Mukti roughly distinguishes Indian from Western thought. The reason is to be found in the concept of Soul in Indian Philosophy the basis of bondage and liberation. With the exceptions of Plato and Plotinus the Western philosophy is quite unware of a philosophy of Self on other hand all Indian systems, both orthodox and hetrodox, recognise the idea as the first requisite for any philosophical adventure[3] This is the spiritual basis of our ethical life. All the three pursuits of human life such as Dharma (virtue) Artha (wealth) and Kama (enjoyment) are regarded as simply subservient to it. Moksa is the *highest pursuit (moska eva paramapurusartha)* The genesis of the idea of Moksa is traced in 'the endevour of man to find out ways and means by which he could become happy or at least be free from misery' [4] or in the state of sound sleep" [5] Common people in India however very little bother whether this state of Mukti is logical or not, or actual or unreal. They accept it as an article of faith in the nature of religious dogma.

1 Darsanika, July 1955 article on "Moksa-Darsana"—p. 63

2. Deshmukh, C D, The Concept of Liberation in the Philosophical Quarterly July, 1937 p. 135

3 Udyotakara Nyaya Vartika—p. 366.

4 Ramchandranm N "Concept of Mukti in Indian Philosophy"

5. Shamasstry R. (Dr), 'The Concept of Mukti in India, Proceedings of Indian Philosophical congress 1944 p. 243

Concept of Moska in Indian Philosophy

Just as no school of Indian philosophy not even the Carvakas, deny the concept of Self, similarly there is absolute unanimity regarding the central conception of Moksa as the highest goal of life,[1] although they differ with regard to the nature of Mukti and the means for its realisation, according to their different metaphysical positions and attitudes.

For example in consonance with them materialistic conception of Soul (**Chaitanya-visista-deha eva-atma**) the Carvakas come to materialistic conception of liberation (dehocchedo moksah or Moksastu marana ch pranvayu nivartanam). Similarly in consistence with the doctrine of Middle Path and Dependent Origination the Buddhists reject both Eternalism (Sasvatavada) of the Upanisads and Nihilism (Uccedavada) of the Carvakas. They deny the continuity of an identical substance in man, but not the continuity of the stream of unbroken successive states of the five aggregates (**Panca-skandha**). The Soul or ego is nothing more than the collection of the five-aggregates and hence Nirvana must be the destruction of the mental continum (**Cittam Vimucyate**) or at least the 'arrest of the stream of consiousness (**Santati-anutpada**) leading to the ceasation of the possibilities of future experience (**Anagatanutpada**)"

In Nyaya, the destiny of the indivdual Self is determined by the concept of Self and its relation to consciousness which has not been regarded as an essential and inseparable attribute of the soul. Consciousness arises when the soul is related to the mind which in turn is related to the senses, and the senses are related to the external objects. So in the disembodied condition self will be devoid of consciousness. Release is freedom from pain.[2]

So long as the soul is related to the body pain is inevitable and pleasure and pain are produced by undesirable contacts with objects. Thus the state of freedom is like the state of deep dreamless sleep devoid of consciousness,[3] stone—like existence[4] so much so that people would prefer to be jackal than to attain this lifeless brand of Mukti. Pleasure and pain go together like light and shade. So absolute ceasation of suffering (atyantika-duhkha-nivrtti) must by implication mean cessation of pleasure too Now to escape from this dilemma, faced by the majority of the Nyaya-thinkers like Vatsyayana, Sridhara, Udyana, Raghunath, Siromani, there is the opposite thesis of the Nyayaikadesins and other Naiyayikas like Bhasarvajna and Bhusana that freedom is bliss [5] instead of a state of painless, passionless unconscious existence free from the spatio temporal conditions. However they cannot do it unless they revise their conception of self and i s adventitious relation with soul.

Like Nyaya the Self of the Vaisesikas has congnitions of things when it is connected with body [6] So it is only when the Soul is free from the qualities (either pleasure or pain)

1 Haribhadra, Yoga-drsti-samucchaya, pp. 129 0. Bhava Prabhrta of Kundakunda.
2 Nyaya bhasya—III. 2.67
3 Nyaya-Sutra – IV 1 1 163
4 Naisadha—17 75
5. Nyaya sara pp. 39-41 Nyaya Bhasya. 1 1 22
6. Nyaya kandali— p.57

produced by contact with name and from (Atmavisesa-gunanam Atyantocchedah) or as Sridhara would say Navanam Atmavisesa-Gunanam-Atyantocched Moaca, that is moksa is the absolute destruction of the nine specific qualities of the self. To save itself from the charge that this kind of Moksa comes perilously near the unconscious condition of a pebble or a piece of stone, the Vaisesikas propound a doctrine of Inherent Felicity in the State of Moksa. But they have yet to say how Felicity is Unconscious ?

The Mimamsakas like the Nyaya Vaisesikas, regard the soul as eternal and infinite, with consciousness as its adventitious attribute, related to the body It survives death to reap the consequences of action. Since the Mimamsaka school is the outcome of the ritualistic period of the Vedic culture, the final destiny of an individual is regarded as the attainment of heaven the usual end of rituals (svarga kamo yaieta). But later on the idea of heaven is replaced by the idea of liberation, for they realised that we have to fall back on the earth as soon as we exhaust our merit. The concept of heaven was indeed a state of un alloyed bliss (at least temporary) But the state of liberation is free from pleasure and pain, since consciousness is an adventitious quality of the soul. To the Prabhakaras Moksa is the realisation of the Moral Imperative as duty (Niyoga sidhi). To Kumarila, it is the ' Soul s experience of its own intrinsic happiness with complete cessation of all kinds of misery' [12] which is very much like the Advaitic conception However the general conception of the Bhattas is the realisation of the intrinsic happiness (Atmasan-khyanubhuti) Parthasarathi Misra[13] and Gagabhatta deny this Narayanabhatta, Bhattasarvajna and Sucaritra Misra clearly admit the element of happiness in the state of Mukti, since to them soul is consciousness associated with ignorance (Ajnanophitacaitanya)

According to Sankhya consciousness is not a mere quality but its very essence. It is pure eternal and immutable. Hence it is not blissful consciousness (Ananda-svarupa) or *stream of consciousness (Caitanya-pravaha) or material consciousness* (Caitnya-dehavishta) So Se f (Purusa) of Sankhya remains untouched either by joy or sorrow' migration bondage and liberation[14] Bondage and liberation are phenomenal, which requires the formal and final cessation of all the three kinds of sufferings without a possibility of return.[15] This neutral and colourless state of Kaivalya is again an unattractive picture with no appeal to the aspirant. Similarly' in Yoga, freedom is absolute isolation of Matter from Self. It is only that we can effect a cessation of the highest principle of matter (Citta-mahat-bodhi) *that* the state of absolute isolation and redirection of our consciousness is possible which requires an abstruse practical discipline. However there is clear amvivalence in Sankhya doctrine of release so far as it says that that it is the spirit (Purusa) that is to obtain release, yet the

12 Manameyoday., v 26.

13 Sastra-dipika., 125-31

14 Sankhya-karika of Isvara Krisna. 62.

15 Sankhya Karika & Sankhya Tattva Kaumdi K. 64-68 Sankhya Pravachana Bhasya., 3.65-84)

apparently predominant characterization of spirit is such that it is impossible that it should either be bound or released [1]

Unlike Sankhya yoga, the Self in Sankara is not only consciousness but also blissful consciousness, which is the produce of a sense of identification between the soul and Brahman. Hence unlike Sankhya-Yoga and Nyaya vaisiska, there is an intuition of identity instead of an intuision of difference. Unlike Purva Mimamsa, Moksa, in Advaita Vedanta is not only destruction of individual s relation with the world, (Prapanch sambandha vilaya) but dis solution of the world itself (Prapancha vilaya) Identity and difference between God and Man. Man s body and soul are real. Then Soul is not pure and impersonal consciousness but a thinking substance with consciousness as its essential attribute. Hence Moksa is not the self annulment in the absolute but a self realisation through self-surrender and self effacement, the supreme satisfaction of religious emotion. The liberation soul is not God but neither is he separated from his all-comprehensive existence,[2] even in the Kingdom of God (Vaikuntha). This is Sayujya-bhakti (unitive devotion) To Madhva, the distinction between God and self is real.[3] Though the Jiva is absolutely dependent upon God, they are active and dynamic [4] Hence Moksa is blessed fellowship and not a mere in identification Thus in the state of Mukti, there not only the utter absence of pain but also the presence of positive bliss. To Nimbarka, with whom the soul is both different non-different from (Bhedaveda) complete submission results in both-God and self realisation, which is endless joy and bliss. Sudhadvaita school of Vallabha regards the relation between God and Soul as that of whole and part. Duality and distress go together The moment, the soul is one with God, we get final release which is utter bliss To the other Vaisnavites like Sri Chaitanyadeva, Jaideva, Vidyapati, Chandidas etc. to whom the ultimate reality is love and grace liberation means love through divine grace Bhakti is Mukti.

In the Gita we find the status of soul as different fragments of God, hence Moksa must be the unity with Purusottama indeed a blissful state. However it must be Equivalence (Sadharmya) with God and not Identity (Sarupya) But in the Upanisads as in the Advaita Vedanta, the realisation of the oneness with God is the ideal of man, which is a state of ecstasy and rapture, a joyous expansion of the Soul.

To the Kapalikas, Moksa is found in the sweet embrace of Hara & Parvati (Hara-Parvatyalingam) to the Pasupats, it lies in the holding of all dignity (Paramaiswaryam) to the Udasins (athiest) it is in the extinction of egoism (ahamkara nivritti) to the Vyayakarnas, it is in the power of speech (Brahma rupya hanya darsanam) , to the Sarvaganas, it is in the eternal continum of the feeling of the highest felicity (Nitya niratishaya sukh

1 Godwin, W F Theoriels of Consciousness and Liberation in the Sankhya phil & the Phil. of G Santayana, Proceed of Ind. long (1954)—p 17

2. Sadhu Santideva The Critical Exam. of the Phil. of Religion Vol. II. p. 986

3. Madhva bhasya on Brahma Sutra—III 3. 1

4. Ibid—II. 3. 38.

bodah) etc Broadly there are two different approaches to the conception of liberation in Indian Philosophy —

1 Materialistic Conception of Moksa of the Charvas, and

2 Non materialistic conception : –

(a) **Positive conception** —VEDANTA & JAINISM

1 Sarupya—Becoming like God in Nature and Form=GITA.

2. Samipya—Blessed fellowship-Madva, Nimbarka, Vallabha, Chaitanya etc

3 Salokya—Residing in the word of God worshipped (Vaikuntha=Ramnujists)

4 Sayujya—Becoming one with God=ADVAITA VEDANTA.

(b) **Negative Conception** :—BUDDHISM

1 Uccheda—Nihilism=Madhyamika Buddhism

2. Nirodha—Cessation of suffering=Naya—Vaisenkas & Mimamsakas.

(c) **Neutralistic Conception** —SANKHYA & YOGA

However there is ample evidence to prove that some of the Buddhist texts, some Naiyayikas and *Mimamsakas go to prove* a Positivistic conception of liberation

III. THE JAINA OUTLOOK :—

Jainism is an important ideological phenomenon in the religio philosophical history *of mankind. By nature it attempts a rapproachment between the warring system by* a breadth of vision which goes in the name of Syadavada or Anekantavada [1] It shares the realism of the Vedas, the idealism of the Upanisadas, the worship-cult of the Puranas, *the colourfulness of the Epics, the logical analysis of the Naiyayikas, the atomism of the* Vaisesikas, the metaphysical dualism of the Sankhyas, the mysticism of the Yogins and most surprisingly even the monastic trends of the Advaita Vedanta, reflected specifically in Kunda kunda & Yogindu." [2] *It seems that like a mother it has equal love for all her children'* — says Yashovijaya Anandaghana figuratively describes the six systems of Indian Philosophy as different forms of sweets made of the same sugar Sidhsena affirms that all heretic views combined, constitute the *sayings of Lord Jina.* This is non absolutistic attitude of Anekantavada, which is an extension of Ahimsa in intellectual field. Absolutism or imperia lism in thought, word and deed is unknown to the Jainas, the spirit of which is a foe to all *kinds of force and fanaticism. Jainism has tried to develop a* neither nor attitude by avoiding extremes.

IV **Soul & Karma—The Basis of Freedom & Bondage** —

The *Jainas believe the Doctrine of Soul* as the Possessor of Material Karma [3] and the Doctrine of Extended Consciousness. [4] The Jainas subscribe to the Doctrine of

1 Jain. H. L. "What Jainism Stands For ? Jaina Antiquary Vol. II No 2
cf Sastri, K. C Jaina Dharma (2nd ed. Hindi) p. 63

2. Reference may be made to author's article on Advaita Trends in Jainism read before I P C 1956 (Nagpur).

3 Mehta, M L., Outlines of Jaina Philosophy p 61

4 Tattvartha Sutra. V 16 Syadavada Manjari v 8.

Constitutional Freedom of the Soul and its Potential Four fold infinites, meaning thereby that the Soul is intrinsically pure and innately perfect. But Soul & Karma stand to each other in relation to beginningless conjuction[1] Karma is an aggregate of very fine imperceptible material particles which are the crystallised effect of the past activities or energies. The link between the matter & spirit is found in the Doctrine of the Subtle Body (Karma Sarira or Linga Sarira) a resultant of the unseen potency and caused by a Principle of susceptibility due to Passions and Vibrations 'The soul by its commerce with the outer world becomes literally penetrated with the particles of subtle-matter"[2] Moreover the mundane soul is not absolutely formless, because the Jainas believe in the Doctrine of Extended Consciousness like the Doctrine of Pudgala in Buddhism and the Upanisads,[3] and also to some extent in Plato and Alexander while the Sankhya, Yoga, Vedanta, and Nyaya Vaisesikas and the Budhists kept consciousness quite aloof from matter The Jains could easily conceive of the inter influencing of the soul and Karmic matter hence the relation between the soul and Karma became very easy The Karmic-matter mixes with the soul as milk mixes with water or fire with iron Thus formless (Amurta) Karma is effected by Murta Karma, as consciousness is affected by drink or medicine. This is the relation of concrete identity between the soul and the Karma. Logically if like begets like, and the cause is non-different from the effect, the effect (body) is physical hence the cause (Karma) has indeed a physical form[4] But unless Karma is associated with the Jiva (soul), it cannot produce any effect, because the Karma is only the instrumental cause and it is the soul, which is essential cause of all experiences. Hence the Doctrine of Soul as the Possessor of Material Karma is inevitable to explain our concept of life. But why the conscious soul should be associated with the unconscious matter ? Unlike Sankhya, in propounding a Doctrine of Unconscious Teleology the Jainas work out a Karma phenomenology according to which Karma is a substantive force or matter in a subtle form which fills all cosmic space. It is due to Karma that the Soul acquires the conditions of nescience or ignorance. Ignorance or nescience is the force which prevents wisdom shining from within, that is that which holds it in latency[5]" The relation between soul and non soul is beginningless and is due to nesceince or Avidya. This is responsible for the worldly existence, or bondage which is determined by the Nature (Prakrit) Duration (Sthiti) Intensity (Anubhava) and Quantity (Pradesh),[6] of Karmas. Jiva takes matter in accordance with own Karmas because of self

1 Nahar & Ghosh An Epitome of Jainism p 185
2 Radhakrishnana S. Indian Philosophy Vol. I. p 319
3 Kath IV 12 ; Chand III 14 3 , Svet. Up. I 16.
4 Mehta M L Ibid p. 63 Nyayatar vartika p 292.
5 Jain C R. The Key of Knowledge. p 743
6 Tatt artha Sutra VIII 3 Dharmasarmabhudhyama. XXI. 105 Panchastikaya sara V 148 Vardhamana Purana XIV 45 Adhyatmakamal Martanda IV 7 Dravya Sangrah. 33 K G 16

possession (kasayas) This is known as bondage[1] the cause of which are Delusion (mithya drsti) Lack of control (avirati) Inadvertence (Pramada) Passions (Kasaya) and vibrations (yoga)[2] Nescience is at the root of all evils and cause of all wordly existence. The Jainas do not like to bother about its whence and why It is regarded as co-eval with the soul, hence enternal and beginningless. Both the questions of the Self and Nescience are accepted as facts on the basis of uncontradicted experience. As the bondage is determined by the nature Karmas which are of eight fundamental varieties[3] with their numerous divisions and sub divisions. Now as Vidyanandi Swami says that as Right Attitude Knowledge Conduct constitute the path of liberation, the anti thesis of this trinity (Wrong Attitude Knowledge, and Conduct) must lead to the bondage If the very outlook is wrong one cannot expect Eight Knowledge and there cannot be Eight Conduct without Eight Knowledge.[4] Theory and practice are interlinked. So on this realistic ground the Jainas reject the metaphysical position of all those who subscribe to the Unitary Principle of the cause of Bondage.

V JAIN MOKSA —

(a) Definition of Moksa —

Moksa, the last of the Jaina moral categories is the gist of Karma phenomenology and its relation to the Science of Soul. Mukti is toto and total deliverance of the Soul from all Karmic veil—sarvava-ranavimuktirmuktih. As Umasvami defines Moksa is the total and final freedom from all Karmic-matter owing to the non-existence of the cause of bondage and the shedding (of all the Karmas)[5] Ashrava is the influx of the Karma particles into the Soul. It is nothing but the actions of the body speech and mind. Jiva[6] takes matter in accordance with its own Karma because of self possession.[7] Now since the Karmic inflow is the principle of bondage and hence its stoppage must be a condition of Moksa. So Samvara is opposite to Ashrava[8] Samvara literally means controlling. But Samvara only arrests fresh-flow of Karma-particles but what we require is not only stoppage of the fresh flow but also dissipation of the old one This shedding or dissipation called Nirjara is possible by austerities[9] This scheme of Samvara and Nirjara reminds us of the Hindu idea of the different varieties of Karma[10] Uma Svami has two prefixes—VI (Visesharupena) PRA

1 Tattvartha Sutra. VIII. 2.

2. T S. VIII. Dravya Sangraha 30· Sarvartha Sidhi p. 374-5

3. Tattvartha Sutra. VIII 4 1 2; Dravya Sangraha 31 Prasamrati Prakarana of Uma Svati. 34

4. Uttaradhyana Sutra. XXVIII. 30.

5 T S., X. 2.

6 T S VI. 1 2.

7 T S VIII. 3.

8 T S. IX. 1

9 T S. IX. 3

10. Devi-bhagavata. 6 10. 9 14 Prakaranapanchika. p. 156

(Prakrstarupena)[1] in defining Moksa, meaning thereby that Moksa is the total and exhaustive dissolution of all karmic particles, which is the condition of omniscience.

(b) The Nature of Moksa :—

The Agamic verse 'Sukhamatyantikam yatra" etc. admits the experience of eternal bliss in the state of Mukti "It is the safe, happy and quiet place which is reached by the great sages[2] Some of the Jaina Acharyas regard bliss as an attitude of knowledge[3] Budhists however regard them as opposite In Advaita Vedanta, consciousness and bliss co-mingle together in the undifferentiated one Brahman Mallisena[4] redicules the Naiyayikas for reducing Moksa to a state which is indistingnishable from the pebbles etc. He says that our phenomenal life is better in which happiness comes at intervals than in the state of Mukti, which is emotionally dead and colourless But the Jaina claim for attaining state of eternal happiness in the state of Moksa faces a serious dilemma. If it is a product (or spiritual Sadhana), it is non eternal and if it is not such a product, it must be conceeded that either it is constitutional and inherent or impossible to be attained. Hence, bondage and salvation are indistinguishable. So the very conception of Jaina Self and bondage makes the enjoyment of happiness well nigh impossible This might be a logical objection, but the Jaina idea of Moksa is one of Infinite Bliss which follows from the Doctrine of Four fold Infinities of the Soul.

(c) Doctrine of Constitutional Freedom and Four fold Infinities :—

The Jiva possesses four infinities (anata chatustaya) inherently which are obscure by the veil of four Ghatia (Destructive) Karmas But the Jaina doctrine of constitutional Freedom of Soul together with Four Infinities present a difficulty If Self is inherently good and essentially perfect how can Karma be associated with the Soul. If Karma is said to be the cause of bondage, and vice versa then there is fallacy of regressus ad infinitum. But if Karma is beginningless then how Soul can be essentially perfect. All the doctrines of Moksa-Sadhana then seem to be quite meaningless attempt since bondage and Moksa are both phenomenal and not real as Sankhya-Karika says— 'Of certainity therefore, not any (Spirit) is bound or liberated"[5] It seems then that Moksa is not the product of a new thing but self realisation What I feel is that Soul is constitutionally free but it is potential freedom. It cannot be manifest without spiritual descipline. This is in consonance with the Jaina doctrine of Śatkaryavada which makes a distinction between the Manifest and the Unmanifest. Sankhya and Advaita vedanta hold that Moksa is not the attainment of what is unattained but what is already attained (Praptasya Praptih). But where as Sankhya stresses the need of discrimination and Advaita Vedanta emphasises identification the Jainas work out a

1 T. S. X. 1
2. Sutra kratanga I I I 15 16.
3 Sarvartha Sidhi of Pujyapada. X. 4
4 Syadavadamanjari. V 8
5. Ka ka—63

scheme of manifestation The logic is simple If what is non existent cannot be produced,[1] hence it follows that the effect is existent even before the operation of the cause

(d) Jivan Mukti and Videh Mukti —

The Jainas like the Upanisadic thinkers[2] Budhists[3] Nyaya Vaisesikas[4] Sankhyas[5] Yogins[6] Vijnabikshu and Vallabha etc recognise the existence of Jivan Mukti together with Videh Mukti But Ramanujists, Nimbarka Madhava etc do not accept Jivana Mukti Apart from Jivan Mukti and Videh Mukti, there is an idea of karma Mukti (gradual salvation) in the Upanisads,[7] which resembles to the gradual ascendence of the stepping stones to Higher things, (Gunasthanakramaroha) or the field of Yogacharya and the Bhumika of Vaidika philosophy However Mukti is Mukti – it must be one and indivisible Any reference to the persistence of body etc is meaningless. The duality of Mukti in Jainism is perhaps a legacy of the Upnisadic influence. Since the Jainas like Advaita Vedanta believe through the dawn of wisdom and the annulment of nescience Jivana Mukti is the one and only legitimate concept. Mukti refers to the Soul, not to the body and the dissolution of the body is neither an inevitable pre-condition nor an integral feature of Mukti [8]

(e) Nirvana & Moksa :

Moksa literally means 'release — release of the Soul from eternal fetters of Karma. Nirvana (Buddhist) is derived from the Pali root nibuttu which means blowing out How ever instead of taking it in a metaphysical sense of blowing out of (passions etc.) it is taken in the sense of extinction However there is ample evidence to believe that Buddha looks upon Nirvana as positive state of conscious The distinction between Sopadhisesh and Nirupadhisesh Nirvana is a significant one. One refers to the annulment of the dirt of mind, while the other refers to the annulment of the very existence. What all we can say is that Budhistic Nirvana is mostly regarded as negative, leading to the passions[9] However according to the Vaisesikas their conception of Nirvana means the total annihilation of all the attributes of the Soul Moksa also refer to the concept of migration and re-birth

(f) Bhava Moksa & Dravya Moksa : —

The Jiva attains Moksa when it is free from the snares of Karma (Karma phala vinurmuktah moksa). The Moksa is either Bhava (objective) or Dravya (subjective). When

---

1 Introduction to Samaya Sara (Ed A Chakravarti). p CLV II

2. Kath. II 3 14-15 Mundak III2. 6 Brah, IV 4 6-7

3 Visudhi Magga, 16.73

4. Nyaya bhasya IV 2.2.

5 Sankhya karika, k. 67

6. Yoga Sutra IV 30.

7 Kath, II. 3.5

8. S. S. Suryanarain Sastri s paper "Jivana Mukti" The philosophical Quarterly Jain. 1939 (Vol. XIV No IV).

9 Tattva Sangrah, p 184

the Soul is free from four Ghatia Karmas (Jnaanvarniya, Darshnavarniya, Mohniya, Antaraya), it is Bhava Moksa, and when it is free from Aghatia Karma (Nama. Ayu, Gotra, Vedaniya) it is Dravya Moksa. Bhava moksa is negative since it is in this state the Soul is in the process of Nirajara, of course which is almost complete. But after freedom from Aghatia Karmas (Action-currents of non jury), the Soul attains a state of never ending blissful beautitude. A person attains the state of Omniscience when Mohniya (Deluding), Jnanavarniya, (Knowledge obscuring), Darsanavarniya (Faith obscuring) and Antaraya (Obstructive) Karmas are destroyed[1] After the attainment of Keval Jnana, a person is free from all kinds of Karmas and attains final liberation[2] The Soul comes into its own and regains infinite knowledge, infinite faith infinite bliss and infinite power

(g) The Abode of Moksa —

When the Jiva attains freedom it rises higher and higher and reaches the submit of Lokakasha which is called Sidha Shila (Region of the Free & Liberated) It may be pointed out that this is a new conception. The Vedic conception regards Atma as all pervasive and the Buddhist do not point any such thing as Atman, hence they do not posit a Locus of Moksa (Moksa-sthana) The nature of Soul is ever progressive and never regressive. The Mandali sect of the Jainas regard that there is no such fixed place of Moksa but it is ever-progressing, in the nature of an ideal But the Jaina concept of Dharma and Adharma (medium of motion and rest) present in each object leads us to think that there must be a fixed state where the motion must stop. The Hindu conception of Vaikuntha or Parma dhama the Kingdom of God, not of Man.

Conclusion :—

Moksa in Jainism is not the product of something new It is a rediscovery of man himself through self relisation True happiness lies within. 'Look within —is what Jainism says. "Self-realisation is the ideal of the systems such as Nyaya Vaiseshikas and the Sankhya too[3] Advaita Vedanta also is a philosophy of self-realisation par excellence—leading to the identification of the Soul and Brahman Avidya is the common principle of bondage, so knowledge is essential for Mukti. The Karma-phenomenology of the Jainas is the outcome of their realistic and externalistic approach. Constitutional freedom of the Soul is a logical necessity This is simple Satkaryavada Unless the Soul has got some potentiality how can it manifest ?

---

1 Tattvartha-Sutra., X. 1

2. Ibid.

3. Dr T M P Mahadevan's Presidential Address to the Nagpur Session of Indian Philosophical Congress (Proceeding)—p. 7

Kundakunda, Vattakera and Sivarya

ON THE TWELVE ANUPREKSAS.

Professor Dr A N UPADHYE, Kolhapur

The Anupreksas are, in general, *topics of meditation or for reflection* twelve in number and embrace a wide range of subjects practically covering all the principles and cardinal teachings of Jainism. They are in the form of reflections on (i) the transitory character of things (anitya-anupreksa), (ii) helplessness (asarana a), (iii) the cycle of rebirth (samsara-a), (iv) lonelyness (ekatva-a), (v) separateness of the self and non self (anyatva-a), (vi) the impurity of the body (asuci-a), the inflow of Karmas (asrava-a), (viii) the stoppage of the inflow of Karmas (samvara-a), (ix) the shedding of Karmas (nirjara-a), (x) the constitution of the universe (loke-a), (xi) the difficulty of attaining enlightment about true religion (bodhi-durlabha-a), (xii) the law expanded by the Arhat (dharma-svakhyatatva-a).[1]

These topics are associated with study as well as with meditation. The ultimate objective of Anupreksa — contemplation is the stoppage (samvara) of the influx of and the shedding of Karma As intermediary steps, many a virtue is developed by the soul by contemplating on one or the other Anupreksa.

In the Ardhamagadhi canon all the twelve Anupreksas are not enumerated as a group it is only in the later stratum, namely the Mahanisbhasutta and the Maranasamahi, the twelve Anupreksa, called Bhavanas, are enumerated. Throughout the canon there are found captivating passages expounding individual Anupreksa, and they can be looked upon as gems of ascetic poetry full of didactic appeal and moral fervour The Anussatis in Budhism very much correspond to these Anupreksa[2]

A good deal of literature has grown round about the topics of Anupreksas in Prakrit Apabhramsa, Sanskrit and modern Indian languages both Aryan and Dravidian. The Tattvarthasutra (IX.2) and its commentaries have supplied a good capital of ideas in this context. It is proposed in this paper to deal with the contribution on Anupreksas by three authors, namely Kundakunda Vattakera and Sivarya whose exposition has more or less a common pattern. These three authors are older than the Tattvartha-Sutra

The Barasa-anuvekkha (B) of Kundakunda[3] is an important Prakrit text solely devoted to the twelvefold reflection. The printed text shows in all 91 gathas but a palm-leaf Ms. with a Kannada gloss from the Laksmisena Matha, Kolhapur omits gathas Nos 35, 41 45, 67 (identical with kattigeyanuppekkha 104), 90 and 91 (which specifies Kundakundamuninatha as the author), and has a different gatha in place of No 19 which happens to be identical

with the **Damsanapahuda**, gatha No 3 As already pointed out by me years back,[4] there is an appearance of antiquity about this work. First, some of its gathas are common with the **Mulacara** VIII, and possibly they are ancient traditional verses. Secondly five gathas from this work (Nos. 25-29) are quoted in the same order in the **Sarvarthasiddhi** (II 10) of Pujyapada. Lastly the method of exposition is quite traditional. For some of the ideas and similes (like **Jala-budbuda**) Pujyapada seems to have been indebted to Kundakunda.

In the method of exposition it is characteristic of Kundakunda that he uses both Nischaya Vyavahara nayas. Apart from his discussion about transitoriness etc. of external adjuncts he necessarily insists on the meditation of the Atman which is eternal the ultimate shelter unique on account of its distinguishing characteristics quite separate from all others, not to be lost sight of in this transmigratory circuit worthy of being realised in this universe, pure as distinguished from its body to be understood as quite apart from influx stoppage, bondage and shedding of Karma to be realized in purity without any confusion either with the routine of a monk's or householder s life, and to be known fully for attaining spiritual happiness. Self realization is the ultimate and the only object of twelve fold reflection and Kundakunda does not lose sight of this unlike others who are often lost in didactic exhortations which obscure the central theme of self realisation. The **Anupreksas** cover a wider purpose of religious practices such as reporting of renunciation of and atonem.nt for sins and equanimous attitude and meditation. Kunda kunda s gathas on **anitya-a** are as below —

वरभवणजाण वाहणसयणासण देवमणुवरायाणं ॥५॥
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥
सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥
जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे ।
अहमिंद ट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥२॥
जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं ।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥
परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवराय विहवेहिं ।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥७॥

The **Mulacara** (M) of Vattakera 6), chap VIII, in 74 gathas is devoted to a discourse on the 12 Anupreksas or Bhavanas The personality of Vattakera (who is the author of M according to the commentary of Vasunandi) is still in obscurity and his age especially with reference to that of Kundakunda (who is also mentioned by some Mss. as the author of M) is a matter of investigation. The **Mulacara** is undoubtedly an ancient text and shows by its contents close affinity with Ardhamagadhi canonical texts and the **Nijjuttis**. The nature of the language excludes the possibility that it is a direct adaptation of the present-day canonical passages

In the exposition of **Anupreksa** both the **Barasa-anuvekkha** and **Mulacara** show some common gathas partly or fully (B 1 a Kannada Ms. reads siddhe-namamsiduna ya for namimna-

savva-siddhe & M 1 B 2 & M 2. B 3 & M 3 especially line 2 B 4 & M 4 especially line 1 B 14 & M 9 of Marana-samahi 585 B 22 3 & M 11 2, cf also Marana-smahi 588 B 36 & M 19) and there are some similar ideas apart from common dogmatical and ideological inheritance (cf B 8 & M 5 B 24 & M 13 B 49 & M 45 B 52 & M 38). The Mulacara has further some gathas similar to those in the Marana-samahi, referred to above (M 46 & Mara. 618 M 50 & Mara. 621 2 M 57 & Mara. 628 M 68 & Mara 635). According to both reflection on the Anupreksas gives rise to Vairagya or spirit of renunciation (M 73 Mara. 638) Some gathas, possibly of traditional nature, have their counterparts in *texts like the* Trilokasara.

Kundakunda and Vattakera show some marked differences in their approach and in some of the details. Kundakunda lays special stress on the positive aspect of the Anupreksas that the Atman must be realized as such, he introduces both the Nayas and his description of dharma covers both the duties of monks and householders Vattakera does not go much beyond the literal and dogmatic meaning of each Anupreksa he has primarily the ascetic life in view and his exposition of bodhi-durlabha-a is more of a traditional nature and reminds one of canonical descriptions. Vattakera prefers the term asubha a which is asuci-a according to Kundakunda who confines himself to bodily impurity without any reference to artha, kama etc which figure prominently in the Bhagavati-aradhana and also Marana-samahi According to Kundakunda Samsara is of five kinds (No 24), but with Vattakera it is of four kinds, or of six kinds (with reference to aniyoge-dvara) *or of many kinds with reference to gatis (Nos. 14-5). Vasunandi who is aware of fivefold* division includes bhava (implied by ca) under bhava. Vattakera s gathas on Anitya-a are as below —

ठाणाणि आसणाणि य देवासुरमणुयइड्ढिसोक्खाइं ।
मादुपिदुसयणसंवासदा य पीदी वि य अणिच्चा ॥२॥
सामग्गिंदियरूवं मदिजोव्वणजीवियं बलं तेजं ।
गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो ॥३॥

The Bhagavati-aradhana *of Sivarya 7) devotes nearly 160 verses (Nos. 1715-1875)* to the exposition of twelve Anupreksa and they are introduced as alambana of dharmadhyana (in the manner of Thanamga) under its Samsthana vicaya variety In his exposition Sivarya impresses us more as a poet than a dogmatist or teacher His style is fluent, simple and lucid, and with a racy flourish he embellishes his composition with strings of striking upamas (at times studiously collected) and rupakas many of which are used by subsequent authors. To illustrate the transient character of things, he mentions a large number of objects of comparison drawn from different walks of life. One is helpless in the face of Karmic consequences, so he appeals to all to seek shelter in darsana, jnana, caritra and tapas which by stepping a little higher Kundakunda identifies with one s own self (Bha 1746 & B 13) If the Mahana-samahi stresses helplessness in the face of death, Sivarya emphasises the same in the face of Karmic consequences. One is really alone, lonely

relatives are not dependable much less is the body and it is the Dharma consisting of Faith, Knowledge and Conduct that accompanies the soul (cf Bha 1752 & B 20). Contact with people here in different births is like the meeting of birds on a tree at night individuals have different temperaments and their mutual attachment is necessarily utilitarian. Samsara is a dangerous wilderness or an unfathomable ocean in which one drifts driven by one's own Karmas through various forms of life. It is fivefold, therein the soul wanders with changing body in different places, and with varying aptitudes—ever pursued by death and suffering manifold miseries. All along Karmas trap the soul which in its pursuit of pleasures suffers infinite pain in this endless Samsara. Under Lokanupreksa Sivarya describes more about changing human relations (illustrated by the story of Vasantatilaka etc.) 80 various births and wordly conditions than the cosmological details. Dharma alone is subha, while artha and kama are asubha the body is all impure An unguarded soul is like a leaky boat into which flows the Karmic fluid or like an oily surface to which the Karmic dust clings. The human life should be used to eradicate the causes of the influx of Karmas which are all pervasive and which require to be stopped by curbing the senses, passions etc. Karmas get destroyed in their own way after giving the fruit or through the practice of penances. While discussing Dharma, Sivarya does not introduce the distinction of sagara-and anagara dharma but speaks of it in general. Dharma is supreme and thereby human beings attain the highest bliss. Dharma preached by Jina is compared with a wheel in this manner

सम्मद्दंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाण ।
वयणमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ।। १

For a soul overcome by Karmas and moving in Samsara enlightenment in religion is something rare and accidental like the yoke and yoke-pin coming together on wide sea 10) fortunate are those who have acquired it. Sivarya's exposition of anitya a runs thus (Nos. 1716 28)

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सव्वाओ सिविणयसंदंसणसमाओ ।।
विज्जू व चंचलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्वसोक्खाइं ।
जलबुब्बुदो व्व अधुवाणि होंति सव्वाणि ठाणाणि ।।
णावागदा व बहुगइपधाविदा होंति सव्वसंबंधो ।
सव्वे सिमासया वि अणिच्चा पद अब्भसणाणा ।
सणासो वि अणिच्चो पहियाणं पिंडणं व छायाए ।
घोरो वि अणिच्चरागो व्व अभियपस्सा सव्वजोयाणं ।
रत्ति राएम्म तुमे सउणाण पिंडणं व संजोगो ।
परिवेसो व अणिच्चा इस्सरियाणापभारोग्गं ।।
इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संज्ञा व होइ जीवाणं ।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोगे ।
चंदो हीणो व पुणो वड्ढदि राधि य ठइ अदीदो वि ।
ण दु जोव्वण णियत्तदि णदीजलमदिच्छिदं चेव ।।

णासदि गिरिजविसोदं प आउगं सम्मजीवलगम्मि ।
सुकुमालदा वि णासदि लोगे पुम्मण्णभाहाँ व ॥
णयरण्ण रूवणकाही व अदिठ्ठव मट्ठपे जरा लोगे ।
रूवं पि णासदि लहुं जरा व सिसिरेस्थयं १ रूवं ॥
तेभी वि इ वपपुठेवसंणिदो होइ सम्मजीवाणं ।
विदूठपपदूठा वि होइ सुवका व जीवाणं ॥
मरिपदइ बलखिप्पं रूवं भूताकदंवरं णारा ।
वीची व अद्धुवं जीरिम पि लोगम्मि जीवाणं ॥
हिमपिचओ विम गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणी ।
जस कित्ती वि अणिच्चा लोए संझब्भरागो व्व ॥
किह दा सत्रा कम्मवसगा सारदियमेहसरिसमिणं ।
ण मुणंति अममणिम्मं मरणमयपलहुत्थिमा संता २ ॥

Though we are not definite about the relative chronology of Kundakunda Sivarya and Vattakera, a comparative study of their exposition of Anupreksa is interesting These three authors form a trio in this respect and their works have a close kinship besides each having its individuality The twelve **Anuprekas** are enumerated by them in the same order and many ideas are common between them, Kundakunda addresses both monks and householders, while Sivarya and Vattakera have obviously the ascetic congregation in view These two show greater affinity with canonical texts. Kundakunda and Sivarya have mentioned fivefold Samsara and in that context the latter's text, as it is available seems to quote a few gathas from the former (B 26-7) (& BHa 1776 and 1778) One of the gathas of Sivarya No 1824 occurs in the **Pancastikaya** where Amrtacandra calls it Siddhantasutra, possibly ancient verse inherited in traditional memory Some gathas of Kundakunda have close resemblance with those of Sivarya (cf B 13 48, 49 & 67 respectively) with (Bha 1746— 1825-6 & 1847). Between Vattakera and Sivarya two verses are almost common (M 65 & 67 and Bha 1867 & 1870) both of them use the term **Logadhamma** (M 28 & Bha 1811) and there are some gathas which show a good deal of common ideas and expressions (cf M 17 26 27 31 32, 37 43 44 50 56 57 61 & 66 respectively with Bha 1789 1799 1802 3 1814 1815 1821 1837 1853 1851 1857 and 1869) Spe of the verses of Sivarya have somewhat similarity with a few gathas in the Marana-samahi (cf Bha 1776 1822, 1837 and 1870 with Mara 598, 618 621 and 634) These three texts, along with the section on Bhavanas in the Marna-samahi,, have formed the basic capital on which have grown the subsequent thoughts about Anupreksas.

FOOT-NOTES

1 K.K. Handiqui *Yasastilaka and Indian Culture* (Sholapur (1949) pp. 291 ff
2 These details are discussed in my introduction to the edition of the *Kattige-yanuppekkha* which is awaiting publication.
3 Satprabhrtadi-samgrahah, Manikacandra D J G 17 Bombay 1920 pp. 425 ff

4 A. N Upadhye *Pravacanasara* intro p 40, Bombay 1935

5 There is a v l माउ पिउ सयणसंबधसंबधो य पादी मि य अभिस्सा as in the Mulacara.

6. Ed. Manikacandra D J G 23 Bombay 1933

7 Ed. *Mularadhana* with the Sk. commentaries of Aparajita and Asadhara, the metrical paraphrase of Amitagati and a modern Hindi translation Sholapur 1935 also my Intro. to the *Brhat-kathakosa* Bombay 1943 Z Intro. pp.50 ff

8. For the stories of Vasantatilaka (1800) and Vimala (1806), see the *Brhat kathakosa* Bombay 1943 Tales Nos. 150 & 153

9 Compare *Nandisutra* verse No. 5

10 This illustration is fully explained in the *Kuvalayamala* sections 326-27 ed. by me, Bombay 1959

Bird's-Eye View of Jaina Metaphysics

Professor SATKARI MOOKERJEE M.A. Ph. D
Director Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda

The Jaina metaphysics is frankly pluralistic like that of the वैशेषिक There is much in common between the two schools and also pronounced differences on vital principles. One may find points of agreement in the metaphysical structure erected by the Jainas with several other schools. But it has a unique individuality of its own which is not swamped by its affinities with others. Among the seven ultimate principles तत्त्व's, there are only two categories which have antological status, *viz* जीव's-the conscious individuals and अजीव the unconscious principles of the physical world. The number of जीव s is infinite just it is found to be the case with सांख्य and न्याय वैशेषिक schools. The distinguishing character of जीव is consciousness which is a dynamic principle. Consciousness manifests itself in cognitive acts which are the natural transformations of it. There is here a vital difference from the सांख्य conception. Consciousness in सांख्य is held to be an unchanging principle and the different cognitive acts are accredited to unconscious बुद्धि (intelligence). If consciousness and बुद्धि be rolled into one, it will be the equivalent of the soul of the Jaina and भट्ट मीमांसक, as pointed out in the तत्त्व संग्रह[1] Like the वैशेषिक the Jaina holds that intelligence as an unconscious fact is a preposterous conception. Intelligence is inseparable from consciousness as its necessary function. The Jaina agam does not differentiate the metaphysical soul (आत्मन्) from the epistemic subject ज्ञाता as is done in सांख्य and monistic वेदान्त The epistemological subject as the knower is not ontologically different from the soul. This is also practically identical with the न्याय वैशेषिक conception but with the vital difference that consciousness is integral to the Jaina Soul whereas it is an accidental emergent in the latter

Though intrinsically the soul according to the Jaina is infinite consciousness bliss and power and freedom is its natural right it is found to be in bondage on account of influx (आस्रव) of foreign Karmic matter into the soul substance The association of the soul with *Karmic* matter is coeval with the former Historically the two are undated facts in mutual association existing from the eternal past. This is also not peculiar feature of Jaina thought but shared in common with all other schools which believe in an eternal soul or even a continuum of consciousness moments In Indian thought the soul is not a created event and even according to theists it runs parallel to God Here is the uncompromising difference of Indian metaphysics and religion with those of semitic creeds. The bodage of the soul is neither a matter of appearance nor of a purely physical character Of course the soul develops emo-

1 Op. Cit., Sl 245 and the Commentary

tional and conative dispositions enumerated as the four कषाय s (contaminations), *viz* anger (क्रोध) pride (मान) deceit (माया) and avarice (लोभ) and these tendencies constitute its bondage. But these necessarily attract karmic particles from outside and the soul is contaminated just as a piece of moist linen is soiled with dust. These psychical dispositions and the Karmic contaminations are induced by the accidental association with matter And because these are accidental overgrowths, they are liable to be eliminated by a course of ethico-spiritual discipline The complete elimination (निर्जरा) of foreign matter from the soul will restore it to its natural freedom and perfection. Perfection is innate and imperfection and unfreedom (बन्ध) are accidents though the latter are coeval with the soul from eternity The complete dissociation with Karmic matter automatically leads to the extinction of the base impulses and predispositions. And this is called मोक्ष

The Jaina prescribes a course of ascetic practice and discipline in order that the individual may arrest further degradation' (संवर) and get rid of the accumulated evil tendencies (निर्जरा) and impulses which are the legacy of his infinite past career The individual is responsible for his factual bondage (बंध) and also for his final emancipation (मोक्ष) There is no external force such as destiny or fatality which can be regarded as the cause of the misery of the soul. The dead weight of Karmic impulses accumulated from the undated past may to all appearance masquerade as the act of ineluctable destiny But this will be a mistake, the destiny being the creature of the individual concerned and it can be annulled by the individual s own efforts. Though from the religious point of view external matter is a hostile factor and the supreme spiritual interest of the individual soul lies in securing complete detachment and dissociation from the former and the highest perfection lies in the recovery of infinite knowledge bliss and power which are innate properties of the soul, the Jaina does not seek to minimise the importance of external matter by relegating it to the field of illusion or appearance, as is done by the idealists of the *Buddhistic* and the वैनयिक persuation The Jaina is a realist out and out Matter may be a stubborn enemy but it is there in all its strength and the best way to vanquish the enemy is to reckon with its powers and resources. The Jaina therefore has, like the वैशेषिक made an incisive study of the physical world. The method is no doubt speculative and not experimental by the modern scientific standard. The अजीव that is, non living matter is investigated and divided into a list of categories. These categories are ultimate material principles, of which four *viz* धर्म, अधर्म, आकाश and पुद्गल are called अस्तिकाय s that is extended bodies possessed of innumerable space-points (प्रदेश s), and the fifth is time (काल) which cannot be regarded as an extended body in terms of spatial dimension. Gross matter (*pudgal*) is of two kinds, *viz* atoms and aggregates consisting of atoms held together in various ways of permutation and combination. The Jainas have given an elaborate classification of these atoms and their ways of combination and dissociation. Though the atomism of the Jainas has great affinity with that of the वैशेषिक school there is a pronounced difference in that the atoms of the Jainas are homogeneous in character whereas in the वैशेषिक system they are put under classes different and naturally exclusive. The वैशेषिक believes

that there are four classes of atoms, *viz.*, those of earth water fire and air each forming a class with distinctive qualities and attributes. The atoms of Jaina metaphysics are all characterized by the same attribute *viz* colour taste touch and odour It is the diverse combinations of atoms in variant proportions which give rise to the multiplicity of the physical entities found in the world. Each atom is an indivisible unit of matter occupying space. But it is capable of coalescence with other atoms and thus forming a body which is the *raison detre of its appellation as* अस्तिकाय *Time, as we shall see,* is also atomic in dimension, being an indivisible temporal unit. But it is not capable of forming a conglomerate of time-units. It is therefore placed in a separate position and differentuated from the other categories which are extended bodies, potential or actual. Time is not an अस्तिकाय that is, an extended body Each unit of time is sharply detached from its fellows Herein lies its difference from space and other categories existing in space.

We have alluded to three cateogies or ultimate principles, *viz* the soul (जीव) matter (पुद्गल) and time (काल) in brief outline Now we propose to deal with two other categories, *viz.*, धर्म and अधर्म which are the peculiar tenets of Jaina metaphysics धर्म has got several meanings in Sanskrit literature. But in the present context it means a substance which makes movement possible Being coextensive with cosmic space (लोकाकाश) it cannot move. Movement presupposes disjunction from one space-point and conjunction with another But regarding what exists everywhere, the predication of movements is logically inconceivable and physically impossible. Things of limited magnitude have the capacity to move from one point to another in space. But this capacity will never materialize unless there is condition qua medium which makes movement feasible. It has been compared to the case of fish and water *The movement of fish is not movement of water but the existence of water* makes the movement of fish possible. It is a term untranslatable into English. It has been rendred by some as ether which is a concept of modern physics. But we have defined it and that makes it intelligible. In spite of the unavoidable incongruity it may be described in Aristotle's words as the unmoved mover of things. *Adharma* is just the antithetical concept. It is the condition of rest, that is, absence of movement. These two concepts are peculiar to this metaphysics It is clear that though motion and rest are unpredicable of these two principles, they are regarded as necessary conditions which facilitate the two acts,

Akasa is also not translatable. Without committing ourselves to the changing *connotation of the term, we tentatively render it as space. Its function is to provide* accommodation to all that exist. It is not a void and nothing, as the सौत्रान्तिकs conceive it. Space according to the latter school is nothing different from the occupant of space. In and by itself it is only an ideal abstraction. Such is also their view regarding time Time is not numerically different from what is regarded as temporal event. It is only an idea, purely subjective. But the Jaina like the वैशेषिक believes in objective space. There is however a peculiarity regarding space. Space is divided into cosmic space (लोकाकाश) and extra-cosmic space (अलोकाकाश). The former is what we are familiar with in our work-day life and

experience. The मीमांसक believes that space is visually perceivable. According to the वैशेषिक space is a matter of inference, which seems to be the position of the Jaina also. धर्म and अधर्म pervade cosmic space and do not exist outside its sphere. Extra-cosmic space is absolutely vacant, without any content. The admission of extra-cosmic space is most probably necessitated by the consideration that we cannot set a limit to the extension of space without positing it beyond the limit. As Kant has shown, the proposition there is no space beyond a limited sphere presupposes the existence of space beyond. This is also the case with time. We cannot conceive of a limit to time because it entails the postulation of it. But as we shall see time as a substance or substances is only posited to function in and within cosmic space. The *raison detre* of the conception of this limited time perhaps lies in the consideration that time is not understandable without reference to a movement. There is no movement beyond cosmic space and so time will only be an otiose concept outside the sphere of motion.

The Jaina believes in the objective existence of time. But time is not a unitary substance. The Jaina posits an indefinite number of time atoms spread over the entire gamut of cosmic space. There is no region in cosmic space which is not peopled with time—atoms. These time—atoms are static immobile entities arranged in close proximity to one another each occupying one space point. It is compared to a row of trees existing in close vicinity. A man may move on touching the trees successively one after another. But the trees do not move, but determine the order of movement. The successive motions are characterized as present, past and future. The tree that is being touched determines the presentness and the previous contact determines the pastness and the untouched one determines the futurity. Time is thus a necessary term of referene. As time units are spread over the entire cosmic space, no movement is possible without contact with time. In time itself the differences of past present and future are simply *non est*. This is time *par exellence* that is, the ontological time independent of and dissociated from moving things. Time is immobile by itself and the only function which it performs in and by itself is duration (वर्तना)[1] which conditions a thing to endure and preserve its existence in the midst of changes induced by its intrinsic nature and external condition[2]. Though things are bound to change from one state to another owing to their dynamic constitution, time is a necessary condition in which these transitions can take place. In this role, time is on a par with धर्म as the condition of motion, though both time and धर्म are immobile and static (निष्क्रिय)[3]. This holds of transcendental time (परमार्थकाल). But empirical time with which we are familiar in our experience as the condition of temporal changes *qua* past, present and future is determined by motion and is

---

1. सर्वार्थसिद्धि P 239
2. धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद् विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः Ibid. p. 291
3. तत्त्वार्थसूत्र V 7

indistinguishable from the latter The determination of time and things is reciprocal. A *thing is present by reference to the present time and the time is determined as present by* the action happening during it[1] It is therefore not illegitimate that things are characterized as past, present and future by reference to past, present and future time. These determinations of time are extrinsic and not predicable of the metaphysical time. It boils down to the proposition that metaphysical time as atomic entities distributed over cosmic space is only responsible for duree (वर्तना) and not the transitions from future to present, and present to past, because these latter determinations have pointed reference to motion. As a matter of fact, time divisions are reciprocally determined and one cannot be posited without reference to the rest, as has been shown by नागार्जुन[2] The metaphysical time is only the presupposition of empirical time and it therefore stands to reason that time, metaphysical and *empirical both, is an irrelevancy in extra-cosmic space* अलोकाकाश *where there is no* movement.

It is *undeniable that metaphysical time which is ex hypothesi* absolutely static and immobile cannot account for conventional time—determinations such as pastness, presentness and futurity and posteriority and priority because these characteristics are not fixed and permanent. Empirical time is susceptible of these characterizations. But empirical time is not one, but a multiplicity of moments each of which is succeeded by another Thus futurity is nothing but unrealized existence. It is only an anticipation of the present and is supplanted by the latter The past is only the defunct present Without these determinations time has no meaning in pragmatic use This pragmatic time has a pointed reference to action. It is for this reason time is calculated by reference to action which is also loosely regarded as the equivalent of time. There are thinkers who take action, that is motion, to be the time [3] This is however not endorsed by the Jaina Philosopher Action is symbolic of time and is understandable *only by reference to the latter It is true that in ordinary parlance action is made* the term of reference for temporal determination. One action determines another either as simultaneous or as prior or posterior E.g. "A comes when the cow is milked" Here it is not unusual to make one action the determinant of another But this usage is rather dictated by love of brevity The determining action is symptomatic of the time in which it occurs. The two acts happening together is a case of simultaneity which is not intelligible without the presupposition of time. This also holds of priority and posteriority Action cannot therefore be identical with time and as such cannot be used as its substitute except in a secondary sense.

---

1 अन्येन परिच्छिन्नोऽन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवह्रियते ।—Sarvarthasiddhi, p. 293.

2. अनपेक्ष्य पुनः सिद्धिर्नातीतं विद्यते ततः ।
प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च तस्मात्कालो न विद्यते ॥—मध्यमकारिका XIX. 3

3 क्रियामात्रमेव कालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेत् ...।—तत्त्वार्थवार्तिक, V 22 (26)

Moreover to erect action into the status of time will make havoc of time-determinations[1] For instance, an act of movemement is logically and psychologically dichotomized into past and future The area traversed points to the past action, and the untraversed space is the province of future movement. Between the traversed past and the untraversed future it is difficult to seize hold of what is present. A motion, as has been pointed out by नागार्जुन is divisible into past and future aspects and the present is indiscernible[2] But it is the present which is the dividing line between the past and the future—the area traversed and the area untraversed But this seeming paradox does not affect time The present is a felt fact without which the past and the future have no meaning. This shows that time as a metaphysical fact is to be posited over and above the empirical time symbolised by action. Of course the sceptic may find delight in denying time, but the denial itself is a temmporal incident However much the sceptic may confront us with his flourish of logic, he fails to gain our spontaneous consent. We are left unconvinced even if we find it difficult to defeat his arguments There is a ring of insincerity in the sophistry employed by the professional sceptic who may succeed in amusing the intellect but cannot persuade it to acquiesce in the negative conclusion.

It is the convension of almanac makers to make the motion of the sun and the moon the yardstick for time calculation. But this procedure is followed for the sake of convenience and not for the metaphysical reason that planatory motions are independent of time These motions are symbols and not substitutes of time The temporal determinations of motions as past, present and future are also not intelligible without reference to time standing at the back. Time again cannot be accounted for by space. Though Bergson asserts that determination of time by reference to space points is only a superstition and to spatialize time amounts to immobilizing what is dynamic by its nature, it is the convention, which is inevitable to measure time by space. Movement is not perceived apart from the moving body which moves in space and hence our calculation of time proceeds by measurement of space points But this necessary correlation of space and time in the act of measurement does not argue the superfluity of time. Space rather functions as the locus and not as the agent. Space is likened by Akalanka to a cooking vessel in which the grains are boiled[3] It is the heat which is the efficient cause of boiling, though the vessel is indispensable. Space is rather the background and not the determining principle of duration. similarly duration

---

1 यद्यतीतोऽनागतश्च प्रत्युत्पन्नमपेक्ष्य हि ।
कालोऽतीतोऽनागतश्च प्रत्युत्पन्ने भविष्यतः ॥
अनपेक्ष्य पुनः सिद्धिर्न चातु विद्यते तयो ।
तेमातीतोऽनागतश्च कालो नाम न विद्यते ॥—मध्यमकवृत्ति पृ 384

2. गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते ।
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥—मध्यमककारिका II. 1

3. तत्त्वार्थवार्तिक V 22 (8)

cannot be made the function of being (सत्ता)[1] Being is existence and so far as our intellectual understanding of it is taken into consideration the motion of existence is also not detachable from time. We understand even what is considered eternal in terms of time that is as existing in all the divisions of time. वेदान्तिन्स assert that being transcends time which is only relevant to acts and motions. So far as our ordinary understanding is taken into account, being is understood only in terms of time. Time is thus indispensable for our understanding of motion and temporal characterization of events in history as past, present and future.

Time is also indispensable for the explanation of change and evolution (परिणाम) Change presupposes continuance and emergence. A is said to change into A_1 A_2 etc. without forfeiting its character as A. A quantity of clay is made into vessels of various shapes, and the latter again change colour durability and tactual properties (softness, hardness and the like) by undergoing a process of desiccation in a furnace. A man struggles with the base impulses and passions in his moral progress. He feels that he is a slave to his passions in spite of inner protest. By undergoing a course of moral discipline, he acquires mastery over them and moral freedom *pro tanto* Intellectually also a man develops from an ignoramus to a knowledgeable person. He feels the change himself Physical changes are to a large extent induced by motions of the constituent particles. Mental change moral and intellectual, is not capable of explanation by arithmatical calculation like physical changes. Change is qualitative as well as quantitative. The former is not quite amenable to mathemetical measurement but has a standard of its own. Change in physical nature is both qualitative and quantitative. It may be explained by natural laws or by reference to the exertion of an intelligent person. Whatever may be the varieties and kinds in which change may manifest itself it is understandable only with reference to time. Change means cessation of one character and emergence of another when these events have reference to one identical entity[2] The entity must continue, that is to say preserve its identity in the midst of transition from one state to another The unbaked jar is black and becomes red or white when baked. The baked jar is not numerically different from the unbaked one. The qualities have changed, but they successively belong to the same substance[3] The सांख्य the मीमांसक the Jain and also philosophers of रामानुज school believe in the reality of change of qualities in an identical entity continuing throughout the transitions

The Budhists Fluxist makes change the point of departure and yet concludes by denying its possibility In the sermons of the Buddha as recorded in the पालि canon and also in the fragments of Sanskrit आगम we find insistent emphasis upon impermanence. The Buddha does not seem to admit any permanent category except निर्वाण But the सौत्रान्तिक Fluxist

---

1 Ibid., V 22.

2. तत्त्वार्थराजवार्तिक V 22 (10) द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः।
Also Yogabhasya, III. 13 अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।

3. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।—तत्त्वार्थसूत्र, V 30.

reduces impermanence to existence for a mathematical instant, that is, the infinitesimal division of time Though there is constant reference to time the Buddha has not expressed any opinion on the reality of time either as an infinite individual or a plurality of moments. The सौत्रान्तिक reduces time to indivisible moments and ultimately moments are identified with momentary things Time as an independent category is dismissed without slightest compunction These Buddhists are uncompromisingly opposed to the advocacy of change as defined above.

Change contends the Buddhist, is an irrational idea The seed is said to change into a sprout. But the two events are so unlike with one another that it is impossible to find any element of identity in them Qualitative and functionally the sprout is not the seed and *vice-versa* Does the seed persist in the sprout ? If it does there would be no sprout. If the seed does not continue into the sprout the latter cannot be regarded as the transformation of the former The two are as different from each other as the North Pole from the South. It is evident on examination that the seed has ceased and the sprout has come into being in its place[1] The relation is one of opposition like that between existence and non-existence The sprout supplants the seed and can by no means be considered to be an event superadded to the continuant seed substance. The preceding event ceases to be and the succeeding one emerges only by annulling the former It is not again supposable that the seed exists and also ceases to exist to make room for the sprout. The supposition of continuity of the predecessor into the successor in the face of the obvious cessation of the former and contrast of character is logically unintelligible The Buddhist therefore concludes that change is only an illusion. The causal relation between the two events necessarily presupposes the occurrence of two facts without any physical nexus. In other words change is only an appearance if it entails the supposition of the identity of the cause with the effect which is endorsed unthinkingly by the advocates of change

The objection recorded by the Buddhist is inspired by abstract logical considerations. Identity is believed to be antagonistic to change of qualities. The relation of substance and quality and so also of cause and effect cannot be explained by the abstract laws of logical thought. A is a A and cannot be not A seems to be an irrefutable proposition. Events occur staccato and because they are numerically different, they must be bereft of any continuity or identity This is however the estimation of *apriori* logical thought without regard to the character of events. We find a core of identity in the midst of difference of qualities. The baked vessel is red and the unbaked one is not red. But we are persuaded that the substance continues to be the same irrespective of the change of qualities. The sinner becomes a saint and we are not disturbed by the continuing identity of the person in spite of the difference in his moral character If events are to occur *staccato* it would be difficult to affiliate the succeeding event to the preceding one as its effect. Causal relation will be an idea. Of course, the idealist and the absolutist make this change of quality the ground of the

1 अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ।—न्यायसूत्र, IV 1 14

denial of causation also But so far as our theoretical and practical *assessment is concerned*, the absolutist's logic has very little effect on our thought. We believe in causality and in change as its indispensable characteristic It is idle to seek to refute or to confirm the absolutist's logical standpoint. The realists have also put forward their explanations which are worthy of serious consideration. The नैयायिक realist believes in occurrence of different qualities in the same substance and the change *of quality does not affect the identity of the* substance. The quality only inheres in the substance, and inherence is only a relation. The quality may pass away leaving the integrity and identity of the substance intact. The relational explanation of the नैयायिक has not appealed to the सांख्य the Jaina and the मीमांसक schools. They consider that the relation is one which is not capable of being assessed in *terms of exclusive identity and difference. The relation of the seed to the sprout and* conversely of the latter to the former is not amenable to the determination by identity and difference. Certainly the seed is not the same as its sprout. Nor are they detached facts like the seed and the jar The relation between the cause and the effect is *sui generis* It is altogether a different kind (जात्यन्तर) which cannot be subsumed under identity or difference. It is a third type in which the two *are found* as moments and yet not exhausted by them. If this is not admitted, one cannot explain why the barley shoot is to be afiliated to the barley seed and not to any other cereal. This shows that there is a determining relation between the cause and the effect. It is not promiscuous. The dismissal of causation and change as appearance does *not explain facts. However much the absolutist may attempt to explain away the* exclusive, detrminate and selective relations of facts he will not succeed in disabusing the common man of his notions Those notions have the advantage of standing the test of experiment which continuously confirms the unsophisticated man in the truth of his belief. The Jaina and *so* also the सांख्य have accepted the principle of अनेकान्त which avoids the scylla of scepticism and the Charybdis of undifferenced being, both of which alternatives are constantly disfirmed by individual and collective experience.

We have made a digression which has been necessitated by the sceptics's denial of time and change. If change cannot be dismissed as mere appearance time has to be accepted as the *ineluctable* explanation *of it. We now address* ourselves *to* the problem why time has been regarded in Digambara tradition as a multiplicity of units having however the same charactor and function differing only in respect of position in space. Almost all schools of philosophers are agreed on the point that time is responsible for our notions of *priority and posteriority and change and the temporal* determinations are but the different offshoots and corollaries of the notion of time. Now the emperical time is always understood in terms of priority and posteriority and by their very nature the latter are numerically different from one another The prior is not the posterior and the present, past and future *are not only different attributes, but mutually incompatible* in one substratum in the same relation So empirical time is a multiplicity of units each sharply detached from one another that is, what goes before and what comes next The idea of

one constant monolithic time is either an abstraction or a metaphysical presupposition dictated by the law of parsimony The Jaina philosopher is known for his implicit faith in the infallibility of normal experience and doubt and error are only exceptional aberrations. Taking the cue from the verdict of experience the Jaina posits metaphysical time also as a multiplicity of units corresponding to emperical judgment of time. Empirical times are distinct and different from one another and the metaphysical time also should be in congruence with the experienced time units. This seems to be the raison d'etre of the belief in manifold time in contradistinction to the वैशेषिक conception of metaphysical time as one unit. As a matter of epistemological explanation one monolithic unchanging time without intrinsic difference has very little bearing on the temporal characterization of events. The multiplicity of temporal determinations is to be explained by reference to the multiplicity of events occuring successively But the events per se are not regarded as the sufficient and self-contained cause of temporal determinations on account of their heterogeneous character The Jaina is also found to agree on this point Acts and events, though temporal in character cannot be the conditions of temporal judgment. For this they must have necessary refference to another fact which is called time.

वेङ्कटाचार्य is perhaps the only philosopher so far as our knowledge goes who has criticized in the तत्त्वमुक्ताकलाप and his commentary सर्वार्थसिद्धि the conception of atomic time units sponsored by the Jaina philosopher He affirms that the postulation of the multiplicity of time atoms is resorted to by the Jaina to explain the succession of motions. But this is a forlorn argument of despair[1] The multiple time units have no common character and yet they discharge the same functions. As we have also observed before, there is no intrinsic difference between one time atom and another either by way of function or essential nature. The difference is only accidental and external, constituted by their location in different space points. The felt unitary character of time is not capable of happy explanation when countered by numerical difference of the plural units without homogeneity of character If one Time is posited as undergoing perpetual change without abrogating its ontological unity this also can account for the successive transition of events occurring therein. In point of fact time is always changing into moments and the number of moments constitutes the conventional divisions of time as an hour day, fortnight, month, etc. If however time is not intrinsically amenable to change, no differentiation of time can possibly be effected by reference to external conditions. All these external facts have reference only to time as such and so cannot superimpose any difference on it. If however the differentiation is supposed to be due to the internal divisions of time the temporal divisions of events need not be determined by mere external reference The objection of the Buddhist that one unitary fact undergoing change would split up the identity into different units need not pose an

1 तत्त्वमुक्ताकलाप with सर्वार्थसिद्धि p. 149 (काशी 1900):

स्वन्तम्भविविदप्यय कालस्याणुत्वकल्पनम् ।
माध्यास्थानशीकानां दुराशामात्रमूर्च्छितम् ॥

insurmountable hurdle. It will be met by the same arguments as are resorted to for explain ing the occurrence of change in qualities and actions in one substance. This theory has apparently the *merit of reconciling unity with multiplicity* and also *satisfying* the law of parsimony

The problem of unity or plurality of time has been mooted by Siddhasenagani, the commentator of the तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य He quotes texts from the आगम which are responsible for difference of opinion concerning the problem whether time is an independent substance, one or many or only an attribute of the recognized five extensive substances (अस्तिकाय)[1] Time is prima facie not an extensive body and so is not included in the list of अस्तिकाय given in the तत्त्वार्थसूत्र V 1 & 2. The अस्तिकायs are also substances Now the aphorism "कालश्चेत्येके" (v 38) has been read differently in the श्वेताम्बर and the Digambara tradition. The reading adopted by Siddhasenagani with the supplementary expression इत्येके, that is, 'according to some sufficiently indicates the difference of opinion among the followers of Jain tradition Time is also another substance. Siddhasenagani quotes a text which apparently alleges that time has no existence apart from sentient and insentient substances [2] The prima facie import of this text seems quite clear in its indication that time as a substance is subsumed under the five extensives (अस्तिकायs). But another text is also quoted in which time is given as the sixth substance [3] There are also texts which speak of time as a series of atoms pervading the entire cosmic space [4] Both Digambara and श्वेताम्बर traditions seem to be agreed on the point that time *is an independent substance in addition to the five extensives (अस्तिकायs) though there is* difference of opinion regarding the issue whether time is one substance or a manifold of atoms. We have already explained the Digambara tradition at the outset Now सिद्धसेनगणि seems to strike a note of his own which gives a materially different version. He unmistak ably asserts that time is one substance having an infinite number of moments as its states *and not discrete atomic units like the scattered pearls of a necklace* [5] *The latter position is* evidently endorsed by the Digambara tradition. This one Time substance is constitutionally dynamic in the sense that it changes into moments by virtue of its intrinsic constitution like other substances. The Digambara tradition seems to be inspired by the modal standpoint (पर्यायार्थिकनय) in as much as it makes the moments emerge and perish without relation to any *underlying continuing substance* The text of *Siddhasenagani s commentary* as edited is not quite clear and free from ambiguity But the trend of the argument unmistak ably points to continuity of time in the midst of transitions. Even in the view which makes it

1 तत्त्वार्थभाष्य टीका Pt. 1 pp 430 & 432 also p 290

2. किमिदं भंते ! कालोत्ति पवुच्चति ? गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव ।—Ibid., p 432

3 कति णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा छ दव्वा पण्णत्ता तं जहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमये । Ibid p. 430.

4. सर्वार्थसिद्धि, p 313

5. तत्त्वार्थसूत्रभाष्यटीका, Pt. I p 432. स च परिणामो न पुनरेक एव विविक्तमुक्तावलीमणिवदविद्यमानपूर्वापरकोटिकक्षणानां समयोऽभ्युपेयते ।

a flowing stream, it must be recognized, in conformity with the fundamental position of Jaina metaphysics, that emergence and destruction are not possible without a parmanent basis. Again priority and posteriority have been given as the criteria of time But this interpretation is also based on the modal view of things. Priority and posteriority presuppose continuance A sexagenerian is posterior to a nonagenerian. But these have reference to continued existence The individuals exist for so long a time and the notions of priority and posteriority are understandable only with reference to existence and not time As for simultaneity it has reference to actions which happen to coincide at one moment. But these actions are also not different from the agents. So these criteria are not relevant to time Time regarded as modes can account for these notions. But as substance it is one and so these differential characterizations are not compatible with one unchanging time which is the view of वैशेषिक school. We encounter two views in Jaina canon, of which one makes time an attribute of the five extensive substances. But whichever view may be endorsed, time is not entirely a transitory mode, since a mode is not intelligible as absolutely different from a substance. So time must be regarded as a dynamic substance undergoing transitions without end. Even the moment is not different from one Time-substance. In other words time must be one and many-one qua substance and many qua transitional modes.

सिद्धसेनगणि contends that this is the correct interpretation of the character of time is made quite evident in the next aphorism *viz* 'सोऽनन्तसमयः" (TS V 39). Time is a dynamic (परिणामी) substance possessed of infinite moments as modes. The moment qua mode is an indivisible part of time and is real and not a mere idea as the Buddhists affirm. Time is duration and past, present and future are only its specific transformations Of these, the present is numerically one where as the past and future modes are each infinite. Time is dynamic because it changes into an infinite number of moments as its transitional states. The moment is devoid of temporal parts, but may be conceived as possessed of parts because it pervades the whole area of the world in which time is a ruling factor The parts of the space governed by it may be conceived as parts of the time Furthermore, it is the occasioning condition of the duration and change of things which are benefited by it, being helped to develop these charactristics. The role of time as benefactor must also vary with the benefits received by the beneficiaries. This implies that time is also undergoing a change in the performance of its causal functions. Besides, it is also dynamic as is chages by virtue of the attribute called अगुरुलघु (an untranslatable term literally 'neither heavy nor light)—an attribute which is liable to constant change and yet capable of preserving its identity Time in short is a continuant as well as an emergent mode. The mode is also a substance. It is regarded as impartible because it perishes immediately after its emergence. So the moment qua substance cannot have further substantial parts. But it may be considered as possessed of parts in respect of the area of space governed by it and also as an active principle (भाव[1]). Time as mode also is the cause of the present and the effect of the past and changes from

1 तत्त्वार्थभाष्यटीका p 434 'तद्भावेऽवेतनकर . ... भावो वेदकभावेऽपि, धर्मो भावश्च कारणं एव।

the present to the past and was also future before it entered into the present Accordingly even viewed as mode, it is possessed of a plurality of parts and as such is capable of being characterized as an अस्तिकाय It is of course devoid of parts in terms of time and substance.[1] For this reason it is not regarded as an अस्तिकाय Of course, time does not possess parts homogeneous with it existing together as other substances do. And the past and future modes are not coexistent and the present is only one indivisible unit (समय). This is perhaps the reason for its exclusion from the category of extensives. But even the indivisible time-unit, as has been shown above has extension over the area under its jurisdiction and the parts of the area covered are obviously understandable in terms of the parts of the time in the literal sense Consequently time is entitled to being characterized as an extensive substance (अस्तिकाय). Tradition however restricts the use of this notion to five substances, but this does not annul its extensity [2] Time should therefore be regarded as one and many eternal and non-eternal. This interpretation perfectly accords with the conception of substance as an entity possessed of qualities and modes. Time has duration as its unvariant attribute and the different transitions qua moments are its modes. The characterization of time as eternal or non-eternal in an exclusive reference is only the outcome of perverted approach and erroneous estimation (नयाभास). Siddhasenagani's exposition of time contains an implicit refutation of the Digambara tradition which lays down time as a number of static, discrete, detached and mutually exclusive atomic entities pervading the cosmic space. He differs also from the Digambara tradition in respect of time's sphere of jurisdiction. He definitely asserts that time as a governing principle has jurisdiction over a part of the cosmic space in which planetary movements are possible. *As a matter of pragmatic convention there is no epistemological* necessity for the postulation of time in a sphere from where planetary movement is ruled out.

The interpretation of time as propounded by Siddhasenagani saves it from its reduction to a subjective idea or a fiction Every existent must be possessed of triple character viz origination, cessation and continuance. To sum up, time according to Siddhasenagani is a unitary principle with an infinite plurality of parts qua moments which emerge into and pass *out of* existence in it (i.e time). So time is also seen to possess the triple character In other words it is a changing continuant. It is quite apparent that वैक्रराचार्य was only acquainted with the Digambara tradition and not the श्वेताम्बर conception as elaborately worked out by Siddhasena, which rather agrees with the view of time sponsored by him.

Let us examine the recognised अस्तिकाय as to whether they satisfy the definition of existents and substances Now धर्म which is postulated as the necessary medium of motion and अधर्म as that of rest, that is motionlessness are given out as existent facts, substances and अस्तिकाय (extensives) at that. *Now* धर्म *is itself* bereft of motion, being one individual

1 वर्तमानसमयपरिणामिकालस्यातीतसमयकाय वर्तमानावस्थामनुभूय पूर्वपर्यायमनुभविष्यति, प्रागवर्तमानत्वात्स्य सत्स्यन्तीत्येकैकसमयस्य प्रभवो मत प्रदेशानपवादुत्वात् कायस्यप्रदेशपोऽपि Ibid.

2. न चैवमवाऽस्यास्तिकायताऽऽहोतु शक्या ।—Ibid.

entity and pervading the whole cosmic space. It is not an entity of limited dimension which only can move. Movement means that a thing detaches itself from a previous point of space and attaches itself to another point of space. Movement thus consists of a two fold process—one negative and the other positive respectively disjunction and conjuction. But there can possibly be no such movement predicable of a substance which exists everywhere as a fait accompli. Bereft of movement, it is to all appearance reduced to a static unchanging fact. But an unchanging entity is indistinguishable from a non-entity धर्म is an individual existing from eternity to eternity and has no attributes and qualities which can be liable to change. Thus is also the case with अधर्म and आकाश There are immobile substances without any intrinsic quality or mode susceptible to change. Hence it lacks the two determinants of existence, viz. origin and decay., In one word they are unchanging eternal facts—a conception which is repugnant to the fundamental concept of Jaina metaphysics In Jaina ontology change, as defined before, is the essential character of things Change and existence are conterminous and logically convertible If the three subtances धर्म अधर्म and आकाश be static unchanging facts (कूटस्थ) they must be dismissed as downright fictions.

The objection raised is pertinent to the fundamental postulate of Jaina metaphysics. Change is undoubtedly integral to a substance. धर्म and अधर्म are acknowledged substances. Accordingly they must be susceptible to change, actual and not merely hypothetical These substances are bereft of movement without doubt. But movement is not the only way of change. There is another way viz becoming, which consists repectively in the emergence and disappearance of new and old attributes धर्म is the condition of motion. But for it things could not move. Movement entails disjuction and conjuction These attributes have a definite origin and a definite end in time In other words, they originate and perish. Of course, movement and by implication origination and cessation, are primarily predicable of moving things But conjunction necessarily relates to two terms, viz. (1) the point of space and (2) the agent in contest with it This also holds good of disjunction mutatis mutandis. Accordingly with every movement there is a change not only in the thing moving but also in the apparently passive medium. There is conceivably no moment in which movement does not take place As regards rest it is nothing but cessation of movement which has been stated as the connotation of rest by Panini[1] धर्म and अधर्म are two substances which interpenetrate each other and are constantly undergoing change of attributes caused by things in motion and things at rest At any rate, every act of movement implies rest, by virtue of the fact that it exists and endures, however short may be the span of time Of course, it may be contended that these changing attributes are derived from external facts connected with the substances under review They are not intrinsically and constitutionally determined by the nature of the substance. But change of attributes, whether intrinsically or extrinsically determined, is an undeniable incident occurring in these substances. *Furthermore* every substance has the attribute called अगुरुलघु which is integral to it and which is liable to variant

1 ष्ठा गतिनिवृत्तौ ।—अष्टाध्यायी धातुपाठ

degrees of change from decrease to the minimal point to increase to the maximum. This intrinsic attribute is posited of all substances on the authority of scriptural statement. Now what has been said of धर्म and अधर्म is applicable to आकाश Its function is to give accomodation to things which is constantly changing with the things receiving accomodation. धर्म and अधर्म respectively make motion and rest possible But the things either in motion or at rest must have supporting bases for their existenc So the definition of existence as change is aptly applicable to these apparently static substances As regards individual जीव्s that is sentient beings and particles of matter either in their discrete or concrete condition are always in movement and so constantly undergoing change They are also changing their modes in and by themselves. So no difficulty has been raised in respect of these substances. All these substances are thus found to satisfy the fundamental condition of existence. They are regarded as substances because they are possessed of qualities and modes. A quality is distinguished from a mode by reason of its contancy whereas a mode is *ex hypothesi* inconstant. A quality also as identical with the substance in which it occurs is not an absolutely static fact, and hence is an existential characteristic of it

We now propose to deal with the metaphysical architectonic of Jaina philosophy and compare and contrast it with that of the वैशेषिक school which is justifiably regarded as the paragon of realism. The वैशेषिक posits six intitative categories viz. substance Quality action, universals, ultimate differentia and inherence (समवाय) plus non being (अभाव) as a negative category added later on. They are all objective reals and exist independently of a thinking mind An act of cognition or thought is rather an external incident which does not spell any change of character in the thing cognized or thought of Substance again is divided into nine types viz. the five elements—earth, water fire air and आकाश and time direction soul and mind. Now of the six वैशेषिक categories the first three are accepted by the Jainas subject to necessary qualification dictated by the fundamental conceptions of Jaina ontology According to the Jaina a real is a changing constant with origination cessation and continuance as the necessary concomitant elements This conception of reality is in agreement with that of the सांख्य school so far as material existent is concerned. The सांख्य however derives the whole gamut of psycho-physical reality from one dynamic principle called प्रकृति by following the logic of अनेकान्त (non-determinism). The Jaina applies this logic to all existents, spiritual and material alike without however seeking to affiliate them to one fundamental real as the pricks. The Jaina is a pluralist like the वैशेषिक The difference of the ontological assessment as propounded by the Jaina from that of the वैशेषिक lies in the application of non-deterministic logic to each and every category The general conception of substance as the substratum of quality and action endorsed by the Jaina is apparently in conformity with the वैशेषिक position with the difference that quality and action are regarded as natural evolutes of substance, whereas the वैशेषिक holds them to be fundamental reals, though necessarily connected with and dependent upon substance for their existence and manifestation. A quality and action cannot exist independently of substance though they

are numerically different. Substance is not action or quality and vice versa. Substance is the material cause (समवायी-कारण) of them and as such the former can exist independently of the latter which are its effects and inhere in the former (viz. substance) The Jaina does not believe in the production of an effect which is numerically and ontologically different from the cause The Jaina theory of causation in spite of apparent repudiation of the सांख्य theory of सत्कार्यवाद, is not different from the latter There is only a terminological difference between the two schools The Jaina asserts that the effect is neither absolutely different nor absolutely indentical with the cause The effect is therefore not pre-existent in the cause in its finished form, but exists as identical with the causal substance But this is also the position of the सांख्य as the relation between the cause and the effect is not held to be one of absolute identity The two are identical qua common stuff but there is a differentiation of mode, viz. shape size colour causal efficiency etc. This difference in the causal theory entails a fundamental difference in assessment of the relation of the first three वैशेषिक categories Quality and action, according to the Jaina, are neither absolutely different from nor absolutely identical with the substance The substance develops quality or action in and from itself. The quality is nothing but the substance transformed into a substance vested with the quality or action Barring this difference of outlook and of consequential assessment of the ontological status, the first three categories are endorsed in common by the वैशेषिक and Jaina metaphysics

There are of course minor differences regarding the number of substances and qualities The fourth category is the universal or the सामान्य The वैशेषिक posits universals as independent reals. Even universal is an individual unit which is however manifested in the different members of a class and is the raison-detre of the indefinite number of individuals being placed under one class. The Jaina has his difference from this conception The universal is not independent of the individuals. Each individual develops a common character which is however numerically different from the universal developed in the other individuals belonging to the same class. The universal is not unitive but is as descrete as the individuals in which it occurs. In other words the individual is the universal and there is no common unitive principle underlying the members of the class Though the universal cowhood is not numerically indenticall in two or more cows, the latter are capable of classification on account of their similarity This similarity serves as the universal qua a connective principle. The universal however is as individualistic as the individual in which it occurs and as such there is no common numerically identical universal In this conception of individualistic universals numerically different in different individuals, the Jaina philosopher is in fundamental agreement with धर्मकीर्ति

As regards ultimate differentia (विशेष) which the peculiar concept of the वैशेषिक school, the Jaina dismisses it as a superfluity in common with the other opponents of the वैशेषिक theory Composite bodies are differentiated from one another by virtue of class-character (universal) or quality or action. But simple entities like atoms, emancipated souls आकाश दिक्

(directions) and transcendental time are capable of being distinguished from other beings by virtue of respective ultimate differentia. An earthy atom in the free state is not distinguishable from another such atom because their attributes, universal quality etc. are not intrinsically different. But each atom is numerically distinct entity and as such must have a distinctive character of its own. What constitutes this distinctive character ? Entities are distinguished only by reason of uncommon different attributes possessed by each. When other attributes are common for example, earthy atoms possess the same universal earthiness' same or similar quality—their difference cannot be constituted by these common attributes. But since the substances are numerically different they must each have a different character constituted by a different attribute. This ultimate differential attribute is called विशेष (ultimate differentia). This विशेष numerically differs with the individuals to which it belongs. But what again differentiates these विशेषs from one another ? They are not made distinct on account of another differentia but per se. A विशेष distinguishes itself and also the substance to which it belongs. Not only this, a विशेष distinguishes also the attributes possessed by each substance. For instance, the odour of one earth atom is different from that of another and by themselves they are not distinguishable, since there is no qualitative difference between them. They are distinguished, however because they belong to different substances which are distinguished by their respective ultimate differentia Substances are not capable of self diffrentiation, and so also the qualities. It is for this reason they stand in need of a differentiating property And this distinguishing property is called the ultimate differentia of substances

The Jaina regards this conception as a superfluity If the ultimate differentia can distinguish itself why should not other entities be able to distinguish themselves. Each thing has a distinctive individuality of its own (स्वरूप) That will distinguish it. In fact, numerical difference of things is an unanalysable fact which is not necessarilly constituted by the difference of attributes The attributes themselves if not self distinguishing must require another and there will be no end of the series of distinguishing attributes unless the ultimate one is self distinguishing. Each individual must be self distinctive (स्वलक्षण) Otherwise it will not be an individual, and the difference will only be an appearance which is the position of monistic वेदान्त Each thing has its own distinctive individuality Udayana, in the आत्मतत्त्वविवेक speaks of स्वरूपभेद which means that the numerical difference of a thing is constituted by its own identity The identity of one is not the identity of another This veiw was propounded by धर्मकीर्ति The Jaina endorses this view and by means of it dispenses with विशेष as an ultimate category

As regards समवाय the Jaina subsumes it under identity in-difference (भेदाभेद) or rather a category which comprehends these two as moments and yet transcends them. The relation between quality and substance, individual and universal part and whole, etc is understandable as one which is neither difference nor identity but both held together by a kind of relation which is sui generis[1]

1 For an elaborate treatment and criticism of समवाय from the Jaina standpoint the reader is referred to the chapter on Relations in **The Jaina Philosophy of Non-Absolutism** by the author

As regards non being (अभाव) the Jaina dismisses it as a fiction Absolute non-being is logically inconceivable It is rather a consequential deduction from the distinctive individuality of facts.

As regards the number of substances and qualities the Jaina does not go the whole way with the वैशेषिक For instance the Jaina conception of आकाश is different from that of the वैशेषिक आकाश is not the causa materialis of sound nor is sound a quality Sound according to the Jaina is a material substance. And as regards दिक् he subsumes it under आकाश Many of the qualities are rejected or subsumed under different heads As regards action which is nothing but motion, the five different varieties are shown to be a dogmatic elaboration without any logical necessity In this way, one may find difference and agreement in respect of many categories and subcategories and the Jaina philosophical works abound in these speculations. Though one may find points of pronounced divergence and agreement of Jaina metaphysics with those of other schools, it will not be a fair attitude to deny it an individuality of its own. Agreement does not necessarily mean uncritical ecclecticism. It is a fact that the systematization of Jain logic metaphysics and epistemology was made by Jaina philosophers after the systems of Indian philosophy Brahmanical and Buddhist, had been put into shape. It is therefore quite reasonable and natural that the Jaina philosophers should have derived much benefit from the previous speculations and what reflects credit on them is that they have evolved a comprehensive system of philosophy in all its branches in conformity with the fundamental tenets of the Jaina canonical tradition The germs of अनेकान्त are unmistakably discernible in the आगम and the different conceptions of the metaphysical categories were also adumbrated in outline by the गणधर who handed down the Jaina tradition. Considera tion of space does not permit me to go into details and I therefore content myself with chalking out an outline with emphasis upon controversial problems. An elaborate study of Jaina metaphisics will not be an unrewarding undertaking for a scholar

The Contributions of French and German Scholars to Jaina Studies

DILIPKUMAR BANERJEE, M.A., B L. (Cal.) M A (Patna) M A (B U)
Pali Acharya

The European Scholars have made Signal contributions to Indology in all its branches Since the time India came in contact with the west, the European Scholars specially the French and German have been taking active interest in the history and culture of India

The discovery of the literary merits of the Sanskrit language by Sir William Jones, was a land-mark in the history of Indological research as it opened up to the Western Scholars a new and vast field of research hitherto unexplored. The French and German Scholars began to make a Scientific Study of the Sanskrit language and by their patient researches laid the foundations of the Science of comparative philology

Of all the Western Scholars the names of the French and German Lavants stand out prominently as having made the most outstanding contribution to Indian studies in all its varied branches.

They have applied themselves assiduously to the critical Study of Sanskrit and the Sanskritic languages since the beginning of the 19th century They studied these not only for the intrinsic literary merit of the language itself but for the vast amount of historical philological and Philosophical materials that lie embedded in them.

It is due to these Scholars that some of the forgotten chapters in the chequered annals of our land have been brought to light and considerable light has been thrown on some of the most Important problems of Indian history

In the present article we shall try to asses the contributions made by French and German Scholars to Jaina Studies. Early in the 19th Century the French and German Scholars were attracted towards Jainism, and began to make a specialised study of its literature and philosophy Some of the German Scholars devoted their whole lives to the study of Jainology and trained a batch of Scholars who faithfully carried out researches in its various fields.

The first to open up the rich treasures of the Jaina literature was G Buhler a German Scholar to whom the world is indebted for bringing Jainism and its literature within the field of study of the European Scholars The first comprehensive and epoch making accounts of the literature of the Jainas was written by ALBRESHT WEBER who made a thorough and exhaustive study of the Jaina manuscripts.

The literature of the Jainas is very important from the point of view of the history of Indian languages : for the Jains always took care to make their writings accessible to the large masses of the people. Hence the canonical writings and the earliest commentaries are written in the अर्धमागधी प्राकृत and महाराष्ट्री dialects. Sanskrit came to be the vehicle of expression at a comparative late period.

Some Scholars with a penchant for philology made a special study of these Prakrits and threw considerable light on the development of the Indian vernaculars. Of these R. Pischel, in his Grammatik der Prakrit-Sprachen (Grammer of the Prakrit language) has for the first time made systematic study of the Prakrit grammer

The collective term given by the Jainas to their Sacred books is सिद्धान्त or आगम Both the Swetambera and the Digambara Sects are unanimous in calling the twelve अंगs i.e. limbs, the most important parts of their canons. The सिद्धान्त of the Svetambara consists of the following texts.

I The Eleven अंगs

II The Twelve उवंगs (उपांगs)

III The Ten पइण्णाs (प्रकीर्णs) the scattered texts

IV The six ched-Suttar (छेद सुत्त)

V Individual texts (Nandi & Anuyogadwara) नन्दी और अनुयोग द्वार

VI The four मूलसुत्त.

The German Scholars have critically edited most of the important texts. Of course the lists of the texts have been differently stated by different writers. Schubring, in his Work Mahavira gives a different list. Selected passages from the canonical texts have been translated by Schubring. The first सुत्त आचारंग has been translated by H Jacobi. Schubring in his edition and translation of the first Section the Bambhaceraum (Rules for the holy life) has made an attempt to separate "the mosaic portions of the work, metrical and prose *passages and to throw light on the very entangled assortment of texts*"[1] with much ingeniousness.

The sixth Anga called Naya Dhammakahoo which means "Examples and Religious narratives" had been edited with its commentary by W Hutteman Die Jnata Erzalungen im Seckstén Anga des Kanons des Jinishen" (The Jnata stories in the 6th Anga of the Jaina canon)

Most of these narratives are in the nature of parables and illustrate some point of morality or other As examples of folk literature they are highly interesting. E. Leumann, has compared some parables with some of the Biblical parables. H. V Glasenapp has shown in his study of the twelth Anga the दिट्ठिवाय (Doctrine of various views) that the Karmic tales of the Jaina literature owe their genesis to this book

Die lehre om karman in der Philosophie der Jaios nach den karmagranthas darge tellt

1 Winternitz History of Indian Literature Vol II

(The doctrine of Karman in Jaina Philosophy as represented by the karmagranthas.)

The first Upanga the Uvavaiya (उववाय) has been translated with notes by E. Leumann- Das औपपातिक Sutra, Erstes उपांग der Jaina JIEIL

As a piece of literary work the Second Upanga, the रायपसेनिय is of greater importance. It is has been edited by Leumann

The fifth sixth and seventh उपांग are "Scientific works, dealing with astronomy geography cosmology and the division of time

The Sixth called Jambu diva Pannatti deals with the mythical Geography of the Jainas and has been edited by W Kirfel Kosmographic der inder" (Cosmography of India The Kalpasutra is a work dealing with the rules and regulations of the monks It has been translated with a glossary W Schubring

The German Scholars have also made remarkable contributions to the non-canonical literature of the Jainas. G Buhler has published a work Uber das leben des Jaina Mon ches Hemachandra —(on the life of the Jaina monk Hemachandra, also known as Hemacharya). He was a celebrated scholar and one of the most versatile and prolific of writers and famous both as a scholar and as a poet.

The linguistic aspect of the Jaina Literature was also not neglected by the German scholars, and some of them made a special study of the Jaina literature from the philologi cal standpoint, Hermann Jacobi—a famous German scholar and acknowledged authority on Jainology wrote Uber das प्राकृत in der Erzalungs Litteratur der Jainas"—(on the प्राकृत in the narrative literature of the Jainas) a standard treatise on the development of Prakrit and the Indian vernaculars.

The next branch of the Jaina Literature which received the close attention of the German scholars is the vast commentarial literature called निरयुक्ति चूर्णि and भाष्य. The value of all these commentaries, remarks Dr Winternitz lies in their serving as depository of very many ancient historical or semi-historical traditions on the one hand and of a great mass of popular themes on the other' These stories like the Buddhist Jatakas were intended to be used for edificatory purposes and give a cross section of the folk culture of the period.

The most interesting tales from these commentaries have been published by H Jacobi, Ausgewahete Erzahlungen in maharastri (Selected narratives in महाराष्ट्री)

The Jainas appropriated and adopted from other sources notably Brahmanical materials which they adapted to their own needs. For instance the Jaina authors incorporated the Krsna cult into their religion at a very early period and consequently also interwove the the krsna legend with their own treasury of legends. A Jinistic version of the destruction of the city of द्वारावती and the death of Krsna. In the commentary of the Uttarajjhayana Sutta is found the ancient legend of the descent of Ganga and the destruction of the Sixty thou sand sons of Sagara —as has been pointed out by R Fick Eine Jainistiche Bearbeitung der Sagara Sage—(A Jain adaptation of the Sagara Sage)

The Paceeka Budha Stories of this coll-ction show point of contact with Buddhist literature as has been demonstrated by Charpentier (Paceekabuddha G-schichten Paceeka Buddha Histories)

Next in order come the biographies of the 63 "Great Men that is to say of the 24 तीर्थंकरs and their contemporaries, the 12 Chakravartins and the 27 heroes of antiquity which constitute the the most popular stories among the Jainas. These works are called पुराण by the Digambaras while the Svetambaras designate them as Caritras. H V Glasenapp has given a comprehensive account of these Caritras and determined their correct position.

The earliest religious novel (धर्मकथा) was तरंगवती by पादलिप्तसूरि It was translated into German by E. Leumann. "Die Nonne" (The nun) and several other kathas have been translated by the German scholars, the most notable being Indische Novellen (Indian Novel) by Charlotte he. Krausse

Thus the German Scholars have rendered yeoman s service to the cause of Jainalogy and their contributions to the Jaina folk literature can not be over-estimated. It is owing to the patient researches of these scholars that a vast amount of historical and literary materials have been recovered from the scattered tales of Jaina narrative literature.

After the German Scholars, mention may be made of the French Scholars. Although the amount of work done is this particular field by the French Scholars is not so vast as that done by the German Scholars, still their contribution is by no means negligible

The first French Scholar who made some remarkable contribution to Jaina studies is A Guerinot—Essai de Bibliographe Jaina—(Essay on Jaina Bibliography) It contains refe rences to 852 publications dealing with various Jaina subjects. This was followed by the publication of two other important works —Notes de Bibliographie Jaina (Notes on Jaina Bibliography) and Quelques collections de livres Jaina (Some collections of Jaina Books)

L. de Millone published an important Catalogue of the Jaina antiquities in the Musee Guimet Paris-Peteit guide illustre an musee Guimet (small illustrated guide to the Guimet Museum)

A Guerinot in his Religion Jainas —has given a valuable introduction to Jainism and its various sects. The French Scholars were specially interested in the historical and archaeological aspects of Jainism and produced some notable works on the same. D Menant—in his Perlinage aux temples Jainas du Girnar—(Pilgrimage to the Jaina temples of Girnar)—has described the most important Jaina temples. Jourean Dubreil in his-Archeologie du Sud de L Inde—(archaeology of South India) has discussed general important problems of Jaina archaeology A Guerinot in his Repertoire d' Epigraphie Jaina Precede d' ure esquitsede l histoire en Jainism (Catalogue of Jaina Epigraphy preceded by a short sketch of the history of Jainism) has published all the available inscriptions on Jainism with historical notes

Mas on Oursel-in his Esquisse d ure Histoire de la philosophie Indienne (Sketch f the history of Indian Philosophy) has dealt with the philosophical aspect of Jainism. Thus we see that the German and French Scholars have made signal contributions to Jaina studies and have made u all indebted to them f their painstaking research in the different fields of Jainism and thereby opened a ast field of research for the f ture Jainalog sts of our co—try

Jama Art Through The Ages

ADRIS BANERJEE

A. Plastic Art.

Ancient art to me is not just art, it is history and social science, psychology and human nature, even gossip with leanings towards sexology if I am permitted that liberty It is a great storehouse of informations about *social customs, dress manners, religious beliefs lapidary s art, architecture* flora and fauna.

More than that, the object of all ancient arts is to create aesthetics. No human invention is capable of doing that unless it is an original creation That is the artist, the creator has undergone extreme emotional experiences. It follows therefore that all those creations of Indian art which we call great, are therefore the outcome of typical outbursts of intense emotion and inspiration But this is exactly however the paradox of the situation. The bulk of the specimens of Indian art are religious and as such at the very beginning we have to make two great divisions—rilligious and lay *Unfortunately due to the series of visitations of loot, rapine,* sack and *plunder our great* cities were left in *ruins*, with very little opportunities for us. Nevertheless, here and there, at unexpected corners we meet with undoubted specimens which cannot be called religious. The head of the Indian warrior now in National Museum, the polished head fragment of an eye with loops of hair coiled on the foreheads found at Sarnath the heads of मथुरा can by no stretch of imagination be called religious, yet therein lies a paradox again because the dividing line between religious and lay art in India is very indistinct. The railing of Bharhut, balusters at साँची Jagayapatta अमरावती *Bhattiprolu Bodh Gaya, & Nagarjunikonda contain secular subjects, a religious* art leaning heavily on the contemporary phenomenon to inspire to create and to endow

Not even the common incidents of life are neglected to enrich the church art The keen edges of intellectualism were blunted by the humanity of approach and methods So long it has been argued that this was only the case with the early Buddhist art but down we go through the ages—this fundamental characteristic is never lost sight of In the caves of Udayagiri and Khandagiri, in Junagarh chaitya windows we find ample proofs of this. As a religious art, the Jaina *plastic activity did not concern itself* with the perishable objects of this impermanent world or the materialistic world of nature, nor the passing moods of humanity nor even definite types of human life but endeavoured to reveal symbolically the significance of human life and its ultimate destiny Therefore along with Jung we may feel that it had an archetype whose aim was to educate and unify the society through generic emotion, feeling, sentiments, and ideal to fulfil its destiny Whether therefore, it be the

crudness of primitivity or the sporting Appolo of Greece or the महायोगी of Indian art the objective was the same.

With the progress of civilization not merely animals which were originally tribal totems but also local heroes, fairies personal fetishes endowed by popular imagination with godhood or sanctity formed various archetypes of a great religious art. These archetypes were also liable to be modified in the social philosophical ethnic, economic and political cycles. Each religion would give a new definition to these symbols which were their common heritage The establishment and clarification of the grammar of these symbols, will enable us to establish the character and scope of a sectarian art, even if its style, idioms and syntax happen to be the part and parcel of a national style

The singularity of Jaina church art lies in the fact, that his art was not a personal destiny but a collective way of thinking and devotion. The remote antiquity in which it originated and the ages during which it underwent transformations to acquire the values we now put on them, were certainly not peaceful but there was ambition and hope and deep-rooted faith in attaining salvation by following the way indicated by the तीर्थंकर Whether we look to the misty dawn of its history in the chalcolithic age or to Mathura of the Northern Kshatrapas, we are struck by a deep piety serenity and economy of plastic expressions, notwithstanding the turbulent times through which the church and its art was passing, the calm dispassionate devotion for salvation from the travails of this materialistic world, when passions were high and times anarchic. Add to this a catholicity of taste, notwithstanding the admitted puritanical austerity of the church which enabled the artists to borrow motifs and ideas from the existing world and one appreciates the true character of Jaina art. Neither in architecture nor in sculpture nor in painting, Jaina church was provincial or sectarian but it depended on national aesthetic perception and experience to express itself We will first therefore take up sculpture, then architecture of the Jaina church throughout the ages.

Whatever might have been their values, certain Jaina icono-plastic forms are met with in the chalcolithic art of the हरप्पा culture[1] First of these is Yoga on which Jainism is based पाणिनि and पतञ्जलि mention Yoga The so called पाशुपत seal, seal No 303 of हरप्पा, depicts Yogic आसन.[2] The कायोत्सर्ग attitude with आजानु-लम्बित बाहु द्वयम् is found on seal Nos. 300, 317 318 found at Harappa.[3] The Jaina art depicts its तीर्थंकर in two ways when seated in समवसरण or when standing in कायोत्सर्ग In the seals found at Harappa going back to millenniums before the birth of Christ, we meet with the same representation along with other strange gods saints or divinities. The evidence is supported at Mohenjodaro

1 The whole question has been dealt with in great detail in my Origins of Jaina practices-Journal of Oriental Institute, Baroda. Vol. I, No 4 pp. 308 ff.

2 Memoirs of Archaeological Survey of India No 31 M S Vats-Harappa, Vol. I. pp. 129-130 pl xciii

3 Ibid, pp. 331 32. pl. xciii.

too[1] Nudity (दिगम्बरत्व) seems to have been one of the principal traits of the chalcolithic culture of Pakistan. It is noticeable in seal nos. 307—8 317 18 of हड़प्पा and figures 13 14 18-19 of Mohenjodaro

The origins of a Jina image is still a matter of controversy but we have objective evidence to show that in the time of the Nandas as well as in Post Mauryan period images of Jainas were known. Thus in the हाथीगुम्फा inscription of the Kalinga emperor खारवेल we are informed And he sets up (the image) the Jina of Kalinga which had been taken away by king Nanda [2]

Dr A P Banerjee Sastri brought to our notice certain fragments of well polished sculp tures found in Lohanipur Ward of Patna Municipality and now kept in the Patna Museum These lowlying area now raised seem to have formed a part of the ancient city of पाटलिपुत्र These consist of two nude torsos not dissimilar to those found at (हड़प्पा). Dr Banerjee-sastri took them to be images of Jaina तीर्थंकर The material is buff sandstone of चुनार Later on some heads were also recovered.[3]

Orissan Incident.

The twin hills of Udayagiri and Kandagiri near भुवनेश्वर in Puri district were exploited since very early times, for founding Jaina monastic establishments Altogether there are 35 excavations amongst which गणेश गुम्फा हाथीगुम्फा the मञ्चपुरी अनन्तगुम्फा etc. are the principal ones. The dates range from 161 B. C. to 50 B C The Ananta has standing गज-लक्ष्मी three headed hydra etc. The रानी and गणेशगुम्फा are both double storied with friezes interrupted by doorways of cells in both the stories. The scenes include hunting of a winged deer fighting scenes, kidnapping a woman etc. The late Sir John Marshall was of opinion that the sculptures of these caves were coarse and crude [4] A great deal of this impression is due to the nature of of the sandstone The style in both the stories of रानीगुम्फा are different. The upper group is comparatively well organised were the interrelations between the spatial units have been well controlled and the movements of the figures are free and vigorous. While the others lack cohesion and unity Nevertheless, the success obtained in representing the plastic form and spatial organisation is undoubtedly convincing and shows a progressive quality from the days of Bharhut. They are remarkable for significant forms and yet are not the specimens of primitive art.

Attempts have been made from time to time to identify the scenes depicted in रानीगुम्फा and गणेशगुम्फा.[5] Thus scene 2 of रानीगुम्फा has been identified with the immortal भास s वासवदत्ता

---

1 Vats-op. cit. Vol. I p. 28 Marshall-Mohenjod ro and Indus Valley Civilization Vol. I pl. xii figs. 13-14 18-19 & --

2 Epigraphica Indica Vol xx pp 80 & 88 Line 12

3 J B O R S Vol. xxvi pp. 1 0 ff & plate
In this connection see also A K Bhattacharya s Article p —

4 *Cambridge History of India* vol 1 p 640

5 R. Mitra : *Antiquities of Orissa* pl 7 R D Banerjee *History of Orissa* vol. 1 etc

and Udayana legends, which is met with in Jaina Buddhist and Hindu traditions. The second scene in the गणेशगुम्फा is probably the flight of the couple to their capital while scene 5 of the same cave represent the शकुन्तला story [1]

शक-कुषाण Period

From the eastern seaboard we have to make a long journey to the शूरसेन country and its capital मथुरा to meet the next known stage of the Jaina plastic activity because, the evidence furnished regarding the flourishing condition of Jainism in Northern India available from the disjecta membra and images of one single site at मथुरा is indeed immense. Fortunately most of them bear records and can be objectively dated. Nonetheless, the more important contribution is the material they supply for evaluating th- icono-plastic art of the Jainas, *when alien शकस and कुषाण kings ruled over the greater portion of northern India.* The earliest known images of Jina have been found at this place. मथुरा is merely a stage on a long dreary road through the empty corridors of time V.A Smith tried to explain the so-called Hellenistic influences on the Jaina art at मथुरा on geographical grounds[2] This however is only one of the reasons. The other is the शकस, who were great imitators They had a language undoubtedly when they were inhabiting the steppes of Central Asia, Tanasoxana etc. But from the time that they occupied the fertile belt of the Oxus Zhob and later Kabel valleys etc. we find them in a different role In the north-west, they addopted the Greek script, Calendar Coinage and administrative system When they entered India, they preferred खरोष्ठी the script of गान्धार कपिशा काबुल Swat etc. That is why we find that the मथुरा Lion capital was inscribed in खरोष्ठी and not ब्राह्मी The origins of गान्धार art is still a moot point but many feel that it originated under the शकस.

Another point which requires to be dealt with regarding the शक-कुषाण art of मथुरा is the evidence they furnish regarding well established inconographic practice The object of worship are the Jinas and तीर्थंकरs. The Jainas are to be recognized by their emblems or chinhas or लांछनस. Simply because they are naked it would be futile to regard them as दिगम्बर images[3] That attitudes are generally shown in समपसरण when seated and कायोत्सर्ग when standing. Whether they are seated or standing, the attitude of meditation with half shut eyes directed towards the tip of the nose are invariably met with. This is the महायोगी type In the standing specimens the hands are shown falling below the knees This method has been in vogue in India since chalcolithic time

During the Catholic rule of the Guptas, Jainism in मथुरा and other parts of India continued to flourish Scores of images heads and pedestals have been found at Mathura. Of these the most important is the inscribed image of seated Jina in year 57 The date has become a moot point[4] The next is the fragment of pedastal of Jina image dated in the year

1 *Journal of the Indian Society of oriental Art* vol xiv pp. 102.

2 *History of Fine Art in India and Ceylon* p 133

3 The श्वेताम्बर and the दिगम्बर Images of the Jainas *A.R. ASI* 1925 26 pp 176

4 JUPHS, Vol. XXIII, p 53 B 15 of Mathura Museum

97 ascribed to Gupta Era[1] Next comes number 238 of Mathura museum. Its peculiarity lies *in the representation of loose locks falling on either shoulders.* Since the inscription clearly states that it was an image of ऋषभनाथ we need not have any doubt about its identity

The next record of the Gupta period is found at Udayagiri near Bhilsa, in Madhya Bharat, dated in the year 106 The object was to record the installation of an image of तीर्थंकर पार्श्वनाथ at the mouth of the cave[2] The next is the Kahaun Pillar Inscription of the time of Skanda Gupta in the Deoriya district of U P dated in the year *141 G E. It* records the setting up of five Jina images, by a certain Madra. The sculptures on the column itself dipict आदिनाथ, शान्तिनाथ नेमिनाथ, पार्श्वनाथ and महावीर To this period also belong the image of 22nd तीर्थंकर नेमिनाथ on the Vaibhara hill (Rajgir) brought to our notice by R. Chanda. *It* bears an inscription mentioning an Emperor named **Chandra,** who is probably no other than Chandra Gupta II.[3] Therefore it is one of the earliest known Jina images of the Gupta period in eastern India The modelling of the torso is graceful and slender and reminds one of that of the world famous preaching Buddha of Sarnath Museum. To this period also belongs the image of a **Jina** in कायोत्सर्ग on the वैभार hill

चालुक्य AND राष्ट्रकूट

The great कुमारस्वामी by an error of judgment applied the term Gupta art to the early चालुक्यन art of south western India[4] Historically or culturally the Guptas had no connection over this territory The resemblence by which the savant was misled was due to the influence which Gupta art exerted over its contemporaries and its successors. Actually the beginning of the early चालुक्य rule and that of their successors (the राष्ट्रकूट) heralds the dawn of a new thought epoch It is the beginning of the declining slope, after classic stage had been reached The remains of plastic art of this period are met with at बदामी एलोरा मेगुटि पहोल temple nos. 53 and 39 लाकुंडी पट्टदकल बलगाम्वे and बेलगांव etc.

Eastern India.

Due to the Turkish deluge towards the end of the 12th century A. D no province suffered so much as South Bihar and West Bengal with the result that Jaina antiquities are *very rare* The temples have all been demolished long ago but sculptures, defaced damaged and neglected have survived here and there which are very precious relics, since they enable us to avaluate the flourishing condition of Jainism just before the lamp went out. To this class belong the images *of ऋषभनाथ on वैभार and सोनगिरि पार्श्वनाथ* on *Udaigiri,* वर्द्धमान on वैभार, the second image of ऋषभनाथ and मुनिसुव्रत in the temple at Rajgir[5] Next come the images in the श्वेताम्बर temple at Nalanda and पटुमारू in Munghyr district, which is a

---

1 *Ibid* pp. 53 54

2 *Corpus Inscriptionum Indicarum* vol. III pp.

3 ARASI. 1925-26 p 125

4 A K. Koomaraswamy—*A History of indian and Indonasian Art* pp 75-6

5 *AR ASI* 1925-26 Pls lVI LVII

But as Sir Flinders Petrie has pointed out, "The art of a country like the character of its inhabitants, belongs to the nature of the land. The climate, the scenery and the contrasts of each country all clothe the artistic impulse as diversely as they clothe the people themselves"

B. ARCHITECTURE.

(1) Caves & Stupas.

Architecture has been described very truly as the 'printing press of all ages, but several influences shaped the destiny of each national style These were climate, materials, philosophy customs the geographical conditions etc. Twenty three years ago the present writer had pointed out — The primeval forests, which were abundant in ancient times, supplied excellent wood for building purposes The pink marble of राजपूताना the trap and granite of the Deccan, the red sandstone of Jaipur and yellow of चुनार placed a wealth of material at the disposal of the architect. In western India the caves were produced, in actual geological formation the रथ's of Mamallapuram were hewn out of amygdaloidal trap. Elsewhere, in the low lying plains of Bengal, in the valleys of the Indus, the alluvial soil was *the only material available for building purposes, and this, when dried* in the sun or baked in kiln became excellent bricks, which were extensively used in these districts.

In every age and in every country the climate has ruled over the destiny of building styles It is true that climate is not the sole origin of a style, there are certainly other factors, but it was climate which set men to think about protection against the vagaries of nature. The Egyptians had a dry climate and bright atmosphere the mud of the Nile when dried in sun became as hard as stone The Egyptians thus built houses of sundried bricks with flat roofs or open colonnaded first storey When they began to use stone, they imitated their brick architecture. The seaboard of the Mediterranean had climate both temperate and brilliant *but it was not free from rain like Egypt. Therefore we find that the Cretans* laid their roof to a slight fall A third instance in which the climate has influenced architecture is Mesopotamia Here heat in the summer rain and cold in the winter are extreme Thin walls were useless to such conditions, thick walls were necessary to resist the heat and cold. Therefore, in Mesopotamia we find thick walls and square shape of buildings as in Egypt but as neither timber nor stone were available the mud brick constructions were carried overhead in the shape of the dome or the vault.

In India, the heat in the summer the rainfall in the monsoon and cold in winter are extreme Light too played a considerable part in the determination of the style. To counteract the heat and cold thick and solid walls were built. The brilliancy of the sunshine led to the walls being built without great openings or windows. In one temple, one horseshoe shaped window was enough to light up the interior of a chaitya hall. Like the ancient Egyptians and the Sumerians, the Indians first began to build in reed or bamboo and mud. In order to meet the heavy rains of the monsoon they built their roofs with a tangential fall so that the water will slide down instead of percolating through the roofs From the reed and bamboos the next steps were wood & stone. The Indian was a careful architect and when he turned

from wood to stone, he carefully copied the wooden originals so that the transition *from one material to another may* easily be perceived. The method of construction of the railings around the Buddhist स्तूप at भारहुत, सांची and बोधगया are absolutely wooden. The facades of the great chaitya caves of western India also confirm the above suggestion. The use of wood and stone also decided the style of early Indian architecture in another way The absence of these two materials led the Sumerians to invent the arch and the dome at an early date, on *the other hand their abundance in India prevented* the ancient Indians from making use of these two expedients in their buildings till a very late date in their history The strongly marked horizontal and tangential lines of the landscape further determined the destiny of Indian architecture. In such surroundings of unlimited level plains and lofty mountains the little marble temples of Greece, the slender Roman *arches*, and *fluted columns with delicate* foliage at the top, would have been absolutely unbecoming. The nature and environment demanded from the Indian mind a new kind of architecture requiring originality imagination and stability He began to build curvilinear शिखरs in imitation of his humble reed and bamboo huts. His religion taught him that Mukti can not be obtained by remaining within the *worldly pleasures* and *one must pray* and *practise austerities in the solitude of the jungles or* mountains. He, therefore, carved wide chaitya halls and cells in the heart of the mountains so that the pious may live and pray for the salvation of mankind. With what a great success he was able to transplant his ideas and sentiments in stone is borne out by the austere desolation of Bhaja, the secluded peace of Karle and lyric grandeur of अजन्ता and एलोरा

Light also played a considerable part in shaping the distinctive features of Indian architecture. We have already noticed that the brilliancy of the sunshine led to the building of the solid walls without great openings or windows. The result of this was that, both the walls and roofs of the temples could be used for ornamental decorations and due to strong light *they could be observed to the minutest detail while the tropical jungle, with myriads* of vegetable and animal life gave enough material for decorative motifs. The richness of decorative art was also due to Indian temperament which has an inherent horror for empty spaces. Nowhere was the sheer joy of living more beautifully painted, or carved in wood, stone or bone, *as is done even now in India. In the foggy atmosphere of England, in* sunny space, in Italy or in the sparkling Mediterranean, these would have been a meaningless bar banty But amidst the exuberant flora and fauna of India they apply a colour of peculiar strength and charm to the monuments[1] "

Our *knowledge of Jaina caves is neither complete nor comprehensive* Stray specim ns here and there which have escaped the hands of the vandals and materialistic quarrymen convey to us a faint impression of what they originally were. Secondly with the whole of Rajasthan, Bundelkhand & Baghelkhand unexplored our knowledge of Central India is nil. Only few in Eastern India and Western India *have been tolerably* described by pioneers and aft_r that the blazed trail have been neglected with the result that weeds have grown and

1 The character of the Indian Art—Calcutta Review April, 1937 pp 85-92

wilderness of ignorance has reclaimed them. My treatment therefore is rather geographical than historical.

Western India.

The caves at Junagarh are the earliest of these. There are also caves at Talaja in Kathiawad and Dhank in Gondal district The first group is situated near बावा-प्यारा s monastery These are arranged in three lines. The upper line faces south as they are on the north face of the rock. This consists of a large congregation hall and three smaller caves in a line. The hall measures 29′×16′ and has an apse at the back. The three smaller caves with a verandah measure 11 ×11 The varandah is 13½ to 16′×4½ to 5½ [1]

The second series occurs at the bottom of a decent on the north west of Jama Masjid at the उपरकोट They consist of a tank 11 square with a roofed verandah and a pedestal for an image. The southern varandah is supported by ornate pillars of two classes. To the north is a cave 35′×10″×27′×10″ A door elaborately carved gives access to the chamber below which measures 39½ ×36′ It contains the railing with chaitya window motifs, with two figures Notwithstanding the fact that many of the caves were quarried by नवाब's men the caves are very interesting.

To the south east of बावाप्यारा's math there are other caves one of which contains a defaced क्षत्रप inscription containing the word केवलिज्ञान Further there are Jaina sacred symbols in one of these.

Inside the north wall of the city ramparts under a mosque built out of the despoiled remains of a Jaina temple, Burgess noticed a cave.

Other Caves.

There are also caves at Talaja, Lor hill in Babriwad and Sana hill near the village of Vankia. The caves at Talaja are 30 in number showing that at one time a large Jaina monastery flourished there Most noteworthy of these is known as Ebhal मंडप [2] measuring 75′×67½ The facade bore the railing pattern with chaitya window motifs This is little later in date than that of बावाप्यारा Higher up is a congregational hall of primitive type but not earlier than the 1st century A D

The caves at Sana are 62 in number the largest of which is like that at Talaja.[3] It is also called Ebhal मंडप Higher up the hill there is a cave named भीम-चौरी By the side of this is a cave 18′×31 in measurement and a tank in crescented form, and has a plain chaitya reminding us of a cave at शिवनेरि, the birth place of छत्रपति शिवाजी

Dhank.

Dhank is situated at a distance of 30 miles north west of Junagarh. Few miles north west of Dhank is a glen near the village of सिद्धेश्वर where there is a group of five caves.

1 J Burgess – *Cave temples of India* p 191

2 J Burgess—*Antiquities of* कच्छ and काठियावाड़ p 143 pl. xxiv

3 *Ibid* p 149

In a ravine to the west of these are other caves. The village of Dhank itself contains caves with sculptures. Near the village of Harishen, on the Jodhpur Junagarh road, on the western side of Gadhka hill, there are nine caves.

अंकाई तंकाई

It is now the name of a hill fort in the present Nasik district of Bombay state, 900′ in height. Actually they are also the names of twin hills joined by a saddle. Here are seven Jaina caves extremely ornate, but badly defaced probably by Khan-Khanas army in the reign of Shah Jehan The first cave is double storyed having a richly carved door way like भीमेरा वेरा No 1 at ऊन The roof has been decorated with lotus leave pattern. The door of the shrine is also elaborately carved. The plan of the second cave is very similar to that of the preceding one. But it had a closed verandah. It has a figure of Indra and अम्बिका The shrine has the figure of Jina not yet identified

The third cave has a perforated screen in front, with two figures similar to that of the preceding cave in the front row On the back wall of the back room are found images of पार्श्वनाथ and शान्तिनाथ in कायोत्सर्ग The whole space around the images is a carved relief as not yet identified.[1] The fourth cave measures 30′×8′ and the doorway was richly ornamented like that of cave 1 The hall has a pillar on the left which bears an inscription in the characters of 12th century A. D The rest of the caves do not deserve any description

Chamar Lena.

The hill of this name in which the Jaina caves were excavated, lies to the north west of Nasik. The most noteworthy object is a colossal unfinished bust of पार्श्वनाथ The caves belong to 10th or 11th century A D

भामचन्द्र

This place is approximately 25 miles north west of Poona and west north-west of the celebrated fort of चाकन There is a Jaina cave now converted into a शैव temple

भामेर

It is in the Nizampur division of Khandesh 30 miles from Dhulia There are some Jaina caves here too

धाराशिव

It is a village 37 miles north of Sholapur on the Poona Madras section of Western railway About 2 miles north west of this town in a ravine, are some Jaina caves finished and unfinished and few more opposite to them. Due to the presence of haemetite in virgin rock in which the caves had been excavated they are very much ruined.

Karusha Caves.

Karusha, is a village 43 miles east of धाराशिव There are a series of caves with images of पार्श्वनाथ On the south is गोम्मटेश्वर and महावीर In the court is मानस्तम्भ with the usual four Jina figures facing four quadrants

---

1 Burgess—*op cit.*, p. 507

बदामी

A little to the east of the largest cave at बदामी there is a small Jaina cave belonging to c. 650 A.D The verandah is 31 ×6½ and the cave itself 16′ in depth. The sanctum contains an image of महावीर At either end of the varandah are figures of गोम्मटेश and पार्श्वनाथ

ऐहोल

The Jaina cave at ऐहोल is to be found on a hill east south west of ऐहोल village The roof was ornamented. The verandah has an image of पार्श्वनाथ with नाग couples on either side. At the right end is another Jina figure. The shrine contains an image of महावीर The walls of the chapel also bear sculptures.

Patna

Near Pitalkhora to the east of a village named Patna, is the Kanhar hill, which contains two Jaina caves known as नागार्जुन's कोठरी and सीता's नाहनि

Ellora

Brahminical caves at Ellora are well known but Jaina caves also exist on a northern spur of the hill called चरणाद्रि

1 छोटा कैलाश as the name suggests, is like the famous कैलाश cave, but smaller in proportions The spire is unfinished possibly due to the decline of the Imperial राष्ट्रकूट.

2. इन्द्रसभा and जगन्नाथ सभा consist of two double storyed and one single storyed caves with their attached buildings. The sculptures are indeed superior to that of छोटा कैलाश *They contain images of पार्श्वनाथ and गोम्मटेश्वर Few inscriptions in* Canarese characters of the 9th century A.D are possibly the objective evidence of their date.

Eastern India

The earliest Jaina caves not merely in Eastern India, but in the whole of India, are those to be found on the Barabar hills some of which are complete and others are incomplete. These are करन चौपार or सुदामा caves containing an inscription of Emperor अशोक. The existence of a platform 7½ ×2½ ×1 3 clearly demonstrates that it was meant for Jaina ascetics. Same is the case with Sudama which contains an apse at each end. Identical is the case with लोमश ऋषि विश्व झोंपड़ी or विश्व मोपड़ी cave which was meant for the आजीविक गोपिका and वहियक caves in the नागार्जुनी hill

Next in importance and date is the सोनभंडार cave in Rajgir and न बाग्नी cave in Gaya district While the date of the latter is not in doubt the image now placed by the local Hindus in it is of मत्र पुत्री which is very late and very crude There is some doubt also the date of the सोनभंडार If however a careful scrutiny is made of its wall it appears that the walls were polished to a certain height and left unfinished. Later on in the 5th century A D the Jaina monks got that inscription in shell characters inscribed on its outer wall and the practice has been to ascribe that date to the cave The second cave at Raj r which un doubtedly belonged to the Jainas is to be found on the वैभार hill, known as सूरदास ... so named from the traditional connection it has acquired from सूरदास the famous Hindu poet of mediaeval times who is supposed to have resided there for a long time

The other great holy place of the Jains, now neglected, is in Hazaribagh district, known as Kuluha hill. It is supposed to be the birthplace of शीतलनाथ At the foot of the hill there is a rock carving of पार्श्वनाथ now known as द्वारपाल On the top there are two grottoes, in which there is an image of पार्श्वनाथ and another Jina whose emblem has been lost At Pachar Pahar a hill two miles South-East of Rafiganj, is a cave half way on the hill containing many Jaina images, including that of पार्श्वनाथ This cave which has never been properly studied, has a मण्डप in front and is located in a natural fissure of the rock. श्रावक hill is another granite outcrop 3 miles away from Rafiganj There is a cave in the hill with an image of पार्श्वनाथ.

Of स्तूप we have two definite examples in the ruins of यशोविहार or कंकाली or कैनी-टीला at मथुरा, excavated in 1890-91 [1] and that at Rajgir on the विपुल hill.[2] Since the विपुल hill has received very little attention from the archaeologists, it will be worthwhile to describe it at some length. At its foot was the northern gate of the old city At the western face of the hill Broadley had noticed several kunds. On this hill, is the temple of महावीर About a quarter of a mile from the modern temple was a large platform seen by Broadley strewn with disjecta, but taken by him as Buddhistic in character Then there is the स्तूप which is definitely Jain.

Orissa

The twin hills of खंडगिरि and उदयगिरि in the कटक district have been exploited for a long time to establish Jaina monastic establishments. The oldest is probably हाथीगुम्फा belonging to 161 B.C. The मंचपुरी or the वैकुण्ठ or पातालपुरी also belongs to this period. The other most important caves are *the अनन्ता रानी and गणेशगुम्फा According to कुमारस्वामी they range between* 150 to 50 B C

South India.

The most important Jaina cave in the Peninsular region is the सित्तनवासल The other less discussed is Kalugumalai in the Tinnevelley district, 75 miles north of Cape Comorin. It is an unfinished temple hewn out of virgin rock. The other side of Kalugumalai hill contains many rock carvings with inscriptions.

Central India

The principal Jaina antiquarian remains at Gwalior are caves and rock-cut images of the Jinas. Most of them are in niches provided specially to contain these images, though some are cells They belong to the 15th century One of them is 57' in height.

(2) Nagara Jaina Temples.

Northern India.

Authors on ancient Indian architecture state that there were three different styles in the architecture of this country : नागर वेसर and द्राविड But in the 10th century A D the architects of ancient कर्णाट mention a fourth style called कलिंग In an inscription in the temple of

1 V Smith—*The Jaina Stupa and other antiquities of Mathura*

2. *Annual Report of the Archaeological Survey of India* 1925-26 plate lvi, fig. (a).

अमृतेश्वर in the village of Holal it is found stated that an engineer (विश्वकर्मन्) named Bammoja the pupil of Padoja, was master of 64 varieties of arts and sciences, clever builder of 64 varieties of mansions and master of four types of buildings नागर, कलिंग वेसर and द्राविड[1] Evidently the reference is to the रेखा type of temples.

Jaina temples as we shall see belong to all these four varieties or styles and it would be convenient to take them up accordingly नागर style is generally equated with what Fergusson calls आर्यावर्त style. It is ordinarily taken to be the style prevalent in and around Nagar' or the capital city My teacher late Dr R. Bhandarkar equated it with Nagar' near उनियारा in Jaipur district. But I feel that it stands for 'भीनगर' which remained the capital of Northern India from 9th century onward. This style was prevalent from Gaya and Konch in the Gaya district of Bihar to the North-West Frontier Provinces and from the Kangra valley in the north to Dharwar district of महाराष्ट्र. Generally the sanctum is rectangular and the शिखर's rise to a point showing beauty of form in mass But in this vast area, various sub-styles are met with The first, in the metropolitan area where the spire is like a cone e.g. at Bodh-Gaya Konch, Nalanda and Khajuraho The second type is met with in the temples in Orissa and Umga and Deo in Gaya district, where the outline of the tower presents a hyperbolic curve. The third is met with in the हेमाडपंथी temples of महाराष्ट्र and परमार temples of मालवा [2] where the शिखर has a parabolic curve and four huge slabs in the four principal directions with miniature शिखरs filling up the intervening space, decreasing in size as they go up Last are the temples of Gujrat with their clusters of शिखरs around the principal one, as if the various forms rising in a deep crescendo has stopped short of infinity below the blue dome lending a false sense of height to the शिखर

More important than the existence of epigraphs in Bihar and Bengal, are the structural remains which bring to us more forcibly the fact of the existence of this faith amongst the original population of eastern India in ancient times. Next come images of shrines no longer in existence Sculpture is an important source of information—a fact which has received little encouragement from the investigators—because, barring possibilities of these having been demolished by iconoclastic invaders each individual image presupposes the existence of some kind of edifice in which it was actually housed and worshipped. A great deal of harm has been done towards this objective by connoisseurs and museum curators, whose well meant efforts in saving these relics and acquiring to enrich their museum collections, prevented them from reporting the finds to the archaeological authorities which might have resulted in fruitful study and excavations of the spots.

Late R. D Banerji stated 'The Jaina Zone of influence appears to have extended from the southern bank of the Ganges and western bank of the भागीरथी right upto the northern

1 *Annual Report of the Assistant Archaeological Superintendent for Epigraphy* Southern Circle Madras, p 49 App B p 90

2 *Journal of the U P Historical Society* Vol XVI

frontier of the jungle country where wild Gonds live and which is the province of गोंडवाना proper[1] " amongst the first of these sites comes धुरुरा in the Bankura district. Bankura, I had already occasion to observe the connecting link between Chota Nagpur plateau and Bengal[2] धुरुरा is about 3 miles distant from Ondal Station of the Eastern Railway between Burdwan and Asansol. It contains one of the finest brick temples in the district Inside the sanctum was a phallus of शिव and an image of the Jaina तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ[3] The temple itself was enclosed by a wall The digging operations carried out in the working season of 1922 23 disclosed the remains within the mound over which the temple was eracted. These consisted of circular and rectangular votive स्तूप[4] कंकाली टीला at मथुरा has acquainted us with the fact, that the cult of स्तूप formed a part of Jaina ritual and the तीर्थङ्कर image proves that the region was a centre of Jaina religion. We shall not therefore be wrong in assuming that the स्तूप found buried below the fundations of the medieaval शिव temple might have belonged to the Jains

In the extreme south eastern corner of the बांकुरा district interesting ruins were discovered by Mr J C. French, when he was the Collector of बांकुरा, which in the opinion of Late R. D Banerji represent some of the earliest antiquarian remains in the district[5] But the Jaina relics there belong to the 10th century A. D The temples built of stone had collapsed long ago but there is a fine big image of पार्श्वनाथ standing with the effigies of 23 other patriarchs, on the back slab To Mr French we are also indebted for a fine image of *Jina* पार्श्वनाथ Deulbhirra also belongs to the Bankura district, but antiquarian remains at the place still remain unnoticed.

In the year 1872 73 Beglar who was engaged in a tour of the old Presidency of Bengal was able with certain amount of accuracy to trace ancient roads as he left convinced that these communications gave rise to cities and religious establishments in these backward districts of Chota Nagpur and elsewhere.[6] Any of the ruins traced by him were Jaina. Dulmi or Dyapur Dulmi is a village50 miles from Purulia and is situated on the banks of सुवर्णरेखा, where Beglar met with abundant ruined temples a fort and numerous sculptures[7] Deoli is another village, about 12 miles from Dulmi, which contained Jaina temples and sculptures. One in the sacutum of one of the temples seen by Beglar used to be worshipped by local villagers as Aruantha, on whose pedestal is found a pair of antelopes from which it is clear that it was an image of the 16th Jain तीर्थङ्कर शान्तिनाथ

1 *Eastern Indian School of Mediaeval Sculpture*
2. *JBORS* Vol. xxvi
3 *ARASI* 1921 22, pl xxix (d)
4 *Ibid* 1922 23 p. 112 and 1923-24 pl xli (c)
5 *Ibid* 1925-26 p 115.
6 *Cunningham—ABB.* Vol.
7 *Op Cit* pp. 186-87

A mile and half north west of Dooli, is the village of Sulsa. In this village Beglar noticed a Digambara image of पार्श्वनाथ[1] Pakbirra is another village, situated about 23 miles south west of Purulia It contains many fragments of Jaina figures The biggest was a Digambara image of पद्मप्रभ which was then worshipped by local people as भैरव There were two others one of ऋषभनाथ and another a प्रतिमा-सर्वतो भद्रिका with the figures of महावीर with the figures of महावीर with lion शान्तिनाथ with deer ऋषभनाथ with bull and कुन्थुनाथ with goat. Close to this place Beglar's excavations yielded certain other sculptures which he has ascribed to Budhism. Of these one sculpture representing a man and woman under a tree is probably an image of Mahavira s parents. Another image represents अम्बिका or अम्बिका or धर्मदेवी a यक्षिणी of the 22nd तीर्थंकर नेमिनाथ These amply prove that Jainism was one of the principal creeds of Bengal since the Christian era.[2]

Central India.

In Central India there are two places which possess magnificent Jaina temples. First is ऊन and the second is खजुराहो The modern village of ऊन the ancient ऊनपिगिरि कोटि is situated in the southern part of the old Indore State, 18 Miles to the east of Khargaon.[3] The nearest railway station is Sanawad, on the मालवा section of the B B & C I Railway Khargaon is connected with Sanawad by a road 42 miles long, which is metalled at places. ऊन seems to have been a famous centre of pilgrimage under the परमारs and an important place which still bears vestiges of the brilliant architectural activity of the ruling dynasty With the exception of खजुराहो in Central India, there is no other place north of the विन्ध्य, which can boast of having so many temples The largest and most elaborate temple at this place is the चौबारा डेरा No 1 It consists of a गर्भगृह surmounted by a curvilinear tower an अन्तराल from गर्भगृह leading to the मंडप which again like the Nemawar temple has porches on three sides. Of these porches the front one facing east is the largest and most elegantly decorated. The ground surrounding the temple was paved with slabs of stone, portions of which have now been ripped up by an utilitarian contractor Years ago an officer of the state is reported to have excavated the ground south east of the मंडप and discovered some old foundations and large Jaina images one of which was inscribed.

In plan and design the मंडप of चौबारा डेरा No. 1 is almost similar to that of सिद्धनाथ temple at Nemawar It consists of a big hall, elegantly decorated with side porches in front and other two sides of which the front one facing east was the main entrance and is the largest and most beautifully ornamented The hall of the मंडप is more magnificent than that of सिद्धनाथ temple at Nemawar The carvings are elaborate and reminds one of the large सासबहू temple at Gwalior Four richly carved pillars support the domical ceiling of the मंडप The body of the pillars is richly ornamented The pillars stand on a pedestal with recessed corners. The doorway giving access to the अन्तराल is another place which calls for our atten-

1 *Ibid* p. 190

2. *Journal of the Bihar and Orissa Research Society* Vol. XXVIII, pp. 43-47

3. The conditions described in this paper are of 40 years ago.

tion. The whole composition is remarkable for its restrained design and conception The dome of चौबारा डेरा No 1 is less than that of सिद्धनाथ temple at Nemawar The सभामण्डप of चौबारा डेरा No 1 is a small passage on the northern wall of which is to be found a *Sarpabandha' inscription. This generally consists of the Indian alphabets and the affixes* used in the conjugation of verbs in Sanskrit. They are arranged in squares formed by the conventional folds of the body of a snake. The *Sarpabandha* inscription on the wall of the सभामण्डप of चौबारा No 1 is smaller than others Here the alphabet and some of the con jugational *terminations have been combined on the body of a single serpent. (The squares* formed by the conventional coils of its body contain the 25 principal consonants consisting of the five *vargas*. The sibilants and the aspirates occupy the right sloping limb which *ya ra la va* occupy the left. The portions of the body between these two limbs bear the अनुस्वार and three विसर्ग उपध्मानीय जिह्वामूलीय and विसर्जनीय

खजुराहो

खजुराहो situated in chhatarpur district of Madhya Pradesh was an important centre of temple building during the reign of Chandellas. Here the most important Jaina temple is that of पार्श्वनाथ the tower which is a mass of forms consisting of शृंग *distinguished by a feeling* for mass, solidity and elevation. It also consists of very delicate and clever adjustments of weights to produce a central focus and balance in a composition really consisting of several elements. The forms are not simple but complex, but their constrast has created harmony in design. The second Jaina temple at Khajuraho *is dedicated to Jina* शान्तिनाथ Only the sanctum and the passage between it and the मंडप have survived. Here, is an elegance of sculpturesque style The tower or the शिखर has better proportion than many found at खजुराहो

रणकपुर near Sadari in the Jodhpur district is situated in a remote valley of the अरावली hill. *The natural beauty of the place is extreme. The temple was built by a Jaina named* Dharanaka in 1439 A D., in the reign of महाराणा कुम्भा of Mewar It is quite near Kamal mere. The temple is 198 feet by 205 feet. In the centre stands the great temple with opening on four sides with a प्रतिमा-सर्वतो-भद्रिका at the centre The upper storey has the same arrange ment. It is a veritable jungle of domes and pillars creating endless varieties of chiaroscuro Fergusson has justly remarked that a vast meterial of Jaina temple architecture is to be found in early mosques built out of the material of despoiled Jaina temples. Notwithstanding *the fact that they have been utilised to meet the needs of Islam, their inner* contents such as the style the ornaments the forms and design in general betray the classic heritage. In fact patay Sidhpur Cambay and various other cities and ruined sites in Gujarat, Kutch and Kathiawar supply us with a mass material which has never been studied They served as endless quarries.

Western India.

We have already pointed out that Gujarat temples were nothing but a subdivision of the नागर style of *temple architecture In the early days of research the scholars called it Jaina* style since a large number of existing examples were of that creed, thereby *divorcing it from*

the national background. In one respect however Gujarat like Orissa provide more conservative than the rest of India The temple builders of Gujarat survived, loot, rapine and massacre and so did some of their canons.

अनहिलवाड़ or अनहिलपट्टन

This place is now simply known as पाटन It is situated at a distance of 66 miles from Ahmedabad on the bank of the Sabarmati river It was the capital of the चापोत्कट and सोलंकी dynasties. It was founded by वनराज (765 A. D). Its first sack came at the hands of महमूद of गजनी The next spoil was carried out by कुतुबुद्दीन ऐबक. Then came उलुग खान For five centuries its ruins were despoiled. The present town was built in about 18th Century There was a big college founded by Hemchandra Suri.

The Jaina temples now extant generally date from 16th century onwards. It is however the muslim buildings that convey to us the medieval glories of पाटन whose fall had sent a hysteric call for utmost sacrifices throughout India. The oldest of these is a structure known as the **Jami masjid**, which has now been dug to its very foundations and materials carted away *Its ruins represent one or more than one Jaina temples* utilised to meet the religious needs of victorious Islam. The material was marble.

Delmal or Dilwal

This village is situated at a distance of 16 miles south west of पाटन Here is a temple dedicated to पार्श्वनाथ[1] शंखेश्वर, in the former Radhanpur territory is a holy place of the Jainas, where is a brick temple of पार्श्वनाथ belonging to the 17th Century A. D The Jaina temple at Sarotra also belongs to this period[2]

Taringi.

This place is situated amongst the hills on the west bank of the साबरमती river in the Gadhwada *district*, about 26 *miles the east north east of* Siddhapura There is a temple of अजितनाथ erected by कुमारपाल (1143 74 A D) It has a मंडप open on three sides and an अर्धमंडप on the front. On either side of the entrance is a small shrine. The enclosed path of प्रदक्षिणा is pierced by three windows.[3] नवसारी (Vulgo Naosari) had a Jain temple with images of 24 तीर्थंकर।

थान & मियानी

At थान on the railway between Wadhwan and Rajkot, are two small temples to the south west of the famous Sun temple and another between them and the village[4] Miani in the north west corner of Porbandar has a Jaina temple.

Cambay

Cambay Khambhayat, Khambat is situated at a distance of 52 miles from Ahmedabad and 42 miles from Baroda. It is a town of immemorial antiquity and a paradise for of Palaeo-

1 Burgess & Cousens—*Architectural Antiquities of Northern Gujrat* p 89

2 *Ibid* pp 93 95& 99 pl. x.

3 *Ibid* pp. 114 ff pls cviii-cxl.

4 Cousens—*Somanatha and other Mediaeval Temples of Kathiawad* pp. 50 ff

Botanists. A vertical section of its buried ruins has long been overdue In ancient inscriptions it is called स्तम्भतीर्थ always an important part on the western coast. According to कीर्ति-कौमुदी (IV 30) वस्तुपाल was a governor of *Khambayat, and founded Jaina temples,* पौषधशाला and libraries. In 1299 A.D this *gem of the western coast* fell to the rapacity of Allauddin Khilji. Not only was the city given up to loot, rapine and plundar but blood flowed in torrents

The result was the *Jami* Masjid with despoiled materials of Hindu and Jaina temples which had been mercilessly desecrated[1]

Dholka is the head quarter of तालुका of the same name in the Ahmedabad district. Its ancient name is धवलक्क. It was full of श्वेताम्बर Jaina temples in the reign of वीरधवल and they supplied materials for Bilal Khan s mosque etc.

गिरनार

The hill of Girnar in the south of the Kathiawad peninsula, not far from Junagadh is an important place. Its ancient name is Girinagara. It is regarded as sacred to नेमिनाथ the 22nd तीर्थंकर Historically it is also celebrated, since we *have the six rock edicts of* अशोक *inscribed here. On the same rock in the 2nd century of the* Chiristian Era, Rudra daman, a क्षत्रप of Ujjain had his record inscribed. The embankment repaired by him, having been damaged, it was again repaired in the reign of Emperor Skandgupta, in the year 457 A.D At गिरनार the oldest temple was perhaps that of कुमारपाल but it has been repaired in the last century and thereby lost all archaeological values. Nexe comes the temple of नेमिनाथ which was repaired in 1278 A.D therefore its earlier existence is undoubted. But repeated repairs & colourwashing have left no traces of ancient arts The other temple is *that built by* वस्तुपाल *in 1231 32 A.D It is also called* वस्तुपाल तेजपाल *temple. Its erection* being ascribed to both of them, but according to the inscription it seems to have been erected by वस्तुपाल alone.

Mount आबू

Furgusson has very correctly stated It is hardly to be wondered at, that Mount आबू ancient Arbud, was early fixed upon by the Hindus and Jains as one of their sacred spots Rising from the desert as abruptly as an island from the ocean it presents on almost every side steep and rugged scarps some 4,000 fit. high and the *summit can best be* approached by ravines cut into its sides." Amongst the temples on Mount आबू first comes that dedicated to आदिनाथ also called 'Vimala Vasahi built by a Judge of भीम I in 1032 A D Regarding its decorations and ornaments, Cousens has paid an eloquent tribute "The amount of beautiful ornamental detail spread over these temples in the minutely carved *decoration of ceilings, pillars, doorways* panels and niches is simply marvellous the crisp thin translucent, shell-like treatment of the marble *surpasses anything seen elsewhere,* and some of the designs are veritable dreams of beauty The work is so delicate that ordinary

1 Burgess—*Muhammadan Architecture of Gujrat* pp 25 ff., pls. XVIII XXII etc.

chiselling would have been disastrous. It is said that much of it was produced by scraping the marble away and that the masons were paid by the amount of marble dust so removed

शत्रुंजय

One of the originalities of the Jainas was to build cities of temples. The most prominent of such examples is शत्रुंजय an almost isolated hill lying about a mile to the south of पालिताणा rises gently from the plain to twin summits linked together by a saddle or shallow valleys. These tops with the intervening valley now covered with hundreds of temples of all sizes and shapes might almost be described as a sacred city in the air. Where street after streets, and square after square, extend temples with their stately enclosures, half palace, half forts, raised in marble magnificence, upon the lonely and majestic mountain. The alabaster features of the Jinas, in their calm serene attitudes, rendered deemly visible by the silver lamps with the nuns in white and the female worshippers in their multi-coloured saris moving about round and round in circles, chanting hymns create a magic land of incense, light and shade white and all the colours of the rainbow. At शत्रुंजय temples were built by वस्तुपाल and तेजपाल and before them by कुमारपाल and also by विमल. These are on the southern summit of the hill. But these have lost all archaeological value due to subsequent repairs. Long long ago Fergusson had mourned the lack of a monograph on शत्रुंजय illustrating its artistic and architectural merits. Even now it remains a desideratum.

(3) **Vesara Jaina Temples**

We have already seen that the Indian temple architecture, of which Jaina temples were a constituent element, was divided into four styles. Unfortunately about the theory of Indian architecture in general, and temple architecture in particular our total knowledge and vocabulary are so defective, that any writer feels a great deal of handicaps in presenting it accurately and impressively. The best example of this is the Vesara type of temples. The theories of contrast, composition expression and concentration, so well known in comparative architecture, have never been applied to Indian compositions. No doubt the plan dominates the whole external expression of a building, yet divorced from composition it may be dull and boring, even if the plan is good. Architecture has two facts : design in abstract and its functional purpose and since there too cannot be comprehended unless it is accomplished with a knowledge of the original laws of design and its grammar both of which are lost, we are left to satisfy our enquiries on the historical method

Vesara, is generally taken to mean the चालुक्य temple. In this class of temples the sanctum as usual is rectangular but the spire rises in stepped series or regular receding steps, and ends in spherical dome. The majority of the temples at Aihole पट्टदकल and elsewhere in the Canarese speaking area and even outside it, posses this feature. Its deffusion and survival was indeed great. The hemispherical dome was continued in Poona even under the पेशवा when अफगान and Mughal avalanches had swept over the country and formed a morraine. In the south this style is met with at Mahavalipuram and Khanchi. In the meanwhile both the style and the शिखर or the गोपुरम् show evolution in the metropolitan district. It shows descent from

cave architecture e.g. लाडखां s temple, or the twin Jaina fanes at Megutl near Aihole. R. D Banerji thought that there were two types of शिखर in the so called Vesara or चालुक्यन temples. According to him the early शिखर was of the type of नाचना-कुठारा or देशावतार temple at Deogarh or the later temple at सांची The temple of लाडखां[1] and the twin temple of Meguti do resemble the नाचना-कुठारा[2] and सांची temples[3]

This series is followed by another group which shows a covered or open path of circum ambulation around the sanctum both circular and rectangular which seem to me to be a Gupta Survival from भूमरा They have a modest शिखर on the top. This is followed by a third like the Maleguttl (near Aihole) and विरूपाक्ष temples (at पट्टदकल) which have the शिखर in the form of a stepped pyramid. Cousens and others have considered this an importation from the Dravida country But this is a moot point. Vesara type is met with at महाबलिपुरम् shore temples, the temple of राजराजेश्वर at Tanjore, Vaital Deul at Bhuvanesvara and तेली-का मन्दिर at Gwalior Like the Bhimas ratha both the Vaitat Deul and तेली-का-मन्दिर have the top of the शिखर in the form of an upturned keel of a boat. The same as राजराजेश्वर temple at Tanjore, the great temple at Tiruvannamalai, the temple at श्रीरंगम् etc.

मेगुटि is the name of a hill in the neighbourhood of Aihole-that Indian Dreamthorp" where centuries have passed without leaving any impression. I reached Aihole after dusk when a boy and the silence made awful impression on me The darker shades of the temples the hill and the trees all seemed mysterious and forbidding. Kings, dynasties and empires have risen and fallen but Aihole has carried its life planned in the dawn of history Careful scraping may even now reveal the hoof marks of चालुक्य राष्ट्रकूट or होयसल cavalries. Possibly this very dust and these very stones were trodden by पुलकेशी on his victorious return after defeating हर्ष Changes here are as undreamt of as a double decker bus at Patna According to H. Cousens Meguti or 'मगुटि' is a corruption from Canarese मगुडि meaning a temple that is above. Just below the brow of a hill there is a ruined temple, which was partly excavated in rock and partly an erection, like the celebrated लाडखां s temple

The lower temple at मेगुटि consists of two verandahs in two storeys supported by four monolithic pillars and two pilasters on either flank. Behind the verandah of the first floor are a long room and 3 shrines excavated into the hill sides while the ground floor has an apology for a shrine. It was a a Jaina temple and a prototype of लाडखां but later in date[4]

The temple however which gave the name to the hill, is still higher up on the brow of the hill. It is dated It is a typical Vesara structure. The mass of the outer walls, consists of projections and recessions with flanking pilasters thereby creating a magnificent contrast of horizontal plane and verticals which creates effect and conveys decision The pilasters are useful elements in abstract design, having no functional objective, but provide accents and

1 Cousens *Chalukyan Architecture* pls. III to V

2 Codrington-*Ancient India* pl. XXII fig B XXIII figs B & C

3 *AR ASI* 191? 13 pl.

4 Cousens—op. cit pp. 29-3 fig. 6

rhythms and break up the solidity of the wall surface with playful light and shade. It is a study in rectangular forms without the aid of elaborate ornaments It is not totally devoid of tradition but depends for effect on ideas of expression and plastic treatment of solid forms and masses

The shrine itself is a long rectangular building consisting of the sanctum and its surroundings and the मंडप The rectangular shrine has an enclosed प्रदक्षिणा-पथ, which goes all around it. Perforated stone windows aid in lighting up the interior adding a mystical touch of light and darkness In front of the गर्भगृह is the passage (अन्तराल) connecting it with the chapel. Within the sanctum is a large image of a तीर्थंकर not identified and that of अम्बिका, the यक्षिणी of नेमिनाथ[1] It can be objectively dated to 634 A. D

Still later in date is the temple No 53 in the मल्लनाथ group and temple no 39 in the north eastern corner of Aihole village near the temple of त्रिस्याण Both have lost the finials of their शिखर. The temple No. 39 was part of a group of deserted Jaina temples. It consists of usual गर्भगृह, अन्तराल and the मंडप The doorway of the sanctum of the temple in front of 39 contains figures of Jinas The main fane to which it is subsidiary is a big temple, in one of which is a fine image of पार्श्वनाथ The other two shrines are empty Advance has been made in design over the previous temples. There are small figures of Jinas and mouldings on the outer walls. There is an image of पार्श्वनाथ at the front. These add a dignity and repose, avoiding the boring monotony in design. While the anthropomorphic figure of Jina, in conventional manner is used to convey the character of the temple. It does not depend on its presence, nevertheless it is there There was another Jaina temple near Kont Gudi[2]

About a quarter of a mile west of the village of पट्टदकल there was a deserted (in 1921) Jaina temple Cousens would place it in the reign of the राष्ट्रकूट emperer अमोघवर्ष I. There were two big elephant figures on either side of the Main entrance It was however an unfinished temple. It had an upper storey

लाक्कुंडी or लोक्कीगुण्डी is a village, 7 miles South East of Gadag in the Dharwar district. It was the capital of the Hoyasala king बल्लाल III. There is a Jaina temple at the west end of the village about which Furgusson thought that 'Though somewhat severe for a Chalukyan temple it is exceedingly well proportioned The material is chlorite schist. It has pyramidal शिखर and consists of an अर्द्ध-मंडप मंडप अन्तराल and गर्भगृह The shrine is on the first floor

The elevation is not unlike that of the Jaina temple at पट्टदकल The outerwalls however are more ornante but restrained and dignified taking advantage merely of the solar rays to create a magic world of monochrome forms. The grotesque lion s fanes found over the niches containing small effigies of a Jina is a novelty here. The interior contained a damaged image of तीर्थंकर महावीर There was also an image of Jaina सरस्वती

1 Cousens—*op cit.*,—pp 29-31 pls. III & IV

2. *Ibid*, pp 49-50

To the north of it existed another shrine but comparatively plain and dedicated to महावीर While in the north west corner was a third Jaina fane, now known as the temple of नागनाथ because of the serpent over the head of पार्श्वनाथ

बालगाम्वे is a small village to the south west of Hire-Kerur in the Dharwar district. Formerly on a mound on the east of the village was an-identified Jina image 12′ in height. All about the village could be seen other Jaina image antiquities

The celebrated Belgaum fort possesses two Jaina temples That facing north consists of an open अर्ध-मडप मंडप अन्तराल and गमगृह The tower or the शिखर is pyramidal like the true Vesara type. The roof of the मंडप is ornate and once bore the images of अष्ट दिक्पालs The door of the मंडप is also richly ornamented, and once bore the figures of a Jina at the centre of the top lintel. The entrance of the अन्तराल has perforated side screens. The doorway of the shrine was also elaborately carved. It was erected about 1205 A.D There is a second Jaina temple facing south.[1]

Near the village of Jog, is a Jaina cruciform temple which have four porches on four sides and a चतुर्मुख प्रतिमा सर्वतो भद्रिका at the centre[2] Bilgi in North Kanara, with its undulat ing landscape of hills and valleys has three Jain temples the principal one having been dedicated to पार्श्वनाथ[3] About 9 miles South West of Aihole in the village of Arasibide there are two Jaina temples, locally known as Kumbha ramagudi and Sullgudi" [4] The village of Hadavalli has a couple of flat roofed temples lacally known as Bastis There are Chandranath and Gundau bastis "

(4) Dravida Temples.

द्रविड़ type means temples of Tamil country In this style also the base of the sanctum was rectilinear or rectangular and the शिखर or the गोपुरम् rises in regular steps or pyramidal in shape but the finial is a solid or hollow barrel shaped vault such as are met with at तन्जोर मदुरा and रामेश्वरम् The barrel-shaped vaults of the गोपुरम्s were not however solely used in ancient times for the towers only They were also used for the sanctum Thus the मंडप of कैलाशनाथ temple at कांची ends in two cross shaped vaults instead of a plain pyramid or even a flat roof

श्रवण-बेलगोला or the Belgola of the श्रावकs, is the chief Jaina holy place in Andhra राज्य The श्रावक or the Jaina ascetic in this instance being गोम्मटेश्वर, whose collossus image has been cut out of solid rock. It is situated in Chennarayapatna तालुका of Hassan district. To reach it one has to motor from Arsikere or the French rock railway station or direct from Bangalore, a matter of 100 miles. The image is to be found on the larger of the twin hills known as दोड्डा बेट्ट The other one called चिक्का बेट्ट has a large number of vastis or

1 Cousens—*op cit* pp 121-2, pls. cxxxvi & cxxxvii.

2 *Ibid* p 126 pls. cxxxiii-cxxxviii

3 *Ibid.* p 129

4 *Ibid* p 131

temples. Jaina fanes are also met with in the village as well as in neighbouring hamlets. An inscription (No 354 1830) states that those were 32 vastis at Belgola. All the Jaina temples on the चिक्का बट्ट are within walled enclosure measuring 500' x 225' There is how ever an exception a minor shrine.

गोम्मटस्वर (Bahuball) who was the son of ऋषभनाथ is shown in the semi-divine serinity in कायोत्सग attitude, unmoved by creepers growing on his body at hills rising to his thighs and serpents about his foot The image, 57' in height, was set up in the reign of चामुण्डराय in 983 A D Most of the temples however are in चोल द्रविड style and belong to 11th to 12th century A D The Jaina मठ in the village contains paintings of scenes from the lives of Jinas and kings.

The smaller hill चिक्का बट्ट or Chandragiri is 3052' above sea level. It contains 13 vastis or temples within an enclosed area with almost similar plans. Each consists of a गर्भगृह (sanctum) सुखानसी (Vestibule) and a नवरंग (मंडप) The most ornate of these is the vasti of the temple ofपार्श्वनाथ The image of पार्श्वनाथ is 15' in height. It has a मानस्तम्भ beside it. The temple of Kattali is the largest on this hill, being 124' x 40' It is dedicted to शान्तिनाथ It was erected by a general of the Hoyasala King विष्णुवर्धन at about 1118 A. D The others are (3) चन्द्रगुप्त vasati, (4) शान्तिनाथ (5) सुपार्श्वनाथ (6) चन्द्रप्रभ (7) चामुण्डराय (dedicated to नेमिनाथ) (8) शासन (dedicated to आदिनाथ) (9) Majjiganna (dedicated to Anantanatha) (10) Erudu Katte (आदिनाथ) (11) Savatigandha varana (of शान्तिनाथ) (12) Terina (of बाहुबलि) and (13) शान्तीश्वर बसदि.

दोड्डा बेटा

The larger hill called Dodda betta is also known as Vindhyagiri, being 3,347' high from sea level It is on this hill that the statue stands The vasati or temple consists of Akhnada-bagilu, Chennanna vasati Odegal, Chauvisa Tirthankara, Bramhadeva vasatis etc. The village has four temples and one monastery

The Canarese country below the ghats possesses some picullar class of Jain temples specially that at Mudabiri near Mangalore. It dates from Vijayanagara period.[1]

Jaina antiquities are met with at Arpakkam, Magarol, Aryaperum bakkam and Tiruparuttikunram or Jina Kanchi in Conjeverum तालुका The place contains several temples such as **Chandraprabha**, वर्धमान पुष्पदन्त and धर्मदेवी shrines वर्धमान धम and सुखमण्डप, Trikuta vasati with its mandapas सगीत मंडप Irugappa etc. They contain paintings of Jina Charitra.

— o —

1 H Cousens—*Achitectural Antiquities of Western India* p. 34

Jaina Iconography

A. K. BHATTACHARYYA

Keeper National Musem New Delhi

Though Jainism has contributed much towards the development of ancient Indian plastic art by providing iconic themes in no small measure in the field of iconographic studies, it has suffered considerably by default. In fact, later Jainism has been greatly enriched by iconic concepts imported into it through influence of Tantricism. Jainism, further has been a living force throughout the age continuing its hold on the society even today—a factor which accounts for the continuity and consequent profuseness of the iconographic material. The paucity of studies in Jaina art and iconography is largely due to the manuscripts and texts being kept out of reach by the orthodox sections of their custodians. But it is perhaps more due to the possible confusion between Jaina icons and Budhist images in the popular mind on account of their apparent similarity In recent years there has however been an increasing consciousness in this respect and scholars have considered it worth while to pursue this branch of study with the intensity and devotion it deserves.

In any study of religious art such as Jaina art is, there is bound to be a large amount of traditions and traditional literature that one has to encounter In the case of Jainism it is certainly more so because of obvious reasons Jaina iconography can however be studied as any study of iconography may be so done, by either a reference to the available extant iconographic material or it can be studied starting from and correlating traditions and literary evidence with what material is available in sculptures and monuments. In a study of this nature it is better to proceed objectively with the extant iconographic material in hand and try to find out how far these correspond with textual prescriptions.

Jain icons can perhaps be traced as far back as the 3rd Millennium B.C when at Harappa naked statuettes standing erect and revealing a characteristic composure were possibly sculptured. The torso of the only such specimen so far unearthed at Harappa is much in the same pose as the later Kayotsarga or posture of abandon. On the evidence of Vedic texts we can also say that certain naked deities were known to the Vedic culture as being heterodox in character These are referred to as शिश्ने देवाः. It is now known, however whether the statuette from Harappa represents any of the naked deities meant for worship or adoration. As in Indian history so in the sculptural art of the land there is a considerable gap between the pre historic culture and the historic, and so far as extant Jaina icons are concerned it is no exception. It is not until the Mauryas that we get any further evidence of the continuity of image or icons of the Jaina sect. At Lohanipur near Patna is discovered

a torso naked and with the position of the hands similar to the one available in the कायोत्सर्ग and marked with features of a physical surrender or rather withdrawal, and at the same time bearing Mauryan polish.[1] The latter feature establishes definitely the Mauryan character of the piece and takes us as far back as this period i.e. 3rd cent. B C., for the earliest evidence of the Jaina image being in existence. The literary traditions of the Jainas take us several millions of years back, if time for the successive earlier pontiffs as calculated in Jaina traditions is taken into consideration The only historical landmark there, is the existence of महावीर the 24th and last of the तीर्थंकरs, who had been a contemporary of Buddha The immediate predecessor of महावीर, namely पार्श्वनाथ also seems to have been an historical person In fact, according to traditional lore of the Jainas, महावीर's principal contribution was a liberalization and a systematization of the Jaina sacred codes as laid down by पार्श्वनाथ whose followers the parents of महावीर are started to have been. With more dateable and contemporary archaeological evidence it is possible to fix the fact of existence of a Jaina image within more precise compass of time The हाथीगुम्फा inscription of King खारवेल of Orissa of the 1st cent. B.C. inscribed on the inner side of a cave-balcony in one of the cave-dwelling on Udayagiri hills in the Puri District, Orissa, records an image of Jina, the Kalinga Jina being restored by the king on a defeat of the Nandas. This takes us back on a very reliable evidence, to the time of the Nandas, who it seems, had taken away this valuable booty from the Kalinga क्षेत्र But atleast this is certain that a large number of iconographic material were carved in the period of खारवेल on the facades of the caves, among them being included a few symbols taken from Buddhism and Brahmanism. The अभिषेक लक्ष्मी is a popular motif adopted by the Jains and sculptured on the तोरण facade of one of the रानीगुम्फा group of cave-temples on Udayagiri. Here the goddess not only holds herself a pair of lotuses rising from a पद्मसरोवर as described in the कल्पसूत्र but a profusion of these lotus motifs clearly betrays the symbolism of fertility abundance and beauty she represents. The symbolic representation of the railed chaitya-tree in worship on another entrance facade similarly reveals the unreserved adaptation of symbols of other faiths in early Jaina art. The surmounting tri-ratna, in its ornamental varieties here as well as elsewhere on the same hills with a peculiar Jaina connotation, is one of the few earlier symbols, like स्वस्तिक and श्रीवत्स readily accepted in this faith from the common stock of symbolism in Indian religious art.

During the Mauryas, the greatest emperor of the line, king अशोक is supposed by the Jainas to have professed Jainism as his personal faith. Although the records he has left by way of his well-distributed inscriptions, although reveal a definite inclination towards some of the common principles of Jainism Buddhism, as also Hinduism, it is difficult to accept the hypothesis on the basis of these unsupported evidences in this regard. The शुंग who followed the Mauryas in the political field did not leave any special evidence in the sculptural art under them either of their particular leaning towards or patronage of, Jainism. The कुषाण

1 In this reference see the paper of Mr A C Banerjee p 4—Editor

who occupied the political field in मथुरा and the regions round about after the शुंग *appear to have been more broad minded and concilliatory in having liberally patronised the major faiths prevailing in their times. Jainism therefore, from the* 1st 2nd century A.D flourished considerably not only in the religious sphere but also in developing an elaborate system of images, some of the best examples of which have come down to us Individual figures of तीर्थङ्कर in their full standing forms as well as Jina Chaumukhas i.e. quadruples are abundantly in evidence. These images in some cases bear characteristically enough figures of devoted worshippers on the pedestal flanking a **Dharma chakra** mostly in profile. The group of devotees here probably represent some of the Ganadharas or the chief disciples —the holders of the Gana or the Order In this period the individual identity of the image was not marked with any special emblems or लाञ्छन which only developed much later *except in the case of 1st and the 23rd तीर्थङ्कर. In the case of the first तीर्थङ्कर, i.e.* आदिनाथ *and the 23rd, i e* पार्श्वनाथ some iconographic features are available for their identification. In the case of the former, flowing hair fall on the shoulders of the pontiff and in the case of the latter it is a serpent hood that is shown as forming a company over his head Some of the finer examples of this period however relate to representation of symbols on the stone-slabs known as आयागपट The usual group sculptured there is the group of अष्टमङ्गल or Eight Auspicious symbols, the constituent items of which very both from each other in the several extant groups and also from the most popular group as set forth in literary texts These आयागपट्ट *are votive tablets meant as dedicatory slabs set up or donated by pious individuals* whose name sometimes occurs in the inscriptions borne on these The groups of symbols is generally carved in two rows one at the top and the other in a parallel line down below with some fine figures of a Jina in पद्मासन at the centre. **Tri-ratnas** also find a prominent place all round the Jina figure, the **Tri-ratna** symbolizing सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन and सम्यक्चारित्र i.e. Perfect Knowledge, Perfect Faith and Perfect Conduct respectively In a famous speciman of such a votive tablet now preserved in the National Museum, New Delhi set up by सीहनादिका *son of Koshika, son of the merchant Sihaka, the symbols in order are a pair of* fish, स्वस्तिक-श्रीवत्स रत्नभाण्ड tri-ratna, the lotus, the भद्रपीठ or इन्द्रयष्टि and the पूर्णघट arranged in two rows of four each. There are two miniature pillars with persepolitan features surmounted by the motifs of lions back to back with the figures of the **Dharma-chakra** in one case and an elephant in the other at the top A variation of this first century आयागपट is noticed in another beautiful specimen in the Archaeological Section of the Provincial Museum, Lucknow which shows a central तीर्थङ्कर with tri-ratna devices on four sides with four bigger auspicious symbols encased within circular ends of the lower *part of a variety of* swastika with curved arms. Encased symbols are a swastika at the top, a pair of fish at the bottom, a भद्रपीठ at the left and a श्रीवत्स at the right. A circular band beyond this shows floral designs and flying celestial figures with four symbols at the four cardinal points, namely a स्तूप at the top, a railed bodhi tree at the right, the figure of a seated Jina at the bottom and an indistinct *object at the left, probably a* कलश The corner spaces of the square

tablet are also filled with mythological female figures. In one row but in two segments the lower horizontal band of this tablet shows indistinct traces of eight symbols some of which are corroded Probably from left the symbols are a भद्रपीठ पूर्णकुम्भ a lotus and a triratna, in the first segment and a श्रीवत्स a pair of fish swastika and a रत्न माल्य in the second segment. A large number of such आयागपट have been discovered from Mathura in this period, most of which depict some or all of the eight suspicious symbols. A couple of these from Mathura, however reveal the स्तूप form showing the gateway the steps, the rails and a pair of flanking pillars all in relief on the slab These therefore indirectly bear evidence to the importance of स्तूप worship that the contemporary Jaina art from Mathura also accepted in common with Buddhism.

It was also in this period of the Kushanas that we meet with for the first time panels with stories from the life of the Tirthankaras The famous story of the birth of महावीर according to which नैगमेश or हरिनैगमेश (नेमेसो of the inscriptions) the nativity god of the Jains, was responsible for the transference of the foetus of ब्राह्मणी देवानन्दा to that of the क्षत्रियाणी त्रिशला is sculptured with the peculiar figure of the deity with a goats head. Such panels although not very common specially found favour with artists as being connected with the popular deity नैगमेश who combines in himself the two aspects of देव-सेनापति (कार्तिकेय) and दक्ष प्रजापति the god of creation, in Hindu mythology Some stray pieces also depicting some other legend from the same place are also available in this period. The site of कंकाली टीला is supposed to have been one of a जैन-स्तूप in the कुषाण period. From the evidence of the आयागपट and from some such evidence of this site it is quite apparent that स्तूप and the चैत्य tree adapted from the Bodhi-drama of Buddhism along with the Dharma-chakra were equally accepted as sacred symbols for depiction in early Jaina art. There is another group of symbols of which we do not have very early sculptural representation and this relates to the 14 dreams that the mother of तीर्थंकर is supposed to have dreamt in connection with their conception of the great religious leaders. These symbols are generally available in the paintings of the early Jaina book illustrations of the कल्पसूत्र and allied texts, although a few stray ones such as the elephant was sculptured as on the capitals of the pillars in the आयागपटs.

In the Mathura art of the कुषाणs, or for the matter of that throughout the succeeding ages of Jaina art in India, it was only two poses of the तीर्थंकर that were depicted by the Jaina iconographers One relates to पद्मासन the yogic posture in which the person sits rigorously with soles of feet and palms of hands facing up and the spinal straight and stiff so that maximum of concentration is ensured The other is known as कायोत्सर्ग in which a spirit of abandon is manifest to the utmost. कायोत्सर्ग literally the giving up of the body is a physical as well as a metaphysical dedication to the cause of attainment of omniscience It is a pose of not only negative surrender but also of positive attainment of knowledge through surrender Here in this pose the withdrawal of the senses is the primary objective leading ultimately to मोक्ष which means in Jainism a freedom from bondage and entrance into a life blissful.

The successors of the कुषाणs in Mathura were the Guptas whose achievments lay not *only in* political extermination of the कुषाs but in establishing an era of art and literature and also certainly of architecture. The Guptas were in their personal faith Brahmanical Hindus *though they must* have liberally patronized all the religions and their consequent art. In one of the inscriptions of कुमारगुप्त I there is mention of the establishment of an image of पार्श्व and in another *of* the dedication of a Jain image by a certain lady In the record of Skandagupta probably a Jaina पञ्च तीर्थी image is stated te have been set up After the Gupta empire had established itself firmly a prolific school of bronzes devoted to Jaina icons grew up in Akota, a few interesting specimens of which have been discovered recently testifying not only to the flourish of Jaina bronze art in the period but to the existence of a manufactory of this metal in this well-known period of Indian history The Akota bronzes reaveal तीर्थङ्कर figures with features of that bold restraint which characterises the plastic art of the Gupta period It is a happy and successful combination of the features of fine workmanship and balanced compositio1 In this period we have from the सोनभण्डार caves of the वैभार hill of राजगृह (mod. Rajgir) an interesting group of Jain sculptures started showing the pedestal with certain symbols which in later years came to be stabilised as emblems or लाञ्छन In these pedestals we find, as in the case of नेमिनाथ the Dharma-chakra occupying the central position flanked by the figure of a शंख or conch shell, one on each side of the chakra which in conformity with contemporary practice was shown with an anthropomorphic *male figure before it There is at least one figure of* नेमिनाथ *in which the stele shows a* miniature figure of Sarasvati attached to it proving thereby how some of the most popular deities in Brahmanism had also been adopted, though in subordination to the Jinas, into the fold of Jaina iconography and religion There are some specimens also in this period where the development of the motifs on the pedestal affords an interesting study by itself An image of ऋषभनाथ from a Jain temple of Rajgir shows the representation of the लाञ्छन, the bull, flanking a devotee adoring a female four-armed deity at the centre In a few cases of later images the prostrate figure of a lady probably the mother of the Jina is also shown on the pedestal, flanked by figures of the emblem of the तीर्थङ्कर concerned. In a Rajgir image of similar type depicting शान्तिनाथ *there is such a female* figure on the pedestal flanked by a deer each on the sides. It was late in the Gupta period also that the practice of showing the Navagraha along the two sides of a तीर्थङ्कर figure that *came to be in* vogue and the useful number of the Navagrahas was confined to eight, Ketu being left out the initial stages. In the सारनाथ school of sculpture during the later Guptas we *have a few* images which show the special features of this school as well as a few important themes introduced in Jaina iconography It is an interesting scene of कमठ's attack on पार्श्वनाथ that is depicted in *one of the sculptures discovered* from the Sarnath regions. The host of army of कमठ is shown attacking the penancing Jina in कायोत्सर्ग pose who is being protected by an umbrella held by पद्मावती the devoted serpent diety while the नागराज धरणेन्द्र is seated with folded hands, The features of the सारनाथ School with protruding lower lip, round shoulders

the जानाग्रुसी the long lobes of ear the rounded knees-are all marked in the image under reference

In the Khandagiri and Udayagiri caves and their outer facades, sculptures of the 8th-9th century only show a continuity of the Gupta tradititions but introduce as well certain features of the eastern or more particularly of the Orissan school. Here life-size figures of individual तीर्थङ्कर with and without the लाञ्छन are hewn out of the living rock at considerable heights. Here also we find individual figures of यक्ष and यक्षिणी sculptured with certain features peculiar to them. The earliest to be so sculptured separately among the यक्ष and यक्षिणी were only those that had gained popular acceptance for worship and devotion. One of them was अम्बिका, the deity of children A huge individual figure of अम्बिका is carved on the rock in Khandagiri at some height. The concept of these यक्ष and यक्षिणी is a clear influence from Tantricism which entered into Jainism about the 8th-9th century These deities generally attached to तीर्थंकर are otherwise known as शासनदेवता meaning "the deities upholders of the शासन or the preachings of the Jina In fact, as the legends about some of these figures reveal, they were devoted followers of the Jaina faith and had shown in their life this devotion at great cost. Either by virtue of this devotion or through the influence that some of these people exercised in society they were regarded as the right guardians of the teachings of the pontiff तीर्थङ्कर. The लाञ्छन or emblems which were by necessity to be attributed to these figures in iconography for purposes of identification were in some cases connected with them by some stories apparently developing later There are variations both in the interpretation of these लाञ्छन as well as in their attribution to any यक्ष or यक्षिणी according as the figure belonged to the श्वेताम्बर or the दिगम्बर sect. The literary prescriptions of these लाञ्छन also do not always tally with extant images. In fact, there is a long row of these तीर्थङ्कर with figures of यक्ष and यक्षिणी below in the Navamuni caves on the Khandagiri hills of Orissa which reveal interesting and queer emblems. These sculptures cut in relief belong to about the 9th to the 11th centuries A. D At the entrance to the बारभुजी caves there are two interesting figures of चक्रेश्वरी and अजितबाला respectively on two sides, where the यक्षिणी have been sculptured independently and prominantly with the effigies of the Jinas shown in miniature at the top It is intererensting to note here that the iconography of some of these deities have been borrowed from the pantheon of Brahmanical Hinduism and suitably adapted to Jainism. Some of the figures reveal the common features and enable the careful student of iconography to compare with their respective counterparts in the other religions. चक्रेश्वरी for example is वैष्णवी not only because of the predominance of the weapon chakra in the hands of the deity but also because of the vehicle, गरुड़ which forms also the emblem for her These यक्ष and यक्षिणी though originally human beings, the guardians of the Jaina teachings, as already stated come to be attributed super-human powers of conferring boons to the devotees and therefore were given super human forms e g. multiple hands with different weapons.

In the caves of बदामी in the 8th century we have evidence of Jain sculptures in the form of standing Jina figures in relief or figures of saints practising penance It was, indeed,

a peculiar feature of Jainism that Jaina saints came to be sculptured in their pose of penance. A number of them also in the caves of Ellora provide interesting examples where amidst *serene atmosphere suggested by dozing gazelles staying* in confidence, long continued penances of the saints are shown by creepers having grown over their body standing in कायोत्सर्ग unconcerned to the happenings of the world. This motif in Jainism found a unique expression in the 10th century *at Chandragiri in* श्रवणबेलगोला *Mysore where the famous* colossal figure of गोमटेश्वर stands as a tribute paid to the heroic forbearance of a Jaina saint's life of penance In the Ellora caves we have also a few sculptures depicting the scene of कमठ's attacks on penancing पार्श्वनाथ *Here* कमठ *with his host of army with deadly* weapons, on the back of buffaloes, is shown attacking with all the fierceness while पद्मावती recognizable by her serpent hood, holds the protecting umbrella.

From during about the 8th-9th century of the Christian era *a very important develop*ment took place in the matter of representing different तीर्थंकरs. In the earlier images apart from the distinctive features of the falling hair on the shoulders in the case of आदिनाथ and the serpent hood in the case of पार्श्वनाथ the pedestal was occupied with the chakra figured either frontally or in profile, flanked by worshipping devotees. A later development of the scene on the pedestal is a couple of the connected animal as for example, the bull for आदिनाथ flanking the central chakra in addition to the devotees During the centuries that followed, this device of doubly showing the animal was given up for a simplified mode of marking the animal at the centre of the pedestal. This change also suggests the tendency to do away with all semblance to Buddhist mannerism in art, according to which as is well known, the chakra as the Wheel of Law occupied the central part of the pedestal flanked by a pair of deer symbolizing the Deer Park. The differentiating style as evolved in Jainism, *therefore was a natural development brought about by the necessity to avoid the confusion* between images of the two sects who mostly occupied common religious sites.

The transformation of the theme in the pedestal further in Jainism was destined to *become a distinctive contribution of the Jains to the art traditions of India According to* this development the गणधरs or the chiefs of the disciples were replaced by the शासनदेवताs or deified member-supporters of the शासन that is teachings of the Jina, as already noted. With the growth of the concept of the शासनदेवता in the Parikar or the *compositional* framework is also connected the practice of showing Brahmanic deities as attending on a central तीर्थंकर figure. A very interesting instance comes from Mathura where figures of बलराम and वासुदेव flank on two sides a figure of ऋषभनाथ with figures of शासन देवताs, one *male* and the other female, on each side lower down in the parikara. The emergence of these शासनदेवताs *as independent deities* was due partly to the influence of Tantricism in Jainism as aforesaid. Starting originally as influential members of the Jaina laity these शासनदेवताs were gradually endowed with super human powers and were given more than a couple of hands holding different weapons peculiar *to the character* and powers attributed to them In some cases they were clear borrowers from Hindu mythology While however Brahmani

cal deities like Saraswati or Kubera were absorbed in this heterodox faith but made to be affiliated with one or the other of the 24 Jinas with the small effigy of the latter shown at the top. In some cases like that of लक्ष्मी or गणेश the affiliation was not marked by any figure of a Jina though it was implied by other associations

In the development of the iconography of these शासनदेवताs or यक्ष and यक्षिणीs the initial stage was marked by the figuring of these lower in the parikara on the sides of the figure of a Tirthankara. Perhaps simultaneously the more popular or important of these pairs of deities were sculptured independently Two of them, as already noted, were very much conspicuous in the earlier periods, namely पद्मावती attached to पार्श्वनाथ and अम्बिका attached to नेमिनाथ Other यक्षs and यक्षिणीs followed in quick succession and all the 24 तीर्थंकरs soon came to be associated with a couple each, a male and female in iconography As the individual iconography developed with a large number of varieties in the weapons and the number of hands mythological stories grew up around each personality connecting the यक्ष or the यक्षिणी with a particular Jina by a special incident and thereby influencing their iconography One very important development took place in the iconography of the यक्ष-यक्षिणीs and that was in attributing a separate emblem for each one of them, male or female. This apparently grew out of an emblem bias of the Jains in art and as a mechanical following of the practice adopted in the case of the Jina figures The emblem as a symbol—either a design or an animal or a bird was also connected with the individual यक्ष or यक्षिणीs by a special story in each case

With this background of the development of the यक्ष concept we may refer to the instances of independent figures as in the Jaina caves at Ellora where in the 7th-8th centuries we have colossal independent figures of some of the more important of these groups of deities like अम्बिका and Gom-dha The process was complete by about 10th 11th century when the iconography of these figures reached its height of complexity In fact, by this period large borrowings from Brahmanic sculpture-complex had taken place on the one hand and on the other Tantricism had deeply penetrated into this faith as it did in most other contemporary sister faiths like Budhism. The original human personalities of these deified figures were lost and a large element of super human character developed around these, which was iconographically expressed in multiple arms with a wide range of attributes, weapons and symbols. The transformation was deeply rooted and completely revolting so much so that they came to be known as Yakshas and यक्षिणीs i.e. super human beings independently capable of conferring boons, much in the same way as Brahmanic cult deities. In iconography which was, in fact, the only channel through which the artist could play his imagination and satisfy his inherent love for a diversity of forms and expressions, the assimilation of the Brahmanic types and its consequent complexity opened up a large scope for sculptural forms. This was far more possible in such a flexible group of divinities than in the case of the Jinas, as all that related to the iconography of Jinas was crystallized long before. In other words, t was यक्ष iconography that remained a living force in Jaina art-expressions throughout the succeeding ages.

To take a typical example of the impact of Tantricism on Jainism and its iconography which resulted in a grand elaboration of the lower pantheon, the यक्ष and their kind, with unreserved absorption of Brahmanic deities, we may turn to the figure of चक्रेश्वरी of the बारभुजी caves Udayagiri hills, Orissa, which shows remarkably interesting absorption of the iconography of दुर्गा महिषमर्दिनी with twelve arms holding most of the attributes of the Brahmanic counterpart. As we have already noted, under influence of Tantricism the more prominent of the यक्ष and यक्षिणीs became independent deities, both in their forms and in their function The only slender link that they were allowed to retain in iconography was to have a small effigy of the respective Jina on their crown or further up in the aureole, to which we have already drawn reference.

From during the 10th century an elaborate group of iconographic *representations grew* up around खजुराहो in central India under the Chandellas *The temple structures architecturally conforming to a large extent to the contemporary style of the region, are effaced with* details of icons carried out *almost to the point of absurd verbosity Each individual piece in its lyricism of form and melody of expression stands out* as an *embodiment* of delicacy *and grace Sculptural details of the* पार्श्वनाथ *temple* at खजुराहो while revealing the same contemporary *sensuous charm* hold up *to us* an elaborate panorama of the Jaina pantheon with all manner of complexity These sculptures here as well as elsewhere transgress far beyond the textual prescriptions so much so that any attempt at co relation between the two is a determined failure Yet the Jina images of this period standing out in their pristine forms and poses of the कायोत्सर्ग and पद्मासन in the midst of a whole host of not only यक्ष and यक्षिणीs but of the borrowed Brahmanic deities constitute a bold challenge to the already crystallised form of the faith itself and reveal a most powerful attempt at keeping equal pace with the brisk activities in the creative art of the period. Looking at the Jina figures one is transported to a realm of celestial beatitude. The touch of mediaval sensuality is able to tarnish only the exuberant figures of the subsidiary deities. Here indeed, lies the unsullible trait of a figure representing Jina and a general plasticity of all the rest in Jaina Art.

During the 10th century which was in the south marked by a great epoch of the colossal shows, apart from the श्रवण-बेलगोला figure of गोम्मटेश्वर, a continuity of this distinctive aspect of Jaina art in few more instances from near about regions like कार्कल and वेणूर *These colossal figures serve as a pointer to the height of supreme knowledge a Jaina ascetic is supposed to reach and is suggestive of the personal elevation that he strives to attain in* this very life and existence.

In the west, from the early mediaeval period Gujrat started to be *the centre of Jaina* art and architectural activities Iconographic materials and sculptures enfacing the temples built by the Chalukyas of Gujrat are a testimony to this mediaeval activity In miniature paintings the कल्पसूत्र texts and texts of other Jaina works like the कालकाचार्य-कथा starting from early 12th century A.D provide iconographic material available as text illustrations The full life stories of some of the more important तीर्थंकर्s like महावीर and पार्श्वनाथ are

illustrated in these miniatures providing a cros-section of miniature art of India of a particular period.

The most magnificent of stone carvings done throught a continuous period of over two centuries by the Jains started here also in Gujarat on Mount Abu, ancient अर्बुदाचल The earliest of these temples dedicated to आदिनाथ and built by Vimala of the प्राग्वाट family minister to king भीम I in 1010 A D., reveals the immense possibilities of the plastic art in marble. A most prolific school of sculpture also flourished at चन्द्रावती near Mount Abu founded by the same minister Vimala. The touch of extravagance characterising the आदिनाथ temple was carried to a far greater extent in the temple dedicated to नेमिनाथ the 22nd Jina, and completed in 1231 A D by तेजपाल It is here that detailed scenes from the life of नेमिनाथ including the scene of his marriage his decision to renounce the world, are depicted panel by panel though with little clarity Separate figures of तीर्थंकर, of a whole set of 16 विद्यादेवीs carved as petals of a full blown lotus on the inner ceiling of the temple, figures of individual यक्षिणी and a few isolated figures of royal court scene including portrait of ministers are all that form the subject matter of en elaborate iconography carved to permanence in the purest of stone.

Throughout the three centuries from about the 12th, Jaina monuments with their consequent sculptural iconography spread through the far flung regions of this vast sub-continent. But the one feature that runs in and through this entire activity is a trait of stylization of forms and conseqent stagnation. The grace and the delicacy of physical charm had already vanished out of the chisel of the sculptors, yet, so far as study of iconography is concerned one is feasted with a baffling mass of iconographic material in almost every temple of the period material which have very little or no bearing on the prescribed texts The artist or the sculptor appears to have been given a completly free hand in the choice of his subject matter or theme. The love for profusion itself appears to have got complete control over the artist and his imagination which was left with very little scope for artistic expression.

Jaina Epigraphy

Prof P B DESAI, M. A.,
Department of History Karnatak University Dharwar

Vast and varied is the Jaina epigraphic literature. Its antiquity goes back to the centuries before the advent of Christianity Jaina inscriptions are found in almost all parts of India, in the north, south east and west. They are engraved on the rocks of hills, slabs of stone, copper plates and pedestals of images. The scripts employed are different varying according to the age and the region. Their languages are many such as Sanskrit, Prakrit, Kannada Tamil and Telugu. As for their dimensions they range from simple names of devotees or pilgrims to lengthy descriptions of prominent personages including teachers and pontiffs running into several pages. Some of the records offer excellent specimens of prose and poetic compositions All these records are highly useful for reconstructing the illuminating history of this pervasive religion with its philosophy and ethics.

Outstanding among the early epigraphs of North India is the famous हाथीगुम्फा inscription[1] of श्री-खारवेल the lord of Kalinga Inscribed in a cavity in the Udayagiri Hill near Bhubaneswar in Orissa, this record has revealed for the first time the existence of a unique emperor of Jaina persuasion who belonged to the महा-मेघवाहन family of the चेदी clan and flourished in the second or first century B C Besides being an implicit adherent of Jainism खारवेल was its enthusiastic supporter and contributed for its prosperity He brought back the Jaina image formerly snatched away by a king of the Nanda dynasty from Kalinga. He excavated caves for the Jaina monks in the कुमारीपर्वत i.e. उदयगिरि hill and also built a monastery

The epigraph concludes with the significant words —

> "The prince of welfare, king of prosperity mendicant monarch ruler of piety supremely triumphant is he, the glorious emperor खारवेल"

खारवेल s queen was also an ardent follower of Jainism. The following inscription[2] caused to be engraved by her in the Manchapuri cave in the Udayagiri Hill stands testimony to her piety and devotion to the faith

> "This temple of the Arhats and cave for the श्रमण of Kalinga has been made. It has been made by the chief queen of the illustrious खारवेल the overlord of Kalinga who was the daughter of king ललाक"

Originally confined to a small area Jainism soon started on a career of conquest and there is reason to believe that महावीर himself moved to Kalinga to preach his gospel. In the

1. *Ep Ind* Vol., XX p. 72 f.
२. Ibid., Vol. XIII p. 159

हाथीगुम्फा inscription cited above occurs an expression mentioning the setting in motion of the wheel of conquest on the कुमारी Hill[1] and thus seems to contain an allusion to the visit of the great teacher to the Kalinga country

The migration of श्रुतकेवली भद्रबाहु along with his disciple, the Maurya emperor Chandragupta, to the southern part of Mysore in the third century B C. constitutes an important landmark in the history of Jainism in south India. This episode is narrated in an inscription at श्रवण बेलगोला[2] as follows —

> "Success : Be it well. Victory has been achieved by the venerable वर्धमान the establisher of the glorious holy faith and the embodiment of the nectar of happiness resulting from the perfection attained.
>
> Now indeed, after the sun महावीर has completely set भद्रबाहु-स्वामी who came in regular descent from the venerable supreme Rishi गौतम-गणधर who was acquainted with the true nature of the eightfold great omens and was a seer of the past, the present and the future, having learnt from an omen and foretold in Ujjayini a calamity lasting for a period of twelve years, the entire Sangha set out from the North to the South and reached by degrees a country containing many hundreds of villages and filled with happy people, wealth gold grain and heards of cows, buffaloes goats and sheep"

Jainism however seems to have journeyed to the Tamil country through Kalinga and आन्ध्र prior to its advent into कर्नाटक This is indicated by epigraphic sources. In the southern parts of the Tamil country particularly in the areas of the Pudukkottai, मदुरा and Tinnevelly districts, are found a large number of ancient relics in the form of beds popularly attributed to the Five पांडवाs They are carved in hills and caverns, some of them bearing inscriptions in peculiar ब्राह्मी characters of about the third or second century B C. As some of these beds are associated with Jaina symbols, it is possible to conclude that they were the creations of Jaina monks who had settled in those areas for the propagation of their faith before the third century B C [3]

Epigraphy has largely contributed to the historical study of the Jaina Church in the Tamil land. It is revealed by inscriptions that in course of time the Jaina monks organised monastic orders and developed a large number of strongholds for spreading their doctrines all over the area. They popularised their faith among the masses by introducing new devices such as the ceremonial worship of the secondary deities like Yaksha and यक्षिणी

From numerous references in inscriptions to the teachers and lay followers of the fair sex, we come to know that Jainism claimed a considerable quantity of womanfolk in its fold.

1 The expression reads —सुपवत विजय चक्र कुमारी-पवते For explanation see my *Jainism in south India* and *some Jaina Epigraphs*

2 *Ep Carn* Vol. II, Ins. No. 1 The inscription has been roughly assigned to A.D 600.

3 For a detailed discussion of their interesting problem and different views held by scholars see *Jainism in South India* etc. (op cit.) pp. 27 ff and 93

Conspicuous among the monastic orders of the Tamil church are कुरत्तियारः (feminine of Sanskrit *Guru*) or ordained lady teachers who appear to have enjoyed greater measure of freedom here than in other parts [1]

Jainism wielded influence to the farthest limits of peninsular India and we may note with interest that this faith was entrenched in the cornerland of Kerala. Worthy of mention as *Jaina centres in the southern part of this region* are *Tiruchchanattumalai* and Nagarkoyil which have treasured Jaina vestiges to the present day The former name which in its full form 'Tiruchcharanattumalai means the sacred hill of the चारण्स is reminiscent of the Jaina tradition relating to the चारण्स who were Jaina monks indowed with supernatural powers. This place possesses *prominetly carved* on its rock a figure of अम्बिका, the यक्षिणी of नेमिनाथ तीर्थङ्कर, who is mentioned as भट्टारि i. e goddes in an inscription found near the spot.

We now pass on to कर्नाटक where there is profusion of Jaina monuments and epigraphs. It is generally believed that the land south of the Vindhyas was monopolised by the Digambara order of the Jainas. But this belief is clearly believed by epigraphy which shows that the followers of the श्वेताम्बर school existed here side by side with the Digambaras from early times, though not predominantly By way of illustration one piece of epigrapic evidence *may be cited in support of this view*

A copper plate charter of the Kadamba king of मृगेशवर्मन[2] of about the 5th century announces the grant of a village in favour of the Jaina gods and the Jaina recluses. Among the latter distinction is made between the great congregation of monks of white robes, i.e. the श्वेताम्बरs and the great congregation of the निर्ग्रन्थ ascetics, i.e. Digambaras.

The Jaina scholars made substantial contributions to Sanskrit and some of their contributions are in the form of epigraphs. From the literary as well as historical point the Aihole प्रशस्ति[3] *of the* चालुक्य king पुलकेशिन् *II is a rare piece of Sanskrit composition in* ornate style inscribed on stone and its author and Jaina poet रविकीर्ति is entitled to an exalted place along with कालिदास and भारवि

The Jaina inscriptions of कर्नाटक *generally commence with the following Sanskrit verse* in praise of the जिनशासन

श्रीमत् परमगम्भीर स्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनम्, जिन शासनम् ॥१॥

"May the *doctrine of Lord Jina be victorious—the doctrine which is the command*-ment of the overlord of three worlds and which bears the glorious and supremely profound स्याद्वाद (theory of may be) as its infallible characteristic mark"

1 The question has been surveyed in all its aspects in my article 'कुरत्तियारः in तामिल नाडु' see the *Journal of Indian History* Vol. XXXVI Part II August 1958.

2. *Ind Ant* Vol. VII p. 37

3 *Ep.Ind.*, Vol. VI, pp 1 ff

A good number of inscriptions are devoted to the descriptions of Jaina scholars and teachers belonging to various monastic orders and their geneological accounts in Sanskrit. Here is a specimen passage praising a precepter[1]

> His disciple, an emperor of philosophy lord of great fame overspreading the whole sea girt earth, a lion adorned with the pearls scattered in splitting the frontal globes of the rutting elephants, the five senses, honoured by the learned, favourite of सरस्वती was श्रुतकीर्तिनन्दी Munipa"

A profound scholar and adept in polemic contests was the renowned teacher Samanta bhadra who is described in the following speech attributed to him in an epigraph.[2]

> "At first the drum was beaten by me within the city of पाटलिपुत्र afterwards in the country of मालवा सिन्धु and ठक्क, at काञ्चीपुर and at वैदिश I have now arrived at करहाटक which is full of learned men, profound in scholarship and crowded with people. Desirous of disputation, O king, I exhibit the sporting of a tiger
>
> "When the disputant समन्तभद्र stands in thy court O king, even the tongue of धूर्जटि, i.e. शिव who talks clearly and skilfully turns back quickly towards the nape of the neck. What hope can there be for others ?"

श्रवण बेलगोला is a renowned sacred centre visited by thousands of Jaina devotees from all parts of India. But few are aware of the fact that there flourished in the south another holy place that equalled nay even excelled श्रवण बेलगोला in sanctity and eminence.

Explorations carried on at Koppal during the past years have revealed the importance of the place as a supremely sacred resort of the Jains. According to the testimony of epigraphs and tradition Kopana was adorned by an exceeding large number of Jaina temples and shrines. The veracity of this statement is brought home to the explorer through the Jaina epigraphs and other relics that have survived to the present day at modern Koppal after the devastating activities of the hostile elements.

Allusions to कोपण as a Jaina तीर्थ par excellence are found in many inscriptions at श्रवण बेलगोला, one of which refers to its immense wealth of Jaina temples[3] An inscription in the Shimoga district[4] extols it as "distinguished among the millions of Jaina sacred places" Kopana is mentioned as Koppam in the inscription of the Tamil country which testify to its sanctity and eminence. This sacred place maintained its reputation for nearly one thousand years from the seventh to to the sixteenth century after which period it passed under a spell of oblivion[5]

---

1 *Ep Carn* Vol II No 66

2. Ibid No 67

3 *Ep Carn* Vol II Sh No 127

4. *Ibid.* Vol. VII (Part I) Sh No. 64

5. For details about the antiquities and importance of Kopana see *Jainism in South India* etc. (op. cit.) pp. 200-206 & 338 ff.

Let us now proceed to श्रवण बेलगोला itself This Jaina centre is famous on account of the monolithic colossus of the epic personage बाहुबलि popularly known as गोम्मटेश्वर carved out of rock and perched on the top of a hill. This wonder of the world is the creation of चामुण्डराय minister and general of the western Ganga ruler राचमल्ल (circa 983 A D) The story and legend associated with the erection of this unique image are graphically narrated in an inscription[1] at श्रवण बेलगोला thus

'The emperor Bharata, son of पुरुदेव caused to be made near Paudanapura an image, 525 bows high, resembling the form of the victorious-armed बाहुबलि केवली After the lapse of a long time, a *world terrifying mass of innumerable* कुक्कुट-सर्प having sprung up in the region near that Jina, that enemy of sin obtained the name कुक्कुटेश्वर Afterwards that region became invisible to the common people, though seen even now by many skilled in spells and charms.

On hearing from people of the celebrated supernatural power of that Jina a desire arose in his (i.e. chamundaraya s) mind to see Him, when he prepared himself to go he was told by his preceptors that the region of that city was distant and inaccessible whereupon saying in that case I will cause to be made an image of that god, गोम्मट (i.e. चामुण्डराय) had this god made. Combining in the himself learning, *purity of faith, power virtuous conduct, liberality and courage the moon of the* Ganga family राचमल्ल was celebrated in the world. Was it not that king s matchless power viz. चामुण्डराय alias गोम्मट an equal of *Manu*, that thus caused this god to be made with great effort ?"

The image thus created has combined in itself the unsurpassed virtues not only of loftiness, but also of beauty and supernatural power This unique feature of the image is further described in the inscription cited above.

'When an image is very lofty, it may not have beauty when possessed of loftiness and real beauty it may not have supernatural power loftiness, real beauty and mighty supernatural power being all united in it, how worthy of worship in the world is the glorious form, comparable to itself of गोम्मटेश्वर Jina.

As in South India, a series of Jaina centres and holy spots have thrived also in *North* India One such is Girnar in Kathiawar On this sacred hill arose shrines dedicated to the eminent Jaina deities and details about these foundations are recorded *in inscriptions* Two brothers, वस्तुपाल and तेजपाल of the प्राग्वाट family who were ministers of the Chalukya king वीरधवल have immortalised their names by *their religious* zeal and munificent endowments for the promotion of the Jaina faith at गिरनार and other holy places. A verse in a *Sanskrit epigraph of* 1230 A D at *Girnar* while recounting the memorable services of वस्तुपाल praises his generosity in the following terms[2]

1 *Ep Carn* Vol. II, No 234

2. प्राचीनलेखमाला part III, p 186.

After king भोज has passed away piercing through the sun and the illustrious Munja has acquired the supremacy of Heaven, here stands alone solitary वत्सराज intent upon wiping out the flow of tears of the poor and the needy"

Soon after the *establishment of the great Vijayanagara empire*, *Jainism* which was reduced to a faith of the minority at this time was threatened by a crisis. This was, however averted by the foresighted and statesmanly action of the king बुक्कराय I who safeguarded the interests of its adherents and assured them a place of honour and status of equality among his subjects[1]

Under the benign patronage of the Vijayanagara rulers Jainism raised its head once again. Jaina temples and institutions were erected in the city of Vijayanagara, the very heart of the empire. One such shrine was dedicated to the rare deity Kunthu the seventeenth तीर्थंकर This event is related in an inscription at Vijayanagara[2] dated 1385 A D through the following charming phrases.

> 'There is a city named Vijaya which is resplendent with wonderful jewels and which exhibits the spectacle of an unexpected moonshine by the multitude of its white-washed palaces. There the girls play on roads paved with precious stones stopping by embankments of pearl sand the water poured out at donations
>
> In this city the general Iruga caused to be built of fine stones a temple of the blessed Kunthu, the Lord of Jinas Let there be prosperity to the religion of Jina !

The general Iruga or Irugapa a Jaina by persuasion, was a minister of king Harihara II He is credited with the authorship of the Sanskrit lexicon नानार्थरत्नमाला

Within half a century after this beneficient foundation, another temple dedicated to पार्श्वनाथ the twentythird तीर्थंकर came into being in this capital through the catholic act of the king देवराय II The passage describing this transaction in another epigraph of 1426 A.D at Vijayanagar[3] runs as follows.

> The illustrious lord Devaraja who was famed both for wisdom and modesty caused to be built in a street of the above mentioned city in the पान-सुपारी बाजार a temple of stone which gives delight to the good which is a bridge of entire merit, to the blessed पार्श्व the lord of Jinas "

The above is only a glimpse of what Jaina Epigraphy has contributed to the unravelling of the hidden treasures of history and culture of Jainism

---

1 *Ep Carn* Vol II No 344

2 *South Indian Inscriptions* Vol I No 152

3 Ibid. No 153 This and the above record are in Sanskrit.

Jaina Discipline & Philosophy of Life

Dr AMARESWAR THAKUR

Introductory

Jainism is one of the most ancient religions of India. The date of the birth of this monastic organisation is a very difficult task for the historian to ascertain The orthodox section of the Jains claim that it exists from time immemorial and actually believe that the Jaina religion is the oldest of all religions. They further hold that this great religion was introduced in this sacred land of Bharata by Risabhadeva who was an illustrious ascetic and the first Tirthankara. He was the first king among men also and it was he who first taught men how to perform household duties. He taught them the arts of pottery thrashing grains cooking etc. He taught men seventy two arts and women sixty four for women had to be skilled in domestic and not in literary and industrial crafts But his greatest glory was that he first made the people of India conversant with Jaina faith He is believed to have flourished when the world had just passed out of the happiest age and lived for crores of years. On account of his founding the Jaina religion he was called Adinatha or Adideva Since that hoary past there have been twenty four Tirthankaras in all including Parsvanatha and Mahavira the twenty third and twenty fourth Tirthankaras. It is now admitted that Parsvanatha was an historical person and lived about 250 years before Maha vira. He is supposed to have been born in 817 B C in the town at present known as Varanasi Though the orthodox opinion is that without a study of the lives and activities of all the Tirthankaras the understanding of Jainism must be incomplete, yet the modern scholars are prone to begin their survey of this religion with Parsvanatha and Mahavira or rather with Mahavira. It is further thought by some scholars that it was Parsvanatha who effectively organised the houseless monks remaining outside the pale of Brahmanism and thus was in reality the practical founder of Jainism as we find it now and that Mahavira did the work of a true reformer much improving upon what his spiritual predecessor did This view may be partialty or wholly correct The world knows, however that but for Mahavira Jainism would not have attained the glorious position as it did as one of the greatest religions of India. Modern researches have shown that Mahavira (born— 99 B C.) was initiated at the age of 30 (569 B C). He initiated himself After initiation he wandered throughout India for twelve years In the thirteenth year he gained Kevala (omniscience) Now he took upon himself the task of showing the path of liberation from wordly illusions In order to fulfil this task he had to found the four Tirthas viz. of sadhus (monks) sadhvis (nuns) shravakas (lay brothers) and shravikas (lay sisters) The Jaina shastra ordains that those who take refuge in this chaturvidha samgha or fourfold communion will find a way to ultimate salvation and

hence these four tirthas are as it were, four boats that will infallibly carry passengers they bear unto the desired haven of deliverance (moksa)' In order that you may be freed from the danger of rebirth you should be a monk or a nun if possible or a devout layman or a laywoman—exhorting people in this way Mahavira like all other previous Tirthankaras organised and regulated the four orders and became a perfect Tirthankara himself after one more year i e in the fourteenth year of his renunciation It is thus evident that the history of the monks and nuns is as old as that of the Tirthankaras. It may be assumed that the advent of an ascetic of uncommon ability destined to be a Tirthankara was a necessary sequel to the thorough dislocation of the previous samgha due to all round unchastity untruths, indiscipline and various other transgressions springing up among its members. This is partially borne out by the fact that Mahavira himself at the age of thirty entered the previously established order of Parsvanatha but had to leave it after twelve months when he noticed that the discipline among the monks of this order was too lax. Of the four constituents of the samgha the first two i.e monks and nuns were of course its very life, but the importance of the other two i e laymen and laywomen could in no way be minimised. The household duties of the laymen and laywomen prevented them from renouncing the world and becoming monks and nuns yet they served the cause of the samgha in various ways, first by keeping the rules of the samgha though in a modified form, and secondly by supporting the professed ascetics by giving alms and lodgings to them whenever needed In a way these two organisations consisting of persons from influential mercantile community and other high ranks and even of kings helped Jainism to have a firm root in India. They were indeed an integral part of the samgha and enabled it to withstand many political and religious storms that would have otherwise swept away Jainism from the very land of its birth Mahavira realised the necessity of connecting the laity with the ascetics and introduced posadha vrata by which a layman had to pass some of his time as a monk

One of the most outstanding events in the history of Jainism is the great schism of the community into the Svetambara and Digambara sects It appears there were two differing views regarding the significance of the principle of aparigraha the fifth mahavrata. Mahavira and his followers held that aparigraha meant complete non-possession and involved discarding all clothing and adopting the state of complete nudity According to the Digambaras, Mahavira discarded clothes at the time of his initiation but the Svetambaras tell us that he did it after thirteen months. The members of Parsvanatha s order held, however that absolute nakedness was not a practical proposition and some covering (an under and upper garments) could be allowed. The genius of Mahavira kept the contending parties together during his life tim.. But after his death differences began to appear and at about 300 B C clothes versus no-clothing question seriously agitated the minds of the two branches of the church, but it was not till the lapse of 600 years after the demise of the great leader that the Digambaras finally seperted from the main community The division of the Jaina community into Svetambara and Digambara sects was complete by the end of the 1st century A.D.

There was another big schism in the Jaina community and it accurred much later. The Jains from the earliest times do not recognise a divine creative spirit. But the practice of worship was in vogue among them. The denial of God as the creator made them worship venerable men—their teachers and gurus Arhats Jinas and Arihantas Images of these adorable personages were being gradually set up and temples began to be constructed. With the passing of the time idolatry became a regular cult with the Jains. Idols were introduced in the Jaina church perhaps in the 2nd or 1st century A.D This cult of idolatry received however a serious set back after several centuries with the rise of the Sthanakavasi sect. This sect is non-Idolatrous from the time of its birth and arose out of the Svetambara sect. Lonka, an Ahmedabad Jain originally belonging to the Svetambara sect being induced about 1474 A.D by a Svetambara sadhu named Jnanaji to copy some Jaina scriptural books for him found in the course of reading them that idol worship was nowhere mentioned This being pointed out gave rise to a great controversy as to the lawfulness of idolatry Lonka Sa became a gread advocate of non-idolatry and his view was being gradually recognised. Lonka sect was founded and a sadhu of the Svetambara sect became its first guru But abuses crept into it and some members of the sect being displeased with the ways of life its sadhus were following joned a reformer Viraji of Surat who was a layman of this sect. This layman became a sadhu and true ascetic and was highly admired for his character and strictness of life. These dissidents from the Lonka sect took the name of Sthanakavasins. They were thoroughly non-idolatrous but used to live in sthanakas or the places set apart specially meant for sadhus to live in So the division of the Svetambaras into Svetambara idol worshippers (Mandirapanthi) and Svetambara Sthanakavasi became an established fact. This happened about 1653 A D

Yet there was another schism. After nearly 100 years (A.D 1759) the Sthanakavasi sect which was already divided into many minor branches suffered another big cleavage and as a result came out Terapanthi sect. The history of the Terapanthi sect coming into existence is interesting and we briefly narrate it. Terapanthi sect was founded by Bhikanji Svami who was born in the year 1726 A D in the Marwar state. From the very boyhood he had a religious trend of mind and had a zealous regard for persons of holy character He approached the sadhus of various sects such as those of Gacchavasi sampradaya patiabandha sampradaya etc. But his religious thirst could not be quenched He saw in them more of outward show than real religious spirit. So he turned his attention to Raghunathji who was an Acharya of one of the branches of the Sthanakavasi sect. Bhikanji was then a married man but lost his wife in the meantime. He took a vow of Brahmacharya for the rest of his life after obtaining permission from his mother got initiated by Raghunathji in the year 1751 Bhikanji Svami remained with his guru for eight years. He was a very sincere and devout student of the Jaina shastra and after a careful study of the same found that the path his guru and the sadhus under him were following was not a correct one in many respects. He pointed out the deviations some of which were serious and implored the guru to give a correct lead,

But the guru would not hear him and remained adamant. His only argument was that the time was extremely bad people were of irreligious disposition and it was not possible to lead a true sadhu-life in that age. Svami Bhikanji could not be satisfied and with thirteen sadhus and thirteen laymen formed a small group and separated from Raghunathji Sthanakavasa (residence in a fixed place) was not to the liking of Bhikanji Svami as it was against the rule of law and he began in the course of his wanderings to take shelter in vacant places and in places meant for residential purpose offered to him for use One day the thirteen lay people were resting for religious worship in a vacant shop in a certain bazar in Jodhpur when Dewan Fatechandji Singhvi was passing through it He asked them the reason of their not resorting to a Sthanaka and the thirteen laymen apprised him of what Svami Bhikanji and his thirteen sadhus, who were following his lead stood for A poet who was accidentaly present there composed a short peom in appreciation of the right stand taken by Svamiji and jocosely designated the newly formed sect as Terapanthi (followers of the path of the thirteen) having in mind the number (i e. thirteen) of the sadhus and of their followers Bhikanji, when he heard of the poem accepted the name Terapanthi and gave his own interpretation to the term—they were really the followers of the path of Tera (thine i e of Lord Mahavira) and moreover they closely followed thirteen rules i e. five mahavratas the five samitis and three guptis. Svami Bhikanji reordained himself to his own order and initiated the thirteen sadhus again in 1760 A D and thus the age of the Terapanthi sect founded by Bhikanji Svami is just 200 years The great Acharya died in 1803 A.D at the age of 77 Since then seven other Acharyas of the sect passed away one after another from this world and the last of them was Kaluram Gani. He was born in 1876 A.D and the year of his death was 1936 A.D He was a vastly learned man and a great Tapasvi practising the highest austerities. His lucid exposition of the shastra elicited unstinted admiration from all quarters. His extra-ordinary power of endurance, his uncommon self restraint and calm serenity shown in death-bed will remain a by word for ever among the Terapanthis He died rather a premature death Just three days before his death he nominated Sri Tulasiramji a monk of the sect and then a mere boy of 22 years as his successor It is a custom prevailing in the Terapanthi sect that every Acharya can nominate his successor Sri Tulasiramji was born in the town of Ladoun (Rajasthan) in 1914 and initiated when he was only ten years of age. Though young in age he was quite mature in intellect and properly educated by his guru He became a profound scholar and earned proficiency in various shastras and languages. He is at present one of the most notable personalities in India. He is a great man—great in intellectual achievements great in learning, great in austerities and great in character He is a lifelong Brahmachari a powerful and fearless exponent of Jaina tenets a man of genuine religious urge and an organiser of outstanding ability He is at the head of a renowned and perfectly disciplined religious body comprising 700 monks and nuns and more than five lakhs of laymen and laywomen all over India He does not know how to hurt and he is purity and simplicity incarnate. Though a sincere votary of non injury he has taken up arms and his arms are

against carruption and all sinful dealings that reign supreme in India to-day he has sponsored the anuvrata movement for fighting all immoral practices. His message of peace and moral awakening is inspiring, his persuasive eloquence is invigorating and his lead is always healthy Monks and nuns look up to him as a saviour and the laity find solace in him in their troubles and distress. Sri Tulasiramji the ninth Acharya of the Terapanthi sect is indeed a wonder of the modern age.

Diksha — entrance into monkhood.

The Shravaka has remounced the five faults (atichara) he is free from doubts he has no predilection for another faith, he does not question the efficacy of Karma, has no regard for hypocretes and has given up all connections with them. He has taken the five anuvratas he has promised never to intentionally destroy any jiva having more than one sense, he does not tell a lie for commercial or other gains and does not exaggerate things, he does not steal or take what is not given to him, does not buy stolen property and does not approriate *any article which others may have* lost, he remains faithful to his married wife and does not allow any evil thought about women to cross his mind he has curtailed his desire and put a limit to his possessions He has taken the three gunavratas and other seven vratas also He has become a sincere desavrati. By taking all the twelve vows (vratas) he has kept his body in training and health and to a great extent has freed himself from love and hatred In addition to these he has taken pratimas also which are eleven in number : he has undertaken to worship a Tirthankara and guru and cultivated belief in true dharma, he has promised not to take any uncooked vegetable and never to take his meal during night time he has promised not to have any association with his wife and to give up all worldy pursuits involving destruction of life such as building a house digging a tank etc he has got rid of all attachments to earthly possessions and is fully prepared not to take any service from anyone, he refuses to allow any special cooking for him and to tender any advice to *anybody in regard to worldly affairs. Finally he has begun to wear a sadhu s dress and to* broadly follow the rules and customs prescribed for a sadhu. Above all he has now a strong desire to renounce the household life In this state of preparedness the layman (shravaka) approaches the guru of the samgha and prays for ordination into monkhood Sometimes the shravaka candidate comes of a wealthy and respectable family and is well educated. He is kept *under observation by the guru for a year or so and during this period he is to prove his sincerity* of purpose The guru preaches to him the hardships and responsibilities of a monk's life and when he is convinced that the candidate is really keen about his religious career that his desire to renounce the worldly life is genuine, that he has lost all attraction for wordly goods and on the whole is not totally ignorant of the aims, doctrines and principles of Jainism and further that *he considers religious life as superior to laylife* then and then only his prayer for entering into the order is conceded and arrangement made for the diksha The Terapanthis do not disqualify a person on the ground of age, though they are disinclined to entertain any proposal for diksha from a p rson less than nine year old It may be noted that each

of the eight acharyas from Bharimalj Svami to Sri Tulasiramji got their initiation at below the age of sixteen.

Jaina diksha is a solemn affair It is held in public and thousands of respectable people of all faiths (including high government officials and state dignitaries) assemble from far and near to witness it. In the afternoon of the day preceding the diksha a great procession is formed and led through the town. The candidate is attired in gorgeous dress and taken in a decorated car from house to house and to the sadhus and sadhvis present there. In the early morning of the diksha day the candidate gets his head shaved and a few hairs only remain to be pulled out by the acharya. He then takes his bath and it is his last bath—he will not take any other bath during the whole of his life Then he comes to the place of the diksha with his dress on and makes obeisance to the sadhus and sadhvis. After this he retires to a private place takes off his jewels and clothes and puts on the dress of a sadhu and humbly approaches the acharya. Now the acharya proceeds with the essential part of the function. First of all he demands the letter of permission from the candidate's parents or guardians and in the case of a married person from the wife or husband. It is termed ajnapatra and requires to be attested by some respectable persons. Being read by the acharya it convinces everybody present in the assemblage that the candidate is renouncing the worldly life out of his own free will and there is no element of force or compulsion in it. If the ajnapatra is not forth-coming, the diksa will remain postponed—so great an importance is attached to it. The diksha begins with the plucking out of the remaining few hairs from the head of the candidate which the acharya does by reciting mantras. It should be mentioned here that there may be more than one candidate and of both the sexes. When this is the case they are all simultaneously initiated. In the case of a female candidate only the plucking out of the hair is done by the head sadhvi as it is prohibited for a sadhu to touch a woman even. Then various diksha mantras are uttered by the acharya. All these mantras are in ardhamagadhi The diksha being complete, the candidate becomes a sadhu or a sadhvi and is entitled to take a seat with the sadhus or the sadhvis. The Jaina diksha is not an ordinary diksha—it is a diksha into pancha mahavrata, pancha samiti and trigupti. The initiated person has given up his wealth and has cut off all connections with his relatives and friends and has begun his journey to reach the path leading to inward peace and happiness and to the end of samsara.

The great Vows.

Mahavira prescribed five great vows for all ascetics. These are ahimsa (non-injury or non-killing), asatyatyaga (giving up untruthfulness), asteya (non stealing) brahmacharya (chastity) and aparigraha (relinquishing attachment to any person or thing) A sixth vow was added to these and this is ratribhojan-tyaga (giving up dining at night). It deserves to be mentioned here that Parsvanatha had recognised only four vows (ca-u-jjamo dhammo). He did not explicitly mention chastity (brahmacharya or maithunaviramana) and it was intended to include it in aparigraha. Now what does ahimsa mean ? Ahimsa is

simply a resolve not to commit himsa, i.e. not to hurt any living or sentient being Himsa has been defined as asat pravrittya pranavyaropanam, asat pravrittirva (depriving a Jiva or living being of its life under the influence of evil or harmful impulse caused by love hatred or carelessness or himsa is nothing but the evil or harmful impulse itself) Jiva (a living or sentient being) is not interpreted in the Jaina shastra in a limited sense Jain view is that life exists where ever growth and movement are seen Under this principle not only human beings birds beasts worms etc. are regarded as sentient but earth, fire, water wind and plants also are recognised as endowed with life. The Jains divide all worldly beings first into movable and immovable ones. The immovables are (1) Prthvikayas (earth lives)—they are many and live in various earthbodies such as rocks gravel, sandstones vermilion antimony coral etc. (2) Apkayas (water lives)—pure water dew exudation fog and ice (3) Vanaspatikayas (plants)—trees shrubby plants, grass mushrooms etc. Movable beings are of three kinds. They are (4) Agnikayas (fire-lives) - coal, burning chaff, burning coal, flame of fire, meteors lighting etc. (5) Vayukayas (wind lives)—Whirlwinds squalls, high winds, low winds, samvartaka wind (hurricanes) causing periodial destruction of the world, parivaha wind by which heavenly bodies are set in motion etc. These beings have only one organ of sense viz. touch. (6) Trasakayas (movable beings with organic bodies i.e. animals). They are divided into four varieties (a) Beings with two organs of sense viz. touch and taste—worms, shells, conches, sankhanaga (very small conchlike animals) cowries leeches etc (b) Beings with three organs of sense viz touch, taste and smell—ants bugs, white ants etc. (c) Beings with four organs of sense viz touch taste smell and sight—flies, mosquitoes bees scorpions etc, and (d) Beings with five organs of sense viz. touch, taste smell, sight and hearing—denizens of hell higher animals like fishes, tortoises, crocodiles makaras horses cows, elephats, lions, tigers, lizards, snakes, bats, crows etc. men living in Karmabhumi, Akarmabhumi and Antaradvipaka (minor continents) gods—Bhaumeyikas, Vyantaras Jyotiskas and Vaimanikas. For a layman observance of the principle of non killing starts from beings having two organs of sense But monks and nuns vow not to kill or injure even a being with one organ of sense The Uttaradhy ayanasutra emphatically declares that a monk who hurts living beings seeds and sprouts is called a bad monk A monk or nun who is sincere takes every care to see that no violence is perpetrated against any living organism and with that purpose in view never scratches, digs, shakes or breaks any piece of earth stone or clod never touches or drinks cold water and never drinks water from a river pool or well never treads, stands sits or lies on seeds or sprouted seeds and never touches green vegetables, plants and grass never ignites blows or extenguishes fire never snaps the fingers and never fans the body with a chowrie or with a winnowing instrument or with a leaf or by hand

Any body who has seen a Jaina sadhu must have noticed that he wears a piece of cloth over his mouth This is to guard against injuring wind-lives and not, as is wrongly thought, to prevent the killing of invisible animal lives in the air It is of course needless to say that the Trasakaya Jivas cannot have any cause of fear from a monk. He has bound himself not to

take any life in any form and it is quite definite that even an insect life will not escape his merciful attention Ahimsa is really the foundation stone of Jain faith and Jaina dharma has been rightly designated as ahimsa dharma. The principle of ahimsa which is exalted to a position of primary importance lays stress however not so much on saving a life as on refraining from killing it Saving undoubtedly follows non killing, yet the direct object of the monk is not to save others but to protect himself from sinning against the Law, by strictly adhering to non injury

The second great vow is a vow against untruthfulness (asatyatyaga or mrishavadaviramana). Asatya anrita and mrishavada—these are synonymous terms and signify untruthfulness. *The Dipika* defines anrita as asadbhavodbhavanam (revelling or indulging in things not in existence i.e. unrealities) The causes that lead to untruthfulness are want of proper deliberation anger avarice fear and the habit of jesting or cracking jokes A sadhu always avoids these faults in order that he may not have to tell a lie. He will not take resort to falshood even to protect his life and religion. He always takes care however to see that his truth-speaking does not cause any grief or pain to anybody He will not go to the court and give evidence, because his evidence though true may mentally pain the defeated party He will rather maintain silence than speak an unpleasant truth He fully knows that truth is truth when it is pleasant and wholesome and untruth when harsh.

The third vow for a monk to take is the vow of non stealing (asteya) It is also called adattadanaviramana (refraining from taking what is not given) Adattadanam steyam so says the *Dipika* Appropriating what is not given is really theft and a sadhu always desists from it He will not take even a piece of straw found on the road or in the wood Wealth is the outward life of man and if that is taken away the man is undone Sadhus are very particular about the quantity of alms they should take If they take more than what is absolutely needed they will be guilty of breaking the vow of non stealing. They require little and that little too they get by begging and not in other way Being temporarily in need of a house to live in they obtain permission of the owner before they occupy it. They do not use beds seats or any other furniture of the house also without the owner s permission

The next vow is the vow of chastity—brahmacharya or maithunaviramanavrata. Abrahmacharya consists in sexual enjoyment and a monk abstains from it in work, thought and deed He scrupulously observes this vow himself and does not allow or approve its violation by others. "The vow of chastity is maintained by not sitting on seats previously occupied by women female animals, or eunuchs and by not living in their vicinity not participating in exciting conversation about women not remembering former delights, not looking at a woman s form not decorating one s own person not eating or drinking to excess partaking of too highly seasoned food A monk considers it a sin even to touch a woman will never sit on the same seat with her With due alteration of details these rules are [illegible] nuns as well

The [illegible] great vow is the vow of non possession (aparigraha) A monk renounces all parigrahas [illegible] properties He has no land, no grains and no money he does not keep in

his possession salt, oil ghee, or brownsugar As a matter of fact keeping any possession whether little or much small or great animate or inanimate is a great sin to him. The thought of possession is the result of avarice from which he tries to be always free Renouncing love and hatred is the way to maintain the vow of aparigraha. Now a question arises whether a garment or a pot or a blanket or a duster or a book which a sadhu always keeps with him is possession or not We get a clear answer to this question from the Dasavaikalika sutra (VI 19 21) which says that a sadhu keeps these things for the preservation of self restraint or from a sense of shame and not out of attachment. Thus these things must not be considered as possessions We get a further elucidation of the matter from the same authority which unequivocally declares simple possession is not called possession by the saviour Mahavira it is attachment that is called possession (murccha pariggaho vutto). The selfsame truth is expressed more forcibly by Acharya Sri Tulasi. He says Murccha parigrahah murcha mamatvam sarva parigrahah, na tu vastuparigrahanamatrameva yatha—samyaminam dharmopakaranani The body of a monk is not also a possession to him, because he has no attachment to it.

The sixth mahavrata is ratribhojana viramana (abstinence from all kinds of meal at night). The fact is that the monks never use fire and remain away from all kinds of light. Lest they should inadvertently destroy life they promise not to take for the whole of their life any food whether eatable drinkable chewable or tastable after sun set. Keeping food or water by their side at night is also prohibited The monks are so rigid in the observance of this vow that they do not take even medicine at night though this may cost them their lives.

The sadhus avoid the sins of violence (himsa) untruthfulness, stealing, unchastity keeping possession and lastly taking meal at night by both karana and yoga Karana means doing, causing to do and approving. Yoga means thought word and deed. The sadhus do not commit these sins themselves do not cause others to commit these sins and do not approve others commiting these sins they abstain from these sins by thought word and deed

Samitis and Guptis.

Samiti is samyamanukula pravrtti i.e. a rule of conduct conducive to restraint There are five samitis for the practice of the religious lif and the three gupti for the prevention of everything sinf l The samitis refer to the rules of outward behaviour and guptis to the rules for self-discipline i e for the controlling of mind body and speech Th se eight rules put together are the essence of the Jaina cr ed and specially binding on the monks. A sadhu is not to si through walking throu h speech through food and drink through carelessly placing and taking a thi g and through carelessly throwing away surpl s food and ref se—this i in short what the rules imply (1) The first samiti is irya samiti A mo k sees that in the course f h wandering h does not injure e en an insect by st p ng on it. He a ows generally fi d paths and takes to paths trodden by men beasts and carts etc so t t he may not cau e the death of a y li i creat re He walks carefully and ev n c y

his way in front of a him upto the length of one yuga (four cubits) He pays attention to his walk only and not to the objects of sense or to his study He generally walks in daytime and has a longhandled brush to sweep insects from his path. (2) Bhasha samiti comes next. A monk always uses gentle salutary sweet and righteous speech He is very cautious and carefully refrains from inflicting pain on anybody by his speech While speaking he avoids anger pride deceit and greed, laugther fear loquacity and slander His speech is always blameless and concise—anavadya bhashanam bhasa) (3) The third samiti is eshana samiti. Eshana means searching and eshana samiti consists in searching for faultless food and drink (nirdoshanna panaderanvesanameshana) A monk carefully inspects his articles of food. He never eats any food which contains living beings, At the time of begging he satisfies himself that the food offered has not been prepared or procured for him He does not take from the householder any food which is prohibited in the shastra such as meat, butter and honey He accepts only the food which on inspection is found to be pure and harmless. He rejects the food when it is known that fire is burning beneath it. He gets his food drink and wearing apparel by begging and he begs these things from many houses in order that too heavy a tax is not levied on any particular householder He particularly considers whether the condition or occupation of the giver forbids accepting alms from him. (4) Then comes the adananiksepa samiti Upadhyadeh vastrapatradinam sayatnam vyaparanamadananikshepah : (i.e. while taking a thing such as cloth vessel, book etc. or while laying a thing down on the ground a monk exercises the greatest caution to see that no sentient being is destroyed). While in begging he takes a piece of cloth he closely observes it and if there is any insect found he removes it gently When he borrows a stool from the owner of the house he is temporarily residing in he first of all carefully dusts it and then places it on the ground after the ground has been clearly swept. (5) The last of the samitis is utsarga samiti. A monk is always careful in the disposal of surplus food and water excrements, waste papers rags etc. (uccharadeh savidhiparisthapanamutsargah) A sadhu begs so much food as is absolutely needed. When the food is, however in excess of the need or anyhow unusable, he does not keep it overnight or carelessly throw it away but disposes of it in such a way that it may not injure any insect life and that no new life may spring out of it He performs also the operations of nature in desert places The Uttaradhyayanasutra lays down A sadhu should leave his excrements, urine, saliva mucus uncleanliness of the body offals of food, waste things, his own body (when he is about to die) and everything of this description in a place neither frequented or seen by other people which offers no obstacle to self-control which is not even covered with grass and leaves, where the ground has been cleared not long ago by burning the grass etc. which is spacious, has an inanimate surface layer not too near the village not perforated by holes and is exempt from insects and seeds.

Three Guptis

Manovakkayanigraho guptayah —Guptis consist in controlling the mind, speech and body Samitis are positive and guptis the negative virtues. Samitis invariably co-exist with

the guptis but the guptis exist without the samitis. Guptis are three in number viz. manogupti 'vachanagupti' and kayagupti (1) Manogupti—A monk always tries to keep his mind under control He does not think of sensual pleasure and keeps his mind engaged in contemplation and study He does not wish anybody misfortune and prevents his mind from thoughts on acts causing misery and destruction to living beings He does not indulge in grief joy and anger and maintains an impartial attitude making no difference between the rich and the poor He thinks of no external objects thinks only of his soul and the Tirthankaras. (2) Vachanagupti A monk tries also to control his speech. He abstains from saying bad things by adopting a vow of silence for a number of days or speaking as little as possible. He does not express any desire for anybody's misfortune and prevents his tongue from giving vent to any thought on acts causing misery and destruction to any living being. (3) Kayagupti—A monk in trying to control *his body puts it in an immovable posture* He directs all his physical activities in such a way as not to hurt any living creature In standing sitting, lying down jumping, going and in the use of his organs a zealous monk should prevent his body from intimating abnoxious desires, from doing acts which cause misery to living beings, or which cause their destruction."

A monk's eighteen points.

A monk takes a very strict care of eighteen points viz. six great vows, six groups of living organisms and the six faulty actions Any negligence in regard to any of these points will cause a fall from his monkhood. Of the six great vows the vow of ahimsa is of primary concern to him and he never fails to scrupulously observe it. A full knowledge of the six groups of livivg organisms thus becomes obligatory to him in the absence of which he will be in the dark as to which and whom not to hurt. The six faulty actions are begging inappropriate food and drink taking bath, making decoration using a householder's pots, using raised seats and sitting in a householder's residence. (1) If a monk takes food and drink in begging which have been specially prepared procurred or purchased for mendicants, he will cause trouble to the householder and commit himsa in an indirect way (2) Taking bath will also entail himsa as the water used for the purpose whether cold or heated will flood away subtle living organisms in salt soil, cracks and clefts (3) A monk is shavenheaded with measured clothing or no clothing at all and abandonment of every form of luxury and enjoyment is his creed. So he does not think of decorating his body in any way whether with ointment or with lodhra flowers and lotuses (4) Taking food and and drink in bronze pots or earthen jugs belonging to a householder will require their cleansing with water and the water necessary for the purpose will be carelessly thrown away injuring many living beings. A monk in order to save himself from the sin of indirect himsa does not use such pots. (5) A good monk generally abstains from using bed steads, chairs, armchairs, stools and all other raised seats on the ground that these things have *dark recesses and corners* where living beings are difficult to be detected When however the use of such a thing becomes absolutely necessary to a monk he does it only after careful inspection. Last though not

his way in front of a him upto the length of one yuga (four cubits) He pays attention to his walk only and not to the objects of sense or to his study He generally walks in daytime and has a longhandled brush to sweep insects from his path. (2) Bhasha samiti comes next. A monk always uses gentle salutary sweet and righteous speech He is very cautious and carefully refrains from inflicting pain on anybody by his speech While speaking he avoids anger, pride deceit and greed laugther fear loquacity and slander His speech is always blameless and concise—anavadya bhashanam bhasa) (3) The third samiti is eshana samiti. Eshana means searching and eshana samiti consists in searching for faultless food and drink (nirdoshanna panaderanvesanameshana) A monk carefully inspects his articles of food. He never eats any food which contains living beings. At the time of begging he satisfies himself that the food offered has not been prepared or procured for him. He does not take from the householder any food which is prohibited in the shastra such as meat butter and honey He accepts only the food which on inspection is found to be pure and harmless. He rejects the food when it is known that fire is burning beneath it. He gets his food drink and wearing apparel by begging and he begs these things from many houses in order that too heavy a tax is not levied on any particular householder He particularly considers whether the condition or occupation of the giver forbids accepting alms from him (4) Then comes the adanamksepa samiti Upadhyadeh vastrapatradinam sayatnam vyaparanamadananikshepah : (i.e while taking a thing such as cloth vessel, book etc. or while laying a thing down on the ground a monk exercises the greatest caution to see that no sentient being is destroyed). While in begging he takes a piece of cloth, he closely observes it and if there is any insect found he removes it gently When he borrows a stool from the owner of the house he is temporarily residing in he first of all carefully dusts it and then places it on the ground after the ground has been clearly swept. (5) The last of the samitis is utsarga samiti. A monk is always careful in the disposal of surplus food and water excrements, waste papers rags etc. (uccharadeh savadhiparisthapanamutsargah). A sadhu begs so much food as is absolutely needed. When the food is, however in excess of the need or anyhow unusable, he does not keep it overnight or carelessly throw it away but disposes of it in such a way that it may not injure any insect life and that no new life may spring out of it He performs also the operations of nature in desert places The Uttaradhyayanasutra lays down A sadhu should leave his excrements, urine, saliva mucus uncleanliness of the body offals of food waste things, his own body (when he is about to die) and everything of this description in a place neither frequented or seen by other people, which offers no obstacle to self control which is not even covered with grass and leaves where the ground has been cleared not long ago by burning the grass etc. which is spacious, has an inanimate surface layer not too near the village not perforated by holes and is exempt from insects and seeds.

Three Guptis

Manovakkayanigraho guptayah —Guptis consist in controlling the mind, speech and body Samitis are positive and guptis the negative virtues. Samitis invariably co-exist with

the embodied soul) Gotrakarman (determining the gotra or caste of the embodied soul) and Antarayakarman (preventing one s entrance on the path leading to eternal bliss) The first four of these karmans are ghatin (highly injurious and difficult to be destroyed) and the last four aghatin (not so injurious and requiring no great efforts to be destroyed)

Now there are different channels through which karma flows into the soul. They are called in the Jaina philosophy ashravas' They are in other words karmopadanahetavah (i e. the ways through which the soul receives various karmans) The five senses, the four kashayas (emotions springing from love and hatred)—krodha (anger), mana (conceit or pride) maya (deceit and intrigue) and lobha (greed) five avratas (activities offending against the principles of ahimsa, mrishavadaviramana, asteya, brahmacharya and aparigraha) and the three yogas (propensities of the mind speech and body)—these are the seventeen principal ashravas. There are twenty five minor ashravas also such as building a house or tilling a field obeying the commands of some false faith etc.

Karman must be got rid of Otherwise the attainment of moksha which is the highest goal of life will remain an impossibility As to the accumulated karmans they will be dissipated some in their natural course and some by the observance of austerities The Uttaradhyayana (XXX—5 & 6) says— As a large tank when its supply of water has been stopped gradually dries up by the consumption of the water and by evaporation so the karman of a monk which he acquired in crores of births is annihilated by austerit1e if there is no influx of bad karman So the main thing for a monk is to see that no new karman accrues to the soul The influx of new karmans must be arrested and this arrest of karman is samvara (ashravanirodhah samvarah). The principle of samvara is considered as of supreme importance by the Jainas—this principle conjointly with the principle of nirjara is designated dharma (samvaro nirjara cha dharmah) which in its turn is essentially the means of purifying the soul (atmasuddhisadhanam dharmah) The Jaina shastra recognises fifty seven means of impeding karman (1) five samitis (2) three guptis (3) twenty two parisahas (4) the ten great duties of monk like ksama mardava etc (5) the five charitras or rules of conduct and (6) twelve bhavanas or reflections. The samitis and guptis have been briefly dealt with Parisaha means troubles and Mahavira himself commanded that in order to check the influx of karman the monks should patiently endure the twenty two troubles and not be vanquished by them They should not mind the troubles arising out of hunger thirst, cold, heat, gad-flies and gnats they should endure the troubles in regard to clothing, ungrudgingly receiving dirty old or torn garments or should even be without clothes they should never feel tired of ascetic life and should discard all liking for women they should have no fixed residence and should choose disagreeable places such as cremation grounds burial grounds, deserted houses jungles haunted by ferocious animals etc for the purpose of meditation they should not complain about lodgings and should sleep contentedly on the bare ground if no beds are lent to them they should overlook all cruel treatments from lay people if even beaten they should not be angry or entertain any sinful thoughts if they

least (6) a monk in the course of his begging scrupulously avoids sitting in a householder's residence in order to guard against unchastity putting impediments to other mendicants and rousing the wrath of the householder There is exception, however in the case of a monk who is very old or ill or who is practising penance.

Karma—the cause of bondage.

The word karman is derived from the sanskrit root kri (to do) and means action or deed In Jaina shastra it indicates the energy accummulated by action or to put it simply the result of action. Karma is stated to be atmagrihitapudgala (particles of matter received by the soul) when an individual under the influence of a beneficial or injurious impulse, or love or hatred does an act, the pudgalas of that act get connected with the soul and produce good or bad results in future. Every Jiva except a Siddha possesses a karmana sharira i.e. a body composed of these pudgalas which is very subtle Atma is covered as it were by this sharira which is indestructible When the audarika sharira (the body that is seen) is destroyed, the karmana sharira enters into another gati (state or condition) The pudgalas have forms and atma is formless, yet connection takes place between them and this connection is anadi (beginning less)—atma is drawing pudgalas every moment by the stream of actions it is incessantly doing and in every action remains latent its result (phala) like oil in seeds and butter in milk Our bandha or bondage is caused by the union of soul with karma pudgalas (material particles of karma) and as these pudgalas have definite shapes they are capable of inflicting hurt or doing good. As in all other Indian faiths, so in Jainism too an enormous importance is attached to karma. Karma is the chief content of Jaina philosophy and the central idea of Jaina faith With the Jainas karma is everything and caste is nothing. Karma (results of one s action) is all powerful and that it is so is regarded as an axiomatic truth. It explains all our inequalities in life and is the sole cause of our births and rebirths. So long as karma remains the cycle of rebirths cannot be stopped—transmigration is the undivorceable spouse of karma they say Both good karma and bad karma will cause bondage—one with a golden and the other with an iron chain. Life ends in death and no happiness is everlasting—no body can deny this truth So in ultimate analysis janma (birth) is duhkha (progenitor of sorrow) Thinking and intelligent people therefore fear the future rebirths more than the present troubles and karma being the root cause of rebirth, they always try to free the soul from karma The Jaina sadhus have renounced their attraction for wordly prospects and devoted their life to the teachings and practices of their shastra with the sole object of extinguishing karma and thereby escaping re-embodiment and passing into a state which is absolutely free from births and deaths.

Ashrava and Samvara

There are eight kinds of karma and they are Jnanavaraniya (acting as an obstruction to right knowledge), Darshnavaraniya (acting as an obstruction to right faith) Vedaniya (causing to experience pleasure or pain), Mohaniya (leading to delusion) Ayuhkarman (determining the length of life) Namakarman (determining the name or the individuality of

perform austerities (4) giving up all interests in worldly objects by casting away passion and keeping free from all perceptions of pain fear grief disgust and smells and (5) cutting as under all attachments to the world and constantly meditating on the soul As regards the second rule of conduct viz. confession it is very important and binding on all ascetics. Confession is done every morning and evening in which a sadhu recounts his guilts generally in the formula may my sin be forgiven Transgressions against the vows must be confessed to the acharya and when a transgression is of grave nature it must be confessed at once. Con fession purges the sinner of the sins committed. If a sadhu continues with his sin the result becomes rather disastrous – he ceases to be a true sadhu. A sadhu coming from the begging round and before breakfasting stands motionless (kayotsarga) before the acharya (guru) remembers all transgressions in connection with his going out, coming in and accepting alms and narrates them to the latter It is stated in the Uttaradhyayana XXIX—11 & 12, that by this pratikramana (confession) the sadhu obviates transgressions of the vow and thereby stops the ashrava and by kayotsarga he gets rid of past and present transgressions requiring prayaschitta.

Last of all, in order to impede the inflow of karman the monks should always keep in mind the twelve bhavanas or reflections on the vanity of life and on the excellence of Dharma. It is stated in the Sutrakritanga (I 15 6) that he whose soul is purified by medita ting on the reflections is compared to a ship in water like a ship reaching the shore, he gets beyond misery These bhavanas are (1) anityabhavana—reflection on the impermanence of wordly things. It should always be remembered that nothing but Dharma and the soul that clings to it can escape destruction (2) asharana bhavana—reflection on shelterlessness It should constantly be borne in mind that man has no other shelter than Dharma. Dharma only can give true shelter against oppressions, disease and death and remaining in the path of Dharma only is the way to get out of the clutches of karman. (3) samsarabhavana—reflection on the endlessness of the cycle of rebirths. It must not for a moment be forgotten that a man should make the best use of his present human birth for in the future rebirths he may be a beast, a bird or a denizen of hell. (4) ekatvabhavana—reflection on loneliness. It should always be thought that a man comes alone and will go alone and there will be none to accompany him at death to share the fruits of his action (5) anyatvabhavana—reflection on the non-identity of the soul and the body Inflow of karman is stopped by realising that in reality soul is quite different from the body (6) asauchabhavana—reflection on the impurity of the body It should always be remembered that the body is made up of filth and dirt and other impure substances and coming in contact with it the soul also has become soiled and as such the body deserves to be despised. (7) ashravabhavana—reflection on the channels of karman. It should always be understood that actions passions and senses, if allowed to remain uncontrolled, will only broaden the channels of karman to enter into the soul with consequent aggravation of miseries (8) samvarabhavana—reflection on the ways of arresting karman. A mere determination to adopt means for reducing karman will

fail to get a thing or even food when on begging tour they should not feel disappointed or disgusted they should bear when falling sick all pains patiently and should not long for medical treatment they should be indifferent to the pricking of grass or discomforts from dirt and dust, they should not when feeling uneasy or exhausted, long for relieving or pleasant things and show any predilection for men showing them marks of respect they should also repress the troubles of being puffed up with their learning or achievements or of being dejected at the thought of their ignorance finally they should free themselves from the trouble of harbouring any doubt regarding the value of asceticism and the truth of their own religion

Besides these parishahas the monks subject themselves to other hardships also with a view to retarding the growth of karman. They endeavour always to be self dependent and do not take any help from any body not even from their own shravakas in the performance of their daily duties They are perpetual wanderers and suspend their wandering only for four months of the rainy season They always travel on foot and not by railway steamer or boat. They carry themselves their books and other articles while going from one place to another and do not engage a servant or take any help from laymen for the purpose. When their eyesight becomes defective they do not use spectacles They always walk barefooted even in the hottest sun or in the severest cold. They barely take sufficient food and fast every day from sunset to sunrise. The Jaina shastra does not permit monks to take any direct medical aid from a doctor even in cases of serious illness. This rule as is natural, is responsible for several unlucky incidents in the community but the monks have not become less strict on that account. It may be mentioned that His Holiness Kaluram Swami, the eighth acharya of the Terapanthi sect out of scrupulous regard for this rule of conduct did not allow himself to be operated upon by a doctor and the case proved fatal. Another hardship endured by the monks consits in their hair being plucked out by the root at least twice a year This practice of plucking off' (lunchana) is very old and referred to in the Uttaradhyayana XXII 24 It is further related that Bharata the eldest son of Rishabhadeva at his renunciation was ordered by Indra himself to pluck out five handfuls of his hair as is the custom of Jaina monks on entering the order

The ten duties of the monks, consit in (1) showing forgiveness by controlling anger (2) cultivating humility by curbing arrogance (3) developing simplicity and honesty by keeping away from intrique and deceit (4) eschewing greed by driving away selfish thoughts (5) practising austerities by separating from worldly concerns (6) subduing mind, speech and body (7) lovingly speaking the truth (8) strictly observing celibacy and abstaining from all ideas of re-entry into the householder s life (9) claiming ownership to no wordly object and regarding none as a relation and (10) keeping the body clean and the soul free from impure thoughts The five charitras or rules of conduct consist in (1) shunning all evil conduct and giving up to meditation keeping the mind in a state of equanimity (2) making confession of all transgressions (3) mutual rendering of help and service to

pravartanam). It consists in governing the senses refraining as far as possible from the exercise of intellect speech and body controlling anger deceit, pride and greed and using unfrequented lodgings and beds i e. living and sleeping in separate and unfrequented places where there are neither women nor cattle (Indriyayogakashayanighraho viviktasayyasanam cha pratisamlinata) The internal austerities are prayaschtta, vinaya, vaiyavritya svadhyaya dhyana, and vyutsarga. (1) prayaschitta—expiation of sins. It is an act done for purification from sins (aticharavishuddhayo anushthanam prayaschittam) *Alochana (confession)*, pratikramana (atonement or making amends), mula (re-initiating) etc. are the different forms of prayaschitha. (2) vinaya (politeness) It consists in rising from one s seat folding of the hands offering of a seat, loving the guru and cordial obedience It is of seven kinds—Jnana vinaya darshana vinaya charitra vinaya (reverence for superiority in knowledge, faith and character) manovinaya vachanavinaya and kayavinaya (an attitude of humility in mind, speech and body) and upacharavinaya (rising from one s seat, offering a seat etc.). (3) vaiyavritya -(*service*) *Service should be rendered* to the acharya, upadhyaya (instructor) old ascetics one practising penance, a sick sadhu a newly initiated sadhu and the great community (4) svadhyaya (study)—Studying the doctrines and the scriptures in proper time and favourable environment is svadhyaya. It is fivefold saying or learning one s lesson (vachana) questioning the teacher about it (prichhhana), repetition of what has been learnt by heart (paravartana), pondering over the meaning of what has been learnt (anupreksha) and religious discourse (dharmakatha). (5) dhyana (meditation)—Meditation is fourfold artadhyana—meditating on the separation from the beloved and wailing in grief from them and on the union with the detestable rudradhyana—meditating with anger on any personal injuries sustained dharmadhyana—meditating in accordance with the precepts of the sacred books on the Law on the sayings of the Arihanta, on kashayas like love, hatred etc. and on the *fruits of action sukladhyana—it is the purest and highest of all the dhyanas* and to be performed after the dharmadhyana. It is all-sublime : it is concentrated purely on the siddhas The first two dhyanas are bad and instead of destroying cause accumulation of karmans and thereby bondage The last two lead to liberation and are for a Kevalin only to practise, who being freed from all earthly ills constantly medidates that he is going to be a Siddha. (6) vyutsarga (abandoning of the body) —A monk becomes absolutely indifferent to the body food drink, clothing and pots and remains without any bodily exertion when lying down sitting or standing upright.

These six austerities are internal because they are the intimate cause of moksha and moreover the mental faculties are stimulated by them, as it were

Gunasthanas.

Every ascetic aspires to be an Arihanta at last and attain moksha. The Jaina *shastra* recognises fourteen stages (called gunasthanas) for the fulfilment of his object In the first stage the layman being completely under the influence of ignorance knows nothing of truth and mistakes false religion for true religion. In the second stage he improves a little,

produce good results on the soul. (9) nirjarabhavana—reflection on the determination that karman may be expiated by the practice of austerities. (10) loka bhavana—reflection on the loka (world) It should be comprehended that this world has not been created by anyone. Thinking of the worlds under the form of a man with hell at the feet and the siddhas at the top of the head will impede the flow of karman (11) bodhidurlabhabhavana—reflection on the non-availability of bodhi (right faith, right knowledge and right conduct) Constantly thinking that a human being only can acquire the triratna (these three jewels) one should firmly establish oneself in the path of religion. (12) dharmabhavana—reflection on dharma Constantly thinking that the highest religion consists in non injury keeping the triratna and strict observance of the rules laid down in the scriptures one will be able to check the progress of karman.

Nirjara.

Inspite of all efforts karmans accumulate to the soul but in order to attain moksha the soul must be freed from them. Though the connection of jiva (soul) with ajiva (karman) is eternal, it is not so perfect as to baffle the separation of one from the other As a matter of fact karmans can be eliminated from the soul and the sadhus who have renounced everything worldly and aspire after liberation strive hard to that end by means indicated by the shastras The elimination or destruction of karman is 'nirjara In reality it is a particular state of the soul and the Dipika defines it as "Tapasa karmavicchedadatmanairmalyaum (the brightness of the soul attained through the elimination of karmans by means of austerities) The austerities are also nirjara though secondarily because they are the cause. The austerities are of two kinds : external and internal. The external austerities are anasana, unodarika, vrttisamksepa, rasa parityaga, kayaklesa and pratisamlinata. They are external because they relate to external things like food etc and can be seen by others (1) anasana—abstinence from food. It it either itvara (temporary) that is, one may take a vow of fasting for a definite period (for a day for thirty, sixty or more days) or maranakala (taking a vow to fast till the rest of one s life). Another name of maranakala is yavatkathika It is a voluntary starvation and not religious suicide. It is considered highly meritorious and called also santhara (2) unodarika or avamodarika—taking less food than usually taken. It is partial fasting and consists in gradually decreasing the quantity of food. This vow includes reducing the number of pots and clothes of daily use (3) vrittisamksepa or bhikshacharika—imposing restriction on food. A monk takes a vow to limit the kinds of food he will take, the places from which he will obtain food and the time for obtaining food (e.g., he will take only the food begged before noon) (4) rasaparityaga—abstinence from dainty food. A monk takes a vow not to take all his life, such highly nourishing food and drink as milk, curds ghee, sugar etc (5) kayaklesha—mortification of the flesh. It consists in the different postures as Virasana etc., sitting in meditation on heated slabs of stones in the full glare of the sun during the hottest summer or in the coldest places without sufficient clothing during the severest winter and (6) pratisamlinata—taking care of limbs (angopangadikam samvritya

pravartanam) It consists in governing the senses refraining as far as possible from the exercise of intellect speech and body controlling anger deceit, pride and greed and using unfrequented lodgings and beds i e. living and sleeping in separate and unfrequented places where there are neither women nor cattle (Indriyayogakashayanighraho viviktasayyasanam cha pratisamlinata) The internal austerities are prayaschtta, vinaya, vaiyavritya svadhyaya dhyana, and vyutsarga (1) prayaschitta—expiation of sins. It is an act done for purification from sins (aticharavishuddhaye anushthanam prayaschittam) Alochana (confession), pratikramana (atonement or *making amends*) *mula* (*re-initiating*) *etc. are the different forms* of prayaschitha. (2) vinaya (politeness) It consists in rising from one s seat folding of the hands, offering of a seat, loving the guru and cordial obedience It is of seven kinds—Jnana vinaya darshana vinaya charitra vinaya (reverence for superiority in knowledge, faith and character) manovinaya vachanavinaya and kayavinaya (an attitude of humility in mind, speech and body) and upacharavinaya (rising from one s seat, offering a seat etc.). (3) vaiyavritya -(service) Service should be rendered to the acharya, upadhyaya (instructor) old ascetics, one *practising* penance a sick sadhu a newly initiated sadhu and the great community (4) svadhyaya (study)—Studying the doctrines and the scriptures in proper time and favour able environment is svadhyaya. It is fivefold saying or learning one s lesson (vachana) questioning the teacher about it (pricchhana), repetition of what has been learnt by heart (paravartana), pondering over the meaning of what has been learnt (anupreksha) and religious discourse (dharmakatha). (5) dhyana (meditation)—Meditation is fourfold artadhyana—meditating on the separation from the beloved and wailing in grief from them and on the union with the detestable rudradhyana—meditating with anger on any personal injuries sustained dharmadhyana—meditating in accordance with the precepts of the sacred books on the Law on the sayings of the Arihanta, on kashayas like love hatred etc. and on the fruits of action sukladhyana—it is the purest and highest of all the dhyanas and to be performed after the dharmadhyana. *It is all-sublime : it is concentrated purely on the siddhas* The first two dhyanas are bad and instead of destroying cause accumulation of karmans and thereby bondage. *The last two lead to liberation and are for a Kevalin only to practise* who being freed from all earthly ills constantly medidates that he is going to be a Siddha (6) vyutsarga (abandoning of the body).—A monk becomes absolutely indifferent to the body food drink clothing and pots and remains without any bodily exertion when lying down, sitting or standing upright.

These six austerities are internal because they are the intimate cause of moksha and moreover the mental faculties are stimulated by them, as it were

Gunasthanas

Every ascetic aspires to be an Arihanta at last and attain moksha. The Jaina shastra recognises fourteen stages (called gunasthanas) for the fulfilment of his object In the first stage the layman being completely under the influence of ignorance knows nothing of truth and mistakes false religion for true religion. In the second stage he improves a little,

his ignorance is a little loosened and he begins to distinguish between what is real and what is false. In the third stage he does not mistake what is false for truth but is in doubt regarding what is true and what is false In the fourth stage he dispels his doubt and though he has not been able to restrain his senses, yet obtains true faith or samyaktva. He understands now what is true and what is false and thinks in this way what is the aim of my life ? Why should I rot in this worldly life ? How should I escape the miseries of life ? In the fifth stage he is determined to renounce the worldly life and to become a monk. He has by now partially controlled his senses but is under pramada (negligences) In the sixth stage he has taken to the life of an ascetic by receiving initiation His passions are controlled but negligences still remain In the seventh stage the monk shakes off sluggishness and all negligences In the eighth stage he has partially subdued the kashayas (anger pride deceit and greed). In the ninth stage the kashayas still persit but in a much weakened state In the tenth stage three of the kashayas viz. anger pride and deceit completely disappear though greed remains in a slight degree. In the eleventh stage mohaniya karman remains quiescent and greed though still more reduced is not extinct yet. In the twelfth stage the mohaniya karman is exhausted parts only of the three other ghati karmans remain and greed is completely vanquished. In the thirteenth stage all the ghati karmans are entirely destroyed and though the aghati karmans remain they are completely powerless to bind the soul. The monk is now a Kevalin (all-knowing and all-seeing) or arihanta vanquisher of enemies i e. ghati karmans) He is omniscent and obtains eternal wisdom, illimitable insight, everlasting happiness and unbounded powers He is still active in the exercises of his body mind and speech and becomes a Tirthankara if he undertakes to spread the religion and if he founds the four tirthas (the institutions of the monks nuns, shravakas and shravikas) In the fourteenth stage the aghati karmans are also destroyed and the exercise of his body mind and speech are completely stopped He attains moksha and becomes a Siddha. He ascends, as an effulgence, on the crest of the sila from which he will never return to the land of birth, decay and death.

Triratna.

The ascetic moving on the path of liberation and passing through different stages acquires Triratna (three jewels) to fulfil his mission Thes ratnas or jewels are—samyak jnana (right knowledge), samyak darshana (right faith) and samyak charitra (right conduct). The Jains lay the greatest emphasis on these jewels which they consider as the sum and substance of their doctrines and tattvas. A knowledge of the Jaina dharma and Jaina shastra is what is signified by right knowledge Wise men call that knowledge right knowledge which one gets whether concisely or in detailed form from the tattvas as they exist Without right knowledge it will not be possible to apprehened what dharma is and how to follow it. Samyakdarshana the central jewel, is right faith Unless a man has correct faith he will negligently discard what he knows. To hold the truth as truth, and untruth as untruth, this is true f ith In consists in having an implicit regard for the nine categories of truth

and a mental attitude to know the truth. Right conduct is the most important of the jewels and without it right knowledge and right faith are of questionable value. A scrupulous regard for the five great vows accompanied by a firm determination to follow the minutest rules and regulations laid down for a monk in the shastra constitutes right conduct. Closing the ashravas, practising self-control and guarding against false precepts are the keyword of right conduct. An unflinching devotion to the Pancha Parameshvara—sadhu upadhyaya, acharya, arihanta and Siddha is right conduct. "Then all the jewels, set together and no longer separated, shall adorn a glorious diadem for the thorn-crowned Man of Sorrows"

Conclusion

An ascetic's constant endeavour is to purify his mind and not to annihilate it as a remedy against all externalities. He tries to purify his mind first by gaining a thorough knowledge of life and non-life and then by strictly adhering to a conduct fully consistent with the principle of non-injury to any life. He is always conscious of his duties and devotes himself to the words of Englightened. His whole dependence is on the shastras and he always acknowledges allegiance to his guru. He is prefectly disciplined and remains well guarded in mind, word and body and renounces all bodily comforts. He voluntarily subjects his body to various forms of tortures and troubles and practises austerities of the hardest type. Reversion to householder's life is considered eating back the vomitted contents and he can never think of it even. He always finds delight in monkhood and study tries to grasp the fundamental truths of Jainism and reach perfection by exertion in righteousness. He equals the ocean in depth, is not frightened by anybody and does not assail or is not assailed by anybody He never talks loosely is not egoistic and has only one aim—to get rid of worldly ties by cultivating self-discipline. He takes particular delight in teaching fundamental tenets of Jainism to the lay people and establishing them on the path of religion and virtue.

Books mainly consulted :

1 Jaina Siddhanta Dipika.
2. Uttaradhyayana Sutra.
3 Dashavaikalika Sutra.
4. Heart of Jainism (By Mrs. Sinclair Stevenson)
5 Lord Mahavira (By Sri Puran Chand Samsukha)
6. Sacred Books of the East Vol. XLV
7 Tattvarthadhigama Sutra.
8. Jiva O Ajiva.

The Enigma of the Universe

[Muni Shri Mahendra Kumar B. Sc. Hons.]

Human mind is an ocean of inquisitiveness and curiosity Every now and then the waves of questions spring forth in it. Man tries to find answers to them by his rational and intellectual power He has succeeded to subside some of them, but there are certain problems which are still confronting him. The two powerful currents of Science and Philosophy have always been active to satisfy his curious mind. Some of the most important and ancient questions are about the UNIVERSE. What is the shape of the universe ?" 'What is the size of the universe ?" "When did the universe begin ?" "When will it end ? " etc. are the questions which have puzzled the human mind from time immemorial.

Scientists and philosophers have tried to give the solutions to the above questions from the very beginning. Especially this subject has been elaborately elucidated in the Jain Philosophy We shall discuss in this essay the views of Modern Science and Jain Philosophy regarding the universe.

MODERN SCIENTISTS VIEW

1. How Big is the Universe ?

Before the advent of 'the Theory of Relativity' of Dr Albert Einstein, there were two views regarding the dimensions of the universe

1 The universe itself is infinite.
2. The universe is an island of matter afloat in an infinite ocean of space.

1 The universe, most scientists agreed, had to be infinite because as soon as they conceded that space might come to an end somewhere they were faced with the embarassing question "And what lies beyond that ?" Thus they were forced to hold the view that the universe is infinite.

2, The second view is based on Newton s Law of Gravitation. Now if we consider the universe as having uniform distribution of matter and being infinite, the Law of Gravitation contradicts it. If this be so, then the total gravitational force of all the masses of matter stretching away to infinity would be infinite, and the Heavens would be ablaze with infinite light. But actually it is not so and hence, the view that it is like an island of matter in the midst of infinite ocean of space held the field.

1 The Universe and Dr Einstein p 100
Perhaps more or less uniform distribution is meant—Editor
2. Ibid p. 101
This result may not follow owing to mutual neutralisation of forces.

3 But the island universe too presented difficulties. The amount of matter it held was so small by contrast with infinity of space that inevitably the dynamic laws, governing the movements of the galaxies would cause them to disperse like the droplets of a cloud and the Universe would become entirely empty[1] Thus, the other view was also not free from difficulties. To remove some of these difficulties, the 'Theory of Relativity' of Einstein, entered the field of Science. To Einstein, the picture of dissolution and disappearance seemed eminently unsatisfactory According to him, it is wrong to picture the Universe in the garb of Euclidean geometry Light rays do not travel in straight lines when passing through a gravitational field. This proves that laws of Euclidean geometry do not hold true in a gravitational field. Now the path of light in a gravitational field is determined by the geometrical structure of the field. The Universe is filled with gravitating bodies like stars, planets galaxies etc.

4 The geometrical structure of the Universe as a whole must be shaped by the sum total of its material contents. For each concentration of matter in the Universe there is a corresponding distortion of the space-time continuum. Each celestial body gives curvature to its surrounding space. The total effect of all the matter of the Universe is an over all curvature of space-time continuum. The result is that the universe (space time continuum) is so curved that it bends back on itself forming a closed cosmic curve. Thus the space (Universe) is finite. But as it is a closed curve, a ray of light will come to its starting place, after travelling round the universe. Thus the universe of Dr Einstein is finite and non-Euclidean.[2]

The above description may become more simplified in the words of the famous scientists. As Prof Sir A. S Eddington writes "I suppose that every one has at some time plagued his imagination with the question, "Is there an end to space ?"[3] If space comes to end what is beyond the end ? On the other hand, the idea that there is no end, but space beyond space for ever is inconceivable. And so the imagination is tossed to and fro in dilemma. Prior to the relativity theory' the orthodox view was that space is infinite. But as none can conceive the idea of an infinite space we had to be content to admit in the Physical world an inconceivable conception disquieting but not necessarily illogical. Einstein s theory now offers a way out of the dilemma. Is space infinite or does it come to an end ? The space is finite but it has no end, "finite but unbounded" is the usual phrase

Prof N R. Sen, D Sc. the famous worker ont he theory of relativity quoting the view of Prof. Einstein writes, "Einstein himself asserts that the universe consisting of large and small masses hanging apparently in infinite space is not in fact infinite.[4]

The views given above have made clear the shape and finiteness of the universe. Like most of the concepts of modern science, Einstein s finite, spherical universe cannot be visualized-any more than a photon or electron can be visualized, But by mathematical calculations, it is possible to compute the size of the universe. Astronomer Edwin Hubble

1 Ibid p. 101
2. Ibid p. 103
3 The Nature of the Physical World, p. 80
4 Dr Sen s article on Relativity' Published in the Proceedings of the Physics Seminar Allahabad University July 1925

of Mt. Wilson Observatory has found out the average amount of matter in unit volume of space. Then using Einstein s field equations the radius of curvature of the universe comes out to be 35 billion light years or 2.1×10^{23} miles[1] This means that a sunbeam setting out through space at the rate of 186,000 miles per second would return to its source after having a complete round of the universe after a little more than 200 billion terrestrial years

After the above calculations of the radius of curvature of the universe by Einstein, it was again computed on the basis of the theory of expanding universe and was found to be 5 billion light years[2]

The Einstein s theory of universe is not the only one acceptable by scientists. A slightly changed model was given by the Dutch mathematician William De Sitter[3]

Still the question that the universe is finite or infinite, is not completely solved. Since the curvature of the space may be negative or positive, the universe may be infinite or finite. Mathematical solutions of the fundamental cosmological equation indicate that such a universe is open and infinite instead of being closed and finite, while Hubble s calculations of the brightness of galaxies, indicate that the universe is a closed system, a small universe only a few billion light years in radius[4]

Is the Universe Steady or Expanding ?

A strange phenomenon which entered the realm of cosmology has presented the scientists again with a conundrum. That was the phenomenon, observed by the high power telescopes. When the motion of the distant galaxies in the external parts of the universe was studied, it was found that the galaxies are moving away from each other i.e. the universe is expanding. Just as a balloon, when filled with air expands, the universe is also expanding in the same way This Expanding' phenomenon has divided scientists into two groups.

The actual phenomenon observed is the shift of the red lines in the spectra of the distant galaxies. This happens due to what is generally known as the Doppler effect. The shift of the red line suggests that the galaxies are receding from one another and, therefore, the universe is expanding.

But all the scientists are not of the same view as[5] the theory of expanding universe is not accepted by all astronomers. Some explain the spectral shift by the theory of relativity i.e. it is an effect of the curvature of space. Some explain it by the fact that light loses energy during its long course by leak of photons.

The doubtfulness of the theory of expanding universe can be seen from the words of the famous physicist Sir James Jeans.[6] "But there is room for a good deal of doubt as to whether these huge speeds are real or not. They have not been obtained by any direct process of measurement."

---

1 The Universe and Dr Einstein p. 105
2. Dr George Gamow in the Chapter of Modern Cosmology" in The New Astronomy (A Scientific American Book) p. 14
3. Dr George Gamow in the Chapter of Evolutionary Universe in 'The Universe (A Scientific American Book) p. 66
4 Ibid 71 72
5 The Book of Popular Science, Vol. 3 p. 987
6. Mysterious Universe pp. 57 58.

Further he writes, "The only reason for thinking that the distant nabulae are receding from us is that the light we receive from them appears redder than it ought normally to do. Yet other things than speed are capable of reddening light. For instance, sunlight is reddened by the mere weight of the sun. It is reddened still more by the pressure of the sun's atomsphere, as we see at sunrise or sunset. The light emitted by certain stars of a different kind is reddened in a mysterious way we do not yet understand. Further more on De Sitter's theory of the universe, distance alone produces a reddening of light, so that even if the distant nabulae were standing still in space, their light would appear unduly red, and we should be tempted to infer that they were receding from us.

There is another explanation given by Dr Zwicky of California institute. According to him when radiation passes a large mass such as a nabulae or a star not only it is deflected by the gravitational pull of the mass, but it also deflects the mass to a small extent as a result of which it loses energy The loss in energy according to the quantum theory means a diminution in the frequency of light, and hence, it looks redder Later experiments on the light from a number of globular clusters were made by ten Bruggencate, which confirmed the Zwicky's theory There are many more other evidences, which suggest that the recessions of nabulae may be spurious.[1]

Thus, we can conclude the discussion by saying that the modern science accepts the universe which is a four dimensional space-time continuum of curved space. Regarding the dimensions of space there are still two possibilities, either it is finite or infinite. Also it may be expanding or non-expanding.

The Life of The Universe

The question, "How old is the universe ?" has also played an important role in cosmology Here again, there are two possibilities, suggested by the scientists

1 The Universe came in existence at a fixed time in the past and will come to an end at a certain time in the future.

2. The Univerce has infinite existence with respect to time.

The first view is based on the theory of expanding universe.

If we trace the motion of galaxies backward in time, assuming that each galaxy always had the velocity it has now (which may not be true), then Hubble's result implies that 2,000 million years (this figure is known as Hubble's constant) ago all the galaxies were crowded on top at one another[2] The observation made after the above *determination*, makes a change in the above number which should be now 10,000 million years.[3] The explanation of the enigma of the expanding universe has been given by several theories. Those of Abbe Lemaitre, a Belgian cosmologist and Dr George Gamow of George Washington university accept the first view viz. the universe came in existence at a fixed time in the past.

According to Abbe Lemaitre the universe originated from a single stupendous primeval atom which exploded and thus precipitated the expansion which we still perceive.[4]

---

1 Ibid p. 59
2. Unity of Universe by D W Sciema, 1959 1069
3 Ibid p. 70
4 The Universe and Dr Einstein p. 109

An analogous theory was made public recently by Dr George Gamow According to this theory nearly 5 billion years ago the universe was an inferno of homogenous primordial vapour (radiation) seething at unimaginable temperatures, such as no longer exist even in the interiors of stars (of the order of 15 billion degrees absolute). There were no elements, no molecules, no atoms, nothing but free neutrons in a state of chaotic agitation. The temperature began to fall, when the cosmic mass began to expand. At the age of five minutes its mean temperature fell down to one billion degrees absolute. At this time, the neutrons condensed into aggregates, electrons were emitted which attached themselves to nuclei, and atoms were formed. All the elements were thus created within the space of a few critical moments in the cosmic dawn, and are playing their parts since 5 billion years, in the expanding universe.[1]

The above views show that the universe had a beginning and now it is about 5 billion years old. The second Law of Thermodynamics is responsible for a theory which suggested that the universe will come to an end. The above law states that the fundamental processes of nature are irreversible. "The amount of matter in the universe is perpetually changing the change appears to be all in one direction towards dissolution. All the phenomena of nature indicate that the substance and energy of the universe are inexorably diffusing like vapour through the insatiable void, everywhere in the cosmos heat is turning to cold, matter is dissolving into radiation, and energy is being dissipated into empty space. The universe is thus progressing towards an ultimate Heat-death or it is technically defined as a condition of "maximum entropy" When the universe reaches this state some billions of years from now all the processes of nature will cease. There will be no light, no life, no warmth, nothing but perpetual and irrevocable stagnation, time itself will come to an end.[2]

Thus the above theory suggests an end to the universe. Then[3] "the unescapable inference, is that everything had a beginning. Somehow and some time the cosmic processes were started, the stellar light ignited and the whole vast pageant of the universe brought into being The theories of Dr Gamow and Abbe Lemaitre already discussed, suggest a definite time of creation Also there are other clues which give the same suggestion. The radioactive property of uranium serves as a clock. The estimations of the age of radioactive elements tell us that they came in existence five billion years ago [4] This was the number 2 billion years ago, but it was found incorrect. The transmutation of matter into radiation enables astronomers to compute the duration of stellar life, and the figure they reach is two billion years on the average, which was in agreement with the earths age found by geophysicists... But, now it is not in agreement with it, yet, the values of universe's age found by geophysicists and Gamow are in good agreement. But the value of Hubble's constant, recently determined, gives the value as 100 billion years[5] which is much greater than the values of Gamow and geophysicists. Thus there is no difinite time of beginning yet determined.

1 The New Astronomy p. 18 and the Universe and Dr Einstein p. 108.

2. The Universe and Dr Einstein pp 110 111 114

3 Ibid p. 114

4 The Universe (Scientific American Book) p 63

5 Unity of Universe p. 70

Now let us see the theories which suggest the eternity of the universe. There are five different theories

1 The Self pulsating Universe.
2. Cyclic Universe.
3 Hyperbolic Universe.
4 The Steady State Universe.
5. Einstein's Universe.

The theories of self pulsating universe and 'hyperbolic universe are based on the theory of expanding universe. The mathematical solution of the Einstein's equation by Friedmann, permits two kinds of universe.[1] "We can call one the pulsating universe. This model says that when the universe has reached a certain maximum permissible expansion it will begin to contract, that it will shrink until its matter has been compressed to a certain maximum density that it will then begin to expand again and so on through the cycle infinitum. The other model is hyperbolic one. It suggests that from an infinitely thin state an eternity ago, the universe contracted until it reached the maximum density from which it rebounded to an unlimited expansion which will go on indefinitely in the future."

There are evidences on both the sides, and hence it is not yet decided whether it is pulsating or hyperbolic.[2]

Another independent explanation of the theory of self-pulsating universe is found in cyclic-universe, which is based on Einstein's principle of equivalance of mass and energy In the light of Einstein's principle of equivalance of mass and energy "it is possible to imagine the diffused radiation in space congealing once more into particles of matter-electrons, atoms, and molecules,—which may then combine to form larger units, which in turn may be collected by their own gravitational influence into diffused nabulae, stars, and ultimately galactic systems. And thus the life-cycle of the universe may be repeated for an eternity "[3]

There is a good deal of possibility of the above thory of cyclic universe, according to which the universe is a self perpetuating pulsating universe, renewing its cycles of formation and dissolution light and darkness, order and disorder heat and cold, expansion and contraction through never ending eons of time.[4]

The famous physicist, Sir James Jeans writing about this cyclic universe says, "That this Law (second Law of Thermodynamics) may fail under astronomical conditions of which we have no knowledge, is certainly conceivable There is of course no denying that the concept of a cyclic universe is far and the more popular of the two."[5]

In fact the Gamow's theory is accepting the model of hyperbolic universe, and thus the ultimate beginning and end of universe are pushed back to infinity In the words of Dr George Gamow "Thus we conclude that our universe has existed for an eternity of time that until about five billion years ago it was collapsing uniformally from a state of

1 The Universe p. 68
2. See Ibid pp. 70-76
3 The Universe and Dr Einstein pp 111 112 and also see Mysterious Universe pp. 132 133
4. The Universe and Dr Einsten p. 113
5. Mysterious Universe p. 133

infinite rarefaction, that five billion years ago it arrived at a state of maximum compression in which the density of all its matter may have been as great as that of the particles packed in the nucleus of an atom and that the universe is now on the rebound, dispersing irreversibly towards a state of infinite rarefaction." [1]

Lincoln Barnett, concluding his chapter on the origin of the universe, also conveys the same idea of eternity of universe.[2]

A group of scientists, the chief spokesmen of which, being Fred Hoyle, Hermann Bondi and Thomas Gold, proposed the theory of Steady-State Universe

The sponsor of the theory Fred Hoyle writes, 'The question arises—if the galaxies are moving apart from each other why does space not become more and more empty? The answer of the theory is that new galaxies and clusters of galaxies are constantly being formed, their rate of formation just compensating for the separating effect of the expansion. So a stable situation is preserved. [3]

Thus, according to this theory the large-scale features of the universe do not change with time. Only the galaxies and clusters of galaxies change. This theory as a consequence, leads to many startling conclusions -[4]

1 That the universe had no beginning and will have no end.

2. That space as well as time is infinite.

3 That matter is continually being created, throughout space.

There are evidences, found in the support of this theory [5] Also certain observations have been found to be contradictory to this theory Dr George Gamow has considered the theory very questionable, and raised objections against it. While, on the other hand, the holders of the steady-state theory find many evidences against the evolutionary theory of Dr George Gamow Thus, at present, there is no single theory universally accepted.

If the theory of the expanding universe is not accepted, i.e. by simply taking the model of the universe as given by Einstein, then also the time factor comes out to be infinite making the universe beginningless and endless.

With regard to the infinity of time, Richard Hughes in his article on "Physics, Astronomy and Mathematics" says It follows from this that the time-dimension cannot come round full circle as we imagine space to do By going far enough into the future we shall never reach the past. And yet it is not necessary to imagine that time either had a beginning or must have an end."

The views of Einstein as quoted by Dr N R. Sen. D Sc., are "... ... our universe is infinite in the dimension of time running from the infinite past into the infinite future " [7] Prof A. S. Eddington expresses the infinity of time, as 'The world is closed in its space dimensions like a sphere, but it is open at both ends in the time

1 The New Astronomy p. 23

2. The Universe and Dr Einstein p 115

3 The Chapter on the Steady-State Universe in 'The Universe p. 77

4 Ibid p. 77

5 Ibid pp. 85-86

6. Cosmology Old and New by G. R. Jain p. 229

7 Dr Sen s article on 'Relativity' published in the proceedings of the Physics Seminar Allahabad University July 1925.

dimension. There is a bending round by which East ultimately becomes West, but no bending by which Before ultimately becomes After "[1]

Concluding the discussion on the life of the universe we can say that most of the theories, so far put forth by various scientists suggest that the universe has infinite existence with respect to time. The theories which believe that the universe came into existence at a certain fixed time (which is also different in different theories), and will ultimately come to an end, have found little support by the modern cosmologists.

Finally as regards the finiteness of time and space *the uncertainties become clear in* the words of Prof Henry Margenau.[2]

Jain Philosophical View Its Antiquity

In the Jain philosophy very elaborate, characteristic, and systematic exposition of the theory of the universe is to be found. The historical knowledge about Jainism has by now progressed a great deal. Some scholars have considered it older than Hinduism or Buddhism.[3]

In the field of history the fact that Jainism has a pre-historic origin is admitted by most of the scholars. Also the recent excavations made at Mohenjo-Dero and Harappa, have shown some indications about the existence of Jainism.[4] Thus the historical date of Jainism may extend to 3,000 B C. Even if Jainism is connected with Lord Mahavira, (596-526 B. C.) its establishment goes back to the 6th century B. C. Thus, its antiquity is historically well established.

The discussion of the present subject, given here is based on the original Jain scriptures called Agamas, and also on the books, having Agamas as their basis but written later on by Jain Acharyas.

The Definition of the Universe

Lord Mahavira, when asked by his disciple Gautama 'What is Loka (i. e. universe.) ?"[5] replied, 'The Loka is that which has six real entities, viz.

1 धर्मास्तिकाय—The medium of motion.
2. अधर्मास्तिकाय—*The medium of rest.*
3. आकाशास्तिकाय—Space substance.
4 काल—Time.
5 पुद्गलास्तिकाय—Matter (including material energy)
6. जीवास्तिकाय—*Soul, a substance possessing consciousness."*

The above mentioned third substance, which is called Akashastikaya or Akash, is defined as[6] the substance, which acts as a container of other substances. It may be called as space because the term space also means the same thing. Almost all philosophies and also science *accept space as a real entity* In Jain philosophy the space *substance is believed* to be infinite i. e boundless. It is composed of infinite number of pradeshas (Pradesh is the

1 The Nature of the Physical World p. 83
2. The Nature of the Physical Reality p. 163
3 A History of Philosophical System, p 6
4 Voice of Ahimsa, Vol. 7 Nos. 3 & 4
5 Jain Siddhant Dipika by Acharya Shri Tulsi Prakash 1 Sutra 8 Bhagwati Sutra, - 10-53 Uttaradhyayan Sutra, 28-7
6. Ibid Prakash 1 Sutra 6.

imaginary indivisible part of any substance) or space-points. Thus, the space is a substance, which pervades everywhere, i e. ubiquitious. This space substance is divided into two parts, on account of the existence of other five substances (i) That portion of space which is inhabited by other substances, is called 'Loka or लोक-आकाश i. e. universe or universal space (ii) The rest of the space, which is empty containing no other substance is called Aloka or अलोक-आकाश i.e. non-universe or non-universal space.

Thus, the universe is finite and is surrounded in all directions by non-universal space, which is boundless. The shape of the Aloka was explained by Lord Mahavira to his disciple Gautama, by the illustration of an infinitely big sphere which is hollow from inside.[1]

This conveys the same idea that the universe is like an island of five substances (धर्मास्तिकाय etc), afloat in the infinite ocean of space. But it should be noted here that the space, universal and non-universal is a single entity The existence of non-universal space can also be proved logically [2]

The substances धर्मास्तिकाय and अधर्मास्तिकाय which are the media of motion and rest respectively can be called as positive ether and negative ether They play an important role in the concept of the universe. Both the ethers धर्मास्तिकाय and अधर्मास्तिकाय are assumed to be pervading only the universal space (Loka) and not the non-universal space (Aloka). They are believed to be non-material and invisible. Each of them is one single entity i. e. they are non-atomic and non-discrete in structure. The space is also assumed to be non material and invisible. But whereas, the existence of space is universally accepted, that of the ethers have been proved logically Two logical proofs are given in Jain Agamas. It has been proved that a substance is required, which should be (i) pervading the whole universe, (ii) itself immobile, and (iii) capable of assisting the motion of other objects. This is nothing but ether If, ether is not accepted, and space is assumed to posses the attribute of assisting motion of other objects, a great difficulty will arise. Because, if the space itself acts like ether it being infinite and indivisible, cannot check the motion of the dynamic bodies. Thus infinite number of souls, as well as material objects, would continue to roam about in the infinite space without any control. If this was so, their association and appearance as an organised finite inhabited universe would be extremely improbable if not altogether impossible. The fact that the structure of the universe is permanent, that the universe is a cosmos and not a chaos implies the existence of another principle which guarantees the permanency of the universe's structure. We have to conclude therefore, that it is not the space that determines the boundaries of motion but the ethers.

Thus, the concept of the universe in Jain philosophy can be stated as — the six substances, viz. positive and negative ethers, space, time matter and soul form a finite universe, beyond which there is an infinite ocean of pure mathematical space where no particle of matter (or energy) and soul can travel or stay on account of the absence of ethers.

Four point Theory

The theory of the universe (Loka) has been explained from four points of view Lord

1 Bhagwati Sutra, Shatak, 11 Udd. 10.
Also see Loka Prakash 2 26.

2. For this, see Jain Siddhant Dipika (English annotation by J.S. Zaveri), 1-45 in Jain Bharti Vol. VIII No 9 28th Feb, 1960 p 139

3 Ibid. p 139

Mahavira, answering a question, from how many points of view the universe is explained, to his disciple Gautama, states that[1]

There are four points of view to explain the universe

1 Universe from substance point of view
2. Universe from space point of view
3 Universe from time point of view
4 Universe from modes point of view

The first we have already discusseed. The seoncd and third we shall discuss at length. The fourth means that each of the substances (positive ether etc.) possesses infinite number of attributes and modes. In this postulate, the nature of reality is explained by the doctrine of perdistence through modes which states that all realities are possessed of dual properties, one transitory and the other eternal. Due to the first, all things are in a state of flux i. e. they undergo transformations constantly they cease to be and they become while due to the second property they do not lose their existence throughout the transformations—the substance persists through modes. Although the detailed discussions of the doctrine cannot be made here, it would be enough to note here that it can be much useful to slove the problem of eternity of the universe.

Universe Size and Shape

The universal space (लोक–आकाश) has a definite shape and size. The question of Gautam was, What is the shape of the universe ?"[2] In reply to this, Lord Mahavira asserted, "The Universe has a definite shape called Supratisthik It means that it is broader at the lower end while the upper portion is like a standing Mridang (i e. a kind of tabor)" It can also be described thus, "Three Pyramids with rectangular base but with the tops chhoped off are put one above another smaller faces of the lowest and middle, and the bigger faces of the middle and top touching together " [3] The same thing has been described by an illustration of a man The shape of the universe is like an old man who is standing with his feet apart putting his two hands on his waist.[4] In the Digamber tradition, the description is made thus The universe is divided into the upper middle and lower universes. The lower universe has the shape of Vetrasan (i. e. Trapezian Pyramid) the middle universe has the shape of the upper part of a standing Mridang and the upper universe has the shape of the standing Mridang "[5]

Thus we can see that the shape of the universe is anthropomorphous. The shape would become more clear when we shall discuss the size in detail The detailed structure of the universe is found in both Shvetamber and Digamber traditions, but they slightly differ from each other

The description in the Digamber tradion is thus—

The height of the universe is 14 Rajjus (a Rajju is a linear astrophysical measure).

The breadth of the universe is 7 Rajjus throughout

1 Bhagwati Sutra, Shatak 11 Udd. 10 Also see Lok Prakash, 2.
2. Ibid 13-4-34 7 1-4
3 Jain Siddhant Dipika, English Annotation by J S Zaveri 1 6—10 in Jain Bharati, Vol. VIII No 10 6th Mar 1960
4 Loka Prakash 1. 3 4
5 Tiloya Pannatti 1 137—138.

The length of the universe varies from point to point. Let us divide the whole universe into two parts, each of the same height (7 Rajjus) Then, the lower universe is of 7 Rajjus in height. The lower end of the lower universe is 7 Rajjus in length, while the upper end of the lower universe is 1 Rajju in length. Thus the lower universe forms a 'trapezium pyramid' whose height is 7 Rajjus, breadth is 7 Rajjus throughout, while the lower base is 7 Rajjus in length and the upper base is 1 Rajju in length The area of the trapezium formed by the two parallel sides of 7 Rajjus and 1 Rajju and height 7 Rajjus is $= \frac{1}{2}(7+1)\times 7$ which is 28 sq Rajjus. This multiplied by breadth, 7 Rajjus, gives the volume of the lower universe, which comes out to be 196 cubic Rajjus.

The upper universe is also 7 Rajjus in height and 7 Rajjus in breadth The lower end and the upper end are 1 Rajju in length, while in middle it is 5 Rajjus in length. Thus the shape of the upper universe is a hexagonal pyramid. Thus the area of the hexagonal base will be $2\{\frac{1}{2}(5+1)\times\frac{7}{2}\}$ which is 21 sq Rajjus. This multiplied by the breadth will give the volume which is thus 147 cubic Rajjus.

Thus the total volume of the universe is $196+147=343$ cubic Rajjus.[1]

The Shvetamber tradition describes the universe in a slightly different way The height of the universe is 14 Rajjus as before. The length and the breadth vary from point to point but are the same at the same height. These are given in terms of Khanduk which is the quarter of a Rajju. At the lower end the universe is 28 Khanduk in length and breadth. Then, as the height increases, the length and breadth change.[2] In the following table the lengths and the breadths of the universe at the particular heights in terms of Khanduks are given.

The height from the lower end (In terms of Khanduk)	The length and the breadth (in terms of Khanduk)
0—4	28
4—8	26
8—12	24
12—16	20
16—20	16
20—24	10
24—28	4
28—30	4
30—32	6
32—33	8
33—34	10
34—36	12
36—38	16
38—40	20
40—42	20
42—44	16
44—46	12
46—48	10

1 Based on Ibid 1 140—200

2. Based on Loka Prakash 12 8—111

The height from the lower end (in terms of Khanduk)		The length and the breadth (in terms of Khanduk)
48	49	10
49	52	8
52	54	6
54	56	4

From the above table, it becomes clear that the universe is formed of 56 rectangular parallelopipeds, each having the same height of 1 Khanduk (¼ Rajju) and varying lengths and breadths. The sum of the volumes of all these parallellopipeds, gives the total volume of the universe which comes out to be 239 cubic Rajjus. There is an ambiguity regarding the third dimension, viz. breadth at various places. As later on the volume of the universe is shown to be 343 cubic Rajjus[1] This is calculated by breaking the universe into some parts and rejoining them so as to form a cube of length 7 Rajjus approximately

Computation of a Rajju

A Rajju is a linear astrophysical measure said to be consisting of innumerable yojans. Several efforts have been made by authors to compute the volume of Rajju in some definite form.[2]

According to Colebrooke a Rajju is the distance which a Deva flies in six months at the rate of 20,57 152 yojans, in one Kshana i.e. instant of time.[3] Mr G R. Jain has calculated the value of Rajju from this definiton, by taking "Kshana" as 'प्रतिविपलांश' which is equal to $\frac{1}{54\,00\,00}$ minute. This does not seem to be correct, as he himself accepts that Kshana is said to be an infinitesimal fraction of time. In fact a Kshana should be identical with a 'समय' which is the unit of time. To calculate the number of Samyas in six months, we can use the expression that[4] the number of samyas in 1 आवलिका is the same as the number Jagnya Yukta असंख्यात This number is defined as "Jagnyaparita असंख्यात raised to itself." The exact value of the number Jagnyaparita-asankhyat may be found from its definition.[5] But as it is too difficult to compute its value from that, we may[6] assume the number शीर्षप्रहेलिका to be the maximum संख्यात number[7] Then because

1 Ibid 12. 116-142
2. Cosmology Old and New p. 116
3 Der Jainismus by Von Glasenapp 118
4 Lok Prakash 1 169 170
5 Also Anuyogadvara Sutra The topic of Asankhyasankhyayak
Ibid Topic of Canana Sankhya
Lok Prakash 1 128—161
6 Although this assumption is not true, because the actual value of maximum संख्यात is much greater than 'शीर्षप्रहेलिका' we can find the lower limit of a Rajju by doing so
7 Ibid 29 11—Anuyogdvara Sutra Topic of Kalasamavatar'

'minimum-parita असंख्यात is just greater than this by only one, we may assume minimum-yukta असंख्यात to be equal to शीर्षप्रहेलिका This is found to be different in two traditions of the श्वेताम्बर sect. One tradition, based on the Council of मथुरा' believes it to be $(84\ 00\ 000)^{28}$ which is equal to 758263253073010241157973569973696406218966848080183-296×10^{140} or writing it approximately it will be $= 7.58 \times 10^{193}$

Another tradition, based on the Council of Vallabhipur' believes it to be $(84\ 00,000)^{36}$ which is equal to 18795517955011259541900969981343077079746549426197774765725734571186 816×10^{196} which if written approximately becomes $1\ 87 \times 10^{249}$ We calculate the value of Rajju, by taking the number as given by the first tradition. Then the number of Samyas in 1 Avalika will be $= (7.58 \times 10^{193})\ (7.58 \times 10^{193})$ Using the table of units of time, we find that

1 Muhurta (48 Minutes) = 1 67 77,216 Avalikas

6 months = 5 400 Muhurta.

Then a Rajju, which is the distance travelled in six months at the speed of 20,57 152 yojans per samaya, will be

$= 5\ 400 \times 1\ 67\ 77{,}216\ \ (7.58 \times 10^{193})\ (7.58 \times 10^{193}) \times 20{,}57\ 152$ yojans. The approximate calculations of the above multiplication is

$= 1\ 86 \times 10(1\ 47 \times 10^{196}) + 17$ yojans.

Now 1 yojan = 8 000 miles

1 Rajju $= 14.88\ \ 10\ (1\ 47 \times 10^{196}) + 20$ miles—(1 A)

or in terms of light years, since,

1 light year = $5\ 88\ \ 10^{12}$ miles

1 Rajju $= 291 \times 10\ (1\ 47 \times 10^{196}) + 8$ light years—(1 B).

Then the volume of the universe if taken 343 cubic Rajjus, will be

$= 11.35 \times 10(4.41 \times 10^{196}) + 65$ cubic miles if the first value (1 A) is taken.

In the terms of cubic light years, the volume will be

$= 8\ 45 \times 10(4.41\ \ 10^{196}) + 27$ cubic light years according to (1 B). Similarly the values of volume can be calculated by taking the volume as 239 cubic Rajjus.

Thus, from the above discussion we can conclude that according to the Jain philosophy the universe has a difinite shape which is called, "सुप्रतिष्ठक" and a definite volume of the order of $10^{10^{196}}$ cubic miles.

Universe From Time-point of View

The universe is believed to be eternal in Jain philosophy At various places in Agmas[1] we find this view expressed in different wordings. The universe as a whole is the collection of the six types of substance, of which the first three are infinite in number All of these substances i e the whole universe is eternal in existence That is to say that the universe existed in the infinite past, exists in the present and shall exist in the future. In other words it was never created nor will be destroyed. It is beginningless and endless with respect to time. Where, in the philosophical world there is a view that the universe was created by God, the Jain philosophy has always refuted it.

1 Bhagwati Sutra 25-5 5 Also see Ibid 12 7 2.

2 Loka Prakash 2 3

The Jain philosophy advocates 'non-absolutism regarding any view It always avoids the absolute point of view Therefore, the universe which is eternal with respect to its existence, always undergoes a series of infinite changes, and thus it can be 'non-eternal As we have already seen, the doctrine of 'persistence through modes' asserts that every substance persists through modes. *In other words all things living and non-living are characterised* by the trio of continuous existence through creation and cessation. Since the universe is nothing but the collection of substances, the above principle hold true in the case of universe also If there was no persistence of existence through transformations, we would not experience continuity—"This is that" On the other hand, if there was no transformation *but absolute eternalism, we would* not *experience the ever changing pattern of the universe.* While the absolutists find self-contradiction in asserting both staticity and change in the same reality with reference to identical space and time, the non-absolutist Jains maintain that one need not be *afraid* of accepting this as a truth—as the very nature of things—since our common exprience gives this as a fact.

The substance called "पुग्गलत्थिकाय which is synonymous to the modern matter' (including material energy), forms the whole of the visible universe. The reste of the five substances are invisible. Therefore, the changes of the universe are percieved through the changes of the substance "पुग्गलत्थिकाय" The number of this substance is infinite. This includes all the matter of universe, from परमाणु (the indivisible part of matter) to the celetial bodies such as the sun, the moon, the planets, etc. Now according to the doctrine of 'persistence through modes all these are the modes of the substance matter' The 'परमाणु' are the material cause of all the material bodies. They go on reacting with each other creating and destroying the physical world.

The above phenomenon of nature can become more clear by the following illustration of a building. The owner of a building and his successors, go on replacing a damaged part of the building. In future a day will come when the original building would have been replaced wholly by new parts; but for the people it is the same building, which was built hundreds of years ago Also, the chain of heredity is not endless and the human energy is limited, otherwise this building would become a permanent entity of the physical universe. Similarly in the physical entities, the atoms are added and reduced according to the natural laws, while the substantial bodies remain permanent. Thus, it becomes clear how the universe remains eternal, inspite of the infinite transformations.

The above discussion is related to the whole universe. Now pertaining to a certain portion of the *universe there is a theory of ascending* and *descending' cycle of time. It is* believed that in the middle part of the universe, which is called 'Triyaglok' there are certain areas (including our earth) where along with the time, the processes of nature gradually undergo evoulution during the first half of the time-cycle, called as Utsarpani (ascending), and degeneration during the other half called as Avasarpani (descending). In other words, during the utsarpani half-cycle, there is gradual winding up of the universe at a slow rate until a state of the highest organisation is reached. After this there is again unwinding up of the universe, during which the universe runs down until a state of the highest dissolution is reached. Thus, the cycle is repeated again and again for eternity

The period of one whole cycle is stated to be $(20x10^{14})$ अद्धा सागरोपम.

One अद्धा सागरोपम consists of innumerable number of years. The number 7.58×10^{196} is the maximum numerical number The exact computation of Addha Sagaropam is not possible. However according to Mr G R. Jain [1] each of the Utsarpanis and Avasarpanis consists of 4.13×10^{77} years.

Each of the half-cycle is again divided into six आरास (eons).

The period of each Ara in the Avasarpani half cycle is as follows

1 The first Ara	4×10^{14}	Add. Sagaropams	
2. The second Ara	3×10^{14}	"	
3 The third Ara	2×10^{14}		
4 The fourth Ara	1×10^{14}		minus 42,000 years.
5 The fifth Ara	21 000 years.		
6. The sixth Ara	21 000 years.		

In the Utsarpani half-cycle the order is exactly the otherwise. The present time is the fifth आरा of Avasarpani half-cycle. It has started nearly 2,500 years ago After 18,500 years, the fifth Ara of the present half-cycle will be completed. Then the last आरा will begin during which the degeneration will reach its highest peak within 21 000 years. The predictions of the future degeneration are found in detail in Jain Scriptures. [2] Here it should again be noted that this time-cycle does not affect the other places of the universe as ours.

To sum up the discussion, we can say that the universe according to Jain philosophy is beginningless and endless, that series of infinite transformations (creation and cessation) take place in it, that a certain portion of the universe, though eternal, experiences the alternate cycles of evolution and dissolution along with the time.

Comparision and Contrast

Having discussed the various theories of science and the ancient theory of Jain philosophy about the universe, we are now in a position to compare and contrast them

Taking first the Einstein s *cylindrical* universe, in which the space is so curved that it forms a closed and finite universe, the similarity becomes striking. Both (Einstein s universe and Jain s Loka) are finite. But whereas in Einstein s universe the space itself is finite in the case of Jain s Loka, the space is infinite but the universe is finite. The principle of positive and negative ethers explains logically the finiteness of the universe. Another difference is that while in the Einstein s universe it is required to assume that space becomes curved, the Jain s theory does not require any such assumption. Regarding the steadiness of the universe both of them are of the same view Also the time-dimension in both extends to infinity making the universe beginningless and endless.

The Einstein s universe, as already discussed before, cannot be easily visualised. Even scientists[3] consider it quite inconceivable to think that beyond a certain Jumping-off boundary there is no space and the mathematicians are not able to unmake there brain and visualize finite space. On the other hand, if the Jain s theory is accepted, it becomes quite

1 Cosmology Old and New p 231

2. See Bhagwati Sutra, 7-6 and Jambudwipamapragyapti Sutra Kaladhikar

3 Exploring the Universe by H Ward p. 16.

conceivable and logical to think that beyond the boundary of the universe, there is no medium of motion and hence no particle of matter or energy can go beyond that. Also a ray of light would simply be reflected at the boundary

In Einstein's universe, there is 'nothing' beyond the universe. The concept of 'empty space' is not accepted by it. But whereas regarding time, it is believed[1] that it is inconceivable that there was once a moment with no moment preceding it, how is it not inconceivable to think of a limit beyond which there is no space ?

The concept of Aloka is also proved by the fact, that[2] "space could only be of literally infinite extent if it contained no matter at all." This means that in absence of matter the space does not become curved but extends to infinity This is exactly what happens in Aloka. Another fact supporting the concept of Aloka, is "if we relied on appearances, we would call our universe infinite To be sure there would be space beyond it but that space would be inaccessible to us."[3] This exactly conveys the same idea that in absence of the media of motion the space beyond the universe is inaccessible to us.

Secondly we take the case of expanding universe. The concept of the expanding universe, *has become quite popular recently* *The Jain's theory of universe,* obviously rejects the process of expansion of space. The first arguement against it is that space cannot expand, firstly because it is immobile, and secondly because space itself is infinite i.e. there is no place where there is no space. The second argument against it is that even if we consider space to be finite, in what it will expand ? How can it expand in 'nothing' ? Besides these questions the already discussed scientific arguments against the theory of expanding universe also make the theory quite uncertain. We suggest that some other explanations of the red shift of the spectral lines should be tried to find.

The 'steady state-theory' of Fred Hoyle and others is also similar to the Jain's universe except the two assumptions it makes. The first is that the universe is expanding and the second is that new matter is being continually created in the universe. It is quite strange to note here that the theory has to assume the most illogical and incomprehensible idea of creation of new matter' It is a well-known and well-established logical fact, that anything or any substance cannot be created *out of nothing* *There must be something or some inscrutable stuff which* is the 'eminent cause' of creation of anything or any substance.

The same fact is established by the principle of conservation of matter and energy' which is even today the fundamental base of the physical science The same fact is again brought out by the principle of persistence through modes which also states that a substance always persists, inspite of creation and cessation. Jain philosophy boldly denies the concept of creation of anything new from nothing. Also the 'steady-state theory' has to make such an incomprehensible assumption only because it has to explain the phenomenon of expansion of the universe which itself is not at all a well-established and non-controversial theory Thus, to explain one theory which itself may not be true the holders of the steady-state theory have *to conceive of another fanatical* assumption *We can also say this in another*

1 The Nature of Physical World by Prof A. S. Eddington. p. 137

2 From a lecture on 'The Expanding Universe' delivered at Science Congress Bombay 1933 by Prof A. C Banerji M. A. *(cant.) M Sc., F R. A. S., I. E. S.*

3 The Nature of Physical Reality by Prof Henry Margenau p 164

4 Shri Bhikshu Nyaya Karnika by Acharya Shri Tulsi 7—5

One अद्धा सागरोपम consists of innumerable number of years. The number 7.58×10^{119} is the maximum numerical number The exact computation of Addha Sagaropam is not possible. However according to Mr G R. Jain [1] each of the Utsarpanis and Avasarpanis consists of $4\ 13 \times 10^{77}$ years.

Each of the half-cycle is again divided into six आरास (eons).

The period of each Ara in the Avasarpani half cycle is as follows

1 The first Ara	4×10^{14}	Add. Sagaropams	
2. The second Ara	3×10^{14}	"	
3 The third Ara	2×10^{14}		
4 The fourth Ara	1×10^{14}		minus 42,000 years.
5 The fifth Ara	21 000 years.		
6 The sixth Ara	21 000 years.		

In the Utsarpani half-cycle the order is exactly the otherwise. The present time is the fifth आरा of Avasarpani half-cycle. It has started nearly 2,500 years ago. After 18,500 years, the fifth Ara of the present half-cycle will be completed. Then the last आरा will begin during which the degeneration will reach its highest peak within 21 000 years. The predictions of the future degeneration are found in detail in Jain Scriptures. Here it should again be noted that this time-cycle does not affect the other places of the universe as ours.

To sum up the discussion, we can say that the universe according to Jain philosophy is beginningless and endless, that series of infinite transformations (creation and cessation) take place in it, that a certain portion of the universe, though eternal, experiences the alternate cycles of evolution and dissolution along with the time.

Comparision and Contrast

Having discussed the various theories of science and the ancient theory of Jain philosophy about the universe, we are now in a position to compare and contrast them

Taking first the Einstein s *cylindrical* universe, in which the space is so curved that it forms a closed and finite universe, the similarity becomes striking. Both (Einstein s universe and Jain s Loka) are finite. But whereas in Einstein s universe the space itself is finite, in the case of Jain s Loka, the space is infinite but the universe is finite. The principle of positive and negative ethers explains logically the finiteness of the universe. Another difference is that while in the Einstein s universe it is required to assume that space becomes curved, the Jain s theory does not require any such assumption. Regarding the steadiness of the universe both of them are of the same view Also the time-dimension in both extends to infinity making the universe beginningless and endless.

The Einstein s universe, as already discussed before, cannot be easily visualised. Even scientists[3] consider it quite inconceivable to think that beyond a certain jumping-off boundary there is no space, and the mathematicians are not able to unmake there brain and visualize finite space. On the other hand, if the Jain s theory is accepted, it becomes quite

1 Cosmology Old and New p. 231

2. See Bhagwati Sutra, 7-6 and Jambudwipamapragyapti Sutra Kaladhikar

3 Exploring the Universe by H Ward p 16.

conceivable and logical to think that beyond the boundary of the universe there is no medium of motion, and hence no particle of matter or energy can go beyond that. Also a ray of light would simply be reflected at the boundary

In Einstein's universe, there is 'nothing beyond the universe. The concept of empty space is not accepted by it. But whereas regarding time, it is believed [1] that it is inconceivable that there was once a moment with no moment preceding it, how is it not inconceivable to think of a limit beyond which there is no space ?

The concept of Aloka is also proved by the fact, that [2] "space could only be of literally infinite extent if it contained no matter at all." This means that in absence of matter the space does not become curved but extends to infinity This is exactly what happens in Aloka. Another fact, supporting the concept of Aloka, is 'if we relied on appearances, we would call our universe infinite To be sure there would be space beyond it but that space would be inaccessible to us."[3] This exactly conveys the same idea that in absence of the media of motion the space beyond the universe is inaccessible to us

Secondly we take the case of expanding universe. The concept of the expanding universe, has become quite popular recently The Jain's theory of universe obviously rejects the process of expansion of space. The first arguement against it is that space cannot expand, firstly because it is immobile, and secondly because space itself is infinite i.e. there is no place where there is no space. The second argument against it is that even if we consider space to be finite, in what it will expand ? How can it expand in 'nothing ? Besides these questions the already discussed scientific arguments against the theory of expanding universe also make the theory quite uncertain We suggest that some other explanations of the red shift of the spectral lines should be tried to find.

The steady state-theory of Fred Hoyle and others is also similar to the Jain's universe except the two assumptions it makes. The first is that the universe is expanding and the second is that new matter is being continually created in the universe. It is quite strange to note here that the theory has to assume the most illogical and incomprehensible idea of creation of new matter' It is a well-known and well-established logical fact, that anything or any substance cannot be created out of nothing There must be something or some inscrutable stuff which is the 'eminent cause of creation of anything or any substance.

The same fact is established by the principle of conservation of matter and energy' which is even today the fundamental base of the physical science The same fact is again brought out by the principle of persistence through modes which also states that a substance always persists, inspite of creation and cessation. Jain philosophy boldly denies the concept of creation of anything new from nothing.[4] Also the 'steady-state theory has to make such an incomprehensible assumption only because it has to explain the phenomenon of expansion of the universe which itself is not at all a well-established and non-controversial theory Thus, to explain one theory which itself may not be true, the holders of the steady-state-theory have to conceive of another fanatical assumption We can also say this in another

1 The Nature of Physical World by Prof A. S. Eddington. p 137

2 From a lecture on 'The Expanding Universe' delivered at Science Congress Bombay 1933 by Prof A. C Banerji, M A. (cant.) M Sc F R. A. S., I. E. S.

3 The Nature of Physical Reality by Prof. Henry Margenau p 164

4 S r B... Nyaya Karnika by Acharya Shri Tulsi 7—5

way that the theory of expanding universe' is such as it cannot be explained without making such an assumption which is just similar to the famous unreal imagination of 'horns on hare The holders of the theory make a funny argument that, "This suggestion (that new matter is being continually created) is of course inconsistent with the conservation of matter but since required creation rate turns out to be only about one Hydrogen-atom in a litre every million years, no observation is contradicted but only an extreme extraplotation therefrom.[1] It should be noted here, that since the theory accepts the infinity of time, million years are just nothing in comparision to infinity And therefore, in the past which extends to infinity (according to the steady-state-theory itself), infinite number of such Hydrogen-atoms must have been created. Also it considers space to be infinite and still expanding. It is also inconceivable that how an infinity can expand? On the other hand, if the space is assumed to be finite then the density of the space would become infinite, since the number of Hydrogen-atoms is infinite. In addition to this as we have already said before, the renowned scientist Dr George Gamow has given many other evidences against this theory We suggest here if the theory of steady-state universe abandons the assumption of expanding universe (by suggesting some other explanation of the phenomenon of red-shift of spectral lines) there is no necessity to assume the 'creation of new matter at all. In that case the theory will take a form, which would be not much dissimilar to the Jain s theory of universe.

The theory which suggests the end of the universe after a certain time, has already been discussed. It is based on the second Law of Thermodynamics There are four things to be noted about it. The first is that it asserts that the matter and energy of the universe are inexorably diffusing like vapour through the insatiable void. This means that the 'matter and energy' can be destroyed. This is against the principle of conservation of matter and energy of science as well as that of persistence-through modes" of Jain philosophy The interesting thing to note about this theory and the steady-state-theory' is that whereas this theory requires matter to be annihilated the latter requires matter to be created and thus both of them are contradictory to each other and also to the fundamental principle of physical science. It may be suggested here that if these two are combined together there will be no need to postulate any creation or destruction of matter

The second thing to be paid attention to is the suggestion of Sir James Jeans, already quoted as "that the second law of thermodynamics may fail under astronomical conditions of which we have no knowledge, is certainly conceivable" The scientists, who consider this as improbable may think over it again, firstly because the law gives rise to effects which are in accordance with the fundamental law of physical science, and secondly because in the field of science and even mathematics we have come across with the laws which do not hold under certain conditions (as for example, the laws of Euclidean geometry do not hold in the gravitational field)

The third thing to be noted about this theory is that it suggests an end of the universe and also of the time. The theories of 'cyclic-universe' self pulsating universe, 'steady-state-universe, and 'evolutionary universe are all of the view that the universe is eternal-beginningless and endless Also the Jain s theory of the universe considers the existence of the

1 The Unity of the Universe 1959 by Dr D W Sciama p. 143

universe as eternal. Thus only the above theory is in contradiction with all other theories. This is the strongest weak point of the above theory

The fourth thing which is remarkable about the above theory is the suggestion of some scientists about the 'reconstruction of the universe. As we have already discussed the theory of cyclic-universe in detail, here it would be enough to remark that this suggestion is in accordance with the principle of conservation of matter

There is a striking similarity between the theory of cyclic universe based on the principle of equivalence of matter and energy and the philosophical theory of ascending and descending cycle of time. Both of them suggest more or less the same idea that the universe undergoes the cycles of alternate evolution and dissolution for an enternity of time. Also the theory of self pulsating universe which is given by the mathematical solution of the Einstein's equation by Friedmann, conveys the same idea, with the only difference that it speaks of alternate expansion and contraction while the theory of cyclic-universe talks of evolution and dissolution

The evolutionay theory of Dr George Gamow based on the *model of hyperbolic* universe is in agreement with the Jain's theory of the universe only in the point that both of *them accept a beginningless and endless universe. The evolutionary theory accepts only* one contraction and expansion. Here the striking dissension between it and the Jain's theory *of cyclic-universe is that whereas the latter considers the present time to be the one which* is nearer to the end of the contracting (descending) period and predicts the ascending period *to begin nearly 39,500 years from the present time, the former considers the present time to be* the one, in which the expansion has just started nearly before 5 billion years. Another thing *that can be suggested about the evolutionary theory of Dr Gamow is that, if it can accept* one cycle of contraction and expansion, and also the infinity of time, why cannot there be *such infinite cycles ? The third thing to be noted about it is that the holders of the steady* state universe theory have given many evidences against the evolutionary theory and raised *doubts against the possibility of it.*

If in today's age of gigantic telescopes and fine spectrometers the enigma of the universe *remains unsolved, how did the Jain seers, unperturbed by the absence of* assistance from laboratories and observatories, study discuss and soberly and boldly assert the finiteness *of* the universe, *the infiniteness of time and space, the principle of positive and* negative ethers, the exact size and shape of the universe, the principle of persistence through modes and the theory of cyclic-universe ? This question alone is sufficient *incentive to the* inquisitive to leave the tiny pond of knowledge by sensuous cognition and make him gaze eagerly towards the ocean of perfect knowledge by spiritual intuition.